आत्मनस्तत्र पारोक्ष्यं पूर्वमेव निराकृतम् ।
शब्दः स्वयमुदासीनः परोक्षत्वापरोक्ष्ययोः ॥ २६० ॥
देशादिभिर्व्यवहितं पारोक्ष्येणाऽवबोधयेत् ।
इतरत्त्वापरोक्ष्येण दशमस्त्वमसीतिवत् ॥ २६१ ॥
देशात्कालाद्वस्तुतो वा व्यवधानं मनागपि ।
ऐकात्म्यवस्तुनो नास्ति तत्र पारोक्ष्यधीः कुतः ॥ २६२ ॥

'आत्मनस्तत्र' इत्यादि । आत्मा परोक्ष है, इसका निराकरण तो 'ब्रह्मात्मनः परोक्षत्वं मूढोऽपि प्रतिपद्यते' इस पूर्वोक्त पद्यसे ही कर चुके हैं, अतः पुनः निराकरण करना पिष्टपेषणके समान है । जिस अर्थमें किसीकी विप्रतिपत्ति हो, उस अर्थका साधन-बाधन अपेक्षित होता है । जो अर्थ मूढबुद्धिको भी सन्दिग्ध नहीं है, प्रत्युत निश्चित है, उसका साधन करना व्यर्थ है। 'संदिग्धे न्यायाः प्रवर्तन्ते' इस न्यायसे संदिग्ध अर्थका ही सोपपत्तिक निर्णय करना चाहिए । द्वितीय कल्पके विषयमें कहते हैं—'शब्दः' इति । शब्द परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्वमें स्वयमुदासीन है अर्थात् परोक्षत्व शब्दस्वभावनिबन्धन नहीं है, अगर ऐसा होता तो 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता । अपरोक्ष भ्रमकी निवृत्ति भी 'दशमोऽहम्' ( दसवां मैं हूँ ) इस अपरोक्ष ज्ञानसे ही होती है, अतः शब्दसे परोक्ष ही होता है, ऐसा नियम नहीं है ॥ २६० ॥

'देशादिभिर्व्यवहितम्' इत्यादि । आदिसे कालादिका ग्रहण है । देश और कालसे व्यवहित अर्थका शब्दसे परोक्ष ज्ञान ही होता है, अपरोक्ष नहीं । जिस पदार्थका जिस देश और कालमें ज्ञान होता है, उस देश और कालमें यदि वह पदार्थ न रहकर देशान्तर और कालान्तरमें रहता है, तो वह देश और कालसे व्यवहित होनेसे शब्द द्वारा परोक्षज्ञानका गोचर होता है । जैसे—'रामो राजा बभूव' इत्यादि वाक्यसे श्रीरामजीके राजा होनेका ज्ञान परोक्ष ही होता है, अपरोक्ष नहीं होता और जो अर्थ देशादिसे व्यवहित नहीं है, किन्तु अव्यवहित है, उसका शब्दसे भी अपरोक्ष ही ज्ञान होता है । जैसे 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे 'दशवां मैं हूँ' यह ज्ञान अपरोक्ष ही होता है । इतरत्—व्यवहितसे भिन्न—अर्थात् अव्यवहित, यह अर्थ है ॥ २६१ ॥

'देशात्कालाद्' इत्यादि । जब देश, काल तथा वस्तुसे थोड़ा भी व्य—

ऐकात्म्यस्य स्वतो मुक्तेरज्ञानात्तस्य बाध्यता ।
ज्ञानादज्ञानहानौ स्यात् किमपेक्ष्यं विमुक्तये ॥ २४४ ॥
तमोमात्रान्तरायत्वादैकात्म्याख्यस्य वस्तुनः ।
असाध्यसाधने तस्मिन् काऽपेक्षा भावनां प्रति ॥ २४५ ॥

प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय अथवा प्रमाता, कर्ता और भोक्ता—इन तीनोंके लोपका जो साक्षी अलुप्त चैतन्य आत्मा है उसके लोपकी शङ्का कैसे हो सकती है अर्थात् जो प्रमाता आदि भाव तथा अभावका साक्षी (प्रकाशक) नित्यचैतन्य-स्वरूप है उसके प्रकाशके लोपकी शङ्का कैसे हो सकती है ? अभाव असाक्षिक नहीं माना जाता, क्योंकि प्रमेयसमुदायरूप भाव और अभावका साक्षी आत्मा है। आत्माका यदि अभाव हो, तो उसका साक्षी कौन होगा ? जैसे स्वयं स्वभावका साक्षी नहीं होता वैसे ही स्वाभावका साक्षी नहीं हो सकता। अपनी सत्ताके समयमें अपना अभाव नहीं रह सकता और अपने अभावके समयमें अपनी सत्ता नहीं रह सकती, अतः आत्मा नित्यालुप्त चैतन्यस्वरूप है ॥ २४३ ॥

**'ऐकात्म्यस्य'** इत्यादि। छठे विकल्पमें दोष देते हैं—मुक्तिके लिए विधि है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐकात्म्यस्वरूप मुक्ति नित्यसिद्ध है, साध्य नहीं है।

शङ्का—यदि मुक्ति नित्य है, तो वह संसारदशामें अनुभवकी विषय क्यों नहीं होती ? अतः अननुभव ही उसकी नित्यसिद्धतामें बाधक है।

उत्तर—अज्ञान अनुभवका प्रतिबन्धक है। जैसे अन्धकारावृत देशमें घटादिके रहनेपर उनका प्रत्यक्ष नहीं होता और प्रदीपादिसे प्रतिबन्धकीभूत अन्धकारकी निवृत्ति होनेपर प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही आत्मस्वरूप मुक्ति नित्य होनेसे संसारदशामें भी है ही, परन्तु अन्धकारस्थानापन्न अज्ञानसे प्रतिबद्ध है, इसलिए संसारकालमें वह प्रत्यक्ष नहीं होती। प्रदीपस्थानापन्न आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर पूर्वसिद्ध मुक्तिकी अभिव्यक्ति होती है, 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इस श्रीमद्भगवद्गीताके वाक्यमें उक्त अर्थका ही निरूपण किया गया है। शास्त्रजन्य आत्मतत्त्वका साक्षात्कार अज्ञानकी निवृत्तिके लिए अपेक्षणीय है, अतः तदतिरिक्त प्रसंख्यानविध्यादि मुक्तिके लिए प्रार्थनीय नहीं हैं ॥ २४४ ॥

उक्त अर्थको ही पुनः स्पष्ट करते हैं—**'तमोमात्रान्तरायत्वा०'** इत्यादिसे। यदि उक्त रीतिसे मुक्ति स्वतःसिद्ध है, उसे साधनकी अपेक्षा नहीं है,

मात्रादित्रयलोपेऽपि लोपसाक्षितयेष्यते।
योऽसावलुप्तचैतन्यस्तल्लोपः शङ्क्यते कथम् ॥ २४३ ॥

वह मानजन्य फल नहीं हो सकता। नित्यत्व और अनित्यत्वकी एकत्र स्थिति परस्पर विरोधसे नहीं हो सकती। उसके अज्ञानकी निवृत्ति शास्त्रसे ही होती है, अतः वह भी प्रसंख्यानविधिका फल नहीं है। प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि होती है, यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। प्रमाण न होनेसे कूर्मरोमादि प्रमेय नहीं माने जाते, इसमें किसीको भी विप्रतिपत्ति नहीं हैं।

अब शङ्का यह होती है कि जैसे घटादि प्रमेय स्वातिरिक्त चक्षु आदि प्रमाणोंसे सिद्ध होते हैं, वैसे ही आत्माकी भी स्वातिरिक्तवस्त्वन्तरसे सिद्धि होनी चाहिए। अतः आत्माको स्वयंसिद्ध मानना उचित नहीं है।

उत्तर—यदि आत्माकी सिद्धि वस्तन्तरसे मानियेगा, तो वस्त्वन्तरकी सिद्धि फिर वस्त्वन्तरसे कहिएगा। ऐसी परिस्थितिमें अनवस्था दोष होगा। अन्ततो गत्वा यदि वस्त्वन्तरकी सिद्धि स्वतः मानिये, तो जिस वस्तुकी सिद्धि स्वतः मानियेगा वही आत्मा होगा, केवल शब्दमात्रमें मतभेद होगा, वस्तुमें नहीं। और आत्मातिरिक्त स्वयंसिद्ध पदार्थमें कोई प्रमाण भी नहीं है, अतः अप्रामाणिक स्वयं सिद्ध पदार्थकी कल्पनाकी अपेक्षासे श्रुत्यादिप्रमित स्वयंसिद्ध आत्माका स्वीकार ही श्रेयस्कर है। इस विचारसे आत्मप्रकाश नित्य होनेसे प्रमाणजन्य फल नहीं है, किन्तु तद्गत अज्ञानकी निवृत्ति ही शास्त्र प्रमाणका फल है। तदतिरिक्त फलके अभावसे प्रसंख्यानमें विधि नहीं हो सकती। लोकमें भी प्रमेयके प्रतिपादनके लिए प्रमाणकी जिज्ञासा होती है, किन्तु प्रमाणमें प्रमाणान्तरकी जिज्ञासा न होनेसे प्रमाणकी सत्ता प्रमाणान्तरके बिना मानी जाती है अर्थात् प्रमाण स्वयंसिद्ध है। सब प्रमाणोंमें आत्मा मूर्द्धाभिषिक्त प्रमाण है। आत्मा तो प्रमितिसमवायी होनेसे प्रमाता है, अतः प्रमितिकरण—प्रमाण—कैसे हो सकता है, क्योंकि करण और कर्ता एक नहीं हैं? ठीक है, लौकिक व्यवहारमें प्रायः प्रमाता प्रमितिका करण नहीं कहलाता, परन्तु वेदान्तमें उपाधिके भेदसे आत्मा प्रमितिकरणरूप प्रमाण भी कहलाता है। अतएव 'तन्मे प्रमाणं शिवः' यह कुसुमाञ्जलिका श्लोक भी संगत होता है एवं परमेश्वरका वाचक शब्द भी प्रमाण है, 'प्रमाणं प्राणनिलयः' यह विष्णुसहस्रनाममें प्रमाण शब्द भी पढ़ा जाता है। अतएव न्यायसूत्रमें मङ्गलार्थ सर्वप्रथम प्रमाणशब्द ही पढ़ा है, 'प्रमाणप्रमेय०' इत्यादि न्यायका प्रथम सूत्र है ॥ २४२ ॥

पञ्चम विकल्पका निराकरण करते हैं—'मात्रादित्रयलोपेऽपि' इत्यादिसे।

ऐकात्म्यस्य स्वतो मुक्तेरज्ञानात्तस्य बाध्यता ।
ज्ञानादज्ञानहानौ स्यात् किमपेक्ष्यं विमुक्तये ॥ २४४ ॥
तमोमात्रान्तरायत्वादैकात्म्याख्यस्य वस्तुनः ।
असाध्यसाधने तस्मिन् काऽपेक्षा भावनां प्रति ॥ २४५ ॥

प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय अथवा प्रमाता, कर्ता और भोक्ता—इन तीनोंके लोपका जो साक्षी अलुप्त चैतन्य आत्मा है उसके लोपकी शङ्का कैसे हो सकती है अर्थात् जो प्रमाता आदि भाव तथा अभावका साक्षी (प्रकाशक) नित्यचैतन्य-स्वरूप है उसके प्रकाशके लोपकी शङ्का कैसे हो सकती है ? अभाव असाक्षिक नहीं माना जाता, क्योंकि प्रमेयसमुदायरूप भाव और अभावका साक्षी आत्मा है। आत्माका यदि अभाव हो, तो उसका साक्षी कौन होगा ? जैसे स्वयं स्वभावका साक्षी नहीं होता वैसे ही स्वाभावका साक्षी नहीं हो सकता। अपनी सत्ताके समयमें अपना अभाव नहीं रह सकता और अपने अभावके समयमें अपनी सत्ता नहीं रह सकती, अतः आत्मा नित्यालुप्त चैतन्यस्वरूप है ॥ २४३ ॥

**'ऐकात्म्यस्य'** इत्यादि। छठे विकल्पमें दोष देते हैं—मुक्तिके लिए विधि है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐकात्म्यस्वरूप मुक्ति नित्यसिद्ध है, साध्य नहीं है।

शङ्का—यदि मुक्ति नित्य है, तो वह संसारदशामें अनुभवकी विषय क्यों नहीं होती ? अतः अननुभव ही उसकी नित्यसिद्धतामें बाधक है।

उत्तर—अज्ञान अनुभवका प्रतिबन्धक है। जैसे अन्धकारावृत देशमें घटादिके रहनेपर उनका प्रत्यक्ष नहीं होता और प्रदीपादिसे प्रतिबन्धकीभूत अन्धकारकी निवृत्ति होनेपर प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही आत्मस्वरूप मुक्ति नित्य होनेसे संसारदशामें भी है ही, परन्तु अन्धकारस्थानापन्न अज्ञानसे प्रतिबद्ध है, इसलिए संसारकालमें वह प्रत्यक्ष नहीं होती। प्रदीपस्थानापन्न आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर पूर्वसिद्ध मुक्तिकी अभिव्यक्ति होती है, 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इस श्रीमद्भगवद्गीताके वाक्यमें उक्त अर्थका ही निरूपण किया गया है। शास्त्रजन्य आत्मतत्त्वका साक्षात्कार अज्ञानकी निवृत्तिके लिए अपेक्षणीय है, अतः तदतिरिक्त प्रसंख्यानविध्यादि मुक्तिके लिए प्रार्थनीय नहीं हैं ॥ २४४ ॥

उक्त अर्थको ही पुनः स्पष्ट करते हैं—**'तमोमात्रान्तरायत्वा०'** इत्यादिसे। यदि उक्त रीतिसे मुक्ति स्वतःसिद्ध है, उसे साधनकी अपेक्षा नहीं है,

**यदाऽनुभवकामस्य कार्यत्वेन प्रतीयते ।**
**प्रसङ्ख्यानं तदैकात्म्यतात्पर्यं कथमुच्यते ॥२४६ ॥**
**युक्तं नैकस्य शास्त्रस्य तात्पर्यं कार्यसिद्धयोः ।**
**द्वयस्याऽपि प्रधानत्वाद्वैशिष्ट्यं नैव सम्भवेत् ॥ २४७ ॥**

तो ज्ञान व्यर्थ है । इस शङ्काका निराकरण करते हैं—साध्य-साधनविभागशून्य आत्मैकत्वरूप मोक्षमें विधेय अभ्यास आदिकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु तिरोधायक अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ज्ञानकी अपेक्षा है । अन्तराय ( व्यवधायक ) तमोमात्र ( अज्ञान ) मुक्तिकी अभिव्यक्तिमें प्रतिबन्धक है, अतः उसकी निवृत्तिके लिए ज्ञानकी अपेक्षा होनेपर भी साध्य-साधन-विभागसे शून्य ऐकात्म्यरूप मुक्तिमें भावनाकी अपेक्षा नहीं है, यह श्लोकका अर्थ है । भाव यह है कि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे पहले साध्य-साधनका विभाग है, अतः तत्-तत् साध्य फलोंकी प्राप्तिके लिए तत्-तत् साधनोंकी अपेक्षा होती है, परन्तु 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतिसे आत्मतत्त्वसाक्षाकार होनेके बाद द्वैतज्ञानका उपमर्दन होनेसे द्वैतज्ञाननिबन्धन साध्यसाधनादिके विभागका लोप होनेपर भावना आदिकी अपेक्षा नहीं होती, अतएव 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं श्रृणुयात्' यह श्रुति आत्मज्ञानदशामें सामान्यतः साध्यसाधनका प्रतिषेध करती है ॥ २४५ ॥

**'यदाऽनुभवकामस्य'** इत्यादि । शङ्का—यद्यपि प्रसंख्यान साक्षात् मोक्षका उपाय नहीं है, आत्मतत्त्वज्ञान ही साक्षात् मोक्षका उपाय है, फिर भी तत्त्वज्ञानका शेष ( अङ्ग ) प्रसंख्यान है, क्योंकि प्रसंख्यानके बिना 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य द्वारा आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए परम्परया मोक्षके लिए प्रसंख्यानविधि आवश्यक है ।

उत्तर—मोक्षके प्रति उपायभूत साक्षात्कारके लिए यदि प्रसंख्यानका विधान मानोगे, तो वेदान्तका आत्मैक्यवस्तुमें तात्पर्य नहीं होगा, क्योंकि उक्त शास्त्रका तात्पर्य प्रसंख्यानविधिमें ही सिद्ध होगा, ऐसा होनेपर आत्मैक्य, वेदान्तवेद्य न होनेसे, निष्प्रामाणिक हो जायगा ॥ २४६ ॥

प्रकृत वाक्य प्रसंख्यानविधि और आत्मैत्व उभयपरक है, इसका निराकरण करते हैं—**'युक्तं नैकस्य शास्त्रस्य'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मात्मत्वं यदि ज्ञातं कुतस्तर्हि परोक्षता ।
न ह्यात्मनः परोक्षत्वं मूढोऽपि प्रतिपद्यते ॥ २४८ ॥
मितेर्वृद्धिर्मेयवृद्धौ तद्वृद्धिर्मितिवृद्धितः ।
इत्यन्योन्याश्रयत्वेन मितिवृद्धिः कथं तव ॥ २४९ ॥

एक ही वाक्य सिद्ध और साध्य उभयपरक नहीं हो सकता, क्योंकि उसका दोनों अर्थोंमें मुख्य तात्पर्य माननेसे वाक्यभेद हो जायगा । और प्रसंख्यान द्वारा वस्तुके बोधनमें उसका तात्पर्य माननेपर तो वाक्यभेद नहीं होगा । प्रसंख्यानमें अवान्तर तात्पर्य और ऐकात्म्यके बोधनमें मुख्य तात्पर्य हो सकता है, परन्तु ऐसा मान नहीं सकते, कारण कि 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' इस न्यायसे भूतकी अपेक्षा भव्य ही प्रधान होता है, अतः वस्तुके बोधन द्वारा प्रसंख्यानमें ही मुख्य तात्पर्य मानना उचित है, और ऐकात्म्यकी सिद्धिके लिए मुख्य तात्पर्य ऐकात्म्यमें ही मानना उचित है । इस तरह दोनोंमें मुख्य तात्पर्य माननेमें विरोध है, क्योंकि साध्य सतत कार्य ही है और सिद्ध साध्यकी सिद्धिके लिए है, अतः एक वाक्यका दोनों अर्थोंमें मुख्य तात्पर्य नहीं हो सकता ।

'वैशिष्ट्यं नैव' का तात्पर्य यह है कि यदि प्रसंख्यानविशिष्ट ऐकात्म्यमें या ऐकात्म्यविशिष्ट प्रसंख्यानमें विधि मानी जाय, तो एक अर्थ प्रधान और दूसरा अप्रधान होगा एवं प्रधानमें मुख्य तात्पर्य तथा अप्रधानमें अवान्तर तात्पर्य होगा । यदि दोनों अर्थ प्रधान माने जायँ, तो विरोध होगा । एकको प्रधान और दूसरेको अप्रधान माननेमें दोष नहीं है । 'नैव' से विशिष्टविधिका खण्डन करते हैं— उक्त रीतिसे दोनों अर्थोंके प्राधान्यरूपसे विवक्षित होनेसे विशिष्टकी विधि भी नहीं हो सकती ॥ २४७ ॥

आत्मतत्त्व ज्ञात है, इस पक्षमें तो परोक्ष ही ज्ञान होगा, अतः अपरोक्ष ज्ञानके लिए विधि अपेक्षित है, इस पूर्वोक्तका खण्डन करते हैं— 'ब्रह्मात्मत्वम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मात्मत्व यदि ज्ञात होगा तो ब्रह्म परोक्ष कैसे होगा ? विषय परोक्ष होनेसे ज्ञान परोक्ष होता है । मूर्ख भी पुरुष स्वात्माका परोक्ष अनुभव नहीं करता, किन्तु अपरोक्ष ही अनुभव करता है । सो शास्त्र ही से हो जायगा, इसके लिए प्रसंख्यान विधिकी आवश्यकता नहीं है ॥ २४८ ॥

'मितेर्वृद्धिर्मेयवृद्धौ' इत्यादि । एक-एक पादसे मितिकी वृद्धि होती है,

पादानामपि सम्भूय न युक्ता दर्शनार्थता ।
सम्भूयकारितोत्पत्तौ दृष्टा न त्ववभासने ॥ २५० ॥

इस पूर्वोक्त अर्थका अन्योन्याश्रय दोषसे खण्डन करते हैं—ज्ञानकी वृद्धि विषयातिशयके बिना नहीं होती अर्थात् इस ज्ञानसे यह ज्ञान अधिक है, इसमें कारण विषय ही है। न्यूनविषयक ज्ञानसे अधिकविषयक ज्ञान बड़ा कहा जाता है। स्वतः ज्ञानमें उत्कर्ष या अपकर्षक नहीं है। विषयके उत्कर्ष और अपकर्षसे ज्ञानमें उत्कर्ष और अपकर्षका व्यवहार होता है। अतएव उदयनाचार्यने कुसुमाञ्जलिमें कहा है—'विषयेण विशेषो हि निराकारतया धियाम्'। 'विषयेण' यह तृतीया अभेदमें है। ज्ञानमें विषय ही विशेष है, कारण कि ज्ञान निराकार है, अतः आकार द्वारा उसका उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं होता, किन्तु विषय ही विशेष है। मेयकी वृद्धि मितिकी वृद्धिके बिना नहीं होती। मेयकी वृद्धिसे मितिकी वृद्धि, मितिकी वृद्धिसे मेयकी वृद्धि, यह अन्योन्याश्रय दोष है, अतः आपके मतसे मितिकी वृद्धि कैसे होगी? अर्थात् नहीं हो सकती। एक-एक पादसे मितिकी वृद्धि तब होगी, जब मेयकी वृद्धि होगी, और मेयकी वृद्धि होनेपर भिन्नविषयक मितिके स्वस्वविषयमें व्यवस्थित होनेसे भिन्न-भिन्न मिति होगी, एक मिति तो होगी नहीं। ऐसी अवस्थामें मितिकी वृद्धि कैसे होगी? यह तात्पर्य है ॥ २४९ ॥

जो यह कहा गया है कि तेल, बत्ती और अग्निके दृष्टान्तसे चारों पाद मिलकर आत्मैकत्वके बोधक हैं, सो भी ठीक नहीं है, यह कहते हैं—**'पादानामपि'** इत्यादिसे।

उक्त दृष्टान्तसे चारों पाद मिलकर ज्ञानके उत्पादक हो सकते हैं, अर्थके प्रकाशक नहीं हो सकते। जैसे तेल, बत्ती और अग्नि—ये तीनों प्रदीपके उत्पादक हैं। प्रदीपसे घटादि वस्तुका प्रकाश होता है। तेल आदि सब मिलकर घटके प्रकाशक नहीं हैं। तेल आदि तीनों वस्तुओंको एक जगह रखनेपर भी प्रदीपकी उत्पत्तिके बिना वस्तुका प्रकाश नहीं होता, अतः उक्त तीनों द्वारा उत्पन्न प्रदीप ही लोकमें अर्थका प्रकाशक देखा गया है, वैसे ही उक्त पादचतुष्टय सम्भूय मिलकर प्रमितिके उत्पादक हैं और प्रमिति अर्थकी प्रकाशक है, यही उक्त दृष्टान्तसे सिद्ध होता है ॥ २५० ॥

तैलवर्त्यग्नयोऽप्येते प्रदीपोत्पत्तिकारणम् ।
जातात्मलाभो दीपोऽर्थं स्वयमेव प्रकाशयेत् ॥ २५१ ॥
अतः सम्भूयकारित्वं यदि वक्षि तदोच्यताम् ।
मानस्वरूपलाभाय, न तु मेयोपलब्धये ॥ २५२ ॥
मानपादत्वमप्येषां मात्रादीनामसङ्गतम् ।
प्रमातुर्मानपादत्वे मानं स्यादप्रमातृकम् ॥ ॥ २५३ ॥

---

'**तैलवर्त्यग्नयोऽप्येते**' इत्यादि। तेल, बत्ती और अग्नि ये तीनों प्रदीपकी उत्पत्तिके कारण हैं। इन तीनोंसे उत्पन्न प्रदीप स्वयं—उक्त तीनोंकी सहायताके बिना—अर्थका प्रकाशक है ॥ २५१ ॥

'**अतः संभूयकारित्वम्**' इत्यादि। चूंकि उक्त तीनों प्रदीप उत्पत्तिके कारण हैं, अतः उनमें संभूयकारित्व है, अर्थात् वे मिलकर कारण हैं, यह यदि कहें, तो भले ही आप कहें, किन्तु किस कार्यमें संभूयकारिता है, ऐसी जिज्ञासा होनेपर प्रमितिकी उत्पत्तिमें सम्भूयकारिता है अर्थके बोधमें नहीं, यही समीचीन उत्तर होगा। इससे आपका अभीष्ट नहीं सिद्ध होता ॥ २५२ ॥

प्रमात्रादिमें मानपादत्व मानकर यह दोष दिया है, वस्तुतः प्रमात्रादि मानपाद नहीं हो सकते, यह कहते हैं—'**मानपादत्वमप्येषाम्**' इत्यादिसे।

प्रमात्रादिमें मानपादत्व मानना अत्यन्त असङ्गत है, क्योंकि प्रमाण सप्रमातृक होता है, अप्रमातृक नहीं। प्रमाता, मानपाद होनेसे, प्रमाणके अन्तर्गत हो जायगा, जैसा कि आप कहते हैं। ऐसी अवस्थामें प्रमातृशून्य ही प्रमाण होगा, और ऐसा हो नहीं सकता, कारण कि प्रमाण करण है, करण कर्तृव्यापारका विषय होता है। यदि कर्ता ही नहीं होगा, तो उसके व्यापारका विषय करण कैसे होगा? और यह भी सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करना चाहिए कि यदि प्रमाता मानांश है, तो इसमें प्रश्न यह होता है कि संसारी आत्मा मानांश है, या असंसारी? प्रथम पक्षमें संसारी आत्मा मानका आश्रय है, अतः वह मानका अंश नहीं हो सकता। क्योंकि आश्रयाश्रयिभाव अत्यन्त भिन्नमें होता है, अभिन्नमें नहीं। अंश और अंशीका अत्यन्त भेद नहीं माना जाता। द्वितीय कल्पमें असंसारी आत्मा प्रमेय है। अतः वह प्रमाणांश नहीं हो सकता, विषयत्व और विषयित्व एकमें नहीं रहते। प्रमाणमें विषयित्व रहता है और प्रमेयमें विषयत्व।

प्रमाणादतिरिक्तो यो मेयं मानेन बुध्यते ।
स प्रमाता कथं तस्य मानपादत्वमुच्यते ॥ २५४ ॥
द्वितीयपादः शब्दाख्य ऐकात्म्यं बोधयेन्न वा ।
अबोधे मानपादत्वं केन द्वारेण गच्छति ॥ २५५ ॥
बोधे तु तावतैवाऽत्र पुमर्थस्य समाप्तितः ।
अप्रामाण्यभयं कस्माद्येन युक्तिमपेक्षते ॥ २५६ ॥

---

यदि प्रमेय मानांश होगा, तो प्रमेयत्वरूपसे विषयत्व और मानांशत्वरूपसे विषयित्वकी आपत्ति होनेसे एकमें विरुद्ध दो धर्मोंकी आपत्ति हो जायगी, जो अत्यन्त अनुचित है ॥ २५३ ॥

प्रमाणसे अतिरिक्त प्रमाता होता है, यही स्पष्ट कहते हैं—**'प्रमाणादतिरिक्तो'** इत्यादिसे ।

प्रमाणसे ( साधनसे ) अतिरिक्त ( भिन्न ) जो प्रमासमवायी प्रमाता प्रमाण द्वारा प्रमेयको जानता है वह प्रमाता मानका अंश है, यह कैसे कहते हो ? अर्थात् अनुचित कहते हो ॥ २५४ ॥

**'द्वितीयपादः'** इत्यादि । शब्दको द्वितीयपाद कहते हैं, इसमें यह प्रश्न होता है कि शब्दनामक द्वितीयपाद ऐकात्म्यरूप अर्थका बोध कराता है या नहीं ? प्रथम पक्षमें यदि वह उक्त अर्थके बोधका जनक नहीं है, तो उसे किस रूपसे मानपाद कहते हैं । प्रमितिकरण द्वारा प्रमाण कहलाता है । जब शब्द उक्त अर्थविषयक प्रमितिका जनक नहीं है, तो प्रमाण ही नहीं हुआ, फिर अप्रमाणको प्रमाणांश कहना मिथ्या ही है ॥ २५५ ॥

**'बोधे तु तावतैवाऽत्र'** इत्यादि । यदि आत्मैकत्वविषयक बोध शब्दसे होता है, यह मानते हो, तो उस बोधमात्रसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्ति होनेसे फलपर्यन्त शब्दका व्यापार समाप्त हो गया, अतः सप्रयोजनत्व होनेसे प्रामाण्य ही है, तो फिर उसमें अप्रामाण्यका भय है किससे ? यदि कहो कि निष्प्रयोजनत्वके भयसे शब्द युक्तिकी अपेक्षा करता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सप्रयोजनत्वसे निष्प्रयोजनत्वकी निवृत्ति होनेसे भयका कारण ही नहीं है, अतः शब्दको युक्तिकी अपेक्षा नहीं हो सकती ॥ २५६ ॥

परोक्षत्वेन शास्त्रेण बुद्धं न त्वनुभूयते ।
अप्रामाण्यभयं तस्मादिति चेद्युज्यते न यत् ॥ २५७ ॥
मेयस्वभावात् पारोक्ष्यं किं वा शब्दस्वभावतः ।
आद्ये किं ब्रह्मता तत्र परोक्षा स्यादुतात्मता ॥ २५८ ॥
यत्साक्षादपरोक्षं तद् ब्रह्मेति ब्रह्मणः श्रुतौ ।
मुख्यापरोक्ष्यमुदितं पारोक्ष्यं शङ्क्यते कुतः ॥ २५९ ॥

---

**'परोक्षत्वेन'** इत्यादि । शब्दसे आत्मतत्त्वका ज्ञान तो जरूर होता है, किन्तु अनुभव—प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए अप्रामाण्यका भय होता है । ज्ञानमात्रसे मुक्ति नहीं होती, किन्तु अनुभवसे होती है, इसलिए युक्तिकी सहायता अपेक्षित है । यद्यपि शाब्दज्ञान भी अनुभव ही है, तथापि अनुभवसे अपरोक्षात्मक अनुभव विवक्षित है; यह भी युक्त नहीं है, कारण कि आत्मतत्त्वका शाब्दज्ञान भी अपरोक्षात्मक ही होता है, परोक्षात्मक नहीं होता है । जब प्रमेय परोक्ष होता है तब तद्विषयक शाब्दज्ञान भी परोक्ष होता है । जब विषय अपरोक्ष होता है, तब तद्विषयक शाब्द ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है । परोक्षत्व और अपरोक्षत्व मेयके अनुसार हैं, शब्दके अनुसार नहीं ॥ २५७ ॥

**'मेयस्वभावात् पारोक्ष्यम्'** इत्यादि । 'तत्त्वमसि' आदि शब्द द्वारा ब्रह्मात्मज्ञान परोक्ष होता है, यह आप कहते हैं, इसमें प्रश्न यह है कि उक्त ज्ञानमें परोक्षत्व मेयस्वभावसे होता है, अथवा शब्दस्वभावसे ? प्रथम पक्षमें फिर विकल्प है—ब्रह्म परोक्ष है या आत्मा ? ब्रह्म और आत्माका ज्ञान होनेपर उनके अभेदका ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं । अतः प्रमेय ब्रह्म और आत्मा दोनों हैं । एक-एकका परोक्ष होनेपर उनके भेदका ज्ञान परोक्ष होगा, इस तात्पर्यसे एक-एकमें परोक्षत्वका प्रश्न है ॥ २५८ ॥

**'यत्साक्षादपरो०'** इत्यादि । 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे ब्रह्म अपरोक्षात् अर्थात् अपरोक्ष है, यह ज्ञात होता है । साक्षात्‌शब्दसे ब्रह्ममें मुख्य अपरोक्षत्व है, घटादिकी तरह ज्ञान द्वारा नहीं, यह ज्ञात होता है, अतः ब्रह्ममें परोक्षत्वकी शङ्का क्यों करते हो ? निश्चय संशयका प्रतिबन्धक होता है । निर्दोष श्रुति द्वारा निश्चित अर्थमें सन्देह ही नहीं हो सकता ॥ २५९ ॥

तस्मान्नाऽनात्मनोऽस्त्यात्मा नाऽप्यनात्माऽऽत्मनः स्वतः ।
आत्मनस्तु स्वतःसिद्धिर्भ्रान्तेः सिद्धिरनात्मनः ॥ ६५७ ॥
श्रुतिगुर्वाद्यनात्मानमपेक्ष्यात्मा प्रसिद्ध्यति ।
इति चेत् तदपेक्षाऽपि न स्वरूपस्य सिद्ध्यति ॥ ६५८ ॥
गुरुशास्त्रादयो भ्रान्तिं वारयन्त्येव केवलम् ।
न त्वात्मानं साधयन्ति स्वयं तेनाऽऽत्मवत्त्वतः ॥ ६५९ ॥
गुर्वादयो हि सात्मान आत्मनैव भवन्ति हि ।
विनाऽऽत्मानं निःस्वरूपाः कथं ते साधयन्ति तम् ॥ ६६० ॥
साध्यसाधनभावस्ते यदीष्टस्तर्ह्यनात्मनः ।
प्रापय्य सात्मतामात्मा साधयेदिति युज्यते ॥ ६६१ ॥
बुद्ध्यादेर्विषयान्तस्य स्वसामर्थ्यादसिध्यतः ।
आत्मना सह सम्बन्ध आत्मात्मीयत्वलक्षणः ॥ ६६२ ॥

---

'तस्मान्ना०' इत्यादि । इसलिए अनात्माका आत्मा नहीं है और आत्मा स्वयं अनात्मा नहीं है । आत्माकी तो स्वतः सिद्धि है और अनात्माकी भ्रान्तिसे सिद्धि होती है ॥ ६५७ ॥

'श्रुति०' इत्यादि । श्रुति, गुरु आदि अनात्माकी ही अपेक्षा करके आत्माकी सिद्धि होती है, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आत्माके स्वरूपकी सिद्धिके लिए गुरु, शास्त्र आदिकी अपेक्षा नहीं है ॥ ६५८ ॥

'गुरुशास्त्रा०' इत्यादि । गुरु, शास्त्र आदि भ्रान्तिका निवारण करते हैं, आत्माकी सिद्धि नहीं करते; क्योंकि आत्मा तो स्वरूप ही है ॥ ६५९ ॥

'गुर्वादयो' इत्यादि । गुरु, शास्त्र आदि भी आत्मासे ही आत्मावाले हुए हैं; आत्माके बिना तो जब उनका स्वरूप ही नहीं रहता, तब वे आत्माको कैसे सिद्ध करेंगे ॥ ६६० ॥

'साध्यसाधन०' इत्यादि । यदि तुम्हें साध्यसाधन-भाव इष्ट है, तो अनात्मामें सात्मताकी प्राप्ति कराके आत्मा अनात्माकी सिद्धि करेगा; यही मानना युक्त है ॥ ६६१ ॥

'बुद्ध्यादे०' इत्यादि । बुद्धिसे लेकर विषय पर्यन्त जड़ पदार्थ अपनी सामर्थ्यसे तो सिद्ध होते नहीं ; क्योंकि वे जड़ हैं, आत्माके साथ उनका आत्मात्मीयत्वलक्षण सम्बन्ध है ॥ ६६२ ॥

अबाध्यत्वात् स्वरूपत्वाद्वाध्येनाऽनात्मना सह ।
अव्यावृत्ताननुगतं सङ्गतं रज्जुसर्पवत् ॥ ६६३ ॥
व्याकृताव्याकृते इत्थं कल्पिते हि विचारतः ।
एते वारयितुं सूत्रे एवकारमसूत्रयत् ॥ ६६४ ॥
उपेति सामीप्यवाची तन्निष्ठा प्रत्यगात्मनि ।
कार्यकारणरूपाभ्यां प्रत्यङ् नेदीय ईक्ष्यते ॥ ६६५ ॥
व्याकृताव्याकृतात्मभ्यां भ्रान्तः प्रत्यङ् विभिद्यते ।
प्रत्यक्तत्त्वधिया हत्वा तावुपैत्यात्मतन्त्रताम् ॥ ६६६ ॥
बोधादूर्ध्वं यथा प्रत्यग्ब्रह्मणोरेकता तथा ।
पुराऽपि ब्रह्म सामीप्यं तेन विश्रान्तमात्मनि ॥ ६६७ ॥
वाक्यं तत्त्वमसीत्यादि प्रसिद्धं निखिलागमे ।
आसीतेति तुशब्देन कूटस्थत्वमसूत्रयत् ॥ ६६८ ॥

'अबाध्यत्वात्' इत्यादि । अबाध्य और स्वरूप होनेसे बाध्य अनात्माके साथ रज्जूसर्पकी तरह अव्यावृत्ताननुगत ( न भिन्न है न मिला हुआ ) सम्बन्ध है ॥ ६६३ ॥

'व्याकृता०' इत्यादि । व्याकृत और अव्याकृत इस प्रकार कल्पित हैं, विचारसे उनका त्याग करनेके लिए 'आत्मेत्येवमुपासीत' इस सूत्रमें 'एव' शब्द कहा गया है ॥ ६६४ ॥

'उपेति' इत्यादि । 'उप' शब्द सामीप्यका वाचक है, उसका पर्यवसान प्रत्यगात्मामें है, क्योंकि कार्यकारणरूपसे प्रत्यगात्मा अत्यन्त निकट देखा जाता है ॥ ६६५ ॥

'व्याकृता०' इत्यादि । व्याकृत और अव्याकृतरूपसे भ्रमसे प्रत्यगात्मामें भेद प्रतीत होता है । प्रत्यकुतत्त्वज्ञानसे उन दोनोंका नाश करके आत्मरूपताको प्राप्त होता है ॥ ६६६ ॥

'बोधादूर्ध्वम्' इत्यादि । बोधके अनन्तर जैसे प्रत्यगात्मा और ब्रह्मकी एकता है, वैसे ही बोधके पहले भी एकता थी, इसलिए सामीप्यकी आत्मामें विश्रान्ति है ॥ ६६७ ॥

'वाक्यम्' इत्यादि । 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य एकताके प्रतिपादक सब वेदोंमें प्रसिद्ध हैं 'आसीत' इस शब्दसे कूटस्थत्वका सूचन किया गया है ॥६६८॥

व्युत्थाय कारणात्कार्यात्तत्त्वज्ञानवर्त्मना ।
उपेत्य कूटस्थमजमासीताऽपरिणामवान् ॥ ६६९ ॥
मातृत्वकञ्चुको यद्वदात्माऽनात्मानमीक्षते ।
दृष्टिमात्रैकरूपत्वान्न तथाऽऽत्मानमीक्षते ॥ ६७० ॥
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं द्रष्टुर्दृष्टेरिति श्रुतिः ।
दृष्टिरेव तु यो द्रष्टेत्याह दृष्टिविशेषणम् ॥ ६७१ ॥
इत्यात्मसूत्रवाक्येऽस्मिन् पदार्थः प्रविवेचितः ।
वाक्यार्थोऽप्यत्र निष्पन्नः सङ्क्षेपेण प्रदर्श्यते ॥ ६७२ ॥
वाच्यमन्तव्यताहीनो व्यक्ताव्यक्तविलक्षणः ।
अभिन्न आत्मा कूटस्थ इति वाक्यार्थ इष्यते ॥ ६७३ ॥
व्याकृताव्याकृताभ्यां तद्वस्तुतत्त्वं तिरोहितम् ।
इति यच्छङ्कितं तन्न स्वरूपस्याऽतिरोहितेः ॥ ६७४ ॥

---

'व्युत्थाय' इत्यादि । कार्य और कारणके स्वरूपभूत प्रत्यगात्माके तत्त्वज्ञानके द्वारा कारण और कार्यसे व्युत्थान करके याने उनका त्याग करके कूटस्थ अजको प्राप्त कर परिणाम रहित होकर स्थित होवे ॥ ६६९ ॥

'मातृत्व०' इत्यादि । मातृत्वकञ्चुक अर्थात् प्रमातृत्वसे उपहित होकर जैसे आत्मा अनात्माको देखता है, वैसे आत्माको प्रमातारूप होकर नहीं देखता; क्योंकि दृष्टिमात्र ही आत्माका स्वरूप है ॥ ६७० ॥

'कर्तृत्व०' इत्यादि । 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' यह श्रुति जो द्रष्टा है, वह दृष्टि ही है, इस प्रकार समानाधिकरण षष्ठी विभक्तिसे उक्त द्रष्टाका दृष्टिरूप विशेषण कर्तृत्वका प्रतिषेध करनेके लिए है, ऐसा कहती है॥ ६७१ ॥

'इत्यात्म०' इत्यादि । यों आत्मसूत्रवाक्यमें पदार्थोंका विवेचन किया गया, अब इसमें जो वाक्यार्थ सिद्ध होता है, वह संक्षेपसे दिखलाया जाता है ॥ ६७२ ॥

'वाच्यमन्त०' इत्यादि । वह आत्मा न तो वाच्य है और न मन्तव्य है अर्थात् उन दोनोंसे भिन्न है एवं व्यक्त और अव्यक्त दोनोंसे विलक्षण है और अद्वितीय तथा कूटस्थ है, इस प्रकारका वाक्यार्थ इष्ट है ॥ ६७३ ॥

'व्याकृता०' इत्यादि । वह वस्तुका तत्त्व जाग्रत् और स्वप्नमें व्याकृतसे और सुषुप्तिमें अव्याकृतसे तिरोहित है, इस प्रकारकी जो शङ्का की गई थी, वह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वरूपका तिरोधान कभी भी नहीं हो सकता ।

स्वस्वरूपं तिरोधातुं नहि केनाऽपि शक्यते ।
विस्फार्यन्तामिहाऽक्षाणि किमक्षैरपराध्यते ॥ ६७५ ॥
आपादयेयुः शब्दादीन्यद्यक्षाणि तथापि ते ।
का हानिस्तस्य शब्दादेरेव तत्त्वं विबुध्यताम् ॥ ६७६ ॥
तैः शब्दादितया भाति तत्स्वरूपतया न तु ।
इति चेदत एवैतद्वेदवाक्येन बुध्यताम् ॥ ६७७ ॥
न परोक्षत्वमाशङ्क्यं स्वस्वरूपत्वहेतुतः ।
शब्दादितत्त्वं यद्बोद्धुः स्वरूपं तन्न चेतरत् ॥ ६७८ ॥

[ भाव यह है कि क्या जाग्रत् और स्वप्नमें केवल चैतन्य तिरोहित है या उसका ब्रह्मत्व तिरोहित है ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है; क्योंकि चैतन्य तो स्वरूप है, अतः उसका कभी तिरोधान नहीं हो सकता और द्वितीयका परिहार आगे कहेंगे ] ॥ ६७४ ॥

'स्वस्वरूपम्' इत्यादि । अपने स्वरूपका तिरोधान तो किसीसे भी हो नहीं सकता, अतः इस विषयमें अपनी इन्द्रियोंको खोलो, क्योंकि उन्होंने क्या अपराध किया है ? ॥ ६७५ ॥

'आपादयेयुः' इत्यादि । यद्यपि जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें इन्द्रियाँ शब्द आदिका ही ग्रहण करती हैं, तत्त्वका ग्रहण नहीं करतीं, तथापि तुम्हारी क्या हानि है ? क्योंकि 'शब्दोऽस्ति', 'स्पर्शोऽस्ति' ( शब्द है, स्पर्श है ) इत्यादि-रूपसे सद्रूप आत्मा भी शब्द आदिके साथ-साथ प्रतीत होता ही है ॥ ६७६ ॥

'तैः शब्दादितया' इत्यादि । यदि शङ्का हो कि इन्द्रियों द्वारा आत्माका परिज्ञान शब्द आदि रूपसे होता है, तत्त्वरूपसे नहीं होता, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसी अनुपपत्तिसे तो उसको वेदवाक्योंसे जानो, ऐसा हम कहते हैं ॥ ६७७ ॥

'न परोक्षत्व०' इत्यादि । इन्द्रियोंसे आत्माका ज्ञान परोक्ष ही होगा, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आत्मा तो स्वस्वरूप है । स्वरूप कभी परोक्ष नहीं हुआ करता है । ज्ञाताका जो स्वरूप है, वह शब्दादिका तत्त्व ही है, अन्य नहीं है ॥ ६७८ ॥

[ यदि कहो कि इन्द्रियों द्वारा शब्दादिरूपसे परिणत हुए मनमें ब्रह्मज्ञानकी हेतुता कैसे हो सकती है ? क्योंकि एक मन दो विषयोंको एक कालमें ग्रहण

एकस्याऽप्यत्र चित्तस्य सहकारिविभेदतः ।
क्रमेण ग्रहणं तत्त्वे शब्दादौ च कुतो नहि ॥ ६७९ ॥
इति शङ्कोत्तरं प्रोक्तमेतत्सूत्रेण सूचितम् ।
स्वरूपवाच्यात्मशब्दादतिरोधानभासनात् ॥ ६८० ॥
यद्वोपासीतेति शब्दो न कूटस्थं ब्रवीत्ययम् ।
किन्तु जानाति धात्वर्थं विवक्षित्वा प्रयुज्यते ॥ ६८१ ॥
ततो वाक्यार्थ एवं स्यादात्मशब्दोपलक्षितम् ।
वस्त्वित्येव विजानीयादुपेक्ष्य प्राणनादिकम् ॥ ६८२ ॥
रसगन्धादियुक्तेऽपि द्रव्ये दृष्ट्या विविच्यते ।
रूपमेव यथा तद्वद् बुद्ध्या तत्त्वं विविच्यताम् ॥ ६८३ ॥

---

नहीं कर सकता, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही मन इन्द्रियोंकी सहायतासे शब्दादिका ग्रहण करके द्वितीय क्षणमें शब्दादिकी सत्तामें श्रुतिसे ब्रह्मत्वका निश्चय कर सकता है, इसे कहते हैं—'एकस्या' इत्यादिसे । ]

एक ही चित्त सहकारीके भेदसे क्रमशः आत्मा और शब्द आदिका ग्रहण क्यों नहीं कर सकता ? अर्थात् कर सकता है ॥६७९॥

'इति' इत्यादि । इस प्रकार शङ्काका उक्त उत्तर 'आत्मेत्येव' इस सूत्रने सूचित कर ही दिया, क्योंकि आत्मशब्द स्वरूपका वाचक है, और स्वरूपका कभी तिरोधान नहीं हो सकता ॥६८०॥

जब आत्मपदसे ही उक्त शङ्काका परिहार हो सकता है, तब सूत्रके शेष पदोंसे क्या लाभ है ? इस अरुचिसे पक्षान्तर कहते हैं—'यद्वोपासीते०' इत्यादिसे ।

यद्वा 'उपासीत' यह शब्द कूटस्थको नहीं कहता है; किन्तु 'जानाति (ज्ञा) धातु' के अर्थकी विवक्षा करके 'उपासीत' शब्दका प्रयोग किया गया है, इसलिए वाक्यार्थ यह होगा कि आत्मशब्दसे उपलक्षित—लक्षणासे प्रतिपादित—जो अखण्ड एकरस वस्तु है, वही तत्त्व है, पूर्वोक्त प्राणन आदि तत्त्व नहीं है, ऐसा विचार कर जानना चाहिए ॥ ६८१–६८२ ॥

'रसगन्धादि०' इत्यादि । रस, गन्ध आदिसे युक्त भी द्रव्यमें जैसे नेत्रसे रूपका ही ग्रहण होता है, वैसे ही रस, गन्ध आदिसे युक्त द्रव्यमें विद्यमान सत्ता स्वरूप आत्मतत्त्वका बुद्धिसे ग्रहण करना चाहिए ॥ ६८३ ॥

एवं सत्युक्तशङ्कायाः साक्षादुक्तमिहोत्तरम् ।
व्याकृते सूक्ष्ममनसा तुरीयं बुध्यतामिति ॥ ६८४ ॥
इति सूत्रस्य तात्पर्यं यथावत् प्रतिपादितम् ।
अथ पक्षान्निराकुर्वे वाक्येऽस्मिन् प्रतिवादिनाम् ॥ ६८५ ॥
उपासीतेति वचनं श्रुत्वा केचिदुपासनम् ।
विधीयत इति प्राहुश्चिन्ता तत्र त्रिधा मता ॥ ६८६ ॥
किमुपास्यं किं विधेयं को विधिश्चेति सा त्रिधा ।
आत्मोपास्योऽथवाऽनात्मेत्युपास्यस्याऽत्र संशयः ॥ ६८७ ॥
इतिशब्दो विरूपत्वं निषेधश्चेति हेतवः ।
अनात्मन उपास्यत्वं साधयन्ति प्रियादिवत् ॥ ६८८ ॥
प्रियमित्येवमित्यत्र प्रियदृष्ट्या प्रियेतरः ।
उपास्यते यथा प्राणस्तथाऽनात्माऽऽत्मदृष्टितः ॥ ६८९ ॥

---

'एवं सत्युक्त०' इत्यादि । ऐसी दशामें उक्त शङ्काका साक्षात् यह उत्तर कहा गया कि व्याकृत पदार्थमें सूक्ष्म मनसे तुरीयको पहचानना चाहिए ॥६८४॥

'इति' इत्यादि । पूर्वोक्त प्रकारसे सूत्रके तात्पर्यका ठीक-ठीक रूपसे प्रतिपादन कर दिया गया । अब इस वाक्यमें प्रतिवादियोंके पक्षोंका निराकरण किया जाता है ॥ ६८५ ॥

'उपासीतेति' इत्यादि । 'उपासीत' इस वचनको सुनकर कोई कहते हैं कि इस सूत्रसे उपासनाका विधान है । इस अवस्थामें उसमें तीन प्रकारकी चिन्ताएँ होती हैं ॥ ६८६ ॥

'किमुपास्यम्' इत्यादि । कौन उपास्य है ? कौन विधेय है ? और कौन-सी विधि है ? यों तीन प्रकारसे चिन्ताएँ होती हैं । और उपास्यके विषयमें यह सन्देह होता है कि आत्मा उपास्य है अथवा अनात्मा उपास्य है ? ॥ ६८७ ॥

'इति शब्दो' इत्यादि । इस परिस्थितिमें इतिशब्द, विरूपत्व और निषेध— ये तीन हेतु प्रियादिकी तरह अनात्माकी उपास्यताको सिद्ध करते हैं ॥ ६८८ ॥

'प्रियमित्येव०' इत्यादि । 'प्रियमित्येतदुपासीत' इस वाक्यसे जैसे अनात्मा होनेके कारण अप्रिय प्राणमें प्रिय दृष्टिका विधान है; वैसे ही 'आत्मेत्येव' इस वाक्यमें आत्मदृष्टिसे अनात्माकी उपासनाका विधान है ॥ ६८९ ॥

इतिशब्दशिरस्कत्वं प्रियवाक्ये यथा श्रुतम् ।
आत्मेत्येवेति वाक्येऽपि तथैव श्रूयते स्फुटम् ॥ ६९० ॥
आत्मानमेव लोकं त्वित्यात्मोपास्तिर्द्वितीयया ।
श्रुताऽन्यत्रेह न तथा विरूपत्वमिदं मतम् ॥ ६९१ ॥
तं न पश्यन्तीति वाक्ये निषिद्धा प्रकृतात्मदृक् ।
अनात्माऽत उपास्यः स्यादिति चेन्नैवमिष्यते ॥ ६९२ ॥
आत्मोपासनमेवेदं वाक्यशेषावलोकने ।
पदनीयान्तरतरप्रियात्मोपासनोक्तितः ॥ ६९३ ॥
अवाङ्मनसगम्यत्वमितिशब्देन वर्णितम् ।
वाक्यशेषोऽयमात्मनमेवेति न पृथग्वचः ॥ ६९४ ॥

---

'इतिशब्दशिरस्कत्वम्' इत्यादि । 'प्रियमित्येतत्' इस वाक्यमें जैसे प्रिय-शब्दके सिरपर इतिशब्द सुना जाता है वैसे ही 'आत्मेत्येव' इस वाक्यमें भी आत्मशब्दके सिरपर इतिशब्द स्पष्ट सुना जाता है, अतः यह इतिशब्द अनात्माकी उपासनाके विधानमें एक हेतु है ॥ ६९० ॥

'आत्मानमेव' इत्यादि । जैसे 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इस वाक्यमें द्वितीया विभक्तिसे आत्माकी उपासना सुनी गई है, वैसे ही 'आत्मेत्येव' इस वाक्यमें आत्मशब्दसे आगे द्वितीया विभक्ति नहीं है; अतः इस प्रकारका विरूपत्व ( विरुद्ध रूपका होना ) अनात्माकी उपासनाके विधानमें दूसरा हेतु है ॥ ६९१ ॥

'तं न पश्यन्ति' इत्यादि । 'तन्न पश्यन्ति' इस वाक्यमें प्रकरणस्थित आत्माके दर्शनका निषेध किया गया है, इसलिए प्रकृत वाक्यसे अनात्माकी ही उपसनाका विधान है, यह कथन समीचीन नहीं है ॥ ६९२ ॥

'आत्मोपासन०' इत्यादि । क्योंकि वाक्यशेषके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह आत्माकी ही उपासना है, क्योंकि 'तदेतत्पदनीयम्' ( इस आत्माको पाना चाहिए ) 'सर्वस्मादन्तरतरम्' 'आत्मानमेव प्रियमुपासीत' ( सबसे अन्दर जो आत्मा है, उसकी प्रियरूपसे उपासना करे ) इस वाक्यशेषमें कहे हुए 'पदनीयत्व, अन्तरतरत्व और प्रियत्व रूपसे आत्माकी ही उपासनाका कथन किया गया है ॥ ६९३ ॥

'अवाङ्मनस०' इत्यादि । इतिशब्दसे अवाङ्मनसगम्यत्वका वर्णन किया गया है, अतः 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' यह वाक्यशेष पृथग्वचन नहीं है ॥ ६९४ ॥

निषेधोऽकृत्स्नविषयो न तु कृत्स्नात्मगोचरः ।
तस्मादुपास्य आत्मा स्याद्विधेयं चिन्त्यतेऽधुना ॥ ६९५ ॥
शाब्दज्ञानं विधेयं किं निरोधो वाऽथ सन्ततिः ।
इति त्रिधा संशये सत्याद्यः पक्षोऽभिधीयते ॥ ६९६ ॥
विद्युपास्त्योरिहैकार्थ्यात्क्रियात्वात्र्यंशसम्भवात् ।
शेषित्वान्मुक्तिहेतुत्वाच्छाब्दज्ञानं विधीयते ॥ ६९७ ॥
यद्यप्युपास्तिरावृत्तिस्तथाऽप्यत्र तु वेदनम् ।
भवेद्विद्याप्रकरणात्ततो ज्ञानविधिर्मतः ॥ ६९८ ॥
वषट्करिष्यंस्तां ध्यायेदिति ध्यानं यथा तथा ।
क्रियैव मानसी विद्या तथाऽस्ति विधियोग्यता ॥ ६९९ ॥

'निषेधो' इत्यादि । 'तत्र पश्यन्ति' यह निषेध अकृत्स्नके (द्रष्टा, श्रोता, मन्ता आदिके) दर्शनका निषेध करता है, कृत्स्न आत्माके दर्शनका निषेध नहीं करता, इसलिए इस वाक्यसे आत्माकी ही उपासनाका विधान है । अब विधेयका विचार करते हैं ॥ ६९५ ॥

'शाब्दज्ञानम्' इत्यादि । क्या शाब्द ज्ञान विधेय है या मनका निरोध विधेय है अथवा सन्तति ( ज्ञानकी आवृत्ति ) विधेय है ? यों तीन प्रकारका संशय होनेपर प्रथम पक्ष कहा जाता है ॥ ६९६ ॥

यहांपर ज्ञानके वाचक पदका अभाव होनेसे, ज्ञान क्रियारूप न होनेसे और विधिसे अपेक्षित किम् ( क्या ), केन ( किसके द्वारा ) और कथम् ( किस प्रकार )—इन तीन अंशोंका अभाव होनेसे भी ज्ञानकी विधि नहीं हो सकती ? इस प्रकार शङ्का करके उत्तर कहते हैं—'विद्युपास्त्यो०' इत्यादिसे ।

'इह' ( इस विद्याप्रकरणमें ) विदि ( ज्ञान ) और उपासनाका एक अर्थ है, उपासना क्रिया है, उसमें किम्, केन और कथम्—इन तीनों अंशोंका सम्भव भी है और उपासना मुक्तिका साधन होनेसे शेषी भी है, इसलिए यहाँ शाब्द ज्ञानकी विधि है ॥ ६९७ ॥

'यद्यप्युपास्ति०' इत्यादि । यद्यपि उपासना आवृत्ति ही है, तथापि यहांपर विद्याप्रकरण होनेसे उपासनाका अर्थ ज्ञान ही है, इसलिए ज्ञानकी विधि समझनी चाहिए ॥ ६९८ ॥

'वषट्करिष्यंस्तां' इत्यादि । जैसे 'वषट्कार करते समय उस देवताका

किं केन कथमित्यंशा आत्मचित्तशमादयः ।
अतोऽत्र भावना त्र्यंशा शाब्दज्ञानेऽपि सम्भवेत् ॥ ७०० ॥
ये तु सिद्धार्थवेदान्तास्ते शेषाः शेष्ययं विधिः ।
अतः सिद्धार्थवेदान्तैर्वेदार्थत्वं विधेर्नहि ॥ ७०१ ॥
स्वातन्त्र्ये सिद्धवाक्यानां भवेदपुरुषार्थता ।
अत्रोच्यतेऽननुष्ठानादकार्यत्वादकर्तृतः ॥
विध्यानन्त्यान्नैरपेक्ष्यादशक्तेर्नाऽत्र धीविधिः ॥ ७०२ ॥
जीवब्रह्मैक्यविज्ञानं वाक्यश्रवणमात्रतः ।
सिध्यत्येवेत्यनुष्ठानं न तदर्थमपेक्षते ॥ ७०३ ॥

---

ध्यान करे', इस अर्थवाले वाक्यमें ध्यान मानसी क्रिया है, वैसे ही यहाँपर विद्या ( उपासना ) भी मानसी क्रिया है, इसलिए उसकी विधि हो सकती है ॥ ६९९ ॥

**'किं केन'** इत्यादि । किम्, केन और कथम्—इन तीन अंशोंका भी इसमें सम्भव है । किसकी उपासना करे ? आत्माकी, किससे करे ? चित्तसे और किस प्रकार करे ? शमादिसे युक्त होकर, इस प्रकार शाब्द ज्ञानमें भी तीन अंशोंका सम्भव है ॥ ७०० ॥

**'ये तु'** इत्यादि । जो सिद्धार्थके वाचक वेदान्त हैं, वे शेष हैं और यह उपासनाविधि शेषी है, इसलिए सिद्धार्थक वेदान्तोंसे विधिमें वेदार्थता ( पुरुषार्थकी हेतुता नहीं हो सकती ) नहीं हो सकती, अर्थात् उपासनासे ही मुक्ति होती है, सिद्धार्थ वेदान्तोंसे मुक्ति नहीं होती ॥ ७०१ ॥

**'स्वातन्त्र्ये'** इत्यादि । क्रियासे अनन्वित ( असम्बद्ध ) सिद्ध अर्थके वाचक वाक्य पुरुषार्थके हेतु नहीं होते, ऐसा 'सप्तद्वीपा वसुमती' ( पृथ्वीके सात द्वीप हैं ) इत्यादि सिद्धार्थक लौकिक वाक्योंमें देखा गया है । इसमें कहते हैं—ज्ञानकी विधि क्यों नहीं हो सकती ? क्या ज्ञानका अनुष्ठान नहीं हो सकता ? या ज्ञान क्रियारूप नहीं है ? अथवा ज्ञानका कोई कर्ता नहीं है ? या अनन्त विधियाँ माननी पड़ती हैं ? अथवा ज्ञान निरपेक्ष है ? या ज्ञानके विधानमें शक्ति नहीं है ? ॥ ७०२ ॥

**'जीवब्रह्मैक्य०'** इत्यादि । जीवब्रह्मकी एकताका ज्ञान वाक्यके श्रवणमात्रसे सिद्ध होता है, अतः उसके लिए अनुष्ठानकी अपेक्षा ही नहीं है ॥ ७०३ ॥

अन्तरेण विधिं वाक्यं श्रवणायाऽपि नेहते ।
इति ब्रुवाणं प्रब्रूयादनिष्टं श्रूयते कुतः ॥ ७१० ॥
अधिक्षेपं शृणोत्येव विनाऽपि विधिना पुमान् ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानां श्रवणं न तथा कुतः ॥ ७११ ॥
वैदिकत्वाद्विध्यपेक्षा यदि तर्हि विधेरपि ।
श्रवणे विध्यपेक्षायां विध्यानन्त्यं प्रसज्ज्यते ॥ ७१२ ॥
उत्पन्नस्याऽपि बोधस्य विध्यपेक्षामुदीरयन् ।
किं वा प्रयोजनं ब्रूयात्तद्विचार्यं प्रयत्नतः ॥ ७१३ ॥
प्रयोगार्थं बोधनार्थं मात्वार्थं मेयसिद्धये ।
आत्मत्वायाऽतिरोहित्यै निरुपाध्यनुभूतये ॥ ७१४ ॥

---

विधिमें कोई इष्ट फल नहीं है, क्योंकि आत्मा ब्रह्म है और ब्रह्म आत्मा है, यह स्वतः सिद्ध है, फिर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे उनके अभेदका बोध होनेपर विधिका क्या फल होगा ? ॥ ७०९ ॥

'अन्तरेण' इत्यादि । विधिके बिना वेदान्तवाक्यके श्रवणके लिए इच्छा ही नहीं करता, ऐसी शङ्का यदि पूर्वपक्षी करे, तो उससे कहना चाहिए कि अनिष्टका श्रवण किस हेतुसे होता है ?॥ ७१० ॥

'अधिक्षेपम्' इत्यादि । जैसे विधिके बिना भी पुरुष अपनी निन्दाको सुनता है, वैसे ही विधिके बिना 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंका श्रवण क्यों नहीं कर सकेगा ॥ ७११ ॥

'वैदिकत्वाद्विध्यपेक्षा' इत्यादि । यदि कहो कि निन्दा लौकिक है, अतः उसमें भले ही विधिकी अपेक्षा न हो, परन्तु श्रवण वैदिक है, इसलिए उसमें विधिकी अपेक्षा है, तो विधिके श्रवणमें भी विधिकी अपेक्षा होगी, इस परिस्थितिमें अनन्त विधियोंको माननेके सिवा आपको दूसरी गति ही नहीं है ॥ ७१२ ॥

'उत्पन्नस्याऽपि' इत्यादि । उत्पन्न हुए ज्ञानको भी विधिकी अपेक्षा है, इस प्रकार कहनेवाला विधिका क्या प्रयोजन बतलाता है ? इसका भी यत्नसे विचार करना चाहिए ॥ ७१३ ॥

'प्रयोगार्थम्' इत्यादि । क्या प्रयोगके लिए विधिकी अपेक्षा है ? या ज्ञानके लिए अथवा प्रमात्वके लिए या प्रमेयकी सिद्धिके लिए अथवा

सम्भवार्थं तमोनुत्त्यै ज्ञानवृत्तिनिवृत्तये ।
तमोहानिनिवृत्त्यै वा, सर्वथाऽपि न युज्यते ॥ ७१५ ॥
स्वरूपलाभमात्रेण हन्ति विद्या तमस्ततः ।
नाऽपेक्षते प्रयोगं तु लब्धरूपा कुठारवत् ॥ ७१६ ॥
स्वप्रकाशात्मनस्तत्त्वे तमोनाशातिरेकतः ।
बोधनं नैव सम्भाव्यं घटादौ तज्जडे भवेत् ॥ ७१७ ॥
नद्यास्तीरे फलानीति नृवचोऽन्यदपेक्षते ।
प्रामाण्याय, तथा वेदवाक्यं नाऽन्यदपेक्षते ॥ ७१८ ॥
प्रमाणमप्रमाणं च प्रमेयो निश्चितिस्तथा ।
यत्सान्निध्यात् प्रसिध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्षते ॥ ७१९ ॥

---

आत्मत्वके लिए या अतिरोधानके ( प्रकटताके ) लिए, अथवा निरुपाधिक स्वरूपके अनुभवके लिए या सम्भवके लिए अथवा अज्ञानकी निवृत्तिके लिए या ज्ञानकी वृत्तिकी निवृत्तिके लिए अथवा अज्ञानकी हानिकी निवृत्तिके लिए विधिकी अपेक्षा है ? किसी भी प्रकारसे विधिकी अपेक्षा युक्त नहीं है ॥ ७१४,१५ ॥

'स्वरूपलाभ०' इत्यादि । स्वरूपके लाभमात्रसे ज्ञान अज्ञानका नाश कर देता है । अतः अपने स्वरूपको प्राप्त हुई विद्या कुठारकी तरह प्रयोगकी अपेक्षा नहीं करती ॥ ७१६ ॥

'स्वप्रकाशा०' इत्यादि । स्वयम्प्रकाश आत्मतत्त्वमें अज्ञानका नाश ही ज्ञानका प्रयोजन है । उसके सिवा जैसे जड़ घटमें घटका बोधन ज्ञानका प्रयोजन है, वैसे आत्मामें आत्माका बोधनरूप प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आत्मा तो स्वयम्प्रकाश है और बोधन जड़ पटादिमें हो सकता है ॥ ७१७ ॥

'नद्यास्तीरे' इत्यादि । जैसे 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' ( नदीके तटपर फल हैं ) यह मनुष्यका वचन अपनी प्रमाणताके लिए मूल कारणकी अपेक्षा करता है, वैसे वेदवाक्य किसी अन्य मूल कारणकी अपेक्षा नहीं करता ॥ ७१८ ॥

'प्रमाणमप्रमाणम्' इत्यादि । प्रमाण, अप्रमाण, प्रमेय और निश्चय जिस आत्माकी सन्निधिसे सिद्ध होते हैं, उस आत्माकी सिद्धिमें दूसरे किसकी अपेक्षा होगी ? भाव यह है कि अपना स्वरूप सदा सन्निहित ही है, अतः उसमें किसीको संशय हो ही नहीं सकता ॥ ७१९ ॥

इदमेवमिदं नैवमिति बुद्धिरनात्मिका ।
येनाऽऽत्मवत्येष आत्मा स्वत एव न चाऽन्यतः ॥ ७२० ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तद्भावाभावसाक्षिणः ।
नाऽस्ति तस्य तिरोधानमन्यथा जगदन्धता ॥ ७२१ ॥
कर्त्रादिव्यापृतेः पूर्वमसंकीर्णमुपाधिभिः ।
अविक्षिप्तमसंसुप्तं स्वानुभूत्यैव गम्यते ॥ ७२२ ॥
प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च ।
कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसम्भावना कुतः ॥ ७२३ ॥
शैत्यापनोदने वह्निर्यथा नाऽन्यदपेक्षते ।
विरोधित्वात्तथा विद्या निरपेक्षा तमोहतौ ॥ ७२४ ॥

'इदमेवमिदम्' इत्यादि । यह ऐसा है और यह ऐसा नहीं है, इत्यादि अनात्मबुद्धि जिस आत्मासे अपने अस्तित्वको रखती है, वह आत्मा स्वतः सिद्ध है, अन्यसे उसकी सिद्धि नहीं है। अर्थात् घट आदि ज्ञान अपनी प्रमाणताके लिए गुणजन्यत्वकी अपेक्षा करते हैं, घट जैसे पृथुबुध्नोदराकार (गला छोटा, पेट बड़ा) है, वैसा पट नहीं है, यह बुद्धि स्वतः सत्ताशून्य है, वह जिस आत्मासे सत्तावाली है वह आत्मा ही सत्यस्वरूप है॥७२०॥

'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु' इत्यादि । जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंके भावाभावके साक्षी आत्माका किसी अवस्थामें भी तिरोधान नहीं होता। यदि आत्माका तिरोधान हो, तो सारा जगत् ही अन्ध हो जायगा॥ ७२१ ॥

'कर्त्रादिव्यापृतेः' इत्यादि । [ मनोनिरोधके लिए विधिकी अपेक्षा है, इस सप्तम पक्षमें भी मनोनिरोध अनात्यन्तिक विवक्षित है अथवा आत्यन्तिक ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अनात्यन्तिक मनोनिरोध सुषुप्ति अवस्थामें नित्य होता है ] क्योंकि कर्ता आदिके व्यापारसे पहले सुषुप्ति अवस्थामें सब उपाधियों तथा विक्षेपसे रहित चैतन्यस्वरूप आत्माका अनुभव होता है ॥ ७२२ ॥

'प्रमाणमप्रमाणम्' इत्यादि । प्रमाण, अप्रमाण और प्रमाभास—ये दृश्य होनेसे जिस द्रष्टा आत्माकी प्रमा करते हैं, [ क्योंकि द्रष्टाके बिना दृश्यका ज्ञान नहीं होता ] उस आत्माकी असम्भावना कैसे हो सकती है ? ॥७२३॥

'शैत्या०' इत्यादि । जैसे शीतकी निवृत्तिमें अग्नि किसी अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं करती, वैसे ही विद्या भी विरोधी होनेसे अज्ञानके नाशमें अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नहीं करती ॥ ७२४ ॥

या तमोघातिनी विद्यावृत्तिः सा स्वयमेव हि ।
नश्यत्यविद्यया सार्द्धं हत्वा रोगमिवौषधम् ॥ ७२५ ॥
प्रत्यङ्मात्रावशेषो यः स तमोहानिरुच्यते ।
अनश्वरी तमोहानिर्नाऽत्राऽतो विध्यपेक्षिता ॥ ७२६ ॥
पश्येदात्मानमित्येष विधिरत्र निरर्थकः ।
अशक्यत्वाद्वस्तुतन्त्रं नेच्छया कर्तुमीश्महे ॥ ७२७ ॥
दर्शनं वस्तुतन्त्रं स्यात् कर्तृतन्त्रं नहि क्वचित् ।
कर्तृतन्त्रधियोपास्यं यत् स्यात्तद्ब्रह्म नैव हि ॥ ७२८ ॥
मनुते यं न मनसा मतं येन मनः सदा ।
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ॥ ७२९ ॥
इति भृङ्गग्राहिकया श्रुत्योपास्यस्य वारिता ।
ब्रह्मता, साक्षिणस्त्वस्य ब्रह्मत्वं स्फुटमीरितम् ॥ ७३० ॥

'या तमोघातिनी' इत्यादि । जो अज्ञानका नाश करनेवाली ज्ञानरूप वृत्ति है, वह तो रोगको नष्ट करके ओषधिकी तरह अविद्याके साथ आप ही नष्ट हो जाती है ॥ ७२५ ॥

'प्रत्यङ्मात्रा०' इत्यादि । जो केवल प्रत्यगात्माका अवशेष है, वही अज्ञानकी निवृत्ति कही जाती है, वह अज्ञानकी निवृत्ति नष्ट नहीं होती, इसलिए उसकी विधिकी अपेक्षा नहीं है ॥ ७२६ ॥

'पश्येदात्मा०' इत्यादि । 'आत्माको देखे', यह विधि निरर्थक है, क्योंकि दर्शनकी विधि अशक्य है, कारण कि दर्शन वस्तुके अधीन होता है, अतः वह इच्छासे नहीं किया जा सकता ॥ ७२७ ॥

'दर्शनम्' इत्यादि । दर्शन वस्तुके अधीन है, कर्ताके अधीन कहीं नहीं होता । उपासनारूपी बुद्धि कर्ताके अधीन है, इसलिए जो उपास्य है, वह ब्रह्म ही नहीं है ॥ ७२८ ॥

'मनुते' इत्यादि । मनसे जिसका मनन नहीं कर सकते, और जिसके मनका स्वरूप सदा ज्ञात है, उसको तुम ब्रह्म समझो, जिसकी लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७२९ ॥

'इति भृङ्ग०' इत्यादि । इस प्रकार भृङ्गग्राहिकासे श्रुतिने उपास्यकी ब्रह्मताका निषेध किया है, इसलिए साक्षी ब्रह्म है, यह स्पष्ट हो जाता है ॥ ७३० ॥

हेतवः पूर्वपक्षस्य ये प्रोक्तास्तेषु सम्मतम् ।
विद्युपास्त्योरिहैकार्थ्यं क्रियात्वं न तु सम्मतम् ॥ ७३१ ॥
यागे यद्देवताध्यानं नृतन्त्रत्वात्क्रियाऽस्तु सा ।
प्रमाणमेयतन्त्रत्वाद्विद्यैषा स्यात्कथं क्रिया ॥ ७३२ ॥
सर्वाकाङ्क्षामूलहेतोरज्ञानस्यैव बाधनात् ।
अंशत्रयमनाकाङ्क्षं कथं सा भावनोदियात् ॥ ७३३ ॥
स्वतन्त्रा ब्रह्म वेदान्ता बोधयित्वा विमुक्तिदाः ।
अतः शाब्दज्ञानविधिर्न कथञ्चन युज्यते ॥ ७३४ ॥
न योगशास्त्रसंसिद्धो निरोधोऽपि विधीयते ।
विमुक्तिसाधनत्वेन तस्याऽनधिगमाच्छ्रुतेः ॥ ७३५ ॥
अनुष्ठातुमशक्यश्च प्रत्यग्बोधं विना न सः ।
प्रत्यग्ज्ञाने निरुध्यन्ते चित्ततद्वृत्तयोऽखिलाः ॥ ७३६ ॥

'हेतवः' इत्यादि । पूर्वपक्षके जो हेतु कहे हैं, उनमें ज्ञान और उपासनाकी एकार्थता हमें भी इष्ट है, परन्तु उनमें क्रियात्वका अङ्गीकार हमें सम्मत नहीं है, इसलिए ज्ञानकी विधिका सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञान क्रिया नहीं है ॥ ७३१ ॥

'यागे' इत्यादि । यज्ञमें जो देवताका ध्यान है, वह मनुष्यके अधीन होनेसे क्रियारूप हो सकता है । परन्तु विद्या (ज्ञान) तो प्रमाण और प्रमेयके अधीन है, अतः वह क्रिया कैसे हो सकती है ? घटका ज्ञान घट और नेत्रसे उत्पन्न होता है, अतः वह क्रिया नहीं है ॥ ७३२ ॥

'सर्वाकाङ्क्षा०' इत्यादि । सब आकाक्षाओंका मूल कारण जो अज्ञान है, उसका ज्ञानसे बाध हो जाता है, अतः उस ज्ञानमें किम्, केन और कथम्—इन तीन अंशोंकी आकांक्षा ही नहीं है, तब फिर भावना कैसे उत्पन्न होगी ? ॥७३३॥

'स्वतन्त्रा' इत्यादि । वेदान्त स्वतन्त्र हैं, वे ब्रह्मको बोधन करके मुक्तिको देते हैं, इसलिए शाब्दज्ञानकी विधिका कोई भी उपयोग नहीं है ॥ ७३४ ॥

'न योग०' इत्यादि । योगशास्त्रसे सिद्ध मनोनिरोधकी भी विधि नहीं हो सकती, क्योंकि श्रुतिने मनोनिरोध मुक्तिका साधन नहीं कहा है ॥ ७३५ ॥

'अनुष्ठातुम०' इत्यादि । आत्मज्ञानके बिना मनोनिरोधका अनुष्ठान भी सकता और आत्मज्ञान होनेपर मनकी सब वृत्तियाँ आप ही निरुद्ध हैं ॥ ७३६ ॥

वस्तुतस्तु निरोधोऽस्तु मा वाऽस्त्वेतेन किं तव ।
प्रत्यग्बोधमृते नाऽन्यन्मुक्तेरस्तीह साधनम् ॥ ७३७ ॥
विधेयस्तर्हि सन्तान इति चेत्, तत्र को विधिः ।
अपूर्वो नियमो वा स्यात्परिसङ्ख्याऽथवोच्यताम् ॥ ३३८ ॥
अपूर्वोऽत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्या विधीयते ॥ ७३९ ॥
अत्र त्वत्यन्तमप्राप्तमात्मोपासनमन्यतः ।
अपूर्वविधिरेवाऽतो यथैतत् स्यात्तथोच्यते ॥ ७४० ॥
एकार्थोल्लेखिवृत्तीनामातादात्म्याभिमानतः ।
आवर्तनं हि शब्दार्थः सर्वत्रोपासनश्रुतेः ॥ ७४१ ॥
विद्युपास्तेरिहैकत्वं यदि तर्हि विदेरपि ।
अर्थ आवृत्तिरेवाऽस्तु पूर्वब्राह्मणवाक्यवत् ॥ ७४२ ॥

'वस्तुतस्तु' इत्यादि । वास्तवमें तो मनोनिरोध हो, चाहे न हो, इससे तुम्हें क्या मतलब ? केवल यही समझ लो कि आत्मज्ञानके सिवा मुक्तिका दूसरा साधन नहीं है ॥ ७३७ ॥

'विधेयस्तर्हि' इत्यादि । यदि कोई कहे कि सन्तानकी ( बुद्धिवृत्तियों—ज्ञान—की आवृत्तिकी ) विधि है, तो उससे पूछना चाहिए कि कौनसी विधि है ? क्या अपूर्वविधि है या नियमविधि है अथवा परिसंख्याविधि है ? ॥ ७३८ ॥

'अपूर्वोऽ०' इत्यादि । अत्यन्त अप्राप्ति होनेपर अपूर्वविधि हुआ करती है, पाक्षिक प्राप्ति होनेपर नियमविधि होती है और दोनों स्थानोंमें प्राप्ति होनेपर परिसंख्या विधि हुआ करती है ॥ ७३९ ॥

'अत्र' इत्यादि । यहां तो आत्माकी उपासना अन्य साधनसे अत्यन्त अप्राप्त है, इसलिए जैसे यह अपूर्वविधि होती है, वैसे कहा जाता है ॥ ७४० ॥

'एकार्थो०' इत्यादि । सर्वत्र उपासनाश्रुतिका शब्दार्थ तादात्म्याभिमानपर्यन्त एकार्थको विषय करनेवाली वृत्तियोंकी आवृत्ति ही है । 'न स वेद' ( वह नहीं जानता है ) इस पूर्व वाक्यमें ज्ञानका प्रकरण है, इसलिए 'उपासीत' यहांपर भी उपासना ज्ञानके सामानार्थक है, इसलिए उपासनाकी आवृत्तिकी विधि उपपन्न है ॥ ७४१ ॥

'विद्युपास्ते०' इत्यादि । विदि (ज्ञान) और उपासनाका यदि यहाँ एकत्व है, तो पूर्व ब्राह्मणवाक्यकी तरह विदिका अर्थ आवृत्ति ही हो सकता है ॥ ७४२ ॥

पूर्वत्रैतत्साम वेदेत्येवं वेदेति शब्दतः ।
उपासनं व्यवहृतं तथा श्रुत्यन्तरेष्वपि ॥ ७४३ ॥
विद्याप्रकरणं चाऽत्र न विरुद्धमुपास्तितः ।
अपरोक्षब्रह्मविद्याजन्मनः सुलभत्वतः ॥ ७४४ ॥
नहि सिद्धार्थवाक्योत्थज्ञानमात्रेण कश्चन ।
ब्रह्मानुभवितुं शक्तस्तस्याऽवाक्यार्थरूपतः ॥ ७४५ ॥
नानापदार्थसंसृष्टरूपं वाक्यात् प्रतीयते ।
ब्रह्मासंसृष्टरूपत्वान्न वाक्येनाऽनुभूयते ॥ ७४६ ॥
न चाऽवेदार्थता शङ्क्या वेदोक्तोपासनोत्थितात् ।
साक्षात्काराद्ब्रह्म भाति तस्माद्वेदार्थतैव हि ॥ ७४७ ॥
देवो भूत्वा देवमेतीत्यादिश्रुत्यनुरोधतः ।
साक्षात्कारं ध्यानजन्यमन्तरेण न मुच्यते ॥ ७४८ ॥

---

'पूर्वत्रैतत्साम' इत्यादि । जैसे पहले 'एतत् साम वेद' इस वाक्यमें 'वेद' इस शब्दसे उपासनाका व्यवहार किया गया है, वैसे ही अन्य श्रुतियोंमें भी व्यवहार करना चाहिए ॥ ७४३ ॥

'विद्याप्रकरणम्' इत्यादि । यहाँ विद्याका प्रकरण भी उपासनासे विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उपासनासे अपरोक्ष ब्रह्मविद्याका जन्म सुलभ है ॥ ७४४ ॥

'नहि' इत्यादि । सिद्धार्थक वाक्यसे उत्पन्न हुए ज्ञानमात्रसे कोई ब्रह्मका अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि सिद्धार्थक वाक्यसे उत्पन्न हुआ ज्ञान वाक्यार्थ ही नहीं है ॥ ७४५ ॥

'नाना०' इत्यादि । नाना पदार्थोंसे संसृष्ट ( सम्बद्ध ) रूप ही वाक्य द्वारा प्रतीत हुआ करता है, ब्रह्म अखण्ड है, संसृष्टरूप नहीं है, इसलिए वाक्यसे ब्रह्मका अनुभव नहीं हो सकता ॥ ७४६ ॥

'न चाऽवेदा०' इत्यादि । 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं' इस श्रुतिने जो ब्रह्मको औपनिषद ( वेदार्थ ) कहा है, उसके अभावकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वेदोक्त उपासनासे उत्पन्न हुए साक्षात्कारसे ब्रह्मकी प्रतीति होती है, इसलिए ब्रह्म वेदार्थ है ॥ ७४७ ॥

'देवो' इत्यादि । 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (देव बनकर देवको प्राप्त होता है)

शब्दाद् ज्ञाने समुत्पन्ने आसाक्षात्कृति भावना ।
प्रत्ययावृत्तिरूपा या न प्राप्तेषाऽन्यमानतः ॥ ७४९ ॥
सिद्धार्थशब्दात् स्वाध्यायविधितो वाऽन्यतोऽथवा ।
तत्प्राप्तिः शङ्क्यते तत्र सिद्धार्थो न विधायकः ॥ ७५० ॥
अक्षरार्थज्ञानमात्रावसाय्यध्ययने विधिः ।
न चाऽन्यदत्र सम्भाव्यमप्राप्तोपासना ततः ॥ ७५१ ॥
अपूर्वविधिरेवाऽतः स्मृतिसन्तानगोचरः ।
इति प्रथमपक्षो यस्तस्य दूषणमुच्यते ॥ ७५२ ॥
नाऽपूर्वविधिरेष स्यात् प्राप्तत्वात् स्मृतिसन्ततेः ।
अनुभूते हि विषये स्मृतिः प्राप्ता विधिं विना ॥ ७५३ ॥
स्मर्यन्त एव पित्राद्याः श्राद्धाद्यर्थं तदा तदा ।
अनुभूतो निजात्माऽयं कुतो न स्मर्यते वद ॥ ७५४ ॥

---

इस श्रुतिके अनुरोधसे ध्यानजन्य साक्षात्कारके बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती ॥ ७४८ ॥

'शब्दाद्' इत्यादि । शब्दसे ज्ञानके उत्पन्न होनेपर साक्षात्कारपर्यन्त प्रत्ययावृत्तिरूप भावना ( उपासना ) अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं है ॥ ७४९ ॥

'सिद्धार्थ०' इत्यादि । सिद्धार्थक शब्दसे अथवा स्वाध्यायविधिसे या अन्य किसी प्रमाणसे उसकी ( उपासनाकी ) प्राप्तिकी शङ्का कर सकते हो । उनमें से सिद्धार्थ शब्द तो विधायक ही नहीं है, क्योंकि उसमें क्रियावाचक पद ही नहीं है ॥ ७५० ॥

'अक्षरार्थ०' इत्यादि । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' ( वेद पढ़ना चाहिए ) यह अध्ययनविधि अक्षरज्ञान और अर्थज्ञानमात्रमें पर्यवसन्न है, अतः उपासनाका बोधन नहीं करती । अन्य प्रमाणका सम्भव नहीं है, इसलिए उपासना अप्राप्त है ॥ ७५१ ॥

'अपूर्व०' इत्यादि । इसलिए स्मृतिसन्तानकी ( प्रत्ययावृत्तिकी ) अपूर्वविधि ही है, यह जो प्रथम पक्ष है; उसका दूषण कहा जाता है ॥ ७५२ ॥

'नाऽपूर्व०' स्मृतिसन्तति प्राप्त है, इसलिए अपूर्वविधि नहीं है, क्योंकि अनुभूत ( ज्ञात ) विषयमें विधिके बिना ही स्मृति प्राप्त है ॥ ७५३ ॥

'स्मर्यन्त' इत्यादि । जब श्राद्धके लिए पितरोंका स्मरण किया ही

न शाब्दज्ञानमात्रेणाऽनुभूतं ब्रह्म तद्भवेत् ।
अवाक्यार्थात्मकत्वेनेत्येतदत्र न सङ्गतम् ॥ ७५५ ॥
अवाक्यार्थात्मकं ब्रह्मेत्येतद्वाक्येन गम्यते ।
अन्येन वा, यदा वाक्यात्तदा वाक्यार्थता भवेत् ॥ ७५६ ॥
अथाऽन्येनाऽनुभूतं तदवाक्यार्थात्मकं तदा ।
तावतैव कृतार्थत्वाद् व्यर्थं ध्यानादिचेष्टितम् ॥ ७५७ ॥
ब्रह्म संसृष्टरूपं चेद्वाक्यादध्यवसीयते ।
संसृष्टरूपं तन्नेति गीर्वाणैरपि दुर्लभम् ॥ ७५८ ॥
घटाकाशो महाकाश इति वाक्ये यथा तथा ।
तत्त्वमस्यादिवाक्येषु कुतोऽखण्डार्थधीर्न ते ॥ ७५९ ॥
साक्षात्कारो ध्यानजन्य इत्युक्तं यत्तदप्यसत् ।
ध्यानं क्रिया न प्रमाणं क्वाऽनुभूतिरमानतः ॥ ७६० ॥

---

जाता है, तब अनुभूत अपने आत्माका स्मरण क्यों नहीं होता ? यह बतलाओ ॥ ७५४ ॥

'न शाब्द०' इत्यादि। शब्द-ज्ञानमात्रसे ब्रह्मका अनुभव नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म वाक्यार्थ नहीं है, [ इसीलिए वाक्यसे भी उसका अनुभव नहीं होता ] यह जो पूर्वमें कहा था, वह असङ्गत है ॥ ७५५ ॥

'अवाक्यार्थ०' इत्यादि। [ क्योंकि ] ब्रह्म वाक्यार्थ नहीं है, यह वाक्यसे जाना जाता है या किसी अन्य प्रमाणसे जाना जाता है ? यदि कहो कि वाक्यसे जाना जाता है, तब तो ब्रह्म वाक्यार्थ हो गया ॥ ७५६ ॥

'अथाऽन्येनाऽनुभूतम्' इत्यादि। यदि कहो कि वह अवाक्यार्थभूत ब्रह्म किसी अन्य प्रमाणसे अनुभूत है, तो उतनेसे ही कृतार्थता ( मुक्तिप्राप्ति ) हो गई, फिर ध्यानादिकी चेष्टा व्यर्थ है ॥ ७५७ ॥

'ब्रह्म' इत्यादि। यदि कहो कि ब्रह्मका संसृष्टरूप वाक्यसे निश्चित होता है, तब तो वह संसृष्टरूप नहीं है, यह देवता भी नहीं कह सकते ॥ ७५८ ॥

'घटाकाशो' इत्यादि। जैसे घटाकाश महाकाश है, इस वाक्यका अर्थ अखण्ड आकाश है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंका अर्थ अखण्ड ब्रह्म क्यों नहीं हो सकता ? ॥ ७५९ ॥

'साक्षात्कारो' इत्यादि। ध्यानसे साक्षात्कार उत्पन्न होता है, यह जो

भविष्यत्कालसम्बन्धि फलं स्यान्नहि नाकवत् ।
धीजन्मन्येव तत्सिद्ध्येदग्निजन्मनि दाहवत् ॥ ७६७ ॥
किञ्चाऽनुभव एवाऽत्र नित्यं सन्निहितत्वतः ।
सम्भवेत्सर्वदा तस्मान्न स्मृत्याऽस्ति प्रयोजनम् ॥ ७६८ ॥
आस्तां दूषणमालेयं स्मृतिर्वाऽनुभवोऽपि वा ।
स्वतः प्राप्नोति नाऽपूर्वविधिस्तेनाऽत्र सन्ततेः ॥ ७६९ ॥
नन्वेवं तर्हि सन्ताने भवेन्नैयमिको विधिः ।
आत्मोपासनमप्राप्तं पक्षे तेन नियम्यते ॥ ७७० ॥
अनुभूतेऽपि पित्रादौ नियमेन स्मृतिर्नहि ।
दृष्टा, तथाऽऽत्मतत्त्वेऽपि नैरन्तर्येण तत्स्मृतिः ॥ ७७१ ॥
यद्प्यव्यवधानेन स्मृतेर्विघ्नो न कश्चन ।
तथाऽऽप्यारब्धदोषेण बलाद्विस्मर्यते पुमान् ॥ ७७२ ॥

---

े समाप्त हो चुका, तब फिर स्मृतिसन्तानसे दूसरे किस फलकी प्रार्थना ो हो ? ॥ ७६६ ॥

'भविष्यत्काल०' इत्यादि । स्वर्गकी तरह ज्ञानका फल आगामी कालसे न्ध रखनेवाला नहीं है, क्योंकि ज्ञानका जन्म होते ही मुक्तिकी सिद्धि जाती है; जैसे अग्निका जन्म होते ही दाहकी सिद्धि होती है ॥ ७६७ ॥

'किञ्चाऽनुभव०' इत्यादि । किञ्च, स्वरूप होनेसे आत्मा नित्य सन्निहित है, लेए सर्वदा उसका अनुभव होता ही है, अतः स्मृतिका प्रयोजन ही नहीं है, योंकि अनुभवके नष्ट होनेपर ही स्मृति हुआ करती है । ] ॥ ७६८ ॥

'आस्ताम्' इत्यादि । यह दूषणमाला रहे, स्मृति हो अथवा अनुभव हो, सन्ततिकी स्वतः प्राप्ति है, इसलिए यह अपूर्व-विधि नहीं है ॥ ७६९ ॥

'नन्वेवम्' इत्यादि । तब स्मृतिसन्तानमें नियमविधि हो, क्योंकि आत्माकी उपासनाकी अप्राप्ति है, इसलिए यह नियमविधि है ॥ ७७० ॥

'अनुभूतेऽपि' इत्यादि । अनुभूत पित्रादिमें भी नियमसे स्मृति नहीं देखी है, वैसे ही आत्मतत्त्वमें भी निरन्तर स्मृति नहीं हो सकती ॥ ७७१ ॥

'यद्प्य०' इत्यादि । यद्यपि कुछ भी व्यवधान ( अन्तर ) नहीं है, ए आत्माके स्मरणमें कोई विघ्नकर्ता है नहीं, तथापि प्रारब्ध दोष बलात्कारसे ो विस्मृत कर देता है ॥ ७७२ ॥

मोचकात् प्रबलैर्मुक्तो बाणस्तु न निवार्यते ।
प्रवृत्तत्वात्तथाऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति ॥ ७७३ ॥
वाङ्मनःकायचेष्टानामभावे कर्मणः फलम् ।
भोक्तुं न शक्यते तेन मनो विक्षिप्यते बलात् ॥ ७७४ ॥
विक्षिप्तचित्तः पुरुषस्तत्त्वं संस्मृतिवर्जितः ।
अविद्वानिव संसारदुःखैरेषोऽभिभूयते ॥ ७७५ ॥
अविक्षेपे स्मृतिः प्राप्ता विक्षेपे न तु सा ततः ।
पाक्षिक्यां स्मृतिसम्प्राप्तौ तत्सन्तानो नियम्यते ॥ ७७६ ॥
उपस्थितं यदा दुःखं तदा तस्योपशान्तये ।
आनन्दात्मकमद्वैतं स्मरेद्ब्रह्म पुनः पुनः ॥ ७७७ ॥
इत्येवं मृदुचित्तानां मतं भाष्यकृतस्तथा ।
अङ्गीकृत्य भरं चक्रुरपूर्वविधिवारणे ॥ ७७८ ॥

---

'मोचकात् प्रबलैर्मुक्तो' इत्यादि । जैसे बलवान् पुरुषके हाथसे छूटा हुआ बाण नहीं रुकता, वैसे ही प्रवृत्त प्रारब्ध कर्म ज्ञानसे नष्ट नहीं होता ॥ ७७३ ॥

'वाङ्मनः' इत्यादि । वाणी, मन और शरीर—इनकी चेष्टाओंके अभावमें कर्मफलका भोग नहीं हो सकता, इसलिए प्रारब्ध कर्म सहसा मनको विक्षिप्त कर देता है ॥ ७७४ ॥

'विक्षिप्तचित्तः' इत्यादि । विक्षिप्तचित्त पुरुष तत्त्वको भूल जाता है, उस समय ज्ञानवान् भी अज्ञानीकी तरह संसारके दुःखोंसे अभिभूत हो सकता है ॥ ७७५ ॥

'अविक्षेपे' इत्यादि । अविक्षेपदशामें तो स्मृति प्राप्त है, विक्षेप अवस्थामें वह प्राप्त नहीं है, इसलिए पक्षमें स्मृतिकी प्राप्ति होनेसे स्मृतिके सन्तानका नियम किया जाता है ॥ ७७६ ॥

'उपस्थितम्' इत्यादि । जब कभी दुःख उपस्थित हो, तब उस दुःखकी शान्तिके लिए आनन्दात्मक अद्वैत ब्रह्मका बार बार स्मरण करे ॥ ७७७ ॥

'इत्येवम्' इत्यादि । इस प्रकार मृदुचित्तोंका ( जिनका चित्त वशमें नहीं है, उनका ) मत है । भाष्यकारोंने भी नियमका अङ्गीकार करके अपूर्वविधिके

अद्यैव मृतिरायातु कल्पान्तनिचयेन वा ।
इत्यादिधीरचित्तानां नित्यप्राप्तिरथोच्यते ॥ ७७९ ॥
यत्साक्षादितिवाक्योत्थप्रत्यग्याथात्म्यलेहिना ।
ज्ञानेन तमसो दाहान्नित्यप्राप्तैव तत्स्मृतिः ॥ ७८० ॥
देहादिभावनालिङ्गादसम्बुद्धेश्च यं पुरा ।
सदेक्षते तमेवाऽद्य श्रुत्या ब्रह्मतयेक्षते ॥ ७८१ ॥
ततश्च प्राकृतो यद्वत्कर्त्रात्मानं सदा स्मरन् ।
अस्ति विद्वांस्तथा ब्रह्म स्मरत्वेनं विधिं विना ॥ ७८२ ॥

---

निषेधका यत्न किया है, उनका तात्पर्य अपूर्वविधिके निषेधमें है, नियमविधिके अङ्गीकारमें नहीं ॥ ७७८ ॥

'अद्यैव' इत्यादि । आज ही मृत्यु हो अथवा अनेक कल्पोंके अन्तमें हो, संसारका कभी स्मरण नहीं करेंगे, इस प्रकार जिनका चित्त वशमें है, उनको आत्माकी नित्य प्राप्ति है । [ भाव यह है कि जो उपास्य देवताके साक्षात्कार-पर्यन्त सगुणोपासना करके ब्रह्मविद्यामें प्रवृत्त हुए हैं, उनको विचारसे ज्ञान उत्पन्न होनेपर विक्षेप नहीं होता । उनको आत्मधी नित्य-प्राप्त है । जो पुरुष उपासना किये बिना श्रवणादिका अनुष्ठान करके तत्त्वका निश्चय कर लेता है, उसका चित्त वशमें नहीं रहता, उसमें विक्षेपका सम्भव है, इसलिए उसके लिए नियम-विधि है ॥ ७७९ ॥

'यत्साक्षा०' इत्यादि । 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' ( वह ब्रह्म ठीक प्रत्यक्ष है ) इस वाक्यसे उत्पन्न हुए प्रत्यगात्माके यथार्थ ज्ञानसे अज्ञानका दाह होनेसे आत्मस्मृति नित्य ही प्राप्त है ॥ ७८० ॥

'देहादि०' इत्यादि । अज्ञान अवस्थामें भी पहले जिसको देहके दर्शनरूपी लिङ्गसे और अहम्बुद्धिसे सदा देखता है, उसीको आज श्रुतिसे ब्रह्मरूपसे देखता है, भेद केवल इतना ही है कि पहले अपनेको कर्ता-भोक्तारूपसे देखता था, अब ब्रह्मरूपसे देखता है ॥ ७८१ ॥

'ततश्च' इत्यादि । इसलिए जैसे प्राकृत ( अज्ञानी पुरुष ) आत्माका कर्तारूपसे सदा स्मरण करता रहता है, वैसे ही ज्ञानवान् विधिके बिना ही इस आत्माका ब्रह्मरूपसे स्मरण करे ॥ ७८२ ॥

दुःखात्मनि चिदाभासे सत्यायातं किमात्मनि ।
चिदाभासे भोजते स्यादारब्धचरितार्थता ॥ ७८३ ॥
नष्टो मोहस्त्वात्मतत्त्वे भोगं मन्येत न क्वचित् ।
नहि नाम विनिद्रोऽपि सुप्तवत् स्वप्नमीक्षते ॥ ७८४ ॥
बलाद्विक्षिप्यते चित्तमित्यादि यदुदीरितम् ।
अस्त्वेवैतत्तावताऽत्र नित्यप्राप्तिर्न वार्यते ॥ ७८५ ॥
विक्षिप्तमपि तच्चित्तमनात्मग्रहणोद्यतम् ।
प्रत्यगर्थमनालिङ्ग्य न पराग्बोधनक्षमम् ॥ ७८६ ॥
आत्मानं सर्वदोपास्ते तत्प्रत्ययसमन्वयात् ।
निःशेषानात्मबुद्धीनां यथैतत्स्यात्तथोच्यते ॥ ७८७ ॥
प्रत्यङ्मोहः सर्वदैव भास्वच्चैतन्यबिम्बितः ।
बुद्धितद्वृत्तयश्चैव तप्तायोविस्फुलिङ्गवत् ॥ ७८८ ॥

'दुःखात्मनि' इत्यादि । चिदाभास दुःखका भोग करता है, इससे आत्म क्या आया ? चिदाभासके भोगसे प्रारब्धकर्म चरितार्थ हो जाता है ॥ ७८३ ॥

'नष्टो' इत्यादि । जिसका अज्ञान नष्ट हो चुका है, वह आत्मतत्त्वमें क भोगको मानता ही नहीं है, क्योंकि जागता हुआ पुरुष सोये हुएकी तरह स्व नहीं देखा करता ॥ ७८४ ॥

'बलाद्विक्षिप्यते' इत्यादि । प्रारब्ध कर्म ज्ञानीके भी चित्तको बलात् विक्षि कर देता है, यह जो कहा था वह ठीक है, सहस्रों विक्षेप हों, परन्तु आत्माक नित्यप्राप्ति किसी प्रकार नहीं रोकी जा सकती ॥ ७८५ ॥

'विक्षिप्तमपि' इत्यादि । विक्षिप्त हुआ भी चित्त जब अनात्मवस्तुके ग्रहणमें उद्योग करता है, तब प्रत्यगात्माका आलिङ्गन किये बिना बाह्यविषयक बोध नहीं कर सकता ॥ ७८६ ॥

'आत्मानम्' इत्यादि । सब अनात्मवृत्तियोंमें आत्मचैतन्यका नित्य सम्बन्ध है, इसलिए अज्ञानी पुरुष भी सदा आत्माकी उपासना करते रहते हैं, यह स्पष्ट करके बतलाते हैं ॥ ७८७ ॥

'प्रत्यङ्मोहः' इत्यादि । आत्माके अज्ञानमें आत्माका चिदाभास सदा ही बना रहता है, इसलिए अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धि और उसकी वृत्तियाँ तपाये गये लोहके कणोंकी तरह सदा चिदाभाससे व्याप्त रहती हैं ॥ ७८८ ॥

प्रागप्यनात्मसम्बन्धाज्जन्मप्रभृतिवृत्तयः ।
आत्मना पूरिताः सत्यः सम्बद्धाः स्युरनात्मनि ॥ ७८९ ॥
खपूर्ण एव सन्कुम्भो द्रव्यैर्नानाविधैर्युतम् ।
वियोगं वा यथा गच्छेच्चैतन्येद्धास्तथा धियः ॥ ७९० ॥
एवं सत्यर्थतः प्राप्ता सदाऽऽत्मस्मृतिसन्ततिः ।
विमूढस्याऽपि तुल्या चेदस्तु नः किं विनङ्क्ष्यति ॥ ७९१ ॥
यदि मोहाविनाशेन सत्यप्येषाऽतिनिष्फला ।
विदुषस्तर्ह्यमूढस्य सफलेत्यभ्युपेयताम् ॥ ७९२ ॥
यः किं फलमिति प्रश्नो विधिपक्षेऽप्यसौ समः ।
विधावदृष्टमिति चेदविधावपि तत्समम् ॥ ७९३ ॥

---

'प्रागप्यना०' इत्यादि । अनात्मसम्बन्धसे पहले भी जन्मसे लेकर वृत्तियाँ आत्मचैतन्यसे पूर्ण थीं, इसलिए बुद्धिवृत्तियाँ पहले आत्मासे सम्बद्ध होकर ही फिर अनात्मासे सम्बद्ध होती हैं ॥ ७८९ ॥

'खपूर्ण' इत्यादि । जैसे आकाशसे व्याप्त ही घट नाना प्रकारके जल आदि पदार्थोंसे संयोग और वियोगको प्राप्त होता है, वैसे ही वृत्तियाँ भी चैतन्यसे व्याप्त होकर ही विषयोंसे संयोग और वियोगको प्राप्त होती हैं अर्थात् चैतन्यसे अव्याप्त कोई भी पदार्थ नहीं है ॥ ७९० ॥

'एवम्' इत्यादि । इस दशामें आत्माकी स्मृतिका सन्तान स्वभावसे सब पुरुषोंको सर्वदा प्राप्त हुआ, इसलिए यदि कहो कि इस प्रकार तो मूर्खको भी प्राप्त है, तो हम कहते हैं कि हो, मूर्खको भी प्राप्ति होनेमें हमारी क्या हानि है ? ॥ ७९१ ॥

'यदि' इत्यादि । यदि कहो कि अज्ञान नष्ट नहीं हुआ है, इसलिए मूर्खको वह प्राप्त है, तो भी निष्फल है, तो तुम्हें यही मानना चाहिए कि विद्वान्का अज्ञान नष्ट हो चुका है, अतः उसकी स्मृतिसन्तति सफल है ॥ ७९२ ॥

'यः किं' इत्यादि । नित्यप्राप्त आत्मस्मृतिका फल क्या है ? इस प्रकारका जो प्रश्न है, वह तो विधिपक्षमें भी समान है ? क्योंकि यदि कहा जाय कि विधिपक्षमें अदृष्ट फल है तो विधि न होनेपर भी आत्मस्मृतिसे अदृष्ट फल होगा, इस प्रकार अविधिपक्षमें समानता हो सकती है ॥ ७९३ ॥

प्रासङ्गिकनदीस्नानाभाऽदृष्टं नहि जन्यते ।
अथ सिद्धब्रह्मचिन्ताऽप्येवं पुण्यं प्रदापयेत् ॥ ७९४ ॥
जन्महीनस्य किं पुण्यैरिति चोद्यं समं द्वयोः ।
अनिर्वाच्या वस्तुशक्तिरिति तुल्यं तदुत्तरम् ॥ ७९५ ॥
देहात्मचिन्ता मूढानां नित्यप्राप्ता यथा तथा ।
विदुषां ब्रह्मचिन्ताऽपि नाऽतो नैयमिको विधिः ॥ ७९६ ॥
नन्वेषा परिसङ्ख्या स्यादुभयत्र प्रसक्तितः ।
यथाऽऽत्मनि स्मृतिः प्राप्ता प्राप्ताऽनात्मनि सा तथा ॥ ७९७ ॥
श्रुत्याऽनुभूतमद्वैतं द्वैतमक्षादिमानतः ।
उभयोरविशेषेण प्राप्यते स्मृतिसन्ततिः ॥ ७९८ ॥
द्वैतस्मृतिनिवृत्त्यर्थमद्वैतस्मृतिसन्ततिः ।
विधीयते, विधेर्द्वैतस्मृतिरोधः फलिष्यति ॥ ७९९ ॥

'प्रासङ्गिक०' इत्यादि । जैसे प्रासङ्गिक नदीस्नानसे अदृष्ट उत्पन्न नहीं होता, ऐसा नहीं है, किन्तु उससे अदृष्ट—पुण्य—होता ही है, वैसे ही सिद्ध ब्रह्मकी चिन्तासे भी पुण्य होगा ॥ ७९४ ॥

'जन्महीनस्य' इत्यादि । ज्ञानीका तो जन्म होता नहीं, अतः उसको पुण्योंसे क्या लाभ ? यह प्रश्न भी दोनों पक्षोंमें तुल्य है, क्योंकि वस्तुशक्ति अनिर्वचनीय है, फल हो चाहे न हो, उससे अदृष्ट अवश्य उत्पन्न होगा, इस प्रकारका उत्तर दोनों पक्षोंमें तुल्य है ॥ ७९५ ॥

'देहात्मचिन्ता' इत्यादि । जैसे मूर्खोंको देहात्मचिन्ता नित्यप्राप्त है, वैसे ही विद्वानोंको ब्रह्मचिन्ता नित्यप्राप्त है, इसलिए नियमविधि नहीं है ॥ ७९६ ॥

'नन्वेषा' इत्यादि । यदि कहो कि दोनों पक्षोंमें प्राप्त है, इसलिए यह परिसंख्या विधि हो गई, क्योंकि जैसे आत्माकी स्मृति प्राप्त है, वैसे ही अनात्माकी स्मृति भी प्राप्त है ॥ ७९७ ॥

'श्रुत्याऽनु०' इत्यादि । श्रुतिसे अद्वैतका अनुभव हुआ है और इन्द्रियादि प्रमाणोंसे द्वैतका अनुभव हुआ है, इसलिए दोनोंके स्मृतिसन्तानकी तुल्य प्राप्ति है ॥ ७९८ ॥

'द्वैतस्मृति०' इत्यादि । द्वैतकी स्मृतिकी निवृत्तिके लिए अद्वैतके स्मृति-सन्तानकी विधि है, उस विधिसे द्वैतस्मृतिका निरोध फल होगा ॥ ७९९ ॥

मैवं किं वास्तवद्वैतस्मृतिः प्राप्नोत बाधिता ।
नाऽऽद्यो वेदान्तवाक्योत्थज्ञानेन द्वैतबाधनात् ॥ ८०० ॥
सम्यग्ज्ञानाग्निनिर्दग्धे प्रत्यङ्मोहे सबान्धवे ।
मुक्त्वा ब्रह्मस्मृतिं नाऽन्यद्वस्तुस्मृतिरुदेति हि ॥ ८०१ ॥
मानाननुविधानेन स्मृतिरन्या न बाधिका ।
प्रमाणानुविधायिन्या तत्त्वस्मृत्या तु बाध्यते ॥ ८०२ ॥
लौकिकानुभवो बाध्यो वैदिको बाधको यथा ।
तज्जन्ययोरपि स्मृत्योर्बाध्यबाधकता तथा ॥ ८०३ ॥
स्वास्थ्यास्वास्थ्यप्रदे यस्माद्ब्रह्मानात्मस्मृती ततः ।
मुक्त्वाऽनात्मस्मृतिं ब्रह्मस्मृतिमेवाऽऽश्रयेत् ततः ॥ ८०४ ॥
ब्रह्मधीप्रचुरत्वेऽपि बाधितद्वैतधीः क्वचित् ।
कदाचिज्जायते सैषा निरोद्धव्येत्यसङ्गतम् ॥ ८०५ ॥

---

**'मैवं किम्'** इत्यादि । ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्या वास्तव द्वैतकी स्मृति प्राप्त है ? अथवा बाधित द्वैतकी स्मृति प्राप्त है ? पहला पक्ष तो कह नहीं सकते, क्योंकि वेदान्त-वाक्यसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे द्वैतका बाध हो जाता है ॥ ८०० ॥

**'सम्यग्ज्ञानाग्नि०'** इत्यादि । सबान्धव याने कार्यसहित अज्ञान के यथार्थ ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध हो जानेपर ब्रह्मस्मृतिको छोड़कर अन्य वस्तुकी स्मृति हो ही नहीं सकती ॥ ८०१ ॥

**'मानाननु०'** इत्यादि । अनात्मस्मृतियाँ प्रमाणसे रहित हैं, इसलिए वे आत्मस्मृतिका बाध नहीं कर सकतीं और तत्त्वस्मृति वेदान्तरूप प्रमाणसे उत्पन्न हुई है, इसलिए वह अनात्मस्मृतिका बाध कर देती है ॥ ८०२ ॥

**'लौकिकानुभवो'** इत्यादि । जैसे लौकिक ज्ञानका वैदिक ज्ञानसे बाध होता है, वैसे ही वैदिक अनुभवसे उत्पन्न हुई स्मृतिसे लौकिक अनुभव द्वारा उत्पन्न हुई स्मृतिका बाध होता है ॥ ८०३ ॥

**'स्वास्थ्या०'** इत्यादि। चूँकि ब्रह्मस्मृति सुख देनेवाली है और अनात्मस्मृति दुःख देनेवाली है, इसलिए अनात्मस्मृतिका त्याग करके सदा ब्रह्मस्मृतिका आश्रयण करना चाहिए ॥ ८०४ ॥

**'ब्रह्मधी०'** इत्यादि । ब्रह्मस्मृतिकी प्रचुरता होनेपर भी कदाचित् कहींपर

जीवनार्थं द्वैतभानं निरोधे जीवनं कथम् ।
अतोऽशक्यतया नाऽत्र परिसङ्ख्याविधिर्भवेत् ॥ ८०६ ॥
तव श्रद्धाजडत्वं यत् तन्निवृत्त्यै प्रवर्त्तिता ।
विधिचिन्ता, वस्तुतत्त्वस्थितिं संक्षेपतः शृणु ॥ ८०७ ॥
सकृद्विभाते चित्तत्त्वे रवौ राज्यहनी यथा ।
स्मृतिर्वा विस्मृतिर्वेते सम्भाव्येते तथा नहि ॥ ८०८ ॥
उपासीतेतिवाक्योक्तविध्यर्थं यदि पृच्छसि ।
तर्ह्यर्थं द्विविधं विद्धि शब्दलक्षणलक्षितम् ॥ ८०९ ॥
अज्ञातज्ञापनं तद्वद् अप्रवृत्तप्रवर्त्तनम् ।
विध्यर्थं द्वयमेतत्तु वाक्येऽस्मिन् योजयिष्यति ॥ ८१० ॥
अज्ञाता ज्ञाप्यते तत्त्वे प्रत्यक्कूटस्थरूपता ।
उपासीतेतिशब्देन, तथा प्राक् प्रतिपादितम् ॥ ८११ ॥

---

बाधित द्वैतकी स्मृति हो जाती है, इसलिए उसका निरोध करना चाहिए; कथन भी असङ्गत है ॥ ८०५ ॥

'जीवनार्थम्' इत्यादि । जीवनके लिए द्वैतका भान अवश्य होना चा और द्वैतभानका निरोध होनेपर जीवन कैसे हो सकता है ? इसलिए द्वैतभा निरोधका असम्भव होनेसे यहां परिसंख्या-विधि नहीं हो सकती ॥ ८०६ ॥

'तव' इत्यादि। तुममें विधिश्रद्धारूप जड़ता है, उसकी निवृत्तिके लिए ह यह विधिविचार किया । अब तुम संक्षेपसे वस्तुतत्त्वकी स्थिति सुनो ॥ ८०७ ।

'सकृद्विभाते' इत्यादि । जैसे स्वप्रकाश सूर्यमें रात्रि और दिन नहीं हैं, ही स्वप्रकाश चित्तत्त्वमें स्मृति और विस्मृतिका सम्भव नहीं है ॥ ८०८ ॥

'उपासीतेति०' इत्यादि । 'उपासीत' इस वाक्यमें कही हुई विधिका अ यदि तुम पूछते हो, तो शब्दलक्षणलक्षित ( विधिशब्दके लक्षणसे लक्षित विधिके दो प्रकारके अर्थ समझो ॥ ८०९ ॥

'अज्ञातज्ञापनम्' इत्यादि । अज्ञात वस्तुका ज्ञापन करना और अप्रवृ प्रवृत्त कराना यों दो प्रकारके विधिके अर्थ हैं । इस वाक्यमें दोनोंका योग लेना चाहिए ॥ ८१० ॥

'अज्ञाता' इत्यादि ।प्रत्यक्तत्त्वमें अज्ञात जो कूटस्थरूपता है उसका 'उपासी इस शब्दसे बोधन होता है, इस प्रकार पहले कह आये हैं ॥ ८११ ॥

कोऽहं कस्य कुतोऽभूवं कथं वेति विचारकम् ।
प्रवर्त्तयेदप्रवृत्तमुपासीतेति गीरियम् ॥ ८१२ ॥
तथोत्पत्तिस्थितिध्वंसा जगतोऽस्य कुतो न्विति ।
विचारोऽत्र विधेयः स्यादुपासीतेति शब्दतः ॥ ८१३ ॥
विजिज्ञासस्व तपसा ब्रह्मेत्यन्यत्र च श्रुतम् ।
अन्वयव्यतिरेकाख्यो व्यापारोऽत्र तपो मतम् ॥ ८१४ ॥
पर्यालोचनवाच्येष तपःशब्दः श्रुतौ मतः ।
सन्तापार्थे वृथैव स्याद्ब्रह्मलक्षणवर्णनम् ॥ ८१५ ॥
यतो भूतानि जायन्ते तद्ब्रह्मेति समीरितम् ।
लक्षणं च विचारार्थश्चैव तत्रोपयुज्यते ॥ ८१६ ॥
एवं चोपास्तिरत्राऽऽत्मविचारः स विधीयते ।
सूत्रानुग्राहको न्याय इत्युक्तोऽन्यव्युदासतः ॥ ८१७ ॥

'कोऽहं कस्य' इत्यादि । 'मैं कौन हूँ', 'किसका हूँ', कहांसे हुआ हूँ, और 'किस प्रकार हुआ हूँ', ऐसा विचार करनेवाले मुमुक्षको, जो पहले प्रवृत्त नहीं था, 'उपासीत' यह वचन प्रवृत्त कराता है ॥ ८१२ ॥

'तथोत्पत्ति०' इत्यादि । तथा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और ध्वंस कहांसे हुए, इस प्रकारका विचार 'उपासीत' इस शब्दसे विधेय है ॥ ८१३ ॥

'विजिज्ञासस्व' इत्यादि । 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' ( तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करो ) इस अन्य श्रुतिमें जो तपका श्रवण है, उसे अन्वय-व्यतिरेकरूप व्यापार समझना चाहिए ॥ ८१४ ॥

'पर्यालोचन०' इत्यादि । श्रुतिमें यह 'तपस्' शब्द ज्ञानका वाचक है, सन्तापका वाचक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे ब्रह्मके लक्षणका वर्णन ही वृथा होगा ॥ ८१५ ॥

'यतो भूतानि' इत्यादि । जिससे भूत उत्पन्न होते हैं, जिसमें स्थित होते हैं और जिसमें लीन होते हैं, वह ब्रह्म है, इस प्रकार ब्रह्मका लक्षण कहा गया है, इसमें विचारार्थक तपका ही उपयोग हो सकता है ॥ ८१६ ॥

'एवम्' इत्यादि । इस प्रकार यहांपर उपास्तिशब्दका अर्थ आत्म-विचार है, उसीका यहांपर विधान किया जाता है । यों अन्य पक्षोंका निरास करके सूत्रानुग्राहक न्याय कहा गया ॥ ८१७ ॥

युक्त्या निरूप्यमाणस्य ह्यात्मा तत्त्वमनात्मनः ।
प्रत्याख्यातः स चेत्तेन त्वनात्मा शिष्यतां कथम् ॥ ८२४ ॥
अनात्मनोऽस्य यत्तत्त्वमात्मनाऽपह्नुतं च तत् ।
निस्तत्त्वोऽयमनात्माऽतः कथं सिद्ध्यतु कुत्र वा ॥ ८२५ ॥
स्वरूपप्रदमात्मानं सेवित्वा सेद्धुमर्हति ।
तदकारुण्यरोगस्य किमन्यद्भेषजं भवेत् ॥ ८२६ ॥
ज्ञातायां स्रजि तन्मोहकल्पितानां यथैकता ।
प्रतीच्येवं तदज्ञानक्षिप्तानामेकतेष्यते ॥ ८२७ ॥
एवं व्यवस्थितं वाक्यं केचिद्व्याचक्षतेऽन्यथा ।
समस्तव्यस्तरूपेण कृत्स्नात्मा प्रोच्यते किल ॥ ८२८ ॥

---

हो जाते हैं और जिसके ज्ञात होनेपर सब ज्ञात हो जाते हैं, वह आत्मा कृत्स्न है, क्योंकि आत्मा सब पदार्थोंका उपादान कारण है। कार्य उपादान कारणसे भिन्न नहीं हुआ करता, उपादान कारणके ज्ञानसे सब कार्योंका ज्ञान हुआ करता है, इसलिए आत्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान है ॥ ८२३ ॥

'युक्त्या' इत्यादि। युक्तिसे निरूपण करनेपर जैसे सर्पका तत्त्व रज्जू है, वैसे ही अनात्माका तत्त्व आत्मा है। उस आत्माका प्रत्याख्यान करनेपर अनात्मा कैसे शेष रह सकता है? रज्जूका प्रत्याख्यान करनेसे रज्जूसर्प कभी नहीं रह सकता ॥ ८२४ ॥

'अनात्मनोऽस्य' इत्यादि। अनात्माका जो तत्त्व है, वह तो आत्माने छीन लिया है, इसलिए निस्तत्त्व यह अनात्मा कैसे और कहां सिद्ध होगा? ॥ ८२५ ॥

'स्वरूप०' इत्यादि। स्वरूपका प्रदान करनेवाले आत्माका सेवन करनेसे ही अनात्माकी सिद्धि होती है। यदि वह आत्मा अकृपासे स्वरूपका दान न करे, तो अनात्माकी सिद्धिके लिए दूसरी कौनसी ओषधि हो सकती है ॥ ८२६ ॥

'ज्ञातायाम्' इत्यादि। मालाका ज्ञान होनेपर मालाके अज्ञानसे कल्पित सर्पादिकी जैसे मालामें एकता हो जाती है, वैसे ही आत्माके अज्ञानसे कल्पित अनात्माओंकी आत्माके ज्ञात होनेपर आत्मामें एकता हो जाती है ॥ ८२७ ॥

'एवम्' इत्यादि। वाक्यकी ऐसी व्यवस्था है, कोई आचार्य अन्य प्रकारसे

विशेषसामान्यरूपो व्यक्तिजात्यात्मधेनुवत् ।
आत्मावस्था इमे भेदा बाल्याद्या वपुषो यथा ॥ ८२९ ॥
भूम्याद्या आत्मनः कार्या मृदो यद्वद्घटादयः ।
नाभिनेम्यरवच्चक्रस्याऽऽत्मनोंऽशा इमे मताः ॥ ८३० ॥
एवं वृक्षादिदृष्टान्तैः समस्तव्यस्तताऽऽत्मनः ।
वास्तव्येव श्रुतेत्याहुस्तदेतन्नैव युज्यते ॥ ८३१ ॥
समस्तव्यस्तता किन्ते ज्ञेयत्वेनोपदिश्यते ।
उपास्यत्वेन वा द्वेधाऽप्यशक्यानुष्ठितिर्भवेत् ॥ ८३२ ॥
अनन्तत्वात् पदार्थानां क्रमशोऽक्रमशोऽथवा ।
ज्ञानोपास्ती अशेषेण कर्तुं शक्ये न केनचित् ॥ ८३३ ॥

व्याख्या करते हैं कि द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व आदि स्वाभाविक सब विशेषोंका आत्मामें अन्तर्भाव करके सब विशेषोंसे सहित आत्माका जो ज्ञान है, उसको कृत्स्न आत्माका ज्ञान कहते हैं ॥ ८२८ ॥

**'विशेष०'** इत्यादि । जैसे गोत्व-सामान्यसे सहित खण्ड, मुण्ड आदि विशेष-रूप गोशब्दके वाच्य हैं, वैसे ही सामान्य प्रत्यक्त्वरूपसे सहित द्रष्टृत्वादि विशेषरूप आत्मशब्दके वाच्य हैं अर्थात् द्रष्टृत्वादि सब विशेषोंसे सहित आत्माके सामान्यरूपको जानना चाहिए । जैसे बाल्य आदि शरीरके अवस्थाभेद हैं, वैसे ही द्रष्टृत्वादि आत्माके अवस्थाभेद हैं ॥ ८२९ ॥

**'भूम्याद्या'** इत्यादि । जैसे घटादि मृत्तिकाके कार्य हैं, वैसे ही पृथ्वी आदि सब पदार्थ आत्माके कार्य हैं । जैसे नाभि, नेमि, अर आदि चक्रके अंश हैं, वैसे ही भूमि आदि आत्माके अंश हैं ॥ ८३० ॥

**'एवम्'** इत्यादि । इसी प्रकार वृक्षादि दृष्टान्तोंसे आत्माकी समस्तता और व्यस्तता वास्तव ही सुनी गई है, यह जो कहते हैं, वह भी युक्त नहीं है ॥८३१॥

**'समस्तव्यस्तता'** इत्यादि । क्या समस्तव्यस्तताके ज्ञानका उपदेश करते हो अथवा उपासनाका ? दोनों प्रकारसे ही उसका अनुष्ठान नहीं हो सकता ॥ ८३२ ॥

**'अनन्त०'** इत्यादि । क्योंकि पदार्थ अनन्त हैं, उनका ज्ञान और उपासना निःशेषरूपसे पुरुष न क्रमसे ही कर सकता है न समूहकी ही कर सकता है ॥ ८३३ ॥

न चैकदेशविज्ञाने कृत्स्नत्वं लभ्यते क्वचित् ।
तस्मादशेषवेदान्ता निर्विशेषात्मनि स्थिताः ॥ ८३४ ॥
न समस्तं न च व्यस्तं नोभयं प्रत्यगात्मनि ।
प्रत्यक्प्रवणया दृष्ट्या ईक्ष्यतां यदि शक्यते ॥ ८३५ ॥
विशेषाणां कल्पितत्वान्निर्विशेषस्य वस्तुता ।
अतोऽकार्त्स्न्यमनाशङ्क्यं विशुद्धात्मविबोधने ॥ ८३६ ॥
प्रमाभासत्वमेतेन वाक्येनाऽस्य निवारितम् ।
मात्वं सम्भाव्यते तस्य पदनीयत्ववाक्यतः ॥ ८३७ ॥
अस्य सर्वस्य जगत आत्मेति यदुदीरितम् ।
तदेतत्पदनीयं स्यादिति वाक्यस्य योजनम् ॥ ८३८ ॥
पदनीयेतिशब्देन प्रमातुं योग्यतोच्यते ।
अज्ञातत्वात्पुमर्थत्वात्प्रमातुं योग्यताऽऽत्मनः ॥ ८३९ ॥

---

'न चैकदेशविज्ञाने' इत्यादि । एकदेशके विज्ञानमें कृत्स्नता कभी हो नहीं सकती, इसलिए सब वेदान्त निर्विशेष ( सब विशेषोंसे रहित ) शुद्ध आत्माका बोधन करते हैं ॥ ८३४ ॥

'न समस्तम्' इत्यादि । यदि सामर्थ्य है, तो अन्तर्मुखदृष्टिसे देखो, प्रत्यगात्मामें न समष्टि है, न व्यष्टि है और न उभय है ॥ ८३५ ॥

'विशेषाणाम्' इत्यादि । विशेष सब कल्पित हैं, इसलिये वास्तवमें निर्विशेष प्रत्यगात्मा वस्तु है; अतः शुद्ध आत्माके बोधनमें किसी प्रकार भी अकृत्स्नत्वकी ( अपूर्णताकी ) शङ्का नहीं हो सकती ॥ ८३६ ॥

'प्रमाभासत्वमेतेन' इत्यादि । इस उत्तर वाक्यसे इसके प्रमाभासत्वका वारण किया गया है, परन्तु पदनीयत्ववाक्यसे उस वाक्यकी प्रमाणता सिद्ध होती है ॥ ८३७ ॥

'अस्य' इत्यादि । 'इस सारे जगत्‌का आत्मा' यह जो कहा है, उसमें 'यह आत्मा पदनीय है', इस प्रकार वाक्यकी योजना करनी चाहिए ॥ ८३८ ॥

'पदनीयेति०' इत्यादि । 'पदनीय' इस शब्दसे 'प्रमातुं योग्यता' ( ज्ञानकी योग्यता ) कही जाती है । आत्मा अज्ञात है और ज्ञात होकर वह पुरुषार्थरूप है, इसलिए आत्मा जानने योग्य है ॥ ८३९ ॥

अव्याकृतव्याकृतयोरज्ञानात्मकता यतः ।
अत आत्मातिरेकेण नाऽज्ञातार्थोऽस्ति कश्चन ॥ ८४० ॥
ज्ञेयार्थानर्थयोर्यस्मात् समाप्तिः प्रत्यगात्मनि ।
परमः पुरुषार्थोऽत आत्मा भवति नेतरः ॥ ८४१ ॥
अज्ञातत्वं पुरा प्रोक्तमव्याकृतगिरा यथा ।
ज्ञेयार्थस्य समाप्तिं तां वक्त्यनेनेति वाक्यतः ॥ ८४२ ॥
अनेन तद्वेद सर्वमित्यात्मज्ञानमात्रतः ।
सार्वज्ञ्यमुक्तमानन्दसमाप्तिस्तु प्रवक्ष्यते ॥ ८४३ ॥
अन्यज्ञानेन नाऽन्यस्य कचिदस्त्यवबुद्धता ।
आत्मज्ञानेन सर्वस्य ज्ञानं कथमुदीर्यते ॥ ८४४ ॥
सत्यमेवं भवेदेतद्यद्यात्माऽप्यन्य इष्यते ।
आत्माऽसावन्य इति च नाऽनुन्मत्तस्य गीरियम् ॥ ८४५ ॥

---

**'अव्याकृत०'** इत्यादि । अव्याकृत और व्याकृत याने अज्ञान और उस कार्य न अज्ञानका आश्रय ही हो सकता है, न विषय ही हो सकता है, इसलि उन दोनोंमें अज्ञानाश्रयत्व और अज्ञानविषयत्वरूप अज्ञातत्व नहीं हैं; कि आत्मामें ही है, अतः आत्मासे भिन्न कोई भी पदार्थ अज्ञात नहीं है ॥ ८४०

**'ज्ञेयार्थानर्थयो०'** इत्यादि । चूँकि जाननेके योग्य अर्थोंकी अ अनर्थोंकी प्रत्यगात्मामें समाप्ति हो जाती है, इसलिए आत्मा ही परम पुरुषार्थ इतर नहीं ॥ ८४१ ॥

**'अज्ञातत्वम्'** इत्यादि । पहले अव्याकृतशब्दसे अज्ञातत्व कहा, अब 'अने इस वाक्यसे ज्ञेय अर्थकी समाप्ति कही जाती है ॥ ८४२ ॥

**'अनेन'** इत्यादि । 'इस आत्मासे सबको जानता है', इत्यर्थक वाक्यमें आत ज्ञानमात्रसे सर्वज्ञता बतलाई, अब आनन्दकी समाप्ति कही जायगी ॥ ८४३ ॥

**'अन्यज्ञानेन'** इत्यादि । अन्यके ज्ञानसे अन्यका ज्ञान कभी हो न सकता, फिर आत्मज्ञानसे सबका ज्ञान कैसे कहते हो ? ॥ ८४४ ॥

**'सत्यमेवम्'** इत्यादि । यह सत्य हो सकता था, यदि आत्मा अन्य होता, इसलिए यह आत्मा है और अन्य है, यह कथन उन्मत्तका ही ह सकता है ॥ ८४५ ॥

अनन्यत्वे तृतीयेयमनेनेति कथं भवेत् ।
साधनार्थेति चेदस्तु तर्हीत्थम्भूतलक्षणा ॥ ८४६ ॥
आत्माख्यं यज्जगद्रूपं तेन रूपेण तज्जगत् ।
ज्ञातं तत्त्वविदा तस्य प्रत्यङ्मात्रसतत्त्वतः ॥ ८४७ ॥
उपलब्धौ जगत्सर्वमुपलभ्यं प्रकल्पितम् ।
प्रतीयते जगत्तस्मादधिष्ठानपुरःसरम् ॥ ८४८ ॥
उपलब्धोऽस्ति सन् कुम्भो लम्बोष्ठो देशकालवान् ।
पूर्वपूर्वातिरेकेण नोत्तरार्थोऽनुभूयते ॥ ८४९ ॥
मात्रादिव्यापृतेः पूर्वं संवित्स्वात्मन्यवस्थिता ।
अकस्मादुदिता बुद्धिः कुम्भादींस्तत्र कल्पयेत् ॥ ८५० ॥
अक्रियेऽपि यथा व्योम्नि ह्युद्भूतिस्थितिहानिभिः ।
जगन्नर्नर्ति मय्येवं सदसद्विश्वरूपधृक् ॥ ८५१ ॥

'अनन्यत्वे' इत्यादि । यदि शङ्का हो कि जब आत्मा अन्य नहीं है तब श्रुतिने 'अनेन' यह साधनार्थक तृतीया कैसे कही ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि वह इत्थम्भूतलक्षणा तृतीया है, साधनार्थक नहीं है ॥ ८४६ ॥

'आत्माख्यम्' इत्यादि । जगत्का वास्तवरूप आत्मा है, तत्त्वज्ञानी उस आत्मरूपसे ही जगत्को जानता है, क्योंकि जगत्का वास्तव रूप प्रत्यगात्मा ही है ॥ ८४७ ॥

'उपलब्धौ०' इत्यादि । यह सारा ज्ञेय जगत् ज्ञानमें कल्पित है; इसीलिए अधिष्ठानभूत आत्माके साथ ही जगत् प्रतीत होता है ॥ ८४८ ॥

'उपलब्धोऽस्ति' इत्यादि । प्रतीत हुआ अस्तित्वविशिष्ट लम्बे होंठवाला घट अमुक देश और कालमें है, इस अनुभवमें पूर्व-पूर्वसे ( प्रतीति और सत्तासे ) अतिरिक्त कोई उत्तर पदार्थ अनुभूत नहीं होता है ॥ ८४९ ॥

'मात्रादिव्यापृतेः' इत्यादि । प्रमाता आदिके व्यापारसे पहले सुषुप्ति-अवस्थामें ज्ञान अपने स्वरूपमें ही स्थित था। फिर अचानक बुद्धि उत्पन्न हुई, वही उस ज्ञानमें घट आदिकी कल्पना करती है ॥ ८५० ॥

'अक्रियेऽपि' इत्यादि । जैसे क्रियारहित आकाशमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयसे गन्धर्वनगर नृत्य करता है, वैसे ही मुझमें स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप सारा जगत् नृत्य करता है ॥ ८५१ ॥

प्रत्यक्तत्त्वे परिज्ञाते जगत्तत्त्वं प्रबुध्यते ।
इत्यत्र पददृष्टान्तो यथावत्स विविच्यते ॥ ८५२ ॥
एकं पदं यथाऽश्वस्य दृष्ट्वाऽश्वत्वमशेषतः ।
दृष्टवानेव भवति दृष्टोऽश्व इति वर्णनात् ॥ ८५३ ॥
एवं स्वदेहमात्रस्थे साक्षितत्त्वेऽवलोकिते ।
अशेषजगतस्तत्त्वं लभ्येतैव न संशयः ॥ ८५४ ॥
ज्ञानार्थे प्रकृतेऽप्यत्र लाभार्थेनोपसंहृतिः ।
युक्ता ब्रह्मात्मतत्त्वेऽस्मिन्नेकार्थ्यात् ज्ञानलाभयोः ॥ ८५५ ॥
नित्यलब्धस्वरूपस्याऽप्यज्ञानात्स्यादलब्धता ।
ज्ञानमात्रं तस्य लाभः कण्ठचामीकरादिवत् ॥ ८५६ ॥
कीर्तिं च शिष्यसङ्घं च लभते ब्रह्मवेदनात् ।
नित्यानुवादोऽप्येषोऽत्र प्रवृत्त्यर्थमुदीर्यते ॥ ८५७ ॥

---

'प्रत्यक्तत्त्वे' इत्यादि । प्रत्यक्तत्त्वका ज्ञान होनेपर जगत्‌का तत्त्व जा[न] जाता है, इसमें श्रुतिने पदका दृष्टान्त कहा है, उसका यथार्थरूपसे विचा[र] किया जाता है ॥ ८५२ ॥

'एकम्' इत्यादि । जैसे [ पुरुष ] अश्वका एक पैर देखकर सारे ही अश्वक[ो] देख लेता है, क्योंकि वह कहता है कि मैंने अश्व देख लिया है, वैसे [ही] अपनी देहमें रहनेवाले साक्षी-तत्त्वका दर्शन होनेपर सारे जगत्‌के तत्त्वक[ा] लाभ हो ही जाता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ८५३,८५४ ॥

'ज्ञानार्थे' इत्यादि । यद्यपि ज्ञानार्थक 'विदि' धातुका यहाँ प्रकरण है, तथापि जो लाभरूप अर्थसे उपसंहार किया गया है, वह अयुक्त नहीं है, क्योंकि इस ब्रह्मात्मतत्त्वप्रकरणमें ज्ञान और लाभका एक ही अर्थ है ॥ ८५५ ॥

'नित्यलब्ध०' इत्यादि । यद्यपि आत्मा नित्यलब्धस्वरूप है; तथापि उसकी अलब्धता अज्ञानसे ही प्रतीत होती है; इसलिए विस्मृत कण्ठचामीकरकी अर्थात् भूले हुए गलेके हारकी तरह ज्ञानमात्र ही उसका लाभ है ॥ ८५६ ॥

'कीर्तिं च' इत्यादि । ब्रह्मज्ञानसे यश और शिष्यसमूहका लाभ होता है । यद्यपि आत्मज्ञानका जो फल है, उसमें सभी प्रकारके सुखोंका अन्तर्भाव होता है; अतः यश और शिष्यसमूहका लाभ उसके ही अन्तर्भूत है; तथापि प्रवृत्तिके लिए नित्यप्राप्त लाभका यह अनुवाद है ॥ ८५७ ॥

आनन्दस्य समाप्तिर्या प्रत्यगात्मनि सूत्रिता ।
सा वर्ण्यतेऽनुभूत्याऽत्र स्पष्टं सार्वजनीनया ॥ ८५८ ॥
वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम् ।
इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राण आत्मा प्रियतरस्ततः ॥ ८५९ ॥
स्वात्मभोगस्य हेतुत्वात् प्राणादौ प्रीतिरिष्यते ।
न स्वतोऽतो न सा मुख्या ह्यात्मप्रीतिर्यथा तथा ॥ ८६० ॥
प्रतीचि निर्निमित्तैव सर्वावस्थासु वीक्ष्यते ।
प्रीतिरग्न्यौष्ण्यवत्तस्मान्मुख्याऽसाविति गम्यताम् ॥ ८६१ ॥
सर्वान्तरतरत्वेन युज्यते निर्निमित्तता ।
बाह्येषु सनिमित्तत्वं प्रीतेः स्पष्टं गवादिषु ॥ ८६२ ॥
व्याध्याद्युपद्रुतो लोके मृतिमप्यभिवाञ्छति ।
निर्निमित्तप्रियत्वे तु देहादेस्तन्न युज्यते ॥ ८६३ ॥

'आनन्दस्य' इत्यादि । आनन्दकी समाप्ति जो प्रत्यगात्मामें सूचित की गई है, उसका सार्वजनिक अनुभवसे यहां स्पष्ट वर्णन किया जाता है ॥ ८५८ ॥

'वित्तात् पुत्रः' इत्यादि । धनसे पुत्र प्रिय है, पुत्रसे शरीर प्रिय है, शरीरसे इन्द्रियाँ प्रिय हैं, इन्द्रियोंसे प्राण प्रिय हैं और प्राणसे भी आत्मा अधिक प्रिय है ॥ ८५९ ॥

'स्वात्मभोगस्य' इत्यादि । प्राणमें इसलिए प्रीति होती है कि वह आत्माके भोगका हेतु है; अपने आपके भोगका हेतु नहीं है, इसलिए जैसे आत्मप्रीति मुख्य है; वैसे प्राणोंमें प्रीति मुख्य नहीं है ॥ ८६० ॥

'प्रतीचि' इत्यादि । अग्निकी उष्णताकी तरह सब अवस्थाओंमें आत्मामें स्वतः याने किसी कारणके बिना प्रीति देखी जाती है; इसलिए आत्माकी प्रीति मुख्य समझनी चाहिए ॥ ८६२ ॥

'सर्वान्तर०' इत्यादि । आत्मा सबका अन्तरतर है; इसलिए उसमें प्रीतिकी निर्निमित्तता युक्त है । और बाह्य धेनु आदिमें प्रीति निमित्तसे हुआ करती है; यह स्पष्ट है ॥ ८६२ ॥

'व्याध्याद्युपद्रुतो' इत्यादि । लोकमें अत्यन्त रोगी पुरुष मृत्युकी भी इच्छा करता है । यदि देहादि निर्निमित्त प्रिय होते; तो उक्त पुरुषको देहके नाशकी इच्छा नहीं होती ॥ ८६३ ॥

अनात्मा प्रिय इत्येवं यो विमुह्यति पामरः ।
विनाशित्वमुदाहृत्य मूढं तं बोधयेद् बुधः ॥ ७६४ ॥
अनात्मा भोगकालेऽस्य सुखं यावत् प्रयच्छति ।
तत्सहस्रगुणं दुःखं नाशकाले ददाति हि ॥ ८६५ ॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
व्युत्थाप्य विषयेभ्यस्तां प्रतीच्येव निवेशयेत् ॥ ८६६ ॥
विषया इव न प्रत्यक्कदाचिदपि नश्यति ।
अतो दुःखप्रदत्वं तु शङ्कितुं न च शक्यते ॥ ८६७ ॥
इत्यानन्दज्ञेयवस्तुसमाप्तिभ्यां पुमर्थता ।
सिद्धा प्रतीचः, स प्रत्यक्पदनीयो भवेदतः ॥ ८६८ ॥
कृत्स्नं च पदनीयं च स्वात्मतत्त्वं यतस्ततः ।
यदात्मविद्यासूत्रं तद्व्याख्यातुं योग्यतामियात् ॥ ८६९ ॥

---

'अनात्मा' इत्यादि । अनात्मा पुत्र आदि प्रिय हैं, इस प्रकारके मोहको जो अज्ञानी प्राप्त होता है उस मूर्खको विनाशित्वका उदाहरण देकर पण्डित समझावे ॥ ८६४ ॥

'अनात्मा' इत्यादि । भोगकालमें अनात्मा जितना सुख देता है; उससे सहस्रगुण नाशकालमें दुःख देता है ८६५ ॥

'या प्रीतिः' इत्यादि । अज्ञानियोंको विषयोंमें जो अनपायिनी ( कभी नष्ट न होनेवाली ) प्रीति होती है, उसको विषयोंसे हटाकर प्रत्यगात्मामें ही लगावे ॥ ८६६ ॥

'विषया' इत्यादि । विषयोंकी तरह प्रत्यगात्मा कभी नष्ट नहीं होता, इसलिए उसमें दुःखदायित्वकी शङ्का ही नहीं हो सकती ॥ ८६७ ॥

'इत्यानन्द०' इत्यादि । इस प्रकार आनन्दकी समाप्ति और ज्ञेयकी समाप्तिसे प्रत्यगात्माकी पुरुषार्थता सिद्ध हो गई, इसलिए वह प्रत्यगात्मा पदनीय है ॥ ८६८ ॥

'कृत्स्नम्' इत्यादि । आत्मतत्त्व ही कृत्स्न है और पदनीय है, इसलिए आत्मविद्यासूत्रका व्याख्यान करना युक्त है ॥ ८६९ ॥

श्रुतिः—तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा । स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात् आत्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८ ॥

---

श्रुत्यर्थ—अन्य सबका अनादर करके किसलिए आत्मतत्त्वको जानना चाहिए ? इसपर भगवती श्रुति कहती है कि वह यह आत्मतत्त्व पुत्रसे प्रियतर है । लोकमें पुत्रमें प्रीति प्रसिद्ध है, उससे भी यह आत्मतत्त्व प्रियतर है, यों निरतिशय ( सर्वाधिक ) प्रियता आत्मामें श्रुति दिखलाती है; तथा हिरण्य, रत्न आदि धनसे और अन्य सब लोकमें जो प्रिय प्रसिद्ध हैं; उन सबसे यह आत्मा प्रियतर है, यह अर्थ है । कारण क्या है कि आत्मतत्त्व ही प्रियतर है ? और अन्य प्राणादि प्रियतर नहीं हैं। उसपर कहते हैं—'अन्तरतरम्'। बाह्य पुत्र, धनादिसे यह प्राणपिण्डसमुदाय अभ्यन्तर है अर्थात् आत्माके सन्निकृष्ट (निकट) है। उस अन्तर प्राणपिण्डसमुदायसे भी यह आत्मा ( आत्मतत्त्व ) अन्तरतर है । जैसे जो लोकमें निरतिशय प्रिय होता है, वह सब प्रयत्नोंसे लब्धव्य ( लाभ करने योग्य ) होता है; वैसे ही यह आत्मा सब लौकिक प्रियोंसे प्रियतम है; इसलिए उसके लाभके लिए महान् यत्न करना चाहिए अर्थात् अन्य प्रियके लाभके लिए कर्त्तव्यतासे प्राप्त यत्नका त्याग कर आत्मलाभमें ही यत्न करना चाहिए ।

आत्मा और अनात्मारूप दो प्रियोंमें से एक प्रियका त्याग करके इतर प्रियके उपादानकी प्राप्ति होती है, इस परिस्थितिमें आत्मरूप प्रियका उपादान करके इतर अनात्मप्रियका आप त्याग करते हैं; इससे विपरीत नहीं करते, इसमें कारण क्या है ?

कहते हैं, जो कोई पुरुष अन्य अनात्मविशेष पुत्रादिको आत्मासे प्रिय कहे; उसको आत्मप्रियवादी कहे कि तुम्हारा अभिमत पुत्रादि प्रिय प्राण संरोधको प्राप्त होगा अर्थात् नष्ट हो जायगा । वह क्यों ऐसा कहता है ? चूँकि वह ऐसा कहनेको ईश्वर ( समर्थ ) है ; अतः वह जैसा कहेगा वैसा ही हो जायगा, क्योंकि वह तत्त्वज्ञानी यथाभूतवादी है, इसलिए वह कहनेको समर्थ है । कोई कहते हैं—ईश्वरशब्द क्षिप्रवाची है । हो, यदि प्रसिद्धि हो तो । इसलिए अन्य प्रियका त्याग कर आत्मारूपी प्रियकी ही उपासना करे । वह जो आत्माकी ही प्रियरूपसे उपासना करता है अर्थात् आत्मा ही प्रिय है

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्व-

और उनके फलरूप साध्यसाधनसे विरक्त होकर उससे विलक्षण नित्य निरतिशय श्रेयकी प्राप्तिकी इच्छा करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मविद्यासे ( ब्रह्म—परमात्मा—जिससे जाना जाय, उस विद्यासे ) हम सब निरवशेष ( जिनका कुछ शेष न रह जाय, ऐसे ) हो जायँ, इस प्रकार जो मनुष्य मानते हैं। मनुष्यग्रहण यहां विशेषरूपसे अधिकारके बोधनके लिए है, क्योंकि मनुष्य ही विशेषरूपसे अभ्युदय और निःश्रेयसके साधनमें अधिकारी हैं, यह अभिप्राय है। जैसे मनुष्य कर्मके विषयमें फलप्राप्तिको ध्रुव ( अवश्यंभावी ) समझते हैं, वैसे ही ब्रह्मविद्याके फल सर्वात्मभावकी प्राप्तिको भी ध्रुव ही मानते हैं, क्योंकि वेदका प्रामाण्य दोनोंमें तुल्य है। उसमें वस्तु विरुद्ध प्रतीत होती है, इससे पूछते हैं, वह ब्रह्म क्या है? जिसके ज्ञानसे मनुष्य सब भावकी प्राप्ति समझते हैं, उस ब्रह्मने किसको जाना था? जिसके ज्ञानसे ब्रह्म सब हो गया। और ब्रह्म सब है, यह सुना जाता है। वह ब्रह्म यदि किसीको न जानकर सब हुआ है, तो अन्य पुरुष भी बिना जाने ही सब हो सकते हैं, फिर ब्रह्मविद्यासे क्या लाभ? यदि ब्रह्म जानकर सब हुआ है, तो ज्ञानसे साध्य होनेके कारण विद्या भी कर्मफलके तुल्य होगी, इसलिए ब्रह्मविद्याका फल सर्वभाव अनित्य हो जायगा। और अनवस्था दोष भी है, क्योंकि ब्रह्म यदि अन्यको जानकर सब हुआ है, तो वह पहला भी अन्यको जानकर सब हुआ होगा, इस प्रकार किसीको बिना जाने ब्रह्म सब हुआ है, यह तो नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्रके अर्थमें वैरूप्य दोष आता है, क्योंकि ब्रह्म तो अन्यको बिना जाने सब हुआ और हम अन्यको जानकर सब होते हैं। ज्ञानसे यदि सर्वात्मभाव होता है; तो फलमें अनित्यत्व दोष है। अर्थविशेषकी उपपत्तिसे एक भी दोष नहीं है ॥ ९ ॥

यदि कुछ भी जानकर ब्रह्म सर्वात्मक हुआ है, तो हम पूछते हैं कि उस ब्रह्मने क्या जाना था? जिससे वह सब हो गया, ऐसा प्रश्न होनेपर सब दोषोंसे रहित उत्तर श्रुति कहती है—'ब्रह्म वा' इत्यादि। यहाँपर अपर ब्रह्म विवक्षित है, क्योंकि तभी सर्वभाव साध्य हो सकता है, क्योंकि पर ब्रह्मकी सर्वभावापत्ति ज्ञानसाध्य नहीं हो सकती और 'तस्मात् तत्सर्वमभवत्' इस प्रकारकी श्रुति सर्वभावापत्तिको

मभवत् । तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां त

ज्ञानसाध्य कहती है; इसलिए 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' यहाँपर अपर ब्रह्म ब्रह्मशब्दका अर्थ है, यह युक्त है ।

अथवा मनुष्यका अधिकार होनेसे 'तद्भावी' ( ब्रह्म होनेवाला ) ब्राह्म ब्रह्मशब्दका अर्थ है; क्योंकि 'सर्वे भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते' यह मनुष्योंः प्रकरण है और अभ्युदय और निःश्रेयसके साधनमें विशेष करके मनुष्योंका ः अधिकार है, यह कहा गया है । पर ब्रह्मका अथवा अपर ब्रह्म प्रजापतिका अधिका नहीं है; इसलिए द्वैतैकत्वरूप अपरब्रह्मकी कर्मसहित विद्यासे अपरब्रह्मभावकं प्राप्त होकर भोज्य पदार्थोंसे निवृत्त होकर सर्वप्राप्तिसे जिसके काम, कर्म बन्धन उच्छिन्न हो गये हैं, ब्रह्मविद्यारूपी हेतुसे परब्रह्म होनेवाला वा उपासक यहाँ ब्रह्मशब्दसे कहा जाता है । और लोकमें भाविनी वृत्तिक आश्रयण करके शब्दप्रयोग देखा गया है—जैसे 'ओदनं पचति' ( भात पकाता है ) और शास्त्रमें 'परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणाम्' ( संन्यासी सब भूतोंको अभय दक्षिणा देवे ) इत्यादि, वैसे ही यहाँपर कोई आचार्य इस श्रुतिमें स्थित ब्रह्मशब्दका अर्थ ब्रह्मभावी ब्राह्मण पुरुष है, यह व्याख्या करते हैं ।

यह समीचीन नहीं है ; क्योंकि सर्वभावापत्तिमें अनित्यत्व दोष आता है, कारण कि लोकमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है; जो परमार्थसे अथवा निमित्तवश भावान्तरको प्राप्त होता हो और नित्य हो । वैसे ही सर्वभावापत्ति ब्रह्मविज्ञान-रूप निमित्तसे साध्य है, और नित्य है, यह विरुद्ध है । यदि सर्वभावापत्ति अनित्य है; तो कर्मफलके समान होगी ; यह उक्त दोष है । अविद्याकृत असर्वत्वकी निवृत्तिकी सर्वभावापत्ति है, वही ब्रह्मविद्याका फल है । यदि तू ऐसा मानता है ; तो ब्रह्मभावी पुरुषकी कल्पना व्यर्थ हो जाती है । ब्रह्मविज्ञानसे पहले भी सब जीव ब्रह्म होनेसे परमार्थमें नित्य ही सर्वभावापन्न हैं । अविद्यासे अब्रह्मत्व और असर्वत्वका अध्यारोप कर लिया है । जैसे शुक्तिकामें रजत अथवा आकाशमें तलमलवत्त्व आदि, वैसे ही यहाँ ब्रह्ममें अविद्यासे अब्रह्मत्व और असर्वत्व आरोपित है, वह ब्रह्मविद्यासे निवृत्त होता है ।

यदि तुम ऐसा मानते हो, तो युक्त है । जो परमार्थमें ब्रह्म है, वही 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इस वाक्यमें ब्रह्मशब्दका मुख्य अर्थ है, यह कहना

मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति ।

उचित है । क्योंकि वेद यथाभूत ( सत्य ) अर्थका प्रतिपादक है । ब्रह्मशब्दार्थके विपरीत ब्रह्मभावी पुरुष ब्रह्मशब्दसे कहा जाता है, यह कल्पना युक्त नहीं है; क्योंकि श्रुतहानि[1] और अश्रुतकी कल्पना करना अनुचित है । किसी महत्तर अन्य प्रयोजनके न होनेसे अविद्याके बिना किसीमें अब्रह्मत्व अथवा असर्वत्व है, ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि उसकी ब्रह्मविद्यासे निवृत्ति नहीं हो सकती है । कहीं भी ब्रह्मविद्या साक्षात् वस्तुधर्मको नष्ट करती हुई या उत्पन्न करती हुई नहीं देखी गई है । सर्वत्र अविद्याकी ही निवर्तक देखी जाती है । यहांपर भी अविद्याकृत अब्रह्मत्व और असर्वत्वकी ही ब्रह्मविद्यासे निवृत्ति करनी चाहिए ।

ब्रह्मविद्या पारमार्थिक वस्तुको न उत्पन्न कर सकती है और न निवृत्त ही कर सकती है; इसलिए श्रुतहानि और अश्रुतकी कल्पना करना व्यर्थ ही है । ब्रह्ममें अविद्याकी अनुपपत्ति[2] है, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ब्रह्ममें विद्याका विधान है; कारण कि शुक्तिकामें रजतका अध्यारोप न होनेपर यह शुक्तिका है, रजत नहीं है, इस प्रकार नेत्रके संमुख स्थित शुक्तित्वका बोधन नहीं किया जाता है । वैसे ही 'यह सत् ही है', 'यह सब ब्रह्म ही है', 'यह सब आत्मा ही है' एवं 'द्वैत और अब्रह्म नहीं है' इस प्रकार ब्रह्ममें एकत्वज्ञानका विधान न किया जाता, यदि ब्रह्ममें अविद्याका आरोप न होता । हम नहीं कहते हैं कि शुक्तिकाकी तरह ब्रह्ममें अनात्मधर्मोंका आरोप

१—निरतिशय महत्त्वसम्पन्न वस्तु ब्रह्मशब्दका अर्थ श्रुत है, ब्रह्मभावी पुरुष अश्रुत है, इसलिए श्रुतकी हानिसे अश्रुतकी कल्पना न्यायवती नहीं है । जहाँ 'अग्निरधीतेऽनुवाकम्' (अग्नि अनुवाक पढ़ता है ) इत्यादिमें अग्निशब्दके श्रुत मुख्य अर्थका त्यागकर अश्रुत बालककी कल्पना की जाती है, वहांपर वाक्यार्थोपपत्तिरूप प्रयोजन है । प्रकृतमें तो कोई महत्तर प्रयोजन-विशेष है नहीं, इसलिए श्रुतहानि और अश्रुतकी कल्पना युक्त नहीं है ।

२ क्योंकि सूर्यमें अन्धकारकी तरह प्रकाशैकरस ब्रह्ममें अज्ञान अयुक्त है, यह भाव है । क्या ब्रह्ममें अज्ञातत्व ( अज्ञानविषयता ) का आक्षेप करते हो अथवा अज्ञत्व ( अज्ञानकी आश्रयता ) का आक्षेप करते हो ? प्रथम पक्ष तो समीचीन नहीं है, क्योंकि यदि ब्रह्म अज्ञानका आश्रय नहीं है याने ब्रह्ममें अज्ञान है ही नहीं; तो 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे ज्ञात ब्रह्ममें विद्याका विधान पिष्टपेषण होगा, इसलिए अज्ञात ब्रह्म है, यह स्वीकार करना चाहिए । अज्ञात ब्रह्मकी एकताका शास्त्रसे बोधन किया जाता है और उसके लिए श्रवणादिका विधान किया जाता है, इसलिए ब्रह्ममें अज्ञान है, यह स्वीकार करना चाहिए ।

नहीं है, किन्तु ब्रह्म अपनेमें अनात्मधर्मोंके आरोपका निमित्त नहीं है और अवि॰ कर्ता भी नहीं है। हो, ऐसा ब्रह्म न तो अविद्याका कर्ता है और न भ्रान्त ही

दूसरे पक्षमें कहते हैं—ब्रह्म अविद्याका कर्ता मत हो और भ्रान्त भी मत किन्तु ब्रह्मसे भिन्न अन्य अब्रह्मरूप चेतनका अविद्याका कर्ता और भ्रान्त होना नहीं है, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादि श्रुतियाँ, 'सब भूतोंमें सम है', अर्जुन मैं ही सबका आत्मा हूँ', 'कुत्ते और चाण्डालमें वह सम है' इत्याद्यर्थक स्मृति और 'जो सब भूतोंमें आत्माको देखता है', 'जिसमें सब भूत हैं', एतदर्थक मन्त्रवर्ण प्रमाण हैं। यदि शङ्का हो कि ऐसा माननेपर शास्त्रका उपदेश अनर्थक जायगा, तो यह ठीक है; ज्ञान होनेपर शास्त्र अनर्थक है ही। ज्ञान अनर्थक है, यह न कहना चाहिए, क्योंकि उससे अज्ञानकी निवृत्ति देखी जाती है। उससे अविद्या॰ निवृत्ति नहीं हो सकती; यह नहीं कहना चाहिए; क्योंकि दृष्ट विरोध है। एकत्वज्ञान अज्ञानकी निवृत्ति देखी जाती है। देखनेपर भी अनुपपन्न है, यदि ऐसा कहें, दृष्टविरोध होगा।

दृष्टके विरोधका कोई भी अङ्गीकार नहीं करता। दृष्टमें अनुपपत्ति भ॰ नहीं कह सकते, क्योंकि देखते ही हैं। दर्शनकी अनुपपत्ति[1] कहें, तो उसमें भ॰ यही युक्ति है। 'पुण्य कर्मसे पुण्य होता है', 'विद्या और कर्म उसका आरम्भ करते हैं', 'मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है' इत्याद्यर्थक श्रुति, स्मृति और न्यायोंसे परमात्मासे विलक्षण अन्य संसारी ( जीव ) है, यह जाना जाता है और 'स एष नेति नेति' इत्यादि श्रुतियोंसे परमात्मा उस संसारीसे विलक्षण है कणाद, अक्षपाद आदिके तर्कशास्त्रोंमें संसारीसे विलक्षण ईश्वरकी युक्तियोंसे सिद्धि की गई है। संसार-दुःखोंके नाशके लिए प्रवृत्ति देखी जाती है; इससे भी जाना जाता है कि जीव ईश्वरसे भिन्न है तथा 'इन्द्रियोंसे रहित है, मनसे रहित है', 'हे पार्थ! मुझे कुछ कर्तव्य नहीं है', इत्यादि अर्थवाली श्रुति और स्मृतियोंसे भी उसकी जीवसे विलक्षणता प्रतीत होती है। एवं 'उसका अन्वेषण करना चाहिए', 'उसको जानकर कर्मोंसे लिप्त नहीं होता', 'ब्रह्मवित् परमात्माको प्राप्त होता है' 'एक ही रूपसे देखना चाहिए', 'हे गार्गि! इस अक्षरको न जानकर', 'उसीको धीर पुरुष

१—अयुक्त है, यह भी सबको दृष्टिके बलसे ही सिद्ध होता है, किसीने देखे नहीं हैं, इसलिए खरगोशके सींग नहीं हैं। दृष्टमें कोई अयुक्तत्वकी शङ्का नहीं करता, जैसे गौके सींगोंको कोई भी अयुक्त नहीं कहता।

तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति तस्य

जानकर', 'प्रणव धनुष है, जीव बाण है और वह ब्रह्म लक्ष्य कहा जाता है' इत्यादि अर्थवाली श्रुतियोंमें कर्मकर्तृके निर्देशसे सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरसे भिन्न है। मुमुक्षुके गतिविशेष और मार्गविशेषके उपदेशसे भी यही सिद्ध होता है। भेदके न होनेपर किसकी कहाँसे गति होगी? और गतिके न होनेपर दक्षिणोत्तर मार्ग-विशेषकी अनुपपत्ति एवं गन्तव्य देशकी अनुपपत्ति होगी। परमात्मासे जीव यदि भिन्न हो, तो पूर्वोक्त सब उपपन्न हो सकता है। एवं कर्म और ज्ञानके साधनोंका उपदेश भी हो सकता है। जब ब्रह्मसे संसारी भिन्न हो तभी उसके प्रति अभ्युदयके साधन कर्म और मुक्तिके साधन ज्ञानका उपदेश हो सकता है। ईश्वरके प्रति नहीं हो सकता; क्योंकि वह आप्तकाम है—पूर्णकाम है। इससे ब्रह्मशब्दसे ब्रह्मभावी पुरुष ही कहा जाता है।

नहीं, क्योंकि ऐसा होनेपर ब्रह्मका उपदेश अनर्थक हो जायगा, सारांश यह है कि जब संसारी ब्रह्मभावीने अब्रह्म होकर अपनेको ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जाना और उसी ज्ञानसे सब हो गया; तब संसारी आत्माके ही ज्ञानसे सर्वात्मभावरूप फल सिद्ध हो सकता है; फिर पर ब्रह्मका उपदेश निश्चितरूपसे अनर्थक ही हो जाता है। किसी भी पुरुषार्थके साधनमें ब्रह्मविज्ञानका विनियोग न होनेसे संसारी जीवके लिए ही ब्रह्मत्वकी संपत्तिके लिए 'अहं ब्रह्माऽस्मि' यह उपदेश है, यदि यह कहें, तो अज्ञात ब्रह्मस्वरूपमें 'मैं ब्रह्म हूँ' यह संपादन ही कैसे करेगा? ब्रह्मके ज्ञात होनेपर ही संपत्ति की जा सकती है, यह नहीं कहना चाहिए; क्योंकि 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिसे उपक्रम करके 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यादि हजारों श्रुतियोंमें ब्रह्म और आत्मशब्दका सामानाधिकरण्य देखा जाता है; इसलिए दोनों एकार्थक हैं, यह अवगत होता है।

अन्यकी ही अन्यमें संपत् की जाती है; एकमें नहीं की जाती। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' यह वाक्य प्रकृत द्रष्टव्य आत्माका ही एकत्व दिखलाता है; इसलिए आत्मामें ब्रह्मत्वसंपत्तिकी उपपत्ति नहीं है। ब्रह्मोपदेशका अन्य प्रयोजन भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुतियोंसे तदापत्ति (ब्रह्मभावापत्ति) सुनी जाती है। संपत्तिपक्षमें ब्रह्मभावापत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि अन्यमें अन्यभाव उपपन्न नहीं हो सकता। वचनके बलसे संपत्तिसे भी ब्रह्मभावापत्ति

होती है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि संपत्ति ज्ञानमात्र है और ज्ञ मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिके बिना कारक ( उत्पत्तिका कर्ता ) नहीं हो सकता; यह ह कह चुके हैं । वचन वस्तुकी सामर्थ्यका जनक नहीं है; क्योंकि शास्त्र ज्ञापक ी कारक नहीं है, यह वस्तु-स्थिति है ।

'स एष इह प्रविष्टः' इत्यादि वाक्योंमें पर ही का प्रवेश है, यह सि हो गया; इसलिए ब्रह्मशब्दसे ब्रह्मभावी पुरुषकी कल्पना समीचीन नहीं है इष्ट अर्थका बाध होनेसे भी उक्त अर्थ समीचीन नहीं है, क्योंकि सैन्धवघनकी तर अनन्तर ( अन्तरसे शून्य ) अबाह्य ( बाह्यसे शून्य ) एकरस ब्रह्म है । इ ज्ञानका सब उपनिषदोंमें प्रतिपादन करना अभीष्ट है, क्योंकि दोनों काण्डों अन्तमें 'इत्यनुशासनम्' ( इतना ही उपदेश है ), 'एतावदरे खल्वमृतत्वम ( इतना ही अमृतत्व है ) ऐसा अवधारण है । वैसे ही सब शाखाओंके उपनिषदोंमें ब्रह्मैकत्वविज्ञान ही निश्चित अर्थ है, उसमें ब्रह्मसे भि संसारीने आत्माको ही जाना, ऐसी कल्पना की जाय, तो इष्ट अर्थका बा होगा । तथा च उपक्रम और उपसंहारमें विरोध होनेसे शास्त्र असमंजस है यह कल्पना हो सकती है । व्यपदेशकी अनुपपत्तिसे भी यही सिद्ध होता है— यदि संसारीने आत्माको जाना, यह कल्पना की जाय, तो 'ब्रह्मविद्या' यह व्यपदेश नहीं हो सकता । 'आत्मानमेवावेत्' इससे संसारीमें ही वेद्यत्वकी उपपत्ति होगी ।

'आत्मा' इस शब्दसे वेदिता ( ज्ञाता ) अन्य कहा जाता है, यह नहीं कहना चाहिए; क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि' यह विशेषण दिया गया है । यदि अन्य वेद्य (ज्ञेय ) होता, तो 'वह मैं हूं' ऐसा विशेषण देते, 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा विशेषण न देते । 'मैं हूं' यह विशेषण दिया है और आत्माको ही जाना, इस प्रकार अवधारणार्थक एवशब्द है, अतः यही निश्चित होता है कि आत्मा ही ब्रह्म है । इसी दशामें ब्रह्मविद्याका व्यपदेश उपपन्न होता है अन्यथा नहीं । अन्यथा विद्या संसारी ही होती । परमार्थमें सूर्यमें अन्धकार और प्रकाशकी तरह एकमें ब्रह्मत्व और अब्रह्मत्व युक्त नहीं है । और उभयनिमित्त होनेसे 'ब्रह्मविद्या' यह निश्चित व्यपदेश भी युक्त नहीं होता, क्योंकि उस दशामें ब्रह्मविद्या और संसारी विद्या ऐसा व्यपदेश होता । जहां तत्त्वज्ञानकी विवक्षा हो, वहां वस्तुमें अर्धजरतीयत्वकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे श्रोताको

ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाᳬ स भवति अथ योऽन्यां

संशय हो सकता है । निश्चित ज्ञान पुरुषार्थका साधन है, यह इष्ट है, क्योंकि 'यस्य स्याद‌द्धा न विचिकित्साऽस्ति' ( जिसको विश्वास हो उसको संशय नहीं होता ), 'संशयात्मा विनश्यति' ( संशय करनेवाला पुरुष नष्ट हो जाता है ), ऐसी श्रुति-स्मृतियाँ हैं; इसलिए परहितार्थी ( परोपकारी ) पुरुषको संदिग्ध वाक्यार्थ नहीं कहना चाहिए ।

'उसने आत्मा ही को जाना उस ज्ञानसे सब हो गया' इस प्रकारकी ब्रह्ममें अस्मदादिकी तरह साधकत्वकी कल्पना ठीक नहीं है, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा कहनेसे शास्त्रको उपालम्भ होगा । क्योंकि यह कल्पना हमने नहीं की है, किन्तु शास्त्रने की है; इसलिए यह उपालम्भ शास्त्रको है । ब्रह्मका इष्ट करनेकी इच्छासे शास्त्रार्थकी विपरीत कल्पनासे स्वार्थका परित्याग नहीं करना चाहिए । आपको इतने ही पर असन्तोष नहीं होना चाहिए; क्योंकि 'एकधा' इत्यादि वाक्यशेषोंसे सभी नानात्व ब्रह्ममें कल्पित हैं । सभी लोकव्यवहार ब्रह्ममें ही कल्पित हैं, परमार्थतः नहीं है, इसलिए यह तुम्हारा कथन बहुत अल्प है कि यह साधकत्व कल्पना युक्त नहीं है; इसलिए जो स्रष्टा और प्रवेश करनेवाला ब्रह्म है, वही ब्रह्मशब्दका अर्थ है । वैशब्द निश्चयार्थक है ।

शरीरमें स्थित और यह सब जो यह ज्ञात होता है, वह बोधसे पहले भी ब्रह्म ही था, किन्तु जीव अज्ञानसे 'मैं अब्रह्म हूं' 'मैं असर्व हूं' आत्मामें यह आरोप करके 'मैं कर्ता हूं, क्रियावान् हूं' फलोंका भोक्ता हूं, सुखी हूं, दुःखी हूं और संसारी हूं, यह आरोप करता है । वास्तवमें तो ब्रह्म ही है और इससे भिन्न सारा जगत् भी ब्रह्म ही है । जब उसको दयालु आचार्यने किसी प्रकार समझाया कि तुम संसारी नहीं हो, तब उसने स्वाभाविक आत्माको ही जाना । 'एव' शब्दका अर्थ यहांपर अविद्यासे अध्यारोपित विशेषका त्याग है । बतलाओ, कौनसा वह स्वाभाविक आत्मा है, जिसको कि ब्रह्म जाना ? क्या तुम्हें आत्माका स्मरण नहीं है ? वह तो दिखलाया गया है—जो इसमें प्रवेश करके प्राणन करता है, अपानन करता है, व्यानन करता है, उदानन करता है, समानन करता है । यह आपका व्यपदेश वैसा ही है जैसे कि

कोई कहे वह गौ, वह अश्व[1]। आप आत्माको प्रत्यक्ष नहीं दि
कहो, तो जो द्रष्टा है, श्रोता[2] है, मन्ता है, विज्ञाता है, वह आत्मा
यहांपर भी दर्शनादि क्रियाके कर्ताका स्वरूप आप
दिखलाते हो। गति ( चलना ) ही गन्ता ( चलनेवाले ) का स्व
न छिदि छेत्ताका स्वरूप है, यदि ऐसा कहो, तो दृष्टिका जो द्रष्ट
श्रोता है, मतिका जो मन्ता है और विज्ञातिका जो विज्ञाता है,
इसमें भी द्रष्टामें क्या विशेष है ? यदि दृष्टिका द्रष्टा हो, यदि
हो, सर्वथा ही वह द्रष्टा ही है। 'दृष्टेर्द्रष्टा' ( दृष्टिका द्रष्टा )
आपने द्रष्टव्यका ( दर्शनके योग्यका ) कहा है। द्रष्टा तो यदि
हो अथवा घटका द्रष्टा हो, वह द्रष्टा ही है; नहीं, इसमें वि
है। दृष्टिका जो द्रष्टा है, वह यदि दृष्टि है, तो नित्
देखता है। ऐसा कभी नहीं होता कि द्रष्टासे दृष्टि न देखी ज
द्रष्टाकी दृष्टि नित्य होनी चाहिए। यदि द्रष्टाकी दृष्टि अनित्य
जो दृष्टि है, वह कभी न भी दीखती। जैसे अनित्य दृष्टिका वि
दीखता है, कभी नहीं दीखता; वैसे ही दृष्टिका द्रष्टा कभी भ
देखता, यह नहीं है।

क्या द्रष्टाकी दो दृष्टियाँ हैं—एक नित्य और अदृश्य, दूस
अनित्य ? ऐसा ही है। अनित्य दृष्टि तो प्रसिद्ध ही है, क्योंकि अ
देखे जाते हैं। यदि दृष्टि नित्य होती, तो सब अनन्ध ही होते। द्र
नित्य है, क्योंकि 'द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता' इत्यार्थक श्रुति है
है—स्वप्नमें अन्ध पुरुषकी भी घटाद्याभासविषयक दृष्टि उपलब्ध होत
वह इतर दृष्टिका नाश होनेपर नष्ट नहीं होती, वह द्रष्टाकी
स्वयंज्योतिःस्वरूप अपरिलुप्त ( न लोप होनेवाली ) आत्मस्वरूप
अनित्य दृष्टिको, जो कि स्वप्नमें वासनारूप और जाग्रत्में
नित्य ही देखता हुआ वह दृष्टिका द्रष्टा होता है। ऐसी द
उष्णताकी तरह इसका स्वरूप ही दृष्टि है। कणादोंकी तरह दृष्टि
अन्य चेतन द्रष्टा नहीं है।

---

१—आत्माके प्रत्यक्षके लिए जो प्रश्न करता है, उसको 'असौ' ( वह ) इ
उत्तर देना अनुचित है।

२—आत्माको यदि तुम प्रत्यक्ष करना चाहते हो, तो वह द्रष्टा श्रोतारूप हो

देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳ स

उस ब्रह्मने नित्य दृष्टिरूप अध्यारोपित अनित्य दृष्टिसे रहित आत्माको ही जाना, यह कहना विरुद्ध है, क्योंकि 'विज्ञातिके विज्ञाताको तु नहीं जानता' इत्यर्थक श्रुतिसे प्रतीत होता है कि ज्ञाताका ज्ञान नहीं है। नहीं, ऐसे विज्ञानसे विरोध नहीं। वह दृष्टिका द्रष्टा है, इस प्रकार वह जाना ही जा सकता है, अन्यके ज्ञानकी उसको अपेक्षा भी नहीं है—द्रष्टाकी दृष्टि नित्य ही है, ऐसा ज्ञान होनेपर द्रष्टाको विषय करनेवाली अन्य दृष्टिकी आकांक्षा ही नहीं होती। द्रष्टाविषयक दृष्टिकी आकांक्षा निवृत्त हो जाती है, क्योंकि उसका सम्भव ही नहीं है। अविद्यमान विषयमें किसीको आकांक्षा नहीं होती। और जब दृश्या ( इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाली दृष्टि ) दृष्टि द्रष्टाको विषय नहीं कर सकती, तब द्रष्टा उसकी कैसे आकांक्षा करे ? स्वको स्वरूपकी आकांक्षा नहीं हुआ करती; इसलिए अज्ञानाध्यारोपनिवृत्ति ही 'आत्मानमेवावेत्' इस वाक्यका अर्थ है। आत्मका विषयीकरण इसका अर्थ नहीं है।

उस ब्रह्मने किस प्रकार जाना ? कहते हैं, मैं दृष्टिका द्रष्टा आत्मा ब्रह्म हूँ। ब्रह्म यह जो साक्षात् प्रत्यक्ष है वह सबका आन्तर आत्मा है, अशनायादिसे अतीत है। जिसके 'नेति नेति' 'अस्थूलमनणु' इत्यादि लक्षण हैं, मैं वही हूँ अन्य संसारी नहीं हूँ, जैसा आप कहते हो; इसलिए इस प्रकारके ज्ञानसे वह ब्रह्म सब हो गया। अब्रह्मके आरोपकी निवृत्तिसे उसके कार्य असर्वत्वकी निवृत्ति हो गई; इसलिए ब्रह्म सब हो गया, इसलिए यह युक्त ही है—जो यह मनुष्य मानते हैं कि ब्रह्मविद्यासे हम सर्व हो जायँगे। जो प्रश्न किया था कि उस ब्रह्मने किसको जाना था जिससे वह सब हो गया, उसका निर्णय हो गया कि पहले ब्रह्म ही था उसने आत्माको ही इस प्रकार जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, इसलिए सर्व हो गया। इसलिए उन देवताओंके मध्यमें जिस जिसने आत्माको जाना वही प्रतिबुद्ध ( ज्ञानी ) होकर ब्रह्म हो गया, वैसे ही ऋषियोंके और मनुष्योंके मध्यमें भी समझना चाहिए।

'देवानाम्' इत्यादि लोकदृष्टिकी अपेक्षासे कहा जाता है, ब्रह्मत्वबुद्धिसे नहीं; क्योंकि 'पुरः पुरुष आविशत्' ( सब देहोंमें पुरुष प्रवेश कर गया ) इस प्रकार सबमें ब्रह्म ही अनुप्रविष्ट है, यह कह चुके हैं, इसलिए शरीरादि

**देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १० ॥**

फलकी प्राप्तिमें विघ्न करनेके लिए देवादि समर्थ हैं, यह शङ्का ही क्यों होती है ? कहते हैं—मनुष्य देवताओंके प्रति ऋणी हैं, क्योंकि 'ब्रह्मचर्यसे ऋषियोंके, यज्ञसे देवताओंके और प्रजासे पितरोंके', इस प्रकारके अर्थवाली श्रुति उत्पन्न होते ही पुरुषको ऋणी बतलाती है । एवं पशुदृष्टान्तसे और 'अथो अयं वा' इत्यादि लोकश्रुतिसे भी प्रतीत होता है कि अपनी जीविकाके पालनकी इच्छासे अधमर्णोंकी (ऋणियोंकी) तरह परतन्त्र मनुष्योंके प्रति अमृतत्वकी प्राप्तिमें देवता विघ्न करते हैं, अतः उक्त शङ्का न्याय्य ही है । अपने शरीरोंकी तरह देवता अपने पशुओंकी रक्षा करते हैं । देवताओंकी बड़ी भारी जीविका कर्मोंके अधीन है, इसे दिखलायँगे, क्योंकि एक एक पुरुष देवताओंके लिए अनेक पशुओंके सदृश है, इसलिए 'इनको यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य ज्ञानी हों' ऐसा श्रुति भी कहेगी । तथा 'जैसे अपने लोक ( शरीर ) का अविनाश चाहता है, वैसे ही 'मैं ऋषी हूँ' इस प्रकार जाननेवाले मनुष्यके अविनाशकी सब भूत इच्छा करते हैं' यह भी कहा जायगा । 'अप्रिय' और 'अरिष्टि' वचनसे यह जाना जाता है कि ब्रह्मविद्या होनेपर परतन्त्रताकी निवृत्ति हो जानेसे देवता उस मनुष्यको अपना लोक और पशु नहीं समझते हैं, यह अभिप्राय है । इसलिए ब्रह्मज्ञानीके ब्रह्मविद्याके फलकी प्राप्तिके प्रति देवताओंको विघ्न करेंगे ही, क्योंकि वे प्रभावशाली हैं।

यदि शङ्का हो कि ऐसा होनेपर अन्य कर्मोंके फलोंकी प्राप्तियोंमें भी देवताओंका विघ्न करना जलपानके सदृश होगा, इस परिस्थितिमें अभ्युदय और निःश्रेयसके साधनोंके अनुष्ठानोंमें सबको अविश्वास हो जायगा । तथा ईश्वर भी अचिन्त्यशक्ति होनेसे विघ्न करनेमें समर्थ है, तथा काल, कर्म, मन्त्र, औषधि, तपस्या—ये भी फलकी संपत्ति और विपत्तिके हेतु हैं, यह शास्त्रमें और लोकमें प्रसिद्ध है; इसलिए शास्त्रार्थके अनुष्ठानमें अविश्वास होगा, तो यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सब पदार्थोंके निमित्त और उपादान निश्चित

१—जैसे दधिकी उत्पत्तिके लिए नियमसे दुग्धका ग्रहण किया जाता है, वैसे ही प्राणियोंके सुखदुःखादिके तारतम्यका भी नियत निमित्त होना चाहिए । वह निमित्त कर्म ही हो सकता है, क्योंकि कर्मोंके बिना जगत्‌की विचित्रता नहीं हो सकती ।

हैं और जगत्की विचित्रता भी देखी जाती है। स्वभावपक्षमें इन दोनोंकी अनुपपत्ति है।

सुखदुःखादि फलका निमित्त कर्म है, यह पक्ष वेद, स्मृति, न्याय और लोकसे परिगृहीत है; इसलिए देव, ईश्वर और काल कर्मफलको विपरीत नहीं कर सकते, क्योंकि कारक होनेसे कर्मोंको उनकी आकांक्षा है, कारण कि पुरुषोंके शुभ और अशुभ कर्म देव, काल और ईश्वर आदि कारकोंकी अपेक्षा किये बिना अपने स्वरूपका लाभ ही नहीं कर सकते। स्वरूपके प्राप्त होनेपर भी कर्म देव आदिके सिवा फलदानमें स्वयं असमर्थ है, क्योंकि क्रियाका यह स्वभाव है कि उसके निमित्त और उपादान कारक आदि अनेक होते हैं; इसलिए देव, ईश्वर आदि क्रियाके अनुकूल ही हैं; इससे फलप्राप्तिके प्रति कर्मोंमें अविश्वास नहीं हो सकता। ये देवता भी कहीं कर्मोंके वशमें रहनेवाले हैं, कर्मोंकी सामर्थ्यका नाश नहीं किया जा सकता। कर्म, काल, दैव और द्रव्यादिके स्वभावका गुणप्रधानभाव तो अनियत है और दुर्विज्ञेय है, इसलिए लोगोंको उससे मोह हो गया है। कोई कहते हैं—फलकी प्राप्तिमें कर्म ही कारक है, दूसरा नहीं है, कोई कहते हैं—दैव ही कारक है, कोई कहते हैं—काल कारक है, कोई कहते हैं—द्रव्यादिका स्वभाव कारक है, अन्य कहते हैं—ये सब मिलकर कारण हैं। उनमें से कर्मकी प्रधानताका अङ्गीकार करके 'पुण्य कर्मसे पुण्य होता है और पाप कर्मसे पाप' इत्यादि वेद और स्मृतिवाद प्रवृत्त हैं। यद्यपि इन सबमें से अपने-अपने विषयमें किसीकी प्रधानता है और अन्योंमें प्रधानताशक्तिका प्रतिरोध हो जाता है, तथापि फलकी प्राप्तिके प्रति कर्मका व्यभिचार नहीं है, क्योंकि कर्मकी प्रधानता शास्त्र और न्यायसे निर्धारित है।

नहीं, क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति ही ब्रह्मप्राप्तिका फल है। जो यह कहा था कि ब्रह्मप्राप्तिरूप फलके प्रति देवता विघ्न कर सकते हैं, सो ठीक

१-वेदादिसे-'कर्म है व' इत्यादि श्रुति, 'कर्मणा बद्ध्यते जन्तुः' यह स्मृति तथा जगत्की वैचित्र्यानुपपत्तिन्याय समझना चाहिए।

२—देवता लोग जहाँ किसीके कर्मके फलदानमें विघ्न करते हैं, वहाँ उसके किसी विपरीत कर्मकी अपेक्षा करके ही करते हैं, अन्यथा अन्यथाकरणमें अतिप्रसङ्ग होगा।

३—विघ्नरूप कार्य दुःखको उत्पन्न करता है और पापके बिना दुःख होता नहीं, क्योंकि पापसे ही दुःख होता है, यह शास्त्रसे ज्ञात है; इसलिए जीवोंके अदृष्टके वशमें होकर ही देवादि विघ्नके कारण होते हैं, यह भाव है।

नहीं है, क्योंकि विघ्न करनेमें देवताओंकी सामर्थ्य ही नहीं है, क्योंकि विद्या और ब्रह्मप्राप्तिरूप फलमें कालका व्यवधान नहीं है। किस प्रकार? जैसे लोकमें द्रष्टाके चक्षुका प्रकाशके साथ संयोग जिस कालमें होता है, उसी कालमें रूपकी अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही आत्मविषयक विज्ञान जिस कालमें होता है, उसी कालमें आत्मविषयक अज्ञानका तिरोभाव हो जाता है।

इसलिए ब्रह्मविद्याके होनेपर, दीपकके होनेसे अन्धकारके कार्यकी निवृत्तिकी तरह, अविद्याके कार्यकी अनुपपत्ति होती है, इस परिस्थितिमें देवता किससे किसको विघ्न करेंगे? जिस अवस्थामें ब्रह्मवित् देवताओंका आत्मा ही हो गया है। यही कहा जाता है—सब शास्त्रोंसे ध्यान करनेके योग्य और ज्ञानके योग्य ब्रह्म है, ब्रह्मज्ञानी उन देवोंका आत्मा—स्वरूप—हो गया है। ब्रह्मविद्याके समकाल ही अविद्यामात्र व्यवधानकी निवृत्ति होती है; जैसे शुक्तिकात्वके ज्ञानसे शुक्तिके रजताभासकी निवृत्ति होती है; इसलिए आत्माके विरोधमें देवताओंके प्रयत्नका होना सम्भव नहीं है। जिसका देश, काल आदि निमित्तके व्यवधानसे युक्त अनात्मभूत फल होता है, उस अनात्म विषयमें देवताओंका विघ्नाचरणके लिए प्रयत्न सफल होता है। यहां तो विद्याकालमें ही ब्रह्मविद आत्मा हो गया है, उसमें देश, काल आदि निमित्तका व्यवधान ही नहीं है, अतः देवताओंको विघ्न करनेका अवसर ही नहीं मिलता।

तब तो विद्यारूप प्रत्ययकी धारा हो नहीं सकती; क्योंकि मध्य-मध्यमें विपरीत प्रत्यय और उनके कार्य देखे जाते हैं; इसलिए अन्तकालका ही आत्मप्रत्यय ( आत्मज्ञान ) अविद्याका निवर्तक है, पहला नहीं, यह मानना होगा? नहीं, प्रथम प्रत्ययके साथ व्यभिचार आता है—यदि आत्मविषयक प्रथम प्रत्यय अविद्याको निवृत्त नहीं कर सकता, तो अन्त्य प्रत्यय भी नहीं करेगा; क्योंकि न्याय तुल्य है। यदि कहो कि संतत प्रत्यय (प्रत्ययोंका धाराप्रवाह) अविद्याका निवर्तक है,

१—आत्माको ब्रह्मत्वप्राप्तिरूप जो मुक्ति होती है, वह अज्ञानकी निवृत्तिमात्र है। वह ज्ञानकालमें ही हो जाती है; इसलिए देवताओंको विघ्न करनेके लिए समय ही नहीं मिलता।

२—जैसे 'इदं रजतम्' इस प्रकार रजताकार हुई शुक्तिके शुक्तिरूप होनेमें अविद्यामात्र व्यवधान है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानीके सर्वात्मभावमें भी अविद्यामात्र ही व्यवधान है। विद्याका उदय होनेपर उसकी निवृत्ति अवश्यम्भाविनी है, इसलिए विद्या और अविद्याकी निवृत्ति एक ही कालमें हो जाती है।

विच्छिन्न नहीं, तो यह नहीं कह सकते; जीवन आदिके होनेपर प्रत्ययधारा हो नहीं सकती; क्योंकि जीवनादिके कारणभूत प्रत्ययके सद्भावमें विद्याप्रत्ययकी संतति हो नहीं सकती, क्योंकि विरोध है। जीवनादि प्रत्ययोंका तिरस्कार करके मरणपर्यन्त विद्या-सन्तति करनी चाहिए, यह भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि प्रत्ययोंकी इयत्ताके ( संतानके परिमाणके ) अनवधारणसे शास्त्रार्थमें भी अनवधारणका दोष आता है अर्थात् इतने प्रत्ययोंकी संतति अविद्याकी निवर्तक है, यह अवधारण न होनेसे शास्त्रार्थ ही अनिश्चित हो जायगा, जो कि अनिष्ट है।

संततिमात्रत्व तो निश्चित ही है, यह भी नहीं कहना चाहिए; क्योंकि आदि और अन्तमें विशेष नहीं है—पहली विद्याप्रत्ययसंतति अविद्याकी निवर्तक है, अथवा अन्त्या ( मरणकालकी )? इसमें कुछ विशेष न होनेसे आदि और अन्त्य प्रत्ययोंमें पूर्वोक्त दोषोंका प्रसङ्ग होगा। विद्या अविद्याकी निवर्तक नहीं है, यह भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि 'ब्रह्मविद्यासे सर्वभावको प्राप्त हुआ था' इत्यर्थक श्रुति है और 'हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है', 'विद्याकालमें मोह नहीं होता' इत्यर्थक भी श्रुतियाँ हैं। उक्त श्रुतियाँ अर्थवाद हैं, यह भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सब शाखाओंकी उपनिषदोंमें अर्थ-वादत्वका प्रसङ्ग होगा। सब शाखाओंकी उपनिषद् एतावन्मात्र अर्थमें समाप्त हैं। प्रत्यक्षसे ज्ञात आत्माको उपनिषदें विषय करती हैं; इसलिए अर्थवाद है, यह भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इसका परिहार कर चुके हैं—अविद्या, शोक, मोह, भय आदि दोषोंकी निवृत्ति प्रत्यक्ष है, इत्यादि परिहार कर चुके हैं। इसलिए प्रथम या अन्त्य, संतत या असंतत इत्यादि प्रश्न नहीं हो सकते; क्योंकि विद्याका फल अविद्यादि दोषोंकी निवृत्ति ही है अर्थात्

१—'मैं बुभुक्षित हूं, भोजन करना चाहता हूं', इत्यादि प्रत्यय ( वृत्तियाँ ) जीवनादिके हेतु हैं। उन वृत्तियोंके होते हुए 'ब्रह्मास्मि' इस प्रत्ययका विच्छेद हो जाता है, इसलिए संतति नहीं हो सकती।

२—ज्ञानसंतति अज्ञानको निवृत्त करती है, इस अर्थका अवधारण नहीं होगा।

३—'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यर्थक श्रुतिसे आत्मज्ञानकी संततिमात्रका सद्भाव होनेसे उसीसे विद्या द्वारा अविद्याकी निवृत्ति होती है, यह शङ्का करनेवालेका तात्पर्य है।

४—अहंबुद्धिसे ज्ञात जो प्रत्यगात्मा है, उसीमें उपनिषदोंकी प्रवृत्ति होती है; इसलिए ज्ञातज्ञापक होनेसे उपनिषदें अनुवाद हैं, प्रमाण नहीं हैं, यह शङ्का करनेवालेका तात्पर्य है।

[illegible]—बुद्धिका विषय प्रमाता है, साक्षी नहीं है, उसी साक्षीको वेदान्त ब्रह्म कहते हैं; [illegible]ज्ञातज्ञापक होनेसे प्रमाण हैं।

जो अविद्यादि दोषकी निवृत्तिरूप फलको उत्पन्न करता है, वही प्रत्यय, आद्य हो या अन्त्य हो, संतत हो अथवा असंतत हो, विद्या है, ऐसा अङ्गीकार करनेसे चोद्यके अवतारका गन्ध भी नहीं है। जो यह कहा था कि विपरीत प्रत्यय और उनके कार्य विद्वान्में भी देखे जाते हैं, वह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसका शेष[1] देहकी स्थितिका हेतु है—जिस कर्मसे शरीरका आरम्भ हुआ है, वह कर्म विपरीत प्रत्ययों और दोषोंका निमित्त है; क्योंकि तथाभूत ( विपरीत प्रत्यय और दोषोंसे संयुक्त ) उसी कर्ममें फलदानकी सामर्थ्य है; इसलिए जबतक शरीरपात नहीं होता तबतक फलोपभोगका अङ्ग होनेसे विपरीत प्रत्ययोंको और तावन्मात्र रागादिदोषोंको उत्पन्न करेगा ही, क्योंकि धनुषसे मुक्त बाणकी तरह उनका हेतुभूत कर्म अपने फलको प्रवृत्त कर चुका है; इसलिए विद्या उस प्रारब्ध कर्मकी निवर्तक नहीं है; क्योंकि विरोध[2] नहीं है, किन्तु विद्याका ही आश्रयण[3] करके जो विद्याविरोधी कार्य उत्पन्न होनेवाला है, उसका विद्या विरोध करती है, क्योंकि वह अनागत है ( अभी आया नहीं है )। दूसरा प्रारब्धकर्म तो अतीत हो चुका है।

किंच, विद्वान्को विपरीत प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय नहीं है—विषयके[4] विशेषस्वरूपके अज्ञानका और उसके सामान्य ज्ञानका आश्रयण करके ही विपरीत प्रत्यय उत्पन्न होता है जैसे शुक्तिकामें रजतप्रत्यय। और उस विपरीत प्रत्ययके विषयके विशेषरूपका जिसको ज्ञान है ऐसे पुरुषमें सकल[5] विपरीत प्रत्ययाश्रयोंके उपमर्दित होनेसे, पूर्ववत् भ्रान्ति आदिका संभव नहीं है, क्योंकि शुक्तिकामें सम्यक् ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर फिर विपरीत रजत प्रत्यय नहीं

---

१—प्रारब्धकर्मशेष विद्वान्की देहकी स्थितिका हेतु है, इसलिए विद्वान्को भी जब तक प्रारब्धका क्षय नहीं होता, तबतक राग, आभास आदि हो सकते हैं। प्रारब्धका नाश होनेपर न देहका आभास होता है, न जगत्का आभास।

२—अविद्यालेशके साथ वर्तमान प्रारब्धकर्मको विद्या निवृत्त नहीं करती; क्योंकि उसके साथ विद्याका विरोध नहीं है।

३—ज्ञानका विरोधी अज्ञानका कार्य जो कि ज्ञानके आश्रय प्रमातामें आश्रित अज्ञानके द्वारा फलरूपसे जन्मके अभिमुख अनारब्ध कर्म है, उसीका विद्या विरोध करती है।

४—विद्वान्को विपरीत प्रत्ययका प्रतिभास होनेपर भी पूर्ववत् उसकी सत्ताका निश्चय नहीं होता।

५—यहाँपर सप्तमीका अर्थ परोक्षज्ञानका आधार ( परोक्षज्ञानी ) है। और 'विद्यायाः' यह पञ्चमी अपरोक्षज्ञानार्थक है।

देखा जाता है। किसीमें तो विद्याके होनेपर भी पूर्व उत्पन्न विपरीत प्रत्ययोंके संस्कारोंसे उत्पन्न होती हुई विपरीत प्रत्ययाभास-स्मृति अकस्मात् विपरीत प्रत्ययरूप भ्रान्तिको उत्पन्न करती है—जैसे दिग्विभागके ज्ञानीको भी अकस्मात् दिग्विपर्यय-भ्रम होता है।

यदि सम्यग्ज्ञानीको भी पूर्ववत् विपरीत प्रत्यय उत्पन्न हो, तो सम्यग्ज्ञानमें भी अविश्वास हो जानेसे शास्त्रार्थके ज्ञानमें असंदिग्ध प्रवृत्ति न हो सकेगी और सभी प्रमाण अप्रमाण हो जायँगे; क्योंकि प्रमाण और अप्रमाणमें कोई विशेष रहा नहीं। इससे सम्यग्ज्ञानके अनन्तर ही शरीरपात क्यों नहीं हुआ? इसका भी परिहार हो गया। ज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले जो जन्मातरसंचित कर्म हैं और ज्ञानके अनन्तर कालमें उत्पन्न होनेवाले जो आगामी कर्म हैं, जो फल देनेमें प्रवृत्त नहीं हुए हैं, उनका विनाश फलप्राप्तिमें विघ्ननिषेध श्रुतिसे सिद्ध होता है। और 'इसके कर्म नष्ट हो जाते हैं', 'उसको उतना ही विलम्ब है', 'सब पाप नष्ट हो जाते हैं', 'उसको जान कर पापकर्मसे लिप्त नहीं होता', 'इसीको वे चिन्ताएँ प्राप्त नहीं होती हैं' 'कृत और अकृत अर्थात् पुण्य-पाप इसको नहीं तपाते हैं' 'उसको किसीसे भय नहीं होता है' इत्यादि श्रुतियाँ और 'ज्ञानाग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देती है' इत्यादि स्मृतियाँ भी उक्तार्थमें प्रमाण हैं।

जो यह कहते हैं कि ऋणोंसे प्रतिबन्ध होता है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि ऋण अविद्याके विषयमें हैं—अविद्यावान् ही ऋणी होते हैं; क्योंकि कर्तृत्व आदि उन्हींमें उपपन्न हो सकता है। 'जिस अविद्यावस्थामें अन्यकी प्रतीति होती है, उसी अवस्थामें अन्य अन्यको देख सकता है' यह कहेंगे। सत्‌रूप आत्म-वस्तु अनन्य ( अद्वितीय ) है, जहां अविद्याके होनेपर अन्यकी तरह ( अन्धकारकृत द्वितीय चन्द्रकी तरह ) प्रतीत होता है, वहांपर अविद्याकृत अनेक कारकोंकी अपेक्षावाले दर्शनादि कर्मको और तज्जन्य फलको अविद्या दिखलाती है। यह विषय 'अन्योऽन्यत्पश्येत्' इस वाक्यसे कहा गया है। जिस अवस्थामें फिर विद्याके होनेपर अविद्याकृत अनेकत्व-भ्रमका नाश हो जाता है, उस अवस्थामें 'तत्केन कं पश्येत्' यह श्रुति कर्मका असंभव दिखलाती है। इसलिए अविद्यावान् ही ऋणी है, क्योंकि उसमें कर्मोंका सम्भव है। इतर ( ज्ञानी ) ऋणी नहीं हैं। इस विषयको उत्तर ग्रन्थमें व्याचिख्यासिष्यमाण ( जिनकी व्याख्या करेंगे ) वाक्योंसे ही विस्तारपूर्वक दिखलायेंगे।

जैसे पहले यहीं—जो कोई अब्रह्मवित् आत्मासे भिन्न किसी अन्य देवताकी उपासना करता है याने स्तुति, नमस्कार, याग, बलि, उपहार, प्रणिधान, ध्यान आदिसे उसके गुणभावको प्राप्त होकर स्थित होता है अर्थात् वह अन्य है, अनात्मा है, मुझसे पृथक् है, मैं अधिकारी उससे अन्य हूँ, ऋणीकी तरह मुझे उसका प्रतीकार करना चाहिए, ऐसा निश्चय करके जो उपासना करता है, वह इत्थंप्रत्यय ( ऐसा जाननेवाला ) तत्त्वको नहीं जानता है। न केवल ऐसा अज्ञानी अविद्यादोषवान् ही है, किन्तु जैसे गाय आदि पशु वाहन, दोहन आदि उपकारोंसे भोगा जाता है, वैसे ही वह अज्ञानी यज्ञादि अनेक उपकारोंसे प्रत्येक देवताका भोग्य होनेसे देवताओंका पशु ही है। इस प्रकार पशुकी तरह वह सब कर्मोंमें अधिकारी है, यह अर्थ है। इसी वर्णाश्रमादि विभागवाले अज्ञानी अधिकारीको विद्यासहित कर्मका अथवा केवल शास्त्रोक्त कर्मका फल मनुष्यत्वसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त उत्कर्ष है। शास्त्रोक्त विपरीत स्वाभाविक कर्मका फल तो मनुष्यत्वसे लेकर स्थावरपर्यन्त अपकर्ष है। यह विषय जैसा है, उसको वैसा ही 'त्रयो वाव लोका' इत्यादिसे अवशिष्ट सारे अध्यायसे कहेंगे। ब्रह्मविद्याका कार्य तो सर्वात्मभावापत्ति है, यह संक्षेपसे दिखला दिया गया है। क्योंकि यह सारी उपनिषद् विद्याके विभागके प्रदर्शनसे ही समाप्त होती है। कृत्स्न शास्त्रका यह अर्थ है, यह हम प्रदर्शन करेंगे।

चूँकि ऐसा है; इसलिए अविद्यावान् पुरुषके प्रति देवता विघ्न करने और अनुग्रह करनेमें समर्थ ही हैं, यह दिखलाते हैं—जैसे लोकमें बहुतसे गाय, अश्व आदि पशु स्वामी ( अपने अधिष्ठता ) मनुष्यकी पालना करते हैं वैसे ही बहुपशुस्थानीय ( बहुतसे पशुओंका काम देनेवाला ) प्रत्येक अज्ञानी पुरुष देवोंकी ( देवशब्द पित्रादिकोंका उपलक्षण है ) पालना करता है। यह इन्द्रादि देवता मुझसे भिन्न हैं, मेरे ईश्वर हैं, मैं भृत्यकी तरह स्तुति, नमस्कार, इज्या आदिसे इनकी आराधना करके अभ्युदय और निःश्रेयस ( इनके दिये हुए फल ) प्राप्त करूँगा, ऐसी अज्ञानीकी अभिसन्धि (इच्छा) होती है। जैसे लोकमें बहुत पशुओंवाले पुरुषके एक भी पशुका

१—अपनेको उसका उपासक समझता है।

व्याघ्रादिक अपहरण कर लें, तो महा अप्रिय होता है, वैसे ही बहुपशु स्थानीय एक भी पुरुष पशुभावसे निकल जाय, तो देवताओंको अप्रिय हो, इसमें आश्चर्य नहीं है—जैसे कुटुम्बीके सब पशुओंके अपहरण होनेपर अप्रिय होता है, वैसा ही यह है।

इसलिए देवताओंको यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य इस ब्रह्मतत्त्वको जान ले। अनुगीताओंमें भगवान् व्यासकी वैसी ही स्मृति है—'हे कौन्तेय! कर्मी लोगोंसे देवलोक भरा हुआ है'। देवताओंको यह अभीष्ट नहीं है कि मनुष्य उनके ऊपर हो जाय'। इसलिए जैसे मनुष्य लोग व्याघ्रादिसे पशुओंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही देवता ब्रह्मविज्ञानसे मनुष्योंकी रक्षा करते हैं अर्थात् हमारी उपभोग्यता (सेवा) से ये निकल न जायँ, ऐसा सोचकर देव ब्रह्मज्ञानमें मनुष्योंको विघ्न करते हैं, जिसकी मुक्ति चाहते हैं, उसको श्रद्धादिसे युक्त कर देते हैं। विपरीतको अश्रद्धादिसे युक्त कर देते हैं। इसलिए मुमुक्षु पुरुष श्रद्धाभक्तिपूर्वक देवताओंका आराधन करता हुआ[1] विद्याकी प्राप्तिके प्रति विद्याके प्रति अप्रमादी (प्रमाद-रहित) हो जाय, यह 'देवाप्रिय' वाक्यने काकुसे[2] दिखलाया है। 'आत्मेत्येवोपासीत' यह शास्त्रार्थका सूत्र हो गया। और व्याचिख्यासित ( जिसकी व्याख्या करनी अभीष्ट है ) उस सूत्रके सम्बन्ध और प्रयोजन अर्थवादसहित 'तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया' इत्यादि शास्त्रसे कहे गए।

और अविद्या संसारमें अधिकारकी कारण है, यह 'अथ योऽन्यां देवता-मुपास्ते' इत्यादि शास्त्रसे कहा गया। उसमें अज्ञानी ऋणी कर्मकर्तव्यतासे पशुओं-की तरह परतन्त्र हैं, यह भी कहा। देवताओंके कर्मकर्तव्यत्वमें निमित्त क्या है? वर्ण और आश्रम हैं—उनमें से वर्ण कौन हैं; इसलिए यह आरम्भ किया जाता है—जिस निमित्तसे सम्बद्ध हुए कर्मोंमें यह अधिकारी जीव परतन्त्र है, इसी अर्थको दिखलानेके लिए अग्निकी सृष्टिके अनन्तर इन्द्रादिकी सृष्टि नहीं कही। अग्निकी तो सृष्टि प्रजापतिकी सृष्टिकी परिपूर्तिके लिए दिखलाई गई है। इन्द्रादिकी सृष्टि भी वहीं देखनी चाहिए। यहां तो अज्ञानीको कर्माधिकारमें हेतु दिखलानेके लिए वही कहा जाता है।

---

१—श्रवणादिका अनुष्ठान करता हुआ वर्णों और आश्रमोंके आचारमें तत्पर रहे।

२—भयादिनिमित्तसे ध्वनिके विकारको काकु कहते हैं। कहा भी है—'काकुःस्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः' इति। काण्वश्रुतिका काकु ( स्वरकम्प ) से भयका उपलक्षण करके देवताओंके भजनमें तात्पर्य है, यह कल्पना की जा सकती है।

सूत्रार्थज्ञमनुष्याणां मतिं विज्ञाय केचन ।
मुमुक्षवो गुरुं प्राप्य चोदयन्त्यतिसम्भ्रमात् ॥ ८७२ ॥
यद्ब्रह्मविद्यया सर्वभावाप्तिं मन्वते नराः ।
तद् ब्रह्म किं विदित्वाऽभूत् सर्वमित्येतदीर्यताम् ॥ ८७३ ॥
एवं मुमुक्षुभिश्चोद्ये कृते करुणया गुरुः ।
अनायासेन तच्चोद्यं परिहर्तुं वचोऽब्रवीत् ॥ ८७४ ॥
ब्रह्मैव बोधात् प्राग्जीवो भूत्वाऽऽत्मानमवेत् पुनः ।
अहं ब्रह्मेति तद्बोधात् सर्वात्मकमभूत्तदा ॥ ८७५ ॥
न्यायेनैते विचार्येते शिष्यचोद्यगुरूत्तरे ।
तद्विचारेण सूत्रार्थो व्याख्यातो विशदीभवेत् ॥ ८७६ ॥
अव्यावृत्ताननुगतं वस्तु ब्रह्मगिरोच्यते ।
मुख्यो बृहतिधात्वर्थ एवं सत्युपपद्यते ॥ ८७७ ॥

---

'सूत्रार्थज्ञ०' इत्यादि । सूत्रार्थके जाननेवाले मनुष्योंके मतको जानकर कई मुमुक्षु पुरुष गुरुके पास जाकर आश्चर्यसे प्रश्न करते हैं ॥ ८७२ ॥

'यद्ब्रह्म०' इत्यादि । ब्रह्मविद्यासे सर्वभावकी प्राप्ति होती है, ऐसा जो मनुष्य मानते हैं, वह अयुक्त है, क्योंकि ब्रह्म किसको जानकर सब हुआ था, कृपया यह बतलाइये ॥ ८७३ ॥

'एवम्' इत्यादि । इस प्रकार मुमुक्षुओंके प्रश्न करनेपर गुरुने कृपासे आयासके बिना उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर देनेके लिए वचन कहा ॥ ८७४ ॥

'ब्रह्मैव' इत्यादि । बोधसे पहले भी यह जीव ब्रह्म ही था । 'मैं ब्रह्म हूँ', इस प्रकार उस आत्माने जब आत्माको जाना, तब वह उस ज्ञानसे सर्वात्मक हो गया ॥ ८७५ ॥

'न्यायेनैते' इत्यादि । इस शिष्यके प्रश्न और गुरुके उत्तरका न्यायसे विचार किया जाता है । और उस विचारसे सूत्रार्थ भी व्याख्यात होकर स्पष्ट हो जायगा ॥ ८७६ ॥

'अव्यावृत्ता०' इत्यादि । न किसीसे व्यावृत्त और न किसीमें अनुगत होनेवाली वस्तु ही ब्रह्मशब्दका अर्थ है । ऐसी दशामें बृहतिधातुका मुख्य अर्थ ( सबसे बड़ापन ) उपपन्न हो जाता है ॥ ८७७ ॥

मनुष्यमात्रो विद्यायामधिकारी भवेद् ध्रुवम् ।
यतोऽतः सर्वभावाप्तिं मनुष्या इत्युदीरितम् ॥ ८८४ ॥
कर्मभ्य इव विज्ञानात् फलप्राप्तिं सुनिश्चिताम् ।
मन्यन्त उभयत्राऽपि श्रुतिमानाविशेषतः ॥ ८८५ ॥
मनुष्यवेद्यं यद् ब्रह्म तदकृत्स्नं मतं यदि ।
बृहत्यर्थविहीनत्वादमुख्यार्थः प्रसज्यते ॥ ८८६ ॥
मुख्यं ब्रह्मैव चेन्न स्याद्गौणं ब्रह्माऽप्यसम्भवि ।
गौणस्य मुख्यपूर्वत्वान्निरर्था ब्रह्मगीर्भवेत् ॥ ८८७ ॥
अथ कृत्स्नं ब्रह्म तर्हि स्वतो वा परतोऽथवा ।
तत्कृत्स्नत्वं स्वतस्त्वे तु ब्रह्मविद्या निरर्थिका ॥ ८८८ ॥
परतोऽपि च कृत्स्नत्वे ब्रह्मत्वं दुःस्थसिद्धिकम् ।
क्रियातो ज्ञानतो वा तद्यदि वोभयसंश्रयात् ॥ ८८९ ॥

---

'मनुष्य०' इत्यादि । मनुष्यमात्र विद्याका अधिकारी है, इसीलिए श्रुतिने मनुष्य सर्वभावको प्राप्त होते हैं, ऐसा कहा है ॥ ८८४ ॥

'कर्मभ्यः' इत्यादि । जैसे कर्मोंसे निश्चित फल होता है, वैसे ही ज्ञानसे सर्वभावकी प्राप्तिरूप फल भी निश्चित होता है, ऐसा मानते हैं, क्योंकि दोनोंमें श्रुतिरूप प्रमाण तुल्य है ॥ ८८५ ॥

'मनुष्यवेद्यम्' इत्यादि । मनुष्योंसे वेद्य जो ब्रह्म है, वह यदि अकृत्स्न हो, तो उसमें 'बृहति' धातुका अर्थ न होनेसे वह अमुख्यार्थ हो जायगा ॥ ८८६ ॥

'मुख्यम्' इत्यादि । मुख्य ब्रह्म यदि न हो, तो गौण ब्रह्म भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि मुख्यके होनेपर ही गौण हुआ करता है, उस दशामें ब्रह्मशब्द ही निरर्थक हो जायगा ॥ ८८७ ॥

'अथ' इत्यादि । यदि ब्रह्म कृत्स्न है, तो प्रश्न होगा कि वह ब्रह्म स्वतः ( निमित्तके बिना ) कृत्स्न है अथवा परतः ( किसी निमित्तसे ) ? यदि स्वतः कृत्स्न है, तो ब्रह्मविद्या व्यर्थ हो जायगी ॥ ८८८ ॥

'परतोऽपि' इत्यादि । यदि परतः कृत्स्न है, तो ब्रह्मत्व ही सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि प्रश्न होगा कि क्या वह कृत्स्नत्व क्रियासे होता है अथवा ज्ञानसे या क्रिया और ज्ञान दोनोंसे ? ॥ ८८९ ॥

न क्रियातो ब्रह्मता स्यादुत्पत्त्यादिप्रसङ्गतः ।
नाऽऽद्यन्तौ ब्रह्मणो युक्तावपूर्वाजादिशास्त्रतः ॥ ८९० ॥
परस्परविरोधेन ज्ञानकर्मसमुच्चयः ।
पुरैव दूषितः पश्चादप्यसौ दूषयिष्यते ॥ ८९१ ॥
अथ ज्ञानात् कृत्स्नता स्यात्तदा ज्ञेयं तु कीदृशम् ।
किं स्वस्वरूपमन्यद्वा, स्वरूपत्वं विरुध्यते ॥ ७९२ ॥
स्वयं ज्ञाता स्वयं ज्ञेयमित्येकस्मिन्कथं भवेत् ।
नहि स्वस्कन्धमारोढुं निपुणोऽपीह शक्नुयात् ॥ ८९३ ॥
ब्रह्मणो ज्ञेयमन्यच्चेत्तर्हि किं ब्रह्मान्तरं भवेत् ।
अब्रह्म वाऽग्रिमे कल्पे ह्यनवस्था प्रसज्यते ॥ ८९४ ॥
द्वितीये ब्रह्मणः कात्स्न्र्यं भवेदब्रह्मविद्यया ।
तथा सत्यस्मदादेश्च ब्रह्मविद्या निरर्थिका ॥ ८९५ ॥

'न क्रियातो' इत्यादि । क्रियासे तो ब्रह्मता नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा माननेसे उत्पत्ति और नाशका प्रसङ्ग होगा । 'अपूर्व, अज' आदि शास्त्रसे ब्रह्मकी उत्पत्ति और नाश अयुक्त हैं ॥ ८९० ॥

'परस्परविरोधेन' इत्यादि । यद्यपि ज्ञान और कर्मके समुच्चयको परस्परके विरोधसे पहले ही दूषित कर चुके हैं, तथापि उसमें आगे जाकर और दूषण कहेंगे ॥ ८९१ ॥

'अथ' इत्यादि । यदि ज्ञानसे कृत्स्नता है, तो ज्ञेय कैसा है ? यह कहना होगा। क्या स्वस्वरूप ही ज्ञेय है या अन्य कोई ज्ञेय है ? स्वरूपको ज्ञेय मानना तो विरुद्ध है ॥ ८९२ ॥

'स्वयम्' इत्यादि । आप ही ज्ञाता और आप ही ज्ञेय यों एक वस्तु दो प्रकारकी कैसे हो सकती है ? क्योंकि निपुण पुरुष भी अपने स्कन्धपर स्वयं आरोहण करनेमें समर्थ नहीं है ॥ ८९३ ॥

'ब्रह्मणो' इत्यादि । यदि ब्रह्मका ज्ञेय अन्य हो, तो वह अन्य ब्रह्म ही है अथवा अब्रह्म है ? प्रथम पक्षमें द्वितीय ब्रह्मका ज्ञेय तृतीय ब्रह्म होगा उसका चतुर्थ, इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होगी ॥ ८९४ ॥

'द्वितीये' इत्यादि । ब्रह्मका ज्ञेय अब्रह्म है, इस द्वितीय पक्षमें ब्रह्मको कृत्स्नभाव अब्रह्मविद्यासे होगा, ऐसी दशामें हम लोगोंकी ब्रह्मविद्या व्यर्थ हो जायगी ॥८९५॥

इत्यादिखण्डनैरेव चोदयन्ति मुमुक्षवः ।
एतावता च विद्याया आक्षिप्ते कर्तृकर्मणी ॥ ८९६ ॥
कृत्स्नाकृत्स्नविकल्पाभ्यां विद्यायाः कर्म दूषितम् ।
स्वरूपान्यविकल्पाभ्यां विद्याकर्त्ताऽपि दूषितः ॥ ८९७ ॥
श्रुतौ किंशब्दमावर्त्य चोद्यद्वयमुदीरयेत् ।
किं तद्ब्रह्मेत्येवमेकं किमवेदिति चाऽपरम् ॥ ८९८ ॥
शिष्यचोद्यस्य तात्पर्यमेवं तावद्व्यवस्थितम् ।
गुरूत्तरस्य तात्पर्यं यथावत् प्रतिपाद्यते ॥ ८९९ ॥
यो गुरूत्तरवाक्यादौ ब्रह्मशब्दोऽस्त्यनेन कः ।
उक्तोऽर्थः किं विराट् किं वा मर्त्यो वा परमेश्वरः ॥ ९०० ॥
विराट् स्यात्स परब्रह्मविद्याकर्त्रेति युज्यते ।
यतोऽपरब्रह्मविद्याफलं सर्वमवाप्तवान् ॥ ९०१ ॥
मैवं न परविद्यार्थं शास्त्राद्यधिकृतिर्भवेत् ।
विराजः किं त्वनायासात्परविद्योदिता सतः ॥ ९०२ ॥

---

'इत्यादि०' इत्यादि । इत्यादि खण्डनोंसे मुमुक्षु लोग तर्क करते हैं, इससे विद्याके कर्त्ता और कर्म दोनोंका निषेध होता है ॥ ८९६ ॥

'कृत्स्ना०' इत्यादि । कृत्स्न और अकृत्स्नके विकल्पसे विद्याका कर्म दूषित हो गया, स्वरूप और अन्यके विकल्पसे विद्याका कर्ता भी दूषित हो गया ॥ ८९७ ॥

'श्रुतौ' इत्यादि । श्रुतिमें किंशब्दकी आवृत्ति करके दो प्रश्न समझने चाहिएँ— वह ब्रह्म क्या है ? यह एक और उसने किसको जाना, यह दूसरा ॥ ८९८ ॥

'शिष्यचोद्यस्य' इत्यादि । शिष्यके तर्कका तात्पर्य इस प्रकार व्यवस्थित हो गया । अब गुरुके उत्तरके तात्पर्यका यथावत् प्रतिपादन करते हैं ॥८९९॥

'यो गुरूत्तर०' इत्यादि । गुरुके उत्तरवाक्यके आदिमें जो ब्रह्मशब्द है, उसका अर्थ विराट् है या मनुष्य है ? अथवा परमेश्वर है ? ॥ ९०० ॥

'विराट्' इत्यादि । विराट् ही होना चाहिए, क्योंकि वह अपर ब्रह्म विद्याके सम्पूर्ण फलको प्राप्त हो चुका है । इसलिए विराट् ही परब्रह्मविद्याका कर्ता है, यह युक्त है ॥ ९०१ ॥

'मैवम्' इत्यादि । ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्'

उपासीतेति सूत्रस्य व्याख्यानत्वाद्विचारणा ।
प्रस्तुताऽधिकृतिस्तत्र मनुष्यस्य भविष्यति ॥ ९०३ ॥
चोद्यवाक्ये मनुष्याणां विचाराधिकृतिः श्रुता ।
तस्मान्मर्त्यो ब्रह्मभावी ब्रह्मशब्देन भण्यते ॥ ९०४ ॥
भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य प्रयोगो दृश्यते यथा ।
ओदनं पचतेत्यादिस्तथेहाऽपि भविष्यति ॥ ९०५ ॥
इति व्याचक्षते केचित्तदप्यत्र न युज्यते ।
अब्रह्मत्वं स्वतः किं वा कल्पितं ब्रह्मभाविनः ॥ ९०६ ॥
स्वतस्त्वे विद्यया नैतन्निवर्त्तेत कदाचन ।
ब्रह्मत्वं चेत्तयोत्पाद्यं मुक्त्यनित्यत्वमापतेत् ॥ ९०७ ॥

यह विद्यासूत्रका विवरण है, उसमें 'उपासीत' इस शब्दसे विचारके अधिकारीको उपासना बतलाई गई है, इसलिए यहांपर उपासक ही विद्याधिकारी है, विराट्को तो आयासके बिना परविद्या प्राप्त हुई है ॥ ९०२ ॥

'उपासीत' इत्यादि । 'उपासीत' इस सूत्रके विवरणरूपसे विचार प्रस्तुत है, अतः उसमें मनुष्यका ही अधिकार होना चाहिए ॥ ९०३ ॥

'चोद्यवाक्ये' इत्यादि । प्रश्नवाक्यमें विचारका अधिकार मनुष्योंको सुना गया है, इसलिए ब्रह्मशब्दका अर्थ 'ब्रह्मभावी' ( ज्ञानसे ब्रह्म बननेवाला ) मनुष्य कहा जाता है ॥ ९०४ ॥

'भाविनीम्' इत्यादि । जैसे 'ओदनं पचत' ( भात पकाओ ) इत्यादिमें भाविनी वृत्तिका आश्रयण करके प्रयोग देखा जाता है, वैसे ही मनुष्यमें भी भाविनी वृत्तिका आश्रयण करके ब्रह्मशब्दका प्रयोग हो सकता है ॥ ९०५ ॥

'इति' इत्यादि । कोई ऐसी व्याख्या करते हैं, वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्मभावी मनुष्यका अब्रह्मत्व स्वतः सिद्ध है, अथवा कल्पित है ? ॥ ९०६ ॥

'स्वतस्त्वे' इत्यादि । यदि अब्रह्मत्व स्वतः सिद्ध है, तो विद्यासे अब्रह्मत्वकी निवृत्ति कभी न होगी । यदि विद्यासे ब्रह्मत्व उत्पन्न किया जाता है, तो मुक्ति अनित्य हो जायगी ॥ ९०७ ॥

अब्रह्मत्वं कल्पितं चेत्स्वतः स्याद्ब्रह्मता तदा ।
कल्पनैवं वृथैव स्याद्ब्रह्मभावीति या कृता ॥ ९०८ ॥
बोधात् पूर्वमपि ब्रह्म सर्वो जन्तुः स्वभावतः ।
अब्रह्मत्वमविद्योत्थं विद्यया तन्निवर्तते ॥ ९०९ ॥
अतः सन्त्यज्य मुख्यार्थं ब्रह्मभावीति कल्पने ।
श्रुतार्थहानिरत्र स्यादश्रुतार्थस्य कल्पना ॥ ९१० ॥
अनुत्पन्नाविनाश्येकभास्वद्विज्ञानमात्रके ।
ब्रह्मण्यतद्विधाऽविद्या न सम्भाव्येति चेन्न तत् ॥ ९११ ॥
अविद्याविषयत्वं किमसम्भाव्यमुताऽऽत्मनः ।
अविद्याकर्तृता तत्र नाऽऽद्यो विद्याविधानतः ॥ ९१२ ॥
अविद्यारहितत्वे तु ज्ञातं ब्रह्म सदा ततः ।
विद्याविधानं विज्ञाते पिष्टपेषणवद्भवेत् ॥ ९१३ ॥
न वेद्मीत्यनुभूतिश्च सर्वेषां स्वात्मसाक्षिका ।
कुम्भानुभूतिवत्तस्मान्नैवाऽविद्याऽपलप्यताम् ॥ ९१४ ॥

---

'अब्रह्मत्वम्' इत्यादि । यदि अब्रह्मत्व कल्पित है, तो ब्रह्मता स्वतःसिद्ध होगी, इसलिए ब्रह्मभावी मनुष्य, यह कल्पना ही व्यर्थ हो जायगी ॥ ९०८ ॥

'बोधात्' इत्यादि । सब जीव बोधसे पूर्व भी स्वभावसे ही ब्रह्म हैं; अब्रह्मत्व अविद्यासे उत्पन्न होता है और वह विद्यासे निवृत्त हो जाता है ॥९०९॥

'अतः' इत्यादि । इसलिए मुख्य अर्थका त्यागकर 'ब्रह्मभावी मनुष्य' इस कल्पनामें श्रुतार्थकी हानि और अश्रुत अर्थकी कल्पना करनी पड़ती है ॥ ९१० ॥

'अनुत्पन्ना०' इत्यादि । उत्पत्ति और नाशसे रहित, एक, प्रकाशमान, ज्ञानमात्ररूप ब्रह्ममें, सूर्यमें अन्धकारकी तरह, अविद्याका सम्भव नहीं है, यह कहना समीचीन नहीं है ॥ ९११ ॥

'अविद्या' इत्यादि । क्या आत्मामें अविद्याकी विषयताका ( अविद्याकी कर्मताका ) असम्भव है अथवा अविद्यामें आत्माकी कर्तृताका असम्भव है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्रने विद्याका विधान किया है ॥ ९१२ ॥

'अविद्या०' इत्यादि । क्योंकि अविद्यासे रहित होनेपर ब्रह्म सदा ही ज्ञात हो सकता है । ज्ञात ब्रह्ममें विद्याका विधान पिष्टपेषणके सदृश होगा ॥९१३॥

'न वेद्मी०' इत्यादि । जैसे सब पुरुषोंका घटानुभव आत्मसाक्षिक

द्वितीये ब्रह्मकर्तृत्वं वार्यते वाऽन्यकर्तृता ।
आपाद्यते चेष्टमेव ब्रह्मकर्तृत्ववारणम् ॥ ९१५ ॥
अकार्याया अविद्यायाः कर्त्रपेक्षा कुतो भवेत् ।
अन्यकर्तृत्वमप्यत्र तदन्यासम्भवान्नहि ॥ ९१६ ॥
नहि ब्रह्मातिरेकेण कश्चिच्चेतन इष्यते ।
नान्योऽतोऽस्तीति शास्त्रेण द्रष्ट्राद्यन्तरवारणात् ॥ ९१७ ॥
ननु शास्त्रोपदेशोऽयमेवं सत्यफलो भवेत् ।
नाऽसौ ब्रह्मणि साफल्यं नाऽप्यन्यस्मिन्समश्नुते ॥ ९१८ ॥
उपदेशानपेक्षं तद्ब्रह्मत्वं परमात्मनः ।
असम्भवात्तदन्यस्य ह्युपदेशोऽफलो भवेत् ॥ ९१९ ॥
ज्ञाते ब्रह्मण्युताऽज्ञाते शास्त्रवैफल्यमुच्यते ।
आद्य इष्टो द्वितीये तु बोधः शास्त्रात् फलिष्यति ॥ ९२० ॥

है, वैसे ही 'न वेद्मि' (मैं नहीं जानता हूँ) इस प्रकार अविद्याका अनुभव सबको आत्मसाक्षिक है, इसलिए अविद्याका अपलाप नहीं हो सकता ॥९१४॥

'द्वितीये' इत्यादि । द्वितीय पक्षमें ब्रह्मकर्तृत्वका निषेध करते हो या अन्यकर्तृत्वका, ब्रह्ममें कर्तृताका निषेध तो हमको भी इष्ट है ॥ ९१५ ॥

'अकार्याया' इत्यादि । अविद्या अनादि है, अतः वह किसीकी कार्य नहीं है, इसलिए उसको कर्ताकी अपेक्षा क्यों होगी ? अन्यकर्तृत्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मसे अन्यका सम्भव ही नहीं है ॥ ९१६ ॥

'नहि' इत्यादि । ब्रह्मसे भिन्न दूसरा कोई चेतन नहीं है, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुति ब्रह्मसे भिन्न द्रष्टा, श्रोता आदिका निषेध करती है ॥ ९१७ ॥

'ननु' इत्यादि । ऐसी दशामें शास्त्रका उपदेश निष्फल होगा; क्योंकि न तो ब्रह्ममें ही उपदेश सफल हो सकता है, न अन्यमें ही ॥ ९१८ ॥

'उपदेशा०' इत्यादि । परमात्मा ब्रह्म है, इसमें उपदेशकी अपेक्षा नहीं है, परमात्मासे अन्य चेतनका असम्भव है, इसलिए उपदेश निष्फल होगा ॥९१९॥

'ज्ञाते' इत्यादि । ब्रह्मका ज्ञान होनेपर उपदेशकी निष्फलता कहते हो

न च बोधस्य वैयर्थ्यं तेनाऽबोधनिवर्त्तनात् ।
तन्निवृत्तिस्तु दृष्टत्वान्नाऽद्वैतेऽपि विरुध्यते ॥ ९२१ ॥
न दृष्टेऽनुपपन्नत्वं शङ्काया अवसानतः ।
आशङ्क्यते तावदेव यावत् स्वानुभवो नहि ॥ ९२२ ॥
अबुद्धत्वं विबोधात् प्रागनुभूतं यथा तथा ।
बोधादूर्ध्वमबोधस्य निवृत्तिरनुभूयते ॥ ९२३ ॥
ननु जीवेशवाक्याभ्यां कर्त्रकर्त्रोर्विबोधनात् ।
तर्कशास्त्रप्रसिद्धेश्च स्याज्जीवो ब्रह्मणः पृथक् ॥ ९२४ ॥
दुःखापनयनार्थत्वाच्छास्त्रेऽधिक्रियते हि सः ।
तथा च ब्रह्मभावीति युक्तैवैषाऽत्र कल्पना ॥ ९२५ ॥
मैवं ब्रह्मोपदेशार्थशास्त्रानर्थक्यसक्तितः ।
संसारिविद्ययैवाऽस्य पुरुषार्थसमापनात् ॥ ९२६ ॥

---

या पहले अज्ञात दशामें ! प्रथम पक्ष तो हमको इष्ट है, द्वितीय पक्षमें बोध ही शास्त्रके उपदेशका फल होगा, इसलिए वह निष्फल नहीं है ॥ ९२० ॥

'न च' इत्यादि । बोध भी निष्फल नहीं है, क्योंकि उससे अबोधकी ( अविद्याकी ) निवृत्ति होती है और वह अबोधकी निवृत्ति इष्ट है, इसलिए अद्वैतमें भी विरोध नहीं है ॥ ९२१ ॥

'न दृष्टे' इत्यादि । जो पदार्थ दृष्ट होता है उसपर अनुपपत्तिका तर्क कभी नहीं चल सकता, क्योंकि दर्शनसे शङ्का निवृत्त हो जाती है । शङ्का तबतक हुआ करती है, जबतक अपना अनुभव न हो ॥ ९२२ ॥

'अबुद्धत्वम्' इत्यादि । जैसे बोधसे पहले अज्ञानका अनुभव होता है, वैसे ही बोधके अनन्तर अज्ञानकी निवृत्तिका भी अनुभव होता है ॥ ९२३ ॥

'ननु' इत्यादि । 'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता' इत्यादि श्रुति जीवमें कर्तृत्वका और 'स एष नेति नेति' यह श्रुति ईश्वरमें अकर्तृत्वका बोधन करती हैं, और तर्कशास्त्रकी प्रसिद्धि भी है, इसलिए जीव ब्रह्मसे भिन्न है ॥ ९२४ ॥

'दुःखा०' इत्यादि । दुःखके नाशके लिए जीव शास्त्रमें अधिकारी होता है, इसलिए ब्रह्मभावी मनुष्य ब्रह्मशब्दका अर्थ है, यह कल्पना युक्त ही है ॥९२५॥

'मैवम्' इत्यादि । ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसी दशामें संसारीकी

ब्रह्मभावी निजात्मानमेवाऽवेद्धि धिया तया ।
अभूत्सर्वमिति प्राप्तः पुमर्थो जीवविद्यया ॥ ९२७ ॥
ततश्च सत्यज्ञानादिवाक्येन ब्रह्मबोधनम् ।
व्यर्थं स्याद्ब्रह्मविद्यायाः फलान्तरविवर्जनात् ॥ ९२८ ॥
अथ ब्रह्मण्यविज्ञाते ब्रह्माऽस्मीत्यात्मनीदृशी ।
सम्पत्कर्तुमशक्या स्यात्तस्मिन् ज्ञाते तु शक्यते ॥ ९२९ ॥
ब्रह्मविज्ञानमात्रेण न कस्याऽपि कृतार्थता ।
पारार्थ्येनैव सर्वत्र विज्ञानं फलवन्मतम् ॥ ९३० ॥
नैतदेवं भट्टपादैर्ब्रह्मज्ञानातिरेकिणः ।
ज्ञानस्यैव परार्थत्वमिति स्पष्टमुदीरितम् ॥ ९३१ ॥
सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन निश्चितम् ।
पराङ्गं चाऽऽत्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम् ॥ ९३२ ॥

---

( जीवकी ) विद्यासे ही पुरुषार्थकी समाप्ति हो सकती है, फिर ब्रह्मका उपदेश करनेके लिए जो शास्त्र है, वह अनर्थक हो जायगा ॥ ९२६ ॥

'ब्रह्मभावी' इत्यादि । ब्रह्मभावी मनुष्यने अपने ही आत्माको जाना था; उसी विद्यासे वह सर्व हो गया, इस प्रकार जीवकी विद्यासे ही पुरुषार्थ प्राप्त होता है ॥ ९२७ ॥

'ततश्च' इत्यादि । इस दशामें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे ब्रह्मका उपदेश व्यर्थ होगा, क्योंकि सर्वभावसे अतिरिक्त ब्रह्मविद्याका कोई फल नहीं है ॥ ९२८ ॥

'अथ' इत्यादि । ब्रह्मका ज्ञान न होनेपर 'मैं ब्रह्म हूं' इत्याकारक सम्पत् ( निकृष्टमें उत्कृष्ट दृष्टिको सम्पत् कहते हैं, जैसे मन्त्रीमें राजदृष्टि ) नहीं की जा सकती और ब्रह्मका ज्ञान होनेपर सम्पत् उपासना की जा सकती है ॥९२९॥

'ब्रह्म०' इत्यादि । क्योंकि ब्रह्मज्ञानमात्रसे किसीको कृतार्थता नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान सर्वत्र परार्थ ( क्रियार्थक ) होनेसे ही सफल होता है ॥ ९३० ॥

'नैतदेवम्' इत्यादि । ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि भट्टपादानुसारियोंने ब्रह्मज्ञानसे अतिरिक्त ज्ञान ही परार्थ है, यह स्पष्ट कहा है ॥ ९३१ ॥

'सर्वत्रैव' इत्यादि । सर्वत्र ज्ञान संस्कारको ही उत्पन्न करता है, यह

अतो ब्रह्मणि विज्ञाते तावतैव कृतार्थता ।
सम्पत्पक्षे त्वहं ब्रह्मेत्येतद्गौणं प्रसज्यते ॥ ९३३ ॥
सामानाधिकरण्योक्तिर्वस्त्वैक्ये मुख्यतां व्रजेत् ।
खं छिद्रमुत्पलं नीलमित्यादौ तदवेक्षणात् ॥ ९३४ ॥
अन्यस्याऽन्यत्र सम्पत्स्यात्सिंहस्य पुरुषे यथा ।
सामानाधिकरण्यं च गौणं सिंहः पुमानपि ॥ ९३५ ॥
ब्रह्मैव भवतीत्यादि ब्रह्मभावफलं च यत् ।
सम्पत्तौ तन्न युज्येत नाऽन्यदन्यद्भवेत् क्वचित् ॥ ९३६ ॥
सम्पदाऽपि ब्रह्मभावः स्याद्वाक्यादिति चेन्मतम् ।
न मानसक्रियामात्रादमानाद्वस्त्वसिद्धितः ॥ ९३७ ॥

---

निश्चित है । ब्रह्मज्ञानसे अतिरिक्त ज्ञान ही 'पराङ्ग' ( क्रियाका साधन ) है, यह निश्चय करना चाहिए ॥ ९३२ ॥

'अतो ब्रह्मणि' इत्यादि । इसलिए ब्रह्मका ज्ञान होनेपर उस ज्ञानसे ही कृतार्थता होती है । सम्पत्-पक्ष में, तो 'अहं ब्रह्मास्मि' ( मैं ब्रह्म हूँ ) इत्याकारक ज्ञान गौण हो जायगा ॥ ९३३ ॥

'सामानाधिकरण्योक्ति०' इत्यादि । वस्तुकी एकता होनेपर ही सामानाधिकरण्य ( अभेद ) मुख्य हुआ करता है, क्योंकि 'खं छिद्रम्' ( छिद्र ही आकाश है ), 'उत्पलं नीलम्' ( कमल नील है ) इत्यादिमें वस्तुकी एकता होनेपर ही सामानाधिकरण्य देखा जाता है ॥ ९३४ ॥

'अन्यस्या०' इत्यादि । अन्यमें अन्यका सामानाधिकरण्य सम्पत् है—जैसे 'सिंहः पुमान्' ( पुरुष सिंह है ) । इस वाक्यमें पुरुषमें सिंहका गौण सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है ॥ ९३५ ॥

'ब्रह्मैव' इत्यादि । 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ( ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही होता है ) इत्यादि श्रुतिसे कहा हुआ ब्रह्मभावरूप फल सम्पत्-पक्षमें युक्त नहीं है, क्योंकि अन्य अन्य नहीं हो सकता ॥ ९३६ ॥

'सम्पदाऽपि' इत्यादि । यदि कहो कि वाक्यके बलसे सम्पत्से भी ब्रह्मभाव हो सकता है, तो यह कहना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि सम्पत् मानस क्रियारूप है, अतः वह प्रमाण नहीं हो सकती । वस्तुकी सिद्धि प्रमाणसे हुआ करती है ॥ ९३७ ॥

अन्यावृत्तानननुगतमखण्डं ब्रह्म चेत्तदा ।
तद्विद्यायां समाख्यैषा ब्रह्मविद्येति निश्चिता ॥ ९४४ ॥
सम्पत्तौ ब्रह्मविद्यैषा जीवविद्याऽथ वेत्ययम् ।
सन्देह एव पुंसः स्यात्संशयात्मा विनश्यति ॥ ९४५ ॥
सर्वथा ब्रह्मभावीति कल्पना नैव युज्यते ।
परब्रह्मैव विद्यायामधिकार्यत्र वर्णितम् ॥ ९४६ ॥
परब्रह्मण्ययुक्तैषा साधकत्वप्रकल्पना ।
इति चेत्, श्रुतिमेवैवं त्वमुपालभसे न माम् ॥ ९४७ ॥
विद्याधिकारिणि ब्रह्मशब्दं प्रायुङ्क्त वेदवाक् ।
उपालम्भस्त्वदीयोऽत आगमे पर्यवस्यति ॥ ९४८ ॥
अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने ।
किं न पश्यति संसारं तत्रैवाऽज्ञानकल्पितम् ॥ ९४९ ॥

---

'अन्यावृत्ता०' इत्यादि । अन्यावृत्त अननुगत अखण्ड ब्रह्म है, इसलिए निश्चित ही उसकी विद्याका नाम ब्रह्मविद्या हो सकता है ॥ ९४४ ॥

'सम्पत्तौ' इत्यादि । सम्पत्ति माननेपर यह ब्रह्मविद्या है या जीवविद्या है ? यों पुरुषको सन्देह बना ही रहेगा और संशयके रहनेपर संशयात्मा पुरुष नष्ट हो जायगा ॥९४५॥

'सर्वथा' इत्यादि । किसी प्रकारसे भी ब्रह्मभावी, यह कल्पना युक्त नहीं है, अतः पर ब्रह्म ही विद्यामें अधिकारी है, यह यहांपर वर्णन किया गया है ॥९४६॥

'परब्रह्मण्य०' इत्यादि । पर ब्रह्ममें यह साधकत्व कल्पना अयुक्त है, क्योंकि अज्ञानी ही साधक हुआ करता है। परब्रह्म ज्ञानमूर्त्ति है, अतः उसमें अज्ञानकी सम्भावना है नहीं, यदि तुम यह कहो, तो यह तुम्हारा उपालम्भ श्रुतिपर है, मुझपर नहीं है । श्रुति अपौरुषेय होनेसे निर्दोष है, वह उपालम्भके योग्य नहीं है, इसलिए वेदोक्त होनेसे ब्रह्ममें अविद्या और साधकत्वादिका स्वीकार करना चाहिए ॥ ९४७ ॥

'विद्याधिकारिणि' इत्यादि । वेदवाक्यने विद्याके अधिकारीमें ब्रह्मशब्दका प्रयोग किया है, इसलिए तेरा उपालम्भ वेदमें पर्यवसन्न होता है ॥ ९४८ ॥

'अक्षमा' इत्यादि । तुम्हें ब्रह्ममें साधकत्वकी कल्पनामें असन्तोष क्यों है ? क्या तुम नहीं देख रहे हो कि सारा ही संसार ब्रह्ममें ही अज्ञानसे कल्पित है ॥९४९॥

अनात्मवस्तु यत्किञ्चित्तद् ब्रह्मानवबोधतः ।
ब्रह्मण्येव समध्यस्तं शुक्तिकारजतादिवत् ॥ ९५० ॥
यच्चोद्यं वादिभिः प्रोक्तं कृत्स्नाकृत्स्नादिखण्डनम् ।
तत्र ग्राह्यः कृत्स्नपक्षो न दोषोऽत्र मनागपि ॥ ९५१ ॥
न कार्त्स्न्यग्राहिमानेन द्वैतापत्तावकृत्स्नता ।
शङ्कनीया, यतो मानं मेयस्पर्द्धि न कुत्रचित् ॥ ९५२ ॥
ऐकात्म्यस्यैव मेयत्वात्तथैवाऽवबोधनात् ।
अन्यथा स्यादमानत्वमयथावस्तुबोधिनः ॥ ९५३ ॥
अवास्तवत्वान्मानस्य द्वैतं नैतत् प्रसज्यते ।
अवस्तुनोऽपि मानत्वं वस्तुतत्त्वावबोधनात् ॥ ९५४ ॥
प्राग्बोधान्मानमात्रादेर्वस्तुत्वमवभासताम् ।
ऊर्ध्वं नैव तु वस्तुत्वं भासते बाधितत्वतः ॥ ९५५ ॥

---

'अनात्मवस्तु' इत्यादि। जैसे शुक्तिके अज्ञानसे ही शुक्तिमें रजत अध्यस्त होता है, वैसे ब्रह्मके ही अज्ञानसे सब अनात्म वस्तुएँ ब्रह्ममें ही अध्यस्त होती हैं ॥९५०॥

'यच्चोद्यम्' इत्यादि। कृत्स्न, अकृत्स्न आदिका खण्डनरूप तर्क जो वादियोंने कहा है, उसमें कृत्स्न पक्षका ग्रहण करना चाहिए, इसमें किञ्चित् भी दोष नहीं है ॥ ९५१ ॥

'न कार्त्स्न्यम्' इत्यादि। यदि शंका हो कि कृत्स्नताके बोधक प्रमाणसे द्वैतापत्ति होनेके कारण अकृत्स्नताकी आपत्ति होगी, तो यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रमाण प्रमेयका स्पर्द्धी नहीं हुआ करता, वह तो अद्वैतका बोधक है ॥९५२॥

'ऐकात्म्यस्यैव' इत्यादि। ऐकात्म्य ही यहां प्रमेय है, अतः उसी ऐकात्म्यका प्रमाण बोधन करता है, अन्यथा अयथावस्तुका ( मिथ्यावस्तुका ) बोधन करनेपर तो उसमें प्रमाणता ही नहीं होगी ॥ ९५३ ॥

'अवास्तव०' इत्यादि। प्रामाण्य वास्तव नहीं है, इसलिए द्वैतकी प्रसक्ति नहीं है, स्वयं अवस्तु होता हुआ भी प्रामाण्य वस्तुतत्त्वके बोधनसे प्रमाणताको प्राप्त होता है ॥ ९५४ ॥

'प्राग्बोधान्मान०' इत्यादि। ज्ञानसे पहले प्रमाण, प्रमाता आदिमें वस्तुत्व प्रतीत हो सकता है, परन्तु ज्ञानके अनन्तर तो ज्ञानसे बाधित होनेके कारण उनमें वस्तुत्व प्रतीत नहीं होता ॥ ९५५ ॥

स्वतो वा परतो वेति कृत्स्नत्वे यद्विकल्पनम् ।
तत्र स्वतस्त्वमादेयं न च विद्या निरर्थिका ॥ ९५६ ॥
स्वतः कृत्स्नमपि ब्रह्म स्यादकृत्स्नमविद्यया ।
तदविद्यापनुत्त्यर्थं ब्रह्मविद्योपयुज्यते ॥ ९५७ ॥
अहमेव परब्रह्मेत्यस्याऽर्थस्याऽप्रबुद्धता ।
अविद्येति वयं ब्रूमो येह नाऽस्ति सदात्मनि ॥ ९५८ ॥
परात्मनि च चैतन्यं नित्यं स्याच्छशिशैत्यवत् ।
अविद्या न तथा तत्र युक्ता चन्द्रे यथोष्णता ॥ ९५९ ॥
अविद्यमानैवाऽविद्या वस्तुतत्त्वविचारिणाम् ।
अविचारेण मूढानां वज्रादपि दृढायते ॥ ९६० ॥
बुद्धतत्त्वस्य लोकोऽयं जडोन्मत्तपिशाचवत् ।
बुद्धतत्त्वोऽपि लोकस्य जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥ ९६१ ॥

---

'स्वतो वा' इत्यादि । ब्रह्म स्वतः कृत्स्न है या परतः कृत्स्न है ? इस प्रकार
। वादियोंने पूर्वमें विकल्प किया था, उसमें स्वतस्त्वपक्षका ही ग्रहण करना
ाहिए । ऐसी दशामें विद्या निरर्थक नहीं हो सकती ॥ ९५६ ॥

'स्वतः' इत्यादि । स्वतः कृत्स्न होता हुआ भी ब्रह्म अविद्यासे अकृत्स्न
। गया है, अतः उस अविद्याके नाशके लिए ब्रह्मविद्याका उपयोग है ॥९५७॥

'अहमेव' इत्यादि । 'मैं ही परब्रह्म हूँ' इस अर्थका जो अज्ञान है,
सीको हम अविद्या कहते हैं । ज्ञानीकी दृष्टिसे वह अविद्या सद्रूप आत्मामें कभी
हीं है ॥ ९५८ ॥

'परात्मनि' इत्यादि । चन्द्रमामें शैत्यकी तरह परमात्मामें चैतन्य नित्य
ो है । अतः चन्द्रमें उष्णताकी तरह परमात्मामें अविद्या युक्त नहीं है ॥९५९॥

'अविद्यमानैवाऽ०' इत्यादि । वस्तुतत्त्वका विचार करनेवालोंकी दृष्टिमें
ाविद्या अविद्यमान ही है और वही अविद्या विचारके न होनेसे मूर्खोंके लिए
ज्रसे भी कठिन हो जाती है ॥ ९६० ॥

'बुद्धतत्त्वस्य' इत्यादि । ज्ञानीकी दृष्टिमें यह लोक जड़, उन्मत्त और पिशाचके
ादृश है और लोककी दृष्टिमें ज्ञानी भी जड़, उनमत्त और पिशाचके सदृश है ॥९६१॥

बुद्धतत्त्वो हि संसारिलोकचेष्टाविडम्बकः ।
संसारिलोकोऽप्येतस्य बोधभाषाविडम्बकः ॥ ९६२ ॥
तस्मादुत्पन्नतत्त्वस्य माऽस्त्वविद्या चिदात्मनि ।
अव्युत्पन्नस्य दृष्ट्येषा न वेद्मीत्यनुभूयते ॥ ९६३ ॥
नाऽलुप्तचित्यविद्येति यो ब्रवीति दुराग्रहात् ।
सोऽलुप्तचित्त्वं वेत्त्यस्य केनेति तदुदीर्यताम् ॥ ९६४ ॥
मानेन चेत्, तदा मानमज्ञातार्थं विना नहि ।
ततो बलादविद्येयमङ्गीकार्या चिदात्मनि ॥ ९६५ ॥
अङ्गीकृताऽप्यवस्तुत्वान्नाधिका नेति चेन्न तत् ।
अवस्तुतामजानानां बाधेतैवाऽहिवस्तुवत् ॥ ९६६ ॥

'**बुद्धतत्त्वो**' इत्यादि । ज्ञानी पुरुष संसारी लोगोंकी चेष्टाका विडम्बन ( अनुकरण ) करता है । संसारी लोग भी ज्ञानीके ज्ञान और भाषाका विडम्बन करता है अर्थात् ज्ञानी अपनी दृष्टिसे संसारियोंकी चेष्टा नहीं करता है; किन्तु दिखावामात्र है; वैसे ही अज्ञानी भी ज्ञानीकी भाषाका दिखावा ही करता है ॥ ९६२ ॥

'**तस्मादु०**' इत्यादि । इसलिए तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे चिदात्मामें अविद्या न हो, तो न सही, पर अज्ञानीकी दृष्टिसे तो 'न वेद्मि' इस अनुभवसे चिदात्मामें अविद्या सिद्ध होती ही है ॥ ९६३ ॥

'**नाऽलुप्त०**' इत्यादि । अलुप्तचित् ( जिसके चैतन्यका कभी लोप नहीं होता है ) आत्मामें अविद्या नहीं रह सकती, इस प्रकार दुराग्रहसे जो कहता है उससे पूछना चाहिए कि आत्मा अलुप्तचित् है; यह तुमने किससे जाना ॥९६४॥

'**मानेन**' इत्यादि । यदि कहो प्रमाणसे जाना है, तो प्रमाण अज्ञात अर्थमें ही प्रवृत्त हुआ करता है, इसलिए बालात्कारसे अज्ञानीको चिदात्मामें इस अविद्याका अङ्गीकार करना चाहिए ॥ ९६५ ॥

'**अङ्गीकृताऽ०**' इत्यादि । अङ्गीकार की हुई भी अविद्या मिथ्या होनेसे आत्मतत्त्वका बाध नहीं कर सकती; यह नहीं कहना चाहिए । जो अविद्याके मिथ्यात्वको नहीं जानते हैं; उनको रज्जूसर्पकी तरह बाध कर सकती है ॥९६६॥

रज्जुसर्पोऽप्यप्रबुद्धं भीषयेत् तात्त्विकाहिवत् ।
विद्यावैयर्थ्यदोषोऽतो नैवाऽस्मान् प्रति ढौकते ॥ ९६७ ॥
अनादेरपि बाधोऽस्ति तमसो विद्ययाऽन्यथा ।
प्रमाणानां प्रमाणत्वं न क्वचिद्वः प्रसिध्यति ॥ ९६८ ॥
अज्ञातज्ञापकं मानमनाद्यज्ञानबाधया ।
घटादावपि मानत्वं लभते किमुताऽऽत्मनि ॥ ९६९ ॥
एतावता मुमुक्षूणां चोद्ये यत्कर्तृदूषणम् ।
तन्निराकृत्य विद्यायाः कर्तृ ब्रह्मेति साधितम् ॥ ९७० ॥
ब्रह्मणो ज्ञानकर्तृत्वं यदुक्तं तदिहाऽधुना ।
ब्रह्म वा इदमग्रेऽभूदिति वाक्येऽपि योज्यते ॥ ९७१ ॥
निर्णीतो ब्रह्मशब्दार्थो वैशब्दोऽवधृतौ भवेत् ।
दृश्यमानं जीवरूपमिदंशब्देन कथ्यते ॥ ९७२ ॥

---

'रज्जुसर्पोऽ०' इत्यादि । [ यद्यपि अविद्या कल्पित है, तथापि वह अधिष्ठानके साक्षात्कारतक बनी रहती है । ] इसीलिए रज्जुसर्प भी सत्य सर्पकी तरह अज्ञानीमें भय उत्पन्न करता ही है, अतः विद्याकी व्यर्थताका दोष हमें स्पर्श नहीं करता है ॥ ९६७ ॥

'अनादेरपि' इत्यादि । अनादि होनेपर भी अज्ञानका विद्यासे बाध होता ही है, अन्यथा ( यदि विद्यासे अविद्याका बाध न हो, तो ) तुम्हारे मतमें प्रमाणोंकी प्रमाणता ही सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ९६८ ॥

'अज्ञातज्ञापकम्' इत्यादि । प्रमाण अज्ञातका ज्ञापक होता है, इसलिए वह अनादि अज्ञानका बाध करनेसे ही घट आदिमें भी प्रमाणताको प्राप्त होता है; फिर आत्मामें तो कहना ही क्या है ? ॥ ९६९ ॥

'एतावता' इत्यादि । इतने कथनसे मुमुक्षु पुरुषोंके तर्कमें जो कर्ताके दूषण कहे गये थे, उनका निराकरण करके विद्याका कर्ता ब्रह्म है, यह सिद्ध किया गया ॥ ९७० ॥

'ब्रह्मणो' इत्यादि । ब्रह्ममें जो ज्ञानकर्तृता कही गई है, उसकी 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इस वाक्यमें भी योजना करनी चाहिए ॥ ९७१ ॥

'निर्णीतो' इत्यादि । ब्रह्मशब्दके अर्थका निर्णय हो गया । वैशब्दका

विद्यायाः प्राक्तनः काल उक्तोऽग्र इति शब्दतः ।
अभूतभवनं चैवमासीदितिपदोदितम् ॥ ९७३ ॥
मुख्यब्रह्मैव बोधात् प्राङ् नामरूपप्रवेशनात् ।
जीवरूपमभूत्तेन विद्यायाः कर्तृ तद्भवेत् ॥ ९७४ ॥
एवं स्थितेऽत्र वाक्यार्थे वैशब्देनाऽवधारणात् ।
सूचितं जीवमिथ्यात्वं यत्तत्स्पष्टमुदीर्यते ॥ ९७५ ॥
जीवभावदशायां च ब्रह्मैव न तदन्यथा ।
अनिर्ज्ञातात्मतत्त्वं सदब्रह्मेव विभाति तत् ॥ ९७६ ॥
अज्ञानतज्जजीवत्वसङ्गतिर्ब्रह्मणोऽत्र का ।
कार्यकारणताऽऽहोस्विदात्मात्मीयत्वलक्षणा ॥ ९७७ ॥
ब्रह्माऽकार्यमनादित्वादविकारादकारणम् ।
आत्मात्मीयत्वसम्बन्धो ब्रह्मणेतरवस्तुनः ॥ ९७८ ॥

अर्थ अवधारण ( अन्ययोगव्यवच्छेद अर्थात् दूसरेके सम्बन्धका अभाव ) है; दृश्यमान जो जीवका रूप है, वह इदंशब्दका अर्थ है ॥ ९७२ ॥

'विद्यायाः' इत्यादि । 'अग्रे' इस शब्दसे विद्याका पूर्वकाल कहा जाता है । 'आसीत्' ( था ) पदका अर्थ अभूतभवन ( जो पहले न हो, उसका होना ) कहा गया है ॥ ९७३ ॥

'मुख्य०' इत्यादि । मुख्य ब्रह्म ही ज्ञानसे पहले नामरूपमें प्रवेश करनेसे जीवरूप हो गया था, इसलिए मुख्य ब्रह्म ही विद्याका कर्ता है ॥ ९७४ ॥

'एवं स्थिते' इत्यादि । इस प्रकार वाक्यार्थ होनेपर 'वै' शब्दसे अवधारण करनेसे ( जीव ब्रह्म ही है; ऐसा निश्चय करानेसे ) जो जीवका मिथ्यात्व सूचित होता है, वह स्पष्टरूपसे कहा जाता है ॥ ९७५ ॥

'जीवभाव०' इत्यादि । जीवभावदशामें भी वह ब्रह्म ही है; जीव नहीं है, क्योंकि आत्मतत्त्वके न जाननेसे ब्रह्म होनेपर भी अब्रह्मकी तरह प्रतीत होता है ॥ ९७६ ॥

'अज्ञान०' इत्यादि । अज्ञान और अज्ञानसे उत्पन्न हुए जीवभावका ब्रह्मके साथ कौन-सा सम्बन्ध है; उसे कहना चाहिए—क्या कार्यकारणभाव सम्बन्ध है अथवा आत्मात्मीयत्व ( मैं-मेरा ) सम्बन्ध है ? ॥ ९७७ ॥

'ब्रह्मा०' इत्यादि । ब्रह्म अनादि है, इसलिए वह किसीका कार्य नहीं

स्वतो निरात्मनोर्ब्रह्म भवेदज्ञानकार्ययोः ।
स्वरूपं तेन सम्बन्ध आत्मात्मीयत्वलक्षणः ॥ ९७९ ॥
निरात्मा सात्मकत्वाय स्वात्मप्रदमपेक्षते ।
तेनाऽविद्या स्वयं सेद्धुं ब्रह्मतत्त्वमपेक्षते ॥ ९८० ॥
कूटस्थत्वादसङ्गत्वान्मोहतत्कार्यसङ्गतिम् ।
ब्रह्म नाऽपेक्षते नाऽपि ताभ्यां युज्येत कर्हिचित् ॥ ९८१ ॥
नीलत्वेन वियद्योगः स्ववृत्तापेक्षया न सन् ।
आत्मनैवं तमोयोगो नाऽऽत्मविद्यानुरोधतः ॥ ९८२ ॥
अविद्यावृत्तवीक्षायामन्यसङ्गतिरात्मनि ।
भात्यात्माऽऽत्मीयरूपेण स्याज्जगत्सात्मकं ततः ॥९८३॥

है और निर्विकार है, इसलिए किसीका कारण नहीं है, इस परिस्थितिमें ब्रह्मके साथ अनात्मवस्तुका आत्मात्मीयत्व सम्बन्ध ही है ॥ ९७८ ॥

'स्वतो' इत्यादि। अज्ञान और अज्ञानकार्य—ये दोनों अनात्मा ( स्वरूप-रहित ) हैं, ब्रह्म ही उनका स्वरूप है; इसलिए ब्रह्मके साथ उनका आत्मात्मीयत्व सम्बन्ध है। जड़की सत्ता ब्रह्मके अधीन है; ब्रह्मसम्बन्धके बिना जड़ शून्य हो जायगा; इसलिए अपने स्वरूपकी सिद्धिके लिए जड़ पदार्थ ब्रह्मके सम्बन्धकी अपेक्षा करता है, यह अर्थ है ॥ ९७९ ॥

'निरात्मा' इत्यादि। अनात्मा आत्मासे युक्त होनेके लिए आत्माका प्रदान करनेवालेकी अपेक्षा करता है, इसलिए अविद्या अपनी सिद्धिके लिए ब्रह्म-तत्त्वकी अपेक्षा करती है ॥ ९८० ॥

'कूटस्थत्वा०' इत्यादि। कूटस्थ होनेके कारण असङ्ग होनेसे ब्रह्म अज्ञान और अज्ञानके कार्यके सम्बन्धकी अपेक्षा नहीं करता और न कभी उनके साथ सम्बद्ध ही होता है ॥ ९८१ ॥

'नीलत्वेन' इत्यादि। जैसे आकाशमें नीलताका योग आकाशके स्वरूपके जाननेवालोंकी दृष्टिमें सत्य नहीं है, वैसे ही आत्माके साथ अविद्याके योगको आत्मविद्याके अनुरोधसे आत्म-ज्ञानी असत्य ही समझते हैं ॥ ९८२ ॥

'अविद्या०' इत्यादि। अविद्याके स्वभावकी दृष्टिसे आत्मामें अनात्माका सम्बन्ध प्रतीत होता है, इसलिए आत्मात्मीयत्वसम्बन्धसे ही जगत् सात्मक

प्रत्यग्रूपातिरेकेण नाऽन्यद्रूपमनात्मनः ।
वादिभिर्युक्तिभिः शक्यं क्वचित् साधयितुं सदा ॥ ९८४ ॥
स्वरूपशब्दवाच्योऽयं सर्वत्राऽऽत्मैव नेतरः ।
तथा चाऽऽत्मातिरेकेण स्वरूपं कस्य सम्भवेत् ॥ ९८५ ॥
अतोऽविद्यामहानिद्रासंवीतमनसामसौ ।
जन्मादिविक्रियाषट्कस्वप्नदर्शनविभ्रमः ॥ ९८६ ॥
ब्रह्मैव सत् स्वतः साक्षात् तदबोधैकहेतुतः ।
इदंरूपं समापेदे रशनेवाऽहिरूपताम् ॥ ९८७ ॥
अविद्याफलकारूढं वस्तु विद्याधिकारताम् ।
वेद्यवेदितृरूपेण द्वैविध्यात् प्रतिपद्यते ॥ ९८८ ॥
स्वतो मुक्तं ब्रह्म यस्मात् तस्माद्वेद्यत्वमर्हति ।
संसारित्वमविद्यातो मुमुक्षुत्वं ततोऽर्हति ॥ ९८९ ॥

होता है, इसलिए 'घटोऽस्ति' इस प्रकार जड़ पदार्थमें सत्ता प्रतीत होती है ॥ ९८३ ॥

'प्रत्यग्रूपा०' इत्यादि । प्रत्यगात्मासे अतिरिक्त अनात्माका पृथक्रूप वादी लोग युक्तियोंसे कभी सिद्ध नहीं कर सकते हैं ॥ ९८४ ॥

'स्वरूप०' इत्यादि । सर्वत्र आत्मा ही स्वरूपशब्दका वाच्य है; आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थ स्वरूपशब्दका वाच्य नहीं होता; इसलिए आत्मासे अतिरिक्त किसीका स्वरूप सम्भव नहीं है ॥ ९८५ ॥

'अतोऽविद्या०' इत्यादि । इसलिए अविद्यारूपी महानिद्रासे जिनका मन मुग्ध हो गया है, उन पुरुषोंको आत्मामें जन्मादि षड्विकाररूप स्वप्नके दर्शनका भ्रम होता है ॥ ९८६ ॥

'ब्रह्मैव' इत्यादि । जैसे रज्जू सर्परूपको प्राप्त होती है; वैसे ही स्वतः साक्षात् ब्रह्म होता हुआ ही अपने अज्ञानरूपी हेतुसे जीवरूपको प्राप्त हुआ है ॥ ९८७ ॥

'अविद्या०' इत्यादि । अविद्यारूपी फलकमें आरूढ होकर ब्रह्मरूप वस्तु वेद्य ( जानने योग्य ) और वेदिता (ज्ञाता)—इन दो रूपोंसे विद्याकी अधिकारिणी बनती है ॥ ९८८ ॥

'स्वतो' इत्यादि । ब्रह्म स्वतः मुक्त है; इसलिए वह वेद्यत्वके योग्य है

ब्रह्म वा इदमग्रेऽभूदिति वाक्ये गुरूत्तरे ।
श्रुतं विद्याधिकारित्वं यत्तद् ब्रह्मणि सुस्थितम् ॥ ९९० ॥

किमवेदिति वेद्यस्य य आक्षेप उदीरितः ।
तं समाधित्सुराहैतत्तदात्मानमवेदिति ॥ ९९१ ॥

स्वरूपस्यैव वेद्यत्वे स्वस्कन्धारोहदूषणम् ।
यदुक्तं तदसत्, तस्मात् सोपाधिर्वेदिता ततः ॥ ९९२ ॥

अवेत् सोपाधिरात्माऽयमात्मानं निरुपाधिकम् ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदान्न दोषोऽत्र मनागपि ॥ ९९३ ॥

अविविक्तस्तु देहाद्यैरात्मा भवति वेदिता ।
विविक्तात्मा वेदितव्यो धीवृत्तिर्वेदनं भवेत् ॥ ९९४ ॥

( जाननेके योग्य है )। अविद्यासे वह संसारी हो गया है, इसलिए मुमुक्षु ( साधक ) भी वही है ॥ ९८९ ॥

'ब्रह्म वा' इत्यादि। 'ब्रह्म वा इदमग्रेऽभूत्' इस गुरुके उत्तररूप वाक्यमें जो विद्याका अधिकार सुना गया है, वह ब्रह्ममें सिद्ध हो गया ॥ ९९० ॥

'किमवेदिति' इत्यादि। 'किमवेत्' ( ब्रह्मने किसको जाना? ) इस प्रकार जो वेद्यका आक्षेप कहा गया है, उसका समाधान करनेके लिए कहते हैं—'तदात्मानमवेत्' ( अर्थात् उसने आत्माको ही जाना ) ॥ ९९१ ॥

'स्वरूपस्यैव' इत्यादि। स्वरूपमें वेद्यत्वके होनेपर अपने ही स्कन्धपर आरोहणका जो दूषण कहा था, वह समीचीन नहीं है, क्योंकि सोपाधिक ब्रह्म वेदिता ( ज्ञाता ) है ॥ ९९२ ॥

'अवेत्' इत्यादि। सोपाधिक आत्माने निरुपाधिक आत्माको जाना, इसलिए ज्ञाता और ज्ञेयका भेद ( ज्ञाताके सोपाधिक और ज्ञेयके निरुपाधिक ) होनेसे किञ्चिन्मात्र भी दोष नहीं है ॥ ९९३ ॥

'अविविक्तस्तु' इत्यादि। देहादिसे अविविक्त ( पृथक् न किया हुआ ) आत्मा वेदिता है और देह आदिसे विविक्त आत्मा वेदितव्य है, ज्ञान-शब्दका अर्थ बुद्धिवृत्ति है ॥ ९९४ ॥

ज्ञानशक्तिषु चैतन्यप्राप्तिर्भवति यद्यपि ।
तथापि तदुपाधित्वात् शुद्धं इति चेच्छृणु ॥ १००१ ॥
धीर्द्रष्टा श्रुतिः श्रोता मतिर्मन्तेति मन्यताम् ।
अनित्यरूपमुख्या धीर्द्रष्टा तु नित्यगा ॥ १००२ ॥
घटः प्रकाशभेदेन दृश्यते च न दृश्यते ।
न कदाचिच्च दृश्यन्ते धीश्रुत्यादिस्वरूपता ॥ १००३ ॥
स्वरूपमात्रे घटे रूपं चैतन्ये चितितेजसा ।
अथान्यतो दृश्यदीप्तिनिरपेक्षत्वमन्यते ॥ १००४ ॥
दृष्टिश्रुत्यादिभिन्ना या धीः सा स्वतःसिद्धी ।
विषयव्यभिचारेऽपि नैव व्यभिचरत्यसौ ॥ १००५ ॥
घटाद्याभासरूपेषु स्वभेदेष्वपि विद्यते ।
चाक्षुषादिविनाशेऽपि या धीः सा नित्यसम्पद् ॥ १००६ ॥

---

'ज्ञानशक्तिषु' इत्यादि। दर्शन आदि ज्ञानशक्तियोंमें यद्यपि आत्माके चैतन्यका आविर्भाव होता है, तथापि वह सोपाधिक होनेसे शुद्ध नहीं है, ऐसा यदि कहो तो सुनो ॥ १००१ ॥

'धीर्द्रष्टा' इत्यादि। दृष्टिरूप जो द्रष्टा है, श्रुतिरूप जो श्रोता है, मतिरूप जो मन्ता है, वह आत्मा है, यह समझना चाहिए। उनके उपाधिकी दृष्टि अनित्य है, परन्तु दृष्टिके द्रष्टाकी दृष्टि नित्य है ॥ १००२ ॥

'घटः' इत्यादि। इसलिए प्रकाशभेदसे घट दीखता है और नहीं भी दीखता है। दृष्टि, श्रुति, मति आदि वृत्तियाँ कभी नहीं भी दीखती हैं, ऐसा नहीं है, किन्तु सदा ही दीखती हैं ॥ १००३ ॥

'स्वरूपमात्रे' इत्यादि। जैसे घट प्रकाशसे स्पर्श करता है, उस प्रकार अपनेको नहीं देखता है, इसलिए दृष्टिको अनित्य समझना चाहिए ॥ १००४ ॥

'दृष्टि॰' इत्यादि। दृष्टि, श्रुति, मति आदिसे भिन्न स्वप्रकाश जो आत्मस्वरूप दृष्टि है, उसका नाश नहीं होता। दृष्टि, श्रुति आदि विषयोंका व्यभिचार होनेपर भी आत्मस्वरूपदृष्टिका व्यभिचार नहीं होता ॥ १००५ ॥

'घटाद्या॰' इत्यादि। घटादिकी आत्मस्वरूप दृष्टि तो स्वयं अपने भेदोंमें

वासनाप्रत्ययौ धी स्वप्नजाग्रत्प्रत्ययो ।
यथाऽऽस्तां भिन्नधियि स्वात्मा सुप्तौ न च नश्यति ॥ १००७ ॥

प्रसुप्तिर्धियो लोपोऽस्ति सुप्तानां लोपविभ्रमः ।
दृग्लोपश्चेद्यदी भवेत् सुप्तिः केन प्रसिध्यति ॥ १००८ ॥

सुप्त्यादिसाक्षिणी दृष्टिरेव रूपं चिदात्मनः ।
मोहेरितैर्न्यमात्मानमेतमेवाऽविकारिणं विदुः ॥ १००९ ॥

अविकारित्वमात्मत्वं मम सोपाधिकस्य तु ।
निरुपाधिस्वरूपात्मन्येवात्मनि निरुपाधिकम् ॥ १०१० ॥

विज्ञातारं न विज्ञातेर्विजानीया इति श्रुतेः ।
वेदाऽऽत्मा वेदितुं शक्य इति चेत्, न, तथेक्षणात् ॥१०११॥

---

भी कही जाती है । उसमें नेत्रकी वृत्तिका विनाश होनेपर भी जो उसकी दृष्टि है, वह दृष्टि नित्यस्वरूप है ॥ १००६ ॥

'वासना०' इत्यादि । स्वप्न और जाग्रत् अवस्थामें वासना और प्रत्यय भिन्न भिन्न बुद्धिसे देखे जाते हैं, पर दृष्टि सुषुप्तिमें भी नष्ट नहीं होती ॥ १००७ ॥

'प्रसुप्तिर्धियो' इत्यादि । सुषुप्ति अवस्थामें आत्माकी दृष्टिका लोप नहीं होता, सुषुप्तिमें बुद्धिका लोप होता है, इसलिए अज्ञानियोंको दृष्टिके लोपका भ्रम होता है, यदि दृष्टिका लोप हो, तो सुषुप्तिकी सिद्धि किससे होगी ? ॥ १००८ ॥

'सुप्त्यादि०' इत्यादि । बुद्धिकी उत्पत्तिकी तरह सुषुप्ति आदिकी साक्षक जो दृष्टि है, वही चिदात्माका रूप है, अतः अविकारी आत्मा उसी रूपसे जानना ॥ १००९ ॥

'अविकारित्व०' इत्यादि । जब सोपाधिक अपनेको आत्मरूप तथा अविकारी जानता है, तब निरुपाधिक चिन्मात्र आत्माको जानता है ॥ १०१० ॥

'विज्ञातारम्' इत्यादि । यदि कहो कि 'विज्ञाता आत्माको तुम नहीं जान सकोगे', इत्यादि श्रुतिसे प्रतीत होता है कि आत्मा जाननेके लिए शक्य नहीं है, तो यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा देखा जाता है ॥ १०११ ॥

विज्ञातेऽपि विज्ञाता च विज्ञेया कथञ्चन ।
इत्येवं वेदने वृत्तिः स्यादनवस्थितिस्त्वयम् च ॥ १०१२ ॥
नैतावता स्फुरत्यात्मा स्फोटस्याभानवर्जनात् ।
इति चोद्यचोद्यं स्यादन्यज्ञानमपेक्षणात् ॥ १०१३ ॥
नित्यचिद्रूप आत्मेति धीवृत्तिर्वाक्यतो यदि ।
असम्भिन्ना सहात्मना तदाऽस्य स्फोटकेन किम् ॥ १०१४ ॥
निश्चितोऽपि यदा वाक्यात्स्वतोऽस्फोटस्वरूपतः ।
तदा स्फोटप्रमाणस्याप्यन्यथा कथं भवेत् ॥ १०१५ ॥
नाऽनिश्चयमाने विषये स्यादाकाङ्क्षा धीमताम् ।
प्रमातस्फोटरिक्त वृत्तिर्न सम्भवति कुत्रचित् ॥ १०१६ ॥
द्वे एव स्तो धीवृत्तिरात्मा चैतन्यमेव च वा ।
तत्राऽऽत्मानं स्फोटयितुमात्मना स्फोटयेद्यदा ॥ १०१७ ॥

'विज्ञाते०' इत्यादि । विज्ञातिका विज्ञाता कभी नहीं जाना जा सकता, इस प्रकार जाननेमें वृत्तिकी क्या आवश्यकता है, कहो ॥ १०१२ ॥

'नैतावता' इत्यादि । आत्माका स्फोटक ( प्रकाशक ) कोई ज्ञान नहीं है, इसलिए आत्माका प्रकाश नहीं होगा, यह तर्क नहीं करना चाहिए, क्योंकि आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है, इसलिए उसको अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है ॥ १०१३ ॥

'नित्य०' इत्यादि । आत्मा नित्य ज्ञानरूप है, यह असन्दिग्ध बुद्धिवृत्ति यदि वाक्यसे उत्पन्न हो गई, तो अन्य प्रकाशककी अपेक्षा ही क्या है ? ॥१०१४॥

'निश्चितोऽपि' इत्यादि । जब वाक्यसे यह निश्चय हो गया कि आत्मा स्वतःसिद्ध ( अप्रकाश्य या बोध ) है, तब प्रकाशककी इच्छा करनेवाला पुरुष क्यों नहीं उन्मत्त कहा जा सकता है ? ॥ १०१५ ॥

'नाऽनिश्चयमाने' इत्यादि । जो निश्चय नहीं है, उसकी बुद्धिमान्को आकांक्षा नहीं हुआ करती, स्फुरणरूप आत्माका प्रकाश करनेवाली वृत्ति कहीं भी सम्भव नहीं है ॥ १०१६ ॥

'द्वे एव' इत्यादि । दो ही वृत्तियाँ होती हैं—एक बुद्धिवृत्ति और दूसरा आत्मा, उनमें से बुद्धिवृत्ति तो आत्माका प्रकाश नहीं कर सकती, क्योंकि आत्मासे उसका प्रकाश होता है ॥ १०१७ ॥

आत्मपक्षेच याऽऽम्नानं स्फोरत्वेनाविकारता ।
स्फोरकस्यान्यसद्भावाद्धीमान् स्फोरकमपेक्षते ॥ १०१८ ॥
अविद्यारोपनिर्मुक्त्यै तमात्मानमवैदिति ।
आत्माभिमुखधीवृत्तिमात्रमेवाभ्युपेयते ॥ १०१९ ॥
आत्मानमेव तदवेदित्युक्तावेवकारता ।
निर्मोकवत् परित्याज्यं देहादीत्यवगम्यते ॥ १०२० ॥
स्वत्यागे तु देहादावात्मैवैकोऽवशिष्यते ।
परित्यक्तुमशक्यत्वादात्मनो निह्नुतेश्च का ॥ १०२१ ॥
अन्योऽन्यं विवदन्ते ये वादिनस्तेऽस्मदात्मनि ।
संवदन्ते हि सर्वेऽपि तस्यानुभवरूपता ॥ १०२२ ॥
साधनं फलं सर्वमनुभूतिविजृम्भणात् ।
सिद्धयते वादिनां याऽनुभूतिस्तेन सम्मता ॥ १०२३ ॥

---

'आत्म०' इत्यादि। और आत्माके निर्विकार होनेसे आत्माका प्रकाश कर नहीं सकती, आत्माका कोई प्रकाशक नहीं है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष आत्माके प्रकाशककी अपेक्षा नहीं करता ॥ १०१८ ॥

'अविद्या०' इत्यादि। 'अपने उस आत्माको जाना' अविद्याकृत आरोपकी निवृत्तिके लिए इस श्रुतिसे आत्माके अभिमुख हुई बुद्धिवृत्ति ही अवगमरूपसे कही जाती है, क्योंकि आत्मामें फलव्याप्ति ही निषेध है, वृत्तिव्याप्तिका निषेध नहीं है ॥ १०१९ ॥

'आत्मा०' इत्यादि। 'आत्मानमेव अवेत्' (अपने आत्माको ही जाना) इस श्रुतिमें स्थित एवकारसे देहादि निर्मोककी तरह त्याग करने योग्य हैं, यह कहा जाता है ॥ १०२० ॥

'स्वत्यागे' इत्यादि। देहादिका त्याग करनेपर एक आत्मा ही शेष रह जाता है। आत्माका त्याग नहीं किया जा सकता, इसलिए आत्माका अपलाप कौन कर सकता है? ॥ १०२१ ॥

'अन्योऽन्यम्' इत्यादि। जो वादी लोग परस्पर विवाद करते हैं, उन सबका हमारे आत्मामें संवाद है, क्योंकि हमारा आत्मा अनुभवरूप है ॥ १०२२ ॥

'साधनम्' इत्यादि। वादियोंके सब साधन और फल अनुभवसे ही

अमानो येन मानेन ज्ञायते त्वन्यथापि वा ।
तस्य मानस्य सद्भावो वद केन निरूप्यते ॥ १०२४ ॥
व्यभिचारि न यत्राऽस्ति प्रमाणं सर्ववादिनाम् ।
स्वमहिम्ना च यत्सिद्धं तदपह्नूयते कथम् ॥ १०२५ ॥
अनुभूत्यवसायानि सर्वमानानि मानताम् ।
लभन्ते, नाऽन्यथा, नाऽतो व्यभिचारः कथंचन ॥ १०२६ ॥
सिद्धयन्ति सर्वमानानि यत्प्रसादात्स्वभावतः ।
कस्मात्सिद्धयेत्तदस्त्वन्यत् स्वमहिम्नैव सिद्धयति ॥ १०२७ ॥
अज्ञाता प्राप्यते योऽन्यमस्वकस्त्यज्यते यथा ।
आनीयायमनात्मानं बुद्ध्यन्तं देहादिकम् ॥ १०२८ ॥

---

प्रमाणसे सिद्ध होते हैं, इसलिए अनुभव सब प्रमाणोंका प्रमाण है, उसी अनुभवको हम आत्मा कहते हैं ॥ १०२३ ॥

'अमानो' इत्यादि। अनुभवसे सिद्ध मानसे प्रमाणको जानता है, उस मानके सद्भावको वह कैसे कह सकता है, क्योंकि यदि वह अनुभवको स्वीकार न करे, तो प्रमाणकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ १०२४ ॥

'व्यभिचारि' इत्यादि। सब वादियोंके प्रमाण जिसमें अव्यभिचारी हैं, और सब प्रमाणोंकी उत्पत्ति और विनाशका जो साक्षी है, वह अपनी ही महिमासे सिद्ध है, उसका अपलाप कैसे हो सकता है ? ॥ १०२५ ॥

'अनुभूत्य०' इत्यादि। अनुभवसे सिद्ध होकर ही सब प्रमाण प्रमाण-भावको प्राप्त होते हैं, अन्यथा प्रमाणभावको प्राप्त नहीं होते हैं, अतः उस अनुभवका व्यभिचार किसी प्रकार भी नहीं हो सकता है ॥ १०२६ ॥

'सिद्धयन्ति' इत्यादि। सब प्रमाण जिसकी कृपासे सिद्ध होते हैं, वह किस अन्यकी कृपासे सिद्ध होगा, इसलिए वह अपनी ही महिमासे स्वतः सिद्ध है ॥ १०२७ ॥

'अज्ञाता' इत्यादि। अज्ञानकालमें जो अप्राप्त था, वह पीछे ज्ञानकालमें प्राप्त होता है और विवेकसे जिसका त्याग किया जा सकता है, ऐसे देहसे लेकर बुद्धिपर्यन्त इस सब लोकको अनात्मा समझना चाहिए ॥ १०२८ ॥

त्यज्यमानेऽपि न त्यक्तः प्राप्यमाणेऽपि नाप्यते ।
भावाभावप्रसाक्षी यः स आत्माऽनुभवात्मकः ॥ १०२९ ॥
तस्मादनात्मनः सर्वानन्वयव्यतिरेकतः ।
प्रत्यक्तयाऽऽत्मना त्यक्त्वा विद्यात्स्वात्मानमेव तत् ॥ १०३० ॥
अहं ब्रह्माऽस्मि नो जीव इत्येवं ब्रह्मरूपताम् ।
बोधितस्याहमर्थस्य युज्यते ब्रह्मरूपता ॥ १०३१ ॥
ब्रह्मता नाऽऽत्मनोऽन्यत्र नाऽऽत्मता ब्रह्मणोऽन्यतः ।
तथाप्यस्यात्मनो भ्रान्त्या तयोरेव विपर्ययः ॥ १०३२ ॥
ब्रह्मतात्मतयोर्हेतौ प्रत्यग्भ्रान्तौ निवर्तिते ।
आत्मत्वमेव ब्रह्मेति निर्दिष्टं प्रतिपद्यते ॥ १०३३ ॥
अविज्ञातोऽस्य विषयेण तस्याविषयत्वतः ।
सर्वविज्ञानहेतुत्वादविज्ञातः क्व चात्मनि ॥ १०३४ ॥

'त्यज्यमाने०' इत्यादि। देहादिका त्याग करनेपर जिसका त्याग नहीं होता, इनके प्राप्त होनेपर जिसकी प्राप्ति नहीं होती और इनकी उत्पत्ति तथा विनाशका जो साक्षी है, वह अनुभवस्वरूप ही आत्मा है ॥ १०२९ ॥

'तस्मादना०' इत्यादि। अन्वय और व्यतिरेकरूप युक्तिके द्वारा सब अनात्माओंका त्याग करके उससे अपने आत्माको ही जाने ॥ १०३० ॥

'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि। मैं ब्रह्म हूँ, जीव नहीं हूँ, इस प्रकार उसने अपनी ब्रह्मरूपताको जाना, क्योंकि ज्ञान सिद्ध हुआ 'अहम्' पदार्थ ब्रह्म ही है ॥ १०३१ ॥

'ब्रह्मता' इत्यादि। आत्मासे अन्य पदार्थमें ब्रह्मता नहीं है और ब्रह्मसे अन्य पदार्थमें आत्मत्व नहीं है, अर्थात् जो ब्रह्म है, वही आत्मा है, परन्तु इनके यथार्थ स्वरूपके अज्ञानसे ही आत्मा और ब्रह्मका भेद प्रतीत हो रहा है ॥ १०३२ ॥

'ब्रह्मता०' इत्यादि। ब्रह्मरूपता और आत्मरूपताका कारण प्रत्यगात्माका अज्ञान है, जब वह ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है तब आत्मा ब्रह्म है, इस ज्ञानके होनेमें कोई विघ्न नहीं रह जाता ॥ १०३३ ॥

'अविज्ञातो०' इत्यादि। यदि कहो कि अविज्ञात ही सिद्ध है, तो वह समीचीन नहीं है, क्योंकि आत्मा अविज्ञानका विषय ही नहीं है, सब पदार्थोंमें विज्ञानका हेतु तो आत्मा है, तब आत्मामें अविज्ञातत्व कैसे हो सकता है ॥ १०३४ ॥

सर्वोऽप्यात्मनि विश्वस्य सर्वोऽप्यात्मनि शाश्वतम् ।
चाचिद्रूपात्मकं विश्वमस्तित्वमपेक्षया ॥ १०६५ ॥
चैतन्यमात्ररूपोऽयं नास्योदयास्तमयौ तथा ।
अविद्यास्पर्शनास्ते निष्क्रियोऽकारकोऽकर्ता ॥ १०६६ ॥
आत्मस्थामप्यविद्यां तामसङ्गो न स्पृशत्यसौ ।
छायातपौ वियन्निष्ठावसक्तौ वियता यथा ॥ १०६७ ॥
न रज्यते छिद्यते व्योम नाऽम्भसैवाऽपि क्लिद्यते ।
अविद्यया विद्यया वा नाऽऽत्मनोऽप्यविक्रियस्तथा ॥ १०६८ ॥
प्रत्यावृत्ताऽऽत्मनोऽप्यात्मन्येवाऽऽश्रयान्तराभावात् ।
अविद्या सिध्यतीत्याऽऽत्मन्यौरेव प्रकल्पिता ॥ १०६९ ॥
कल्पितात्मा अविद्याया हानिः कल्पितविद्यया ।
नाऽन्यथातो परिज्ञातमिति न्यायविदो विदुः ॥ १०७० ॥

---

'सर्वोऽप्या०' इत्यादि । सभी पुरुष अपने आत्मामें विलास करके फिर अन्यात्मामें विलास करते हैं । अतः चिद्रूपसे लेकर घी और बादल तक किसी स्वभावकी अपेक्षा किये बिना आत्माके अस्तित्वमें विलास करते हैं ॥ १०६५ ॥

'चैतन्य०' इत्यादि । यह आत्मा चैतन्यमात्ररूप है न इसका कभी उदय होता है और न अस्त होता है । न यह अविद्याका कभी स्पर्श ही करता है, न इसमें कोई क्रिया है, न यह क्रियाका करण है और न क्रियाका कर्ता है ॥ १०६६ ॥

'आत्मस्था०' इत्यादि । जैसे आकाशमें रहनेवाले धूप और छायाका आकाश कभी स्पर्श नहीं करता है, वैसे ही आत्मामें स्थित अविद्याको असङ्ग आत्मा कभी स्पर्श नहीं करता ॥ १०६७ ॥

'न रज्यते' इत्यादि । जैसे आकाश पीला नहीं होता और पानीसे सूखता नहीं है, वैसे ही अविद्या अथवा विद्यासे आत्मामें कोई परिवर्तन नहीं होता ॥ १०६८ ॥

'प्रत्यावृत्ता०' इत्यादि । आत्मासे परिकल्पित भी हुई जो यह अविद्या अन्य आश्रयके न होनेसे अपने आश्रयभूतोंकी कल्पनासे आत्मामें ही सिद्ध होती है ॥ १०६९ ॥

'कल्पितात्मा' इत्यादि । कल्पित अविद्याकी कल्पित विद्यासे ही हानि

विद्यया चाप्यविद्यायाः कल्पितत्वे समे सति ।
आत्मनो ब्रह्मता तुल्या भवेत् संसारमोक्षयोः ॥ १०७१ ॥
निवर्त्यभेदाद्भिन्नोऽर्थो ब्रह्माब्रह्मत्वयोर्भवेत् ।
अब्रह्मानात्मते वार्ये एकस्मिन्नपि वस्तुनि ॥ १०७२ ॥
स्वानुभूत्यपरोक्षेऽस्मिन् प्रतीच्यब्रह्मतां जनः ।
आरोप्य शास्त्रगम्येऽस्मिन्ननात्मत्वमकल्पयत् ॥ १०७३ ॥
अनुभूत्यपरोक्षोऽयं ब्रह्म शास्त्रसमर्पितम् ।
अस्मीति योगादारोपद्वयमत्र निवर्त्यते ॥ १०७४ ॥
त्यक्त्वाऽऽरोपद्वयं वस्तु ब्रह्मात्मत्वैकलक्षणम् ।
अद्वयमात्मतत्त्वैकरूपेण व्यवतिष्ठते ॥ १०७५ ॥
अनन्यापेक्षमात्मत्वमहंशब्देन लभ्यते ।
तथैव ब्रह्मशब्देन प्रतीचोऽस्याद्वयात्मता ॥ १०७६ ॥

---

होती है। जैसा यक्ष वैसी बलि [ और जैसी शीतला देवी वैसा गर्दभ वाहन ] यह न्यायवेत्ता पुरुष जानते हैं ॥ १०७० ॥

'विद्यया' इत्यादि। विद्या और अविद्या—इन दोनोंके कल्पित होनेपर संसार और मोक्षमें आत्मामें ब्रह्मता तुल्य ही है ॥ १०७१ ॥

'निवर्त्य०' इत्यादि। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यमें निवृत्त करने योग्य अविद्याओंके भेदसे ब्रह्मत्व और अब्रह्मत्व—इन दोनोंके अर्थ भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। एक ही आत्मवस्तुमें अब्रह्मत्व और अनात्मत्वका इससे निषेध सिद्ध होता है ॥ १०७२ ॥

'स्वानुभूत्य०' इत्यादि। मनुष्य अपने अनुभवसे सिद्ध इस प्रत्यगात्मामें अब्रह्मत्वका आरोप करके शास्त्रगम्य ब्रह्ममें अनात्मत्वकी कल्पना करता है ॥ १०७३ ॥

'अनुभूत्य०' इत्यादि। प्रत्यगर्थ अनुभवसे सिद्ध है और ब्रह्म शास्त्रसे समर्पित है, अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' ( मैं ब्रह्म हूँ ) इस वाक्यसे दोनों आरोप निवृत्त हो जाते हैं ॥ १०७४ ॥

'त्यक्त्वा' इत्यादि। दोनों आरोपोंका त्याग करके ब्रह्मात्मत्वसे लक्षित जो वस्तु है, उसीको अद्वितीय प्रत्यगात्मा जानकर स्थित होता है ॥ १०७५ ॥

'अनन्या०' इत्यादि। 'अहम्' शब्दसे यह लक्षित होता है कि आत्माको

अस्मीति वर्तमानोक्तेर्विद्याकाल एव मुक्तता ।
सिद्धाऽतोऽसौ न साध्या स्यादविरोधादिकर्मवत् ॥ १०४७ ॥
तस्मात्तत्सर्वमभवदिति वाक्येन वेदनात् ।
उच्यते सर्वभावाप्तिरसर्वत्वापनोदतः ॥ १०४८ ॥
स्वतः सर्वात्मकं ब्रह्म भात्यसर्वमिव भ्रमात् ।
विद्यया भ्रान्तिनाशेऽस्य सर्वत्वमवशिष्यते ॥ १०४९ ॥
विद्यायां सर्वभावाप्तिहेतौ ये कर्तृकर्मणी ।
[illegible]मिरित्यादिके पृष्टे ते समाहिते ॥ १०५० ॥
यन्नासौ सर्वभावाप्तिर्विद्यामात्राद्भवेत् ।
विनोद्यम[illegible] ॥ १०५१ ॥
विप्रस्य फलदो वेदो न शूद्रस्याऽधमत्वतः ।
देवादेरुत्तमस्यैव तथा विद्या फलप्रदा ॥ १०५२ ॥

---

अन्यकी अपेक्षा नहीं है तथा [illegible]से यह कथित होता है कि मनुष्यका [illegible] है ॥ १०४६ ॥

'अस्मीति' इत्यादि । अस्मि इस वर्तमान कथनसे विद्याकालमें ही मुक्ति सिद्ध होती है, इसलिए मुक्ति अविरोधादिके कर्म [illegible] साध्य नहीं है ॥ १०४७ ॥

'तस्मात्' इत्यादि । 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (वह ब्रह्म-ज्ञानसे सर्वात्म हो गया) इस वाक्यसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानसे ही असर्वत्वका नाश करके सर्वत्वकी प्राप्ति होती है ॥ १०४८ ॥

'स्वतः' इत्यादि । स्वभावसे ब्रह्म सर्वात्मक है, भ्रमसे असर्व प्रतीत होता है, विद्यासे भ्रमका नाश होनेपर सर्वत्व ही शेष रह जाता है ॥ १०४९ ॥

'विद्यायाम्' इत्यादि । सर्वत्वकी प्राप्तिके हेतु विद्यामें जो प्रश्नोंमें कर्ता और कर्मके आक्षेप किये थे, उनका मुझसे समाधान कर दिया ॥ १०५० ॥

'यन्नासौ' इत्यादि । सर्वत्वकी प्राप्ति विद्यामात्रसे नहीं हो सकती, उसमें उद्यम, [illegible], देवता आदिके अनुग्रहकी अपेक्षा है ॥ १०५१ ॥

'विप्रस्य' इत्यादि । ब्राह्मणको ही वेद फल देनेवाला है । अधम होनेसे शूद्रको फल नहीं देता है, वैसे ही देवादि उत्तम पुरुषोंको ही विद्या फल देती है ॥ १०५२ ॥

| *Letters of AUM* | A | U | M |
|---|---|---|---|
| *Bodies* | Sthūla | Sūkṣma | Kāraṇa (?) |
| *Aspects* | Physical | Emotional | Mental |
| *Centres* | Eye | Throat | Heart |
| *Characters* | Desire | Action | Knowledge |
| *States* | Waking | Dream | Sleep |
| *Self* | Vaiśvānara | Taijasa | Prājña |
| *Vedas* | Ṛg | Yajuḥ | Sāma |
| *Fires* | Garhapatya | Dakṣina | Ahavanīya |

# A BRIEF ADVAITA CATECHISM

1. *How did this Universe come into existence?*

If it exists at all, by the concretising of a strong thought in God's universal Mind. "God shines as the world" (GYV 3 : 12 : 2).

2. *What is God?*

The infinite, ineffable, absolute, eternal All-Self, Source and End of all, manifested in all, and in no way different from all.

3. *How did He create the Universe?*

In His infinite Mind spontaneously arose a thought-wave picturing this Universe in total detail; under His divine creative power this thought assumed perceptible form and thus veiled His Real Being from the beings enclosed in that Universe.

4. *Has this Universe any real existence?*

As it arises in the Mind of absolute Reality, it *has* a real underlying existence, but the world as *we* see it is distorted by our own memories, fears, desires and habitual modes of thought. As we discard these, we come nearer to a view of the *real* Universe as it exists in God's Mind.

5. *Is Matter eternal?*

No; in fact it has never at all existed. What we call Matter is a whirling vortex of thought-powers

moulded into ever-changing shapes by the breezes of imagination.

6. *What is the Individual Soul?*

God clothes Himself in thought-born bodies and lives in a mind-born world; this is the Soul. Its innate knowledge of its real divinity is hidden by these obvious forms, so that it dreams itself separate from the One Universal Self.

7. *How does it 'come into existence'?*

Misled by the veiling of the Divine Self and attracted by the beauties of the mind-born 'world', the innate Selfhood is expressed by a false assertion of the limited 'I', while it claims as its own certain of the objects it perceives.

8. *What is Sin?*

The timeless ignorance of the false egoism which dreams itself to be apart from God and chooses between the dream-objects of 'worldly' life.

9. *How did that Ignorance 'come into being'?*

God dreamed us into existence, and His creative power innate in us dreams other forms into being within our own mind-world; then we forget that we as 'individuals' are only shadow-phantoms in God's Mind.

10. *Is it inevitable in any Universe?*

Without the initial mind-activity there would be no Universe at all; when mind ceases to imagine 'outer things' or a world, the Universe at once vanishes, and God alone is known. So the ignorance of the ego-mind is inevitable if a 'world' is to exist.

11. *Is the Soul identical, or one, with God?*

It is identical in the sense that a wave is of identically the same water as the sea; yet while it is a wave, it cannot claim to be the sea. When the wave subsides, the sea alone *is*. The Soul cannot exist apart from God, as the wave cannot be taken out of the sea. Yet it is not God in His Fullness, so long as it feels itself a Soul.

12. *How did it get caught up in bodies?*

God's innate Selfhood falsely identifies itself with, and relates itself to, what it perceives. Seeing a body and aware of its feelings, it says, "This is mine", and can no longer shake off the illusory connection.

13. *How can the Soul become free?*

By ceasing to identify himself with the bodies he has so long falsely imagined his own, and realising himself to be really the Cosmic Self that uses *all* existent bodies, and so to be immortal and universal.

14. *Can he do this unaided?*

Yes, but he may be greatly helped by God's grace when his mind matures and, through long practice of inner dissociation from sense-objects, becomes strong enough to concentrate wholly on the inner Formlessness.

15. *How does God's grace help him towards Freedom?*

He provides saintly company, spiritual guidance through the scriptures, the power of correct reasoning, and a sudden unexpected experience of Reality from time to time.

16. *What is the Bondage he thus escapes?*

Egoism that forgets the real Self, limiting itself by narrow vision to the bodily environment and

powers, taking that to be the self, and so desiring or detesting objects and events from the personal point of view.

17. *And what is the Freedom he attains?*

The eternally blissful experience of omnidentity[1] free from ego, desire and anxiety, and living wholly without relationship to objects and events in this shadow-world, being merged wholly in God.

18. *All being God, why do not all at once become free?*

Because most Souls are still dazzled by the attraction of sense objects and chase after them. When they cease from this folly, all Souls will at once be freed from the illusion of separateness.

19. *Are man's thoughts his own?*

To a great extent. He sees the world created by his own ideas, and can never really perceive the world of another's fancy. But thought itself is a vast universal ocean of Mind, wherein the 'water' constantly flows freely from one wave-form to another.

20. *Can man choose aright?*

Yes. The same mind which fancied its egoistic world can realise the true underlying world of Reality, and choose to live in that blissful awareness.

21. *How does man find God?*

By ceasing to imagine the separate ego or world, he finds that God alone *is*. Stopping the wheel of thought, he knows God in the Silence.

22. *Where is God Himself?*

[1] *i.e.*, being the 'All'.

the Divine State, he helps the aspirant to persevere until attainment on the chosen path.

29. *What are the Qualifications for the Path ?*

An intense longing to tread it, a clear perception of what will help or hinder the treading, a resolute rejection of everything but God the One Self, and the virtues of a pure mind and devoted heart.

30. *Is it necessary to renounce the 'world' ?*

That 'world' is only a fancy of the ego-mind, which alone hides Reality from view. This mind alone is to be totally renounced—which does not imply any change in place or activity of the body, though at some stage the aspirant *may* withdraw into lonely spots in search of quietness so that the mind may there be more easily stilled.

31. *What are the means to Realisation ?*

The practice of a living Affirmation of innate divinity, detachment from all 'exteriors', control of mind and bodies, devotion to the One Self or God, and the ceaseless practice of the non-egoic 'Natural State'. All these are greatly aided by pure thoughts and kind deeds.

32. *How can the Final Truth be known ?*

By direct and ecstatic intuitive experience of the self as the Universal Self or God, and then living wholly thus merged in the Divine. This involves the loss of all ego-sense, the cessation of forming plans, opinions and desires for sense-objects, and the seeing of everything as equal to and totally disconnected from the self.

33. *Is there such a thing as Fate ?*

What we call fate or destiny is absolutely the result of our own past desires and motivated actions. We create our own 'world' entirely, and we can wholly remodel ourselves and our environment by the use of creative thought or will.

34. *Who are the Gods ?*

Individual souls fitted to live on the 'higher planes' and with powers greater than human; they too are creatures of the mind's imagining, unreal.

35. *Is there value in worshipping Personal Gods ?*

Yes, at an early stage such worship tends to purify the mind and train it in a concentration which will later help it to transcend thought and so enter the Silence, wherein the Real can alone be found.

36. *Is the Universe good or bad ?*

In a real or absolute sense it does not exist. Its appearance is indifferent in itself, and hinders Realisation only when the Soul's unwary fancy imposes on it a fictitious actuality. By resisting the strong pull of the 'world', the Soul gains strength required for the Quest of God.

37. *Does any Hell exist ?*

As separative life is unnatural for the Soul, it is all a kind of Hell. There are also unpleasant states of mind more hellish than others, and these are reached by means of evil thoughts, words and deeds.

38. *What happens, then, to wicked men ?*

The deliberate choice of egoism instead of the Universal Self is wickedness; such Souls plunge themselves deeper into the misery of endless rebirth in

wretched conditions, on this physical earth or on hidden 'planes'.

39. *Is there any Devil in the Advaita?*

No, as the name of this Religion implies, there is only ONE, and that One is the Absolute, beyond all possible conceptions of good and evil.

40. *What is death?*

The real death is a slipping away from ceaseless abidance in the Divine Self. What men call 'death' is only the fading out of one dream-world as another appears, which seems equally real and substantial so long as it endures.

41. *What happens to the ordinary Soul after death?*

After the brief swoon of shock at the change, it finds itself in another Time-Space order or 'world', moulded out of its own habitual thoughts and desires. It lives in this world until that too fades out on the dawning of another, and so until it eventually finds itself reborn in flesh.

42. *Does the Soul re-enter bodies after death?*

It is 'reborn' at once in the subtle world, where it uses subtle bodies which seem to it as solid as the physical does to us. When drawn back by desire for enjoyment or the fear of trouble, it again takes on a physical body in the world of flesh.

43. *When does reincarnation cease?*

When the Soul no longer desires anything which can be had only on these 'lower planes', and seeks only God or the Self, then it has no longer any cause to imagine a world and so create a rebirth.

44. *What is the Final Goal of all life?*

The restoration of perfect realisation of the ONE, beyond whom nothing at all exists, and the eternal living in that total freedom from all illusion of separateness.

45. *Is this a Dualist Religion?*

The very idea of "TWO" is the original error which brings about the gloom of ignorance and separation, as the cat seeing her own image in a mirror thinks it is another cat. The truth is that there never is but ONE, and in that ONE is latent the infinite multiplicity of creative Mind. Having perceived that ONE, the mind is lost therein, and multiplicity disappears for evermore. Really, there never was any Individual Soul, or bondage, or ignorance, or liberation; GOD alone *is*. When mind ceases to create new fancies, He alone is seen as the All.

46. *Can you sum up this Religion in a few words?*

As its name implies, it is a powerful affirmation of the absolute UNITY as sole existence, to be realised by personal experience in a bliss beyond words as a direct and total merging in GOD. Any attempt to describe this ecstasy, or the ONE BEING, in words must fail, for the "mind is the slayer of the Real"; nor can the Truth be established by argument or mental cleverness, which further conceal it from the Soul.

| | |
|---|---|
| GA | Gospel of Advaita |
| GGS | Gospel of Guru-Granth Saheb |
| GH | Gospel of Hermes |
| GJ | Gospel of Jesus |
| GMC | Gospel of the Mystic Christ |
| GN | Gospel of Narada |
| GYV | original Yoga Vāsiṣṭha |
| HS | Hari-stuti |
| i.e. | that is |
| JG | Jīvanmukti Gītā |
| lit. | literally |
| M | Māṇḍūkyopaniṣad |
| MBU | Maṇḍalabrāhmaṇopaniṣad |
| MdU | Mudgalopaniṣad |
| MkU | Muktikopaniṣad |
| MrU | Maitrāyanopaniṣad |
| MunU | Mundakopaniṣad |
| NU | Nirālambopaniṣad |
| op. cit. | last work by him quoted |
| p. pp. | page, pages |
| PBU | Pās'upatabrahmopaniṣad |
| Ps. | Book of Psalms |
| PU | Paiṅgalopaniṣad |
| R | Translator of Viveka Cūḍāmani (Swami Madhavananda) |
| SBU | Subālopaniṣad |
| Skt. | Sanskrit text reads |
| SkU | Skandopaniṣad |
| SN | Svātma-nirūpaṇam |
| SrU | S'ārīrakopaniṣad |

| | |
|---|---|
| SS | S'atas'loki |
| SSU | Sarvasāropaniṣad |
| SU | S'āṇḍilyopaniṣad |
| Tat. | Tattvopades'a |
| TBU | Tris'ikhibrahmaṇopaniṣad |
| TU | Tejobindopaniṣad |
| U | Translator of Minor Upanishads (T. R. Srinivasa Ayyangar) |
| V | Translator of Yoga-Vāsiṣṭha Laghu (K. Narayanswami Aiyar) |
| VC | Viveka Cuḍāmani |
| VU | Varāhopaniṣad |
| YSP | Yoga Sūtras of Patanjali |
| YSU | Yogas'ikhopanisad |
| YTU | Yogatattvopaniṣad |
| YV | Yoga Vāsiṣṭha (short version) |

# SYNOPSIS

**Chapter One : GOD.** 1. The whole universe is nothing but the Ineffable God, the One Reality ; 2 as He, the Universal Self, permeates and encloses all, nothing is unreal or apart from Him. 3. Such a Universal God can be worshipped by every self only through realising oneness with Him, when purified of egoism by adoring the Personal Ideal in any beloved form. 4. God is all in all, and to know Him is to be free from all the stains of ignorance.

**Chapter Two : THE WORLD.** 5. Stage by stage the whole universe spontaneously appears in God, souls manifesting from Him like sparks in a flame. 6 The [illegible] world arises and vanishes in Him like a bubble in the waves. 7. It is really only mind and is there whenever there is a mind to perceive it ; it is no more substantial than dreamland itself, 8. and disappears when mind ceases to act. So if we stop the mind we can realise what precedes creation. 9. Time and Space, Birth and Death, the karma-produced lives beyond, are all mental projections, unreal as dreams, 10. for the *only* Reality is the Unmanifest God Himself, self-radiant everywhere. Bondage, soul-growth and spiritual unfoldment are all illusory, for the eternally Perfect alone exists.

**Chapter Three : THE SOUL.** 11. Differentiated as a focus of Divine life, the soul is charmed with the world's beauties and, trying to claim them for herself, is caught up in them. 12. Really the soul is only God's image, the One Self ; to know her identity with everything in Him is to be free from the illusory separate self and to 'see' God. 13. Egoism is to be gradually refined out of

self-identification with personality and body into self-identity with the Universe and with God, its Self. 14. Only the false egoism hides from us the glory of the Immanent; we choose among forms assumed by God, and these preferences blind us to His omnipresence in all alike. 15. The false idea that the personality is the self, alien to the world seen as if outside, is the cause of our misery. 16. When we can be what we will, why not will to be free and ever-blissful? 17. Fools believe themselves bound and try in many ways to get free; the wise know they are eternally free, being essentially one with God, and make no struggle.

Chapter Four: **BONDAGE AND FREEDOM**. 18. Waking, dreaming, sleeping, the same one self experiences all, whose real life transcends them all. 19. To the deluded soul seven modes of consciousness are open and plunge him ever deeper towards oblivion. 20. Perceiving a world, the mind thinks it real, likes some things and dislikes others, and so is tossed by its own ideas restlessly to and fro until self-centred thought is ended. 21. Bondage lies in this ceaseless thinking, this preference of one over another, which swings the mind between hope and fear, desire and repulsion. 22. Regrets and desires distort the mind's view of the world, and from life to life imprison it in its own concepts. 23. Being simply self-centred thought, mind must be destroyed by perfect equanimity and impartiality; then all prejudices vanish, and the *real* world, which is God Himself, is seen in all alike. 24. All acts from motive tend to greater bondage; actions without the thought of self are free, spontaneous and divine. 25. Freed from fear, desire and regret, the soul is always happy whatever comes, knowing that all alike is only God.

Chapter Five: **WHO CAN BE SAVED**? 26. The ignorant are always unstable, while the wise rest in the Natural State free of thought. 27. God is infinitely attractive; leave all else and abide in Him and life will be ever-joyous. 28. The highest Truth is to be given only to a purified and selfless aspirant, 29. who is

already mature and full of graces, desireless and eager to find Reality alone. 30. A true Guide helps the intelligent seeker in the search, one who meditates on spiritual teachings. 31. He should serve a competent and kindly Guide, blameless and wise, in whom God appears to him; by such he can be awakened to the Truth. 32. Scriptures have their value, but one should not be lost in their endless verbiage; nothing is essential but to seek the Self within the heart. 33. Direct experience of that Self is the only real way to know the Truth; that can be gained by practising the wisdom of the Guide that teaches that all is the One God.

Chapter Six: **ENTERING THE PATH.** 34. The seeker must know what is worth having, reject all else, be wholly steady in the search, and desire supremely the One Reality, God, the Self. 35. Success is ensured by a quiet withdrawal from the world's excitements into fixity in practising the Guide's teachings. 36. Calm and silent effort dissolves the obscuring clouds of desire for a name as sage or scholar or for physical comfort, and the tendency to excess even in good things. 37. The mind is to be refined by patient effort in saintly company, replacing ignoble with noble thoughts, and then transcending thought itself. 38. We are what we have made ourselves, and we can mould ourselves anew into selfless and childlike sages if we will; 39. but this demands an unremitting effort to dissolve the agelong habit of self-centred thinking. 40. Steady abidance in the Natural State beyond thought reveals God, the Universal Self, in all His bliss. 41. As we fashion our own world after our own mind, its ideas and desires, it is futile to flee to forests if we carry a restless mind with us there; it matters little what the body does or where it lives, the inner attitude matters profoundly. 42. The door to Freedom may be opened to us by Peacefulness, Conscious Search, Surrender, or the Company of a Saint.

Chapter Seven: **MEANS OF ATTAINMENT.** 43. Study of the Truth partly expressed in words leads to our pondering it

and being silently absorbed in it; when all idea of our selves as thinking of it drops, Ecstasy supervenes. 44 Ecstasy is attained by bringing senses and mind, limbs and breath under control, and then gradually withdrawing into the Silence. 45. That Ecstasy is the soul's thought-free Natural State, without limitation or separateness, wherein God alone is known as the One Reality—a state of infinite and eternal bliss at being merged in Him.

**Chapter Eight: THE SEVEN COURTS** 46. During ages of rebirths the worldly prefers pleasures to the lofty bliss of God-Realisation, 47 till he wearies of life's troubles and decides to seek Eternal Reality by the practice of virtue, gentle ways, the study of Scripture, and the company of saintly men. 48. He enters deep into spiritual learning, sheds defects and develops intuition; 49. as he delights in things of the Spirit, he begins to despise worldliness, and spends all his time on the Quest; no longer worrying over outer events, he dives deep in the sweetness of the Self. 50. So he comes to be known as a Saint whose very glance inspires others, and even if he rests here he will continue his progress in a later favourable birth. 51. Being wholly engrossed in the inner world of spiritual Reality, he now sees everything outside as a dream, 52. and is thus driven more swiftly inward to the endless Fount of Bliss, so that he seems asleep to the outer world, 53. which he hardly notices any more, acting in it like a somnambulist while his whole mind is drowned in the Divine Bliss found in himself. 54. No longer can he hold a separate body; he joyously plunges into that Infinity, and the 'apartness' of the individual perishes for ever in the Immortal Self. 55. The goal of these seven stages is the only thing worthy of pursuit in the world.

**Chapter Nine: INFINITE PERFECTION.** 56. When all separate thought has ceased, the Soul, now united consciously with the entire universe, is for ever washed with perfect bliss. 57. Wholly free from defect or limitation, without a personal ego,

the eternal and infinite Self is a friend to all and enjoys moveless calm joy, the very incarnation of blissful Godliness. 58. Totally merged in God, he is immanent in all and infinitely aware beyond all Time and Space. 59. So he freely moves among men, playfully shedding love and grace on everyone, being all things to all men as circumstances may require. 60. Desireless and ever at perfect peace, he is a source of boundless happiness to all; who can understand his free mind, bathed in Divine wisdom and perpetual beauty? 61. Destiny prevails no more on him, no laws of Nature bind him now; he appears on earth at his own will solely to bless all beings living there, and no act of his reacts upon himself 62. Lost in the ecstasy of a loving embrace with God, his acts are done by God in God—there is no 'I' any more for him! 63. And when the body, called by Nature, drops away he remains merged entirely in the Divine Abyss, and nothing is left behind. 64. Vainly does the Adept try to tell of his consciousness of that perfect unity of God—it is beyond all words 65. Only as he fades into the light of that endless Glory, he implores his human brothers to tread the Path that he has gone, and so like him to become the ecstasy of God.

# THE ADHIKAR

"I am bound and would be freed!" he who thus resolves, (being) neither wholly ignorant nor a knower of the Real,[1] is ready for this book. (YV. 1 : 2)

It is usual for Sanskrit books on philosophy to state in some such way the persons who are qualified to read them, it being well understood that premature enlightenment is futile.

The wholly ignorant cannot understand the Truth if it be shown to him; one who himself already knows the Truth neither needs nor cares to read in books. That is why it is only those who are aware of their own limitations and defects, who yearn for that freedom instinctively felt to be the right of every spiritual being, who can study the Advaita Truth in books such as these.

[1] *nātyantamajño notajjñaḥ*

# PRELUDE

The Mandukya alone is quite enough to free those who long for Freedom, but (if) even (after reading that the mind) does not attain[1] to Wisdom, (one should) study the Ten Upanishads. (MkU. 1 : 1 : 26-27)

## The Mandukyopanishad

1. AUM, this Word[2] is the whole (universe); its clear meaning is Past, Present and Future. Indeed all is the (utterance of) AUM,[3] and whatever else is beyond the 'Three Times', that also is truly the (utterance of) AUM.[3] For all this (universe) is God, this Self is God. (M. 1-2)

2. Now this Self has four Aspects.[4] The *Waker*, whose sphere (of activity) is the

[1] *lit*: unsuccessful, unessential (*asiddham*)

[2] *or*: letter, *or*: immortal (*akṣaram*)

[3] *lit*: the making of the AUM (*aumkāra*)

[4] *catuṣpāt*; *lit*: 'four feet', but the word is often used for 'parts', 'sections'. As the Self is impartible, I have preferred the word 'aspects'.

Waking State, (who is) conscious of the outer (world), with seven limbs[1] and nineteen means of contact[2] to enjoy solid (objects), is the First Aspect. The *Dreamer*, whose sphere is Dream, (who is) aware of the inner (world), with seven limbs and nineteen means of contact to experience the subtle (objects), is the Second Aspect. Where the sleeper neither desires[3] anything at all nor sees any dream, that is (deep) Sleep; the *Sleeper*, whose sphere is (such a) sleep, (who is) onefold and a (mass of) intense awareness only,[4] is happily experiencing bliss (while) the mind faces Knowledge, is the Third Aspect. This is the lord of all, this the knower of all, this the inner ruler, this the womb of all, because (it is) the Source and End of beings. (M. 2-6)

3. Not conscious of the inner and unaware of the outer (world), unconscious of both, not

[1] The seven 'limbs' are given by Sankara as: head, eyes, breath, mouth, trunk, urinary-genital organs, feet.

[2] The fourteen 'mouths' or 'faces' (*mukha*), are given by Sankara as: five sense organs (ear, skin, eye, tongue, nose), five motile organs (mouth, hands, penis, anus, feet (?)), five vital airs (*prāṇa, apāna, samāna, vyāna, udāna*) and four-fold inner powers (mind, intellect, memory, egoism).

[3] Dream is here definitely associated with desire, as in much modern psychology. See the Introduction

[4] *ekībhūtaḥ prajñānaghana*.

vividly aware, neither conscious nor unconscious, unseen and unrelated[1] (to other things), to be neither grasped nor defined, unthinkable and unnamable, the sole essence of Self-consciousness, worldless,[2] still, blissful, secondless —(Him) they count the Fourth.[3] He is the Self, He is (the one) to be known. (M. 7)

4. He is the same Self of the AUM taken in syllables—the 'A', the 'U' and the 'M' viewed as letters; the Aspects (correspond to) the letters and the letters (to) the Aspects. The *Waker*, whose sphere is the Waking State, is 'A', the first letter, because he pervades all and is the first; he who knows this (Aspect) truly fulfils all desires and becomes the first (of all). The *Dreamer*, whose sphere is Dream, is the 'U', the second letter, because it excels or comes in the middle; he who knows this (Aspect) certainly excels in knowledge and becomes equal to all, (for) none is born into his family ignorant of God. The *Sleeper*, whose sphere is (Deep)

[1] *adṛṣṭam avyavahāryam*

[2] *i.e.* not seeing any world, for the mind is in that state wherein no world is created ([illegible]).

[3] *caturtham*, more usually called *Turya*, a word of the same meaning.

Sleep, is the third letter 'M', because it is both the measure[1] and that wherein all become one; he who knows this (Aspect) certainly comprehends all and takes all into himself. Likewise he who knows this, the Fourth (Aspect) soundless,[2] transcendent, unmanifest,[3] still, blissful, secondless,[4] the very (utterance of) the AUM—the self who knows This enters the SELF by means of the self (alone).[5] (M. 8-12)

This Upanishad, often used as the essential text in Advaita philosophy, is generally said to be extremely hard to understand. But surely that difficulty comes rather from what has been read into it by many theorists bent on creating difficulties which will prove their own cleverness in solving them. Let us turn away from all previous commentators, and see just what the text actually has to say to us; we shall find it quite clear and straightforward.

First, it declares that the whole universe is triune in nature; there are three phases of Time united in Eternity—just as there are the three *triputi*'s: seer, seen and sight, etc., the triplicity imminent in all manifested being: two, and the relation between them.

[1] *or*: proof.

[2] *lit*: without parts.

[3] *i.e.* not seeing any world, for the mind is in that state wherein no world is created (*prapancopas'amam*).

[4] *i.e.* simple, the same everywhere; there is no other to modify or affect it.

[5] *i.e.* unaided.

Asleep alike to the 'outer' and this 'inner' or mental world, wrapped in a calm unawareness of everything but himself and therefore oblivious of all relationships with that self, thus free from all anxiety, fear and enmity, from hope, regret and all desire—resting in that blissful 'unconsciousness' to all but the self alone, the Sleeper, or *Prājña*, enjoys the undifferentiated bliss of 'deep sleep'. And this we are told, and herein modern psychology agrees with the ancient seers, is the 'Lord of all', the 'Collective Unconscious' of Jung, in whose silent depths God, Source and End of all beings, may be found by the patient seeker.

Passing beyond even this happy state, the seeker knows himself in that ineffable 'Fourth State', *Turya*, wherein he is unaware equally of the 'without' and the 'within', unaware even of his own [illegible] and yet fully conscious to the Reality which is Awareness absolute. Such a state obviously cannot be spoken of in words; it can only be vaguely hinted at by negatives and must be realised in practice. This is the '*Neti Neti*' of the Veda, neither this nor that, inexpressible save as the 'Void' or the 'Nirvāṇa' of some schools. It is the 'Great Dark' of the Dionysian tradition in Western Mysticism, 'dark' only because its Light cannot be seen by eyes or understood by mind. This is the ONE, the immanent SELF of all, the SELF in in whom all subsist; we name That Unutterable 'GOD', because to speak of It we must use some term, however futile and inadequate it be.

This is the ONE SELF manifested as the AUM in this triune universe; each of the three 'letters' of this Creative Word expresses one aspect of the Self—Waking, Dreaming, and Asleep. For the 'individual' Self cannot be divided, even for analysis; it is the Monad, the 'Advaita', non-dual one, the 'Kaivalya' that *alone* exists.

The *Waker* is expressed by the first letter 'A', because his state is first experienced, even by the most ignorant of earthly beings; as representing God manifest in the 'outer world', it is everywhere in that world, all-pervading, omnipresent. One in full control of this Waking state achieves his ambitions, conquers others, attains all he wants.

The *Dreamer* is expressed by the second letter 'U', because his is the middle state, as the sound of 'U' comes from the middle of the mouth. As this corresponds to the '[illegible] self', to the hidden desires and memories, knowledge of its nature truly gives man control over himself and the ability to seek out that 'God' who is hidden below the inmost strata of the 'Unconscious Self'.

The *Sleeper* is expressed by the third letter 'M', because this terminates the 'word' of creation and utters the silence wherein all 'outer' and 'inner' things merge into the Unconscious depths of the Self. To understand and fully perceive this state, to be aware of the Self as functioning therein, is indeed to know *all*, for therein all is one, nothing existing there save the One Self.

It is the summation of these three, the soundless 'point' of Divinity which in Sanskrit closes the writing of the word 'AUM', which represents the Unmanifest, Infinite and Eternal Self, known as pure SELF alone, beyond expression, beyond all utterance or the first vibration of creative power. To know THIS is indeed to *be* that SELF in all Its fullness, to be merged therein, identified with THAT for evermore.

## CHAPTER ONE

# GOD

God, or as the Advaita texts usually name Him, Brahman (a neuter noun), is naturally the subject of the opening chapter of this 'Gospel'. In it is declared the whole teaching of Advaita: that He is One, and there is none else anywhere at all. That He is therefore equally everywhere, in all, outside of all, the very self and form of all; and that no worship of Him can be real save the expression of Him in heart and mind and life, as all in all. Knowing that this alone is true Knowledge, the devotee of Truth cannot but delight at all times in His sole existence as the Reality beyond all the shadow-forms we may imagine.

## 1. God Alone Is

1. All this (universe) is certainly God; . . . whatever exists down here is only He.[1] (MU. 6 : 12-13) There is no other material cause of the world[2] but God, so all this world is God alone and nothing else. What pervades and

[1] U reads: What is in Him, that alone exists. The text runs: *samastam khalvidam Brahma . . . yadastīha tadevāsti*

[2] *Skt: upādānam prapancasya*

is pervaded is false, (for) according to Scripture everything is the Self. (YSU. 4 : 3-4) Everything derived from[1] the True God is also true;[2] not even a speck of this (universe) can be otherwise.[3] The delusion of one who says it is has not gone, he babbles like a sleeper. (VC. 230)

2. This whole universe which is ignorantly seen as manifold is all only God, and altogether beyond the bounds of thought; (VC. 227) and that wholly pure and tranquil All-Self beyond perception is full of Being-Awareness-Bliss[4] passing knowledge down here. (YV. 29 : 18)

We lay our foundation on the Oneness, the essential Truth behind all seeming multiplicity. We begin our 'Gospel' with the same fundamental with which it is to close—the one Truth to which all philosophies, all mystical experiences lead.

As God alone exists, *i.e.* is independent, IS in His own right, beyond all we can conceive of as 'Being'—everything except God can have no *real* independent existence. All we sense as 'outside' us, this objective

[1] *lit*: effect, work of.

[2] *sadbrahmakāryam sakalam sadevam* : Note that it is Sankara who here so forcibly expresses the *real* existence of the 'world' in at least one sense.

[3] R reads: Its essence is That, and apart from It it does not exist.

[4] *Saccidānanda*, the usual term for the Triune Supreme.

universe, is nothing but that One SELF whom, for want of a real name, we call 'GOD' or 'BRAHMAN', the all-extending Reality. So too the whole subjective universe, dimly perceived within the 'individual self', is not other than He. All, all, all is God, the One and Only REAL. So there is nothing absolutely false, there is no inherent 'illusion'. for when there is nothing at all but the One REALITY, all must be *real*. It is our false seeing, our misunderstanding, which is the 'illusion' of which some self-styled Advaitins speak. This whole universe, within and without, is only God, the TRUE and ETERNAL GOD, the only ONE.

Because the universe is itself the ONE, the Infinite Eternal, no human mind can ever hope fully to perceive its [illegible] beauty, to taste to the uttermost its transcendent bliss. Beyond thought and perception, beyond the reach of the most daring imagination, that Wonder stretches out into endless inexhaustible perfection. Eternity itself can but unveil the outer surface of that Infinity; its centre, its living heart can never be known by 'separate' or 'individual' souls. God alone knows Himself.

## 2. He is Omnipresent

1. There is only the one sole God, whose real nature is ineffable[1] and beyond mind and speech; in Him there is no variety[2] at all. (VC. 469) This supreme ONENESS is real,[3] and beyond (HIM) there is nothing else, for

[1] *or*: incomprehensible (*anirūpya*)

[2] *i e*, duality. "In Him is no shadow of turning, no variation at all."

[3] *sadidam paramādvaitam*.

in the state of realising the highest Truth no other thing whatever exists.[1] (VC. 226) The Self is here, there too is the Self, (MU. 6 : 10) the whole world is full of the Self (TU. 6 : 47) thumb-sized[2] and like a smokeless flame! (PU. 3 : 9)

2. By Him is all Space pervaded, while He is pervaded by nothing at all ; unbroken and simple[3] without and within, He abides. (AG. 2 : 14) Pure as Space, absolute[4] and boundless, moveless[5] and unchanging, void within and without, same and secondless, Himself the Supreme God, what (else) is there to be known ?[6] (VC. 393) Having seen which, there is none else to be seen ; having become which, there is nothing else to become ; having known which, there is nought else to be known—thus may God be defined.[7] (AB. 55)

[1] When God is known, in the highest ecstasy, not even the knower as a separate existence is found ; this is a matter of experience.

[2] As the Self is often said to dwell in the 'heart,' it was pictured as of this size Of course, it has really no size at all, being independent of both space and time, and pure light.

[3] *or* : uniform.

[4] *lit* : without alternation.

[5] *lit* : without vibration.

[6] *or* : perceived, realised.

[7] *or* : understood.

Yes, this 'all' is only God, the infinite and indefinable, all that we see of difference is because our sight is 'out of focus', wearied by the dazzling glories of His manifested universe, and unable to perceive clearly what alone is really there. When the defect of our spiritual sight is cured, when we can see what *is*, and not what our minds mis-create within the whirling vortex of their misleading thoughts, then we know for ourselves that "everything which meets the eye, all things hidden in the deepest heart" is only God Himself. Inside, outside, on every side is the self alone, one, eternal, limitless, and all-pervading.

Changeless and simple, onefold, absolutely *pure*, because no other can exist to defile that total Perfection; no evil *is*, what else is there to know or to be known save He? Knower, known, knowledge itself, all alike are that One Being beyond all being—Source, Goal, Perfection Absolute.

## 3. True Worship

1. (Now) how can I worship that Formless One, undifferentiated, benign and changeless, by whom all this (universe) is filled—the Self (filled) by the Self in the Self?[1] (AG. 1 : 2)

2. A heart free from such passions as desire, speech untainted by falsehood, activity without [illegible] is worship of the Lord.[2] (DU. 2 : 8) Purifying worship lies in

[1] *yenedam pūritam sarvamātmanaivātmanātmani.*

[2] *Cf.* the great passage in Isaiah 1 : 17.

all acts tending to the burning of the body; that purifies whereby the (mere) knowledge of a deity is given up and the Self is grasped.[1] (YV. 30 : 74)

3. The whole Waking State is the outcome of thought alone,[2] the entire play[3] of the world depends only on thought. Let this mere thought go, turning to the Thought-free,[4] and in the heart realise My state. Pass your time thinking of Me, talking with Me,[5] explaining Me to one another, having become solely absorbed in Me. (VU. 2 : 45-46)

4. Beyond the gloom of ignorance and without any false lights,[6] one may realise the stainless pure Bliss beyond mind and voice in this way: "I am God, the bliss of intense Awareness!" (AU. 2 : 47-48) Now for that (worship) the very best flowers are indeed Wisdom, Impartiality and Calmness;[7] wise

[1] *tyājya devāvabodhātmagrahyam.*

[2] *or*: is only known by thought (*sankalpa*), or purposive thinking, motive.

[3] *or*: beauty.

[4] *nirvikalpa*, a name for that state of ecstasy which passes beyond all merely conscious experience.

[5] *or*: glorifying Me with songs.

[6] *or*: appearances, fallacies (*ābhās*).

[7] This recalls Guru Nanak's way of talking (*cf.* GGS 30, 68).

of that 'little self' in thought and deed and word, the 'mortification' of the gross, the purely physical, a steady devotion to the Supreme One Self behind all phenomena —such alone is real worship for one who knows.

Turning from perception of the mind's outward play, this thought-born universe, the self that seeks in the heart the thought-free state of Him whence all derives, the self that *loves* that One Eternal, becomes eternal, infinite and truly wise. Putting aside the ignorant assumption of separate selfhood and the countless deceptions of thought, one can realise that Eternal as everywhere within and without, the self as one with the Self. Adoring that One with all the heart's spontaneous virtues, one knows and loves Him beyond whom is nothing that can be known or loved.

But until the self can turn from thought to the great silence of thought-free contemplation, it is well to worship the many holy forms of beauty conceived by all the religions. The mind is purified of grosser concepts by meditation on and service of these 'personal' deities so long beloved by the masses of mankind. It matters not at all which form be chosen for this preliminary adoration; all alike are mind born thoughts, none of them portray the Formless as He is, and any one may serve to still and purify the mind till it can bear to go beyond all forms into the silence of that ineffable 'Darkness' where God really dwells. Nothing man can think of is so stupid as religious fanaticism in favour of one form above another; while all alike are relatively true, while all alike are factually false, men yet fight for those phantoms and drown themselves in blinding hate for those 'other selves' whose minds are drawn by heredity, education, environment, to prefer some form other than they themselves have chosen. And so man multiplies his miseries out of the very means given for his liberation!

## 4. Adoration of the Lord

1. And now hail to the Self, the pure Reason inseparate from me, (for) I am one who has at last[1] attained to the God (dwelling) in all the worlds! (YV. 22 : 76) (O God), Thou art the Universal Being, the ancient Lord of Beings, the one Ruler and overshadowing the world. . . . With one step all was covered by Thee,[2] . . . the Terrible One[3] dwelling in the cave (of the heart) of all creatures, . . . (the Mystery of) night and day, of acts and times past, future, present; . . . Thou art the warp and woof sought out by actions![4] (EU. 1, 3, 5-6, 9)

2. I praise that Hari, destroyer of the gloom of worldliness,[5] into whom the devotees of the Deathless One merge on giving up the body, having step by step removed all that is seen, having recognised and realised what

[1] *lit*: after a very long time.

[2] An allusion to the story of Bali, the Emperor-devotee tricked by the Avatar Vāmana, found in the *Bhāgavatam* and other *Purāṇas*.

[3] Rudra, a form of deity identified with Siva.

[4] *i.e.*, the ultimate aim of all activity.

[5] This refrain reads: *tam samsāradhvān tavinās'am Hari mīḍe*. The name *Hari* signifies the 'Saviour', who takes away all evil.

remains as the pure and radiant Self infinite as Space. (HS. 11)

3. I praise that Hari, destroyer of the gloom of worldliness, who is everywhere, embodied in all though not (Himself) the all, who knows all but whom none can know at all down here, (who), by being everywhere the Inner Ruler, holds different things together (HS. 12)

4. I praise that Hari, destroyer of the gloom of worldliness, who has thus created all, being in this way its own very self, and (who) has then spread out this whole universe within the entire Inconceivable, who is the One Supreme Self free from both real and unreal. (HS. 22)

5. I praise that Hari, destroyer of the gloom of worldliness, this uniform Awareness dwelling in many bodies, having known whom (men) down here very swiftly become Himself, and being merged in whom they are no more reborn in this world. (HS. 29)

6. I praise that Hari, destroyer of the gloom of worldliness; until in the self that Knower has been seen as "I am He", so long does all this (universe) seem to be real, but

on seeing Him in oneself all this becomes (clearly) unreal.[1] (HS. 40)

In this fine hymn attributed to Sankara the soul thus pours itself out in ecstatic worship of heart and mind towards that Infinite Eternal beyond all these mind-born deities, before whose blinding glory all lesser lights must fade, all darknesses must flee. He is the One Source and Goal of all, the [illegible] Omniscient in all, creating all and conscious in every created thing, knowing whom is to be merged in Him and to see nought else but He—all other things becoming translucent shadows lost in His light ineffable !

[1] Details of the meaning of this Hymn will become clear in the course of our study.

CHAPTER TWO

# THE WORLD

To speak of 'beginnings' when nothing at all exists save the Eternal, Beginningless, is obviously a compromise, an adaptation to the thinking of the ignorant. Yet to build up a philosophy in rivalry to early thought, the Advaitins had to use the basis of an earlier cosmology reared on the Upanishads; this explained how the One Changeless yet expressed His infinity in change, how the countless beings of creation arose in His Being. Strictly, of course, all this lies outside the field of pure Advaita; it is not the absolute Truth, the *paramārtha*, but an empiric account for practical purposes, the *vyavahārika*, whereby in a logical way the ineffable experience of the One may be reconciled with the persistent appearance of the Many.

In fact, all this seeming universe is spun by the mind out of its own thought substance and, like a dream or waking phantasy, disappears when the Soul goes beyond the mind that built it up. Because it is all thought-born, mind-fashioned, there is really neither birth nor death, nor is there the evolution of the ever-perfect Self; God alone, Infinite Perfection, *is*.

## 5. The Beginning of Things

1. My friend, before this there was only the Real. That is ever spoken of (as) the

moveless true Wisdom-Bliss,[1] altogether full, eternal, quite alone, the secondless God. (PU. 1 : 2) Further, this was (all) one Darkness;[2] being later on stirred, that becomes unstable, and this indeed is the form(ation) of Activity.[3] Being (again) stirred, that Activity becomes unstable, and this truly is the form (taken by) Inertia.[4] Being disturbed, the Inertia varies from (the state of) Inertia, and this truly is the form(ation) of Rhythm;[5] that same Rhythm, on being disturbed, varies from that (state of) Rhythm. (MrU. 4 : 5)

2. Like water in a desert, silver in a pearl-oyster, a man in a post, and rays of light in a crystal, (so in God) there came to be the Root of Nature,[6] with red, white and black qualities, the (said) qualities (being) balanced and indescribable. What was reflected (in them) was the Witness-Consciousness.[7] Having undergone a further change, it became a veiling power owing

[1] *satya jñānānanda.*
[2] *or*: inertia, stagnation (*tamas*).
[3] *or*: mobility, instability (*rajas*).
[4] *or*: darkness (*tamas*).
[5] *or*: balance (*sattva*).
[6] *mūlaprakṛti.*
[7] *sākṣicaitanya.*

to excess of (the quality of) Rhythm, and (then it) was called the 'Unknown'; what was reflected (in that) was the Ruling-Consciousness.[1] Having Illusion under His own control,[2] He is the omniscient Creator, Maintainer, Absorber, etc.; He (next) became the World-Seedling.[3] (UP. 1 : 3-4)

3. Just as a spider spins and (then) withdraws (its web), just as from the soil herbs come into being, and just as from a living person (grow) the hairs of head and body—so[4] down here does the universe come into being from the Immortal. (MunU. 1 : 1 : 7) He manifests the whole world (already) latent in Himself; like the screen which is opened out under the influence of the deeds of living beings[5] and (then) is made to vanish again when the acts of living beings cease, (so) in Him alone the whole of the universe remains

[1] *īśvaracaitanya*, i.e., the personal Lord.

[2] Note here the refutation of the wild idea that the Infinite and Changeless could Himself be deceived by *māyā*, as absurdly held by some. Cf. Gītā, 4 : 5, 7 : 14.

[3] *jagadankurarūpo bhāvīt.*

[4] Note that the web is always in contact with the spider, the herbs live *in* the soil, the hair dies if removed from the body; so too the universe cannot exist apart from God, *in* whom it lives.

[5] Vasistha insists that *karma* has nothing to do with creation; it is entirely spontaneous, a 'play' of God.

rolled up like a screen. (PU. 1 : 4) Without painter or colour the picture is produced in the sky, as in unsleeping reverie one mentally sees his own (past) experience (when) peering into the calm, clear and flawless memory.[1] (YV. 14 : 1-2)

4. That was GOD.[2] (SBU. 1 : 2) From GOD (came) the 'Unknown'; from the 'Unknown', Reason; from Reason (came) Egoism; from Egoism, the Five Senses; from the Five Senses (came) the Five Elements.[3] (TBU. 3) From Individuality[4] (came) Space; from Space, Air; from Air, Fire; from Fire, Water; and from Water (came forth) Earth (SBU. 1 : 2)—the entire World. (TBU. 3)

5. This is the truth: As sparks of similar form fly out by thousands from a blazing fire, so from the Immortal are produced beings of different (form) and (they) also return to Him.[5]

[1] Looking back in memory, one recalls the persons and scenes found there as though they were really present; yet his vision has no actual existence in the present, it is now a mere fantasy though based on a real *past*.

[2] *tatbrahmāsīt.*

[3] *avyakta, mahat, ahankāra, pancatanmātra, pancamahābhūtāṇi*—is the series.

[4] *bhūtādi.*

[5] Cf. the identical figure in GGS 10 : 1. The whole of these chapters runs parallel also with much in that book and in GN.

(MunU. 2 : 1 : 2) Each (soul), then, is a fragment which is only Consciousness, the Field-Knower of every person, the Archetype whose clear characteristics are Desireful Thought, Energy, and Self-Respect.[1] (MrU. 4 : 5) And (this) Field-Knower is to be known as the Individual Soul.[2] (SrU. 15)

Before the Shadow there was only Light, a light so perfect, so vast, that it must to us seem very Darkness. Stirred to a new cycle of activity, that Infinite Dark slowly manifests Itself in the three great Qualities of Creation—Movement, Stillness, Rhythm, the first of many trinities yet to be. These 'Three' manifest in the Changeless One, who yet remains unchanged, for all manifestation is to some degree unreal, just as the reflection of an object in the mirror has no real or or independent existence. The 'Three' become Nature, and by their interplay set in motion the inconceivably vast drama of the newborn universe, all of which is only a shadow, a reflection, of the Changeless Awareness still motionless behind. Nature has manifested now, not as a separate being but solely as a reflection, an image of the Lord, who silently watches all the play behind the screen its whirling vortex has formed in dawning matter. It is He who thus wills the universal drama, who controls its every act, who reveals Himself in the universe itself.

All this is woven out of His very being, just as materialised phantoms in the séance-room are woven out of matter drawn from the medium's body. All has come

[1] *sankalpādhyavasāyābhimāna.*

[2] *jīvātmā kṣetrajña iti vijñāyate.* The Gita has the same doctrine.

'spark' is itself the Fire; every drop is the water of that Ocean; every self is but the One Self ineffable and eternally aware at every point.

## 6. Mind Fabricates the World

1. How could He be doer or experiencer? Of what also, by what means, or when? So this (world) was never made at all, this world does not (in fact) exist; . . . because He has no feeling of making a world, the visible (creation) does not (really) exist.[1] (YV. 37: 69, 75) This (universe) is spread out like a screen and becomes the slayer of the Natural State,[2] but really its shrinking and expansion are (both) futile;[3] the forming of the three worlds is due (only) to the deceptive power of Illusion, as it were waves in the ocean of the Supreme State. (YV. 17: 72)

2. Whatever is seen, that is unessential;[3] (TU. 52) though this world is experienced

[1] *kartṛ bhāvājjagannāsti tena nāsti padārtha dṛk.* The Changeless One cannot suddenly start creating, so we cannot think of a real creation at all. This problem has confused many religions: either God has *always* been creating and will never cease (GH), or He has *never* created at all (GA). Without in the least changing His Be-ness, the worlds spontaneously arise in Him, or they are eternally present in Him.

[2] The universe is mind, and mind "is the slayer of the Real".

[3] *asiddhi*, that which cannot succeed or attain anything—futile, if you prefer the word, but not quite 'unreal' (*asat*).

and for practical purposes[1] (must be) accepted, yet its form is as unreal as a dream (to be) dissolved the next moment. (YSU. 4 : 10) In the Supreme Lord, Cause and Support of all, created things arise, tarry, and then dissolve like bubbles in the water.[2] (AB. 8)

3. Save through delusion (visible) things cannot be connected with the Unrelated, Actionless and Formless (Self), as blueness etc. are with the sky.[3] (VC. 195) When the childish mind without realisation arises, it sees falsely,[4] but once it is enlightened it sees itself (to be) the supreme immaculate Form. (YV. 8 : 4)

We cannot too often repeat this vital truth, for it is the very heart of philosophy, known to all who know for themselves and do not lean on the empty phrases of logic-spinners and word-jugglers.

Since this whole universe is in fact nothing but the One, the Real and Eternal, there is no question of

[1] *vyavahāra*.

[2] This is also the teaching of Narada (GN 1-3).

[3] It is foolish to attribute qualities to the Self, which reconciles all opposites; we can say the sky is blue, we cannot say the Self is anything, for it is at the same time the opposite of whatever we have said.

[4] *mithyā*, a word often used to mean impermanent, and thus unsubstantial.

its being 'false', in the narrow sense so often imputed to that technical term. It is not other than the Creator Himself, so there is no 'creation' apart from Him who 'utters' it, there is no 'making' because He who makes is what He makes. He *is*, and in that eternal Be-ness there can be neither a beginning nor an end. Yet the perception of pictures on the screen misleads the inexperienced to fancy he sees the real events, forgetting the whole is but a drama conceived in the hidden Author's Mind and then reflected on a veil before his eyes as in a mirror. So long as he focuses upon the screen, he cannot see the Author or realise the purpose of the play; he is robbed of the clear vision which is his natural right—being himself really the Author-Self of all he sees. In the still Ocean of true Awareness, waves of emotion, of perception, of intellection rise and break the image of the Sun above into a million tiny reflections—and one who chases those reflections loses awareness of the Sun itself.

While the illumined one knows the reflections are not really the Sun, yet to play out his part in life's drama, to which his past desires and his skills have led him, he has to act as though they were. So long as life in the world endures, man must act as if it were the one reality and not a mere shadow of that Real, destined to vanish in the first light of the rising Sun. When that Sun sets again, where will be the sparkles on the waves of life's sea? Absorbed in the purple masses of the darkness whence they came!

So long as we rest under the delusive vision of the 'world', we cannot realise the true relationship of the 'visible' with the Real 'behind' it; all is seen falsely as though it were solid, substantial, while it is actually nothing but a dream conceived in the still and changeless deeps of the eternal Self.

## 7. Which is Unreal Like a Dream

1. All this is an enduring dream, composed of (qualities) like mind and egoism,[1] strange dream-persons appearing there as in the waking state; (YV. 6 : 207) under the influence of mind[2] it is called the world. (YV. 7 : 9) In fact, mind comes into being from the sublime Supreme Self, an unsteady form from the steady, like a wave in the ocean. Swiftly, spontaneously[3] and continually that imagines itself, and thereby this misleading universe arises and expands. (YV. 5 : 16-17) The whole world is mind alone, mind alone is the great foe, mind alone is worldliness,[4] mind alone the three worlds! (TU. 5 : 98)

2. Before a lamp there is a sort of light, in front of the sun as it were day, in the presence of a flower a kind of scent—so also in the presence of intellect the world (arises).[5]

[1] *dīrgha svapnamidam vis'vam cittahamtādī samyutam.* Some render the word *samyutam* with 'arising from'.

[2] *manas* : the classifying, arguing 'lower' mind.

[3] *or* : fancifully, unchecked.

[4] The word *samsāra* is generally in this 'Gospel' conventionally translated thus; it implies also the chain of wearisome births and deaths.

[5] Note the natural, spontaneous arising of the world in Vasistha's view.

(But in fact) this is only an appearance, in reality there is no world. (YV. 17 : 29) Earth and so on are in the mind and never outside; where the endless world-snare is set by that mind,[1] only a dream-fantasy is experienced. (YV. 23 : 78-79) All manifestation is as imaginary as space; (so you may) look on the world (as) a long-lasting dream that has occurred. (YV. 17 : 96)

3. In a dream empty of (real) objects, the mind alone by its own power creates the experiencer and the entire universe; so too in wakefulness also there is no difference—all this (visible world) is a projection of the same mind. At the time of deep sleep, when the mind subsides, there is nothing (of it) at all—everyone knows it.[2] Therefore the world of each person is only fancied by (his own) mind,

[1] *yatrānanta jagajjālam samsthitam tena cetasā.* V rather freely renders this: "Almost all persons walking in the path of this dreamlike imaginary world look on it as real and enjoy it." This is not translation.

[2] They often ask, "Where is the world when the mind is in deep sleep?" Playfully we may reply, "Where is the hunter when the ostrich has its head buried in the sand?" As Vasistha insists, there *is* a real world, imagined in the Cosmic Mind (of God Himself), whereof we see distorted images; that real world appears to us in what is common to all human [illegible]. The thief does not cease to exist because the householder is fast asleep and so cannot see his cunning entry!

it is not really there. (VC. 170-171) For the world full of desire and dislike, etc., seems to be real in its own time like a dream, (but) on waking up (it) is shown (to be) unreal. (AB. 6)

4. In fact it never in any way appears or vanishes, (for) in reality everything (but the Self) is seen (as) an illusion. (YV. 17 : 97) Just as, for example, blueness (is seen) in the sky, like water in a desert place, like a human being in a stake, (so) in the same way is the world seen in the mind. . . . As in high waves and billows nothing but water surges up, while copper takes the form of vessels, so does selfhood[1] (appear) in many universes. . . . Just as necessarily only clay is found in the pot which is handled,[2] (so) in the visible world it is God alone who blazes forth resplendent. (A. 61, 63, 67) Absolutely, mind established in the Self is the only cause of the three worlds; hence creation is the imagining of (each) person, without (there being any need for) earth and the like.[3] (YV. 5 : 56)

[1] *ātmatā*, a word not identical with *ahankāra*, egoism.

[2] *or* : examined.

[3] Thus our author unceremoniously dismisses the whole traditional scheme of creation outlined in §5 as a sort of myth. When creation is a mere mental concept, why do we need substantial elements like fire and water to build it? All is in the mind.

So long as a dream endures, the dreamer is sure of its substantial reality, it is as true as his waking life. The strange powers he there has of swift travel, of sudden changes in age and personality, the apparent passage of years in a moment of time, the confusion of place, so that a Ganges scene brings St. Paul's Cathedral into its background, and the dreamer is at the same time climbing the Alps—all seem quite natural to him then. Never for a moment does the dreamer find inconsistencies in his dream, until about to wake up, when the critical faculty begins to stir. So too, when man begins to wake up from the equally unreal 'waking state', when he glimpses the actual life behind the screen of this ceaseless cinema, then too his critical faculty (*viveka*) stirs to a new life; then what for so many ages he has taken for granted is realised as 'false' —from the viewpoint of the higher truth now coming to its own.

All states of consciousness are in the mind, fickle and changing as the wind-tossed wave in a mighty ocean; it is that mind, which feebly reflects the Supreme One Self in its power of being aware, which imagines for itself the whole of the visible 'universe'. Nor is one's world the same as the world of another; each mind imagines its world according to the tendencies of its own past experience, its heredity, education, environment of race and creed and culture. It is not the *real* world we each of us can see, but only the world we have fancied in our own minds. The world of Malenkov is not the world of Pope Pius XII; but a world founded on the dogmas of Marx, Lenin and Stalin as interpreted by himself, here clashes with the world builded on the dogmas of the Catholic Church, as formulated by theologians and political prelates of the past. To see the reconciling truth, the truth that leads to peace—both Pius and Malenkov must step out of these narrow limits of their own orthodoxies, set aside the prejudices of their own mentalities and egoistic self-complacency, and

perceive the One alone that is behind all forms seeming different.

Just as the sun gives out light, as an iceberg pours out cold air all around, as a devotee breathes out a devotional atmosphere—so does the mind continually create its own picture of the 'world', when in fact that 'world' is a total fiction. We see a flower, a cat, a mountain, a star—but really all four of these are nothing but God Himself; it is our own mind which, like a spectroscope, breaks up the white light of the Omnipresent into the varicoloured hues of these many images, because it cannot bear to gaze upon the glory of the Undivided One. We see a world which has no existence outside the mind that sees it; in no way is it more real than the fancies of a dream, and like a dream it is scattered the moment we wake from the delusion. That it lasts for ages, instead of for the few hours of a night's sleep or the few minutes of a daydream, does not make it real, for the lover of pure truth. "All this too will go," said the revolutionaries; and in the dawn we know how foolish were the dreams which in the hours of darkness once held our minds in sway.

Not alone the 'outside objects' which we think we see, but equally the personality that sees them, of which we are all so proud—is inherently 'false' and fleeting. That little self, for which we are so ready to sacrifice everything else, over whose immortality we are so deeply anxious, which we think will evolve to immense heights of spiritual perfection—the 'I' that sings and weeps, that works and enjoys the reward of service—is as 'unreal' as the things it perceives through the mind. Both the seer and the seen are like a dream, the dreaming is the act of seeing; all alike vanish before the first ray of the rising Sun of Truth.

That Sun alone is real, eternal; all the mind has fancied—the little self and its imagined world—is

wrongly seen and out of focus. An ant crawling on a window-pane seems a monster crossing the distant hill-side; but focus the eye properly upon the pane, and you will see the ant for what it is. Such is the world, and such the 'individual soul' that sees it; when it is in real focus it can be seen as nothing but God, the One Self, and then the idea of separateness is realised to be illusion. Everywhere in everything there is only that One; all separate things are but confused images of Him like those in a shattered mirror.

## 8. And Disappears with the Mind

1. Just as there is no difference at all between the individual soul and the mind, so is there no difference between the mind and creation, (YV. 7 : 10) for the mind alone in this way manifests all this (universe) in created things. (YV. 8 : 2) Mind is the (sole) cause of objects;[1] in its presence the three worlds (appear), and on its decay the world fades away. (YV. 2 : 50) (Now) because mind is (thus) maker of the worlds, mind is surely opposed to the (real) person.[2] (YV. 9 : 1) (So) let there be no enquiry as to whence it arose;[3] rather let the question be, "How can I destroy this (mind)?" In non-attachment to it and

[1] *cittam kāraṇamarthānām.*

[2] *mano hi jagatām kartṛ, mano hi puruṣaḥ paraḥ.*

[3] or: how it was born.

our many thought-desires. So our concern is not to speculate on how these thoughts first came to disturb that Stillness and so conceal the Light, but to take steps that they may no longer hide the Truth from ourselves.

When the 'world' created by those thoughts and desires, which so continually arise in those restless undisciplined minds of ours, dies away, then what remains is the Reality, eternal, infinite, all-beautiful. Before the 'world' was, That alone existed—such is the teaching of every creed; and when the 'world' shall pass away, That alone will be, resplendent, blissful as at the first—as indeed it has ever been.

## 9. There is Neither Death nor Birth

1. Having for a moment illusorily experienced the swoon of death, forgetting the former life, the soul sees another state of being.[1] This is what he sees: "Down here I (have been) a bowl of anxieties,[2] (and) thus I am (now) established as a beauty, (my) hands and feet are respected, and (my) body is growing sleek. I am the father, the son of so-and-so, I have so many years (of age), these are my delightful friends, and mine is this

[1] V reads: "Through the illusion of Death, the body for a moment becomes entranced and the Soul parts from it. Becoming oblivious of all the thoughts of its former body, it is filled with the thoughts of this life only." This may all be true, but it is hardly what the Text says.

[2] *or*: I have supported cares.

lovely home!"[1] Where there is such a wrong idea of a world (at all), through the illusion of dying immediate (rebirth results). . . . The great illusion of dying is at once (followed by) the equal swoon (of rebirth); in that state one is not even for a moment free from the distresses of a world. (YV. 6 : 92-94, 196)

2. But in fact you are never born, nor are you (ever) dead; you abide serene in the Self (as) a form of pure Knowledge. Hence, (though) you see all this (universe) you yet see nothing at all; through the All-Self you shine for ever, self in the Self. (YV. 6 : 200-201)

Death and Birth, Reincarnation, eternal Hell, Evolution of the Soul, and all other pseudo-religious concepts become a laughable absurdity once we realise that God alone exists, perfect from and to all eternity. The idea of rebirth arises only when the little self, drunk on the wine of its own imaginations, dreams it is the body, limited to its narrow space and its period of historical time—so that it must come back again in another age, another land, to experience all kinds of circumstance, and thus evolve its innate nature into the desired future perfection. No! Never was the real Self born at all, nor will it ever die, or be reborn. It is neither of India, nor of England, nor America, nor any other land; it belongs not to this woeful century, nor to the Middle Ages, nor

[1] *i.e.* the soul regards the happiness of the next life (in the subtle worlds) as a compensation for the troubles of the past life (on earth).

even to Ancient Rome or Egypt. The Self is everywhere in every age, not bound within a body, nor tied to any special period of time.

The thought of family connections, of experiences in the closing 'life', of some particular body, of good or bad health, prosperity, friendship or suffering—produces the thought of 'rebirth', to remedy or increase that sorrow or delight. Thus the needless dream of births and deaths is indefinitely prolonged, because the soul has not yet realised that it was never born at all. The *body* is born and dies, and then another body may be born to gratify unsated desires, but the soul has nothing to do with these things. Never at any time need it identify itself with the ups and downs of various bodies in the 'world' its mind has imagined for itself. The soul is really nothing but the Self, serene, aloof from all experience, perfect, eternally one with the Eternal One.

## 10. There is Nought but God

1. That by which you know sound and taste, form and smell, is this same Self, the Supreme God fully manifested as the All—the very name of God expresses this.[1] There is no other down here at all. Can the crest of the sea-waves be other than water, such as dust for instance? So too there is down here only the Unknowable, there is nothing like Space.[2]

[1] The word *Brahman* literally means 'breathed forth abroad' or 'expanded'.

[2] *ākās'a*, a word with no exact English equivalent; it is often misleadingly rendered by 'ether'.

As heat is the very nature of fire, so is the universe of the nature of God. (YV. 17: 23-25) Time too is only mind;[1] (TU. 5 : 99) just as there is no (set) limit of Space, so is there no (fixed) length of Time; it is only a mere appearance, embodying one play of the mind, and very much like the reflection of a light. (YV. 6 : 90-91)

2. There is not the whole world, nor indeed is there anything like teacher and disciple;[2] (TU. 5 : 105) as everything is of the form of Being, (there is) only Being-Awareness-Bliss.[3] (TU. 6 : 30) There is nothing but God; if anything else appears (to be) other than God, (it is) as false as a mirage in the desert. (AB. 63) It is the Self that is always omni-present, (YV. 11 : 7) for there is no other than the Self. (TU. 6 : 40) He whose inner feeling[4] is that all is God has Liberation indeed; the ignorant seeing of diversity is to be totally abandoned. (YV. 17 : 40)

[1] *mana eva hi kālam*. The word *kālam* means equally 'death'.

[2] U weakly translates this strong text: *nāsti nāsti jagatsarvam guru-sisyādikam nahi*, as, "There is no universe, there is no Guru or disciple."

[3] *Saccidānanda*.

[4] *bhāvana*.

3. No death and no birth,[1] no bound, no learner,[2] no aspirant, and not even a freed one! (ABU. 10) There is no perceiving mind,[3] no ignorance, no thinking mind,[4] nor living soul. These and those are (all) alike only traces made in God. (YV. 29 : 3) All is the One God Supreme; (then) what is freedom and what is bondage? (YV. 27 : 96) There is no bondage, there is no release; the immaculate God alone exists, (YV. 41 : 25) and this is the real truth! (ABU. 10) Feel in the self that God who you really are!"[5] (VC. 254)

All the senses by which the mind perceives its fancied 'world' are but a part of the divine power of that One Reality manifested in the all. As the whole ocean, the clouds, the polar snows, the steam above the throbbing kettle are all water and nothing else—so too are all things that are, and all things that are not yet, nothing but God and God alone.

So there are no differences between high and low, wise and foolish, good and evil; *all* are only God, and there is nothing else but He. If we see any other thing we may know it false, non-existent like a mirage, for God is *all* that *is*. To know this for oneself is indeed to

[1] *lit*: restraint (*nirodhaḥ*) . . . upsurging (*utpattiḥ*).

[2] *sādhaka*, *i.e.*, one who practises spirituality.

[3] *cittam*: which receives sense-impressions.

[4] *manas*: which imagines, discusses, tries to understand.

[5] *yadbrahma tattvamasi bhāvayātmani*, the sentence including the famous *mahāvākyam* of the Upanishads, *Tattvamasi*.

to be free, free from fear, free from every sorrow and defect, free from the tireless nagging of that little self which robs its owner of the slightest peace!

Really, there is no evolution, no evil to overcome, no ignorance to remove, no liberation to attain. All that we can name, all that we can think, is but a 'stain', as it were, on the pure image of that perfect and stainless God, a speck of dust on the glasses through which we see the Sun, in our childish ignorance attributing the dust to the Sun itself! How can that One, outside whom nothing else exists, be bound with ropes of ignorance, be lost in the darkness of primeval crime, be imprisoned in the imagined cells of Time and Space, which even Modern Physics has dissolved? The soul has never really fallen at all, it has incurred no *karmic* debts at all, for it has no being apart from the All-Perfect God. This is the sublime Truth, this is the final secret which Nature has in store for her lover through the ages, this is the whole of real Religion. Be divine and realise the Inner God which alone you are!

CHAPTER THREE

# THE SOUL

The sense of an 'I', inherent in any wakeful state of mind, assumed control when mind built up its 'world', wherein it could function as it would. Gradually that egoism and sense of possession caught the self in its toils, and for ages held it bound in the dark ignorance of egoic action and the enjoyment or endurance of results engendered thereby. This false 'I', identified with the petty exterior personality, hides the real 'I', the eternal and limitless SELF; it confuses itself with the visible body and its needs, and forgets to seek its real Being in the Silence within. It is enough to resolve on that inner search and to cling faithfully to that; as one wills, so one becomes. And he who wills Wisdom is the wise, while he who rolls in folly is the fool.

## 11. Origin of the Soul

1. That 'goddess',[1] for a while vibrating under the influence of the potencies of Space, Time and Action,[2] step by step changes into

[1] *sā devī*, *i.e.* Maya, the delusive creative power of God, here personified, as often elsewhere, as God's *sakti* (power) or 'wife'.

[2] *desa-kāla-kriyā*; all manifestation is within the field created by the three coordinates of place, time, and the activity of living beings.

every power (of Nature). Though (really) quite steady in the eternal[1] state of knowing her own nature, she vaguely imagines a form dimly perceived;[2] as soon as (that) form is imagined, countless desires follow (after it) because of its great beauty. Having made (this initial) error[3] upheld by Space, Time and Action, the mind-form is known as the 'Field-Knower'.[4] (YV. 17 : 48-51)

2. Gathering up common qualities,[5] it thinks much on the lines of "(That is) mine!"; now that unhappy mind which does not know the truth is called the (Individual) Soul. (YV. 28 : 18) It goes by the name of a Soul so long as the self has (any) hope of enjoying (through it) worldly things, (YV. 41 : 82) (being) ever restless while saying, "I depend on happiness and pain, etc."[6]

[1] *or*: endless (*ananta*); the idea includes 'timeless', 'spaceless'.

[2] So when the sleeper wakens, at first the world is dim to his eyes and only gradually its attractions resume their sway over his mind.

[3] *vikalpa*, a wrong imagining.

[4] Cf. § 5 : 5. The term is often used by the Gita also. The one who 'knows the field' is, of course, the mind seeing the 'field' of its own concepts.

[5] *or*: the qualities of Nature (*prākṛta guṇa*).

[6] *i.e.* through happiness I get pleasure, through pain I get wisdom.

(YV. 28 : 19) Next, stiffened by old tendencies,[1] that (self) goes straight on to egoism—and egoism is rightly called the 'stainful intellect'.[2] The intellect, picking up desire-thoughts, becomes the seat of reasoning, and so the mind, (made) dense with error, gradually turns into the senses. Now this is how the Soul is tied with the cord of desire-thought[3] and prejudice;[1] the self caught in sorrow's snare gradually becomes degraded.[4] (YV. 17 : 52-54)

Three forces act on the creative power and lead it to manifest in all the forms we know 'outside' ourselves. That manifestation is prompted by her creating an external beauty, with which she herself becomes enchanted (cf. GH 3 : 1); trapped in the beauty of this 'world' created by her own mind, she becomes the *jīva*, or individual soul.

Having for its sake lost the blissful union in full consciousness with the 'all', she then tries to console herself with the worthless tinsel of this 'world', claiming it for her own; this illusive possessing of something apparently outside herself changes her consciousness into the fickle and deceptive mind or 'soul'.

[1] *vāsanāḥ*: the bias or impression left behind on the soul by some act or thought. As a deep scratch on a gramophone record tends to lead the needle off the proper groove and so repeat itself, so every experience tends to self-repetition, making it far harder to break oneself of a habit once formed.

[2] *buddhi*: not intuition, but the faculty of understanding things and choosing between them.

[3] *sankalpa*: the word often means 'motive', sometimes 'opinion'.

[4] *duhkhajāla parītātmā kramadāyāti nīcatām.*

as the world,[1] just as water (does) in waves and the like. (YV. 5 : 4)

2. All this (universe) is certainly God, the whole of this is the Self revealed! (So) give up this false idea[2] that you are one thing and this (world) another. (YV. 19 : 3) Really the wise vainly (try to) distinguish in this way the Self and the Not-Self;[3] (YSU. 4 : 22) God alone is the soul and all the world (alike), and only a firm abidance in (that) Indivisible is (real) Release. (VC. 478) By the fixed thought "I am not God" the mind is bound, (while) the mind is freed by the firm thought "All is God!" (YV. 13 : 56) Those who leave the (precious) touchstone in the heart to seek another God (outside) are looking for a mere trinket after giving up the (priceless) gem[4] in hand. (YV. 19 : 26)

3. The view of oneself by the in-turned intellect (as) the Unqualified and Actionless

[1] God's image is the Soul, the Soul's image is the world fashioned out of its own ideas.

[2] *bhrāntim*, something leading astray.

[3] It is first needed for developing *vairāgya*, but later hinders further progress; really *all* is good, and discrimination is of only passing value.

[4] *lit*: *kaustubham*, the precious and marvellous jewel adorning the bosom of the Lord.

One of the form of Conscious Bliss (is true); the feeling of (separate) individuality is an unwarranted delusion and untrue. On the loss of confusion,[1] (that delusion) ceases because of its very unreality. . . . That delusion) may be removed by (attaining) perfect Wisdom,[2] and in no other way; (now) Revelation teaches (us that) perfect Wisdom is to realise that God and the Self are one. . . . When the unreal is removed the real Self comes into view, and this may be absolutely proved (by experience). So there must be a thorough removal from the self of untrue (ideas) like "I am a good man".[3] (VC. 196, 202, 205).

4. In the cave of an intelligence harmonised in the Self, (in that) unmanifested Space, in that very spot shines out the light of the Glorious One like the sun aloft in the sky, illumining all this (universe) with its own light. . . . Never does it either move or change, it neither is born nor dies, it neither grows nor wanes, nor does it vary

[1] *moha apāye*; the word often means 'infatuation'.

[2] *samyagjñānena*.

[3] *sādhu*, a word often used for a saint or devotee.

eternally.[1] Even when the body is dissolved therein, it is not (itself) dissolved,[2] (being) itself like the (empty) space in a pitcher. (VC. 132-134)

The nature of a disease suggests its own remedy. To reverse this downward process is to climb the heights. Through that very thinking of the mind which led to its enslavement, the mind can once again earn its freedom. The clouds of its error can be dissipated and the clear Sun be seen behind, illumining the blue vault of Heaven. Ever changeless, God is to be clearly seen when the curved distorting mirror is exchanged for a straight plane one—seen as a true reflection. Then when the seeker turns from the mirror and looks straight into the sky, He may be seen in His own beauty. Then he knows for himself that the distorted 'image' in his mind, once a true reflection, is but a 'ray' of God's eternal light. The 'individual soul' which has brought him such agelong misery is in fact nothing but the One eternal Source of bliss!

So too, he realises now, is 'the world' created by that 'soul' or egoic mind; that too is nothing but the One God. And then its unity with himself, the insepa-rability of the mind and its perceived 'world', becomes a living certainty for him. Self and Not-Self are in fact the same; within and without, there is only the One 'NAME', the Illimitable manifest. To rest in that certainty is to be free from fear and doubt and pain and everything hitherto looked upon as evil. And that is the goal of 'evolution'—to know that "All indeed is

[1] *na jāyate no mriyate no vardhate, na kṣīyate no vikaroti nityaḥ.*

[2] When salt is dissolved in fresh water, it ceases to be fresh and becomes brackish; but when the body is reabsorbed into the All, the All remains as it always was, unchanged.

God and there is nought but He". To seek any other knowledge is to turn from truth to fancy, to despise perfection for ugliness, infinite value for the altogether worthless.

This knowledge alone is true, while the notion of a separate self is a snare of falsity, which must inevitably collapse when the self can see clearly once again. This recovery comes when real Wisdom is achieved, and the Scriptures affirm that Wisdom to be the self-realisation that God and the little self are really one. When the cloud vanishes, the bright sunlight appears; there is nothing to be done but to drive away that cloud of egoism and falsity.

Then in the mystical cavern of the heart, where It has always been, unseen so long as the mind looked outward, the ineffable glory of Advaita-realisation shines out, illuminating all life and changing the self into the manifested God Himself, immortal, changeless, infinite.

## 13. Egoism

1. "I am this whole universe, the imperishable Supreme Self am I, and there is no other to be thought about"—this indeed is the highest Egoism. Such belongs only to the Free, and it does not lead to bondage. (YV. 16 : 19-20)

2. "I surpass all this, being (subtler than) the hundredth (part of) the point of a hair"[1] —that insight which (realises) this is the

[1] *or*: than the tail-end of paddy.

second good (type of) Egoism. Such tends to the release of the Free, and not to bondage. (YV. 16 : 20-21)

3. Such a notion as "Hands and feet, etc., I am only this"—that is the third (type of) Egoism, and it is really worldly and vile.[1] . . . The sooner you give up this through the two kinds named above, the more can the Supreme Person dwell (in you).[2] (YV. 16 : 22, 26)

The sense of *self* is not evil, nor is it false. It is only when it is wrongly ascribed to a separate independent soul, which does not in fact exist, that it becomes the enemy of self-realisation, the cause of every misery.

This 'egoism' is of three kinds: one harmful, one quite proper in an intermediate stage, and one essentially true. Identifying the 'I' with the all, that is, with God, realising there is no other, is the perfect truth and confers full freedom on the soul—where are death and misery for one with cosmic consciousness? Identifying it with the spiritual element in that apparent 'individual soul', what Theosophists call the 'Monad' or the 'Higher Self', is right and proper during the stage of effort; in time it leads to the same knowledge that the 'Monad' is indeed the One (as indeed the very word signifies), and so tends to the same spiritual freedom. It is only the egoism which identifies the 'I' with the little grasping and imaginative mind, with the desires and opinions and fancies of its brain and body—only *that* confines the real Self to the lower worlds of frequent reincarnation, of frailty, and limitation.

[1] V renders: "dire in its results".

[2] *yathā yathā pumāstiṣṭhetparameti tathā tathā.*

## 14. Hides the Blissful Self

1. All souls spontaneously[1] arise from the Supreme Abode; afterwards their own acts are the cause of (their) happiness and sorrow. (YV. 42 : 10) As a cloud-layer produced by the sunlight hides the sun and is (itself) seen (instead), so Egoism sprung up from the Self hides the truth of the Self and is itself seen. . . . By the effect of sense-objects is one happy or miserable;[2] happiness and misery are the concern of **Egoism**[3] and not of the ever-blissful Self. (VC. 142, 105)

2. Misfortune (comes) because of Egoism, through Egoism (come) grave anxieties, on account of Egoism desire (arises—there is) no greater foe than Egoism. "This is pleasant, this not," so (saying) becomes the seed of your sorrow; when the fire of equanimity[4] has burned (up that preference), where is the scope for sorrow? (APU. 5 : 70) Without

[1] *or*: uncaused (*akāraṇam*); so creation is called a 'play' (*līlā*), for no philosophy can give adequate reason for the 'fall of man' or the 'separation' of the individual soul. It does not exist.

[2] Happy in a favourable environment and sad when circumstances are hostile to the interests of the personality.

[3] *taddharmaḥ* : *lit* : the concern of that.

[4] *i.e.*, regarding all things, pleasant or painful, as equally welcome.

Egoism, how could there be a pain like that in the body? (YSU. 1 : 37) So long as the stormcloud of Egoism keeps gathering, so long will the *kutaja*-buds of thirst for pleasure appear. (YV. 2 : 38)

3. When the mind is pampered,[1] Self-knowledge vanishes afar; can the (full moon's) beauty be seen when as it were a great cloud forms between (us)? (YV. 24 : 16) When covered by the five bodies[2] like the Physical, the Self does not shine (out), just like a tank of water (covered) in the same way by a mass of scum. When that scum is all removed, the clear water appears, taking away at once the agony of thirst and giving man the utmost contentment. So too, on removing the five bodies, this pure and eternally blissful One Essence, the highest self-shining Form, appears within. (VC. 149-151)

The third, blinding, type of Egoism keeps the soul from seeing its real nature as the One All-Self whence it 'emerged'. And that Egoism is in great degree due to, intensified by, the acts willed and performed during many lives in a physical body. Necessary to such acts,

[1] *lit*: grows fat.

[2] The five bodies are the vehicles of food (*annamaya*), life-breath (*prāṇamaya*), intellect (*manomaya*), intuition (*vijñāna-maya*) and Bliss (*ānanda-maya*). What remains when all these personal sheaths are (mentally) stripped away is the Self Immortal.

this Egoism prevents the self from perceiving their real meaning and drowns it in a constant alternation of joy and pain.

All these interchanges of pleasure and suffering are due to this identification of the self with its outer vehicles of mind and body. For its sake alone are sense-objects desired; when obtained, there is a momentary satisfaction, when out of reach, a restless discontent. Westerners have usually thought this discrimination between what the soul likes and dislikes to be a proof of intelligence, but in fact it only shows the soul's foolishness: it is this discrimination between 'good' and 'bad' among the objects which causes sorrow. When the soul is equally happy whatever comes, taking everything, pleasant or painful, as natural results of its own past choices and as in all events of very brief endurance—then is true and eternal happiness in reach. Desire is the very nature of such an Egoism; the end of the one means freedom from the other, and so liberation from ignorance and misery.

The coddling of the mind's endless desires and opinions involves the loss of self-knowledge, for a personal equation always clouds the real verity; the truth can only be seen on setting aside all thoughts and longing. We all know how 'wishful thinking' and 'prejudice' prevent us from knowing facts as they are. Now those confusing elements are inherent in the very nature of the various bodies which mark off the soul as 'distinct from other souls'. When they are discarded, the refreshing truth of Oneness is at once attained and life's goal is won.

## 15. Mistaking Body for the Self

1. When his own most pure and brilliant Self is unseen,[1] a man through delusion thinks

[1] Such misunderstanding is impossible when the Self is visible.

thus, "I am the Not-Self, the body," (VC. 140) and that belief "I am the body" produces the bondage of the world. (YV. 41 : 34)

2. Just as a post (is taken) for a thief and a mirage for water, so is selfhood mistaken by a fool for the body . . . A (whirling) fire-brand seems to be a circle just like the sun; in that way the ignorant sees the body as the self . . . To a person going by boat all (else) seems to be moving;[1] in that way the ignorant sees the body as the self . . . When really the clouds are streaming by, the moon certainly seems to be flying past; in that way the ignorant sees the body as the self. (A. 73, 79, 76, 84) (One sees) water in a glassy surface, or glass in a surface of water;[2] in the same way the ignorant sees the body as the self. . . . Thus the wrong belief that the body is the self is only born of ignorance; only through the fullest knowledge of the self does that (error) merge in the Highest Self, and

[1] So too, when two trains alongside begin to move, a passenger in either cannot say which is in motion.

[2] An allusion to the trick played by the Pāṇḍavas on their cousin Duryodhana in order to make a mock of him. (See the *Mahābhārata*).

obvious truth—that man is both soul *and* body, or even the body which somewhere in its recesses has a soul hidden away, of very doubtful qualities and quite undemonstrable to enquirers. It is in fact this gross ignorance, identifying the self with that caricature of its real being which is seen, handled and heard by others, the personality which is all the 'outer world' can know of it (and how much does anyone really know of another ?), which is the inevitable cause of miserable bondage.

Such an idea is an optical illusion just like a hundred others we might quote. Because we focus our attention on the surface, on that personality, that 'mask' through which the real self tries to act on matter, we find that real self is out of focus, and so invisible to us. Long continuing in this error, we have come to take it for the truth, forgetting that the real 'man' is something quite different from what we see. We are like the dog that barks wildly at its own mirror-image, or the kitten vainly trying to catch the tame mouse behind a glass cage-door. When we know the truth, that 'man' is seen as the so-far hidden Reality 'within'; then we see everything aright, in proper focus, and know that everything is only He. Then we quite naturally cease to coddle the outer shell, the old overcoat; it is no more our self than is the pen with which we write, the bell wherewith we summon children for a meal—a mere instrument for us to use. So our first step must be the understanding of what is the self and what is not. We have seen already that it is not the last step; we must go beyond it later.

## 16. The Power of Confidence

1. As is the practice, so (at last) is the mind, and it becomes fixed thus, (but) with

sufficient effort it may be led to yet another state.[1] . . . That very same form towards which the mind singly (turns) can be attained. (GYV. 3 : 40 : 13, 29) In the same way (as) one worships God, so indeed does one become, . . . that (very) form comes into being.[2] (MdU. 3 : 3) Merely through (his) single firm[3] devotion a man attached to the Real goes to the Real.[4] (VC. 358)

2. One who feels free is free indeed, while he who thinks himself bound is bound. What do they say down here (in the world)? (It is) really true (that) what the opinion is that will be the state.[5] (AVG. 1 : 11) However and wherever that creeper of Idea may be planted, it produces fruit in the same way;[6] thus such (fruit) alone is found there. (GYV. 3 : 96 : 10) Whatever is felt down here with strong emotion, that alone at once appears, and so it

[1] *yathā samvittathā cittam sā tathā avasthitim gatā* I
*paramena prayatne niyate anyadas'ām punaḥ* II

[2] *tadrūpo bhavati.*

[3] *or* : one-pointed (*ekaniṣṭhayā*).

[4] *or* : becomes Real.

[5] *or* : As he visualises, so he attains.

[6] *i.e.*, Whatever opinion or desire we fix in our minds will work itself out to its own natural result, whether we later on desire that or not.

is immediately seen. (GYV. 6a : 82 : 26) So dismiss this obvious mere phantom which has been taken for your own self and, with a purified understanding, saying only "I am God", realise (your) own self as Endless Wisdom. (VC. 250)

We are as we think. If we think ourselves weak, we can do nothing; if we feel ourselves competent to handle our life's problems we can boldly face them, sure of somehow achieving our end. If we think ourselves encaged, we thereby create the bars that will confine us; if we know no barrier can confine the omnipresent self, freedom is in our hand.

So we become whatever we think of. If we worship the moloch of imperialism and racial pride, we turn into brutal despots, murderers of little children, destroyers of fair countrysides; if we think of ourselves as God's sons, we naturally treat others as our brothers. Attached to a noble wife, a man becomes ennobled; clinging to the termagant, the faithless woman, he becomes cunning, harsh and rude. The lover of a God of Love becomes himself a manifestation of His goodness; the devotee of spirits lusting after alcohol and bloody sacrifice becomes the slayer and the violator of homes.

We can make of ourselves and our lives just what we choose. Destiny puts the yarn in our hands; we may weave it into a lovely garment, or tangle it into a wasteful confusion. Realising ourselves as the One, inseparate from the One everywhere, always revealing His power in our lives, we swiftly become a channel for His perfections, an uplifting force for the whole 'world' around us. And that is the only real 'service' we can ever do.

## 17. The Fool and the Wise

1. Why, (being) unbound, do you say "(I am) bound" and then are needlessly (so) deeply upset?[1] Of the endless Self-Knowledge what can be bound, how and with what? (YV. 12 : 2)

2. Like animals the stupid long stir up[2] hundreds of cares in the illusions of sacrifice, mortification, charity, pilgrimage and the worship of Gods. (YV. 28 : 133) Fools will constantly take to the practice of concentration or (self-)control,[3] . . . but where indeed is control for the ignoramus who makes rules (for himself)? That (control) is always quite natural[4] for the wise one who delights in himself. . . . Because he longs for calm, the fool gets no peace;[5] the wise is clear about the Truth and always of peaceful mind. (AVG. 18 : 33, 41, 39)

[1] *abaddho baddha ityuktvā kim mudhā pariśocasi* ?

[2] *lit* : pour out.

[3] Mere effort cannot attain to God; it is His grace falling like rain on the cultivated soil of virtue which fructifies past labours.

[4] The Natural State must come naturally; it cannot be induced by anything we may do or attempt.

[5] "I *will* be happy, I am *determined* to be kind;" saying this, has any one ever found happiness or kindness?

3. In the dreary forest of the world there has (long) been no rest for the mind of those (fools)[1]. . . . For how many births have not you done hard and painful work with body, mind and speech? Today at least stop that! . . . All (men) are unhappy on account of (their) toilsome labours; do you not know even this?[2] (AVG. 10 : 7-8 *and* 16 : 3) They (do) everything only for the body's sake, and nothing at all for the sake of the Self! (YV. 18 : 31) Wise men see nothing to be done, (ever) abiding in the Self as though asleep.[3] (AVG. 18 : 33)

4. The good man[4] is the one whose greed, delusion and anger are daily growing less, and who in his own conduct walks according to the Scriptures.[5] . . . Among the virtues of such men (are) contentment and love as (laid down in) Revelation.[6] Now those who try to realise the Truth are men, (while) others are (really) brutes. (YV. 16 : 13, 4) Whether

[1] *i.e.* those who live a worldly life.

[2] *or*: (as another reads it) "but none knows this".

[3] *dhīrāh kṛtyam na paśyanti suptavatspade sthitāḥ.*

[4] *i.e.*, the true man (*sajjanaḥ*).

[5] *śāstram* : *i.e.* spiritual books written by saints and sages.

[6] *śrutam* ; *i.e.* direct revelation *heard* by the Sages.

walking or merely standing still, whether awake or only asleep, he whose mind is not intent upon (that) Enquiry is called the 'dead'. (APU. 5 : 1)

5. Attachment (to the world) is born from outer activity, while aversion (to it arises) from inactivity; like a child the wise man is altogether free from (these two) opposites and at rest.[1] (AVG. 16 : 8) The fool is deluded under the influence of his own ideas, the learned not so; virtuous folk enquire into (their) thoughts and are without the flurry (caused by) delusion. (By such) enquiry **they** come to know the truth and altogether give up the untrue. . . . He who has not fully known the meaning of 'I' glimpses the highest truth (only far off) in the sky, but he who has fully known the meaning of 'I' will become the garment of the highest Truth.[2] (YV. 12 : 1 *and* 16 . 14)

Knowing this, how foolish it were to repeat like a parrot, "I am a mere soul, bound, a miserable sinner, helpless and naturally inclined to evil, born in wickedness!" Such a notion must condemn us to a ceaseless swirling round of blind births into matter. Have we

[1] The Gita likewise teaches disinterested action as *the* way.

[2] *i.e.*, he will be wrapped around, very close to, the Truth.

not lived long enough in that darkness of ancient ignorance? Is it not yet time for us all to stop thinking of ourselves as reincarnating souls, slaves to fate and misery, unendingly tossed about on the waves of duty and of never-ceasing labour? This is the miserable lot of those who identify themselves with the personality and body which their fellows see (in part), and not with the immortal and infinite Self behind that mask.

All external aids to spirituality come from that initial blindness. Who is it who needs to be 'mortified', 'evolved', to undertake a pilgrimage or offer up daily prayers? The personality. Is that our real Self? So long as we think it is, so long must we weary ourselves with these outer observances; it is our own ignorance makes us labour like an ox straining behind the plough on sticky soil. Not that these practices in themselves are out of place or wrong; we need them at a certain stage. But if we feel it is *we* who perform them, that it is *we* who sacrifice our leisure for spiritual ends, that by going to Tirupati, Rameswaram or Badrinath *we* gain merit—that is our old egoism popping up again. A wise man performs such acts only when they spontaneously happen to him, when they are his 'play', his natural self-expression—not when they carry the slightest taint of self-consciousness. We all know how stage-fright, wobbling on a bicycle, singing out of tune result from the slightest consciousness of the self while doing them. The very seeking for the goal of freedom in such things, the whole idea of personal 'liberation', is itself the enemy we have to fight. The saint does all these things with perfect peacefulness, unconsciously, unaware that he is doing them, sure that in fact he is sacrificing nothing at all while he does them. And this is already the 'freedom' we seek.

What is 'goodness', saintship? The many virtues of the fleeting personality, the beauties of a perishable body? No, it is the gradual outgrowing of the primal

ignorance, the egoism which treacherously misleads us into the dark forest of the 'world'. He who daily grows more and more free from the opinions, the desires and habits of the petty personality, is truly 'good', truly 'human'; in him all the highest virtues of love and peace flower naturally as in a fertile soil. To turn the mind on any subject but this search for the final truth of Oneness, is indeed 'death' for the real Self—which lives only in silent contemplation of its own infinite bliss and beauty.

There is no effort, as such, for the truly 'good'. For conscious self-planned activity becomes a trap, a prison, wherein any incautious soul is caught and held. The Kingdom of God is for the child, for one who acts with total spontaneous joy and self-expression, not for the self-conscious virtue of the hypocrite. Swept on the full tide of virtuous ideas and plans, one may fancy himself a saint; later on, he wakes up to find himself spiritually naked and alone, the centre of amused compassion among those who know the truth. So to look within, to know the self, is the way of wisdom; when the mind comes to rest upon that path, it has no time, no interest for the countless distractions on either side; then the Real alone shines in its inmost shrine, all unreal reflections of its glory having been already dissipated by the dawn of Truth's infinite Light.

CHAPTER FOUR

# BONDAGE AND FREEDOM

The one self functions in the three main states of Sleep, Dream and Waking, plunging deeper into error and confusion as his consciousness moves from the quiet within to the glare of outer things. For this is Ignorance, to identify the self with the personality and its bodies. It is thought which traps us in that snare, the persistent habit we have of saying 'I' when we mean these unreal things, a habit every mother teaches to her child—more ignorant than itself when it naturally says, "Baby wants that!" and she cries, "No, say 'I want that'." This ancient error is based on delusion, on desire and opinionativeness, which intensify the fancied separativeness of the self from 'others'. And it is the washing away of these causes of illusion, which cleans the mind and purifies the heart, so that it may "see God". Because the 'mind' is the seat of this false egoism, that 'mind' must be eradicated and all its old tendencies destroyed, by selfless unmotivated action, leading to a persevering stillness in the Inner immaterial Self. Those who try to tread this path find a joy unknown to others, for on it alone the All is found.

## 18. The Three States

1. Know it is Egoism which feels "This is the doer, the experiencer" and, by uniting

itself, it is bound to the 'world' and the chain of rebirths; if it turns with contempt from such childish baubles and seeks 'within' itself the Infinite Eternal, then it is on the way to total Freedom.

Not for a moment can we dissociate the mind from those thoughts which make it up. When the mind is 'thought-free', it is no longer mind at all, in that sense; it functions as the boundless Self. Immersed in desires for pleasure and repulsion from pain, the mind delights in endless thinking: "How to avoid that and attain to this?" Even when the thoughts are uncontrolled and purposeless, the mind goes on like a sleepy Tibetan's prayer-wheel, automatically revolving a million half-remembered memories, in what psychologists call 'autistic thinking', and what common folk dub 'day-dreaming'. This ceaseless activity of the mind leads the person into constant action, nearly all of which soon ends in the smoke and ashes of disappointment and disgust. When the mind is still, if only for a moment, then there is peace and sweet contentment—till it starts again its useless restlessness, like a kitten chasing its own tail, or a squirrel in a cage.

So thinking is the 'bondage', and the road to freedom lies through ending that incessant mental activity and on to the state of repose, of perfect poise, wherein the soul can hear the sweet 'Voice of the Silence', a very revelation of God's inmost heart. Even when in the 'world' amid its objects and temptations, the wise will gently withdraw themselves from ever seeking things of sense around them. Seeing even the cup of cold water craved by thirsty lips, the wise will simply observe the water, may perhaps go so far as to say, "That is a cup of cold water", but will not for a moment take the next step of saying, "I want that water now". Such a personal desire will at once break up the perfect poise of dispassionate witness-ship and confuse the clarity of pure vision with the quivering of

personality. In such a total withdrawal is at last found the endless peace of the Inmost Self, freed from the futile lures of the exterior 'Not-Self'.

So long as man is even aware of these outer things and awake to their attractiveness to him personally, so that his mind leaves its inward centre of poise to seek them, so long can there be no freedom for him. When he can say of everything seen 'outside', "That is not my concern, it interests only the monkey-mind", then he is free indeed. Bondage lies in the sense of the 'I' of opinion and of getting; when that 'I' subsides, when the mind becomes as still as a mountain tarn, reflecting in its dark waters without a quiver the tiniest distant star—then is its goal achieved, then has man indeed put on immortality and become divine. Nay, he *is* what he has really always been; only he may now be known for what he is, a Sage and an Adept.

## 21. Every Thought Binds

1. Thinking[1] is the greatest bondage, and the absence of that is release;[2] (YV. 43 : 108) When all expectations[3] are destroyed, the mind perishes; thus is liberation defined. "Let me have Release!"—if the mind ardently demands in this way, (bondage) arises (again);[4] (YV. 27 : 48-49) wise men (know) a

[1] *sankalpanam*, forming an opinion, etc.

[2] *tadabhāvo vimuktatā*.

[3] *or*: hopes, interest, *i.e.* looking to another for something.

[4] If I desire my own freedom, egoism is at the root of that desire and so bondage must remain. Egoism *is* the bondage.

mere hope[1] is the mine[2] of endless (future) pains. (MU. 5 : 85) The fearless one ever sees his whole self in himself alone, and then (he is both) liberated and unfreed; (for) liberation is only for the bound. (PBU. 2 : 31)

2. Bound by the influence of his own idea, **a man** is released (when he is) free from thought.[3] (YV. 3 : 48) Free from Idea,[4] to what limit of highest bliss can he not attain! (YV. 43 : 105)

Thinking, which is inevitably egoistic, centred on the individual thinker, is the cause of bondage; so the ceasing of such ego-centred thought must necessarily be the freeing of the real Self—which *really* is always free! It is the looking for results of what we do, our motive, the hope of getting what we want—which ties the mind to sense-objects and prevents the freedom which is our real nature. Even the very idea of Freedom, if linked with the personal self—"*I* want to be free, to be a Saint!"—becomes a new chain to bind the soul. "Desire God, and not *anything* that He can give", says *Practical Occultism*; not Heaven itself, nor the eternal bliss of 'Liberation', is to be the aim of act or thought—but solely the One Self. Not to be enjoyed by *us*, not the selfish 'bliss' of 'liberation' limited to the personal self, so petty, so unreal, but the simple

[1] *or*: undue interest.

[2] *or*: storehouse.

[3] *nihsankalpaḥ.*

[4] *asankalpaḥ.*

fulfilment of that perfect Will which is the Supreme God Himself. How can this subtlety be put in words? It must be sensed by the heart in silence.

A mere interest in worldly progress and welfare, a fondness for reading the daily papers, the love of music or poetry, passionate delight in science or humanitarian work, devotion to social uplift—all these tend to bind the soul to this 'world' of the essentially unreal, and so subject it to restlessness, anxiety and sorrow. Only he who knows the real self is equally in all, in the rich and wicked as in the poor and virtuous, in the Communistic enemy of religion as in the pious contemplative—only he can be wholly free from worry and from fear. And that is real 'liberation'—though we cannot use the word with strict accuracy, for the real self was never bound. How can God, the Infinite and Omnipresent, be limited, when there is nothing at all besides Himself?

In both what is realised within and what is learned from without, there is only that One Self. To know *That*, one must be free from the bias and prejudice of his own limited thinkings of the past. Approach an experience wearing the dark glasses of such a prejudice, and you can never see it as it is; you never really *meet* another when thinking of him as a sort of label—"This is an Indian"—and we know all Indians are other-worldly, unpractical, unreliable; "This is a nigger"—and we know niggers are passionate and ineducable; "This is an American"—and we know all Americans are wealthy materialists. One who thus looks at others never sees them at all, he sees only the distorted images of his own prejudices. When he can put away that bias for or against, meeting anyone solely as a fellow human being, then he has a chance to make a friend, and to form a true knowledge of the individual he meets. Then all life becomes a constant adventure of ever-changing delight because based on the strong rock of truth.

## 22. Erasing Old Impressions

1. Impressions[1] are of two kinds, namely pure and impure; the impure are the cause of birth, while the pure put an end to births. The wise (call) the former impressions which bring about rebirth impure as they are made up of intense egoism causing an extra dense ignorance.[2] The state which, when it has known what is to be known, has dropped the sprout of rebirth survives for the sake of the body like a roasted seed,[3] (and) is therefore called pure. (YV. 1 : 10-12)

2. When, without enquiring into cause and effect, something is given away[4] on a (sudden) strong impulse, that (leaves what) is called an 'Impression'.[5] What one has imagined with

[1] The word is *vāsanā*, and may also be rendered by 'habitual desire', bias, prejudice, trend, and the like. It is the groove made by some experience or thought upon the soft wax of the mind.

[2] *ājñāna sughanākāro ghanāhankāra s'ālinī.*

[3] The roasted seed can be eaten but can no longer produce a seedling; so purely physical habits like eating, sleeping, maintain the existent body but cannot cause another body to be taken later on.

[4] *or*: taken.

[5] When one regrets what one has lost or given away, the hankering for it is enough to lead to another rebirth in the 'world' where such things can be had again. So conscious 'renunciation' is futile, childish; real renunciation is possible when there is no longer attachment, and the object then falls away like an overripe fruit. The desire for it will never return.

deep emotion, one quickly becomes just that, (all) other memory being darkened. Then under the sway of the 'Impression' the man sees that form and is confused, (thinking) of what he sees, "This is a true thing." Yet on account of (his) 'impression' that (object) indeed loses its own real form; (his) defective vision sees everything distorted as if under the influence of strong drink.[1] (YV. 28 : 48-51)

3. An idea arising from ignorance of the Self is the cause of action, (YV. 42 : 11) (and it is) the acts of the mind (which remain) in the world, not the (mere) acts of the body.[2] (YV. 9 : 1) When 'impression' surges over the mind, the bondage of the world (becomes) extremely firm; (YV. 27 : 49) and as the 'impression' deepens (so does the sense of) duty, and through the increase of (the sense of) duty the 'impression' (grows deeper. Thus) in every way man's worldliness grows and

[1] "Absence makes the heart grow fonder", and the lost past seems to us a golden age. So what we have lost gains in value, our memory of it is distorted, and it obsesses our minds till nothing can be seen in due proportion. The line reads: *bhrāntam paśyati durdṛṣṭiḥ sarvam madavaśādiva.*

[2] Such a deluded soul plunges hotly into action in the world, forgetting that his mental desire has already acted there more potently than his limbs can act. This doctrine was hinted at by Jesus when he forbade even the thought of sin (GJ. 13).

does not (of itself) withdraw (from him).[1] (VC. 313).

4. With the ending of action will come the cessation of anxiety, and thereby the erasure of 'impression'.[2] The total elimination of 'impression' is Release, and that is called 'Life in Freedom'. (VC. 317)[3] (Once) bound by that 'impression', the mind without 'impression' is free. (So) through discernment (of truth) quickly assume the mood without 'impressions'; when it vanishes away on account of the Truth, 'impression' is perfectly extinguished, and when 'impression' is extinguished, the mind is still, like an oilless lamp.[4] (YV. 16 : 45-46)

Now we have all had past experiences, which have left their traces on our minds, have stained the pure surface of our thought with marks corresponding to the joy or misery they brought us in the past. So we all

[1] Man acts inspired by some 'ideal' and so comes more completely under its control. All 'ideals' are really only mental concepts, derived from the memory of experiences in, perhaps, a past life. They have no absolute value.

[2] The more we act, the more we desire, the more anxious we become lest the desire be unfulfilled, the action fruitless; thus the 'impression' is made ever more deep and enduring.

[3] This passage is found also in § 56 : 1.

[4] If we analyse thought completely, we find out how much is merely 'habit'; by rejecting that element we free the mind for spontaneous action, which is divinely free and leaves no 'impression' or karmic tie. The line runs : *vāsanā vilaye cetaḥ śāmyatyasneha dīpavat.*

have certain good or bad tendencies, certain grooves of action, habits, which have made it easy for us to do some things and hard to do others. We all know how hard it is to break ourselves of a habit, however stupid or harmful it may have proved to us; the natural inertia of mind and body lead constantly to repeat what they have done many times before. Thus 'prejudices' arise, a bias becomes fixed—so that some cannot vote Socialist because they have all their lives thought of Socialism as connected with bombs and anarchy. Even when they are convinced that the so-called Socialists now have a policy more in line with their own actual views and wishes, they automatically vote Tory every time!

Some of these tendencies hurt the soul that would be free, others help it on the way. The former are those derived from egoism and they inevitably tend to harden that egoism and so to bring about rebirth in the 'world' which the egoistic mind 'creates'. The latter type arise only when the soul begins to realise its true nature and is habitually turned to eradicating the egoism which leads to birth and death; these last only as long as the existing body and help it to go on until it has reaped the fruits of those past desires which created it; then they fall away and leave the soul as free as air.

Any gift which has a hidden motive, a desire for some return, underlying the seeming generosity, must inevitably lead to such an impure *vāsanā* or tendency, and it drags the soul back to the 'world' to get the desired reward. Every time the giver thinks of his gift, its image fills his mind again and darkens the memory of the soul's real aim, Liberation. Then he becomes infatuated with the thought of what he has given away, be it only a teaching or a human child, and can think only of the value of that sense-object or thought, gratifying his vanity. Then he soon exaggerates its real value in his own mind, sees it as far more important than it really is; becoming drunk with the egoistic sense of his

own generosity, he thinks himself to be somebody indeed and expects everyone else to honour him as he deserves !

One who knows God knows also that He is perfect in Himself, needs nothing, has no desire or passion, has given a perfect 'world' for us to live in. Why then should he act, or try to reform anything ? It is ignorance of the truth that makes men rush in where angels fear to tread; thus they fumble through countless blunders towards an aim which at the time seems to them both good and pure, but which may in fact be quite against God's will. It is not that action in itself is ignorance; it is *self-conscious* activity, artificial, motivated, which arises from the infatuation of an egoist. What the mere body *does* matters little; its nature is to act, and act it will, for even its very inactivity at times may prove the most effective action possible, as the so-called 'Non-Intervention Policy' 1936-7 overthrew the Spanish Government and put Fascism in power over Spain. It is the *mind*, that terrific creative power, whose action is here spoken of as lasting in its effects. A sin in thought is *far* more potent and deadly than the same sin in almost spontaneous physical act. If the mind seeks results, either for its own self or for some cause it holds dear, such action is bound to hold the soul in chains. Perfect disinterestedness, perfect spontaneity like the innocent child's or that of the half-wit, is the only action which can never bind. So many of our most 'binding' actions are those prompted by a 'sense of duty'; we forget that 'duty' is really what we subconsciously want to do, being led thereto by our own prejudices and preferences. Such a 'duty' imprisons the soul in a cell from which it is hard indeed to escape.

When all motivated action comes to an end and the soul rests calm in the knowledge that God alone is all, performing only such acts as come unsought and of themselves, and doing them calmly and without interest

mind) be felled, nor possibly by crores of acts[1] —(by nothing) save the great sword of discernment and knowledge, (whose) metal is (made) shining and beautiful by grace.[2] (VC. 147) When this mind has been cut off by the weapon[3] of Non-Thought, then all becomes the omnipresent and (ever-) still God.[4] (YV. 13 : 10)[5]

3. **Mind** is severed only by the sole blade of Non-Feeling;[6] as a broken cloud-mass in the autumn sky is blown away by the wind,[7] so is it blown away by inner method.[8] (YV. 13 : 17-18) (If) the mind be weakened[9] and the hostile senses stormed, impressions of pleasure will fade like a lotus-bed in the winter.[10] So long as the mind is not subdued by firmly practising the truth of the One, so

[1] *i.e.*, virtuous deeds or religious ceremonies.

[2] *or* : is polished and beautified by the Lord's grace.

[3] *or* : knife.

[4] *sarvam sarvagatam s'āntam brahma sampadyate tadā.*

[5] This passage is also found in MU. 4 : 91.

[6] *abhāvana*, *i.e.*, indifference, treating outer things as of no importance.

[7] V renders : "like thick clouds dispersed by stormy gales ".

[8] *vātena kalpanenaivam tathāntardhūyate.*

[9] *or* : attenuated, decayed.

[10] *or* : snow.

long do impressions rage in the heart (like) ghosts at midnight. (YV. 15 : 22-23) Impressions may indeed perish from the sky of mind (even) during the night, (but) darkness vanishes at once on the shining out of the sun of Understanding. . . . And such a destruction of mind is at the same time the elimination of ignorance. (YV. 13 : 46, 38)

4. They say (that) practised together for a long time the erasing of impressions, knowledge (of the Truth), and mind-eradication do bear fruit. (MkU. 2 : 10) And it is an enquiry into oneself which takes the form of (asking) "Who am I ?" (that) is known as the bonfire burning up the seed of the mind-onion. (YV. 37 : 48)

5. If by means of strong inner control the mind does not appear (again), a man's doubt will be fully dispersed with absolute perfection: in that full intelligence unconnected (even) with traces of pleasant and painful experience a man who delights in the Self will (always) abide. Such a freedom is (for him) certain. (YV. 41 : 65-66) This is the sure sign of a mind which has known what is to be known, that it does not again identify itself

with all the worldly experiences of pleasure (and pain).[1] (YV. 3 : 56) So everything is accessible to the mind: the very same mind, (when) independent (of objects) and fully ripe in the state of eagerness,[2] becomes ready for dissolution. (MBU. 5 : 2)

6. When it has given up the knowable,[3] the mind ceases to exist; when the mind ceases to exist, only the One remains; (SU. 2 : 7 : 23) and this alone is the highest truth. (MBU. 5 : 6) (So) that merging in **Him** is to be practised to the utmost (degree)—for **He** alone **is** the cause of the mind's dissolution.[4] . . . On the merging of that (mind in Him), through the non-feeling of difference, the pure ONENESS is attained.[5] (MBU. 5 : 3, 6)

7. By realising that there is nothing (worthy) to be seen, the mind is swept clean of the visible, (and that) gives rise to the perfect repose of the mind's entire annihilation. (MU. 2 : 38) Giving up the mind

[1] *bhoga*; usually pleasure or enjoyment, but also used for reaping the karmic fruits of any kind of action.

[2] *unmanī.*

[3] *jñeya vastu parityāge.*

[4] The text here is in the first person.

[5] *tallayācchuddhādvaita siddhirbhedābhāvat.*

is the giving up of all (conscious) renunciation, (say) the wise.[1] When mind is given up, duality ceases to exist, and the Oneness[2] is everywhere. (YV. 37 : 34) In this (state) everything ceases to exist, and the universe takes the form of (empty) space ; like light it will become a pure form of light. " The three worlds, you and I "—in seeing (distinctions) like these, one draws near to unreality ;[3] only the seer pure in himself (can have) a feeling like (that of) the Aloneness.[4] Just as the whole of (solid) things like rocks is not obtained in the reflection, (so) in a mirror the Self alone is mirrored in His own Form.[5] (YV. 5 : 66-68) (Then) the mind becomes translucent like a clean lake in the autumn. (YV. Mus. 86)

It is the freeing of the mind from those old tendencies to ego-centred action that we call its 'destruction' (*mano-nās'am*), a word often grossly misrepresented

[1] V renders : " True renunciation lies in the abnegation of the mind ".

[2] *aikyam*.

[3] *asattvamupāgate*.

[4] V renders this : " With the annihilation of this Idea, all conception of differences between the seer and the seen will vanish, and then the Reality of Brahman will begin to shine unintercepted ".

[5] V renders : " Then consciousness alone will shine without the reflections of a glass " (*cf.* 1 Cor. 13 : 12).

by superficial thinkers. It is not really the destruction of anything, but its release from the bonds imposed by past habit. That 'mind' which is to be 'destroyed' is the lowest type of egoism, identifying the self with the personality and its outer body. This mind is nothing but egoistic thought. Never can it leave such thought even for a moment; as one idea passes off it gives room to another of the same type. When this endless process of egoistic thinking is stopped, the 'world'-clinging mind perishes, slain by the sword of quiet contemplation on the real Self.

This 'mind' is simply personal attachment to worldly things. It can be destroyed, and the real Mind, the Self, be set free by the realisation that the SELF is not the petty personality partly clothed in a body, but the Eternal Ineffable Oneness in all selves. And that is possible only when this 'lower mind' has been silenced by turning it wholly on Him.

Such a silence can be known only when there is no attachment to the outer things the mind desires, a non-concern made habitual at first by steady effort and the long purifying of desire; and at the beginning to get control of the restless mind requires great violence to the petty tastes and habits on which it feeds, a violence calling for much self-mortification at the start. Then gradually those old habits of thought, the tendencies to follow ancient grooves of egoistic opinion and desire, are broken down, worn away. A sudden flash of realisation coming from the Guru's grace may even destroy the 'enemy' in a moment, burning away the whole tangled undergrowth of ignorance, and leaving fertile soil for Truth to grow in.

But normally this needs much time and patience, even after true realisation has dawned on the soul. It comes as the answer to the questions: "What is this all for? Why am I here? and who is this 'I' anyway?" And it consumes the whole of that jungle growth like a

raging forest fire. For such questions, steadily pressed to the limit, shrivel up the ego before the heat of the risen sun of Understanding; and when that false ego falls, the real Self is found standing there alone.

That final 'falling' of the ego frees the soul from every doubt of the Truth; how can he doubt the source of sunlight when he sees the Sun in its morning glory? Aware that the light 'without' shines within himself, the soul knows the very centre of his being to be that Light; where then has darkness any place? Every shadow of that old-time gloom is gone. Never again can he be contaminated by a foolish wish for worldly things, never again think he is the body or the ego-mind. That mind has fled for ever; in its place is the Mind ripe and dissolving, soft with the wisdom of real knowledge.

And that knowledge is the Lord; the petty ego-mind dissolves only in the wisdom-love of mergence in the One Divine. When we realise no barrier separates the 'spark' from the 'Fire', the 'drop' from the boundless 'Ocean', that nothing can ever separate us from the love of God or make us different from Him—that false sense of separateness, which in our days of ignorance we called the 'mind', fades away, and GOD alone IS, as He really always WAS, in spite of the ignorance which made us think of ourselves as existing too.

Knowing there is nothing else but He, how can the mind be cluttered up any more with memories of those sense-objects it has now rejected? All drop away; the mind knows nothing but the One eternal Glory and is lost therein. To renounce things of sense while clinging to the mind which creates them and always wants their presence, is folly indeed, for the mind will simply build them up again. The *sādhu* who has given everything away save his one *langot* gradually accumulates property again, until he becomes a big landlord, as the

fable goes. But once the ego itself is given up, destroyed, there is no longer any possibility of those sense-objects resuming their sway and entangling the soul again. Everything disappears from attention save the ONE; God alone is known, and every trace of the false old sense of difference goes, leaving the practitioner merged in Him—a perfect Sage with mind divinely pure and reflecting nothing but the All-Present One.

## 24. Real Action

1. Action is for purifying the mind,[1] but not for knowing the Real;[2] the Reality is attained through Enquiry and not at all (even) by crores of acts. (VC. 11) Having given up (at) one (stroke) hankerings[3] after pleasure, (next) give up (all) trace[3] of difference, and having next abandoned (the idea of) being and non-being, be happy without mistaken notions.[4] (MU. 4 : 108) Or else, having given up all (sense of) doership and non-doership, all, drink up the mind and be steady, (for) you are who you are. (MU. 6 : 5) As an absent-minded person hears someone's talk, (so) the mind without even the subtlest

[1] *or*: work; *cittasya s'uddhaye karma.*

[2] *or*: the fact, the truth (*vastu*).

[3] *or*: fancy (*vāsanā*).

[4] *or*: without changing ideas (*nirvikalpaḥ*).

'impression' is not (really) the doer (when) active. (But when) impression is (still) strong in the mind, one does not cease to be the doer, (just as) one actually motionless (in bed) dreams that he is falling over a precipice. (YV. 25 : 13-14) [1]

2. He in whom there is egoism does not act (effectively even when) he acts. . . . Even while inactive, the foolish mind is always full of worthless agitation, while the unperturbed is ever at ease even in doing what should be done. . . . By the wise one without egoism nothing at all is (either left) undone (or) done. (AVG. 18 : 29, 58, 29) Intentness on (either) action or inactivity belongs to the Yogi [2] with a body-sense; (AVG. 13 : 4) as the undertaking of action (derives) from unwisdom, so also (does) abstention. (AVG. 12 : 6) Being certain that happiness and sorrow, birth and death come only from destiny,[3] seeing no (duty) to be carried out, (the wise remains) effortless

[1] A hard passage, quoted by Bh. Ramana in *Ulladu Narpadu*, 30.

[2] *lit* : one who has attained to, or is aiming at, union with God, but also used for those who have gained certain psychic powers.

[3] See the explanation of 'destiny' in § 38; it is simply '*karma*'.

and is not affected even when active. (AVG. 11 : 4)

3. An intelligence (made) pure and unperturbed by mere hearing about Reality does not even look at what should or should not be done by a renouncer.[1] When anything comes (for him) to do, then he will straightway do that, whether it be good or even bad —for his behaviour is like a child's. . . . Whether outward or inward turned, the wise has no trouble at all;[1] when something turns up to be done, he does that (and then) remains happy. (AVG. 18 : 48-49, 20) As a Seer's mind falls quite without attachment on things flying past at random, so too (does) the strong man (engage) in (his) duties.[2] (MU. 5 : 20)

And this principle tells us what true action must ever be, and what we can expect from it. No action in this 'false-seeming' world can have any actual value in itself; its only value lies in training the mind to dispassion and detachment, through often-repeated disappointments and disillusionments. No acts of charity, no ceremonies, no faithfully performed duties can earn the highest goal; they may win a right to the lower 'heaven' of reward, just as their opposites, 'evil'

[1] He does not mind whether he be turned to outward activities or absorbed in blissful contemplation.

[2] Krishnamurti in 1949 gave good examples of this: you see a train enter a station but are unconcerned because it is not *your* train; you see a hole in a carpet but do not worry because *you* have no responsibility for mending it.

any course of action shows an immature mind and the survival in it of egoism and body-sense. This is as true of inaction as it is of positive action; to 'refuse to fight' is as foolish, as immature, as to rush into a needless quarrel. He who in 1915 spoke of being 'too proud to fight' showed an egoistic pride which naturally could not endure the studied insults of the Kaiser's fleet; so that too-superior nation soon became a combatant after all! Every event of life, sought or unsought, comes to us as the expression of God's will, which is another way of saying Destiny, or the fruits of *karma*. The wise man takes them as they come, acts as the need seems to dictate, and promptly forgets what he has done—holding his mind, as always, solely on the One Reality.

One truly 'surrendered' never at any time need worry over what is to be done; he simply does what suggests itself at the moment, and through the results of that action finds later on that it is the Lord who acted in him. He acts just like a child, looking neither to the past for precedent, nor to the future for probable effects, nor to the present for advice from others. Thus he is always happy, always content, for he has neither anxiety, regret, nor fear of public opinion to cripple him. He is no more attached to what he does, loses or gains, than a passenger in an express train is to the cows he sees grazing under trees in the countryside flying by.

## 25. Contentment

1. Whatever the circumstances, the Free rests in himself, withdrawn from what he has done and what he should not do; impartial everywhere[1] through desirelessness, he does

[1] *i. e.*, equally happy in any conditions (*samaḥ sarvatra*).

not (even) remember what has or has not been done. (AVG. 18 : 98) Saints neither regret the past nor worry about the future, but they duly seize upon and carry out the present in their hands. (YV. 42 : 19) For the wise ones who know that all is God, what is to be thought or not thought, what is to be told or not at all told, what is to be done and what is not to be done? For the wise who see all kinds of visible things as the seer (himself), there is neither bondage nor freedom, no Godhead, nor even the state of an individual soul. (SN. 101-102)

2. The wise man does not hate the world, nor does he seek after the Self;[1] being altogether free from exultation and depression (alike), he is not dead, nor does he (even) live. (AVG. 18 : 83) Only by the practice of such a mindlessness can there be always contentment.[2] (MBU. 5 : 8)

And this is peace, this is perfect satisfaction and contentment, this is the secret of real happiness. Looking nowhere at all save to the ever-present Infinite One, the wise man—saint or sage—is solely concerned with what comes immediately in front of him. A house on

[1] *dhīro na dveṣṭi saṃsāramātmānaṃ na didṛkṣati.*

[2] *evamamanaskābhyāsenaiva nityatṛptiḥ.*

fire suggests at once the getting of water or the saving of furniture; he does not get excited, wring his hands, weep, or impede others with futile and foolish sympathy, but like a true Boy Scout at once quietly organises a chain of water-bucket carriers, of rescuers, or of a party to strip the palmyra-roofing and stop the spreading of the fire. Seeing someone struggling in the water, without emotion he just jumps in, pulls the sufferer out, applies first aid, and slips away before the newspaper-man comes up to note his name for public praise. And when he has been too late to render help, knowing it was not for him to give, he feels no regret, does not reproach himself or make excuses for his absence. For in a very real sense "there is nothing to do in the world", that is, there is no work which any one person must do, whether circumstances allow or not. Remember, it is as foolish to do what does not naturally come to *us* for doing, to do something not our own 'duty', as it is to abstain from doing what does and is.

To seek the omnipresent Self by trying to evade the duties of the 'world' is to plunge still deeper into the 'world's' attractions. The *sannyāsi* who leaves home because his wife gives food late or cold and he wants only to think of God in the wilderness, will often find himself thinking only of where his next meal is to come from; his latter state will be worse than the first! The One Self is everywhere, nothing else at all exists; It is as much in the household, the market, the stock exchange, the gaol and the brothel, as It can be in the holiest temple or the loneliest of woods and mountain caves. It can be found by the eradication of ego-mind, and not by transferring the body from one place or environment to another, which that egoic mind may fancy more conducive to spirituality. Egoism goes with mind and body; it takes a more dangerous form in solitudes and pilgrim centres than even in the local black-market shops.

CHAPTER FIVE

# WHO CAN BE SAVED?

The fool is satisfied with worldly transiencies, the wise man gives his whole heart to seek out Truth, and to call others to share the joy that search brings into life. Those who are ready for it take up the invitation; devoting themselves entirely to the Reality, they seek a worthy Teacher among those who have already found and are willing to help others on the road. They peruse the pages of revelation, and dive ever deeper into the dim recesses of their own heart. So they find therein, hidden below layers on layers of old deposits of thought and action, the pure and radiant Primal Self, in finding whom is perfect peace.

## 26. Wisdom and Ignorance

1. The stages of Ignorance are sevenfold, (so) too the stages of Wisdom are also sevenfold. Within the stages there are also countless mutual relationships of these; at every stage these are bound (up) in the root, so the fruit (of all of them) is the personality. (Now)

dwelling in the Natural State[1] is Freedom, (while) falling away from that is the perception of selfhood :[2] that has already been described in brief. Now for signs of the Knower and the Non-Knower : Purified with full knowledge through (realising) the Natural State,[1] **the former** do not waver, while there is no union for those who have not known (God) and are (under) feelings of desire and dislike. (YV. 13 : 89-92)

2. What falls away from the Natural State[1] (is the mind) whose heart's love is the physical body ;[3] there neither has been nor will be any delusion[4] other than this. Now that state (of poise) which goes between one thought[5] in the mind and the next, the unreflecting mood, is called the Natural State ;[6] when all thoughts are stilled, that state is called the Natural State, (which) dwells (moveless) as a stone (and yet is) wholly free

[1] *lit* : own form (*svarūpa*), *i.e.*, what is really natural to us.

[2] This falling away or defection is called 'death' in §39 : 2.

[3] *lit* : marrow.

[4] *moha*, the stupid self-identifying with outer things, such as the body and its possessions.

[5] *or* : matter, subject (*artha*).

[6] *arthādarthāntaram citte yāti madhye tu yā sthitiḥ* |
*nistamananākārā svarūpa sthitirucyate* ||

from inert sleep. The changeless tranquil mentality, without egoism or (sense of) difference,[1] when it shines out clear—that is declared to be the Natural State. (YV. 13 : 93-96)

We have already studied the seven phases of Ignorance and learned how egoism plunges the soul into the blank darkness of 'sleep', that drunken sleep referred to by Hermes, the Gnostic and Manichean writers. We now learn that there are equally seven stages in the path to Wisdom, though these also very largely overlap and interblend, so that we may find a vast number of 'sub-stages'. The Wise are known by their serenity and steadiness, the Ignorant by restlessness and being enslaved to feelings, emotion and opinion. Poise in the One is the mark of real Wisdom; unsteadiness in the fluctuating Many shows immaturity and foolishness.

The chief cause of this 'unsteadiness' is concern for the welfare of the physical body and the preferences of the ego-mind attached to it; this is indeed the source of all delusion. The Reality, the *Svarūpa*, is that state of total stillness, of thought-free peace, when one idea has perished and no other has yet risen in its place. At every level, this stillness is what is called *samādhi*—an ecstatic state of balanced calm wherein is no sense of an 'I' but only a causeless joy, keenly aware yet outwardly 'asleep', so that the ignorant watcher thinks the Sage is woolgathering, day-dreaming, while he mystically incarnates the Universe's Only Lord. This condition of perfect bliss and peace is the 'natural state' to which the little self is really heir, for it is the very 'form' of the Only Self that is its real self.

[1] *i.e.*, between the self and God, between the self and 'other' selves, and between the 'others' themselves.

## 27. Invitation to the Path

1. All royal beauty is established in God, who is formed of mere Light ;[1] in order to still the restless mind, contemplate with effort the One God in this way, the infinite Light of Mind and the Universal Self. (YV. 14 : 3-4) Having given up the mood of inner tension, . . . you are who you are ; roam about playfully in the world! (YV. 18 : 2) (When you) have once given up everything, (you will) become the spotless great Silent One. (YV. 43 : 4)

2. Leave, O leave the world, and then altogether leave renunciation (too), the poison of (both) renouncing and non-renouncing ; by nature[2] (you are) certainly (already) pure and immortal.[3] (AG. 3 : 46) You are unborn and undying; never have you a body. No birth and death are for you, (nor) mind, bondage and freedom, good and evil![4] Why do you

[1] *sthita brahmaṇi visva s'rīh pratibhā mātra rūpiṇī.*

[2] *or* : spontaneously (*sahajam*) ; it is very easy, tried in the right way !

[3] Conscious renunciation is cruel slavery, for it all the time strengthens egoism and pride. As we are eternally everything in ourselves, there is no need to renounce anything at all.

[4] When this is realised, where is the room for rebirth ?

weep, O child? Name and Form are for neither you nor me. . . If it be once admitted you are neither free nor bound, (then) how can you think of the Self (as) with or without a form?[1] . . . Everywhere and always you are without and within that Beneficent (God); why do you wander like a ghost here and there in confusion? . . . You are in fact the Supreme Truth; so why do you trouble yourself so much?[2] (AG. 1 : 13, 17, 51, 14, 16)

3. Therefore, with your own senses in control and (your) mind at peace, ceaselessly steady (your) intellect on the True; by realising the oneness of the True[3] bring to an end the beginningless darkness caused by ignorance. (VC. 336)

So blissful is that state that none who has ever consciously tasted its sweetness could forget it for a moment, or, in real fact, come out of it; once dissolved, the mind can never form itself again in the egoic shape, just as the sugar doll once dissolved in water can never again resume its former shape. All beauty, all joy, all power is there—for that is what religions call God and philosophies the Absolute. Only

[1] All arguments about whether God has a form or not are supreme folly. As all forms are His (in part), none can be called (exclusively) His. Cf. GH. 13 : 2.

[2] *or*: perform such mortifications: *tvameva paramam tattvamataḥ kim paritapyase*?

[3] R renders this: "through realising thy identity with Brahman"; the text has only *sadekatva vilokanena*.

our self-conscious effort, our ego-mind's futile struggles, stand between us and that infinite eternal Peace. "Let go!" as Krishnamurti warns us, for tension and strain in the petty self diverts our attention there and we can no longer 'see' the 'Goal'. "Effort is to be made till we realise all effort is unavailing," adds Swami Ramdas, and it is easy to see the Advaitin and the Devotee here speak the same language. Effortlessly, spontaneously, acting without passion or attachment, the soul is to 'play' here and there in the 'world'; thus it realises the great Dramatist who composed this mighty Play and silently watches its progress from the 'wings' behind the scene, guiding it at times with His prompt-book.

Worldly things, things we see or hear, cannot long attract the real seeker for the Truth, but on dropping them he will not replace their lure with a new pride of 'renunciation'—pointing to his yellow robe, his beggar's bowl, his bare feet and ragged cloth, as proof of his spiritual gianthood; these things are very easy to obtain! In reality there is nothing to 'renounce' save the *idea* of possession and non-possession. When the mind that forms such opposite ideas is silenced, then in all its beauty the SELF is revealed, immortal, pure and radiant, formless, beyond good and evil, infinitely perfect. To know that SELF is quietly and imperceptibly to drop the veils which hide it from consciousness. And the soul can do that whenever it will, for the SELF is not something alien to be attained but the very soul itself. "What," cries Bhagavan Ramana, "was there ever a time when you did not know your self?" The question has but to be put thus to answer itself. Effort, strain, discouragement are supremely foolish for one who even once catches a glimpse of this.

The old, old ignorance is finally uprooted when we still the senses and the mind, holding it firmly on the Eternal, and realising that It shines in the very heart of the contemplating self.

abstemious, in control of anger, attachment (to society) and the senses, not dependent on others,[1] and without egoism, expectations or property. (TU. 1 : 3)

But this great wisdom, given to all alike, will suddenly terminate the Play before the time; to keep the Game going, there must be fools as well as sages, sinners as well as saints; and armed with the weapon of this supreme fear-destroying knowledge, the wicked would destroy God's world. So the Initiate is warned not to initiate the unworthy, but to see first that the candidate has full self-control, a virtuous life, and a righteous kindly heart. Only such may learn that sin is indeed a 'no-thing' because all alike is God.

## 29. The Dawn of Wisdom

1. Only through the Lord's grace does the latent desire for the ONENESS come to birth . . . in a person;[2] (AG. 1. : 1) and the longing for Freedom arises in men when (their) good deeds mature at the end of many births.[3] (PU. 2 : 17) Only in him whose final birth this is, is there the great peace, the stainless and free knowledge like the sweetest

[1] *or*: not jealous. One who depends on others is not free to give his *whole* heart to the spiritual 'search', but must look out that others do not come between him and his patrons.

[2] *Īs'varānugrahādeva pumsamadvaita-vāsanā . . . upajāyate.*

[3] *janmanāmante.*

flute. (YV. 19 : 9) Familiar from early childhood through (constant) practice[1] with such good things as the scriptures and saintly company, a man with effort develops himself (into) a benefactor. (YV. Mu. 3) (Then) nobility, sincerity and friendliness, mildness and frankness and wisdom[2] take refuge with him, as women usually (cling to) the house. All people desire him (who is) attractive for his gentle ways, as animals (follow) the flute's sweet tune through forest (after) forest. (YV. 10 : 10-11) Then he resorts to a true Guru, serves (him) for a long time, and (after that) asks him something about bondage and release. (PU. 2 : 17)

2. The natural tendency of a man's mind is broken up on making Enquiry : giving up ordinary meditation,[3] becoming ever accustomed to the Self,[4] dropping the visible which ought to be left and going towards the End which should be gained, ever perceiving the seer and not noticing the non-seer, (being one)

[1] *or* : training. Much depends on early education.

[2] *āryatā hṛdyatā maitrī saumyatā muktatā jñatā.*

[3] *mananam tyajataḥ* ; meditation is a mental process, rationative, egoistic.

[4] *nityam kiñcitpariṇatātmanaḥ.*

whose life is awake in the highest Truth to be known [1] and fast asleep to the revolving delusive world through an extremely ripe detachment from things both disagreeable and delightful, having dug up as with a spade the snare in the net of worldly 'impressions'—the desirelessness and harmlessness of such a one snap the knot of the heart.[2] (YV. 15 : 1-4)

3. As dirty water is cleaned by the fruit of the *kātak*-nut, so under the influence of knowledge one's own nature is wholly purified. (When) passionless and unattracted (by objects), independent and leaning on nothing (outside), the mind escapes from delusion like a bird from a cage, and begins to roam (freely with its every) doubt pacified, (its) badness and love of pleasure gone, (then), risen up from the Self by means of a thorough enquiry into its own nature, the mind wholly full within shines like the full moon, (while) down here Brahma, Vishnu, Indra and Sankara [3] become propitious. So long as such (questions) as "Who am I?" and "Whence came

[1] V renders: "who though alive enjoy wakefulness in the supreme essence of Jnana".

[2] *i.e.*, break its ignorant ties (to the world), a frequent phrase.

[3] The deity Siva, here, not the philosopher S'ankarācārya.

this (world)?" are not pondered within (the heart), so long does the pomp of the world continue like a darkness.[1] (YV. 15 : 5-9)

4. Thinking of Him, talking of Him, and explaining Him to one another, learned sages make practice of that One Highest Being.[2] (YV. 6 : 108) Elsewhere four means (of attaining Him) have been listed by the sages, wherein alone is true steadiness in the Real and in whose absence one cannot succeed, . . . For they say that only aspirants full of discernment and indifference (to the 'world') and virtues like calmness[3] are fit to know God. (VC. 18, 17) Wholly freed from desire and dislike, eager to do good to all beings, firm in understanding and perseverance—such a one can proceed to the highest state. (AG. 2 : 24)

The desire for self-realisation comes only when the soul has matured through great experiences and has been able to receive God's grace. Such a one is from earliest childhood devoted to all that is good, to holy books and men; as he grows up, he comes to be known

[1] *koaham kathamidam ceti yāvannāntarvicāritam* |
*saṃsārāḍambaraṃ tāvadandhakāropamaṃ sthitam* ||

[2] *Cf.* § 3 : 3 and many passages in the *Bhāgavatam*.

[3] In § 34 these qualifications are treated in detail, as laid down by the books ascribed to Sankara. Vasistha insists mainly on personal experience of 'omnidentity'.

by many acts of charity and kindliness. All the virtues blossom out in him, and his gentleness draws to him all his neighbours ; even in the street little children follow him just to touch his hand, as they did to Jesus and Muḥammed. He is ready then to seek a perfect Guru, to serve him faithfully for many years, and then to learn from him.

Introspection breaks up the mind's outgoing tendencies and draws the soul further and further in towards the hidden centre, where in silent peace the Real SELF abides. Slowly the pupil ceases to notice outer things, being wholly absorbed in the infinite spaces within and steadily more and more indifferent to pleasure and pain alike. His reactions to injustice and offences are with meek compassion, for he neither seeks what he has not, nor tries to retain what he has—being interested solely in what he *is*. Thus all bondages fall away from him, and he comes face to face with the SELF that he has really ever been.

Self-knowledge purifies the whole nature, just as a catalyst precipitates crystals from a supersaturated solution. Freed from all attachments, the soul is also freed from all delusion ; it flies naturally into the open sky of Wisdom. His mind is a fire of light, keen, alert, profoundly wise, gentle and sweetly humorous ; all nature runs to serve him who has overcome his own narrow self and entered the Self of all. Such a blissful state can come when the soul really knows itself by a direct introspective search into its own nature and the source of everything.

The company of sages and saints is a great help for this, for they talk together of these things and keep the mind always on them ; to fit one for such company one must already be firmly discerning of what is real, true, important, desirable, and of what is 'false', trivial and unworthy of attention. There must also be

a sincere distaste for all that does not actively help that search, the crown of virtues like self-control, sweetness and steadiness, and a resolute all-conquering will to overcome all obstacles, to strip away the dark veils and disclose the effulgent Self within.

## 30. Three Means of Gaining Wisdom

1. Now without a Guru's teaching and the meaning of Scripture the Self cannot be[1] realised; only by means of this combination can the knowledge of one's own self shine out bright. After bringing together for a long time Guru, Scripture meaning, and willing Pupil, as in a (single) day a man comes to engage in good conduct and in Self-knowledge. (YV. 30 : 130-131) (so, my child), bring about the eradication of (ego) by the Guru's power, the meaning of Scripture and devoted controls of (your) self. (YV. 31 : 3) Even the talk of a child is to be accepted[2] (when) consistent with propriety,[3] (while) other (talk), even a saying of the Creator, is to be rejected like a straw! (YV. Mu. 102)

[1] *lit* : is not.

[2] A truly Theosophical attitude of tolerance, this ; cf. GI 22 : 2.

[3] *i.e.*, with Scripture, the Guru's words, and one's own experience. So the Buddha taught that His own teachings are to be judged by the reason. Skt. text : *yukti yuktamupādeyam vacanam bālakādapi*.

2. Not through Scripture or Guru alone is the Supreme Lord seen ; the Self is seen only by one's own self by means of an intelligence rooted in truthfulness.[1] (YV. 41 : 30) (But) that (self) can only be enquired into and most surely achieved by ploughing[2] the Scriptures —thus (is it) to be taught as a certainty: in this sense, understanding comes through enquiry into the Scriptures. (YV. Mu. 55)

There are three great aids along the Path, and without these it is hard indeed to tread it. First comes the guidance of Revelation, the teachings of great saints and sages who long ago trod that way, holy books and scriptures—as explained in the words and living example of the chosen Teacher, and lastly, the strenuous effort of the pupil himself steadily to penetrate his own heart's recesses, to find the Inner Ruler there by enquiry and a noble dedicated life. The wise do not prefer one sage to another, nor do they despise wisdom wherever they may find it (cf. § 47 : 6). They see good in Capitalism and in Communism, they learn from Buddhist, Catholic and Spiritist—nay, even from the human sacrifices and drunken orgies of savage cults. What seems true, from any source, they accept; what seems untrue, even in the mouth of an angel or a god, they unhesitatingly spurn away.

Relying on Scripture and Teacher as guides, he does not fancy they can do his work for him ; patiently, sincerely and earnestly he strives by his own effort to

[1] It is very hard to be both intelligent and totally sincere, when we look into our own hidden motives.

[2] *i.e.*, studying deeply.

enter the inmost truth. The experiences of his predecessors on the spiritual Path, whether given him through personal contact or in the books they left behind, are his sure and reliable leaders. But note that it is the *meaning*, not the mere words, of Scripture which is of value.

## 31. The Spiritual Teacher

1. It is hard to give up sense-objects, hard to see the truth, hard to be in[1] the Natural State[2] without a Guru's kindness.[3] (MU. 4 : 27) Now the syllable GU means 'darkness', while the syllable RU means 'dispeller'; because of (his) being the dispeller of darkness is the Guru named thus. (ATU. 16) For men down here to overcome the manifold world the meeting of saint with saint is in every way[4] helpful; . . . (then) what (need is there) for him in charities, what in pilgrimages, what in mortifications, and what in rites? (YV. Mu. 72, 81) (But while) it is easy to become intimate with bad people, it is difficult (even) to meet a good man. (YV. 2 : 145)

[1] *lit:* to get, attain to.

[2] here expressed as *sahajāvasthā*, the easily obtained state.

[3] As vision enters through the eye and sound through the ear, so by means of the Guru the soul enters into God.

[4] *lit*: everywhere (*sarvatropakaroti*), *or*: an unfailing means.

2. Let him who would know the truth of the Self[1] approach a wise Guru, from whom (he may gain) release from bondage. (VC. 32) (That) true Teacher (must be) a man of faith, from a good family, versed in the Scriptures, affectionate and virtuous, sincere[2] in doing good to all beings,[3] (MkU. 1 : 2 : 6) sinless and passionless, one who is rich in God[4] and withdrawn into God, peaceful as a fire without fuel, a sea of motiveless[5] kindness, and a friend of true people who prostrate (to him).[6] (VC. 33)

3. Having pleased that Teacher with (his) devotion and by humble and modest acts of service, let him draw near to him when (in a) gracious (mood) and ask what is to be known about the Self. (VC. 34) Now, whether fool or learned, he who is roused[7] to the Truth by the clarity of the Guru's wisdom has no (more) anxiety about the ocean of birth and death;

[1] *tattva jijñāsurātmanaḥ.*
[2] *or* : does not hold crooked (heretical) views (*akuṭilam*).
[3] *sarvabhūtahite ratam.*
[4] *i.e.*, a supreme knower of God (*brahmavittamaḥ*)
[5] *or* : spontaneous ; *i.e.* impartial
[6] *or* : (to God); *i.e.*, to devotees
[7] *or* : awakened

indeed (can) the Guru's teaching (avail) there? But when he has uttered this speech of a Teacher united with Him,[1] it shines forth as brightly as the Truth (itself). (AG. 2 : 40)

It is possible to tread the Path alone, but very difficult; a Guide's help is immensely valuable, for one who has seen the road can show it to another. This is why all the religions advocate *satsang*, the company of a saintly person or of saintly books for those who would be saints. Indeed, one who has this company needs no outer ceremony or prescribed activity; he glides naturally along the stream that leads to Liberation. The one trouble is, of course, that saintly people are rare, while the other kind are everywhere to be found!

The aspirant must choose his spiritual teacher with the utmost care, for an unworthy Guru is worse than none at all, his advice may well lead to total spiritual ruin. He must himself obviously be one who *knows* from direct experience, and also one who is kind and eager to help, pure, calm and devoted to the ONE.

Having found such, the aspirant should cling to him and 'serve' him devotedly, and then ask him humbly at the proper time to point out spiritual Reality. With such a Teacher's aid, given by words, example and very presence, he will soon know for himself what frees the soul from every kind of bondage and immerses it in ceaseless and causeless peace.

Because such a Guru helps to reveal the ONE, whom we call God, we do not err in regarding him as himself God manifest. Indeed, that is exactly what he is—for there is nothing else but God anywhere, every

[1] So the Catholics hold that the Pope is infallible *when* he speaks as the inspired teacher of the world for faith and morals—not otherwise.

individual self is only He, and it is His grace which provides the Guru and gives power to his words. Seeing God in all, the successful aspirant recognises Him in the person of the Guru; yes, but more than that, finds Him also in his own 'little self'. This must not, will not, however, lead him to lessen his respect for the Guru; so long as pupilship lasts the pupil must look on his Teacher as 'separate' from him. When the ONE is seen everywhere, in everyone, then it is time to bid farewell to and part from His shadow known hitherto as 'Teacher', rather than stay with him while looking on him with decreasing devotion.

While recognising God in the Guru, as in all things else, the aspirant must, however, remember that even God in that limited form cannot express in word or deed *all* the Truth; infinite, it transcends all expression. Yet the Guru's utterance serves as a means to awaken that spiritual discernment by which the initiated disciple can perceive the Truth in all its ineffable perfection.

## 32. The Scriptures

1. I well remember reading (about) the Three (Ways to) Union (with God) from the Veda (which is) wonderfully adapted to the age and the intelligence[1] of men, (becoming) smaller with the growth (of man);[2] all the many readings (have) one meaning, and the

[1] *or*: devotion.

[2] V renders: "and will be more and more understood with the growth of intelligence".

entire (collection of) the Puranas (also) move forward together with the age.[1] (YV. 29: 162-163) Only the one of devoted respect for the authority of Revelation is firm in his own duty and (so in) the purifying of himself.[2] To the pure-minded (comes) knowledge of the Supreme Self,[3] and by that (knowledge) alone is the world destroyed by the root.[4] (VC. 148)

2. (Yet) those who by (over-much) learning have fallen into the snare of books are confused by them;[5] (when) one's own self is a form of the Light, how can that Light shine through a book? (YSU. 1 : 4-5) Now the study of Scripture is fruitless when one does not know the highest Truth, while when one does know the highest Truth the study of Scripture is

[1] We seem here to have a remarkable teaching that Revelation is progressive; though it cannot really change, it does actually 'evolve' as changing human minds can see more in the old words. At last some new expression of the changeless Truth is needed by the changing world.

[2] Sankara is a great enthusiast for the authority of old Scripture. Here we read: *svadharma niṣṭha tayaivātma vis'uddhirasya.* Action guided by Revelation leads to the purification of mind, without which further progress is impossible.

[3] "The pure in heart shall see God."

[4] *or* : radically.

[5] Cf. § 36 : 1; by creating pride and mental confusion, book-earning is a real obstacle to enlightenment.

equally fruitless.[1] The snare[2] of words is a great forest causing the mind to go astray; hence those who know the truth (from books) should (at once) earnestly try to realise the truth of the Self (by direct experience). (VC. 59-60)

3. Know that all Revelation is unessential,[3] all the Veda is ever unessential, know that every book is unessential, for I (alone) am the essential Consciousness.[4] Know that the 'Three Forms'[5] are unessential, all beings are ever unessential, and know that all truth is unessential, for I (alone) who pervade all things am the Ever-Blissful One.[6] (TU. 3 : 50-51)

Where no living Saint can be found, the aspirant must refer to written words left behind by Saints who have

[1] Books are misunderstood by the ignorant and superfluous for those who know by experience. Cf. what Narada says about mortification in GN 5 : 2.

[2] *or* : web, net.

[3] The word rendered here as 'unessential' is *asiddhi*, futile; not quite the same as *asat*, untrue.

[4] *satyam cidātmakaḥ*. We may also read 'the truth of consciousness' if we will.

[5] *or* : manifestations (*mūrti*); *i. e.*, Brahma, Siva and Vishnu—God in His Creative, Destructive and Sustaining aspects. All these are *nothing*, when compared with God in Himself, the One eternal Reality.

[6] *or* : Ever-Gracious (*sadāsivaḥ*). In this paragraph God is assumed to be the speaker.

passed on to the hidden worlds beyond our cognisance. Sacred Books, Vedas in every earthly tongue, adapted to the needs of every kind of soul and every age, do exist on earth; if we read these with faith and perseverance, we can realise the Truth and expose the falsity of this apparent 'world'.

Yet with this one caution. We must not misuse such books, treating them as infallible in every word, for all souls and for every changing circumstance. Times change, and the path in one age may not be suited for another. Nor can the exact meaning of any passage be found by learning or scholarship; varying interpretations have led to more hatred and bigotry, more cruel narrowness and self-conceit, than almost any other spiritual factor. The Truth is in the self, of every one; how can it be found on the written or printed page, outside that self? Unless the light shines in the reader's heart, he must inevitably misunderstand illumined Scriptures; as soon as that light has shone forth in his heart, why should he seek it outside? A great hindrance to spirituality is the wooden commentation of a Scripture, wrangling over the opinions of scholars about its grammatical forms and why a particular word was chosen. There is no end to such futilities for a fool; the serious seeker would do far better to brush them all aside and rely on his own unaided effort, rather than get entangled in such a jungle of clever words.

Helpful books may be, most certainly are, to a point; essential they can never be. For the Self the seeker seeks is at all times in himself, and *can* be found there without any outer aid at all. All that men know as truth, even the Scriptures and Rites, however holy, however ancient, are but toys for him who truly seeks the One. He may play with them in moments of comparative relaxation, but he will never look to them for success in his quest. Let the self rely upon the Self alone!

## 33. Enquiry into the Self

1. There is only one method[1] by continuous practice of which the Self may be sought out by a man—his own experience (together) with Scripture and the Guru. (YV. Mu. 55) A sickness does not go at the (mere utterance of a) word without drinking the medicine, nor is one freed (from ignorance) by the (mere) word 'GOD', without direct realisation.[2] (VC. 62) Just as an object can in no case appear without light, so Wisdom cannot dawn through any means other than Enquiry.[3] (A. 11) As the bearer of a torch should give it up after finding a certain[4] treasure, (so) should one, who has through knowledge found (the way to) what is to be known, afterwards give up the (said) knowledge.[5] (BVU. 36)

2. Union and Wisdom[6] are two ways to destroy the mind; Union turns the thought

[1] *or* : means (*vākyatā*).

[2] *aparokṣānubhavam*. This refutes the common idea that the mere utterance of God's Name can bring liberation, as in the parable of Ajāmila.

[3] *i. e.*, into the nature of what says 'I', and who that 'I' really is.

[4] *lit* : some (*kvacit*).

[5] Sri Ramakrishna often used this thought in his teachings.

[6] *Yoga* and *Jñāna* ; as it were, Practice and Theory.

(to) that only, and Wisdom (gives it) proper attention. (YV. 27 : 72) After long investigation Wisdom thinks thus: "I am free!" What is that? Does one from that moment become free by the thinking? Afterwards, only at the end of hundreds of births, is the man freed through Union.[1] . . . Apart from Union, Wisdom (alone) cannot lead to Freedom; also Union (alone) can never succeed without Wisdom. . . . So the aspirant must firmly practise both Wisdom and Union.[2] (YSU. 1 : 54-55, 51, 14)

3. Having totally stopped the ego and eliminated the various mistaken ideas[3] due to it, a man by discerning[4] the Inner Reality realises the truth to be "I am this (universe)". (VC. 304) When happiness is felt on seeing God, (then) is the Natural State attained. (MBU. 5 : 8) That happiness which (follows) on uniting the seen and sight (itself)

[1] Mere repeating of the *mahāvākyas* like "I am Brahma", "That art thou", leads nowhere and is childish folly, superstition.

[2] Faithful practice is 'love', and God is found through both knowledge (*jñāna*) and love (*bhakti*); one must both know the way *and* try to follow it.

[3] R reads: "through the stopping of the diverse mental waves". The word is *vikalpa*, nearer to 'errors'.

[4] *vivekādi*, which word suggests the Four Qualifications of § 34.

is the essential Reality;[1] having (reached) that final ONENESS and gazed upon God, the mind is destroyed.[2] Where the mind does not arise (again), that is certainly the utmost happiness free from waning and increase, (for) it neither grows nor comes to an end. (YV. 31 : 11-12)

. Teacher and written guide-book help, yes, but the traveller must keep his eyes alert and use his own intelligence to seek out the road in a foreign land. Direct experience alone is essential for the aspirant; the uttering of a thousand magical phrases, performing a thousand holy rites, study of a million books, a billion good deeds, can never enlighten the dark mind, any more than waving a handkerchief on the roof can bring light into the cellar. To get the benefit of a medicine, you must drink it; mere looking at the label and muttering its name will not help at all. Mere outer knowledge is needed only until the wisdom of Truth begins to dawn; then it may be safely discarded as no longer of any use.

That wisdom, together with steady practice of self-purifying ways of moving towards conscious union with the One, these two are the real need. Wisdom says in a flash "I am only He"; Yoga patiently repeats that realisation until it becomes unswerving nature. Neither alone suffices. A flash dies out like lightning in the sky; mere practice, without the light to be practised, is

[1] *brahmadarśanajñāta sukha svarūpa siddhirbhavati.* When the 'seer' alone exists, both what he 'sees' and the awareness of *his* 'seeing' it merge into the silence of his own being, which is God. In that blissful awareness of nothing but God, the mind comes to an end, leaving deepest peace throughout.

[2] *tadantaikānta samvittyā brahma dṛṣṭyā manaḥ kṣayaḥ.*

vain. Union is experienced in full consciousness when the light by constant repetition becomes incessant.

And that can be only when the whole mode of mental activity founded on the ego-mind comes to an end, together with all the wishes and ideas built on that individual self. When this cloud of falsity is dispersed, the Sun shines out in the clear sky of eternal peace; then is the long awaited Day, then does the soul rejoice for ever in the perpetual vision of God, the Beatific Self.

morality,[1] and through the pleasing of God.[2] (A. 3) First one should fully acquire Discernment between eternal and transitory things; next that Discontent with the enjoyment of fruits (both) here and in the next world; and in that way open out the Sixfold Perfections like Calmness, and the Longing for Freedom. (VC. 19)

2. *Discernment* is defined as a sure conviction in this form: "God is Truth and the world is false; He is eternal and this (universe) is transitory",[3] (VC. 20) for the nature of the Self is eternal, while the visible (world) is otherwise; he who is certain of this has assuredly a real and perfect Discernment. (A. 5)

3. That is *Distaste* when one has really come to detest fleeting experiences[4] through

[1] *or*: penance (*tapasā*), anything hard done for attaining God.

[2] Here the personal Liberating God, Hari, as in § 4 : 2-6.

[3] Note here the clear parallel between 'Truth' and 'eternal', and between 'false' and 'transitory' (*mithya* and *anitya*). The world is false because it is transitory, just as God is true because He is eternal. This is Sankara's teaching, and not that the world in itself is non-existent; its existence is relative and depends on the mind's imaginative powers. The world we see does not correspond exactly with the world as it really is. This famous couplet reads:

*brahma satyam jaganmithyetyevam rūpo viniścayaḥ* |
*so ayam nityānitya vastu vivekaḥ samudāhṛtaḥ* ||

[4] *or*: enjoyments (*bhoga*).

sight and hearing, etc., from such as the body right up to God's (world); (VC. 21) and that means such an unmitigated dislike for objects (from) (God's world) down to lifeless things, as the disgust (which is felt) only for a crow's excrement. (A. 4) From those very experiences (of life where) the fool's desire is born springs up the Distaste of the wise. (YV. 17 : 101) The fruit of Distaste is understanding, and the fruit of understanding is abstention; from the experience of one's own bliss (comes) peace, and this is only the fruit of (that) abstention. (VC. 419) The latent desire[1] for the Self is hidden by the net of 'impressions'[1] from the Not-Self; when these are destroyed by ceaseless abidance in the Self, it spontaneously shines out clear. (VC. 275) Thus is it said: "On giving up all things the Self remains; so long as all is not wholly given up, so long the Self cannot be gained."[2] (APU. 1 : 45)

4. The constant erasing of 'impressions', this is called *Calmness*; (A. 6) (it is) the

[1] *vāsanā*, in both places.

[2] This couplet reads:

*sarva vastu pari tyāge s'eṣa ātmeti kathyate* |
*yāvatsarvam na samtyaktam tāvadātma na labhyate* ||

condition of a mind steady on its own goal, (after) having again and again seen (their) defects and become separate from the host of sense-objects. (VC. 22)

The checking of outgoing thoughts, (A. 6) turning away from sense-objects and fixing both kinds of organs in their own centres—that is known as *Self-Control.* (VC. 23)

The total rejection of sense-objects, (A. 7) giving no support to outgoing thoughts (at all)—this is the highest *Withdrawal.* (VC. 23)

The bearing of all (present) troubles without (even) looking at them, having no anxiety (about the future) or regret (over the past)—that is called *Endurance.* (VC. 24)

*Faith* is well known to be devotion to the words of the Veda and of the Guru; (A. 8) the intellect's firm assent to the words of Scripture and the Guru as true, whereby the Reality is attained—(that) is called 'Faith' by the good. (VC. 25)

Now concentration of the mind upon the real Goal, (A. 8) constantly fixing the intellect always on the pure God, that is said to

be *Poise*, and not (a mere) indulgence of the mind (by diverting thoughts).[1] (VC. 26)

5. The desire for freedom by realizing one's own nature and so escaping from the bondages imagined by ignorance, from egoism to the body itself, (VC. 27) (crying), "O God, how and when shall I have release from the bondage of worldliness?"—that feeling, when it is really intense, is to be known (as) the *Longing for Freedom.*[2] (A. 8) Now only in him whose Distaste and Longing for Freedom are deep have (virtues) like Calmness (their) meaning and fruitfulness.[3] (VC. 29)

Sankara, clarifying the Advaita doctrine in his day, thus lays down the requirements for the Path, already touched on in our § 29 : 4. The first preliminary is a righteous life according to the duties accepted for the individual's 'state of life'; then naturally in the heart arises what is needed for the inner quest. In our times, many seem to think it is enough to be able to quote *Gītā* verses in Sanskrit, to breathe deeply through the nostrils in turn, or to stand ten minutes on the head without wobbling. But this is self-deception, for the moral foundation can never be omitted. Until a man has cleansed his feet of the foul slime of earthly passion and selfishness, he cannot safely set them on even the lowest rung of that supernal ladder.

[1] These Six 'Virtues' are: *sama, dama, uparati, titikṣa, sraddhā, samādhāna.*

[2] *or*: aspiration (*mumukṣutva*).

[3] The really essential requirement is a disgust for all that is not God and a passionate desire for Him.

*Discernment* first: that tells us what is real and important, what is trivial and relatively false. This shows us later that God alone is real, the inner Self of all, while everything else is just a nothing, unworthy of the slightest attention from him who would be wise.

From this naturally arises *Distaste*, or Detachment; for he who has once seen God can never care again for lesser attractions, knowing them to be nothing at all. Nor is there any limit to the disgust for worldly things; let them produce pleasure or pain, conduce to happiness or misery for the individual or the multitudes of men—he knows that they are all wholly worthless, and spurns them from his mouth like a maggot accidentally taken in with a segment of apple. Even the sweetest are to him most contemptible, because they have power to draw and imprison the unwary soul. Allowing no exception to this general disdain, the aspirant naturally drops all 'worldly' contact, and in the 'spiritual' finds an ocean of delight hidden in the Self.

The *Six Virtues* are: (1) absolute steadiness in the quest, never to be disturbed or drawn away from its aim; (2) withdrawing the whole attention from outer things to the Inner Self; (3) complete mental freedom from any tendency to look outside for satisfaction; (4) perfect contentment with whatever conditions of life may come, knowing that all alike conduce to the Quest, if the soul be but altogether true to it; (5) full faith in the chosen method and the Guide chosen as the leader in it; and (6) steady and unwavering fixing of the heart and soul upon the Aim, which is God the One Self in all.

*Yearning for Freedom* is the intense longing for God, to serve whom and know whom is perfect freedom, and to have done for ever with the foolish imaginations of that petty ego-mind, in order to be aware always of blissful union with Him.

## 35. First Steps to Union

1. If you really have a craving for Freedom,[1] (then) you must avoid sense-objects from afar like poison, and like nectar always carefully cultivate Contentment, Kindness,[2] Forgiveness, Honesty, Peaceableness[3] and Self-Control. (VC. 82) The first step[4] to Union is the control of speech and the non-gathering of property,[5] (being) without expectation and desire,[6] and (having) a liking to be always alone. (VC. 367) Enquiry (comes) from being weary of experience,[7] and from (that) Enquiry (comes) the condemnation of experience; these (two) will fulfil each other like the sea and the rainclouds.[8] (YV. 21 : 40)

2. A learned sage skilled in practice of the Self should drop all acts[9] and try to be freed

[1] *mokṣasya kāṅkṣā yadi vai tavāsti.* Omnia vincit amor!

[2] *or* : compassion.

[3] *or* : calmness.

[4] *lit* : door.

[5] *or* : not accepting gifts—for these bring about an obligation to the giver, and so hinder the total *vairāgya* which is needed.

[6] *or* : activity.

[7] *or* : enjoyment, both pleasure and pain (*bhoga*).

[8] Search into the Self causes distaste for other enjoyments, and that in turn increases the eagerness for the Quest.

[9] There *is* a stage where total withdrawal from external activities is necessary; prophets retire to caves or mountains before their mission.

from the chain of rebirth. (VC. 10) Sitting in a lonely spot, desireless and with the senses under control, he should feel that One Endless Self without (any) other thought in the mind. (AB. 38) The Holy Abode can be reached (either) by the series: the practice of Distaste, the meaning of Scripture, Intelligence, the Spiritual Teacher and Self-Control—or even by Intelligence alone. (If) there be a keen[1] and stainless understanding (able) to awaken (a man), he can reach the Eternal who is to be reached, even if he lack all (other) requirements. (YV. 25 : 3-4)

3. Steadiness in the practices laid down by the Guru, (so) it is declared, will gradually give success in the same birth, or at any rate in (several) births. The second (way) is by oneself alone meditating on something surely gained through intelligence; (then) the attainment of Wisdom comes like the fruit fallen from the sky.[2] (YV. 19 : 13-14)

Now in a sense the fourth qualification is the most vital, for without it none will even think of the Path at all, while with it anyone can get the other needed

[1] *or*: subtle, fiery.

[2] *i.e.* spontaneously and without warning. Bh. Ramana neither had a Guru nor performed any '*tapas*' in this life.

qualities. It is as with a teacher: if she loves children, she will easily learn enough and how to teach them well, while without that love her work will be a hateful drudgery, her lessons a boredom for the class. The eager seeker naturally leaves all he does not seek; does the stamp-collector care for matchbox covers? Having the desired Goal in his mind, he is ever meditating on His perfections, and one by one they manifest in him. He becomes naturally quiet, solitude-loving, seeking gratification from none, caring little for talk and less for wealth beyond his body's barest needs—so that he may turn his whole attention to the Self within.

In such a soul the whirl of activity comes almost automatically to a calm, almost unnoticed, rest. He withdraws from worldly scenes into some quiet spot, where he may be undisturbed in his quest and feel, continuously brooding over him, that eternal Being, without any distraction arising from outside. Even if he has no other mental equipment, he can pursue that quest to the very end by seeking out the roots of the ego-mind; being essentially unreal, that mind fades away when closely gazed upon, just as a shadow disappears when the light itself is seen, as the stars fade before the sun.

Carefully following the detailed instructions of his chosen guide, be that a person or only a book, he will certainly succeed in that quest. For where one has found a village along a certain path, another in his turn is sure to find that village, if he keeps to the indicated path and does not stray into attractive fields beside the way. Even without a guide at all, a mature soul like Bh. Ramana may come upon the Truth by merely looking into the nature of the mind and so discovering the Reality hidden by its clouds.

## 36. Obstacles in the Way

1. (It is) only because of latent desires for reputation,[1] scholarship,[2] and bodily comfort[3] (that) the desired Wisdom (often) does not come to people; wise men say that these three violent desires[4] are a mighty chain of iron to fetter the feel of one who seeks freedom from the prison of worldliness,[5] and that (once) freed from them one truly attains to Freedom. (VC. 271-272) The Yogi must (also) always avoid Fear, Anger and Sloth, too much of Sleep and too much of Wakefulness, too much of Food and Fasting.[6] (ANU. 27)

2. (Having) a mastery of self-knowledge and also the company of good men,[7] (with) the total giving up of 'impressions' and the

[1] *lokavāsanā, i.e.*, public opinion, the desire for fame and respect, eagerness to follow the views and customs of society.

[2] *s'āstravāsanā, i.e.*, passion for too much Scriptural study, book-learning or 'spiritual gluttony'.

[3] *dehavāsanā, i.e.*, excessive care for bodily purity or cleanliness, the body's beauty, health and adornment.

[4] *or* : old tendencies, preferences, (*vāsanā*).

[5] How many have been held back by a mother's tears, by the fear of what others will think, by thoughts of possible physical suffering!

[6] The *Gītā* teaches the same balanced life to aspirants. Too much of even good things is bad, cf. *Gītā* 6 : 16-17.

[7] *i.e.*, fellow-practicants (*sādhusangam*).

to passion, anxiety or inertia, but calmly persevering in methods which will uproot these altogether.

The mind can be cut away from its roots in lower 'worldliness' by the perfecting of self-discipline, the company of a Saint, calm study of its real nature, or detached performance of work which comes unsought. Having thus eliminated the mischievous 'ego-mind', there will be little need to worry over individual defects arising from this one source. Hours spent daily meditating on defects like gossip or irritability avail little before the benefit of even ten minutes considering the ego which spawns these, and so many other things.

## 37. Purifying the Mind

1. The gaining of mental purity through abundance of the virtues of Discernment and Distaste leads to Freedom, . . . and that purifying of the mind is to be done by the aspirant's (own) effort. When (it) is purified, this Freedom (appears) in him (like) a fruit in the hand.[1] (VC. 175, 181) (With) equal vision over all, in this way, . . . gradually and by personal[2] effort coax the childish mind;[3] when as the result of the practice of

[1] *i.e.* very clearly—a favourite simile in Sanskrit.

[2] *or* : manly.

[3] V renders: "Thou shouldst through thy equal vision over all, and thine own efforts, playfully check the childish mind from getting into impure vasanas and make it associate with the pure ones."

former births (good) habits[1] dawn in you, then that flower of practice will overthrow and crush the enemy. (YV. Mū. 12-13) (But) worldliness has grown up through hundreds of former births and can never be destroyed without long application.[2] (YV. 28 : 119)

2. Breaking (it) with the iron tool of Scripture and (good) company (turns) the painful (into) a pleasant thought; (so) with the mind (busy in) good acts (break) the (impure) mind. (YV. 13 : 8) There must be a certain output (of force) in crushing a belladonna flower, (or it may be) quite possible even without (effort) at all; but it is not so in crushing a thought.[3] Having quelled thought by thought alone, (or) mind by mind alone—to abide in your own self, what is so hard in these two (things)? (YV. 17 : 249-250) In this way matured by ploughing up[4] and knowing the Reality for certain, having given up even that glory yonder, (thus) control the stream of impressions. (YV. Mu. 16)

[1] *or*: impressions, prejudices, etc. (*vāsanā*).

[2] *janmāntāras'atābhyastā Rāma saṃsāra saṃsthitiḥ* |
*sā cirābhyāsyogena vinā na kṣīyate kvacit* ||

[3] Even to crush a tender flower takes some strength, but it is easier to check a thought. I wonder!

[4] *i.e.*, thoroughly investigating.

The egoistic taint corrupting the Mind is the one real enemy to Realization, just as a black cloth twisted round an electric bulb effectively hides its light, however bright it be. To remove that black veil, to free the mind from its egoism, this is the aspirant's task. And it can be achieved only by 'excess' of these same great qualities of Judgment (*krisis*) and Disdain (*apatheia*), to use the normal Western words, that the mind can be freed from that ego-veil. They can scrape the scum from the tank surface and open the pure water underneath to the bright sunlight. Nothing else is needed, nothing has to be created or gained anew; the Self, the Light, is there all the time. Freed of its covering, it will spontaneously appear. In this purifying work, experience shows the truth of the proverb "More haste, less speed"; the soft dripping of water smooths the rock surface more surely than the hammering of metal chisels, though it take more time.

Gently and gradually the work is done. As a child gradually loses interest in its toys and gives them away, so the mind loses contact with and all wish for 'worldly things', and finds its sole interest in itself. After all, this desire for Freedom rises very late in the long story of man's life; only in his last few births does he consciously seek the Goal, and the good habits and desires acquired during past ages of vast experience are the soft stream which wears away the mind's hard carapace of selfhood. It took ages to form that protective shell, behind which the intelligence could grow to the point where it could discriminate at all; the aspirant must give time for that armour-plating to be worn away, so that the mind may enter on its freedom. If one breaks the shell of a new-laid egg, no chick emerges; when the chick is ready to come out into the day, it breaks the shell from within by its own effort, and is at once strong enough to face life in freedom.

The knowledge gained from a Sage or his written words turns sorrow into joy and shows the meaning

behind every successive difficulty. As a needle can take out a thorn, so are bad habits removed in time by good habits—after which *all* habits can be dropped, and then the soul acts spontaneously, unbound by the effect of past acts or thoughts. Really it is very easy for the earnest practicant when ripe for the effort, thus to transform the mind by continual looking to the Self within, till at last *all* the past fades away and the mind assumes its own limpid purity.

## 38. Fate and Personal Effort

1. Fate does not exist, . . . Fate is always unreal; . . . (when) that Fate is imagined by fools, they crash down to ruin. (GYV. 2 : 8 : 13, 11, 16) That oldtime effort (of past lives) is certainly (what) is called by the word 'Fate'; (GYV. 2 : 6 : 35) Destiny, in the very shape of (past) Effort, is indeed the ruler (of life's events).[1] (GYV. 3 : 62 : 27) As someone strives, so exactly indeed does he enjoy the very same fruit (he seeks),[2] but it is not easily attained; fruit is not obtained down here by just anyone at all. (GYV. 2 : 7 : 19) The fruit will be exactly in proportion to what the effort may have been; thus (we see) Effort alone is 'Fate', and (so) indeed let it be!

[1] *pauruṣenaiva rūpena niyatirhi niyāmikā.*

[2] *yathā yathā prayatnaḥ syādbhavedāsu phalam tathā.*

(GYV. 2 : 6 : 2) Down here in the world indeed everything can only be got by full exertion and by all (kinds of) effort. (GYV. 2 : 4 : 8)[1]

2. Men who dread (re-birth) (should) seek refuge in their own honest effort, (YV. 20 : 3) and like a child cultivate the child's own unattached and innocent nature.[2] (SBU. 13 : 1) Only by one's own praiseworthy personal effort, in no other way, (YV. Mu. 5) is God attained in a moment. (YV. 13 : 39) There is no way to Happiness save by the total stilling of the mind—a matter of giving up by one's own personal exertion what is dear to oneself.[3] (MU. 4 : 90)

It is common for outsiders to reproach Hinduism with teaching a blind fatalism; confronted by difficulties or injustice, the man cries, "It is my fate, the result of my own *karmas*!" and does no more about it. But this is not a fair reproach. No Hindu Scripture of repute teaches such a supine attitude to life. Here we have a clear repudiation of the idea that any 'Fate' outside our direct control exists; the circumstances of our life are exactly those we have ourselves desired and worked for in the past. When we find them less

[1] The whole of this paragraph is derived from Atreya's citations from the original *Yoga Vāsiṣṭha*.

[2] *bālye tiṣṭhasedbāla svabhāvo asango niravadyo*. V renders this: "the absence of notions of right and wrong".

[3] *svepsitatyāga rūpiṇā*; here we have the real 'inner mortification' of Catholic Asceticism, far more valuable than mere 'outer renunciation'.

attractive now than they seemed in anticipation, we turn from them and seek others, thus radically changing our life and circumstances. When the new environment proves as unsatisfying as the old, we learn at last that the happiness we seek lies, not in outer things, but in our own attitude, and then we change that attitude, enter on the Path.

If a child has to be dragged from the womb by forceps, it starts life under a heavy handicap, which can be avoided if it comes out by its own effort, aided only by the unconscious thrust of the mother. So too, it is by the aspirant's own effort, helped by the unconscious urge of the Guru, that the free and spontaneous Goal is happily and swiftly won. Voluntarily giving up one's own choice and preference, one can bring to a stop the restless tossing of the mind; in that perfect stillness is found the Happiness which has no end.

## 39. Unswerving Patience

1. The (world) can all be subdued only by him who has subdued the senses, the mind and intellect, together with such (passions) as lust and anger; by no one else at all can that One yonder be made known.[1] (YSU. 33) If you at every moment avoid the following-up of thoughts,[2] then you will indeed gain non-mindedness and effect purification. (MU. 4 : 6)

[1] U reads : " and such a one is not tormented by any whatever ".

[2] *or* : adherence to mental habits, obeying prejudices ; *sankalpās' anusandhāna varjanam cetpratikṣanam*

2. Never is negligence to be allowed in the devoted clinging to God; neglect to practise the Knowledge (of God) is death.[1] (AAU. 14) So now he who, being led astray, swerves from the Natural State falls (very) low, and the rising (again) of (such) a fallen one will not be seen any more without (his coming to total) ruin. (VC. 328)

3. According to Scripture, one should not be impatient for success for the sake of pleasure;[2] when the success (comes) after a long time, a rich fruit fully ripened will be won.[3] (YV. 16 : 8) Saying "I, even I", this narrowness perishes[4] and the vast Expanse pervading the whole universe will manifest. (YV. 20 : 4)

4. Even after knowing the Reality, this strong beginningless impression "I indeed am the doer and the experiencer", which is the source of worldliness, survives;[5] that must be carefully driven out by means of (keeping)

[1] *pramādo brahma niṣṭhāyām na kartavyaḥ kadācana |*
*pramādo mṛtyurityahuvidyāyām brahmavādinaḥ ||*

[2] *i.e.*, for the sake of the bliss caused by attainment.

[3] Let everything come in its own good time, as the natural result of patient effort and God's grace.

[4] *or*: in this narrowness (one) goes to destruction.

[5] Even illumined Saints are still subject to temptations.

the vision turned inward upon the self. Down here the Sages have called the attenuation of (such) an impression (real) Freedom. (VC. 267) Now it is when one becomes used to ceaseless practice without (external) aid that one merges (in God) by absorbing that (mind when it has been) stripped of inner virtues and defects, and not (in any other way). (AG. 2 : 16)

But very rarely can such a victory be won by a single battle; often enough, in Churchill's famous words, it is only "by blood and tears, by toil and sweat". There is no 'short cut' to Heaven; God can only be known by this total transformation of the mind, the dissolving of the heart's being—as we are also warned by *Light on the Path*; and the ego screams with agony as the sharp axe is with steady hand laid to its root. This cutting is done when we cultivate so complete a detachment that in the self no reply is awakened to any event or person or thing; "until the eye becomes incapable of tears, it cannot see"; true vision is possible only after transcending all feelings. By the absence of instinctive response, by the total ceasing of the habitual thinking about objects in the field of the senses, the mind is at last subdued and God revealed.

Before the victory can be wholly won, there must be 'continual awareness' every moment of the day, waking or asleep. A moment's inattention to the Reality, a moment of diversion from the Self within to the senses and their reports—and the gain of many hours has been frittered away. The loss of effort to see God, even for a moment, is real 'death'—which the

mere escape of the soul from its fleshy envelope can never be.

Success comes only after prolonged and patient struggle; impatience really arises out of a desire for personal bliss in spiritual life, for which the soul has bartered away a worldly happiness. But that personal joy cannot be the real aim, for everything personal is limited, transient—wherein there is no real joy at all. The 'joy' we seek brings to the personality only its own destruction—or perhaps it were fairer to say its transcending beyond all limits we can conceive.

It is quite possible to see God, to *know* the Eternal, in a flash of real vision, and still to cling to the ego-enemy of that sublime 'experience'. Have we not heard of saints who say, "I have seen God . . . I was shown the ineffable glories of the Infinite," and thus show their continuing enslavement to the 'I'? In fact, the 'I" that speaks can never never be the 'I' that knows; the One cannot be spoken of, nor is the personal 'I' there, to see or know anything at all. With greater truth, St. Paul said, "There was one who . . .", proving thereby the reality of the vision. To cling to the idea of any achievement by the personal self, the 'I', is to prevent altogether the attainment of the Real; to remove that false impression is to rid the mind of ego, and to *see* God indeed.

## 40. Seeing God

By means of the All-Self[1] (comes) the cause of escape from bondage; there is nothing at

[1] *sarvātmanā*; here R brings in the new idea "to realize oneself as . . .", not in the text.

'practice of the Presence of God', man can attain to God; mere duties and acts and rites, soever noble, cannot win for man any right to union with God; they are in their own sphere, 'natural', and can claim no authority over the 'supernatural'. God is seen only in the mirror of His own grace, when all is still as a deep mountain pool; and that mental stillness is true happiness for the mind, which finds in it the peace of a perfect rest. When the mind grows still, God can be seen reflected there, as the star's light shines on the water of a deep well at midnight.

## 41. Forest or Family

1. The passionate one wants to leave worldly life[1] in order to avoid trouble, (while) the desireless has no pain (even) there—he does not even feel the trouble. (AVG. 16 : 9) Oh joy! never does the knower of the Truth feel pain (in) the world, because this round universe is full of Him alone![2] (AVG. 17 : 2) The world of the ignorant is a flood of troubles, (while that) of the wise is full of bliss; the world of the blind is full of darkness, but (that) of the clear sighted[3] is bright. (YV. 29 : 48)

[1] *or*: one who is attached to the world wants to renounce it.

[2] *or*: himself alone. It reads:
*yata ekena tenedam pūrṇam brahmāṇḍamaṇḍalam* |

[3] *lit*: with good eyes (*sucakṣuṣaḥ*).

2. Some are caught up in worldly affairs, (but they are) cool and without worrying over things seen (around them) say, "I have no connection (with these)"; others are settled (calmly) in contemplation. If (they are) quite contented,[1] both of the two (groups) are happy people; there will be satisfaction[2] within (both), and that is the fruit of a ceaseless moral effort.[3] . . . The states of those enlightened in (the midst of) worldly work, and of those illumined in the forest, are both quite certainly equal; both undoubtedly go (straight) to the Goal; (YV. 25 : 12, 8-9) (for real aspirants) even a (busy) village is like a (quiet) wood.[4] (APU. 1 : 33)

3. The world of those burning with inner thirst (seems to be) a roaring conflagration, but the world of those who are cool within they find cool. That which is within all people becomes established (also) outside.[5] (YV. 25 : 24-25)[6] Feel (one) to be a friend,[7]

[1] *or*: cool (*pariśītalau*).
[2] *or*: coolness (*śītalatāya*).
[3] *ananta tapaḥ phalam.*
[4] *grāmoapi vipinopamaḥ*; *cf.* the teaching of the Gurus in GGS 28 : 4.
[5] *bhavatyakhila jantūnām yadantarstadbahiḥ sthitam.*
[6] Quoted in APU. 1 : 35-36.
[7] *or*: relative.

(and he is) a friend,[1] (while if one) be felt (as) a stranger,[2] (he is) a stranger.[2] (YV. 20 : 83) He who sees only a sincere friend (in) the most bitter enemy intent on killing him at once, he sees (the Real).[3] (YV. 29 : 8)

The instinct to run away from home to perform ascetic practices, to 'retire from the world' into some monastery or hermitage, is actually a sign of the immature soul, swayed by pride and passion and unready for the Path. One who at least intellectually understands there is only One, knows that He is to be found as readily in the vortex of worldly business as in the silent forest glade or the private cell. Knowing that *all* things are good, express His perfect goodness, he is happy wherever placed; right there he sets calmly and steadily to work, to find that Centre wherein all bliss resides. To feel trouble, pain, anxiety, despair, is the sign of spiritual childishness, to be outgrown after more experience in the 'world'. Such souls see only the gloomy side of material life, while the illumined find in that too the everlasting Light.

Some practicants quietly immerse themselves in the 'worldly' environment and remain detached, indifferent to its draw; others sink deep in the inmost silences, having nothing to do with the whirl around them. Neither of these can be looked on as superior; if truly detached, both alike are drowned in the ceaseless and uncaused bliss of the Self, wherein equally they will soon be for ever merged. It matters very very little to the mature whether he live in the noisy town or village,

[1] *or*: relative.

[2] *or*: foe. Note the high practical ethics underlying this teaching; if only the nations could follow it! No more war, 'cold' or 'hot'!

[3] *tamevākṛtrim mitram yaḥ paś'yati sa paś'yati.*

or in the serenity of the remotest forest; in either he can equally find the Omnipresent ONE.

Those who have passion within find passion everywhere without; those who bathe in the coolness of Spirit in their hearts find all the world is sweet and kind to them, helpful to their efforts. What we are in ourselves, that we reflect on to the 'world' around, which is really fashioned by our own inner mind. As we regard others, so they prove themselves to be; their attitude is only a reflex of our own; one who can realize the sinful and cruel foe to be really the all-loving God manifesting, the direct expression of the omnipresent Goodness—has found the Object of his search, and is thereby freed from every fear.

## 42. Guardians of Freedom

At Freedom's door four Doorkeepers are known: Calmness, Enquiry, Contentment, and Good Company the fourth;[1] these, or (at least) two or three of them, are to be assiduously cultivated. As (sentries) watch over the door in the King's Palace, (so) do these (guard the gate) of Freedom. Or (even) having dropped all (the others, at any rate) one must by every effort make friends with one (of them); when one is under control, (all) the four also come into control. (YV. Mu. 47-49)[2]

[1] *śamo vicāraḥ santoṣaścaturthaḥ sādhusangamaḥ.*

[2] These verses are also found in MU. 4: 2-3.

Vasistha gives as the qualities which most surely open the door to the King's Palace of the Spirit the following: Peacefulness of heart and mind, Steadiness in the Search, total Surrender shown by joyful acceptance of whatever life may bring; and the company of a real Saint or Sage. Any two of these are enough; to their possessor the door swings wide, and he enters on the inmost recesses of the Path to the Real, the Sovereign Lord. Indeed any one of them will be enough, for the others readily come to help the seeker who perfectly possesses even one of these great qualities.

CHAPTER SEVEN

# MEANS OF ATTAINMENT

Practices of contemplation and yoga are prescribed, so that the soul may enter that stillness of perfect ecstasy wherein God is eternally seen as the One everywhere present throughout creation and beyond. In that exquisite delight of God-Consciousness the petty bonds of selfhood melt away, and the soul knows itself to be really nothing else than He.

## 43. The Path of Knowledge[1]

In this way the enquiry into the meaning of (spiritual) sayings[2] will be *Study*, while the trained search[3] into (their) implications is *Meditation.* The steady and undivided attention of the intelligence to the clear meaning of such a passage, by these two (processes),

[1] The four stages may be summed up as: hear about, think over, brood upon, be merged in.

[2] *or*: sacred texts, more especially the great Utterances of the Upanishads: "I am God" (*Bṛhadāranyaka* 1 : 4 : 10), "That art thou" (*Chhāndogya* 6 : 8), and "I am He" (*Isopaniṣad* 17).

[3] *or*: skillful examination.

that is called *Brooding*. Having gradually given up (both) the (sense of being the) Brooder and the (act of conscious) Brooding, (when) the mind (being) like a blown-out lamp attains solely to the Brooded-on,[1] (that) is called *Ecstasy*.[2] (AAU. 33-35)

Here are the four stages of Introspection. *First*, the aspirant is given definite teaching on the Path, to which he listens carefully (*śravaṇa*). This teaching may come from a chosen Guru by word of mouth, or from the texts of some honoured Scripture or spiritual treatise—such as the Upanishads, Bhagavatam, Gita, Qur'an, Gospels, Gathas, Tao-Teh-ching, Japji, Imitation of Christ, or Light on the Path—it matters not at all which source is used, for all alike are inspired by the authentic Truth.

*Next*, he selects some one definite thought from the teaching thus given, and turns it over and over in his mind, savouring it, pondering on all its possible implications, deducing from it as an authoritative 'axiom' whatever ideas seem legitimately involved therein. This purely intellectual exercise is known as Meditation (*manana*) and will for Vedantins often build on one of the great *Mahāvākyas* of the Upanishads.

*Then*, the seeker passes further inwards. The reasoning mind sinks down, gives place to deeper layers that delight in a silent gaze rather than in talkative considerations. Contemplation (*nididhyāsan*) supervenes, the 'Prayer of Quiet', wherein the mind calmly and steadily absorbs itself into a single thought or vision—it may be formless or with form, either a seeming body or

[1] *or*: "like a lamp-flame placed in a windless spot" (U). *nirvāta dīpavaccittam*).

[2] This state of '*Samādhi*' is fully described in § 45.

an idea in words. But the mind does not wander into bye-paths of the chosen Truth or visible apparition; it gains full delight from its contented inward gaze, which by the very essence of that truth or beauty slowly permeates the heart and moulds it into the very form and nature of the Divine thus seen in its contemplation.

*Last*, imperceptibly developing out of the previous stage, the 'mind' is totally lost in the Object and is no longer aware of itself at all. No longer can it be said to contemplate—there is no 'mind' as such to contemplate, nor is there the separate Object for that contemplation. Both, together with the act itself, have become fused into one; and in that oneness of full blissful Realization is the highest Ecstasy (*samādhi*). The Path is trodden now, to the very end, and in the moveless stillness of eternal Quiet man and God are again consciously the undivided Unity.

## 44. The Eight Stages of Union

1. The Control of Mind and Body, Posture and the Control of Life-Force, Withdrawal, Contemplation, Brooding and Ecstasy are the eight sections[1] (of Union). (YSP. 2 : 29)

2. These are the ten *Bodily Controls*: Gentleness,[2] truth, honesty,[3] chastity, kindness, sincerity, forgiveness, firmness, temperance in food and cleanliness. (DU. 1 : 6) Conquest

[1] The 'Eight Limbs' are: *Yama*, *Niyama*, *Āsana*, *Prāṇāyāma*, *Pratyāhāra*, *Dhāraṇa*, *Dhyāna*, and *Samādhi*, the last being dealt with in § 45.

[2] *or*: Non-Violence, but in an active sense.

[3] *lit*: Non-Stealing, again positively regarded.

over cold and heat, victory over food and sleep, perpetual peace, and perseverance,[1] (MBU. 1 : 3) restraint of the group of (ten) organs[2] through the knowledge that all is God —all this Bodily Control so described must be practised over and over again. (A. 104)

3. Morality,[3] contentment, piety and generosity, worship of the Lord, together with the study of ascertained truth, modesty and resolution, prayer and vows (of austerity), (DU. 2 : 1) devotion to the Teacher, love for the true path and the experience of happily attained Reality, a delight in experiencing that Reality, the absence of society[4] while living in solitude, withdrawal of the mind from desired fruit (of action), and a mood of distaste, (MBU. 1 : 4) a tendency (towards) the like[5] and a disregard (for) the unlike—(all this) indeed is *Mental Control*; from (such) control of the mind the wise derive[6] supreme bliss. (A. 105)

[1] *or* : steadiness, persistence.
[2] *i.e.* five of conation and five of action.
[3] *or* : penance.
[4] *or* : desire for company.
[5] *i.e.*, what is consistent with the spiritual aim.
[6] *lit* : is made.

(changing) moods,[1] that is called the *Control of Life-Force*. (A. 118)

6. Withholding the mind from sense-objects and from the functions of the (ten) organs,[2] (MBU. 1 : 7) delighting the mind in the mind (itself) after having seen the Self in the (said) objects—that is known as the *Withdrawal* to be practised by aspirants (A. 121)[3] over and over again. (TU. 1 : 34)

7. Planting the mind firmly in (pure) Awareness (after) the said drawing away from objects around, having come to look upon the mind as made of thought, and (thus) merged it in the Self, then the intelligent one makes it contemplate the Self. (ANU. 15) He must (then) consider as that Self whatsoever he sees with eyes, . . . whatsoever he hears with ears. (YTU. 69-70) The supreme *Contemplation* is known by seeing God there wherever the mind goes,[4] and (by) concentrating the mind (on Him) alone. (A. 122)

8. The unsupported resting on this good and true thought "I am God alone (and

[1] *or* : states, thoughts, resolves, loves. God is in *all*, even our angers.

[2] *i.e.*, five of conation and five of action.

[3] The passages from A. 121-123 are found also in TU. 1 : 34-36.

[4] An extremely helpful and potent method.

nothing else)" is well-known by the word *Brooding*;[1] (A. 123) (it is) the recognition of the one Awareness in all bodies, (MBU. 1 : 9) which brings the utmost bliss. (A. 123)

A slightly different road leads to the same Goal. Here we have the Path outlined by Patanjali's 'Rāja-Yoga', the Royal Road to Union, and little need be added to the details given in our texts.

The would-be Master of Life must first thoroughly master himself in every part. So the first stage is a full control over the sensations and activities of the outer bodies by a clear, if at first only mental, realization that the all is but One. Where then are passionate desires, ambitions, angers, jealousies or hates? Who can be jealous of or hate himself?

Follows the equally essential control of the whole inner nature, the gaining of spiritual and mental qualifications, with the desire to subordinate everything to life's main purpose, the Eternal. This purification of the mind and heart gives endless joy to the real seeker.

Third comes consideration of the various postures in which the 'body' may be placed to facilitate Meditation and its deeper phases. Usually the commentators here stress purely physical aspects, prescribing certain bodily postures which help the mind to control its thought and so to dive within. These postures are good and helpful; many Upanishads describe them and their benefits in great detail, very obscure to the uninitiated. But our texts wisely remind us that the real 'posture' is spiritual and interior, a full devotion to the Quest, steadily gazing on the Truth once seen intellectually,

[1] While the *nididhyāsan* of § 43 is rather a mental process, the *dhyāna* of this section is supramental, close-akin to the 'contemplation' of the Christian Mystics.

until it can be known by direct inner experience. If used alone, all purely physical postures become a superstitious pretext for complacency, wherein lurks the poison of spiritual death ; yogis dream of indefinitely lengthened physical life, as though *that* were the desideratum ! Let the body, as the *Gītā* also tells us, take any comfortable position in which the mind need not have to think of it, to shift a leg, to readjust the back, to remove a sharp pebble from underneath.

Fourth, the commentators as a rule explain *Prāṇāyāma* as the control of Breath, drawing it in through one nostril, sending it to various centres of the occult body to arouse them, and then passing it out by the other nostril, and so on. We say nothing against all this, save that it should be attempted only by one with expert personal guidance ; but the *real* Breath-Control is something more—the recognition of God in all one thinks or feels or says or does. In this recognition lies the key to Truth.

Then comes the mind's turning inward from sense-objects, after finding in them the highest delight, and taking all its delight henceforth in its own Self—an act to be repeated faithfully again and again till perfect.

Next the mind withdraws altogether from everything which appears to it as 'outside' itself and concentrates wholly on the Self. When it sees or hears or thinks of anything 'outside', it at once connects that, identifies it, with the all-Self, seeing nothing but that One in everything ; this is true Contemplation.

And lastly the mind, of its own will and spontaneously, dwells upon the thought that all, including itself, is only He, who acts and feels in every body. This soon brings the practicant to the ecstatic bliss of *Samādhi*, in which he merges for evermore and altogether in that One Infinity.

## 45. Ecstasy

1. Entirely forgetting thought (itself) by making thought-waves changeless and then turning (them) into God, is recognised as *Ecstasy* and Wisdom, (A. 124) the unshaken State without egoism or indulging in[1] the pairs of opposites, steadier than Mount Meru. (APU. 1 : 49) The intense[2] practice of Contemplation[3] without (any) sense of the 'I', making the stream[4] of mental thoughts[5] into God, will (become) 'Conscious Ecstasy'.[6] (Mk U. 2 : 53)

2. Ecstasy is the forgetting of Brooding[7] (itself), (MBU. 1 : 10) the state of poise[8] between the individual and the Highest Self,[9] (YTU. 107) after gaining which, one looks on (all as) the same. (ANU. 16) Just as rocksalt,

[1] *or* : following after.

[2] *or* : protracted.

[3] *dhyāna*, the supra-mental blissful contemplation of Truth or Beauty.

[4] *or* : flood.

[5] Patanjali's 'mental modifications' (*vṛtti*).

[6] *samprajñāta samādhi*, also called 'savikalpa'.

[7] *dhyāna*. One forgets that one is engaged in contemplation for a while all memory of the 'I' itself fades out.

[8] *or* : equality.

[9] *samatā avasthā jīvātma paramātmanaḥ*.

comes to have the same (liquid) quality in water, so is the oneness of the Self and the mind. (VU. 2 : 75) Having wholly stilled (all) movement of the mind, this (condition) bestowing the utmost bliss is named the 'Unconscious Ecstasy'[1] dear to yogis. (MkU. 2 : 54) (Therein) supervenes the state of oneness of the individual and the Highest Self, devoid of the three aspects,[2] (an Ecstasy) whose nature is the utmost bliss characterised by pure Awareness. (SU. 2 : 11 : 1)[3]

3. Thus (the state of) those who through an inner coolness have seen this (whole world) of balanced qualities to be non-self is termed Ecstasy, (YV. 25 : 7)[4] unaffected by old impressions[5] and steady; and that alone is declared to be the (true) contemplation of the mind, that alone is a feeling of the Absolute, that alone is perpetual Stillness.[6] (APU. 1 : 29) Those who, even while carrying on the

[1] *asamprajñāta samādhi*, also called '*nirvikalpa*'.

[2] *e.g.*, seer, sight and seen ; all becomes one being.

[3] Found also in Mk U. 2 : 54.

[4] Found also in APU. 1 : 28.

[5] *vāsanā*.

[6] *Cf.* the passage from MU. 4 : 7 in § 44 : 4.

world's actions,[1] are always awakened from (mere) mindhood and firmly abide in that truth of the One Self, are always fully ecstatic; while even (when) seated in a meditative pose and actually offering (holy) waters to the Creator, how can the bound, whose nature is restless, ever (enjoy) Ecstasy? (YV. 25 : 80-81) Only the extremely dispassionate can win to Ecstasy, only such a one can gain a steady enlightenment. It is the one enlightened in the Truth who gets release from bondage, and the free always experiences the happiness of the Self. (VC. 375)

4. Unreservedly and without difference, the Sage (merges) in the All-Pervading through the vanishing of limitations—like water in water, air in air, or light in light. (AB. 53) That state which remains after all thoughts are stilled, (moveless) like a rock, altogether freed from (both) waking and sleep—that is the supreme condition of the Natural State.[2] (When) the sense of 'I' dies

[1] It is an error to think that an ecstatic cannot live in the 'world'; many have been extremely active there, like St. Teresa of Alva. That state is known as *sahaja-samādhi*, the Christian 'Marriage of the Soul'.

[2] *svarūpa*, *lit*: the 'own form'.

and (all) difference is laid to rest, and the mind vibrates no more, that Awareness which (then) manifests is what is called the Natural State,[1] (MU. 5 : 6-7) that stage beyond all, which is like nothing down here, (YV. 27 : 47) that one form of Light which suddenly bursts asunder the difference between the individual soul and God. (SS. 97)

5. That (is) the stage (in) which good men,[2] having gained it (after)[3] one moment or a hundred years, the visible (world) and sight (itself) become identical, (the state) which causes no return (to birth). (YV. 24 : 129-130) Now at that time the thoughts directed to the Self are not at all known; they are inferred (later) on being thrown up by the memory of the aroused (practicant).[4] (AAU. 36)[5] Having in this way induced Ecstasy for a long time, being intent on drinking the nectar of God, that renouncer (of thought)

[1] *lit*: the 'own form' (*svarūpa*).

[2] *sādhū*.

[3] *or*: (for).

[4] There is no 'I' in Ecstasy even to feel Bliss, there is only Bliss Itself. When one returns to the 'normal' state, one remembers the bliss as experienced—but by whom? It *is*, and is not experienced at all.

[5] *Cf.* the version in PU. 3 : 5.

becomes the Supreme Swan,[1] (though he may be) despised (by men). (MBU. 5 : 9)

Such mental states are beyond words, they cannot be expressed in words, but must be personally experienced if one would understand what they really are. Words cannot describe a sunset to one born blind. The words used in various spiritual books can only be faint indicators, milestones measuring out the distances the traveller has still to travel ; they cannot take the journey for him, or even make it shorter or easier for him. Many will see no value in such indicators, preferring to wait until they taste the experience for themselves ; but for those whom even defective statements of the truth encourage the Sages have found it wise to say what words can say. They will at any rate help the seeker to see how far he has come and to take encouragement for further efforts.

Ecstasy (*samādhi*) is a state of perfect poise and peace, wherein all thought ends and the mind rests in God, as salt rests when dissolved in water. All sense of the separate 'I' is lost, all restlessness of mind, all consciousness of 'outer' things falls off—nothing *is* but a calm and sweet awareness of God, within, without and all around.

There is no separate thinker any more, the very idea of thought and mind has gone, the individual stands merged—one and yet distinct—in the All-Self, whom it knows as in the fullest sense omnipresent. There is no subject, no object, no relationship between them now ; all is the One. God and the individual soul are one. 'I' no longer think of Him, no longer love or crave for Him, no longer know of Him ; there is no more an 'I' apart from Him to do these things. He alone *is*, or—

[1] *Paramahamsa*, a title for a supremely advanced soul like Sri Ramakrishna, but he may by no means be always recognised as such, may even be taken for insane. It is popularly said the swan can discern water in milk, the Sage Truth in illusion.

what is really the same—I alone *am*. For 'He' and 'I' are the One; all pronouns are lost in that ineffable union, which is the bliss of simple Awareness, devoid of all distinction or consciously separate knowledge. "I am this or that" is ignorance; "I *am*" is the fullest wisdom.

When the mind enters this perfect poise, when its own ideas, its sense of ego and individuality alike are lost, when it is timelessly still, pacified in the Absolute—it can be said to be in Ecstasy. It matters not at all in what the physical body or the brain may be busy—they will work according to the urge of their own nature and habits; hereafter their activity has not the slightest connection with the soul, it can leave no trace, has no effect or karmic consequence. Active in the 'world' the ecstatic may seem to be, as one sees his bodily movements, hears the words of his mouth, reads the books his hands have written, watches the play of many thoughts upon his countenance. All this—but the Sage himself is apart from all, merged in the Ever-Motionless, freed from change and mortality for evermore. The passionate and attached man may sit in any yogic posture, may wear his yellow robe or live in total nakedness, may eat the purest food or eat nothing at all; if his mind has not thus been lost in God, it is all a shallow pose, a mere pretence. Only he who has won through to total indifference and dispassion, who has been illumined with the light of the One Reality, can ever touch the silent water of Ecstasy, or plunge himself into the depths of the God-Ocean.

When he sees no difference anywhere, when all alike is but the One God shining with infinite light and beauty, then the Sage becomes that Light and is merged in the manifested God. Still and perpetual, if the body sleep or wake, be active or in repose, eternally freed from the least taint of ego-sense or the faintest throb of the mind's old thought-activity—then the Sage is one with

deeds[1] or else (it is) in the Lord's control. If either happiness (comes) or sorrow, is my doership there at all?[2] Enjoyment and Non-Enjoyment are (both) great diseases, and Wealth is a big calamity; through Separations only Reunions (come), and the Cares of the mind are real sicknesses, (while) Death again and again swallows all beings in (great) gulps!"[3] (Now) that is the (form of) Enquiry which stands as 'Ordinary Non-Concern', whereby—through joining together the presence of great souls, the absence of unreality, the use of self-perception, and vigorous efforts devoted to (making) steady practice[4]—Reality clearly bursts into view, coming up like a fruit in the hand.[5] (YV. 43 : 33, 35-40)

4. Having really put away such feelings (as may be) expressed in words like "I am not the doer, (but) the Lord is the doer, or a

[1] What has happened is the result of forces I myself set in play in the past.

[2] *i.e.*, I am not responsible for it now.

[3] By reasoning about life's events, he comes to a satisfactory explanation of them.

[4] *i.e.*, *satsang*, *vairāgya*, *vicāra*, *prayatna* and *abhyāsa*.

[5] *lit* : the pileluka Euphorbia (*karāmalakavat*) ; *i.e.*, clearly.

former action of mine", that Silence which is the quiet repose on the other side of the ocean of worldliness, (resting) in the essential Supreme Cause, is called the 'Best Non-Concern'.[1] That which is neither within nor without, neither below nor above, nor untaught in the sky, neither a thing nor a no-thing, neither unconscious nor aware, (which is) resorted to, shining and peaceful, yet non-radiant and non-feeling, beginningless (and yet) the youngest, unborn (and yet) beloved[2]—that is called the 'Best Non-Concern'. (YV. 43 : 41-44)

5. The sweet delight of Contentment, the pure bud of Duty, resting on the tip of the stalk of the mind (still) beset with the thorns of trouble,[3] (when it has) grown (into) lotuses of Discernment and therefore blossomed (under) the sunlight of Discrimination, brings forth the fruit of this Third Stage of 'Non-Concern'. (YV. 43 : 45-46)

[1] Here he no longer concerns himself with life's events, being silently absorbed in that Cosmic Consciousness already experienced at least once. This is really already Freedom, but it is not yet confirmed, made permanent.

[2] *Cf.* the description in Prelude 3.

[3] Effort is still needed, or the advanced soul will stagnate here and fall back later. Only by combining Duty with Contentment—*i.e.*, by unattached world-service—can the flower come to fruit.

By a swift-growing indifference to all but the Spiritual Quest, the soul now purifies his mind and makes it more and more subtle and refined, so as to fit it more clearly to realize spiritual truth. All other ideas now fall away from him save the yearning for God, the Reality; his previous efforts have freed him from the least attraction to worldly things and from the ever-tossing waves of emotion.

Calmly happy in that Quest, he reposes in the silent contemplation of the truths already perceived (*nididhyāsan*), withdrawn from scenes of bustle wherever the body may be—though it is true that in this stage the body generally moves to quiet retreats in woods or by the sea. There he spends his time in study and contemplation, in the sweet company of fellow-seekers, or at the feet of saintly Sages. Indifferent to results, he acts in natural and thought-free virtue, and so in time gains a true intuition of the inner self.

There are two kinds of Detachment; the lower is when one says, "What is, is the effect of my own past actions; why worry about it now? Or else it is the beloved Lord's manifested will; what could be better for me than that? So let these things come or go, in any case all is very well. Let me neither dread nor desire, neither welcome nor regret; whatever comes is best!"

The higher kind, led up to by this, is the silent acceptance of everything, without needing to think about it or to ascribe it to *karma* or to God's sweet will. Such a state of perfect self-surrender is, in fact, the attainment of total oneness with the All. It fructifies in a real Sainthood, whose value for mankind cannot be estimated—for of such are its Teachers, Leaders and Inspirers on the Spiritual Path.

## 50. Firstfruits of the Path

1. As for (these first) Three Stages, they are looked on as the Waking State; as it were, (a man) is awake in them because he follows the clear indications[1] of the intellect.[2] The nobility of the Perfect arises in those devoted to Union, on seeing which a desire for Freedom dawns in the simple (folk) likewise, (for in imitation) they joyfully do what is to be done and omit what should not be done. He who thus clings to[3] right conduct is (rightly) honoured as noble;[4] he who has withdrawn from worldly business according to the (requirements of) virtue, to (his own) conscience,[5] to Scripture, and to (traditional practice) is thus revered as noble[4] (also). The First (Stage) germinates (the seed), the Second blossoms in the soil, and the

[1] *or* : differences.

[2] *jāgratīvātra vispaṣṭam bheda buddhyanuvartanāt.* So far the Path has been trodden by his own effort; he is about to enter the stages where further progress is spontaneous and due wholly to grace.

[3] *or* : stands by, adheres to.

[4] *i.e.*, a Saint (*ārya*), a very old word in this sense. Such a man teaches others and in their eyes appears already perfect. Here belong most of the greater 'Gurus' known in the outer world.

[5] *lit.* : mind. It may mean rather 'taste' here.

Third brings to fruit the highest nobility.[1] (YV. 43 : 62-66)

2. This noble Yogi, who has gathered pure thoughts[2] and abandoned the (love of) pleasure, on dying lives again (after) a long time (as) a Yogi.[3] (When) through the practice of the Three Stages ignorance vanishes away and perfect wisdom dawns in the mind like the rising of the full moon, (then) the awareness proper to a Yogi is unbroken and without beginning or end.[4] (YV. 43 : 67-69)

The three stages up to now are passed through in full consciousness, because in them the ego-self is still 'awake' and able to watch its progress through a steady increasing control of thought and desire. Such as have gone so far become 'world-teachers', and the very sight of them awakens a desire to become like them, so happy, so good, so wise and impersonally kind they are. They become known as 'Saints', 'Mahatmas', 'Gurus': thousands flock with adoration to their abodes, and round them rises a perpetual cloud of the incense of adulatory praise. Their books are eagerly bought and read, they are easily persuaded to open schools and *āshrams* where their disciples and adorers may come for

[1] *āryatvamuttamam.*

[2] *or*: desires (*sankalpa*).

[3] Those who *stop* at this level become '*Yogabhrasta*' in the *Gītā* sense (6 : 42-43); they have to return to earth to resume their efforts in a new and holy birth.

[4] *nirvibhāga manādyante yogino yukta cetasaḥ.* By now the mind is pure; it has still to be lost for ever in the Infinite Self, whereafter the Yogi's awareness of absolute bliss becomes eternal.

*dars'an*—and where the still-existing, though now drowsy, seed of egoism may be fed and watered till perhaps it springs up again into a dense and thorny forest weed. This is the danger of this stage, a danger which drives the wise Seeker far from men, into lonely places, disguised by the assumption of seeming madness or even of vicious or worldly habits. Such a Saint may hide himself behind apparent passion and violence, like Seshādriswāmi of Tiruvannāmalai, may appear like an opium-addict, a vagabond or thief, or pretend to be a half-wit or possessed. The discriminative cannot be put off by such a play-actor's disguise ; but in such ways the earnest Seeker avoids the snare of worship, which ever flows towards the partially enlightened from those wholly in the dark. We can look out over the world today and recognise several who seem to have been caught in the snare of such adulation, who even seem to revel in the worship lavished on them by foolish devotees—though of course it is the fool who judges others, being himself blind to the real truth.

Such a Sage, partially attained, even if he stops short of the final goal so that he may enjoy the rewards already won, will some day resume his onward march. In another earthly life he takes up the thread again, and at last he reaches that eternal restfulness of bliss which is the real Awareness of the ONE.

## 51. The Fourth Court : Harmonising

The Fourth (Stage is one) of dissolving, marked by the fading out of 'impressions', . . . where the world really resembles a dream. (YV. 41 : 57, 62)[1] Through the

[1] Found also in APU. 5 : 82.

practice of the three (first) stages and influenced by the cessation of motive[1] in the mind, one is established in the pure 'harmony-self'[2] known (as) the 'Gaining of Harmony'.[3] (YV. 13 : 119)[4] Having reached (this) Fourth Stage, (men) see everything alike;[5] when the ONENESS is confirmed[6] and duality comes to an end, having explored[7] the Fourth Stage, they see (that) the world is a dream.[8] (YV. 43 : 69-70)[9]

What really so long perpetuates the illusion of a separate individual self is the continuous acting with desire or motive. When the soul learns to act simply as circumstances require, without the slightest concern over results favourable or the reverse to the actor, then the very root of that egoism is cut asunder. The old tendency towards one type of action rather than another, the old seeking for personal advantage or pleasure, simply fades away, and with it the whole structure of ego-mind simply ceases to exist.

[1] *or* : indifference to desire.

[2] : *satvātmani*.

[3] This rendering for the name of this Court, *Satvāpatti*, is supported by the description of its nature.

[4] Found also in VU. 4 : 2 : 6.

[5] *or* : everywhere, (*samam sarvam pas'yanti*).

[6] *or* : gains stablility.

[7] *lit.* ; measured : *i.e.*, fully obtained, investigated (*mitāḥ*).

[8] This stage corresponds to the Dream State, wherein the Self manifests as the Radiant One, Taijasa.

[9] Found also both in AU. 1 : 30-31 and in VU. 4 : 2 : 12-13.

Hereafter the soul lives and acts in the 'world' as one lives in a dream, receiving impressions and performing deeds which have little or no logical result on the self; the ambitions and delights of the 'world' become unsubstantial, dreamlike; the whole force of the self is concentrated in the 'inner life' where alone it can find substance. Its entire being having now integrated with the One, it is naturally in perfect harmony with all the universe, which is the manifold manifestation of that One. To its consciousness all now appears equally as God; preferences and dislikes are forgotten; in realizing the One in All, the soul finds full peace and joy. To such a soul how can the storms and delusions of the 'outer world' be other than a dream?

## 52. The Fifth Court: Total Withdrawal

1. Through practice of the four stages, and as the fruit of Detachment, (arises) the growing marvel of the harmony[1] (already) spoken of, named 'Non-Contact';[2] (YV. 13 : 120)[3] the Fifth (stage then) develops, in the form of a bliss full of pure Awareness. There the Free[4] stands like one awake (yet) half asleep. (YV. 41 : 58)[5]

[1] V reads: "admiration for the Rhythm"—which does not seem clear to me.

[2] This stage of '*Asamsakti*' corresponds to the mystical peace of Prājña in the state of *suṣupti*, or 'deep sleep'.

[3] Also found in VU. 4 : 2 : 7.

[4] As Bh. Ramana points out, the four later stages are those of the Jñāni, who is already free from the illusion of 'ego'.

[5] Also found in APU. 5 ; 83.

2. On ascending to (this) Fifth (Stage) named the region of Deep Sleep, whereas the mind vanishes away (like) a cloud-bank in the autumn, only (pure) Being will remain. The mistaken idea of a 'world' arises no (more) because the mind has dissolved,[1] (so) the Fifth Stage is called the aspect of Deep Sleep. (All) the rest of (the man's) special characteristics being stilled, he stands (as) the ONENESS[2] alone. When dark duality has melted away and inner illumination has appeared, on reaching (this) Fifth Stage there will be only an intensely deep Sleep always joyous within, (while) outward activities[3] are remote.[4] Being always fully at peace, he seems as it were (ever) prone to sleep. (YV. 43 : 71-75)[5]

And then comes naturally, without special effort, the fruition of complete disdain for all but God, and a total withdrawal of interest from the 'without' to the 'within'. Even when using things of sense, the soul is now barely aware of their existence, seeing nothing

[1] *jagadvikalpo nodeti cittasyātra vilapanāt.*

[2] *Advaita, lit* : 'non-dual'.

[3] *or* : thoughts ; *i.e.*, activities of mind or body, (*bahirvṛtti*).

[4] *or* : foreign. Some take this to mean that he acts only on the urging of others, his disciples or bystanders.

[5] Also found in AU. 1 : 33-36.

step of discipline in the path they are to tread. He may even join in songs written in 'his own' honour, for he knows that as everyone is but the Lord in human form all honour is the Lord's and goes only to Him; so there is no pride in that recital. For such a soul there is ever a deep changeless peace, a bliss having no boundary; for where can fear or anxiety be when *all* is the Beloved SELF?

## 53. The Sixth Court: Fading of the World

1. And (then) develops the Sixth Stage, of the form of 'Non-Perception of Things',[1] a condition very like a deep sleep moulded out of one intense bliss. (YV. 41 : 59)[2] By practising (those) Five Stages, (the Knower) comes to delight immensely in his own self through being unaware of inner and outer things, and (thus) by effort long directed towards the Highest he (attains full) Realization (of God.)[3] (YV. 13 : 121-122)[4]

2. (When) absolutely freed from desire (by) carrying out the practice of these (six)

[1] This stage of *Padārthābhāvanā*, like the *Turya* beyond deep sleep, is that of a full mystical bathing in God, dipping often in Him like the seagull in the waves, ready for a final dive into the mystic depths. It is the 'Spiritual Courtship' of the Western Mystics.

[2] Also found in APU. 5 : 84.

[3] *para prayuktena ciram prayatnenāvabodhanam.*

[4] Also found in both MU. 5 : 32-33 and VU. 4 : 2 : 8-9.

Stages, in due course the Seventh is attained,[1] the mystic ancient sleeping state,[2] wherein is neither the non-being nor the being of the Real, neither the 'I' nor yet the absence of the 'I'.[3] Meditation having come to a close, there is only the ALONE,[4] the ONENESS wholly free from fear. Without a tie (of heart,[5] all) doubt set at rest, the Liberated One is released from fancies; though un-extinguished, (the mind) is yet blown out, steady as a lamp in a picture. Void within and void without, like an empty pot in the sky, (he is also) full within and full without, like a full pot in the foaming ocean.[6] Such a one has indeed gained everything, while rather he (himself) has nothing (at all). (YV. 43 : 76-80)[7]

[1] In AU this line reads: *ṣaṣṭim turyābhidhāmanyo kramāt-patati bhūmikām*.

[2] *gūdha suptyākhyā . . . purātanā*. The soul is oblivious of the 'world' while in the blissful trance of God-union. Western Mystics calls this the 'Mystic Sleep'.

[3] *nāham nāpyanahamkṛtiḥ*; *lit*: "neither the 'I', nor even the absence of egoism" (or individuality).

[4] *āste advaitaikya*.

[5] The 'knot of the heart' is burst asunder.

[6] *antaḥ s'ūnyo bahiḥ s'ūnyaḥ s'ūnyakumbha ivāmbare*
*antaḥ pūrṇo bahiḥ pūrṇaḥ pūrṇakumbha ivārnave* ||—a musical couplet with great meaning!

[7] Also found in AU. 1 : 37-39.

3. The Liberated feel neither joy (nor) sorrow; being in a constancy of love-ecstasy, they either do something in the way of work spontaneously,[1] or not at all. Seeming to be only just about to awake, they carry on a course (of action) consistent with (their) former conduct, (acting just as) it comes (to them; they) arise like one at the same time both sleeping and awake. (YV. 13 : 126-147)[2]

4. By long practice of the six Stages, and through perceiving no difference (anywhere), that state which is entire devotion to one's own being is to be known as that of the threshold of merging in God. (YV. 13 : 123-124)[3]

Viewed from the plain, it is hard to judge the relative heights of mountain peaks; when one stands on one lofty eminence, one can see others towering higher yet. So to us down here there seems but little difference between the later stages of the Path; all are so incredibly sublime that each seems equal to the others.

[1] *prākṛtenārtha; i.e.*, for the sake of their own natural tastes, or in the course of nature.

[2] This passage, also found in MU. 5 : 37-38, is understood by V as: "Such Jivanmuktas as have reached this imperishable Turya State will never be affected by the pairs. They will automatically perform acts at the instance of their disciples or others, simply to maintain their bodies. And like a person in brown study or just awake from sleep, they will not be the doers of their present actions though performing them, and will enjoy Nirvanic bliss." A typical example of "annotated translation"!

[3] Also found in VU. 4 : 2 : 10.

But as the soul in sleep plunges deeper into the hidden strata of its own being, towards the undifferentiated Unity at its foundation, so does the 'pilgrim' into God pass even from the stage like 'deep sleep' into another even deeper, compared with the *Turya* of the Upanishads. Oblivious of everything but the One Self, the soul now eternally rejoices in the conscious experience of that Self, knowing no barrier marks off his little being from Its infinity. One alone IS; all memory of that restless petty little 'ego' is gone for ever, all misunderstanding and misperception are at an end. In perfect Knowledge, perfect Peace, the soul rests in that Eternity like a sleeping baby in its mother's arms. Still and moveless as a pictured flame which no wind can cause to gutter, the Adept's soul is unified with the Omnipresent within and without, like a vessel of water immersed in the ocean. Beyond this there can be but one little step to take, and the soul is already on its verge. Already it is beyond the limits of humanity; no longer can such a soul concern itself with earth's affairs—for evermore that 'world' already known to be a dream has faded away like a vapour dispersed in the sky, like a bottle of colourless liquid poured out into the flowing waters.

## 54. The Seventh Court: Merging in God

1. The wholly still condition of 'Merging',[1] equal, translucent and mild,[2] will be the

[1] This stage is called *Turya* (*lit*: the 'Fourth'), but is better described by this word, for in it nothing is but the ONE. So at this stage the Jīvanmukta can maintain no separate body; by dropping even the outer semblance of a separate existence he becomes 'Videhamukta'. It is then said to be the '*Turiyā-tita*' (*lit*: beyond the Fourth) Stage, which in no real way differs from the 'Turya'. It corresponds to the 'Spiritual Marriage' of Western Mystics.

[2] *samatā svacchatā saumyā.*

Seventh Stage, and only that is truly Freedom, the ALONE.[1] (YV. 41 : 60)[2] Having (long) been steady in the Sixth Stage, such a one will enter upon the Seventh Court; there-(in) the Seventh Stage of Union is said to be that of one freed from body,[3] (and) that is the (furthest) limit of all the Courts,[4] beyond the range of words, and still. (YV. 43 : 80-81)[5]

2. Beyond (this) Merging lies (only) the field of the one freed from body[3] (which is) considered the highest (of all). Very blessed indeed are those who have reached the Seventh Stage, (for) they have attained the Goal of Great Souls[6] who delight in the SELF, (YV. 13 : 124-125) (a goal) not to be grasped by mind or speech—the self-shining spiritual Goal. (YV. 41 : 64) Having stilled the (little) self and become GOD, full of the bliss of God, happy and translucent in form, great in the Silence—he alone is the one freed without a body.[3] (TU. 4 : 33) (Yes), beyond the

[1] *kevalā.*

[2] Found also in APU. 5 : 85.

[3] *videhamukta.*

[4] *lit* : grounds (*bhūmiṣu*).

[5] Found also in AU. 1 : 40-41.

[6] *mahātmā.*

'Merging' lies the highest state of 'Mergence', of the form of Extinction;[1] (when) fully matured, that Seventh (Court) is the final aim of living beings. (YV. 41 : 61)

And so, its long pilgrimage complete, the soul takes that last step which dissolves for ever its separate existence in the Limitless Ecstasy of the ONE. All bodies now, and not only the physical outer sheath, drop away—for bodies are to enable action on the 'outer world', and the 'outer world' no longer exists for the perfectly liberated Sage. Above all thought and feeling and all the need for activity, such a ONE is for ever merged in GOD, in the ecstatic Love of perfect Union with Him. Nay, *union* is not the word for this stage, for union is of two, and no two exist at all, only the unchanging UNITY. If from such a source actions seem to come, it is but a seeming, because in reality they arise only from the Omnipresent Source, and there remain.

This exquisite perfection is the goal of all attainment, the Freedom which no words can compass, no mind can understand nor heart perceive, the Freedom of Him alone who is eternally everywhere.

## 55. The Fruit of the Seven Courts

1. Now these Seven Stages are accessible only to the Wise;[2] . . . this series of seven

[1] *nirvāṇa rūpiṇī.* The word 'Nirvana' means lit: 'blown out'; it is the total and permanent extinction of all trace of a *separate* self apart from 'God'. Any distinction between the Freed, and God, is so subtle that it is fruitless to try to speak of any such existing at all. It is like the water-filled pot in the ocean, broken. Water in water, air in air. Yet it is not non-existence, it is the one Being of the Eternal Omnipresent.

[2] *dhīmatām.*

stages is (itself) that Wisdom realised by the learned, and what is to be known as Release can be thus described stage within stage.[1] . . . Indeed those who, (being) both beast and barbarian,[2] have reached these levels of Wisdom, whether with a body or discarnate, those are the Free,[3] (and) there is no doubt (of that). . . . At the end of these (stages) Freedom is steady, and therein one grieves no more. (YV. 13 : 128, 112, 128, 115)

2. (Now) hear this list of the said Stages. The Stages of Wisdom (are): *Subheccha* is counted the first, while *Vichāraṇā* is the second and the third is *Tanumānasī*; *Satvāpatti* is the fourth, and then *Asamsakti* is named; *Padārthābhāvana* is remembered sixth, and the seventh is *Turya*. (YV. 13 : 129-131)

3. Now Understanding cuts the 'Knot',[4] and in the presence of that (cutting) is Release,

[1] *bhūmikā bhūmikāntare, i.e.*, stage after stage, but the phrase suggests a gradual unfolding of what has always been latent in each soul.

[2] *mleccha*, the word usually applied to foreigners who ignore the customs of Āryavārta, the noble land of India.

[3] Time being an illusion, and the seed-producing flower as perfect as the seed itself in which all lies latent.

[4] *granthi, i.e.*, the heart's attachment to its own ideas and plans, and to what seem to be 'outer things'.

while that consists merely in ceasing to perceive the water of a desert mirage. Now those who have crossed over from illusion and valued property[1] have attained the highest level, (for) these firm stages are devoted to the gaining of the Natural State in themselves. In these Courts also are born those who are (fit) to be revered and prostrated to,[2] for they alone will be conquerors of the hostile senses; and while there is thirst even in Emperors without a kingdom, these (souls) altogether gain this Goal which is the (one) essential thing in the world. (YV. 13 : 129-131)

This is the fruit of Wisdom, the ultimate result of being free from desire and egoistic thinking. And only those who have scaled these supernal heights can truly be called 'Free', for their freedom alone is never-ending; all others have still to pay their debts to nature—the innate tax on every child of earth, its joys and sorrows, victories and vanquishments. Seven are the stages the Soul must tread on the inward, upward Path, though these stages interblend and overlap, so that for every Soul the Path seems his own and different from every other's way.

The essence of the whole is this. To understand the real nature of the world and of the self is to burst the bonds that limit us, to destroy the false idea of our separate existence, to fill the sky of thought with the

[1] *or*: wealth (*dhanāt*)

[2] *or*: worshipped.

boundless radiance of God's Light. It is the souls who tread this Path at whatever level, who deserve, and receive, the honour and admiration of the intelligent. For they seek nothing but the ONE that is no thing; even the greatest of worldly souls still long for more of earthly goods, while these naturally and easily enter on their eternal heritage of Perfection, which alone is the one Jewel to be sought through life's long storms.

the God of Gods; when he calls us unawakened souls to follow in his train, because we too have attained in his attainment, being one self with him, we too can know that infinite and eternal Bliss if we but will.

## 56. The Victory

1. From the ceasing of actions will come the cessation of anxiety, and from that the erasing of 'impressions'. The complete erasure of 'impressions' is Release—and that is called Adeptship.[1] (AAU. 12) (Even) an unlearned Sage is possessed of the Self, (if he have) the knowledge of God and a childlike nature.[2] (APU. 4 : 38)

2 "I die not and I do not live, I neither exist nor non-exist—I am neither the one thing (nor) the other!" Being sure of this, the (enlightened) soul grieves no (more).

"Who am I? I am the Sky of Mind[3] untouched by age, desireless, (with all) ideas

[1] On the whole, this seems the best single word for *Jīvanmukta*, *lit*: the one freed while still alive (in the body ?).

The whole path is summarised in this couplet:

*kriyānās'ādbhaveccintānās'o asmādvāsanākṣayaḥ* |
*vāsanā prakṣayo mokṣaḥ sa jīvanmuktiriṣyate* ||

found also in § 22 : 4.

[2] Note the same idea as Jesus put when he said the 'Kingdom of Heaven' is composed of children.

[3] *cidākās'a*; *i.e.*, the all-pervading radiant 'Void', conscious only of Itself.

set at rest, impartible!"[1] Being sure of this, he grieves no (more).

"Forsaken by (mere) opinion, I am pure and enlightened, without ageing or dying, the calm and equal reflection (of all)!" Being sure of this, he grieves no (more).

"What is in motes of straw, the sky, the sun, in men, serpents and the immortals—you are that which you are, and only that!" Being sure of this, he grieves no (more).[2]

"The glorious Mind[3] pervades (all), on the level, above me and below!"—having come to know this, what (can there be) like a waning of that endless joy? (YV. 41 : 68-72)

The mind's freedom from bias, the results of its old thinking, grooves made by oft-repeated thought and action, comes from the ending of such egoistic thought; and that is possible only when the personal self has ceased to act from its own limited concept of a separate self. When this freedom is won, when the idea of separateness has perished, then alone can the Soul be called '*free*', and such a soul alone is really an 'Adept'. To get that freedom he need not fill the memory with the contents of books, with learned studies, with Gita or Bible verses which he can repeat by rote; it is enough if he be like a child aware only of its Father's love.

[1] *niramsaḥ*; *lit*: without parts.

[2] *yatadasti tadeveti matvā bhūyo na socati.*

[3] *cittaḥ*, the aware or perceiving mind, without thinking about what is perceived, for *manas* is at an end.

Sorrow and anxiety, born of fear and ignorance, vanish before the certainty that God alone exists; the separate self is the 'pathetic fallacy' on which this whole disparate universe is built. Such a self never did exist. To know that 'self' is nothing, while the ONE alone is all, that therefore—the logical inescapable inference—one's real being is only God, while all else is relatively imaginary, false and an illusion. That knowledge that all, all, *all*—above, below, without, within, and all around, is GOD! Such a realisation is true freedom and unending unlimited joy.

## 57. The Glory of the Living Adept

1. Like one (who) in days of calamity[1] is unshaken in joy and sorrow, he who neither exults nor is depressed, is thus called the 'Free'. (YV. 20 : 33)[2] He whose mental brightness[3] neither soars in joy nor draws near to setting in sorrow, but (its) state (stays) as it was—is called the Living Adept. (VU. 4 : 2 : 22) "Old age, death and calamity, kingdom and even beggary[4] are (all equally) delightful!"—only he who thus enjoys (them all) is called the Living Adept. . . . and only he who equally enjoys the pungent and the

[1] *or* : as they occur.

[2] Also found in MU. 2 : 43.

[3] *manaḥ prabhā*.

[4] *or* : penury, destitution.

sour, the salt and bitter (foods) honestly (received) or even stolen,[1] is called the Living Adept. (MU. 2 : 55, 54) He whose mood will (always) be the same in this (world), whether held adorable by saints or even (about) to be molested[2] by the wicked,[3] (AAU. 47) in whose inner view there are no likes (or) dislikes, (MU. 2 : 46) being turned away from all companionship[4] (TU. 4 : 6)—he is called the Living Adept. (MU. 2 : 46)

2. (He who knows that) Mind alone is the cause of difference and similarity in men, and (that) opinion (arises) out of error,[5] is called the Living Adept. . . . (He who knows that) the endlessly[6] revolving blissful Soul of beings is unhurt, and has no enmity for any living thing, . . . (and that as) the Sun shines upon the whole entire world, so is God established in all living beings, he is called the Living Adept. (JG. 21, 11, 3)

[1] *amṛṣṭam mṛṣṭam* : U reads this as : "unsavoury or savoury".

[2] *or* : tormented. Cf. the story in *Bhāgavatam* XI, and the story of Bharata in the same great Purāna.

[3] *sādhubhiḥ . . . durjanaiḥ*.

[4] *or* : contact (with sense-objects).

[5] *vikalpenaiva sankalpam*.

[6] *lit* : beginninglessly.

3. He whose interest in business, though as firm as this (world) is steady as the sky when it declines, is called the Living Adept, . . . who, though moving in accordance with love and even hate or fear, (has) a heart[1] extremely clear[2] like the sky. (VU. 4 : 2 : 21, 24) He who merely acts, without looking for love (or) hate, joy (or) sorrow, good (or) evil,[3] success (or) failure, (MU. 2 : 49) (whose) action is solely (for) the body and is turned from (thoughts of) grief, folly and the like, wholly giving up (thought of) fortune and misfortune[4] (alike), he is called the Living Adept. (JG. 8) He who, having lost partiality[5] for any one direction[6] and (become) flexible like a (mere) witness, remains unexpectant[7] in (doing his) duty, . . . who, busy in all the nets of purpose,[8] is yet indifferent,[9] (throwing) as it were the whole self into the interests of others,[10] is

[1] *or* : a conscience.
[2] *or* : transparently pure.
[3] *or* : fortune and misfortune.
[4] *or* : good and bad.
[5] *or* : affection.
[6] *or* : everywhere.
[7] without a wish (*niriccho*).
[8] *or* : aims, ambitions.
[9] *or* : desireless.
[10] *or* ; pertaining to the Transcendent One.

called the Living Adept. (MU. 2 : 51, 62) Ever solitary in mind and turned from the qualities of his (own) personality,[1] tasting the sweetness of God-Wisdom, he is known as the Living Adept. (JG. 16)

4. He who in sheer playfulness has given up the (old) idea of a separate personality[2] and stands as renouncer of what is to be thought upon is called the Living Adept. (MU. 6 : 45) He whose attitude is not egoistic,[3] and (his) intelligence is unclouded equally in action and when inactive, . . . whose mind is undisturbed (when) once set at rest in the supremely pure Abode of Absolute Awareness apart from (all) mental activity, (VU. 4 : 2 : 25, 29) who knows not at all the duty everywhere pervading but understands (the real) duty (to be) God, . . . (who) by contemplation in the heart sees a light is created (in) the mind and (then) perceives "That am I, the Swan"—he is called the Living Adept.[4] (JG. 9, 17)

[1] *or*: the virtue of his own nature (*svabhāva guṇa varjitaḥ*).

[2] *or* : egoistic tendency.

[3] *yasya nāhaṃkṛto bhāve.*

[4] *hṛdi dhyānena paśyanti prakāśaṃ krīyate manaḥ* |
*soham hamseti paśyanti jīvanmuktāsta eva hi* ||

5. He who is awake during Deep Sleep, who has no (other) Waking, whose understanding[1] is unbiased,[2] he is called the Living Adept. . . . O Sage, when all the mind's desires have gone and one delights in Me, the All-Embracing, (then) is he called the Living Adept, . . . whose mind reacts[3] no (more) to the irrational brood of (ideas like) "This world" and "I", "He" and "This one (near me)", . . . whom the world fears not and who does not fear the world,[4] (being) freed from joy, anger and dread—he is called the Living Adept. (VU. 4 : 2 : 23, 28, 30, 26)

6. Always resting in the Fourth (State during) Waking, Dream and Sleep, (his) mind merged (in the thought) "That am I", (JG. 19) (being) everywhere the Unmanifest Self composed of a Fullness revelling in bliss,[5] . . . whose 'I' is not there at all—he is called the Living Adept. (TU. 4 : 5, 4)

Who can sing God's glory? Who can sing the glory of one who is nothing less than God, whose

[1] *or* : mental alertness.

[2] *yasya nirvāsano bodhaḥ*; *or* : desireless.

[3] *or* : re-echoes.

[4] This appears also in *Gītā*, 12 : 15.

[5] *Cf.* § 18 : 1.

common 2% of the Divine has expanded into 100%? Who can sing the glory of the Adept, the Master of Life, the Liberated One?

Free from every fear and preference, calm and infinitely blessed in every circumstance, equally at peace when 'happy' and 'in pain'—such is he who, being on the higher stages of the Path, yet manifests on earth to guide and to inspire his younger brothers.

He who sees only God in everything, who acts playfully in the 'world' and, while seemingly concerned with those activities, is yet wholly free from all anxiety and interest in them, indifferent to their results, unconcerned about success or failure, shame or honour—he who merely acts as instrument of the eternal Law may rightly be revered as the supreme Guru by all lesser souls.

Freed from the old delusion of separateness and of the reality of sense-perceived things, set free from every self-centred thought into the boundless wisdom of quiet Understanding beyond the mind, who knows that God alone is man's sole concern and perceives His Light shining in the very centre of his own being—such a one may be called a Master of the Wisdom, and no one else.

Beyond the mind's states, combining them in the steady awareness of the Mind-free ONE, in whom is no shadow of difference at all, simple, omnipresent, One and Unique, seeing HIM alone in every time and place —how could such a one taste of fear or enmity? He alone is the real Master. In him there is no consciousness of a separate 'I' any more; all around is the Everlasting, full, complete, and all-pervading.

## 58. Omnipresent Being

1. Having given up the conviction that all is this and is not that, he stands; that one

(who thinks, "Being) only the True Bliss-Awareness, I am God and not so-and-so,"[1] does not at all, at any place or any time, (even) touch the Self.[2] Only (when he) remains silent, (comes) silently, silently, and not a little (at a time) the Truth,[3] the Highest Self beyond (all) qualities, the All-Self and (very) Source of Being. (TU. 4 : 39-41)

2. In him there is no sort of difference of Time, difference of Substance,[4] difference of Place, difference of himself—or rather, there is no 'I', 'you' or 'it', 'this thing', 'he' (or) 'this one' at all. The self of timeless Time, the self of Void, the self of Subtle Form, the Cosmic self devoid of universe, the Divine self, the self without gods, the knowable self unknowable, everywhere the (one) self without inertness, the inner self of all, the self devoid of all

[1] *sarvamastīti nāstīti nis'cayam tyajya tiṣṭhati* |
*aham brahmāsmi nāsmīti saccidānanda mātrakaḥ* ||

[2] He who sees *any* difference between himself and another does not really know himself at all; one with God who is *all*, how can one be dissociated even from the most repulsive, or the most glorious creature?

[3] *or*: whatever is the Truth.

[4] *vastubhedam*.

and as a confirmed rogue with rogues,[1] (behaving as) a child to children and an old man to the aged, a hero among the brave, a youth to (those of) youthful manners, sympathetic with the sorrowing. (His) intelligence soaring into the bliss of (supreme) Intelligence, glorified by tender good deeds,[2] the Illumined One is gracious and sweet to the one lying on a pauper's deathbed.[3] The Living Adept is not amazed[4] even if the sunlight (turns) cold, even if the lunar orb is fiercely hot,[5] or flames stream out downwards. (YV. 27 : 62-66)

2. While the King of Union[6] is free (to take) any form he will, and is (ever) unaging and undying, he playfully frolics about anywhere he likes in the three worlds.[7] (YSU. 1 : 43) Whether clothed or even stark naked, clad in a skin[8] or wearing only mental garments;[9] whether like a very madman, or

[1] *or*: the crafty; the word need not have a very bad significance.
[2] *or*: the glory (being in) lovely virtues.
[3] *lit*: lying down to die of poverty.
[4] *or*: unshaken, not disconcerted.
[5] *or*: "the moon turns black" (*sutapte pindu*), as V has it.
[6] *yogindraḥ*.
[7] *krīḍate triṣu lokeṣu līlayā yatra kutracit*.
[8] *or*: bark (of trees).
[9] *or*: dwelling in a robe of (pure) mind; *i.e.*, naked.

like a child, or even like a ghost,[1] he wanders over the earth. . . . Now a dunce, and now a very scholar, in (some) places a mighty King (or) a gentle tramp, sometimes behaving as a loathsome python,[2] now honoured, and now where quite unknown insulted—thus the Illumined One roams, happy in perpetual and utmost bliss! (VC. 540, 542) Who can hold back from that path which he chooses the Great Soul by whom this whole world is thus known (to be) the Self? (AVG. 4 : 4)

Seeing only the One beloved Self in all alike, the Liberated Soul moves here and there, unaware of place or time, playfully acting in a freedom like the wind's, no longer bound by past habits or circumstances. His very curse becomes an eagerly sought blessing, because it brings the worldly soul into contact with Perfection; his embrace is for the lucky child a momentary union with the All; to their very victims his tricks and naughtiness endear the Beloved shown by his acts; his example in devotion, heroism, sympathy inspires the 'world'. Being like St. Paul "all things to all men", he wins many to the Truth; undisturbed even by the ruin of a world and the annihilation of millions in dreadful wars, he steadies all who see him, so that they neither fear nor suffer any more.

[1] *unmattavadvāpicā bālavadvā piśācavadvāpi.* It is hard for the ordinary man to recognise the Sage if he wishes to avoid men's worship by assuming such disguises!

[2] *i.e.*, staying in one place and eating whatever chances to come to its mouth, clean or foul.

Careless of human prejudices, public opinion and conventionalities, he moves about as he will, assuming any form, indifferent to honour or disdain, and ever-blissful in that freedom of total unconcern. Knowing all as God, how can he be bound by the chains the ignorant wear, or guided in the ways of darkness by the blind ?

## 60. Ever Calm and Blissful

1. The very form of desirelessness among desires, the Sage moves about in solitude, ever satisfied with his own self alone, himself (being) stayed in the Universal Self.[1] (VC. 541) Such a person comes to be a Sage, (whether) engaged in business or retired, or if you like becomes a householder, (whether) embodied or discarnate. (YV. 41 : 67)

2. An effortless rejection of enjoyments not yet come, and a full experiencing of things present—this is the sign of the (truly) learned.[2] . . . They neither give up nor desire (any) business arising out of the world. Wise men really delight in everything of both kinds ;[3]

[1] R's version is here far too free to be followed.

[2] This comes very close to Krishnamurti's old picture of 'Life in Freedom' as an intense awareness, living out everything to the utmost.

[3] I am not quite sure of the reading here ; it seems corrupt.

they do not destroy what has been begun, (and) on the other hand they rejoice over what is left on the way (to completion, being) always unmoved within (by thoughts and) engrossed with a moonlike beauty. Even in disaster they do not lose as it were the coolness of the moon,[1] (while) in appearance they shine with the beauty of qualities like friendship. (Their) saintly deeds are ever impartial, elegant and gracious; (their) plans are fulfilled like the ocean that keeps (its) bounds.[2] So the (very) glance of these (Saints defeats) the worst calamity. (YV. 18 : 42-45)[3]

3. The Living Adept, whose masses of impressions cannot cause rebirth, dwells in the Reality, continuing like a revolving (potter's) wheel. (YV. 28 : 61) Remaining down here for some while, nevermore at all does he return to a body and its swarm of accompaniments. So long indeed, as past karma[4] is (to be) enjoyed he lives in a strange[5] way,

[1] *āpadyāpi na muncanti s'as'inaḥ s'ītatāmiva,*

[2] V renders this : "Like the ocean they will never exceed their bounds."

[3] Of this paragraph V's rendering is a mere sketchy outline, with little resemblance to the original.

[4] *prārabdha,* that amount of 'karma' which is to be worked out in the present body.

[5] *or* : peculiar (to each Sage).

with an intellect unattached and free from the pairs of opposites,[1] ever pure, (with its) 'my-ness' and (its) sense of an 'I' dissolved, always contented, (being) steady in the Natural State of God-Bliss,[2] and extremely moveless on the vanishing of all delusion. (SS. 96)

Alone with God, in God, the Adept is unmoved even in the stormy environment of worldly people; with or without a body, engaged in business or withdrawn into forest solitudes, he is ever free from all desire and saturated with causeless bliss.

Indifferent to hope and enjoyment, caring nothing for what surrounds him as he moves; regretting nothing in the past, seeking nothing from the future, he is eternally absorbed in the 'Everlasting Now' beyond all time and space. Beauty, the beauty of pure spirit, ever enfolds him with its radiance because love impersonal is his inmost instinct, breathes out incessantly in all he thinks and says and does, nay, in his very silence and inaction. So his presence in the world is a potent benediction; whether he teaches or works or prays, silent and withdrawn or furiously active, his very being there spreads a mighty calm through all creation.

So long as the forces which brought this Soul originally to birth endure, until the 'clock' runs down, so long as the 'wheels' turn round, he seems to live among men like a man, while he is really nothing but a shadow of the Infinite and Discarnate Self. Never more can he assume an outer body, for all bodies are for the fulfilment of desire—and where is desire for him who has attained the Whole and is merged in God? Until

[1] *nirdvandvaḥ.*

[2] *or*: identical in nature with infinite bliss (*brahmānanda svarūpaḥ sthiram*).

the initial forces are spent the body moves on its way, mysteriously urged by the impulse of long-dead thoughts, as the light from a distant star follows its path to earth even when the star itself has perished from existence. Who can understand his acts ? Who can dare judge his words ? Without even the root of a personality, he acts and speaks impersonally like the Divine Bliss, and at the same time rests in the Actionless.

## 61. He is Lord of Destiny

1. (The effect of) that action which belongs to past births is (commonly) known as 'Destiny',[1] but as a man's past lives do not exist there is no such thing. As the dream-body is illusory, so also in fact is this physical body; where is the birth of an illusion, and whence then the taking place of (a man's) birth ?[2] (A. 92-93)[3]

[1] *i.e.*, *prārabdha*. It has always been disputed whether an Adept is subject to the effects of past actions, especially when great saints like Sri Ramakrishna and Bh. Ramana are observed to suffer intensely with cancer. But Scripture is quite clear that full surrender to God, the Eternal Self of all, destroys *every* human limitation and sets man free from *every* sin. Cf. *Gītā* 18 : 66, GN. 28 : 3, etc. etc. Some have thought such suffering to be vicariously borne on behalf of their disciples—a possibility, for we are in no way separate from one another and the human race is a vast unity.

[2] These two important and explicit *s'lokas* read :
*karma janmāntarīyam yatprārabhamiti kīrtitam*
*tattu janmāntarābhāvātpumso naivāsti karhicit*
*svapnadeho yathā adhyastathaivāyam hi dehakaḥ*
*adhyastasya kuto janma janmabhāve hi tatkutaḥ.*

[3] This paragraph surely demolishes the bogey tolerated by § 38 : 1.

2. The world turns to nothing[1] when the Final Authority in known;[2] how then can the destiny of a body (which is part) of (that) world go on? . . . Because a knowledge of the Real has dawned, not even Destiny is left standing now, for the body, etc. are (all) unreal just like a dream on awakening. (A. 96-97, 91) On seeing (both) the High and the Low[3] in him(self) a man's actions (and their results) fade away. (Mun.U. 2 : 2 : 8)

3. Destiny prevails while (the idea that) the body is the self is strong; when the feeling (that) the body is the self is no longer held, (the existence of) Destiny may be rejected. . . . By means of the clear knowledge "I am God", the store (of karmas) gathered during hundreds of crores of ages vanishes away like the (results of a) dream-action by means of waking up. (VC. 460, 447) By this means[4] alone crores of accumulated actions (done) down here in the endless[5] (cycles of)

[1] *lit*: goes to emptiness (*śūnyatām gataḥ*).

[2] *adhiṣṭāne jñāte*; *or*: when the Ultimate Reality is realized.

[3] *parāvare*.

[4] *i.e.*, the practice of Ecstasy.

[5] *lit*: beginningless.

worldly life perish away ;[1] that is why through skilful practice (of knowledge and union) lakhs of streams of nectar are always raining down.[2] (PU. 3 : 5)

What is called 'destiny' is really only the result on the individual of his actions in the past lives. But we have learned that in reality the Soul is never incarnated at all, its body and actions are but illusory deceits, it was never caught in matter—only the 'false' ego-mind is ever bound. So how can a non-existent 'individual self' act, or incur the results of actions? Reincarnation and karma are mere ideas, rising from the ignorant misconception of the self's real nature; it neither evolves, nor errs, nor suffers in any way. To speak of 'destiny', then, the result of such non-existent actions, is to speak of the 'horns of a hare', the 'child of a barren woman'—to use hackneyed expressions of Sanskrit literature. The physical body is exactly as 'real' as the body worn by the 'personality' in dream; how can such a body ever be born or die?

When God is known, the whole 'world' disappears from the consciousness of the self, which is then wholly merged in the delicious beauty of the ONE; in such a state, how can the destiny of a body, itself a part of that vanished 'world', continue? Where then is what the books call '*prārabdha*'? It is only a seeming that the physical body once used by the struggling 'little self' goes its way until the normal time for its death arrives; in reality that body never was, nor shall be. Where then its actions, or their results?

Such things go on only so long as the self is identified with the 'body' and its egoic desires. Once

[1] *vilayam yānti.*

[2] *or*: thousands (*sahasras'aḥ sadā amṛtadhārā varṣati*); a *crore* is ten millions, while a *lakh* is a hundred thousand.

it is dissociated from these, destiny, karma and the like have no more meaning for it at all. In a flash the accumulated karma of all three kinds vanishes away once God is seen—which is cognate with the total surrender to Him implied by really 'taking His Name' even once, in other philosophies. Is the waking self subject to the effects of dream-action? Is his hunger satisfied by dream food? If in dream he murders a man, will any court try him for the deed? So too the acts of the Illumined in the physical body are unreal and cannot for a moment bind him or affect his future.

And here we have to enter a warning that it is in just such truths as this the danger of indiscriminate teaching of the Advaita lies (cf. § 28 : 1). Freedom from karma belongs to the Illumined, to the liberated soul, and *not* to the personality which identifies itself with the lower desires and ideas. To imagine it does, is to destroy the moral basis of life and to make impossible the gaining of those qualifications which the Path requires (cf. §§ 22-24, 34).

## 62. Life as the Adept Sees It

1. (In) a mood (as) quiet as in sleep, the thoughts[1] not moving, **the Adept** is always awake by means of that (divine) consciousness;[2] the one who is ever immersed in delight as if (he were) courted by the wise—down here he is defined as the 'Free'. (YV. 20 : 36)

2. Having (once) gained (true) knowledge of God, even while he always sees the whole

[1] *vṛtti*, Patanjali's 'mental modifications'.
[2] *tena cetasā.*

he remembers nothing of it at all—the smooth and the rough,[1] sorrow, confusion and fear. (SS. 69) Dropping all the fruits of action, ever contented and relying on no one,[2] he is affected[3] neither by virtue nor by sin, by neither one of the two. (YV. 41 : 99)

4. Unconcerned (even when) unpraised, worshipful (yet) without worship,[4] both joined (to others) and unconnected (with them), **the Adept's** mode of life adheres to the universal pattern[5] (outwardly); (so) the world does not fear him, nor does he fear the world.[6] He gives up love and hate and fear, and is altogether united to bliss . . . whether he drops the body at a (holy) place of pilgrimage or in a (vile) dog-eater's house.[7] (YV. 41 : 102-105)

5. A mind set free from outer things, being fixed through a ceaseless making (of itself into) God[8] makes use of what is to be used

[1] *or* : ups and downs.
[2] *i.e.*, alone.
[3] *or* : tainted, stained.
[4] *i.e.*, indifferent to, turned away from (*pūjya pūjā vivarjitaḥ*).
[5] *sarvācāra.*
[6] *Cf.* § 57 : 5 and Gita 12 : 15.
[7] *Cf.* § 63 : 1. Ordinary folk attach great importance to a death at some place of pilgrimage like Banaras.
[8] *brahmakāratayā.*

(only) at the request of others, like a sleeper (or) like a child, now and then seeing this world like the world seen in a dream. If such a mind be obtained, (then) blessed is the enjoyer of an endless fruit of merit, he is to be honoured on the earth! . . . The one who is marked out by no signs and unattached to outer things, freed from all sense of an 'I', he rests upon the carriage of this body[1] and like a child enjoys all the objects brought near at the wish of others. (VC. 425, 539) Forgetting hunger and bodily fatigue,[2] a child plays with toys; so too does the Realized delight, being happy without the (idea of) 'Mine' and without the (sense of) an 'I'. (At. U. 10-11)

6. Having discarded (both) the feeling of 'I' and the feeling of 'Not-I', both being and non-being,[3] that which is steady and unattached, not shallow,[4] that is called the Fourth (State). . . . When the mind has

[1] *i.e.* without self-identification with it (*vimānamalamba s'arīram etad*).

[2] *or*: physical pain (*dehavyathām tyaktvā*); but a child does not forget its physical *pains* so easily!

[3] *or*: true and false (*sadasatī tathā*).

[4] *lit*: transparent.

given up the (last) speck of egoism and through equal vision becomes bodiless, the Fourth State rises up to approach and meet (it). (YV. 42 : 29, 33) Where (then) is darkness, where light, failure? Nothing (of these) at all (exists) for the changeless Hero who is ever fearless! (AVG. 18 : 78) Even when a pauper (he is) always contented, even (when) friendless,[1] very powerful, ever satisfied though eating nothing, though without an equal (he sees) with equal vision![2] (VC. 543)

7. Like the memory of things een in a dream, so (are the routine acts) of the Sage like eating and excreting. (VC. 457) As the thought[3] of the movements of the feet of a traveller intent on going to a (far) country vanishes (from his mind), so does (the Adept forget) the movements in his own activity. (YV. 43 : 107) Even while acting he is not the doer, nor (is he) the experiencer when enjoying the results (of action); (he is) incarnate yet not embodied, omnipresent though (in appearance) limited (to a body). (VC. 544)

[1] *or*: helpless.

[2] *asamaḥ samadarśanaḥ.*

[3] *sankalpa.*

8. Or else, having given up even that (subtle) fragment of awareness,[1] the mass of (his) mind being stilled, the (Adept's) soul stands tranquil, flaming like a jewel in the Self. That state of souls where the light of intelligence is wickless and (so) gone out, that quiet understanding only is (what is) called 'Sleep-Waking'. (APU. 2 : 11-12)

9. Now to the full knower of the Self, not even the least desire occurs; he who could have a desire at all could easily secure some psychic power.[2] But on the stilling of the net[3] of all desires, how can he who indeed is about to gain the Self obtain (Him) by (means of) a mind drowned in desires for (such futilities as) a psychic power?[2] (YV. 28 : 8-9)

How can we, darkened by ignorance, picture the life of him who is irradiate with light infinite? Ever drowned in boundless bliss, inundated with peace, the Master is free from all limitation, calm and happy as though in the deepest sleep. Seeing all this world and its countless beauties, its endless stream of living beings —he yet sees only God, and knows that all is but a reflection of himself who is one with God. "All is God!" his heart cries in rapture, though words may

[1] *caityāmsʼa.*

[2] *siddhi.*

[3] *or:* snare, meshes.

not rise to his lips in that ecstatic understanding of the Whole. The ignorant may doubt of the One Self, for they see so many forms of endless variation; but the enlightened one both sees and does not see life's variety —for to his vision there is only ONE, the Endless Self. To him indeed All is God!

With what joy the long-separated 'Two' embrace into perfect Unity again! All memories of that 'divorce', all thought of the ages of separation and loneliness, vanish in a flash as the Soul rushes into the 'arms' of its perfect Fullness! Who now can think of joy or sorrow, error, sin or fear? In the ecstasy of Oneness where is there room for any other thought or feeling? Where the desire of Heaven or Liberation in the Soul that sees the Lord and is for evermore wrapped in His embrace? Where are its virtues, where its sins? All are *nothing*, for God alone is all! Who is there to forgive, what can be forgiven or punished now? Nothing exists but the Infinite Eternal One.

For a time such a glorified Soul may live on among men, may later even resume a body as a sort of 'Avatār' to play on earth and do an allotted task; but freed from joy and sorrow, love and hate for any earthly thing, how can the ordinary man understand or even perceive his real nature? Indifferent to convention, careless of every desire and custom, he lives free or dies free at God's will, and is ever in life and death merged in the Solitary Bliss.

The Adept while on the earth uses sense-objects without attachment, simply, and as those around may suggest; when he looks on the 'outer world' at all, he sees only a dreamlike reflection of the One Self everywhere, and plays among the things of sense like a child with toys—no slightest idea of personal desire or repulsion darkening his happiness. For ever that old tormenting sense of 'I' has gone—and with it the whole idea of the 'Not-I', which was so often a source

of fear and anger, love and longing. Calm, detached alike from mind and body, resting ever in the inmost Self, this Soul knows nothing else beyond.

Such a Soul may, so long as the body lasts, continue its routine acts, but he does them as in a dream, never for a moment attached to them or believing in their significance, but watching them as the audience watch a play upon a stage. One always thinking eagerly of his goal as he journeys to some holy place has his mind always set on that destination; can he look to the step each foot must take upon the way? So does the Illumined act without attention, steady in the Inner Self.

Then at last he drops even that conscious awareness of himself as merged in God, for there is no more 'himself' to be merged, there is only God the ONE. In that perfect PEACE all separateness is lost. Can we look in such a Soul for the trivial childishness of psychic powers? Can we ask him for some miracle to prove his greatness? Can we for a moment think of him as caring in the least degree for bodily health or longevity? What to him the so-much advertised benefits of yogic postures and breath-control? Indifferent to both 'life' and 'death', how can we ask him to practise methods to prolong an incarnation which he knows entirely unreal, non-existent? Of course, if he *could* turn his mind to such a stupidity as the powers sketched in Patanjali's great *Sutras*, he could at once attain them all; but how could one who filled his mind with such futilities attain the SELF? His very choice of God as the only Aim has long ago rejected such things as beneath the notice of the wise.

## 63. He Passes Away

1. Whether at a (holy) place of pilgrimage or in the house of the most disgusting

(outcaste),[1] or wherever at all he dies, the Yogi[7] will not see a womb again, he will merge in God. (AG. 2 : 29) As there is no cremation of the (already) cremated[2] (or) cooking of the (already) cooked, (so there must be) neither funeral nor rites for the body (already) consumed by the fire of wisdom.[3] . . . Wherever the Knower dies, or by whatsoever death, there, there he vanishes like the omnipresent sky! (PU. 4 : 10, 19)

2. Dying in any mood whatsoever, in any place at all,[4] Yogis will there (and then) be merged (in God) like the pot of air[5] in the air[6] (around). (AG. 1 : 68) As on breaking a pot the air[5] of the pot is merged into the air (around), so on the ending of the body the Yogi[7] (is merged) in the very form of the Highest Self. (AG. 2 : 25) Where is this soul (then)? As sea-salt is dissolved in the water,

[1] *or* : an untouchable's house (*antyajagehe*).

[2] *lit* : burning . . . burned.

[3] *jñānāgni dagdha dehasya na ca s'rāddham na ca kriyā,* It is the rule in India to bury sannyāsis and saints, not to cremate their bodies.

[4] *yena kenāpi bhāvena.*

[5] *lit* : space.

[6] *lit* : sky.

[7] In this section the word Yogi is equivalent with 'Adept'; there is no question now of his having to return as in § 50 : 2.

(so is there) only the endless Self. That water is called saline which comes from within the ocean; it is afterwards evaporated, and when a lump (of the salt) is thrown into that (water again) it dissolves and loses its name and form. Just so also does the Sage vanish away into the Highest Self. (SS. 46-47)

Unnoticed by the Illumined Soul himself, the day will come when the body known and loved or ignored by men, worshipped perchance by devotees, will fall away and break the last seeming link with earthly things. The Master drops it calmly, indifferent to all considerations of place or time; for him there is no need of death at Banaras or any other holy shrine; he has no fear lest foul surroundings awaken some last thought in the dying mind which will lead to rebirth in the world of men. He neither cares for such a possibility, nor does it exist for him; when mind and ego, with all their desires and limitations, have vanished long ago how can rebirth occur which is caused by unfulfilled desire and the need to follow limiting thoughts to their last conclusion? Nor does he need the 'consolations of religion' in his last hour or after death; that body may be consumed by dogs or vultures, thrown on the dungheap, buried for the worms—it matters not at all; it is but a shadow lost in the light of a fully risen sun. The rites of formal cremation are not for him, for the consuming of desire thus typified has already been performed by him in real fact. He is already gone, free, blended with the unconfined air! What have priests and relatives to do for him? Religion itself has fallen off, an unneeded umbilical cord for the newborn babe!

He has no need to turn his mind to God at the last moment; prayer has for him no meaning now.

Whenever and in whatever mood that dropping of the body may occur, it can only set him wholly free to merge yet deeper in God, in whom he is already drowned. Where then is the soul for whom to pray? It has become a part of the vast Whole, incarnate in the universe, and yet like God beyond all incarnation.

## 64. The Song of the Deified[1]

1. (I am) the well-loved friend of all, and
    that
Is how I (now can) live in (endless) joy.
    (YV. 29 : 244)
When water into water has been thrown,
The difference of waters is removed;
Just so does Matter altogether seem
To me the same as Spirit (at this time).
    (AG. 1 : 50)
All that which (once) was seen (as though)
    impure
Within the painful night of worldly life,
I now have found (mere) roaming in
    the void

[1] In rendering this Song in blank verse, I do not mean to suggest that the other portions used in the 'Gospel' are unworthy of such treatment; it is rather that didactic poetry has no charm in the Englishman's mind nowadays. I have maintained the same strict accuracy of translation aimed at throughout the book, though bracketed words may sometimes here owe their place rather to the demands of metre!

This is my changeless[1] certitude (of mind).
(AG. 1 : 71)
(Then) knowing well that nothing can be done
In (very) deed I do the work to hand,
And then am happy (as I was before).
(AVG. 13 : 3)
(Though) actionless, I ceaselessly perform
The highest action ; unattached and (yet)
(All) unconcerned, (I relish) all the best
Enjoyment ; bodiless and (quite) without
A body, (yet I have) unending (joy)
(And) satisfaction. Wisdom's nectar I,
The same throughout, like the (all-present) sky![2] (AG. 3 : 26)
4. I am not anyone, nor do I deeds
(Of) any (kind), not even this (I seem)
(To do). (YV. 10 : 25) I neither act (myself) nor cause
(That others) act ; I do not reap (the fruits)
(Of) acts, nor make (another) suffer them ;
I am no seer, nor do I even cause
That (other souls) should see ; I am

[1] *or* : firm, unalterable.

[2] *or* : Wisdom Immortal (*ñānāmṛtam samarasam gaganopamoaham*).

That Self self-shining and invisible.[1]
(VC. 507)
I nothing see down here, nor hear (nor) know;
I am in Self alone, enformed as Bliss
Eternal and without discerning marks![2]
(VC. 485)
And this (you see) is the result (for me):
I gain this beauty unattainable! (YV. 29 : 237)

5. I am not born, nor shall I ever die;
I have no karmas (either) good or ill.[3]
God very pure, devoid of qualities,
How could I (then) be (either) bound or freed? (AG. 1 : 58)
Where is the past, the future where, or where
The (living) present? Where is Space, where too
Eternity,[4] for me (who ever) stand
In my own glory? Where is self, and (that)
(Which is) not self? Where good, where evil too?

[1] *soayam svayam jyotiranidṛgātmā.*

[2] R reads: "distinct from everything else".

[3] *na jāto aham mṛto vāpi na me karma s'ubhās'ubham.*

[4] *or*: where anything else?

Where thought and where non-thought[1]
for me (who rest)
Established in the glory (that is) mine?
(AVG. 19 : 3-4)
6. I am the Formless Self, pervading all
By its own (very) nature;[2] (AG. 1 : 4)
(yea,) in all
That are I am, or else all are in me!
(AG. 6 : 4)
In me, the boundless Sea of Happiness,
(Tall) waves of universes often[3] rise
And sink (beneath) the whirling hurricanes
Of Maya; (VC. 496) (yea,) in me, the
limitless
And mighty Deep, the universe's raft
Drifts here and there, (blown) by the wind
of Mind;
And yet my patience (dwells) all undis-
turbed![4]
In me, the vast infinite Ocean, let
World-waves arise and of themselves subside
(Again), for me where is the gain or loss?[5]

[1] *or* : care . . . absence of care.
[2] *svabhāvataḥ*,
[3] *bahudhā* : *or* : frequently, time and again.
[4] *or* : it does not affect me (*asahiṣṇutā*).
[5] *na me vṛddhirna ca kṣatiḥ*.

On me, the infinitely vast (expanse)
(Of) Ocean, only fancy moulds the worlds!
Thus I (myself) remain this (Ocean vast),
Extremely peaceful and without a form!
(AVG. 7 : 1-3)

7. How shall I name (that) universal Form
Unseconded,[1] and on the other hand
How can I call it dual?[2] Equally,
How shall I call the (timeless) universe
Eternal, (even) transient? I am
Immortal Wisdom, everywhere the same,
(Pervading all) like the (unbounded) sky!
(AG. 3 : 5)

Who am I (then)? The Self of all, the All
Am I, (and yet) I am beyond the All!
The One unequalled, absolute, (immense),
And endless Understanding—(such) am I;
I am the (partless) undivided[3] Bliss!
(VC. 516)

I am no soul, (for) I am God (Himself);[4]
Nought else but Truth alone indeed am I![5]
(TU. 6 : 33, 59)

[1] *advaitarūpamakhilam hi katham vadāmi?*
[2] *or*: manifold (*dvaita*).
[3] *or*: indivisible.
[4] *brahmaivāham na jivo aham.*
[5] *or*: Being (*sanmātramahameva hi*).

8. I am (all) Knowledge, and the Known am I,
The Knower I, the Means to Knowledge too;
Composed without a Knower, Knowledge, or
The Known—there is (in all) but I alone . . .
I am the ONE, no difference can rise
In me like 'this' or 'that'; . . . and it is I
Who manifest the ONENESS.[1] . . . Free am I
From stainful Ego, I am pure from taint
Of sin and virtue; . . . I am full of Right
And Wrong, (yet) free from bonds of such (a thought)
As 'Right and Wrong'. . . . I never have been bound;
So too I never have been freed from bonds.
I never needed teaching, nor am I
That which is taught, nor (even) teacher I.
I am devotion, I the hymn (of praise);[2]

[1] *aikyavabhāsako aham.*
[2] *or*: worship (*bhajanamaham*).

Freedom am I, the Way to Freedom too!
(SN. 126, 112-113, 118, 129. 133-134)

9. I cannot be attained, though with the aid
Of many hundred Scriptures, by those minds
That have no calmness and no self-control; . . .
I can be won upon the road of peace.[1] . . . I am
The maker of (sweet) bliss for (this whole) world,
Alone am I the dawn of (all) the worlds . . .
I do not bow to Gods, (for) one beyond
The Gods (can) never serve a God, . . . (and) I
Am Lord of Lords! . . . I am the ONE that dwells
Within the centre of the hearts of all;
I am the full(ness of) supernal bliss,
I am the uttermost beatitude,[2]
I have become the Infinite (Supreme);
(SN. 140, 123-124, 109, 153, 108, 120, 105)

[1] *s'antimārga gamyoaham.*
[2] *or* : I am the Supreme Self (*paramas'ivoaham*).

10. O all is only GOD, there is none else;
And That am I, (yea,) that (Divine) am I!
O That alone am I, (yea,) only That;
I am Eternal GOD alone, (none else)![1]
(TU. 6 : 31)

No words can voice the glory the Adept has gained; yet to give us 'prisoners of flesh' a vague picture of his realisation he has sung this song of triumphant ecstasy. To know there is but the ONE, that we are that ONE, that eternity and infinity are mere *words* before the wonder of that BEING now revealed at the centre of the Self—this is the ADVAITA, this is KAIVALYĀNANDA this true JNĀNA (Gnosis). Beyond this, what could there be? In it is involved the whole marvel of the Many, the mystery of Creation and its aim, the beauty of the Godhead; in it is the whole glory of transcendence, the perfection of perfection uniting all conceivables. In it lies the fruition of the countless ages of wandering through the shadows, in it the blessedness of infinite light and wisdom and goodness, in it the secret of immortal love innate in all.

## 65. Last Words of the Realized

1. Giving up the following of the world's (opinion), giving up the following of body (-comfort), giving up the following of books,[2]

[1] This fine closing *s'loka* reads:

*brahmaiva sarvam nānyo asti tadaham tadaham tathā |*
*tadevāham tadevāham brahmaivāham sanātanam ||*

[2] Abandon the three 'tendencies' listed in § 36. U reads here: "obeying the body's dictates"; it is giving the body more importance than a tool can rightly claim.

remove the false idea of your (separate) self.[1] (AU. 1 : 40) Outwardly feigning ardour[2] (while) without interest[2] in the heart, outside a doer[3] but a non-doer within, wander with pure mind in the world! (MU. 6 : 68) Hence the Knower of the Real (may be) absorbed in worldly duties, ignoring the loss of what is destroyed and welcoming the arrival of what is received. (YV. 17 : 102) Noble, and (walking) tactfully in accordance with old customs, wholly give up inner attachment (while still) outwardly like a man of the world:[4] (MU. 6 : 70) (while) renouncing all in the heart, act outwardly as (the need) comes. (APU. 5 : 116)

2. Gaze only on the Self, yourself teach the self, yourself enjoy your own self, be steadily fixed upon yourself![5] Yourself contented in the Self, yourself guide your own self; please the Self alone and be possessed of bodiless Release![6] (TU. 4 : 80-81) Having

[1] *lokānuvartanam tyaktvā tyaktvā dehānuvartanam |*
*śāstrānuvartanam tyaktvā svādhyāsāpanayam kuru ||*

[2] *or*: agitation (*samrambha*).

[3] U reads here: "ostensibly a man of action".

[4] *antaḥ sanga parityāgi bahiḥ samsāravāniva.*

[5] Cf. this passage with *Gītā* 2 : 55, 6 : 5-6, 20.

[6] *vaidehimuktiko bhava.*

known both the Self in all beings and all beings in the Self,[1] be happy without egoism and free from the sense of "(That is) mine!" (AVG. 15 : 6)

3. Thereby have you clearly come to know what is to be known by Great Souls, detached even from enjoyments and indifferent to things visible down here. With full intelligence all that should be gained has (now) been gained; you are that GOD who cannot be seen. (You are) free, so now put away confusion[2] (and doubt). (YV. 3 : 49-50) This indeed is (now) your only bondage, that you are still trying to practise Ecstasy![3] (AVG. 1 : 15)

4. For me and for you, and for you and for me the endless Blissful Self! (YV. 22 : 78) You are no other than your own form, you are even I alone—be sure (of that)! (TU. 5 : 74) Because of the fullness of the Highest Self there is no difference, and you are I alone![4] (MBU. 3 : 2)

[1] Cf. § 64 : 6 and *Gītā* 6 : 29.

[2] *bhrantim*. Cease from error, or wandering astray.

[3] This certainly cannot apply to an earlier stage, as described elsewhere in this 'Gospel', where effort at practising *Samadhi* is the essence of life.

[4] An almost Egyptian-sounding ending, with Gnostic colour. Cf. Brit. Mus. Gk. Pap. 122 : 2 (Kenyon, 1893, p. 116) : "For

नाऽतो मानेन विषये बोधितेऽन्वेषणं पुनः ।
कार्ययुक्त्योः क्वचिद् दृष्टं स्वतःप्रामाण्यवादिनः ॥ २८१ ॥

जैसे ज्योतिष्टोमादि याग करनेसे अदृष्ट ( धर्म ) होता है, उसके द्वारा पतन नहीं होता, किन्तु उत्तम स्थानारोहण होता है; वैसे ही आजन्म प्रसंख्यानके अनुष्ठानसे अदृष्ट उत्पन्न होता है और उक्त फलकी ही प्राप्ति होती है, यह कहिएगा, तो ज्योतिष्टोमादि यागके समान प्रसंख्यान भी अदृष्टफलक होगा, ऐसा माननेपर अदृष्ट ही प्रधान होगा और उसका अङ्गभूत शास्त्र प्रत्यक्षादि प्रमाणसे विरुद्ध आत्मैक्य वस्तुमें प्रमाण नहीं होगा, क्योंकि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस न्यायसे शास्त्र अदृष्टपरक है, उक्तात्मतत्त्वपरक नहीं है, अतः उक्तार्थमें शास्त्र प्रमाण नहीं होगा। ऐसी अवस्थामें मुक्तिकी इच्छासे जैसे ज्योतिष्टोमादि यागमें प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही प्रसंख्यानमें भी प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि आत्मसाक्षात्कारके कारण दोनों नहीं हैं। मोक्षार्थी आत्मसाक्षात्काररूप उपायमें ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि उक्त साक्षात्कार ही मोक्षोपाय है, ऐसा दृढ निश्चय पहलेसे ही मुमुक्षुको है। और यह भी विचार करना आवश्यक है कि प्रसंख्यानविधायक वाक्य ऐकात्म्य वस्तुका बोधक है अथवा 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य ? प्रथम पक्षमें उक्त वाक्य, प्रसंख्याननियोगपरक होनेसे, वस्तुका बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि एक वाक्य एक समयमें दो अर्थोंका बोधक नहीं होता। द्वितीय पक्षमें 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भी नियोगपरक हैं, उक्त आत्मैक्य-वस्तुपरक नहीं हैं, कारण कि उक्तार्थ प्रत्यक्षादिसे विरुद्ध है। अविरुद्ध अर्थमें ही वाक्य सार्थक होता है, विरुद्ध अर्थमें नहीं। यदि आत्मैक्य वस्तु ही अप्रामाणिक है, तो उसकी आवृत्ति ही नहीं बन सकती। वस्तु होनेपर ही तद्विषयक ज्ञानादिकी आवृत्ति होती है। जो विषय नहीं है, उसकी आवृत्ति या तद्विषयक नियोग भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥२८०॥

यदि 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्र प्रसंख्यानादिसापेक्ष स्वार्थका बोधक होगा, तो निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यका भङ्ग होगा, इसपर कहते हैं—**'नाऽतो मानेन'** इत्यादि।

प्रमाणसे प्रमेयका ज्ञान होनेपर फिर उस प्रमेयके ज्ञानके लिए युक्ति या प्रमाणकी खोज नहीं होती। और स्वतःप्रामाण्यवादीके मतमें तो कहीं भी प्रमितकी

**प्रत्यक्षेण घटे बुद्धे का युक्तिः कार्यमेव वा ।**
**नाऽपेक्ष्येत तथैवाऽत्र किमर्थाऽन्यव्यपेक्षिता ॥ २८२ ॥**
**अदुष्टकारणत्वं तु सिद्धं वेदे नृवर्जनात् ।**
**प्रत्यक्षादिविरोधश्च पश्चात्परिहरिष्यते ॥ २८३ ॥**

प्रमाके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा नहीं होती। भाव यह है कि शास्त्र द्वारा आपाततः संशयसाधारण ज्ञान होनेपर प्रसंख्यानकी अपेक्षा होती है ? या निश्चयात्मक ज्ञान होनेपर ? प्रथम पक्ष मानकर द्वितीय पक्षमें दोष देते हैं—शास्त्र द्वारा विषयका निश्चय होनेपर युक्ति या नियोग—इन दोनोंमें से किसीका पुनः अन्वेषण कहीं भी दृष्ट नहीं है, अतः वह अप्रामाणिक है। प्रकृतमें तो आत्मैक्य-साक्षात्कार होनेपर सम्पूर्ण द्वैत ही, काल्पित होनेसे, निवृत्त हो जाता है। फिर युक्ति या नियोगकी अपेक्षा ही नहीं है। वस्तुके रहनेपर अपेक्षा या अनपेक्षाका विचार होता है, अन्यथा नहीं। और शास्त्र द्वारा प्रमित होनेपर भी प्रमात्मक ज्ञानके लिए यदि अन्यकी अपेक्षा होगी, तो शास्त्रमें स्वतःप्रामाण्यका भङ्ग ही हो जायगा। यदि कहो कि युक्त्यादि प्रमाण नहीं हैं, अतः युक्त्यादिकी अपेक्षा होनेपर भी स्वतःप्रामाण्यका भङ्ग नहीं होगा, प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होनेपर ही उक्त दोष होता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि युक्ति चतुष्पाद मानमें प्रविष्ट है, अतः शब्दके समान वह भी मान ही है ॥ २८१ ॥

**'प्रत्यक्षेण घटे बुद्धे'** इत्यादि। शास्त्रसे वस्तुतत्त्वका साक्षाकार होनेपर युक्त्यादिकी अपेक्षा नहीं है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—जैसे प्रत्यक्षसे घटका ज्ञान होनेपर कौन युक्ति या नियोगकी अपेक्षा करता है ? अर्थात् कोई नहीं करता, वैसे ही यहाँ भी शास्त्र द्वारा उक्तानुभव होनेपर किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है ॥ २८२ ॥

शङ्का—प्रत्यक्षदृष्ट स्थलमें भी यह घटादिज्ञान दुष्ट हेतुसे हुआ है या अदुष्ट हेतुसे ? ऐसी शङ्का होनेपर पूर्वोक्त समीपगमन आदिके समान प्रकृतमें भी दोषाभावके निर्णयके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा हो सकती है, क्योंकि अदुष्टहेतुजत्वके निर्णयके बिना प्रामाण्य नहीं होता, अतः उसके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा है, इसमें समाधान देते हैं—**'अदुष्टकारणत्वम्'** इत्यादिसे।

लोकमें काचादि करणदोषकी संभावना रहनेसे ही 'प्रत्यक्ष दृष्ट अर्थका ज्ञान

ऐकात्म्यानुभवोऽतः स्याच्छास्त्रादेवाऽविरोधतः ।
अज्ञातज्ञापनादन्यत्कार्यं नाऽत्राऽस्ति किञ्चन ॥ २८४ ॥
ननु युक्तिस्त्वयाऽपीष्टा मननाय तथा विधिम् ।
चतुर्थाद्याधिकरणे आवृत्तेः सूत्रकृज्जगौ ॥ २८५ ॥

अदुष्टहेतुक है' इस निर्णयके लिए समीपगमनादिकी अपेक्षा होती है। वेद तो अपौरुषेय है, अतः तज्जन्य ज्ञानमें पुरुष द्वारा दोषका प्रवेश न होनेसे दोषाभाव सहज ही ज्ञात होता है, इसलिए दोषाभावज्ञानके लिए भी अन्यकी अपेक्षा नहीं कह सकते। प्रमाणान्तरके विरोधका परिहार आगे करेंगे, इसलिए प्रमाणान्तरके विरोधके परिहारके लिए भी युक्तिकी अपेक्षा नहीं हो सकती ॥ २८३ ॥

'ऐकात्म्यानुभवोऽतः' इत्यादि। प्रत्यक्षादिके विरोधका आगे परिहार करेंगे और अपौरुषेय वेदमें दोष है नहीं। अप्रामाण्यके दो ही कारण होते हैं— अर्थकी अन्यथात्वबुद्धि और हेतुदोष। प्रकृतमें ये दोनों नहीं हैं, अतः वेदवाक्यसे ही ऐकात्म्यानुभव, दोष तथा मानान्तरका विरोध न होनेसे, हो ही जायगा, अतः उसके लिए अन्यकी अपेक्षा नहीं है। प्रामाण्यमें केवल अज्ञातज्ञापकत्वमात्र अपेक्षित है, सो प्रकृतमें है ही। आत्मैक्य, प्रमाणान्तरागोचर होनेसे, केवल 'तत्त्वमसि' आदिवाक्यसे वेद्य है। अज्ञातज्ञापनसे अतिरिक्त कोई कार्य यहाँ नहीं है ॥२८४॥

यदि शास्त्रको युक्तिकी अपेक्षा नहीं मानते, तो अभ्युपगमरीतिसे आप भी युक्तिसापेक्ष शास्त्र ब्रह्मात्मैक्यका विधायक है, यह मानते हैं, इससे विरोध तथा सूत्रसे विरोध होगा, ऐसी शङ्का करते हैं—'ननु युक्तिः' इत्यादिसे।

मननके लिए युक्ति आपको भी इष्ट है। चतुर्थाध्यायके प्रथम अधिकरणमें सूत्रकारने आवृत्तिकी विधि कही है, अतः इन दोनोंके खण्डनसे अभ्युपगमविरोध तथा सूत्रविरोध होगा। भाव यह है कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि श्रुत होनेपर यह संशय होता है कि एक बार आत्मप्रत्यय करना चाहिए अथवा बार-बार प्रत्ययकी आवृत्ति करनी चाहिए। इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि प्रयाजादिकी तरह सकृत्प्रत्यय ही इष्ट है। जैसे सकृत् प्रयाजानुष्ठानसे अदृष्टकी सिद्धि होनेसे शास्त्र सार्थक हो जाता है, अतः बार-बार प्रयाजानुष्ठानमें शास्त्रका तात्पर्य नहीं है, वैसे ही अदृष्टार्थक आत्मप्रत्यय भी सकृत् ही अनुष्ठेय है। यदि सकृत् आत्मप्रत्यय

विवक्षित हो, तो 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि वाक्यसे असकृत् आत्मप्रत्ययका विधान व्यर्थ हो जायगा ? नहीं, व्यर्थ नहीं होगा, क्योंकि यावच्छब्द प्रत्ययानुवृत्ति ही विवक्षित है, अर्थात् तीन बार शब्दका श्रवण है, इसलिए तीन बार प्रत्ययावृत्ति करनी चाहिए—एकबार श्रवण, एकबार मनन और एक बार निदिध्यासन, अधिक नहीं। इस पूर्वपक्षमें सिद्धान्त किया गया है कि फलोदयपर्यन्त प्रत्ययावृत्ति करनी चाहिए। प्रयाजादिके समान श्रवणादि अदृष्टार्थक नहीं हैं, किन्तु अवघातके समान दृष्टार्थक हैं। सकृत् अवघातसे तण्डुलकी निष्पत्ति नहीं होती, अतः तण्डुलकी निष्पत्तिके लिए जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्यसे जबतक तण्डुल निष्पन्न नहीं होता, तबतक अवघातकी आवृत्ति विवक्षित है, वैसे ही आत्मदर्शनके लिए विहित आत्मप्रत्ययकी तबतक आवृत्ति करे, जबतक आत्मदर्शन न हो। अनावर्तित आत्मप्रत्ययसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, अतः आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त उक्त आवृत्ति अनुष्ठेय है। लोकमें भी आवृत्तिगुणविशिष्ट क्रिया उपास्त्यादि शब्दका अर्थ प्रसिद्ध ही है, 'गुरुमुपास्ते', 'राजानमुपास्ते' इत्यादि प्रयोगसे निरन्तर गुरु आदिकी अनुवृत्ति प्रतीत होती है। गुरु आदिकी सकृत् अनुवृत्ति करनेसे 'गुरुमुपास्ते' इत्यादि प्रयोग नहीं होता, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है। यदि अवघातके समान दृष्टार्थ है, इसलिए आवृत्ति मानते हो, तो प्रत्येक अवघातसे व्रीहिमें अतिशयविशेष होता है, इसलिए अतिशयाधायक अवघातोंकी आवश्यकता है। प्रकृतमें तो ब्रह्म अनाधेयातिशयस्वरूप है, अतः प्रत्येक प्रत्ययसे ब्रह्ममें अतिशयविशेष तो कुछ होता है नहीं, फिर प्रत्ययावृत्तिका क्या फल है ? यदि कहो कि सकृत्प्रत्ययसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता है, इसलिए प्रत्ययावृत्ति मानते हैं, तो यह भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि यदि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य एक बार श्रुत होकर उक्तानुभवका जनक नहीं है, तो आवर्त्तमान होकर उसके साक्षात्कारका जनक कैसे होगा ? यदि कहिए कि केवल वाक्य किसी अर्थका साक्षात्कार नहीं कराता, किन्तु युक्तिसहकृत शब्द अर्थका साक्षात्कार कराता है, तो भी आवृत्ति अनर्थक ही है, क्योंकि सकृत्प्रवृत्त युक्ति भी स्वकीय अर्थका अनुभव करा देगी। युक्ति और वाक्य इन दोनोंसे सामान्यविषयक ज्ञान ही होता है, विशेषविषयक ज्ञान नहीं होता। जैसे मेरे हृदयमें व्यथा है, इस वाक्य और कम्पादि युक्तिसे शूलका सामान्य ज्ञान ही श्रोताको होता है, परन्तु शूलरोगीको जैसे शूलव्यथाका विशेष अनुभव होता है, वैसे श्रोताको नहीं होता। आत्माका विशेषानुभव ही, अविद्यानिवर्तक होनेसे, विवक्षित

है, सामान्यानुभव नहीं, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनेकावृत्तिसे भी उक्तानुभव नहीं होगा, कारण कि शास्त्र और युक्तिके एक बार प्रयोगसे जो विशेष ज्ञात नहीं होता, वह सौ बारके प्रयोगसे भी नहीं हो सकता।

और यह सोचिये कि जो अनेक विशेषोंसे विशिष्ट विषय है, उसमें एक-एकके अवधानसे एक-एक विशेषका ज्ञान होता है, अतः वहां आवृत्ति सफल होती है। निर्विशेष ब्रह्म सामान्य और विशेषसे रहित है, उसकी प्रमाके लिए अभ्यासकी क्या आवश्यकता है? ठीक है, जिसको सकृत्श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ब्रह्मात्माका अनुभव हो सकता है, उसके प्रति आवृत्ति अनर्थक है, किन्तु जिसको ऐसा नहीं होता उसके प्रति तो आवृत्ति सार्थक ही है, अतएव छान्दोग्यमें श्वेतकेतुके प्रति 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका नौ बार अभ्यास किया गया है।

जो यह कहा गया है कि सकृत्श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य स्वार्थका बोध न करायेगा, तो वह आवर्तमान होकर भी नहीं करा सकता, सो दृष्टविरुद्ध है। देखते हैं कि लोकमें जो मन्दबुद्धि हैं, उनको सकृत् श्रवणसे मन्द बोध होता है, पुनः पुनः वाक्यार्थावृत्तिसे तत्तदाभासनिवृत्तिपूर्वक समीचीन ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष दृष्ट अर्थमें विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती, अतएव अभियुक्तोंका वचन है—'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम'।

और इसलिए भी आवृत्तिकी अपेक्षा है कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे त्वंपदार्थ जीवमें तत्पदार्थ ब्रह्मभावका बोध होता है अर्थात् जीव ब्रह्मसे अभिन्न है। जिनको इन दोनोंमें अज्ञान, संशय और विपर्यय है, उनको सकृच्छ्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे उक्त अनुभव नहीं होता, क्योंकि पदार्थज्ञानपूर्वक वाक्यार्थज्ञान होता है, अतः उनके प्रति पदार्थके विवेकके लिए प्रत्ययाभ्यास आवश्यक है।

यद्यपि ज्ञातव्य आत्मा अशेषविशेषशून्य है, तो भी आरोपित शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदना आदि अनेक अंश हैं, एक-एककी आवृत्तिसे उनका निरास होता है, इसलिए वहां क्रमसे प्रतिपत्ति (ज्ञान) ठीक है, वे ज्ञान आत्मसाक्षात्कारके पूर्वरूप है। जिन निपुणमतियोंको प्रतिबन्धक अज्ञान, संशय और विपर्यय नहीं हैं, उनको सकृच्छ्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे उक्त अनुभव होता है, उनके

बाढमिष्टाऽपि सा युक्तिर्न मानांशतयेष्यते ।
मानांशत्वे तु वेदस्य निरपेक्षत्वहानितः ॥ २८६ ॥
इतिकर्तव्यरूपेण वेदस्य सहकारिणीम् ।
युक्तिमाहुर्वेदविदो न मानेऽन्तर्भवेत्ततः ॥ २८७ ॥
धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना ।
इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥ २८८ ॥

---

प्रति आवृत्ति अनर्थक है, यह इष्ट ही है, कारण कि एक बार उक्त 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे अविद्यानिवर्तक आत्मतत्त्वसाक्षात्कार हो जाता है, उसके लिए कोई क्रम भी नहीं है, इत्यादि अन्यत्र विस्तारसे निरूपित है ॥ २८५ ॥

'बाढमिष्टाऽपि' इत्यादि । आत्मसाक्षात्कारके लिए मन्दबुद्धियोंको अभ्यासकी अपेक्षा है, यह ठीक है, किन्तु उनको भी प्रमाणके अङ्गरूपसे अभ्यास अपेक्षित नहीं है, कारण कि प्रमाणके अभावसे यदि अभ्यासकी अपेक्षा मानोगे, तो वेदमें निरपेक्षत्वलक्षण स्वतःप्रामाण्यकी हानि हो जायगी । जैसे लौकिक वाक्य स्वार्थ-प्रमाके लिए प्रमाणान्तरकी नियमेन अपेक्षा करता है, प्रमाणान्तरके विना वह वाक्य अश्रद्धेय होता है, अतः स्वार्थमें संवादके लिए प्रमाणान्तर अपेक्षित होता है; वैसे ही वेदबोधित अर्थमें यदि पुनः प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होगी, तो प्रमाणान्तरसहकृत वेदवाक्य इष्ट अर्थका बोधक हुआ, इतरनिरपेक्ष नहीं, अतः उक्तलक्षण प्रामाण्यकी हानि हो जायगी ॥ २८६ ॥

'इतिकर्तव्य०' इत्यादि । वेदवेत्ता इतिकर्तव्यतारूपसे युक्तिको वेदकी सहकारिणी मानते हैं, अतः प्रमाणमें युक्तिका अन्तर्भाव नहीं है । युक्ति यदि प्रमाणस्वरूपा होती, तो युक्तिसापेक्ष शब्द स्वार्थका बोधक है, यह माननेपर मानान्तरसापेक्ष वेद भी बोधक होता और निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यका भङ्ग होता, किन्तु ऐसा है नहीं ॥२८७॥

प्रमाणानन्तर्गत अर्थात् प्रमाणबहिर्भूत युक्तिके सहकारसे शब्द स्वार्थका बोधक है, यही दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'धर्मे प्रमीयमाणे' इत्यादि ।

धर्मप्रमेय है, प्रमाणस्वरूप वेद करण है और मीमांसा इतिकर्तव्यता है; जैसे स्वर्गमें याग करण है, प्रयाजादि इतिकर्तव्यता है वैसे ही प्रमामें वेद करण है, मीमांसा इतिकर्तव्यताभागकी पूर्ति करेगी अर्थात् इतिकर्तव्यता है ।

एवं ब्रह्मणि वेदेन मीयमानेऽत्र युक्तिभिः ।
मेयासम्भावनाख्योऽयं पुंधीदोषो निरस्यते ॥ २८९ ॥

इतिकर्तव्यतासापेक्ष अग्निहोत्र आदि वाक्य स्वार्थबोधक हैं, यह माननेपर भी स्वतःप्रामाण्यकी क्षति नहीं है, कारण कि इतिकर्तव्यता स्वयं प्रमाण नहीं है, वह प्रमाणकी सहकारिणी है, अर्थात् किंचित्सापेक्ष होनेसे उक्त प्रामाण्यका भङ्ग नहीं होता। अन्यथा शक्त्यादिज्ञान और उससे उत्पन्न उपस्थिति आदि सर्वत्र शाब्दबोधमें अपेक्षित हैं, इसलिए सब जगह सापेक्षत्व ही है, निरपेक्षत्व किसीमें नहीं मिल सकता। इस परिस्थितिमें कहीं भी प्रामाण्य नहीं हो सकता, अतः प्रमाणान्तर निरपेक्षत्व ही प्रामाण्यका प्रयोजक है, सो प्रकृतमें है ही ॥ २८८ ॥

'एवं ब्रह्मणि' इत्यादि। जैसे अग्निहोत्रविधायक कर्मकाण्डमें स्थित वैदिकवाक्य अर्थात् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वाक्य मीमांसारूप विचारसे धर्मपरक हैं, अन्यपरक नहीं हैं, यह निर्णय होता है, वैसे ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'आत्मैवेदं सर्वम्', 'तत्त्वमसि' इत्यादि औपनिषद वाक्योंको ब्रह्मस्वरूपका निर्णय करनेमें इतिकर्तव्यतारूपसे युक्त्यादिकी सहकारीरूपसे अपेक्षा है। अशुद्ध्याद्यनेकदोष-विशिष्ट जगत् शुद्ध बुद्ध ब्रह्मसे अभिन्न कैसे हो सकता है? इस प्रकार पुरुषबुद्धिमें असम्भावनादोषके निरासके लिए कार्यकारणका अभेद प्रतिपादन किया गया है। दृष्टान्त-विधया मृद्, लोह आदिका उपादान किया गया है—

'यथा सोम्य! एकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो०' इत्यादि। 'यथा वा एकेन लोहमणिना विज्ञातेन सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' इत्यादि। श्वेतकेतुके प्रति यह प्रश्न था 'उत तमादेशम्' इत्यादि। श्वेतकेतु उत्तर न दे सके। फिर श्वेतकेतुको समझाया गया कि यह सब प्रपञ्च ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, अतः ब्रह्मसे अभिन्न है। कार्यकारणका अभेद है अर्थात् कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं होता। इसमें दृष्टान्त मृत्तिकाका और लौहका दिया है। जैसे मिट्टीका तत्त्व ज्ञात होनेपर तद्विकार घट, शराव आदि ज्ञात हो जाते हैं, क्योंकि वाचारम्भणमात्र घटादि हैं, केवल नामरूपमात्रका भेद है, सो भी कल्पित है, तत्त्वान्तर नहीं। तथा लौहके जाननेसे तद्विकार नखनि-कृन्तनादि सब लौह-कार्य विज्ञात होते हैं, वैसे ही ब्रह्मकार्य जगत् ब्रह्मसे अभिन्न

नैतावतोपयोगेन युक्तेर्मानत्वसम्भवः ।
उपयुक्तोऽप्यर्थवादो विध्यर्थं न प्रमापयेत् ॥ २९० ॥
न वायोः क्षिप्रकारित्वाच्छ्वेतालम्भो विभूतये ।
विध्युद्देशात्तु तत्सिद्धेः शैघ्र्यं तूक्तं प्रवर्तयेत् ॥२९१॥

है, अतः ब्रह्मके ज्ञात होनेपर सब जगत् ज्ञात हो जाता है । ब्रह्मसे अतिरिक्त जगत् नहीं है, जैसा कि तन्तुसे अतिरिक्त पट नहीं है । शब्द, बुद्धि, कार्य आदिका भेद होनेपर भी पदार्थका भेद नहीं होता, अन्यथा तन्तुका नाश होनेपर भी पटका उपलम्भ होना चाहिए तथा भिन्नपरिमाण होना चाहिए । द्रव्यका लक्षण है—परिमाणवत्त्व । तन्तुके परिमाणसे अतिरिक्त परिमाण पटमें नहीं है, इसलिए वह तन्तुसे भिन्न नहीं है—इत्यादि दृष्टान्त और तर्क द्वारा असम्भावनारूप दोष जब निवृत्त हो जाता है, तब 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे आत्मैक्यकी बुद्धि होती है । अतः दोषके निरासके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा होनेपर भी उक्त वाक्यमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यकी क्षति नहीं है ॥ २८९ ॥

'**नैतावतोपयोगेन**' इत्यादि । असम्भावना आदि दोषके निरासके लिए शब्दको युक्तिकी अपेक्षा होनेपर भी श्रुतिमें स्वतःप्रामाण्यकी हानि नहीं है । यदि श्रुतिके अर्थके निश्चयके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा होती, तो अप्रामाण्यापत्ति हो सकती । परन्तु यहां तो श्रुतिजन्य वाक्यार्थज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक असम्भावना आदि दोषोंके निरासके लिए युक्तिकी अपेक्षा है, इससे कोई क्षति नहीं है अर्थात् यदि युक्ति अर्थनिश्चायक होती, तो वाक्यसे ही अर्थका निश्चय हुआ नहीं, युक्तिकी भी सहकारीरूपसे अपेक्षा हुई, इसलिए लौकिक वाक्यके सदृश वैदिक वाक्य भी सापेक्ष अर्थका बोधक हुआ, अतः उसीके समान स्वतः प्रामाण्यभङ्ग होता, सो प्रकृतमें नहीं है । इससे कहते हैं कि प्रतिबन्धकनिवृत्तिरूप उपयोगमात्रसे युक्ति प्रमाण नहीं है । जैसे पुरुषकी प्रवृत्तिमें उपयोगी अर्थवाद विध्यर्थमें प्रमाण नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ २९० ॥

'**न वायोः**' इत्यादि । 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इस श्रुतिसे विभूतिफलक वायव्य यागका विधान है । जो पुरुष आलस्यादिके कारण उक्त यागमें प्रवृत्त नहीं होता, उसकी प्रवृत्तिके लिए उक्त यागकी प्रशंसाके लिए 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्य है । चूँकि वायु शीघ्रगामिनी

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यो व्यतिरेकेण युक्तितः ।
दृश्यतां गोत्ववद्ब्यक्तेर्ब्रह्मत्वेऽस्य किमागतम् ॥२९२॥

---

देवता है, अतः वह शीघ्र फलप्रद है, यह सुननेसे शीघ्र फलके लाभके लिए आलसी मनुष्यकी भी उक्त यागमें प्रवृत्ति होती है। यहांपर उक्त अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं कि—श्वेत पशुका आलभन विभूतिका हेतु है, यह 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस श्रुतिका ही अर्थ है, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादि अर्थवादका नहीं। यद्यपि श्रुत्यर्थमें प्रवृत्तिका उपयोगी यह अर्थवाद है तथापि श्वेतालम्भमें विभूतिहेतुत्वका ज्ञापक नहीं है। उक्त अर्थका उक्त विधिवाक्य ही बोधक है, इसलिए स्वार्थके निर्णयके लिए मानान्तरकी अपेक्षा न होनेसे उक्त विधिवाक्यमें प्रामाण्यकी क्षति नहीं है। एवं 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए युक्तिका उपन्यास नहीं है। उत्पन्न ज्ञानके अर्थके निश्चयके लिए उसकी अपेक्षा है अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यको प्रतिबन्धक बुद्धिदोषकी निवृत्तिके लिए—वायव्ययागमें प्रवृत्तिके प्रतिबन्धक आलस्यादि दोषके निरासके लिए—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादि अर्थवाद वाक्यकी अपेक्षा है। अतः दोनों स्थलोंमें स्वतःप्रामाण्यकी क्षति नहीं है ॥ २९१ ॥

युक्ति तत्त्वनिश्चायक नहीं होती, इसका उपपादन करते हैं—'जाग्रत्०' इत्यादिसे।

गोव्यक्तियोंकी परस्पर व्यावृत्ति है अर्थात् एक व्यक्ति दूसरी गोव्यक्ति नहीं है और दूसरी व्यक्ति तीसरी नहीं है, इस क्रमसे व्यक्तियोंकी परस्पर व्यावृत्ति है, परन्तु गोत्व सब व्यक्तियोंमें अनुगत एक ही है; अतः गोत्व गोव्यक्तिसे भिन्न है—यह व्याप्ति कुसमसूत्रदृष्टान्तसे निश्चित है। जिसकी व्यावृत्ति होनेपर जो अनुवृत्त होता है, वह व्यावर्तमानसे भिन्न है, जैसे फूलोंसे सूत्र। वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिकी व्यावृत्ति होनेपर तीनों अवस्थाओंका साक्षी आत्मा तीनोंमें अनुवृत्त होनेके कारण तीनोंसे भिन्न है, इस युक्तिसे शरीरादिसे भिन्न यदि आत्माका ज्ञान हुआ, तो हो, परन्तु तीनों अवस्थाओंमें अव्यभिचारी आत्मा ब्रह्म है, यह तो नहीं सिद्ध हुआ। यह तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ही सिद्ध होता है, युक्तिसे नहीं; अतः युक्ति तत्त्व-निश्चायक नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

महावाक्यात् पुरा युक्तिस्त्वम्पदार्थं विशोधयेत् ।
पश्चात्तु तत्पदार्थत्वं सम्भावयति तस्य हि ॥ २९४ ॥
वाक्ये पुंसोऽधिकारः स्याद्युक्त्या पूर्वप्रवृत्तया ।
पश्चात् प्रवृत्तया स्थैर्यं वाक्यार्थे वाक्यबोधिते ॥ २९५ ॥

उसी अर्थको पुनः स्पष्ट करते हैं—'**महावाक्यात्**' इत्यादिसे । देहादिसे विलक्षण जाग्रदादि अवस्थाओंका साक्षी प्रत्यगात्मा है, ऐसा जिसको पहले ज्ञान नहीं है, उसके हृदयमें 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यार्थका बोध ही नहीं हो सकता और जिसको उक्त आत्मस्वरूपका ज्ञान है, उसके हृदयमें उक्त वाक्यसे आत्मैक्यज्ञान तो होता है, किन्तु वह अनादि कालकी आत्मभेदवासनासे प्रतिबद्ध हो जाता है, अतः वह अविद्यानिवर्तक नहीं हो सकता; अप्रतिबद्ध ही उक्त ज्ञान अज्ञानका निवर्तक होता है, प्रतिबद्ध नहीं । अप्रतिबद्ध अपरोक्ष ज्ञानके लिए युक्तिरूप विचार सफल है ।

श्लोकार्थ—'तत्त्वमसि' आदि वाक्य महावाक्य हैं, इससे पूर्व युक्ति त्वंपदार्थका परिशोधन करती है, पश्चात् इस वाक्यसे होनेवाले ज्ञानकी उत्पत्तिके अनन्तर त्वं-पदार्थमें तत्पदार्थके अभेदकी सम्भावना करती है अर्थात् अवस्थात्रयके उपन्यास द्वारा शरीरादिसे अतिरिक्त स्वयंप्रकाशस्वरूप जीव त्वंपदार्थ है, यह निश्चय होनेपर स्वयंप्रकाश ब्रह्मसे अभिन्न जीव है, इस प्रकारके बोधमें कोई अड़चन नहीं पड़ती । अतः अबाधित जीवब्रह्माभेदविषयक अपरोक्षबोधके लिए युक्त्याख्य विचार सार्थक है ॥ २९४ ॥

'**वाक्ये**' इत्यादि । 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यके श्रवणसे पूर्व जाग्रदादि अवस्थात्रयोपन्यासरूप युक्तिका परिशीलन करनेपर उक्त महावाक्यके श्रवणमें पुरुषका अधिकार होता है और उक्त महावाक्यके श्रवणके अनन्तर उक्त युक्तिके परिशीलनसे 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यसे बोधित जीवब्रह्माभेदविषयक बुद्धि स्थिर होती है, अतः अवस्थात्रयका अनुसन्धान उक्त वाक्यार्थबोधसे तथा उक्त वाक्यार्थबोधके अनन्तर भी अवश्य करना चाहिए । पूर्वमें उक्त अनु-सन्धानका फल है—वाक्यार्थके श्रवणमें अधिकार और अनन्तर अनुसन्धानका फल है—जीव और ब्रह्मकी अभेदबुद्धिका स्थिर होना । शरीरके अवस्थान कालमें जीवन्मुक्ति तथा प्रारब्ध कर्मके भोगके अनन्तर शरीरका पात होनेपर विदेह-कैवल्यकी प्राप्ति फल है ॥२९५॥

उक्तप्रयोजनं युक्त्या यया स्यात् सैव गृह्यताम् ।
वेदार्थस्याऽनुकूलत्वे स्याल्लौकिक्यपि वैदिकी ॥ २९६ ॥
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणाऽनुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ २९७ ॥

'**उक्तप्रयोजनम्**' इत्यादि । 'अहं गौरः', 'अहं कृशः' इत्यादि शरीर और आत्माके भेदका अवगाहन करनेवाली लौकिक युक्ति भी है, पर इसका अनुशीलन उक्त प्रयोजनके प्रतिकूल है, क्योंकि इससे जीव और ब्रह्मका अभेद-ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए इसका आश्रयण मुमुक्षु न करें, किन्तु उक्त प्रयोजन—जीव और ब्रह्मके अभेदका अबाधित अपरोक्षबोध—जिस युक्तिसे हो, उसीका आश्रयण करें, चाहे वह लौकिक हो या वैदिक, इसमें आग्रह नहीं है । वास्तवमें वेदार्थानुकूल युक्तिका आश्रयण करना चाहिए । उपादेयताका प्रयोजक वेदार्थानुकूलत्व है, लौकिकत्व या वैदिकत्व नहीं है । अतएव वेदार्थानुकूल भाषाग्रन्थ भी मुमुक्षुके उपादेय हैं । वेदके अविरुद्ध युक्ति उपादेय है, यह मनुजीने भी कहा है ।

'**आर्षं धर्मोपदेशम्**' इत्यादि । श्रौत और स्मार्त धर्मोंके उपदेशका वेद और शास्त्रके अविरोधी तर्कसे जो अनुसन्धान करता है, वही वस्तुतः धर्म जानता है, दूसरा नहीं । [ ऋषिः वेदः, ततः आगतः—ज्ञातः—अर्थः—आर्षः, वेदार्थ इति यावत् ] वेदके अर्थोंको वेदके अविरोधी तर्कसे समझना चाहिए । वेदार्थ दो प्रकारका है—एक कर्मकाण्डमें यागादि धर्म, जिसका विचार पूर्वमीमांसामें किया गया है और दूसरा ब्रह्म है, जिसका विचार वेदान्तमें किया गया है। इन दोनों अर्थोंको वेदके अविरोधी तर्कसे समझना चाहिए । और स्मार्तधर्मोंका उपदेश स्मृतिके अविरोधी तर्कसे समझना चाहिए । यद्यपि स्मार्त धर्म भी श्रौत ही है, क्योंकि स्मृतियां साक्षात् धर्ममें प्रमाण नहीं हैं, बल्कि तादृश धर्मकी प्रतिपादक श्रुतियोंके अनुमान द्वारा हैं, तथापि उन धर्मोंको हम लोग स्मृतियोंमें देखते हैं । इसलिए वे स्मार्त कहलाते हैं । यदि आर्ष धर्मोपदेश अर्थात् वैदिक धर्मोपदेशको वेदरूपी शास्त्र और तदविरुद्ध तर्कसे समझना चाहिए, यह अर्थ मानें, तो चकार निर्थक हो जायगा । इसलिए पूर्वोक्त अर्थ ही युक्त प्रतीत होता है ॥ २९७ ॥

इत्यङ्गीकुरुते तर्कं मनुर्वेदोपयोगिनम् ।
युक्तेर्मानात् पृथक्त्वेन त्वद्दोषोऽस्ति नो मम ॥ २९८ ॥
मानानुग्राहकस्तर्क इति नैयायिकोऽब्रवीत् ।
पक्षे विपक्षजिज्ञासाविच्छेदस्तदनुग्रहः ॥ २९९ ॥

'इत्यङ्गीकुरुते' इत्यादि । इस प्रकारसे मनुजी वेदानुकूल तर्कको मानते हैं, परन्तु युक्ति प्रमाणसे अतिरिक्त है, इसलिए आपका उक्त दोष, अर्थात् वेद स्वार्थ-बोधके लिए यदि युक्तिकी अपेक्षा करेगा, तो उसमें सापेक्षत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी, असङ्गत है, कारण कि युक्ति प्रमाण नहीं है, किन्तु तर्क है और तर्क प्रमाणका सहकारी है। सन्दिग्ध स्थलमें सन्देहकी निवृत्तिके लिए प्रमाण तर्ककी अपेक्षा करता है, अर्थकी सिद्धिके लिए नहीं; अतः प्रमाणान्तर-सापेक्ष अर्थका बोधक न होनेसे सापेक्षत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति प्रकृतमें नहीं है ॥ २९८ ॥

युक्ति मानाङ्ग है, यह गौतमादि मुनिके संमत है, यह कहते हैं—**'मानानुग्राहकः'** इत्यादिसे ।

तर्क प्रमाणका अनुग्राहक है, यह नैयायिक शिरोमणि महर्षि गौतमने कहा है। पक्षमें विपक्षकी जिज्ञासाका विच्छेद प्रमाणका अनुग्रह है। सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्ष और निश्चितसाध्याभाववान् विपक्ष कहलाता है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमानमें पर्वत पक्ष है और ह्रद विपक्ष है। 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' इस न्यायप्रयोगके अनन्तर धूमादि हेतुमें अप्रयोजकत्वकी शङ्का होनेपर 'पर्वतो वह्निमान् न वा' यह संशय होता है, वह तर्कसे निवृत्त होता है। जैसे—'वह्निका धूम व्यभिचारी है' यदि ऐसा ज्ञान हो, तो वह तर्कसे अर्थात् 'यदि धूम वह्निका व्यभिचारी होगा, तो वह्निसे जन्य नहीं होगा, इस तर्कसे निवृत्त किया जाता है। वह्निजन्य धूम मत हो, इस प्रकार यदि शङ्का हो, तो इसपर यह तर्क होगा कि यदि धूम वह्निजन्य नहीं होगा, तो खपुष्पके समान कभी होगा ही नहीं अथवा गगनवत् सदा ही रहेगा, कादाचित्क नहीं होगा। इस परि-स्थितिमें धूमार्थीकी अग्निके आनयनमें नियमतः प्रवृत्ति ही नहीं होगी, और होती तो है एवं धूम कादाचित्क भी प्रत्यक्ष सिद्ध है—इत्यादि तर्कसे उसका निराकरण कर धूममें अप्रयोजकत्वकी शङ्काका भी निराकरण किया जाता है। उसके बाद 'पर्वतो वह्निमान् न वा' यह संशय निवृत्त होता है और 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति होती है।

आवृत्तिः सूत्रकृत्प्रोक्तेत्युक्तं यत्तत्तथैव हि ।
न वारयाम आवृत्तिं प्रकारस्तु विभिद्यते ॥ ३०० ॥
वाक्यार्थावगतेः पूर्वं पदार्थद्वयशुद्धये ।
आवृत्तिं सूत्रकृत् प्राह तच्छुद्धिरवधिर्मतः ॥ ३०१ ॥

**'आवृत्तिः'** इत्यादि । सूत्रकारने ज्ञानकी आवृत्ति कही है, यह जो आपने कहा, वह ठीक ही है, आवृत्तिका निवारण हम भी नहीं करते हैं, किन्तु आवृत्तिका प्रकार भिन्न है जो अग्रिम श्लोकमें स्पष्ट है ॥ ३०० ॥

**'वाक्यार्थावगतेः'** इत्यादि। तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थके बोधसे पहले 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थकी शुद्धिके लिए सूत्रकारने ज्ञानकी आवृत्ति कही है, कबतक प्रत्ययकी आवृत्ति अपेक्षित है ? इसमें अन्तिम अवधि 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थकी शुद्धि ही मानी गई है। उसके बाद सकृत् श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे मोक्षके हेतु आत्मज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है । अतः आवृत्ति अनपेक्षित है । भाव यह है कि छान्दोग्य-उपनिषद्में बहुपुत्रताके लिए 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्त्तयात्' इस वाक्यसे प्रत्ययकी आवृत्तिका विधान किया गया है । इसलिए फलाधिक्यके लिए प्रत्ययकी आवृत्ति करनी चाहिए, यह आपाततः प्रतीत होता है, किन्तु यह ठीक नहीं है, कारण कि साध्य फलमें प्रत्ययकी आवृत्ति करनेसे फलमें अतिशय हो सकता है । परन्तु जो परब्रह्मविषयक ज्ञान है, वह नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव परब्रह्मका समर्पक है । परब्रह्म नित्यसिद्ध तथा निरतिशय फल है, इसमें प्रत्ययकी आवृत्तिका कुछ फल नहीं है । एक बार सुननेसे ब्रह्मात्मत्वकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए प्रत्ययकी आवृत्ति अपेक्षित है; यह कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि आवृत्ति करनेपर भी ब्रह्मात्मत्वका निश्चय नहीं होता, क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य एक बार श्रुत होकर यदि ब्रह्मात्मत्वविषयक प्रतीति नहीं उत्पन्न करा सकता, तो अनेक बार श्रुत होकर भी ब्रह्मात्मत्वज्ञानका उत्पादक कैसे होगा ? अर्थात् होगा ही नहीं। यदि यह कहिये कि केवल वाक्य किसी अर्थका साक्षात्कार नहीं करा सकता, किन्तु युक्तिसहकृत उक्त वाक्य ही ब्रह्मात्मत्वविषयक साक्षात्कार करा सकेगा ? तो वह भी ठीक नहीं है, कारण कि इस पक्षमें भी आवृत्ति अनर्थक है, क्योंकि युक्ति भी एक बार ही प्रयुक्त होकर अपने अर्थका अनुभव करा देगी । वाक्य तथा युक्तिसे सामान्य-

विषयक ही ज्ञान होता है, विशेषविषयक नहीं। जैसे 'मेरे हृदयमें शूल है' इस वाक्यसे तथा कम्पादिलिङ्गक युक्तिसे शूलका सामान्यज्ञान ही श्रोताको होता है, विशेष नहीं। अर्थात् जैसे शूलीको शूलकी व्यथाका पूरा अनुभव होता है, वैसे श्रोताको नहीं होता। परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञानमें यही अन्तर है। सामान्यविषयक परोक्ष है और विशेषविषयक अपरोक्ष है। प्रकृतमें अविद्याके निवर्तक विशेषका अनुभव अपेक्षित है, इसलिए आवृत्ति आवश्यक है; यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि शास्त्र और युक्ति ये दोनों सामान्यज्ञानके जनक हैं, तो फिर इनकी आवृत्तिसे भी विशेष ज्ञान कैसे होगा?

यदि शास्त्र और युक्ति दोनोंको विशेषज्ञानके जनक मानें, तो एक बारकी प्रवृत्तिसे भी अभीष्ट सिद्ध हो जायगा, फिर आवृत्ति व्यर्थ है। और इन्हें यदि सामान्यज्ञानके ही जनक मानें, तो सौ बार आवृत्ति करनेपर भी सामान्य ही ज्ञान होगा, विशेष नहीं होगा, अतः आवृत्ति उभयथा व्यर्थ है।

यह भी बात है कि अनेकांशविशिष्ट लौकिक पदार्थ सामान्य-विशेषवान् होता है। उसमें एक अवधानसे एक अंशका और दूसरे अवधानसे दूसरे अंशका इस प्रकारसे अनेक विशेषोंका ग्रहण करनेके लिए अनेक अवधानकी आवश्यकता हो सकती है, परन्तु सामान्य और विशेषसे रहित निर्विशेषब्रह्मविषयक प्रमाकी उत्पत्तिके लिए अभ्यासकी क्या अपेक्षा? ठीक है, जो पुरुषधौरेय सकृत्श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ब्रह्मतत्त्वका अनुभव कर सकता है, उसके प्रति अभ्यास अनर्थक है, यह मानते हैं, किन्तु जिनको एक बारके श्रवणसे तत्त्वज्ञान नहीं होता, उनके लिए आवृत्ति सार्थक और आवश्यक है; अतएव छान्दोग्यमें 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' यह श्वेतकेतुके प्रति उपदेश होनेपर श्वेतकेतुने फिर कहा कि भगवन्! मेरे प्रति पुनः कहिये, इस प्रकार तत्तत् शङ्काके कारणोंकी निवृत्तिके लिए नौ बार 'तत्त्वमसि' कहा गया है।

शङ्का—आपने पूर्वमें यह कहा है कि सकृत् श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य यदि स्वार्थका अनुभावक नहीं होगा, तो आवर्तमान भी उक्त वाक्य स्वार्थका अनुभावक नहीं होगा।

उत्तर—हाँ, कहा था, पर देखते हैं कि सकृत्श्रुत उक्त वाक्य मन्दमतिको स्वार्थका बोधन नहीं करा सकता, परन्तु आवर्त्यमान उक्त वाक्य प्रथम मन्दरूपसे प्रतीत

स्वार्थकी, आभासके निराकरण द्वारा, समीचीन प्रतिपत्ति कराता है। 'तत्त्वमसि' यह वाक्य त्वंपदार्थको तत्पदार्थका स्वरूप बतलाता है। तत्पदसे प्रकृत जगज्जन्म आदिका कारण सदीक्षणकर्त्ता ब्रह्म विवक्षित है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'अदृष्टं द्रष्टृ·······अविज्ञातं विज्ञातृ', 'अजमजरममरम्', 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम-दीर्घम्' इत्यादि प्रसिद्ध ब्रह्म यहां तत्पदार्थ है। अज आदि शब्दोंसे जन्मादि भाव-विकारकी निवृत्ति कही गई है। अस्थूल आदि शब्दोंसे स्थौल्यादि द्रव्यधर्मकी निवृत्ति और विज्ञान आदि शब्दोंसे चैतन्य प्रकाशात्मक कहा गया है। जैसे ब्रह्म सकल संसारधर्मोंसे रहित अनुभवात्मक तत्पदार्थ वेदान्तमतमें प्रसिद्ध है वैसे ही त्वंपदार्थ प्रत्यगात्मा श्रोता भी देहसे लेकर प्रत्यगात्मरूपसे सम्भाव्यमान चैतन्य-तक निश्चित है।

अब जिन पुरुषोंको तत् और त्वं पदार्थमें अज्ञान, संशय और विपर्यय हैं, उनको 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थकी प्रमा नहीं होती, क्योंकि पदार्थज्ञानपूर्वक वाक्यार्थज्ञान होता है, अतः पदार्थज्ञानके लिए शास्त्र तथा युक्तिका अभ्यास आवश्यक है। यद्यपि ज्ञातव्य आत्मा निरंश है, तथापि बहुत पदार्थ आरोपित हैं, जैसे देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदन आदि, इसलिए एक-एकके अवधानसे एक-एक आरोपित अंशकी निवृत्ति की जाती है; इसलिए शास्त्र और युक्तिका अभ्यास अपेक्षित है, एवं आत्मानुभवसे पूर्वमें ही अपेक्षित है। जिन पुरुषरत्नोंमें अज्ञान आदि प्रतिबन्धक नहीं हैं, उन महात्माओंको 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य एक-बार श्रवणसे ही स्वार्थका बोधन कराता है। अतएव उनके लिए आवृत्त्यादि निरर्थक ही हैं। एक बार उत्पन्न हुई ब्रह्मात्मप्रतिपत्ति अविद्याको निवृत्त करती ही है, अतः इसमें कोई क्रम नहीं है। यद्यपि यह ठीक है, तथापि ऐसी प्रतिपत्ति तो किसीको होती नहीं है, क्योंकि आत्मामें दुःखित्व आदिकी प्रतीति प्रबल है, अतः कोई भी आत्मामें दुःखाभावकी प्रतीति नहीं कर सकता; नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे देहाभिमान मिथ्या है वैसे ही दुःखाभिमान भी मिथ्या है और इसका प्रत्यक्ष है—। देहके दाहसे 'अहं दग्धः' यह प्रतीति होती है, पर 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' इत्यादि श्रीभगवद्वाक्यसे आत्मामें दाह आदि नहीं हो सकते, किन्तु देहके दाहका आत्मामें आरोप कर 'अहं दग्धः' यह मिथ्या प्रतीति होती है। फलितार्थ यह है कि जिस पुरुषको 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ब्रह्मात्मा-नुभव शीघ्र न हो, उसके लिए आवृत्ति आवश्यक है और जिसको 'तत् और त्वम्'

भ्रान्तांशानां निवर्त्यानां बाहुल्येन पदार्थयोः ।
क्रमेण तन्निवृत्त्यर्थमावृत्तिस्तत्र युज्यते ॥ ३०२ ॥
पदार्थयोः शोधितयोरेकतां नेत्रवद्वचः ।
सकृदेवाऽवगमयेत्तत्राऽऽवृत्तिर्निरर्थिका ॥ ३०३ ॥

---

पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है, उसको उक्त वाक्यसे उक्त अर्थका बोध हो जाता है, इसलिए ऐसे पुरुषके लिए आवृत्ति निरर्थक है । सारांश यह है—तत् और त्वम् पदार्थके शोधनके लिए अभ्यासकी आवश्कता है, जिसको तत्त्वंपदार्थका परिशुद्ध ज्ञान है, उसके लिए शास्त्र तथा युक्तिके अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है ॥३०१॥

**'भ्रान्तांशानाम्'** इत्यादि । यद्यपि आत्मा निरंश है, तथापि कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक कल्पित धर्म आत्मामें भ्रान्तिसे प्रतीत होते हैं, इसलिए एक-एक धर्मके निरासके लिए एक-एक अवधान आवश्यक है अर्थात् क्रमसे—एकावधानसे—एक धर्मका निराकरण किया, द्वितीयावधानसे द्वितीय धर्मका निराकरण किया, इस प्रकार जितने कल्पित धर्म तत्त्वंपदार्थमें प्रतीत होते हैं, उन सबके निराकरणके लिए उतने अभ्यास तो आवश्यक हैं, सब धर्मोंका निराकरण करनेपर शुद्धात्मा ज्ञात होता है ॥ ३०२ ॥

पदार्थशुद्धिके अनन्तर ब्रह्मात्मैक्यबोध एक-बारके श्रवणसे होता है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—**'पदार्थयोः'** इत्यादिसे ।

तत् और त्वम् पदार्थके परिशोधनके बाद सकृत् प्रयुक्त 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य जीवब्रह्मकी एकताका बोध कराते हैं, अतः इस कार्यके लिए आवृत्ति निरर्थक ( निष्प्रयोजन ) है । एकताके ग्रहणमें दृष्टान्त देते हैं—**'नेत्रवत्'** । जैसे शुक्लत्व आदि गुण द्रव्यातिरिक्त हैं । इसके लिए उपपत्तिकी आवश्यकता है, क्योंकि सांख्यादि शास्त्रकार शुक्लादि गुणविशिष्टको ही द्रव्य मानते हैं, अतिरिक्तको नहीं और नैयायिक गुणोंको द्रव्यसे अतिरिक्त मानते हैं । इसके लिए स्वस्वमतानुसारी युक्तिकी अपेक्षा होती है । अभेदके साधनके लिए युक्तिकी अपेक्षा होनेपर भी 'शुक्लो घटः' इत्यादि शुक्ल और घटके अभेदकी प्रतीति नेत्रसे ही हो जाती है । फिर एकताके प्रत्यक्षके लिए युक्ति आदिकी अपेक्षा नहीं है, वैसे ही जीवब्रह्मामेदके प्रमाण आदि द्वारा ज्ञात होनेपर 'तत्त्वमसि'

रत्नतत्त्वपरीक्षायामपि सूक्ष्मार्थलक्षणे ।
नेत्रस्य प्रसरायैव स्यादावृत्तिर्न दृष्टये ॥ ३०४ ॥
प्रसृते तु क्षणेनैव चक्षुस्तत्त्वं प्रपश्यति ।
एवं जीवस्य वाक्येन मीयते ब्रह्मता क्षणात् ॥ ३०५ ॥
नित्यापरोक्ष्यं जीवस्य तदेव ब्रह्मतां वचः ।
अनुभावयते तत्र नाऽऽवृत्तिरनुभूयते ॥ ३०६ ॥

आदि वाक्यसे तत्क्षण ही उनके अभेदकी प्रतीति हो जाती हैं । एतदर्थ आवृत्तिकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३०३ ॥

यहाँपर यह शङ्का होती है कि नेत्र भी सन्निकृष्ट रत्नादि वस्तुके परीक्षणके लिए दर्शनावृत्तिकी अपेक्षा रखता है । सकृद्दर्शनमात्रसे दुष्ट रत्नका परिज्ञान नहीं होता, किन्तु इसके लिए जौहरी लोग भी बार-बार रत्नको देखते हैं, इसलिए प्रकृतमें 'नेत्रवत्' यह दृष्टान्त असंगत है, इसके उत्तरके लिए कहते हैं—'**रत्नतत्त्व०**' इत्यादिसे ।

रत्नतत्त्वकी परीक्षामें भी सूक्ष्म सदसद्विशेषपर्यन्त दृष्टिके पहुँचनेके लिए आवृत्ति अपेक्षित होती है अर्थात् हेयोपादेयतासूचक मणिगत सूक्ष्मविशेषके साथ प्रथम बार दृष्टिका सम्बन्ध नहीं होता । स्थूलका ग्रहण तो साधारण दृष्टिसे भी हो जाता है । किन्तु सूक्ष्मविशेष तो मनोवधानपूर्वक अनेक बार देखनेसे ही इन्द्रियसम्बद्ध होता है । इन्द्रियसम्बद्ध होनेपर अवगत हो जाता है । अवगतके लिए पुनः पुनः दर्शनकी अपेक्षा नहीं होती, इसलिए 'नेत्रवत्' यह दृष्टान्त प्रकृतमें पूर्णतया लागू है ॥ ३०४ ॥

इसी विषयको अतिस्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—'**प्रसृते**' इत्यादिसे ।

दृष्टान्तसिद्ध अर्थको दार्ष्टान्तिकमें कहते हैं—रत्नगत विशेष धर्म तक चक्षुका प्रसर ( गमन ) होनेपर क्षणमात्रमें चक्षु रत्नतत्त्वका ग्रहण कर लेता है । एतदर्थ पुनः पुनः दर्शनावृत्तिकी जरूरत नहीं है । इसी तरह तत् और त्वम् पदार्थकी शुद्धिके बाद सकृत् श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य द्वारा क्षणभरमें ही जीवमें ब्रह्मस्वरूपताका समुद्बोध हो जाता है । अतः प्रत्ययावृत्ति अपेक्षित नहीं होती ॥ ३०५ ॥

'**नित्यापरोक्ष्यम्**' इत्यादि । चक्षु जैसे सन्निकृष्टका बोधक होता है, वैसे

**व्याधम्मन्यो राजपुत्रो राजतामाप्तवाक्यतः ।**
**स्वस्याऽनुभवितुं नैव वाक्यावृत्तिमपेक्षते ॥ ३०७ ॥**

ही वाक्य प्रमाणान्तरानपेक्ष होकर आत्मामें ब्रह्मत्वका बोधन करता है। यद्यपि यह ठीक ही है, तथापि अपरोक्षानुभवके लिए आवृत्तिकी अपेक्षा आवश्यक ही है, क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषको शब्दका श्रवण होनेपर भी परोक्ष ज्ञान ही होता है, अतः अपरोक्षानुभवके लिए प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यानकी आवश्यकता है। यद्विषयक निरन्तर ध्यान किया जाता है, तद्विषयक साक्षात्कार होता है, यह सर्वानुभव-सिद्ध है, अतः जीवमें ब्रह्मत्वकी अपरोक्षताके लिए प्रत्ययावृत्तिकी सर्वथा अपेक्षा है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अपरोक्षवस्तुविषयक निश्चयके बिना अपरोक्ष नहीं होता, यह पहले कह चुके हैं। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्म साक्षात् अपरोक्षानुभवस्वरूप है, अतः तद्विषयक वाक्यजन्य ज्ञान स्वतः अपरोक्ष-स्वरूप होता है। इसके लिए प्रत्ययावृत्तिकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ३०६ ॥

उक्तार्थका ही उदाहरणपूर्वक उपपादन करते हैं—'**व्याधम्मन्यो**' इत्यादिसे।

प्रबल शत्रुसे पराभूत होकर कोई राजा वनमें चला गया। 'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' इस न्यायसे कोई व्याध छोटे राजपुत्रको चुराकर अपने घर ले गया। व्याधोंके शिशुओंके साथ रहनेसे तथा खान, पान आदि आचरणोंसे वह राजपुत्र अपनेको व्याध मानने और कहने लगा। पूर्वपुण्यवश कोई महात्मा उस राजपुत्रको देखकर सोचने लगा कि यह व्याधाचारी बालक व्याध नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी आकृति व्याधाकृतियोंसे विलक्षण है और इसके हस्त, मस्तक आदिकी रेखाओंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हो न हो यह राजपुत्र है। पुरातन दुरदृष्टवश यह व्याधोंके हस्तगत हुआ है और अज्ञानवश अपनेको व्याध समझता है। इसमें राजपुत्रोंके संस्कार हैं, किन्तु व्याध-संस्कारोंसे वे अभिभूत हो गये हैं, पर समझानेसे अभिभूत राजपुत्रसंस्कार समुद्बुद्ध होकर व्याधसंस्कारको समूल नष्ट कर देंगे और यह बालक फिर अपनेको राजपुत्र मानकर, व्याधके आचरणोंका त्यागकर स्वकुलपरम्परागत सदाचारोंका पालन करेगा, और अपनेको राजा समझ कर अपना उद्धार कर सकेगा। यह सोच-समझकर उक्त महापुरुषने कहा कि बच्चा, तुम कौन

ननु विज्ञाय कुर्वीत प्रज्ञामित्यनुशासनात् ।
ऊर्ध्वं चाऽऽवृत्तिरिति चेत्तत्सत्यं नहि संशयः ॥ ३१० ॥
नैतावताऽवकाशोऽस्ति त्वन्मतस्याऽत्र कश्चन ।
नैवाऽनुभूतिसिद्ध्यर्थमिदं श्रौतानुशासनम् ॥ ३११ ॥

वाक्यार्थबोधके बाद श्रुतिसे ही प्रत्ययावृत्तिका विधान प्राप्त होता है, ऐसी शङ्का करते हैं—'**ननु विज्ञाय**' इत्यादिसे ।

पूर्वपक्षीका यह अभिप्राय है कि सकृत् ब्रह्मज्ञान मुक्तिका कारण नहीं है, किन्तु प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यान मुक्तिके लिए श्रुतिमें विहित है, क्योंकि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुतिमें उपासना-परपर्य्याय निदिध्यासनका विधान है। तथा 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस श्रुतिसे वेदान्त वाक्य द्वारा ब्रह्मका ज्ञान होनेपर प्रज्ञा—उपासना—करनी चाहिए, यह प्रतीत होता है। 'अनुविद्य विजानाति' इस वेदान्तवाक्यमें 'ब्रह्म अनुविद्य' (ब्रह्मको जानकर) ब्रह्मवेदनोत्तर 'विजानाति' से उपासनाका विधान है । उक्त शब्दका उपासना भी अर्थ है । 'ॐ इत्येवात्मानं ध्यायथ', 'निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' दर्शनार्थक चाय् धातुसे निचाय्यशब्द बना है। 'आत्मानं लोकमुपासीत' इससे ज्ञान उपासनाशब्दवाच्य है, यह निश्चय होता है। 'निदिध्यासितव्यः' इसके साथ उक्त वाक्योंका एक अर्थ होनेके लिए पूर्वोक्त वाक्योंसे ध्यानका ही विधान है । यद्यपि वेदनादि ज्ञानसामान्यवाची शब्द हैं, ध्यानरूप ज्ञानविशेषके वाची नहीं हैं अनुक्त और आकांक्षित स्वीकारके लिए सर्वशाखाप्रत्ययन्याय प्रसिद्ध है, इसका अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण शाखाओंमें प्रतीत अर्थका ग्रहण करना चाहिये। एक शाखामात्रमें उक्त अर्थका नहीं। शाखान्तरमें 'ध्यायथ, उपासीत' इत्यादि ध्यानपर-पर्याय पद स्पष्ट ही उपासनाके विधायक हैं, इसलिए 'विज्ञाय प्रज्ञाम्' इत्यादिमें प्रज्ञाविज्ञानादिका अर्थ ज्ञानविशेष ध्यान ही मानना उचित है । अनुविद्य और विज्ञाय इन वाक्योंसे विज्ञानका अनुवाद कर प्रज्ञादिशब्दसे ध्यानका विधान विवक्षित है । ज्ञानके बिना ध्यान नहीं हो सकता इसलिए ध्यानोपकारक ज्ञानका अनुवाद आवश्यक है । यदि सामान्यवाचक शब्द विशेषपरक मानते हैं, तो प्रज्ञादि-शब्द ध्यानरूप ज्ञानविशेषपरक ही हैं। श्रवणरूप ज्ञानविशेषपरक क्यों नहीं

विज्ञायेत्यनुभूतिं तां वाक्यजन्यामुपेत्य तु ।
विदधाति तदैकाग्र्यं बहिश्चित्तनिवृत्तये ॥ ३१२ ॥

मानते इसमें क्या विनिगमक है ? इसमें विनिगमक यह है कि जैसे 'विज्ञाय' और 'अनुविद्य' ये अनुवादक हैं वैसे ही 'श्रोतव्यः' यह वाक्य भी अनुवादक है विधायक नहीं है, क्योंकि वेदार्थज्ञानके लिए श्रवणमें स्वतः प्रवृत्ति होती है, अतः प्राप्त होनेसे तदंशमें अपूर्व विधि नहीं हो सकती और स्वतः पुस्तक-निरीक्षण आदिकी व्यावृत्तिके लिए नियमविधि भी नहीं है, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस श्रुतिसे ही स्वतोनिरीक्षण आदिकी व्यावृत्ति सिद्ध है और 'गुरुमेवाभिगच्छेत्' इत्यादि वाक्यसे भी उसकी व्यावृत्ति सिद्ध है, अतः ध्यानमें ही विधि है। अतएव व्यास भगवान्‌ने अपवर्गोपयोगी ज्ञानके विधानकी इच्छासे 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस सूत्रसे ध्यानका ही विधान किया है। इसीसे भाष्यकारने 'सकृत्प्रत्ययं कुर्याच्छब्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत्' यह पूर्वपक्ष कर 'सिद्धन्तूपासनाशब्दात्' इत्यादि असकृत् आवृत्त ज्ञान मोक्षसाधन है यह निर्णय किया है, इत्यादि पूर्वपक्षका संक्षेप है ।

उत्तर—'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस वाक्यसे प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यानका विधान है यह ब्रह्मज्ञानोत्तर ही है। यह भी ठीक है, इसमें संशय नहीं, क्योंकि विज्ञाय इस पदके स्वरससे ब्रह्मज्ञानोत्तर काल ही ध्यानमें प्रतीत होता है तो भी आपके मतका कोई यहां अवसर नहीं है। कारण ब्रह्मानुभूतिकी सिद्धिके लिए श्रौत-विधान नहीं है तो फिर किस प्रयोजनके लिए उक्त विधान है ॥३११॥

सो कहते हैं—**'विज्ञायेत्यनुभूतिम्'** तत्त्वमस्यादि वाक्यसे जन्य मोक्षोपयोगी आत्मज्ञान होनेपर भी प्रारब्ध कर्मके वश शरीरेन्द्रियादि रहते ही हैं, कदाचित् पूर्व-संस्कारवश फिर अनात्म बाह्यपदार्थविषयक चित्तवृत्ति न हो, इसलिए जीवन्मुक्ति दशामें प्रज्ञादिशब्दसे ध्यानका विधान है। जीवन्मुक्तिके और परममुक्तिके भेदसे मुक्ति दो प्रकारकी है। परममुक्ति उन महापुरुषोंको सकृत् जायमान तत्त्वमस्यादि-वाक्यार्थके ज्ञानसे होती है, जो प्रारब्ध कर्म सम्पूर्ण भोग चुके हैं 'तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादि वाक्यसे तावत्पदके स्वारस्यसे प्रारब्धकर्माधीन शरीरपातके अतिरिक्त कोई ध्यानादि साधनान्तरकी अपेक्षा नहीं। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि वाक्यसे यही अर्थ सिद्ध होता है। अतः उनके लिए आवृत्तिका विधान नहीं, किन्तु जो जीवन्मुक्त हैं उनको उक्त वाक्यसे तत्त्वज्ञान तो अवश्य

विवक्षितोपयोगोऽत्र वाक्यशेषेण वर्णितः ।
नाऽनुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ३१३ ॥
ननु मुक्ते प्रवृत्तायाः श्रुतेर्दृष्टार्थवर्णनम् ।
अयुक्तमिति चेन्नैवं जीवन्मुक्त्यर्थमीरणात् ॥ ३१४ ॥

---

हुआ पर अभी निःशेष कर्मोंका उपभोग नहीं हुआ । अतः प्राचीन कर्मादिवश चित्तविक्षेप होनेपर पुनः अनात्मपदार्थविषयक चित्तवृत्ति हो जायगी, इस शङ्कासे उन लोगोंके लिए प्रज्ञादि शब्दोदित ध्यानका विधान है ॥३१२॥

इसमें क्या विनिगमक है कि मुक्तिके लिए ध्यानका विधान नहीं बाह्य-विषयक चित्तवृत्तिके निरोधके लिए ही उक्त विधान है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए उक्तार्थमें श्रौतार्थवादवाक्य विनिगमक हैं, ऐसा कहते हैं—'**विवक्षितोप०**'इत्यादिसे।

यदि अन्तर्मुख चित्तवृत्ति न होगी तो बाह्यशब्दादिविषयक ध्यान भी समय-समयपर हो जायगा। इससे इन्द्रियग्लानि—इन्द्रियादि-दुःख—भी होगा, अतः इन्द्रियादि-दुःखनिवृत्तिके लिए ध्यानकी विधि है। उदाहृत वाक्यशेषसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाह्यविषयक चित्तवृत्तिका फल है दुःख, उसकी निवृत्तिके लिए सदा अन्तर्मुख चित्त रहे, इसलिए उक्त विधि है। दुःखनिवृत्ति लौकिक फल है, क्योंकि पशु आदि भी दुःखनिवृत्ति-की चेष्टा करते हैं इसलिए कि दुःख होनेपर सुख न होगा। कारण सुख और दुःख छाया और आतपकी तरह विरुद्ध हैं दोनोंका एकत्र सहावस्थान नहीं होता। यदि दुःख न होगा तो सुख अवश्य होगा। अतः दुःखनिवृत्ति सुखविशेष है। दुःखनिवृत्ति स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु सुखके लिए दुःखनिवृत्ति एष्टव्य है। अतएव निःशेष दुःखनिवृत्त्युपलक्षित सुखात्मस्वरूप मोक्ष माना जाता है। अन्यथा नैयायिकोक्त अशेष दुःखकी निवृत्ति ही मोक्ष है। यह भी पुरुषार्थ हो सकता है, तो इसका निराकरण असंगत हो जायगा। इसलिए मुख्य पुरुषार्थ सुखप्राप्ति ही है दुःखनिवृत्ति तदुपसर्जन है। यही सिद्धान्त युक्तियुक्त है। इस प्रकार मुख्य पुरुषार्थपरक श्रुति हो सकती है। तो गौण पुरुषार्थपरक उक्त श्रुतिकी व्यवस्था ठीक नहीं है ॥ ३१३ ॥

यही शङ्का करते हैं—'**ननु मुक्ते प्रवृत्तायाः**' इत्यादिसे ।

मुक्ति पशु आदिसाधारण दृष्ट फल नहीं है, किन्तु वेदैकगम्य होनेसे शास्त्रीय

अबुद्धब्रह्मतत्त्वेऽस्मिन् यद्वज्जन्म भविष्यति ।
तद्वद्बहिर्मुखे चित्ते स्यादेव ग्लानिरिन्द्रियैः ॥ ३१५ ॥

फल है, जिसने वेद आदि शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है, ऐसा मनुष्य भी मुक्तिका स्वरूप नहीं जानता फिर पशु आदिकी बात ही क्या है ? अतः मोक्षके लिए प्रवृत्त श्रुतिका दुःखाभावपरक वर्णन करना अनुचित है, क्योंकि प्रकरणप्राप्त मुक्तिका त्यागकर अप्राकरणिक दुःखाभावका ग्रहण करना 'उपस्थितं परित्यज्य' इस न्यायसे प्रतिकूल है । ठीक है, यदि चित्तैकाग्रताका फल केवल दुःख-निवृत्ति ही कहते, तो आपका यह आक्षेप उचित होता, किन्तु ऐसा नहीं कहते हैं । कहते यह हैं कि चित्तस्थैर्यविधिके निरतिशयानन्दका समुद्बोध और लौकिक ऐन्द्रियक दुःखका अभाव ये दोनों फल हैं । जीवन्मुक्तके लिए फलकी विधि है, परममुक्तके लिए नहीं । जीवन्मुक्तको प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार शरीर आदिका अध्यास है, अतः तत्त्वज्ञान होनेपर भी चित्तकी एकाग्रताके बिना फिर उसमें विषयानुसन्धानप्रसक्तिकी सम्भावना रहती है, इसलिए निरतिशयानन्दात्मस्वरूपबोधनके द्वारा लौकिक ऐन्द्रियक दुःखके अभावके लिए चित्तस्थैर्यमें विधिका अङ्गीकार करते हैं । चित्तस्थैर्य सम्पूर्ण पुण्योंका फल है । श्रौत और स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानसे चित्तकी शुद्धि होती है । तत्त्व-ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक दुरितका नाश होनेपर तत्त्वज्ञान होता है, क्योंकि 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' यह वचन है । ज्ञान होनेपर भी यदि चित्तकी बहिर्मुख प्रवृत्ति होगी, तो फिर बाह्य विषयोंके अनुसन्धानकी प्रसक्ति होगी और उसके द्वारा सांसारिक दुःख होगा, अतः आनन्दस्वरूप आत्माके चिन्तनमें ही मुमुक्षुको सतत तैयार रहना चाहिए । अन्यथा ऐन्द्रियक दुःख होगा, अतः उसकी निवृत्तिके लिए चित्तैकाग्रताकी विधि है । आत्मामें तो वस्तुतः दुःखादि हैं ही नहीं । हां, परन्तु शरीरादिगत दुःखका अज्ञानवश आत्मामें आरोप होता है । जैसे अज्ञ पुरुष दर्पणादिगत मालिन्यका मुखमें आरोप कर मुखको मलिन समझता है, वैसे ही संसारी जीव आरोपित शरीरादिगत दुःखको आत्मगत दुःख समझते हैं ॥ ३१४ ॥

तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्माका यथार्थज्ञान होनेपर जब आरोपित दुःख भी निवृत्त ही हो जाता है, तब फिर बहिर्मुख प्रवृत्तिके होनेपर भी दुःखकी अनुवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'अबुद्ध०' इत्यादिसे ।

जीव यद्यपि ब्रह्मस्वरूप है, तथापि ब्रह्मकी उत्पत्ति आदि विकृति नहीं होती और

अथाऽसङ्गस्य न ग्लानिरिति चेदिदमेव हि ।
पर्यालोचनमत्रोक्तं श्रुत्याऽक्षग्लानिवारकम् ॥ ३१६ ॥
बुद्धतत्त्वस्य यस्यैतत्स्वतःसिद्धं न तं प्रति ।
विधत्तेऽन्यं त्वनात्माभिमुखं प्रति विधीयते ॥ ३१७ ॥

जीवकी उत्पत्ति आदि विकृति देखते हैं, इसलिए यह मानना आवश्यक है कि ब्रह्मात्मबोध होनेपर ही उत्पत्ति आदि विकृति नहीं होती, अन्यथा उत्पत्ति आदि विकृति होती हैं। 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इस न्यायसे यही कल्पना की जाती है और मानी भी जाती है। इसी तरह तत्त्वज्ञान होनेपर चित्तकी स्थिरताके बिना दुःखानुवृत्ति दुष्परिहर है। श्लोकका भाव यह है कि अज्ञका जैसे जन्म होता है, वैसे ही चित्तके बहिर्मुख—बाह्यविषय—होनेसे इन्द्रियकी ग्लानि—दुःख—अवश्य होगी, इसलिए चित्तस्थैर्यकी विधि है ॥ ३१५ ॥

**'अथाऽसङ्गस्य'** इत्यादि। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे यद्यपि पुरुषमें किसी भी पदार्थका सम्बन्ध नहीं है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। फिर भी ज्ञानी तो शुद्धात्मस्वरूप ही अपनेको जानता है, इसलिए चित्तस्थैर्यविधि सर्वथा व्यर्थ ही है, यदि यह शङ्का हो, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इसीका सतत स्मरण करनेके लिए उक्त विधि है, अन्यथा दुःखकी अनुवृत्ति दुर्वार होगी, अतः इन्द्रियादिगत दुःखनिवृत्तिके लिए आत्मा असङ्ग है, इसका सतत पर्यालोचन ( विचार ) करना जीवन्मुक्तके लिए आवश्यक है। 'समाहितो भूत्वा' इत्यादि अनुशासनसे आत्मबोधके लिए जो पहले ही चित्त एकाग्र कर चुके हैं, उन पुरुषोंके लिए तत्त्वज्ञानोत्तर चित्तस्थैर्यका विधान अनावश्यक है ॥ ३१६ ॥

विधिके बिना भी उनका चित्त स्वतः स्थिर है और सिद्धका विधान हो भी नहीं सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'बुद्धितत्त्वस्य'** इत्यादि।

हाँ, ठीक है, जो चित्त एकाग्र कर चुके हैं, उनके प्रति यह विधि नहीं है, किन्तु जो चित्तकी एकाग्रताके सम्पादनके बिना ही तत्त्वज्ञानी हुए हैं, उनके लिए एकाग्रताका विधान आवश्यक है, अन्यथा चित्तके बहिर्मुख होनेसे फिर दुःखकी अनुवृत्ति हो जायगी, इसलिए अधिकारीके भेदसे उक्त विधि अत्यावश्यक है। यह नियम नहीं है कि चित्तके एकाग्र होनेपर ही तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। यह मेरी निजी कपोलकल्पना नहीं है, किन्तु सूत्रकारने भी इसी प्रकारकी व्यवस्था की है ॥ ३१७ ॥

**सूत्रकारोऽत एवाऽऽह निदिध्यासनरूपिणि ।**
**पाण्डित्यबाल्यवाक्यस्थे मौनेऽस्मिन् पाक्षिकं विधिम् ॥३१८॥**

उक्त अर्थमें सूत्रकारकी सम्मति कहते हैं—'सूत्रकारोऽत' इत्यादिसे ।

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' यह बृहदारण्यकका वाक्य है, पाण्डित्यका अर्थ प्रकृतमें श्रवण है, बाल्यका तात्पर्य मननमें है, मौनसे निदिध्यासन विवक्षित है । इसका अर्थ यह है—जिस कारणसे पहलेके ब्राह्मण आत्माको जानकर संन्यासग्रहण कर भिक्षाचरण करते थे, अतः इस समयके ब्राह्मणोंको भी चाहिए कि वेद द्वारा आत्माका श्रवण कर बाल्येन—मननेन—मननसे स्थित होनेकी इच्छा करें अर्थात् श्रवणोत्तर मनन करें । प्रकृत-वाक्यमें श्रवण—आत्मविषयक निश्चयात्मज्ञान—और मनन द्वारा असम्भावनाका निरास करके 'अथ मुनिः' अर्थात् निदिध्यासन करे, यह प्रतीत होता है । यहाँपर यह संशय होता है कि मौनमें विधि है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—मौनमें विधि नहीं है, कारण कि जिसमें विधि-विभक्तिका श्रवण होता है वही विधेय होता है, दूसरा नहीं । 'बाल्येन तिष्ठासेत्' इस वाक्यमें बाल्यमें—मननमें—विधिविभक्तिका श्रवण है, अतः वही विधेय है, मौन नहीं । विधिविभक्तिका मौनमें श्रवण नहीं है, जैसे ब्राह्मणमें विधिविभक्ति नहीं है, अतः वह विधेय नहीं है, वैसे ही मौन भी विधेय नहीं है । मौन भी पाण्डित्यसमानार्थक है, अतः 'पाण्डित्यं निर्विद्य' इस वाक्यसे पाण्डित्यका विधान होनेसे मौन सिद्ध ही है । अपि च 'अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः' यहांपर पूर्वप्राप्त ब्राह्मणमें जैसे विधि नहीं है, किन्तु प्रशंसावाद है, वैसे ही 'अथ मुनिः' यहांपर भी मौनमें विधि नहीं है, किन्तु प्रशंसावाद ही है ।

सिद्धान्त—विद्यासहकारी मौनमें बाल्य और पाण्डित्यके समान विधि ही है । पाण्डित्य मौनसमानार्थक नहीं है, अतः पाण्डित्यसे मौनकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए अपूर्व होनेसे मौनकी विधि ही है । 'मननात् मुनिः' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञानातिशयवाची मुनिशब्द है, अतः बाल्य और पाण्डित्यकी अपेक्षासे तीसरे ज्ञानातिशयरूप मौनका विधान है । जो यह कहा गया है कि जिसमें विधिविभक्तिका श्रवण रहता है, वही विधेय होता है, सो ठीक है,

न विध्यर्हो बुद्धतत्त्व इति चेद्वासनाबलात् ।
अबुद्ध इव संक्लिश्यन्विधिं ध्याने तदाऽर्हति ॥ ३१९ ॥
अप्रमत्तो यदा योगी तदा माभूदयं विधिः ।
ज्योतिष्टोमो न विहितः स्वर्गस्थपुरुषं प्रति ॥ ३२० ॥

यहां भी विधिविभक्तिका सम्बन्ध किया जा सकता है, क्योंकि 'मुनिः स्यात्' ऐसा करनेसे विधिविभक्तिका यहां भी श्रवण हो सकता है। अतः पूर्वोक्त नियमका व्यभिचार नहीं है। यदि कहिए कि विद्वान् होनेसे अतिशय तो स्वतः प्राप्त है, अतः मौनमें विधि मानना निष्प्रयोजन है, तो यह भी ठीक नहीं है, कारण कि विद्वान् होनेपर अनेकजन्मप्राप्त भेददर्शनकी प्रबलतासे जिनको जीव और ब्रह्मका अभेदज्ञान नहीं होता, उनके लिए मौनविधि आवश्यक है। इससे निदिध्यासनापरपर्य्याय ध्यानका विधान अधिकारिविशेषकी अपेक्षासे पाक्षिक है, नियत नहीं है ॥ ३१८ ॥

विद्वान्‌के लिए विधि नहीं है, क्योंकि वह स्वयं कृतकृत्य है, ऐसी शङ्का करते हैं—'**न विध्यर्हो**' इत्यादिसे।

विद्वान् विध्यर्ह नहीं है। यहांपर विद्वान् शब्दसे सवासन विद्वान् विवक्षित है अथवा निर्वासन? प्रथम पक्षमें वासनानिवृत्तिके लिए अज्ञकी तरह विद्वान्‌के लिए भी विधि आवश्यक है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—सवासन विद्वान् वासनाके प्रभावसे अविद्वान्‌के सदृश क्लेशानुभव करता हुआ सर्वथा विधियोग्य है। ध्यानके बिना वासनाकी निवृत्ति नहीं होती और वासनाकी निवृत्तिके बिना क्लेशकी निवृत्ति नहीं होती, अतः क्लेशकी निवृत्तिके लिए विद्वान् तथा अविद्वान् सबके लिए ध्यानकी विधि आवश्यक है ॥ ३१९ ॥

निर्वासन विद्वान् विधियोग्य नहीं है, यह स्वीकार करते हैं—'**अप्रमत्तो**' इत्यादिसे।

वासनाकी निवृत्तिके लिए ध्यानकी विधि है, किन्तु जिनकी वासना पूर्वजन्मार्जित ध्यानादि उपायसे निवृत्त हुई है, उनके लिए ध्यानकी विधि नहीं है। फलके सिद्ध होनेपर साधनका विधान नहीं होता, इसमें दृष्टान्त है—अप्राप्तस्वर्ग पुरुषके लिए ज्योतिष्टोम यागका विधान है, स्वर्गस्थ पुरुषके लिए ज्योतिष्टोमका विधान नहीं है। उक्त यागका अधिकारी स्वर्गस्थ पुरुष नहीं है 'अप्रमत्त' इस विशेषणसे योगीमें स्वयंबाह्यविषयपराङ्मुखत्व सूचन करते हैं। इससे तदीयचित्तवृत्ति बहिर्मुख नहीं हो सकती, जिससे निरोधोपाय ध्यानकी आवश्यकता हो ॥ ३२० ॥

वासनाभिः क्लिश्यतोऽस्य ध्यानवन्नैव कर्मसु ।
विधिः प्रसज्यते यस्मात् कर्म क्लेशं न वारयेत् ॥ ३२१ ॥
यदि सेवेत कर्माणि तृडार्त्तोऽग्निं च सेवते ।
तृड्वृद्धिरग्निदाहाच्चेत् क्लेशवृद्धिश्च कर्मतः ॥ ३२२ ॥
ध्यानं तु सावधानत्वमात्रत्वान्नहि दुःखकृत् ।
प्रत्युताऽऽनन्दमुद्बोध्य पूर्वदुःखं तु वारयेत् ॥ ३२३ ॥

यदि विद्वान्‌के लिए भी विधि मानते हैं, तो ध्यानके समान अग्निहोत्रादि कर्म भी उनके लिए विहित हैं, यह भी स्वीकार करना पड़ेगा, ऐसा माननेपर पुनः संसारित्वकी प्रसक्ति हो जायगी। ठीक है, यदि अग्निहोत्रादिका अधिकार होगा, तो संसारित्वकी प्रसक्ति अनिवार्य है, किन्तु अग्निहोत्रादि कर्म वासनावर्द्धक हैं। मुमुक्षु वासनाकी निवृत्ति चाहता है, इसलिए वह वासनावर्द्धक अग्निहोत्रादि कर्मका अधिकारी नहीं है, यही कहते हैं—'**वासनाभिः**' इत्यादिसे।

वासनाओंसे क्लेश पाते हुए योगीके लिए ध्यानकी तरह कर्ममें विधि नहीं है, क्योंकि कर्म क्लेशका निवारक नहीं हो सकता, प्रत्युत वर्द्धक हो सकता है ॥ ३२१ ॥

'**यदि सेवेत**' इत्यादि। पिपासाकुल पुरुष यदि अग्निका सेवन करे, तो प्यास अधिक बढ़ेगी, इसलिए जैसे उक्त पुरुष, अग्निसेवन विपरीत फलप्रद है, यह समझकर उसका त्याग करता है, वैसे ही वासनानिवृत्तिकी कामना करनेवाला मुमुक्षु पुरुष भी वासनावर्द्धक कर्मको विपरीत समझ कर उसका त्याग ही करता है, ग्रहण नहीं करता ॥ ३२२ ॥

कर्मानुष्ठानमें जो दोष हैं, वे ध्यानमें नहीं हैं, यह स्पष्ट करते हैं—'**ध्यानन्तु**' इत्यादिसे।

यहां ध्यान मानसी क्रिया विवक्षित नहीं है, किन्तु ब्रह्मविज्ञानमें सावधानत्व-मात्र अभिप्रेत है, यह अग्रिम श्लोकमें स्पष्ट होगा। इसलिए ध्यानमें दुःख-हेतुत्वकी शङ्का अयुक्त है, किन्तु वह ब्रह्मानन्दका समुद्बोधन कर पूर्व दुःखोंको निवृत्त करता है। ध्यान विज्ञानमें सावधानत्वमात्र है, मानसी क्रिया नहीं है। इसकी उपपत्ति करते हैं—यदि मानसीक्रिया ध्यानसे विवक्षित होती, तो प्रज्ञाशब्दका उपादान न होता। 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस श्रुतिमें ध्यानका उपादान

विज्ञाने सावधानत्वमत्र ध्यानं तु न क्रिया ।
इत्यर्थस्य विवक्षायै प्रज्ञाशब्दः प्रयुज्यते ॥ ३२४ ॥
मैत्रेयीब्राह्मणेऽप्येवं निदिध्यासनशब्दतः ।
उपक्रमोपसंहारे विज्ञानमिति वर्णितम् ॥ ३२५ ॥
निदिध्यासस्वेति गिरा यदुक्तं श्रवणाय तत् ।
ऐकाग्र्यं याज्ञवल्क्येन विहितं साधनं तु तत् ॥ ३२६ ॥

---

न कर प्रज्ञाशब्दका उपादान यह स्फुट करता है कि प्रकृतमें मानसी-क्रियात्मक ध्यान विवक्षित नहीं है, किन्तु ज्ञानमें सावधानत्व ही अभिप्रेत है, अन्यथा स्पष्टप्रतिपत्तिके लिए 'विज्ञाय ध्यानं कुर्वीत' ऐसा पाठ होता । इसी तरह 'अनुविद्य विजाति' इस श्रुतिमें भी 'अनुविद्य ध्यानं कुर्वीत' ऐसा पाठ होता, किन्तु ऐसा पाठ नहीं है । इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विज्ञानमें सावधानत्व ही प्रज्ञाशब्दार्थ है, उक्तस्वरूप ध्यान नहीं ॥ ३२४ ॥

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस मैत्रेयीब्राह्मणमें मानसीक्रियात्मक निदिध्यासनके विधानके समान यहाँ भी प्रज्ञाशब्दसे उक्त ध्यानकी ही विधि अभिप्रेत है, इसका निराकरण करते हैं—'मैत्रेयी०' इत्यादिसे ।

याज्ञवल्क्य महर्षिने मैत्रेयीको मोक्षसाधन आत्मदर्शनका उपदेश दिया कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' अर्थात् आत्मदर्शन ही मोक्षसाधन है । आत्मदर्शन कैसे होगा ? इसका उपाय बतलाया—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' अर्थात् श्रवण और मनन । ब्रह्मज्ञ आचार्यसे वेद द्वारा आत्माका प्रथम श्रवण करना चाहिए । तदनन्तर श्रुत अर्थमें संशय, असम्भावना आदिकी निवृत्तिके लिए मनन करना चाहिए । तर्कसे श्रुत अर्थमें उक्त प्रतिबन्धकका निरास करना मनन है । और निदिध्यासन है—प्रत्ययान्तराव्यवहित निरन्तर निश्चयात्मक आत्मभावना । इस प्रकार ब्रह्मविषयक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे ब्रह्मका दर्शन होता है । यद्यपि निदिध्यासनसे ध्यानका भी बोध हो सकता है, इससे श्रवणमननपूर्वक ब्रह्मध्यानसे आत्मदर्शन होता है, यह भी उक्त श्रुतिका अर्थ हो सकता है, तथापि महर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने आगे 'दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन' इस वाक्यसे निदिध्यासन विज्ञानस्वरूप ही प्रकृतमें विवक्षित है, ध्यान नहीं, यह सुस्पष्ट कर दिया है । और उपसंहारके अनुरोधसे उपक्रममें निदिध्यासनका विज्ञान

अर्थाऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात् ।
अबाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः ।। ३४६ ।।
अन्यत्रेवाऽत्र वाक्यार्थो नैव संसृष्टलक्षणः ।
संसर्गलक्षणो वा स्यात्किंत्वखण्डार्थलक्षणः ।। ३४७ ।।
ब्रह्मणो नाऽऽत्मतारूपमब्रह्मत्वं तथाऽऽत्मनः ।
अज्ञानजं द्वयं द्वाभ्यां पदाभ्यां विनिवार्यते ।। ३४८ ।।

---

'अर्थाव०' इत्यादि । अबोधकत्व, सांशयिकत्व और विपर्ययहेतुत्व ये ही अप्रामाण्यके प्रयोजक दोष हैं । शक्तिग्रहोपायका निरूपण करनेसे अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्यकी शङ्काका निराकरण हुआ । दोषके निराकरणसे संशय और विपर्ययका निरास हुआ । इस तरह अप्रामाण्यके कारणका निराकरण करनेसे वेदान्तमें प्रामाण्य सुस्थिर रहा । जैसे घटादि वस्तुमें चक्षुरादि प्रमाण हैं, वैसे ही ब्रह्ममें 'सत्यज्ञानादि' शब्द प्रमाण हैं, और प्रमाणान्तरबाधकी तो शङ्का भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वाक्यार्थ अपूर्व होता है, अतः वह प्रमाणान्तरका विषय नहीं हो सकता । संसर्ग या संसर्गान्वित पदार्थका ही सर्वत्र शब्दसे बोध होता है । अखण्डार्थबोध 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे मानना असङ्गत है, क्योंकि उक्त बोध वाक्य द्वारा होता है, यह लोकमें कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं है ।। २४६ ।।

'अन्यत्रेवाऽत्र' इत्यादि । 'गामानय' इत्यादि वाक्यसे जैसे संसृष्टार्थविषयक शाब्दबोध होता है, वैसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे नहीं होता । मतान्तरमें संसर्गविषयक शाब्दबोध जैसा उक्त वाक्यसे होता है, वैसा यहां भी अभीष्ट नहीं है, किन्तु अखण्डार्थविषयक शाब्दबोध ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे माना जाता है । यही वाक्यार्थबोध अविद्याका निवर्तक होनेसे मोक्षका साधन है, ज्ञानान्तर नहीं । यदि अखण्ड अर्थका उक्त वाक्यसे बोध मानते हो, तो एक ही पदसे उक्त अर्थका बोध हो जाता, फिर पदान्तरका उपादान व्यर्थ है ।। ३४७ ।।

अर्थके बोधनके लिए शब्दका प्रयोग होता है, अदृष्टके लिए नहीं, इस शङ्काकी व्यावृत्तिके लिए कहते हैं—'ब्रह्मणो' इत्यादि ।

यद्यपि शब्दद्वयसे एक अर्थका ही बोध होता है, दो अर्थका नहीं, तथापि दोनों शब्दोंका प्रयोजन है, अतः निष्प्रयोजनत्वप्रयुक्त वैयर्थ्य नहीं है । 'तत' पद

नेहान्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म न चाऽऽत्मा ब्रह्मणोऽन्यतः ।
तादात्म्यमनयोस्तस्मान्नीलोत्पलविलक्षणम् ॥ ३४९ ॥
नीलत्वमुत्पलत्वं च ह्यन्योन्यव्यभिचारिणी ।
आत्मब्रह्मत्वयोर्नाऽस्ति व्यभिचारो मनागपि ॥ ३५० ॥
अब्रह्मानात्मते यद्वदत्राज्ञाननिबन्धने ।
आत्मताब्रह्मते नैवं कल्पिते किन्तु ते स्वतः ॥ ३५१ ॥

---

आत्मामें अज्ञानसे आरोपित अब्रह्मत्वकी निवृत्तिके लिए है और 'त्वम्' पद ब्रह्ममें अज्ञानसे आरोपित अनात्मत्वकी व्यावृत्तिके लिए है, इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' ये दोनों पद सार्थक हैं, अर्थात् 'आत्मैव ब्रह्म ब्रह्मैवात्मा' यह निश्चय उक्त पदद्वयके बिना नहीं हो सकता, इसलिए दोनों पदोंका उपादान आवश्यक है ॥ ३४८ ॥

**'नेहान्यत्राऽऽत्मनो'** इत्यादि । आत्मासे अतिरिक्त ब्रह्म नहीं है और ब्रह्मसे अतिरिक्त आत्मा नहीं है । आत्मा और ब्रह्मका तादात्म्य है, अतएव नीलोत्पलसे यह विलक्षण है । अग्रिम श्लोकसे वैलक्षण्यको ही स्पष्ट करते हैं ॥ ३४९ ॥

**'नीलत्व०'** इत्यादि । 'नीलोत्पलम्' यहांपर नील और उत्पलका जैसा तादात्म्य है, वैसा तादात्म्य आत्मा और ब्रह्मका नहीं है, किन्तु उनसे विलक्षण है । प्रकृतमें नीलत्वसे नीलगुण विवक्षित है, नीलगुणका उत्पलमें तादात्म्यसम्बन्धसे बोध उक्त वाक्यसे होता है, यह वेदान्ती तथा मीमांसकका मत है । नील उत्पलका व्यभिचारी है अर्थात् उत्पलसे अतिरिक्त वस्त्र आदि भी नील होता है एवं उत्पल भी नीलका व्यभिचारी है, क्योंकि सब कमल नीले नहीं होते; रक्त, श्वेत आदि भी कमल होते हैं । प्रकृतमें आत्मत्व और ब्रह्मत्व ये दोनों व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि आत्मासे अतिरिक्तमें ब्रह्मत्व नहीं रहता है और ब्रह्मसे अन्यमें आत्मत्व नहीं रहता है । अतः इन दोनोंका तादात्म्य नीलोत्पलके तादात्म्यसे भिन्न है । अतएव नीलोत्पलकी तरह भेदाभेद नहीं है, किन्तु भेदासहिष्णु अभेद आत्मा और ब्रह्मका है ॥ ३५० ॥

ब्रह्ममें अनात्मत्व और आत्मामें अब्रह्मत्वको जैसें अविद्याकल्पित मानते हैं, वैसे ही आत्मामें ब्रह्मत्व और ब्रह्ममें आत्मत्वको अविद्याकल्पित ही क्यों नहीं मानते ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अब्रह्मानात्मते' इत्यादि ।

**न चाऽत्र नाम्नोः सम्बन्धे षष्ठी प्राप्नोत्यभेदतः ।**
**नरस्य वस्त्रमित्यर्थभेदे षष्ठी प्रयुज्यते ॥ ३५२ ॥**

अनात्मत्व तथा अब्रह्मत्व आत्मप्रतियोगिक भेद और ब्रह्मप्रतियोगिक भेद-स्वरूप हैं, भेद अविद्याकल्पित है, पारमार्थिक नहीं है, कारण कि भेद माननेमें अन्योन्याश्रय दोष है। देखिये—भेद अभिन्नमें रहता है अथवा भिन्नमें ? प्रथम पक्षमें व्याघात है। द्वितीय पक्षमें भेदवान्में भेद रहता है, ऐसा कहनेपर दोनों भेद यदि एक ही हैं, तो आत्माश्रय दोष होता है। जबतक प्रथम भेद नहीं रहेगा तबतक भेदवान् नहीं होगा और जबतक भेदवान् न होगा तबतक भेद नहीं रह सकता, कारण कि भेदवान्में आप भेद मानते हैं। अतः स्वस्थितिमें स्वापेक्षा होनेसे आत्माश्रय दोष दुष्परिहर है। यदि इस दोषका वारण करनेके लिए दो भेद मानें, तो दूसरे भेदको लेकर फिर प्रश्न होता है कि द्वितीयभेद भिन्नमें रहता है या अभिन्नमें। द्वितीय पक्षमें पूर्ववत् व्याघात है। यदि भेद है, तो अभिन्न कहां ? यदि अभिन्न है, तो भेद कैसे रहेगा ? प्रथम पक्षमें द्वितीय भेदको लेकर फिर प्रश्न होता है कि द्वितीय भेद भिन्नमें रहता है या अभिन्नमें ? आद्य पक्षमें यदि दो भेद मानकर यह कहें कि प्रथम भेद लेकर भेदवान्में द्वितीय भेद और द्वितीय भेदसे भेदवान् मानकर प्रथम भेद रहता है, तो अन्योन्याश्रय होगा। द्वितीय भेदसे भेदवान् होनेपर प्रथम भेद रहेगा और प्रथम भेदसे भेदवान् होनेपर द्वितीय भेद रहेगा, ऐसा माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है। यदि अन्योन्याश्रय दोषके परिहारके लिए तीसरा भेद मानें, तो फिर तृतीय भेदको लेकर 'भिन्ने अभिन्ने वा' यह प्रश्न होगा। अभिन्न पक्षमें तो व्याघात ही रहेगा। भिन्न पक्षमें चक्रक और अनवस्था चलती रहेगी और उत्तरोत्तर भेदसे पूर्व-पूर्व भेद व्यर्थ होते जायँगे, कारण कि भिन्न इत्याकारक प्रतीति एक भेदसे भी उपपन्न हो सकती है, इस परिस्थितिमें अनेक भेदकी कल्पना निष्प्रामाणिक है। भेद विद्यमान वस्तुके बिना नहीं हो सकता, अतः भेद पारमार्थिक नहीं है, किन्तु अविद्या-कल्पित है। अभेद स्वतःसिद्ध पारमार्थिक है। ब्रह्मत्व और आत्मत्व एवं ब्रह्म और आत्मा अभेदस्वरूप ही हैं, इसलिए उक्त दो धर्म काल्पनिक नहीं हैं ॥ ३५१ ॥

**'न चाऽत्र नाम्नोः'** इत्यादि। जैसे 'नरः वस्त्रम्' ये समानविभक्तिक दो पद हैं, पर इनका सम्बन्ध अभेद नहीं है, किन्तु 'नरस्य वस्त्रं' (मनुष्यका वस्त्र है) इस प्रकार षष्ठी

न चाऽत्र भेदः सम्भाव्य एकव्यक्त्युपलक्षणात् ।
ब्रह्मात्मार्थपरीक्षायां व्यक्तिरेकोपलक्ष्यते ॥ ३५३ ॥
प्रत्यक्त्वमात्मता तद्वद्ब्रह्मत्वं चाऽद्वितीयता ।
द्वौ प्रत्यञ्चावसम्भाव्यौ तत्रैकस्य पराक्त्वतः ॥ ३५४ ॥

द्वारा भेदघटित स्वस्वामिभाव सम्बन्धकी प्रतीति होती है, वैसे ही 'तत्, त्वम्' ये दोनों पद यद्यपि समानविभक्तिक हैं तो भी 'तस्य त्वं' यह मानकर स्वस्वामिभाव सम्बन्धकी ही प्रतीति मानना उचित है। ऐसा माननेसे अखण्डार्थबोध उक्त वाक्यसे नहीं हो सकता। इस आक्षेपका उत्तर देते हैं—'**न चाऽत्र**' इत्यादिसे। 'तत् और त्वम्' इन दो नामोंके सम्बन्धमें भेदार्थक षष्ठी विभक्तिका ही 'नरस्य वस्त्रम्' इत्यादि स्थलकी तरह प्रयोग ठीक नहीं है, कारण कि नरका वस्त्रके साथ भेद है। अतः भेदार्थक षष्ठीका प्रयोग वहां उचित है। 'तत्त्वमसि' आदि स्थलमें अभेदका ही बोध मानना उचित है। ब्रह्म और आत्माका सर्वथा अभेद ही है, भेद नहीं है॥ ३५२ ॥

'**न चाऽत्र भेदः**' इत्यादि। यदि 'तत्' और 'त्वम्' पदसे अखण्ड एक व्यक्ति विवक्षित है, तो उसमें शब्दप्रवृत्तिनिमित्त धर्म भी नहीं है। स्वप्रवृत्तिनिमित्त धर्मसे रहित अर्थमें उक्त शब्दका प्रयोग ही कैसे होगा? यद्यपि उक्त शङ्का ठीक है कि शक्तिसे उक्त अर्थमें शब्दप्रयोग नहीं हो सकता, तथापि लक्षणासे शब्दका प्रयोग कर सकते हैं। एक व्यक्तिमें लक्षणासे पदसम्बन्ध हो सकता है। आत्मा और ब्रह्म ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं, इसमें कारण यह है कि जैसे ब्रह्मशब्द अपरिछिन्न वस्तुका बोधक है, वैसे ही आत्मशब्द भी अपरिच्छिन्न अर्थका बोधक है। दोनोंमें सार्वात्म्य नहीं हो सकता, इसलिए दोनों एक व्यक्ति हैं॥ ३५२ ॥

'**प्रत्यक्त्व०**' इत्यादि। [ अनिर्वचनीयेभ्यः शरीरेन्द्रियादिभ्यः प्रतीपं सत्त्वेन अञ्चति इति प्रत्यक्। ] शरीरेन्द्रियादि अनिर्वचनीय हैं। उनसे आत्मा प्रतिकूल है अर्थात् 'सत्त्वेन निर्वचनार्ह' है। [ प्रत्यक् चासौ आत्मा च प्रत्यगात्मा। ] प्रत्यगात्माको जैसे प्रत्यक्त्व है वैसे ब्रह्मत्व और अद्वितीयत्व भी स्वतःसिद्ध है और यह भी कारण है कि यदि अद्वितीय ब्रह्म प्रत्यगभिन्न न होगा, तो पराक्त्वेन घटादिके सदृश अनित्य हो जायगा। यही स्पष्ट करते हैं—'**द्वौ**' इत्यादिसे। दो प्रत्यक्की सम्भावना

अतः प्रत्यक्त्वमेवैतदद्वयत्वं न चेतरत् ।
तथाप्यविद्याविभ्रान्तिव्यावृत्त्यर्थं पदद्वयम् ॥ ३५५ ॥
आत्माऽपि सदिदं ब्रह्म मोहात् पारोक्ष्यदूषितम् ।
ब्रह्माऽपि संस्तथैवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते ॥ ३५६ ॥
आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात् ।
अखण्डे निष्ठितं शास्त्रं पुरुषार्थे समीहिते ॥ ३५७ ॥

---

नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त सार्वात्म्य असम्भव हो जायगा । इसलिए एकको अवश्य पराक् मानना पड़ेगा । अतः उक्त दोषके परिहारके लिए प्रत्यक् और ब्रह्मका ऐक्य अवश्य स्वीकार करना चाहिए ॥ ३५४ ॥

उक्त अर्थको ही कहते हैं—'अतः प्रत्यक्त्व०' इत्यादिसे ।

यदि आत्मा और ब्रह्म दोनोंका एक ही अर्थ है, तो एक ही पदसे अर्थका बोध हो जायगा, फिर आत्मा और ब्रह्म इन दोनों पदोंका साथ उच्चारण करना व्यर्थ है, इस शङ्काकी निराकृति पूर्वमें कर चुके हैं, उसीका यहांपर स्मरण कराते हैं—अविद्याजनित भ्रातिनिराकरणके लिए ही पदद्वयका उपादान है ॥ ३५५ ॥

वेदान्तवाक्योंके अखण्डैकरस ब्रह्मात्मामें समन्वयका उपसंहार करते हैं—'आत्माऽपि' इत्यादिसे ।

यद्यपि आत्मा सत्स्वरूप ब्रह्म ही है, तदतिरिक्त नहीं है, तथापि ब्रह्म परोक्ष है, इस प्रकार अज्ञानसे दूषित धारणा हो गई है । एवं ब्रह्म भी सदात्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, किन्तु अज्ञानसे सद्वितीय अर्थात् आत्मातिरिक्त ब्रह्म है, यह विपरीत धारणा हुई है । वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्ममें आत्माभेदके बोधनसे पारोक्ष्यका निराकरण होता है और आत्मामें ब्रह्माभेदका बोधन करानेसे सद्वितीयत्वका निरास होता है । परमानन्द और परमपुरुषार्थस्वरूप ब्रह्मात्मैक्यमें तात्पर्य द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त पर्यवसित होता है ॥ ३५६ ॥

'आत्मा ब्रह्मेति' इत्यादि । 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे पारोक्ष्य और सद्वितीयत्वका बाध होनेसे अखण्ड प्रपञ्चाभावोपलक्षित अनवच्छिन्नचिदानन्दोदासीन ब्रह्मात्मस्वरूपमें परिनिष्ठित वेदान्त शास्त्र मोक्षप्रद है ॥ ३५७ ॥

दृष्टाऽखण्डार्थता वाक्ये प्रत्यभिज्ञापके यतः ।
तद्देतद्देशकालाभ्यां व्यक्तिरेकोपलक्ष्यते ॥ ३५८ ॥

'तत्त्वमसि' आदि वाक्यके 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्यके समान अखण्डार्थत्वका जो निरूपण किया गया है, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्य भी अखण्डार्थक नहीं है, इस प्रकार विप्रतिपन्न पुरुषके प्रति उक्त वाक्यमें अखण्डार्थत्वका स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं—'**दृष्टाऽखण्डार्थता**' इत्यादिसे ।

देश और कालमें दृष्ट देवदत्तका देशान्तर और कालान्तरमें पुनः दर्शन होनेपर 'सोऽयं देवदत्तः' ( जो देशान्तर और कालान्तरमें दृष्ट था वही देवदत्त इस देश और कालमें दृष्टिगोचर हो रहा है ) ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। यह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूप है। इससे देशान्तर और कालान्तरसे विशिष्ट तत्पदार्थका एतद्देश और कालसे विशिष्टके साथ अभेदबोध नहीं हो सकता। तद्देशकालका एतद्देशकालके साथ अभेद प्रत्यक्षादि प्रमाणसे बाधित है, अतः तद्देश और तत्कालका त्यागकर केवल देवदत्तका लक्षणासे बोधक तत्पद है। एवं एतद्देश और कालका त्याग कर केवल देवदत्तका उक्त रीतिसे बोधक 'अयम्' यह शब्द है। विरुद्धांशद्वयका पदद्वयमें त्याग होनेसे पदद्वयसे देवदत्त एक व्यक्ति लक्षित होती है। इस प्रकार दृष्टान्तका समर्थन होनेसे दार्ष्टान्तिकमें भी 'तत्त्वमसि' 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे भी अखण्ड एक व्यक्ति उपलक्षित होती है।

शङ्का—पदद्वयमें लक्षणाकी अपेक्षासे एतद्देशकालविशिष्ट पदार्थस्वरूप तद्देशकालोपलक्षित व्यक्तिमें एतत्पदकी लक्षणा करनेसे भी विरोधका परिहार हो सकता है। यदि तद्देशकालोपलक्षिताभिन्न एतद्देशकालविशिष्ट इत्याकारक बोध माननेसे भेदभ्रमका निराकरण हो सकता है, तो विशिष्टार्थ बोधका त्याग कर एक व्यक्तिमें पदद्वयकी लक्षणा क्यों मानते हो ?

उत्तर—उपलक्षण वह होता है जो कभी उपलक्ष्यमें रहता हो, जैसे 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः'। जो कभी उपलक्ष्यमें नहीं है, वह स्वसंबद्धेतरका व्यावर्त्तक न होनेसे उपलक्षण ही नहीं हो सकता। प्रकृतमें एतद्देशकालवृत्तित्व-विशिष्टमें पूर्वदेशकालवृत्तित्वका सम्भव ही नहीं है, कारण कि एक समयमें दोनोंकी एक व्यक्तिमें स्थिति ही नहीं रहती, अतः तद्देशकालवृत्तित्वविशिष्टका एतद्-

दृष्टस्य देवदत्तस्य दृश्यमानस्य चैकता ।
बुभुत्सिता सोऽयमिति वाक्येन प्रतिपाद्यते ॥ ३५९ ॥

देशकालवृत्तित्वविशिष्टके साथ अभेदप्रतिपादन असम्भव है, इसलिए पदद्वयकी लक्षणा आवश्यक है ।

शङ्का—अच्छा, तो पूर्वकालोपलक्षितमें एतद्देशकालवैशिष्ट्यका तो बोधन हो सकता है, अतः यही क्यों नहीं मानते, ऐसा माननेमें कोई दोष नहीं है और लाघव भी है ।

उत्तर—क्या पूर्वकालोपलक्षितमें एतद्देशकालविशिष्टके अभेदके प्रतिपादनमें आपका तात्पर्य है अथवा पूर्वकालोपलक्षितमें एतद्देशकालवैशिष्ट्यके प्रतिपादनमें तात्पर्य है ? प्रथम पक्षमें उपलक्षितका विशिष्टके साथ अभेद नहीं हो सकता, क्योंकि विशिष्ट और उपलक्षित—अविशिष्ट—का अभेद बाधित है, अन्यथा एतद्देशकालवृत्तित्वविशिष्टकी पूर्वकालमें भी स्थिति हो जायगी । उपलक्षित पूर्वकालमें तद्भिन्न ही विशिष्ट होता है । द्वितीय पक्षमें यदि साक्षात् अभेदका प्रतिपादन हो सकता है, तो परम्परया अभेदका प्रतिपादन अनुचित है । पदद्वयकी लक्षणासे परम्परया भेदका प्रतिपादन ही अच्छा है, क्योंकि उक्त लक्षणा माननेमें गौरव है । साक्षात् भेदके प्रतिपादनकी अपेक्षासे परम्परया अभेदप्रतिपादनमें भी तो बुद्धिगौरव समान ही है, तो भी पदद्वयकी लक्षणामें क्या विनिगमक है ? लाघव और गौरव पक्षद्वयमें समान हैं । साक्षात् विवक्षितार्थ अभेदप्रतिपादनका लाभ ही विनिगमक है, अतः 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि स्थलमें पदद्वयकी लक्षणा ही युक्तियुक्त है ॥ ३५८ ॥

उक्त अर्थको स्पष्ट करते हैं—'दृष्टस्य' इत्यादिसे ।

पूर्व देश और कालमें दृष्ट एवं वर्तमान देश और कालमें दृश्यमान देवदत्तके भेद-भ्रमके निरासके लिए एकता बुभुत्सित—जिज्ञासित—है उसीका 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यसे प्रतिपादन किया जाता है । अतएव विभिन्नप्रकारकोपस्थितिजनक पदद्वयके समभिव्यवहारसे ही अभेदका बोध सर्वत्र माना जाता है, जैसे 'नीलो घटः' यहांपर नीलत्वप्रकारकोस्थितिजनक नीलपद और घटत्वप्रकारकोपस्थितिजनक घटपदके समभिव्याहारसे नीलका अभेद घटमें प्रतीत होता है, समानप्रकारको-

प्रतिपाद्यौ देशकालौ न तयोरबुभुत्सनात् ।
परस्परविरोधाच्च व्यक्त्यैकत्वं तु बोध्यते ॥ ३६० ॥
एवमत्रापरोक्षस्य प्रतीचोऽन्यनिवारणात् ।
ब्रह्मत्वलक्षणोऽखण्डो वाक्येनाऽर्थोऽवबुध्यते ॥ ३६१ ॥
हानोपादानराहित्येऽप्यपुमर्थो भवेन्नहि ।
इष्टप्राप्तेरनिष्टार्थनिवृत्तेश्चेह सम्भवात् ॥ ३६२ ॥

---

पस्थितिजनक पदद्वयसे 'घटो घटः' इत्यादि स्थलमें अभेदबोध नहीं होता, इसलिए प्रकृतमें तद्देशकालवृत्तित्वप्रकारकोपस्थापक और एतद्देशकालवृत्तित्वप्रकारकोपस्थापक 'सोऽयम्' इत्यादि पदद्वयसे अभेदबोध निर्बाध ही है, फिर पदद्वयमें लक्षणा मानना व्यर्थ है, यह आक्षेप भी निरस्त हुआ। अविशिष्ट व्यक्त्यैक्य प्रकृतमें विवक्षित और बुभुत्सित है। विशिष्ट व्यक्त्यैक्य बुभुत्सित नहीं है, अतः बुभुत्सितके अनुरोधसे पदद्वयकी अविशिष्ट एक व्यक्तिमें लक्षणा मानना आवश्यक है ॥३५९॥

लक्षणाका बीज कहते हुए 'सोऽयम्' इत्यादिका अखण्डार्थमें उपसंहार करते हैं—'**प्रतिपाद्यौ**' इत्यादिसे ।

देश और कालमें बुभुत्सा (जिज्ञासा) न होनेसे ये दोनों प्रतिपाद्य नहीं हैं। परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंका अभेद बाधित है, इसलिए विशिष्ट अभेद भी बाधित ही है, केवल व्यक्त्यैक्य ही भेदभ्रमके निरासके लिए जिज्ञासित है, इसलिए 'सोऽयम्' इत्यादि दो पदोंसे उपलक्षित एक व्यक्तिका बोध ही अभीष्ट है, अतः दोनों पद एक ही व्यक्तिके उपलक्षक हैं, यह सिद्ध हुआ ॥ ३६० ॥

'**एवमत्रा०**' इत्यादि। पूर्वोक्त रीतिसे साक्षात् अपरोक्षानुभवस्वरूप प्रत्यगात्मासे अतिरिक्त परोक्ष ब्रह्म नहीं है, ऐसा युक्तिपूर्वक समर्थन करनेके अनन्तर 'तत्त्वमसि', 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्मस्वरूप अखण्ड अर्थ बोधित होता है ॥ ३६१ ॥

अखण्ड ब्रह्म पुरुषार्थ नहीं है, अतः उसके बोधक वाक्य अप्रमाण हैं, यह कहते हैं—'**हानोपादान०**' इत्यादिसे ।

कर्तव्य अर्थ ही हानोपादानके योग्य होता है, सिद्ध अर्थ नहीं। फल-साधन यदि कृतिसाध्य न होगा, तो उसका अनुष्ठान ही नहीं हो सकेगा और अननुष्ठित साधन-

प्राप्तं चाऽप्राप्तमित्येवं द्विधेष्टं प्राप्तुमिष्यते ।
अनिष्टं द्विविधं त्यक्तमत्यक्तं च जिहासितम् ॥ ३६३ ॥
ग्रामादि किञ्चिदप्राप्तं प्राप्तुमिष्टमिहेच्छति ।
हेमादि विस्मृतं किञ्चित्करस्थमपि लिप्सते ॥ ३६४ ॥
अनिष्टं चापरित्यक्तं कण्टकादि जिहासति ।
रज्ज्वां सर्पादिकं किञ्चित्त्यक्तमेव जिहासति ॥ ३६५ ॥

फलदायक नहीं होता, अतः सिद्ध अर्थ इष्टसाधन तथा अनिष्टनिवृत्तिसाधन होता, ऐसी धारणासे जो भ्रान्त पुरुष हैं, उनके भ्रमकी निवृत्तिके लिए कहते सिद्ध अर्थसे भी इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार होता है । प्रकृतमें हानोपादान ही ब्रह्म है, यह यद्यपि सत्य है, तथापि ब्रह्मज्ञान होनेसे परमानन्दकी प्रा अशेष दुःखका परिहार ये दो फल होते हैं ॥ ३६२ ॥

यद्यपि हान आदिका विषय ब्रह्म नहीं है, तथापि पुरुषार्थ तो वह इसी अर्थको स्पष्ट करनेके लिए इष्ट और अनिष्ट दो प्रकारके होते हैं, य करते हैं—'**प्राप्तं चाऽप्राप्त०**' इत्यादिसे ।

इष्ट दो प्रकारका होता है—एक प्राप्त और दूसरा अप्राप्त । इन दो इष्टोंको पुरुष प्राप्त करना चाहता है । इसी प्रकार अनिष्ट भी दो प्रकारका एक त्यक्त और दूसरा अत्यक्त । पर इन दोनोंका पुरुष त्याग चाहता है ॥ ३६३ ॥

'**ग्रामादि**' इत्यादि । जैसे पुरुष अप्राप्त इष्टकी ( ग्राम आदिकी ) प्र इच्छा करता है, वैसे ही करस्थ सुवर्ण यदि विस्मृत हो, तो उसकी भी प्र इच्छा करता है । यद्यपि वह प्राप्त ही है, तथापि अज्ञानवश अप्राप्तकी प्रतीत होता है, अतः उसकी प्राप्तिकी इच्छा उचित ही है ॥ ३६४ ॥

'**अनिष्टं चाऽ०**' इत्यादि । अनिष्ट—अनिष्टसाधन—एवं अपरित्यक्त—स्थित—कण्टक आदि जैसे जिहासाविषय होते हैं, अतएव उनका त्याग किया है । वैसे ही पुरःस्थित रज्जुसर्प भी त्यागेच्छाका विषय होता है । यद्यपि पुर सर्प नहीं है, अतएव वह त्यक्त ही है, तथापि भ्रान्तिवश पुरोवर्त्तित्वेन प्रतीति होती है, अतः कण्टक आदिकी तरह, बल्कि उससे भी अधिक, जिहासित होता है, इसलिए वहां त्यक्तकी ही जिहासा है ॥ ३६५ ॥

पुरुषार्थोपदेष्टृत्वाद् यद्वत्कार्ये प्रमाणता ।
तथैकात्म्ये विशेषाद् वा पुमर्थातिशयत्वतः ॥ ३६९ ॥
न चैकात्म्याभ्युपायस्य मिथ्यात्वमिह चोद्यताम् ।
कदा वेदस्य मिथ्यात्वं भवता ज्ञायते वद ॥ ३७० ॥
ऐकात्म्यप्रतिपत्तेः प्राङ् न मिथ्यात्वमबाधनात् ।
पुमर्थस्य समाप्तत्वादूर्ध्वं वेदेन किं तव ॥ ३७१ ॥
अज्ञातमपि मिथ्यात्वं प्रागस्त्येवेति चेच्छृणु ।
मानसत्यत्वमिथ्यात्वे न मात्वामात्वकारणे ॥ ३७२ ॥

**'पुरुषार्थो०'** इत्यादि । जैसे कर्मबोधक वेद पुरुषार्थका बोधक है वैसे ही वेदान्त भी हैं, अतः कर्मविशेषमें पूर्ववेदके समान अकार्यस्वरूप ब्रह्ममें वेदान्त भी प्रमाण हैं । अपि च पूर्ववेदकी अपेक्षासे तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्यातिशय ब्रह्मात्मैक्यबोधक श्रुतिमें ही है, अर्थात् अज्ञात, निरतिशय और अबाधितस्वरूप पुरुषार्थके बोधक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें तात्त्विक प्रामाण्य है, इस तात्पर्यसे— 'विशेषाद्वा' यह कहते हैं । पुरुषार्थमें निरतिशयत्वादिरूप विशेष है और प्रमाणान्तरकी अपेक्षासे उक्त वाक्यमें अबाधितार्थबोधकत्वरूपसे तात्त्विकत्वरूप प्रामाण्यातिशय है ॥ ३६९ ॥

प्रपञ्चके समान मिथ्याभूत वेद ऐक्यप्रमा-बोधका जनक नहीं हो सकता, जैसे मिथ्याव्याप्तिविशिष्ट बाष्प मिथ्या हेतु है, अतः अग्निविषयक प्रमानुमितिका जनक नहीं होता वैसे ही प्रकृतमें भी शङ्का होती है, उसके निराकरणके लिए कहते हैं—**'न चैका०'** इत्यादि ।

ऐकात्म्यबोधोपाय वेदमें आपका मिथ्यात्वाक्षेप उचित नहीं है, कारण कि कब वेदमिथ्यात्व आप कहते हैं, सो कहिए ॥ ३७० ॥

**'ऐकात्म्य०'** इत्यादि । ऐकात्म्यज्ञानसे पूर्व अबाधितार्थक होनेसे वेदमें मिथ्यात्व नहीं कह सकते । तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके बाद आपको वेदसे क्या मतलब है ? अर्थात् उपेयार्थी तबतक उपायका अन्वेषण करता है, जबतक फल नहीं होता, फलसिद्धिके बाद तो उपायका समीक्षण व्यर्थ ही है ॥ ३७१ ॥

**'अज्ञातमपि'** इत्यादि । यद्यपि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व वेदमें मिथ्यात्व ज्ञात नहीं होता, किन्तु अज्ञात ही रहता है, तथापि मिथ्यात्व तो वस्तुतः वेदमें है ही फिर वाष्पवत् मिथ्याभूत वेदसे आत्मैक्यकी प्रमा कैसे होगी ?

सत्येनाऽप्यनुपायेन घटेनाऽग्निर्न मीयते ।
असत्येनाऽप्युपायेन प्रतिबिम्बेन बिम्बधीः ॥ ३७३ ॥
धूमाभासात्तु बाष्पादेर्यदग्निर्नाऽवगम्यते ।
हेतुस्तत्राऽनुपायत्वमविनाभाववर्जनात् ॥ ३७४ ॥
वेदान्तानामुपायत्वाद् धूमवत्परमार्थता ।
न शङ्कार्हा तदैकात्म्यश्रुतिबाधः स्फुटो भवेत् ॥ ३७५ ॥

इसका उत्तर यह है कि जो आप मानके सत्यत्व और असत्यत्वको मेयके प्रमात्व और अप्रमात्वका प्रयोजक मानते हैं, वस्तुतः उसे आप नहीं मान सकते ॥३७२॥

इसीको बतलाते हैं—'सत्येना०' इत्यादिसे ।

घट सत्य होता हुआ भी अग्निके साधनका उपाय नहीं है, इसलिए 'पर्वतो वह्निमान्, घटवत्त्वात्' इस अनुमिति द्वारा घटसे पर्वतादिमें अग्निकी सिद्धि नहीं हो सकती और यद्यपि प्रतिबिम्ब असत्य है तो भी प्रतिबिम्ब द्वारा बिम्बका अनुमान होता है, क्योंकि बिम्बके साधनमें प्रतिबिम्ब उपाय है, अतः उपायसे उपेयकी सिद्धि होती है । उपाय चाहे सत्य हो या मिथ्या, इसमें आग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि सत्यत्वादिकी अपेक्षा उपायत्व ही उपेयसिद्धिमें प्रयोजक है ॥३७३॥

यदि असत्य उपायसे भी वस्तुकी सिद्धि मानते हो, तो बाष्पसे भी पर्वतादिमें अग्निकी सिद्धि मानो, इस आक्षेपका परिहार करते हैं—'धूमाभासा०' इत्यादिसे ।

धूमसे विलक्षण बाष्प आदि द्वारा यदि पर्वत आदिमें अग्नि नहीं सिद्ध होती, तो उसमें हेतु है—अनुपायत्व । बाष्पमें अविनाभावरूप व्याप्ति न होनेसे बाष्प अग्निसाधनोपाय ही नहीं है, इसलिए बाष्पादिसे अग्निकी सिद्धि नहीं होती, न कि उपाय मिथ्या है, इस कारण अग्निकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३७४ ॥

'वेदः सत्यः, उपायत्वात्, धूमवत्' इस अनुमानसे वेदको सत्य ही मानना उचित है, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'वेदान्ताना०' इत्यादिसे ।

यदि कहो कि धूम जैसे अग्निके ज्ञानमें उपाय है, अतः सत्य है, वैसे ही आत्मैक्यके बोधका उपाय वेद है, अतः वह भी सत्य है, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहनेमें ऐकात्म्यबोधक श्रुतिका बाध हो जायगा । 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मसे अतिरिक्त निखिल प्रपञ्च असत्य है, यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है । अतः दृष्टान्त धूम भी सत्य नहीं है, इससे उसकी सामर्थ्यसे वेद कैसे सत्य हो सकता है ? ॥ ३७५ ॥

बाष्पवन्नाऽपि मिथ्यात्वादनुपायत्वमुच्यताम् ।
ऐकात्म्याज्ञानबाधेन सिद्धैवोपायता भवेत् ॥ ३७६ ॥
उपेयबोधनं मुक्त्वा मितेर्नान्याऽस्ति सत्यता ।
उपेयैकात्म्यबोधस्तु वेदान्तेषूपलभ्यते ॥ ३७७ ॥
अतः स्वरूपमिथ्यात्वेऽप्युपायत्वादसत्यता ।
नास्तीत्युपायतो वेदादुपेयं ब्रह्म मीयताम् ॥ ३७८ ॥
सत्यामैकात्म्यसंवित्तौ चरितार्थत्वतः श्रुतेः ।
वृथोपायपरीक्षा स्यादुत्तीर्णस्य प्लवे यथा ॥ ३७९ ॥

---

'वाष्पवन्नाऽपि' इत्यादि । 'वेदो नोपायः, मिथ्यात्वात्, बाष्पवत्' इस अनुमानसे वेदमें बाष्पादिके दृष्टान्तसे मिथ्यात्वहेतुक अनुपायत्व सिद्ध करना चाहते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि मिथ्यात्वशब्दसे आपको अकार्यकरत्व विवक्षित है ? [ क्योंकि मिथ्या वस्तु कार्यकारी नहीं होती, मिथ्या रजतसे आभूषण आदि कार्यकी उत्पत्ति कहीं भी नहीं देखी जाती ] अथवा बाध्यत्व विवक्षित है ? [ क्योंकि जो मिथ्या होता है, वह बाध्य होता है, जैसे शुक्तिरजत ] प्रथम विकल्पमें हेत्वसिद्धि है, क्योंकि मिथ्या रजत भी मिथ्यात्वकी अज्ञानदशामें प्रवृत्त्यादिकार्यकारी होता ही है, प्रकृतमें वेद भी अज्ञाननिवृत्तिरूप-कार्यकारी ही है ॥३७६॥

'उपेयबोधनम्' इत्यादि । उपेयके बोधनको छोड़कर मितिमें ( प्रमाणमें ) अन्य कोई सत्यता नहीं है अर्थात् अव्यभिचारी ज्ञानत्व ही प्रमासत्यत्व है, दूसरा नहीं । सर्वत्र वेदान्तमें उपेय ऐक्यात्म्यबोध उपलब्ध होता है। वेदान्तवाक्यसे जो ब्रह्मात्मैक्यका बोध होता है, वह अबाधितार्थक होनेसे प्रमाण ही है ॥ ३७७ ॥

'अतः' इत्यादि । अतः वेदके स्वरूपके मिथ्या होनेपर भी उसमें ऐकात्म्यबोधोपायत्वरूपसे असत्यत्व नहीं है, इसलिए वेदान्तसे अद्वितीय ब्रह्म जानो । उपायप्रमासे उपेयप्रमा होती है, यह नियम नहीं है, क्योंकि बाष्पादिसे भी वस्तुतः वह्निमान् पर्वतमें वह्निबुद्धिप्रमा होती ही है ॥ ३७८ ॥

'सत्यामैकात्म्य०' इत्यादि । ब्रह्मात्मैक्यसम्पत्ति होनेपर श्रुति चरितार्थ हो जाती है, फिर उपायभूत श्रुति सत्य है अथवा मिथ्या, यह विचार करना व्यर्थ है, जैसे नदी तरनेके समय नौका पार जानेके लायक है या नहीं, यह विचार करना ठीक है, पर पार जानेके बाद उक्त विचार व्यर्थ है ॥ ३७९ ॥

बाह्येष्वर्थेष्वनात्मत्वात् काचिच्छङ्का भवेदपि ।
अत्राऽऽत्मत्वादुपेयस्य का शङ्का मानतां प्रति ॥ ३८० ॥
बोधकत्वेन मानत्वमखण्डार्थेऽप्यवस्थितम् ।
वेदान्तानामथैतेषां बाधः परिहरिष्यते ॥ ३८१ ॥
ननु भेदाश्रितैर्वाक्यैर्विधायकनिषेधकैः ।
अक्षादिभिश्च नैकात्म्यं बाधितत्वात्प्रमाणवत् ॥ ३८२ ॥
न चाऽस्यैकात्म्यशास्त्रस्य तैर्विकल्पसमुच्चयौ ।
यत एतावसम्भाव्यौ क्रियायामिव वस्तुनि ॥ ३८३ ॥

**'बाह्येष्वर्थे०'** इत्यादि । आत्मभिन्न बाह्य घटादिविषयक प्रमाणमें अप्रमाणत्वकी शङ्का हो भी सकती है, प्रकृतमें तो उपेय आत्मस्वरूप है, इसलिए एतद्विषयक प्रमाणमें आशङ्का ही क्या? अर्थात् शङ्का सर्वथा अनुचित है। आत्माके बिना तो ज्ञान हो ही नहीं सकता, तो आत्मविषयक ज्ञानमें व्यभिचारकी शङ्काका क्या असर होगा? अतः वेदान्तमें अबाधित प्रामाण्य है ॥ ३८० ॥

फलितार्थकथनपुरःसर शिष्योंके अवधानार्थ उत्तर ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय कहते हैं—**'बोधकत्वेन'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मात्मैक्यरूप अखण्ड अर्थमें भी वेदान्तप्रामाण्य सुव्यवस्थित है; प्रकृत अर्थमें प्रमाणान्तरके बाधका परिहार करेंगे । निश्चितप्रामाण्यक प्रमाणान्तरसे बाध होता है, अन्यथा नहीं ॥ ३८१ ॥

प्रत्यक्ष आदिके विरोधका परिहार कर अखण्ड अर्थमें वेदान्तप्रामाण्यका दृढ़ीकरण करनेके लिए पूर्वपक्ष करते हैं—**'ननु भेदा०'** इत्यादिसे ।

कर्तृ, कर्म, साधन आदि भेदकी अपेक्षा रखनेवाले कर्मविधिबोधक 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वाक्यसे तथा घट, पट आदि भेदग्राही प्रत्यक्षादिसे भी विरोध होनेके कारण वेदान्तवाक्य अद्वितीय आत्मामें प्रमाण कैसे हो सकता है? तथा 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि निषेधबोधक वाक्य भी भेदाश्रित ही हैं, यदि वास्तविक आत्मैक्य ही है, तो वध्यघातकभाव ही नहीं बन सकता, फिर अप्रसक्त हिंसानिषेध व्यर्थ ही हो जायगा ॥ ३८२ ॥

यदि पूर्वोत्तर वेदान्तमें प्रामाण्यके अविशिष्ट होनेसे तथा प्रत्यक्षादि प्रामाण्यानुरोधसे भी सब प्रमाणोंका समन्वय हो, इसलिए भेदाभेद मानना समुचित है, यह कहिए, तो भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'न चाऽस्यै०'** इत्यादिसे ।

व्रीहिभिर्वा यवैर्वेति यथा यागो विकल्प्यते ।
नैवमेकमनेकं वेत्येतद्वस्तु विकल्प्यते ॥ ३८४ ॥
समुच्चित्यै यथा दर्शपौर्णमासौ तथा न तु ।
भिन्नाभिन्नात्मना वस्तु समुच्चेतुमिहार्हति ॥ ३८५ ॥

ऐकात्म्यबोधक वेदान्तवाक्यका कर्मविधिनिषेधबोधक वेदवाक्य तथा भेद्-ग्राही प्रत्यक्षादि प्रमाणके साथ विकल्प या समुच्चय नहीं हो सकता, कारण कि ये दोनों क्रियामें ही होते हैं, सिद्ध वस्तुमें नहीं होते। यदि ब्रह्ममें क्रियाका संपर्क भी नहीं है, तो उसे क्रियात्मक कहना दूर ही रहा ॥ ३८३ ॥

विकल्प और समुच्चयका उदाहरण देते हुए सिद्ध वस्तुमें तदुभयका असम्भव स्फुट करते हैं—'व्रीहिभिर्वा' इत्यादिसे ।

'व्रीहिभिर्यजेत,' यवैर्वा यजेत'—इन दोनों श्रौत वाक्योंसे यागमें व्रीहि तथा यवका विधान है। एक समयमें दोनोंका विधान नहीं है, किन्तु इच्छानुसार चाहे, व्रीहिसे याग करे या यवसे, तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादि वाक्यसे अतिरात्ररूप सोमयागविशेषमें कर्ताके इच्छानुसार षोडशिग्रहणाग्रहणका विधान है। ये दोनों विकल्पके उदाहरण हैं। समुच्चयका उदाहरण है—दर्शपूर्णमासादि छः याग। आग्नेय, अग्नीषोम और उपांशु—ये तीन पूर्णमासीमें होते हैं, आग्नेय, ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय—ये तीन अमावास्यामें होते हैं। इन छः यागोंका समुदाय दर्शपूर्णमास कहलाता है। स्वर्गसाधनभावसे षड्याग-समुच्चयका विधान है, सो ठीक है, क्योंकि ये क्रियात्मक हैं, इनका समुच्चय बाधित नहीं होता। इस प्रकारसे प्रकृतमें भेदाभेदका विकल्प अर्थात् कदाचित् भिन्न भी है, अभिन्न भी है, ऐसा कहना नहीं बन सकता। घट अपनेसे भिन्न है और अभिन्न है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध भेदाभेदरूप दो धर्म एक धर्मीमें नहीं रह सकते एवं भिन्नाभिन्नका समुच्चय भी नहीं हो सकता ॥ ३८४ ॥

वस्तुमें विकल्प न होनेपर फलितार्थ कहते हैं—'समुच्चित्यै' इत्यादिसे ।

अर्थ ऊपर कह चुके हैं। जैसे दर्शपूर्णमासका समुच्चय होता है वैसे भिन्नाभिन्नका समुच्चय नहीं हो सकता, वस्तुमें एक समयमें एकका ही भेदाभेद बाधित है। इसलिए समुच्चय करनेके लिए भेदाभेद मानना उचित नहीं है ॥ ३८५ ॥

अत ऐकात्म्यमानस्य भेदमानस्य वा द्वयोः ।
एकबाधस्य सम्प्राप्तावैक्यधीर्बाध्यतेऽन्यथा ॥ ३८६ ॥
नेह नानेति भेदानां निषेधो नाऽन्यबाधकः ।
वर्णादिग्रहणोपायप्रत्यक्षाद्युपजीवनात् ॥ ३८७ ॥
वर्णान् ग्रहीतुमर्थस्य व्युत्पत्त्यैवोपजीवति ।
श्रुतिरक्षानुमाने द्वे प्रबलत्वं तयोस्ततः ॥ ३८८ ॥

**'अतः'** इत्यादि । यदि दो प्रमाणोंका विकल्प और समुच्चय नहीं हो सकता, तो एक प्रमाणका बाध अवश्य ही प्राप्त है, ऐसी परिस्थितिमें ऐकात्म्यबोधक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यका ही बाध करना ठीक है, भेदग्राही प्रमाणका बाध करना ठीक नहीं है; क्योंकि 'भूयसामनुग्रहो न्याय्यः' इस न्यायसे घटपटादिभेदग्राही अनेक प्रमाणोंके बाधकी कल्पनाकी अपेक्षा स्वल्पाद्वैतागमका ही बाध उचित है ॥३८६॥

**'नेह नानेति'** इत्यादि । अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष और आगमका जहां विरोध हो, वहां प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना जाता है अर्थात् प्रत्यक्षके अनुरोधसे आगमका अर्थ करना चाहिए । प्रत्यक्षकी बलवत्तामें दो कारण हैं—प्रथम प्रत्यक्ष सब प्रमाणोंमें ज्येष्ठ है और दूसरा वह उपजीव्य है । प्रत्यक्षके बिना आगमके पदोंमें शक्तिग्रह भी नहीं होता, क्योंकि शब्दका श्रावणप्रत्यक्ष शाब्दबोधमें कारण होता है, इसीलिए उपजीव्यबाध भी सर्वथा अनुचित है, क्योंकि 'आदित्यो यूपः', 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि स्थलमें 'आदित्यसदृशो यूपः', 'यजमानसदृशः प्रस्तरः' इत्यादि अर्थ माना जाता है । अन्यथा आदित्ययूपभेदग्राही प्रत्यक्षका बाध कर आगम दोनोंके अभेदका बोधन करता, किन्तु ऐसा नहीं माना जाता; इस तात्पर्यसे कहते हैं—**'नेह नाना'** इत्यादि । द्वैतनिषेधबोधक आगम अन्यका अर्थात् प्रत्यक्षादिका बाधक नहीं है । बाधक क्यों नहीं है ? इसमें कारण कहते हैं कि उपजीव्य प्रत्यक्ष वर्णादिके ( आदिपदसे पद, वाक्य आदिका परिग्रह है ) ग्रहणका उपाय है । अतः शास्त्रसे प्रत्यक्षका बाध सर्वथा अनुचित है । अन्यथा उपायके अभावसे अद्वैतागमका बाध न होनेपर आत्मज्ञान ही नहीं हो सकेगा और आत्मज्ञानके बिना मोक्ष भी नहीं हो सकेगा ॥३८७॥

उक्त अर्थका स्पष्टीकरण करते हुए 'आदि' शब्दग्राह्य अनुमानमें भी श्रुत्युपजीव्यत्व कहते हैं—**'वर्णान्'** इत्यादिसे ।

'[illegible]' इस प्रकार प्रयोजक वृद्धके वचनके श्रवणके अनन्तर प्रयोज्य वृद्धकी

घटानयनप्रवृत्तिको देखकर समीपस्थ बालक यह अनुमान करता है कि 'इयं घटानयनप्रवृत्तिः इष्टसाधनताज्ञानजन्या, प्रवृत्तित्वात्, मदीयस्तनपानप्रवृत्तिवत् । घटानयनज्ञानं च घटमानयेति वाक्यजन्यम्, एतद्वाक्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, यो यदन्वयव्यतिरेकानुविधायी, स तज्जन्यः, यथा भोजनानन्तरं तृप्तिः । भवति चैतद्ज्ञानम् एतद्वाक्यान्वयव्यतिरेकानुविधायि, तस्मात् एतद्वाक्यजन्यमिति । एतद्वाक्यार्थबोधान्यथानुपपत्त्या एतद्वाक्यस्य एतस्मिन्नर्थे अस्ति कश्चन सम्बन्धः । असम्बद्धस्य प्रत्यायकत्वे अविशेषात् सर्वार्थभानं स्यात् । न चैकेन वाक्येन सर्वार्थप्रतीतिः, तस्मात् सम्बद्धार्थप्रत्यायकत्वं शब्दस्येत्यभिप्रायः। तात्पर्य यह है कि अगृहीतशक्तिक बालकको सर्वप्रथम वृद्धव्यवहारसे शक्तिका ग्रह होता है। उदाहरण—प्रयोजक वृद्धने प्रयोज्य वृद्धसे कहा कि 'घटमानय' (घट लाओ)। प्रयोज्य वृद्ध घट लाया, इसको देखकर बालक यह अनुमान करता है कि प्रयोज्य वृद्धने 'घटका लाना' अपना इष्टसाधन कर्तव्य समझा, इसलिए उसे लाया; परन्तु 'घटानयन' यह ज्ञान उसे कैसे हुआ ? यह सोचकर फिर अनुमान करता है कि उक्त शब्दके श्रवणसे पहले इस कर्ममें उसकी प्रवृत्ति नहीं हुई थी और उक्त शब्दके सुननेके बाद ही इस कार्यमें उसकी प्रवृत्ति हुई, इसलिए ज्ञात होता है कि घटानयनका ज्ञान 'घटमानय' इस वाक्यसे हुआ। यह वाक्य इसी अर्थका बोधक है, अर्थान्तरका नहीं, इससे मालूम होता है कि इस वाक्यका इस अर्थमें कोई सम्बन्ध अवश्य है। इस प्रकार प्रथम वाक्यमें वाक्यार्थका संसर्ग गृहीत होता है। वही संसर्ग शक्ति है। शब्द, अर्थ आदिका प्रत्यक्ष, वाक्यार्थज्ञानकी अनुमिति और अर्थका वाक्यमें अर्थापत्तिसे सम्बन्धज्ञान होता है। इस रीतिसे प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति—इन तीन प्रमाणोंसे शक्तिग्रह होता है। इसलिए प्रत्यक्षादि उपजीव्य हैं। वाक्यमें वाक्यार्थनिरूपित शक्तिग्रहके बाद आवापोद्वापसे क्रमशः पदोंमें पदार्थनिरूपित शक्तिका ज्ञान होता है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान ये दोनों उपजीव्य हैं। इनके बिना शब्दमें शक्तिग्रह नहीं होता। इस कारण श्रुति भी स्वार्थमें स्वपदोंकी व्युत्पत्तिके लिए वर्णादिविषयक प्रत्यक्ष तथा उक्त रीतिसे अनुमान—इन दोनोंकी अपेक्षा करती है, अतः प्रत्यक्ष तथा अनुमान ये दोनों श्रुतिके उपजीव्य हैं। उपजीव्यका विरोध तथा बाध अनुचित है, इसलिए प्रत्यक्ष और अनुमान ही श्रुतिसे बलवान् हैं। प्रत्यक्ष असंजातविरोधी है। सामान्यतः द्वैतनिषेधक श्रुतिकी अपेक्षा घटादिसत्त्वग्राही प्रत्यक्ष विशेषविषयक है। विशेष शास्त्रसे सामान्य शास्त्रका संकोच

निषेधविध्योर्यच्छास्त्रं चित्तशुद्ध्युपकारि तत् ।
ऐक्यशास्त्रेणोपजीव्यं प्रबलं तेन तन्मतम् ॥ ३८९ ॥
तत्तु भेदाश्रयेणैव विधत्ते च निषेधति ।
तस्मादभेदशास्त्रस्य बाधो विध्यादिशास्त्रतः ॥ ३९० ॥

होता ही है । अतएव 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस सामान्य वचनका 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस विशेष शास्त्रसे अग्नीषोमीयसे अतिरिक्त पशुहिंसाके निषेधमें तात्पर्य माना जाता है । प्रत्यक्षके सदृश अनुमान भी उपजीव्य है । सो कह चुके हैं ॥३८८॥

अद्वैतशास्त्रसे कर्मकाण्डशास्त्रका बाध न होनेमें कारणान्तर कहते हैं— 'निषेधविध्यो०' इत्यादिसे ।

'मा हिंस्यात्' इत्यादि निषेधशास्त्र और 'यजेत', 'जुहुयात्' इत्यादि विधिशास्त्र जो निषेध तथा विधिके बोधक हैं, वे भी साक्षात् या परम्परया चित्तकी शुद्धिके लिए हैं, क्योंकि शुद्ध चित्तमें अद्वैतवाक्य द्वारा आत्मैक्यबुद्धि होती है, अतएव 'ज्ञानं संजायते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इत्यादि वचन उपपन्न होते हैं । अतः उक्त शास्त्र भी उपजीव्य हैं । उपजीव्य प्रबल माना जाता है, इसलिए अभेदबोधक श्रुतिसे इनका बाध नहीं हो सकता । 'बलवता दुर्बलं बाध्यते' यह न्याय लोकमें भी प्रसिद्ध है, इसलिए प्रबल प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अनुरोधसे श्रुतिको उपचरितार्थ मानना ही समुचित है ॥३८९॥

'तत्तु भेदाश्रयेणैव' इत्यादि । परस्परविरोधी प्रमाणोंके अनुरोधसे अर्थमें न तो विकल्प ही हो सकता है और न समुच्चय ही । किन्तु बाध्य-बाधकभाव होना आवश्यक है, अतः द्वैतके अनुसार ही अद्वैतागमका अर्थ करना ठीक है । विधि-निषेधबोधक वाक्यसे भेदाश्रित साध्य-साधन, इतिकर्तव्यता आदि भेदके बिना किसी कर्मका विधान या निषेध नहीं हो सकता, अतः भेदावलम्बी ही विधि तथा निषेध शास्त्र हैं, इसलिए ऐक्यशास्त्रका उक्त शास्त्रोंसे बाध ही मानना समुचित प्रतीत होता है ॥३९०॥

यदि अद्वैतशास्त्रका बाध माननेसे उक्त शास्त्र ही व्यर्थ हो जायगा, ऐसी शङ्का हो, तो उसे औपचारिक मान सकते हैं, क्योंकि सर्वथा बाधकी अपेक्षा

औपचारिकमैकात्म्यशास्त्रं कर्त्रात्मसम्भवात् ।
सावकाशं भवेद् यद्वा जपार्थमुपयुज्यते ॥ ३९१ ॥
भेदसाधकमक्षादि भेदादन्यत्र कुत्र वा ।
सावकाशं ततस्तस्य बाधो नैकात्म्यशास्त्रतः ॥ ३९२ ॥

औपचारिक मानना ठीक है, ऐसा कहते हैं—'औपचारिक०' इत्यादिसे ।

जैसे इस ग्राममें यह अद्वितीय पुरुष है, इस लौकिक वाक्यका यह अ नहीं है कि इस ग्राममें यही पुरुष है, दूसरा कोई है ही नहीं । किन्तु इसके सदृश चरित्रवान् दूसरा नहीं है अर्थात् सजातीय द्वितीयके निषेध ही उक्त वाक्यका तात्पर्य है । अन्यथा ग्रामका ही निर्देश असङ्गत हो जायगा क्योंकि जनगृहसमुदायका ग्रामशब्दसे लोकमें व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृत ब्रह्मका सजातीय द्वितीय नहीं है, इस तात्पर्यसे ब्रह्मके विषयमें 'एकमेवाऽद्वितीयम्' कहा जाता है, ऐसा माननेपर द्वितीय वस्तुका निराकरण नहीं होत अतएव भेदाश्रयविधि-निषेधबोधक शास्त्र भी संगत हो जाते हैं और आत्म कर्ता-भोक्ता भी माना जा सकता है । अद्वैतबोधक आगम भी सजाती द्वितीयके निषेधका बोधक होनेसे सावकाश भी होता है और कर्मविधिनिषेधशा भी स्वविषयमें सार्थक होते हैं, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणका विरोध भी शान्त हो जा हैं । यह अभूतपूर्व कल्पना नहीं है, क्योंकि 'आदित्यो यूपः', 'यजमानः प्रस्तर इत्यादि वाक्योंका प्रत्यक्षादि प्रमाणके साथ विरोधके परिहारके लिए आदित्यादि सदृश ही अर्थ है, यह सब विद्वानोंने स्वीकार किया है । अथवा अद्वैत श्रुतियोंका अर्थ विवक्षित नहीं है । किन्तु हुं, फट् आदिके तुल्य केवल वे जप लिए हैं, ऐसा माननेपर भी उक्त श्रुति चरितार्थ हो जाती है, अदृष्टार्थक वाक्यों सार्थकताका यह भी उपाय है । किसी अनुष्ठेय अर्थका तो विधान है नहीं, जिस तदर्थज्ञानकी आवश्यकता हो । सावकाश और निरवकाशमें निरवकाश बलवा होता है, इस न्यायसे द्वैतग्राही मान द्वैतके बिना अनवकाश है; अतः द्वैतशास्त्र उक्त रीतिसे सावकाश अद्वैतशास्त्रका प्रकृतमें बाध होता है ॥३९१॥

वैपरीत्यशङ्काका निराकरण करते हैं—'भेदसाधक०' इत्यादिसे ।

द्वैतशास्त्र तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वैतके बिना कहाँ सावकाश हैं ? क नहीं, इसलिए भेदग्राही प्रमाणका ऐकात्म्यशास्त्रसे बाध नहीं हो सकता बाध्यतासाधक सावकाशत्व भेदग्राही प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें है नहीं, अतः प्रत्यक्षा बाधक ही हो सकते हैं, उक्त शास्त्रसे बाध्य नहीं हैं ॥३९२॥

भेदाप्रमापिकाऽप्येषा चोदना भेदमाश्रयेत् ।
इति चेदल्पमेवोक्तमैक्यशास्त्रं च तादृशम् ॥ ३९६ ॥
गुरुशिष्यादिभेदेन विनैकात्म्यावबोधने ।
प्रवर्त्तेत कथं शास्त्रं तस्माद्भेदाश्रितं हि तत् ॥ ३९७ ॥
एवं तर्ह्युपजीव्येन विरोध इति मा वद ।
ऐक्यश्रुत्योपजीव्यस्य भेदस्याऽत्राऽनिराकृतेः ॥ ३९८ ॥

'भेदाप्रमापिका' इत्यादि । प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध आविद्यिक भेदका आश्रयण कर विधि और निषेध शास्त्रकी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, ऐसा माननेमें यदि कोई दोष नहीं है, तो फिर पारमार्थिक भेद क्यों माना जाय ? और द्वैत-श्रुतियां भेदका आश्रयण करती हैं, यह बहुत थोड़ा कहा गया है, क्योंकि अद्वैतश्रुतियां भी परम्परया भेदका आश्रयण करती हैं । इसपर भी दृष्टि दीजिये कि ऐक्यज्ञानोत्पत्तिमें चित्तशुद्धिकी अपेक्षा है और चित्तशुद्धि विहितके अनुष्ठान एवं प्रतिषिद्धके वर्जनके बिना नहीं होती । अनुष्ठान और परिवर्जन भेदके बिना नहीं हो सकता । इस परम्परासे यद्यपि भेद अद्वैतश्रुतियोंका भी उपजीव्य है, तो भी पारमार्थिक भेद उपजीव्य नहीं हो सकता, अन्यथा अभेदबोधक श्रुतियां व्यर्थ हो जायँगी । इसलिए पारमार्थिक भेदनिराकरणपरक अद्वैतश्रुतियोंमें अपारमार्थिक भेद जैसे उपजीव्य है, वैसे ही द्वैत-श्रुतियोंमें भी अपेक्षित है, इस कारण भेदमें द्वैत-श्रुतियोंका तात्पर्य नहीं है, यह कहा गया है ॥ ३९६ ॥

उक्त अभिप्रायको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—'गुरुशिष्यादि॰' इत्यादि । यदि ऐक्य-शास्त्रमें साक्षाद् भेदकी अपेक्षा है, तो फिर उक्त शास्त्रसे भेदका बाध कैसे हो सकता है ? स्वनिमित्तका बाध समुचित नहीं है। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरु-मेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि श्रुतिसे गुरु द्वारा ब्रह्मज्ञानका विधान है, स्वतः नहीं । भेदके बिना गुरु और शिष्यका अस्तित्व नहीं हो सकता । भेदनिबन्धन गुरुशिष्यभावके बिना ऐकात्म्यबोधनके लिए शास्त्रकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है, अतः अद्वैतागम भी भेदाश्रित है ॥३९७॥

'एवं तर्ह्युप॰' इत्यादि । यदि यह बात है, तो अद्वैतश्रुतिका उप-जीव्यके साथ विरोध है, ऐसा न कहिये, कारण कि जो भेद श्रुतिका उपजीव्य है, उसका निराकरण श्रुति नहीं करती, जिसका निराकरण आवश्यक है । यदि वह श्रुतिका उपजीव्य नहीं है, तो फिर अद्वैतश्रुतिमें उपजीव्यविरोधका उद्भावन करना अज्ञानमूलक है ॥३९८॥

मायया कल्पितो भेद उपजीव्यो न वास्तवः ।
नेह नानेति शास्त्रेण वास्तवः प्रतिषिध्यते ॥ ३९९ ॥
दृश्यस्य मायिकत्वेन प्रसक्तिर्वास्तवे कुतः ।
इति चेत्तव विभ्रान्त्या प्रसक्तिरिति तुष्यताम् ॥ ४०० ॥
न भ्रमामीति चेत्तर्हि न त्वां प्रति निषिध्यते ।
यो भ्राम्यति विमूढोऽत्र तं प्रत्येव निषिध्यते ॥ ४०१ ॥

कौन भेद उपजीव्य है जिसका निराकरण श्रुति नहीं करती ? उसे निराकरणीय भेदके साथ कहते हैं—**'मायया'** इत्यादि ।

मायासे कल्पित भेद ही श्रुतिका उपजीव्य है, वास्तविक भेद नहीं । और 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुतिसे वास्तविक भेद बाध्य है, कल्पित भेद नहीं ॥३९९॥

यहांपर यह शङ्का होती है कि वास्तविक भेद है या नहीं, यदि है तो उसका निषेध नहीं हो सकता । अन्यथा पारमार्थिक और अपारमार्थिकके बाधाबाधप्रयुक्त वैलक्षण्यका ही भङ्ग हो जायगा । पारमार्थिकका निषेध माननेपर आत्माका भी निषेध होनेसे शून्यवादकी आपत्ति आ जायगी और पारमार्थिकत्व परिभाषामात्र होगा । यदि भेद पारमार्थिक नहीं है, तो निषेध ही असंगत हो जायगा, क्योंकि वन्ध्यापुत्रका कोई निषेध नहीं करता । अतएव अप्रसिद्धप्रतियोगिक अभावको नैयायिकादि नहीं मानते हैं, इस शङ्काका परिहार करते हैं—**'दृश्यस्य मायिकत्वेन'** इत्यादिसे ।

दृश्यमात्र मायिक है । भेद भी दृश्य है, अतः मायिक ही भेद रह सकता है । मायिक भेदमें पारमार्थिकत्वकी प्रसक्ति नहीं है, अतः उसका निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रसक्तका निषेध नहीं होता । इसपर कहते हैं—तुम्हारी भ्रान्तिसे ही भेदमें पारमार्थिकत्वकी प्रसक्ति हुई है, क्योंकि तुम्हीं कहते हो कि भेद पारमार्थिक है । अतः भ्रान्तिप्रसक्त पारमार्थिकत्वका श्रुतिसे निषेध किया जाता है, इस उत्तरसे सन्तुष्ट हो जाओ ॥४००॥

**'न भ्रमामि'** इत्यादि । यदि कहो कि हमको भेदमें पारमार्थिकत्वका भ्रम नहीं है, तो आपके प्रति निषेध भी नहीं है । जो कोई 'भेद पारमार्थिक है' यह मानते हैं, उन मूढ़ोंके प्रति निषेध करते हैं । अन्य जगहमें अनुभूत पदार्थका अन्यत्र भ्रम होता है । भेदके सत्यत्वका यदि कहीं अनुभव ही नहीं हुआ है, तो उसका भ्रम कैसा ? यह शङ्का है ॥४०१॥

अत्यन्तादृष्टविषयो भ्रमादपि न भासते ।
इति चेद्रज्जुसर्पोऽयं क्व वा दृष्टस्त्वया पुरा ॥ ४०२ ॥
सत्यः सर्पः पुरा दृष्ट इति चेन्मायिकी भिदा ।
किं न दृष्टा पुरा येन न भवेत् सत्यभेदधीः ॥ ४०३ ॥

'अत्यन्ता०' इत्यादि। अत्यन्त अदृष्टका अर्थात् जो कभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ है, उसका कभी भ्रमसे भान नहीं होता, अन्यथा आकाशपुष्पका भी भान हो जायगा, पर ऐसा होता नहीं है। इसलिए ऐसा नियम माना जाता है कि जो कहीं पहले प्रमाणसे प्रमित है, उसीका दोषवश भ्रममें भान होता है। जैसे शुक्तिशकलमें यह रजत है, ऐसा भान होता है, रजत पहले अनुभूत है, शुक्तित्वका दोषवश भान नहीं होता। पुरःस्थित सितभास्वर द्रव्यका इदंसे भान होता है। तद्गत श्वैत्यदर्शनसे रजतसंस्कार समुद्बुद्ध होता है, उससे रजतविषयक स्मरण होता है। यहां भी दोषवश तत्ताका प्रमोष होता है। शुक्तिरजतके भेदाग्रहसे पुरोवर्ती शुक्तिमें रजतका आरोप 'इदं रजतम्' इस भ्रमसे होता है। अन्यथाख्यातिवादी नैयायिकके मतानुसार यह आक्षेप है। अपूर्व आविद्यिक रजतादिविषयका भ्रममें भान होता है, इस वेदान्तिमतका आश्रयण कर उक्त आक्षेपका उत्तर देते हैं—प्रथम रज्जुसर्पको आपने कहां देखा है? कहीं भी नहीं। प्रत्यक्ष वर्तमान और संनिकृष्ट विषयका होता है। कालान्तर और देशान्तरमें स्थित सर्पविषयक भ्रम रज्जुमें नहीं हो सकता, किन्तु अविद्या स्वयं रजताकारसे परिणत होती है और तदाकार परिणत मायावृत्तिसे उसका भान होता है। समारोपित सर्पादि चाक्षुष नहीं हैं। वे प्रतिभामात्र-शरीर होनेसे भानसे पहले नहीं रहते, अतः इन्द्रियासंनिकृष्ट होनेसे इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं, किन्तु साक्षिभास्य माने जाते हैं। और 'नाऽयं सर्पः' 'रज्जुरेषा' इस अधिष्ठानज्ञानसे कार्य सर्पके साथ तदुपादान अज्ञानकी निवृत्ति होती है। इस अभिप्रायसे प्रश्न करते हैं—पहले रज्जुसर्पको तुमने कहां देखा है ॥४०२॥

यदि पूर्वदृष्ट सजातीयका ही भ्रममें भान होता है, ऐसा कहो, तो प्रकृतमें भी वह है, ही ऐसा कहते हैं—'सत्यः सर्पः' इत्यादिसे।

रज्जुसर्पदर्शनसे पहले सत्य सर्प देखा है, इसलिए उसके संस्कारसे जन्य स्मृति द्वारा रज्जुसर्पका भ्रम होता है, तो क्या मायिक भेद पहले

सत्यं सर्पं पुरा दृष्ट्वा रज्जुसर्पं यथेक्षते ।
मिथ्याभेदं पुरा दृष्ट्वा सत्यं भेदं तथेक्षताम् ॥ ४०४ ॥
अत्यन्तादृष्टसत्त्वोऽपि सत्यो भेदो भ्रमान्नृणाम् ।
विभातीति स्थितं तस्मात् प्रसक्तं सन्निषिध्यते ॥ ४०५ ॥

---

भेद पहले नहीं देखा है ? नहीं; अवश्य देखा है, तो फिर भेदमें सत्यत्वबुद्धि क्यों न होनी चाहिए ? यदि यह कहिये कि भेद कहीं प्रमित न होगा, तो अन्यत्र उसका आरोप भी कैसे होगा ? प्रमितका ही आरोप होता है, ऐसा नियम नहीं है, किन्तु ज्ञातका आरोप होता है, अज्ञातका नहीं, ऐसा नियम है । ज्ञान भ्रम हो या प्रमा ? इसमें आग्रह नहीं है । यद्यपि पूर्वदृष्ट भेदमें मिथ्यात्वका अनुभव नहीं हुआ है तथापि वस्तुतः मिथ्यात्वविशिष्ट भेदका ज्ञान तो अवश्य हुआ है । तात्पर्य यह है कि जैसे पूर्वदृष्ट सत्य सर्पके सजातीय सर्पका ज्ञान रज्जुमें होता है, वैसे ही पूर्वदृष्ट मिथ्याभेदके सजातीय भेदमें सत्यत्वज्ञान भ्रमात्मक होता है । भ्रमप्रमासाधारण पूर्वज्ञान भ्रममें अपेक्षित है। प्रमोत्तर भ्रमके सदृश भ्रमोत्तर भी भ्रम होता है । लाघवसे पूर्वज्ञानमात्र आरोपमें कारण है, प्रमा नहीं, यह कह चुके हैं ॥ ४०३ ॥

अतिस्पष्ट करनेके लिए उक्त अर्थको ही फिर कहते हैं—**'सत्यं सर्पम्'** इत्यादिसे ।

जैसे पहले सत्य सर्पको देखकर रज्जुमें मिथ्या सर्प देखते हो, वैसे ही पहले मिथ्या भेद देखकर सत्य भेद देखो । यहांपर व्यावहारिकसत्यताके तात्पर्यसे सत्य-शब्दका प्रयोग किया गया है, वस्तुतः प्रपञ्चमात्रको मिथ्या माननेवाले वेदान्ती व्यावहारिक सर्पको भी नहीं मानते ॥ ४०४ ॥

**'अत्यन्ता०'** इत्यादि । यद्यपि भेद सत्यरूपसे प्रमित नहीं है, तथापि पूर्वानुभव-वासनासे सत्यरूपसे प्रतीत होता है । अतः प्रसक्त सत्यत्वमात्रका निषेध समुचित है । श्लोकार्थ यह है—अत्यन्तादृष्टसत्ताक सत्य भेद भ्रमसे मनुष्योंको प्रतीत होता है, अतः प्रसक्त है, इसलिए निषेध करते हैं । अतः अप्रसक्तप्रतिषेध दोष प्रकृतमें नहीं है । भेदके सत्यत्वमात्रका निषेध करते हैं, भेदका नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि द्वैतमात्रका निषेध करनेवाली श्रुतिसे विरोध होगा, इसलिए भेदका भी निषेध होना चाहिए ॥ ४०५ ॥

आगमो मायिकं भेदं न निषेधति किन्त्विमम् ।
मायिको भेद इत्येव प्रत्युत प्रतिपादयेत् ।। ४०६ ।।
यद्वदज्ञातमद्वैतं ब्रह्म ज्ञापयते तथा ।
भेदमायिकतां पुम्भिरज्ञातां ज्ञापयेच्छ्रुतिः ।। ४०७ ।।

'आगमः०' इत्यादि । 'नेह नाना०' इत्यादि आगम मायिक भेदका निषेध नहीं करता, किन्तु भेद मायिक है, इसीका प्रतिपादन करता है, अन्यथा उपजीव्यके साथ विरोध प्राप्त होगा । पदपदार्थके भेदके बिना वाक्यार्थका बोध ही नहीं होता । एक पदका तो वाक्य होता नहीं, किन्तु अनेक पदोंका वाक्य होता है । भेदका प्रतिषेध करनेपर पदमें एकत्वापत्ति हो जायगी एवं संसृष्टार्थबोध या संसर्गबोध मतभेदसे शाब्दबोध कहलाता है । एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें अभिमत संसर्गबोध तब होगा, जब पदार्थ दो माने जायँगे । भेदके बिना दो पदार्थ नहीं माने जा सकते, इसलिए वाक्यार्थ-बोधोत्पत्तिके लिए भेदका स्वीकार करना आवश्यक है । एवं आकाङ्क्षा, आसत्ति आदि शाब्दबोधके जनक कारणकलापके लिए भी भेद अपेक्षित है । कहां तक कहें ? भेदके बिना सब व्यवहार ही लुप्त हो जायगा । अभेदमें तो कोई व्यवहार हो ही नहीं सकता । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतिसे आत्मैक्यदशामें सम्पूर्ण व्यवहारोंके अभावका ही परिज्ञान होता है । इसलिए ऐहिकामुष्मिक फल और उनके साधन आदिके व्यवहारके लिए आविद्यिक भेदका स्वीकार करना आवश्यक है । मोक्षके विरोधी पारमार्थिक भेदका श्रुति प्रतिषेध करती है । संसारदशामें व्यवहारके लिए मायिक भेदका श्रुति स्वयं प्रतिपादन करती है । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' यहां पर इवशब्दसे वस्तुतः द्वैताभाव सूचित होता है । 'पश्यति' यह क्रियामात्रका उपलक्षण है । ज्ञानपूर्वक ही व्यवहार होता है, इसलिए सब व्यवहारका निदान भेदज्ञान है एवं संसारानर्थका मूल भी भेद ही है, 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इत्यादि श्रुति यह स्पष्ट ही कहती है । अनर्थके मूलका निर्मूलन करनेसे ही संसारदुःखसे छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा नहीं, इसलिए पारमार्थिक भेदका ही श्रुति निराकरण करती है, मायिकका नहीं । मायिक भेद तो स्वार्थबोधके अनुकूल होनेसे आदरणीय है ।। ४०६ ।।

'यद्वदज्ञात०' इत्यादि । जिस प्रकार श्रुति अज्ञात अद्वैत ब्रह्मका ज्ञापन

**न चाऽत्राऽपुरुषार्थत्वं ब्रह्मबोधाङ्गभावतः ।**
**न मायिकत्वमज्ञात्वा ब्रह्माऽद्वैतं विबुध्यते ॥ ४०८ ॥**

करती है, उसी प्रकार पुरुषोंसे अज्ञात भेदमें मायिकताका भी बोधन करती है। भेदमें मायिकताका ज्ञान होनेपर भेद मिथ्या है, यह निश्चय होता है। तदनन्तर ब्रह्ममें अद्वैतत्वका निश्चय होता है। मायिक अज्ञान कल्पित है। ज्ञान अज्ञानका विरोधी है। ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानसे कल्पित संसारकी निवृत्ति रूप अशेष दुःखकी निवृत्ति हो जाती है। अतः भेदपारमार्थिकत्वकी निवृत्ति भी पुरुषार्थ है और अज्ञात है, अतः अज्ञात पुरुषार्थकी ज्ञापक श्रुति उक्त अर्थमें प्रमाण है ॥४०७॥

भेदका निषेध पुरुषार्थ है, इसे स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—'**न चाऽत्रा०**' इत्यादि।

भेदका निषेध पुरुषार्थ नहीं है, अतः श्रुतिसे उसका बोधन करना व्यर्थ है, यह शङ्का नहीं कर सकते, कारण कि अद्वैत ब्रह्म परम पुरुषार्थ है। अद्वैतके ज्ञात होनेपर अद्वैत ब्रह्म ज्ञात होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए अद्वैत-ब्रह्मज्ञानका अङ्ग है—भेदमें मायिकत्वज्ञान। भेदमें मायिकत्वके ज्ञानके बिना अद्वैत ब्रह्मको नहीं जान सकते, क्योंकि विशेषणज्ञानपूर्वक ही विशिष्ट बुद्धि हुआ करती है, अन्यथा नहीं। यद्यपि सकलधर्मशून्य ब्रह्म है, अतः उसमें अद्वैतत्व धर्म भी नहीं रह सकता है, अतः उक्त न्यायसे अद्वैतत्वज्ञान ब्रह्मज्ञानका अङ्ग कैसे हो सकता है? यह शङ्का हो सकती है, तथापि 'एक-मेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रथम द्वैताभावविशिष्ट ब्रह्मविषयक बोध होता है, इस विशिष्टबुद्धिमें द्वैताभावज्ञान अङ्ग है, पुनः द्वैताभावधर्म भी यदि ब्रह्ममें मानेंगे, तो अद्वितीयत्वकी उक्ति व्याहत हो जायगी, इसलिए अभावको अधिकरण-स्वरूप मानकर द्वितीयाभाव ब्रह्मस्वरूप ही है, यह कहा जाता है। लेकिन ऐसा कहनेमें अड़चन यह है कि द्वैताभाव साध्य है, ब्रह्म सिद्ध है। साध्य सिद्ध-स्वरूप कैसे हो सकता है? इसलिए द्वैताभावोपलक्षितब्रह्मविषयक निर्विकल्पक ज्ञान वस्तुतः परम पुरुषार्थ है, ऐसा सिद्धान्त माना जाता है। किन्तु इस सिद्धान्तके अनुसार द्वैताभावज्ञान अद्वैतब्रह्मज्ञानका अङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि अङ्गाङ्गिभाव विशिष्टज्ञानमें होता है, निर्विकल्पकमें नहीं। अद्वैतब्रह्मज्ञान विश्वका निवर्तक है, यह भी कहना नहीं बनता, क्योंकि विरोध होनेपर निवर्त्यनिवर्तकभाव होता है, अन्यथा

अद्वैते द्वैतविभ्रान्तिं द्वैते सत्यत्वविभ्रमम् ।
आपादयेदियं माया रज्जुसर्पो यथा तथा ॥ ४०९ ॥
रज्जौ सर्पत्वमारोप्य सर्पेऽस्मिन् रज्जुसत्यताम् ।
सम्बन्धयति, तेनाऽयं सत्यः सर्प इवेक्ष्यते ॥ ४१० ॥

नहीं। तद्वत्ताज्ञान और तदभाववत्ताज्ञानमें परस्पर विरोध होनेसे बाध्य-बाधकभाव हो है, किन्तु यह ज्ञान सविकल्पक है। निर्विकल्पक ज्ञान न किसीका बाधक ही हो है और न बाध्य ही होता है, यह कहना ठीक है। साक्षात् निर्विकल्प ज्ञानमें बाध्यबाधकभाव नहीं होता है, किन्तु प्रथम द्वैताभावशिष्टब्रह्मज्ञा होता है, यह सप्रकारक है। इससे ब्रह्ममें द्वैतज्ञानका बाध होता है। तदनन्त भी श्रुतितात्पर्यका पर्यवसान नहीं होता, इसलिए द्वैताभावोपलक्षित ब्रह्मव निर्विकल्पक ज्ञान मानना पड़ता है। विशिष्टज्ञानपूर्वक उक्त निर्विकल्प ज्ञान माननेका तात्पर्य द्वैतनिवृत्तिमें है। प्रथम ही 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वाक्य निर्विकल्पक बोध माननेपर अविरोधसे द्वैतनिवृत्ति न होगी और उक्त उपदे अपुरुषार्थ हो जायगा, इस अभिप्रायसे सविकल्पक ब्रह्मज्ञानका अङ्ग होने परमपुरुषार्थके हेतु निर्विकल्पकको भी अङ्ग कहनेमें कोई अनौचित्य नहीं है अज्ञात और फलवत् ब्रह्मके तुल्य मायिक भेद भी अज्ञात और फलवत् है, इसलि उसका श्रुति द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। यद्यपि सामान्य अभेदमात्रका श्रुति प्रतिषेध प्रतीत होता है, तथापि मायिक भेदके बिना श्रुतिका वाक्यार्थबोध भी नहीं हो सकता, इसलिए सत्य भेदके निषेधमें ही श्रुतिका तात्पर्य निश्चित होता है। यदि भेद कल्पित है, यह श्रुति स्वयं ही प्रतिपादन करती है, तो इसीसे भेदमें सत्यत्वाभाव सिद्ध है, पुनः सत्यत्वका निषेध व्यर्थ है, इन शङ्काओंका परिहार करनेके लिए मायामें दो प्रकारके जो भ्रान्तिहेतुत्व हैं, उन दोनोंके निरासके लिए उन दोनों वचनोंकी आवश्यकता है ॥ ४०८ ॥

'अद्वैते' इत्यादि। अद्वैतमें द्वैतभ्रान्ति और द्वैतमें सत्यत्वभ्रान्ति मायाके प्रभावसे होती है। जैसा कि रज्जुमें सर्पभ्रान्ति और उसमें सत्यत्वभ्रान्ति दोषसे होती है। इन दोनों भ्रान्तियोंके विकासके लिए दो प्रकारकी माया मानी गई है ॥ ४०९ ॥

'रज्जौ सर्पत्व०' इत्यादि। रज्जुमें सर्पका आरोप कर उस आरोपित सर्पमें

तथैव ब्रह्मसत्यत्वं द्वैतसम्बद्धमीक्ष्यते ।
अतो द्वैतमिदं सत्यमिति मूढैर्विनिश्चितम् ॥ ४११ ॥
ब्रह्मैव सत्यं द्वैतं तु मायामयमिति श्रुतिः ।
प्रतिपादयितुं सत्यं द्वैतमत्र निषेधति ॥ ४१२ ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति मायामयं जगत् ।
अभ्युपेत्य वियन्मुख्यां सृष्टिं ब्रूते प्रयत्नतः ॥ ४१३ ॥
श्रुत्या मायामयो भेदो य एषोऽभ्युपगम्यते ।
उपजीव्यः स एवातो नोपजीव्यविरोधिता ॥ ४१४ ॥

---

सत्यताका सम्बन्ध माया करती है, इससे भ्रमकालमें रज्जुसर्प सत्य प्रतीत होता है, वास्तविक सर्प तो है नहीं, अन्यथा 'इयं रज्जुः' इस ज्ञानसे उसकी निवृत्ति न होगी ॥ ४१० ॥

दार्ष्टान्तिकमें उक्त अर्थका समन्वय करते हैं—'**तथैव**' इत्यादिसे ।

उक्त रीतिसे माया द्वैतकी प्रतीति कराती है और द्वैतमें रज्जुसर्पके सत्यत्वके समान अधिष्ठान ब्रह्मके सत्यत्वका आरोप करती है, इस कारण मूढ लोग द्वैतको सत्य मानते हैं ॥ ४११ ॥

'**ब्रह्मैव सत्यम्**' इत्यादि । ब्रह्म ही सत्य है; द्वैत तो मायामय है, ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है, इस कारण वह ब्रह्ममें द्वैतका निषेध करती है । और द्वैतमें सत्यत्वके निषेधके बिना मायामयत्वका प्रतिपादन नहीं हो सकता, इसलिए उक्त निषेध भी आवश्यक है ॥४१२॥

जिस वाक्यसे जगत्में मायिकत्वका बोध होता है, उसे कहते हैं—'**मायां तु**' इत्यादिसे ।

सत् और असत्से अनिर्वचनीय माया जगत्की उपादान है । उपादानका उपादेयके साथ अभेद है, इसलिए जगत् भी मायामय है; यह मानकर 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि वाक्यसे मायामय जगत्को मानकर सृष्टिका प्रतिपादन प्रयत्नसे किया गया है ॥४१३॥

'**श्रुत्या**' इत्यादि । भेद मायामय है, यह जो मानते हैं, सो मायिक भेद ही श्रुतिका उपजीव्य है, पारमार्थिक भेद नहीं । अतः भेदके सत्यत्वका निराकरण करनेसे उपजीव्यविरोधकी शङ्का नहीं है । व्यवहारकालाबाध्यस्वरूप व्यावहारिक भेद ही प्रत्यक्षादि प्रमाणका उपजीव्य है, पारमार्थिक नहीं ॥४१४॥

**निषेधविधिशास्त्रं च कल्पितं भेदमाश्रयेत् ।**
**तस्मान्न वास्तवाद्वैतशास्त्रं तेनाऽत्र बाध्यते ॥ ४१५ ॥**
**अक्षादीनां च मध्ये किं मानं भेदावबोधकम् ।**
**प्रत्यक्षमनुमानं वा मानाभावोऽथवेर्यताम् ॥ ४१६ ॥**
**प्रत्यक्षं वस्तुबोध्येव न तु भेदावबोधकम् ।**
**न च भेदस्य वस्तुत्वं वस्तुतत्त्वाश्रुतत्वतः ॥ ४१७ ॥**

**'निषेध०'** इत्यादि। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि विधिशास्त्र और 'मा हिंस्यात्' इत्यादि निषेधशास्त्र कल्पित व्यावहारिक भेदका आश्रयण करते हैं; पारमार्थिकका नहीं, इस कारण वस्तुतः वे अद्वैतशास्त्रके बाधक नहीं हो सकते, विरोध होनेपर ही बाध्य-बाधकभाव होता है। यदि श्रुतिसे व्यावहारिक भेदका निषेध होता और प्रत्यक्षादिमें पारमार्थिक भेद ही निमित्त होता, तो विरोध होनेसे बाध्य-बाधकभावकी सम्भावना होती, सो प्रकृतमें नहीं है, क्योंकि विषयके भेदसे दोनों अपने-अपने विषयमें व्यवस्थित हैं। पारमार्थिक भेदका निषेध अद्वैत श्रुतिका विषय है और व्यावहारिक भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणका निमित्त है, अतः अद्वैतागमका प्रत्यक्षादिसे बाध नहीं है॥४१५॥

**'अक्षादीनां च'** इत्यादि। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें कौन-सा प्रमाण भेदबोधक है, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान किंवा मानाभाव? यहाँपर अनुमान उपमान और अर्थापत्तिका उपलक्षण है। शब्द भेदबोधक नहीं है, यह निरूपण कर चुके हैं। उक्त प्रमाणोंमें से एक भी प्रमाण भेदबोधक नहीं हो सकता, इस अर्थको अति-स्पष्ट करनेके लिए ही उक्त विकल्प किये गये हैं ॥३१६॥

**'प्रत्यक्षम्'** इत्यादि। प्रथम कल्पके अनुसार प्रत्यक्ष भेदबोधक है, यह कहिये, तो ठीक नहीं है, कारण कि घटादिके ज्ञानक्षणमें भेदज्ञान होता है या क्षणान्तरमें? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष वस्तुबोधक है, भेद भी वस्तु है, तो उसका बोधक क्यों नहीं होगा? भेद वस्तु नहीं है, क्योंकि भेदकी वस्तुत्वेन श्रुति नहीं है। जो घटादिकी तरह वस्तु है, वह निरपेक्षबुद्धिग्राह्य है। प्रतियोगी और अधिकरणके ज्ञानसे सापेक्ष बुद्धि द्वारा ग्राह्य भेद वस्तु नहीं है। यह भी विचार कीजिये कि भेद घटस्वरूप है या अतिरिक्त? यदि घटस्वरूप है, तो घटमें ही अन्तर्गत होनेसे उसे भावस्वरूप मानना चाहिए, अभावस्वरूप मानना उचित नहीं है। यदि घट निरपेक्षबुद्धिग्राह्य है; तो भेद सापेक्षबुद्धिग्राह्य कैसे हुआ? यदि अतिरिक्त मानें, तो भेदविशिष्टमें भेद रहता है कि भेदशून्यमें?

मितिर्वस्तु प्रसाध्याथ न क्षमा भेदसाधने ।
विरम्य व्यापृतिर्नास्ति प्रमितेः क्षनिकत्वतः ॥ ४१९ ॥
वस्तुमात्र उपक्षीणात्प्रत्यक्षान्न तु भेदधीः ।
यथा तथाऽनुमानाच्च परस्परसमाश्रयात् ॥ ४२० ॥
विरुद्धकर्मधर्मत्वे धर्मिभेदोऽनुमीयते ।
एकस्मिन्ननवस्थानं विरोधो धर्मयोर्मतः ॥ ४२१ ॥

भिद्यमान घटादि वस्तुके बिना पटादिमें घटादिभेदकी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि भेदग्रह भिद्यमानतन्त्र है अर्थात् भिद्यमान घटादिस्वरूप प्रतियोगीके ज्ञानके बिना पटादिमें घटादिभेदका ज्ञान नहीं होता, अतः भेदाश्रय पटादि वस्तुमात्रकी सिद्धि पटादिज्ञानसे होती है, भेदकी नहीं ॥ ४१८ ॥

द्वितीय विकल्पके अनुसार घटादिग्राहक ज्ञान द्वितीय क्षणमें भेदका ग्रहण करता है, इसका निराकरण करते हैं—'**मितिर्वस्तु**' इत्यादिसे ।

ज्ञान वस्तुका ग्रहण करके पश्चात् द्वितीय क्षणमें भेदका ग्रहण करता है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्षणिकज्ञानमें विरम्य अर्थात् ठहर कर पुनः व्यापार नहीं होता, कारण कि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' यह सब शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है, इसलिए किसी भी पक्षसे वस्तुग्राहक ज्ञानसे भेदका ग्रहण बन नहीं सकता ॥ ४१९ ॥

प्रत्यक्षके सदृश अनुमान भी भेदबोधक नहीं है, यह कहते हैं—'**वस्तुमात्रे**' इत्यादिसे ।

वस्तुस्वरूपमात्रके ग्रहणमें उपक्षीण प्रत्यक्षसे भेदका ज्ञान जैसे उक्त रीतिसे नहीं होता, वैसे ही परस्पराश्रय दोषसे अनुमान द्वारा भी भेदबुद्धि नहीं होती ॥ ४२० ॥

'**विरुद्धकर्म०**' इत्यादि। विरुद्ध कर्म (पूर्व-पश्चिममें युगपत् गत्यादि) एवं धर्म——घटत्वपटत्वादि—से धर्मिभेदका अनुमान होता है, कर्म तथा धर्ममें विरोध है, एक धर्मीमें साथ न रहना सहानवस्थान है। परस्पराश्रय इस प्रकार है—विमतौ घटपटौ भिन्नौ, विरुद्धधर्मवत्त्वात्, गवाश्ववत्; इस अनुमानमें हेतु है—विरुद्धधर्मवत्त्व। घटत्वपटत्वमें विरोधज्ञान कैसे होता है? इमौ विरुद्धौ, नियमेन धर्मिद्वयनिष्ठत्वात्——अर्थात् घटत्व और पटत्व ये दोनों धर्म विरुद्ध हैं, क्योंकि नियमसे सदा दो धर्मियोंमें

द्विधर्मिस्थत्वनियमाद्विरोधेऽनुमिते सति ।
अनुमेयो धर्मिभेद इत्यन्योन्यसमाश्रयः ॥ ४२२ ॥
अथाऽविरुद्धधर्माभ्यामपि धर्मी विभिद्यते ।
तर्हि दाहप्रकाशाभ्यामग्नेर्भेदः प्रसज्यते ॥ ४२३ ॥
अर्थापत्तिरनेनैव न्यायेनाऽत्र निराकृता ।
उपमानमनाशङ्क्यं तस्य सादृश्यसंक्षयात् ॥ ४२४ ॥

रहते हैं, इस अनुमानसे उक्त धर्ममें विरोधज्ञान होता है, धर्मिभेदज्ञान उक्त अनुमानके अधीन है, यह अन्योन्याश्रय स्पष्ट है ॥४२१॥

उक्त अर्थका ही स्पष्टीकरण करते हैं—'द्विधर्मि०' इत्यादिसे ।

घटत्व और पटत्व दो धर्मियोंमें ही—रहते हैं, इस नियमके ज्ञानसे उनके परस्पर विरोधका अनुमान होता है और उक्त विरोधके अनुमानसे धर्मीके भेदका अनुमान होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय स्पष्ट ही है ॥४२२॥

'अनेकधर्मवत्त्वात्' इस द्वितीय कल्पके निराकरणके लिए कहते हैं—'अथाऽवि०' इत्यादि ।

यदि अविरुद्ध अनेक धर्मोंसे धर्मीका भेद माना जाय, तो दाह, प्रकाश आदि अनेक धर्मोंके रहनेसे अग्निमें भी स्वभेदकी प्रसक्ति हो जायगी, अतः अविरुद्ध अनेक धर्मोंकी स्थिति भेदसाधिका नहीं है, किन्तु विरुद्ध अनेक धर्मोंकी स्थिति ही भेदसाधिका है, ऐसा मानना होगा । लेकिन अन्योन्याश्रय दोष होनेसे वह भी भेदसाधक नहीं हो सकेगी, अतः भेदमें प्रमाण नहीं है, यह परम तात्पर्य है ॥४२३॥

अर्थापत्तिसे भी भेद सिद्ध नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'अर्थापत्ति०' इत्यादिसे ।

अर्थापत्तिको नैयायिक अनुमानके अन्तर्गत मानते हैं, इसलिए अनुमानके ही दूषणोंसे अर्थापत्ति भी दूषित होगी । अर्थापत्ति अनुमानसे अतिरिक्त प्रमाण है, इस मतमें भी अर्थापत्तिमें अनुमानोक्त दूषण हैं ही, क्योंकि विरोधान्यथानुपपत्तिसे धर्मिभेदज्ञान और भिन्नधर्मिनिष्ठत्वज्ञानसे विरोधज्ञान, इस प्रकार अर्थापत्तिमें अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है । उपमानमें तो भेदसाधकत्वकी शङ्का ही नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो सादृशके ग्रहण करानेमें ही उपक्षीण हो जाता है ॥४२४॥

मानाभावोऽपि नैवाऽत्र भेदं बोधयितुं क्षमः ।
मेयाभावैकविषयो वादिभिः सोऽभ्युपेयते ॥ ४२५ ॥
नन्वन्योन्याभावमेव भेदमाहुर्विपश्चितः ।
मानाभावेन मेयोऽतो भेद इत्यप्यसङ्गतम् ॥ ४२६ ॥
मानाभावस्य मानत्वं मेयाभावस्य मेयता ।
न्यायं न सहतेऽतीव तल्लक्षणवियोगतः ॥ ४२७ ॥
अबुद्धबोधकं मानमिति मानस्य लक्षणम् ।
न च पञ्चप्रमाणानामभावो बोधकः क्वचित् ॥ ४२८ ॥

भेद अनुपलब्धि प्रमाणसे गम्य है, इसका निराकरण करते हैं—**'मानाभावोऽपि'** इत्यादिसे ।

प्रमाणाभाव भी भेदके बोधनमें समर्थ नहीं है, क्योंकि प्रमाणाभावरूप अनुपलम्भ मेयाभावैकविषय (मेयाभावका ही परिच्छेदक) है, ऐसा वादी लोग मानते हैं, अतः अनुपलब्धिसे अभावमात्रका ग्रहण होता है। वैधर्म्यलक्षण भेद तो अभावसे विलक्षण है, इसलिए अनुपलब्धि प्रमाणसे उक्त भेदका ग्रहण नहीं हो सकता ॥४२५॥

भेद अभावसे विलक्षण—वैधर्म्य-लक्षण—नहीं है, किन्तु वह अन्योन्याभाव-स्वरूप माना गया है, अतः उक्त प्रमाणका विषय है, यह कहते हैं—**'नन्वन्यो०'** इत्यादिसे ।

विद्वान् भेदको अन्योन्याभावस्वरूप मानते हैं, अतः वह अभावसे विलक्षण नहीं है, किन्तु अभावस्वरूप ही है, इसलिए वह अनुपलब्धि प्रमाणसे गम्य हो सकता है, यह कहना भी असङ्गत है ॥४२६॥

**'मानाभावस्य'** इत्यादि । प्रमाणाभाव प्रमाण है, प्रमेयाभाव प्रमेय है, यह कथन तो विचार करनेके योग्य भी नहीं है, कारण कि जो प्रमाणाभाव है, वह प्रमाण कैसे हो सकता है, क्योंकि प्रमाणाभाव प्रमाणका विरोधी होता है । यदि वह प्रमाणस्वरूप माना जाय, तो प्रमाणाभावका प्रमाणके साथ अत्यन्त अभेद हो जायगा एवं प्रमेयाभावको प्रमेय कहना भी नहीं बन सकता; क्योंकि इसमें भी उक्त विरोध है, अतः प्रमाणका लक्षण प्रमाणाभावमें और प्रमेयका लक्षण प्रमेयाभावमें नहीं जाता ॥४२७॥

प्रमाणाभावमें प्रमाणका लक्षण नहीं जाता, इस बातको स्पष्ट करनेके लिए प्रमाणका लक्षण कहते हैं—**'अबुद्धबोधकम्'** इत्यादिसे ।

अज्ञातज्ञापकत्व यह प्रमाणका लक्षण है। प्रत्यक्ष अनुमान आगम

**निरस्तसर्वसामर्थ्याद्यद्यभावप्रमाणता ।**
**वन्ध्यापुत्रः प्रमाता स्यात्समत्वान्मातृमानयोः ॥ ४२९ ॥**
**योग्यस्याऽनुपलब्धिर्या मेयाभावस्य बोधने ।**
**तस्याः सामर्थ्यमिति चेन्न तत्सिद्धेरसम्भवात् ॥ ४३० ॥**

शब्द और अर्थापत्ति—इन पांचों प्रमाणोंके अभाव कहीं भी किसी अर्थके बोधक नहीं माने जाते, कारण कि प्रमाण स्वसम्बद्ध प्रमेयके भासक होते हैं। सत्का सम्बन्ध सत्के साथ होता है, तुच्छ अभावके साथ तुच्छ अभावके संयोग आदि सम्बन्ध नहीं हो सकते। यदि असंबद्ध प्रमाणसे असंबद्ध प्रमेयका भान मानें, तो असंबद्धत्वाविशेषसे सम्पूर्ण जगत्का भान होने लगेगा। लेकिन ऐसा होता नहीं है, अतः प्रमाणसंबद्ध प्रमेयका ही भान मानना समुचित है। जैसे नीलका घटके साथ सम्बन्ध है, वैसे ही अभावका सम्बन्ध यदि भावके साथ होगा, तो भाव और अभावका विरोध ही शान्त हो जायगा ॥४२८॥

विरोध न रहनेसे अभावसे भावका अपह्नव नहीं हो सकेगा और निरस्त-समस्तसामर्थ्य अभाव यदि किसी प्रमितिका जनक होगा, तो बन्ध्यापुत्र भी किसीका प्रमापक होगा, यह दोष कहते हैं—'**निरस्तसर्व०**' इत्यादिसे।

सर्वसामर्थ्यहीन अभावमें यदि अन्यप्रमितिजनकत्व है, तो बन्ध्यापुत्रको भी प्रमाता—प्रमासमवायी—मान सकते हैं। प्रमाता और प्रमाणमें समता है। प्रमितिकरण प्रमाण है। यदि अन्त्यन्तासत्पदार्थ भी प्रमितिका करण होगा, तो प्रमितिका कारण प्रमाता भी अत्यन्त असत् हो सकता है, क्योंकि कारणत्वरूप सामान्य धर्म दोनोंमें समान है, कारणविशेष ही करण और कर्ता होते हैं, सामान्य धर्म कारणत्व दोनोंमें रहता है। अनुपलब्धि अभावके ज्ञानमें प्रमाण नहीं है, इसमें साधक कहते हैं—समस्तसामर्थ्य-राहित्य। सो ठीक नहीं है, क्योंकि योग्यानुपलब्धि अभावसाधक है, यह अनुभवसिद्ध है। जैसे किसीने पूछा कि घट है? तो उत्तरदाता स्पष्ट निरीक्षण करके कहता है—नास्ति घटः, अनुपलब्धेः, यदि स्यादुपलभ्येत अर्थात् घट नहीं है, क्योंकि देख नहीं पड़ता, यदि होता, तो पटादिके सदृश देख पड़ता। पटादि देखनेपर घट नहीं दीख पड़ता, इसलिए नहीं है, यह सर्वानुभवसिद्ध है ॥ ४२९ ॥

अनुभवका अपलाप करना समुचित नहीं है, यह शङ्का करते हैं—'**योग्यस्यान०**' इत्यादिसे।

मेयाभावः प्रमाणानां यद्यभावेन गम्यते ।
प्रमाणानामभावस्य गमकः को भविष्यति ॥ ४३१ ॥
किञ्चाऽयं सर्वमानानामभावः कीदृगुच्यताम् ।
स्तैमित्यमात्मनः स्याचेत्तद्ब्रह्मैवास्मदीहितम् ॥ ४३२ ॥
विकल्पमात्ररूपोऽयमभावोऽतो न वास्तवः ।
नहि मायातिरेकेण भाववत्सिद्धिमश्नुते ॥ ४३३ ॥

जो योग्यानुपलब्धि है, उसमें प्रमेयाभावबोधनकी सामर्थ्य है, यह उक्त सर्वानुभवसे सिद्ध है, उसका अपलाप करना अनुचित नहीं है, किन्तु समुचित है, कारण कि अनुपलब्धिसाधक प्रमाणाभाव है। अनुपलब्धिमें यदि कोई प्रमाण ही नहीं है, तो अनुपलब्धि स्वयंसिद्ध है, फिर सर्वानुभवसिद्ध वह कैसे हो सकती है ॥४३०॥

अनुपलब्धिमें प्रमाणाभावको स्पष्ट करते हैं—'मेयाभावः' इत्यादिसे।

यदि प्रमाणाभावसे प्रमेयाभावकी प्रमिति होती है यह कहते हो, तो यह बतलाओ कि प्रमाणाभावकी प्रमिति किससे होती है? प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अनुपलब्धिका ज्ञान होता है यह तो कह ही नहीं सकते, अन्यथा अनुपलब्धिकी तरह मेयाभावका भी ज्ञान उक्त प्रमाणोंसे ही हो सकता है फिर अतिरिक्त अनुपलब्धि प्रमाणकी आवश्यकता ही क्या है? यदि अभाव तुच्छ है, उसके साथ इन्द्रियादिका सम्बन्ध नहीं है, इसलिए अनुपलब्धि प्रमाणकी आवश्यकता है, तो प्रमाणाभावकी भी उपलब्धि उक्त कारणसे इन्द्रियादिसे नहीं हो सकती, इसलिए उसकी उपलब्धि यदि अनुपलब्धिसे ही कहिए, तो मानमेयभाव भेदाश्रित है, अभेदमें मानमेयभाव नहीं होता, अतः उपलब्ध्यभावसे उपलब्ध्यभावका ग्रहण कैसे होगा? इसपर भी ध्यान देना चाहिए। दूसरी बात यह है कि अभाव दुर्निरूप है, इसलिए भी वह प्रमाण नहीं हो सकता ॥४३१॥

**'किञ्चाऽयम्'** इत्यादि। यह सर्वप्रमाणाभाव कैसा है यह कहिए? आत्माकी निर्व्यापारावस्थिति अभाव है अथवा भावान्तर, किंवा भावविलक्षण? प्रथम पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं कि निर्व्यापारात्मावस्थान तो ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त अभाव नहीं है, यही कहिए ॥ ४३२ ॥

**'विकल्पमात्र०'** इत्यादि। 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस योगसूत्रके अनुसार जैसे विषयके न होनेपर भी शब्दज्ञान होता है. इसलिए वस्तुशून्यविषयक ज्ञान

विश्वं सदेव यस्येष्टं तस्याऽभावो मितेः कुतः ।
तेनाऽभावद्वारतोऽपि भेद आपाद्यते कथम् ॥ ४३४ ॥
यावत्किञ्चिज्जगत्यस्मिन्भेदकं वस्तु लक्ष्यते ।
अनापन्नादिमध्यान्तं सदेव तदितीक्ष्यताम् ॥ ४३५ ॥

विकल्पज्ञान कहलाता है, वैसे ही अभावज्ञान भी विकल्पात्मक ही है। उसका विषय अभाव कुछ नहीं है, अतः खपुष्पादिज्ञानके समान अभावज्ञानको भी समझना चाहिए। 'भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया' इस प्राचीनोक्तिके अनुसार यदि भावमें अभावका अन्तर्भाव कीजिए तो भावाद्वैतकी प्रसक्ति होगी अर्थात् भावसे अतिरिक्त कोई पदार्थान्तर नहीं है। यदि च भावका अभावमें अन्तर्भाव मानिये, तो अभावाद्वैतकी प्रसक्ति होगी, अतः अभाव वास्तविक पदार्थ नहीं है, इस कारण भावके सदृश अभाव पदार्थके सिद्ध नहीं होनेसे वह मायिक माना जाता है ॥४३३॥

**'विश्वम्'** इत्यादि। जिसके मतसे सम्पूर्ण विश्व सदात्मक है, उसके मतमें मितिका ( बुद्धिका ) अभाव ही है। यदि वह भी विश्वके अन्तर्गत ही है, तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिके अनुसार वह भी सद्रूप ही है, अतिरिक्त नहीं। यदि विश्वके अन्तर्गत नहीं है, तो है ही नहीं, फिर सदात्मक है या असदात्मक ? इसका विचार ही निरालम्ब है। और यदि प्रतियोगीको भी सत् मानते हैं और अनुपलब्धिकी भी सत्ता मानते हैं, तो सत्त्वेन दोनोंको एकरूप ही मानना आवश्यक है, फिर दोनोंमें वैलक्षण्य नहीं बन सकता। भावाभावमें आप वैलक्षण्य मानते हैं, सो असङ्गत हो जायगा; अतः भेदका अन्योन्याभावमें अन्तर्भाव करनेपर भी प्रमाणसे अन्योन्याभावकी सिद्धि नहीं हो सकती, इसका उपसंहार करते हैं—**'तेन'** इत्यादिसे। इस कारण अभाव द्वारा भी भेदका आपादन कैसे करते हैं ? ॥४३४॥

भावभूत घट और घटत्व अर्थात् धर्मी और धर्मका जैसे परस्पर सम्बन्ध है, वैसे ही भाव और अभावका भी सम्बन्ध हो सकता है, इस शङ्काका निराकरण करनेके लिए दृष्टान्तासिद्धिका प्रदर्शन करते हैं—**'यावत्किञ्च'** इत्यादिसे।

भेदकरूपसे अभिमत घटत्व आदि निखिल धर्म आदि, मध्य और अवसान रहित अपरिच्छिन्न सन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं, अतः प्रकृतमें [illegible] नहीं है। [illegible] आदिसे भी [illegible] होनेसे यदि उनमें

सदेवेदमिति स्पष्टं सन्मूला इति चाऽपरम् ।
श्रुत्योदाहारि नः साक्षात्सदैकात्म्यावबुद्धये ॥ ४३६ ॥

वास्तविक धर्मधर्मिभाव ही नहीं है, तो तद्वत् भावाभावका भी सम्बन्ध सकता है, यह कहना भी दृष्टान्तशून्य है ॥ ४३५ ॥

सब सन्मात्रस्वरूप है, इसमें प्रमाण कहते हैं—'**सदेवेमिति**' इत्यादिसे ।

यह प्रत्यक्षरूपसे उपलक्षित सब जगत् सन्मात्र ही है, [एवकारसे तदतिरिक्त व्यावृत्ति विवक्षित है] इससे स्पष्ट जाना जाता है कि ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ वास्तविक नहीं है । 'सन्मूलाः सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः' इत्यादि श्रुतिसे श्रुतार्थाप द्वारा ब्रह्ममय जगत् है, ब्रह्मातिरिक्त सब कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं, यह अर्थाप प्रमाण द्वारा ज्ञात होता है । साक्षात्-परम्परा प्रमाणोपन्यासके तात्पर्यसे दो वचनों प्रकृतमें उपादान किया गया है, इससे आत्मा ही एक परमार्थ सत्य दूसरा नहीं; यह बोध हम लोगोंको होता है ।

अच्छा तो घटादिभेद पटस्वरूप न सही, किन्तु पटका धर्म है, ऐसा य माना जाय, तो क्या दोष है? इस शङ्का पर कहते हैं—भेद वस्तुका धर्म है अवस्तुका? यदि वस्तुका धर्म है, तो धर्मी वस्तु है और धर्मको भी वस् मानते हैं, ऐसी दशामें वस्तुत्वेन धर्मी और भेदरूप धर्म दोनों एक ही हो जाते इसलिए धर्मधर्मिभाव ही नहीं हो सकेगा । भेदघटित ही धर्मधर्मिभाव सर्वत्र द है । यदि च धर्मभूत भेद अवस्तु है, तो धर्म और धर्मीका भेद तो हो सकता है किन्तु धर्मी और प्रतियोगी घट-पटका अभेद हो जायगा, कारण कि भेद अवस्तु है ऐसा कहते हो । अभेद पारमार्थिक वस्तु है, यह स्वतःसिद्ध होता है । भेद अवस् धर्म है, इस द्वितीय कल्पका आश्रयण करते हो, तो अवस्तु धर्म कहनेसे वस्तुरू घटादिका धर्म भेद नहीं हैं, यह सिद्ध होता है, फिर घट और पटका ऐक्य ह सिद्ध होता है । ऐक्यमें बाधक वास्तविक वस्तु धर्मभेद नहीं है, यह स्वयं स्वीका करते हो? अच्छा तो वस्तु भिन्न-भिन्न स्वरूप है, यह मानेंगे । 'सदेव सोम्येद मग्रमासीत्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार सत्त्वरूपसे घट पट, आदिमें अभेद औ घटत्वादिरूपसे भेद, इस प्रकार माननेसे भेदाभेदकी एकत्र स्थितिमें विरोध नहीं अतएव विश्व भेदाभेदोभयविषयक प्रमाणका विषय माना जाता है ।

समाधान—यदि वस्त्वात्मना अभेद मानते हैं, तो अभेद ही प्रमेय होगा, भेद नहीं; कारण कि परमार्थ सद्वस्तुका स्वभावतः भेद तो हो नहीं सकता। पुरुषबुद्धिसे कल्पित भेद परमार्थ सत् नहीं कहलाता। भेद मेय है, वस्तुस्वरूप होनेसे, घटकी तरह, इस अनुमानसे यदि भेदको वस्तुस्वरूप मानें, तो वह अभावात्मक नहीं होगा। यदि स्वका स्वमें भेद नहीं है, अतः स्वकी अपेक्षासे वस्तु है, अन्यकी अपेक्षासे अभावात्मक भेद है, तो जो सत्य वस्तु है, वह पुरुषकल्पित भेदसे वस्तुतः भिन्न कैसे हो सकती है?

यदि भेद स्वकारणसे समुत्पन्न सत्य अतएव अनपेक्षस्वरूप वस्त्वात्मक है, तो सापेक्ष होकर वस्तुमें भेदव्यवहार नहीं करा सकता, क्योंकि सापेक्ष और निरपेक्ष ये दोनों भिन्न हैं। एक ही पदार्थ सापेक्ष और निरपेक्ष परस्पर विरुद्ध स्वभावका नहीं होता। अपेक्षा जो वस्तुतः पुरुषधर्म है, वह अचेतन शब्दमें कदापि नहीं रह सकती। यदि पुरुषमें रहनेवाली अपेक्षासे निर्मित भेद है, तो भेद सत्य नहीं, तादृश अपेक्षाकृत धर्म वस्तुमें रज्जुसर्पके समान कल्पित है।

शङ्का—जो पुरुषापेक्षाकृत धर्म है, वह कल्पित होता है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि पुत्रादिमें पुरुषापेक्षाकृत ही पुत्रत्व है। पिताकी अपेक्षासे ही पुत्रत्व तथा पुत्रकी अपेक्षासे पितृत्व होता है। सब सबके न पुत्र ही कहे जा सकते हैं, और न पिता ही। फिर भी पुत्रत्वादि धर्म कल्पित नहीं कहे जाते।

समाधान—पुत्रके शरीरमें पितृजन्यत्व तथा पिताके शरीरमें पुत्रजनकत्व धर्म वस्तुतः कल्पित ही हैं। व्यवहारदशामें यद्यपि वे बाधित नहीं है, तथापि परमार्थ-दशामें शरीरात्मभ्रमके सदृश बाधित ही हैं, जिसके मतमें परमार्थ दशामें विश्व-मात्रका बाध इष्ट है, उसके मतमें पुत्रत्वादिके बाधमें शङ्का ही अनुचित है। व्यवहारदशामें भी शरीरका ज्ञान निरपेक्ष इन्द्रियादि द्वारा जैसे होता है वैसे ही पित्रादिज्ञानके बिना अमुकके पुत्र हैं, अमुकके पिता हैं यह ज्ञान नहीं होता, इसलिए पुत्रत्वादि धर्म कल्पित ही हैं, वास्तविक नहीं हैं। प्रत्यक्ष तथा अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा भेदकी सिद्धिका निराकरण हो चुका। अब अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाणसे भी भेद सिद्ध नहीं हो सकता, यह भी जानना आवश्यक है। किसीका मत है कि भेद अनुमानादिसे सिद्ध है। विमत भिन्न है, भिन्नका कार्य होनेसे, मृदादिवत्, इस अनुमानसे घट, पटादि कार्य तथा तत्कारणोंमें भेद सिद्ध होता है एवं कारण-भेदके बिना कार्यभेद अनुपपन्न है। अतः अनुपपन्न कार्यभेद स्वोपपादक कारण-

भेदका साधक होता है। विचार करनेपर यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पूर्वोक्त अनुमानमें व्यभिचार है। भिन्न कार्य भिन्नहेतुक होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि एक ही अग्निसे दाह, पाक आदि अनेक कार्य होते हैं। दाह, पाक आदिमें भिन्नकार्यत्व है, किन्तु भिन्नकारणजन्यत्व नहीं है। एक ही अग्निसे उक्त कार्योंकी उत्पत्ति सर्वानुभवसे सिद्ध है। इसी तरह अर्थापत्तिमें दोष है, एवं अन्यथाप्युपपत्ति भी है, क्योंकि कारणभेदके बिना कार्यभेद अनुपपन्न नहीं है, प्रत्युत एक ही अग्निसे दाह, पाक आदि अनेक कार्य उपपन्न हैं। अतः उक्त दोषसे उक्त दो प्रमाण भी भेदसाधक नहीं हो सकते।

शङ्का—एक ही कारणसे अनेक कार्य होते हैं, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दाह, पाक, प्रकाश आदि अनेक कार्य एक अग्निसे ही नहीं होते, किन्तु अग्निगत तत्तत्कार्यानुकूल अनेक शक्तिसे होते हैं, इसलिए उक्त अनुमानमें उक्त व्यभिचार तथा अर्थापत्तिमें अन्यथोपपत्तिरूप पूर्वोक्त दोष नहीं हो सकते।

समाधान—शक्ति केवल उक्त कार्यकी कारण है, यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि शक्तिमें कारणता कहीं दृष्ट नहीं है। शक्ति स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है, जिससे अन्वयव्यतिरेक द्वारा वह कारण है यह निश्चय हो सके, किन्तु कार्यानुमेय है। अतः कार्यभेदके ज्ञानसे शक्तिभेदज्ञान और शक्तिभेदज्ञानसे कार्यभेद-ज्ञान माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है। शक्तिका भेद कार्यभेदका हेतु है, यह माननेपर भी एक ही वह्नि अनेक कार्यानुकूल अनेक शक्तिका आश्रय है, यह जैसे मानते हैं, वैसे ही एक ही अनेक कार्योंका कारण है, ऐसा क्यों नहीं मानते? ऐसा माननेपर उक्त दो प्रमाण उक्त दूषणसे दुःष्ट हैं, इसलिए भेदसाधक नहीं हो सकते। जैसे कारणमें भेद और अभावका निराकरण हुआ वैसे ही कार्यमें भी भेद तथा अभावका निराकरण होता है। घटाभाव पटस्वरूप है? एवं पटाभाव घटस्वरूप है। यदि ऐसा मानते हैं, तो 'घटो न' इस प्रकार घटाभावतया निष्पन्न पटमें तदभावतया घटकी निष्पत्ति होगी एवं 'पटो न' इस प्रकार पटाभावरूपसे निष्पन्न घटमें घटाभावतया पटकी सिद्धि होगी। घट और पटको परस्पराभावात्मक माननेसे घटकी सिद्धि होनेपर पटकी सिद्धि होगी और पटकी सिद्धि होनेपर घटकी सिद्धि होगी

धर्मभेदावभासेऽपि धर्म्यभेदो यथेष्यते ।
तथा गवादेर्भेदेऽपि सन्मात्रं न हि भिद्यते ॥ ४३७ ॥

है अथवा भिन्न ? प्रथम पक्षमें भावाद्वैत ही हो जायगा, अतः तदतिरिक्त पृथक्त्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा । पृथक्त्व यदि वस्तुसे भिन्न है, ऐसा मानिए, तो वस्तुसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकेगा । सम्बन्ध भी भेद और अभेदसे दुर्वच ही है । और यह भी शङ्का होती है कि भाव और अभावकी पृथक्ता है, या नहीं ? द्वितीय विकल्पमें भाव और अभाव एक ही हो जायँगे । प्रथम विकल्पमें पृथक्त्वका भाव और अभावके साथ सम्बन्ध ही दुर्घट हो जायगा, क्योंकि धर्म और धर्मीका तादात्म्य ही सम्बन्ध माना जाता है । अत्यन्त भेदमें उक्त सम्बन्ध नहीं होता । यदि अत्यन्त भेदके होते हुए भी सम्बन्ध माना जाय, तो भाव और अभावमें अद्वैतकी प्रसक्ति होगी, अतः पृथक्त्वलक्षण भेद है ही नहीं । इसपर भी यदि पृथक्त्वलक्षण भेद मानो, तो फिर प्रश्न हो सकता है कि घटमें पृथक्त्व स्वकी अपेक्षासे है अथवा अन्यकी अपेक्षासे ? प्रथम पक्ष तो असङ्गत है, क्योंकि घटकी ही शून्यता हो जायगी । द्वितीय कल्पमें घट तो स्वयं अभिन्न है ।

यदि कहो कि घटमें अन्यकी अपेक्षासे पृथक्त्व है तो अन्यापेक्ष धर्म सर्पके समान कल्पित है, परमार्थ नहीं है । अतः कल्पित धर्मसे वस्तुभेद तात्त्विक नहीं माना जा सकता ।

शङ्का—अच्छा तो घटमें पृथक्त्व और अपृथक्त्व दोनों धर्म मानेंगे । स्वकी अपेक्षासे अपृथक्त्वव्यवहार होगा और पदार्थान्तरकी अपेक्षासे पृथक्त्व-व्यवहार भी होगा । ऐसा माननेसे घटाद्वैतकी प्रसक्ति भी न होगी ।

समाधान—पृथक्त्व और अपृथक्त्व ये दोनों धर्म घटसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न ? इन दोनों विकल्पोंमें सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह पूर्वमें कह चुके हैं । जिस प्रकार कमलमें अनेक रूप, रस, गन्ध आदिके रहनेपर भी वह स्वयं अखण्ड एक वस्तु है उसी प्रकार घटमें पृथक्त्व आदि अनेक धर्मोंके माननेपर भी वह स्वयं अखण्ड ही कहा जा सकता है ॥ ४३६ ॥

'धर्मभेदा०' इत्यादि । गौ, घट आदिमें परस्पर पृथक्त्वाख्य भेद होनेसे विशिष्ट सन्मात्रका भी भेद आवश्यक है । सन्मात्र अखण्ड कैसे हो सकता है ? इस शङ्काका परिहार करते हैं—पृथक्त्व, गोत्व, घटत्व आदि धर्मोंका भेद होनेपर

**न गवादिभिदा मेया गवादेर्व्यभिचारतः।**
**सदेव मेयं सर्वत्र सद्रूपस्याऽनपायतः ॥ ४३८ ॥**

भी धर्मी भिन्न नहीं होता, किन्तु अखण्ड ही रहता है, अन्यथा दाह, पाक, प्रकाश आदि धर्मोंके भेदसे अग्निमें भी स्वतः भेदकी आपत्ति हो जायगी। इसलिए धर्मके भेदमात्रसे धर्मीका भेद नहीं होता, यह मानना आवश्यक है। अतएव घटादिके भेदमात्रसे सत्का भेद नहीं माना जाता। सन्मात्र ही प्रमाणका विषय है। व्यभिचार होनेसे गवादि प्रमेय नहीं हैं। 'सन् गौः' 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीतिमें गौ, घट आदि परस्पर व्यावृत्त हो जाते हैं, पर सन्मात्र सब प्रतीतियोंमें अनुस्यूत रहता है, इसलिए सन्मात्र ही प्रमेय है। अथवा भेदका तो उक्त रीतिसे निराकरण हो चुका, इसलिए भेद प्रमेय नहीं है। अगर काल्पनिक भेद मानें, तो भी पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोषसे उसके दूषित होनेके कारण वस्तुतः सन्मात्र ही प्रमेय है।

श्लोकार्थ—जैसे दाह, प्रकाश आदि धर्मोंका भेद होनेपर भी धर्मी अग्नि भिन्न नहीं है वैसे ही गौ, घट आदिके भिन्न होनेपर भी सन्मात्र धर्मी भी भिन्न नहीं है; किन्तु सर्वत्र अनुस्यूत होनेसे अभिन्न ही है ॥ ४३७ ॥

'सन् गौः', 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीतियोंसे सन्मात्र ही मेय कैसे है? गौ, घट आदि भी उक्त प्रतीतिके विषय होनेसे मेय क्यों नहीं हैं? इसपर कहते हैं—**'न गवादि०'** इत्यादि।

'सन् गौः' इत्यादि प्रतीतिसे यदि गोत्व आदि मेय हैं, तो यह कहिए कि गोत्वादिमात्र मेय हैं अथवा सद्रूप भी? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'घटः सन्' 'पटः सन्' इत्यादि सब प्रतीतियोंमें भासमान सद्रूपका त्याग कर गोत्वादि ही मेय हैं, यह कहना निष्कारण और अनुभवविरुद्ध है एवं सद्रूपसे अतिरिक्त गोत्व आदि हो भी नहीं सकते। द्वितीय पक्षमें सद्रूप ही मेय है, क्योंकि सद्रूप उभयसंमत है, गोत्व आदि नहीं हैं, क्योंकि वे सब प्रतीतियोंमें अनुस्यूत नहीं हैं, प्रत्युत व्यभिचारी हैं। जैसे शाबलेयादि गोपदार्थ नहीं है, क्योंकि वह खण्ड, मुण्ड आदि गौमें व्यभिचारी है; इसलिए शाबलेय, खण्ड आदि सम्पूर्ण गोव्यक्तियोंमें अनुस्यूत गोत्व ही गोशब्दार्थ है वैसे ही गोत्वादि भी निखिलव्यक्तिमें अनुस्यूत न होनेसे प्रमेय नहीं हैं, किन्तु सर्वत्र अनुस्यूत सद्रूप ही प्रमेय है ॥ ४३८ ॥

सद्रूपमपि सन्त्यज्य भ्रमाद्भेदनिबन्धनाः ।
व्यवहाराः प्रतीयन्ते सत्तत्त्वं तेष्ववस्थितम् ॥ ४३९ ॥

शङ्का—यदि सर्वत्र अव्यभिचारी ही प्रमेय है व्यावृत्त गोत्व आदि प्रमेय नहीं है, तो सन्मात्र भी सर्वत्र अनुगत नहीं है, क्योंकि सामान्य, विशेष और समवायमें सत्ता जाति नहीं है। अतः सत्ता भी व्यावृत्त ही है, सर्वत्र अनुस्यूत नहीं है, इसलिए सत्ता भी प्रमेय नहीं है।

यदि कहो कि सामान्य आदिमें सत्ता जाति नहीं है, तो भी उनमें स्वरूपसत्त्व मानते हैं, इसलिए सामान्य आदिसे सद्रूप व्यावृत्त नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्ता जाति द्रव्यादिमें है और सामान्यादिमें स्वरूपसत्त्व है, ऐसा माननेपर सत्ता भी व्यभिचारी होनेसे खण्ड, मुण्ड आदिकी तरह सच्छब्दवाच्य नहीं है, इस शङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं—'सद्रूपमपि' इत्यादि।

घट, पट आदि अवान्तर पदार्थोंसे जो व्यवहार होते हैं वे सब सद्रूपके बिना नहीं हो सकते, इसलिए घट, पट आदिमें सद्रूप स्थित है, यह मानना होगा। द्रव्य, गुण और कर्मसे अतिरिक्त सामान्य, विशेष और समवायमें कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए ये पदार्थ ही नहीं हैं। अतः इनमें व्यभिचारकी आशङ्का व्यर्थ है, सन्मात्र ही तत्त्व है, उससे अतिरिक्त और सब सन्मात्रमें कल्पित हैं। सकल कल्पनाका आश्रय सन्मात्र ही मेय है।

शङ्का—सन्मात्रसे अतिरिक्त सकल पदार्थ सन्मात्रमें कल्पित हैं, यह कहना उचित नहीं है, कारण कि नैयायिक आदि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छः पदार्थोंको पारमार्थिक मानते हैं।

समाधान—हाँ मानते हैं, पर विचार करनेपर वे सिद्ध नहीं होते। सामान्य और विशेष ये दो वस्तुएँ हैं अथवा विशेष ही वस्तु है किंवा सामान्य-विशेषात्मक एक ही वस्तु है? प्रथम पक्षमें द्रव्यत्व विशेष है सत्ता सामान्य है इन दोनोंका भेद नहीं हो सकता, कारण कि यदि विशेषोंको अनुवृत्त सत्सामान्यसे शून्य मानें, तो उनमें सत्ताके न होनेसे वे तुच्छ हो जायँगे, क्योंकि उनमें सत्ता ही नहीं है, तो वे अतिरिक्त पदार्थ कैसे? और भेद होनेपर उक्त छः पदार्थ परस्पर भिन्न हो सकते हैं, पर भेदका तो पहले ही निराकरण हो चुका, फिर भी उन्हें भिन्न मानना निष्प्रामाणिक

ही है। अतः सामान्य और विशेष ये दो वस्तुएँ हैं, यह कथन सर्वथा असंगत ही है। द्रव्यत्व और सत्ता परस्पर भिन्न नहीं हैं, किन्तु अभिन्न ही हैं। इसमें साधक एकाकार प्रतीति है। भिन्न प्रतीतिसे भिन्न विषयकी सिद्धि होती है। एकाकार प्रतीतिसे विभिन्न विषयकी सिद्धि कहीं नहीं देखी गई है।

विमतं सतो न भिद्यते, एकाकारधीविषयत्वात्, सद्वत्, इस अनुमानसे प्रत्युत विषयाभेद ही सिद्ध होता है। 'सद् द्रव्यम्', 'सन् गुणः' इत्यादि एकाकार प्रतीति स्पष्ट है।

शङ्का—सामान्य और विशेषकी एकाकारप्रतीति विषयैक्यप्रयुक्त नहीं है, किन्तु सम्बन्धैक्यप्रयुक्त है। सामान्य और विशेषका सम्बन्ध समवाय एक है, इसलिए एकाकारप्रतीति होती है।

समाधान—प्रमाणसे भेद सिद्ध होनेपर यह कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। और सम्बन्धके एक होनेसे एकाकार प्रतीति भी नहीं होती, अन्यथा दण्ड और पुरुषका एक ही संयोग सम्बन्ध है, अतः वहां भी दण्डी और पुरुषकी एकाकार प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु भिन्न विषय होनेसे एकाकारप्रतीति नहीं होती। अतः सम्बन्धैक्यसे प्रतीतिमें एकाकारताका समर्थन असंगत है।

शङ्का—संयोगसम्बन्धका स्वभाव यह न सही, किन्तु समवायसम्बन्धका स्वभाव ऐसा ही है।

समाधान—एकाकार प्रतीति विषयैक्यप्रयुक्त है? किंवा सम्बन्धैक्यप्रयुक्त? समवायैक्यप्रयुक्त एकाकार प्रतीति है, यह निश्चयात्मक बुद्धि तो नहीं हो सकती, कारण कि 'गोत्वमेकम्' इत्याकारक एकत्वबुद्धि गोत्वमें भी होती है, पर वह एकत्वबुद्धि समवायकृत नहीं है। गोत्वमें एकत्वसंख्या समवायसे नहीं रह सकती, क्योंकि द्रव्यसे अतिरिक्तमें गुणका समवाय नहीं माना जाता। एकत्वसंख्या गुण-स्वरूप है, अतः उक्त एकत्वबुद्धि स्वरूपैक्यप्रयुक्त है। एवं 'सद् द्रव्यम्' इत्याकारक प्रतीति स्वरूपैक्यप्रयुक्त है सम्बन्धैक्यप्रयुक्त नहीं है, यह निश्चय करते हैं। सामान्य और विशेषका समवाय मानकर यह कहा कि एकाकार प्रतीति विषयैक्य-प्रयुक्त है, सम्बन्धैक्यप्रयुक्त नहीं है।

वस्तुतः समवायसम्बन्ध ही नहीं हो सकता, अतः ऐक्यसे एकाकार प्रतीति सुतराम् असंगत है। सत्सामान्यसे अतिरिक्त समवायमें कोई प्रमाण नहीं है। और समवाय माननेमें यह भी दोष है कि समवाय स्वतन्त्र है या परतन्त्र?

**न सत्तत्त्वं परित्यज्य भ्रान्तिदृष्ट्यादयः क्वचित् ।**
**एकाकारा हि संवित्तिः सद्द्रव्यं सद्गुणास्थितिः ॥ ४४० ॥**

प्रथम पक्षमें 'द्रव्यगुणयोः समवायः' यहांपर षष्ठी विभक्ति नहीं हो सकती। द्वितीय विकल्पमें समवायका समवायीके साथ कौन सम्बन्ध है? यह बतलाना पड़ेगा। सम्बन्धियोंमें रहनेवाला सम्बन्ध बुद्धिजनक सम्बन्ध माना जाता है। यदि सम्बन्ध स्वयं धर्मीमें न रहेगा, तो उसमें संसृष्टबुद्धिजनकत्व कैसे होगा? असम्बद्ध संसर्ग यदि सम्बद्धबुद्धिजनक होगा, तो अन्यत्र भी धर्म्यन्तरमें सम्बद्धबुद्धिजनक हो जायगा, इसलिए धर्मीमें संसर्गका संसर्ग अवश्य मानना पड़ेगा। तो समवायका सम्बन्ध क्या है? संयोग या समवाय? प्रथम पक्षमें द्रव्यमें द्रव्यका ही संयोग होता है, यह नियम है। समवाय अद्रव्य है, इसलिए संयोग सम्बन्ध हो नहीं सकता। यदि समवाय स्वयं अपना सम्बन्ध होगा, तो आत्माश्रय दोष होगा। समवायान्तर माननेमें अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, आदि दोष होंगे। इसके अतिरिक्त समवाय और नित्य द्रव्य ये दोनों असमवेत हैं, यह जो स्वसिद्धान्त है, उसकी भी क्षति होगी।

समवायमें समवायितन्त्रस्वभाव स्वतःसिद्ध है। अतः उसे सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो समवायकी कल्पना व्यर्थ है। सत्त्वेन ऐक्यधी-प्रयोजक समवायकी कल्पना सार्थक है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि जैसे समवायमें पारतन्त्र्य स्वाभाविक है वैसे ही द्रव्यादिमें सत्त्वेन ऐक्य-बुद्धिको भी स्वाभाविक मान सकते हैं। इसीसे एकाकार बुद्धि हो जायगी, इसके लिए समवायकी कल्पना व्यर्थ ही है ॥ ४३९ ॥

**'न सत्तत्त्वम्'** इत्यादि। सत्तत्त्वका परित्याग करके कोई भ्रमप्रमासाधारण व्यवहार नहीं होता। 'सन् घटः', 'सन् पटः' इत्यादि व्यावहारिक प्रमाव्यवहारमें तथा शुक्ति-रूप्यभ्रमदशामें 'सदिदं रजतम्' इत्यादि भ्रमात्मक व्यवहारमें सन्मात्रका त्याग नहीं है, किन्तु व्यवहारमात्र सत्सामान्यको लेकर ही होता है, अतः सत्सामान्य ही प्रमेय है। 'सन् घटः' 'सन् पटः' इत्यादि एकाकार प्रतीति विषयैक्यके बिना नहीं हो सकती, इसलिए सद्रूप विषय परमार्थ सत् होनेसे प्रमेय है। तदतिरिक्त घट, पट आदि अवान्तर भेद कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं ॥ ४४० ॥

सत्तावगुण्ठितास्तेन सर्वे भावाः सदैव हि ।
व्यवहाराय कल्पन्ते भेदो भ्रान्त्याऽवभासते ॥ ४४१ ॥
प्रमाणैरखिलैश्चात्र सद्वस्त्वेव प्रतीयते ।
तस्माद्वस्त्वेकनिष्ठत्वान्न भेदोऽक्षादिगोचरः ॥ ४४२ ॥

सामान्य और विशेष दो वस्तुएँ हैं, इस मतका निराकरण करनेके अनन्तर वस्तुतः विशेषात्मक ही वस्तु है, सामान्य नहीं, इस मतका प्रतिक्षेप करते हैं— 'सत्तावगुण्ठिता०' इत्यादिसे ।

व्यवहारकालमें सकल विशेष सदा सत्तासे व्याप्त होकर ही व्यवहारके योग्य होते हैं, सत्तासे शून्य विशेष असत् है, अतः वह व्यवहारयोग्य भी नहीं है, अतः सम्पूर्ण विशेष वस्तुतः सदात्मक ही है । भासमान घट, पट आदि भेद चन्द्रभेदके समान भ्रान्तिगोचर हैं । वस्तुतः चन्द्रमा एक ही है, किन्तु दृगन्तचिपिटीकरण आदि दोषसे दो चन्द्रोंकी प्रतीति होती है, किन्तु इस प्रतीतिके अनुसार दो चन्द्र नहीं माने जाते, चन्द्रभेद प्रमाणका अविषय होनेसे भ्रान्तिकल्पित ( मिथ्या ) है ।

शङ्का—यदि सत्त्व सर्वानुगत हो, तो सब व्यवहार सत्ताव्याप्त हैं, यह कह सकते हैं, किन्तु ऐसी सत्तामें प्रमाण ही क्या है ?

समाधान—प्रमाण है—'द्रव्यं सत्', 'गुणादिः सन्' इत्याकारक प्रतीति । यदि सर्वानुस्यूत ब्रह्मस्वरूप सत्त्व न होता, तो सर्वत्र एकाकारप्रतीति ही न होती । उक्त प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है, इसलिए विशेषातिरिक्त सामान्य पारमार्थिक है । सामान्य-विशेषोभयात्मक वस्तु है, यह मत भी समीचीन नहीं है । यदि सामान्य-विशेषात्मक वस्तु है, तो सामान्य और विशेष धर्मीस्वरूप वस्तुसे अभिन्न हैं, अतएव भेद नहीं है । भेदाभावसे दो वस्तु कहना अत्यन्त असंगत है, अतः सन्मात्र परमार्थ सत् है ॥ ४४१ ॥

'प्रमाणैरखिलै०' इत्यादि । सब प्रमाणोंसे सत् वस्तु ही प्रतीत होती है, अतः सब प्रमाण सद्वस्तुनिष्ठ हैं—सद्वस्तुमात्रके ग्राहक हैं, इसलिए भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणगोचर नहीं है भेदके बिना भिन्न वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥४४२॥

घटोऽयमिति संवित्त्या घट एव प्रमीयते ।
न व्यावृत्तिः पटादिभ्यस्त्वताद्रूप्येण संविदः ॥ ४४३ ॥

यदि घटादि स्वरूपकी प्रमिति नहीं है, तो घटार्थी पुरुषकी नियमसे घटमें प्रवृत्ति कैसे होगी ? क्योंकि ज्ञानके बिना चेतनकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए कहते हैं—'घटोऽयम्' इत्यादि ।

'अयं घटः' इत्यादि प्रतीतिसे घट भी प्रमित होता है, अगर यह मानें, तो भी घटादिनिष्ठ पटादिव्यावृत्ति ( पटादिभेद ) नहीं प्रतीत होती, क्योंकि 'पटादि-भिन्न' ऐसी प्रतीतिके बिना घटादिका भेद प्रतीत नहीं होता ।

यदि 'घटः' इत्यादि प्रतीतिसे घटस्वरूपमात्रका भान होता है, पटादि-भेदका नहीं, तो उक्त ज्ञान होनेपर भी 'पटभिन्नो न वा' इस संशयकी आपत्ति होगी। और पटादिव्यावृत्त घटादिस्वरूपमानके बिना घटार्थीकी असन्दिग्ध घटानयनमें प्रवृत्ति भी न होगी, इसलिए पटादिव्यावृत्त घटादिप्रतीति 'अयं घटः' इत्यादि प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अवश्य होती है, यह स्वीकार करना उचित है।

शङ्का—अच्छा तो घटादिका निर्विकल्पक ज्ञान पटादिव्यावृत्तिका भासक है ? अथवा सविकल्पक ? प्रथम पक्षमें निर्विकल्पक ज्ञान बाल, मूकादिके विज्ञानके सदृश वस्तुमात्रालोचनात्मक है, यह सिद्धान्त असंगत होगा, यदि पटादिव्यावृत्ति प्रकारविधया उक्त ज्ञानमें प्रतीत होगी, तो सप्रकारक होनेसे निर्विकल्पकत्वकी हानि होगी।

द्वितीय पक्षमें 'अयं घटः' यह ज्ञान घटमात्रविषयक है, पटव्यावृत्तिकी प्रतीति अनुभवविरुद्ध है। पट आदिकी व्यावृत्ति घटत्व ही है, अतिरिक्त नहीं है, अतः घट आदि व्यावृत्तिका भान अनुभवविरुद्ध नहीं है, यह भी पक्ष असङ्गत है, क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे पटादिव्यावृत्ति घटस्वरूप नहीं हो सकती, इसका निरूपण कर चुके हैं। और प्रतियोगिज्ञानके बिना भेदज्ञान हो भी नहीं सकता। 'अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वम्' यह सर्वसम्मत है, अतः प्रत्यक्ष इतर-व्यावृत्तिका भासक नहीं है, क्योंकि घटादिप्रतियोगिज्ञानजनक सामग्री नहीं है। इसी प्रकार घटादिविषयक प्रत्यक्षको भी समझना चाहिए। भेदका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, यह सिद्ध होनेपर अभाव भी नहीं सिद्ध होता। भावभिन्नत्व ही अभावका लक्षण है। भेदका निरास होनेपर उक्तलक्षणलक्षित अभावका भी निरास स्वतः सिद्ध हो

जाता है। 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुस्थितिः' यह सर्वसंमत सिद्धान्त है। और भी अभावनिरासक युक्तियां हैं। तथाहि—अभाव साश्रय है किंवा निराश्रय ? प्रथम पक्षमें फिर प्रश्न होता है—घटाश्रय है अथवा अर्थान्तराश्रय ? द्वितीय प्रश्नके प्रथम कल्पमें घटप्रागभाव घटाश्रित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रागभावके समय घट नहीं है और घटके समय प्रागभाव नहीं है। भिन्नकालिकका विषयतासम्बन्धसे अतिरिक्त सम्बन्धसे आश्रयाश्रयिभाव नहीं होता। घटका भेद घटमें रहता नहीं और उक्त रीतिसे भेद है ही नहीं, अतः तद्विषयक विचार ही करना काकदन्त-परीक्षाके समान निष्फल है, अतएव तत्सापेक्ष अभाव भी असिद्ध ही है।

द्वितीय कल्पके द्वितीय पक्षमें अर्थान्तरसे अभाव विवक्षित है अथवा भाव ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अभावाधिकरणक अभाव अधिकरणरूपसे विवक्षित अभावस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं, अतः भेदघटित आश्रयाश्रयिभाव अभेदमें कैसे होगा ? द्वितीय विकल्पमें भाव और अभावका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि सत्का सत्के साथ सम्बन्ध माना जाता है, इसलिए 'सदसतोः सम्बन्धानर्हत्वात्' यह अभियुक्तोक्तिके अनुसार भावाभावका सम्बन्धाभाव कह चुके हैं। तो 'घटो नास्ति', 'घटः पटो न भवति' इत्यादि प्रतीतिकी क्या गति होगी ? अभावप्रतीति विकल्पात्मक है, यही गति है, दूसरी नहीं, 'विकल्पोऽपि वस्तुविषयकः, प्रत्ययत्वात्, घटादिप्रत्ययवत्', इस अनुमानसे विकल्पविषय भी तो कोई वस्तु ही है ? नहीं, क्योंकि 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस योगसूत्रके अनुसार विकल्पप्रत्यय वस्तुविषयक नहीं माना जाता। पुरुषचैतन्य, शशशृङ्ग आदि प्रत्ययकी तरह निर्विषयक ही प्रत्यय है, अतः उक्तानुमान भी असंगत है। प्रथम [illegible]पके द्वितीय पक्षको मानें, तो अभाव आकाशादिकी तरह स्वतन्त्र हो जा[illegible] [illegible]से इष्टापत्ति नहीं मान सकते, क्योंकि 'इदमिह नास्ति', 'इदमिदं न [illegible] इ[illegible]दि प्रतीतिसे प्रतियोग्यधिकरणसापेक्ष ही अभाव माना जाता है, [illegible]

यदि[illegible] [illegible]यं घटः' इत्यादि ज्ञानसे घटके समान भेद और अभावका भी भा[illegible] [illegible]लिए भेद और अभावकी बुद्धि विकल्प नहीं है, तो इसप[illegible] [illegible]:' इत्यादि बुद्धि जैसे घटविषयक है, यह सर्वानुभव-सि[illegible] [illegible]अभाव न वस्तुस्वरूप ही हैं और न वस्तुधर्म ही हैं। [illegible]षयक ही है, भेदाभावविषयक नहीं है। संशयादिकी

व्यावृत्तिरूपं चेद्भाति भासेत प्रतियोग्यपि ।
प्रतियोगि जगत्सर्वं नाऽसर्वज्ञेन गृह्यते ॥ ४४४ ॥
घटेतरत्वं सामान्यरूपेण यदि गृह्यते ।
तर्ह्यन्योन्याश्रयो दोषो न दण्डेन निवार्यते ॥ ४४५ ॥
व्यावृत्तेः प्रथमं सिद्धावितरत्वं प्रसिद्ध्यति ।
इतरत्वे च सिद्धेऽथ तद्व्यावृत्तिः प्रसिद्ध्यति ॥ ४४६ ॥

---

तरह घट, पट आदि विषय बुद्धिमें अध्यस्त हैं, अतएव बुद्धिभिन्न नहीं हैं, वास्तविक घटादिकी सत्ता नहीं है ॥ ४४३ ॥

यदि घटज्ञानमें घटादिके सदृश पटादिभेदका भान होगा, तो पटादि अनन्त पदार्थोंके अनन्तभेदोंके भानकी आपत्ति होगी। किसी एक भेदका भान होता है, ऐसा माननेमें कोई विनिगमक नहीं है, यदि कहो कि यद्यपि निखिल प्रतियोगियोंका प्रातिस्विकरूपसे प्रतियोगिज्ञान नहीं हो सकता, तथापि स्वेतरत्वरूपसे सब प्रतियोगियोंका अनुगम कर तदवच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदका घटज्ञानमें भान हो सकता है ? तो इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'**व्यावृत्तिरूपम्**' इत्यादिसे ।

यदि घटज्ञानमें स्वेतरव्यावृत्तिका भान मानें, तो भी तो स्वेतरत्वज्ञान निखिल प्रतियोगियोंमें होना आवश्यक है, परन्तु असर्वज्ञ पुरुषको ऐसा हो नहीं सकता । अगर हो, तो सब लोग सर्वज्ञ हो जायँगे ॥ ४४४ ॥

यदि शङ्का हो कि विशेषरूपसे ज्ञान होनेसे सर्वज्ञता होती है, अतः स्वेतरत्वसामान्यधर्मप्रकारक जगद्विशेष्यक ज्ञान होनेसे सर्वज्ञताकी आपत्ति नहीं हो सकती । प्रकृतमें स्वेतरत्वसामान्यधर्मसे प्रतियोगिज्ञान मान कर घटादिमें स्वेतरव्यावृत्तिका भान मानते हैं, अतः सर्वज्ञता दोषकी आपत्ति भी नहीं हो सकती, तो इसपर कहते हैं—'**घटेतरत्वम्**' इत्यादि ।

यदि घटेतरत्वसामान्यधर्मप्रकारक प्रतियोगिज्ञान द्वारा घटज्ञानमें घटेतरव्यावृत्तिका भान मानोगे, तो अन्योन्याश्रय दोषका दण्डसे भी निवारण नहीं होगा ॥४४५॥

अन्योन्याश्रय दोषको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'**व्यावृत्तेः**' इत्यादिसे ।

यदि 'पट घटसे भिन्न है' यह ज्ञान प्रथम हो, तो पटादिमें घटेतरत्वज्ञान हो और यदि पटमें घटेतरत्वज्ञान हो, तो उसमें घटव्यावृत्तिका ज्ञान हो, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोषसे पटादिमें घटादीतरत्वका ज्ञान ही नहीं हो सकता, तो

घटादिभेदोपाधिश्चेत् सुतरां भ्रान्त एव सः ।
न पारमार्थिकं क्वाऽपि रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥ ४५० ॥
सम्यक्संशयमिथ्याख्याः संविद्भेदाः स्वतो यदि ।
तन्न, धीवृत्तिधर्मत्वात्सम्यक्त्वाद्या न चिद्गताः ॥ ४५१ ॥

आकाशमें भेदभान नहीं होता । अतः अन्वय और व्यतिरेक द्वारा यह निश्चय होता है कि उक्त दोनों आकाशोंमें जो भेद प्रतीत होता है, वह औपाधिक ही है, एवं 'घटज्ञानम्' इत्यादि स्थलमें भी उपाधिभूत घटादिगत भेदका ज्ञानमें भान होता है, इसलिए यह संविद्भेद स्वाभाविक नहीं है ॥४४९॥

औपाधिक भेदके स्पष्टीकरणके लिए कहते हैं—'घटादि०' इत्यादि ।

संविद्भेद घटादिगतकल्पितभेदप्रयुक्त है, ऐसा माननेसे उक्त भेद कल्पित ही सिद्ध होता है, स्वाभाविक (परमार्थसत्) नहीं । जैसे रज्जुसर्पके कल्पित होनेके कारण उसका गमन भी कल्पित ही होता है, सत्य नहीं, वैसे ही घटादिमें कल्पित पटादिभेद भी कल्पित है, तो तन्मूलक संविद्भेद भी कल्पित ही है, सत्य नहीं । इसीको स्पष्ट समझानेके लिए रज्जुसर्पविसर्पणका दृष्टान्त दिया है ॥ ४५० ॥

प्रकारान्तरसे संविद्भेदकी आशङ्का करते हैं—'सम्यक्' इत्यादिसे ।

समीचीन ज्ञान, संशयज्ञान, मिथ्याज्ञान इत्यादि रूपसे ज्ञानोंमें भेद प्रतीत होता है । संशयज्ञान निश्चयादिज्ञानसे स्वरूपतः विषयतः भिन्न है । इस भेदको कल्पित नहीं कह सकते, कारण कि ज्ञान घटादिकी तरह कल्पित नहीं है, अन्यथा शून्य-वादापत्ति हो जायगी । इसलिए ज्ञानको परमार्थ सत् मानते हैं । अतएव रज्जुसर्प-सर्पणादि दृष्टान्त इसमें लागू नहीं हो सकता । आन्तरज्ञानगत भेद यदि पारमार्थिक होगा, तो अद्वैतव्याघातका परिहार न हो सकेगा, अतः फिर बाह्य भेदका निराकरण करनेसे क्या लाभ ? इस आक्षेपका उत्तर देते हैं कि सम्यक् ज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि भेद भी पारमार्थिक नहीं है, किन्तु कल्पित ही है, कारण कि यह सम्यक्-मिथ्याज्ञान अन्तःकरणवृत्त्यात्मक है, चैतन्यस्वरूप नहीं है, अतः अन्तःकरणवृत्तिके सम्यक्-त्वादिसे भिन्न होनेपर भी चैतन्यमें अखण्डत्वकी क्षति नहीं है, क्योंकि अन्तः-करणादिके कल्पित होनेसे उक्त रज्जुसर्पविसर्पणन्यायसे तद्भेद भी कल्पित ही है । अतएव आन्तरिक भेद भी बाह्य भेदके समान कल्पित ही है, परमार्थ सत् नहीं

स्फुरणं रज्जुसर्पेति न मिथ्या बाधवर्जनात् ।
तद्बाधे रज्जुतत्त्वस्य पश्चात् स्फूर्तिः कथं भवेत् ॥ ४५२ ॥
रज्जुस्फूर्तिः पृथक्सर्पस्फूर्त्तेरिति मतं यदि ।
कथं तर्हि प्रयुज्येत स्फूर्तिरित्यर्थयोर्द्वयोः ॥ ४५३ ॥
स्फूर्त्तित्वजात्यनुगमादिति चेत् स्वस्ति ते यतः ।
व्यावृत्तमनुवृत्तं च द्वयमङ्गीकृतं त्वया ॥ ४५४ ॥

---

है । चित्में यदि स्वरूपतः भेद नहीं मानते, तो रज्जुसर्पस्फुरण भी सत्य हो जायगा, क्योंकि स्फुरण तो चैतन्यस्वरूप है, वृत्त्यात्मक नहीं ॥४५१॥

वृत्ति स्वयं जड़स्वरूप है और स्फुरण ( प्रकाश ) सत्य है, यह तो मानते ही हैं, अतः यह इष्टप्रसंजन ही है । अतएव कहते हैं—**'स्फुरणम्'** इत्यादि ।

बाधक होनेसे रज्जुसर्पस्फुरण मिथ्या है, यह नहीं कह सकते, कारण कि 'रज्जुरियं न सर्पः' इत्यादि बाधक ज्ञानसे कल्पित सर्पमात्रका बाध होता है । स्फुरणका नहीं । भ्रमके निवृत्त होनेपर भी यह कोई नहीं कहता कि रज्जुमें सर्पका स्फुरण नहीं हुआ था । यदि वह भी कल्पित होता, तो उक्त सर्पनिषेधके सदृश स्फुरणका भी स्वरूपसे निषेध होता—स्फुरणं नाऽभूत् । प्रत्युत स्फुरणका स्वीकार किया जाता है—इतने काल तक रज्जुका सर्परूपसे स्फुरण हुआ ॥४५२॥

**'रज्जुस्फूर्तिः'** इत्यादि । अधिष्ठान रज्जुका स्फुरण आरोप्य सर्पस्फुरणसे भिन्न है, यदि ऐसा मानते हैं, तो पारमार्थिक भेद सिद्ध होनेसे अद्वैतका व्याघात तथा 'स्फुरणं स्फुरणम्' इस एकाकार प्रतीतिकी अनुपपत्ति भी होगी, विषयैक्यके बिना एकाकार प्रतीति कहीं नहीं देखी गई है ॥५५३॥

अनुगत बुद्धि प्रकारान्तरसे होती है, यह शङ्का करते हैं—**'स्फूर्तित्व-जात्य०'** इत्यादिसे ।

जैसे व्यक्तिभेद होनेपर भी सकल गवादि व्यक्तियोंमें अनुगत गोत्व एक ही है, इसलिए सकल गोव्यक्तियोंमें गौ इस प्रकार एकाकार प्रतीति होती है, वैसे ही स्फुरण व्यक्तियोंके भिन्न होनेपर भी स्फुरणत्वसामान्य सब स्फुरणव्यक्तियोंमें अनुगत एक ही है तन्निबन्धन एकाकार प्रतीति होती है, यदि ऐसा कहो, तो तुम्हारा कल्याण हो, क्योंकि तुम ज्ञातव्यको जान गये । केवल शब्दोंमें ही भेद हुआ

भाषाभेदेऽप्यर्थभेदो नाऽस्ति कश्चिदिहावयोः ।
जातिव्यक्ती त्वदीयाख्ये चिद्बुद्धिर्मम भाषया ॥ ४५५ ॥
गोत्वादिष्वप्ययं न्यायो योजनीयो विपश्चिता ।
सर्वत्राऽनुगतं ब्रह्म व्यावृत्तिर्मायिकी खलु ॥ ४५६ ॥
सम्यक्संशयमिथ्याख्या भिन्नाकाराः स्वतो धियः ।
मातृमानप्रमित्याद्या अपि तद्वत्समीरिताः ॥ ४५७ ॥
सम्यक्त्वादौ प्रमात्रादावपि भेदो घटादिवत् ।
कल्पितः,कल्पिताः सर्वे विशिंषन्ति स्वसंविदम् ॥ ४५८ ॥

अर्थ उभयसंमत एक ही है, कारण कि अनुवृत्त और व्यावृत्त दो प्रकारके पदार्थ आप भी मानते हैं, आप व्यावृत्तको व्यक्ति कहते हैं और अनुवृत्तको सामान्य। हम व्यावृत्तको कल्पित ( मायिक ) कहते हैं और अनुवृत्तको ब्रह्म कहते हैं, इस प्रकार केवल शब्दमें ही भेद है। अर्थ दोनोंका—आपका और हमारा—एक ही है ॥५५४॥५५५॥

उसीको स्पष्ट करते हैं—'**गोत्वादिष्व०**' इत्यादिसे ।

नैयायिकादिसंमत गोत्वादि जातिमें भी इसी न्यायका संचार करना चाहिए। गवादि सकलव्यक्त्यनुगत गोत्वादि सामान्य सन्मात्र ब्रह्मस्वरूप है। गवादि व्यक्ति मायिक—मायाकल्पितमात्र—है, यही विद्वानोंको निश्चय करना चाहिए। हम लोग सामान्यको सद् ब्रह्मस्वरूप मानते हैं, वे लोग जाति कहते हैं। इस प्रकार केवल शब्दमात्रमें भेद है, अर्थमें नहीं है ॥४५६॥

'**सम्यक्**' इत्यादि । 'इदं समीचीनज्ञानम् , अयं संशयः, इदं मिथ्याज्ञानम्' इत्यादि स्थलमें भी संशयत्व, सम्यक्त्वादिके भेदसे बुद्धिमें भी औपाधिक भेदकी प्रतीति होती है। स्वतः बुद्धिमें भेद नहीं है। एवं 'अहं प्रमाता', 'इदं प्रमाणम्' इत्यादि प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय-विषयक ज्ञानमें वास्तविक भेद नहीं है, किन्तु घटादिभेदसे कल्पित भेद है ॥४५७॥

'**सम्यक्त्वादौ**' इत्यादि। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, प्रमातृत्व, प्रमाणत्व आदि भेद घटादिके समान कल्पित हैं, पारमार्थिक नहीं। सब कल्पित पदार्थ स्वविषयक बुद्धिके विशेषक होते हैं। अर्थात् 'घटज्ञानम्, पटज्ञानम्' इत्यादि स्थलमें ज्ञान स्वतः अभिन्न है, किन्तु घट-पटरूप कल्पित उपाधिके भेदसे घटज्ञान और पटज्ञानमें भेदप्रतीति होती है। सब कल्पनाओंका आश्रय चैतन्य स्वतः अभिन्न है ॥४५८॥

**संविदेका स्वतःसिद्धा प्रत्यग्रूपैकलक्षणा ।**
**भावाभावादिरूपाय व्यवहाराय कल्पते ॥ ४५९ ॥**
**संवित्तत्त्व उपक्षीणं सर्वं मानं न भेदगम् ।**
**तत ऐकात्म्यशास्त्रस्य न बाध इति सुस्थितम् ॥ ४६० ॥**

ज्ञानको सब कल्पनाओंका अधिष्ठान नहीं मानते, किन्तु वह भी रज्जुसर्पके समान सब कल्पनाओंके योग्य है, इस शङ्काका उत्तर देते हैं— **'संविदेका'** इत्यादिसे ।

ज्ञान एक और स्वतः सिद्ध है तथा सब कल्पनाओंका अधिष्ठान है। यदि संविद्‌को अधिष्ठान न मानियेगा, तो संविद्‌की कल्पनाके लिए अधिष्ठानान्तर मानना पड़ेगा; फिर वह भी यदि कल्पित होगा, तो उसकी कल्पनाके लिए अधिष्ठान स्वीकार करना पड़ेगा। एवं उसका भी अधिष्ठानान्तर मानें, तो अनवस्था होगी, अतः संवित्‌को परमार्थ सत् मानना आवश्यक है। निरधिष्ठान भ्रम नहीं होता और कल्पित पदार्थ अधिष्ठान नहीं होता, अतएव 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य' इत्यादि अध्यासभाष्यमें भाष्यकारने कहा है। यदि संविद्‌को कल्पनाका अधिष्ठान मानते हों, तो सर्पकल्पनाकी अधिष्ठानाभूत रज्जुकी तरह जड़ हो जायगी, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'प्रत्यग्रूपैकलक्षणा'** अर्थात् संवित् आत्मस्वरूप है, जडात्मक नहीं। वस्तुतः सर्पकल्पनाका अधिष्ठान जड़ रज्जु नहीं, किन्तु उक्त भाष्यानुसारसे रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य है। अतएव संवित् और आत्मा एक ही पदार्थ है दो नहीं, अन्यथा अपसिद्धान्त होगा, यह भी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि भावात्मक जितने व्यवहार होते हैं, उन सब व्यवहारोंका मूल कारण संविद् ही है ॥ ४५९ ॥

**'संवित्तत्त्वे'** इत्यादि। सब प्रमाण संवित्तत्त्वमें उपक्षीण हैं, अतएव कोई भी भेदबोधक नहीं हैं। 'घटः पटः' इत्यादि प्रतीति घटपटके स्वरूपमात्रकी बोधक है। स्वरूपलक्षणभेद हो नहीं सकता। स्वरूप निरपेक्ष है और भेद धर्मिप्रतियोगिसापेक्ष है। एक ही पदार्थमें सापेक्षत्व और निरपेक्षत्वरूप विरुद्ध दो धर्म नहीं रह सकते। एवं अन्योन्याभाव या पृथक्त्वादिरूप भी भेद तात्त्विक नहीं हो सकता, इसका विशेषरूपसे निरूपण हो चुका है। 'घटभिन्नः पटः' इत्यादि प्रतीति काल्पनिक भेदका आश्रयण करती है, वास्तविकका नहीं, यह भी स्पष्ट कह चुके हैं,

बोधकत्वादबाधाच्च प्रामाण्ये निश्चिते सति ।
अनुवादत्वशङ्काऽथ वेदान्तानामपोद्यते ॥ ४६१ ॥
ननु वेदान्तसिद्धान्तमजानन्तोऽपि वादिनः ।
लौकिकाश्च निजात्मानं जानन्त्येव स्वमानतः ॥ ४६२ ॥
मानं प्रत्यक्षमन्यद्वा यद्योग्यं तद्धवेत्ततः ।
ज्ञातात्मकथनादेते वेदान्ता अनुवादिनः ॥ ४६३ ॥

---

अतएव 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि ऐकात्म्यबोधक शास्त्रका किसी प्रमाणसे बाध नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त सुस्थिर हुआ ॥ ४६० ॥

'बोधकत्वादबाधाच्च' इत्यादि। अबोधक तथा बाधितार्थबोधक वाक्य अप्रमाण कहलाता है। वेदवाक्य न अर्थका अबोधक है और न प्रमाणान्तरसे बाधित अर्थका ही बोधक है, किन्तु अबाधित अर्थका अतिस्पष्टरूपसे बोधक है। अतः वेदान्तमें प्रामाण्य निश्चित है, इसलिए वेदान्तमें अनुवादकत्वकी शङ्काका निराकरण करते हैं—यद्यपि वेदान्तवाक्यमें अनुवादकत्वप्रयुक्त अप्रामाण्यकी आशङ्काका पहले पूर्ण निराकरण कर चुके हैं, फिर उसके निराकरणकी आवश्यकता नहीं है, तथापि प्रकारान्तरसे पुनः उसके निराकरणका अभिप्राय यह है कि 'स्थूणानिखनन' न्यायसे अप्रामाण्यकी शङ्काका लेश भी न हो। अतएव पिष्टपेषणदोषका अवकाश नहीं है ॥ ४६१ ॥

'ननु वेदान्त०' इत्यादि। वेदान्तसिद्धान्तका ज्ञान—अकर्तृभोक्तृचिदानन्दस्वरूप आत्मा है, यह ज्ञान—जिनको नहीं है वे वादी तथा पामर आदि साधारण मनुष्य भी आत्मसाधक प्रमाणसे आत्माको जानते ही हैं। किसी प्राणीको आत्मामें अज्ञान, संशय और विपर्यय नहीं है, किन्तु 'अहमस्मि' ( मैं हूँ ) यह निश्चय सबको है इस कारण आत्मविचारपरक वेदान्त ज्ञात आत्माका ज्ञापक होनेसे अनुवादक ही हो सकता है, प्रमाण नहीं।

प्रश्न—किस प्रमाणसे वेदान्तानभिज्ञ वादी तथा साधारण मनुष्य आत्माको जानते हैं ?

उत्तर—स्व-स्वाभिमत प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे जो जिसके अभिमत है, उसीसे उसको आत्मा ज्ञात है, अतः ज्ञातज्ञापकत्वलक्षण अप्रामाण्य अनिवार्य है, यही कहते हैं—'मानं प्रत्यक्षमन्यद्वा' इत्यादिसे।

**नैवाऽऽत्मनोऽन्यद्वस्त्वेतैर्वेदान्तैः प्रतिपाद्यते ।**
**येनाऽपूर्वार्थलाभेन तेषामननुवादता ॥ ४६४ ॥**

आत्मामें 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह नैयायिक आदि कहते हैं। बुद्धिमें चिच्छायापत्ति द्वारा अनुमान आत्मामें प्रमाण है, यह सांख्याचार्य मानते हैं। कूटस्थ नित्य आत्मामें व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि व्यापारी होनेसे आत्मामें विकारकी आपत्ति हो जायगी। आश्रयको विकृत किए बिना व्यापार नहीं होता, यह सर्वत्र दृष्ट है, अतः व्यापारविशिष्ट बुद्धिमें ही कर्तृत्व आदि हैं। कर्तृत्वादिधर्मविशिष्ट बुद्धिमें चैतन्यकी छाया पड़ती है, अतः वस्तुतः अचेतन बुद्धि उक्त छायापत्तिसे चेतनके समान होती है।

'तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव भवति ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥'

इस वचनके अनुसार वास्तविक संसारधर्म बुद्धिमें ही हैं। आत्मा सन्निधानसे बुद्धिगत धर्मको भेदाग्रहसे अपनेमें समझकर सुख, दुःख आदि संसारधर्मवान् जैसा होता है, इस विषयमें विशेष आगे कहेंगे। यहांपर यह स्पष्ट करते हैं कि वेदवाक्य ज्ञात आत्माके ज्ञापक होनेसे अनुवादक हैं, प्रमाण नहीं।

शङ्का—उक्त प्रमाणोंसे वादिगण तथा साधारण प्राणी जैसा आत्माको जानते हैं, क्या उससे विलक्षण आत्मा श्रुतिके तात्पर्यका विषय है ?

समाधान—हां, विलक्षण है, आत्मा वस्तुतः कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि निखिल संसारधर्मोंसे रहित समस्त उपाधियोंसे अनवच्छिन्न उदासीन सच्चिदानन्दस्वरूप है, उक्त श्रुतियोंका यही तात्पर्य है, अतः अज्ञातज्ञापक श्रुति प्रमाण है, अनुवादक नहीं ॥ ४६३ ॥

'अहं कर्ता, भोक्ता' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध आत्मासे विलक्षण उक्तविध आत्माका बोधक वेदान्त प्रमाण नहीं है, कारण कि प्रमेयमें विरोधी दो प्रमाणोंका विकल्प अथवा समुच्चय नहीं हो सकता, किन्तु परस्परमें बाध्य-बाधकभाव ही होता है। वेदार्थबोधमें उपजीव्य तथा ज्येष्ठ होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाण जात्या प्रबल है, इसलिए 'आदित्यो यूपः' इत्यादिके सदृश आत्म-स्वरूपके प्रतिपादक वेदको भी उपचरितार्थ अथवा 'हुं' फट्, आदिकी तरह अविवक्षितार्थया जपोपयोगिमात्रार्थ मानना चाहिए, आत्मस्वरूपका निर्णायक नहीं, यही कहते हैं—'नैवाऽऽत्मनो' इत्यादिसे।

उच्यते मान्तरात् सिद्धः किं देहात्माऽथवेतरः ।
नाऽऽद्ये स्यादनुवादत्वं देहात्माप्रतिपादनात् ॥ ४६५ ॥
न वेदान्ताः क्वचिद्देह आत्मेति प्रत्यपादयन् ।
यः कोशोऽन्नमयः प्रोक्तस्तत्राऽस्त्येवाऽनुवादता ॥ ४६६ ॥

प्रत्यक्षसिद्ध आत्मासे अतिरिक्त वस्तुका वेदान्त प्रतिपादन नहीं करते, जिससे कि अपूर्व अर्थका प्रतिपादन करनेसे उनमें अनुवादकत्वके अभावका लाभ हो, पर ऐसा है नहीं, किन्तु वे आत्मतत्त्वका ही निरूपण करते हैं, वह प्रत्यक्षसिद्ध ही है। अतः ज्ञातज्ञापक होनेसे वेदान्त अनुवादक ही हैं, यही सिद्ध होता है ॥४६४॥

वक्ष्यमाण प्रकारसे विकल्प करनेपर दोष दुष्परिहर होता है, इसलिए यह आक्षेप ठीक नहीं है, इस तात्पर्य्यसे शङ्काका परिहार करते हैं—**'उच्यते मान्तरात् सिद्धः'** इत्यादिसे ।

वेद अनुवादक नहीं है, इसकी सिद्धिके लिए आत्मपदार्थका विकल्प करते हैं—'अहं गौरः' 'अहं श्यामः' इत्यादि प्रतीतिविषय शरीररूप आत्मा वेद द्वारा प्रतिपिपादयिषित है ? अथवा देहातिरिक्त आत्मा ? प्रथम पक्षमें वेद अनुवादक नहीं हो सकता, कारण कि 'शरीर आत्मा है' इसका प्रतिपादन वेद नहीं करता, किन्तु उससे बिलक्षण चैतन्यानन्दघन आत्माका प्रतिपादन करता है ।

शङ्का—वेद देहात्मप्रतिपादनपरक नहीं हैं, यह कहना मिथ्या है, क्योंकि 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादि वेदवाक्य देहात्माका स्पष्टरूपसे प्रतिपादन करते हैं। 'अन्नरसमय' शब्दसे शरीर ही प्रकृतमें विवक्षित है और पुरुषशब्दसे आत्मा। इसलिए उक्त वाक्यसे 'शरीर आत्मा है' यह स्पष्ट प्रतीत होता है ।

समाधान—हाँ, इस वाक्यसे शरीरात्माकी प्रतीति अवश्य होती है, किन्तु यह वाक्य आत्मामें प्रमाण है, यह मेरा कथन नहीं है, क्योंकि इस वाक्यको हम भी प्रत्यक्ष सिद्ध शरीरात्माका अनुवादक ही मानते हैं। अतः 'एकमेवाद्वितीयम्', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि उदासीन सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माके प्रतिपादनपरक जो वेदान्त हैं, वे अनुवादक नहीं है आत्मस्वरूपमें प्रमाण माने जाते हैं ॥४६५॥

'देह आत्मा है' इसके प्रतिपादनमें वेदान्तोंका तात्पर्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'न वेदान्ताः'** इत्यादिसे ।

देहेतरोऽपि किं कर्त्ता ब्रह्म वोभयथाऽपि च ।
तयोर्मानान्तराबोधादाशङ्कया नाऽनुवादता ॥ ४६७ ॥
वादिनो लौकिका वाऽत्र भविष्यदेहयोगिनम् ।
कर्त्रात्मानं न जानन्ति वेदान्तवचसा विना ॥ ४६८ ॥
देहान्तराभिसम्बन्धो भावित्वान्नाऽक्षगोचरः ।
लिङ्गसादृश्यविरहान्नाऽनुमा नोपमा तथा ॥ ४६९ ॥

---

वेदान्तोंने 'देह आत्मा है' ऐसा कहीं भी प्रतिपादन नहीं किया है और 'स वा एष' इत्यादि जो वाक्य शरीरात्माका प्रतिपादन करते हैं, वे सबके मतसे अनुवादक ही हैं ॥४६६॥

द्वितीय विकल्पमें दोष देते हैं—देहेतरोऽपि' इत्यादिसे ।

द्वितीय विकल्पके अनुसार फिर यह विकल्प होता है कि देहेतर आत्मा कर्ता है या ब्रह्मस्वरूप ? दोनों विकल्पोंमें वेद अनुवादक नहीं हो सकता, क्योंकि शरीरातिरिक्त कर्त्ता आत्मा है, यह भी प्रत्यक्षविषय नहीं है। तथा आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, इसमें तो प्रत्यक्षकी शङ्का ही नहीं हो सकती, कारण कि ब्रह्म ऐन्द्रियक नहीं है। इस कारण यदि शरीरातिरिक्त आत्मा कर्ता है अथवा उक्त आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, यह बोध जिन वेदान्तोंसे होता है, वे कभी भी अनुवादक नहीं कहे जा सकते। दोनों प्रकारसे आत्मा प्रत्यक्षका विषय नहीं है, किन्तु अपूर्व ही अर्थ है ॥४६७॥

शरीरातिरिक्त आत्मा कर्ता है, यह प्रत्यक्षगम्य नहीं है, यही कहते हैं— 'वादिनो लौकिका वाऽत्र' इत्यादिसे ।

नैयायिकादि वादी एवं लौकिक साधारण मनुष्य—दोनों ही देहान्तरयोगी आत्माको स्वयं नहीं जान सकते। वे वेदान्त द्वारा ही आत्मा स्वकृत शुभाशुभसे जन्मान्तरमें शुभाशुभ योनिको प्राप्त होता है, तथा तदनुसार ही सुखदुःखरूप फलका भागी होता है, यह जानते हैं, अन्यथा नहीं जान सकते ॥४६८॥

'देहान्तरा०' इत्यादि। आत्मा शरीरातिरिक्त है, यह ज्ञान तब हो सकता है, जब यह ज्ञात हो कि वर्तमान देहपातके अनन्तर कर्मानुसार शरीरान्तरयोग अवश्यंभावी है। जिसकी अनुवृत्ति होनेपर जिसकी व्यावृत्ति होती है, वह उससे भिन्न होता है, जैसे सूतसे फूल भिन्न हैं, क्योंकि प्रत्येक पुष्पकी व्यावृत्ति

भावरूपात्मबोधाय नाऽभावोऽपि प्रवर्त्तते ।
अर्थापत्तिर्न सम्भाव्या दृष्टकल्पकवर्जनात् ॥ ४७० ॥
अन्यथाऽनुपपन्नोऽपि श्रुतस्वर्गो न कल्पकः ।
श्रुतार्थापत्तितोऽप्यत्र श्रुतिरेव बलीयसी ॥ ४७१ ॥

होनेपर भी सर्वत्र अनुगत सूत फूलोंसे भिन्न है, वैसे ही प्रत्येक जन्ममें शरीरोंकी व्यावृत्ति होनेपर भी सब जन्मोंके शरीरोंमें अनुगत आत्मा शरीरोंसे भिन्न है, यह जान सकते हैं, किन्तु भावी देहका योग ही जानना वेदान्त-वाक्यके बिना असंभव है, कारण कि प्रत्यक्ष वर्तमानमात्रका ही ग्रहण कराता है, अतः वर्तमान न होनेसे भाविदेहसंबन्ध प्रत्यक्षका विषय नहीं है । लिङ्गज्ञान तथा सादृश्यज्ञानके अभावसे अनुमान व उपमान भी अतिरिक्त आत्मामें प्रमाण नहीं हो सकते ॥ ४६९ ॥

अनुपलब्धि और अर्थापत्ति भी शरीरातिरिक्त आत्मामें प्रमाण नहीं हो सकतीं ऐसा विकल्प द्वारा कहते हैं—'**भावरूपात्म०**' इत्यादि ।

अनुपलब्धि प्रमाणसे भी आत्माको नहीं जान सकते क्योंकि अनुपलब्धिसे अभावका ग्रहण होता है, भावका नहीं । आत्मा भावस्वरूप है, अतः उक्त प्रमाणका विषय ही नहीं है । अर्थापत्ति दो प्रकारकी होती है—श्रुतार्थापत्ति तथा दृष्टार्थापत्ति । आत्मामें भाविदेहयोग न दृष्ट ही है, न श्रुत ही है । देहान्तरयोग भावी है, इसलिए दृष्ट नहीं है कि देहान्तर-योगान्यथानुपपत्तिसे शरीरातिरिक्त आत्माका उक्त प्रमाणसे ज्ञान हो जायगा । यद्यपि स्मृति, पुराणादिसे आत्मामें शरीरान्तरयोग श्रुत है, तथापि उक्त ग्रन्थ श्रुतिके अनन्तरके हैं, अतएव श्रुतिमूलक होनेसे प्रमाण माने जाते हैं—वेद-वाक्यके बिना उक्त वाक्योंका निर्माण ही नहीं हो सकता । अतः आत्मा वेदातिरिक्त प्रमाणोंका अविषय है । तद्बोधक वेद अज्ञातज्ञापक होनेसे प्रमाण ही है, अनुवादक नहीं है ॥ ४७० ॥

'**अन्यथा**' इत्यादि । स्मृति, पुराणादिमें श्रुत देहान्तरसम्बन्धकी अनुपपत्ति प्रमाण नहीं है, श्रुतिश्रुतस्वर्गान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्तिसे उक्तस्वरूप आत्माका ज्ञान हो जायगा, यह भी आक्षेप ठीक नहीं है । श्रुतार्थापत्तिकी अपेक्षा श्रुति ही प्रबल है, दोनों समसमय हैं । साक्षादात्मप्रतिपादक श्रुतिको उक्तार्थमें प्रमाण

**आगमेन विना साङ्ख्या आत्मानं स्वर्गमोक्षयोः ।**
**अनुगन्तारमवदन्नतु मानान्न तत्तथा ।। ४७४ ।।**

चेतन और भोक्ता आत्मा शरीरान्तरसम्बन्धी है; यह ज्ञान यदि वाक्य द्वारा न होगा, तो चार्वाकके सदृश कोई भी विद्वान् पारलौकिक फलके लिए कर्ममें प्रवृत्त न होगा, क्योंकि पारलौकिक तत्-तत् फलके लिए ही पुरुषकी तत्-तत् कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है; इसलिए शरीरान्तरसम्बन्धी आत्मा है; ऐसा वेदवाक्यसे जानकर ही प्रामाणिकोंकी उक्त कर्ममें प्रवृत्ति होती है, ऐसा मानना पड़ेगा, अन्यथा तत्-तत् कर्ममें प्रेक्षावान्की प्रवृत्ति न होगी ॥४७३॥

'आगमेन' इत्यादि । सांख्याचार्य आगमके बिना ही स्वर्ग-मोक्षके गन्ता आत्माको अनुमानसे ही मानते हैं, किन्तु यह मत ठीक नहीं है । अभिप्राय यह है कि अकारण, अकार्य, कूटस्थ और चैतन्य स्वरूप आत्मा है । अकारण होनेसे प्रकृतिसे भिन्न है; अकार्य होनेसे घटादिसे भिन्न है और कूटस्थ होनेसे अनित्य धर्मोंका आश्रय नहीं है ।

प्रश्न—यदि आत्मा कारण नहीं है, तो सृष्टि कैसे होगी ?

उत्तर—अचेतन प्रकृति आदिसे होगी ।

प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे पञ्च तन्मात्राएँ और एकादश इन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्राओंसे पाँच आकाशादि महाभूत और उनसे घट, वृक्ष, गो आदि । महदादि सर्गके बिना पुरुष स्वयं विषयका प्रकाशक नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष पुरुष यदि विषयका प्रकाशक माना जायगा, तो सदा विषयका प्रकाश रहनेसे मोक्ष नहीं हो सकेगा । यदि इन्द्रिय आदि सापेक्ष विषयका प्रकाश मानते हैं, तो इन्द्रियादिके सद्भावमें संसार और इन्द्रियादिका लय होनेसे अपवर्ग सिद्ध होता है ।

शङ्का—अच्छा तो प्रकृति ही को विषयप्रकाशक मानिए, इन्द्रिय आदिका सर्ग उसके लिए व्यर्थ है ।

समाधान—प्रकृतिको यदि विषयप्रकाशक मानें, तो भी प्रकृति नित्य है, इसलिए सतत विषयप्रकाश होगा, तो उक्त अनिर्मोक्षापत्ति दोषका परिहार नहीं हो सकेगा ।

शङ्का—अच्छा तो चैतन्यसम्बन्धित्वको विषयका ही स्वभाव मानिये.

विषयका नाश होनेपर उक्त विषयस्वरूप भी नष्ट हो जायगा, इससे उक्त दोषका परिहार हो जाता है।

घटादि विषयका पुरुषके साथ साक्षात् सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, किन्तु इन्द्रियादि द्वारा ही विषयका उक्त स्वभाव माना जायगा। साक्षात् सम्बन्ध माननेसे 'यह देखा, यह नहीं देखा' इत्यादि दृष्टादृष्टव्यवहार नहीं होगा। विषय जब तक व्यवहित भी रहेगा तबतक उसका भान होता रहेगा।

शङ्का— फिर भी बाह्येन्द्रिय द्वारा पुरुषका विषयके साथ सम्बन्ध मानिए, मनको माननेकी क्या आवश्यकता?

समाधान—यदि अनेक विषयोंके साथ एक कालमें अनेक इन्द्रियोंका सम्बन्ध होगा, तो युगपत् अनेकेन्द्रियजन्य ज्ञानकी आपत्ति होगी। यद्यपि इन्द्रिय द्वारा विषयोंका सम्बन्ध पुरुषके साथ है तथापि 'हमारा मन अन्यत्र था इसलिए हमने उक्त अर्थ नहीं समझा, फिर कहिए' इत्यादि व्यवहार देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञान क्रमिक होते हैं। जहां कहीं युगपत्की प्रतीति होती है वहाँ सुसूक्ष्म क्षणके अनवधानसे उत्पलपत्रशतव्यतिभेदनकी तरह भ्रम है।

शङ्का—अच्छा तो व्यासङ्गके अनुरोधसे मनःसंयुक्तेन्द्रियसम्बद्ध विषयका उक्त स्वभाव माननेसे उक्त दोषोंका परिहार हो जाता है, अहङ्कार क्यों मानते हो?

समाधान—यदि इन्द्रिय और मनके द्वारा ही विषयका भान मानिएगा, तो सोये हुए मनुष्यको जैसे यह स्वप्न आता है कि हम देवस्वरूप हैं, वैसे ही हम नरस्वरूप हैं, यह भी ज्ञान होना चाहिए। नरत्व सन्निहित है और इन्द्रिय तथा मनका व्यापार है ही, इसलिए इन्द्रियमनोभिन्न अहङ्कार माननेकी भी आवश्यकता है। नियत विषयका अभिमानरूप व्यापार अहङ्कारका है।

प्रश्न—अच्छा तो अहङ्कारपर्य्यन्त मानिए, बुद्धि माननेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—सुषुप्ति अवस्थामें जब इन्द्रिय, मन तथा अहङ्कारका कुछ भी व्यापार नहीं रहता, तब भी श्वास-प्रश्वासका व्यापार निरन्तर जारी रहता है। इससे

ज्ञात होता है कि उस समयमें कोई एक पदार्थ सव्यापार अनुवृत्त रहता है जिसमें ही अनुभव, वासना आदि रहते हैं वही बुद्धि या अन्तःकरणसे कहा जाता है। तदुपारूढ अर्थात् तत्तद्विषयाकार बुद्धिपरिणाम तत्तद्विषयाकार ज्ञान कहलाता है। तत्-तत् विषयाकार परिणाम द्वारा वे अर्थ पुरुषबुद्धिस्थ होते हैं। वे ही घटादि विषय स्वविषयकज्ञानरूप परिणाम द्वारा पुरुषके स्वरूपके व्यवधायक होते हैं। उक्त परिणामके रहनेसे संसारव्यवहार तथा उक्त परिणामके न रहनेसे अपवर्गव्यहार होता है।

प्रश्न—यदि बुद्धि कर्त्री है, तो 'चेतनः करोति' यह कृति और चैतन्यकी समानाधिकरण प्रतीति कैसे होगी ? क्योंकि चैतन्य पुरुषमें है और कृति बुद्धिमें है।

उत्तर—बुद्धि और पुरुषका विवेक न होनेसे पुरुषके धर्म बुद्धिमें और बुद्धिके धर्म पुरुषमें प्रतीत होते हैं। निष्क्रिय पुरुषमें कर्तृत्वाभिमान और अचेतन बुद्धि-तत्त्वमें चैतन्याभिमान होता है। बुद्धितत्त्व ही में कर्मवासना आदि रहते हैं। पुष्करपलाशके सदृश पुरुष निर्लेप है, क्योंकि पुण्य और पाप आदि पुरुषमें नहीं रहते, किन्तु उक्त बुद्धितत्त्वमें ही रहते हैं। आलोचन विषयका सामान्यदर्शन इन्द्रियोंका व्यापार है। विकल्प—'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'—मनका असाधारण व्यापार है। 'अहं मनुष्यः' इत्यादि अभिमान अहङ्कारका एवं कृति तथा 'इदं इत्थमेव' ( यह ऐसा ही है ) यह निश्चय बुद्धिका असाधारण व्यापार है।

शङ्का—कृति और अध्यवसाय ये दोनों चेतनके धर्म हैं, अचेतन बुद्धिके धर्म कैसे हो सकते हैं ? घटादि विषयका बुद्धिके साथ संयोगादि सम्बन्ध नहीं हो सकता और सम्बन्धके बिना 'इदं करोमि' इत्यादि व्यवसाय नहीं हो सकता अन्यथा असन्निहित वस्तुके तात्पर्यसे भी उक्त प्रतीतिकी आपत्ति हो जायगी।

समाधान—चेतनका प्रतिबिम्ब पड़नेसे अचेतन भी बुद्धि चेतनके सदृश प्रतीत होती है और इन्द्रिय द्वारा बुद्धिका विषयाकार परिणाम ही विषयका ज्ञान है। इसीका कर्तव्य घट आदिके साथ सम्बन्ध होनेसे उक्त आपत्तिका परिहार होता है। बुद्धि और चेतनका भेदाग्रहसे एकत्वाभिमान होता है; अतएव 'चेतनोऽहं करोमि' इत्यादि प्रतीति भी उपपन्न होती है। यह एकत्वाभिमान पुरुषोपराग है। विषय और इन्द्रियके सन्निकर्षसे विषयाकार ज्ञानरूप परिणामोत्पाद पारमार्थिक विषयका उपराग है। इन दोनों उपरागोंसे कर्तव्य घट आदि विषयका भान होनेसे 'करोमि' इस प्रकारका अध्यवसाय व्यापारावेश कहलाता

है। बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान— ये तीनों सांख्यमतमें भिन्न हैं, यह आगे स्पष्ट होगा। 'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्' इस न्यायसूत्रके अनुसार सांख्य उन्हें एक नहीं मानते। 'मया इदं कर्तव्यम्' इस अध्यवसायमें तीन अंश हैं। 'मया' यह चेतन पुरुषका उपराग है। और वह दर्पणमें मुखके उपरागके समान अतात्त्विक है। बिम्ब और प्रतिबिम्बका भेदग्रह नहीं होता, इसलिए प्रतिबिम्ब ही को अज्ञ मुख समझते हैं। वस्तुतः मुख दर्पणमें नहीं है, अतः दर्पणमें प्रतीयमान मुख अतात्त्विक है। प्रकृतमें भी दर्पणस्थानापन्न बुद्धिमें प्रतीयमान मुख-स्थानापन्न चैतन्य अतात्त्विक है। वस्तुतः बुद्धिमें चैतन्य नहीं है। 'इदम्' यह विषयका उपराग है; और वह इन्द्रिय द्वारा बुद्धिका विषयाकारपरिणामविशेष होनेसे निःश्वाससे दूषित दर्पणमालिन्यके सदृश तात्त्विक है। इन दोनों उपरागोंसे व्यापारावेशनामक तृतीय अंशकी प्रतीति बुद्धिमें होती है। बुद्धिसे ज्ञान और उपलब्धि भिन्न हैं। पूर्वोक्त व्यापारलक्षणा बुद्धि है। विषयेन्द्रियसम्बन्धसे बुद्धिका विषयोपरागस्वरूप विषयाकारपरिणामविशेष ज्ञान है, उस ज्ञानके द्वारा 'चेतनोऽहमिदं जानामि' इस आकारवाली बुद्धिमें आरोपित प्रतिबिम्ब चैतन्यका अतात्त्विक जो सम्बन्ध है, वही उपलब्धि अथवा पौरुषेय बोध कहलाता है।

शङ्का—बुद्धिसे अतिरिक्त पुरुष क्यों मानते हो। बुद्धिको ही चेतन माननेमें क्या आपत्ति है?

समाधान—आपत्ति यह है कि बुद्धितत्त्व परिणामी है, अतः वह अपरिणाम-शील चेतन नहीं हो सकता। इसलिए चेतनको बुद्धिसे अतिरिक्त मानते हैं। चेतनके बिना बुद्धिमें चैतन्यकी छाया नहीं पड़ सकती और चितिकी छायाके बिना अचेतन बुद्धितत्त्व चेतन प्रतीत नहीं हो सकता।

शङ्का—चैतन्य और कृति—इन दोनोंको एक ही अधिकरणमें 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रतीतिसे मानना चाहिए। कृतिको तो बुद्धि मानते ही हो, केवल चैतन्य माननेमें विवाद है। बुद्धिमें चैतन्यको भी मान लेनेमें क्या बाधक है?

समाधान—बुद्धिर्न चेतना, परिणामित्वाद्, घटादिवत्, यह अनुमान बाधक है।

प्रश्न—यदि अनुमान बाधक है, तो कृत्यंशको भी न मानिये, क्योंकि उसमें भी 'बुद्धिर्न कर्त्री, परिणामित्वात्, घटवत्' यह अनुमान बाधक है। इसलिए बुद्धिका स्वाभाविक धर्म कृति भी नहीं हो सकती।

उत्तर—वह्निरनुष्णः, कृतकत्वात्, घटवत्, इस अनुमानमें उष्णत्वका प्रत्यक्ष जैसे बाधक है, वैसे ही उक्त अनुमानमें कृतिका प्रत्यक्षज्ञान बाधक है, अतः उक्त अनुमान नहीं हो सकता।

प्रश्न—यह तो दोनोंमें समान है। उक्त प्रत्यक्षसे जैसे कृतिको बुद्धिमें मानते हो वैसे ही चैतन्यको भी मानो, क्योंकि 'चेतनोऽहं करोमि' यह प्रत्यक्ष कृति और चैतन्य—इन दोनों अंशोंमें समान है।

उत्तर—बुद्धि अचेतन प्रकृतिकी कार्य है। कार्य और कारणका तादात्म्य माना जाता है। बुद्धिमें यदि चैतन्य मानोगे, तो प्रकृतिका बुद्धिके साथ तादात्म्य नहीं बनेगा, क्योंकि चेतन और अचेतनका तादात्म्य अत्यन्त अनुपपन्न है।

प्रश्न—कर्ता प्रकृतिका कार्य है, यह कहना तो सर्वथा असंगत है, क्योंकि 'वीतरागजन्मादर्शनात्' इस न्यायसूत्रसे तथा उत्पन्न बालककी स्तनपानमें रागतः प्रवृत्तिके दर्शनसे भी कर्ता अनादि है, यही ज्ञात होता है। यदि सादि हो, तो प्रथम उत्पन्न बालककी स्तनपानमें प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि इष्टसाधनता ज्ञान चेतनप्रवृत्तिमें कारण है। वर्तमान जन्ममें अभी स्तनपान किया नहीं है, इसलिए जन्मान्तरानुभूत इष्टसाधनताका स्मरण कर 'इदं स्तनपानं मदिष्टसाधनम्, स्तनपानत्वात्, पूर्वानुभूतस्तनपानवत्' यह अनुमान जन्मान्तरीय अनुभूत स्तनपान-विषयक स्मरणके बिना नहीं हो सकता। और बिना इसके बालककी उक्त कार्यमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रवृत्ति देखते हैं, इसलिए उक्त स्मरण पूर्वक प्रकृत अनुमान आवश्यक है। इससे यदि कर्ता अनादि है, सादि नहीं है, तो वह प्रकृतिका कार्य कैसे हो सकता है? और बुद्धिमें चैतन्य माननेमें यह भी बाधक है कि कार्यमें जो गुण पाये जाते हैं, वे सब कारणमें भी माने जाते हैं। बुद्धि प्रकृतिका कार्य है। यदि बुद्धिमें चैतन्य माना जाय, तो तत्कारण प्रकृतिमें उसे मानना पड़ेगा। यदि प्रकृति चेतन होगी, तो बुद्धि उसकी कार्य ही नहीं हो सकती, कारण कि वही पुरुष कहलायेगी। पुरुष न कारण है और न कार्य है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। अच्छा तो जितने गुण कार्यमें देखे जाते हैं, वे सब कारणमें माने जाते हैं, यदि ऐसा सिद्धान्त आप मानते हों, तो बुद्धिमें राग, द्वेष और मोह ये गुण भी पाये जाते हैं; इसलिए ये सब गुण तत्कारण प्रकृतिमें भी माने जाँय? यदि ऐसा मानियेगा, तो रागादिगुणविशिष्ट प्रकृति

ही बुद्धिपदवाच्य होगी। उससे अतिरिक्त बुद्धि नामका पदार्थ ही नहीं हो सकेगा।

उत्तर—उक्त नियमके अनुसार प्रकृतिमें सूक्ष्मरूपसे रागादि मानते हैं और स्थूलरूपसे बुद्धिमें मानते हैं। स्थूलरूपसे रागादि जिसमें रहते हैं, वही बुद्धि कहलाती है, ऐसा माननेसे उक्त दोष नहीं आ सकता। ठीक है, इसी प्रकार सूक्ष्मरूपसे चैतन्यको भी प्रकृतिमें मान सकते हो। स्थूल चैतन्य बुद्धिमें ही रहता है, क्या ऐसा भी कह सकते हैं? हाँ, कह सकते हो, किन्तु अचेतनकार्य बुद्धि है। इसलिए उसमें चैतन्यको नहीं मानते। यह कहना भी तो असंगत ही है। बुद्धिमें अचेतनकार्य ही नहीं है, सूक्ष्मरूपसे भी चैतन्यको प्रकृतिमें माननेसे प्रकृति चेतन ही कही जायगी, अचेतन नहीं।

शङ्का—यदि बुद्धिमें चैतन्य मानेंगे, तो बुद्धिके कार्य घटादिमें भी चैतन्यकी प्रसक्ति हो जायगी।

समाधान—यह शङ्का तो राग आदि विषयमें भी कर सकते हैं।

शङ्का—आपके मतसे रागादि बुद्धिमें हैं, इसलिए तत्कार्य घटादिमें भी रागादिकी प्रसक्ति होनी चाहिए। रागादि घट आदिमें मानते हैं, किन्तु सूक्ष्म मानते हैं, स्थूल नहीं।

समाधान—यह तो चैतन्यांशमें भी कह सकते हैं। चेतन और अचेतनका विभाग भी स्थूल और सूक्ष्म चेतनके तात्पर्यसे हो सकता है। यह भी दोनोंमें समान समाधान है, इसलिए यज्जातीय कारणसे यज्जातीय कार्य देखते हैं, तज्जातीय कारणसे तज्जातीय कार्य होता है, ऐसा ही नियम मानना उचित है। जितने धर्मवाला कारण रहता है, उतने धर्मवाला कार्य होता है, ऐसा विशेषरूपसे नियम मानना समुचित नहीं।

तटस्थ—अच्छा तो अप्रस्तुत विषयका विचार रहने दीजिए, प्रस्तुत विषयमें कहिये?

वादी—बुद्धि नित्य है अथवा अनित्य? यदि नित्य है, तो बुद्ध्युपधान सतत रहेगा, अतः निरुपाध्यवस्थानात्मक मोक्ष नहीं हो सकेगा। यदि तन्नाश मानिये, तो अनुत्पन्न भावका नाश नहीं होता। इसलिए उसकी उत्पत्ति भी मानियेगा, ऐसी स्थितिमें उत्पत्तिसे प्रथम नियत बुद्धिकी उत्पत्तिका नियामक

कौन होगा ? प्रकृति तो सर्वसाधारण है अतः देव, मनुष्य आदि भेदसे भिन्न विविध सृष्टि कैसे होगी ?

उत्तर—पूर्व अध्यस्त बुद्धि विविध वासनावश विभिन्न सृष्टिकी नियामिका है।

शङ्का—बुद्धिरूप धर्मीका नाश होनेपर तद्धर्मवासना कैसे रहेगी ? क्योंकि आपके मतसे धर्म और धर्मीका तादात्म्य है। हमारे मतसे आश्रयका नाश कार्यका नाशक है; अतः उभय मतसे भी बुद्धिनाशोत्तर तद्धर्मवासना नहीं रह सकती। बुद्धिनाशोत्तर तद्धर्मवासनानुवृत्ति मानियेगा, तो आपका अप-सिद्धान्त होगा।

समाधान—यदि सर्वथा बुद्धिका नाश माना जाय, तो अपसिद्धान्त होगा। परन्तु सर्वथा बुद्धिनाश नहीं मानते, सूक्ष्मरूपसे बुद्धिकी अनुवृत्ति मानते हैं।

शङ्का—तब तो मुक्तिदशामें भी सूक्ष्मरूपसे बुद्धिकी अनुवृत्ति रहेगी। इसलिए उस समयमें भी संसारकी अनुवृत्ति अवश्य होगी, फिर मुक्ति कहां ?

समाधान—साधिकार बुद्धिकी अनुवृत्ति होनेसे संसारकी अनुवृत्ति होती है। निरधिकार बुद्धिकी अनुवृत्ति मोक्षदशामें होती है, इसलिए उस दशामें संसारा-पत्तिदोष नहीं हो सकता। बुद्धिमें जबतक संसार रहता है, तब तक विलीन भी बुद्धिमें वासनानुवृत्तिलक्षण अधिकार है। मुक्तिदशामें उक्त लक्षण अधिकार नहीं रहता, इसलिए फिर संसार कैसे हो सकता है ?

प्रश्न—यदि ऐसा मानते हो, तो संसारदशामें बुद्धि साधिकार है, अतः संसारका भान होता है। मुक्तिदशामें प्रसुप्तस्वभाव है, अतएव प्रवृत्त्यजनक बुद्धि ही ज्ञान आदिका आश्रय है। यही बुद्धि प्रकृतिपदका भी अर्थ है, ऐसा ही मानिये, बुद्धिसे अतिरिक्त प्रकृति आदिकी कल्पना व्यर्थ है। एक अर्थका भी निमित्तोपाधिवश अनेकशब्दसे व्यवहार होता है। जैसे एक ही वायुका ऊर्ध्वगत्यादि उपाधिभेदनिबन्धन प्राण, अपान आदि अनेकपदसे व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी एक ही बुद्धिके प्रसुप्त आदि उपाधिसे प्रकृति, बुद्धि आदि शब्दसे व्यवहारमें क्षति नहीं है। इस प्रकार सांख्यमतखण्डनका संक्षेप है।

श्लोकार्थ—सांख्याचार्य वेदान्तवचनके बिना 'स्वर्ग और मोक्षका गन्ता आत्मा है' यह कहते हैं। केवल अनुमानके बलसे तो उनका वैसा कहना

नैव साङ्ख्यानुमासिद्धमसङ्गमवगच्छतः ।
भाविदेहाद्यसम्बन्धे प्रवृत्तिः स्यात्क्रियास्विह ॥ ४७५ ॥
अहंबुद्ध्याऽनुमानाच्च कर्त्तारं तार्किका जगुः ।
मीमांसका अपि तथा न युक्तमुभयोर्मतम् ॥ ४७६ ॥

ठीक नहीं है। उनका आत्मानुमान यह है—अन्तःकरणमें जो चित्प्रतिबिम्ब है वह बिम्बस्वरूप चित्पुरस्सर है, प्रतिबिम्ब होनेके कारण, आदर्शमें मुख प्रतिबिम्बके समान। वे आत्मामें इसी अनुमानको प्रमाण मानते हैं। वेदको आत्मामें प्रमाण नहीं मानते, किन्तु उक्त अनुमान द्वारा ज्ञात आत्माके ज्ञापक वेदको अनुवादक मानते हैं ॥४७४॥

संक्षेपसे सांख्यमतका अनुवाद कर निराकरण करते हैं—'**नैव सांख्या०**' इत्यादिसे।

सांख्यानुमानसिद्ध आत्मस्वरूप जाननेवालोंकी प्रवृत्ति अदृष्टफलार्थक क्रियामें नहीं हो सकती, कारण कि उनके अनुमानसे भाविदेहसम्बन्धका अभाव आत्मामें निश्चित होता है। यदि भविष्यद्देहसम्बन्ध आत्मामें हो ही नहीं सकता, तो देहान्तरोपभोगयोग्य फलके कर्मका अनुष्ठान ही क्यों करेंगे? बड़े-बड़े विद्वान् भी कर्म करते हैं, अतः आत्मविषयक उक्त सांख्यानुमान ठीक नहीं है ॥४७५॥

तार्किकाद्यभिमत आत्मविषयक प्रमाणका संक्षेपानुवादपूर्वक निराकरण करते हैं—'**अहं बुद्ध्या०**' इत्यादिसे।

नैयायिकादि स्वकीय आत्मामें 'अहं सुखी' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणको कहते हैं। परकीय आत्मामें अनुमानको प्रमाण कहते हैं। जैसे रथकी गति देखकर उसमें स्थित सारथीका अनुमान होता है, क्योंकि अचेतन रथमें चेतन अधिष्ठाताके बिना गति दृष्टचर नहीं है, वैसे ही अचेतन शरीरमें चेतन अधिष्ठाताके बिना गति नहीं हो सकती, अतः गतिमान् शरीरमें अधिष्ठाता आत्माका अनुमान होता है। देवदत्तशरीरं सात्मकम्, गतिमत्त्वात्, प्राणवत्त्वाद् वा, मच्छरीरवत्। गति तथा प्राणादिके सञ्चारसे परकीय शरीरमें आत्माका अनुमान होता है। यदि 'अहं सुखी' इत्यादि प्रत्यक्षको 'अहं श्यामः' इत्यादिकी तरह शरीरादि या अन्तःकरण-विषयक मानें, तो तदतिरिक्त आत्मामें यह अनुमान प्रमाण नहीं है। इस प्रकार विप्रतिपन्नके प्रति स्वात्मपरात्मसाधारण यह अनुमान प्रमाण है। इन्द्रिया-

**नात्मनः कर्तृता युक्ता व्यापिनो निष्क्रियत्वतः ।
न चाकर्तुः फलं युक्तमायासो वादिनां वृथा ॥ ४७७ ॥**

दिकं चेतनाधिष्ठितं सत् स्वकार्यकरम्, करणत्वात्, कुठारवत्, जैसे छिदादिकरण कुठार आदिसे चेतन अधिष्ठाताके बिना छेदनादि कार्य नहीं होता, वैसे अचेतन इन्द्रिय आदि अधिष्ठाता चेतन आत्माके बिना आलोचनादि कार्य नहीं करते। अतः इन्द्रियादिके अधिष्ठाता आत्माके दर्शनादि कार्यका अर्थ अवश्य मानना चाहिए। अथवा 'इच्छादयः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यसमवेताः, गुणत्वात्, रूपादिवद्' इत्यादि अनुमान प्रमाण है। अन्य हेतुसे अष्टद्रव्यगुणत्व सिद्ध करके उक्त अनुमानसे परिशेषसे इच्छादिसमवायी आत्मा सिद्ध होता है। विस्तरभयसे द्रव्यान्तरगुणाभाव साधक अनुमानका निर्देश नहीं किया है। मीमांसकोंका भी यही मत है। परन्तु ये दोनोंके मत युक्तियुक्त नहीं हैं, कारण कि आत्मा विभु है। अतएव आकाशके समान निष्क्रिय है, इसलिए इतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति कारकचक्रप्रयोक्तृत्वरूपकर्तृत्व आत्मामें नहीं बन सकता। आत्मा कूटस्थ नित्य है, अतः वह क्रियाश्रय नहीं हो सकता। व्यापारके बिना प्रयोजक नहीं हो सकता, इसलिए इनका अनुमान असंगत है ॥४७६॥

आत्मा कर्ता नहीं है, किन्तु भोक्ता अवश्य है, इस मतका निराकरण करते हैं—'**नाऽऽत्मनः**' इत्यादिसे।

यद्यपि आत्मा आकाशके समान व्यापक है अतएव उसके समान निष्क्रिय है, इसीसे कारण नहीं हो सकता, तो भी उसे भोक्ता माननेमें कोई अड़चन नहीं है। इसलिए उसे भोक्ता अवश्य मानना चाहिए। भोक्ताके बिना भोग्य सृष्टि नहीं बन सकती, अचेतन भोक्ता हो नहीं सकता। आत्मासे अतिरिक्त दूसरा कोई चेतन नहीं है, इस मतका निराकरण करते हैं—जिस कारणसे आत्मा कर्ता नहीं है, उसी कारणसे भोक्ता भी नहीं हो सकता। निर्व्यापारमें भोक्तृत्व भी नहीं बनता और यदि कर्तृत्वके बिना भी भोक्तृत्व मानेंगे तो अकृताभ्यागमकी प्रसक्ति होगी। यदि कर्ता ही भोक्ता होता है ऐसा नियम मानते हैं, तो जो पुरुष जैसा शुभ या अशुभ कर्म करता है, वह कृतकर्मानुरूप सुख, दुःख आदि फलभोगका भागी होता है। और यदि कर्तृत्वके बिना भी भोक्तृत्व मानेंगे तो कर्मके बिना भी तत्तत्फलभोक्तृत्वकी प्रसक्ति होगी। वैसा होनेपर नियामकके बिना

महर्षिव्यवधानाद्वा साक्षाद्वा श्रुतिरेव हि ।
कर्त्रात्मनि प्रमाणं स्यात् स्वर्गादिफलभोक्तरि ॥ ४८० ॥
ब्रह्मात्मन्यप्यहंबुद्धिर्न मानं स्यात् कथञ्चन ।
बोधानुभवसंवित्तिशब्दैर्ब्रह्मात्मवर्णनात् ॥ ४८१ ॥

योगशब्दका प्रकृतमें निरुद्ध चित्तमें तात्पर्य है । 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्माका दर्शन निरुद्ध चित्तसे होता है, यह विस्पष्ट है । ऐसे चित्तसे आत्माका देहान्तरसंयोग भी जानते हैं, तो भी चित्तनिरोध चित्त-वशीकारापरनामक श्रौत अनुष्ठानसे ही होता है । सारांश यह है कि आत्माका वास्तविक स्वरूप और तत्साक्षात्कारका उपाय तादृश योग प्रथम वेदवाक्य द्वारा ही ज्ञात होता है । तदनन्तर तादृश उपायके अनुष्ठानसे आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होनेपर भी आत्मस्वरूप वेदैकवेद्य है, इस सिद्धान्तमें कोई अनुपपत्ति नहीं है । यदि वेदके बिना उपायान्तरसे आत्मस्वरूपका ज्ञान हो, तो वेदैकवेद्यत्वकी हानि होती, प्रकृतमें ऐसा है नहीं, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'तथापि' इत्यादि । श्रौतानुष्ठानका फल आत्मज्ञान है । फलसे उपाय दूषित नहीं होता ॥४७९॥

उक्त अर्थका उपसंहार करते हैं—'महर्षिव्य०' इत्यादिसे ।

कर्ता तथा स्वर्गादि फलका भोक्ता आत्मा है, इस अर्थमें महर्षिव्यवधान या साक्षाद् श्रुति ही प्रमाण है । श्रुतिसे चित्तनिरोध, निरुद्ध चित्तसे आत्म-स्वरूपसाक्षात्कार, इस परम्परासे महर्षिव्यवहित आत्मसाक्षात्कार होता है । यदि श्रुति और तन्मूलक स्मृति द्वारा आत्मसाक्षात्कारोपाय तादृश योगका विधान न होता और योगीको स्वयं तादृश उपायका ज्ञान होता, तद्द्वारा आत्मस्वरूपका प्रत्यक्ष होता, तो उक्त सिद्धान्तका भङ्ग होता, किन्तु ऐसा है नहीं, इसलिए आत्मस्वरूप श्रुत्येकवेद्य है, यह सिद्धान्त व्यवस्थित रहा ॥४८०॥

कर्ता आत्मा जैसे श्रुत्येकवेद्य है, वैसे ही शुद्धात्मा भी श्रुत्येकवेद्य है, यह कहते हैं—'ब्रह्मात्म' इत्यादि ।

अहमित्याकारक बुद्धि जैसे कर्ता, भोक्ता आत्मा है, इसमें प्रमाण नहीं है, वैसे ही शुद्धात्मामें भी उक्त बुद्धि प्रमाण नहीं है, क्योंकि शुद्धात्मा स्वयंप्रकाश है । प्रकाशान्तरानपेक्ष प्रकाश ही स्वयंप्रकाश है । यदि आत्मप्रकाश अहमित्यादि-बुद्धिसापेक्ष हो, तो स्वयंप्रकाश नहीं कहा जा सकता ।

यस्याऽहंप्रत्ययस्याऽत्र सिद्धिः स्यादनुभूतितः ।
ततोऽहंप्रत्ययात्सिद्धिमश्नुतेऽनुभवः कथम् ॥ ४८२ ॥
आत्मनोऽहंधियः सिद्धिरात्मसिद्धिरहम्मतेः ।
अन्योन्याश्रयतैव स्यादहम्बुद्ध्यात्मनोर्ध्रुवम् ॥ ४८३ ॥

---

शङ्का—बोध स्वयंप्रकाश कहा जाता है ब्रह्म नहीं ।

समाधान—बोध, अनुभव और संवित्ति ये पर्य्यायवाची शब्द हैं। इन सबका अर्थ एक ही है, भिन्न नहीं । इन शब्दोंसे ब्रह्मका ही अभिधान होता है, अतः ये सब शब्द ब्रह्मबोधक हैं, यह फलित अर्थ है ।

किञ्च 'अहम्' बुद्धि आत्मग्राहक नहीं है, किन्तु आत्मग्राह्य है, जो आत्म-ग्राह्य है वह घटके समान आत्मग्राहक नहीं होता। घट जैसे आत्मग्राह्य है, अतएव आत्मग्राहक नहीं होता वैसे ही 'अहम्' इत्यादि बुद्धि भी आत्मग्राह्य है अतएव आत्मस्वरूपग्राहक नहीं हो सकती ॥४८१॥

'यस्याऽहं०' इत्यादि । जैसे 'अयं घटः' यह वृत्तिरूप ज्ञान जड़ है स्वतःसिद्ध नहीं है यह अनुभवरूप आत्मासे ही सिद्ध होता है वैसे ही अहमित्याकारक वृत्तिस्वरूपज्ञान जड़ ही है । उसकी भी सिद्धि अनुभवसे ही होती है, स्वतः नहीं। वह अनुभव स्वसिद्धिके लिए उक्त जडात्मक ज्ञानकी अपेक्षा क्यों करेगा ? क्योंकि वह तो स्वयंसिद्ध है, अतः अनुभवस्वरूप आत्माकी सिद्धि उक्त प्रत्ययापेक्ष नहीं है । और यदि आत्मा अहंबुद्धिग्राह्य है ऐसा मानोगे, तो घटके समान आत्मा भी जड़ हो जायगा । नैयायिक आत्माको जड़ मानते हैं, इसलिए वह अहं-बुद्धिग्राह्य है, ऐसा कहते हैं । किन्तु अन्य लोग तो आत्माको जड़ नहीं मानते, इसलिए उनके मतमें आत्मा तादृशबुद्धिग्राह्य है, यह कैसे संगत हो सकता है ? अजड़ आत्मा चित्स्वरूप है, अतएव उसका स्फुरण प्रत्ययान्तरनिरपेक्ष है । आत्मा नाहंधीग्राह्यः, संविद्रूपत्वात्, संविदन्तरवत्, इस अनुमान द्वारा आत्मामें तद्ग्राह्यत्व ही सिद्ध होता है ॥ ४८२ ॥

अहंप्रत्ययग्राह्यत्वमें बाधकान्तर भी कहते हैं—'आत्मनोऽहं०' इत्यादिसे ।

अज्ञात आत्मा चक्षुरादिके सदृश ज्ञानका कारण नहीं है, अन्यथा सुषुप्ति-कालिक आत्मामें ज्ञानोत्पादकत्वकी प्रसक्ति हो जायगी ।

शङ्का—इन्द्रियादिसहकृत आत्मा घटादिज्ञानका जनक है, ऐसा माननेपर सुषुप्तिकालमें इन्द्रियादि सहकारी कारणके विरहसे घटादिज्ञानोत्पत्तिका वारण कर सकते हैं। अहंप्रत्ययोत्पत्तिमें इन्द्रियादिको सहकारी कारण नहीं मानेंगे।

समाधान—यदि उक्त बुद्धिमें सहकारी कारण नहीं मानते, तो सुषुप्तिकालमें उक्त प्रत्ययोत्पत्ति हो जायगी। इसलिए ज्ञात ही आत्मा ज्ञानजनक है यदि ऐसा मानें, तो अहंप्रत्ययसे आत्मज्ञान और ज्ञात आत्मासे अहंप्रत्ययकी उत्पत्ति, इस प्रकार अहंबुद्धि और आत्मामें अन्योन्याश्रय स्पष्ट ही है। और भी बाधक सुनिए, अहंप्रत्ययो न आत्मग्राहकः, तत्कार्यत्वात्, रागादिवत् । आत्माका अहमित्याकारक ज्ञान कार्य है, अतः वह रागादिके सदृश आत्माका ग्राहक नहीं हो सकता। और भी दोष है,—आत्मा अहंधीग्राह्य नहीं है, किन्तु अहंधीका प्रकाशक है। जो जिसका प्रकाशक होता है वह उससे प्रकाश्य नहीं होता। जैसे घटका प्रकाशक प्रदीप घटका प्रकाश्य नहीं है, वैसे ही आत्मा भी अहंबुद्धिका प्रकाशक है, अतः वह उसका प्रकाश्य नहीं हो सकता। कार्य कारणका व्यापक नहीं, किन्तु व्याप्य होता है। अहंप्रत्यय आत्माका कार्य है, अतः वह आत्माका व्यापक नहीं है।

शङ्का—उक्त प्रत्यय आत्माका व्यापक न हो, फिर भी उसके प्रकाशक होनेमें क्या दोष है?

समाधान—तद्व्याप्तिके बिना तन्मेयता कहीं भी दृष्टचर नहीं है। जब जब आत्मस्फुरण होता है तब तब तद्ग्राहक यदि अहंप्रत्यय नहीं है, तो उक्त प्रत्ययके बिना भी आत्माका स्फुरण होता है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। इसलिए व्यभिचारसे उक्त प्रत्यय उक्त अर्थमें कारण नहीं है, यह आगे अति स्पष्ट हो जायगा। और भी बाधक देखिए,—अहंप्रत्यय आत्मामात्रका ग्राहक है अथवा क्रियाकर्तृत्वविशिष्ट आत्माका? प्रथम पक्षमें मोक्षदशामें भी आत्मामें उक्त प्रत्ययग्राह्यत्वकी आपत्ति होगी। उक्त प्रत्यय यदि हो, तो मोक्ष ही नहीं बन सकता। मोक्षदशामें उक्त प्रत्ययके बिना ही आत्माका प्रकाश होता है, ऐसा यदि मानिये, तो व्यवहारदशामें भी वैसे ही आत्माका प्रकाश होता है, ऐसा क्यों नहीं मानते? मोक्षदशामें आत्माका प्रकाश ही नहीं होता, यह कहना तो श्रुतिविरुद्ध तथा सर्वथा अनुचित है। 'नहि द्रष्टुः दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि श्रुतिसे मोक्षदशामें भी आत्माका भान [illegible]

अथाऽहंधीः स्वप्रकाशा जड आत्मेति मन्यसे ।
तर्ह्यत्र भाषाभेदोऽयमावयोः परिशिष्यते ॥ ४८४ ॥

अज्ञात है आत्मस्वरूप जिसमें ऐसा मोक्ष अपुरुषार्थ हो जायगा, क्योंकि ज्ञात सुख आदि ही पुरुषार्थ माना जाता है, अज्ञात नहीं । द्वितीय पक्षमें अहंप्रत्ययक्रियाकर्तृत्वविशिष्ट आत्माका भान तादृशधीरूप क्रियाकालमें होता है या तादृशक्रियाके पूर्वकालमें ? अथवा तदुत्तरकालमें ? [ ये तीन विकल्प सुखावबोधके लिए करते हैं । ] प्रथम पक्षमें अहंधीरूप क्रियाके प्रति आत्मा गुणभूत है और उक्त क्रिया प्रधान है । क्रियाकी सिद्धिके अनन्तर उक्त क्रियाके प्रति आत्मा कर्म नहीं हो सकता, कारण कि कर्म प्रधान होता है। एक ही पदार्थ एक क्रियाके प्रति एक ही समय गुण और प्रधान नहीं हो सकता । गुणत्व और प्रधानत्व एकनिरूपित एककालमें एक ही वस्तुमें नहीं रह सकते । द्वितीय तथा तृतीय विकल्पमें यदि उक्त क्रिया ही नहीं है, तो तादृश—क्रियाकर्तृत्वविशिष्ट—आत्मा भी नहीं है, फिर तादृश आत्मा अहमाकारबुद्धिवेद्य है, यह कहना तो सर्वथा असंगत है । और तादृशक्रियाकर्ता आत्माको यदि अहमाकारधीवेद्य मानियेगा, तो तादृशक्रियाकर्मत्वकी स्वमें भी आपत्ति होगी, क्योंकि विशिष्टका ग्राहक विशेषणका भी ग्राहक होता है, यह सर्वसंमत है ॥ ४८३ ॥

यदि पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोषके परिहारके लिए आत्माको जड़ मानें और अहंप्रत्ययको स्वप्रकाश मानें, तो अहंकारसमवेत उक्त ज्ञानसे जड़स्वरूप आत्माकी सिद्धि होती है, ऐसा कहनेमें उक्त अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता, यह शङ्का करते हैं—'**अथाऽहंधीः**' इत्यादिसे ।

उक्त प्रकार कहनेमें तो केवल शब्दमात्रका भेद है । हम आत्माको स्वप्रकाश कहते हैं, उक्त वृत्तिरूप ज्ञानको जड़, एवं आप आत्माको जड़ कहते हैं और उक्त ज्ञानको स्वयंप्रकाश । अर्थात् एक स्वयंप्रकाश और दूसरा जड़, यह आपको अभीष्ट है और हमको भी ।

प्रश्न—यदि मदुक्त प्रकार आपको भी अभीष्ट है, तो शब्दमात्रका विवाद त्याग कर मदुक्तप्रकार आत्माको आप भी मानिये ?

उत्तर—आत्मा स्वयंप्रकाश है, एतदर्थप्रतिपादनपरक 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इत्यादि श्रुतिविरोधसे भवदुक्त प्रकार ग्राह्य नहीं है । अच्छा तो

स्वप्रकाशाज्जडं सिद्ध्येदित्येतदुभयोः समम् ।
न जडं ब्रह्म तत्र स्यात् सत्यं ज्ञानमिति श्रुतेः ॥४८५॥
किञ्च संवित्प्रमेया चेत् संविदन्या फलं भवेत् ।
न च संविद्द्वयं भाति नाऽनुमेयं फलं क्वचित् ॥ ४८६ ॥

यह कैसे कहा कि जो आपको अभीष्ट है, सो हमको भी है। हमको तो 'आत्मा अहंधीग्राह्य है' यह अभिमत है, पर आपको यह अभिमत नहीं है, किन्तु स्वयंप्रकाश आत्मा है, यह अभिमत है। हां ठीक कहते हैं, हमारा अभिप्राय यह है कि स्वप्रकाशसे जड़की सिद्धि होती है, यह आपको अभीष्ट है और हमको भी ॥ ४८४ ॥

यही कहते हैं—**'स्वप्रकाशा०'** इत्यादिसे।

स्वप्रकाशसे जड़की सिद्धि होती है, यह हम और आप—दोनोंको अभिमत है। आप आत्माको जड़ कहते हैं, किन्तु यह पक्ष श्रुतिविरोधसे अश्रद्धेय है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है, यह सिद्ध होता है। ज्ञानको आप स्वयंप्रकाश कहते ही हैं, फिर तदतिरिक्त आत्माको मानकर उसे जड़ कहना, यह अनुचित है। आत्माको स्वयंप्रकाश माननेसे उसीसे सकल व्यवहारकी सिद्धि होती है। अहमाकार-बुद्धि स्वयंप्रकाश है; इसकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४८५ ॥

संवित्स्वरूपको अहंधीगम्य माननेमें दूषणान्तर भी कहते हैं—**'किञ्च'** इत्यादिसे।

यदि संवित् प्रमेय होगी, तो उसका फल संविदन्तर—ज्ञानान्तर—ही होगा। जैसे 'अयं घटः' इत्यादि स्थलमें घट प्रमेय है, उसका फल घटज्ञान है वैसे ही 'अहम्' इत्यादि स्थलमें भी यदि आत्माको अहमाकार-ज्ञानग्राह्य मानते हो, तो अहमाकारज्ञानका फल आत्मविषयक ज्ञानान्तर होना चाहिए। पर 'अहम्' इत्यादि आत्मग्राहक ज्ञानस्थलमें आत्माके दो ज्ञानोंकी प्रतीति नहीं होती। इसलिए संवित्स्वरूप आत्मा वेद्य नहीं है। वस्तुतः आत्मा असंवित्स्वरूप है अथवा संवित्स्वरूप ? प्रथम पक्षमें न्यायमतकी तरह आत्मा उक्त प्रत्ययसे वेद्य हो सकता है, परन्तु उक्त श्रुतिविरोधसे यह मत श्रद्धेय नहीं है। द्वितीय पक्षमें आत्मविषयक ज्ञानद्वयकी उपलब्धि उक्त प्रत्ययकालमें नहीं होती।

युगपद्व्यवसायानुव्यवसायवदात्मनि ।
अस्तु संविद्द्वयमिति प्रतीत्यैतत्पराहतम् ।। ४८७ ।।
घटादिस्थितसंविद्वच्छुद्धायामपि संविदि ।
संविदन्या प्रतीयेत न चाऽसावात्मनीक्ष्यते ।। ४८८ ।।

---

शङ्का—यद्यपि उक्त स्थलमें दो ज्ञान अनुभवसिद्ध नहीं हैं तथापि तद्विषयक व्यवहारमें तद्विषयक ज्ञान कारण है, यह नियम है। अन्यथा अज्ञात वस्तुके व्यवहारकी आपत्ति हो जायगी। उक्त स्थलमें आत्मव्यवहार होता है, अतः कार्यलिङ्गक अनुमानसे आत्मज्ञानका अनुमान कर सकते हैं।

समाधान—जो स्वयंप्रकाश नहीं है, उसके व्यवहारमें उक्त नियम है, स्वप्रकाशमें नहीं। प्रकाशान्तरनिरपेक्ष स्वव्यवहारहेतुत्व ही स्वप्रकाशत्व है। संवित्स्वरूप आत्मा स्वप्रकाश है, इसलिए उक्त अनुमान ही हो सकता है। अस्वप्रकाशघटादिविषयक स्थलमें ज्ञान स्वयंप्रकाश है। इसलिए उसके प्रकाशके लिए ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं है। अन्यथा वहां भी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा होनेसे अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष होंगे। सब जगह संविद्व्यवहार संविदन्तरकी अपेक्षाके बिना ही होता है; यही स्वप्रकाशका स्वभाव है ॥४८६॥

उक्त अर्थमें ही, अति स्फुट करनेके लिए, शङ्का करते हैं—**'युगपद्'** इत्यादिसे।

शङ्का—जैसे 'अयं घटः', 'घटज्ञानवानहम्' इस प्रकार व्यवसाय और अनुव्यवसायात्मक दो ज्ञान होते हैं, वैसे ही आत्मप्रमेय स्थलमें भी दो ज्ञान मानने चाहिएँ, दो ज्ञानोंको माननेमें क्या हानि है?

समाधान—घटादि प्रमेय स्थलमें उक्त दो ज्ञान अनुभवसिद्ध हैं। प्रकृतमें दो ज्ञानोंका अनुभव नहीं होता। फिर भी यदि दो ज्ञान मानेंगे, तो अनुभवविरोध होगा। अतः दो ज्ञानोंका कथन असंगत है ॥४८७॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करनेके लिए पुनः कहते हैं—**'घटादि०'** इत्यादिसे।

घटादिविषयक संविद्की तरह शुद्ध संविद्में भी संविदन्तरकी प्रतीति होती, परन्तु संविदन्तरकी प्रतीति नहीं होती है, इसलिए घटादिजड़विषयक ज्ञानकी तरह आत्मातिरिक्त आत्मविषयक ज्ञान नहीं मान सकते। आत्मामें ज्ञानान्तरकी प्रतीति

नहीं होती है। जैसे ज्ञानान्तरके प्रभावसे आत्मामें वेद्यत्व नहीं है वैसे ही फलाभावप्रयुक्त भी वेद्यत्व नहीं है। यदि आत्मा प्रमेय होगा, तो फल प्रमातामें मानियेगा या प्रमेयमें ? यह कहिए। प्रथम पक्षमें प्रमाता तो प्रमेय हो गया, तदतिरिक्त प्रमाता है नहीं, जिससे कि प्रमातृगत फल कहेंगे।

शङ्का—प्रमेय होनेपर प्रमाता भी तो है, अतः प्रमातृगत फल कह सकते हैं।

समाधान—प्रमेयगत फल नहीं होता, क्योंकि प्रमाता प्रमेय भी तो हो गया। इसलिए यदि प्रमातृगत फल कहेंगे, तो अर्थात् प्रमेयगत भी फल कहा जा सकता है। घटादि प्रमेय स्थलमें प्रकाशात्मक फल अप्रकाशात्मक घटादिमें कैसे रह सकता है ?

यदि फलको अप्रकाशात्मक मानें, तो घटादि स्वयम् अप्रकाशात्मा हैं फलको भी अप्रकाशात्मा ही मानते हैं, तो ज्ञान होनेपर भी घटादिका प्रकाश न होगा। स्वतः या परतः घटादिका यदि प्रकाश न होगा, तो जगत् अन्धा हो जायगा। ज्ञान ही से जड़का प्रकाश माना जाता है। ज्ञान जड़ात्मक ही है, तो फिर प्रकाश कहांसे आवेगा ?

शङ्का—घटादि प्रमेय जड़ है, इसलिए उसमें फल नहीं होता है। प्रकृतमें चेतन प्रमेय है, इसलिए प्रमेय होनेपर भी वह फलाश्रय हो सकता है।

समाधान—यदि घटादिकी तरह आत्मा भी प्रमेय है, तो घटादिके समान आत्मा भी जड़ ही हो जायगा। इसलिए घटादिके समान फलाश्रय भी नहीं हो सकेगा। यदि आत्मामें घटादिवैलक्षण्यकी सिद्धिके लिए संविद्रूपता मानें, तो आत्मामें प्रमाणजन्य ज्ञानान्तरकी कल्पना नहीं हो सकेगी। अनुभवविरोधसे ज्ञानद्वयका स्वीकार नहीं हो सकता, यह पूर्वमें ही कह चुके हैं। और भी सुनिए,—अहमाकारताज्ञान अनात्मधर्म है या आत्मधर्म है ? प्रथम पक्ष तो आप भी नहीं मानते, अन्यथा चार्वाकादिमतके समान भूतचैतन्यवादकी आपत्ति हो जायगी। द्वितीय पक्षमें धर्मी धर्मसे अभिन्न है, अतएव भेदघटित धर्मिधर्मभाव नहीं बन सकता। यदि यह कहिए कि धर्म और धर्मीका भेद मानते हैं, तो भी गौ और अश्वके समान धर्म और धर्मिभाव नहीं हो सकता ॥४८८॥

किसीका मत है कि आत्मा द्रव्य और बोध—एतदुभयस्वरूप है। द्रव्यरूपसे मेयत्व और बोधरूपसे मातृत्व अवच्छेदकभेदसे एक हीमें दोनों धर्मोंके रहनेसे

द्रव्यबोधस्वरूपोऽयमात्मा यैरभ्युपेयते ।
तेषामपि मते युक्ता नाहंधीगम्यताऽऽत्मनः ॥ ४८९ ॥

आत्मा ग्राह्य और ग्राहक उभयस्वरूप कहा जाता है, अतः वह अहंबुद्धिग्राह्य है, इस मतका अनुवाद कर निराकरण करते हैं—'द्रव्यबोध०' इत्यादिसे ।

द्रव्य और बोध ये दोनों आत्माके स्वरूप हैं, अर्थात् उभयस्वरूप आत्मा है । उसमें द्रव्यांश अहंबुद्धि प्रमेय और बोधांश प्रमाता है, परन्तु यह मत ठीक नहीं है । [ एतदात्मनिष्ठमहमिति ज्ञानं नैतदात्म्यविषयम्, एतदात्मनिष्ठसाक्षात्कारत्वात्, घटसाक्षात्कारवत् ] जैसे घटका साक्षात्कार घटनिष्ठ नहीं होता, किन्तु तद्भिन्न आत्मनिष्ठ होता है वैसे ही 'अहम्' यह साक्षात्कार भी आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता, किन्तु तदतिरिक्तनिष्ठ ही हो सकता है । सारांश यह है कि 'अहम्' यह ज्ञान यदि आत्माका ग्राहक रहता, तो आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता ? यदि उसे आत्मनिष्ठ मानें, तो आत्मविषयक नहीं हो सकता । और क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है, इस बौद्धमतका जिस दोषसे निराकरण करते हो, वह दोष आपके मतमें भी है । क्षणिक विज्ञान ही यदि आत्मा है, तो उसमें ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व ये दोनों विरुद्ध धर्म कैसे रहेंगे ? आत्मा होनेसे वही ज्ञानग्राहक है और स्वयं ज्ञानग्राह्य है सो दोष आपके मतमें भी है । द्रव्य-बोध आत्मा है । बोध ग्राहक है, द्रव्य ग्राह्य है, इस प्रकार एक ही आत्मामें ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों धर्मोंका समावेश समान है, फिर बौद्धमतकी अपेक्षा आपके मतमें क्या विशेष है ? कुछ नहीं ।

यदि विशेष अभीष्ट है, तो आत्माको अहंधीग्राह्य न मानिए, इस कारणसे भी उक्त द्विरूप आत्मा अहंधीवेद्य नहीं हो सकता । आत्मांश बोधका ज्ञान स्फुरण है । उससे द्रव्यांशका स्फुरण नहीं होता, क्योंकि दोनों अंश मिथो भिन्न हैं । यदि बोधस्फुरणके विषय द्रव्यांशको भी मानिएगा, तो द्रव्य बोधसे अभिन्न हो जायगा । द्रव्यांश आत्माके स्फुरणसे यदि बोधांशका स्फुरण कहिएगा, तो बोध द्रव्यसे अभिन्न हो जायगा । अतः स्फुरणभेदसे प्रमाणभेद होता है । इसलिए उक्त द्विरूप आत्माकी सिद्धि एक ज्ञानसे नहीं हो सकती । द्रव्य और बोध एक ही आत्माका स्वरूप है, अतः अहंप्रत्ययकृत एक ही स्फुरण है, ऐसा माननेसे कोई अनुपपत्ति नहीं है । यह भी कहना ठीक नहीं है, कारण कि द्रव्य और बोध ये दोनों पदार्थ परस्पर व्यावृत्त विलक्षण हैं । एतदुभयस्वरूप आत्मा एक नहीं हो

सकता, क्योंकि द्रव्यादिभेदप्रयुक्त आत्मभेदकी प्रसक्ति हो जायगी। घटपटोभय प्रत्येकातिरिक्त अपूर्व कोई पदार्थ नहीं कहा जा सकता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। आत्मा आपके मतसे एकरस है, पर उसकी सिद्धि तो अहमाकारबुद्धिसे ही होगी, तो आपका भी मत बौद्धमतके समान ही है। आत्माकी सिद्धि परतः बौद्ध तथा आपके मतमें समान ही है। नहीं, नहीं, समान नहीं है, क्योंकि हमारे मतमें अनुभवस्वरूप आत्मा स्वयंप्रकाश अतएव स्वयंसिद्ध है। आत्मसिद्धिके लिए उक्त प्रत्यय आदिकी अपेक्षा नहीं है। आत्मा अहंधीगम्य नहीं है, इसमें यह भी कारण सुनिए, अहमित्याकारक बुद्धि आत्मामें प्रमाण नहीं है, कारण कि यह बुद्धि रागादिकी तरह प्रत्यक्ष है। प्रमाण अनुमेय होता है, प्रत्यक्ष नहीं, यह आपका मत है।

यदि कहिए कि अहङ्कार ही आत्मा है तदतिरिक्त नहीं, तो यह कहना नहीं बनता, क्योंकि अहङ्कार जड़ तथा परतन्त्र है, और आत्मा चेतन तथा स्वतन्त्र है। और भी अहंप्रत्ययवेद्यत्वके अभावमें कारण है। यदि अहंप्रत्ययको प्रमाण मानें, तो भी द्रव्य-बोधोभयांश आत्मा तत्प्रमेय नहीं हो सकता। तादृश आत्मज्ञानके बिना अहंबुद्धिज्ञान नहीं हो सकता और अहंबुद्धिज्ञानके बिना आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता, इस तरह ज्ञानमें अन्योन्याश्रय है।

शङ्का—जैसे अज्ञात ही नेत्रादि घटादि प्रमितिके जनक हैं, वैसे ही यदि अज्ञात ही अहंधीको आत्मसाधक मानेंगे, तो अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा।

समाधान—आत्मज्ञानके बिना उक्त बुद्धि सिद्ध ही नहीं है जिससे कि अज्ञात उक्त बुद्धिको आत्मसाधक कह सकें, किन्तु अनुमेय मानते हैं। अनुमान तो आत्म-ज्ञानसे ही होगा, अन्यथा नहीं। अनुमानमें अन्योन्याश्रय दोष कह ही चुके हैं। बुद्धि प्रदीपके समान प्रकाशात्मक है। जैसे भासमान प्रदीप घटादिका साधक होता है वैसे ही भासमान ही बुद्धि आत्मसाधक होती है, अभासमान नहीं।

शङ्का—अच्छा तो आत्माके सत्तामात्रसे उक्त बुद्धिको साधक कहेंगे, तो अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं होगा।

अहंबुद्धिकी अनुमिति आप मानते हैं। अनुमानमें आत्मसंवित् लिङ्ग है, लिङ्गज्ञानमें तद्विशिष्ट आत्माका भी ज्ञान आवश्यक है। आत्मज्ञान होनेपर अहंधीः, अहंधीसे आत्मज्ञान, इस तरह स्पष्ट अन्योन्याश्रय दोष है॥ ४८९॥

यतो मानानि सिद्ध्यन्ति जाग्रदादित्रयं तथा ।
असन्त्यपि च सत्त्वेन तत्सद् ब्रह्मेति बोध्यते ॥ ४९३ ॥

परब्रह्मस्वरूपताका बोध होता है, अतः पदार्थांशके ज्ञात होनेपर भी अपूर्व वाक्यार्थका बोधक होनेसे अनुवादकत्वांश अयुक्त है ।

शङ्का—यदि ब्रह्म मानान्तरागोचर है, ऐसा मानते हैं, तो उसमें शब्दका शक्तिग्रह नहीं हो सकता, अतएव ब्रह्म बोधक वेदमें अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति तदवस्थ है ।

समाधान—शुद्ध ब्रह्मके मानान्तरागोचर होनेपर भी उपहित ब्रह्म सब प्रमाणोंका विषय है, यह पूर्वमें कह चुके हैं, तदनुसार विशिष्टमें शक्ति है, अद्वितीय-परत्वान्यथानुपपत्ति आदि हेतुओंसे तद्बोधक शब्दोंकी शुद्ध ब्रह्ममें लक्षणा कर वेदान्त प्रमाण माने जाते हैं ।

इसलिए शुद्ध आत्मा वेदैकवेद्य है, यह मानकर कहते हैं—**'यतो मानानि'** इत्यादि ।

प्रत्यक्षादि प्रमाण जड़ हैं, स्वतः उनका प्रकाश नहीं होता, किन्तु आत्म-प्रकाशसे ही उनका प्रकाश होता है, अतः वे प्रमाण आत्माके प्रकाशक नहीं हो सकते, क्योंकि 'यो यत्प्रकाश्यः स तत्प्रकाशको न, यथा प्रदीपप्रकाश्यो रूपादिः न प्रदीपप्रकाशकः' एवं आत्मासे प्रकाशित होनेवाले प्रत्यक्षादि प्रमाण आत्मप्रकाशक नहीं हो सकते ।

शङ्का—आत्मा भले ही मानान्तरागोचर हो, किन्तु ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकता, कारण कि आत्माकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ हैं और ब्रह्म तीनों अवस्थाओंसे रहित है, अवस्थात्रयविशिष्टका अवस्थात्रयरहितके साथ ऐक्य नहीं हो सकता ।

समाधान—ठीक है, किन्तु प्रत्यगात्मा अवस्थात्रयविशिष्ट नहीं है, बल्कि अवस्थात्रयका साक्षीमात्र है ।

शङ्का—फिर भी सद्वय प्रत्यगात्माका अद्वय ब्रह्मके साथ ऐक्य अनुपपन्न है ।

समाधान—वस्तुतः प्रत्यगात्मा सद्वितीय नहीं है, किन्तु द्वैतमात्र उसमें कल्पित है, कल्पित धर्म ऐक्यमें बाधक नहीं होते, क्योंकि ऐक्यसमयमें कल्पित धर्मोंकी

अभातानि यतो भान्ति जडानि निखिलान्यपि ।
याऽनन्यदृक् स्वप्रकाशा सा चिद्ब्रह्मेति बोध्यते ॥ ४९४ ॥
योऽनन्यार्थो यदर्थं च सर्वं जगदिदं प्रियम् ।
सर्वं प्रियतमानन्दम् एष ब्रह्मेति बोध्यते ॥ ४९५ ॥
यमाश्रयति भेदोऽयं भावाभावात्मकोऽखिलः ।
न भावो नाऽप्यभावोऽसावभिन्नश्च निराश्रयः ॥ ४९६ ॥

निःशेष निवृत्ति हो जाती है, जब वे हैं नहीं, तब बाधक कैसे हो सकते हैं? अतएव भावाभावविलक्षण तथा सुखलक्षण आत्माके लक्षित होनेसे शास्त्रोंमें वह सुखस्वरूपसे व्यवहृत होता है, अद्वितीय स्वमहिमप्रतिष्ठित कूटस्थ नित्य सच्चिदानन्दोदासीन चैतन्यमात्र आत्मा है, उसीमें भावात्मक प्रमात्रादित्रय, कर्तृत्वादित्रय तथा भोक्तृत्वादित्रय निखिल प्रपञ्च विवर्तरूपसे प्रतीत होता है; उस परमात्माके साथ साक्षीका ऐक्य वेदान्तवाक्योंसे बोधित होता है ॥ ४९२–४९३ ॥

त्वमर्थोक्ति द्वारा वाक्यार्थका निरूपण कर तदर्थोक्ति द्वारा फिर उसी वाक्यार्थका निरूपण करते हैं—'अभातानि' इत्यादिसे ।

घट, पटादि निखिल जड़ वस्तु जिससे भासित होती है और जिसमें रहती है और अनन्यदृक् अर्थात् जो प्रकाशान्तरसे निरपेक्ष भासमान है, वेदान्तवाक्य उस परमात्माके साथ साक्षीके अभेदका अर्थात् जीवब्रह्मैक्यका बोधन करते हैं ॥४९४॥

'योऽनन्यार्थो' इत्यादि । जो आत्मा अनन्यार्थ है और सब भोग्य प्रपञ्च जिस आत्माके लिए अर्थात् आत्मसुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिके लिए है, वही ब्रह्म वेदान्तोंसे बोधित होता है। आत्मा अन्यार्थ नहीं है, अतः आत्माके प्रति प्रपञ्चमात्र गुणभूत है । आत्मा स्वयं प्रधान है, इसलिए वह किसीके प्रति गुणभूत नहीं है । 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादि महर्षि याज्ञवल्क्योक्ति द्वारा जाया, पति, पुत्र आदि सकल जगत् आत्मप्रीतिके लिए प्रिय माना जाता है । जगत्में अनौपाधिक प्रीति नहीं है । आत्मामें किसी दूसरेके लिए प्रीति नहीं होती, अतः वही प्रत्यगात्मा ब्रह्म कहा जाता है। अतिरिक्त नहीं । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे अनेक चेतनवादका स्पष्टरूपसे प्रतिषेध कर एक चेतनवादका सिद्धान्त स्थिर किया गया है ॥४९५॥

'यमाश्रयति' इत्यादि । सम्पूर्ण भावाभावात्मक भेद अर्थात् घट, पट आदि

प्रमेयादित्रयं त्वेतत् परस्परविलक्षणम् ।
यस्मिन् विजृम्भते सोऽयमविकार्यविलक्षणः ॥ ४९७ ॥

भावरूप और घटाद्यभावात्मक अभावरूप परस्पर विलक्षण सारा जगत् जिसका आश्रित और जिसमें उत्पन्न है, वह ब्रह्म भाव तथा अभावसे विलक्षण एवं 'ऐतदादात्म्यमिदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'एतत्सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि श्रुतियोंसे सबसे अभिन्न है तथा 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' यह पूछनेपर 'स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितः' इत्यादि श्रुतिसे स्वयं निराधार है, यह निश्चित होता है ॥ ४९६ ॥

'प्रमेयादि०' इत्यादि ।

शङ्का—उक्तलक्षण साक्षी है नहीं, फिर साक्षीके अभेदका ब्रह्ममें कैसे बोधन कर सकते हैं ।

समाधान—परस्पर विलक्षण प्रमात्रादित्रय, भोक्त्रादित्रय और कर्त्रादित्रय जिससे स्वात्मसत्ताका लाभ करते हैं, उसे अपनी सत्ताकी सिद्धिके लिए दूसरेकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह अबाधित कूटस्थ संवित्स्वरूप है। वही कूटस्थ बोध इस प्रमात्रादि साक्ष्यका साक्षी है। उसका निराकरण हो नहीं सकता, कारण कि उसका निराकरण करनेसे प्रमात्रादिका भावाभाव—सत्त्वासत्त्व—सिद्ध नहीं हो सकेगा। यद्यपि वह अविकारी, अविलक्षण और सर्वत्र एकरसरूपसे स्वयंसिद्ध है, तथापि विप्रतिपन्नके सन्तोषके लिए 'प्रमात्रादित्रयम् एतद्ग्राहकैन्द्रियकज्ञानातिरिक्तास्मदीयप्रत्यक्षग्राह्यम्, प्रत्यक्षत्वात्, कुम्भवत्, ऐसा अनुमान प्रयोग भी कर सकते हैं। प्रमात्रादिग्राहक ऐन्द्रियक ज्ञानसे अतिरिक्त प्रत्यक्ष अनुभवस्वरूप आत्मा 'यत्साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म' इस श्रुतिसे निर्विवाद सिद्ध है, तद्ग्राह्यत्व पक्षमें है। दृष्टान्तमें 'अहं कर्ता' इत्यादि कर्तृत्वादिग्राहक मानस प्रत्यक्ष नैयायिकादिमतसे प्रसिद्ध है। तदतिरिक्त हुआ चाक्षुषप्रत्यक्ष, तद्ग्राह्यत्व कुम्भमें है। इस रीतिसे उक्त साक्षी अनुमानसे भी सिद्ध होता है ॥ ४९७ ॥

शङ्का—तो भी स्वापमें बोधमूर्ति साक्षीका अनुभव न होनेसे साक्षी नहीं है, यह शङ्का हो सकती है।

असङ्कुचितचित्पद्मः सुप्तेऽपि स्वप्नबोधवत् ।
प्रज्ञानघन एवाऽयं सुप्तवत् स्वप्नबोधयोः ॥ ४९८ ॥
साक्ष्यसम्बन्धतः साक्षी न स्वतः साक्षिताऽऽत्मनः ।
प्रत्यङ्मात्रैकदृष्टित्वाद्धियां वाचामगोचरः ॥ ४९९ ॥

---

समाधान—जागरादि अवस्थामें साक्षीका अनुभव स्फुट है, इसलिए सुषुप्ति अवस्थामें भी वह है, यह अवश्य कहना होगा। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इस श्रुतिसे अनुभव अविनश्वर है, सूर्यके सन्निधानसे जैसे कमल विकसित रहता है, वैसे ही आत्माके सन्निधानसे उक्तानुभव स्फुट रहता है, यही कहते हैं—'असंकुचित०' इत्यादिसे ।

शङ्का—जैसे जागरादि अवस्थामें साक्षी सविशेष रहता है, वैसे ही सुषुप्तावस्थामें भी सविशेष होना चाहिए ।

समाधान—जागरादि अवस्थामें आत्माके विषयस्थित होनेपर भी वस्तुतः सुषुप्तिके समान निर्विशेष ही है, क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिसे उक्त अवस्थाद्वयमें भी आत्मा विषयसङ्गी नहीं है, किन्तु सुषुप्तिके समान अविशिष्ट ही है, इसलिए उक्त दो अवस्थाओंके समान सुषुप्तावस्थामें भी आत्मामें सविषयत्वापादन असङ्गत है। इस अभिप्रायसे कहते हैं—'प्रज्ञानघन एवाऽयम्' अर्थात् अवस्थात्रयमें आत्मा प्रज्ञानघन एकरस ही है ॥ ४९८ ॥

'साक्ष्यसम्बन्धतः' इत्यादि ।

शङ्का—बोध यदि साक्षी है, तो सविशेष होना चाहिए ।

समाधान—साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षित्व है, साक्ष्य अविद्यासे कल्पित है, अतः उक्त साक्षित्व भी कल्पित ही है। कल्पित धर्म वास्तविक अविशेषत्वका विरोधी नहीं होता, क्योंकि कल्पित भुजङ्गत्व वास्तविक रज्जुत्वका विघातक नहीं होता है ।

शङ्का—फिर भी बोध वागादिविषय है, इसलिए सविशेषत्वकी प्रसक्ति होती है, क्योंकि निर्विशेषका शब्दादि द्वारा बोध नहीं हो सकता ।

समाधान—बोध प्रत्यङ्मात्र (चिन्मात्र) स्वरूप होनेसे वागादिविषय ही नहीं, अतः आपादककी असिद्धिसे आपाद्यका अपादान ही नहीं हो सकता। 'यतो वाचो

**अस्मत्पक्षे तु कर्तृत्वमविद्यामात्रकल्पितम् ।
तदभावान्न संसारो भूतो भावी न वर्तते ॥ ५०० ॥**

निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतिसे जब प्रत्यङ्मात्र बोध किसीका विषय ही नहीं है, तो वाग्का विषय ही कहांसे होगा ? ॥ ४९९ ॥

शङ्का—अनुभवात्मा सविशेषः, कर्तृत्वात् , राजवत् , इस अनुमानसे फिर आत्मामें सविशेषत्वकी आशङ्का होती है, कर्तृत्वादि हेतु आत्मामें नहीं है, यह तो नहीं कह सकते, क्योंकि साक्ष्यके सम्बन्धसे उक्त बोधमें साक्षित्व है, ऐसा आप मानते हैं, अतः साक्ष्यसम्बन्धकर्तृत्व आप मानते ही हो ।

समाधान—'अस्मत्पक्षे तु' इत्यादिसे ।

हमारे पक्षमें कर्तृत्वादि निखिल धर्म केवल अविद्यासे कल्पित हैं, वास्तविक नहीं, अतः तत्त्वज्ञानसे सब कल्पनाओंके निदान अज्ञानका ध्वंस होनेपर अज्ञानहेतुक सब बन्धोंका ध्वंस हो जाता है, इसलिए भूत, भावी संसार कुछ नहीं रह जाता है ।

शङ्का—अज्ञान अनादि तथा अनुभवमात्रसे सिद्ध है, अतः आत्माकी तरह वह निवृत्त नहीं हो सकता ।

समाधान—यद्यपि अज्ञान अनादि तथा अनुभूतिसे प्रकाशित है, तो भी आत्माके समान अविनाशी नहीं है, कारण कि आत्मा भावस्वरूप है और अज्ञान भावसे विलक्षण है, अनादि भावस्वरूपकी निवृत्ति नहीं होती, ऐसा नियम है, अतः घट प्रागभावको नैयायिक अनादि मानकर घटोत्पत्तिसे उसका नाश भी मानते हैं, इसी तरह अज्ञानके भावविलक्षण और अनादि होनेपर भी ज्ञानसे वह नष्ट होता है, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

शङ्का—घटप्रागभाव तो घटोत्पत्तिमात्रसे निवृत्त होता है और अज्ञान केवल तत्त्वज्ञानमात्रसे निवृत्त नहीं होता है, किन्तु आवृत्तिकी अपेक्षा करता है अर्थात् ध्यानसे निवृत्त होता है ।

समाधान—ध्यान भी तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमें कारण है । ध्यानसे तत्त्वंपदार्थाभेदबोधमें प्रतिबन्धकीभूत अयोग्यताज्ञानकी निवृत्ति होती है । तदनन्तर केवल 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे उत्पन्न आत्मैक्यज्ञान तत्क्षणमें अज्ञानका नाशक होता है, यह अद्वैतवेदान्तका सिद्धान्त है, इस अर्थमें दृष्टान्त देते हैं—

स्वाभाविक्यप्यविधेयमनुभूत्या विभासिता ।
तमः सूर्योदयेनेव ज्ञानेनोत्कृत्य नाश्यते ।। ५०१ ।।
अनाद्यपि तदज्ञानं ज्ञानेनाऽऽदिमता क्षणात् ।
दृश्यते नाश्यमानं हि घटाद्यज्ञानबोधयोः ।। ५०२ ।।
एवम्भूतः स्वयं प्रत्यक् सर्वाज्ञानादिसाक्ष्यपि ।
व्युत्पत्तेः प्रागविज्ञातः संस्तथैवाऽनुभूयते ।। ५०३ ।।

---

जैसे सूर्यके उदयमात्रसे अन्धकारका नाश होता है, वैसे ही उक्त तत्त्वज्ञानसे अज्ञानका नाश होता है ।

शङ्का—यदि ऐसा है, तो जीवन्मुक्ति नहीं बन सकती, क्योंकि जीवन्मुक्ति-दशामें संस्कारात्मना अविद्यानुवृत्ति मानी जाती है, अन्यथा शरीरधारणोपयोगी व्यापार नहीं हो सकेगा।

समाधान—उत्कृत्य—अवयवशः शिथिलीकृत्य—अर्थात् अरुणोदयवेलासे शनैः शनैः अन्धकार शिथिल होने लगता है और सूर्योदयके बाद निःशेष निवृत्त हो जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान भी शनैः शनैः अविद्याको शिथिल करता हुआ संस्कारसहित अविद्यानाशप्रतिबन्धक प्रारब्धकर्मोंके क्षयके अनन्तर समूल अज्ञानका नाश करता है, इस व्यवस्थासे जीवन्मुक्तिकी भी अनुपपत्ति नहीं है ॥५००,५०१॥

'अनाद्यपि' इत्यादि । सादि ज्ञान अनादि आत्माके अज्ञानको क्षणमात्रमें नष्ट करता है, क्योंकि अनादि घटाज्ञानका सादि घटज्ञानसे नाश देखते हैं । घटज्ञानो-त्पत्तिसे पहले घटका अज्ञान ही रहता है । घटका अज्ञान कबसे है, यह कोई कह नहीं सकता, किन्तु घटज्ञान साधनसापेक्ष होनेसे सादि है, इसमें किसीको विवाद नहीं है एवं आत्माका अज्ञान अनादिकालसे धाराप्रवाहन्यायसे अनुवर्तमान है, साधन-सम्पत्तिके अनन्तर तत्त्वज्ञान सादि है फिर भी अनादिनिबिडवासनावबद्ध मूल अज्ञान अचिरोत्पन्न तत्त्वज्ञानसे क्षणभरमें नष्ट हो जाता है । 'धियां तत्त्वे पक्षपातः' इस न्यायसे तत्त्वविषयकबुद्धि अतत्त्वबुद्धिसे प्रबल होती है, यह सर्वसम्मत पन्था है ॥

यदि शङ्का हो कि स्वयंप्रकाश आत्मामें अज्ञानका सम्भव नहीं है, कौन कह सकता है कि सूर्यमें अन्धकार रहता है, तो इसका समाधान करते हैं—'एवंभूतः' इत्यादिसे ।

तस्मात्त्वमसीत्यादेरागमादेव नान्यतः ।
ऐकात्म्यवस्तुनः साक्षाद् व्युत्पत्तिरविचालिनी ॥ ५०४ ॥
कार्यं निरोधः प्रतिपत्प्रसङ्ख्यानमखण्डनम् ।
अबाधाननुवादौ च प्रामाण्याय विचारिताः ॥ ५०५ ॥

* इति वार्त्तिकसारे प्रामाण्यपरीक्षाख्यं तृतीयंप्रकरणं समाप्तम् *

---

सर्व बुद्धि और तद्वृत्तियोंका साक्षी आत्मा स्वप्रकाश है; तो भी तत्त्व-ज्ञानकी उत्पत्तिसे पूर्व स्वानुभवसे अज्ञात ही सिद्ध है, इसलिए प्रमाणकी प्रवृत्ति इसमें भी होती है, यह मानना ठीक है, सूर्यमें तम नहीं रहता, इसका कारण यह है कि सूर्य स्वरूपसे तमका विरोधी तथा निवर्त्तक है। यद्यपि बोधस्वरूप आत्मा स्वरूपसे अज्ञानका विरोधी नहीं है, क्योंकि आत्मामें ही अज्ञान रहता है, तथापि प्रमाणवृत्त्युपारूढ आत्मा अज्ञानका विरोधी है। जैसे रुईका प्रकाशक सूर्यका प्रकाश है, उसका नाशक नहीं है, किन्तु सूर्यकान्तप्रतिबिम्बित सूर्यालोक रुईका नाशक होता है। अतएव संक्षेपशारीरिकका वचन है—'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' इत्यादि ॥ ५०३ ॥

यदि प्रमाणसे अज्ञान और तत्कार्यका ध्वंस मानते हैं, तो प्रत्यक्षादिको ही तद्ध्वंसक क्यों नहीं मानते ? तो इस शङ्काका समाधान करते हैं—**'ऐकात्म्य०'** इत्यादिसे ।

चूं कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यार्थज्ञानसे पूर्व ( 'अहं ब्रह्म' इस ज्ञानसे पूर्व ) आत्मतत्त्व अविज्ञात रहता है और तदनन्तर ही ज्ञात होता है, अतः 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ही स्वब्रह्माभेदापरोक्षमें प्रमिति होती है। अनौपाधिक-निर्विकल्पोक्तापरोक्षमें प्रमाणान्तरकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रमाणान्तर सोपाधिविषयक है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। उक्त प्रमिति सकारण सर्वबन्ध-विध्वंसक होनेसे अपुनरावृत्तिलक्षण मोक्षफलको देनेवाली है। अतएव अति दृढा है, एतदर्थ सब वेदान्तोंकी प्रवृत्ति है ॥ ५०४ ॥

**'कार्यं निरोधः'** इत्यादिसे। कार्य—अपूर्व, निरोध—चित्तवृत्तिनिरोध, प्रतिपत्—साक्षादात्मक प्रतिपत्ति, प्रसंख्यान—प्रत्ययावृत्तिस्वरूप ध्यान, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अबाध तथा अननुवाद—इनका वेदप्रामाण्यके लिए पूर्वमें पूरा विचार

किया गया । वेदान्त अखण्डार्थपरक हैं और अखण्डार्थ प्रमाणान्तरसे अप्राप्त है, अतः अपूर्वार्थबोधकत्वरूपसे वेदान्तमें प्रामाण्य व्यवस्थित किया गया है। परमपुरुषार्थमोक्षफलक अखण्डार्थज्ञानके लिए वेदान्तका आरम्भ है।

उपसंहार—यदि देहान्तरसम्बन्धी आत्माका अस्तित्वज्ञान न हो, तो जन्मान्तरीय इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहारकी इच्छा ही न होगी, क्योंकि स्वभावादिवाद भी देखे जाते हैं। जन्मान्तरसम्बन्धी आत्मा है। तथा जन्मान्तरीय इष्ट और अनिष्ट विशेषके बोधनके लिए शास्त्र हैं—'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'। इस सन्देहका उपक्रम कर 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' इत्यादि निर्णय देखा जाता है और मरणके अनन्तर—

'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥'

तथा 'स्वयंज्योतिः' इसका उपक्रम कर 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन' इत्यादिका उपक्रम कर 'विज्ञानमयः' इत्यादिसे श्रुतिने शरीरादिसे अतिरिक्त आत्माका प्रतिपादन किया है।

शङ्का—आत्माका तो सबको प्रत्यक्ष ही है, इसलिए शास्त्रकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—यदि आत्माका घटादिके समान सबको वास्तविक प्रत्यक्ष होता, तो इस विषयमें वादियोंका विवाद ही न होता। प्रत्यक्षसिद्ध घटमें अस्तित्वनास्तित्वके लिए कोई भी विवाद नहीं करता, परन्तु आत्मा देहान्तरसम्बन्धी है, इसमें चार्वाक तथा बौद्धोंका विवाद है, अतः देहान्तरसम्बन्धित्वका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वर्तमानकालमें देहान्तरसम्बन्ध नहीं है, अतः प्रत्यक्षकी योग्यता भी नहीं है, असाधारण लिङ्ग न होनेसे अनुमान भी नहीं हो सकता।

प्रश्न—नैयायिक तथा मीमांसक आत्माको प्रत्यक्ष तथा अनुमेय कहते हैं।

उत्तर—हां कहते हैं, प्रथम वेदवाक्य या तन्मूलक स्मृत्यादि द्वारा प्रदर्शित लिङ्गविशेषसे स्वयं आत्माको समझकर वे अपनी विद्वत्ताकी प्रथाके लिए वेदवाक्योंका निर्देश न कर यह मद्विहित अनुमान है, ऐसा कहते हैं, अस्तु ! देहान्तरसम्बन्धी आत्मा है, ऐसा जिसको दृढ विश्वास है, वह देहान्तरगत

इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहारका अभिलाषी होता है। इष्ट तथा अनिष्ट विशेषके ज्ञापनके लिए कर्मकाण्डका आरम्भ हुआ है। परन्तु इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहारकी इच्छाके कारणीभूत आत्मविषयक कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वरूपाभिमानलक्षण अज्ञानका उसके विपरीत ब्रह्मात्मस्वरूपबोधन द्वारा निराकरण नहीं होगा, और जबतक इस अज्ञानका निराकरण ही नहीं होगा, तबतक कर्मफल रागादि स्वाभाविक दोषसे शास्त्रविहितादिका उल्लङ्घन कर मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म द्वारा अधर्मसंज्ञक कर्मका संपादन करते रहेंगे। इससे स्थावरान्त अधोगति अनिवार्य है। किसी समय प्राचीन शोभन संस्कारके बलसे मानसिकादि-व्यापारसे धर्मका सम्पादन करता है।

धर्म दो प्रकारका होता है—एक ज्ञानपूर्वक और दूसरा केवल। केवलसे पित्रादिलोककी प्राप्ति होती है और ज्ञानपूर्वक कर्मसे देवलोकादि कार्यब्रह्मलोकान्तकी प्राप्ति होती है। स्मृतिमें लिखा है—'द्विविधं कर्म वैदिकम्' धर्म और अधर्म समान रहता है तो मनुष्य योनि मिलती है। धर्म अधिक रहता है, तो देवयोनि मिलती है। पापबाहुल्यसे नरकान्त गति होती है। धर्माधर्मसाधनकृत नामरूप कर्माश्रय संसारगति होती है, इस प्रकार बीजाङ्कुरके समान अनादि अविद्याकृत संसार आत्मामें अनर्थ है, इस संसारचक्रसे जो पुरुष विरक्त हैं, उनके अज्ञानकी निवृत्तिके लिए तद्विपरीत ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिए उपनिषदोंका आरम्भ है।

शङ्का—ज्ञान भी तो कर्मविषयक ही है।

समाधान—नहीं, क्योंकि 'योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इस प्रकार विकल्पका श्रवण है, अर्थात् जो फल अश्वमेध यागसे होता है, वह उसके ज्ञानसे भी होता है, प्रकृत फलमें दोनों स्वतन्त्र साधन कहे गये हैं, अतः कर्मनिर-पेक्ष केवल ज्ञानसे भी प्रकृत फल होता है, यह स्पष्ट है। विद्याप्रकरणमें कर्मका कथन सम्पूर्ण कर्म संसारविषयक हैं, यह दिखलानेके लिए है, आगे संसार-भोगमें मृत्यु-सत्तारूप फल स्पष्ट कहेंगे।

शङ्का—अच्छा तो कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डका परस्पर क्या सम्बन्ध है? यह प्रकृत विषय कहिए।

समाधान—कर्म करनेसे बुद्धिकी शुद्धि होती है, बुद्धि शुद्ध होनेपर वैराग्य होता है, तदनन्तर: ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, इससे परम्परा द्वारा कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डका साध्यसाधनभाव सम्बन्ध है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

नाऽज्ञासिषमिदं पूर्वमित्येवं प्रमिते पटे ।
पूर्वाज्ञातत्वविषयः परामर्शो ह्यतिस्फुटः ॥ १२ ॥
न तस्याऽननुभूतस्य परामर्शः कथञ्चन ।
अनुभूतिर्न प्रमाणाच्चैतन्यं तेन शिष्यते ॥ १३ ॥

मानसे असिद्ध यह अज्ञातत्व किसके द्वारा सिद्ध होता है ? यह प्रश्न है, इसका उत्तर यह है कि ज्ञानोत्तर अज्ञातत्वका परामर्श—स्मरण—उसके अनुभवके बिना नहीं हो सकता, इसलिए वह अपनी उपपत्तिके लिए अज्ञातत्वमें साक्षिवेद्यत्वकी कल्पना करता है । यद्यपि अज्ञातत्वके सत्त्वासत्त्वमें साक्षीसे भिन्न दूसरा प्रमाण नहीं है, तथापि अज्ञातत्वस्मरणकी अन्यथानुपपत्तिसे साक्षिस्वरूपानुभव ही उसमें प्रमाण है । घटादिविषयक ज्ञानके अनन्तर, 'इदं घटादि' इस प्रमोत्पत्तिसे पूर्व 'इदं न अज्ञासिषम्' इसको नहीं जानता था और तद्विषयक प्रमाके बाद ही 'मैंने इसे जाना है' इस प्रत्यभिज्ञासे स्पष्ट जाना जाता है कि अज्ञातत्वका साक्षात्कार होता है ।

शङ्का—अज्ञातत्वकी प्रत्यभिज्ञाके अनुसार उसको प्रमेय क्यों नहीं मानते ?

समाधान—अदृष्ट घटादिके देखनेपर यह प्रत्यभिज्ञा होती है, उस कालसे पूर्वमें प्रमात्रादिकी प्रवृत्ति है नहीं, अतः तज्जन्यसंस्कारके अभावसे उक्त प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती ।

शङ्का—यदि अज्ञातत्वका अनुभव नहीं है, तो प्रत्यभिज्ञाको कैसे मानते हो ?

समाधान—भाव मान ( प्रत्यक्षादि ) और अभाव मान ( अनुपलब्धि ) से अज्ञातत्वका ज्ञान नहीं होता, किन्तु साक्षिरूपानुभवसे तन्मूलक उक्त प्रत्यभिज्ञाकी सिद्धि होती है ॥ ११-१२ ॥

घटादिबोधक मानसे जैसे घटादिगत ज्ञातताका बोध होता है, अतएव 'ज्ञातो घटः' इत्यादि व्यवहार होता है; वैसे ही प्राक्कालिक अज्ञातताका भी बोध हो जायगा, फिर साक्षिवेद्यत्वकी कल्पना क्यों करते हैं ? इस शङ्काका समाधान कहते हैं—**'न तस्याऽननु०'** इत्यादिसे ।

प्राक्कालीन अज्ञातत्वका अनुभव नहीं होता, अतएव तत्परामर्श नहीं हो सकता। अनुभूतका ही संस्कार द्वारा परामर्श होता है, प्रमासे अनुभव हो नहीं सकता । प्रमाणजन्य ज्ञान अज्ञानत्वका निवर्तक है, साधक नहीं । अतः प्रत्यभिज्ञान्यथानुपपत्तिसे संस्कार भी अनुभवके बिना अनुपपन्न है, इसलिए साक्षिरूपानुभवको ही संस्कारका कारण मानते हैं । अतएव प्रत्यभिज्ञाकी सिद्धि

प्रवृत्तं विषये मानं बोधयेद्विषयाकृतिम् ।
ज्ञातताज्ञातते भातो न तेनाविऽषयत्वतः ॥ १४ ॥
रूपार्थे सम्प्रवृत्तेन नेत्रेण रसगन्धयोः ।
अगृहीतिर्यथा तद्वज्ज्ञाताज्ञातत्वयोर्भवेत् ॥ १५ ॥
नेत्रागृहीतयोरन्यद् ग्राहकं स्याद्यथा तथा ।
ज्ञातताज्ञातते ग्राह्ये मानामेये च ते चिता ॥ १६ ॥

होती है। स्वतन्त्र प्रत्यक्प्रमाणरूप साक्षीको अनुभवात्मक मानते हैं, उसीसे प्रमा और अज्ञातत्व आदिकी सिद्धि होती है ॥ १३ ॥

**'प्रवृत्तम्'** इत्यादि। घटादि विषयमें प्रवृत्त मान विषयाकारका बोधक है, ज्ञातत्व और अज्ञातत्व अविषय हैं अर्थात् प्रमाणज्ञानके विषय नहीं हैं, इसलिए वह उनका बोधक नहीं है, किन्तु साक्षी ही तद्बोधक है ॥ १४ ॥

उक्तार्थको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—**'रूपार्थम्'** इत्यादिसे।

जैसे रूपार्थ संप्रवृत्त नेत्रसे—रूपग्राहक चक्षुसे—रस और गन्धका ग्रहण नहीं होता वैसे घटादिग्रहणके लिए प्रवृत्त प्रमाणसे ज्ञातत्व और अज्ञातत्वका ग्रहण नहीं होता। रस और गन्ध जैसे नेत्रके विषय नहीं हैं, वैसे ही ज्ञातत्व और अज्ञातत्व प्रमाणके विषय नहीं हैं ॥ १५ ॥

**'नेत्रागृहीत०'** इत्यादि। नेत्रसे अग्राह्य रस और गन्धका ग्राहक जैसे मानान्तर—रसना और घ्राण—है, वैसे ही प्रमाणसे अग्राह्य ज्ञातता और अज्ञातताके ग्राहकान्तर चित्स्वरूप साक्षीको मानते हैं। उसीसे उनका ज्ञान होता है।

शङ्का—जैसे प्रमाणके ग्राहक प्रमाणान्तर साक्षीको मानते हैं, वैसे साक्षी भी प्रमाण है, अतः तद्ग्राहक अन्य प्रमाण भी मानना चाहिए। एवं तद्ग्राहक भी प्रमाणान्तर मानना चाहिए, इस प्रकार अनवस्थादोष होगा।

समाधान—प्रमाणादिका साधक होनेसे साक्षीको प्रमाण कहा है, वस्तुतः साक्षी प्रमाण नहीं है।

शङ्का—यदि प्रमाण नहीं है, तो प्रमेय उसे अवश्य मानना पड़ेगा। प्रमेय तो प्रमाणके बिना नहीं हो सकता। इसलिए फिर प्रमाणान्तरापेक्षा तदवस्थ है।

समाधान—साक्षी स्वयंसिद्ध है। जो जडात्मक वस्तु है, वह प्रमाणसे सिद्ध

घटोऽपि तर्हि गृह्येत चितैव ज्ञाततादिवत् ।
इति चेदिष्टमेवैतद् गृह्येत च घटश्चिता ॥ १७ ॥
ज्ञातत्वेन घटो भाति सोऽज्ञातत्वेन भासते ।
इत्युक्ते घट एवाऽत्र चिता द्वेधाऽवभास्यते ॥ १८ ॥
न चैवं मानवैयर्थ्यं ज्ञातृत्वायोपयोगतः ।
अज्ञातत्वायोपयुक्तं तत्राऽज्ञानं यथा तथा ॥ १९ ॥

होती है । अजड़ स्वयंसिद्ध है, अतः उसके लिए प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है । इसलिए प्रकृतमें अनवस्था आदि दोष नहीं हो सकते ।

शङ्का—संविद् ही स्वयंसिद्ध मानी जाती है । साक्षी स्वयंसिद्ध कैसे ?

समाधान—साक्षी भी संवित्स्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं । भाव, अभाव और प्रमादि विश्व—ये सब साक्षीसे ही प्रसिद्ध होते हैं ॥१६॥

उक्त प्रकारसे घटादिका भी साक्षीसे ग्रहण हो सकता है, उसके लिए मान व्यर्थ है, यह शङ्का करते हैं—'घटोऽपि' इत्यादिसे ।

शङ्का—चित्से घटादिका भी ग्रहण हो जायगा, अतः उसके लिए प्रमाण मानना व्यर्थ है ।

समाधान—यह तो इष्ट ही है । चित्से घटादिका ज्ञातताके सदृश ग्रहण मानते हैं ॥१७॥

इसमें अनुभव प्रमाण कहते हैं—'ज्ञातत्वेन' इत्यादिसे ।

ज्ञातत्वेन तथा अज्ञातत्वेन 'घटो भाति' इस प्रयोगद्वयमें ज्ञातत्वप्रकारक घटविशेष्यक बोध प्रथम वाक्यसे और अज्ञातत्वप्रकारक घटविशेष्यक बोध द्वितीय वाक्यसे होता है । केवल घटका ही ज्ञातत्व और अज्ञातत्वरूपसे साक्षि-चैतन्यसे भान होता है ॥१८॥

पूर्वोक्त मानवैयर्थ्यकी शङ्काका निरास करते हैं—'न चैवम्' इत्यादिसे ।

ज्ञानसे पूर्वमें अज्ञातत्वविशिष्ट घटादि जैसे चिद्भास्य है, वैसे ही ज्ञानकालमें ज्ञातत्वविशिष्ट घट भी चिद्भास्य है । अतः घटमें विशेषणीभूत ज्ञातत्वकी सिद्धिके लिए मान है । इसमें दृष्टान्त देते हैं—जैसे अज्ञातत्वकी सिद्धिके लिए अज्ञानकी आवश्यकता है, वैसे ही ज्ञातत्वके लिए मान आवश्यक है ।

अज्ञातत्वेन घटभानके लिए अज्ञान और ज्ञातत्वेन घटभानके लिए मान आवश्यक है । फिर केवल घट किससे भासित होगा ? अर्थात् किसीसे भासित नहीं ॥ १९ ॥

मानाज्ञानविहीनस्य कालस्याऽसत्त्वतो घटः ।
ज्ञाताज्ञातत्वनिर्मुक्तः केवलो भाति न क्वचित् ॥ २० ॥
सर्वथापि चिता भास्यमज्ञातत्वं घटादिषु ।
प्रमाणनैरपेक्ष्येण तत्सिद्धेः सर्वसम्मतेः ॥ २१ ॥
स्वतोऽनुभवतः सिद्धां बालोऽप्यज्ञातततां हठात् ।
न किञ्चिज्ज्ञातमित्येवं वक्ति पृष्टः प्रमां विना ॥ २२ ॥
अथाऽनुभूतपूर्वत्वाद् घटादौ शङ्क्यते प्रमा ।
अत्यन्ताननुभूतोऽर्थ उदाहार्यस्तथा सति ॥ २३ ॥

**'मानाज्ञान०'** इत्यादि । मान और अज्ञानसे शून्य कोई काल ही नहीं है, जिससे यह कह सके कि अमुक समयमें उक्तोभयधर्मरहित केवल घटका भान कैसे होगा ? जब प्रमाण रहता है तब ज्ञातत्वरूपसे घटका भान होता है और जब प्रमाण नहीं होता, तब अज्ञातत्वरूपसे घटका भान होता है । मान और तदभावसे शून्य कोई काल ही नहीं है, जिससे कि उक्त आपत्ति हो सके । इस तात्पर्यसे कहते हैं कि कहीं भी केवलका भान नहीं होता ॥२०॥

अज्ञातत्व उक्तानुभवसिद्ध है, यही निगमन करते हैं—**'सर्वथाऽपि'** इत्यादिसे ।

घट चिद्भास्य अथवा मानभास्य होता है, परन्तु अज्ञातत्व सर्वथा चिद्भास्य ही है, क्योंकि प्रमाणकी प्रवृत्तिके बिना भी अज्ञातत्वादिकी सिद्धि सब लोगोंके सम्मत है; अतः 'अज्ञातो घटः' इत्यादि प्रतीतिमें किसीका विरोध नहीं है ।

अज्ञातत्व सर्वानुभवसिद्ध है, यह कहते हैं—**'स्वतोऽनुभवतः'** इत्यादिसे ।

प्रमाणवृत्तान्तमें अनभिज्ञ बालकसे जब कोई पूछता है कि तुम गवयको जानते हो; तब वह स्वयं स्वानुभवसिद्ध अज्ञातत्वका प्रतिपादन करता है कि नहीं, मैं गवयको नहीं जानता हूँ, इसलिए सब बालक तथा प्राकृत मनुष्य अपने अपने अनुभवसे सिद्ध अज्ञातत्वको जानते हैं, अतएव अज्ञातत्वमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

**'अथानु०'** इत्यादि । यद्यपि प्रमित घटादि वस्तुमें प्रमाप्राक्कालमें अज्ञातत्व साक्षीसे अथवा प्रमाणसे सिद्ध होता है, ऐसी शङ्का हो सकती है,

अत्यन्ताननुभूतेषु हिमवत्पृष्ठवस्तुषु ।
अज्ञातत्वमशङ्कः सन् परामृशति मानवः ॥ २४ ॥
न चाऽत्राऽनुभवो लुप्तो न जानामीति तत्स्मृतेः ।
अदृष्टमपि तद् दृष्ट्वा स्मरेन्नाऽज्ञासिषं त्विति ॥ २५ ॥

तथापि अत्यन्त अननुभूत वस्तुविषयक प्रश्न यदि किया जाय, तो ऐसी शङ्का नहीं हो सकती है अर्थात् हिमवत्पृष्ठमें स्थित वस्तुओंको तुम जानते हो, पूछनेपर अज्ञातताका निश्चय कर उत्तर देता है कि नहीं कभी नहीं। यद्यपि तादृश अज्ञातताका अनुभव तो कभी हुआ नहीं फिर भी स्वानुभवसिद्ध ही अज्ञातता उन विषयोंमें मानी जाती है।

इसी बातको कहते हैं—'अत्यन्ताननु०' इत्यादिसे ।

शङ्का—तथापि 'अशङ्कः' यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जाग्रत्कालमें अज्ञातत्वका भान मानसे अथवा साक्षीसे होता है, यह शङ्का हो सकती है।

समाधान—इन्द्रियादिसम्बन्धसे पूर्व कालमें मानकारणके न होनेसे अज्ञातत्व प्रमेय ही नहीं हो सकता, फिर वह मानगम्य कैसे हो सकता है? सुषुप्तिकी तरह उक्त अवस्थामें भी अज्ञातत्वानुभवमें कुछ भी विशेष नहीं है, अतः दोनों अवस्थाओंमें उक्तानुभवके समान होनेसे उभयत्र अज्ञातत्व अनुभववेद्य ही है ॥ २३-२४ ॥

शङ्का—अज्ञातत्व अनुभवसिद्ध है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उस कालमें अनुभव तो है नहीं। अनुभवसामग्री इन्द्रियादिसम्बन्धस्वरूप ही है, सो स्वोत्पत्तिसे पहले है कहाँ?

समाधान—'न चाऽत्राऽनुभवो' इत्यादिसे ।

जागरावस्थामें अनुभव नहीं है, यह कहते हो अथवा सुषुप्त्यवस्थामें? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि हिमालयके शिखरमें स्थित वस्तुको जानते हो? यह किसीके पूछनेपर मैत्र उत्तर देता है कि 'नहीं जानता हूँ'। इस तरह अज्ञातत्वका स्मरण करता है। पूर्वकालिक अनुभवके बिना स्मरण नहीं होता। परन्तु यहां स्मरण होता है, इसलिए अनुभवका अभाव नहीं है, किन्तु अनुभव है ही। और अनुभवसत्तामें यह भी हेतु है कि जो सर्वथा अदृष्ट वस्तु है, उसको देखकर कहता है कि इतने समय तक मैं इसको नहीं

अथेन्द्रियाणां सत्त्वेन कथञ्चिच्छङ्क्यते प्रमा ।
तर्हि लुप्तेन्द्रियावस्था स्यात्सुषुप्तिरुदाहृतिः ॥ २६ ॥
निःशेषकरणग्रामलयेऽप्यनुभवः स्वतः ।
अलुप्तदृक् सुषुप्तेऽस्ति जाग्रद्बोधाविशेषतः ॥ २७ ॥
पुमान् सुप्तोत्थितोऽतीतमज्ञातत्वं स्मरत्ययम् ।
अनुभूतमतः सुप्तो लुप्यतेऽनुभवो नहि ॥ २८ ॥

---

जानता था, इससे जागरावस्थामें अनुभव है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः उसका अपलाप नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

द्वितीय पक्षमें अनुभवकी सिद्धिके लिए सुषुप्तिका उदाहरण देते हैं— 'अथेन्द्रियाणाम्' इत्यादिसे ।

प्रथम पक्षमें अनुभवजनक इन्द्रियादिके सद्भावसे किसी प्रकार प्रमाणकी संभावना हो भी सकती है; परन्तु द्वितीय पक्षमें इन्द्रियादिकोंका स्वस्वकारणमें लयरूप लोप होनेसे सुषुप्ति ही असंदिग्ध उदाहरण है। इस अवस्थामें अनुभवजनक सामग्री इन्द्रियादिघटित नहीं है। अतः प्रमाणसे अज्ञातताके अनुभवकी शङ्का भी नहीं हो सकती ॥२६॥

'निःशेष०' इत्यादि । करण—इन्द्रियादि, ग्राम—समूह, निःशेष—संपूर्ण, अर्थात् इन्द्रियादिसमूहका लय होनेपर भी अलुप्तदृक् अनुभव स्वतः सुषुप्तिकालमें रहता है। अतः सुषुप्ति और जाग्रत् कालके अनुभवोंमें कोई अन्तर नहीं है अर्थात् समान ही अनुभव दोनों अवस्थाओंमें रहता है। अन्यथा सुप्तोत्थित पुरुषको 'सुखपूर्वक सोया, लेशमात्र भी दुःखका ज्ञान नहीं हुआ' यह परामर्श नहीं हो सकेगा। यह तात्कालिक दुःखाज्ञानका स्मरण है। स्मरण अनुभवके बिना नहीं होता, यह अनेक बार कह चुके हैं; इसलिए जागरावस्थामें प्रमाणसामग्रीके रहनेपर भी स्वापकालिक अनुभवकी तरह यह भी अनुभव प्रमाणजन्य नहीं है, अन्यथा अवस्थाद्वयके अनुभवोंमें समानता न रह सकेगी। अतः स्वापकालमें प्रमाणसामग्रीके न रहनेपर भी स्वतःसिद्ध अनुभववेद्य ही अज्ञातता है, यही मानना ठीक है ॥ २७ ॥

'पुमान्' इत्यादि। यह सुप्तोत्थित पुरुष अतीत अज्ञातत्वका स्मरण करता है, अतः स्वापकालमें अज्ञातत्वका अनुभव अवश्य था, अन्यथा संस्कारके

**नन्विदानीन्तनाद्बोधान्नाज्ञासिषमितीदृशात् ।**
**लिङ्गजन्याद् बुद्ध्यभावः सौषुप्तोऽत्रानुऽमीयते ॥ २९ ॥**

अभावसे सुप्तोत्थित पुरुषको तद्विषयक स्मरण नहीं होगा। यदि स्वापकालमें अनुभवका लोप होता, तो तदाहित संस्कार द्वारा स्मरण भी नहीं होता। स्मरण होता है, इसलिए तत्कालमें अनुभव है, यह दृढ़ निश्चय होता है। यह अनुभव प्रमाणजन्य नहीं है, किन्तु साक्षीस्वरूप है ॥२८॥

सुप्तोत्थित पुरुषको 'नाऽवेदिषम्' इत्याकारक जो ज्ञान होता है, वह ज्ञाना-भावविषयक अनुमिति है या स्मरण? वह भावरूप अज्ञानविषयक स्मरण नहीं है, इस नैयायिक शङ्काका परिहार करते हैं—'**नन्विदानीन्त०**' इत्यादिसे।

इदानीन्तन सुप्तोत्थितकालिक 'नाऽज्ञासिषम्' इत्याकारक लिङ्गजन्यबोधसे सुषुप्ति-कालीन ज्ञानाभावकी अनुमिति होती है। वह स्मरणात्मक ज्ञान नहीं है, जिससे कि उस कालमें अनुभवकी आवश्यकता हो। जैसे प्रातःकालमें चत्वरमें हाथीको नहीं देखा था। सायंकालमें घरमें बैठ कर 'प्रातःकालिकं चत्वरं गजाभाववत्, नियमेन अस्मर्य्यमाणगजवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा गजवच्चत्वरम्; प्रातःकालमें चौ-तरेपर हाथी नहीं था, क्योंकि चौतरेका स्मरण होनेपर भी हाथीका स्मरण नहीं हो रहा है। यदि गज होता, तो उसका भी साथ-साथ स्मरण होता। जैसे गजके समान चौतरेका साथ ही स्मरण होता है; ऐसा अनुमान करता है, इसी प्रकार सुषुप्तिकालिकः आत्मा ज्ञानाभाववान्, ज्ञानजनकसामग्रीवैकल्यात्; यन्नैवं तन्नैवं, यथा जाग-रावस्थायामात्मा, इस प्रकार सुषुप्तिकालिक ज्ञानाभावका ही अनुमान 'नाऽज्ञासिषम्' यह है; स्मरण नहीं। तत्कालमें आत्मामें ज्ञानसामग्रीवैकल्यस्वरूप हेतुका ज्ञान कैसे हुआ? यह प्रश्न नहीं हो सकता है, कारण कि तत्कालमें ज्ञानसामग्री-वैकल्य उभयमतसे सिद्ध है; अन्यथा वेदान्तियोंको भी तत्कालमें घटपटादि-ज्ञानके अभावका अनुमान ही होगा। यदि यह कहिए कि ज्ञानाभाव साक्षिवेद्य है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतियोग्यादिज्ञानसापेक्ष उक्ताभावज्ञान निर्विकल्पक साक्षीसे नहीं हो सकता। सुषुप्तिकालीन भावरूप अज्ञानके परामर्शकी सामर्थ्यसे सिद्ध अज्ञानके अनुभवसे अज्ञानविरोधी ज्ञानके अभावका अनुमान होगा। सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि नैयायिक आदिके मतमें भावरूप अज्ञानका परामर्श ही असिद्ध है।

**ततः किञ्चिद्भावरूपमज्ञातत्वं न विद्यते ।**
**नाऽनुभूतिस्ततः सुप्तावित्यूचुस्तार्किका न तत् ॥ ३० ॥**

सुषुप्तिकालिक आत्मा पक्ष है, उसका ज्ञान सुषुप्तिकालमें कैसे होगा ? उस समय आत्मामें कोई ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ज्ञानजनक सामग्री उस कालमें नहीं रहती है; यह आप भी मानते ही हैं । पक्षज्ञानके बिना अनुमिति नहीं हो सकती । अनुमानसे भी पक्षज्ञानकी आशा नहीं है, कारण कि तत्कालसम्बन्धके लिए अव्यभिचारी हेतुके ज्ञानकी आवश्यकता है । हेतु पक्षमें है, यह ज्ञान भी तो आत्मज्ञानके बिना नहीं हो सकता है, क्योंकि तात्कालिक आत्मा सर्वथा अज्ञात है । सम्प्रतिपन्न प्रबुद्धावस्थामें जैसे उदयास्तमयकालके अन्तराल प्रहर, घटिकादि अवान्तरकाल अनुभवसिद्ध हैं, वैसे ही सुषुप्तिकालमें भी अवान्तरकालका अनुमान कर उसके संबन्धका अनुमान आत्मामें हो सकता है । यदि उसके अवान्तरकालमें आत्मा न रहता, तो पूर्वानुभूत कृत आदिका सुप्तोत्थित पुरुषको ज्ञान ही न होता; 'यह इतना किया' 'यह कहा था' इत्यादिका स्मरण होता है । इसलिए मध्यमें भी आत्माकी अविकल अनुवृत्ति है, यह ज्ञान सर्वानुभवसिद्ध है । अतः सुषुप्तिकालमें ज्ञानाभावका अनुमान उत्थित पुरुषको होता है, यह मत भी ठीक नहीं है, कारण कि अनुमापक हेतुका निश्चय नहीं है । सामग्र्यभाव ही हेतु है, हां हो सकता है, किन्तु उस समयमें सामग्रीका अभाव है, यह कैसे जाना जा सकता है, कारण कि तत्कालमें आत्मामें तो कोई ज्ञान मानते नहीं ॥२९॥

ज्ञानाभावसे तत्कालमें सामग्र्यभावका यदि अनुमान कीजियेगा, तो अन्योन्याश्रय होगा । सामग्र्यभावसे ज्ञानाभावका अनुमान और ज्ञानाभावसे सामग्र्यभावका अनुमान, इस तात्पर्यसे ज्ञानाभावानुमानका निराकरण करनेके लिए न्यायमतका अनुवाद करते हैं—**'ततः किञ्चित्'** इत्यादिसे ।

**'न किञ्चिदवेदिषम्'** इत्यादि । सुप्तोत्थित पुरुषका ज्ञान तात्कालिकज्ञानाभावानुमित्यात्मक है, इसलिए ज्ञानाभावसे अतिरिक्त भावरूप अज्ञान नहीं है, अतएव सुषुप्तिकालमें अज्ञानका अनुभव भी नहीं होता, ऐसा नैयायिक कहते हैं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिकालमें ज्ञानाभावका व्याप्य हेतु नहीं है, अतः उसका अनुमान असङ्गत है ॥ ३० ॥

नहि सुप्त्यविनाभूतं लिङ्गमद्य निरीक्ष्यते ।
येन सौषुप्तवृत्तान्त इदानीमनुमीयते ॥ ३१ ॥
सौषुप्तबुद्ध्यभावोऽद्य स्मार्यतेत्येतदप्यसत् ।
सुप्तावननुभूतस्य नेदानीं युज्यते स्मृतिः ॥ ३२ ॥
गृहीत्वा धर्मिणं स्मृत्वा निषेध्यं प्रतियोगिनम् ।
तदभावोऽनुभूयेत सुप्तौ तन्नहि सम्भवेत् ॥ ३३ ॥

---

'नहि सुप्त्य०' इत्यादि । सुषुप्तिकालमें ज्ञानाभावव्याप्य कोई लिङ्ग नहीं है, जिसके देखनेसे सुप्तोत्थित पुरुषको तत्कालीन ज्ञानाभावकी अनुमिति हो सके । उक्त सामग्र्यभावज्ञानमें अन्योन्याश्रय दोष कह ही चुके हैं । अस्मर्य्यमाणत्व नियमेन अस्मर्य्यमाणत्व आदि भी अव्यभिचारी लिङ्ग नहीं हैं, क्योंकि मार्गमें चलते समय अनेकविध तृणादि दिखाई देते हैं, जिनका कभी स्मरण नहीं होता, अपेक्षा-ज्ञानके बिना संस्कार नहीं होता । अदृष्टकालादिवश संस्कारका लोप होनेपर अपेक्षाज्ञानविषयका भी स्मरण नहीं होता, अतः उक्त हेतु भी व्यभिचारी है; इसलिए ठीक ही कहा कि अव्यभिचारी लिङ्गको कोई नहीं देखते, जिससे उक्त कालमें अनुमिति हो ॥ ३१ ॥

अच्छा तो 'न किञ्चिदवेदिषम्' इस ज्ञानको सुषुप्तिकालीन अनुभूतज्ञानाभावका स्मरण ही कहिए, ऐसी शङ्का करते हैं—'सौषुप्त०' इत्यादिसे ।

सुप्तोत्थित पुरुष तत्कालीनज्ञानाभावका स्मरण करता है, यह कथन भी असंगत है, क्योंकि तत्कालमें यदि ज्ञानाभावका अनुभव ही नहीं है, तो स्मरण कैसे हो सकता है ॥ ३२ ॥

सुषुप्तिकालमें ज्ञानाभावका अनुभव क्यों नहीं हो सकता, इसका उत्तर कहते हैं—'गृहीत्वा' इत्यादिसे ।

अभावज्ञानमें प्रतियोगिज्ञान तथा अधिकरणज्ञान कारण है । सुषुप्तिकालमें यदि प्रतियोग्यादि ज्ञान मानें, तो सब ज्ञानाभावरूप सुषुप्ति ही नहीं हो सकती । यदि सुषुप्तिके अनुरोधसे उक्त ज्ञानाभाव कहें, तो अभावग्रहसामग्रीके अभावसे तत्कालमें अभावका अनुभव ही नहीं बन सकता, फिर संस्कारके अभावसे उक्त अर्थका स्मरण दुर्घट है ॥ ३३ ॥

प्रश्न—ज्ञानध्वंस, ज्ञानप्रागभाव अथवा तत्तज्ज्ञानव्यक्त्यन्तरके अभावको उक्त प्रतीतिका विषय मानें, तो क्या आपत्ति है ? क्योंकि ज्ञानके अधिकरणमें ज्ञानव्यक्त्यन्तरका अभाव रहता ही है ।

उत्तर—विशेषाभावातिरिक्त ज्ञानसामान्याभावावगाहिनी यह प्रतीति है, विशेषाभावका अवगाहन यह प्रतीति नहीं करती, तत्तद्विशेषधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक विशेषाभावसे अतिरिक्त सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावावगाही प्रतीति भिन्न है, प्रतियोग्यंशमें भासमान प्रकारीभूत धर्म ही प्रतियोगितावच्छेदक माना जाता है । अतएव 'वायौ रूपं नास्ति' यह प्रतीति या यावद्रूपीय विशेषाभावसे अतिरिक्त रूप सामान्याभाव वायुमें सिद्ध होता है, तदनुसार उक्त प्रतीतिको उक्त कालमें आत्मगत ज्ञानसामान्याभावविषयक माननेमें धर्मिप्रतियोगीका ज्ञान रहने अथवा न रहनेपर उक्त रीतिसे व्याघातका परिहार करना कठिन है ।

प्रश्न—विशेषाभाव यदि सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक माना जाय, तो क्या दोष है ?

उत्तर—जहां भूतलमें घट है वहाँ भी 'भूतले घटो नास्ति' अर्थात् भूतलमें घट नहीं है इस प्रतीतिकी आपत्ति होगी, क्योंकि किसी घटके रहनेपर भी सकल घट तो वहाँ नहीं है । इसलिए घटान्तरका अभाव भी नहीं है, अतः तत्तद्घट विशेषाभाव अबाधित ही है, वही सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक होनेसे उक्त प्रतीतिका विषय है; इसी तरह 'वायुमें रूप नहीं है' आप्त वाक्य द्वारा निर्णय होनेपर भी वायुमें रूपके संशयकी आपत्ति होगी, तद्रूपविशेषका अभाव निश्चित होनेपर भी रूपविशेषान्तरसत्ताप्रयुक्त संशय दुर्वार होगा, विशेषाभाव अर्थात् ज्ञान सामान्यरूपसे ज्ञानका विरोधी नहीं है ।

प्रश्न—तत्तद्विशेषाभावमें तत्तद्विशेषधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व है, और तत्कूटमें विशेषाभाव समुदायमें है, सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व व्यासज्यवृत्ति है किंवा विशेषाभावातिरिक्तसामान्याभावमें प्रत्येक विश्रान्त हैं ? उक्त धर्म मानें, तो दोनों प्रकारसे वायुमें रूप है, इत्याकारक प्रतीतिका उक्त आप्तवाक्यजन्य प्रतीतिके साथ विरोध है ? अतः उक्त संशयापत्तिदोष नहीं होगा ।

उत्तर—हां, तो प्रकृतमें ज्ञानत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव-

ज्ञान यावज्ज्ञानविरोधी है; अतः धर्म्यादिज्ञानसद्भावदशामें उक्त प्रतीति क्यों न व्याहत होगी; इसलिए क्लृप्त अभावप्रतीतिवैलक्षण्यकल्पनाकी अपेक्षासे विषयवैलक्षण्यकल्पना ही समुचित है। विषयवैलक्षण्यके बिना प्रतीतिवैलक्षण्य असम्भव है, और विषयके अज्ञानका अनुभव कर उसके निरासके लिए पुरुष उसके विचारमें प्रवृत्त होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। यदि 'न जानामि' इस प्रतीतिका ज्ञानविशेषाभाव विषय होगा, तो ज्ञान होनेपर भी 'न जानामि' इस प्रतीतिकी आपत्ति होगी, क्योंकि ज्ञानविशेषाभाव तो रहेगा ही, अतः उसके विचारके लिए प्रवृत्तिकी भी आपत्ति होगी। सामान्याभावमें धर्म्यादिके ज्ञान तथा अज्ञानको बाधक कह चुके हैं, अतः अभावविलक्षण अज्ञान ही 'मयि ज्ञानं नास्ति' इस प्रतीतिका विषय है।

शङ्का—भावविलक्षण अज्ञान भी तो 'न जानामि' इस प्रतीति द्वारा ज्ञानविरोधित्वरूपसे ज्ञानाभावके समान प्रतीत होता है। सहानवस्थानलक्षण ही तो विरोध है। जैसे ज्ञानाधिकरणमें ज्ञानाभाव व्याहत है, वैसे ही अज्ञान भी ज्ञानाधिकरणमें व्याहत है अन्यथा 'ज्ञान अज्ञानका विरोधी है' यह सिद्धान्त ही असंगत हो जायगा, अतः जब दोनों मतोंमें व्याघात समान ही है, तब अभावविलक्षण भावस्वरूप अज्ञानके स्वीकारमें पक्षपात क्यों? इसी प्रकार ज्ञानके समान अज्ञान भी निर्विषयक प्रतीत नहीं होता, अतः यदि विषयज्ञान है, तो अज्ञान कैसे? और विषयका अभाव है, तो अज्ञान किंविषयक है? इस रीतिसे दोनों मतोंमें व्याघात समान है, तो एक ही पक्षमें यह दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि—

'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥'

ऐसा पूर्वाचार्योंका आदेश है।

समाधान—प्रमाणजन्य वृत्तिरूप ज्ञानसे अज्ञाननिवृत्ति अवश्य होती है, फिर भी साक्षीसे उक्त अज्ञानका विरोध न होनेसे वह साक्षीसे वेद्य है, अतएव अज्ञानका साधक साक्षी है, यह अद्वैतवादी मानते हैं। अज्ञानके ग्रहणमें यदि विषयगोचर प्रमाकी अपेक्षा मानते तो व्याघात अवश्य होता, परन्तु उसे मानते ही नहीं हैं, इसलिए हमारे मतमें व्याघात नहीं है। अतः विवरणकारका वचन है—'सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव'।

शङ्का—ज्ञानाभावपक्षमें भी विषयज्ञानको साक्षीस्वरूप मानें और 'न जानामि' इस प्रतीतिको प्रमाणजन्य वृत्तिस्वरूप ज्ञानके अभावको विषय करनेवाली मानें, तो व्याघात कैसे होगा ?

समाधान—भावरूप अज्ञान साक्षात् साक्षिवेद्य है, इस कारण तदवच्छेदक अज्ञानविषय भी साक्षिवेद्य है, ऐसा कह सकते हैं, अज्ञानके समान ज्ञानाभाव तो अनुपलब्धिगम्य है, साक्षात् साक्षिवेद्य नहीं, अतः उसके द्वारा तदवच्छेदक विषय साक्षिवेद्य नहीं हो सकता।

शङ्का—ज्ञान तो साक्षिवेद्य है, अतः ज्ञान द्वारा विषयको भी साक्षिवेद्य कह सकते हैं, लेकिन ज्ञानाभावको साक्षिवेद्य नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं है, ज्ञान उत्पन्न ( विद्यमान ) ही नहीं होता, तो उसकी उपलब्धि कैसे ? और अनुपलब्ध ज्ञान द्वारा तदवच्छेदक विषयकी भी उपलब्धि नहीं हो सकती, अगर ज्ञान उत्पन्न हो, तो वह साक्षिवेद्य अवश्य होगा और उसके द्वारा विषयकी भी उपलब्धि होगी, फिर ज्ञानाभाव कहां ? प्रत्युत ज्ञान ही आत्मामें रहेगा।

समाधान—हमारे मतमें तो अनुत्पन्न भी ज्ञान अज्ञानविशेषणतया साक्षिवेद्य है, इसलिए दोनों मतोंमें समान दोष नहीं है, किन्तु आपके मतमें ही उक्त दोष है।

शङ्का—अज्ञानमें विशेषणीभूत विषयका प्रथम ज्ञान यदि न होगा, तो विषयविशिष्ट अज्ञानका ज्ञान भी नहीं होगा, क्योंकि विशिष्ट बुद्धिमें विशेषणज्ञान कारण है, अतः रक्तज्ञान होनेपर ही रक्त दण्डका ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं।

समाधान—विशिष्ट बुद्धिमें विशेषणज्ञान कारण है, इस नियमको नहीं मानते, अतएव नैयायिक आदि भी पूर्वकालमें अनुपस्थित प्रतियोगित्व और अभावत्वका अभाव-बोधमें प्रकारविधया भान मानते हैं।

शङ्का—विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञानके बिना विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि कैसे होगी ?

समाधान—विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबुद्धित्वेन और विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन कार्यकारणभावमें प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षत्वादिरूपसे पृथक्-पृथक् कार्यकारणभाव ही मानते हैं और विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि अर्थात् फलित होती है। सामग्रीके तुल्य होनेपर 'विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषण-

न्तरम्' इस रीतिसे विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानकी सिद्धि हो जाती है। अन्यथा तार्किकमतमें भी ईश्वरमें भ्रान्तिज्ञत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी, भ्रमविषय रजतादिका भान स्वतन्त्ररूपसे पुरोवर्ती वस्तुमें यदि उक्त न्यायसे माना जायगा, तो भ्रान्तत्वापत्ति हो जायगी, अतः भ्रमविशेषणतयैव रजतग्रहण मानना उचित है, इसलिए विशिष्ट बुद्धिसे पूर्व विशेषणज्ञानका नियम कहां रहा ? ग्रहण-सामग्रीतुल्यता प्रकृतमें भी है ही।

शङ्का—'न जानामि' इस प्रतीतिको यदि ज्ञानाभावविषयक मानें, तो भी प्रतियोगी आदिके ज्ञान और अज्ञानसे व्याघातका भय नहीं हो सकता है, क्योंकि सामान्यतः विषयप्रतियोगिज्ञान होनेपर भी विशेषतः उसके ज्ञानका अभाव रहता है। अन्यथा प्रागभावज्ञान ही न होगा, क्योंकि उसके प्रतियोगी विशेषणका सामान्य धर्मके ज्ञानके बिना विशेषतः ज्ञान अशक्य है।

समाधान—विशेषज्ञानाभावमें विशेषज्ञानत्वावच्छिन्न प्रतियोगी है, अतः तादृशाभावका ज्ञान होनेपर विशेष भी ज्ञात ही हो जायगा, अतः प्रति-योगितावच्छेदकप्रकारक ज्ञानाभावसे प्रागभावबुद्धिकी सिद्धि नहीं हो सकती है। प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक ज्ञान अभावज्ञानमें कारण नहीं है, किन्तु अभावज्ञानमें भासमान प्रतियोगिवृत्तिधर्मप्रकारक ज्ञानको ही कारण मानेंगे।

शङ्का—प्रतियोगितानवच्छेदक धर्मसे प्रतियोगिताका ग्रहण कैसे होगा ? यदि कहो कि विशेषावच्छिन्नव्याप्तिका जैसे सामान्यधर्मसे ग्रहण होता है वैसे ही प्रकृतमें भी होगा। यद्यपि सामान्यधर्म विशेष व्याप्तिका अवच्छेदक नहीं होता, तथापि सामान्यरूपसे विशेषव्याप्तिका ग्रहण होता है। उदाहरण—'इदम् अभिधेयम्, प्रमेयात्' इत्यादि स्थलमें 'यत्र प्रमेयं तत्र अभिधेयम्' इस व्याप्तिग्रहणके समयमें वृत्तिमत्प्रमेयत्वावच्छेदेन सामानाधिकरण्यरूप व्याप्तिके रहनेपर भी व्याप्तिग्रहण प्रमेयत्वेन होता है, वृत्तिमत्प्रमेयत्वेन नहीं, क्योंकि 'संभवति लघौ गुरोस्तदभावात्', इस अभियुक्तोक्त रीतिसे केवल प्रमेयत्वरूपसे व्याप्तिग्रहणमें कोई क्षति नहीं है। और विशिष्टगुरुधर्मविशिष्टमें व्याप्ति ग्रहणमें गौरवापत्तिः और व्यभिचारका वारक न होनेसे वृत्तिमत्त्व विशेषणमें वैयर्थ्यापत्ति दोष भी है; अवृत्ति गगनादिमें साध्यसामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति ही नहीं है। और साध्याभावसामानाधिकरण्यरूप व्यभिचार भी नहीं है। व्यर्थविशेषणत्व-

शून्यत्व और व्यभिचारिव्यावृत्तरूपसे ही व्याप्यतावच्छेदकत्वका स्वीकार किया गया है। जैसे वृत्तिमत्प्रमेयगत व्याप्ति प्रमेयत्वेन गृहीत होती है; वैसे ही तत्तत्नीलत्वादिगत प्रतियोगिताका नीलत्वेन ग्रहण होता है, ऐसा माननेसे कोई हानि नहीं है। 'इहेदानीं घटो नास्ति' यह प्रतीति जैसे कपालनिष्ठ घटप्रागभावविषयक है; वैसे ही 'मयि ज्ञानं नास्ति' इस प्रतीतिको भी प्रमातृगत ज्ञानप्रागभावविषयके माननेपर कोई अनुपपत्ति नहीं है।

समाधान—अभावज्ञानमें प्रतियोग्यंशमें भासमान धर्मको यदि प्रतियोगितावच्छेदक मानें, तो यत्किंचिद्विशेषाभाव सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक भी माना जायगा, ऐसा माननेपर घटवान् देशमें भी 'घटो नास्ति' ऐसी प्रयोगापत्ति होगी। घटज्ञानवान् पुरुषमें भी 'घटज्ञानं नास्ति' ऐसी प्रयोगकी आपत्ति होगी। यत्किंचिद् घटज्ञान घटाभावज्ञानमें प्रतिबन्धक है, तो ज्ञानज्ञानमें भी तुल्य ही है। उक्त व्याप्तिके ग्रहणमें कोई बाधक नहीं है, इसलिए सामान्यरूपसे व्याप्तिग्रह माना जाता है; प्रकृतमें घटवान् देशमें घटाभावापत्ति बाधक है। इसलिए सामान्यरूपसे विशेषाभाव नहीं मान सकते।

शङ्का—यदि सामान्यरूपसे विशेषाभाव नहीं मानते; तो प्रागभावकी प्रतीति ही नहीं होगी।

समाधान—इष्टापत्ति है, क्योंकि 'घटो भविष्यति' इस प्रतीतिका विषय भविष्यद् घट है; उसका प्रागभाव नहीं; अन्यथा दिनान्तरमें जो घट उत्पस्यमान ( भावी ) है, उसका प्रागभाव आज भी है, अतः 'अद्य घटो भविष्यति' इसी समय घट होगा; ऐसी भी प्रतीति हो जायगी, क्योंकि भावी घटका प्रागभाव तो इस समयमें है ही और प्रागभावको ही उक्त प्रतीतिका विषय कहते हो। अतः जो प्रागभावको मानते हैं, उनके मतसे भी प्रागभावका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, जो प्रागभावको नहीं मानते उनके मतमें तो कोई हानि ही नहीं है।

शङ्का—सामान्यरूपसे विशेषाभाव माननेसे सामान्याभावकी सिद्धि नहीं होगी, प्रागभाव माननेपर भी सामान्याभावकी असिद्धि तुल्य ही है। प्रागभाव सामान्याभाव—ये दोनों सुन्दोपसुन्दकी तरह परस्पर पराहत हैं; देखिये—प्रागभावके सिद्ध होनेपर [illegible]

माना जायगा, अतः सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वनिबन्धन सामान्याभावकी सिद्धि नहीं हो सकती। सामान्याभावकी सिद्धि होनेपर विशेषाभाव सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक नहीं होता; कादाचित्काभाव सामान्याभाव नहीं है, अतः सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक विशेषाभावविशेष प्रागभाव सिद्ध नहीं हो सकता।

शङ्का—वायुमें यावद्रूपविशेषाभावका निश्चय रहनेपर भी 'वायू रूपवान्न वा' इस प्रकार रूपाभावका सन्देह होता है, निश्चयके रहनेपर संशय नहीं होता, अतः यावद्विशेषाभावसे भिन्न सामान्याभावकी सिद्धि होती है। 'एतावन्त्येवरूपाणि' इत्याकारक निश्चयदशामें ऐसे संशयका अनुभव नहीं होता, किन्तु उसकी अनिश्चयदशामें ही उक्त संशय माना जाता है। तथा च 'रूपत्वं पार्थिवाप्यतैजसरूपत्रितयातिरिक्त रूपवृत्ति भविष्यति' इस प्रकार अधिक रूपकी शङ्कासे निश्चितमें ही संशय होता है; इसलिए उक्त संभावनाविरहसहकृत निश्चय ही तादृश संशयका प्रतिबन्धक माना जाता है।

समाधान—इस प्रकार प्रतिबन्धककी कल्पनामें प्रमाण नहीं है, उक्त संभावना-विरहदशामें भी उक्त संशय अनुभवसिद्ध है।

शङ्का—जैसे यावद्विशेषाभावसे अतिरिक्त रूपसामान्याभावरूप संशयकोटि मानते हो; वैसे ही रूपसामान्य भी यावद्रूपविशेषोंसे अतिरिक्त संशयकोटिमें नहीं मान सकते, तो रूपसंशयकोटि कैसे होगी? सब रूपोंके अभावका वायुमें निश्चय है, उससे अतिरिक्त रूपसामान्यका स्वीकार नहीं है। यदि कहो कि नील, पीत आदिके अभावका निश्चय है सही; किन्तु रूपाभावत्वेन निश्चय नहीं है, अतः संशय होता है; तो सामान्याभाव माननेसे क्या प्रयोजन? क्योंकि रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वेन संशय हो सकता है, धर्मिकल्पनाकी अपेक्षासे धर्मकल्पनामें लाघव होता है; इसलिए क्लृप्त यावद्विशेषाभावमें ही सामान्य धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वकल्पनासे यत्किञ्चित् अभावको लेकर 'घटो नीरूपः' इस प्रतीतिकी आपत्ति नहीं हो सकती।

समाधान—अच्छा तो जैसे यावद्विशेषाभावमें जिस सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वको मानते हो, वह प्रत्येकमें विश्रान्त है? अथवा व्यासज्यवृत्ति? प्रथम पक्षमें यत्किञ्चित् अभावको लेकर 'घटो नीरूपः' यह प्रतीति

हो जायगी। द्वितीय पक्षमें तत्तद्रूपत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व अव्यासज्यवृ
स्वभाव है, अतः तद्व्यतिरिक्तरूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप व्यासज्यवृत्ति
कल्पना करनी पड़ेगी, उसकी अपेक्षासे रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावकी
कल्पना करना ठीक है, क्योंकि हमारे मतमें एक अभाव और सामान्यधर्मावच्छि
न्नप्रतियोगिताकत्व—इन दो वस्तुओंकी ही कल्पना करनी पड़ती है और आ
मतमें सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व और वह व्यासज्यवृत्ति है, इस
अनेक अभावोंमें अलग-अलग सम्बन्ध इस तरह बहुत कल्पनाएँ करनी पड़ें
धर्मिकल्पनासे धर्मकल्पना अच्छी है, यह न्याय वहीं प्रवृत्त होता है जहांपर धर्मि
कल्पनामें अधिक विषयोंकी कल्पना करनी पड़ती है, और भी कारण
कि व्यासज्यवृत्तिधर्मके ज्ञानमें यावदाश्रयज्ञान और आश्रयभेदज्ञान कार
हैं, अज्ञात तथा भिन्नतया अज्ञातमें द्वित्वादिबुद्धि नहीं होती, अ
सब अभाव तथा प्रत्येकोंके भेदका ग्रहण न होनेपर पहले रूपाभ
ज्ञान नहीं होगा, कारण कि व्यासज्यवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वक
ग्रहण ही नहीं होता, अतः सामान्याभाव प्रामाणिक है, उसका निरास कै
हो सकता है? अतएव सामान्यरूपसे विशेषाभावको नहीं मानना चाहिए
इसलिए 'न जानामि' यह प्रतीति ज्ञानप्रागभावविषयक अर्थात् ज्ञानत्वावच्छिन्न
प्रतियोगिताक प्रागभावविषयक नहीं हो सकती, किन्तु तदतिरिक्त अज्ञान
ही उक्त प्रतीतिका विषय है, इस प्रकार मेरा ही अभीष्ट सिद्ध होता है। प्राग
भाव तो सामान्याभाव है नहीं, जिससे तत्प्रतियोगिता सामान्यधर्मसे अवच्छिन्न
मानी जाय, विशेषाभावप्रतियोगिता तत्तद्विशेषधर्मसे अवच्छिन्न होती है
तत्तद् घटत्वादिरूपविशेषधर्मसे भविष्यद् घटका ज्ञान दुर्घट है। तद् घटादिकी
उत्पत्तिके अनन्तर तत्तद् विशेषधर्मोंका ज्ञान हो सकता है, किन्तु उस समय
तत्प्रागभाव ही नहीं है, इसलिए प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक प्रतियोगिज्ञानदशामें
प्रागभाव नहीं रहता। इसीलिए प्रागभावका प्रत्यक्ष नहीं होता, विद्यमान
वस्तुका ही प्रत्यक्ष होता है, सामान्यप्रकारकज्ञानविशेषाभावज्ञानमें हेतु नहीं
है, यह कह चुके हैं। प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक प्रतियोगिज्ञान ही अभा-
वत्वप्रकारक अभावज्ञानमें हेतु है। अव्यभिचारी लिङ्गके अभावसे भी ज्ञानके
अभावकी अनुमिति नहीं हो सकती, और 'न जानामि' यह बुद्धि प्रत्यक्षात्मक
है, अतएव अनुमानात्मक 'न जानामि' यह बुद्धि है, यह मत निरस्त ही है।

शङ्का—'इदं (दुःखादि) मा भूत्' इत्याकारक इच्छाका विषय होनेसे प्रागभावकी सिद्धि होती है।

समाधान—प्रागभाव अनादि होनेसे साध्य नहीं है, किन्तु प्रतियोगि-जनकसामग्रीविघटन द्वारा प्रागभावके सम्बन्धकी तरह अत्यन्ताभावका सम्बन्ध भी साध्य हो सकता है, अतः उस अभिप्रायसे भी उक्त इच्छा हो सकती है, इसलिए प्रागभावकी आवश्यकता नहीं है।

शङ्का—उत्पन्न घटादिकी फिर उत्पत्ति नहीं देखते, इसलिए उत्पत्ति-समयमें तत्सामग्री नहीं है, यह कहना होगा, परन्तु ऐसे स्थलमें अन्य चक्र, चीवरादि सामग्री है ही, किन्तु तत्प्रागभाव नहीं है, यही कहना होगा, क्योंकि सामग्री प्रागभावघटित है, इसलिए प्रागभाव आवश्यक है।

समाधान—सामयिक अत्यन्ताभावसे भी उक्त प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है, अतः उसके लिए प्रागभावकी अत्यावश्यकता है नहीं और उत्पन्न ही स्वोत्पत्तिका विरोधी है, ऐसा माननेपर भी उक्त दोषका परिहार हो सकता है।

शङ्का—अग्निसंयोगादि कारण समान है, तो भी पाकजरूपमें भेद पाया जाता है, कारण कि भेदके बिना कार्यभेद नहीं होता, इसलिए प्रागभाव माना जाता है, माननेपर उसीके भेदसे रूपभेदकी उपपत्ति होती है।

समाधान—अग्निसंयोगके भेदसे कार्यभेदकी अन्यथासिद्धि हो सकती है, अतः प्रागभाव माननेकी आवश्यकता नहीं। पूर्वरूपादिध्वंसविशेषसे भी रूप-भेदकी उपपत्ति हो सकती है, प्रतियोगीके भेदके बिना प्रागभावका भेद हो भी नहीं सकता।

शङ्का—उपादानोपादेयभावकी सिद्धिके लिए प्रागभाव मानना चाहिए। घटप्रागभावका अधिकरण कपाल घटका उपादान माना जाता है, अन्यथा उपादानोपादेयभावका समर्थन ही नहीं हो सकेगा।

समाधान—घटत्वरूपसे और कपालत्वरूपसे कार्यकारणभावका समर्थन हो सकता है, इसलिए एतदर्थ भी प्रागभावका स्वीकार व्यर्थ है।

शङ्का—प्रागभाव न माना जायगा, तो कपालादिमें घटात्यन्ताभाव अवश्य रहेगा, तदत्यन्ताभाववान् तदुपादान नहीं हो सकता। प्रागभाव माननेपर

प्रागभावके अधिकरणमें तदत्यन्ताभाव नहीं रहता, ऐसा प्राचीनोंका सिद्धान्त है, इसलिए उपादानोपादेयभावमें उक्त शङ्का नहीं होती।

समाधान—सम्बन्धान्तरसे उपादानमें उपादेयका अभाव तो आप भी मानते ही हैं, इत्यादि विशेष देखना हो, तो अद्वैतसिद्धिमें देखिए। इसी प्रकार 'एतावन्तं कालं न किञ्चिदवेदिषम्' इतने समय तक कुछ नहीं जाना, इस परामर्शसे सुषुप्तिकालमें भावरूप अज्ञानविषयक प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। उक्तानुभवके बिना उक्त स्मरण सर्वथा अनुपपन्न है, इसलिए तत्कालमें उक्त प्रत्यक्ष मानना ठीक है।

शङ्का—परामर्श अनुमान है या स्मरण? प्रथम पक्षमें ज्ञानाभावका ही अनुमान क्यों नहीं करते? तदतिरिक्त भावरूप अज्ञानको माननेसे क्या लाभ?

और अनुमानका पूर्वोक्त रीतिसे निराकरण हो चुका है। द्वितीय पक्षमें विनश्वर ज्ञान संस्कारका कारण होता है, कालान्तरमें विषयस्मरण संस्कारके बिना नहीं हो सकता, पूर्वानुभवको क्षणिक मानते हो, वह कालान्तरमें रहता नहीं, प्रकृतमें साक्षीस्वरूप अनुभव अविनश्वर होनेसे संस्कारोत्पादक नहीं है, अतः उक्त स्मरण हो नहीं सकता।

समाधान—अज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य ही साक्षी है, उसमें विशेषणीभूत वृत्तिके नाशसे उक्त चैतन्य भी नहीं रहता, इसलिए संस्कारका उत्पादक उक्त साक्षी है।

शङ्का—जागरावस्थामें भी 'अहमज्ञः' इत्यादि वृत्तिसे अज्ञानको यदि वेद्य मानोगे, तो वृत्त्यभावदशामें संशयापत्ति हो जायगी।

समाधान—अज्ञानविषयक अज्ञान नहीं है, इसलिए अज्ञानके संशयकी आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि संशयविपर्ययादिमें अज्ञान ही कारण है। भावत्वादिप्रकारक संशय इष्ट ही है। अज्ञान स्वरूपतः साक्षिवेद्य है, भावत्वादि नहीं, अन्यथा तदंशमें भी संशय नहीं हो सकेगा।

शङ्का—ज्ञानाभावको भी स्वरूपतः साक्षिवेद्य मानिये! सप्रतियोगिकत्वेन अभावज्ञानमें ही प्रतियोगिज्ञान कारण है, स्वरूपसे अभावज्ञानमें उक्त कारण नहीं है, अन्यथा 'प्रमेयम्' इत्याकारक ज्ञानमें भी अभावका भान नहीं होगा।

समाधान—ठीक है, सुषुप्तिकालीन तामसी अज्ञानवृत्तिका जागरावस्थामें नाश होनेसे साक्षी तादृशवृत्तिविशिष्ट अज्ञानका अनुभव नहीं कर सकता, इसलिए संस्कारजन्य अविद्यावृत्तिसे सुषुप्तिविशिष्ट अज्ञानका भान होनेसे वह परामर्श कहा जाता है। केवल अज्ञानांशमें धारावाहिक ही ज्ञान है, अतएव प्रलयोपम अज्ञानमात्र सुषुप्ति है; इस तात्पर्यसे वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्यने कहा है—

'न सुषुप्तिगविज्ञानं नाऽज्ञासिषमिति स्मृतिः।
कालाद्यव्यवधानत्वात् नह्यात्मस्थमतीतभाक् ॥
न भूतकालस्पृक् प्रत्यक् न चाऽऽगामिस्पृगीक्ष्यते।
स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थः विकल्पस्तेन स स्मृतः ॥' इत्यादि

अर्थ यह है—'नाऽज्ञासिषम्' इत्याकारक ज्ञान स्मरण नहीं है, कारण कि आत्मा और तन्निष्ठ अज्ञान—ये दोनों अतीत नहीं हैं, किन्तु जागरावस्थामें भी विद्यमान हैं; अतएव कालव्यवधान नहीं है। यदि वे उक्त अवस्थामें रहकर वर्त्तमान अवस्थामें न रहते, तो अनुभव और स्मरणमें कालव्यवधान होता, किन्तु ऐसा है नहीं। अज्ञान और साक्षी दोनों अवस्थाओंमें अनुवृत्त हैं। अतएव साक्षी संस्कारजनक नहीं होता है, किन्तु अनित्य ज्ञान ही संस्काराधायक होता है, यह पूर्वमें कह चुके हैं; स्वापकालिक अज्ञानविषयक कादाचित्क अनुभवका उपनायक उक्त परामर्श नहीं हो सकता। अज्ञान और पूर्वकाल—ये दोनों साक्षीमें अध्यस्त हैं, अतएव इसीसे ज्ञात होते हैं। आत्मस्थ अज्ञान अतीत नहीं है, किन्तु विद्यमान है।

शङ्का—आत्मामें भूतकालका सम्बन्ध क्यों नहीं है?

समाधान—'अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्पश्यसि तद्वद' इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे आत्मामें भूतकालके सम्बन्धका अभाव स्पष्ट है, एवं आगामी भविष्यत्कालके सम्बन्धका अभाव भी उक्त प्रमाणसे सिद्ध ही है। देश स्वयं प्रत्यक्स्वरूप ही है, अतः उसका सम्बन्ध भी नहीं है। सम्बन्ध भेदमें होता है, अतः स्वमें स्वका सम्बन्ध नहीं हो सकता। सम्बन्धके बिना देश और कालकी स्थिति माननेसे अद्वैतकी हानि नहीं होती है। रज्जुमें भुजङ्गकी तरह जड़मात्र स्वयंप्रकाश आत्मामें अध्यस्त है। स्वस्य—न अविदिषम् इति प्रत्ययस्य—अर्थः, देशः—अधिकरणम्—यस्य ज्ञानविरोधित्वादेः स ज्ञानविरोधित्वादिः अर्थः, तेन—असत्त्वेन, विकल्पः—'शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस लक्षणसे लक्षित विकल्पमात्र ज्ञानविरोधित्वांश

बोधस्य लिङ्गजन्यत्वं यत्त्वयोक्तं तदप्यसत् ।
सर्वत्र जन्या धीवृत्तिर्नित्यो बोधो न जन्यते ॥ ३६ ॥

है, यह श्लोकार्थ है । 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' इस योगसूत्रके अनुसार तमोगुणात्मक आवरणमात्रालम्बनवृत्ति सुषुप्ति है, इस अभिप्रायसे तादृश वृत्तिनाशसे नाश मानकर तत्कालीनज्ञानानुभवजनित संस्कारसे 'न किञ्चिदवेदिषम्' यह स्मरण कहा गया है; मतभेदसे दोनों पक्ष ठीक हैं । सारांश यह है कि प्रत्यक्ष वर्तमान वस्तुमात्रका ग्राही होता है, अतीतत्वका नहीं । अनुमानसे भी अतीत्वका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वर्तमान अवर्तमानका ग्राहक नहीं होता। किन्तु समानकालमें रहनेवाले प्रमाण-प्रमेयोंमें विषयविषयिभाव होता है, अतः अतीतत्वादि कल्पित हैं ।

शङ्का—कल्पितको अकल्पित अधिष्ठानसे भिन्न माननेपर भी अद्वैतकी हानि होती है ।

समाधान—कल्पितका अधिष्ठान ही तत्त्व है, जो अतात्त्विक वस्तु होती है, वह वस्तुका अतिक्रम नहीं करती, जैसे रज्जुसर्प । यहां रज्जु तात्त्विक है, अतः रज्जुसर्प रज्जुका अतिक्रम नहीं करता ।

शङ्का—अच्छा कल्पितका अधिष्ठानके साथ ऐक्य माननेपर अधिष्ठानमें भी कल्पितत्वकी प्रसक्ति हो जायगी; इससे तुच्छत्वकी आपत्ति होगी ।

समाधान—आरोप्यकी अधिष्ठानसत्तासे अतिरिक्त सत्ता न होनेपर भी अधिष्ठान स्वतन्त्ररूपसे रहता है; इसलिए तुच्छत्वापत्तिकी शङ्का नहीं है, इत्यादि विस्तर वार्त्तिकमें देखिये ॥ ३५ ॥

जागर अवस्थामें 'न किञ्चिदवेदिषम्' इस बोधरूप हेतुसे सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभावका अनुमान जो आप करते हैं, वह ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'बोधस्य'** इत्यादिसे ।

'घटज्ञान उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ' इत्यादि प्रतीतिसे अन्तःकरणवृत्तिरूप घटादि-ज्ञान ही जन्य माना जाता है । सुषुप्तिकालमें अन्तःकरणका लय होनेसे तत्परिणाम-स्वरूप वृत्तिज्ञानका संभव ही नहीं है, अतः उस अवस्थामें उससे अतिरिक्त चैतन्यात्मक अनुभव माना जाता है । वह ज्ञान जन्य नहीं है, किन्तु नित्य है । एवं देश और कालके भेदसे भिन्न भी नहीं है, किन्तु सब देश और कालों एकरस ही है; अतः आपका कहना असंगत है ॥ ३६ ॥

इदानीन्तनबोधोऽयं तदानीन्तन इत्यपि ।
भेदोऽयं नित्यबोधस्य कालेन क्रियते कथम् ॥ ३७ ॥
बोधादेव प्रसिद्ध्यन्ति कालावस्थादयोऽखिलाः ।
मातृमानादयश्चैव कुतस्तैरस्य विक्रिया ॥ ३८ ॥
प्रमातृमानतन्मेयेष्वागमापायिषु त्रिषु ।
अलुप्तानुदितो बोधः प्रथते प्रत्यगेकलः ॥ ३९ ॥

---

'इदानीन्तन' इत्यादि । जागरावस्थाके बोधको इदानीन्तन बोध कहते हो और सुषुप्तावस्थाके बोधके तात्पर्यसे 'तदानीन्तन' शब्दका प्रयोग करते हो ? इस प्रकार नित्यबोधमें कालिक भेद कैसे ? अर्थात् नित्य बोधमें कालिकभेद असंगत ही है । यदि कालभेदसे वस्तु भिन्न होती, तो यह प्रयोग उचित होता, परन्तु एकरस नित्यचैतन्यानुभव तो कालभेदसे भिन्न नहीं हो सकता, फिर उसमें 'इदानीन्तन' और 'तदानीन्तन' इत्यादि व्यवहार असंगत हैं ॥३७॥

क्षीरादिके समान अनुभव भी कालवशसे परिणामी हो सकता है, इस शङ्काका परिहार करते हैं—'बोधादेव' इत्यादिसे ।

जड़ होनेसे कालादि स्वयंसिद्ध नहीं हैं, किन्तु नित्य चैतन्यानुभव द्वारा ही सिद्ध होते हैं, इसलिए प्रथम ही जड़का साधक उक्त अविकारिस्वरूप अनुभव स्वयंसिद्ध है । विकारी कालादिसे पूर्वमें अविकारिस्वभाव अनुभव पश्चाद् विकारी होता है, यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि अविकारी स्वभावका ही लोप हो जायगा । किसी भी पदार्थके स्वभावका लोप नहीं होता; क्योंकि स्वभावका लोप होनेपर पदार्थ भी लुप्त हो जायगा । औष्ण्यप्रकाशरहित अग्निके स्वरूपका अवस्थान कहीं इष्ट नहीं है ॥३८॥

अनुभवस्वरूप आत्मा अपरिणामी है, इसमें हेत्वन्तर भी कहते हैं—'प्रमातृ' इत्यादिसे ।

प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—ये तीनों उत्पत्ति-विनाशशील हैं । इन पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशका साधक अनुभव ही है । अतएव आगमापायशून्य प्रत्यगेकस्वभाव अनुभव स्वयंप्रकाश है । यदि अनुभवका भी आगमापाय माना जाय, तो उसका साधक कौन है, यह

अभितोऽनुभवाक्रान्ता ज्ञाताज्ञातत्वभूमिषु ।
घटादयोऽर्थाः सिद्ध्यन्ति लीयन्तेऽनुभवे पुनः ॥ ४० ॥

प्रश्न अवश्य होगा। स्वयं तो स्वागमापायका साधक हो नहीं सकता, साधकान्तर माननेमें अन्योन्याश्रयका प्रसंग हो जायगा और पूर्वपूर्वमें असाधकत्वापत्ति भी होगी, क्योंकि आगमपायी पदार्थ घटादिके समान असाधक ही होंगे, साधक नहीं। अतः स्वयंप्रकाश अद्वितीय अनुभव अलुप्त और अनुदित—उत्पत्ति-विनाशशून्य—ही भासता है। प्रमातृ इत्यादि श्लोकमें 'मेयेषु' यहांपर सप्तमीका प्रयोग है। सप्तमी आधारमें होती है। 'बोधः' यहांपर प्रथमा विभक्ति है, वह आधेयमें होती है। प्रमात्रादिमें बोध रहता है, यह वाक्यार्थ होता है॥ ३९॥

आधाराधेयभाव भेदमें होता है, अभेदमें नहीं, फिर आप कैसे कहते हैं कि प्रत्यगात्मा एकत्र एकाकी अद्वितीय है, इस शङ्काका परिहार करते हैं—**'अभितो'** इत्यादिसे।

अनुभवसे अतिरिक्त जितने घटादि पदार्थ हैं, वे सब ज्ञातत्वरूपसे या अज्ञातत्वरूपसे अनुभवव्याप्त होकर ही स्वसत्ताका लाभ करते हैं, अन्यथा नहीं। भूमिके व्यवहारकालमें मनुष्य घटको जानते हैं या नहीं भी जानते हैं, अतः कदाचित् घट ज्ञातत्वरूपसे साक्षी चैतन्यका विषय होता है, और कदाचित् अज्ञातत्वरूपसे साक्षी चैतन्यका विषय होता है। उभयथा साक्षी चैतन्यके अविषय पदार्थकी सत्ता नहीं मानी जाती। अनुभवसे अतिरिक्त स्थलमें किसीसे घटादि पदार्थकी स्थिति नहीं है, तथा उत्पत्ति भी अनुभवसे होती है एवं सब पदार्थोंका लय भी उक्तानुभवस्वरूपमें ही होता है, अतः प्रमात्रादि सब अनुभवसे उत्पन्न होते हैं, अनुभवमें ही रहते हैं, तथा उसीमें लीन होते हैं। इसलिए अनुभवसे अतिरिक्त सत्ता प्रमात्रादिमें नहीं है, अतएव व्यतिरेकसे असत् कहे जाते हैं। प्रमात्रादि वस्तुतः अनुभवात्मक ही हैं, किन्तु काल्पनिक भेद मानकर आधाराधेयभावकी उपपत्ति की जाती है। अनुभवसे अतिरिक्त पदार्थ न होनेसे एकत्र अद्वितीय अर्थात् सिद्ध होता है॥ ४०॥

**ज्ञातत्व और अज्ञातत्वके आक्रमणके समयमें अनुभवसे अतिरिक्त विषय नहीं है,**

सर्वं वस्तु ज्ञाततया ह्यज्ञातत्वेन वा सदा ।
साक्षिचैतन्यविषय एवेति ज्ञानडिण्डिमः ॥ ४१ ॥
एवमज्ञातता सिद्धावज्ञातो यः प्रमीयते ।
सर्वैर्मानैरतश्चिन्त्यं कस्याऽज्ञातत्वमीदृशम् ॥ ४२ ॥
चेतनोऽचेतनो वाऽयमज्ञातो यद्यचेतनः ।
तत्राऽज्ञातार्थकार्यस्य जडस्याऽज्ञातता कुतः ॥ ४३ ॥

किन्तु अनुभवस्वरूप ही है। इतरकालमें तो विषय अनुभवसे अतिरिक्त होंगे, इस शङ्काका परिहार करते हैं—'सर्वं वस्तु' इत्यादिसे ।

जिस समय वस्तुका ज्ञान है, उस समय वह ज्ञातत्वेन साक्षी चैतन्यकी विषय है और जिस समय वस्तुका ज्ञान नहीं है, उस समय मेय वस्तु अज्ञातत्वेन साक्षीकी विषय है । ज्ञाताज्ञातकालसे अतिरिक्त काल ही नहीं है, फिर कालान्तरमें अनुभवातिरिक्त विषयमें प्रश्न ही नहीं हो सकता । सदा अनुभव व्याप्त ही रहता है, केवल प्रकारमें भेद है, यही तत्त्वज्ञानका डिण्डिम (डंका) है ॥४१॥

**'एवमज्ञातता०'** इत्यादि । पूर्वोक्त प्रमाण आदिसे अज्ञातताके सिद्ध होनेपर सब प्रमाणोंसे अज्ञात अर्थ प्रमित--प्रमाविषय--होता है, अतः अज्ञातत्व किसका धर्म है, इसका विचार करते हैं अर्थात् साक्षीसे सिद्ध अज्ञातत्वसे विशिष्ट विषय ही प्रमाणोंसे प्रमेय है । अतः अज्ञातत्व किसमें है, इसीका विचार करते हैं ॥ ४२ ॥

**'चेतनो'** इत्यादि । अज्ञात चेतन है अथवा अचेतन ? यदि कहो कि अचेतन है, क्योंकि 'घटमहं जानामि' यह प्रतीति होती है और घटज्ञानसे पहले 'घटमहं न जानामि' यह प्रतीति होती है । अतः ज्ञात या अज्ञातरूपसे धर्मितया घट ही प्रतीत होता है । इसलिए अज्ञातत्वादिको अचेतन घटादिगत ही मानना उचित है, तो यह यद्यपि आपाततः सत्यसा प्रतीत होता है, तथापि विचारविरुद्ध है । क्योंकि अज्ञातार्थ ब्रह्म तथा तत्कार्य घटादि जड़में अज्ञातता कैसे हो सकती है अर्थात् घटादि जड़ ब्रह्ममें अध्यस्त हैं । अधिष्ठानके ज्ञानके बिना अध्यास नहीं होता । रज्जुज्ञानके बिना रज्जुमें सर्पाध्यास नहीं होता किन्तु रज्जुका ज्ञान होनेपर ही उक्त अध्यास होता है, अतएव अज्ञात

अज्ञातरज्जुकार्यस्य सर्पस्य ज्ञातता नहि ।
अज्ञातब्रह्मकार्यस्य जडस्य ज्ञातता कथम् ॥ ४४ ॥
रज्जुसर्पं न जानामि बोद्धुमिच्छामि मानतः ।
इति व्यवहृतिं प्राज्ञा नाऽङ्गीकुर्वन्ति केऽपि च ॥ ४५ ॥
किञ्चाऽज्ञातत्वतो लभ्यं तिरोधानं न चेतरत् ।
स्वयमेव तिरोभूते जडे काऽन्या तिरोहितिः ॥ ४६ ॥

रज्जुकार्य सर्पमें ज्ञातता नहीं हो सकती, अतः ज्ञातत्व और अज्ञातत्व अधिष्ठानगत ही हैं, किन्तु अध्यस्तमें प्रतीत होते हैं ॥ ४३ ॥

स्वतः जड़में ज्ञातत्व आदि धर्म नहीं रहता, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'अज्ञात०'** इत्यादि ।

अज्ञात रज्जुकार्य सर्पमें ज्ञातता नहीं है, तो अज्ञात ब्रह्मकार्य घटादि जड़में ज्ञातता कैसे ? ॥ ४४ ॥

**'रज्जुसर्पं'** इत्यादि । मैं रज्जुसर्पको नहीं जानता, किन्तु प्रमाण द्वारा जाननेकी इच्छा करता हूँ, इस प्रकारके व्यवहारको कोई विद्वान् लोग नहीं मानते, इसलिए रज्जुसर्प कल्पित पदार्थमें साक्षात् ज्ञातत्वादि नहीं रहता है, यह मानना तो ठीक ही है ।

घट आदि में तो 'घटं न जानामि' (मैं घटको नहीं जानता, प्रमाण द्वारा जाननेका इच्छुक हूँ) इस प्रतीतिसे ज्ञातत्वादि मानना चाहिये, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त रज्जुसर्पके दृष्टान्तसे कल्पितमें अज्ञातत्वका निश्चय होनेपर उक्त व्यवहारकी उपपत्ति घटावच्छिन्न चैतन्याज्ञानसे भी हो सकती है, इसलिए तादृश व्यवहारकी अन्यथानुपपत्तिसे घटादिमें ज्ञातत्वादिके साधक प्रमाण नहीं हैं ।

उक्त रीतिसे घटादि जड़में अज्ञातताके साधक प्रमाणके अभावसे घटादि अज्ञातत्वादिके आश्रय नहीं हैं, इसका समर्थन कर प्रयोजनके अभावसे भी उक्त अर्थकी सिद्धि होती है ॥ ४५ ॥

**'किञ्चा०'** इत्यादि । अज्ञातत्वका फल प्रकाशका तिरोधान ही कह सकते हैं दूसरा नहीं, जड़में प्रकाशतिरोधान स्वतःसिद्ध है । यदि जड़में प्रकाशकी प्रसक्ति होती, तो किसी समय उसके तिरोधानकी आवश्यकता पड़ती । जड़ तो स्वयम् अनभिव्यक्त्यात्मक है । अतः उसे अज्ञानप्रयुक्त अनभिव्यक्तिकी आवश्यकता

आविर्भूतस्वरूपे तु चेतनेऽन्येन निर्मितात् ।
तिरोधानाद्विशेषोऽस्ति शुभ्रवस्त्रे मषी यथा ॥ ४७ ॥

ही नहीं है। स्वतः तिरोहित होनेपर मी अज्ञानप्रयुक्त तिरोधान मानिये, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि फलाभावसे स्वतः तिरोहितका पुनः तिरोधान मानना अनुचित है ॥ ४६ ॥

स्वयंप्रकाश आत्मामें अज्ञान माननेका फल कहते हैं—'आविर्भूत०' इत्यादिसे।

स्वयंप्रकाशमान आत्मामें अन्यसे (अज्ञानसे) निर्मित—जनित—तिरोधानसे अतिरोधानकी अपेक्षा तिरोधानमें विशेष यह है कि संसारका भान होता है। जैसे अधिष्ठानशुक्तिका तात्त्विक साक्षात्कार न होनेसे उसमें रजतकी प्रतीति होती है और शुक्तित्वादिका साक्षात्कार होनेसे कल्पित रजतकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही आत्मामें अज्ञानसे तिरोधान होनेपर आत्माका तात्त्विक भान नहीं होता, इसलिए अज्ञानप्रयुक्त संसारका भान होता है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य द्वारा आत्माका यथार्थज्ञान होनेपर अर्थात् तिरोधायक अज्ञानके निवृत्त होनेपर उससे कल्पित संसारकी भी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि कारणकी निवृत्तिसे कार्यकी निवृत्ति होती है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है। अतिरोधानावस्थासे तिरोधानदशामें जो विशेष होता है उसमें दृष्टान्त देते हैं—शुभ्रवस्त्रमें काली स्याहीका भान जैसे स्फुट होता है। अज्ञान मषीके सदृश है। प्रकाशका आवरक होनेसे अज्ञानको मषीकी उपमा दी गई है।

अन्धकार भी काला होता है। अज्ञान भी तमोगुणात्मक होनेसे काला ही माना जाता है। इससे अज्ञानको ज्ञानाभावात्मक नहीं कह सकते। अभाव न तो आवरक ही होता है, और न उसमें काला रूप ही रहता है। मषीसे श्वेतरूपका नाश नहीं होता, किन्तु उससे वस्त्रका श्वेतरूप आवृत हो जाता है। अतएव श्वेतरूपका भान न होकर आवरकका जो काला रूप है, उसके दृष्टिगोचर होनेसे 'नील वस्त्र है' ऐसा लोकमें व्यवहार होता है। परन्तु क्षारादि द्रव्यविशेषके प्रयोगसे जब चतुर शोधक मषीको हटा देता है तब वस्त्रका अपना स्वाभाविक अतएव सत्य जो शुक्ल रूप है, वही प्रतीत होता है।

यदि मषी तिरोधायक न होती, किन्तु उक्त रूपका नाशक होती, तो उक्त प्रयोगसे मषीकी निवृत्ति होनेपर श्वेतरूपकी प्राप्ति कैसे होती ? ...

चन्द्रं मलिनयेद्राहुर्नीलमेघं न तु क्वचित् ।
एवं चेतनमज्ञानं जडं त्वज्ञानदेहकम् ॥ ४८ ॥

तन्नाशमात्रकी हेतु है, रूपान्तरकी उत्पत्तिकी नहीं। अन्यथा विनिगमनाविरहसे रूपान्तरकी उत्पत्ति हो जायगी, और होती है नहीं, अतः तिरोधायकके अपसरणसे स्वाभाविक पूर्वरूपकी प्रतीति होती है। एवं प्रकृत भी नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव आत्मा स्वयंप्रकाश है, किन्तु संसारदशामें अज्ञानकृत तिरोधानसे वह उक्त स्वरूपके विपरीत प्रतीत होता है। शमदमादिसाधनसंपन्न विवेकी मुमुक्षु श्रवण, मनन आदि द्वारा ब्रह्मस्वरूपके तिरोधायक अज्ञानकी जब निवृत्ति कर लेता है; तब स्वाभाविक उक्तस्वरूप आत्मा अभिव्यक्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

उक्त अर्थमें फिर अनुरूप दृष्टान्त देते हैं—'चन्द्रम्' इत्यादिसे।

राहु जैसे प्रकाशमान चन्द्रमाका तिरोधायक होता है, नीलमेघका नहीं, वैसे ही अज्ञान आत्माका तिरोधायक होता है, जड़का नहीं। नीलमेघ जैसे अप्रकाशात्मक है वैसे ही जड़ भी स्वयं अप्रकाशात्मक है। उसका तिरोधान क्या होगा ? तिरोधान वास्तविक प्रकाशका आवरण है, जिसमें प्रकाश न हो उसका आवरण क्या होगा ? अर्थात् कुछ नहीं। पूर्व दृष्टान्तमें जड़से जड़का आवरण कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि तिरोधानका अर्थ स्वरूपावरण है; इससे मषीसे शुक्ल रूपका तिरोधान बतलाया गया है। आवरणका मुख्य अर्थ है—प्रकाशका तिरोधान; इस अभिप्रायसे चन्द्र और राहुका दृष्टान्त दिया गया है। अथवा मषी वस्त्रगत शुक्लरूपका तिरोधान करनेवाली है; यह अनुभवसिद्ध है, परन्तु सूर्यादिका भी जो प्रकाशक है वह ब्रह्म कोटि सूर्यसमप्रभ है। उसका तिरोधायक अज्ञान कैसे हो सकता है, क्योंकि वह तो स्वयं अज्ञानका निवर्तक है। निविड नैश तमसे भी सूर्यका आवरण कभी नहीं देखा गया है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए दूसरा दृष्टान्त है—जैसे चन्द्रमा प्रकाशस्वरूप होनेपर भी राहुसे तिरोहित हो जाता है, वैसे ही आत्मस्वरूप प्रकाश अज्ञानसे आवृत्त होता है, इसमें अनुपपत्ति नहीं है। चन्द्रमा उपलक्षण है, राहुसे सूर्य भी आवृत होता ही है। फिर भी सूर्यका उल्लेख न कर चन्द्रमाके उल्लेखमें क्या तात्पर्य है ? जैसे चन्द्रमा सुधामय होनेसे सबके अन्तरात्माका आप्यायन

करता है, अत एव सबका प्रेमपात्र है वैसे ही आत्मा भी नित्यसुखस्वरूप होनेसे परमप्रेमास्पद है, इस अभिप्रायसे चन्द्रमाका उदाहरण दिया गया है।

शङ्का—अच्छा तो अमुख्य तिरोधानके तात्पर्यसे शुक्ल, नील आदिकी तरह अज्ञान जड़का ही आवरण करता है, ऐसा माननेमें क्या दोष है ?

समाधान—'जड़ं त्वज्ञानदेहकम्' संपूर्ण जड़ अज्ञानका कार्य है। कार्य और कारणका अभेद होता है। आश्रयाश्रयिभाव भेदमें होता है, अभेदमें नहीं; इसलिए भी अज्ञान जड़में नहीं रह सकता।

शङ्का—कार्यकारणभाव भी तो भिन्न में ही होता है, अभिन्नमें नहीं। यदि भेदसहिष्णु अभेद मानें, तो कार्यकारणभावके तुल्य आश्रयाश्रयिभाव भी हो सकता है, फिर अज्ञान जड़का आवरण क्यों नहीं करता ?

समाधान—कारणमें कार्य रहता है, कार्यमें कारण नहीं रहता, क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्वकालमें जो रहता है, वही कारण माना जाता है। कार्योत्पत्तिसे पहले तो कार्य है नहीं और कारण उस समयमें है, तो वह किमाश्रित है ? इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर क्या कहा जायगा, निराश्रित अथवा किंचिदाश्रित ? निराश्रित ब्रह्मसे अतिरिक्त किसी भी पदार्थको अद्वैतवादी नहीं मानते, इसलिए किञ्चिदाश्रित ही कहेंगे। किमाश्रित है ? इस निर्णयके लिए जड़ जो स्वकार्य, तदाश्रित है, यह तो उक्त दोषसे कह नहीं सकते और न मान ही सकते हैं। इसलिए चेतन आत्मामें अज्ञान रहता है, यही कहना और मानना होगा।

शङ्का—अच्छा तो ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध है। अतएव ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति मानते हैं। फिर कहिए, प्रकाशस्वरूप आत्मामें अज्ञान कैसे रहेगा ? अन्धकार सूर्यमें रहता है, ऐसा तो कोई नहीं कहता, कारण कि सूर्य अन्धकारका निवर्तक है। अत एव वह उसका आश्रय नहीं हो सकता।

समाधान—यद्यपि ज्ञान और अज्ञानका तम और प्रकाशके समान विरोध है तथापि आत्मस्वरूप प्रकाशसे अज्ञानका विरोध नहीं है, अन्यथा अज्ञानकी सिद्धि तथा स्थिति नहीं हो सकेगी। किन्तु वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप प्रकाशसे अज्ञानका विरोध है, इसलिए उससे उसकी निवृत्ति होती है।

समाधान—सत्य कहते हैं, तिरोधान उक्तोभयस्वरूप नहीं है, किन्तु 'नास्ति, न प्रकाशते' इस व्यवहारके अभावकी योग्यता आवरण है। तादृश व्यवहाराभाव उसका कृत्य है। यह सुषुप्तिकालसाधारण अज्ञानसम्बन्धस्वरूप आवरण है। मोक्ष तक यह आवरण रहता है, मोक्ष होनेपर अज्ञानका सर्वात्मना नाश हो जाता है, अतः उक्त सम्बन्धरूप आवरण भी नष्ट हो जाता है।

शङ्का—अज्ञानसम्बन्धस्वरूप आवरण भी तो आरोपित ही है, पारमार्थिक नहीं। आरोपितमात्रमें अज्ञानका सम्बन्ध अपेक्षित है। अज्ञानसंबन्धके बिना किसीका आरोप नहीं होता। अन्यथा अज्ञानकी निवृत्तिसे तन्निवृत्ति नहीं होगी। उसकी अनिवृत्तिसे अद्वैतत्वका व्याघात हो जायगा। यदि अज्ञानका सम्बन्ध ही स्वारोपमें हेतु है, यह कहें, तो आत्माश्रय होगा। अज्ञानके सम्बन्धसे आरोप और उसके आरोपसे अज्ञानका सम्बन्ध। अज्ञानान्तर संबन्धान्तर माननेमें अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था आदि दोष होंगे।

समाधान—अज्ञानसम्बन्धस्वरूप आवरण अनादि है तथा चित्प्रकाश्य है, इसलिए उक्त दोषकी आपत्ति नहीं है। न्यायमतमें भी घटादिकी उत्पत्तिमें प्रागभावको कारण मानते हैं, किन्तु उसके प्रागभावको अनादि मानकर उसकी उत्पत्ति और उसमें प्रागभावको कारण नहीं मानते, पर नाश मानते हैं। उसी तरह अज्ञानका सम्बन्ध भी समझना चाहिए, भाववैलक्षण्य भी उभयमतसाधारण है।

शङ्का—प्रदीपावरक कुड्यादिके सदृश चैतन्यप्रकाशकी आवरक अविद्या अन्यके साथ चैतन्यस्वरूपप्रकाशके संबन्धकी प्रतिबन्धिका हो सकती है। अर्थात् अन्यके प्रति चैतन्यकी आच्छादक हो सकती है, किन्तु चैतन्यके प्रति नहीं। कुड्यावृत प्रदीप स्वयं तो प्रकाशमान ही रहता है, अर्थात् व्यवधायक कुड्यादि घटके प्रति प्रदीपका आवरक है। इसलिए उससे व्यवहित प्रदीप घटका प्रकाशक नहीं होता, किन्तु प्रदीपके प्रति वह व्यवधायक नहीं है। अतः प्रदीप अपने प्रति प्रकाशमान ही रहता है। एवम् अज्ञानसम्बन्ध प्रपञ्चके प्रति व्यवधायक होनेसे प्रपञ्चका प्रकाशक नहीं है, किन्तु चैतन्यके प्रति व्यवधायक तो है नहीं, इसलिए चैतन्यका प्रकाश क्यों नहीं होगा? आवरणके बिना जीवेश्वरादिविभाग चैतन्यमें हो ही नहीं सकता। अतः जीवचैतन्यके प्रति शुद्ध चैतन्यका

राहुग्रस्तत्वमिन्दौ चेदस्मद्दृष्ट्यैव भासते ।
अज्ञातत्वं चितस्तद्वन्मूढदृष्ट्यैव भासताम् ॥ ५१ ॥

आवरण अज्ञान करता है, यह नहीं कह सकते । मोक्षदशामें भावी जो चैतन्यके प्रति चैतन्यका प्रकाश है, उसी प्रकाशका संसारदशामें अभाव विवक्षित है ।

समाधान—कल्पितभेद जीवचैतन्यके प्रति शुद्ध चैतन्य आवृत होता है, यही प्रकृतमें विवक्षित है । इसमें आवरणके बिना उक्त चैतन्यका विभाग नहीं बनता और बिना उक्त विभागके आवरण नहीं बनता, यह दोष जो आपने कहा सो ठीक नहीं है, कारण कि ये दोनों अनादि हैं । इसलिए इन दोनोंमें आनन्तर्य्य नहीं है अर्थात् भेदकल्पनाके बाद आवरण और आवरणके बाद भेदकी कल्पना, ये दो कल्पनाएँ अनादि वस्तुमें नहीं कर सकते, किन्तु सादिमें ही कर सकते हैं, इस प्रकारके प्रश्न हो सकते हैं । अतएव मोक्षदशामें भावी जो चैतन्यका प्रकाश है उसका अभाव ही संसारदशामें अज्ञानसाध्य है, यह भी आक्षेप अयुक्त है, क्योंकि चैतन्यका प्रकाश नित्य है । अतः वह भावी नहीं है । कल्पित भेदकी निवृत्तिके अनन्तर शुद्ध चैतन्यके प्रति जो प्रकाश है वही जीवके प्रति भी प्रकाश है, यह कह सकते हैं; वस्तुतः मोक्षकालमें, तो जीवभाव ही नहीं है । भूतपूर्वगतिन्यायसे कथंचित् जीवके प्रति प्रकाश है, यह कह सकते हैं इत्यादि अन्यत्र विशेष देखिये । 'लोपः प्रकाशनाशो वा' यहांपर वा विकल्पार्थ नहीं है, किन्तु 'निपातानामनेकार्थत्वम्' इस न्यायसे यहां एवकारार्थक है । लोपशब्दके अर्थका निर्देश नाशशब्दसे किया गया है । लोप और नाशका विकल्प नहीं है । प्रकाशका लोप—नाश—नहीं होता, जैसे राहुग्रस्त चन्द्रमाका प्रकाश लुप्त नहीं होता, वैसे ही अज्ञानावृत आत्माके प्रकाशका लोप नहीं होता, क्योंकि प्रकाश नित्य है । निर्मल चन्द्रमाके राहुसे ग्रस्त होनेपर प्रकाशमय स्वरूपका दर्शन नहीं होता '। उपरागनिवृत्तिके बाद फिर पूर्ववत् प्रकाश देखते हैं । इसलिए निश्चय होता है कि चन्द्रप्रकाशका लोप नहीं होता । अपि तु उपरागसे तादृश प्रकाशका आवरणमात्र होता है, अन्यथा प्रकाशान्तरका उत्पादक न देखनेसे चन्द्रमामें प्रकाशाभावकी आपत्ति होगी ॥ ५० ॥

चैतन्यमें अज्ञानके आवरणसे प्रकाशका लोप क्यों नहीं होता, यह शङ्का करते हैं—'राहुग्रस्त०' इत्यादिसे ।

**अतोऽनुभव एवैको विषयोऽज्ञातलक्षणः ।**
**अक्षादीनां स्वतःसिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता ॥ ५२ ॥**

जैसे हम लोगोंकी दृष्टिसे चन्द्रमामें राहुग्रास—उपराग—प्रतीत होता है, वैसे ही चैतन्यमें आवरणरूप अज्ञान मूढ अनात्मज्ञकी दृष्टिसे जाना जाता है। विशेष यह है कि चन्द्रमामें उपरागका अभाव भी कतिपय क्षणानन्तर हम लोगोंकी दृष्टिसे प्रतीत होता है। चैतन्यमें आवरक अज्ञानका अभाव आत्मज्ञको ही ज्ञात होता है, दूसरेको नहीं। प्रमाण, प्रमेय आदि निखिल जड़ पदार्थ अनुभवस्वरूप आत्मामें अज्ञानसे कल्पित हैं। अनुभवातिरिक्त किसी पदार्थकी सत्ता नहीं है, किन्तु आत्मामें ही उत्पत्ति, स्थिति और लय भी है, इसलिए अनुभवसे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥५१॥

घटादिग्राहक मान वस्तुतः अनुभवविषयक ही है, इसीका उपसंहार करते हैं—'**अतोऽनुभवः**' इत्यादिसे।

घटादि जड़का अनुभवस्वरूप आत्मासे अतिरिक्त सत्त्वसे, असत्त्वसे, तथा उभयात्मरूपसे निर्वचन नहीं किया जा सकता। अर्थात् घटादि जड़मात्रको सत् कहें, तो वह आत्माकी तरह अविनाशी होगा। खपुष्पादिकी तरह असत् कहें, तो उसका प्रत्यक्षसे भान नहीं होगा। सत्से भिन्न असत् कहलाता है और असत्से भिन्न सत् कहलाता है। अतः सत्त्व और असत्त्व ये दोनों परस्परविरुद्ध धर्म हैं। वे एक समयमें एक धर्मीमें नहीं रह सकते। इसलिए इन्हें उभयात्मक भी नहीं कह सकते। सदसत्से भिन्न कोटि ही अप्रसिद्ध है। इसलिए वे शुक्तिरजतकी तरह अनिर्वचनीय माने जाते हैं। अनिर्वचनीय प्रतीतिमात्रशरीर होते हैं। यावत्प्रतीति उनका भान होता है। अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारके बाद प्रतीयमानाधिकरणमें ही 'नासीत्, नास्ति, न भविष्यति' इस प्रकार त्रैकालिक निषेध होता है। इस अभिप्रायसे अनुभव एक है। अनुभव ही परमार्थ सत् है, दूसरा नहीं। वही प्रत्यक्षादि सब प्रमाणोंका विषय—प्रमेय—है। उसके प्रमेयत्वमें युक्ति कहते हैं—'अज्ञातलक्षणः' इत्यादि। अज्ञातके ज्ञापकको प्रमाण माना जाता है। घटादि भी अज्ञान है, इसमें कुछ साधक नहीं है। और वह स्वयंप्रकाश है नहीं, जिससे कि प्रमाणज्ञानके बिना भी उनकी सत्ता मानी जाय। शुक्तिरजतज्ञानसे पूर्व शुक्तिरजतकी सत्ता जैसे नहीं मानी जाती वैसे ही घटादिसत्ता भी तत्प्रतीतिसे पूर्व नहीं मानी जा सकती। अतः अज्ञात घटादि नहीं हो सकता।

अज्ञान चेतनका धर्म है, अचेतनका नहीं। आत्मा अज्ञानका आश्रय और विषय दोनों है। अतः अज्ञात आत्माके ज्ञापक प्रत्यक्षादि प्रमाण कहे जाते हैं।

शङ्का—आत्मा यदि प्रमेय है, तो स्वतः प्रकाश नहीं हो सकेगा, क्योंकि पकाशान्तरानधीन प्रकाश ही स्वप्रकाश होता है।

समाधान—स्वतःसिद्ध प्रकाश होनेसे स्वप्रकाश कहा जाता है। जिस अनुभवमें अर्थात् अज्ञातत्वनिवर्तक प्रमाणमें प्रमाणत्व है, वह आत्मा स्वयंप्रकाश है अर्थात् तत्स्फुरण अन्याधीन नहीं है। स्वप्रकाश होनेपर मी आत्मा अपने आवरक अज्ञान-निवर्तक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय भी होता है; स्वयंप्रकाशत्व और प्रमेयत्वका परस्परविरोध नहीं है, आत्मा यद्यपि स्वयं ज्ञानस्वरूप है, तो मी अज्ञानावृत होनेसे स्वगत अज्ञानकी निवृत्तिके लिए प्रमाणोंकी अपेक्षा करता है, अत एव प्रमाणजन्य विषयाकार वृत्तिके बिना विषयका भान नहीं होता। इस अभिप्रायसे कहते हैं—'स्वतःसिद्धः' जिस आत्मामें अक्षादि—इन्द्रियादि—प्रमाण हैं—वह अज्ञातलक्षण अनुभव एक ही है, और सब कल्पित होनेसे मिथ्या हैं।

शङ्का—नेत्रादि घटमें प्रमाण है, इस लौकिक व्यवहारसे घटादिविषयकत्वेन प्रमाणव्यवहार कैसे होता है? नेत्रादि आत्मामें प्रमाण हैं, ऐसा व्यवहार होना चाहिये।

समाधान—अज्ञातानुभवमें घटादिका अध्यास होनेसे घटादिमें भी अज्ञातत्वकी प्रसक्ति होती है। विषयाकारप्रमाणवृत्त्यवच्छेदेन विषयावरक चैतन्यगत अज्ञानका निवर्तक उक्त प्रमाण विषयमें व्यावहारिक कहलाता है। घटज्ञानसे पूर्व घटेन्द्रियसन्निकर्षके लिए अज्ञात घटकी स्थिति आवश्यक है। अज्ञानका कार्य घट है। इसलिए घटमें अज्ञान नहीं रहता। आत्मगत अज्ञान आत्मामें अध्यस्त घटमें रहता है और तन्निवर्तक अक्षादिमें व्यावहारिक प्रामाण्य माना जाता है, यह निष्कर्ष है। घटादि जड़ है, तद्गत अज्ञानकी निवृत्तिके लिए प्रमाणकी प्रकाशकी अपेक्षा हो सकती है। आत्मा तो स्वयंप्रकाश है, इसलिए तद्गत् अज्ञाननिवृत्तिके लिए प्रमाणकी अपेक्षा क्यों?

समाधान—जैसे घटादि प्रमाणके बिना स्वगत अज्ञानका त्याग नहीं करते, वैसे आत्मा भी स्वगत अज्ञानका त्याग प्रमाणके बिना नहीं करता, यह वस्तुका

अनुभूतिग्रहायैव प्रवृत्तान्यपि दुष्टया ।
सामग्र्याऽखिलमानानि गृह्णते जडसंयुतम् ॥ ५३ ॥
शुक्तिकाग्रहणायैव प्रवृत्तमपि लोचनम् ।
गृह्णाति रजतोपेतं शुक्त्यंशं दोषयोगतः ॥ ५४ ॥
वेदान्तेतरसामग्री दुष्टैषा चक्षुरादिका ।
तज्जधीरत्र गृह्णाति स्फूर्तिं रूपादिसंयुताम् ॥ ५५ ॥

---

स्वभाव है । स्वभाव प्रश्नयोग्य नहीं होता, अन्यथा अग्नि उष्ण क्यों, जल शीत क्यों ? यह भी प्रश्न हो सकेगा ।

आत्मस्वरूपप्रकाश अज्ञानका साधक है, निवर्तक नहीं है, क्योंकि प्रमाणजन्य वृत्त्यात्मक ही ज्ञान अज्ञानका निवर्तक है, यह कह चुके हैं ॥ ५२ ॥

यदि प्रमाण अनुभवविषयक ही होते हैं, तो सभी प्रमाण चिन्मात्रका ही ग्रहण क्यों नहीं करते, घटादिका ग्रहण क्यों करते हैं ? इस शङ्कापर कहते हैं—'**अनुभूति०**' इत्यादि ।

अनुभूतिस्वरूप आत्माका ग्रहण करनेके लिए ही सब प्रमाण प्रवृत्त होते हैं, परन्तु दुष्ट सामग्रीके संबन्धसे निखिल प्रमाण जड़संयुक्त अनुभूतिका ग्रहण करते हैं, केवलका नहीं ॥ ५३ ॥

अन्यके ग्रहणके उद्देश्यसे प्रवृत्त प्रमाण दोषवश अन्यका ग्रहण करता है यह कहते हैं—'**शुक्तिका०**' इत्यादिसे ।

शुक्तिशकलका ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त शुक्तिशकलसंबद्ध लोचन नेत्रदोषके प्रभावसे रजतयुक्त शुक्तिशकलका ग्रहण करता है ॥५४॥

'**वेदान्तेतर०**' इत्यादि । घटादिग्राहक प्रमाणमें दोषसामग्रीके प्रतिपादनके लिए वेदान्तेतरसामग्रीका निर्देश है । शुक्तिशकलमें रजतग्राहक दोष—चाकचिक्य आदि—जैसे प्रसिद्ध है वैसे घटादिप्रपञ्चग्राहक दोष वेदान्तेतरसामग्री है । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मसे अतिरिक्त पदार्थका अभाव बोधित होता है । अतः तदतिरिक्तार्थबोध बाधितार्थक होनेसे दुष्ट सामग्रीसे जन्य है, यह निश्चित होता है । क्योंकि दोषके बिना बाधित अर्थका प्रमाणसे भान नहीं होता । जैसे शुक्तिशकलमें रजतका बाध है फिर भी चाकचिक्यादि दोषसे युक्त चक्षु आदिसे रजतका शुक्तिशकलमें प्रत्यक्षप्रमाणसे भान

एवं च सति विभ्रान्तः कल्पिते रजते धियम् ।
प्रमाणं मनुते यद्वद्रूपादौ मनुजास्तथा ॥ ५६ ॥
धर्मिण्यभ्रान्तमखिलं ज्ञानमिच्छन्ति वादिनः ।
सर्वधर्मिणि सद्रूपे प्रमा धीवृत्तयोऽखिलाः ॥ ५७ ॥

होता है वैसे ही 'नेह' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मसे अतिरिक्त घटादिका बाध निश्चित होनेपर भी वेदान्तेतरसामग्री प्रत्यक्ष, अनुमान आदिसे अतिरिक्त घटादि प्रपञ्चका भान होता है। स्वप्नावस्थामें असदर्थका भान अनुभवसिद्ध है। उसमें दोष निद्रादि हैं। निद्रादिसहकृत मन ही स्वाप्निक पदार्थका भासक है, इस कारण दोषमें स्वाभाविकशक्तिनाशकत्व है, अपूर्वशक्त्युत्पादकत्व नहीं है, इस शङ्काका भी समाधान हो जाता है। यदि दोषमें अपूर्व शक्ति न होती तो स्वाप्निक पदार्थोंका तथा एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमाओंकी प्रतीति कैसे होती एवं भस्मक दोषसे दुष्ट औदर्याग्निसे प्रचुर अन्नका पाचन कैसे होता? यह चक्षुरादि वेदान्तेतरसामग्री है। अतः दुष्टा—दोषसहित—है तज्जन्वी—तज्जन्यज्ञान—रूपादिसंयुक्त स्फूर्त्तिका—अनुभवका—ग्रहण करती है ॥५५॥

यदि रूपादिज्ञान दुष्टसामग्रीसे जन्य है, तो उसमें प्रमाव्यवहार क्यों होता है? इसपर कहते हैं—'एवं च' इत्यादिसे।

नेत्र आदि दुष्ट सामग्री होनेके कारण तज्जन्य ज्ञान भ्रम है, तो भी भ्रान्त पुरुष शुक्तिरजतज्ञानको प्रमाण ही मानता है जबतक कि उसे 'नेदं रजतं' (यह रजत नहीं है) इत्याकारक बाधज्ञान नहीं होता। एवं रूपादिज्ञान भी उक्त सामग्रीसे जन्य होनेके कारण प्रमाण नहीं है, किन्तु सर्वकल्पनाधिष्ठानभूत आत्माका यथार्थ ज्ञान वेदान्तवाक्य द्वारा जबतक नहीं होता, तबतक ज्ञानको प्रमाण ही मानता है। 'नेह नानास्ति' इत्यादि वाक्यसे बाधज्ञान होनेपर आत्मामें द्वैत कल्पित है, यह तत्त्वज्ञानी मानता है। अतः रूपादिज्ञानमें, व्यवहारदशामें, प्रमाणत्वकी प्रसिद्धि भ्रान्त पुरुषकी अपेक्षासे है ॥५६॥

भ्रान्तिज्ञान बाध्यविषयक होता है, उक्त ज्ञान रूपादिविशिष्ट चिद्-विषयक होनेसे भ्रम है, अतद्विषय रूपादिके समान चितिमें भी बाध्यत्वप्रसक्ति अनिवार्य है। इस शङ्काका परिहार करते हैं—'धर्मिण्य०' इत्यादिसे।

विपर्ययं प्रकारे तु वदन्ति रजतादिके ।
तथा रूपादिके बुद्धिः स्याद्विपर्ययरूपिणी ॥ ५८ ॥
एवं न्यायेन संसिद्धा प्रमाणानां प्रमाणता ।
ब्रह्मण्येव तथाऽप्यज्ञा रूपादावेव तां विदुः ॥ ५९ ॥

---

नैयायिक आदि सब वादी भ्रमोंको प्रकारांश ही में भ्रम मानते हैं विशेष्यांशमें प्रमा ही मानते हैं। 'इदं रजतम्' इस भ्रममें दो अंश हैं। रजतांश प्रकारांश है और इदमंश विशेष्यांश है। प्रकारांशमें रजतत्वाभाववति रजतत्वप्रकारक होनेसे भ्रम है। 'इदं' यह विशेष्य अंश है। इदंत्ववति इदंत्वत्वप्रकारक होनेसे एत-दंशमें प्रमाण है। प्रमात्व और अप्रमात्व यद्यपि परस्पर विरुद्धधर्म हैं तथापि संयोग और उसके अभावके अवच्छेदकभेदसे एक ही ज्ञानमें रहते हैं। इस रीतिसे 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान घटांशमें मिथ्या है, इदमंशमें नहीं। इदमंश अनुभव-स्वरूप है, इस तात्पर्य्यसे कहते हैं—सब जड़ पदार्थोंका धर्मी आश्रय आत्मानुभवस्वरूपमें संपूर्णप्रमाणजन्य ज्ञान प्रमाण ही है ॥५७॥

जैसे शुक्तिशकलमें 'इदं रजतम्' यह जो ज्ञान होता है वह प्रकारीभूतरज-तांशमें भ्रम है, यह नैयायिक आदि वादी कहते हैं। 'इदं रूपम्' इत्यादि ज्ञान भी प्रकारीभुतरूपांशमें भ्रम है। विपर्य्यय और भ्रम ये दोनों पर्य्यायवाची शब्द हैं ॥ ५८ ॥

'एवं न्यायेन' इत्यादि। उक्त न्यायसे ब्रह्ममें ही प्रमाणोंकी प्रमाणता सिद्ध है, फिर भी अनभिज्ञ जन 'इदं रूपम्' इस ज्ञानको रूपांशमें प्रमाण मानते हैं। यद्यपि प्रमाणरहस्यानभिज्ञ रूपादिको घटादिमें देखकर रूपादिको सत्य मानकर तद्वति तत्प्रकारक कहकर उक्त ज्ञानको प्रमा कहते हैं, प्रमाणज्ञानसे पूर्व रूपादि अज्ञात ही हैं, अतएव अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्यका उक्त ज्ञानमें समर्थन करते हैं तथापि सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर रूपादि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे बाधित हैं, अतएव बाधितार्थक होनेसे शुक्तिरूप्यज्ञानके सदृश ही हैं। तद्वदेव रजतांशमें उक्त ज्ञानकी तरह रूप्यांशमें 'इदं रूप्यम्' इत्यादि ज्ञान भी विपर्य्ययात्मक है। इदंशमें उक्त ज्ञानके समान रूप्यज्ञान भी प्रमा है।

शङ्का—यदि उक्त दोनों ज्ञान समान ही हैं, तो शुक्तिरजतज्ञानसे विसंवादिप्रवृत्ति और रूपादिज्ञानसे संवादिप्रवृत्ति क्यों होती है ?

धर्मिण्येव प्रमाणं सदपि ज्ञानविमूढधीः ।
रजतग्राहकं मानमिति विद्याद्यथा तथा ॥ ६० ॥
ब्रह्मण्यक्षादिमानत्वमिति न्यायविदां मतम् ।
रूपादावेव तन्मात्वमिति मूढधियो जगुः ॥ ६१ ॥

समाधान—उक्त दोनों स्थलोंमें बाधज्ञानसे पूर्व भ्रान्तपुरुष भ्रमप्रयुक्तस्वप्रवृत्तिको संवादिप्रवृत्ति ही मानता है, बाधकज्ञानोत्तर उक्त प्रवृत्तिको विसंवादिनी मानता है। विशेष यह है कि शुक्तिमें रजतज्ञान संसारदशामें ही बाधितार्थक कहा जाता है और रूप्यमें रूप्यज्ञान आत्मतत्त्वज्ञानोत्तरकालमें बाधकज्ञान होनेसे बाधितार्थक कहा जाता है। चिर और अचिरकालमें बाधकज्ञानोत्पत्तिनिबन्धन प्रवृत्तिद्वयमें वैलक्षण्य है। जैसे शरीरात्मज्ञान व्यवहारदशामें अबाधित होनेपर भी वस्तुतः शुक्तिरजतज्ञानके समान ही है, विलक्षण नहीं है, वैसे ही रूपादिज्ञानको भी समझना चाहिए ॥५९॥

'धर्मिण्येव' इत्यादि। शुक्तिमें 'इदं रजतम्' इत्याकारक ज्ञान वस्तुतः धर्मी इदमंशमें प्रमाण होनेपर भी रजतांशमें अप्रमाण है, फिर भी विमूढधी पुरुष रजतांशमें भी उसे प्रमाण मानता है ॥ ६० ॥

यद्यपि नेत्रादि इन्द्रियाँ ब्रह्म ही में वस्तुतः प्रमाण हैं, यह प्रमाणतत्त्वविवेकी वेदान्तियोंका मत है। तथापि वेदान्तसिद्धान्तानभिज्ञ लोग रूपादिमें ही नेत्रादिको प्रमाण मानते हैं। यद्यपि नेत्रादि रूपादिविषयमें, व्यवरहादशामें, प्रामाण्य है तथापि वे व्यावहारिकको तात्त्विक मानते हैं इसीसे उनमें विमूढधीत्वका व्यवहार किया जाता है। वेदान्तसिद्धान्तको तत्त्वतः न जानना ही विमूढता है। स्मृतिमें प्रामाण्यकी अप्रसक्तिके लिए अज्ञातज्ञापकत्वलक्षण प्रामाण्यको ही अन्य लोग भी मानते हैं।

परान्चि खानि व्यतृणदिति श्रुत्यैव दर्शितम् ।
रूपादौ मात्वमक्षादेरिति चेत्तदसङ्गतम् ॥ ६२ ॥
बुद्धिवृत्तिं विहायाऽन्यन्न किञ्चिन्मानमिष्यते ।
नेत्रादीनि तु सामग्री दुष्टा तस्य इतीरितम् ॥ ६३ ॥
श्रुतिश्च दुष्टसामग्रीं लोकसिद्धामनूद्य ताम् ।
निषेधति न नेत्रादेर्मानत्वाय प्रवर्तते ॥ ६४ ॥

सृष्टिकर्ता ब्रह्माने चक्षुरादि प्रमाणको पराक्—ब्रह्मातिरिक्त—जड़ पदार्थ विषय देकर उनकी हिंसा की, इसलिए इन्द्रियां बाह्य विषयको देखती हैं, प्रत्यग्विषयक नहीं होती अर्थात् उनकी अन्तर्मुख प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु स्वभावतः विषयग्रहणप्रवण होनेसे बहिर्मुख ही प्रवृत्ति प्रसिद्ध है। यदि इन्द्रियोंका रूपादि प्रमेय नहीं है, किन्तु प्रत्यगात्मा ही उनका विषय है, यह वेदान्तसिद्धान्त कहते हैं, तो इस अर्थमें उक्त श्रुतिका विरोध अवश्य प्रतीत होता है। उदाहृत श्रुतिके अनुसार अक्षादिका प्रमेय रूपादि है, आपके कथनानुसार आत्मा है, अतः श्रुतिविरुद्ध आपका सिद्धान्त वैदिक विद्वानोंको अभिमत नहीं हो सकता, इस आक्षेपका निराकरण करते हैं—'तदसंगतम्' इत्यादिसे अर्थात् आपका यह आक्षेप असंगत है ॥ ६२ ॥

**'बुद्धिवृत्तिम्'** इत्यादि। उक्त आक्षेपके निरासका सुखसे ज्ञान हो, इसलिए प्रमाणत्वेन आपको क्या अभिमत है अर्थात् प्रमाण किसको कहते हैं, यह विकल्प द्वारा पूछते हैं—अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञान प्रमाण है अथवा अन्य कोई? अन्त्य पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि बुद्धिवृत्तिको छोड़कर दूसरा कोई प्रमाणरूपसे इष्ट नहीं है। प्रथम पक्षमें दोष यह है कि दोषसहित नेत्रादिसामग्रीसे जन्य उक्त वृत्तिरूप ज्ञान यदि प्रमाण नहीं है, तो रूपादि विषयमें प्रमाण कैसे हो सकता है? क्योंकि दोषासहकृत सामग्रीसे जन्य जो वृत्तिरूप ज्ञान है, वही प्रमाण माना जाता है। प्रकृतमें दुष्ट सामग्रीके सद्भावका स्पष्ट निर्देश करते हैं—**'नेत्रादि०'** इत्यादिसे ॥ ६३ ॥

शङ्का—अच्छा तो उक्त श्रुतिका क्या अर्थ है?

समाधान—**'श्रुतिश्च'** इत्यादिसे। 'परान्चि खानि' इत्यादि श्रुति लोकसिद्ध वृत्तिज्ञानजनक सामग्रीका अनुवाद कर उसीका निषेध करती है। प्राकृत

अप्रबुद्धो बुध्यमानः प्रबुद्धश्च त्रयो नराः ।
प्रबुद्धं प्रति मूढौ द्वावाद्यो मूढस्तयोर्मतः ॥ ६८ ॥
अज्ञातत्वं प्रबुद्धस्य न कदाचिच्चिदात्मनि ।
ज्ञातताज्ञातते तस्मिन् ध्यायमानोऽभिमन्यते ॥ ६९ ॥
न्यायेन बुद्धयमानोऽसावप्रबुद्धस्य विभ्रमम् ।
परीक्षमाणो मूढत्वमापादयति तं प्रति ॥ ७० ॥

---

मूढद्वयमें भेदके प्रदर्शनके लिए पुरुष तीन प्रकारके होते हैं, यह दिखलाते हैं—'अप्रबुद्धो' इत्यादिसे ।

अप्रबुद्ध वे कहलाते हैं जिनको ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान नहीं है, केवल ब्रह्मतत्त्वका शाब्दज्ञानमात्र जिनको है, वे पुरुष बुध्यमान कहे जाते हैं और जिन पुरुष-रत्नोंको ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार है वे प्रबुद्ध कहे जाते हैं। प्रबुद्धके प्रति अप्रबुद्ध और बुद्धयमान ये दोनों मूढ हैं ॥ ६८ ॥

'अज्ञातत्वम्' इत्यादि । जिन पुरुषोंको ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार है, उन प्रबुद्ध पुरुषोंका चिदात्मामें अज्ञातत्व कभी भी नहीं रहता ।

ध्यायमान—श्रुतब्रह्मतत्त्व अर्थात् तत्त्वबुभुत्सु—पुरुष चिदात्मामें ज्ञातता और अज्ञातताका अभिमान करता है, विषयमें चित्तके अवधान करनेसे अर्थात् विषयमें मनोयोगसे ज्ञातता प्रतीत होती है अन्यत्र अज्ञातता रहती है, परन्तु श्रुतब्रह्मतत्त्व पुरुष—अज्ञान विषयधर्म है अथवा चैतन्यधर्म ? इस जिज्ञासाके उदय होनेपर विचार करनेसे—जड़ स्वयं अप्रकाशात्मा है, अतः आवरणका उसमें कुछ प्रयोजन नहीं है अर्थात् आवृतकी पुनः आवरणकल्पना भी निष्प्रयोजन है, इसलिए प्रसक्तप्रकाश अज्ञानरूप आवरण सप्रयोजन है, इत्यादि रीतिसे विचार करनेसे—चिदात्मामें ज्ञातता तथा अज्ञातताकी कल्पना कर पश्चाद् रूपादिमें भी उसकी—कल्पना करता है, इस कल्पनासे प्रयुक्त ही मूढत्वका व्यपदेश है ।

'न्यायेन' इत्यादि । बुद्धयमान—श्रुतब्रह्मतत्व—उक्त रीतिसे अज्ञातत्वादिकी पूरी परीक्षा करता हुआ आत्मामें अज्ञान रहता है, विषयमें नहीं, एवं निश्चयशील पुरुषकी अपेक्षा अज्ञातब्रह्मतत्त्व पुरुष मूढ़ कहलाता है, ऐसा निश्चय करता है, क्योंकि अश्रुतब्रह्मतत्त्व विषयमें ही ज्ञातता आदि धर्म मानता है, श्रुतब्रह्मतत्व आत्मगत ज्ञातत्वादिका विषयमें आरोप मानता

अज्ञाते ब्रह्मचैतन्ये रूपमज्ञातमित्ययम् ।
भ्रान्त्या रूपविबोधाय नेत्रं मानमपेक्षते ॥ ७१ ॥
दोषस्थानीयनेत्रेण जन्या धीर्ब्रह्मवस्तुनि ।
आरोप्यरूपं ब्रह्मैव गृह्णात्यर्थात्तु रूपधीः ॥ ७२ ॥
ज्ञाते ब्रह्मणि तद्रूपं ज्ञातमित्यभिमन्यते ।
धिया भाते ब्रह्मतत्त्वे घटः कल्पोऽवतिष्ठते ॥ ७३ ॥

है। इसलिए उसकी अपेक्षासे पहिला मूढ है। ध्यायमान पुरुष भी तत्त्वज्ञ पुरुषकी अपेक्षासे मूढ इसलिए कहलाता है कि वह आत्मामें भी उक्त धर्मोंको वास्तविक नहीं मानता, किन्तु दोनोंमें कल्पित ही मानता है। अतएव तत्त्वज्ञानी होनेसे प्रबुद्ध कहलाता है। प्रबुद्ध पुरुषके निकट अप्रबुद्ध और बुद्धयमान ये दोनों ही मूढ है। अज्ञातत्व आदि विषयमें नहीं है। और विषयमें जानता है। इसलिए उनका तत्त्वज्ञान विभ्रम है ॥ ७० ॥

मूढत्वापादनप्रकारके व्याजसे ब्रह्मविचार सर्वस्वका स्पष्टरूपसे प्रदर्शन करते हैं—'अज्ञाते' इत्यादि ।

रूपादिमें अज्ञातत्वकी कल्पना कर रूपादिज्ञानके लिए प्रमाणव्यापार लोग करते हैं। प्रमाणव्यापारसे वस्तुतः ब्रह्मविषयक ज्ञान होता है। उसी ज्ञानसे दोषवश आरोपित रूपमें भी ज्ञान मानकर रूपादिमें अज्ञातत्वकी कल्पना करते हैं। और भ्रान्तिसे नेत्रादिको रूपादिमें प्रमाण मानते हैं ॥७१॥

'दोषस्थानीयनेत्रेण' इत्यादि। दोषस्थानापन्न नेत्रसे उत्पन्न ब्रह्मवस्तुविषयक बुद्धि आरोप्यरूपसे विशिष्ट ब्रह्मका ही ग्रहण करती है। इससे रूपादि ज्ञानका विषय कहलाता है। जैसे शुक्तिशकलमें 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान होता है, रजतके साथ नेत्रसंबन्ध नहीं है, केवल शुक्तिशकलके साथ ही उसका सन्निकर्ष है, दोषसहकृत नेत्रसे आरोपित रजतविशिष्ट शुक्तिशकलका भान होता है, वैसे ही अज्ञानसहकृत नेत्रसे 'यह रूप है' ऐसा ज्ञान होता है। उक्त नेत्रसे उक्त ज्ञान होनेपर रूपके आवरक अज्ञानकी निवृत्ति द्वारा तदवच्छिन्न चैतन्यप्रकाशसे कल्पित रूपादिका भान होता है। अतः उक्त ज्ञान आरोपित रूपादिविशिष्ट ब्रह्मविषयक होता है, भ्रान्त पुरुष उक्त ज्ञानको रूपांशमें प्रमाण मानते हैं ॥७२॥

'ज्ञाते ब्रह्मणि' इत्यादि। ब्रह्मके ज्ञात होनेपर रूपादि भी ज्ञात होता है

यथा लोके लोचनेन भासिते शुक्तिखण्डकम् ।
दोषेणाऽऽपादितं तत्र रजतं केवलं स्थितम् ॥ ७४ ॥
नाऽज्ञातं रजतं पूर्वं क्लृप्तेः प्राक् तदसत्त्वतः ।
ज्ञाताज्ञातत्वचिन्तेयं नह्यस्ति नरशृङ्गके ॥ ७५ ॥
अज्ञातत्वं विना चक्षुर्न तद्बोधं प्रवर्तते ।
किन्त्वज्ञानं शुक्तिखण्डमेव ज्ञापयति स्वतः ॥ ७६ ॥

यह अभिमान प्रायः लौकिक पुरुष करते हैं । ब्रह्मका तत्त्वज्ञान होनेसे ज्ञातता-शून्य केवल घटमात्रका अवस्थान होता है, संस्कारात्मना अविद्याकी अनुवृत्ति होनेसे घटादिका भान होता है, उक्त न्यायसे ज्ञातता आदिका विचार करनेसे घटादिमें ज्ञातता कल्पित होनेसे निवृत्त हो जाती है, अतः कल्पित उक्तधर्मरहित केवल घटमात्रका स्फुरण होता है ॥७३॥

इसी अर्थमें अनुरूप दृष्टान्त देते हैं—'**यथा लोके**' इत्यादिसे ।

लोकमें जैसे नेत्र द्वारा शुक्तिखण्डका भान होता है । दोष द्वारा उस रजतका आरोप होता है । उक्त रजत केवल ज्ञातताशून्य अव-शिष्ट रहता है ।

'**नाऽज्ञातम्**' इत्यादिसे । शुक्तिशकलमें रजतकी कल्पनासे पूर्व काल्पनिक रजत नहीं है, इसलिए उसमें ज्ञातत्व या अज्ञातत्वादि कोई धर्म नहीं रहता । धर्मी जब है ही नहीं—नरशृङ्गतुल्य है, अनुपाख्य है, तब उसमें धर्मकी स्थितिकी सम्भावना ही कहां है ? क्योंकि वस्तुतः अत्यन्त असत् निधर्मक और निरूपाख्य है ॥ ७५ ॥

काल्पनिक रजतादिमें अज्ञातत्व नहीं रहता, यह ठीक है, क्योंकि अध्यस्त पदार्थ प्रतिभामात्रशरीर माना जाता है । यदि वह ज्ञानसे पूर्व स्वयं नहीं है, तो उसमें अज्ञातत्व कैसे रहेगा ? परन्तु काल्पनिक धर्म मानजन्य ज्ञानका विषय होता है, इसलिए ज्ञातत्व धर्म रहनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है, इस शङ्काकी निवृत्ति करनेके लिए कहते हैं—'**अज्ञातत्वम्**' इत्यादि ।

चक्षुरिन्द्रिय अज्ञातत्वके बिना रजतका बोध नहीं कर सकती । रजत पूर्वमें है नहीं, अतः अज्ञानविशिष्ट रजतकी सम्भावना ही नहीं है, इसलिए

चक्षुर्दृष्टे शुक्तिखण्डे दोषाद्रूप्येऽवकल्पिते ।
नान्तरीयकभानत्वाद्रूप्यं ज्ञातमिति भ्रमः ॥ ७७ ॥
अश्वारूढे राजपुत्रे तन्मूर्धस्थितमक्षिकाम् ।
दृष्ट्वा मूढो वदत्येषा यात्यारुह्य तुरङ्गमम् ॥ ७८ ॥

चक्षु रजतका अवगाहन नहीं करता, किन्तु अज्ञानविशिष्ट शुक्तिखण्ड—शुक्तिशकल—मात्रका भासक है, अविद्यानिवृत्तिके बिना दोषप्रयुक्त रजताकारपरिणत अविद्या और तद्वृत्तिसहित चक्षुरादिसे 'यह रजत है' इत्यादि भ्रम होता है । केवल चक्षुरादिसे शुक्तिशकलादिमात्रका भान होता है ।

उक्त अर्थका आक्षेपपूर्वक स्पष्टीकरण करते हैं—'चक्षुर्दृष्टे' इत्यादिसे ।

चक्षुसे शुक्तिशकलके देखनेपर दोषवश रूप्यकी कल्पना हुई अर्थात् दोषसे शुक्तित्वका भान नहीं हुआ, केवल पुरःस्थित श्वेतद्रव्यमात्रका भान हुआ । श्वैत्यके सादृश्यसे रजतविषयक स्मरण हुआ, स्मृत रजतका पुरःस्थित शुक्तिमें आरोप कर 'इदं रजतम्' ( यह रजत है ) ऐसा भ्रान्त पुरुष जानता है, रूप्य अविद्याका परिणाम है, यह रजताकार अविद्याका परिणाम चाक्षुष नहीं है, क्योंकि चाक्षुष ज्ञानसे पूर्व प्रतिभामात्रशरीर रजतके साथ चक्षुका सम्बन्ध है ही नहीं । अतः चक्षुसे शुक्तिमात्रका ज्ञान होता है और उक्त रजतका अविद्यावृत्तिसे भान होता है । शुक्त्यंशमें चाक्षुषत्व है, और रजतांशमें साक्षिभास्यत्व है । भ्रान्तपुरुष दोनों अंशोंमें चाक्षुषत्व समझता है । इदमाकार अन्तःकरणवृत्ति और रजताकारा अविद्यावृत्ति—ये दोनों वस्तुतः ज्ञान नहीं हैं, किन्तु जड़परिणाम होनेसे जडात्मक हैं । परस्परतादात्म्यापन्न रजताकार अविद्यावृत्ति और इदमाकार अन्तःकरणवृत्ति—एतद्द्वयावच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञान है । तदवच्छेदक वृत्तिमें ज्ञानव्यवहार गौण है, यह परमार्थ है । प्रकृतमें यद्यपि रूपभानके नान्तरीयक होनेसे तदंशमें प्रत्यक्षत्वव्यवहार गौण है, तथापि भ्रान्त पुरुष उसमें प्रत्यक्षत्वव्यवहारको मुख्य मानते हैं ॥७७॥

भ्रमसे गौणमें भी मुख्यव्यवहार होता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—'अश्वारूढे' इत्यादिसे ।

राजाका पुत्र घोड़ेपर चढ़कर जा रहा है और उसके शिरपर स्थित मक्खीको देखकर मूढ़ पुरुष कहता है कि यह मक्खी घोड़ेपर चढ़कर जा रही है । वस्तुतः मक्खी बैठी है, चलती नहीं है । चलता है घोड़ा, उसके

अतो न रूप्यमज्ञातं नाऽपि ज्ञातं यथा तथा ।
न ज्ञातो नाऽप्यविज्ञातः केवलं कल्पितो घटः ॥ ७९ ॥
ज्ञानाज्ञाने भावरूपे धीमाये ब्रह्म तद्युतम् ।
ज्ञाताज्ञातत्वरूपस्य व्यवहारस्य गोचरः ॥ ८० ॥

---

चलनेसे पुरुष चलता है, पुरुषके चलनेसे उसके सिरपर स्थित मक्खीमें भी चलनेका व्यवहार होता है। एवं प्रकृतमें अज्ञातत्व आत्मामें है, क्योंकि अज्ञातत्व आत्मामें ही रहता है। अतः उसका निवर्तक ज्ञातत्व भी आत्मधर्म ही है। आत्मामें अध्यस्त शुक्ति है, शुक्तिमें प्रतीयमान रूप्य है, इसलिए शुक्तिरूप्यमें ज्ञातत्वप्रतीति होती है। इसी प्रकार जैसे अश्वारूढ पुरुषके तात्पर्यसे 'घोड़ेपर चढ़कर देवदत्त जाता है' यहांपर देवदत्तमें वस्तुतः चलनक्रिया नहीं है, किन्तु अश्वमें ही है; अश्वगति उक्त पुरुषमें आरोपित होकर 'पुरुष जाता है' इस व्यवहारमें निमित्त होती है, वैसे ही 'घटो ज्ञातः' इस व्यवहारसे आत्मगत ज्ञातत्वका घटमें आरोप कर 'घटो ज्ञातः' यह व्यवहार होता है, ज्ञातत्व और अज्ञातत्व वस्तुतः आत्मधर्म ही हैं ॥ ७८ ॥

प्रदर्शित दृष्टान्तका अनुवाद करते हुए दार्ष्टान्तिकको कहते हैं— **'अतो न रूप्य०'** इत्यादि ।

चूँकि ज्ञातत्व और अज्ञातत्व आत्मधर्म हैं, अतः रूप्यमें न ज्ञातत्व और न अज्ञातत्व ही है; किन्तु उक्त दो धर्मोंसे शून्य जैसे रूप्य है, वैसे ही घट भी न वस्तुतः ज्ञात है और न अज्ञात ही है; किन्तु उसको उक्त दो धर्मोंसे रहित केवल कल्पित ही समझना चाहिए ॥ ७९ ॥

**'ज्ञानाज्ञाने'** इत्यादि । उक्त रीतिसे अनात्म जड़ पदार्थमें अज्ञातत्वादिका निराकरण होनेपर आत्मगत ही अज्ञातत्वादि है, यह फलित अर्थ हुआ। प्रसङ्गसे माया और अविद्या ये—दोनों पदार्थ भिन्न हैं, इस भ्रमका निराकरण करते हैं। ज्ञान और अज्ञान—ये दोनों भावरूप हैं, वस्तुतः अज्ञानमें विवाद है; अज्ञान ज्ञानाभावस्वरूप है; अतिरिक्त नहीं, यह तार्किकोंका मत है। अतएव 'अहमज्ञः' इत्यादि प्रतीति ज्ञानाभावविषयक है। वेदान्तियोंका कहना है कि अज्ञान भाव और अभावसे विलक्षण, अनादि और अनिर्वचनीय है; उक्त स्वरूप माननेपर प्रतियोगी और अधिकरण ज्ञानके बिना अभावज्ञान नहीं होता; इस नियमके अनुसार उक्त दो पदार्थोंका

ब्रह्मैव विषयो मायाधियोरिति सुनिश्चितम् ।
धीवृत्तिरूपमानानां सर्वेषां ब्रह्म गोचरः ॥ ८१ ॥

---

ज्ञान होनेपर ज्ञानाभाव ही व्याहत होगा; प्रतियोगीके अधिकरणमें उसका अभाव नहीं माना जाता है, अन्यथा भाव और अभावका विरोध ही भग्न हो जायगा। उक्त ज्ञानके न रहनेपर उक्त ज्ञानाभावका प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता। अभावज्ञानमें प्रतियोगीका ज्ञान कारण है, यह सर्वमान्य नियम है; अतः उक्त प्रतीतिके लिए ज्ञानाभावसे अतिरिक्त भावाभावविलक्षण अज्ञान पदार्थ अवश्य मानना चाहिए। अज्ञान पदार्थ भावस्वरूप है; इसमें दृष्टान्त देनेके लिए ज्ञानका ग्रहण है। ज्ञानसे प्रकृतमें अन्तःकरणवृत्ति विवक्षित है, आत्मा नहीं। इसलिए धीपदका उपादान किया गया है; उक्त पदार्थद्वयविशिष्ट ब्रह्म ज्ञाताज्ञातरूप धर्मोंसे विशिष्ट व्यवहारका विषय है। घटादिमें उक्त धर्मका व्यवहार मुख्य नहीं है, किन्तु गौण है, ज्ञान जैसे भाव पदार्थ है; वैसे ही अज्ञान भी भाव पदार्थ है। ज्ञान भाव पदार्थ है, इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं है, इसलिए उसका उपादान दृष्टान्तके लिए किया है। वादी और प्रतिवादी दोनोंका अभिमत ही दृष्टान्त होता है। ज्ञानके समान अज्ञान भी भावरूप ही है। नञर्थ यहां विरोध है, अभाव नहीं, जैसे धर्म और अधर्म, यहाँपर धर्माभाव अधर्म नहीं है, किन्तु धर्मविरोधी अधर्म है। विहितानुष्ठानसे धर्म, मतभेदसे, आत्मा या मनमें होता है; एवं निषिद्धानुष्ठानसे अधर्म होता है, दोनों भावस्वरूप ही हैं; विनिगमनाविरहसे परस्पराभावस्वरूप नहीं हैं, इसीप्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥८०॥

उक्त अर्थका ही विवरण करते हैं—'ब्रह्मैव' इत्यादिसे।

माया और अज्ञान—ये दोनों समानार्थक हैं; धीवृत्तिमें धीशब्दसे अन्तःकरण अभिप्रेत है; तद्वृत्ति—विषयाकार मनःपरिणाम; इन दोनोंका विषय ब्रह्म ही है। यद्यपि पूर्व श्लोकसे भी यह अर्थ कह चुके हैं, तथापि यहां पुनः कहनेका तात्पर्य है—धीविषयत्वयोग्यता ब्रह्ममें ही है, इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं है। यद्यपि अज्ञानदशामें ब्रह्ममें धीविषयत्वका ज्ञान नहीं होता, तथापि उक्त योग्यता ब्रह्ममें अबाधित है। मायाका विषय ब्रह्म है, यह तो पूर्वमें सिद्ध ही कर चुके हैं। इस कारण माया एवं अन्यान्य सब प्रमाणोंका विषय ब्रह्म ही है ॥८१॥

सामग्रीभेदतस्तत्र बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ।
नेत्राद्युपनिषद्रूपे धीसामग्र्यौ धियो जने ॥ ८२ ॥
स्वत एवाऽज्ञानहान्यै प्रवृत्तामपि तां धियम् ।
नेत्राद्याः प्रतिबन्ध्याशु रूपाद्यारोपयन्ति हि ॥ ८३ ॥
रूपाद्याकुलिता बुद्धिरज्ञानं हन्तुमक्षमा ।
अभिभूयैतदज्ञानं क्षणं पश्चान्निवर्तते ॥ ८४ ॥

'सामग्री' इत्यादि ।

शङ्का—यदि सब प्रमाणोंका विषय ब्रह्म ही है, तो घटादिके चाक्षुष ज्ञानका विषय भी ब्रह्म ही होगा, इस परिस्थितिमें घटादि ज्ञानसे भी मुक्ति होनी चाहिए, अन्यथा वेदान्तज्ञानसे भी मुक्ति न होगी, ब्रह्मज्ञान तो समान ही है ।

समाधान—दोनों ज्ञान समान नहीं हैं, नेत्रादि सामग्रीसे जन्य ब्रह्मज्ञान अविद्याकार्यविषयक होनेसे प्रमात्मक और शुद्ध नहीं है । उपनिषत्सामग्री-जन्य वेदान्तज्ञान तत्त्वावेदक पारमार्थिक प्रमाणसे जन्य होनेसे शुद्ध ब्रह्मज्ञान है । अतएव अविद्यातत्कार्याविषयक होनेसे वास्तविक ब्रह्मज्ञान कहा जाता है, वही अविद्याविरोधी है । नेत्रादिसामग्रीजन्य ज्ञान बन्धहेतु है और उपनिषद्-जन्य ज्ञान मोक्षहेतु है, इस प्रकार वेदान्तशास्त्रमें व्यवस्था है ॥८२॥

नेत्रादिसामग्रीजन्य ज्ञानमें बन्धहेतुत्वका स्पष्टीकरण करते हैं—'स्वत एवा०' इत्यादिसे ।

यद्यपि अज्ञानकी निवृत्तिके लिए बुद्धि प्रवृत्त होती है; तथापि तत्प्रतिकूल नेत्रादि सामग्री उस बुद्धिमें रूपादिविषयका शीघ्र आरोप कर देती है; इसलिए अविद्या स्वयं कार्यविषयक हो जाती है । अतएव उक्त बुद्धि बन्धहेतु हो जाती है । यदि वैराग्याभ्यास आदि साधन द्वारा बुद्धि स्वच्छ हो, तो रूपादिका आरोप न होनेसे अपवर्गके अनुकूल हो सकती है; अन्यथा बन्धको ही दृढ़ करती है ॥८३॥

'रूपाद्या०' इत्यादि । रूपादिविषयविशिष्ट बुद्धि सर्वथा अज्ञानकी निवृत्ति करनेमें असमर्थ होती हुई क्षणभर अज्ञानका अभिभव कर पश्चात् स्वयं निवृत्त हो जाती है । अज्ञानावच्छिन्न चैतन्यमें रूपादिका अध्यास होनेसे रूपादि अज्ञातावस्थामें भी रहते हैं, रूपादिके साथ नेत्रादिका संबन्ध होनेपर रूपाद्याकार मनःपरिणाम होता है, उसीको रूपादि वृत्ति कहते हैं, तादृश वृत्तिमें जो चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है । उसीसे रूपाद्यावरक अज्ञानकी निवृत्ति होती है ।

स्वत एवाऽप्रमाणत्वाद्रूपाद्याकुलनादपि ।
व्यावहारिकमानत्वं भजते बुद्धिरीदृशी ॥ ८५ ॥
अतो मूढा एवमाहुरज्ञातत्वविघाततः ।
मात्वमक्षादयो यान्तीत्येवं तीर्थकरा अपि ॥ ८६ ॥

---

अज्ञानके निवृत्त होनेपर अनावृत चित्में रूपादिका अध्यास होनेसे रूपादिका प्रकाश होता है। वही वास्तविक ज्ञान है। परन्तु मन चञ्चल है, इसलिए पूर्व विषयका त्याग कर जब विषयान्तरमें प्रवृत्त होता है, तो उक्त वृत्ति भी नष्ट हो जाती है। वृत्तिका नाश होनेपर वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य भी नहीं रहता। अतः विषयावारक अज्ञानसे पुनः चैतन्य आवृत हो जाता है। इस तात्पर्यसे कहते हैं—वृत्ति अज्ञानको क्षण भरके लिए निवृत्त कर फिर स्वयं नष्ट हो जाती है। वृत्तिके नाशसे वृत्तिविशिष्ट चैतन्यमें नाशका व्यवहार होता है। वस्तुतः चैतन्यरूप ज्ञान नित्य है ॥८४॥

**'स्वत एवा०'** इत्यादि। नेत्रादिदुष्टसामग्रीजन्य होनेसे तथा कल्पित रूपादि विषयकी भासक होनेसे उक्त बुद्धि अप्रमात्मक ही है, फिर भी व्यवहारदशामें रूपादिबुद्धिमें व्यावहारिक प्रामाण्य है, वास्तविक नहीं है ॥ ८५ ॥

**'अतो मूढा'** इत्यादि। नेत्रादि द्वारा घटादिका ज्ञान होनेपर घटादिके ज्ञानकी निवृत्ति देखकर मूढ लोग कहते हैं कि घटादिज्ञानमें नेत्रादि प्रमाण हैं। वस्तुतः ऐसी बात है नहीं, उक्त रीतिसे ज्ञातत्व और अज्ञातत्व चैतन्यमें ही माना जाता है; घटादि जड़ पदार्थमें नहीं; अतः जिन पुरुषोंको वेदान्त द्वारा यह ज्ञान है, वे लोग घटादिविषयक ज्ञानमें नेत्रादिको प्रमाण माननेवालोंको मूढ कहते हैं, 'आकृतितः घटो ज्ञातः अज्ञातः' इत्यादि व्यवहारके दर्शनमात्रसे उक्त विषयमें ज्ञातत्वादिको वास्तविक मान लेते हैं, विचार करनेपर यह निश्चित होता है कि ज्ञातत्वादि वस्तुतः घटादिमें आरोपित हैं, तन्निवर्तक ज्ञान भी घटादिमें वास्तविक प्रमाण नहीं है, यह भ्रम केवल लौकिक पुरुषमें ही पाया जाता है, सो नहीं, शास्त्रकार भी इस भ्रमसे मुक्त नहीं हैं, वे भी लोकानुसार ही मानते हैं ॥ ८६ ॥

नेत्रादिमात्ववादेऽस्मिन् घटादेरेव मेयता ।
घटादयः प्रमासिद्धा मुञ्चन्त्यज्ञातताां ततः ॥ ८७ ॥

'नेत्रादि०' इत्यादि । मूढ दो प्रकारके होते हैं, यह पूर्वमें स्पष्ट कर चुके हैं । प्रथम मूढके अभिप्रायसे घटादि ही प्रमेय हैं और नेत्रादि ही प्रमाण हैं । नेत्रादि द्वारा घटादिज्ञानसे घटगत अज्ञानकी निवृत्ति मानकर नेत्रादिव्यापारसे पूर्व घटादिमें अज्ञातत्वव्यवहार होता है । उक्त व्यापारोत्तर 'ज्ञातो घटः' इस व्यवहारसे अज्ञातत्वकी निवृत्ति होती है, अज्ञातत्वके समान ज्ञातत्वको भी घटनिष्ठ ही मानते हैं, वस्तुतः घटके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होनेपर घटज्ञान होता है । परन्तु ज्ञानसे पूर्व कालमें अज्ञातावस्थ घट है, इसमें क्या प्रमाण ? जड़की सिद्धि ज्ञानके अधीन है, अन्यथा सप्तम रसादिकी भी सिद्धि हो सकती है, इसलिए अज्ञात घटकी सिद्धि अज्ञातानुभवात्मामें अध्यासके माननेसे ही हो सकती है, अन्यथा नहीं । अनुभवात्मामें अज्ञानके माने बिना उक्तानुभवमें अध्यास नहीं बन सकता । आत्मामें अध्यास माननेपर अधिष्ठानगत सत्ताकी तरह तद्गत अज्ञानका भी अध्यस्त घटमें भान हो सकता है, फिर घटादिमें अज्ञान मानना व्यर्थ है और जड़में आवरणकार्यकी—प्रकाशतिरोधानकी—आवश्यकता भी नहीं है । स्वयं अप्रकाशस्वरूप होनेसे जड़में प्रकाशकी प्रसक्ति ही नहीं है, अनुभव-स्वरूपज्ञान अज्ञानका निवर्तक नहीं है, किन्तु तत्साधक है, इसलिए अज्ञान-निवृत्तिके लिए प्रमाणजन्य ज्ञानकी आवश्यकता है, इसका भी उपपादन पूर्वमें हो चुका है । इसलिए अज्ञातानुभवमें तादात्म्येन अध्यस्त घट इन्द्रियादि-सन्निकर्षसे पूर्वमें है । उसके साथ इन्द्रियसन्निकर्षवश 'घटः' इस वृत्तिज्ञानसे घटावच्छिन्न चैतन्यमें अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे तदध्यस्त घटमें अज्ञाननिवृत्ति प्रतीत होती है, इस अविचारित प्रतीतिको लेकर अज्ञातघटादिज्ञापक उक्त वृत्तिको साधारण लोग प्रमाण मानते हैं, इसीसे घटादिमें नेत्रादि प्रमाण हैं, ऐसी लोकप्रसिद्धि है, पर विचार करनेपर यह सिद्धान्त सिकताके ( बालूके ) कूपकी तरह विनष्ट हो जाता है ॥ ८६ ॥

जिनके मतमें घटादि जड़ पदार्थमें ही अज्ञातत्व है, उनके मतमें तादृश अज्ञानके निवर्तक नेत्रादि प्रमाण सफल होते हैं, प्रमेयगत अज्ञानकी निवृत्ति ही प्रमाणका फल माना जाता है, इसलिए व्यवहारदशामें व्यावहारिक

ननु मानमपेक्ष्यैते मुञ्चन्त्वज्ञाततां जडाः ।
चिदात्मा न विना मानं त्यजेदज्ञाततां कुतः ॥ ८८ ॥
उच्यते साधकत्वेन नाऽज्ञानं हन्ति सा चितिः ।
यत्साधकं न तल्लोके बाधकं क्वचिदिष्यते ॥ ८९ ॥

प्रामाण्य नेत्रादिमें ठीक है, किन्तु जिनके मतमें अज्ञान अनुभवगत है, मतमें प्रमाणोंकी क्या आवश्यकता ? क्योंकि अनुभव स्वयं अज्ञानकी निवृ लेगा, कारण कि उसे तो स्वयंप्रकाश ही मानते हो, फिर उसके लिए प्रमाण है, यह शङ्का करते हैं—'**ननु मान०**' इत्यादिसे ।

जड़ घटादि प्रमाणविषय होकर ही अज्ञानका त्याग करते हैं, उ नहीं, प्रदीपके बिना अन्धकारावृत घट अन्धकारका त्याग नहीं करता, प्रदीप स्वयं अन्धकारका त्याग करता है; इसके लिए प्रदीपान्तरकी आवश् नहीं होती, एवं आत्मा स्वयंप्रकाशस्वरूप है, स्वगत अन्धकारका प्र बिना स्वयं त्याग कर सकता है, फिर उसके लिए प्रमाणोंकी क्या श्यकता है ? ॥ ८८ ॥

'**उच्यते**' इत्यादि । अनुभवात्मक चिति अज्ञानकी साधक है, 'आश्र विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' इस संक्षेपशारीरकके वचनके अ अज्ञानका आश्रय और विषय चिदात्मा ही है, अतएव 'अहमज्ञानं जानामि' इ प्रतीति भी आत्मामें ही अज्ञानका अवगाहन करती है, इत्यादि पूर्वमें विशेष निरूपित हो चुका है, अज्ञानकी साधक चिति—अनुभव—अज्ञानकी बाध निवर्तक—नहीं हो सकती । लोकमें भी यह प्रसिद्ध है कि जो जिसका है, वह उसका बाधक नहीं हो सकता, अन्यथा उसकी सिद्धि ही होगी । तात्पर्य यह है कि जैसे घटादि पदार्थ जो व्यावहारिक प्रमाणसे हैं, वे भी स्वगत अज्ञानकी निवृत्तिके लिए प्रमाणकी अपेक्षा करते हैं, प्रमाणके स्वगत अज्ञानको नहीं त्यागते, वैसे ही स्वप्रकाश चिदात्मा अज्ञानका त्याग प्रमाण व्यापारके बिना स्वयं नहीं करता, यह वस्तुस् माना जाता है । प्रमाणजन्य प्रकाश ही अज्ञानका निवर्तक है, स्वरूप नित्य प्रकाश नहीं, क्योंकि वह प्रमाणका फल नहीं है ॥ ८९ ॥

मानयोगात् पुरा सिद्धिर्लौकिकस्याऽपि वस्तुनः ।
संवित्तत्त्वबलादेव तत्तमोऽव्यवधानतः ॥ ९० ॥
किमु वक्तव्यमासन्नं तमः सिद्ध्यति चिद्बलात् ।
तस्मात् प्रमाणमेवाऽस्य तमसो घातकं न चित् ॥ ९१ ॥

'मानयोगा' इत्यादि । संयोगसे पूर्व कालमें अज्ञानव्यवहितघटादिकी सिद्धि अनुभवसे होती है, इसका भी निरूपण कर चुके हैं । यदि अज्ञातत्वविशिष्ट घटादिका साधक अनुभव है, तो अज्ञानका साधक अवश्य ही कहना पड़ेगा । विशेषणकी सिद्धिके बिना विशिष्टकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः विशिष्टसाधक कैमुतिकन्यायसे विशेषणका साधक होता है ।

शङ्का—यदि आत्माका प्रकाश प्रमाणसे मानते हो, तो घटादिके समान आत्मा भी स्वयंप्रकाश नहीं हो सकता ।

समाधान—समस्त प्रपञ्चका प्रकाशक आत्मा प्रमाणके बिना ही स्वप्रकाश है । सारांश यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञानसे पूर्वकालमें अज्ञानव्यवहित समस्त प्रमाण, प्रमेयादि प्रपञ्चका भासक चैतन्यात्मा स्वयंप्रकाश तथा स्वयंसिद्ध है; किन्तु व्यवहारदशामें अज्ञानावृत्त होनेसे वस्तुतः स्वस्वरूपसे प्रतीत नहीं होता, वेदान्तवाक्य द्वारा प्रमाणज्ञान होनेसे तद्गत अज्ञानकी निवृत्ति होती है; तदनन्तर मुक्तिफलक आत्मैकत्वविज्ञान होता है; प्रमाणज्ञानके बिना ब्रह्मस्वरूपज्ञान अज्ञानका साधक होनेसे बाधक नहीं है, यह पूर्वमें कह चुके हैं ॥ ९० ॥

'किमु वक्तव्य०' इत्यादि । अज्ञानव्यवहित प्रमेयजातका साधक यदि चित् है, तो अज्ञानका भी साधक चित् ही है, इसमें कहना ही क्या ? अज्ञानसाधक अगर चित् न हो, तो अज्ञानव्यवहित घटादिप्रपञ्चका भी साधक उक्त चित् न हो सकेगा। यदि अज्ञात घटकी सिद्धि न मानी जाय, तो घट-ज्ञानसे पूर्वमें घटकी सिद्धि न होनेसे चक्षु और घटका संयोग न होनेसे घटका साक्षात्कार भी न हो सकेगा, अतः चक्षुरादिका अन्वय-व्यतिरेक घट साक्षात्कारमें इष्ट है, इसलिए अज्ञान और तद्व्यवहित घटादिका साधक चित् है, यह अवश्य, स्वीकार करनेके योग्य है, इसलिए प्रमाण ही अज्ञानका घातक ( निवर्तक ) है, स्वरूपभूत ज्ञान नहीं ॥ ९१ ॥

मानं च नेत्राद्युत्थं चेदभिभावकमीरितम् ।
न दोषदुष्टबुद्धया हि तमस्तत्कार्यनिह्नुतिः ॥ ९२ ॥
कृत्स्नमात्राद्युपादानतमोबाधस्तु बोधतः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थात् पूर्णैकात्म्यस्वलक्षणात् ॥ ९३ ॥
ननु वाक्यजबुद्धयाऽपि युज्यते न तमोह्नुतिः ।
नेत्रादिदोषजातस्य तदवस्थत्वदर्शनात् ॥ ९४ ॥

'मानं च' इत्यादि ।

शङ्का—यदि प्रमाणको ही—ज्ञानको ही—अविद्याका निवर्तक मानते हो, तो नेत्रादिजन्य ज्ञानसे भी अविद्याकी निवृत्ति होनी चाहिए । ऐसा होनेपर घटादिविषयक उक्त ज्ञानसे भी अविद्याकी निवृत्ति द्वारा मोक्षरूप फल हो जायगा, फिर वेदान्तज्ञानकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—नेत्रादिजन्य ज्ञान प्रमात्मक नहीं है, किन्तु 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे बाधितघटादिविषयक होनेसे मिथ्या है । मिथ्या ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु तत्त्वज्ञानसे ही हो सकती है । तत्त्वज्ञानके साथ अतत्त्वज्ञानका विरोध है तथा उक्त ज्ञान दोषजन्य है; यह पूर्वमें सिद्ध कर चुके हैं, इसलिए कहते हैं—'दोष०' इत्यादि । उक्त दुष्ट ज्ञानसे तम (अज्ञान) और उसके कार्यकी—प्रपञ्चकी—निवृत्ति नहीं हो सकती ॥ ९२ ॥

'कृत्स्नमात्रा०' इत्यादि । सम्पूर्ण प्रमातृ, प्रमाण, प्रमेय आदि प्रपञ्च अर्थात् गगनादिका उपादान (असाधारण कारण) जो तम—अज्ञान—है उसका बाध (निवृत्ति) 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्यजन्य पूर्णानन्दात्मक आत्मैकत्वलक्षण बोधसे ही होता है; दूसरेसे नहीं ॥ ९३ ॥

'ननु वाक्यज०' इत्यादि ।

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तवाक्यजन्य उक्त बोधसे भी अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त ज्ञानके अनन्तर भी द्वैतग्राहक मान—नेत्रादि—पूर्ववत् व्यवस्थित ही देखे जाते हैं । जीवन्मुक्तिदशामें भी ज्ञानीका व्यवहार देखा जाता है, अन्यथा तत्त्वोपदेश आदिमें प्रवृत्ति भी न हो सकेगी, अतः उक्त बोधसे प्रपञ्च और उसके उपादान अज्ञानकी निवृत्ति होती है; यह कथन श्रद्धेय नहीं है ॥ ९४ ॥

नैष दोषो यतो भिन्नां सामग्री वैदिकं वचः ।
नह्यन्धत्वापराधेन शब्दं न शृणुयात् पुमान् ॥ ९५ ॥
अथैकविषये भिन्नसामग्र्यप्येकदा कथम् ।
विरुद्धबुद्धिमेकस्य जनयेदिति चेच्छृणु ॥ ९६ ॥
किं भिन्नविषयेऽप्यस्ति त्वेकदा धीद्वयं तव ।
नेति चेदेकशब्देन विशेषयसि किं वृथा ॥ ९७ ॥

समाधान—'**नैष दोषो**' इत्यादिसे। लौकिक सामग्रीमात्रसे जन्य प्रमाणज्ञान उक्त अज्ञानका निवर्त्तक नहीं है, किन्तु वेदान्तवाक्यसे जन्य ज्ञान, अदुष्ट सामग्रीसे जन्य होनेके कारण, उक्त अज्ञानका निवर्तक है। सामग्रीके भेदसे प्रमाणज्ञान भी भिन्न है, अतः उक्त बोध अज्ञान और उसके कार्यका निवर्तक है; ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। दुष्ट सामग्री अपने कार्यकी जनक नहीं होती, किन्तु अदुष्ट सामग्री ही स्वकार्यजनक होती है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'नह्यन्धत्वा०' इत्यादिसे। अन्धत्व दोषसे दुष्ट नेत्र अपने कार्यका—साक्षात्कारका—जनक नहीं होता, इसलिए क्या उसके अपराधसे श्रोत्र भी शब्दसाक्षात्कारका जनक नहीं होता ? अर्थात् होता ही है। एकके दोषसे दूसरेके कार्यमें बाधा नहीं होती। इसी प्रकार दुष्ट होनेसे लौकिक सामग्री स्वकार्यकी जनक नहीं है, किन्तु तद्भिन्न अदुष्ट वेदान्तवाक्यघटित सामग्री स्वकार्यजनक क्यों न होगी ॥ ९५ ॥

'**अथैकविषये**' इत्यादि। एक विषयमें एक ही कालमें एक पुरुषको परस्परविरुद्ध सविशेष और निर्विशेष विषयक विरुद्ध दो बुद्धियाँ नहीं हो सकतीं। विरुद्ध दो सामग्रियोंसे उक्त दो बुद्धियाँ तब हो सकती हैं, जब कि दोनों विरुद्ध सामग्रियाँ एक कालमें हों। लेकिन वे एक कालमें हो नहीं सकतीं; अन्यथा सामग्रियोंमें विरोध ही भग्न हो जायगा, इस अभिप्रायसे कहते हैं—विरुद्ध दो सामग्रियाँ एक कालमें एक पुरुषमें सविशेष और निर्विशेष बुद्धिको कैसे उत्पन्न करेंगी ॥ ९६ ॥

उक्त शङ्काका उत्तर देते हैं—'**किं भिन्न०**' इत्यादिसे।

एक कालमें एक विषयमें दो बुद्धियाँ नहीं होतीं, ऐसा कहनेवालोंका अभिप्राय क्या है ? क्या वे लोग भिन्न विषयमें युगपत् दो बुद्धियाँ मानते हैं अथवा नहीं ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि एक कारण एक समयमें एक ही क्रियाका जनक होता है, यह सर्वमान्य न्याय है। द्वितीय पक्षमें विषयमें एकत्वविशेषण व्यर्थ

क्रमेण विषये भिन्न एकस्मिन्नपि धीद्वयम् ।
स्वसामग्र्यनुसारेण भवन्नहि विरुद्ध्यते ॥ ९८ ॥
ततः सत्येव नेत्रादावद्वैतं बोधयेद्वचः ।
अविज्ञातत्वमद्वैते तद्बोधेन निवर्त्यते ॥ ९९ ॥
तदेव ज्ञातमित्येव व्यवहारस्ततो भवेत् ।
अज्ञातत्ववदद्वैते ज्ञातत्वं न विरुद्ध्यते ॥ १०० ॥
अज्ञातत्वं मायिकं चेज्ज्ञातत्वमपि तत्तथा ।
विद्यया को विशेषश्चेज्ज्ञाततैवेति निश्चिनु ॥ १०१ ॥

है, एक समयमें दो बुद्धियां नहीं होतीं, इतना ही कहना उचित है। एक विषय तथा अनेक विषयमें दो बुद्धियाँ एक कालमें इष्ट नहीं हैं ॥९७॥

'क्रमेण विषये' इत्यादि। विभिन्न विषयमें जैसे क्रमशः दो बुद्धियाँ पुरुषमें होती हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है, वैसे ही एक विषयमें भी क्रमशः स्वसामग्री द्वारा दो बुद्धियोंकी उत्पत्तिमें कोई विरोध नहीं है। यद्यपि 'अयौगपद्याज्ज्ञानानाम्' इत्यादि न्यायसे ज्ञानयौगपद्य माननेमें विरोध है, तथापि क्रमशः अनेक बुद्धियोंकी उत्पत्तिमें किसी मतसे कोई विरोध नहीं है ॥९८॥

'ततः सत्येव' इत्यादि। चूँकि एक विषयमें क्रमशः अनेक बुद्धियोंकी उत्पत्ति अविरुद्ध है, अतः द्वैतभासक नेत्रादि सामग्रीके रहते-रहते 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि अद्वैतबोधक वाक्यसे समुत्पन्न अद्वैतज्ञानसे अद्वितीय आत्मामें द्वैतकी निवृत्ति होती है ॥९९॥

'तदेव ज्ञातम्' इत्यादि। उक्त वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर तदनन्तर 'अद्वैतं ज्ञातम्' ( अद्वैत जाना ) यह व्यवहार होता है ॥१००॥

शङ्का—आत्मा तो अद्वैत है, यदि द्वैतमात्रकी निवृत्ति मानते हो, तो उसमें ज्ञातत्व भी धर्म नहीं है, फिर ज्ञातत्वका व्यवहार कैसे होता है ?

समाधान—जैसे अविद्यासे कल्पित अज्ञातत्व माना जाता है, वैसे ही ज्ञातत्वको भी अविद्यासे कल्पित मान कर उक्त व्यवहार होता है, यही कहते हैं—'अज्ञातत्वम्' इत्यादिसे।

अज्ञातत्व मायिक—मायाकल्पित—है, यदि ऐसा मानते हो, तो ज्ञातत्वको भी वैसा ही मान लो।

पुरुषार्थः क इति चेन्मोक्ष एव न चेतरः ।
श्रुतिं प्रतिभुवं विद्धि ज्ञानमात्रेण मुक्तये ॥ १०२ ॥

शङ्का—अज्ञानदशामें कल्पित अज्ञातत्व तो हो सकता है, परन्तु तत्त्वज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर तत्कल्पित ज्ञातत्व नहीं रह सकता; क्योंकि तत्त्वज्ञान सकार्य अज्ञानका निवर्तक माना जाता है, अन्यथा तत्कल्पित द्वैतकी अनुवृत्ति होनेसे अद्वैतात्मसाक्षात्कार ही नहीं हो सकता । साक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान वस्तुतन्त्र है, पुरुषतन्त्र नहीं ।

समाधान—तत्त्वज्ञान प्रारब्ध कर्मसे प्रतिबद्ध अज्ञानलेशसे अतिरिक्त अज्ञान और उसके कार्यका निवर्तक माना जाता है । अतएव

'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।'

इत्यादि शास्त्र भी संगत होता है ।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।'
'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥'

इत्यादि श्रीभगवद्वाक्य प्रारब्धकर्मेतर कर्म विषयक हैं, इस प्रकार भिन्नविषयक व्यवस्था मानकर पूर्वाचार्योंने उक्त वचनोंके परस्पर विरोधका परिहार किया है ।

शङ्का—अच्छा ज्ञातत्वव्यवहारके लिए यदि अद्वैत आत्मामें अज्ञानकल्पित ज्ञातत्व धर्म मानते हैं, तो विद्यासे—तत्त्वज्ञानसे—आत्मामें क्या विशेष हुआ ?

समाधान—ज्ञातत्व ही विशेष हुआ, क्योंकि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व 'आत्मा ज्ञात है' यह व्यवहार नहीं होता । तदनन्तर 'ज्ञात है' यह व्यवहार होता है; यही विशेष समझिये ॥१०१॥

ज्ञातत्वविशेष माननेपर भी वह तो स्वयं पुरुषार्थ नहीं है; इसलिए पुरुषार्थाभावसे विद्या विफल ही रही, इसपर कहते हैं—'पुरुषार्थः क इति चेत्' इत्यादिसे ।

शङ्का—पुरुषार्थ वास्तवमें क्या है ?

उत्तर—मोक्ष ही है, दूसरा नहीं । ज्ञानसे मुक्ति होती है, इस अर्थका बोध करानेवाली 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुतियाँ उक्त अर्थमें प्रमाण हैं अर्थात साक्षी हैं ॥ १०२ ॥

आगामिजन्माभावेऽपि साम्प्रतं लभ्यतेऽत्र किम् ।
इति चेत्कृतकृत्यत्वधिया विश्रान्तिरुत्तमा ॥ १०३ ॥
आस्तां फलविचारोऽयं रूपशब्दादिकल्पकम् ।
नेत्रादिकं स्याद्विद्यायां लब्धायामिति चेच्छृणु ॥१०४॥
कल्पयत्येव रूपादि यथापूर्वं न संशयः ।
ऋजुत्वं कः श्वपुच्छस्य कामयेतेह बुद्धिमान् ॥१०५॥

'आगामिजन्माभावेऽपि' इत्यादि ।

शङ्का—यदि तत्त्वज्ञानसे प्रारब्धकर्मसे भिन्न कर्मोंका नाश हो जाता है, इस लिए भावीजन्मसे पिण्ड तो छूट जायगा, अतः भावी दुःखोंका भय नहीं है। पर वर्तमान जन्ममें क्या लाभ ?

समाधान—कर्तव्य कर्म कर चुके, अब कोई कर्तव्य शेष है नहीं, इस बुद्धिसे उत्तम विश्रामका—शान्तियुक्त आरामका—लाभ होता है ॥ १०३ ॥

'आस्तां फलविचारोऽयम्' इत्यादि ।

शङ्का—विद्याका जो कुछ फल होता है, सो हो, पर यह कहिए कि तत्त्वज्ञानीको अनात्म पदार्थका नेत्रादि द्वारा आत्मामें आरोप होता है या नहीं ॥१०४॥

समाधान—'कल्पयत्येव' इत्यादि । रूप, शब्द आदि विषयोंकी कल्पना करनेवाली इन्द्रियाँ विद्याका लाभ होनेपर भी रूपादि विषयोंकी पूर्ववत् कल्पना करती ही हैं ।

तत्त्वज्ञानसे पूर्व इन्द्रियाँ जैसे रूपादि विषयोंकी कल्पनाएँ करती हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानोत्तर भी वे विषयोंकी कल्पनाएँ करती ही हैं। जब तक पदार्थ रहता है तब तक वह अपने स्वभावका परित्याग नहीं करता। जैसे कुत्तेकी पूँछ कभी सीधी नहीं रहती, उसमें टेढ़े रहनेका स्वभाव है। इसलिए बुद्धिमानोंको स्वभावसे विपरीत पदार्थोंकी कामना भी नहीं करनी चाहिए। स्वभाव अमिट होता है, जैसे कुत्तेकी पूँछको सीधी रखनेका यत्न करना निष्फल है ॥ १०५ ॥

शङ्का—यदि तत्त्वज्ञानोत्तर भी इन्द्रिय आदि द्वारा रूप आदिकी कल्पना होती रहेगी, तो मुक्ति कैसे होगी ? द्वैतज्ञानकी निवृत्तिके बिना निष्प्रपञ्च आत्माका स्वावस्थान नहीं हो सकता ।

रूपाद्यकल्पनान्मोक्षः श्रूयते न क्वचिच्छ्रुतौ ।
कल्प्यतामत्र रूपादि का ते हानिः प्रकल्पने ॥१०६॥
मृत्योः स मृत्युमित्येव द्वैतदृष्टिरपोद्यते ।
यदि तर्हि न पश्यामि द्वैतं तस्य प्रमापणात् ॥१०७॥
निषेधति श्रुतिर्द्वैतदृष्टिमेव न कल्पनम् ।
प्रत्युतैतस्य यत्नेन कल्पितत्वं वदत्यसौ ॥१०८॥
कल्पितत्वावबोधेन कल्पितं न निवर्तते ।
मनुष्यत्वावबोधेन मनुष्यस्याऽनिवर्तनात् ॥१०९॥

समाधान—'रूपाद्य०' इत्यादि। रूप आदिकी कल्पना न करनेसे ही मुक्ति होती है, ऐसा किसी श्रुतिमें श्रुत नहीं है, इसलिए तत्त्वज्ञानी सुखसे रूप आदिकी कल्पना करे, कोई क्षति नहीं है अर्थात् मुक्तिकी प्राप्तिमें तत्प्रयुक्त कोई बाधा नहीं है ।

शङ्का—'मृत्योः' इत्यादि श्रुतिसे तत्त्वज्ञानकालमें द्वैतदर्शनका बाध बतलाया गया है, इसलिए द्वैतदर्शनकी अनुमति कैसे देते हैं ?

समाधान—द्वैतका सत्यरूपसे दर्शन निषिद्ध है । संस्कारानुवृत्तिवश जीवन्मुक्तिदशामें कल्पित द्वैतदर्शनके विषयमें अनुमति है, अन्यथा जीवन्मुक्तकी शरीरयात्रा भी नहीं हो सकेगी । इसलिए काल्पनिक द्वैतदर्शन मोक्षमें बाधक नहीं है ॥ १०६,७ ॥

**'निषेधति'** इत्यादि । द्वैतनिषेधबोधक 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युम्' इत्यादि श्रुतियाँ द्वैतके पारमार्थिकत्वरूपसे दर्शनका निषेध करती हैं, कल्पित द्वैतदर्शनका नहीं । मोक्षविरोधी द्वैतदर्शन त्याज्य है, अविरोधी नहीं । अतः अविरोधी कल्पित द्वैतका उक्त श्रुतियाँ समर्थन करती हैं, अन्यथा तत्त्वोपदेश ही नहीं बन सकेगा और सद्यः विदेह—कैवल्य—प्राप्तिका भी प्रसंग हो जायगा । अतएव 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' इत्यादि श्रुतिके बलसे जीवन्मुक्तिदशामें कल्पित द्वैतका यत्नसे समर्थन होता है ॥ १०८ ॥

कल्पितत्वका बोध होनेसे कल्पित पदार्थकी निवृत्ति नहीं होती, इसमें अनुरूप दृष्टान्त देते हैं—'कल्पितत्वाव०' इत्यादि ।

मनुष्यत्वके बोधसे मनुष्यकी निवृत्ति नहीं होती; बल्कि मनुष्यकी अनुवृत्ति ही होती है । विशिष्टज्ञानमें विशेषणज्ञान साधक है; बाधक नहीं ॥ १०९ ॥

कल्पितं न निवृत्तं चेद्वाचैवाऽद्वैतमीर्यते ।
इति चेत्ते किमद्वैतं कर्त्तव्यं पाणिना वद ॥११०॥
न कर्त्तव्यं किन्तु बुद्ध्या बोद्धव्यमिति चेत्प्रभो ! ।
बुध्यस्वाऽखिलवेदान्तैः किमुपालम्भसे वृथा ॥१११॥
परोक्षमेव वेदान्ता बोधयन्तीति चेन्न तत् ।
बोद्धुरात्मानमुल्लिख्य त्वं ब्रह्मेत्यवबोधनात् ॥११२॥

'कल्पितं न' इत्यादि ।

शङ्का—यदि तत्त्वज्ञानोत्तर भी द्वैतकी निवृत्ति होती नहीं है; तो केवल [श]ब्दमात्रसे ही आप अद्वैत कहते हैं । इस परिपस्थितिमें वास्तव अद्वैत तो रहा [न]हीं, किन्तु सदा द्वैत ही रहा । और यही मानना समुचित है तथा आपके [श]ब्दोंसे भी यही सिद्ध होता है ।

समाधान—अद्वैत तो वाणीसे ही कहा जा सकता है; वह हाथसे करनेकी [व]स्तु नहीं है; क्या आपने उसे हाथसे करनेकी चीज समझ रखा है ? यदि आपका [ऐ]सा ध्यान है, तो अवश्य आप भूल करते हैं ।

'न कर्तव्यम्' इत्यादि ।

शङ्का—कर्तव्य नहीं है, यह तो हम भी मानते हैं, फिर भी वह बुद्धिसे तो [बो]धव्य होना चाहिए । सो भी तो आप नहीं कह सकते, कारण कि तत्त्वज्ञान [हो]नेपर भी यदि पूर्ववत् द्वैतका भान होता ही रहा; तो वस्तुतः अद्वैतका भान कहां हुआ ? इसलिए यह कहते हैं कि अद्वैतवाद केवल वाचिक ही है, प्रातीतिक नहीं ।

समाधान—अद्वैतकी प्रतीति यदि आप चाहते हैं, तो हे प्रभो ! सम्पूर्ण [वे]दान्तोंसे अद्वैत जानो अर्थात् श्रवण आदि उपायों द्वारा अद्वैतका साक्षात्कार कर आप स्वयं कह सकते हैं कि अद्वैत वस्तुतः बोधका विषय है, अतएव एतद्विषयमें उपालम्भ ( आक्षेपविशेष ) वृथा है ॥ १११ ॥

'परोक्षमेव' इत्यादि ।

शङ्का—वेदान्तसे अद्वैतका परोक्षात्मक ही ज्ञान होता है, क्योंकि शब्दका परोक्ष ज्ञान उत्पन्न करना स्वभाव है, अपरोक्षज्ञान तो इन्द्रियोंसे ही होता है ।

समाधान—परोक्षत्व और अपरोक्षत्वका नियामक करण—इन्द्रियादि—नहीं है;

भूयो भूयो बलिं वैश्याः पिशाच्यै ददतेऽनिशम् ।
अथापि सा पिशाची तान् बाधतेऽनपराधिनः ॥११६॥
एवं बहुश्रुतिन्यायबोधितं सन्मनः पुनः ।
विसंवदत एवेति का तत्र स्यात् प्रतिक्रिया ॥११७॥
कल्पितं चेत् समुच्छिन्द्यास्तुष्याम्येतावतेति चेत् ।
उच्छेत्स्यामि यदा रज्जुसर्पं मारयसे तदा ॥११८॥

**'भूयो भूयो'** इत्यादि । साधुस्वभाव भीरु वैश्य बार-बार पिशाचीको सन्तुष्ट करनेके लिए बलि देते हैं, तो भी पिशाची निरपराध उन बलि देनेवाले वैश्योंको सतत क्लेश देती ही है । तात्पर्य यह है कि लोकमें यह प्रसिद्ध है कि लातके देवता बातसे नहीं मानते । दुःशील पिशाच बलि देनेसे सन्तुष्ट नहीं होते, किन्तु तन्त्र-मन्त्र या उनसे भी प्रबल ब्रह्मपिशाचोंसे निगृहीत होनेपर ही पिण्ड छोड़ते हैं । उसी प्रकार मनको सन्तुष्ट करनेके लिए कितने ही विषयोंका अर्पण नित्य किया जाता है, फिर भी सन्तोषके बदले असन्तोष बढ़ता ही जाता है । प्राप्त विषयको छोड़कर अप्राप्त विषयकी कामना सदा करता है । अगर अप्राप्त विषयकी प्राप्ति हो भी जाय, तो फिर आगे दूसरे विषयकी कामना करने लगता है, इसीसे महर्षियोंने कहा है कि—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते ॥'

कामोंके भोगनेसे कामनाकी शान्ति नहीं होती, प्रत्युत घृतसे अग्निज्वालाके सदृश और भी अधिकाधिक बढ़ती ही है । वैराग्य और अभ्याससे ही मन शान्त होता है, अतः मनःपिशाची बलि देनेसे सन्तुष्ट न होगी; किन्तु बराबर क्लेश देनेके लिए तत्पर ही रहेगी ॥ ११७ ॥

**'कल्पितम्'** इत्यादि । कर्तृत्व आदिके समुच्छेदमात्रसे ही सन्तुष्ट हो जायँगे, यह कहना तो रज्जुसर्पकी निवृत्तिके अनन्तर 'उसको मारेंगे' इस कथनके समान है । रज्जुसर्पकी निवृत्तिके अनन्तर विषयके अभावसे तद्विषयक कोई क्रिया हो ही नहीं सकती, फिर मारना ही कैसे होगा ? जबतक मनकी निवृत्ति न होगी, तबतक कल्पित कर्तृत्वकी निवृत्ति सर्वथा असम्भव है । सकल कल्पनाओंके मूल मनकी निवृत्ति होनेपर कल्पित वस्तुओंकी, कारणकी निवृत्तिसे ही,

मा भूत्तर्हि समुच्छेदः कल्पनं विनिवारय ।
इति चेदिन्द्रियाणि त्वं त्यज यास्यति कल्पनम् ॥११९॥
जीवनायेन्द्रियापेक्षा यदि तर्हि क्षमस्व तत् ।
कल्पनं तावता हानिः का तेऽसङ्गचिदात्मनः ॥१२०॥
जातायां रज्जुविद्यायां सर्पक्लृप्तिर्न दृश्यते ।
इति चेद् दृश्यतेऽस्माभिर्मन्दे तमसि पूर्ववत् ॥१२१॥

निवृत्ति हो जायगी । सन्तोष भी मनोधर्म ही है, इसलिए रज्जुसर्पकी निवृत्तिके अनन्तर उसके मारणके समान सन्तोष भी मनकी निवृत्तिके अन्तर असम्भव ही है ॥ ११८ ॥

**'मा भूत्तर्हि'** इत्यादि ।

शङ्का—मनके समुच्छेदके बिना मनसे कल्पित वस्तुका यदि समुच्छेद नहीं हो सकता, तो उसका समुच्छेद मत हो, किन्तु मन द्वारा कल्पनाकी निवृत्तिसे ही सन्तोष मानेंगे ।

समाधान—यदि कल्पनानिवृत्तिसे ही सन्तोष मानते हो, तो इन्द्रियोंका भी त्याग करो, क्योंकि इन्द्रियोंके रहनेसे बाह्य रूपादि विषयोंकी कल्पना अवश्य होती रहेगी और कल्पनानिवृत्ति ही आपको अभीष्ट है ॥ ११९ ॥

**'जीवनाये०'** इत्यादि । यदि कहो कि इन्द्रियोंके बिना जीवन नहीं हो सकता, अतः उसके लिए इन्द्रियोंका त्याग नहीं कर सकते, तो कल्पनापर भी क्षमा करो, क्योंकि वह भी असङ्ग चिदात्माका क्या अपकार कर सकती है ? कुछ भी नहीं अर्थात् 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः', 'नहि सज्जते' इत्यादि श्रुतियोंसे कल्पना आदि आत्मधर्म नहीं हैं, किन्तु कल्पना वस्तुतः मनोधर्म है, यह दृढ़ निश्चय यदि आपको है, तो वह आत्मामें क्या हानि कर सकेगी ? कुछ भी नहीं । मनोधर्मसे आत्मामें हानि तबतक होगी, जबतक विवेक नहीं होगा । विवेकके अनन्तर मनकी कल्पनासे आत्मामें कुछ हानि नहीं है ।

**'जातायाम्'** इत्यादि ।

शङ्का—आत्मैकत्वज्ञान होनेपर अविद्याकी निवृत्ति अवश्य होती है, क्योंकि अज्ञान और ज्ञानका तम और प्रकाशके समान विरोध है; अन्यथा ज्ञानसे मुक्ति होती है, यह पक्ष ही असंगत हो जायगा; अतः उक्त ज्ञान होनेके अनन्तर अनात्मपदार्थकी अनुवृत्ति नहीं बनती; अतएव 'यह शुक्ति है' ऐसा यथार्थज्ञान होनेपर भ्रमकालके समान तदनन्तर रजतकी अनुवृत्ति नहीं होती ।

न तत्र मृत्युभीतिश्चेन्नाऽत्र जन्मभयं पुनः ।
यदि तत्र तमोदोषः कर्मदोषोऽत्र तत्समः ॥१२२॥
किञ्चाऽनुसृत्य तद्बुद्धिसाम्यमेवमुदीर्यते ।
सर्वसाम्यं न दृष्टान्ते प्रार्थ्यते केनचित् क्वचित् ॥१२३॥
विवक्षितं तु सादृश्यमधिष्ठानं न कल्पितम् ।
अवस्त्वारोप्यमित्येतत्कण्ठं शोषय मा वृथा ॥१२४॥

समाधान—जैसे मन्द अन्धकारमें बाधज्ञानके बाद भी रज्जुसर्पकी प्रतीति होती है, यह अनुभवसिद्ध है, वैसे ही तत्त्वज्ञानके बाद भी प्रारब्धकर्मवश संस्काररूपसे शरीर आदि अनात्म पदार्थोंकी अनुवृत्ति मानी जाती है ॥ १२१ ॥

'न तत्र' इत्यादि । उक्त स्थलमें रज्जुसर्पकी प्रतीति तो होती है; किन्तु उससे मृत्युका भय नहीं होता, तो यहां भी तादृश कल्पनासे पुनर्जन्मका भय नहीं है । किसी वस्तुमें मिथ्यात्वका भान होनेपर उसपर आसक्ति नहीं होती और अनासक्त कर्मादि द्वारा जन्मादिका सम्भव नहीं है । यदि उक्त स्थलमें तमोदोषसे उक्त प्रतीति होती है, तो प्रलयमें भी उसके समान कर्मदोष विद्यमान है अर्थात् प्रारब्धकर्मका शेष रहनेसे बाधित अनात्म पदार्थोंकी भी अनुवृत्ति जीवन्मुक्ति-दशामें होती है, किन्तु मिथ्या प्रतीयमान होनेसे रज्जुसर्प जैसे भयङ्कर नहीं होते, वैसे ही कल्पितकी अनुवृत्ति जन्मान्तरारम्भक नहीं है, अतः ऐसा भान उपेक्ष्य है ॥ १२२ ॥

'किञ्चाऽनुसृत्य' इत्यादि । बाधज्ञानके बाद भी अध्यस्तकी बुद्धि मानकर मन्द अन्धकारमें रज्जुसर्पका दृष्टान्त दिया गया है; वस्तुतः बुद्धियोंमें साम्य विवक्षित नहीं है । तात्पर्य यह है कि भ्रमाधिष्ठान सत्य होता है, कल्पित नहीं । जैसे रज्जुसर्प कल्पित है, किन्तु रज्जुरूप अधिष्ठानमें लौकिक सत्यत्व है, वैसे ही कल्पित अनात्म पदार्थमें कल्पित सत्यत्व है, आत्मामें परमार्थ सत्यत्व है ।

'विवक्षितम्' इत्यादि । दोनों स्थलोंमें अधिष्ठान अकल्पित है और आरोप्य अवस्तु—मिथ्या—है, यह असकृत् कह चुके हैं । इस विषयमें प्रश्नोत्तर द्वारा कण्ठशोषण करना व्यर्थ है, अतः इस विषयमें अधिक पूछना व कहना निष्फल है ॥ १२४ ॥

कल्पितस्याऽनुवृत्त्यर्थं दृष्टान्ताश्चेदपेक्षिताः ।
प्रतिबिम्बादिदृष्टान्ताः शतशोऽथ सहस्रशः ॥१२५॥
स्वानुभूत्यैकसंवेद्या विद्या सर्वेषु वस्तुषु ।
यदि तेऽनुभवो नास्ति तर्हि जन्मास्ति ते ध्रुवम् ॥१२६॥

'कल्पितस्याऽ०' इत्यादि। बाधज्ञानोत्तर कल्पित पदार्थकी अनुवृत्ति होती है, इसमें दृष्टान्त यदि चाहते हैं, तो इसमें सैकड़ों तथा हजारों प्रतिबिम्ब आदि दृष्टान्त हैं। पूर्वाभिमुख पुरुष जब दर्पणमें मुख देखता है, तब उसे अपने मुखका प्रतिबिम्ब पश्चिमाभिमुख तथा ग्रीवास्थ प्रतीत होता है। वहाँ वस्तुतः मुख नहीं हैं, किन्तु दर्पणतलमें ज्ञात होता है। उसमें उत्पादकसामग्रीके न होनेसे प्रतिबिम्ब वास्तविक नहीं है, किन्तु मिथ्या है, ऐसा ज्ञान होनेपर भी सम्मुख दर्पण रहनेपर पूर्ववत् वह प्रतीत होता ही रहता है। असलमें दर्पणोपाधिनिबन्धन प्रतिबिम्ब है, अतः उपाधिकी निवृत्ति होनेसे ही उसकी निवृत्ति होती है, बाधसे नहीं। एवं 'पीतः शङ्खः' यह भ्रम पित्तपीतिमद्रव्यनिमित्तक होनेसे 'शङ्ख श्वेत होता है, पीत नहीं' इस ज्ञानसे निवृत्त नहीं होता, किन्तु निमित्तभूत उक्त द्रव्यके अभावसे होता है। एवं मण्डूकवसाञ्जन आदिके द्वारा ज्ञायमान वंशोरगभ्रम भी वंशज्ञानसे निवृत्त नहीं होता, किन्तु उक्त अञ्जनके अभावसे ही निवृत्त होता है; एवं अलातचक्रादि, चन्द्रादिप्रादेशिकत्वज्ञानादि, शकटस्थ पुरुषको वृक्षादिमें गतिकी प्रतीति तथा शरीराद्यात्म प्रतीति आदि सैकड़ों हजारों भ्रम ऐसे हैं, जिनकी अनुवृत्ति बाधनिश्चयोत्तर भी होती है। वस्तुतः औपाधिक भ्रमकी निवृत्ति उपाधिकी निवृत्तिसे ही होती है, तदन्य अपरोक्ष भ्रमकी निवृत्ति अपरोक्ष तत्त्वसाक्षात्कारसे ही होती है, परोक्षभ्रम परोक्ष यथार्थज्ञानसे निवृत्त होता है, इत्यादि माना जाता है ॥ १२५ ॥

'स्वानुभूत्येक०' इत्यादि। सर्ववस्तुविषयक विद्या स्वानुभूत्यैकसंवेद्य है अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु अपरोक्षात्मक स्वानुभवात्मामें ही अध्यस्त है। अतः यथार्थापरोक्षानुभवरूप स्वात्मा ही उनका अधिष्ठान है, उनकी अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कार ही विद्या है; इसीसे उनकी निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। यदि आपमें उक्त अनुभव नहीं है, तो आपका भावी जन्म अवश्य होगा। उक्त अनुभवके बिना संसारचक्रसे छुटकारा नहीं हो सकता। संसारकी आत्यन्तिक निवृत्ति उक्त अनुभवात्मक विद्यासे मानी जाती है, उपायान्तरसे नहीं, यह अद्वैतसिद्धान्त है ॥ १२६ ॥

किं बहूक्त्या प्रमेयः स्यादज्ञातत्वेन चेतनः ।
सर्वेषामपि मानानामज्ञातत्वाभिभाविनाम् ॥१२७॥
वेदान्तानां विशेषेण निःशेषाज्ञानघातिनाम् ।
अज्ञातश्चेतनो मेयो नाऽज्ञातोऽन्योऽस्ति कश्चन ॥१२८॥
किञ्चाऽऽनन्दाप्तिरूपस्य पुरुषार्थस्य हेतवः ।
वेदान्तास्तेन तन्मेय आनन्दात्मा परः पुमान् ॥१२९॥

**'किं बहूक्त्या'** इत्यादि । अज्ञानके निवर्तक संपूर्ण प्रमाणोंका प्रमेय अज्ञातत्वरूपसे चेतन ही है, दूसरा नहीं है, यही संक्षेपसे कहना प्रमेयके निर्णयके लिए पर्य्याप्त है; अधिक कहना व्यर्थ है । अज्ञान आत्मगत है, अज्ञातज्ञापक प्रमाण कहलाता है । जिसका अज्ञान प्रमाणोंसे निवृत्त होता है, वही वस्तुतः प्रमेय है । विषय स्वयं अप्रकाशात्मक है, अतः उसमें प्रकाशतिरोधान व्यर्थ है, इसलिए प्रमाणोंका विषय साक्षात् प्रमेय नहीं है ॥ १२७ ॥

**'वेदान्तानाम्'** इत्यादि । घटादि तत्-तत् विषयावच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञानकी निवृत्ति चक्षुरादि तत्-तत् प्रमाणों द्वारा होती है, इसलिए व्यवहारदशामें चक्षुरादि प्रमाणोंके प्रमेय घटादि विषय भी कहे जाते हैं, वेदान्त तो निःशेष अज्ञानका—अनवच्छिन्न अज्ञानका—निवर्तक है । वेदान्त द्वारा आत्मज्ञान होनेपर मूल अज्ञानकी निवृत्ति होती है । चेतन अज्ञानावृत होनेसे प्रमाणान्तरसे ज्ञात नहीं होता, किन्तु वेदान्तसे ही ज्ञात होता है, अतः अज्ञात चेतन ही वेदान्त प्रमाणका प्रमेय है, दूसरा नहीं । यद्यपि आत्मा स्वयंप्रकाश है, तथापि स्वगत अज्ञानकी निवृत्तिके लिए वेदान्तप्रमाणकी अपेक्षा करता है । स्वरूपभूत ज्ञान अज्ञानका साधक होनेसे बाधक नहीं हो सकता, इसका निर्णय पूर्वमें हो चुका है ॥१२८॥

ब्रह्मात्मा ही वेदान्तका प्रमेय है, इसमें हेत्वन्तर भी कहते हैं—**'किञ्चाऽऽनन्दा०'** इत्यादिसे ।

आनन्दप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थ जो मोक्ष है, उसका हेतु वेदान्त ही है, इस कारण वेन्दान्तका प्रमेय आनन्दात्मस्वरूप पर ब्रह्म ही है, अन्य नहीं । जिस प्रमाणका जो असाधारण विषय है, उसी प्रमाणसे उस प्रमेयके वास्तविक स्वरूपका निर्णय करना चाहिए है, अतएव गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है—'वेदैरशेषैरहमेव वेद्यः' अर्थात् सब वेदान्तोंसे वेद्य हम ही हैं,

ननु दुर्वारसंसारदुःखसन्दर्भहानतः ।
किमन्यत्सुखमिष्टं स्याद्यस्याऽऽप्तेः पुरुषार्थता ॥१३०॥
नहि भावः सुखं किन्तु स्याद् दुःखाभाव एव तत् ।
लोके हि व्याधिसन्तापविच्छित्तौ सुखतेष्यते ॥१३१॥

दूसरा नहीं । यहाँपर एवकारसे अपनेको ही स्पष्टरूपसे वेदान्तप्रमाणका असाधारण प्रमेय बतलाते हैं, इसलिए प्रमाणान्तर द्वारा भगवत्स्वरूपका निर्णय नहीं हो सकता, 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुति द्वारा 'औपनिषद' इस विशेषणसे उपनिषदैकगम्यत्वका आत्मामें स्पष्ट बोधन किया गया है, इसलिए भी वेदका प्रमेय आत्मा ही है, यह अनायास सिद्ध होता है ॥ १२९ ॥

**'ननु दुर्वार०'** इत्यादि । ब्रह्मात्मसुखस्वरूप मोक्ष पुरुषार्थ है, यह आपने जो कहा, सो ठीक नहीं है, कारण कि दुःखकी निवृत्तिसे अतिरिक्त भावस्वरूप सुख नहीं है । परस्परविरोधिस्वभाव भाव और अभावका ऐक्य हो भी नहीं सकता, इस मतसे शङ्का है । यदि दुर्वार—अवश्य भोक्तव्य—सांसारिक दुःख-समुदायकी हानिसे अतिरिक्त कोई भावात्मक स्वतन्त्र सुखपदार्थ ही नहीं है, तो पुरुषार्थ कैसे हो सकता है ? अतः उसके लिए पुरुषकी प्रवृत्ति भी असम्भव है ॥ १३० ॥

**'नहि भावः'** इत्यादि । लोकमें भावस्वरूप सुख प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु दुःखाभावस्वरूप दृष्ट है । लोकमें व्याधिजन्य सन्तापको देखकर लोग कहते हैं कि अमुक पुरुष बहुत दुःखी हैं, व्याधिकी निवृत्तिके अनन्तर लोग कहते हैं—बड़ी खुशी है कि ईश्वरकी कृपासे अब वह पूर्ण सुखी है, इत्यादि । संसारसे विरक्त पुरुषोंकी प्रवृत्ति भी देखते हैं। वह उनकी प्रवृत्ति सांसारिक दुःखकी निवृत्तिसे अतिरिक्त दुःखनिवृत्तिरूप सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही होती है। सांसारिक दुःखोंका तो वे परिहार करते ही नहीं, किन्तु सहिष्णुतापूर्वक उन्हें सहते हैं । संसारसे विमुख होनेके कारण बहुत सांसारिक दुःख उनको हैं भी नहीं, जिससे कि उनकी निवृत्तिकी इच्छा करें । मुमुक्षुओंकी प्रवृत्ति तो मोक्षके लिए ही होती है, मोक्ष बन्धनिवृत्तिस्वरूप ही है । बन्ध अनर्थकारी होनेसे अनर्थ ही है अर्थात् दुःख ही है, इससे यह सिद्ध हुआ कि दुःखकी निवृत्तिके लिए ही उनकी भी प्रवृत्ति है, अतिरिक्त सुखके लिए नहीं ॥ १३१ ॥

यदि भावः सुखं तर्हि न प्रवृत्तिर्विरागिणाम् ।
तदासक्त्या प्रवृत्तिश्चेद्भवेत्संसार एव सः ॥१३२॥
स्वरूपं चेत्सुखं तच्च नाऽवेद्यं पुम्भिरर्थ्यते ।
वेद्यत्वे कर्मकर्तृत्वमेकस्यैव प्रसज्यते ॥१३३॥
तस्मान्न भाव आनन्दो मोक्षे यः प्राप्यते नृभिः ।
अतो वेदान्तमेयत्वे आनन्दत्वमसाधकम् ॥१३४॥

विरक्तोंकी भावात्मक सुखविशेषके लिए यदि प्रवृत्ति हो, तो उसमें दोष भी होगा, उसे कहते हैं—'यदि भावः' इत्यादिसे ।

यदि सुख भावस्वरूप है, तो मोक्षसुखके उद्देश्यसे विरक्तोंकी प्रवृत्ति न होगी, क्योंकि भावस्वरूप सुखसे वे पूर्ण विरक्त हैं । यदि मोक्षके लिए प्रवृत्ति न होगी, तो संसार होगा ही ॥ १३२ ॥

'स्वरूपं चेत्सुखम्' इत्यादि । भावस्वरूप सुखमें और भी शङ्का है— उक्त सुख असंवेद्यत्वरूपसे वर्तमान होकर पुरुषार्थ होता है अथवा ज्ञातत्व-रूपसे ? प्रथम पक्षमें अविज्ञात सुवर्णादिनिधिके समान वह पुरुषार्थ हो ही नहीं सकता । द्वितीय पक्षमें अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप होनेसे पुरुष द्वारा अर्थ्यमान न होनेके कारण वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता । एक ही में एक क्रियानिरूपित कर्तृत्व और कर्मत्व परस्पर विरुद्ध होनेके कारण वे एकत्र समाविष्ट नहीं हो सकते । परसमवेतक्रियाजन्य फलवान् ही कर्म माना जाता है, अतएव स्वग्रामसंयोग यद्यपि स्व और ग्राम दोनोंमें है, तथापि ग्राम ही कर्म कहलाता है, स्व नहीं । ग्राम-संयोगके आश्रयमें ही तज्जनक क्रिया समवायसे रहती है, दूसरेमें नहीं । इसीसे कितना भी निपुण कारीगर क्यों न हो, लेकिन स्वयं वह स्वस्कन्धारोहण नहीं कर सकता । इस प्रकार ब्रह्मात्मस्वरूप मोक्षको आत्मा कैसे प्राप्त कर सकेगा ? क्योंकि एक तो वह आत्मस्वरूप होनेसे नित्य प्राप्त है । दूसरा बाधक यह है कि प्राप्तिक्रियाका कर्म और कर्ता एक ही आत्मा कैसे होगा ? तथा मोक्ष-सुखवेद्य ही पुरुषार्थ होता है, अवेद्य नहीं । मोक्षके आत्म-स्वरूप होनेसे वेदन-क्रियाका कर्तृत्व-कर्मत्व एक ही में प्रसक्त होता है, जो सर्वथा असम्भव है, इसलिए आत्मस्वरूप मोक्षको पुरुषार्थ मानना युक्तियुक्त नहीं है ॥ १३३ ॥

'तस्मान्न' इत्यादि । मोक्षदशामें उक्त युक्तिसे भावरूप आनन्द पुरुषार्थ नहीं है, जो मनुष्योंको प्राप्त हो, इस कारण वेदान्तमेयत्वमें आनन्दत्व साधक

उच्यते सुखदुःखे द्वे भावरूपे गवाश्ववत् ।
स्पष्टमेवाऽनुभूयेते सुखस्याऽभावता कुतः ॥१३५॥
नदीमग्नार्द्धकायस्य युगपत्सुखदुःखयोः ।
शैत्यौष्ण्यजन्ययोर्ग्रीष्मेऽनुभूतिः केन वार्यते ॥१३६॥

नहीं है, अद्वितीयात्मामें वेदान्त प्रमाण है, यह आप मानते हैं, पर विचार करनेपर यह सिद्ध नहीं होता, कारण कि प्रमाण वह कहलाता है जो सप्रयोजन अनधिगत अर्थका ज्ञापक हो। आत्माको आनन्दस्वरूप माननेसे प्रयोजन तो कह सकते हैं, किन्तु नित्य प्राप्त तथा स्वस्वरूप होनेसे उसे प्राप्तियोग्य नहीं कह सकते, इसलिए अपुरुषार्थ उक्त आनन्द सप्रयोजन नहीं है, अतः उसका ज्ञापक वेदान्त प्रमाण नहीं है और उक्त स्वरूप आत्मा उसका प्रमेय नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—प्रमेयत्वमें आनन्दत्व साधक नहीं है ॥ १३४ ॥

दुःखका ध्वंस ही सुख है, तदतिरिक्त भावस्वरूप नहीं, इस मतका खण्डन करते हैं—'**उच्यते सुखदुःखे**' इत्यादिसे ।

जैसे गाय और अश्व—ये दोनों परस्पर अभावात्मक नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र दोनों भाव पदार्थ हैं, वैसे ही सुख और दुःख—ये भी दोनों परस्पर अभावात्मक नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र दोनों भावात्मक अनुभूत हैं । अतः सुख और दुःख अभावस्वरूप नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र भाव पदार्थ हैं, यह व्यवस्था सर्वानुभवसिद्ध है । अनुभवसिद्ध पदार्थोंकी अननुभूतरूपसे व्यवस्था करनेपर शिष्योंको अविश्वास होनेसे उपायमें श्रद्धापूर्वक किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, ऐसी अवस्थामें उपायका उपदेश ही व्यर्थ हो जायगा ।

'**नदीमग्नार्द्ध०**' इत्यादि । यदि दुःखाभावस्वरूप सुख होता, तो एक पुरुषमें युगपत् सुख और दुःखका अनुभव न होता, क्योंकि भाव और अभावका युगपत् एकत्र सहावस्थान कहीं नहीं देखा गया है । आधे डूबे हुए पुरुषको ग्रीष्म-कालमें जलमग्नार्द्धकायावच्छेदेन शैत्यजन्य सुखोपलब्धि और ग्रीष्मातपसंयुक्त कायावच्छेदेन आतपजन्य दुःखोपलब्धि युगपत् होती है, इसलिए ये दोनों स्वतन्त्र भावस्वरूप हैं ।

शङ्का—यद्यपि दुःखाभावस्वरूप ही सुख है, तथापि एक पुरुषमें युगपत् दोनोंकी [illegible] पायी जाती है । जैसे संयोग और उसके अभावकी

**मनसः क्रमबोधित्वाद् यौगपद्यं न यद्यपि ।**
**न तावताऽपराधेन दुःखभावत्वमापतेत् ॥१३७॥**

एक ही समयमें एक ही अधिकरणमें मूल, शाखा आदि अवच्छेदकके भेदसे प्रतीति होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी माननेसे कोई आपत्ति नहीं है ।

समाधान—वृक्षमें आरम्भक अवयवरूप प्रदेश हैं, इसलिए प्रदेशके भेदसे संयोगादिमें उक्त व्यवस्था बन सकती है । आत्मा तो निष्प्रदेश है, अतः प्रकृतमें प्रदेशके भेदसे उक्त व्यवस्था नहीं हो सकती । यद्यपि देहमें प्रदेश हैं, तथापि वह अचेतन है, इस कारण उसमें सुख और दुःख नहीं माने जा सकते । देहावयवावच्छिन्न आत्मामें दोनोंकी स्थिति माननेमें अवच्छेदक देहावयव ही भिन्न है, तदवच्छिन्न आत्मा नहीं, अतः एक ही जगह एक समयमें प्रतीयमान सुख और दुःख स्वतन्त्ररूपसे भावस्वरूप ही हैं । इसलिए सुख अभावस्वरूप और दुःख भावस्वरूप है, यह व्यवस्था ठीक नहीं है । एवं यह भी तर्क हो सकता है कि सुख ही भावस्वरूप है और दुःख सुखाभावस्वरूप है । इसमें क्या विनिगमक है कि आपकी ही व्यवस्था ठीक है, दूसरेकी नहीं ॥ १३६ ॥

**'मनसः क्रम०'** इत्यादि । यदि एक कालमें एक आत्मामें सुख और दुःखकी प्रतीति वस्तुतः प्रमात्मक होती, तो दुःखाभावात्मक सुख है, यह कथन युक्त होता, किन्तु ऐसा है नहीं ।

शङ्का—युगपत् दो ज्ञानोंकी उत्पत्तिके वारणके लिए मनको अणु मानते हैं । तथापि अनेक इन्द्रियजन्य अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्तिका वारण नहीं होता है । यदि कहो कि मनका संयोग एक कालमें एक ही इन्द्रियके साथ होता है । मनःसंयुक्त इन्द्रिय ही ज्ञानजनक है, तदसंयुक्त नहीं । अतः जहाँ कहीं दीर्घशष्कुलीके भक्षण आदिमें अनेक ज्ञानकी उपलब्धि होती है, वहां यौगपद्यांशमें भ्रम माना जाता है । क्षण अतिसूक्ष्म है, इसलिए अतिसूक्ष्म क्षणोंका अवधारण नहीं होता, किन्तु स्थूल क्षणोंका ही अवधारण होता है । उत्पलशतपत्रव्यतिभेद अयुगपत् क्षणोंमें होता है, फिर भी उसमें यौगपद्यकी प्रतीति भ्रमात्मक है, तो भी प्रकृतमें सुख और दुःखका संवेदन मनसे होता है, इन्द्रियान्तरसे नहीं, इसलिए मनके अणु होनेपर भी मनःसंयुक्त आत्मामें दोनोंकी युगपत् उपलब्धिमें कोई बाधक नहीं है ।

समाधान—आत्मामें सुख और दुःखकी उत्पत्ति होनेपर ही उनका अनभव

तृप्ता अपि च दाक्षिण्याद् भुञ्जानाः सुखमाप्नुयुः ।
अनातुरोऽपि चाऽभ्यङ्गे मर्दनात् सुखमश्नुते ॥१४१॥
सुखोपायविहीनानां क्वाप्यानन्दमपश्यताम् ।
मर्दनादेः पुरा दुःखं कल्प्यमित्येतदप्यसत् ॥१४२॥

'**तृप्ता**' इत्यादि। दुःखके अनन्तर सुखोत्पत्ति अवश्य होती है, यह भी आपका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जो तृप्त हैं अर्थात् जिन्हें बुभुक्षाजन्य दुःख नहीं है वे भी प्रेमाग्रहवश भोजन करते हैं। वे भी भोजनजन्य सुखके भागी होते हैं। तथा जो अनातुर हैं—वातादिरोगजन्य शरीरपीड़ा जिनको नहीं हैं—अर्थात् पूर्वमें कोई दुःख नहीं है, उनको भी शरीरमर्दनजन्य सुख होता है। थके हुए या वातादि रोगग्रस्तको जो शरीरमर्दनजन्य सुख होता है, सो दुःखपूर्वक है, किन्तु उक्त दुःखशून्यको भी उक्त कारणसे उक्त कार्य होते हैं, इसलिए दुःखपुरःसर ही सुख होता है, ऐसा नियम नहीं है, सुख तथा दुःखकी उत्पत्तिमें उक्त आनन्तर्यका नियम नहीं है।

शरीरपीड़ाके बिना भी मर्दनजन्य सुख देखकर मेरे कहे हुए नियमका भङ्ग जो आप करते हैं, वह ठीक नहीं है, कारण कि वहाँ भी मर्दनाभावप्रयुक्त दुःख पूर्वमें अवश्य रहता है। मर्दनसे उस दुःखकी निवृत्तिसे सुखव्यवहार होता है, इसलिए मेरे द्वारा कहे गये नियमका भङ्ग नहीं है ॥ १४१ ॥

शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'**सुखोपाय०**' इत्यादिसे।

सुखोपायशून्य अतएव कहीं भी आनन्दानुभव जिनको नहीं है, उनमें भी मर्दनसे पूर्व दुःखकी कल्पना करना असत् है। तात्पर्य यह है कि जिन्हें सुख और दुःख क्रमशः प्रतीत होते हैं, उनमें सुखसे पूर्व दुःखकी कल्पना हो सकती है, किन्तु जिनमें सुखोपायाभावप्रयुक्त दुःख निश्चित है, उनमें दुःखकी कल्पना समीचीन नहीं है, क्योंकि अक्लृप्तकी कल्पना होती है, क्लृप्तकी नहीं। तत्-तत् दुःखकी निवृत्ति तत्-तत् सुखरूप पुरुषार्थ है, ऐसा माननेसे भी मर्दनाभावप्रयुक्त दुःख यदि अनुभूयमान नहीं है, तो जिहासित न होनेसे पुरुषार्थ भी नहीं है। और जो सर्वथा दुःखसे रहित रम्भा आदि हैं, वे भी सुखहेतु नृत्य, गीत, वाद्य आदिमें प्रवृत्त देखे जाते हैं। नृत्यादिका दर्शन दुःखध्वंस सुखमें कारण

चन्दनादिसुखोपायसम्पन्नाः सुखिनोऽप्यलम् ।
पुत्रजन्मादिवार्ताभिः प्राप्नुवन्ति सुखान्तरम् ।।१४३।।
पुत्राद्यप्राप्तिरूपं च दुःखं तत्र न कल्प्यते ।
अप्रतीतेरवेद्यं तु न दुःखं वैरिदुःखवत् ।।१४४।।

नहीं हो सकता, कारण कि अननुभूयमान दुःखध्वंसके अपुरुषार्थ होनेसे उसके लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती ॥ १४२ ॥

'चन्दनादि०' इत्यादि। चन्दनादि सुखके साधनोंसे समुत्पन्न अतएव सुखी मनुष्य भी पुत्रजन्मादि शुभ संवादका श्रवण कर अनिर्वचनीय सुखातिशय पाते हैं, इसलिए भी दुःखध्वंससे अतिरिक्त सुखको मानना चाहिए, अन्यथा पूर्ण सुखियोंमें यदि दुःख हुआ ही नहीं, तो दुःखध्वंस सुख क्यों कहलायेगा ?

शङ्का—यदि उपायसम्पत्तिसे सम्पूर्ण सुख प्राप्त है, तो फिर उस सुखकी इच्छासे तदुपायमें प्रवृत्ति क्यों होती है, अप्राप्त अर्थविषयक इच्छासे ही तदधीन प्रवृत्त्यादि होते हैं, इष्टकी प्राप्ति इच्छाकी निवर्त्तिका है, इच्छाके बिना प्रवृत्ति ही असम्भव है ।

समाधान—ठीक है, इसीलिए तो सुखान्तर कहा गया है अर्थात् प्राप्त सुखसे अतिरिक्त अप्राप्त पुत्रोत्पत्ति आदिसे जन्य सुख प्राप्त होता है ॥ १४३ ॥

'पुत्राद्य०' इत्यादि। जिस सुखान्तरपरिपूर्ण पुरुषमें पुत्रोत्पत्तिश्रवणजन्य सुखान्तरकी प्राप्ति होती है, उस पुरुषमें पुत्राप्राप्तिजन्य दुःखध्वंस ही सुख है, इसका निराकरण करते हैं—पुत्राप्राप्तिसे दुःखकी कल्पना नहीं कर सकते, कारण कि वह प्रतीयमान नहीं है ।

शङ्का—अननुभूयमान भी दुःख वहांपर है, ऐसा कहनेमें क्या दोष है ? अवेद्यमान दुःख वैरीके दुःखके समान दुःख नहीं है, इसीसे आत्मीय दुःखसे श्रोता पुरुषको भी दुःख होता है, इसलिए 'वैरिदुःख' कहा। वैरीका दुःख सुनकर लोग दुःखी नहीं होते, प्रत्युत अधिक प्रसन्न होते हैं, अतः यही कामना करते हैं कि उन्हें और भी अधिक दुःख हो। यदि उसे भी दुःख माना जाता, तो लोग शत्रुके दुःखकी इच्छा न करते, निर्दुःख पुरुषमें पुत्रप्राप्तिजन्य सुख होता है, अतः दुःखध्वंससे अतिरिक्त सुख है, यह सिद्ध हुआ ॥ १४४ ॥

अपुत्रा दुःखिनः केचिद् दृश्यन्ते मनुजा यदि ।
तथाप्यज्ञानतो दुःखं तिरश्चां नैव विद्यते ॥१४५॥
तिर्यञ्चोऽपि स्ववत्सानां लाभे प्रीतिं व्रजन्ति हि ।
प्रीताः पृथग्जिहासन्ति वेदनां ताडनादिजाम् ॥१४६॥
दुःखाभावो यदि प्रीतिर्जिहासाप्रेप्सयोर्भिदा ।
लुप्येताऽतः प्रेप्सितैषा प्रीतिर्दुःखं जिहासिता ॥१४७॥

'अपुत्रा' इत्यादि । पुत्ररहित पुरुषमें पुत्राप्राप्तिजन्य दुःखके देखनेसे पूर्ण सुखी पुरुषमें भी पुत्राप्राप्तिजन्य दुःखकी कल्पना होती है, अतएव उक्त नियमका भङ्ग नहीं है, इसलिए दुःखध्वंस ही सुख है, अतिरिक्त नहीं, इसका भी खण्डन करते हैं—पशु-पक्षियोंको भी अपत्यकी उत्पत्तिसे सुख होता है, किन्तु उनको अपत्यकी अनुत्पत्तिसे दुःख होता है, यह नहीं कह सकते, कारण कि उन्हें उसका अज्ञान है । अज्ञात दुःख नहीं माना जाता ॥ १४५ ॥

'तिर्यञ्चोऽपि' इत्यादि ।

शङ्का—पशु-पक्षियोंको अज्ञानवश यदि दुःख नहीं है, तो उनमें वत्सोत्पत्ति-प्रयुक्त सुख भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि दुःखकी तरह सुख भी अज्ञातसत्ताक नहीं माना जाता, अज्ञान दोनोंमें समान ही कह सकते हैं ।

समाधान—पशु आदिको सन्तानसे सुख होता है, इसके ज्ञापक कायचेष्टा आदि लिङ्ग स्पष्ट ही हैं । वे वत्सप्रतिकूल प्राणियोंसे सर्वतोभावेन वत्सादिकी रक्षा करते हैं यदि उनमें प्रेम न होता, तो उनकी रक्षाके लिए अपनेको भी संकटमें न डालते यह तो अति स्पष्ट है, अतः इसमें अधिक कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है । सुख प्राप्ति और दुःखध्वंस—ये दोनों प्राणिमात्रको इष्ट हैं । 'सुखं प्राप्नुयाम्' सुखप्राप्ति की इच्छा और 'दुःखं मा भूत्' यह दुःखकी जिहासा सम्पूर्ण प्राणियोंको होती है इसलिए प्रेप्सा और जिहासाके भेदसे दोनों पृथक् पृथक् पदार्थ हैं, यह स्पष्ट ज्ञात होता है । वत्स आदि जन्य सुखमें प्रेप्सा और ताडन आदिसे जन्य दुःखमें जिहासा होती है, अतः स्पष्ट ही दोनोंमें भेद है ॥ १४६ ॥

'दुःखाभावो' इत्यादि । दुःखका अभाव ही यदि प्रीति—सुख—है, तो प्रेप्सा और जिहासाका भेद ही लुप्त हो जायगा, कारण कि प्रेप्सित ही सुख है, औ

लौकिकस्य सुखस्यैवं भावत्वे सुस्थिते सति ।
वैदिकस्याऽपि भावत्वमैकार्थ्याल्लोकवेदयोः ॥१४८॥
वेदोऽपि शुद्धमात्मानं सुखं मुख्यं प्रदर्शयन् ।
अनात्मानं तथा दुःखं तयोर्भावत्वमिच्छति ॥१४९॥
तदेतत्प्रेय इत्यादिवाक्येभ्योऽनेकधा श्रुतम् ।
तथाऽऽत्मनस्तु कामायेत्यतो भावः सुखं भवेत् ॥१५०॥

---

जिहासित ही दुःख है अर्थात् प्रकृष्ट इच्छाका विषय सुख और जिहासाका विषय दुःख—यह इनका विविक्तस्वभाव है ॥ १४७ ॥

'लौकिकस्य' इत्यादि । उक्त रीतिसे लौकिक सुख भावस्वरूप है, यह निश्चय होनेपर वैदिक सुख भी भावस्वरूप है, यह अनायास सिद्ध हो जाता है, क्योंकि लौकिक पदपदार्थोंके विषयमें 'य एव लौकिकाः त एव वैदिकाः' अर्थात् जो लौकिक हैं वे ही वैदिक हैं—उनमें भेद नहीं है, यही आचार्योंका सिद्धान्त है, इसलिए मोक्षरूप वैदिक सुख भी भावस्वरूप ही है, यह सिद्ध हुआ ॥ १४८ ॥

'वेदोऽपि' इत्यादि । आत्मसुख भावस्वरूप है, यह केवल न्यायसे ही सिद्ध नहीं है, किन्तु वेदसे भी यही सिद्ध होता है, क्योंकि अशनायादि विशेषधर्मशून्य अलौकिकसुखात्मक सकलविविधदुःखशून्य आत्मस्वरूप मोक्ष ही परम-पुरुषार्थ है, यह वेद भी कहता है ॥ १४९ ॥

कौन वेद ऐसा कहता है ? इस अपेक्षासे उक्त अर्थमें वैदिक वाक्य उद्धृत करते हैं—'तदेतत्प्रेयः' इत्यादिसे ।

'तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' लोकमें पुत्रप्रिय होता है, यह प्रसिद्ध है, इससे भी प्रियतर आत्मा है, एवं वित्त—हिरण्यादि—प्रिय हैं तथा अन्य भी जो लोकमें प्रियत्वेन प्रसिद्ध हैं, उन सबसे प्रियतर आत्मा है, क्योंकि आत्मा ही सबसे प्रियतर है, प्राण आदि नहीं ।

उत्तर देते हैं—'अन्तरतरम्' बाह्य पुत्र, वित्त आदिसे प्राणपिण्डसमुदाय अभ्यन्तर है, अर्थात् आत्माके अति सन्निकृष्ट है । प्राणपिण्डोंसे भी अन्तरतर यह आत्मा है । जो जिसकी अपेक्षासे सन्निकृष्ट है, वह उसकी अपेक्षासे प्रियतर है । आत्मासे अतिरिक्त आत्माके कोई अतिसन्निकृष्ट है नहीं, इस कारणसे आत्मा निरतिशय प्रेमास्पद है ।

यदुक्तं भावरूपत्वे रागात्तत्र प्रवृत्तितः ।
मोक्षः संसार एवेति त्वत्पक्षेऽपि समं हि तत् ॥१५१॥
संसारदुःखद्वेषेण दुःखोच्छेदाख्यमोक्षके ।
प्रवृत्तेः संसृतित्वं ते मुक्तेः केन निवार्यते ॥१५२॥
पुरुषार्थाभिसम्बन्धात् द्वेषस्यापि विरागिता ।
यदि तर्ह्येष रागोऽपि सिद्ध्यै चात्रेति तुष्यताम् ॥१५३॥

---

जो निरतिशय प्रेमास्पद है, वह प्रयत्नसे लब्धव्य है । आत्मा सब लौकिक प्रियसे प्रियतम है, यह उक्त श्रुतिका अर्थ है । एवं 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' पतिके प्रयोजनके लिए स्त्रीको पति-प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मप्रयोजनके लिए स्त्रीको पति प्रिय होता है । सारांश यह है कि सबकी निरुपाधि प्रीति आत्मामें ही होती है, अन्यमें आत्माके उपकारकरूप प्रीति होती है, अतः लोक और वेदसे परमप्रेमास्पद आत्मा ही है, वही मोक्षसुख है, तदन्य सब अनात्म पदार्थ कल्पित तथा विनाशी असुखस्वभाव हैं । अज्ञानवश मूढको सुखस्वभाव प्रतीत होते हैं, यह अद्वैतवेदान्तका निष्कर्ष है ॥ १५० ॥

'यदुक्तं भावरूपत्वे' इत्यादि । यदि आत्मा भावसुखस्वरूप है, तो मुमुक्षुकी प्रवृत्ति मोक्षरागसे ही मानोगे, रागमूलक प्रवृत्तिका फल तो संसार ही है, उसकी निवृत्ति नहीं, यह शङ्का आपके मतसे भी है, क्योंकि आप दुःखध्वंसको मोक्ष मानते हैं, इसलिए दुःखद्वेषसे ही तदुच्छेदात्मक मोक्षमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति मानियेगा, द्वेषमूलक प्रवृत्तिका फल भी संसार ही है, अतएव 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' इस न्यायसूत्रमें राग द्वेष और मोह—इन तीनोंको दोष कहा गया है, और इन्हीं तीनोंसे प्रवृत्तिका फल संसार ही बतलाया है ॥ १५१ ॥

'संसारदुःख०' इत्यादि । संसारदुःखमें द्वेष होनेसे मोक्षमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति होती है, इस मतमें भी उक्त प्रवृत्ति द्वेषाधीन होनेसे आपके मतमें संसार ही उक्त प्रवृत्तिका फल होगा, तन्निवृत्ति नहीं अर्थात् मुक्तिमें संसारत्वप्रसक्तिका परिहार किस उपायसे कीजियेगा ? किसीसे नहीं हो सकता ॥ १५२ ॥

'पुरुषार्थाभि०' इत्यादि । हमारे मतमें मिथ्याज्ञाननिमित्तक द्वेषसे मुमुक्षुकी प्रवृत्ति मोक्षार्थ नहीं है, किन्तु विवेकपूर्वक उक्त प्रवृत्ति होती है । मिथ्याज्ञान-

दुःखद्वेषो द्वयोस्तुल्यो रागिता तेऽधिकेति चेत् ।
तवाऽपि गुरुशास्त्रादाविच्छायां किं न रागिता ॥१५४॥

निमित्तक दोषाधीन प्रवृत्तिका फल संसार है, तो हमारे मतमें भी मिथ्याज्ञान-निमित्तक रागाधीन प्रवृत्तिका फल संसार है। विवेकनिमित्तक रागाधीन प्रवृत्तिका फल अपवर्ग है। यह समाधान तुल्य ही है। इसीसे सन्तोष कीजिये। वस्तुतस्तु संसारद्वेषसे अपवर्गमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति नहीं, किन्तु संसारोद्वेगसे। द्वेष और उद्वेग एक नहीं हैं, किन्तु परस्पर भिन्न हैं। द्वेषका कारण मिथ्याज्ञान है और उद्वेगका कारण संसारासारतातत्त्वदर्शन। इससे हमारे मतमें भी रागसे मोक्षमें प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु निरतिशयानन्द श्रद्धासे होगी। राग और श्रद्धा एक नहीं है, क्योंकि राग मिथ्याज्ञानसे होता है और श्रद्धा विवेकसे होती है। कारणभेदसे उक्त पदार्थ परस्पर भिन्न है। यदि इच्छामात्रको राग कहिये, तो विविक्त—एकान्त—देश, गुरु आदिके श्रवणादिकी इच्छा भी राग कह सकते हो। यदि ऐसा मानें, तो तत्त्वज्ञानोपाय ही लुप्त हो जायगा। यदि कहो कि तत्त्वज्ञानोपायरूपसे विहित है, इसलिए यह राग बन्धनहेतु नहीं है, तो मोक्षेच्छा—मुमुक्षुत्व—भी शास्त्रज्ञानाङ्ग होनेसे दूषित नहीं है, किन्तु उक्त फलार्थीके लिए उपादेय ही है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'सिद्ध्यै' इत्यादि। यह राग मोक्षसिद्धिके लिए है ॥१५३॥

'दुःखद्वेषो' इत्यादि। दुःखध्वंस मोक्ष है, आत्मसुख मोक्ष है—इन दोनों मतोंमें दुःखद्वेष समान ही है। क्योंकि संसारके दुःखोंसे संतप्त होकर मुमुक्षु संसारसे पराङ्मुख होकर मोक्षमार्गमें निरतिशय नित्य सुखके लिए प्रवृत्त होता है। यह आपका मत है, सांसारिक दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिए उक्त अधिकारी प्रवृत्त होता है। यह मेरा मत है, दुःखद्वेषसे ही तज्जिहासा होती है। यह हम दोनोंके मतसे समान है, फिर आप सुखको भावस्वरूप मान कर उसमें रागाधीन प्रवृत्ति मानते हैं, यह अंश अधिक है। द्वेष और राग दोनों आपके मतमें प्रवृत्तिके कारण होते हैं। और मेरे मतमें केवल द्वेष ही प्रवृत्ति कारण माना जाता है। इसलिए आपके मतकी अपेक्षासे मेरा मत न्याय्य है, यह कथन भी ठीक नहीं है, कारण कि उक्त कारणमात्रसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रवृत्तिमात्रमें इष्टसाधनताज्ञान कारण है। इसलिए दुःख-द्वेषसे तदुच्छेदोपायतत्त्वज्ञानार्जनके लिए गुरुके समीपमें गमन वेदान्तशास्त्रों प्रवण

तस्मादानन्दभावत्वे मोक्षे किञ्चिन्न दुष्यति ।
तस्याऽनतिशयत्वेन पुरुषार्थः परो मतः ॥ १५५॥
अथ ये शतमित्यादिवाक्याच्छतगुणोत्तरः ।
उत्कर्षोऽवसितो यत्र मोक्षानन्दः स उच्यते ॥१५६॥

---

मनन आदिमें उसकी इच्छाके बिना प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ? अतः प्रवृत्तिके लिए उसमें राग मानना आपको भी अनिवार्य है। यदि कहो कि उसके उच्छेदके उपायकी इच्छा—राग—होनेपर भी वह बन्धनकी हेतु न होनेसे त्याज्य नहीं है, तो मेरे मतमें भी मोक्षेच्छा—राग—होनेपर भी वह मोक्षमें कारण है, इसलिए अनुपादेय नहीं, यह समाधान भी तुल्य ही है ॥ १५४ ॥

अतएव मोक्ष भावस्वरूप है, तो भी कोई दोष नहीं है, यही उपसंहार करते हैं—'तस्मादा०' इत्यादिसे ।

चूँकि मोक्षेच्छारूप राग दोष नहीं है, किन्तु मोक्षरूप अभीष्टमें कारण है, अतः मोक्षको भावस्वरूप माननेपर भी कोई दोष नहीं है, मोक्षरूप सुख इतर सुखोंकी अपेक्षा विलक्षण, नित्य और निरतिशयात्मक है, अतः वह परम पुरुषार्थ माना जाता है। लौकिक—वैषयिक—सुख भी पुरुषार्थ अर्थात् पुरुषों द्वारा प्रार्थ्यमान है, इसलिए वह पुरुषार्थ तो है, परन्तु विषयाधीन होने तथा सातिशय होनेसे नित्य सुखार्थियोंके लिए पुरुषार्थ नहीं है। किन्तु सांसारिक पुरुषोंके लिए पुरुषार्थ है। संसारसे पराङ्मुख मुमुक्षुओंके लिए मोक्ष ही नित्य निरतिशयात्मक होनेसे परम पुरुषार्थ है। मोक्षरूप पुरुषार्थमें नित्यत्व और निरतिशयत्व प्रयुक्त ही परमत्व है। अनतिशयत्व उपलक्षण है अर्थात् उससे नित्यत्व भी विवक्षित है ॥ १५५ ॥

'अथ ये' इत्यादि । आनन्दवल्लीमें 'अथ ये शतम्' इत्यादि प्रबन्धसे मनुष्यके आनन्दसे लेकर इन्द्र आदि पर्यन्त शतगुण अधिक आनन्दका वर्णन कर सर्वोत्कृष्ट अर्थात् जिससे परे आनन्द नहीं है ऐसे आनन्दकी परा काष्ठा आत्मस्वरूप ही है ऐसा कहा गया है, वही नित्य तथा निरतिशय है। जो आनन्द क्रियाजन्य है, वह अधिकारी कर्ताके तारतम्यसे उत्कृष्ट और अपकृष्ट होता है और जो आनन्द अकार्य अर्थात् नित्य है, वह तारतम्यसे शून्य होता है ॥ १५६ ॥

एष ह्येवानन्दयाति जीवान् सर्वानिति श्रुतिः ।
लौकिलानन्दलिङ्गेन ब्रह्मानन्दं व्यनक्ति हि ॥१५७॥
न चाऽत्यन्तपरोक्षोऽयमानन्दः प्राणिनां यतः ।
स्वकीयः परमानन्दः सुषुप्तावनुभूयते ॥१५८॥

ब्रह्म सुखस्वरूप है, इसमें श्रुतिरूप प्रमाण देते हैं—'एष ह्येवा०' इत्यादि ।

'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयाति' 'लेटोऽडाटौ' इस सूत्रसे छन्दमें अट्का आगम होनेसे 'आनन्दयाति' यह रूप हुआ है । लोकमें तो 'आनन्दयति' ऐसा रूप होता है, तैत्तिरेय श्रुतिका यह वचन है । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस वेदान्तसूत्रसे 'आकाश' शब्दका प्रयोग ब्रह्ममें होता है, यह सिद्धान्त किया गया है । यह आकाशरूप ब्रह्म यदि आनन्द न होता और साक्षीका प्रेरक न होता, तो कौन जीव चलता और कौन विशेषरूपसे जीता ? कोई भी नहीं, ब्रह्मसे अतिरिक्त सब जड़ हैं । जीव ब्रह्मस्वरूप होनेसे ही चलता तथा श्वास-प्रश्वास लेता है । और आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने-अपने अभीष्टकी प्राप्ति करा कर आनन्दित करता है । 'सैषानन्दस्य मीमांसा' इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है । ब्रह्म ही मोक्ष है, इसलिए मोक्ष भावात्मक सुखस्वरूप है, अतः उक्त श्रुतियां लौकिक आनन्द द्वारा ब्रह्मानन्दकी बोधक हैं । ब्रह्मानन्द लोकमें अप्रसिद्ध है, अतः साक्षात् उसका बोधन कराना असंभव है, इसलिए सबको स्वात्मप्रत्यक्षसिद्ध लौकिक सुख द्वारा ब्रह्मानन्दके बोधनमें श्रुतिका स्वारस्य है । ब्रह्म स्वप्रतिबिम्बभूत जीवको यदि आनन्दित करता है, तो स्वयं आनन्दस्वरूप है । जो अपने अनुयायियोंको धनिक बनाता है वह स्वयं धनी है, इसमें किसी को कभी भी सन्देह नहीं हो सकता ॥१५७॥

आत्मा सुखस्वरूप है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः इस विषयमें विवादका अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं—'न चाऽत्यन्त०' इत्यादिसे ।

आनन्दस्वरूप आत्मा किसीको अत्यन्त परोक्ष नहीं है, किन्तु प्राणिमात्रको प्रतिदिन उसका प्रत्यक्ष होता है, सुषुप्तिकालमें परमानन्दस्वरूप आत्मा सबको अपरोक्ष होता है । यद्यपि उस समयमें उक्तस्वरूप आत्माका अनुभव करते हैं, ऐसा भान नहीं होता, परन्तु जागनेपर सुखसे सोया कुछ भी नहीं जाना. ऐसा स्मरण

स्वानन्दाभिमुखः स्वापे बोध्यमानोऽत एव च ।
पीड्यते स्त्र्यादिसम्पर्कसुखविच्छेदतो यथा ॥१५९॥
यदुक्तं कर्मकर्तृत्वं वेद्यत्वेऽथापुमर्थता ।
अवेद्यत्व इतीदं तु नाऽत्र दोषद्वयं भवेत् ॥१६०॥

---

अवश्य होता है। स्मरण अनुभव और संस्कारके बिना नहीं होता। इसलिए उस समयमें सुखानुभव अवश्य हुआ, यह माना जाता है। इन्द्रियोंका लय होनेसे बाह्य सुखके अनुभवकी सम्भावना ही नहीं होती, इसलिए उस समयमें आत्मस्वरूप सुखका ही अनुभव मानना पड़ेगा। अन्यथा उक्त स्मरणकी अनुपपत्ति होगी। यद्यपि 'दुःखमस्वाप्सम्' अर्थात् मैं दुःखसे सोया यह भी सुप्तोत्थितको परामर्श होता है। इसलिए आत्माको दुःखस्वरूप भी मानना चाहिए, यह शङ्का ठीक नहीं है, कारण कि सुषुप्तिसे पूर्व जायमान दुःखका अनुसंधान कर वैसा कहता है। दुःखपूर्वक सुषुप्ति हुई यह सारांश है। निद्रा राजस, तामस और सात्त्विक भेदसे तीन प्रकारकी होती है, यह योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है, यहां विस्तार भयसे तथा प्रकृतमें उपयोगी न होनेसे इस विषयका संक्षेप ही ठीक है ॥ १५८ ॥

'स्वानन्दा०' इत्यादि। आत्मा सुखस्वरूप है, इसमें सुषुप्तिकालका अनुभव भी प्रमाण है। गाढ़ निद्रामें सोये हुए मनुष्यको, जगानेसे, दुःख होता है, कारण कि उस समय वह सुखका अनुभव करता रहता है, उससे उसका विच्छेद हो जाता है, इसीमें दृष्टान्त देते हैं—विषयासक्त पुरुष यदि कामिनी क्रीडामें प्रसक्त है और उस समय कोई उसको बाहर आनेके लिए बाध्य करता है, तो उसको उस समय स्त्रीसंपर्कजनित सुखसे विच्छेदके कारण दुःख होता है, अतएव धर्मशास्त्रमें कहा है—'शयानं न प्रबोधयेत्'। अर्थात् सोये हुए पुरुषको अनावश्यक न जगाना चाहिए ॥ १५९ ॥

'यदुक्तं कर्म' इत्यादि।

शङ्का—यद्यपि ब्रह्मानन्द मोक्ष है सही, पर वह वेद्य है या अवेद्य? प्रथम पक्षमें द्वैतकी आपत्ति है, क्योंकि वेद्य और वेत्ता—इन दोनोंके बिना वेद्यत्व नहीं बन सकता, अभेदमें कर्मकर्तृविरोध होनेसे वेद्यवेदकभाव ही नहीं बन सकता। द्वितीय पक्षमें अपरुषार्थत्वप्रसक्ति दोष है।

सुखस्य लौकिकत्वेन कथं वेदान्तमेयता ।
इत्यचोद्यं यतोऽखण्डरूपं लोकान्न सिद्ध्यति ॥१६३॥
नेति नेत्यादिवाक्येभ्यो योऽर्थोऽनन्यानुभूतिगः ।
लौकिकत्वं कथं तस्य सर्वमेयातिलङ्घिनः ॥१६४॥

---

इत्यादि श्रुति, स्मृति आदि सगुणब्रह्मविषयक हैं, अतएव निर्गुण ब्रह्मके तात्पर्यसे यतो 'वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'क इत्था वेद यत्र सः' इत्यादि श्रुतिवाक्यसंगत होते हैं, अतः तात्पर्यवृत्तिसे ही शास्त्र मोक्षका बोधक है इसलिए उक्तार्थमें प्रमाण भी है ॥ १६२ ॥

'सुखस्य' इत्यादि ।

शङ्का—मोक्ष यदि सुखस्वरूप है, तो 'अहं सुखी' इत्यादि मानस प्रत्यक्षसे सिद्ध है, अतः उसका बोधक वेद ज्ञातज्ञापक होनेसे उक्त अर्थमें प्रमाण नहीं हो सकता ।

समाधान—लौकिक विषयसे जन्य सातिशय सुख ही मानस प्रत्यक्षका विषय है, अलौकिक निरतिशय नित्य मोक्षस्वरूप सुख लौकिक प्रत्यक्षका विषय नहीं है, अतः उसका बोधक वेदवाक्य अज्ञातज्ञापक होनेसे अवश्य उक्त अर्थमें प्रमाण है, उक्त अर्थका स्पष्टीकरणके करनेके लिए पुनः कहते हैं—'नेति नेत्यादि०' इत्यादि ।

ब्रह्म अन्य प्रमाणोंका गोचर नहीं है, अतः उसमें किसी भी पदका शक्तिग्रह नहीं हो सकता, जब वह पदार्थ ही नहीं हो सकता तब वाक्यार्थ होनेकी सम्भावना ही क्या ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए श्रुति कहती है—'नेति नेति' । इति शब्दका इदं अर्थ है—'इदं न इदं न' । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मके दो स्वरूप—मूर्त और अमूर्त—बतलाये गये हैं, दोनों स्वरूपोंके निषेधके लिए दो नञ् हैं, एकसे मूर्तका निषेध और दूसरेसे अमूर्तका निषेध किया है । केवल प्रकाशस्वरूपके अवशेषके लिए आत्मशब्दका उपादान किया गया है । आत्माका निषेध नहीं हो सकता, वह स्वयंप्रकाश और नित्य है, उसके निषेधमें कोई साक्षी नहीं हो सकता । अन्यके निषेधका साक्षी तो आत्मा है, और यदि आत्माका भी निषेध है, तो उसका अन्य कोई साक्षी नहीं कह सकते, असाक्षिक निषेधमें कोई प्रमाण नहीं है, अप्रामाणिक पदार्थ स्वीकारके योग्य नहीं

है, अतः आत्मा ही सकल अद्वैतके बाधका अधिकरण तथा साक्षी है। अथवा 'नेति नेति' श्रुतिमें वीप्सा विवक्षित है; वीप्सासे ब्रह्मसे अतिरिक्त सकल—प्रत्यक्ष और परोक्ष—द्वैतमात्रका प्रतिषेध विवक्षित है।

शङ्का—ब्रह्ममें सङ्गतिग्रहका उपाय यह है—यद्यपि ब्रह्म अन्य प्रमाणोंका विषय नहीं है, तथापि प्रकाशात्मा होनेसे उसका प्रकाश स्वतः अपरोक्ष है। उपाधियोंका निषेध करनेपर केवल प्रकाशात्मा अवशिष्ट रहता है। वह सबको अपरोक्ष है। कटक, कुण्डल आदिका प्रतिषेध करनेपर भी सुवर्ण अवशिष्ट रहता है। स्वसंवेद्यस्वरूप प्रकाश नहीं भासता है, ऐसा कोई नहीं कह सकता, क्योंकि उसके अवच्छेदक शरीर, इन्द्रिय आदि भी संसारदशामें प्रतीत होते ही हैं, इस कारण 'नेति नेति' वाक्यसे अवच्छेदक शरीरादिका परित्याग करनेपर बृहत्त्व तथा व्यापकत्व द्वारा स्वयंप्रकाश ब्रह्म आत्माका इस वाक्य द्वारा निरूपण कर सकते हैं, उपाधिके निरासकी तरह उपहितका निरास क्यों नहीं करते?

समाधान—इसका उत्तर यह है कि उसका निराकरण असम्भव है, सकल प्रपञ्चविभ्रमका वही अधिष्ठान है, रज्जुके रहनेपर सर्पविभ्रमक होगा, इसलिए अधिष्ठानकी सत्ता पारमार्थिक है। पारमार्थिक वही माना जाता है, जिसकी सत्ताका कभी निषेध न हो, वस्तुतः रज्जुमें सर्पका अध्यास नहीं माना जाता है, किन्तु रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्यमें। अन्यथा रज्जुकी भी पारमार्थिक सत्ताका स्वीकार करना पड़ेगा। और दूसरा यह भी कारण है कि आत्मप्रकाशसे ही प्रपञ्चका प्रकाश होता है।

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'

इस श्रुतिसे यह अर्थ स्पष्ट है।

यदि आत्माका ही प्रतिषेध किया जाय, तो संसारकी प्रथा ही न हो सकेगी, इसलिए आत्माका प्रतिषेध तो कर नहीं सकते, किन्तु उसके अतिरिक्त शरीर, इन्द्रिय आदि निखिल प्रपञ्चका ही 'नेति नेति' से निषेध किया जाता है, इस तरह वेदान्तसे प्रमाणान्तरागोचर सर्वोपाधिरहित आत्माकी अवगति होती है।

शङ्का—'अहं गौरः', 'अहं सुखी' इत्यादि सर्वानुभवसिद्ध कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख आदिसे विशिष्ट आत्मा है, ऐसा ही क्यों नहीं मानते, एवंभूत आत्मामें ही लौकिक तथा परीक्षकोंका आत्मशब्दप्रयोग होता है, 'य एव लौकिकास्त एव

यद्यप्यलौकिकानन्दः स्वर्गो जायेत कर्मभिः ।
तथापि तदनित्यत्वात्पुरुषार्थो न तावता ॥१६५॥

वैदिकास्तथा त एव तेषामर्थाः' जो लौकिक हैं, वे ही वैदिक हैं, लौकिक ही अर्थ वैदिक भी है, इसके अनुसार लोकप्रसिद्ध आत्मामें ही औपनिषद आत्मशब्दका भी प्रयोग उचित है, विलक्षण आत्मामें नहीं ।

समाधान—'अहं' प्रत्ययविषय औपनिषद पुरुष नहीं हो सकता, कारण अहं प्रत्ययविषय कर्ता भोक्ता जो जीवात्मा है, उसका साक्षी औपनिषद आत्मा है ।

शङ्का—आपके मतमें तो जीवात्मा परमात्मा दो पदार्थ नहीं हैं, किन्तु परमात्मा ही अविद्यावश जीवभावापन्न जीव है, अतएव 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुतिमें 'जीवेनात्मना' यह समानाधिकरण्य संगत होता है—'आत्माभिन्नेन जीवेन' यह अर्थ भी सुसङ्गत होता है ।

यदि आत्मा और परमात्माका भेद मानियेगा, तो उक्त सामानाधिकरण्य तथ तदनुसार उक्त बोध असङ्गत हो जायगा ।

समाधान—ठीक है, वास्तविक अभेद ही है, किन्तु औपाधिक भेद भी व्यवहारदशामें मानते हैं । औपाधिकभेदविशिष्ट आत्मा कर्तृत्वादिविशिष्ट 'अहंप्रत्ययगोचर है, यही अलौकिक प्रमाणका विषय है, सकल उपाधिसे शून्य चिदात्म औपनिषद है, यह वेदान्तका निष्कर्ष है । इस तात्पर्यसे कहते हैं—'नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे प्रमाणान्तरका अविषय अतएव निखिल प्रमेयसे विलक्षण किसीका विषय नहीं है, प्रत्युत विषयी है । अतएव यह लौकिक कैसे हो सकता है ? यह अलौकिक अतएव औपनिषद है ॥ १६४ ॥

'यद्यप्यलौकिका०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि अलौकिक आनन्द ही वेदान्तका फल है अर्थात् उच्च अर्थकी प्राप्तिके उपायका प्रतिपादन वेद करता है, तो स्वर्ग भी तो अलौकिक सुख है; उसे भी वेदान्तमेय क्यों नहीं मानते ।

समाधान—वेदान्तका फल नित्य सुख पुरुषार्थ है ? स्वर्ग तो 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इस श्रुति तथा 'स्वर्ग विनाशी, जन्यत्वात्' घटादिवत्' इत्यादि अनुमानसे भी अनित्य है । अतः उससे भिन्न नित्य मोक्षस्वरूप पुरुषार्थके लाभके लिए वेदान्त आवश्यक हैं ॥१६५॥

निःशेषाह्लादसम्प्राप्तिः सर्वानर्थह्नुतिस्तथा ।
सर्वेषां प्राणिनामेतत्स्वत इष्टं प्रयोजनम् ॥१६६॥
यथोक्तपुरुषार्थस्य यद्यप्यात्मस्वरूपता ।
तथाप्यज्ञानमूढेन तदप्राप्तमिवेक्ष्यते ॥१६७॥

'निश्शेषा०' इत्यादि। सम्पूर्ण सुखोंकी प्राप्ति और निखिल दुःखोंकी निवृत्ति—ये दोनों सब प्राणियोंके स्वतः इष्ट प्रयोजन हैं, मुख्य-गौण भेदसे प्रयोजन दो प्रकारका होता है। सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति मुख्य प्रयोजन है और इन दोनोंके साधन गौण प्रयोजन कहलाते हैं। स्वतः इष्ट कहनेसे मुख्य प्रयोजनका लाभ होता है, यह भूतात्मा—अकार्य नित्य आत्मा—ही वेदान्तका मेय है ॥ १६६ ॥

'यथोक्त०' इत्यादिसे।

शङ्का—नित्य निरतिशय सुखस्वरूप आत्मा ही यदि वेदान्तरूप उपायका पुरुषार्थ है, तो यह पुरुषार्थ आत्मस्वरूप होनेसे नित्य प्राप्त ही है, अतएव इसके कारणकी अपेक्षा है ही नहीं, अतः वेदान्तका आरम्भ क्यों किया जाता है ?

समाधान—ठीक कहते हैं—किन्तु जो लोग अज्ञानसे विमूढ़ हैं, वे मोक्षको अप्राप्तके सदृश समझते हैं—इसलिए वे उस उपायकी कामना सतत करते हैं, उनके लिए वेदान्तका आरम्भ आवश्यक है। एवं दुःखकी निवृत्ति भी सदा आत्मामें सिद्ध ही है फिर भी अज्ञानवश आत्मामें दुःख मानकर उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिए उसके निवर्तक उपायकी सतत खोज करते हैं। दृष्ट उपायसे कदाचित् कुछ कालके लिए कुछ क्लेश निवृत्त भी हो जाते हैं, परन्तु सदाके लिए सकल दुःखकी निवृत्ति दृष्ट उपायसे न देखकर आत्यन्तिक और अव्यभिचारी दुःखनिवृत्तिके उपायकी जो लोग इच्छा करते हैं, उनके लिए वेदान्त ही केवल शरण है।

प्राप्तिकर्म दो प्रकारका होता है, एक अप्राप्त ग्रामादि और दूसरा प्राप्त ही अज्ञानवश अप्राप्तके सदृश प्रतीत होता है, जैसे स्वग्रीवास्थ ग्रैवेयक। एवं जिहासितके भी दो भेद हैं, एक अत्यक्तका त्याग जैसे पैरमें लपटा हुआ

अतः सुखेच्छा दुःखस्य जिहासा चाऽनिवर्तिता ।
तन्मूलस्याऽनिषिद्धत्वात्तन्निषेधाय तत्त्वधीः ॥१६८॥

सर्प । दूसरा त्यक्त ही अज्ञानसे अत्यक्तके सदृश होनेसे त्यागेच्छाका विषय होता है । जैसे पैरमें लपटी हुई रस्सीमें सर्पभ्रम होनेपर भ्रमविषय सर्प त्यागेच्छाका विषय होता है । पुरुषकी प्रवृत्ति दोनोंमें समान है; वैसे ही प्रकृतमें सुख-प्राप्ति और दुःखनिवृत्ति—ये दोनों यद्यपि आत्मामें स्वतःसिद्ध हैं, तो भी अज्ञानवश मूढको अप्राप्तके सदृश ही भासते हैं, अतः उनकी प्राप्तिके लिए वेदान्तो-पदेश आवश्यक है । वेदान्तसे यह दृढतासे हृदयङ्गम होता है कि वास्तविक सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति—ये दोनों आत्मामें स्वतःसिद्ध हैं, इनकी प्राप्ति उपाय द्वारा नहीं होगी, किन्तु अज्ञानावृत होनेसे इनका प्रकाश नहीं होता, इसलिए आगन्तुकके सदृश ये अभिलाषाके विषय होते हैं, इनके प्रकाशके लिए केवल आवरक अज्ञानकी निवृत्ति आवश्यक है । जैसे आवृत कूपमें जल न देखनेसे उसमें जल नहीं है, यह निर्णय करना अनुचित है, आवरणके हटानेसे जल स्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही प्रकृतमें उक्त फलके प्रकाशके लिए केवल आवरणका निराकरण अपेक्षित है । अतएव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें प्राणिमात्रकी अनुकम्पासे स्पष्ट ही कहा है कि 'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' अर्थात् अज्ञान—मूलाज्ञानसे—ज्ञानस्वरूप आत्मा आवृत है, इसलिए प्राणी भटकते हैं, प्रकाशके आवृत होनेपर पथिकोंका भटकना स्वाभाविक ही है ॥ १६७ ॥

'अतः सुखेच्छा' इत्यादि । आत्माके अविद्यावृत होनेसे ही प्राणी नित्य प्राप्त सुखकी प्राप्तिकी इच्छा तथा नित्य निवृत्त दुःखकी निवृत्तिकी इच्छा करते हैं ।

यद्यपि इच्छा आगन्तुक पदार्थोंकी होती है, विद्यमानकी नहीं । विषयसिद्धि ही इच्छाकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक है, यह सब शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है तथा लोका-नुभवसे सिद्ध है, क्योंकि बुभुक्षु भोजनकी इच्छा करता है, तृप्त नहीं करता, तथापि उसके प्रकाशकी प्रतिबन्धक अविद्याके रहनेसे आगन्तुकके समान इनकी भी इच्छा मूढ पुरुषोंको होती है, ज्ञानियोंको नहीं होती, कारण कि उनकी अविद्याकी निवृत्ति हो चुकी है । अविद्याके निवर्त्तक तत्त्वज्ञानमें शास्त्रकारोंके अनेक मत हैं—षोडश पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान तत्त्वज्ञान है, यह गौतम महर्षिका मत है, 'सत सत' इस रूपसे गृह्यमाण यथाभूत और अविपरीत तत्त्व होता है, 'असत'

अविद्याव्यवधानस्य नात्मज्ञानातिरेकतः ।
प्रध्वस्तिः कर्मभिः कर्तुं शक्या तेषाममानतः ॥१६९॥

इस रूपसे गृह्यमाण अयथाभूत विपरीत तत्त्व होता है, यह वात्स्यायन मुनिका मत है, जीव और अजीव नामक तत्त्व है, ऐसा आर्हत कहते हैं, द्रव्य और अद्रव्य इस नामके तत्त्व हैं, ऐसा रामानुजीय कहते हैं, महदादि पञ्चविंशति तत्त्व हैं, ऐसा सांख्य कहते हैं, ईश्वरसहित वे ही महदादि षड्विंशतितत्त्व हैं, ऐसा पातञ्जल कहते हैं, अशेषविशेषप्रत्यनीक चिन्मात्र ब्रह्मैक्य ही तत्त्व है, इस प्रकार शाङ्कर मत है, विलम्बित नृत्य, वाद्यादि ही तत्त्व है, ऐसा नाट्य-शास्त्रज्ञ कहते हैं—इत्यादि विप्रतिपत्तियोंसे तत्त्वके विषयमें सब शास्त्रकारोंका ऐकमत्य नहीं है, पर वेदान्तमें ब्रह्म ही एक तत्त्व है, यही वस्तु लोगोंकी अधिक उपादेय है और प्रकृत ग्रन्थ इसीके आधारपर ही चलता है, इसलिए प्रकृतमें ब्रह्मैकत्वज्ञान ही तत्त्वज्ञानसे विवक्षित है, अतः आत्माको आवृत करनेवाली अविद्याकी निवृत्तिके लिए तत्त्वज्ञानकी अपेक्षा है। तत्त्वज्ञानका उपदेश वेदान्तसे ही होता है, इसलिए वेदान्तका आरम्भ आवश्यक है। वेदान्तमें उपदिष्ट तत्त्वज्ञान द्वारा निखिल दुःखकी मूल अविद्याकी निश्शेष निवृत्ति होती है। इसीसे नित्यनिरतिशय मोक्षकी अभिव्यक्ति होती है, अतः मुमुक्षुओंको वेदान्तका अवश्य आश्रयण करना चाहिए ॥ १६८ ॥

'अविद्याव्यवधानस्य' इत्यादि।

शङ्का—मोक्ष नित्यसिद्ध है, पर अज्ञानसे आवृत रहता है, अतः प्रकाश-मान न होनेसे पुरुषार्थ नहीं है। यदि आवरक अज्ञानकी निवृत्तिके लिए तत्त्व-ज्ञानकी अपेक्षा मानते हो, तो कर्मसे ही अज्ञानकी निवृत्ति क्यों नहीं मान लेते?

समाधान—कर्मका अज्ञानके साथ विरोध नहीं है, प्रत्युत अज्ञान कर्मका उपकारक है, अज्ञानकी निवृत्ति प्रमाणज्ञानसे होती है, कर्म प्रमाण नहीं है, इसलिए अज्ञानकी निवृत्तिके लिए वेदान्तप्रमाणकी अपेक्षा अवश्य है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—कर्म अप्रमाण है, इससे अज्ञानका ध्वंस उससे नहीं हो सकता, अतः वेदान्तकी अपेक्षा है ॥ १६९ ॥

शङ्का—आलोक जैसे घटका व्यञ्जक होता है, वैसे ही कर्मको भी मोक्षका व्यञ्जक मान लीजिए, वेदान्तकी क्या आवश्यकता है?

व्यञ्जकं विरहय्याऽन्यत्साधनं कारकात्मकम् ।
आत्माभिव्यक्तये नाऽलं तन्मोहस्याऽप्रदाहतः ॥१७०॥

समाधान—'व्यञ्जकम्' इत्यादि । व्यञ्जक तत्त्वज्ञानको छोड़कर कारक कर्म आत्माभिव्यक्तिके लिए पर्याप्त साधन नहीं है, कारण कि मूलभूत वह उसके मोहका नाशक नहीं है । अज्ञानका मूल मोह जबतक नष्ट न होगा, तब तक अज्ञान नष्ट नहीं हो सकता । कारणके रहनेपर कार्यकी निश्शेष निवृत्ति नहीं होती, अतः उसके फलके साधन कर्ममें व्यञ्जकत्व ही असिद्ध है । यदि कर्म व्यञ्जक ही नहीं है, तो मोक्षाभिव्यञ्जक कैसे हो सकता है ?

शङ्का—अच्छा, कर्म कारक है, इसलिए भले ही वह व्यञ्जक न हो, पर नेत्रादि जैसे सिद्ध घट आदिके व्यञ्जक हैं, वैसे ही उसे सिद्ध मोक्षका व्यञ्जक मानिए, फिर भी वेदान्तारम्भ व्यर्थ ही है ।

समाधान—इन्द्रियाँ आत्मस्वरूप मोक्षकी व्यञ्जक नहीं हो सकतीं, क्योंकि आत्मा स्वयंसिद्ध तथा स्वप्रकाश है । आत्मप्रकाशसे ही इन्द्रियादि द्वारा घटादिका प्रकाश होता है, इसलिए इन्द्रियाँ आत्माकी अभिव्यञ्जक नहीं हो सकतीं, आत्मा तथा इन्द्रियोंके व्यञ्जक न होनेसे वे अज्ञानके निवर्तक नहीं हो सकते, यह फलित हुआ । कर्म तो प्रमाण है ही नहीं । इन्द्रियां प्रमाण हैं, तथापि आत्मा इनका विषय ही नहीं है, 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' इत्यादि श्रुतिसे इन्द्रियां पराग्विषयक अनात्मविषयक ही हैं, प्रत्यग्विषयक नहीं ।

शङ्का—अज्ञानके रहनेपर भी स्वर्गादिके समान मोक्ष भी कर्मसे मान लें, तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—अज्ञानकी निश्शेषनिवृत्ति और नित्य सुखकी प्राप्ति ही तो मोक्ष है, फिर अज्ञानके रहनेपर मोक्ष कैसे हो सकता है; क्योंकि अज्ञाननिवृत्तिस्वरूप ही मोक्ष है ।

शङ्का—यदि कर्म मोक्षका उपयोगी नहीं है; तो मुमुक्षुको सर्वथा कर्मका त्याग ही करना चाहिए ।

समाधान—नहीं, कर्म साक्षात् मोक्षके साधन नहीं हैं, किन्तु अपने-अपने आश्रमविहित प्रकृत कर्मोंके निष्काम अनुष्ठानसे चित्तकी शुद्धि होती है, उसके द्वारा

यावच्च सम्यग्विज्ञानवह्निनाऽसौ न दह्यते ।
न तावत्किञ्चिदप्याप्तं सुखं दुःखेन वर्जितम् ॥१७१॥

कर्म मोक्षोपयोगी होता है । ज्ञानकी उत्पत्ति जबतक न हो, तबतक कर्मका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, उसके बाद तो कर्माधिकार ही नहीं रहता और अनधिकारी द्वारा किये गये कर्मका कुछ फल ही नहीं है, अतः कर्मके अनुष्ठानका अभाव स्वतःसिद्ध होता है; अतएव गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने स्वयं कहा है—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥'

शङ्का—तत्-तत् फलके उद्देश्यसे विहित तत्-तत् कर्मोंके विधिबोधित तत्-तत् फलोंको छोड़कर चित्तशुद्धिरूप फल कैसे होगा ?

समाधान—जैसे निषिद्ध—हनन, सुरापानादि—कर्म श्वा, सूकर आदि निकृष्ट योनियोंसे भोगनेके योग्य विविध दुःखफलक होते हैं, अतः पुरुष उससे विरक्त होता है; वैसे ही काम्य कर्म भी गर्भवासादि अनेक दुःसह दुःखफलक होते हैं, अतः उनसे भी पुरुष विरक्त होता है और 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुति तथा—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
तस्मात् त्वं कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ॥'

इत्यादि भगद्गीताके वचनके अनुसार निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानका फल चित्तकी शुद्धि द्वारा मोक्ष ही मानकर कर्मोंका यथाविधि अनुष्ठान करता है। तबतक कर्म करना आवश्यक है; जबतक आत्मतत्त्वज्ञानरूप अग्निसे संसारका कारण अज्ञान भस्म न हो; सम्यक् ज्ञान होनेपर द्वैतकी अनुवृत्ति होनेपर भी उसमें मिथ्या प्रतीति होनेसे श्रद्धा ही न होगी और श्रद्धाहीन पुरुष कर्म करनेका अधिकारी ही नहीं माना जाता ॥ १७० ॥

अतएव 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' इत्यादि स्मृतियोंसे श्रद्धाहीन पुरुष द्वारा किया गया कर्म निष्फल बतलाया गया है, यह कहते हैं—'यावच्च' इत्यादिसे ।

जबतक मोक्षहेतु उक्त ज्ञानसे अज्ञान नष्ट नहीं होता, तबतक दुःखसे असंमिश्रित मोक्षरूप सुख नहीं मिलता ॥ १७१ ॥

दक्षिणोदगधोगत्या प्रत्यगज्ञानमूढधीः ।
बम्भ्रमीत्यनिशं दुःखी पुमान् कर्मपुरःसरः ॥१७२॥

कर्मकाण्डका वैराग्यके उत्पादन द्वारा मोक्षमें उपयोग बतलाकर वैराग्योत्पादनोपयोगी विविध कर्मफल कहते हैं—'दक्षिणोदग०' इत्यादिसे ।

अज्ञानसे मूढ़बुद्धि जीव अपने किये हुए कर्मोंके फलोंके उपयोगके लिए तीन प्रकारके मार्गोंके द्वारा सदा संततमन होकर स्वर्ग, नरक और मृत्युलोकमें क्रमशः भ्रमण करता है । कहीं भी निश्चिन्त होकर नहीं रहता । यद्यपि स्वर्गसुख अधिक है; फिर भी पुण्यके क्षीण होनेपर पूर्व अवशिष्ट कर्मानुसार उत्तम और निकृष्ट योनिकी प्राप्तिसे युक्त तत्-तत् दुःखादि चिन्तासे स्वर्गभोगदशामें भी निश्चिन्त नहीं रह सकता । और उत्तम स्वर्गभोगीको देखकर वहां भी ईर्ष्याप्रयुक्त दुःख अनिवार्य ही है; अतएव आचार्योंने कहा है—दक्षिणायन, उत्तरायण और अधोगति—ये तीन मार्ग हैं । स्वर्गके साधन श्रौत-स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानियोंकी गति दक्षिणायन मार्गसे होती है । इसको धूम मार्ग भी कहते हैं । इस मार्गसे जानेवालोंको फिर वहाँसे मृत्युलोकमें आना पड़ता है । दूसरा उत्तरायण मार्ग है, जो देवयान तथा अर्चिरादि मार्ग कहलाता है । इस मार्गसे मुमुक्षु तत्त्वज्ञानियोंकी गति होती है । जिनको पूर्ण ब्रह्मज्ञान इसी लोकमें हो जाता है, उनकी इसी मार्गसे गति होती है । 'ब्रह्म समश्नुते' 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इत्यादि श्रुतिसे शरीरपातके अनन्तर ब्रह्मैक्य हो जाता है । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' तब 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुतिसे प्रतिबन्धक न रहनेसे ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मभाव फलमें किसी प्रकारका बिलम्ब नहीं है, यह ज्ञात होता है, किन्तु जो सगुणोपासक हैं, उनको तत्-तत् लोकमें अवश्य जाना पड़ता है, क्योंकि तत्-तत् सगुणोपासनाविधायक वाक्योंमें तत्-तत् लोककी प्राप्ति ही फलरूपसे निर्दिष्ट है ।

यद्यपि मुक्ति फल भी उक्त वाक्योंमें निर्दिष्ट है, तथापि सद्योमुक्ति फल निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु क्रमसे मुक्तिके प्रतिपादनमें उन वचनोंका तात्पर्य है, अतएव—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'

कार्यब्रह्मकी अर्थात् हिरण्यगर्भादि सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले पुरुष हिरण्यगर्भादि लोकमें प्राप्त होकर वहीं ब्रह्मज्ञानसे सम्पन्न होकर लोकाधिपतिके

**सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन्पूर्वार्द्धो निम्लोचन् जघनार्द्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥**

बहता रहता है, इसलिए अनेकत्व और स्यन्दमानत्व साधर्म्य नलियोंमें ही घटता है, इसलिए गुदाकी नलियोंमें नदियोंकी दृष्टि ही विवक्षित है अर्थान्तरकी नहीं। 'यकृच्च क्लोमानश्च' हृदयकी दाहिनी तरफ नीचेकी ओर जो मांसखण्ड रहता है, वह यकृत् कहलाता है और बाईं बगल नीचेकी ओर जो मांसखण्ड रहता है, वह क्लोमा ( प्लीहा ) कहा जाता है। इन दोनोंमें काठिन्य और ऊँचाईके सादृश्यसे पर्वतकी दृष्टि कही गई है। जो फलके पाकसे नष्ट हो जाती हैं, वे औषधियाँ कहलाती हैं, जैसे व्रीहि, यव आदि 'ओषध्यः फलपाकान्ताः' यह अमरकोश है। जो बिना फूलके फलती हैं, वे वनस्पतियां कहलाती हैं; 'तैरपुष्पाद् वनस्पतिः' यह कोश है, जैसे उदुम्बर आदि तथा गूलर आदि। छोटे केशोंमें ओषधिदृष्टि और बड़े केशोंमें वनस्पतिदृष्टि करनी चाहिए। अश्वकी नाभिसे ऊपर भागमें मध्याह्नसे पूर्व उदयकालमें आदित्यकी जो अवस्था होती है उस अवस्थासे युक्त आदित्यकी दृष्टि करनी चाहिए ? इन दोनोंमें साधर्म्य है—पूर्वत्व। अश्वकी नाभिसे नीचे भागमें मध्याह्नके अनन्तरभावी आदित्यकी दृष्टि करनी चाहिए, जो अश्वका मुखविदारण याने मुखविकाश है, उसमें विद्योतन-दृष्टि करनी चाहिए, जैसे मुखविजृम्भण मुखका विदारण करता है वैसे ही बिजली भी मेघका विदारण करती है, मुखविदारण और घनविदारण दोनोंमें समान धर्म है। जो गात्रका—शरीरका—कम्पन है, उसमें स्तनित—मेघ—के शब्दकी दृष्टि करनी चाहिए। 'स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषे रसितादि च' यह अमरकोश है। दोनोंमें शब्दत्व समान धर्म है। जो मूत्र करता है, उसमें वृष्टिकी दृष्टि करनी चाहिए, क्योंकि दोनोंमें भूमिसेचन सामान्य धर्म है। अश्वकी वाक्‌में वाग्-दृष्टि करनी चाहिए, यद्यपि 'कश्यन्तु मध्यमश्वानां हेषा ह्रेषा च निस्वनः' इस अमरकोषसे घोड़ेके शब्दको हेषा अथवा ह्रेषा कहते हैं, इसलिए यहाँ भी हेषादिमें वाग्‌का आरोप होना चाहिए। लेकिन यहां वाग् हीमें वाग्‌दृष्टिका विधान श्रुतिने किया है, इसलिए आरोपकी आवश्यकता नहीं है, अतः सादृश्य कहनेकी भी जरूरत नहीं है ॥ १ ॥

**अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावमितः**

'अहर्वा' इत्यादि। अश्वमेधयज्ञसम्बन्धी घोड़ेके आगे और पीछे सोने और चाँदीके दो पात्र रक्खे जाते हैं। तद्विषयक विज्ञानका इस मन्त्रसे प्रतिपादन है। 'गृह्यते हवनीयं द्रव्यमस्मिन्निति ग्रहः' इस व्युत्पत्तिसे ग्रह एक यज्ञपात्रका नाम है। अश्वमेधसे पहले सोनेका पात्र अश्वके आगे रक्खा जाता है, सुवर्ण तैजस है, इसलिए सुवर्ण तथा दिनमें दीप्ति प्रसिद्ध है, इससे दोनोंमें साधर्म्य है। इसलिए महिमानामक सुवर्णपात्रमें अहर्दृष्टि करनी चाहिए।

शङ्का—अश्वमेधसे पहले जो महिमा नामक पात्र रक्खा जाता है, उसकी यदि अहर्दृष्टिसे उपासना की जाती है, तो वह अश्वके पीछे कैसे कहा जा सकता है? दिन तो अश्वसे पहले ही है 'अहः अश्वमनु महिमाऽन्वजायत' ऐसा कहने-समझनेसे यही प्रतीत होता है कि अश्वके बाद उसका अहः—महिमानामक पात्र—हुआ, सो ठीक नहीं है, अहः के पीछे अश्वका जन्म है, यह कहना उचित है।

समाधान—अनुशब्दका यहां 'पीछे' अर्थ नहीं है, किन्तु लक्षण अर्थ है। जैसे—'वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्' यहांपर अनुशब्द वृक्षका लक्षक है, वैसे ही 'अश्वं लक्षयित्वा अहः महिमाऽन्वजायत' यह विवक्षित है, इसलिए अनुशब्दका अर्थ लक्षण ही है, पश्चात् ( पीछे ) अर्थ नहीं है। अश्व प्रजापति-स्वरूप है, इसलिए उसको लक्षित कर 'अहःकी—महिमापात्रकी— प्रवृत्ति होती है, यह तात्पर्य है। काल, लोक और देवता स्वरूप प्रजापति अश्वदृष्टिसे दृश्यमान होकर अहर्दृष्टिसे दृष्ट ग्रहसे लक्षित होते हैं, इस प्रकार अर्थ करनेसे 'अश्व-मन्वजायत' यह श्रुति विरुद्ध नहीं होती। जिस स्थानमें ग्रह रक्खा जाता है, उस स्थानका समुद्रदृष्टिसे ध्यान करना चाहिए। स्थान और पूर्व समुद्रमें पूर्वत्व सामान्यधर्म है। 'समुद्रे' यह सप्तमी प्रथमार्थक है। 'व्यत्ययो बहुलम्' से 'समुद्रः' इस अर्थमें 'समुद्रे' यह छान्दस प्रयोग है। जैसे सोनेके उक्त पात्रमें अहर्दृष्टिका विधान है, वैसे ही अश्ववधके बाद जो रजतका पात्र हवनीय द्रव्य रखनेके लिए रक्खा जाता है, उसमें रात्रिदृष्टि करनी चाहिए। इन दोनोंमें सादृश्य है, जैसे चन्द्रप्रकाशसे रात्रिमें शुक्लरूपवत्ताकी प्रतीति होती है, वैसे ही चाँदीका पात्र स्वतः शुक्ल है, इसलिए उक्त पात्रमें उक्त सादृश्यसे रात्रि-

ॐनमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः ॥

बृहदारण्यकव्याख्यां कर्तुमादावुदीरितः ।
उपोद्घातोऽथ तात्पर्यात्तद्व्याख्याऽऽरभ्यते स्फुटा ॥ १ ॥

'बृहदारण्यकव्याख्याम्' इत्यादि ।

शङ्का—यदि आत्मैकत्वविज्ञानका कारण प्रकृत ग्रन्थाध्ययन है, तो सब अध्ययनकर्ताओंको आत्मज्ञान क्यों नहीं होता ?

समाधान—'गृही भूत्वा वनीभवेत्' इस श्रुतिके अनुसार पूर्वमें गृहीसे उपलक्षित गृहस्थाश्रममें विहित श्रौत और स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानसे जिनके चित्तका मल निवृत्त हो चुका है । वे बनमें जाकर अर्थात् वैखानस आश्रममें प्रविष्ट होकर यथाविधि श्रवण, मनन आदि करते हैं और उन्हींको ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है, दूसरेको नहीं, यह बृहदारण्यक नामके निर्वचनसे सूचित होता है। 'अरण्ये अनूच्यमानमारण्यकम्' 'अरण्यान्मनुष्ये' इस सूत्रसे वुञ्प्रत्यय हुआ है। यद्यपि 'अरण्याण्ण्यः' इस सूत्रसे ण्यप्रत्यय प्राप्त था । पर उपर्युक्त सूत्र इस सूत्रका अपवाद है, अतः ण्यप्रत्यय नहीं हुआ । इस रीतिसे आरण्यकशब्द निष्पन्न हुआ । अन्य सब उपनिषदोंकी अपेक्षासे इसमें अक्षरसंख्या अधिक है; केवल अक्षरसंख्या ही नहीं, ब्रह्मज्ञानके उपयोगी अन्तरङ्ग अधिक साधनोंका उपदेश भी है। इसलिए शब्द और अर्थसे बड़ा होनेसे यह उपनिषदोंमें बृहत् है। अतः 'बृहच्च तदारण्यकं च' इस व्युत्पत्तिसे बृहदारण्यक नाम निष्पन्न हुआ । 'अल्पाच्तरम्' इस सूत्रसे बृहत्शब्दका पूर्वनिपात हुआ । यदि अपरिपक्वबुद्धियोंको अध्ययन करनेपर भी ज्ञानोदय नहीं होता, तो यह ग्रन्थका दोष नहीं है, बृहदारण्यक उपनिषत्की व्याख्या करनेके लिए ही पूर्वमें उपक्रम किया है। बृहदारण्यककी व्याख्याकी प्रतिज्ञा कर बृहदारण्यवार्त्तिककी संक्षेपतः तात्पर्यव्याख्या करते हैं। इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—'तात्पर्यात्' यद्यपि साक्षात् उक्त ग्रन्थकी व्याख्या नहीं है । बृहदारण्यककी साक्षात् व्याख्या भाष्य है और भाष्यकी तात्पर्यव्याख्या वार्तिक है । वार्तिक अतिगहन बहुत बड़ा है; अतः वार्तिकतात्पर्यकी—वार्तिकसार नामकी—संक्षेपसे व्याख्या करते हैं, तथापि परम्परासे बृहदारण्यकका ही व्याख्यान है, इसलिए

अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमुदीर्यते ।
बृहत्त्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम् ॥ २ ॥
बृहदारण्यके काण्डत्रयमाद्यं मधु स्मृतम् ।
द्वितीयं याज्ञवल्क्याख्यं तृतीयं खिलसंज्ञकम् ॥ ३ ॥
उपदेशोपपत्ती द्वे उपास्तिश्चेति ते त्रयः ।
अर्थाः क्रमेण काण्डानां प्राधान्येन निरूपिताः ॥ ४ ॥
मधुकाण्डे तु चत्वारोऽध्यायास्तत्राद्ययोर्द्वयोः ।
प्रवर्ग्यसंज्ञकं कर्म प्रोक्तं नोपनिषत्ततः ॥ ५ ॥

प्रतिज्ञा अनुचित नहीं है, इस तात्पर्यसे लिखते हैं कि स्फुट व्याख्या करते हैं जिससे तत्त्वजिज्ञासुओंको अल्प श्रमसे अपेक्षित अर्थका बोध हो सके ॥ १ ॥

बृहदारण्यक नामका निर्वचन करते हैं—'अरण्याध्ययना०' इत्यादिसे ।

उक्त रीतिसे अरण्यमें अध्ययन करनेसे यह उपनिषत् आरण्यक कहलाता है । ग्रन्थसे—अक्षरसंख्यासे—तथा आत्मज्ञानके अङ्गभूत सम्पूर्ण अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग साधनोंके उपदेशसे अर्थतः भी सब उपनिषदोंसे यह उपनिषत् बड़ी है, अतः इसका बृहदारण्यक नाम सार्थक है ॥ २ ॥

अब शिष्योंको अल्प आयाससे प्रतिपाद्य विषयका ज्ञान हो, इसलिए उपनिषत्में काण्ड-संख्या और उन काण्डोंमें प्रतिपाद्य विषयोंका विभाग करते हैं—'**बृहदारण्यके**' इत्यादिसे ।

बृहदारण्यकमें तीन काण्ड हैं । प्रथम मधुकाण्ड, द्वितीय याज्ञवल्क्य-काण्ड और तृतीय खिलकाण्ड ॥ ३ ॥

'**उपदेशोपपत्ती**' इत्यादि । मधुकाण्डमें उपदेश, द्वितीय काण्डमें उपपत्ति तथा तृतीय काण्डमें उपासना इस क्रमसे तीनों अध्यायोंमें ये ही तीन अर्थ प्रधानरूपसे कहे गये हैं । प्रसङ्गवश और भी पदार्थोंका निरूपण है जो आगे स्वयं प्रतीत होंगे ॥ ४ ॥

'**मधुकाण्डे**' इत्यादि । मधुकाण्डमें चार अध्याय हैं, उनमें से दो अध्यायोंमें प्रवर्ग्यनामक कर्म कहा गया है, अतः वह उपनिषत् नहीं है । अर्थात् आत्मतत्त्वका निरूपण उसमें नहीं है ॥ ५ ॥

विद्यासन्निधिपाठेऽपि विद्यांशत्वं न कर्मणः ।
अरण्याध्ययनायैव विद्यासन्निधिरिष्यते ॥ ६ ॥
गुणोपसंहृतावेतत्सूत्रकारेण वर्णितम् ।
अतस्तृतीयमारभ्य व्याख्यानं न तु पूर्वयोः ॥ ७ ॥

'विद्यासन्निधि०' इत्यादि ।

शङ्का—विद्याप्रकरणमें प्रवर्ग्य कर्म कहनेका प्रयोजन क्या है? इसका तो कर्मकाण्डमें उपयोग होनेसे वहींपर निरूपण होना चाहिए था । विद्याप्रकरणमें तो विद्याङ्गका निरूपण अपेक्षित रहता है । अनपेक्षित अर्थके अभिधानसे शिष्योंमें अश्रद्धा उत्पन्न होगी ।

समाधान—ठीक है, इन कर्मोंमें विद्याङ्गत्व नहीं है, फिर भी विद्यासन्निधिमें पाठ इसलिए है कि ये भी उपासनारूप कर्म अरण्यमें यथाविधि होते हैं, इसलिए अरण्यके साहचर्यसे उनका भी निरूपण आदिमें किया गया है । पूर्वकाण्डमें कर्म वीर्यवत्तरताके लिए अपेक्षित हैं और अनधिकारियोंके लिए अश्वमेधके फलकी कामनाकी सिद्धिके लिए भी ये आवश्यक हैं तथा ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिके योग्य चित्तशुद्धिके लिए किसी फलकी इच्छाके बिना प्रकृत उपासना की जाती है, इसलिए ज्ञान और कर्म दोनोंके उपयोगी होनेसे दोनोंके मध्यमें इनका निरूपण करना समुचित ही है । यद्यपि आत्मैक्य ही वेद्य है, उसके अंश वेद्य नहीं हैं, फिर भी विद्याके उपाय होनेसे वे सर्वथा अनपेक्षित नहीं हैं । जिनका चित्त परिशुद्ध नहीं है और वैखानस आश्रममें प्रविष्ट हो गए हैं, उनके चित्तकी शुद्धिके उपायकी जिज्ञासा अवश्य रहती है, अतः आरण्यकोंका कर्तव्य समझकर इसका निरूपण किया गया है । कर्म करनेके लिए अनेक साधनाओंकी अपेक्षा होती है वह उपासनामें नहीं है, किन्तु केवल एकान्त और सांसारिक कर्म-बन्धनोंसे अवकाश चाहिए । पूर्व आश्रमोंका कर्तव्य यथाशक्ति सम्पादन कर प्रेक्षाशील पुरुष वैखानस आश्रममें प्रविष्ट होता है । वहां उसे उपासना करनेका पूरा अवसर मिलता है, इसलिए देहलीदीपकन्यायसे दोनोंमें उपयोगी प्रकृत कर्मका दोनोंके बीचमें पाठ करना समुचित ही है ॥ ६ ॥

'गुणोपसंहृता०' इत्यादि । गुणोपसंहारके 'वेधाद्यर्थभेदात्' (ब्र०सू०अ०३ पाद ३ अधि० १४ स० २५ ) इस सूत्रमें वेदान्तसूत्रकार श्रीवेदव्यास भगवान्‌ने

कहा है—'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः' इत्यादिः। [ अर्थ—हे देवते! मेरे शत्रुके सब अङ्ग विदीर्ण करो, विशेषरूपसे हृदयका भेदन करो, धमनी अर्थात् शिराओंको—नाडीविशेषोंको—तोड़ो ( 'नाडी तु धमनिः शिराः' इत्यमरः ) सिरको चारों तरफसे फोड़ो इस क्रमसे मेरा शत्रु अङ्गोंसे रहित हो जाय, ] इत्यादि तथा ताण्ड्य उपनिषत्के आरम्भमें श्रुत प्रवर्ग्य आदि कर्ममें संशय होता है कि क्या ये सब मन्त्र तथा प्रवर्ग्य आदि कर्मोंका विद्यामें भी उपसंहार करना चाहिए; अथवा नहीं? इनमें कौन सापेक्ष उचित प्रतीत होता है? उपसंहार करना ही पक्ष उचित जँचता है, क्योंकि विद्याप्रधान उपनिषत्की सन्निधिमें उनका पाठ है। यदि कहो कि पाठ तो है, किन्तु विद्याके अङ्गरूपसे इनका विधान नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि हाँ विद्याके अङ्गरूपसे उनका साक्षात् उपलम्भ नहीं है, फिर भी सन्निधि-पाठकी सामर्थ्यसे उसका अनुमान कर लेंगे। यदि कहो कि विद्याविषयक कोई लिङ्ग तो है नहीं; फिर अनुमान कैसे होगा? और 'पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्येण प्रचरन्ति' इस श्रुतिवाक्यसे प्रवर्ग्यमें क्रतुशेषता ही निश्चित होती है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि हृदयादिके संकीर्तनसे विद्याविषयक सामर्थ्यकी भी किसी प्रकार कल्पना कर ही लेंगे। हृदयमें उपासनाएँ अनेक विहित हैं, उसके द्वारा 'हृदयं प्रविध्य' इत्यादि मन्त्र उपासनाके अङ्ग हो सकते हैं, उपासनामें मन्त्रका विनियोग भी है पुत्रके दीर्घायु होनेके लिए छान्दोग्यमें 'भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना' इत्यादि पिताको प्रार्थनामन्त्र इष्ट है एवं प्रवर्ग्यादि कर्म क्रतुमें विनियुक्त हैं, तो भी विद्यामें भी उनका विनियोग करनेमें कोई विरोध नहीं है, यद्यपि वाक्यसे सन्निधि दुर्बल है, फिर भी विरोध नहीं है। इसलिए वाक्यसे सन्निधिका बाध नहीं हो सकता, वाक्यसे क्रतुशेष हो और सन्निधिसे विद्याशेष भी हो, तो क्या विरोध है? कुछ भी नहीं, यह पूर्वपक्ष हुआ।

सिद्धान्त यह है कि विद्यामें इनका उपसंहार नहीं है, क्योंकि वेध आदि अर्थोंका विद्यामें कोई संबन्ध ही नहीं है; केवल हृदयमात्रका उपयोग है, सम्पूर्ण मन्त्रका अर्थ अभिचारसंबद्ध है, इसलिए 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गम् इत्यभिधीयते' इस भट्टपादकी उक्तिके अनुसार अर्थ-प्रकाशनसामर्थ्यरूप लिङ्गसे आभिचारिक कर्मके साथ ही उक्त मन्त्रका संबन्ध सिद्ध होता है। इसी तरह अन्य मन्त्रोंका भी प्रकरण आदिसे क्रतु

अध्यारोपापवादाभ्यां मधुकाण्डं प्रवर्तते ।
अध्यारोप्य तृतीयेन चतुर्थेन त्वपोद्यते ॥ ८ ॥
षड् ब्राह्मणानि ज्ञेयानि तृतीये ब्राह्मणत्रयम् ।
आद्यं संसारसीमान्तसाधनप्रतिपादकम् ॥ ९ ॥
चतुर्थे तत्फलं प्रोच्य विद्याविद्ये च सूत्रिते ।
विस्तराद् संग्रहाद्वृत्तिरविद्याया अथोभयोः ॥ १० ॥
विद्यासूत्रादधस्ताद्यत्साधनं सफलं श्रुतम् ।
प्रतियोगितया सर्वं तद्विद्यास्तुतये भवेत् ॥ ११ ॥

संबन्ध ही प्रतीत होता है । विद्यासंबन्ध प्रतीत नहीं होता । इसी प्रकार प्रवर्ग्यादि कर्म भी विद्याशेष नहीं हैं, ये भी क्रतुमें ही विनियुक्त हैं, इसलिए ये भी विद्याशेष नहीं हैं, कारण कि विद्याका फल मोक्ष है और कर्मका फल अनित्य स्वर्गादि है । दोनोंके फल परस्पर विलक्षण हैं, इसलिए दोनोंमें एकफल-साधकत्व नहीं है, ऐसी अवस्थामें दोनोंमें शेष-शेषिभाव कैसे हो सकता है ? इस अभिप्रायसे कहते हैं—तृतीय ब्राह्मणसे लेकर ब्रह्मविद्याका व्याख्यान किया है, पूर्व ब्राह्मणोंका व्याख्यान नहीं किया है ॥ ७ ॥

'अध्यारोपा०' इत्यादि । अध्यारोप और अपवादसे मधुकाण्डकी प्रवृत्ति है । तृतीयसे अध्यारोप और चतुर्थसे अपवादका निरूपण है, इसका आगे स्पष्टीकरण करेंगे । पुनरुक्तिके भयसे यहां स्पष्टीकरण नहीं किया जाता ॥ ८ ॥

'षड् ब्राह्मणानि' इत्यादि । मधुकाण्डमें छः ब्राह्मण हैं, तृतीयमें तीन ब्राह्मण हैं । पहला संसारके सीमान्त साधनका प्रतिपादक है ॥ ९ ॥

'चतुर्थे' इत्यादि । चतुर्थमें विद्याके फलका निरूपण कर विद्या और अविद्याके स्वरूपका निरूपण किया गया है और संक्षेप तथा विस्तारसे विद्या और अविद्याकी वृत्तिका निरूपण किया गया है ॥१०॥

'विद्यासूत्रात्' इत्यादि । विद्यासूत्रसे पूर्वमें जो फलके साथ साधन श्रुत हैं, वे विद्याके विरोधी हैं अर्थात् उन कर्मोंका फल संसारप्राप्ति ही है, संसारसे मुक्ति नहीं है, इसलिए वे प्रतियोगी कहलाते हैं—जैसे घटके अभावका प्रतियोगी घट है, घटके साथ घटाभाव नहीं रह सकता, वैसे ही संसाररूप फलको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका विद्याके साथ विरोध है । विद्याका फल संसारसे मुक्ति है, और उन

हिरण्यगर्भप्राप्तिर्या कर्मोपासनसाधिता ।
साऽपि संसार एवाऽतो विद्यैवैका विमुक्तिदा ॥ १२ ॥
प्रथमब्राह्मणे ह्यश्वे विराड्दृष्टिर्विधीयते ।
संसाराभिमुखीभूतब्रह्मलोकार्थिनं प्रति ॥ १३ ॥

कर्मोंका फल है संसार। इसलिए विद्याप्रकरणमें उन कर्मोंका उपादान केवल विद्याकी स्तुतिके लिए ही किया गया है, उनके फलोंकी अभिलाषासे अनुष्ठानके लिए नहीं किया गया है। स्तुतिका तात्पर्य है—उपादेयमें। कर्मकी अपेक्षा विद्या उपादेय है। विद्याका फल अमृत है और कर्मका फल विनाशी है। विनाशी फलवाले कर्मोंसे विरक्त होकर अमृत फलको देनेवाली विद्यामें पुरुषोंकी प्रवृत्ति हो, इसलिए विद्याप्रकरणमें भी कर्मोंका उपादान उचित ही है ॥११॥

'हिरण्यगर्भ०' इत्यादि। उक्त उपासनासे सहित अश्वमेधादि याग करनेपर भी सबसे बड़ा फल हिरण्यगर्भस्वरूपकी प्राप्ति ही कही गई है, इससे अधिक और कोई फल कर्मोंका है नहीं, परन्तु विचार कर देखिए तो हिरण्य-गर्भ संसारसमष्टि ही है। उनसे संसारका विच्छेद नहीं होता। जन्म-मरणका संबन्ध हिरण्यगर्भमें है ही, किन्तु विद्या ही ऐसा फल है जिससे सदाके लिए जन्म-मरणरूप बन्धनोंसे छुटकारा मिल जाता है, अतः मुमुक्षुओंको सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग कर श्रवण, मनन आदिसे विद्याके उपार्जन हीमें प्रवृत्त हो जाना चाहिए, इसीसे उस फलकी प्राप्ति होगी, अन्य उपायसे नहीं। 'अमृतफलिका ब्रह्मविद्यैव, अतः इयं धन्या' इस प्रकार परम पुरुषार्थका समर्पण करनेवाली होनेसे ब्रह्मविद्याकी स्तुति होती है ॥१२॥

'प्रथम०' इत्यादि। 'उषा वा अश्वस्य' इस प्रथम ब्राह्मणसे अश्वमें—अश्वमेध यज्ञके अङ्ग अश्वमें—विराड् दृष्टिके लिए अश्वाङ्गोंमें—सिर आदिमें—प्रभात कालादि दृष्टिका विधान करते हैं। इस उपासनाका फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति तथा समस्त पापोंकी निवृत्ति है।

शङ्का—यह उपासना अश्व ही में क्यों विहित हुई? यदि कहो कि अश्वमेधका अश्व अङ्ग है, अतः उसमें हुई, तो इसपर हम यह कहेंगे कि केवल अश्व तो उक्त यज्ञका अङ्ग नहीं है, अन्य पदार्थ भी तो उसके अङ्ग हैं ॥१३॥

सत्स्वप्यन्यप्रतीकेषु हय एवेह गृह्यते ।
प्राधान्यादश्वमेधस्य हयनामाङ्कितत्वतः ॥ १४ ॥
क्रतुराडश्वमेधोऽयं तत्र मुख्यतमो हयः ।
एतस्मादधिकं किं वा प्रतीकमधिकं भवेत् ॥ १५ ॥
कर्माङ्गमश्वसम्बन्धादुपास्तिरिति चेन्न तत् ।
कर्मोपास्त्योरेकफले विकल्पस्य श्रुतत्वतः ॥ १६ ॥

समाधान—'सत्स्वप्यन्य०' इत्यादिसे । यद्यपि अश्वमेध यज्ञमें अश्वको छोड़कर और भी अनेक अङ्ग हैं तथापि उनमें उक्त उपासनाका विधान न कर केवल अश्वके अङ्गोंमें तत्-तत् दृष्टिके विधानका अभिप्राय यह है कि अश्व अन्य अङ्गोंमें प्रधान है । अश्वशब्दसे संयुक्त अश्वमेध यह नाम ही प्रधानताका मूल है और प्रजापति देवता भी अश्वका है । देवताओंमें तथा प्रकृत यागमें प्रजापति प्रधान है, इसलिए इसके द्वारा अश्व भी प्रधान है, अतः प्रधानाप्रधानयोः प्रधानस्यैव ग्रहणम्' इस न्यायसे प्रधान अश्वके अङ्गोंमें ही उक्त उपासनाका विधान होना युक्तिसंगत है, दूसरेके अङ्गोंमें नहीं ॥१४॥

'क्रतुराड्' इत्यादि । यह अश्वमेध यज्ञ सब यज्ञोंका सम्राट् है—सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है और इसमें प्रधान अङ्ग है—अश्व, अतः उससे अन्य और उत्तम प्रतीक कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

'कर्माङ्ग०' इत्यादि ।

शङ्का—आपने इस उपासनाका ब्रह्मलोककी प्राप्ति फल कहा, वह ठीक नहीं जँचता, कारण कि यह कर्म समृद्धिके लिए है, अतएव 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इत्यादि श्रुतिमें स्पष्ट कहा है । उक्त कर्मका फल स्वाराज्य है, ब्रह्मलोकप्राप्ति नहीं ।

समाधान—कर्मके जो अधिकारी हैं, वे यदि कर्माङ्ग अश्वमें यह उपासना करेंगे, तो उनके लिए कर्म समृद्धयर्थका श्रुतिमें निर्देश है, और जो अश्वमेधके अधिकारी नहीं हैं, वे अपने शरीरको ही अश्व मानकर तत्-तत् अङ्गोंमें प्रकृत उपासना करें, तो उनको ब्रह्मलोकप्राप्ति रूप ही फल होता है । इस उपासनाका अधिकारीके भेदसे विकल्प है, अतएव 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद'

कोई नियम ही नहीं है अर्थात् चाहे उद्गीथमें आदित्यदृष्टि करे या आदित्यमें उद्गीथदृष्टि करे, क्योंकि दोनों ब्रह्मविकार हैं अथवा आदित्यके रहनेपर भी कर्मके बिना फलकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि आदित्यमतिसे उद्गीथकी उपासना की जायगी, तो प्रतीककी उपासनामें अवलम्बनको अविद्यमान-सा कर आरोपित आदित्यकी ही प्रधानरूपसे उपासना होगी। आदित्यके अकर्मात्मक होनेसे फल कुछ नहीं हो सकता, यदि आदित्यकी उद्गीथबुद्धिसे उपासना की जायगी, तो कर्मात्मक आदित्यसे भी फल हो सकता है, अतः अनङ्ग आदित्य आदिमें अङ्गमति करना ही उचित है—यह पूर्वपक्ष कर भाष्यकारने सिद्धान्त किया कि उद्गीथ आदि मति आदित्यमें ही करना युक्तियुक्त है, क्योंकि अपूर्व सन्निकर्षसे आदित्य आदि मति द्वारा उपास्यमान उद्गीथसे ही कर्मसमृद्धिरूप फल हो सकता है, 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इस श्रुतिसे उक्त उपासना कर्मसमृद्धिके लिए है।

शङ्का—अच्छा तो कर्मसमृद्ध्यर्थ विद्या है, उसके विषयमें यही सिद्धान्त माना जाय, किन्तु जो स्वतन्त्र उपासना है उसके विषयमें क्या नियम है? क्योंकि वह कर्माङ्ग तो है नहीं, फिर क्या नियम है कि किसमें कौन दृष्टि करनी उचित है अर्थात् जहां कर्मसे फल कहा गया है वहाँके लिए उक्त सिद्धान्त ठीक है, जहाँपर गुणसे फल होता है, वहाँ गुण तो कार्य ही नहीं है, इसलिए करोतिका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता, फिर विद्याका क्या उपयोग?

समाधान—गुणसे जहाँ फल कहा है, वहाँपर भी सिद्धस्वभाव केवल गुणसे फल नहीं होता है। अन्यथा अविशेषसे सबको फल होता रहेगा। अतः किञ्चित्कर्मसम्बद्ध ही गुणसे फल कहा गया है, अतः जिस कर्ममें जो उपासना कही गई है, उस उपासनासे वही कर्म वीर्यवत्तर होता है। आदित्य आदि फलात्मक हैं, इसलिए उद्गीथ आदिसे आदित्य आदि उत्कृष्ट हैं। अतएव आदित्य आदिप्राप्तिलक्षण फल श्रुति आदिमें कहा गया है। और भी कारण है 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' इस श्रुतिमें उद्गीथका ही उपास्यत्वरूपसे उपक्रम करके उसमें आदित्यादिमतिका विधान है।

शङ्का—सिद्धस्वरूप आदित्य आदिका अध्यास करनेसे कर्मगत साध्यत्वांशका

अश्वसंज्ञपनात् पूर्वं पश्चादपि च यौ ग्रहौ ।
महिमाख्यावहोरात्रदृष्टी कुर्यात्तयोः क्रमात् ॥ २० ॥
समुद्रे वडवा यद्वदुत्पद्याऽऽश्रित्य वर्तते ।
परात्मनि विराडश्वस्तथैवेति विचिन्तयेत् ॥ २१ ॥
अश्वोपास्तिरियं ज्ञेया प्रथमब्राह्मणोदिता ।
द्वितीयब्राह्मणे सम्यक् फलमस्याः प्रवक्ष्यते ॥ २२ ॥

अभिभव हो जायगा, अर्थात् कर्म ही अविद्यमानके समान हो जायगा, यह ठीक नहीं है। अध्याससे कर्म अभिभूत नहीं होता। माणवकमें—बालकमें—अग्निदृष्टि करनेसे माणवक अविद्यमान-सा नहीं होता, किन्तु उसमें तेजस्वित्व आदि उत्कृष्ट गुण-दृष्टि होती है। अग्निशब्द माणवकमें औपचारिक माना जाता है। शुक्तिमें रजतके अध्यासकी तरह यह अध्यास नहीं है, किन्तु अग्निशब्दका माणवकमें गौणी वृत्तिसे प्रयोग होता है, श्रोता और वक्ताको भेदकी प्रतीति रहते जहाँ अन्य शब्दका अन्य अर्थमें, किसी धर्म द्वारा सादृश्य मानकर, प्रयोग होता है, वह गौणशब्द कहलाता है। उसी प्रकार उद्गीथ आदिमें आदित्यदृष्टिका विधान है। सारांश यह निकला कि अनङ्गाश्रयदृष्टि उद्गीथ आदि कर्माङ्गमें करनी चाहिए, इससे अङ्गका संस्कार होता है। संस्कृतका आगे कर्ममें उपयोग है। सिर आदिमें उषा आदिकी ही दृष्टि करनी चाहिए, उषा आदिमें सिर आदिकी दृष्टि नहीं करनी चाहिए। इस अर्थमें वेदान्तसूत्रकार भगवान् श्रीवेदव्यास महर्षिकी सम्मति कही है ॥ १९ ॥

'अश्वसंज्ञपनात्' इत्यादि। अश्वमेधयज्ञका अङ्ग जो अश्व है, उसके संज्ञपनके—वधके—पूर्व अश्वके आगे स्थापित जो महिमा नामका सुवर्णका पात्र है, उसमें 'अहः' की ( दिनकी ) दृष्टि करनी चाहिए और उक्त अश्वके पीछे जो चाँदीका पात्र है, उसका भी नाम महिमा ही है, उसमें रात्रिकी दृष्टि करनी चाहिए ॥ २० ॥

'समुद्रे' इत्यादि। अग्निविशेष बड़वा जैसे समुद्रसे उत्पन्न होकर समुद्रमें ही स्थित है, वैसे ही परमात्मासे उत्पन्न विराट्रूपी अश्व उसीमें स्थित है, ऐसा ध्यान करना चाहिए ॥ २१ ॥

'अश्वोपास्ति०' इत्यादि। प्रथम ब्राह्मणमें अश्वकी उपासना कही गई है और द्वितीय ब्राह्मणमें इस उपासनाका फल अच्छी तरहसे कहेंगे ॥ २२ ॥

पृथक् फलस्याऽकथनाद्ब्राह्मणद्वयवर्णितम् ।
एकोपासनमेवेति विज्ञातव्यमुपासकैः ॥ २३ ॥
प्रतीकयोरश्ववह्न्योर्विभेदाद्ब्राह्मणद्वयम् ।
अश्वप्रतीके वैराजरूपोपास्तिरिहोदिता ॥ २४ ॥

इतिबृहदारण्यकवार्त्तिकसारे प्रथमाध्याये
प्रथममश्वब्राह्मणं समाप्तम्



द्वितीय ब्राह्मणमें अग्निकी उपासनाका विधान है। सम्भव है किसीको यह शङ्का हो कि वहाँका फल उसी विद्याका हो, इस भ्रमके निराकरणके लिए कहते हैं—'पृथक्' इत्यादिसे ।

अलग-अलग फलका निर्देश न होनेसे दोनों ब्राह्मणोंमें निर्दिष्ट विद्या भिन्न नहीं है। अन्यथा निष्फल प्रथम उपासना व्यर्थ हो जायगी, अतः फलके एक होनेसे दोनों विद्याएँ भिन्न नहीं हैं, किन्तु एक ही हैं, यह उपासकोंको समझना चाहिए ॥ २३ ॥

'प्रतीकयो०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि दोनों ब्राह्मणोंमें कथित विद्या एक ही है, तो ब्राह्मणभेद क्यों हुआ ? एक ही ब्राह्मणमें दोनोंका निर्देश क्यों न किया गया ?

समाधान—दोनों ब्राह्मणोंमें निर्देश करनेका कारण यह है कि प्रतीकके आलम्बन अश्व और अग्नि दो हैं, अतः प्रतीकके भेदसे ब्राह्मणभेद हुआ है, विद्याभेदसे नहीं, अश्वप्रतीकमें विराट्‌की उपासना इस प्रथम ब्राह्मणमें कही गई है ॥ २४ ॥

इति वार्तिकसारव्याख्यामें प्रथम ब्राह्मणका व्याख्यान समाप्त ।



# अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्

द्वितीयब्राह्मणे वह्नेरश्वमेधोपयोगिनः ।
उपासनं विराड्बुद्ध्या कार्यत्वेन विधीयते ॥ १ ॥
अश्वमूर्द्धादिषु यथा ह्युषःकालादिदृष्टयः ।
अग्निमूर्द्धादिषु तथा ज्ञेयाः प्राच्यादिदृष्टयः ॥ २ ॥

'द्वितीय०' इत्यादि । द्वितीय ब्राह्मणमें अश्वमेधयज्ञका उपयोगी अर्थात् उक्त यागका अङ्ग जो अग्नि है, उसकी विराड् बुद्धिसे उपासना करनेके लिए विधि है ॥ १ ॥

'अश्व०' इत्यादि । जैसे उपासनाके लिए अश्वके सिर आदि अवयवोंमें प्रभात काल आदिकी दृष्टि पूर्व ब्राह्मणमें कही गई है, वैसे ही अग्निके सिर आदि वक्ष्यमाण अवयवोंमें प्राच्य आदिदृष्टिका उपासनाके लिए विधान करते हैं ।

शङ्का—अग्निमें तो सिर आदि अवयव हैं नहीं, फिर उनमें प्राच्य आदि दृष्टिका विधान कैसे हो सकेगा ?

समाधान—यद्यपि अग्निमें साक्षात् अवयव नहीं है, तथापि अग्निका आधार कुण्ड पक्षीके आकारका बनाया जाता है, उसमें चित्य संस्थापित जो अग्नि है, उसमें कुण्डस्थ पक्षीके आकारका आरोप कर, अग्निको पक्षीरूप मान कर उन अङ्गोंमें यथोक्त प्राच्य आदि-दृष्टि करनी चाहिए । 'तस्य' इत्यादि मन्त्रसे अश्वके समान अश्वमेधके उपयोगी अग्निका भी दर्शन कहते हैं ।

अश्वके समान अग्निकी उत्पत्ति भी स्तुतिके लिए है; इस प्रकार शुद्ध जन्मवाला अग्नि है । इस अग्निके सिरमें प्राचीकी—पूर्व दिशाकी—दृष्टि करनी चाहिए, क्योंकि सिर और पूर्व दिशाका साधर्म्य है—विशिष्टत्व । जैसे सब अङ्गोंमें सिर विशिष्ट है; वैसे ही सब दिशाओंमें पूर्व दिशा प्रशस्त है । 'असौ च असौ च' ईशानकोण तथा अग्निकोण 'इर्मौ' अर्थात् दो बाहु हैं । अग्निकी पूँछ प्रतीची—पश्चिम—दिशा है, क्योंकि दोनोंका साधर्म्य है—पूर्वाभिमुखका प्रतीची दिशासे

( १ ) बृहदारण्यकोपनिषत् १।२।१

पक्ष्याकाराश्रितो योऽग्निः प्रागिदगाद्यखिलात्मकः ।
सोऽप्सु प्रतिष्ठित इति ध्याताऽपि प्रतितिष्ठति ॥ ३ ॥
प्रतिष्ठागुणविज्ञानस्यैवैतत्फलमीरितम् ।
प्रधानोपासनफलं विराट्प्राप्तिः प्रवक्ष्यते ॥ ४ ॥
गुणस्य यस्य सम्प्रोक्तं प्रधानादपरं फलम् ।
तद्गुणोपासनं पुंस इच्छयैव विकल्प्यते ॥ ५ ॥

---

सम्बन्ध । 'असौ च असौ च' वायव्य और नैऋत्य कोण सक्थिनी हैं, कारण कि पृष्ठकोणत्व दोनोंका साधर्म्य है । दक्षिणा और उदीची ये दोनों क्रमशः पार्श्व हैं, क्योंकि इन दोनोंका सम्बन्ध सामान्य दोनों दिशाओंमें विद्यमान है । ऊर्ध्वत्वसामान्यसे 'द्यौः' पृष्ठ है । अन्तरिक्ष उदर है क्योंकि सुषिरत्वरूप सामान्य धर्म दोनोंमें प्रसिद्ध ही है । उर और पृथिवी दोनोंमें अधोभागसामान्य है, यह अग्नि प्रजापतिस्वरूप तथा लोकादिस्वरूप जलमें प्रतिष्ठित है; इसी तात्पर्यसे 'एवमिमे लोका अश्ववन्तः' यह श्रुति है । इस प्रकार अग्निकी उपासनामें तत्पर पुरुष जहाँ कहीं भी जाता है, वहीं प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ २ ॥

'पक्ष्याकार०' इत्यादि । पक्षीके आकारमें निर्मित जो कुण्ड है, उसमें संस्थापित जो अग्नि है, वह भी पक्ष्याकार है और प्राची दिशा आदि सर्वात्मक हैं । वह अग्नि जलमें प्रतिष्ठित है; इस कारण ध्याता—तादृश अग्निका उपासक—पुरुष भी सर्वत्र प्रतिष्ठित होता है; सर्वात्मक अग्नि जलमें प्रतिष्ठित है, यह गुणकी उपासनाका फल है; प्रधान फल तो है ही ।

'प्रतिष्ठा०' इत्यादि । सब लोकोंमें प्रतिष्ठारूप फल गुणविशिष्ट प्रकृत कर्मका नहीं है, किन्तु केवल गुणकी उपासनामात्रका यह फल है । अश्वमेधयज्ञका प्रधान फल विराट्स्वरूपकी प्राप्ति है, उसे आगे कहेंगे ॥ ४ ॥

'गुणस्य' इत्यादि । प्रधान अश्वमेधयज्ञके फलसे अतिरिक्त जिस गुणका—अप्सु प्रतिष्ठितका—फल सर्वलोकप्रतिष्ठा कहा गया है, उस फलकी इच्छासे ही इस गुणकी उपासनाका विकल्प है । सारांश यह है कि जिस उपासकको सर्वलोकप्रतिष्ठारूप फलकी कामना है, वह पुरुष इस गुणकी भी उपासना करे और जिसकी ऐसी इच्छा न हो वह न करे ॥ ५ ॥

तद्विशेषफलानिच्छोर्विनाऽप्येतं गुणान्तरैः ।
प्रधानोपास्तिसम्पूर्त्या मुख्योपास्तिफलं भवेत् ॥ ६ ॥
उषःकालादिवपुषमश्वं प्राच्यादिदेहकम् ।
अग्निं चोपासकः स्वात्मस्वरूपत्वेन चिन्तयेत् ॥ ७ ॥
ननु प्रतीकमेवाऽत्र विराड्बुद्ध्या विचिन्त्यते ।
न प्रतीकेऽहंग्रहोऽस्ति सूत्रकारेण वारणात् ॥ ८ ॥

---

'तद्विशेष०' इत्यादि । जिस पुरुषको सर्वलोकप्रतिष्ठारूप फलकी कामना नहीं है, वह पुरुष इस गुणको छोड़कर अन्य गुणके साथ प्रकृत प्रधानकी उपासना करे तथा इस उपासनाकी सम्पूर्ति गुणान्तरसे भी होती है । और मुख्योपासनाका फल गुणान्तरके साथ प्रधानकी उपासना करनेवालोंको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

'उषःकालादि०' इत्यादि । दोनों ब्राह्मणोंमें जो उपासना कही गई है, वह एक ही है, इसलिए दोनों उपासनाओंको एक ही साथ उपासक किस प्रकार करे ? यह कहते हैं—उपासक उषा काल आदि शरीरवाले अश्व तथा प्राच्यादि देहवाले अग्निका अपने शरीररूपसे चिन्तन करे अर्थात् अपने शरीरका ही उक्त अग्निस्वरूपसे ध्यान करे ॥ ७ ॥

'ननु प्रतीक०' इत्यादि ।

शङ्का—यह विराट्की उपासना तो प्रतीकोपासना ही है । जैसे शालग्राममें विष्णुकी उपासना होती है वैसे ही अपने शरीरमें प्रजापतिकी उपासना होती है । प्रतीकोपासनामें 'अहंग्रह' ( यह मैं ) मानना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतीकोपासनामें अहंग्रहका वेदान्तसूत्रमें स्पष्ट निषेध किया गया है—'न प्रतीके नहि सः' इस सूत्रमें—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत', 'आकाशो ब्रह्मेति', 'स यो नामब्रह्मेत्युपास्ते' इत्यादि प्रतीकोपासनाओंको लेकर संशय हुआ कि इन प्रतीकोंमें अहंग्रह करना चाहिए या नहीं ?

पूर्वपक्ष—नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्मका आत्मरूपसे और जीवरूपसे ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्यादि शास्त्रोंसे जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है । 'अद्वितीयम्' इत्यादि

श्रुतिसे भी ब्रह्मसे अतिरिक्त तत्त्वान्तर वास्तविक है ही नहीं, अतः जीव वास्तविक ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं। अविद्यारूपी दर्पणमें ब्रह्मका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है; वही जीव कहलाता है। प्रतिबिम्ब और बिम्बमें भेद काल्पनिक है; वास्तवमें दोनों एक ही हैं। उसी प्रकार जहाँ जहाँ 'मनो ब्रह्म', 'आदित्यो ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंमें मन आदिमें ब्रह्मदृष्टिका उपदेश है, वहाँ वहाँ सब जगह 'अहं मनः, अहं आदित्यः' इत्यादि दृष्टि करनी चाहिए।

शङ्का—जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, इसलिए जीवमें ब्रह्मतादात्म्यबुद्धि करना उचित है, मन आदि तो ब्रह्म नहीं हैं, फिर इनमें ब्रह्माभेदबुद्धि करना तो ठीक नहीं है।

समाधान—मन आदि भी तो ब्रह्मके विकार ही हैं, क्योंकि 'एतस्मात् जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि शास्त्र इस विषयमें प्रमाण है। कारणात्मक ही कार्य होता है, अतिरिक्त नहीं, इस विषयका भी 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्रमें स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। कारण और कार्यका परस्पर तादात्म्यसम्बन्ध ही वेदान्तमें माना जाता है, और यही मानना युक्तियुक्त भी है, 'मिट्टी और उससे उत्पन्न घट' शराव आदि अभिन्न अर्थात् मृदात्मक ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं, इस कारण अभेद-उपासनासे स्वकारणमें प्रपञ्चमात्रका विलय कर देनेसे, भेदप्रपञ्चमात्रका—विलय होनेसे 'अद्वैतब्रह्मसिद्धिपरक ही सब प्रतीक उपासनाएँ हैं, यह पूर्वपक्ष है।

सिद्धान्त इस प्रकार है, 'अहं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिसे अहमर्थ जीवात्मामें जैसे ब्रह्मात्मत्वका उपदेश तथा उस रूपसे उपासनाका विधान है, वैसे ही मन आदिमें 'मनो ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे अहमर्थत्वका न तो उपदेश ही है और न जीवात्मरूपसे उपासना ही विहित है जिससे कि ब्रह्मत्वेन उपदेश तथा उपासना मानी जाय। इनमें कहीं भी 'अहं' का श्रवण नहीं है। मन आदि ब्रह्मसे अभिन्न हैं, इसलिए जीवसे अभिन्न ब्रह्म है और ब्रह्मसे अभिन्न मन आदि हैं, ऐसी अवस्थामें 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्' इस न्यायसे मन आदि भी जीवात्मासे अभिन्न हैं; इस कारण उनमें भी आत्मग्रह करना उचित है, यदि यह कहिए, तो जैसे इनमें ब्रह्मात्मकत्वसे प्रयुक्त अहंकारास्पदत्वकी कल्पना करते हैं, वैसे ही ब्रह्मप्रति

बिम्बरूप विकारान्तर आकाश आदि रूपसे भी उसकी उपासनाकी प्रसक्ति होगी, इसलिए जिसकी जिस रूपसे उपासना जहां विहित है, उसको ही तद्रूप समझना चाहिए । 'यावद्वचनं वाचनिकम्' इस न्यायसे वाचनिक—वचन-बोधित—अर्थ उतना ही समझना चाहिए जितना वचनसे प्राप्त होता है, अधिक नहीं । अन्यथा अतिप्रसङ्ग हो जानेसे शास्त्र अपरिनिश्चित हो जायगा । जो इस रूपसे उपासना करनेका प्रयोजन विश्वका विलय बतलाते हैं, वह भी ठीक नहीं है, कारण कि सब वाक्योंका प्रपञ्चविलयमें ही प्रयोजन नहीं है, अन्यथा मन आदिका उपादान ही असंगत हो जायगा । प्रत्युत 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की तरह 'विश्वं ब्रह्म' ऐसा ही कहना उचित होगा । विश्वकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेसे विश्वमात्रका लय होता है । 'मनो ब्रह्म' इत्यादिसे तो एक एक विकारका लय होनेपर भी विकारान्तरके अवशिष्ट रहनेसे अद्वैतब्रह्मकी सिद्धि भी नहीं हो सकेगी ।

शङ्का—मन आदिका ग्रहण सबके ग्रहणमें उपलक्षण है ।

समाधान—मुख्य अर्थके ग्रहणमें यदि कोई बाधक हो, तो लाक्षणिकका ग्रहण होता है, अन्यथा नहीं । प्रकृतमें मुख्य अर्थके ग्रहणमें कोई बाधक नहीं है, इसलिए लाक्षणिक अर्थका ग्रहण हो ही नहीं सकता और 'आदित्यो ब्रह्म' इत्यादि वाक्य व्यर्थ हो जायँगे । 'मनो ब्रह्म' इसीमें मनको उपलक्षण माननेसे विश्वमात्रका ग्रहण सिद्ध ही हो जाता है, फिर आदित्य आदिमें ब्रह्मकी उपासनाके विधानका कुछ प्रयोजन ही नहीं है । दूसरा कारण यह भी है कि मन आदि प्रतीकोंमें आत्मबुद्धि करना अनुभवसे कहते हैं या श्रुतिके बलसे ? ये दोनों प्रकृतमें नहीं हैं । जो यह कहते हैं कि मन आदि भी आत्मविकार हैं, इसलिए उक्त रीतिसे उनमें भी ब्रह्मत्व है, अतः इनमें आत्मबुद्धि करना समुचित है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी परिस्थितिमें प्रतीक ही नहीं रह सकता, फिर उपासना किसमें की जायगी । विकारसमुदायका प्रविलय करके ही नामादि ब्रह्म जाने जाते हैं । नामादिके स्वरूपका बाध करनेपर वे कैसे प्रतीक होंगे और कैसे उनमें आत्मबुद्धि कर सकते हैं ? जो स्वरूपतः हैं ही नहीं, उनमें तो कुछ हो नहीं सकता । वस्तुतः जीव और प्रतीकका स्वरूप भिन्न है और अहंग्रहमें विधि भी नहीं है, इसलिए प्रतीकोंमें अहंग्रह नहीं करना चाहिए, और भी अहंग्रह न करनेमें कारण है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य उपासनाविधायक नहीं हैं, किन्तु जैसे रज्जुमें सर्पभ्रम होनेपर

**मैवं फलं विराड्भावः श्रुतः सोऽहंग्रहं विना।**
**न सिध्येत्सूत्रकारेण तत्क्रतुन्यायवर्णनात्॥ ९॥**

कल्पित सर्पके प्रविलयके लिए सर्पका अनुवाद कर रज्जुतत्त्वका बोधन किया जाता है, वैसे ही अवच्छिन्न अहंकारास्पदका विलय 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे किया जाता है अर्थात् त्वं—'तू' अवच्छिन्न सांसारिक सुख-दुःख-मोहसे उपप्लुत नहीं है, किन्तु ब्रह्मस्वरूप है, अतएव नित्य, शुद्ध, मुक्त तथा अनवच्छिन्न आनन्दस्वरूप है। इससे प्रकृतमें क्या आया? यह आया कि उपासनामें प्रधानीभूत प्रतीकके स्वरूपका उच्छेद करना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रधानीभूत प्रतीकका उच्छेद होनेसे उपासनाकी विधि ही नहीं हो सकेगी और यह भी विचार करना उचित है कि उपासनाविधायक वाक्योंके साथ 'तत्त्वमसि' इस वाक्यकी एकवाक्यता नहीं है जिससे कि ब्रह्मदृष्टिके उपदेशमें आत्मदृष्टिका उपदेश किया जाय, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न प्रकरणमें पड़े हैं, इसलिए एकवाक्यताका सम्भव नहीं है, अतः उपासनावाक्यमें लोकप्रसिद्ध कर्ता भोक्ता जीव संसारी ही विवक्षित है, ब्रह्म नहीं, इसलिए ब्रह्मदृष्टिका जहाँ उपदेश है वहाँ आत्मदृष्टि कैसे हो सकती है? यदि ब्रह्मरूप आत्मा पूर्व वाक्यमें अभिप्रेत होता, तो हो भी सकता। संसारी आत्माका विकार तो मन आदि नहीं हैं, अतः उनमें आत्मदृष्टिका विधान नहीं है। उपासक तथा प्रतीक दोनों समान हैं, जैसे सुवर्णके विकार कटक और केयूर। उन दोनोंमें परस्पर अभेदबुद्धि नहीं हो सकती। हां सुवर्णकी अभेदबुद्धि दोनोंमें हो सकती है।

शङ्का—जीव तो ब्रह्मस्वरूप है, ब्रह्मविकार नहीं, अतः दोनोंको समान कैसे कहते हो?

समाधान—ठीक है, किन्तु जैसे जीव अवच्छिन्न है वैसे प्रतीक भी अवच्छिन्न है, अतः अवच्छिन्नत्वरूपसे दोनों समान ही हैं॥ ८॥

श्रुत ब्रह्मलोकरूप फलकी प्राप्तिकी अन्यथा अनुपपत्तिसे प्रकृतोपासनामें अहंग्रह करना चाहिए, अन्य प्रतीकोपासनामें नहीं, यह कहते हैं—'मैवं फलं' इत्यादिसे।

उक्त आक्षेप समुचित नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें प्रकृत उपासनाका विराड्भाव फल श्रुत है, यह फल तभी होगा, जब कि प्रतीकमें अहंग्रह करेंगे, अन्यथा नहीं। अतः अन्य प्रतीकमें अहंग्रहका निषेध होनेपर भी प्रकृतमें

याद्दक्संकल्पयुक्तः सन्नुपास्ते तादृगाप्नुयात् ।
फलमित्येष एवाऽत्र तत्क्रतुन्याय ईरितः ॥ १० ॥
विराड्भावमसंकल्प्य न विराड् भवति स्वयम् ।
अतः श्रुतफलावाप्तौ भवत्येव ह्यहङ्ग्रहः ॥ ११ ॥
सर्वात्मत्वोपासनेषु कुतोऽहङ्ग्रहवर्जनम् ।
अनन्तर्भाव्य चाऽऽत्मानं कथं सर्वात्मता भवेत् ॥ १२ ॥

---

शङ्का—सब विकार ब्रह्मकार्य होनेसे ब्रह्मानुगत हैं, इसलिए प्रतीकोपासक भी तो ब्रह्मोपासक ही है ।

समाधान—नाम आदिमें ब्रह्मकी उपासना नामादितन्त्र है, ब्रह्मतन्त्र नहीं है । अन्य आश्रयके प्रत्ययका अन्य आश्रयमें निःक्षेप ही प्रतीक कहलाता है । उपासक ब्रह्माश्रय प्रत्ययका नामादि रूप आश्रयमें निःक्षेप करता है, इसलिए यह उपासना नाम-तन्त्र है, ब्रह्मतन्त्र नहीं है, इसलिए वह उपासक ब्रह्मक्रतु नहीं है, किन्तु नामादिक्रतु है; अतः प्रतीकोपासकोंको छोड़कर अन्य विकारके उपासकोंको अमानव पुरुष कार्यब्रह्मलोकमें पहुँचाता है, यह इस अधिकरणका निचोड़ अर्थ है ॥ ९ ॥

'याद्दक्संकल्पयुक्तः' इत्यादि । संकल्पका नाम क्रतु है । 'यत्क्रतुः पुरुषोऽस्मिन् लोके प्रेत्य तत्क्रतुर्भवति', 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इत्यादि वाक्योंसे उपासक पुरुष जिस जिस देवताकी उपासना करता है, उस उस देव-लोकमें प्राप्त होता है । इसी तात्पर्यसे तत्क्रतुन्यायका प्रकृतमें उपन्यास किया गया है ॥ १० ॥

'विराड्भावमसंकल्प्य' इत्यादि । विराड्भावका संकल्प किये बिना उपासक स्वयं विराड् नहीं होता, इस कारण श्रुत विराड्भावरूप फलकी प्राप्तिके लिए उक्त प्रतीकमें अहंग्रह आवश्यक है ॥ ११ ॥

केवल इन दोनों प्रतीकोंमें ही अहंग्रहकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु ऐसे फलोंसे युक्त दूसरी उपासनाओंमें भी अहंग्रहकी आवश्यकता है, यह कहते हैं—'सर्वात्मत्वोपासनेषु' इत्यादिसे ।

जिनका सर्वात्मभावापत्तिरूप फल है. ऐसी उपासनाएँ अहंग्रहके बिना कैसे

अतद्भावफलेष्वेव प्रतीकं समुपास्यते ।
तद्भावापादकेष्वात्मा गुणैस्तैस्तैरुपास्यते ॥ १३ ॥
आत्मोपासनबुद्ध्यैवमश्वाग्नी अत्र वर्णितौ ।
वाचं धेनुमितीवाऽत्र न प्रतीकप्रधानता ॥ १४ ॥
प्रतीकस्य प्रधानत्वे निषिद्धोऽहङ्ग्रहोऽन्यथा ।
प्रणवे ब्रह्मचिन्तायां लुप्येताऽहङ्ग्रहो ध्रुवम् ॥ १५ ॥

---

हो सकती हैं ? यदि उपास्यकोटिमें आत्माका अन्तर्भाव न होगा, तो सर्वात्मकत्व-रूप फल नहीं होगा, इसलिए सर्वात्मभावापत्तिरूप फलके लिए जो प्रतीको-पासनाएँ विहित हैं उनमें अहंग्रह करना आवश्यक है ॥ १२ ॥

जहाँ उपास्यस्वरूपप्राप्तिसे अतिरिक्त फल है, वहाँ अहंग्रह नहीं ही करना चाहिए; जहाँ उपासनाका फल उपास्यस्वरूपकी प्राप्ति ही है वहाँ प्रतीकमें अहंग्रह करना अत्यावश्यक है, यही नियम है । इस अभिप्रायसे कहते हैं—'अतद्भावफलेष्वेव' इत्यादि ।

उपास्यस्वरूपप्राप्तिसे अतिरिक्त फलवाली उपासनामें ही प्रतीककी उपासना की जाती है । उपास्यस्वरूपप्राप्तिरूप फलवाली उपासना श्रुतिविहित तत्-तद्गुण-विशिष्ट आत्माकी की जाती है ॥ १३ ॥

अश्वमेधके अङ्ग अश्व और अग्निरूप प्रतीकमें आत्मबुद्धि करना ही समुचित है, यह कहते हैं—'आत्मोपासनबुद्ध्यैवम्' इत्यादिसे ।

प्रकृतमें प्रजापतिभावापत्तिरूप फलके लिए अश्व और अग्निमें उपासनाका विधान है, इसलिए उपासनामें अहंग्रह करना चाहिए । 'वाचं धेनुमुपासीत' इत्यादि प्रतीकोपासनामें प्रतीक ही प्रधान है, इसलिए उसमें आत्मचिन्तनरूप अहंग्रह नहीं करना चाहिए । प्रकृतमें अतिरिक्त फल नहीं है, अतएव अहंग्रहका निषेध भी नहीं है । 'न प्रतीके०' इत्यादि सूत्र 'वाचं धेनुमुपासीत' इत्यादि प्रतीकोपासनाके विषयमें निषेध करता है । अतः प्रकृतमें उक्त सूत्रका विरोध नहीं है ॥ १४ ॥

इस प्रकारकी व्यवस्था न माननेमें बाधक कहते हैं—'प्रतीकस्य प्रधानत्वे' इत्यादिसे ।

आत्मानमश्वमग्निं च चिन्तयित्वाऽथ तं हयम् ।
काललोकादिधर्माणं समालब्धुं समुत्सृजेत् ॥ १६ ॥
अब्दमात्रं मयोत्सृष्टो विमुक्तप्रग्रहो हयः ।
अब्दादूर्ध्वं मदात्मानं मदर्थं हयमालभे ॥ १७ ॥

जिस उपासनामें प्रतीक प्रधान है, उसी उपासनामें अहंग्रहका निषेध है, अन्यथा प्रणवकी उपासनामें भी अहंग्रहके निषेधका प्रसंग होगा, जो सबके मतसे अनुचित है। प्रतीकोपासनामात्रमें अहंग्रहका लोप ही हो जाय, अन्य प्रतीकोपासनाएँ तो निषिद्ध हैं ही। यदि उपास्यके स्वरूपकी प्राप्तिरूप फलसे युक्त उपासनामें भी अहंग्रहका निषेध होगा, तो निश्चय ही उपासनामात्रमें अहंग्रहका अभाव हो जायगा, जो स्वीकारके योग्य नहीं है। प्रणवकी उपासनामें अहंग्रह सबके मतसे सिद्ध है ॥ १५ ॥

प्रसंगप्राप्त अहंग्रह कहाँ होता है और कहाँ नहीं? इस विचारको समाप्त कर प्रकृत विषयका विचार करते हैं—'आत्मानमश्वमग्निं च' इत्यादिसे।

अपने शरीरका अश्वरूपसे तथा अग्निरूपसे चिन्तन करके अर्थात् अश्वमेध यज्ञके अनधिकारी ब्राह्मण आदि अपने शरीरका ही उक्त अश्व तथा अग्नि-स्वरूपसे ध्यानकर उक्त काल, लोक आदि धर्मसे विशिष्ट अश्वस्वरूप शरीरका समालम्भन—वध—करनेके लिए छोड़ दें ॥ १६ ॥

'अब्दमात्रम्' इत्यादि। अश्वमेधका घोड़ा जैसे साल भर स्वच्छन्दरूपसे विचरनेके लिए छोड़ा जाता है वैसे ही अपने शरीरको स्वच्छन्द—मुक्त—अश्वके समान मानकर वर्षके बाद अपनी आत्माके लिए मैं अपने शरीररूपी अश्वका आलम्भन करता हूँ, ऐसा चिन्तन करे ॥ १७ ॥

प्रजापति सर्वदेवतात्मक हैं, इस कारण उनके आश्रयभूत अग्नि आदि अन्य देवताओंके लिए शास्त्रविधिके अनुसारसे ग्राम्य अजादि, आरण्य गवयादि पशु दिये। उक्त अश्व अपने लिए दिया। अतः सर्वदेवात्मक प्रजापति उक्त कर्म द्वारा पूर्ण तृप्त हुए। यह तो प्रजापतिका अपना किया हुआ अश्वमेध है। इसी प्रकार याज्ञिक लोग भी अश्वमेध कराते हैं। वर्ष भर घोड़ेको स्वच्छन्द विचरनेके लिए छोड़ देते हैं और उसकी रक्षाके लिए सेना नियुक्त कर देते हैं, जिसके भयसे कोई उसे पकड़ता नहीं है। किसीके उसे पकड़नेपर

मदात्मभ्योऽन्यदेवेभ्यो ददाम्यन्यपशूनहम् ।
अश्वेनाऽन्यैश्च पशुभिरालब्धैरस्मि तर्पितः ॥ १८ ॥
इति ध्यात्वाऽश्वमेधस्य फलत्वेनोदितं रविम् ।
संवत्सरात्मकं ध्यात्वा पुनरग्निं विचिन्तयेत् ॥ १९ ॥

ः करके वह छुड़ाया जाता है । वर्षके बाद मन्त्रजलसे संस्कृत करके सर्वदैवत्य ापत्य अश्वका आलम्भन करते हैं । यह तो यागप्रक्रिया है, किन्तु उपासक ापतिस्वरूपप्राप्तिकी इच्छासे उक्त प्रकारसे उपासना करे, यदि विरक्त हो, उसका इस उपासनामें अधिकार नहीं है, कारण कि इस उपासनामें मृत्युप्राप्ति- [ फलका कामी तथा अहंकाराभिमानी ही अधिकारी है । विरक्तमें अधिकारीकी ोषणरूपसे श्रुत कामना और अहंकार ये दोनों नहीं हैं, इसलिए अविद्यावान्‌का इसमें भी अधिकार है, वीतराग मुमुक्षुका नहीं ॥ १८ ॥

'इति ध्यात्वाऽश्वमेधस्य' इत्यादि। पूर्वोक्त अश्वमेध दो प्रकारका होता —एक कायिक और दूसरा मानसिक । प्रथम वह है जो बाह्य अश्व और ग्नि द्वारा शरीरक्रियासे यागात्मक किया जाता है । दूसरा वह है जो बाह्य व और अग्नि निरपेक्ष केवल मानसिक—कल्पित—अश्व और अग्नि द्वारा ासिक क्रियात्मक उक्त यज्ञ होता है । इन दोनों प्रकारके कर्मोंका फल क्षसिद्ध सविता—सूर्य—ही है, कार्य और कारणमें अभेदविवक्षा मानकर भी अश्वमेध कहे जाते हैं ।

शङ्का—अश्वमेध मानस तथा कायिक ( मन और देहकी ) क्रियासे पन्न होता है । सविता तो इन दोनोंकी क्रियासे नहीं बने हैं, इसलिए उक्त क्षामें भी वे अश्वमेध नहीं कहला सकते ।

समाधान—कायिक और मानसिक जो अश्वमेधक्रिया है, उसके अनुष्ठानसे अपूर्व होता है उसीका परिणाम आदित्य है यही मानस अश्वमेध है, जो र 'उषा वा अश्वस्य' इत्यादि मन्त्रसे निर्दिष्ट है। कायिक भी यही है, अश्वादि उक्त यागका साधक है 'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते' ादि श्रुति भी इसी अर्थका पोषण करनेवाली है ।

शङ्का—अश्वमेध और उसका फल ये दोनों आदित्य ही हैं, यह आप ो हैं, इसमें आदित्यका क्या आदित्यमण्डलमें तात्पर्य है अथवा उसके देवतामें ? स्पष्ट कहिये ।

क्रत्वात्मसाधकत्वेन वह्निरेषोऽर्कनामकः ।
सर्वलोकात्मकस्तौ द्वावश्वमेधार्कनामकौ ॥ २० ॥
तन्नामानौ भास्कराग्नी फलसाधनरूपिणौ ।
निर्वर्तिते स्वाधिकारे पश्चादेकत्वमश्नुतः ॥ २१ ॥

---

समाधान—द्वितीय पक्ष अभिमत है, क्योंकि आदित्य देवताका आत्मा संवत्सर है, यह श्रुतिमें स्पष्ट निर्दिष्ट है। यहाँ आत्माका अर्थ है—स्वरूप, अतः संवत्सर आदित्य देवता-स्वरूप हो सकता है, मण्डलस्वरूप नहीं।

शङ्का—संवत्सर तो द्वादश या त्रयोदश मासात्मक होनेसे कालसे परिच्छिन्न है, फिर उसे देवतात्मक कैसे कहते हो ?

समाधान—आदित्यके उदय और अस्तसे दिन और रात्रि बनती है, ३० दिन और रात्रिसे मास बनता है और १२ माससे एक संवत्सर बनता है। इस प्रणालीसे संवत्सर सवितासे ही बनता है। कार्य और कारणका तादात्म्य ही सम्बन्ध माना जाता है, इसलिए सविता संवत्सर ही है, ऐसा श्रुतिमें कहा गया है ॥१९॥

अश्वमेधयज्ञमें आदित्यदृष्टि कहकर प्रकृत यज्ञांग अग्निमें आदित्यदृष्टिके लिए कहते हैं—**'क्रत्वात्मसाधकत्वेन'** इत्यादिसे।

क्रतुस्वरूपसाधक पार्थिव कुण्डमें जो संस्कृत तेजोरस अग्नि है, वह भी अर्क ही है अर्थात् उसमें भी अग्निदृष्टि करनी चाहिए, क्योंकि पूर्व आदि दिशा रूप अग्नि सर्वलोकस्वरूप है, यह चिन्तन करना चाहिए। अग्नि और आदित्य इन दोनोंका अश्वमेधरूपसे चिन्तन करना चाहिए।

शङ्का—पूर्वोक्त अग्निको आदित्य क्यों कहते हो ? कुण्डमें संस्कृत अग्नि अग्निसे भिन्न है, आदित्यरूप अग्नि अग्निसे अन्य है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

समाधान—जो प्राच्यादिदिगात्मकस्वरूपकथन द्वारा लोकात्मक चित्याग्निका स्वरूप पूर्वमें कहा गया है, उसीको यहां भी कहते हैं, इस प्रत्यभिज्ञासे चित्याग्निको ही आदित्य कहते हैं, अन्य अग्नि आदित्य नहीं है ॥ २० ॥

अक्रियात्मक आदित्य और अग्नि अश्वमेध कैसे कहलाते हैं ? अश्वमेध तो क्रियात्मक है, ये दोनों सिद्ध द्रव्यस्वरूप हैं, यह कहते हैं—**'तन्नामानौ भास्कराग्नी'** इत्यादिसे।

एकत्वरूपः प्राणात्मा मृत्युशब्दोक्त ईश्वरः ।
सोऽहमस्मीत्यभिध्यायेदातादात्म्याभिमानतः ॥ २२ ॥
इहैव देवो भूत्वाऽसौ शरीरे पतिते ततः ।
पुनर्देहं न गृह्णाति मृत्युर्भूत्वाऽवतिष्ठते ॥ २३ ॥

---

उक्त क्रतुका आत्मा आदित्य है, क्योंकि यह फल है, और अग्नि उक्त यागका साधन है, इसलिए साधनात्मा है। दोनों प्राणोपासनादिव्यापार द्वारा प्राणात्मक होनेसे एक ही कहे जाते हैं, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'**निवर्तते**' इत्यादि ।

अग्नि और आदित्य देवता जबतक अपने अधिकार—पद—पर आरूढ़ हैं तबतक अपने-अपने कार्य करते हैं, अतएव भिन्न-भिन्न स्वरूपसे प्रतीत होते हैं। वर्तमान सर्गावसानसमयमें इनका समय समाप्त हो जायगा। तब फिर दोनों एक हो जायँगे ।

'**एकत्वरूपः**' इत्यादि । सूत्रात्मा विश्वमात्रमें अनुवृत्त है, अतएव सूत्रात्मा जो प्रजापति हैं, उनका अधिकार उनके सौ वर्ष तक रहता है। उसके अनन्तर पूर्वोक्त आदित्य और अग्नि इन दोनोंका भी अधिकार समाप्त हो जाता है, अतः ये भी दोनों प्रजापतिरूपसे एक हो जाते हैं, और प्राणोपासक भी तत्स्वरूपापन्न हो जाता है। इसलिए तबतक प्राणकी उक्त उपासना करनी चाहिए जबतक उक्त एकत्वरूप मृत्युशब्दसे निर्दिष्ट प्राणात्मा ईश्वर प्रजापतिस्वरूप ही मैं हूँ, यह अभिमान उपासकको न हो जाय। उक्त अभिमान होनेपर उपासनाकी समाप्ति हो जाती है। फलोत्पत्तिपर्यन्त ही कर्मका अर्थात् उपायका अनुष्ठान किया जाता है। फलसिद्धिके बाद त्याग करना ठीक ही है ॥ २२ ॥

प्रकृत उपासनाका फल कहते हैं—'**इहैव देवो**' इत्यादिसे ।

प्राणोपासकका जब शरीर नष्ट हो जाता है तब वह उक्त प्रजापतिस्वरूप होकर सर्गावसान तक सर्गमें ही रहता है। उसके—प्रजापतिके—साथ वह भी मुक्त हो जाता है। सकल लोकका संहार प्रजापतिसे होता है, इसलिए प्रजापति ही मृत्युस्वरूप है ॥ २३ ॥

सर्वदेवसमष्ट्यात्मा द्वैतैकत्वात्मकः प्रभुः ।
भवत्युपासकः सोऽत्र मृत्युः संहारहेतुतः ॥ २४ ॥
उपास्तितत्फले प्रोक्ते निष्कृष्याऽत्राऽर्थवादतः ।
अर्थवादस्य तात्पर्यमतः परमुदीर्यते ॥ २५ ॥

'सर्वदेवसमष्ट्यात्मा' इत्यादि । 'अशनाया हि मृत्युः' इत्यादि श्रुतिसे अशनायासे उपलक्षित अशनायापिपासावती जो सब स्थूलका संहार करनेवाली प्राणाख्य देवता है वही उपास्य कही गई है । तत्क्रतुन्यायसे वही उपासककी आत्मा है ।

शङ्का—यदि प्रकृत उपासनाका अशनायापिपासावती प्राणस्वरूपप्राप्ति फल है, तो उपासक सदा भूख तथा प्याससे पीडित ही रहेगा, तो इससे सुखके बदले दुःख ही अधिक होगा । अतः अनर्थके लिए किसी भी बुद्धिमान् पुरुषकी इस उपासनामें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ।

समाधान—अजर और अमर लोकसमष्टिप्राणात्मक प्रजापति फल है, अतः वर्तमान शरीरपातके अनन्तर जरा, मरण, विविध रोगोंके योग्य शरीरचक्रसे उपासकका छुटकारा हो जाता है, इसलिए वह सब सांसारिक उपद्रवोंसे रहित हो जाता है । अशनायादिका तात्पर्य यह नहीं है कि उक्त प्राण देवता सतत भूख और प्याससे व्याकुल रहती है, किन्तु सकल प्रपञ्चका यही संहार करनेवाली है, दूसरा नहीं । अपना संहार तो कोई करता नहीं । दूसरा संहार करनेवाला है नहीं, इसलिए उपासक अजर और अमर हो जाता है ।

शङ्का—यदि प्राणस्वरूपापन्न होनेपर उपासकका शरीर नष्ट नहीं होगा, तो वह शरीर कैसे कहलायेगा ? शरीर तो उत्पन्न होता है, अतएव विनाशी है और आप कहते हैं कि वह अविनश्वर है, यह कथन तो स्पष्टरूपसे व्याहत है कि शरीर और अविनाशी । ठीक है, मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि वर्तमान शरीरपातके अनन्तर सकल सांसारिक सम्बन्धोंसे मुक्त हो जाता है फिर दूसरा शरीरसम्बन्ध नहीं होता, जिसमें नाशका भय हो । वर्तमान शरीर स्थित ही रहता है, यह नहीं है । आदित्य, अग्नि आदि समस्त देवताओंसे अभिन्न अतएव सकल देवताओंके आत्मस्वरूप हो जाता है, यही प्रकृत उपासनाका फल है ॥ २४ ॥

उक्तका अनुवाद करते हुए उत्तर ग्रन्थका तात्पर्य कहते हैं—'उपास्ति०' इत्यादिसे ।

अवान्तरं महच्चेति द्विधा तात्पर्यमेतयोः ।
महातात्पर्यमत्र स्यादुपास्याग्निप्रशंसनम् ॥ २६ ॥
अवान्तरं तु तात्पर्यमग्न्युत्पत्तावतो जनिम् ।
वह्नेर्वक्तुमियं सृष्टेः प्रागवस्थाऽत्र वर्ण्यते ॥ २७ ॥
नैवेह किञ्चनाऽग्रेऽभून्मृत्युनैवेदमावृतम् ।
इति श्रुतौ प्रागवस्था तत्रैतत्प्रविचार्यते ॥ २८ ॥
प्रागवस्था शून्यरूपा सद्रूपा वेति संशये ।
नैवेह किञ्चनेत्युक्तेः शून्यं स्यादिति केचन ॥ २९

इस ब्राह्मणमें उपासना और उसका फल—ये दोनों कहे जा चुके । अब अर्थवादका तात्पर्य कहा जाता है ॥ २५ ॥

'अवान्तरम्' इत्यादि । प्रकृतमें अर्थवादके दो तात्पर्य हैं, एक महातात्पर्य और दूसरा अवान्तरतात्पर्य । प्रथम तात्पर्य उपास्य अग्निकी प्रशंसामें है ॥२६॥

'अवान्तरम्' इत्यादि । अर्थवादका अवान्तर तात्पर्य अग्निकी उत्पत्तिमें है । इस कारण वह्निकी उत्पत्तिका बोधन करानेके लिए सृष्टिकी पूर्व अवस्थाका यहांपर वर्णन किया जाता है । अग्निकी उत्पत्ति महान् और पवित्र कारणसे हुई है, इसलिए अति पवित्र होनेसे वह उपास्य है अर्थात् उक्त फलके अभिलाषियोंके लिए अवश्य उपासनीय है ॥ २७ ॥

प्रागवस्थाके प्रतिपादक वाक्य पढ़ते हैं—'नैवेह' इत्यादिसे ।

'नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् । अशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्याम्' यह श्रुति अश्वमेधोपयोगी अग्निकी उत्पत्ति बतलानेके लिए कहते हैं, क्योंकि प्रकृतमें अग्निविषयक विज्ञान विधेय है, अतएव विवक्षित है । इसके लिए अग्निकी उत्पत्तिका कथन है । इस जगत्में नामरूपात्मक कोई भी वस्तु नहीं थी । तो क्या शून्य ही था ? बौद्ध कहते हैं—'नैवेह किञ्चन' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति तथा 'विमतं जगत् प्रागसत्, उत्पद्यमानत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा परमते ब्रह्म' इस अनुमानसे उस अवस्थामें वस्तुतः शून्य ही था ॥ २८ ॥

'प्रागवस्था' इत्यादि । सृष्टिकी प्रागवस्था शून्यरूप है, या सद्रूप है, ऐसा संशय होनेपर बौद्ध लोग उक्त प्रकारसे 'शून्यरूप है' यह कहते हैं ॥ २९ ॥

नैवं यतः श्रुतिः साक्षात्सत्त्वमेवाऽवदत्स्वयम् ।
कार्यकारणयोः स्पष्टं मृत्युनैवेति सादरा ॥ ३० ॥
मृत्युना कारणेनेदं कार्यं सर्वं समावृतम् ।
आवृतौ कारकाभावे श्रुतिर्नाऽवक्ष्यदीदृशम् ॥ ३१ ॥

बौद्ध द्वारा उक्त मतका निराकरण करते हैं,—'नैवं यतः' इत्यादिसे ।

शून्य कहना ठीक नहीं है, कारण कि श्रुतिने ही स्वयं 'मृत्युनैवेदमाऽऽवृतम्' इत्यादिसे कार्य तथा कारणकी सत्ता कही है । यदि उस अवस्थामें कुछ न होता, तो यह मृत्युसे आवृत था, ऐसा श्रुति कैसे कहती ? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जगत् था, किन्तु आवृत होनेसे प्रतीत नहीं होता था, जैसे तिलमें तैल है, किन्तु आवृत होनेसे प्रतीत नहीं होता । निष्पेषण आदि व्यापारसे जब प्रतिबन्धक हटाया जाता है, तब तैलकी अभिव्यक्ति होती है । इसी तात्पर्यसे श्रुति कहती है कि 'मृत्युसे आवृत था' ॥ ३० ॥

'मृत्युना' इत्यादि । यह दृश्य—निखिल प्रपञ्च—मृत्युनामक कारणसे आवृत था, यह कथन तभी ठीक हो सकता है, जब कि प्रागवस्थामें कार्य जगत् रहे । अन्यथा कर्मका अभाव होनेसे यदि आवरणीय पदार्थ ही नहीं रहेगा, तो आवरण किसका होगा ? ग्रामके बिना 'ग्रामं गच्छति' यह प्रयोग नहीं हो सकता । इसलिए श्रुतिरूप प्रमाणसे प्रागवस्थामें भी जगत्की सत्ता सिद्ध होती है । तथा यदि आवरक पदार्थ भी न होता, तो 'मृत्युसे आवृत था' यह कहना ही असंगत हो जाता, क्योंकि वन्ध्यापुत्र आकाशपुष्पसे ढका था, ऐसा प्रयोग नहीं होता, क्योंकि आच्छाद्य वन्ध्यापुत्र और आच्छादक आकाशपुष्प ये दोनों ही अप्रसिद्ध हैं । प्रकृतमें 'मृत्युसे आवृत था' ऐसा श्रुति स्पष्ट कहती है, इसलिए प्रागवस्थामें भी कारण और कार्यकी सत्ता सिद्ध होती है । जो कार्य कारणमें रहता है, वही कारकव्यापारके अनन्तर आविर्भूत होता है । जो उसमें नहीं रहता, उसकी अभिव्यक्ति उस कारणसे नहीं होती । निष्पेषण करनेपर तिलसे तैल निकलता है, वालूसे नहीं, क्योंकि वालूमें पहले तेल नहीं रहता और तिलमें रहता है, यही न्याय सर्वत्र कार्य और कारणमें समझना चाहिए। प्रकृतमें इसी प्रकार उत्पत्तिसे पहले ब्रह्म और उसके कार्य जगत्की सत्ता अनुमानसे सिद्ध होती है । कारणका अनुमान इस प्रकार होता है—'विमतं सत्पूर्वकम्, कार्यत्वात्, कुम्भवत्, नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' इस

शङ्का—पिण्डसे अतिरिक्त तो मृत्तिका है नहीं, जब पिण्ड कारण नहीं है, तो फिर मृत्तिका कहाँ ? जिसको कारण कहते हैं। पिण्ड आदि कार्यका उपमर्दन होनेसे मृत्तिकारूप कारणका उपमर्दन नहीं होता। घटादि कार्यमें मृत्तिकाका अन्वय देखते हैं, यह भी कहना असंगत ही है। पिण्ड तथा घट आदि कार्यसे अतिरिक्त मृत्तिकाका उपलम्भ ही नहीं है, तो फिर अन्वयव्यावृत्तिकी क्या चर्चा ?

समाधान—यह तो देखते हैं कि पिण्ड आदि अवस्थाकी निवृत्ति होनेपर भी घट आदि कार्यमें मृत्तिकारूप कारणकी अनुवृत्ति होती है, अतएव 'मृद् घटः' इत्यादि प्रतीति होती है। यदि घट आदि अवस्थामें मृत्तिका न होती, तो 'मृद् घटः' यह प्रतीति कैसे होती ? अतएव पूर्व दिन में जो केवल मिट्टी थी उसे ही आज घटरूपसे देखते हैं, यह प्रत्यभिज्ञा भी होती है। यदि घटावस्थामें मृत्तिका न होती, तो उक्त प्रत्यभिज्ञा ही कैसे होती ?

शङ्का—बौद्धमतमें 'यत् सत् तत् क्षणिकम्, सन्तश्चेमे भावाः, तस्मात् क्षणिकाः' इस व्याप्तिसे पदार्थमात्र क्षणिक हैं, इसलिए सब जगह प्रत्यभिज्ञा सादृश्यमात्रसे होती है। अतः अभेदमें उक्त प्रत्यभिज्ञा प्रमाण नहीं है। मृत्तिकाका अन्वय भी सादृश्यसे ही होता है, वस्तुतः नहीं।

समाधान—पिण्डादि कार्यगत मृत्तिकाके अवयवोंका ही घटमें प्रत्यक्ष होता है। इसलिए क्षणिकत्वका अनुमान प्रत्यक्षविरोधसे आभासमात्र है, सदनुमान नहीं, अतः सादृश्य आदिकी कल्पना व्यर्थ है।

शङ्का—उक्त प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्षसे पिण्डगत मृत्तिकाके अवयवोंका ही घटमें प्रत्यक्ष होता है, इसलिए उसे कारण मानना ठीक है। और उक्त क्षणिकत्वके अनुमानसे कारणैक्य नहीं हो सकता, अतः उक्त प्रत्यभिज्ञाको सादृश्यनिबन्धन मानना चाहिए। अव्यभिचारी विरुद्ध दो प्रमाण प्रकृतमें प्रसक्त हैं। वस्तु उभयात्मक हो नहीं सकती। अतः इन दोनोंमें एकतरका बाध अवश्य मानना चाहिए। किसका बाध उचित है ? इस समीक्षामें प्रत्यक्षसे क्षणिकत्वके अनुमानका बाध होना ठीक है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्येष्ठ है तथा अनुमान आदि प्रमाणोंका उपजीव्य है। दृष्टान्तमें व्याप्ति आदिके ग्रहके बिना अनुमान आदि नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष अनुमान आदिके बिना भी होता है। प्रत्यक्षमें अनुमान आदि निमित्त नहीं है, अतः प्रत्यक्ष ही बलवान् है। इससे अनुमानका बाध होना ठीक है।

शङ्का—उपजीव्य होनेसे प्रत्यक्ष बलवान् अवश्य है, परन्तु यहां तो प्रत्यक्षसे अनुमानका विरोध नहीं है। प्रत्यभिज्ञासे विरोध है, प्रत्यभिज्ञा प्रकृत अनुमानमें उपजीव्य नहीं है, क्योंकि समान बलवालोंका ही विरुद्ध अव्यभिचारित्व दृष्ट है, सो प्रकृतमें है।

समाधान—यद्यपि प्रत्यभिज्ञाके साथ उपजीव्य और उपजीवक भाव नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षके ही साथ है, तथापि उपजीव्यजातीय प्रत्यभिज्ञा भी है। दोनोंमें प्रत्यक्षत्व जाति है, इसलिए प्रत्यभिज्ञा ही अनुमानकी अपेक्षा प्रबल है। उपजीवकजातीय अनुमान होनेसे बाध्य भी है और भावमात्रको क्षणिक माननेपर प्रत्यभिज्ञा ही असम्भव है। आत्मा भी तो भावमें आया है, सो भी यदि बौद्धमतसे क्षणिक हो, तो फिर सादृश्यनिबन्धन भी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। पूर्वोत्तरवर्तिक्षणद्वयमें यदि द्रष्टा रहेगा, तो दोनोंमें सदृश धर्म देख सकता है। अन्य दृष्टका अन्य तो स्मरण करता नहीं। बौद्ध-मतमें आत्मा भी क्षणिक ही है। पूर्वोत्तर क्षणका एक द्रष्टा यदि मानें, तो उक्त व्याप्तिका ही भङ्ग हो जायगा। न माननेपर सादृश्यनिबन्धन भी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। और भी देखिए—प्रत्यभिज्ञा प्रत्यभिज्ञायमान अर्थमें स्वयं प्रमाण नहीं है, क्योंकि बुद्ध्यन्तरसंवादसे ही बुद्ध्यन्तरमें प्रामाण्य होता है। स्थायित्वसाधक बुद्ध्यन्तर है नहीं, इसलिए प्रत्यभिज्ञाय-मान अर्थ भी क्षणिक हो सकता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि क्षणिकत्वबुद्धि भी तो स्वतः क्षणिकत्वमें प्रमाण नहीं है, बुद्ध्य-न्तरसंवादसे ही प्रमाण मानी जायगी। बुद्ध्यन्तर भी तो स्वतः प्रमाण नहीं है, इसलिए पूर्व-पूर्व बुद्धिमें उत्तर-उत्तर बुद्धिकी अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोष होगा। और क्षणिकत्वबुद्धिमें भी प्रामाण्य गृहीत नहीं हो सकेगा, इसलिए बुद्धिको स्वयं प्रमाण बौद्धोंको भी मानना पड़ेगा। स्वतः प्रमाण माननेसे क्षणिकत्वबुद्धि-प्रमाण द्वारा जैसे क्षणिकत्वकी सिद्धि होती है, वैसे ही प्रत्यभिज्ञाप्रमाणसे प्रत्यभिज्ञायमान पदार्थमें स्थायित्व भी सिद्ध होता है। और यह भी दोष है—'इदं क्षणिकम्' ये दोनों बुद्धियां एक ही आश्रयमें होती हैं, या भिन्न आश्रयमें? प्रथम पक्षमें आश्रयमें क्षणिकत्व नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों क्षणोंमें उसकी अनुवृत्ति आवश्यक है। 'इदं क्षणिकम्' ये दोनों बुद्धियां एक ही आश्रयमें हैं। द्वितीय पक्षमें क्षणिकत्वविशिष्ट एक अर्थका ज्ञान अन्यतर अर्थात् पूर्वक्षणवर्ती

**सत्तामात्रस्वरूपं यद् ब्रह्माज्ञातसतत्त्वकम् ।**
**मृत्युर्जनिमतः साक्षात्तत्राऽशेषजगल्लयात् ॥ ३२ ॥**

आश्रय तथा उत्तरक्षणवर्ती आश्रयको नहीं होगा । जिसको अर्थज्ञान होगा, उसको क्षणिकत्वज्ञान नहीं होगा, जिसको क्षणिकत्वज्ञान होगा, उसको अर्थज्ञान नहीं होगा ।

शङ्का—बुद्धि तो अनाधार है, अतः आश्रयविषयक प्रश्न ही असङ्गत है ।

समाधान—अज्ञातका ज्ञान होता है, अजातका जन्म होता है, यह जिनका मत है, उनके मतमें भी प्रत्यभिज्ञा प्रमाण है ।

शङ्का—अज्ञातका ज्ञान तथा अजातका जन्म होता है, ऐसी प्रतिज्ञा तो हम लोगोंने ( बौद्धोंने ) नहीं की है ।

समाधान—यदि नहीं की है, तो क्या ज्ञातका ज्ञान तथा जातका जन्म आप मानते हैं ? यदि ऐसा मानें, तो अनवस्था दोष अवश्य होगा । और यह भी कहिए कि प्रत्यभिज्ञामें अप्रामाण्य स्वतः मानते हैं या परतः ? प्रथम पक्षमें क्षणिकत्वबुद्धिसे भी स्वार्थका निश्चय नहीं हो सकता, यह भी प्रत्यभिज्ञाकी तरह स्वतः अप्रमाण ही होगी । द्वितीय पक्षमें अनवस्था कह ही चुके हैं और अविश्वास भी हो जायगा, क्योंकि आपके मतानुसार सब बुद्धियां अप्रमा हैं । स्वतः अर्थका तो प्रामाण्य है नहीं । परतः पक्षमें अनवस्था ही है, अतः वह पक्ष बन नहीं सकता । अतः यदि किसी भी बुद्धिसे कोई अर्थ निश्चित नहीं हो सकता, तो फिर 'सब क्षणिक है' यह भी नहीं सिद्ध हो सकता है । और भी विचारिए—'तत्' और 'इदम्' इस प्रकारकी दो बुद्धियोंमें एक धर्म है या नहीं ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि क्षणद्वयस्थायी एक धर्म यदि नहीं मानते हो, तो 'सब क्षणिक है' इस प्रतिज्ञाका ही भङ्ग होता है । द्वितीय पक्षमें तदिदंबुद्धिमें सादृश्यसे तद्बुद्धि होती है, यह कहना निराधार है । आश्रय आत्मा और विषय घटादि—इन दोनोंमें यदि कोई स्थिर नहीं है, तो सादृश्य-निबन्धन भी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, यह तो अतिस्पष्ट है । क्षणिकत्व-विरोधी प्रत्यक्षके रहते तद्विरुद्ध क्षणिकत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि इसका साधक कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए क्षणिकत्वका अनुमान आभास है, इत्यादि बौद्धोक्त निराकरणका संक्षेप है ॥ ३१ ॥

'सत्तामात्रस्वरूपं यत' इत्यादि ।

लयो नामाऽत्र नाऽभावस्तस्य वस्त्वविभेदतः ।
भिन्नत्वेन परैरिष्टो नाऽभावो वस्तुनः पृथक् ॥ ३३ ॥

शङ्का—प्रसिद्ध मृत्यु जगत्का नाशक है, किन्तु कारण नहीं है, अतः उससे जगत्का आवरण कैसे हो सकता है? उत्पत्तिसे पूर्व कारणमें सूक्ष्मरूपसे कार्य रहता है, पर कारणसे आवृत होनेसे वह प्रतीत नहीं होता, यही आपका वक्तव्य है, किन्तु आवरक क्या है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'मृत्यु' इत्यादिसे। लेकिन प्रसिद्ध मृत्यु तो जगत्कारण नहीं है, इसलिए वह उक्त कार्यका आवरक कैसे हो सकती है?

समाधान—ठीक है, यहां मृत्युशब्दसे जगत्कारण अशनायाद्युपलक्षित अनभिव्यक्तनामरूप प्रत्यक्षायोग्य अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतावस्थातिरिक्त मायारूप साभास ही विवक्षित है, जैसे पिण्डावस्थापन्न मृत्तिकासे घट आवृत रहता है और उसीसे अभिव्यक्त होता है वैसे ही सब कार्य उक्त हिरण्यगर्भावस्थ अज्ञात सत्त्वक सत्तामात्रस्वरूप ब्रह्मसे आवृत है और उसीसे आविर्भूत होता है। सकल कार्यके संहारका हेतु है, इसलिए मृत्यु कहा जाता है ॥ ३२ ॥

सकल जगत्का यदि ब्रह्ममें लय मानते हो, तो लय तो ध्वंस ही है, इसलिए ध्वंस ब्रह्ममें रहता है, यह सिद्ध होता है। तब उत्पत्तिसे पहले कारणमें प्रागभाव भी मानना चाहिए। यदि ऐसा है, तो उत्पत्तिसे पूर्व कार्य सत् है, यह कहना असंगत है, 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्यादि वचनविरोध भी होता है, इत्यादि शङ्काके परिहारके लिए कहते हैं—'**लयो नामाऽत्र नाऽभावः**' इत्यादिसे।

लय यहां अभावात्मक ध्वंस नहीं विवक्षित है। भावसे अतिरिक्त अभाव है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है, किन्तु भावात्मक ही अपेक्षाबुद्धिविशेषसे अभावशब्दसे व्यवहृत होता है, अतएव—

'भावान्तरमभावो हि कयाचित्तुव्यपेक्षया ।
स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ॥
वस्तुनि ज्ञायते रूपं किञ्चित् कैश्चित्कदाचन ।'

इत्यादि वचन भावात्मक अभावमें ही प्रमाण है, इसका विशेषरूपसे निरूपण आगे चलकर करेंगे। इस अभिप्रायसे कहते हैं कि 'परैरिष्टः' इत्यादि। नैयायिक अभावको भावसे अतिरिक्त कहते हैं, सो ठीक नहीं है ॥३३॥

सूक्ष्मं वस्त्वनभिव्यक्तमपश्यन् मन्दहक् पुमान् ।
नास्तीत्यभावतां वक्ति शून्यता नास्ति तावता ॥ ३४ ॥
अभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती भावाभावौ तथा सति ।
नैवेहेत्यनभिव्यक्तिमपेक्ष्य श्रुतिरब्रवीत् ॥ ३५ ॥
नाऽभिव्यक्ते नामरूपे सृष्टेः पूर्वं तथापि च ।
विद्येते इत्यभिप्रेत्य श्रुतिरावृततां जगौ ॥ ३६ ॥

'सूक्ष्मं वस्त्वनभिव्यक्त०' इत्यादि । 'घटो नास्ति' इत्यादि ।

व्यवहारका मूल यह है कि जबतक मृत्तिकासे घटकी अभिव्यक्ति नहीं होती या मृत्तिकामें जबतक घटका लय नहीं हो जाता, तबतक घट सूक्ष्मरूपसे मृत्तिकामें रहता है । पर मन्दहक् असूक्ष्मदर्शी पुरुष घटके स्थूल रूपको न देख कर 'नास्ति घटः' इस व्यवहारसे घटका अभाव मान लेता है । अल्पज्ञके माननेसे कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए इस व्यवहारसे शून्यात्मक अभाव पृथक् पदार्थ नहीं कहा जा सकता ॥ ३४ ॥

स्वमतमें भाव और अभावका स्वरूपकथनपूर्वक फलितार्थ कहते हैं—'अभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती' इत्यादिसे ।

घट आदिकी अभिव्यक्तिको भाव कहते हैं और उसकी अनभिव्यक्तिको अभाव कहते हैं, ऐसी परिस्थितिमें 'नैवेह किञ्चन आसीत्' इत्यादि श्रुतिमें अनभिव्यक्त्यवस्थाके तात्पर्यसे नञ् द्वारा अनभिव्यक्तिका प्रतिपादन किया गया है, अतिरिक्त अभावका नहीं ॥ ३५ ॥

उक्त अर्थका ही स्पष्टीकरण करते हैं—'नाऽभिव्यक्ते' इत्यादिसे ।

सृष्टिसे पूर्वकालमें नामरूपकी यद्यपि अभिव्यक्ति नहीं है, तो भी वे अपने कारणमें विद्यमान ही हैं ।

शङ्का—यदि वे विद्यमान हैं, तो सृष्टिके बाद जैसे अभिव्यक्त होते हैं । और नामरूपात्मक व्यवहार होता है, वैसे ही सृष्टिसे पूर्व क्यों व्यवहार नहीं होता ?

समाधान—इसी अभिप्रायको लेकर श्रुति कहती है कि वे आवृत हैं, जैसे अन्धकारसे आवृत घटका व्यवहार नहीं होता और प्रदीपप्रकाश द्वारा अन्धकारका निराकरण करनेपर वहाँपर स्थित घटकी अभिव्यक्ति होती है —

सन्मूलाः सदवस्थानाः सल्लया अखिलाः प्रजाः ।
इति कालत्रयेऽप्यस्य जगतः सत्त्वमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

हार होता है। वैसे ही सृष्टिसे पूर्व, अन्धकारावृत घटके सदृश, मृत्युसे आवृत होनेसे अनभिव्यक्त रहते हैं और सृष्टि होनेपर अभिव्यक्त हो जाते हैं और व्यवहार भी होता है।

शङ्का—यदि सृष्टिसे पूर्व भी सब कार्य विद्यमान हैं, तो 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिसे जो यह कहा गया है—'सत् ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ नहीं था, केवल अद्वैत ब्रह्म ही था—वह असंगत हो जायगा, क्योंकि आपके कथनके अनुसार प्रपञ्च भी है ही और श्रुति मन्ददृक् भी नहीं है जिससे कि वह ब्रह्ममें विद्यमान नाम-रूपको नहीं देखकर और उसके अभावको मानकर अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन करती है, ऐसा कह सकें, क्योंकि श्रुति अतीत, अनागत, स्थूल तथा सूक्ष्म निखिल अर्थका यथार्थ प्रतिपादन करती है, फिर अद्वितीय वस्तु कैसे सिद्ध होगी ? यदि अद्वितीय ही सत्य वस्तु है, तो कारणमें सूक्ष्मरूपसे भी कार्यकी सत्ता नहीं माननी चाहिए ।

समाधान—यद्यपि ब्रह्ममें सूक्ष्मरूपसे सभी कार्य विद्यमान हैं, तथापि उनकी कारणसत्तासे अतिरिक्त सत्ता है नहीं, इसलिए स्वसत्तातिरिक्त सत्ता-शून्यत्वके तात्पर्यसे उस अवस्थामें भी ब्रह्म अद्वितीय ही है। केवल उसी अवस्थामें नहीं, किन्तु सर्गावस्थामें भी ब्रह्म अद्वितीय है। 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीति आरोपित ब्रह्मसत्ताको लेकर उपपन्न होती है, इसलिए उक्त प्रतीतिके निर्वाहके लिए कार्यकी अलग सत्ता माननेकी आवश्यकता नहीं है, यह सब 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्रके भाष्यादिमें स्फुट है ॥ ३६ ॥

सत् ब्रह्म ही जगत्का उपादान कारण है, इस अर्थका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका निर्देश करते हैं—'सन्मूलाः' इत्यादिसे ।

सत्—ब्रह्म—है मूल कारण जिसका वह सन्मूल कहलाता है तथा सत्—ब्रह्म—ही है आपततः अवस्थान जिसका वह सदवस्थान कहलाता है एवं सद्ब्रह्ममें ही जिसका लय है वह सल्लय कहलाता है। एवं च ये निखिल प्रजा सन्मूल, सदवस्थान तथा सल्लय हैं, ऐसा समझना चाहिए। जिससे उत्पत्ति, जिसमें स्थिति और जिसमें जिसका लय होता है वही उसका उपादान

मृदं घटं कपालं च पश्यामस्तत्र वादिनः ।
प्रागभावं मृदि प्राऽऽहुः कपाले ध्वंसमूचिरे ॥ ३८ ॥

कारण होता है। जगत्के ये तीनों विकार ब्रह्ममें ही होते हैं, इसलिए जगत्के उपादानभूत ब्रह्मकी सत्तासे ही कालत्रयमें अर्थात् उत्पत्तिसे पूर्व समय, वर्तमान समय एवं ध्वंससमयमें सूक्ष्मरूपसे कारणमें कार्य सत् है, इस प्रकार कालत्रयमें कारणकी सत्तासे कार्य सत् कहा जाता है, अतएव कारणसत्तासे अतिरिक्त सत्ताके अभावके तात्पर्यसे 'ब्रह्म अद्वैत है' यह श्रुतिने निर्देश किया है ॥ ३७ ॥

'मृदं घटम्' इत्यादि । हम लोग मिट्टी, घट और कपाल—इन तीनोंको ही देखते हैं । उसमें नैयायिक आदि वादी मिट्टीमें घटका प्रागभाव और कपालमें घटका ध्वंस मानते हैं और उसमें प्रमाण यह देते हैं कि पिण्डावस्थामें 'इह घटो भविष्यति' यह प्रतीति होती है और कपालमें घटनाशोत्तर 'इह घटो ध्वस्तः' इत्याकारक प्रतीति होती है, इसलिए मिट्टीकी अवस्थामें उसका प्रागभाव और कपालावस्थामें उसका ध्वंस रहता है । वेदान्ती लोग कहते हैं कि उनकी उक्त दलील ठीक नहीं है, कारण कि उस अवस्थामें 'इह घटो भविष्यति' यह प्रतीति मिट्टीमें सूक्ष्मरूपसे विद्यमान घटका ही आलम्बन करती है, उससे अतिरिक्त प्रागभावका नहीं । एवं नाशके बाद कपालमें उक्त प्रतीति सूक्ष्मरूपसे लीन घटको ही विषय करती है, उससे अतिरिक्त ध्वंसको नहीं । इस प्रकार अभाव विषयमें विवाद है, अतः विचार कर देखना चाहिए कि तत्त्व क्या है ?

इस परिस्थितिमें नैयायिक कहते हैं—विलक्षण प्रतीतिसे भाव और अभाव ये दोनों पदार्थ परस्पर विरोधी हैं, अतएव वे भिन्न हैं । वेदान्ती कहते हैं—भावसे अतिरिक्त अभाव है नहीं, मिट्टीकी कभी पिण्डावस्था कभी कपालावस्था होती है, इससे अतिरिक्त और कोई पिण्ड तथा कपालमें रहनेवाला प्रागभाव तथा ध्वंस नहीं दीख पड़ता, इसलिए अभाव अतिरिक्त है, यह प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता । और चार प्रकारके अभाव नैयायिक मानते हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव । इनमें अन्योन्याभाव प्रतियोगी घटसे अतिरिक्त पटादिस्वरूप ही है । यदि पटादिसे अतिरिक्त मानें, तो उसका अन्योन्याभाव भी घटसे अतिरिक्त ही होगा, अतः घटके अन्योन्याभावमें भी घटका अन्योन्याभाव मानना पड़ेगा, एवं अन्योन्याभावनिष्ठ अन्योन्याभावमें भी

तीसरा अन्योन्याभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि वह भी तो घट नहीं है। इस प्रकार अनवस्था होगी, इसलिए घटका अन्योन्याभाव पटादिस्वरूप है। पट आदि भावस्वरूप हैं, यदि अभावस्वरूप होते, तो पटकी अभावात्मक प्रतीति होती, एवं प्रागभाव तथा ध्वंस भी भावात्मक ही हैं। भावात्मक होनेपर यह विचार करना चाहिए कि घटस्वरूप है या पटादिस्वरूप है? यदि पटादिस्वरूप मानें, तो वह हो नहीं सकता, कारण कि ऐसा माननेपर वह अन्योन्याभावस्वरूप ही होगा, तदतिरिक्त नहीं हो सकेगा। यदि घटस्वरूप कहियेगा, तो 'घटस्य प्रागभावः' इत्यादि प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि भेदके बिना षष्ठी नहीं हो सकती।

यदि कहो कि 'राहोः शिरः' इत्यादिके समान प्रकृतमें भी अभेदमें भेदकी कल्पना करके 'घटस्य प्रागभावः' यह प्रतीति बन सकती है, तो इसका उत्तर यह है कि हां हो सकती है, किन्तु सम्बन्धकी कल्पना इसलिए करनी पड़ती है कि जहाँ दो सम्बन्धी नहीं रहते, क्योंकि अनुयोगी और प्रतियोगी रूप दो सम्बन्धियोंके बिना वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए जैसे अभिन्नमें षष्ठीके लिए सम्बन्धकी कल्पना करनी पड़ती है, वैसे ही द्वितीय सम्बन्धीकी भी कल्पना करनी पड़ती है, इस तरह एकसम्बन्धित्वेन इष्ट तो है पर अपरसम्बन्धित्वेन इष्ट प्रागभाव तो घटातिरिक्त है नहीं, फिर किसके साथ उक्त कल्पित सम्बन्ध होगा, इसलिए सम्बन्धकी तरह द्वितीय सम्बन्धी भी कल्पित ही मानना पड़ेगा।

यदि ऐसी स्थिति है, तो प्रागभाव शुक्तिरजतके सदृश कल्पित ही है, वास्तविक पदार्थ नहीं। यदि अभावको अतिरिक्त मानते हो, तो घटकी उत्पत्तिसे पूर्व मृत्तिकामें उसके न रहनेसे आकाशपुष्पकी तरह असत् होगा। फिर कारणके व्यापारके अनन्तर भी उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि स्वकारणसत्तासम्बन्ध ही उत्पत्ति है, सम्बन्ध सतोंका होता है, सद् और असत्का नहीं। अयुत सिद्धोंके सम्बन्धमें यह दोष नहीं है। युतसिद्ध वे कहलाते हैं जो अलग अलग उत्पन्न होकर पश्चात् सम्बन्धी होते हैं। इनसे भिन्न अयुतसिद्ध कहलाते हैं। घट और तदभावके सम्बन्धमें दोष नहीं है, यह भी कहना ठीक नहीं है, कारण कि भावका अभावके साथ अयुतसिद्धत्व नहीं हो सकता। भावभूत पदार्थोंका युतसिद्धत्व या अयुतसिद्धत्व माना जाता है। भाव और अभावके या दो अभावोंके ये दोनों सम्बन्ध नहीं हैं, इसलिए उत्पत्तिसे पूर्व घटकी सत्ता मानना आवश्यक है, अतः सत्कार्य-

एवं च वाद्यभिमतावभावावनुभूतितः ।
मृत्कापालात्मकौ भावौ सदद्वैतं ततो भवेत् ॥ ३९ ॥
सदेवाऽऽगमतः सिद्धं प्रत्यक्षाच्च सदीक्ष्यते ।
अनुमानाच्च सत्सर्वं यथा तदधुनोच्यते ॥ ४० ॥

'एवं च' इत्यादि ।

शङ्का— घटादि कार्यका ध्वंस अनुभवसिद्ध है, इसलिए अद्वैत ब्रह्म फिर भी सिद्ध नहीं होता ।

समाधान—उक्त रीतिसे घटादिध्वंस मृत्तिकादिसे अतिरिक्त नहीं है, किन्तु तत्स्वरूप ही है । नैयायिकोंका जो यह कहना है कि भावसे अतिरिक्त अभाव पदार्थ है तथा उसका अनुभव भी होता है, सो उनका कहना प्रमाण नहीं है, क्योंकि जगत्का अभाव तत्कारण ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, इसी प्रकार घटप्रागभाव भी घटकारण मृत्तिकाका स्वरूप ही है, अतिरिक्तानुभव अप्रामाणिक है । जगत्की सत्यता तथा कारणसे अतिरिक्त कार्य को कहनेवाले नैयायिकादिकोंके अभिमत अभाव और ध्वंस अनुभवादि द्वारा मृत्कपालात्मक हैं अर्थात् घटप्रागभाव मृत्तिकात्मक है और तद्ध्वंस कपालात्मक है, अतिरिक्त नहीं । एवं जगत्का प्रागभाव और ध्वंस जगत्कारण ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, अतएव ब्रह्म सत् तथा अद्वैत ही है ॥३९॥

श्रुति और प्रत्यक्षसे कार्यकारणकी सत्ता सिद्ध हुई, अनुमानसे भी यही सिद्ध होता है, यह कहते हैं—'सदेवा०' इत्यादिसे ।

प्रत्यक्ष तथा आगमसे कार्य और कारण दोनोंकी सत्ता सिद्ध कर चुके । अब जिनको अनुमानके बिना सन्तोष नहीं होता है, ऐसे तर्करसिकोंके संतोषके लिए उस अर्थमें अनुमान भी कहते हैं—'मृत्युनैवेदमावृतम्' । इस श्रुतिसे यह स्फुट है कि उत्पत्तिसे पूर्व यह व्याकृतनामरूपात्मक जगत् ब्रह्ममें मृत्युसे आवृत था । यदि ब्रह्म पूर्वमें न होता, तो जगत् किसमें आवृत रहता एवं जगत् न होता, तो 'आवृत था' यह निर्देश ही असंगत होता । भूतलमें घट अन्धकारसे आवृत था और प्रदीप आनेपर अभिव्यक्त हुआ, यह कहना तभी बनता है जब भूतल और घट प्रदीपके आनयनसे पूर्व रहें, अन्यथा नहीं ॥४०॥

वही कारण है, इससे उक्त न्यायसे असत्से ही सब कार्य होते हैं, जगत् भी अभावसे ही होता है, फिर जगदुत्पत्तिके अनुरोधसे सद्रूप ब्रह्मको कारण माननेकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—कारणका नाशक कार्य ही है या अन्य कोई? प्रथम पक्षमें यह दोष स्पष्ट है कि उत्पत्तिसे पूर्व जब कार्यका अस्तित्व ही नहीं है, तब उससे अपने कारणका नाश कैसे हो सकता? यदि अनुत्पन्न ही कार्य अपने कारणका नाशक मानिए, तो कार्यको सत् ही मानना होगा, क्योंकि असत् नाशक नहीं हो सकता। क्या असत् शशशृङ्गसे वन्ध्यापुत्रका नाश देखा है? या सुना है? इसलिए सदसत् दोनों मानना व्याहत है। और यह भी प्रश्न होता है कि कारणका विनाश कार्य है अथवा अकार्य? प्रथम पक्षमें वह भी तो कार्य ही है, अतएव वहां भी सत्कारणकत्वका अनुमान करेंगे। यदि कार्यमात्र प्रकृत अनुमानमें पक्ष है, तो कारणनाशके भी कार्य होनेसे वह घटादिकी तरह अभाव नहीं हुआ, किन्तु भावात्मक ही हुआ, भावान्तर ही अभाव होता है, वस्त्वन्तर नहीं। अथवा कारणनाशमें कार्यत्वरूप हेतु है, पर असत्कारणकत्वरूप साध्य नहीं है, क्योंकि कारणके रहनेपर ही अनन्तर क्षणमें नाश होता है, नाशरूप कार्यका कारण प्रतियोगिविधया कारण ही है, सो तो नाशसे पूर्व है ही, अतः कारण सत् ही है।

यदि विनाशरूप कार्य भी अपने कारणका विनाश करके ही उत्पन्न होता है, तो वह भी स्वकारणका विनाश करके ही उत्पन्न होगा, इस प्रकार अनवस्था होगी। द्वितीय पक्षमें यदि वह अकार्य है, तो सुतरां स्वकारणका नाशक नहीं हो सकता, क्योंकि कार्यको ही उक्त न्यायसे कारणका नाशक कहते हो, अतः नित्य होनेसे पिण्डादि सदात्मक ही माना जा सकता है, ऐसी परिस्थितिमें नाशको आप कृतक ( कार्य ) मानते हैं, तो अकार्यस्वरूपसे उसका अवस्थान कैसे मान सकते हो?

और इस प्रश्नका भी उत्तर देना कठिन है कि सिद्ध कार्य अपने कारणका नाशक होता है अथवा असिद्ध कार्य? दोनों पक्षोंमें अङ्कुरादि कार्य स्वकारण बीजका नाशक नहीं हो सकता, कारण कि प्रथम पक्षमें कारणविनाशके बिना ही जब कार्यकी उत्पत्ति मान ली तब यह कैसे कह सकते हैं कि कारणनाशके बिना कार्य होता ही नहीं। कारणके विनाशके बिना ही कार्य उत्पन्न होकर

**बीजस्याऽवयवा एव जनयेयुरिहाऽङ्कुरम् ।**
**बीजं त्ववान्तरावस्था ज्ञेया पिण्डो यथा मृदः ॥ ४४ ॥**

जाती है, इसलिए बीजका ध्वंस ही अङ्कुरका कारण मानना उचित है। यदि स्वरूपतः बीज ही कारण होता, तो अस्फुटित बीजसे भी अङ्कुरकी उत्पत्ति होती, पर ऐसा देखा नहीं जाता। यदि बीजके अभावसे ही अङ्कुरकी उत्पत्ति होती, तो अग्निसे दग्ध बीजके अभावसे भी अङ्कुरकी उत्पत्ति होनी चाहिए। बीजाभाव तो वह भी है, किन्तु उससे अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती, इसलिए बीजाभाव उक्त कार्यका कारण नहीं है, किन्तु बीजावयव ही कारण है। स्फुटित बीजके जो अवयव हैं, वे ही अङ्कुरके कारण हैं।

शङ्का—बीजके दाहसे जो बीजका अभाव होता है, वह कारण नहीं है, किन्तु आर्द्रभूमिके संयोगसे जो बीजका ध्वंस होता है, वही कारण है, ऐसा मानते हैं।

समाधान—अभावमें तो कोई अतिशय होता नहीं, कारण कि अभावान्तरका व्यावर्तक कोई विशेष धर्म रहता नहीं है, इसलिए बीजके ध्वंसमें अवान्तर भेद नहीं कह सकते, किन्तु किसी भी कारणसे हो बीजध्वंस एक ही है, अनेक नहीं है, अतः ध्वस्त बीजके अवयव ही अङ्कुरके जनक हैं, अग्निदग्ध बीजके अवयव अवशिष्ट रहते नहीं, बीजके साथ ही वे भी दग्ध हो जाते हैं, इसलिए उक्त दशामें कार्यकी आपत्ति नहीं हो सकती ॥ ४३ ॥

इस अभिप्रायसे कहते हैं—'**बीजस्याऽवयवा**' इत्यादिसे।

बीजके ध्वस्त अवयवोंसे ही अङ्कुर होता है। ध्वस्त बीजके अवयव बीजकी अवस्थाविशेष है, इसलिए उस अवस्थासे युक्त ही बीज अङ्कुरका कारण है। अतएव अङ्कुर, उसके परिणाम वृक्ष तथा फल आदिमें उसकी अनुवृत्ति होती है। आम्रके बीजसे आम्रका ही वृक्ष होता है और आम्रमें जो स्वभाव, रस और गुण आदि हैं, वे सब आम्रबीज द्वारा समुत्पन्न वृक्ष, फल आदिमें देखे जाते हैं। कारणके ही गुण कार्यमें आते हैं। यदि बीजध्वंस कारण माना जायगा, तो उसके स्वभाव अभावमें कोई विशेष है नहीं अर्थात् आम्रके बीज-ध्वंसमें आम्रवृत्ति कोई विशेष धर्म है नहीं, तो आम्रबीजध्वंससे आम्रस्वभावका ही

मृत्तिका घटहेतुः स्यान्मृदस्तत्राऽनुवर्तनात् ।
मृदस्त्वत्रान्तरावस्थपिण्डस्याऽननुवर्त्तनात् ॥ ४५ ॥

वृक्ष नियमसे क्यों होता है ? बट आदि वृक्ष क्यों नहीं होते, अतः सर्वत्र अनुभूयमान कार्यमें कारणस्वभावकी अनुवृत्तिके लिए बीजके अवयवोंको ही अङ्कुर आदिके प्रति कारण मानना ठीक है, ऐसा माननेसे

'यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिताः कर्मवासनाः ।
फलं तत्रैव बध्नन्ति कार्पासे रक्तता यथा ॥'

यह श्लोक भी सङ्गत होता है। यदि आत्मा भी क्षणिक होता, तो 'अन्य आत्मा द्वारा अनुभूतका अन्य आत्मा स्मरण नहीं करता' इस नियमके अनुसार अन्य दिनमें अनुभूत वस्तुका उसी शरीरमें रहनेवाले आत्माको अन्य दिनमें स्मरण नहीं होगा, क्योंकि क्षणिक माननेसे दोनों आत्मा भिन्न हैं। इसके समाधानके लिए यदि यह कहो कि समान सन्तानमें अन्य आत्मासे अनुभूतका उस संतानमें रहनेवाला अन्य आत्मा स्मरण करता है, क्योंकि भिन्न संतानवर्ती आत्माओंके लिए ही अनुभव और स्मरणमें समानकर्तृकत्वका नियम है। इसमें दृष्टान्त भी है—'कार्पासे रक्तता यथा' अर्थात् कपासका बीज लाक्षारससे भिगोकर बोया जाय और उसके पौधेको कुछ दिन उस रससे सींचा भी जाय, तो उसके पुष्पमें रक्तता आ जाती है। याने उसमें लाल फूल लगते हैं, श्वेत नहीं। यद्यपि अङ्कुर वृक्ष आदि भिन्न हैं, पर समानसन्तान होनेसे उत्तरोत्तर अवयवोंमें पूर्व-पूर्व अवयवोंके गुण उत्पन्न होते जाते हैं, तो यह कहना भी असंगत है, क्योंकि यह सिद्धान्त तभी बन सकता है, जब कि बीजके अवयव ही अवस्थान्तरापन्न होकर अङ्कुरके जनक मानें जायँ, अन्यथा तुच्छ अभावमें कारणगत विशेष धर्मके न होनेसे उक्त धर्मकी अनुवृत्तिका समर्थन कैसे कर सकते हो ? इस अर्थमें दृष्टान्त देते हैं—'पिण्डो यथा मृदः' इति। घटका कारण पिण्ड नहीं है, किन्तु मिट्टी है। पिण्ड उसीकी एक अवस्था है। पिण्डावस्थापन्न मृत्तिका घटकी कारण है एवं बीज भी उक्त अवस्थासे युक्त होकर अङ्कुरका कारण होता है। बीजका विनाश कारण नहीं होता ॥४४॥

घटकी उत्पत्तिसे पूर्व क्षणमें कपाल भी विद्यमान है, अतः उसीको घटके प्रति कारण क्यों नहीं मानते, मृत्तिकाको ही कारण क्यों मानते हैं ? इसपर कहते हैं—'मृत्तिका घटहेतुः' इत्यादिसे ।

मृत्तिका ही घटकी कारण है, क्योंकि घटकी स्थितिदशामें मृत्तिकाकी ही अनुवृत्ति देखी जाती है, अतः 'मृद् घटः' यह सामानाधिकरण्यप्रतीति होती है, 'पिण्डो घटः' यह प्रतीति नहीं होती।

शङ्का—यदि मृत्तिका ही घटकी कारण है, तो पिण्डावस्थाके बिना घट उत्पन्न क्यों नहीं होता। नियमसे पिण्डके अनन्तर ही घटकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए पिण्डको ही घटका कारण मानना चाहिए। अन्यथा कार्य-कारणभावके बिना पिण्ड और घटका पौर्वापर्य्य सर्वथा अनुपपन्न हो जायगा।

समाधान—पिण्ड मृत्तिकाकी एक अवस्था है। पिण्डरूप अवस्थासे युक्त मृत्तिका घटकी कारण है, पिण्डकी अवस्थामें भी मिट्टीकी अनुवृत्ति है, अतः उभयत्र अनुवृत्त मृत्तिका ही, उक्त कारणसे, घटकी उपादान है, पिण्ड नहीं। घटके सदृश पिण्ड भी मृत्तिकाका ही कार्य है, अतः पिण्ड घटका कारण है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है, प्रत्युत 'पिण्डो घटः' यह सामानाधिकरण्य प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। घट पिण्डाश्रित नहीं है, किन्तु मृत्तिकाश्रित है। कारणसे अतिरिक्त कार्यका समवायी नहीं होता। असमवेत भाव कार्य नहीं होता, अतः मृत्तिकासमवेत होनेसे वही कारण है।

यदि कहो कि पिण्ड मृत्तिकाका कार्य है, इसलिए वह कारण नहीं माना जा सकता, तो यह कहना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि मृत्तिका भी तो सावयव होनेसे कार्य ही है, अतः वह भी घटकी कारण कैसे हो सकती है? तथा विनाशित्वरूप हेतुसे मृत्तिका आदिमें भी कार्यत्वका अनुमान हो सकता है। जैसे मृत्तिका कार्यम्, विनाशित्वात्, घटादिवत्, जो विनाशी है, वह घट आदिके समान कार्य होता है।

अच्छा तो विनाश क्या पदार्थ है? इसका भी विचार करना चाहिए, क्या मृत्तिकाका नाश पिण्डकार्यके सदृश मृत्तिकाका अतिशयविशेष है, या तद्-तिरिक्त? प्रथम पक्षमें मृत्तिका और तदतिशयविशेषरूप तन्नाश—ये दोनों सत्स्वरूप ही होंगे, क्योंकि प्रत्यक्षसे ही पिण्डके समान अतिशयविशेषनाशकी भी प्रतीति होती है। अतिशय धर्म है, अतः वह धर्मीके बिना रह नहीं सकता। नाशका नाश मानते नहीं, अन्यथा प्रतियोगीका फिर अवस्थान हो जायगा। नाश और नाशी मृदादि—ये दोनों असत् नहीं हैं। द्वितीय पक्षमें नाशसे धर्मीका कुछ संबन्ध ही नहीं है, इसलिए मृदादि धर्मी कूटस्थ नित्य हो जायगा।

सारांश यह है कि नाश असत् है, भावभूत अतिशय नहीं है, अतः मृत्तिका आदिके साथ असत् अभावका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। सत्का सत्के साथ सम्बन्ध होता है, असतोंका या सदसतोंका परस्पर सम्बन्ध कोई भी नहीं मानता। एवं घटका भी नाश घटगत अतिशयविशेष है या उससे अतिरिक्त? दोनों पक्षोंमें दोष देखनेसे यह स्पष्ट होता है कि विनाश सर्वथा दुर्निरूप है।

और यह भी विचार कीजिये कि नाश वस्तुकी क्रिया है या फल है अथवा वस्त्वन्तर है या कुछ नहीं? इस प्रकार चार विकल्प होते हैं। चारों विकल्पोंमें सत्ता ही सिद्ध होती है। यदि क्रिया ही नाश है, तो आश्रयकी उपस्थिति अनिवार्य है; क्योकि आश्रयके बिना क्रिया रहेगी कहाँ? अगर फल है, तो भी आश्रयके बिना फल भी निराश्रय नहीं रह सकता। वस्त्वन्तरकल्पमें घट आदि कार्यके साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, अतएव घट आदि कार्य बना ही रहेगा। पटसे घटकी कोई हानि जैसे नहीं होती, वैसे ही घटादिके अभावसे भी घटादिकी कोई क्षति नहीं होती। यदि नाश तुच्छ है, ऐसा कहें, तो तुच्छका किसीके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, फिर घटादिके साथ सम्बन्ध कहाँसे होगा? इसलिए सत् ही सदा बना रहेगा, वस्तुतः नाश तुच्छ नहीं हो सकता। नाशमें 'नास्ति' इत्यादि व्यवहार प्रत्यक्षसिद्ध है, खपुष्पादिमें ऐसा व्यवहार नहीं होता, इसलिए नाशको तुच्छसे विलक्षण मानना अत्यावश्यक है। यदि तुच्छविलक्षण होनेसे सत्स्वरूप ही विनाश है, तब तो वस्तुभेदक हो ही नहीं सकता, क्योंकि सन्मात्र सब जगह समधर्म नहीं है। यद्यपि नाश वस्तुस्वरूप ही है, तो भी उसका स्वभाव ही विरोध है, इसलिए वस्तुका विरोधी कहा जाता है, यदि ऐसा है, तो नाशका भी नाश मानना पड़ेगा, क्योंकि उसका स्वभाव ही विरोधी है। यद्यपि दूसरा नाशक नहीं है, तो भी अपनेसे ही अपना नाश करेगा, अन्यथा उक्त स्वभावकी ही अनुपपत्ति हो जायगी; अतः मृदादिका नाश दुर्निरूप है, इसलिए कार्यत्व भी दुर्निरूप ही है, अतएव पिण्डादिकी तरह मृदादि कार्य होनेसे वे घटादिके कारण नहीं हो सकते, यह आशङ्का अयुक्त है, कारण कि जैसे पिण्डादिका नाश प्रत्यक्षसिद्ध है, वैसे मृत्तिकाका नाश प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है, इसलिए अन्वय-व्यतिरेकसे मृदादि ही घटादिके कारण हैं, तत्पूर्ववर्ती पिण्डादि नहीं। घटकी स्थितिदशामें पिण्डकी अनुवृत्ति नहीं है, किन्तु मृत्तिकाकी अनुवृत्ति है, इसलिए वही कारण है ॥ ४५ ॥

पिण्डे घटे कपालादौ याऽनुवृत्ता विभाति सा ।
मृदेव सर्वहेतुः स्यात्कार्याः पिण्डादयोऽखिलाः ॥ ४६ ॥
विरुद्धानेककार्याणां युगपज्जन्म नेष्यते ।
एकस्मात्कारणात्तेन पिण्डादेः क्रमभाविता ॥ ४७ ॥
पिण्डाद्यखिलकार्येण विना मृत्कापि नेष्यते ।
अतोऽसती मृदिति चेन्न मानेनोपलम्भनात् ॥ ४८ ॥

'पिण्डे घटे' इत्यादि । पिण्ड, कपाल, घट, तथा आदिपदसे ग्राह्य चूर्ण और शर्कर आदि मृत्तिकाके विकारोंमें मृत्तिकाकी अनुवृत्ति है। एवं सबमें 'मृद् घटः' 'मृत्तिका चूर्णम्' इत्यादि व्यवहार द्वारा मृत्तिकाका भान होता है, अतः मृत्तिका ही घटकी कारण है । एवकारका व्यावर्त्य पिण्डादि है। सब विकार कार्य ही हैं, घटके कारण नहीं । पिण्डावस्थामें व्यापार होनेसे पिण्ड भी नष्ट हो जाता है, उस अवस्थामें अनुवृत्त मृत्तिका ही कारण है । ॥४६॥

यदि मृत्तिका ही घटकी कारण है, तो पिण्डावस्थामें भी मृत्तिका है ही, फिर पिण्डके रहनेपर भी घट क्यों नहीं होता ? इसपर कहते हैं—'विरुद्धा०' इत्यादि ।

विरुद्ध पिण्ड, कपाल, घट, शर्करा, चूर्ण इत्यादि अनेक कार्य एक ही समयमें एक ही कारणसे नहीं हो सकते, इसलिए मृत्तिकाकार्य पिण्ड जबतक रहेगा तबतक कपालादि विकारान्तरकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए पिण्डादि कार्य क्रमिक होते हैं, एक समयमें नहीं ॥४७॥

यहांपर यह शङ्का होती है कि पिण्डकी सद्भावदशामें पिण्डसे अतिरिक्त मृत्तिका है नहीं, इसलिए उस अवस्थामें मृत्तिका अनुवृत्त है, अतः वही कारण है, इत्यादि कहना निराधार है, क्योंकि पिण्डावस्थानापन्न मृत्तिका उस समयमें किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, इसे कहते हैं—'पिण्डाद्यखिल०' इत्यादिसे ।

पिण्ड, कपाल आदि निखिल विकारके बिना सर्वथा विकारानापन्न मृत्तिका तो कहीं भी देखी नहीं जाती है, जहां देखिए किसी विकारके रूपमें ही दिखलाई देती है, इसलिए स्वविकारानापन्न मृत्तिका है नहीं, विकारापन्न मृत्तिका कारण ही नहीं है, यह आप स्वयं

अ‍साधारणरूपेषु व्यावृत्तेष्वितरेतरम् ।
बहुष्वेकं यदा भाति प्रत्यक्षं कारणं तु तत् ॥ ४९ ॥

पिण्डादि अवस्थामें मृत्तिका यदि न होती, तो 'मृद् घटः' यह प्रतीति कैसे होती ? यह प्रतीति मृत्तिका और घट—इन दोनोंका अवगाहन करती है, यह प्रतीति न आहार्य और न भ्रम ही है, क्योंकि उत्तर कालमें बाध नहीं देखते ।

शङ्का—'मृद् घटः' इत्यादि प्रतीति धर्मीके एकत्वमें प्रमाण है, मृत्तिकाकी अनुवृत्तिमें प्रमाण नहीं है, इसलिए पिण्डावस्थामें मृत्तिकाकी अनुवृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती ।

उत्तर—'घटः, मृद् घटः' इन दोनों प्रतीतियोंमें भेद है, यह तो सबके अनुभवसे सिद्ध है । विषयभेदके बिना प्रतीतिभेद होता नहीं, इसलिए विषयभेद मानना आवश्यक है । यदि घटकी अवस्थामें मृत्तिका न होती, तो मृत्तिकाका आलम्बन करनेवाली प्रतीति कैसे होती ? और प्रत्येक विकारोंमें मृत्तिकाकी अनुवृत्ति देखते हैं, विकारोंकी नहीं । अतः 'येषु व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते, तत् ततो भिन्नम्, यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम्' अर्थात् जिनके व्यावृत्त होनेपर भी जो अनुवृत्त होता है वह उनसे भिन्न होता है, जैसे फूलोंसे सूत । पिण्डादि विकारोंकी परस्पर व्यावृत्ति होनेपर भी मृत्तिका सब विकारोंमें अनुवृत्त है, इसलिए पिण्डादि विकारोंसे मृत्तिका तदनुस्यूत और भिन्न है, इस अनुमानप्रमाणसे मृत्तिका तत्-तत् विकारावस्थामें उपादान कारण अवश्य है, यह माना जाता है, 'मृद् घटः' यह प्रतीति जैसे घटमें प्रमाण है, वैसे ही मृत्तिकामें भी प्रमाण है । यदि विषयके बिना प्रतीति मानोगे, तो घटमें भी वह प्रमाण नहीं हो सकेगी, क्योंकि वहां भी कह सकते हैं कि यह भी प्रतीति विषयके बिना ही है, इस तरह सब जगह अनाश्वास ही हो जायगा ॥४८॥

'असाधारण०' इत्यादि । पिण्ड, कपाल आदि असाधारणस्वरूप परस्पर व्यावृत्त हैं, क्योंकि पिण्डावस्थामें कपाल नहीं है और कपालावस्थामें पिण्ड नहीं है, परन्तु मृत्तिकाकी दोनों अवस्थाओंमें अनुवृत्ति होती है, एवं चूर्ण, शर्करा आदि अवस्थाओंमें मृत्तिकाकी अनुवृत्ति है, अतः उक्त न्यायसे कपाल आदि अवस्थाओंसे अतिरिक्त तथा अनेकोंमें अनुवृत्त मृत्तिका प्रत्यक्षसे सिद्ध है । वही घटादि कार्यकी कारण है । पिण्ड आदिकी उत्तरोत्तर अवस्थाओंमें अनुवृत्ति न होनेसे वे मृत्तिकाके कार्य ही हैं ।

शङ्का—मृत्तिकाकी उत्तरोत्तर पिण्डादि अवस्थाओंमें होनेवाली प्रतीति भ्रम है। वस्तुतः मृत्तिकाका अन्वय नहीं है; किन्तु सादृश्यसे उत्तरोत्तरमें वैसी प्रतीति होती है जैसे कि ज्वालामें ऐक्यप्रत्यक्ष होता है।

समाधान—नहीं, भ्रम नहीं है, पिण्डावस्थामें जो अवयव हैं, वे ही घट आदिमें प्रतीत होते हैं। अन्य अवयवोंकी प्रतीति होनेपर भ्रम कह सकते, पर ऐसा है नहीं। अतएव क्षणिकत्वका अनुमान आभास है, जैसे 'उष्णो वह्निः' इस प्रकार त्वगिन्द्रियके प्रत्यक्षसे 'वह्निः अनुष्णः, कृतकत्वात्, घटवत्', अर्थात् आग गरम नहीं है, क्योंकि वह कार्य है, घटके समान, इस कृतकत्वलिङ्गक अनुमानका बाध होता है, वैसे ही सत्त्व हेतुसे किये गये क्षणिकत्वके अनुमानका भी प्रत्यभिज्ञारूप प्रमाणसे बाध होता है, अतः उक्त अनुमान प्रमाण नहीं है।

शङ्का—प्रत्यक्षसे एक मृत्तिका ही कारण प्रतीत होती है, और क्षणिकत्वके अनुमानसे अवस्थायी कारणत्व प्राप्त होता है, ये दोनों अव्यभिचारी होनेसे प्रमाण हैं। वस्तु उभयात्मक हो नहीं सकती, इसलिए विरुद्ध है और विरुद्धाव्यभिचारित्वसे यह निर्णय कठिन है कि प्रत्यक्षसे अनुमानका बाध करना अथवा अनुमानसे प्रत्यक्षका बाध करना उचित है। इस परिस्थितिमें दोमेंसे एकका बाध तो आवश्यक है। पर एकमें दोषके दर्शनके बिना अथवा प्राबल्यनियामक धर्मदर्शनके बिना कौन बाध्य है, यह निश्चय नहीं हो सकता।

समाधान—प्रकृतमें विरुद्धाव्यभिचारित्व नहीं है, किन्तु विरुद्धव्यभिचारित्व ही प्रतीत होता है, कारण कि प्रत्यक्ष अनुमानादिका उपजीव्य है। प्रत्यक्षके बिना अनुमानादि हो ही नहीं सकते, क्योंकि व्याप्त्यादिमें हेतु प्रत्यक्ष है। और प्रत्यक्षमें अनुमानादि अपेक्षित नहीं है, इसलिए 'उपजीव्यविरोधस्य अन्याय्यत्वम्' इस न्यायसे प्रत्यक्ष प्रबल है, अतः तद्विरुद्ध क्षणिकत्वका अनुमान ही बाध्य है।

शङ्का—उपजीव्य होनेसे प्रत्यक्ष भले ही प्रबल हो, किन्तु प्रत्यभिज्ञा तो उपजीव्य नहीं है, अतः प्रत्यभिज्ञा और क्षणिकत्वानुमान—ये दोनों तुल्यबल हैं, इसलिए प्रकृतमें विरुद्धाव्यभिचारित्व स्पष्ट है।

समाधान—तुल्यबलोंका ही विरुद्धाव्यभिचारित्व होता है। लोकमें भी सिंह और शृगालका विरुद्धाव्यभिचारित्व नहीं देखा गया है। प्रत्यभिज्ञा यद्यपि क्षणिकत्वके अनुमानकी उपजीव्य नहीं है, ...

तथापि प्रत्यक्षजातीय ही प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञामें भी न्यायमतसे प्रत्यक्षत्व है, इसलिए उपजीव्यजातीय प्रत्यभिज्ञासे क्षणिकत्वानुमान दुर्बल है। समानबलशीलोंका विरुद्धव्यभिचारित्व होता है, प्रबल या दुर्बलोंका नहीं। लोकमें भी यह प्रसिद्ध है कि सिंह और शृगालकी विरुद्धव्यभिचारिता नहीं होती, क्योंकि शृगालकी अपेक्षा सिंह अधिक बलवान् होता है और क्षणिकत्वानुमानसे यदि विश्वमात्रको क्षणिक कहते हो, तो प्रत्यभिज्ञा ही असंभव है, क्योंकि आश्रय और विषयके एक होनेपर ही प्रत्यभिज्ञाका होना संभव है, कारण कि विषयभेद तथा आश्रयभेद होनेपर प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। घटको देवदत्तने देखा और पटको मैत्रने देखा ऐसी अवस्थामें दोनों प्रत्यभिज्ञा नहीं कर सकते।

अच्छा तो उक्त अनुमानसे विश्व तो क्षणिक है, फिर भी समानसन्तानैक्य मानकर प्रत्यभिज्ञा हो सकती है, जैसे घटसमानसन्तानमें घटजातीय ही रहता है एवं देवदत्तात्मसन्तानमें देवदत्तात्मा ही रहता है। इस नियमके अनुसार समानसन्तानान्तःपाती अन्य आत्मा द्वारा दृष्ट समानसन्तानान्तःपाती विषयान्तरकी प्रत्यभिज्ञा बन सकती है। अन्य दृष्टका अन्य स्मरण नहीं कर सकता, इत्यादि नियम भिन्न सन्तानके विषयमें लागू है, यह भी कहना ठीक नहीं है, कारण कि सन्तान सन्तानीसे अतिरिक्त है या नहीं? प्रथम पक्षमें वह भी क्षणिक है, या स्थिर? प्रथम पक्षमें सन्तानैक्य कहना असंगत ही है। द्वितीय पक्षमें सन्तानैक्यको स्थिर माननेसे विश्वमिथ्यात्वसाधक हेतुके व्यभिचारी होनेसे उक्तानुमान ही असंगत होगा। प्रथमके द्वितीय पक्षमें सन्तानी क्षणिक है, अतः तदतिरिक्त सन्तान ही जब असिद्ध है, तब तदैक्यसे प्रत्यभिज्ञाका समर्थन करना बालोक्तिमात्र है, अतः प्रत्यभिज्ञासे घटादि पदार्थमें स्थायित्व ही सिद्ध होता है।

शङ्का—प्रत्यभिज्ञा स्वार्थस्थैर्यमें स्वयं प्रमाण नहीं है, अपि तु बुद्ध्यन्तरके संवादसे बुद्धिको स्वार्थमें प्रमाण बौद्ध मानते हैं, प्रकृतमें बुद्ध्यन्तरसंवाद है नहीं, इसलिए केवल प्रत्यभिज्ञाके बलसे स्थिर पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता।

समाधान—तब तो क्षणिकत्वबुद्धि भी क्षणिकत्वरूप स्वार्थमें प्रमाण नहीं होगी और उक्त अर्थमें प्रमाणान्तरसंवाद है नहीं, इसलिए क्षणिकत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता। अन्य बुद्धिकी अपेक्षा माननेसे अनवस्था होगी, अतः कोई भी बुद्धि

सत्त्वपूर्वं जगत्कार्यं तमोऽन्तःस्थघटादिवत् ।
अभिव्यक्तत्वधर्मित्वादन्यथा स्यान्नृशृङ्गवत् ॥ ५१ ॥

'सत्त्वपूर्वम्' इत्यादि। घट आदि सब कार्य सत्त्वपूर्वक हैं, क्योंकि वे अभिव्यक्तत्वके धर्मी हैं, तमसे आवृत घटकी तरह। यहाँ वार्तिकमें—'अभिव्यक्तिधर्मित्वात्' और वार्तिकसारमें 'अभिव्यक्तत्वधर्मित्वात्' ऐसा पाठ है। वार्तिकपाठके अनुसार अनुमानप्रयोग पूर्वश्लोकमें दिखला चुके हैं, प्रकृत पाठके अनुसार भी वही प्रयोग होगा; क्योंकि पाठमें शब्दमात्रका कुछ भेद है, अर्थ एक ही है; क्योंकि विषयतासंबन्धसे अभिव्यक्तिका धर्मी कार्य ही है और अभिव्यक्तत्व धर्मका भी धर्मी कार्य ही है; इसलिए अर्थमें कुछ भेद नहीं है। अथवा 'अभिव्यक्तिः सत्त्वपूर्विका, अभिव्यक्तित्वात्, आत्मवत्, व्यतिरेके नृशृङ्गवत्' अभिव्यक्ति सत्की ही होती है, असत्की नहीं। यदि उत्पत्तिसे पूर्व आकाशपुष्पकी तरह घट आदि कार्य असत् होते; तो कभी भी घट आदिकी उपलब्धि नहीं होती। पर व्यापारके अनन्तर घटकी अभिव्यक्ति होती है; अतः घट उत्पत्तिसे पूर्व भी अपने कारणमें है, यह ज्ञात होता है। नरशृङ्गादि अत्यन्त असत् हैं, इसलिए उनकी प्रत्यक्षात्मक अभिव्यक्ति नहीं होती। यहाँ अभिव्यक्तिशब्दका प्रत्यक्षात्मक अभिव्यक्तिमें तात्पर्य है; अन्यथा 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस योगसूत्रके अनुसार विकल्पात्मक अभिव्यक्ति खपुष्पकी भी होती है; इसलिए व्यतिरेकी दृष्टान्तके तात्पर्यसे किया गया नरशृङ्ग आदिका उपादान असङ्गत हो जायगा।

शङ्का—नरशृङ्गका अपरोक्षभान नहीं होता; इसमें असत्त्व कारण नहीं है, किन्तु अपरोक्षावभासक सामग्रीका विरह ही कारण है अर्थात् उसकी अनभिव्यक्तिमें सामग्रीका अभाव प्रयोजक है; असत्त्व नहीं।

समाधान—यदि कार्यको भी नरशृङ्गके समान असत् मानते हो, तो प्रकृतमें भी उक्त सामग्रीका अभाव तुल्य ही है, क्योंकि असत्की उत्पत्ति तो होगी नहीं, अन्यथा नरशृङ्ग आदिकी भी उत्पत्तिका प्रसङ्ग हो जायगा, अतः असत्की उत्पत्तिकी सामग्री नहीं होती, यह मानना आवश्यक है; इसलिए सामग्रीका अभाव तुल्य ही है ॥५१॥

कारणव्यापारके अनन्तर कार्यकी स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है; अतः उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्य ...

सत्त्वपूर्वं जगत्कार्यं तमोऽन्तःस्थघटादिवत् ।
अभिव्यक्तत्वधर्मित्वादन्यथा स्यान्नृशृङ्गवत् ॥ ५१ ॥

'सत्त्वपूर्वम्' इत्यादि। घट आदि सब कार्य सत्त्वपूर्वक हैं, क्योंकि वे अभिव्यक्तत्वके धर्मी हैं, तमसे आवृत घटकी तरह। यहाँ वार्तिकमें—'अभिव्यक्तिधर्मित्वात्' और वार्तिकसारमें 'अभिव्यक्तत्वधर्मित्वात्' ऐसा पाठ है। वार्तिकपाठके अनुसार अनुमानप्रयोग पूर्वश्लोकमें दिखला चुके हैं, प्रकृत पाठके अनुसार भी वही प्रयोग होगा; क्योंकि पाठमें शब्दमात्रका कुछ भेद है, अर्थ एक ही है; क्योंकि विषयतासंबन्धसे अभिव्यक्तिका धर्मी कार्य ही है और अभिव्यक्तत्व धर्मका भी धर्मी कार्य ही है; इसलिए अर्थमें कुछ भेद नहीं है। अथवा 'अभिव्यक्तिः सत्त्वपूर्विका, अभिव्यक्तित्वात्, आत्मवत्, व्यतिरेके नृशृङ्गवत्' अभिव्यक्ति सत्की ही होती है, असत्की नहीं। यदि उत्पत्तिसे पूर्व आकाशपुष्पकी तरह घट आदि कार्य असत् होते; तो कभी भी घट आदिकी उपलब्धि नहीं होती। पर व्यापारके अनन्तर घटकी अभिव्यक्ति होती है; अतः घट उत्पत्तिसे पूर्व भी अपने कारणमें है, यह ज्ञात होता है। नरशृङ्गादि अत्यन्त असत् हैं, इसलिए उनकी प्रत्यक्षात्मक अभिव्यक्ति नहीं होती। यहाँ अभिव्यक्तिशब्दका प्रत्यक्षात्मक अभिव्यक्तिमें तात्पर्य है; अन्यथा 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस योगसूत्रके अनुसार विकल्पात्मक अभिव्यक्ति खपुष्पकी भी होती है; इसलिए व्यतिरेकी दृष्टान्तके तात्पर्यसे किया गया नरशृङ्ग आदिका उपादान असङ्गत हो जायगा।

शङ्का—नरशृङ्गका अपरोक्षभान नहीं होता; इसमें असत्त्व कारण नहीं है, किन्तु अपरोक्षावभासक सामग्रीका बिरह ही कारण है अर्थात् उसकी अनभिव्यक्तिमें सामग्रीका अभाव प्रयोजक है; असत्त्व नहीं।

समाधान—यदि कार्यको भी नरशृङ्गके समान असत् मानते हो, तो प्रकृतमें भी उक्त सामग्रीका अभाव तुल्य ही है, क्योंकि असत्की उत्पत्ति तो होगी नहीं, अन्यथा नरशृङ्ग आदिकी भी उत्पत्तिका प्रसङ्ग हो जायगा, अतः असत्की उत्पत्तिकी सामग्री नहीं होती, यह मानना आवश्यक है; इसलिए सामग्रीका अभाव तुल्य ही है ॥५१॥

कारणव्यापारके अनन्तर कार्यकी स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है; अतः उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्य सत् ही है, असत् नहीं; नृशृङ्गकी अनभिव्यक्ति

सत्यामपि हि सामग्र्यां वन्ध्यापुत्रो ह्यसत्त्वतः ।
अभिव्यक्त्यालम्बनत्वं न कदाचित्प्रपद्यते ॥ ५२ ॥
सदेव चेत् सदा कार्यं घटः पिण्डकपालयोः ।
कालेऽपि चोपलभ्येतेत्येतच्चोद्यं न युज्यते ॥ ५३ ॥

असत्त्वप्रयुक्त नहीं होती, किन्तु सामग्रीविरहप्रयुक्त होती है; इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'सत्यामपि' इत्यादिसे ।

उक्त शङ्का ठीक नहीं है, कारण कि आलोक आदि सामग्रीके रहनेपर भी घट आदिके सदृश वन्ध्यापुत्रादिकी उपलब्धि नहीं होती, इसलिए असत्त्व ही अनुपलब्धिमें प्रयोजक है, सामग्रीविरह नहीं, यह निश्चय होता है । वस्तुतः वन्ध्यापुत्र आदि अत्यन्त असत् हैं और कार्याभाव अत्यन्तासत् नहीं है, क्योंकि कार्याभावकी उपलब्धि होती है ॥ ५२ ॥

यदि प्रकृत अनुमान द्वारा उत्पत्तिसे पूर्व कालमें एवं नाशसे उत्तर कालमें घट आदिकी सत्ता मानते हैं, तो सदा घटादिकी उपलब्धि होनी चाहिए, यह आशङ्का करते हैं—'सदेव चेत् सदा' इत्यादिसे ।

यदि वर्तमान, अतीत और अनागत घट सदा सद्रूप है, तो वर्तमान कालमें जैसे घटकी उपलब्धि होती है; वैसे ही अतीत आदि कालमें भी घटकी उपलब्धि होनी चाहिए, परन्तु उस कालमें उपलब्धि नहीं होती, इसलिए अनुपलब्धि ही अतीत आदि कालमें घट आदिकी सत्ताकी साधक अनुमितिकी प्रतिबन्धक है । पिण्ड और कपालका उपादान अतीत और अनागतके तात्पर्य्यसे है । पिण्डमें अनागत भावी घट रहता है, कपालमें अतीत घट रहता है, न्यायमतसे घट-प्रागभावका अधिकरण पिण्ड है और उसके ध्वंसका अधिकरण कपाल है । कार्यके समवायी कारणमें तद्ध्वंसप्रागभावकी स्थिति मानी जाती है ॥५३॥

न्यायमतमें सर्वदा उपलब्धिकी आशङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि उस कालमें घटका असत्त्व (अभाव) है, वर्तमान कालमें ही घटकी सत्ता है, इसलिए उसी कालमें घटका प्रत्यक्ष होता है । वेदान्तमतमें सदा घटकी उपलब्धिकी शङ्का होती है, क्योंकि उस मतमें कार्यका प्रागभाव और ध्वंस कार्यकी सूक्ष्मावस्था ही हैं; तदतिरिक्त नहीं । उपलम्भक सामग्रीका अभाव है, इसलिए उसकी सदा उपलब्धि नहीं होती,

**विद्यमानत्वमात्रेण नाऽभिव्यक्तिर्भवेद्यतः ।**
**सद्वस्त्वेवाऽनभिव्यक्तं तत्सामग्र्यां च लक्ष्यते ॥ ५४ ॥**

यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि घटकी उत्पत्तिकी सामग्री ही उसकी उपलम्भकसामग्री है, अतः सामग्रीसद्भावकालमें घटकी उपलब्धिका प्रसंग हो सकता है; यह आक्षेप युक्त नहीं है, यह कहते हैं—'**विद्यमानत्वमात्रेण**' इत्यादिसे ।

वस्तुके विद्यमानत्वमात्रसे अभिव्यक्ति नहीं होती, क्योंकि विद्यमानतादशामें भी अभिव्यञ्जक सामग्रीके अभावसे उसका उपलम्भ नहीं होता और सामग्रीके रहनेपर उपलम्भ होता है। अभिप्राय यह है कि केवल विद्यमानत्वको उपलब्धिका प्रयोजक मानते हो या सामग्रीकी सत्ताको ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे जलाहरण आदि कार्य अनागत अवस्थामें विद्यमान घटसे नहीं होते, वैसे ही घटकी अभिव्यक्ति भी विद्यमानत्वमात्रसे नहीं होती, जिससे कि अनागत कालमें विद्यमानकी उपलब्धिकी आपत्ति हो । द्वितीय पक्षमें अभिव्यक्ति-सामग्रीकी सत्ता अनागत आदि अवस्थामें है नहीं, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। वस्तुतः कार्यमात्र दो प्रकारके होते हैं—एक अभिव्यक्त और दूसरे अनभिव्यक्त । प्रथम पक्षमें अभिव्यक्तिप्रयोजक सामग्रीका अस्तित्व उसकी अभिव्यक्तिका साधन माना जाता है, अतः घट आदि कार्यकी उत्पत्तिके अनन्तर आलोक आदिसे सहकृत चक्षुरादिका संबन्ध जब घटके साथ होता है, तब घट आदिकी अभिव्यक्ति होती है, अन्यथा नहीं ।

शङ्का—व्यक्त घट आदिमें जैसे उक्त सामग्री है, वैसे ही अनागत घट आदि यदि विद्यमान ही हैं, तो उनके साथ भी इन्द्रियसन्निकर्ष आदि उपलम्भकसामग्री क्यों नहीं होती ?

समाधान—अभिव्यक्त घट उद्भूत रूप आदि गुणोंसे विशिष्ट तथा अनावृत है और अतीतादि घट न तो उक्त गुणोंसे विशिष्ट ही है और न अनावृत ही है। कपालादिसे पिण्ड आवृत है, अतएव उसके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष आदि संबन्ध नहीं हो सकता, इसलिए विद्यमान होनेपर भी उसकी सदा उपलब्धि नहीं होती। यदि कहो कि विद्यमानतादशामें अभिव्यक्तिसामग्री नियमसे रहती है; अदृष्टावस्थामें भी अभिव्यक्त घट रहता है; अतएव अभिव्यक्तिसाधन ही तदुपलम्भक सामग्री है, तो यह कहना भी असंगत है, क्योंकि उपलब्धिसाधन सामग्रीके विरहकालमें अभिव्यक्त तथा वर्तमान घटादि अनपलभ्यमान ही रहते हैं।

यदि सत् नियमसे व्यज्यमान ही रहते हैं, यह नियम मानियेगा, तो ज्ञान तो न्यायमतसे क्षणिक है, अतः विषयमें—घटादिमें—भी क्षणिकत्वकी आपत्ति होगी और घटादि वस्तु अक्षणिक है, यह सिद्धान्त ही असङ्गत हो जायगा। इस विषयमें योगाचारका कहना है कि विषय भी क्षणिक है, स्थायी नहीं।

अच्छा तो योगाचारके मतकी भी समीक्षा कर लेनी चाहिए। यदि ज्ञान और विषय—ये दोनों क्षणिक हैं और समान समयमें ही प्रतीत होते हैं, तो दो पदार्थ माननेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ज्ञानका ज्ञेयमें अथवा ज्ञेयका ज्ञानमें अन्तर्भाव करना चाहिए। यदि ज्ञानका ज्ञेयमें अन्तर्भाव करते हो, तो प्रमाण और प्रमेयका भेद नहीं होगा, क्योंकि प्रमाणज्ञानके प्रमेयमें अन्तर्गत होनेसे प्रमेयमात्र ही अवशिष्ट रहा; कोट्यन्तर नहीं, ऐसी परिस्थितिमें प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि विषयविषयिभाव भेदमें होता है; अभेदमें नहीं। प्रमाण यदि प्रमेयात्मक हुआ; तो प्रमेयकी भी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि प्रमाणका विषय ही प्रमेय कहलाता है। यदि प्रमाण विषयी ही नहीं है, तो तद्विषय प्रमेय कैसे होगा? एवं विषयका ज्ञानमें अन्तर्भाव माननेपर भी यही दोष है। मेय यदि मानसे अभिन्न है, तो भी पूर्ववत् भेद तो सिद्ध होगा नहीं, अतएव भेदनिबन्धन प्रमाणप्रमेयभाव ही लुप्त हो जायगा तथा प्रमेयकी असिद्धिसे पूर्ववत् प्रमाणकी भी असिद्धि होगी।

यदि प्रमेय नहीं है, तो उसका करण प्रमाण कैसे होगा? विषयके बिना विषयी नहीं माना जा सकता, अतएव सप्तम रसका व्यञ्जक प्रमाण नहीं होता, इस प्रणालीसे प्रमाण और प्रमेयकी असिद्धि द्वारा शून्यतामें अन्ततः पर्यवसान होगा, इसलिए विज्ञानवाद माननीय नहीं है।

शङ्का—अच्छा तो स्थायिवादमें भी कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व कार्यकी अनुपलब्धि सबके अनुभवसे सिद्ध है, इसमें किसीको विवाद नहीं है। विवाद केवल अनुपलब्धिके प्रयोजकांशमें है, सो भी विचारणीय है। अनुपलब्धिका प्रयोजक प्राक्कालिक असत्त्व है या सामग्रीका अभाव? दोमें से एक पक्षके निश्चयके बिना संशय निवृत्त नहीं हो सकता और संशयके रहनेपर कार्यकी प्राक्कालिक सत्ता भी सिद्ध नहीं हो सकती।

समाधान—ठीक है, कार्यकी अनुपलब्धिका प्रयोजक सामग्रीका अभाव ही है

असत्त्व नहीं, अन्यथा कार्यकी तरह कारणकी भी सत्ता सिद्ध नहीं होगी। कारणकी सत्ता श्रुति, अनुमान आदि प्रमाण द्वारा पहले सिद्ध की जा चुकी है।

शङ्का—कार्यसत्ताकी सिद्धिसे कारणसत्ताकी सिद्धि क्यों नहीं होगी?

समाधान—कार्य और कारण, पिता और पुत्रादिके सदृश, परस्पर सापेक्ष हैं, यह लोकप्रसिद्ध है। यदि कार्य है नहीं, तो उसका कारण कौन और कैसे हो सकता है? सप्तम रसके न रहनेसे ही उसकी अभिव्यक्तिकी करण अन्य इन्द्रिय नहीं मानी जाती; अतः कार्य और कारणके विषयमें भी यही माना जायगा अर्थात् इन दोनोंमें एकके सिद्ध न होनेसे दूसरेकी भी सिद्धि नहीं हो सकती। उक्त प्रमाणोंसे कारणकी सिद्धिका समर्थन कर चुके हैं, इसलिए उत्पत्तिसे पूर्वमें भी कार्यकी सत्ता मानना आवश्यक है।

शङ्का—कार्यके अभावसे कारणका अभाव क्यों होगा? क्योंकि कारण—समवायी—मृत्तिका, असमवायी—उसके अवयवोंका संयोग और निमित्त—दण्ड, कुलाल आदि ये तीनों कारण—स्वरूपसे उपलब्धिगोचर होते हैं; अतएव सिद्ध ही हैं, असिद्ध कैसे होंगे?

समाधान—ये तीनों व्यापारविशिष्ट होकर कारण होते हैं अथवा स्वसत्ता-मात्रसे? दोनों तरह वे कार्यके कारण नहीं हो सकते और अन्त्य पक्षमें उत्पत्तिके समयमें वे स्थिति और लयके भी कारण हैं, इसलिए उत्पत्ति, स्थिति और लय—ये तीनों कार्य एक ही समयमें होने चाहिएँ एवं स्थितिकालमें तथा लयकालमें तीनोंको रहना चाहिए। तीनों कार्योंके कारण तीनों समयमें हैं, उत्पत्तिके कारण मिट्टी, दण्ड, कुलाल आदि हैं। मृत्तिकामें घटकी उत्पत्ति होती है, इसीमें घटकी स्थिति रहती है। अनियत देशप्रसक्तिके निराकरणके लिए समवायी कारण मानते हैं तथा मृत्तिकामें ही घटका लय होता है, क्योंकि समवायी कारणमें प्रध्वंस रहता है, यह सिद्धान्त नैयायिकोंका ही है, अतः तीनोंकी कारण मृत्तिका स्फुट ही है। दण्ड जैसे उत्पत्तिमें निमित्त कारण है, वैसे ही नाशमें भी निमित्त कारण है। दण्डसे घट फोड़ा जा सकता है, कुलाल भी फोड़ सकता है; तथा स्थितिमें भी कुलाल, दण्ड आदि कारण हो सकते हैं, चेतन तो तीनोंमें कारण होता है।

यद्यपि इन तीनों कार्योंमें—इन कारणोंका व्यापार पृथक्-पृथक् है; तथापि स्वसत्तामात्रसे कारण है, यह पक्ष मानकर यह दोष होता है और सत्तामात्रसे ये तीनों कारण हैं, यह माननेसे सत्ता सब जगह है, अतः सब जगह कार्यकी

अविज्ञातो ज्ञातुमिष्टो ज्ञायमानोऽथ विस्मृतः ।
स्मर्यते स्मृत इत्येवं सन्नेवं बहुधोच्यते ॥ ५५ ॥
लोके सामग्र्यभावाद्वा कुड्याद्यावृतितोऽथवा ।
सन् घटोऽपि न दृश्येत पिण्डस्थो नेक्ष्यते कुतः ॥ ५६ ॥

उत्पत्ति हो जायगी, यह भी दोष है। यह दोष हो, परन्तु फिर भी कार्यकारणभाव तो सिद्ध होता ही है, इस प्रकार कार्यकारणभाव माननेसे घटार्थी पुरुषकी नियमसे मृत्तिकाके आनयनमें प्रवृत्ति नहीं होगी। उक्त कार्यार्थीकी मृदादि कारणमें नियमसे प्रवृत्ति होती है; अतः सत्तामात्रसे कारण कहना ठीक नहीं है और समवायी आदि तीन ही कार्यके कारण हैं, यह नियम भी असंगत होता है। सत्ता तो सबमें समान ही है, फिर ये ही क्यों कारण हैं? सत्तासे समान तो अन्य भी हैं। प्रथम कल्पमें यदि तीनों कारण व्यापारविशिष्ट हो मिल कर कार्य करते हैं, तो व्यापारविशिष्टत्व भी कार्य है अथवा अकार्य है? प्रथम पक्षमें यह भी कारणत्रयकी अपेक्षा करेगा, अन्यथा कारणत्रयके बिना भी कार्योत्पत्ति होगी। इस प्रणालीसे वह भी कार्य होगा, तो फिर अन्यकी अपेक्षा अवश्य होगी इस प्रकार अनवस्था होगी; प्रथम पक्षमें कारण सदातन है, अतः सदा कार्यकी आपत्ति होगी। अतः उत्पत्तिसे पूर्व घट अपने कारणमें है और यह नियम नहीं है कि जो रहता है, वह उपलब्ध ही होता है। पृथ्वीके नीचे जल अवश्य रहता है, पर बिना खोदे उपलब्ध नहीं होता। प्रमाण केवल वस्तुके ज्ञानका जनक है, वस्तुसत्त्वका साधक नहीं, वस्तु स्वयं ही सत् या असत् होती है ॥५४॥

उक्त प्रकारसे सत्त्वसाधक प्रमाणको बतलाकर व्यवहारसे भी यही सिद्ध होता है, यह कहते हैं—'**अविज्ञातो**' इत्यादिसे।

सत्‌की सतत उपलब्धि होती ही है; यह नियम नहीं है, क्योंकि अविज्ञात, जाननेके लिए इष्ट, ज्ञायमान, विस्मृत, स्मर्यते, स्मृत, इस प्रकार सद् अर्थ भी अनेक प्रकारसे व्यवहृत होते हैं। असन्निहित सत् अर्थ अविज्ञात और ज्ञानेच्छाका विषय कहलाता है। प्रायः भावीमें ऐसा व्यवहार होता है। ज्ञायमान—इसका वर्तमान विषयमें तात्पर्य है। स्मर्य्यते, स्मृतः इत्यादि अतीत अवस्थामें विषयकी सत्ताके साधक हैं, इस रीतिसे घटादि उत्पत्तिसे पूर्व तथा नाशके अनन्तर भी सत् ही हैं, असत् नहीं ॥ ५५ ॥

'**लोके**' इत्यादि। घटादिकी अनुपलब्धि लोकमें तो प्रकारसे होती है

साक्षात्कारजनक विषयेन्द्रियादिसन्निकर्ष सामग्रीके अभावसे अथवा कुड्यादिके आवरणसे। इन दोनोंके कारण सत्—वर्तमान—घट भी उपलब्ध नहीं होता।

सारांश यह है उत्पन्न घटादिके कुड्यादि और अनुत्पन्नके कारण आवरण होते हैं; इस प्रकार आवरण दो प्रकारके हैं।

शङ्का—वेदान्ती लोग कार्य और कारणका अभेद मानते हैं। यदि कार्यका कारण आवरण होगा, तो घट और कुलालके सदृश कार्यकारणका भी भेद मानना पड़ेगा।

समाधान—मृदादि कारणसे घटादि कार्य व्याप्त हैं; घटादि नाम-रूप मृत्तिकासे तिरोहित रहता है; कार्यका नामरूपतिरोधायक ही कारण कहलाता है। तिरोधायक ही आवरण कहलाता है; अतः कुड्यादिकी तरह उसमें भेद नहीं माना जाता, कुड्यादि उक्त प्रकारसे नामरूपके तिरोधायक नहीं हैं।

शङ्का—कार्य यदि कारणमें है तो कारणसे व्याप्त हो सकता है; पर ऐसा है नहीं, क्योंकि कारण कार्यसे पूर्व क्षणमें रहता है और कार्य उत्तर क्षणमें रहता है, अतः भिन्न क्षणमें रहनेवालोंका आधाराधेयभाव कैसे हो सकता है?

समाधान—मृत्तिकाको घटकी कारण मानकर यदि कहते हो कि घटका कारण पूर्वक्षणमें रहता है, तब तो कारणकी तरह घटादि कार्यकी भी सत्ता पूर्वक्षणमें सिद्ध होगी, क्योंकि कारण और कार्य ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। यदि कार्य पूर्व-क्षणमें नहीं है, तो कारण भी पूर्व क्षणमें नहीं रह सकता। यदि कारणकी पूर्वक्षणमें सत्ता मानते हो, तो उसमें रहनेवाला कार्य भी पूर्व क्षणमें सिद्ध ही होता है, अतएव यह भी आक्षेप निरस्त हुआ कि कारण पूर्वक्षणमें है और कार्य उत्तर क्षणमें। विभिन्नक्षणवर्तियोंका आधाराधेयभाव नहीं होता। कारण और कार्य दोनों स्थिर हैं, क्षणिक नहीं हैं। पूर्वोत्तर दोनों क्षणोंमें कारण और कार्य ये दोनों हैं, अन्यथा परस्पर असम्बद्धोंका हिम और बिन्ध्यके सदृश कार्य-कारणभाव ही नहीं होगा?

शङ्का—यदि उत्पत्तिसे पहले भी कार्य-कारणमें है, अतः दोनों सत् हैं और कारण कार्यके अभिव्यञ्जक हैं, तो पूर्व क्षणमें कारणसे इतर कुड्यादि तो व्यव-धायक है नहीं, कारणको ही व्यञ्जक कहते हो, तो फिर उस समय घटकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? इससे ज्ञात होता है कि उत्पत्तिसे पहले कार्य असत् ही है।

समाधान—पृथुबुध्नोदर स्वाकारविशेषसे घटकी उपलब्धि चाहते हो या सद्रूपसे? प्रथम पक्षमें मृदादि कारणकी पिण्डादि कार्यान्तररूपसे अवस्थिति है

आवृतत्वादिति ब्रूमः पिण्डेनैव तदावृतिः ।
न पिण्डस्थो घटः किन्तु मृन्निष्ठः पिण्डसंवृतः ॥ ५७ ॥

और उसी कार्यान्तरसे घट आवृत है, इसलिए स्वाकारविशेषरूपसे उपलब्ध नहीं होता । द्वितीय पक्षमें सद्रूप कारणसे उसकी उपलब्धि होती ही है ॥५६॥

'आवृतत्वादिति ब्रूमः'—इत्यादिसे ।

प्रश्न—यदि उत्पत्तिसे पूर्व घट है, तो वह उपलब्ध क्यों नहीं होता ?

उत्तर—पिण्डसे आवृत है ।

प्रश्न—पिण्ड तो घटका कारण होनेसे व्यञ्जक है, वह तिरोधायक कैसे ?

उत्तर—पिण्ड घटका कारण नहीं है, किन्तु मृत्तिका कारण है । जो कार्यमें अनुवृत्त रहता है, वही कारण होता है । घटमें मृत्तिकाकी अनुवृत्ति है, पिण्डकी नहीं । इसलिए मृत्तिकामें रहनेवाले घटका पिण्डसे आवरण होता है । सारांश यह है कि सामान्याकारसे घटकी उपलब्धि तो इष्ट ही है, विशेषाकारसे घटकी उपलब्धि क्यों नहीं होती ? यह प्रश्न है । यदि कहें कि विशेषाकारसे घट अपने कारणमें नहीं है, इसलिए उसकी उपलब्धि नहीं होती, तो उत्पत्तिसे पूर्व भी विशेषाकारसे घट अपने कारणमें नहीं है और कारणव्यापारके अनन्तर विशेषाकारसे उत्पन्न होता है, ऐसा अङ्गीकार करनेसे असत्की उत्पत्ति होती है, यह मानना पड़ेगा । यदि विशेषाकारसे भी घट अपने कारणमें है यह कहें, तो उपलब्ध क्यों नहीं होता ? और कारणव्यापार भी व्यर्थ है, क्योंकि घटकी उत्पत्तिके लिए ही दण्ड, चक्रादिके व्यापारकी अपेक्षा होती है । यदि घट सिद्ध ही है, तो उत्पन्नके लिए जैसे कारणव्यापार नहीं होता, वैसे ही आपके मतसे कभी भी कारणव्यापारकी अपेक्षा न होनी चाहिए ।

उत्तर—ठीक है, यद्यपि उत्पत्तिसे पूर्व भी विशेषाकारसे अपने कारणमें घट है पर उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि वह पिण्डादि कार्यसे आवृत है । कारणमें अनेक कार्य रहते हैं । एक कार्य दूसरे कार्यका आवरक होता है और जो कार्य वर्तमान रहेगा वह अनागत और अतीत दोनों इतरके कार्योंका तिरोधायक होता है, जैसे मृत्तिकामें घट और पिण्ड दोनों कार्य रहते हैं, किन्तु जबतक पिण्डकी अभिव्यक्ति रहेगी, तबतक अनागत घटकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि पिण्ड आवरक है एवं घटकी सत्तादशामें यद्यपि अतीत पिण्ड मृत्तिकामें है तथापि

एकस्मिन्नेव वियति चान्द्रं तेजोऽभिभूयते ।
सौरेण तेजसा तद्वत्पिण्डेनाऽऽव्रियतां घटः ॥ ५९ ॥

कार्योंकी एक कालमें सत्त्वापत्ति हो जायगी, अतः समानकारणकत्वरूप हेतु प्रकृतमें असिद्ध है, इसलिए अनावरकत्वका अनुमान आभास है ॥ ५८ ॥

'एकस्मिन्नेव' इत्यादि । यद्यपि एकपात्रमें दुग्ध अधिक हो और जल थोड़ा हो, तो दूधके सम्मिश्रणसे जलका विवेक नहीं होता तथापि दूधके साथ जलका भी प्रत्यक्ष होता है, इसलिए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे एक ही आकाशमें सूर्य और नक्षत्रगण हैं परन्तु सूर्यके आलोकसे नक्षत्रोंका अभिभव होनेसे वे प्रत्यक्ष नहीं देख पड़ते, यह सबके अनुभवसे सिद्ध है, वैसे ही एक ही मृत्तिकामें पिण्ड और घट हैं, इसलिए पिण्डसे घटकी आवृति होती है ।

शङ्का—पिण्ड मृत्तिकामें है, किन्तु घट तो अपने समवायी कारण कपालमें है, मृत्तिकामें नहीं, इसलिए वह स्वतः ही भिन्नदेश है, एकदेशस्थ नहीं, अतः कुड्यादिके सदृश पिण्डादि आवरक अनायाससे ही हो सकते हैं, फिर एकदेशस्थत्वकी शङ्का और एकदेशस्थ ही आवरक होता है, यह सिद्ध करनेके लिए प्रकृत दृष्टान्तका प्रदर्शन निष्प्रयोजन है ।

समाधान—नहीं, निष्प्रयोजन नहीं है, क्योंकि यह आरम्भवादी तार्किकोंका मत है । उनके मतसे अवयव और अवयवी अतिरिक्त हैं, अतएव अवयवोंमें अवयवी समवायसे रहता है । परन्तु यह मत वेदान्तियोंको मान्य नहीं है, कारण कि कार्य और कारणका अभेद ही विचारसे सिद्ध होता है, अन्यथा तन्तुकी अपेक्षा पटमें पृथक् परिमाण मानना पड़ेगा जो सर्वथा असंगत है । परिमाणवत्त्व ही द्रव्यका निर्दुष्ट लक्षण है । एक सेर सूतसे जो कपड़ा बनता है, वह दो सेरका नहीं होता । एवं एक तोले सोनेकी बनी मुद्रिका दो तोलेकी नहीं होती, क्योंकि सूत ही आतान-बितानरूप विशेषाकारसे संपन्न पट है और मुद्रिकाकारापन्न सुवर्ण ही अँगूठी है, अतिरिक्त नहीं । इस प्रकार कारण और कार्यका अभेद मानकर पिण्ड और घट—ये दोनों कार्य एक ही मृत्तिकामें हैं, इसलिए उक्त दृष्टान्त आवश्यक है ।

शङ्का—यदि कारण और कार्यका अभेद मानते हैं, तो उनका आधाराधेय-भाव नहीं हो सकेगा । कितना भी नट विचित्र खेल करे, पर अपने कंधेपर

स्वयं नहीं चढ़ सकता, कारण कि एक ही क्रियाका कर्ता और कर्म एक नहीं होता, यह नियम है। और मृत्तिकाकी अनुवृत्ति जैसे पिण्ड, कपाल आदिमें होती है, वैसे ही मृत्तिकासे अभिन्न होनेके कारण पिण्डकी भी उत्तरोत्तर कार्योंमें अनुवृत्ति होनी चाहिए, पर होती नहीं। एवं अभेदपक्षमें और भी दोष है—'मृद् घटः' 'सुवर्णं कुण्डलम्' यह सामानाधिकरण्य प्रतीति नहीं बन सकती, क्योंकि अत्यन्ताभेद होनेपर 'घटो घटः' की तरह उक्त प्रत्यय भी असंगत हो जायगा। और दूरसे सुवर्णमात्रके देखनेपर कटक आदि विशेषकी जिज्ञासा अनुभव-सिद्ध है। जिज्ञासा अज्ञात विषयकी होती है, ज्ञातकी नहीं, क्योंकि विषयका ज्ञान विषयकी जिज्ञासाका निवर्तक है। कटक और सुवर्ण यदि अभिन्न हैं, तो सुवर्णके देखनेपर उससे अभिन्न कटक आदिका भी ज्ञान हो ही जायगा, फिर जिज्ञासा न होनी चाहिए, लेकिन होती है; इसलिए सुवर्ण आदिसे कटक आदिका भेद मानना चाहिए एवं एकका दो बार भान होना चाहिए। सुवर्णके कटकको देखनेपर सुवर्ण कटकसे अभिन्न है, अतः सुवर्ण और कटक—इन दोनोंकी प्रतीति साथ होनी चाहिए। तथा कटक और कटकसे अभिन्न सुवर्ण की भी साथ ही प्रतीति होनी चाहिए, पर होती नहीं। एवं 'कटकं सुवर्णम्' के सदृश 'कटकं कुण्डलम्' ऐसा भी कटक और कुण्डलका सामानाधिकरण्य प्रत्यय होना चाहिए, कारण कि सुवर्णसे अभिन्न कटक और कुण्डल ये दोनों हैं। अतः कटकसे अभिन्न सुवर्ण और सुवर्णसे अभिन्न कुण्डल है, इसलिए 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्' इस न्यायसे उक्त प्रतीतिकी आपत्ति स्फुट है, इत्यादि।

समाधान—पिण्डरूपसे और घटरूपसे कार्यकारणभाव नहीं है, किन्तु मृत्तिका-रूपसे और घटरूपसे ही कार्यकारणभाव माना जाता है, इसलिए मृत्तिकाकी अनुवृत्ति होती है, पिण्डादिकी नहीं। 'मृद् घटः' इत्यादि सामानाधिकरण्यप्रतीतिके लिए सर्वथा अभेद नहीं है, किन्तु भेदसहिष्णु अभेद मानते हैं अर्थात् भेद और अभेद दोनों मानते हैं। भेद मानते हैं, इसलिए सुवर्णका ज्ञान होनेपर भी तत्कार्य कटक आदिकी जिज्ञासा होनेमें कोई आपत्ति नहीं है। एवं एकका दो बार भान भी नहीं हो सकता। तथा कटक, कुण्डल आदिके परस्पर सामानाधिकरण्यप्रत्ययकी आपत्ति भी नहीं हो सकती। सारांश यह है कि अभेद पक्षमें प्रसक्त दोषोंका परिहार भेदपक्षसे हो जाता है।

एकस्यां मृदि पिण्डाद्याः कार्याः सन्ति सहस्रशः ।
यस्याऽभिव्यक्तिसामग्री स्यात्तेनाऽन्येऽत्र संवृताः ॥ ६० ॥

शङ्का—अभेद और भेद—ये दोनों विरुद्ध धर्म एकमें कैसे रह सकते हैं? यदि दो विरुद्ध धर्मोंको एकमें मानो, तो गोत्व और अश्वत्वका भी एकत्र समावेश हो जायगा। भावोंमें विरोध अभाव द्वारा ही होता है। यदि भाव और अभावका विरोध नहीं होगा, तो भावोंका भी विरोध सदा शान्त हो जायगा।

समाधान—ठीक है, समसत्ताक भाव और अभावमें अवश्य विरोध है, व्यावहारिकसत्ताक भाव और अभाव एक आश्रयमें नहीं रह सकते, इसलिए भेद और अभेदसे एककी व्यावहारिक सत्ता और दूसरेकी पारमार्थिक सत्ता माननेमें कोई दोष नहीं है।

शङ्का—अच्छा तो किसकी पारमार्थिक सत्ता है और किसकी व्यावहारिक?

समाधान—अभेदकी पारमार्थिक सत्ता और भेदकी व्यावहारिक सत्ता है।

शङ्का—क्यों?

समाधान—भेदकी पारमार्थिक सत्ता माननेमें आपत्ति यह है कि अभेद एक है और भेद विद्यमान दो पदार्थोंकी अपेक्षा रखता है, अनुयोगी और प्रतियोगीके बिना भेद नहीं बन सकता, इसलिए भेदका उपजीव्य अभेद है। अभेदकी सिद्धिमें भेदकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अभेद एक है। और अभेदमें लाघव भी है। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि श्रुतिसे कारण परमार्थ सत् है, और कार्य अनादि अविद्याप्रयुक्त सदसत्से अनिर्वचनीय है, यह वेदान्तियोंका परमसिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार अवयवों द्वारा पृथक् अवयवोंका आरम्भ नहीं होता, किन्तु मृत्तिकाकी विविध अवस्थाओंमें तत् तत् कार्यका व्यवहार होता है॥ ५९ ॥

अच्छा पिण्ड यदि मृत्तिकाका कार्य है, तो घटावस्थामें भी घटकी तरह पिण्डका भान क्यों नहीं होता, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—**'एकस्यां मृदि'** इत्यादि से।

एक ही मृत्तिकामें पिण्ड, कपाल, घट, शर्करा, चूर्ण आदि हजारों कार्य होते हैं, उनमें जिसकी अभिव्यक्तिसामग्री होती है उस सामग्रीसे अन्य कार्य आवृत हो जाते हैं, इसलिए दूसरेका भान नहीं होता। जैसे पिण्डरूप

पिण्डेनाऽऽव्रियते कुम्भः कुम्भेनाऽपि कपालकम् ।
कपालेनाऽऽवृतः कुम्भ एवमन्योन्यसंवृतिः ॥ ६१ ॥

कार्यकी अभिव्यक्तिकी जनक सामग्रीके रहनेपर पिण्डकी ही अभिव्यक्ति नियमसे होती है, कपाल, घट आदिकी नहीं होती । यद्यपि पिण्डावस्थामें भी कपाल, घट आदि हैं, किन्तु वे पिण्डरूप कार्यसे आवृत हैं, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती । अभिव्यक्तिके न होनेसे यह निश्चय करना अयुक्त है कि उस अवस्थामें कार्यान्तर है ही नहीं । यदि उनकी सत्ता न होती, तो उनकी उससे अभिव्यक्ति कभी नहीं होती । उक्त कारणसे उक्त कार्योंकी अभिव्यक्ति होती है, अतः उत्पत्तिसे पूर्व तथा नाशके अनन्तर अपने कारणमें कार्य रहता है । नैयायिक भी घटादिका प्रागभाव तथा ध्वंस उसके समवायी कारणमें मानते हैं, उनके मतमें अभाव भावसे भिन्न एक अलग पदार्थ है । अपने मतमें अभाव भावान्तरात्मक है, तत्त्वान्तर नहीं है, क्योंकि यह सिद्धान्त है—'भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्' अन्योन्याभाव जैसे भावान्तरात्मक है, वैसे संसर्गाभाव भी भावात्मक ही है, प्रागभाव उत्पत्स्यमान वस्तुकी सूक्ष्मावस्थास्वरूप है और ध्वंस स्वकारणमें लीन वस्तुकी सूक्ष्मावस्था ही है, वस्तुसे अतिरिक्त नहीं, अतएव 'घटः उत्पत्स्यते नष्टः' इत्यादि प्रतीति उपपन्न होती है, अन्यथा उक्त प्रतीति ही निरालम्बन हो जायगी, क्योंकि अतीत और अनागत अवस्थामें जब वस्तु है ही नहीं, तब सालम्बन प्रतीति होगी कैसे ? इसलिए अतीतादि अवस्थाओंसे युक्त विषय ही उक्त प्रतीतिका अवलम्बन माना जाता है, इत्यादि विशेष फिर कहेंगे ॥ ६० ॥

**'पिण्डेनाऽऽव्रियते'** इत्यादि । पिण्डसे घट आवृत होता है, पिण्डावस्थामें अनागत घट मृत्तिकामें है, किन्तु पिण्डरूप मृत्तिकाके कार्यसे आवृत होनेसे अभिव्यक्त नहीं होता, एवं कुम्भसे कपाल आवृत होता है, इसलिए कुम्भकी अवस्थामें कपालकी अभिव्यक्ति नहीं होती ।

शङ्का—कुम्भसे कपालका आवरण कहना तो ठीक नहीं है, कारण कि कुम्भकी प्रतीतिके समय कपालका भान होता है । हां, यह बात दूसरी है घटके समय पिण्डका भान नहीं होता, अतः उसे पिण्डका आवरण मानें ।

समाधान—दो कपालोंसे घटका आरम्भ होता है, घटके आरम्भसे पहले जैसे दो कपालोंकी पृथक्‌रूपसे प्रतीति होती है, वैसे घटदशामें प्रतीति नहीं होती, इस तात्पर्यसे कुम्भसे कपालका आवरण कहा गया है ॥ ६१ ॥

कुम्भेनैव कपालाख्याः कुम्भांशा भान्त्यतो घटः ।
न कपालैरावृतश्चेन्न विभक्तैस्तदावृतेः ॥ ६२ ॥
यदि पिण्डावृतिः कुम्भः कुलालस्तर्हि साधनैः ।
भङ्गायैवाऽऽवृतेर्यत्नं कुर्यान्न घटनिर्मितौ ॥ ६३ ॥
एवं चोदयतस्तेऽत्र कोऽभिप्रायस्तमीरय ।
किमुत्पत्तिं वारयसे किं वा दण्डादिसाधनम् ॥ ६४ ॥
आद्य इष्टो द्वितीये तु मा दण्डादि निवार्यताम् ।

'कुम्भेनैव' इत्यादि ।

शङ्का—कुम्भके साथ ही कुम्भके अंशभूत कपालका भान होता है, इसलिए कुम्भ कपालसे आवृत होता है, यह कहना अनुभवविरुद्ध है ।

समाधान—कपालमें जिस समय घटका ध्वंस होता है, उस समय दो कपालोंमें घट लीन होता है । यद्यपि उस कालमें सूक्ष्मरूपसे घट उक्त कारणमें है अवश्य, किन्तु कपालरूप कार्यसे आवृत है, अतः पूर्वमें प्रतीत नहीं होता, इसलिए आवरण कहना समुचित ही है, इसी अभिप्रायसे 'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः' इत्यादि श्रीभगवद्वाक्य है ॥ ६२ ॥

'यदि पिण्डावृतिः' इत्यादि । यदि पिण्डका आवरण घट है, तो कुलालको दण्ड, चक्र आदि साधन द्वारा आवरणके विनाशके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए, घटकी उत्पत्तिके लिए नहीं । तात्पर्य यह है कि यदि पिण्ड द्वारा उत्पत्स्यमान घट आवृत है, तो उसकी अभिव्यक्तिके लिए पिण्डके विनाशमात्रका यत्न करना चाहिए, घट बनानेके लिए नहीं, क्योंकि घट तो मृत्तिकामें है ही, अतः आवरणका भङ्ग करनेसे वह स्वयं अभिव्यक्त हो जायगा; पर लोकमें देखा जाता है, तो यही प्रतीत होता है कि 'घट बनावें' ऐसा सङ्कल्प करके ही घट आदिके निर्माणमें कुलाल आदिकी प्रवृत्ति होती है, 'प्रतिबन्धकका विनाश कर घटकी अभिव्यक्ति करें' ऐसा सङ्कल्प कर उक्त कार्यार्थी उस कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता, इसलिए सत्कार्यवाद ठीक नहीं है ॥ ६३ ॥

'एवं चोदयतः' इत्यादि । इस आक्षेपसे आपका अभिप्राय क्या है, सो स्पष्ट कहिए, क्या घटकी उत्पत्ति रोकना चाहते हैं अथवा दण्ड आदि साधनका निराकरण करना आपको अभीष्ट है ? ॥ ६४ ॥

'आद्य इष्टो' इत्यादि । प्रथम पक्षमें घटकी उत्पत्तिका वारण तो इष्ट ही है,

घटाभिव्यक्तिहेतुत्वाद् ग्राह्यं दण्डादिसाधनम् ॥ ६५ ॥
अनेकसाधना यस्मादभिव्यक्तिर्जगत्यसौ ।
वस्तुभेदादतो लोकसिद्धं साधनमिष्यताम् ॥ ६६ ॥
दीपेन व्यज्यते रूपं नवनीतं तथा घटः ।
दण्डादिना ततः सर्वं सदेव व्यक्तितः पुरा ॥ ६७ ॥
तमोविनाशनायैव दीपश्चेदस्तु तावता ।
सदेव व्यज्यते सर्वमिति नैवाऽपनुद्यते ॥ ६८ ॥

क्योंकि विद्यमान घट आदिकी केवल अभिव्यक्ति अपेक्षित है, अपूर्वोत्पत्ति नहीं। द्वितीय पक्ष है—दण्डादि साधनका निराकरण, सो मत कीजिए, कारण कि अभिव्यक्तिके साधनका यह प्रयोजन नहीं है कि आवरणभङ्गसे सर्वत्र कार्यकी अभिव्यक्ति हो; इस विषयमें अग्रिम श्लोकोंसे अधिक विशद करेंगे। यहां यही कहना है कि दण्ड घटकी अभिव्यक्तिका साधन है, इसलिए घटकी अभिव्यक्तिके लिए दण्ड आदि साधनका अवश्य ग्रहण करना चाहिए ॥ ६५ ॥

'अनेक०' इत्यादि। संसारमें तत्-तत् वस्तुओंकी अभिव्यक्ति अनेक साधनोंसे होती है, इस कारणसे तत्-तत् वस्तुओंकी अभिव्यक्तिके लिए लोकसिद्ध तत्-तत् साधन सत्कार्यवादीको भी अभीष्ट हैं ॥ ६६ ॥

वस्तुभेदसे साधनभेदका उदाहरण देते हैं—'दीपेन' इत्यादि।

प्रदीपसे रूपादिकी अभिव्यक्ति होती है। दधिसे आवृत नवनीत ( मक्खन ) मथनेसे अभिव्यक्त होता है एवं घटकी अभिव्यक्ति दण्ड आदिसे होती है, इस प्रकार उन-उन वस्तुओंकी अभिव्यक्तिका साधन एक प्रकारका नहीं है, किन्तु वस्तुके भेदसे अभिव्यक्तिके साधन अनेक प्रकारके हैं। केवल आवरणभङ्ग ही सब जगह सब वस्तुओंकी अभिव्यक्तिका साधन है; यह नियम नहीं है, अतः घटकी अभिव्यक्तिके साधन दण्ड आदि हैं, अतः घटकी अभिव्यक्तिके लिए दण्ड साधन आवश्यक है। असत्कार्यवादकी अपेक्षा सत्कार्यवादमें विशेष केवल यह है कि अभिव्यक्तिसे पूर्व कार्य सत् है, असत् नहीं है ॥६७॥

'तमोविनाश०' इत्यादि। दीप तो केवल तमोनाशका हेतु है; रूपकी अभिव्यक्तिका नहीं, रूपकी अभिव्यक्ति तो स्वतः चक्षुसे होती है, अतएव

भावाभावोत्पन्ननष्टशब्दप्रत्ययभेदधीः ।
अभिव्यक्तितिरोभावद्वैविध्यादुपपद्यते ॥ ६९ ॥
व्यक्तो दीपेन भावः स्याज्जातो व्यक्तस्तु दण्डतः ।
पिण्डावृतस्त्वभावः स्यान्नष्टश्छन्नः कपालकैः ॥ ७० ॥

चक्षुरहित अन्धेको दीप लानेपर भी रूपकी अभिव्यक्ति नहीं होती । ठीक है कि प्रदीप उक्त कार्यमात्रका हेतु है और नेत्र ही वस्तुतः रूपका अभिव्यञ्जक है, पर नेत्र सत् रूपकी ही तो अभिव्यक्तिका साधन है; अतः सत्की ही अभिव्यक्ति साधनोंसे होती है; इस सिद्धान्तमें कोई बाधा ही न पड़ी ॥ ६८ ॥

'भावाभावो०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि उत्पत्तिसे पहले विद्यमान घटकी अभिव्यक्ति तथा नाशावस्थामें भी घटको सूक्ष्मरूपसे वर्तमान ही मानते हैं, तो घट है, घट उत्पन्न हुआ, तिरोहित हुआ, नष्ट हुआ इत्यादि अनेकविध प्रत्यय क्यों होते हैं ? विषयके वैलक्षण्यके बिना तो प्रतीतिका भेद होता है नहीं । जिस मतमें अपूर्व उत्पत्ति तथा विनाश मानते हैं, उस मतमें अपूर्व उत्पत्तिके बाद घट उत्पन्न हुआ, तदनन्तर विद्यमान हुआ और तन्नाशदशामें 'नश्यति' अनन्तर 'नष्टः' यह प्रतीतिभेद विषयवैलक्षण्य होनेसे सूपपाद है । उत्पत्तिसे पूर्व तथा नाशके बाद घट आदि कार्यका अभाव है और वर्तमानकालमें भाव है; यह व्यवस्था उपपन्न होती है, अतः असत्कार्यवाद ही मानना चाहिए ।

समाधान—उक्त व्यवस्था सत्कार्यवादमें भी बन सकती है; अतः उक्त दोष हमारे मतमें नहीं हो सकता है, इसीका अग्रिम श्लोकसे विवेचन किया जायगा ॥ ६९ ॥

व्यञ्जकके भेदसे अभिव्यक्ति और तिरोभाव दो प्रकारके माने जाते हैं, यह कहते हैं—'व्यक्तो दीपेन' इत्यादिसे ।

जब उत्पन्न हुआ घट अन्धकारसे आवृत रहता है, उस समय उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, प्रदीपके प्रकाशसे अभिव्यक्ति होती है; उस समय भाव अर्थात् विद्यमानताकी प्रतीति होती है । अन्धकारसे आवृत घटकी अभिव्यक्तिका साधन प्रदीप है; दण्ड आदि नहीं । और उत्पत्तिसे पूर्व घट आदि पिण्ड आदिसे आवृत हैं, अतएव उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती उस समय घटका

एवं व्यक्त्यावरणयोर्बहुत्वादेक एव सन् ।
उच्यते बहुभिः शब्दैस्तदुदाह्रियते पुनः ॥ ७१ ॥

कुड्यावृतस्त्वसंस्पृष्टः स्पृष्टो व्यक्तस्तु पाणिना ।
मोहावृतस्त्वविज्ञातो ज्ञातो व्यक्तः प्रमाणतः ॥ ७२ ॥

---

अभाव है, ऐसा मानते हो । दण्ड आदि द्वारा पिण्ड आदिकी जब निवृत्ति होती है, तब घटकी अभिव्यक्ति होती है । पिण्ड आदि प्रतिबन्धककी निवृत्तिका साधन दण्ड आदि है; प्रदीप नहीं । नष्ट होनेपर भी घट खपुष्पादिकी तरह अत्यन्त असत् नहीं होता; किन्तु कारणमें लीन हो जाता है । कपाल आदि द्वारा आवृत होनेसे उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती ।

शङ्का—यदि कपाल आदि ही घटके आवरक हैं, तो कपालका नाश होनेपर आवरणका भङ्ग हुआ ही, फिर घटकी अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—कपालका नाश भी चूर्णस्वरूप है, अतः वह भी घटकी अभिव्यक्तिमें कपालके समान प्रतिबन्धक है, यह विषय आगे विशेष स्पष्ट होगा । इस प्रकार व्यञ्जक दो प्रकारके हैं अर्थात् कारक और ज्ञापक । दण्ड आदि कारक हैं और प्रदीप आदि ज्ञापक हैं । ज्ञापकको नैयायिक आदि भी सत्का अभिव्यञ्जक मानते हैं, पर कारकके विषयमें उनका सिद्धान्त विपरीत है । सत्कार्यवादी दोनोंको समानरूपसे ही सत्का अभिव्यञ्जक मानते हैं, यही दोनों मतोंमें भेद है ॥ ७० ॥

'एवं व्यक्त्या०' इत्यादि । उक्त प्रकारसे अभिव्यक्ति और आवरण विविध हैं, अतः एक ही सत् घट आदि अनेक शब्दोंसे व्यवहृत होता है । इसका उदाहरण पूर्वमें कह चुके हैं, फिर भी स्पष्टीकरणके लिए पुनः उदाहरण कहते हैं । प्रकृतमें पुनः कथन दोष नहीं है, किन्तु उक्तार्थको दृढ़ करनेसे गुण ही है ॥७१॥

'कुड्यावृत०' इत्यादि । कुड्यसे—दीवालसे—आवृत घटादि प्रकाशक चक्षुरादिसे असंसृष्ट होता है, इसलिए वह अभिव्यक्त नहीं होता; प्रकाशक स्वसंबद्ध प्रकाश्यका ही प्रकाश करता है । घटका प्रत्यक्ष चक्षु और त्वगिन्द्रिय—इन दोनोंसे होता है । अन्धकारसे आवृत घटका त्वाच प्रत्यक्ष होता है । उसमें प्रदीपादि व्यञ्जक नहीं माने जाते, इसलिए कुड्यका निर्देश किया गया है । कुड्य आदिसे अव्यवहित घट अन्धकारमें स्थित होनेपर भी हस्तादिसे व्यक्त होता है । मोहसे—अज्ञानसे—आवृत घट अविज्ञात कहलाता है । [illegible]

ननूदाहरणेष्वेषु तत्तदावृतिभङ्गतः ।
अन्या का स्यादभिव्यक्तिर्यया कार्यं नियम्यते ॥ ७३ ॥
अभिव्यक्तेरनन्यत्वे शिलया पिण्डभङ्गतः ।
अभिव्यज्येत कुम्भोऽयं विना दण्डादिसाधनैः ॥ ७४ ॥
उच्यते तावदज्ञातज्ञातोदाहरणेऽन्तिमे ।
भेदो विशद एवाऽभिव्यक्त्यावरणभङ्गयोः ॥ ७५ ॥
अज्ञातत्वावमृष्ट्यर्थमादित्सन्ते हि मानिनः ।
मानानि, मानसम्बन्धादज्ञातत्वं च नश्यति ॥ ७६ ॥

---

विषयावच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाले घटके आवरक अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर घट ज्ञात तथा व्यक्त कहलाता है। त्वगादि और ज्ञान दोनों ज्ञापक ( व्यञ्जक ) हैं अर्थात् सामनेके पदार्थके ज्ञापक हैं, यह उभयमतसे सिद्ध है ॥ ७२ ॥

'ननूदाहरणेष्वेषु' इत्यादि। पहले कहे गये उदाहरणोंमें कुड्य, अज्ञान आदि आवरणोंके भङ्गके अतिरिक्त और अभिव्यक्ति क्या है? जिससे कार्यका नियमन करते हो अर्थात् अभिव्यक्ति आवरणभङ्गसे भिन्न है अथवा तत्स्वरूप? अतिरिक्तकी उपलब्धि नहीं होती, अतः प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है ॥७३॥

द्वितीय पक्षमें दोष देते हैं—'अभिव्यक्ते०' इत्यादिसे। अभिव्यक्ति यदि आवरणभङ्गस्वरूप ही होगी, तो पत्थरसे पिण्डका ध्वंस होनेपर भी घटकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए, क्योंकि आवरणध्वंस ही तो आपके मतसे कार्यकी अभिव्यक्ति है, अतः दण्डादि साधनोंके विना भी घटादिकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए, पर होती नहीं है, इससे द्वितीय पक्ष भी साधु नहीं है, उक्त दो कोटियोंके सिवा तीसरी कोटि हो नहीं सकती, इसलिए अभिव्यक्तिका निरूपण असंभव है, अतः अभिव्यक्तिवाद समीचीन नहीं है ॥७४॥

पूर्वशङ्काका निराकरण करते हैं—'उच्यते' इत्यादिसे।

पूर्वमें कहा जा चुका है कि मोहसे घटके आवृत होनेपर वह अविज्ञात कहलाता है और प्रमाण ज्ञानसे ज्ञात होनेपर अभिव्यक्त होता है। इस उदाहरणसे आवरणका भङ्ग और अभिव्यक्ति—इन दोनोंमें भेद स्फुट प्रतीत होता है ॥ ७५ ॥

'अज्ञातत्वा०' इत्यादि। प्रामाणिक लोग अविज्ञात विषयमें अज्ञानकी

**मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयतेति तत् ।**
**मेयाभिसङ्गतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥ ७७ ॥**

ठहरें, तो कारकका व्यापार ही व्यर्थ होगा। दूसरे पक्षमें असत्‌की उत्पत्तिका प्रसङ्ग होगा। यदि भङ्गकी अभिव्यक्तिके लिए कारकका व्यापार मानो, तो अभिव्यक्ति सत् है या असत्? प्रथम पक्षमें पूर्ववत् कारकव्यापार व्यर्थ होगा और द्वितीय पक्षमें उक्त दोषकी ही आपत्ति होगी। उसकी अभिव्यक्ति माननेपर अभिव्यक्तिपरम्पराका स्वीकार करनेसे अनवस्था दोषकी आपत्ति होगी एवं कार्याभिव्यक्तिके पक्षमें भी यह दोष है।

समाधान—ठीक है, उत्पत्ति पक्षमें भी घटकी तरह उत्पत्ति यदि असत् है, तो उसकी भी उत्पत्ति मानियेगा एवं उत्पत्तिकी उत्पत्ति भी तो असत् ही होगी, फिर उसकी उत्पत्ति, इस रीतिसे उत्पत्तिकी परम्परा माननेसे अनवस्था दोष असत्-कार्यवादीके मतमें भी है। बीजाङ्कुरवत् अनवस्था दोषका परिहार भी उभयमत साधारण है, अतः 'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः' इस अभियुक्तोंके श्लोकके अनुसार उस दोषका एक पक्षमें उपन्यास करना योग्य नहीं होगा। वस्तुतस्तु अनिर्वचनीयकार्यवादीके मतमें वह अनुगुण है, दोष नहीं है। अतः निर्वचनीय-कार्यवादीके मतमें ही वह दोष हो सकता है ॥ ७६ ॥

प्रथम प्रमाणज्ञान उसके बाद अज्ञानका नाश फल होता है, यह स्पष्ट कहते हैं—'मातुर्माना०' इत्यादिसे।

प्रमाताका—अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यका—अन्तःकरण चक्षुरादि द्वारा घटादि विषयोंके देशमें जाकर घटादिके आकारमें परिणत होता है; उस विषयाकार अन्तःकरणके परिणामको वृत्ति कहते हैं, उस वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्य ही वस्तुतः ज्ञान है, वृत्ति ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह वृत्ति जड़ अन्तःकरणका परिणामविशेष होनेसे स्वयं ही जड़ है; अतएव वह विषयकी प्रकाशक नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वरूप चैतन्यकी अवच्छेदक होनेसे ज्ञानशब्दसे उसका शास्त्रोंमें केवल व्यवहार होता है। घटादि विषयके आकारमें परिणत वृत्तिमें प्रतिबिम्बित चैतन्य अर्थात् चित्प्रतिफलित वृत्ति घटादि विषयके आवरक अज्ञानका नाश करती है। अज्ञानका भङ्ग होनेके कारण घटादि विषय अनावृत अपरोक्ष चित्‌में अध्यस्त होते हैं, अतः वे अपरोक्षावभासके विषय होते हैं। आवरणभङ्ग वृत्तिका प्रयोजन है, इस मतके अनुसार उक्त विषयाकार मनोवृत्ति प्रमाण ज्ञान है। अध्यस्त-

आत्मतादात्म्य होनेसे प्रकाशवान् अन्तःकरण ही प्रमाता है। वस्तुतः अज्ञानविशिष्ट चैतन्य प्रमेय है; किन्तु उसमें तादात्म्यसे अध्यस्त घटादि विषय भी, मेयसदृश होनेसे, मेय कहे जाते हैं। घटादि वस्तुतः मेय नहीं हैं, इसे 'मेयाभ' शब्दसे स्वयं ग्रन्थकारने ही सूचित किया है। तादात्म्याध्यासके अनन्तर तद्धर्मोंका भी विनिमय होता है; अतः मेयसादृश्य स्फुट ही है। मेयाध्यस्त होनेसे मेयाभत्वप्राप्त आवृत आत्मामें घटका अध्यास रहता है; अतः अज्ञानसे आवृत आत्मा जैसे अविज्ञात रहता है; वैसे ही अज्ञानावृत घट भी अविज्ञात रहता है, क्योंकि अधिष्ठानस्वरूप आत्मामें रहनेवाले अज्ञानका अध्यस्त घटादिमें भी व्यवहार होता है—घटका अज्ञान है, पटका अज्ञान है इत्यादि। वृत्तिके अनन्तर अनावृत चित्में जब घटका अध्यास होता है; तब आत्मगत अज्ञानके नाशका व्यवहार घटादिमें भी होता है—घटके अज्ञानका नाश हुआ तथा आत्मस्वरूप अपरोक्ष प्रकाशका घटादिमें भी व्यवहार होता है—घटका अपरोक्ष ज्ञान हुआ इत्यादि। इस तात्पर्य्यसे कहते हैं—'मेयाभत्वं प्रपद्यते' अर्थात् विषय भी मेय कहा जाता है।

शङ्का—घटाकारमें परिणत अन्तःकरणवृत्तिसे ही घट आदिका भान हो सकता है, फिर उसके लिए अज्ञानध्वंस माननेकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—जैसे अन्धकारमें स्थित घटका चाक्षुष भान नहीं होता, कारण कि अन्धकार व्यवधायक है, प्रदीप आदि द्वारा तमोनिवृत्तिके अनन्तर उसका भान होता है, यह लोकमें दृष्ट है, वैसे ही ज्ञानरूप अभिव्यक्ति और घटके मध्यमें अज्ञान व्यवधायक है, इसलिए तमकी तरह व्यवधायक अज्ञानके ध्वंसके बिना घट आदि विषयकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, अतः उसकी निवृत्ति आवश्यक है।

शङ्का—तब तो प्रथम प्रतिबन्धकस्वरूप अज्ञानकी निवृत्ति और उसके अनन्तर विषयकी अभिव्यक्ति, ऐसा क्रम होना चाहिए।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि लोकमें पहले प्रदीपके प्रकाशका विषयके साथ सम्बन्ध होता है। घटगत प्रकाश समान देश और कालमें स्थित घटगत अन्धकारका निवर्तक होता है, क्योंकि समानदेशकालस्थित विरोधियोंमें ही निवर्त्य-निवर्तकभाव होता है, भिन्नदेशकालस्थितोंमें नहीं। एवं प्रमाणज्ञान पूर्वमें होता है, पश्चात् अज्ञानका नाश, क्योंकि तमः और प्रकाशकी तरह ज्ञान और अज्ञानमें भी विरोध है। व्यवधायक तमका अन्य निवर्त्तक

मेयाभत्वमभिव्यक्तिर्नश्येदज्ञातता तया
घटोऽवगत इत्येतत्ततः सम्पद्यते फलम् ॥ ७८ ॥
एवं दीपप्रकाशेन सप्रकाशो घटो भवेत् ।
घटनिष्ठप्रकाशोऽयं घटनिष्ठं तमो नुदेत् ॥ ७९ ॥
एवं दण्डादिना मृत्स्थो घटाकारः स्फुटो भवेत् ।
पिण्डाकारस्तिरोधत्ते ततो दण्डाद्यपेक्ष्यते ॥ ८० ॥

---

अनुभूत नहीं है, अतः प्रकाश ही उसका निवर्तक माना जाता है, इसलिए पूर्वमें अज्ञानरूप तमके नाशका संभव ही नहीं है। व्यवधानकी निवृत्तिके बिना विषयका प्रकाश नहीं हो सकता, इसलिए पूर्व प्रकाश और उसके बाद तमोनाश, यही युक्त है। उसी प्रकार पूर्वमें घट आदि विषय अज्ञात रहते हैं, उसके बाद बाह्येन्द्रिय द्वारा तत्तदाकार बुद्धिकी वृत्ति होती है और उसके बाद तद्व्याप्त अतएव तद्गत अज्ञानके ध्वंससे विशिष्ट घट आदि विषयका अपरोक्ष व्यवहार होता है ॥ ७७ ॥

'मेयाभत्व०' इत्यादि। उक्त रीतिसे मेयतुल्य होनेके कारण घट आदि विषयकी जब अभिव्यक्ति होती है, तब उस अभिव्यक्तिसे घटावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अज्ञानकी निवृत्ति कही जाती है। वस्तुतः घटमें अज्ञान है ही नहीं, अतः जड़में आवरणकार्य भी कुछ नहीं रहता, जड़ तो स्वयं अप्रकाशस्वरूप है, अतः प्रकाशकी उसमें प्रसक्ति ही नहीं है। ज्ञानरूप आत्मामें ही प्रकाश है, अतः उसके निरोधके लिए अज्ञान भी उसीमें माना जाता है। हाँ, विशेष यह है कि अवच्छेदकतासम्बन्धसे घट आदि विषयमें भी उसे मानकर 'घट आदिका अज्ञान' इत्यादि विशेष व्यवहार होता है और अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर 'घटोऽवगतः' इत्यादि व्यवहार होता है। पहले विषयकी अभिव्यक्ति और उसके बाद फल अर्थात् हानोपादान आदि होते हैं ॥७८॥

दार्ष्टान्तिकका निरूपण कर दृष्टान्तमें अर्थात् प्रकाश और अन्धकारमें निवर्त्य-निवर्तकभावका निरूपण करते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

उक्त रीतिसे प्रदीपके प्रकाशसे पहले घट सप्रकाश अर्थात् प्रकाशविशिष्ट होता है, उसके अनन्तर घटनिष्ठ प्रकाश घटनिष्ठ तमका निवर्तक होता है। विरोधियोंका निवर्त्य-निवर्तकभाव समानदेशकालमें ही होता है, अतः घटनिष्ठ तमका घटनिष्ठ प्रकाश ही निवर्तक माना जाता है ॥ ७९ ॥

ज्ञापकके विषयमें निवर्त्य-निवर्तकभावका समर्थन कर कारकके विषयमें भी उसी निर्णयका अतिदेश करते हैं—'एवं दण्डादिना' इत्यादिसे।

शिलया पिण्डभङ्गे तु व्यज्येताऽन्यत्तदा मृदि ।
कार्यं विदलचूर्णादि तेनाऽप्यावृतता घटे ॥ ८१ ॥

उत्पत्तिसे पूर्व कारणमें घट विद्यमान है, किन्तु कारणके विशेष आकारसे वह आवृत है, अतः अन्धकारमें स्थित घटकी तरह उसका चक्षुसे प्रत्यक्ष नहीं होता। दण्ड आदि साधन द्वारा विरोधी आकारका भङ्ग करनेपर घटकी अभिव्यक्ति होती है। अनायाससे समझनेके लिए किया गया पिण्डका उपादान उपलक्षण है अर्थात् उससे तिरोधायक कार्यान्तरका भी सङ्ग्रह समझना चाहिए। घटकी कारण मृत्तिका ही है, पिण्ड नहीं है, यह पूर्वमें निर्णय कर चुके हैं। मृत्तिकास्थ हुआ घट और मृत्तिकाका कार्य्यान्तर हुआ पिण्ड। वह पिण्ड भी घटकी अभिव्यक्तिमें प्रतिबन्धक है, अतः दण्ड आदि साधन द्वारा मृत्पिण्डका भङ्ग करनेपर मूल कारण मृत्तिकामें रहनेवाले घटकी अभिव्यक्ति होती है ॥ ८० ॥

यदि मृत्पिण्डके विनाशसे ही घटकी अभिव्यक्ति होती है, तो दण्ड आदिकी नियमसे अपेक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि पत्थर आदिसे भी पिण्डका भङ्ग कर सकते हैं, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'शिलया' इत्यादिसे।

प्रमाणका व्यापार अर्थकी अभिव्यक्तिके उद्देश्यसे किया जाता है; इसलिए जिन साधनोंसे कार्यके अनुकूल जैसा आवरण भङ्ग हो, उन साधनों द्वारा तादृश आवरणभङ्ग तत्तत्कार्याभिव्यक्तिके लिए नियत है; अतएव तत्-तत् कार्यकी अभिव्यक्तिका अभिलाषी पुरुष नियमसे उन्हीं साधनोंका उपादान करता है, अन्यका नहीं; अतएव कारणका मुख्य फल कार्यकी अभिव्यक्ति है; आवरणभङ्ग आर्थिक है; अतएव यह शङ्का समुचित नहीं है कि आवरणभङ्ग अर्थात् पिण्डादिका विनाश तो कारणान्तरसे भी हो सकता है; फिर दण्डादिका ही नियमसे उपादान क्यों किया जाय ? यदि कारणान्तरसे पिण्डादिका भङ्ग किया जायगा; तो उससे विदल, चूर्णादि जो मृत्तिकाके कार्यान्तर हैं, वे ही होंगे और वे भी पिण्डके सदृश कार्यकी अभिव्यक्तिके विरोधी हैं, इसलिए कारणके व्यापारकी प्रवृत्ति कार्यकी अभिव्यक्तिके लिए ही होती है; अतः जिस प्रकारके भङ्गसे कार्यकी अभिव्यक्ति होती हो; उस कार्यकी अभिव्यक्तिके लिए नियत दण्ड आदिका ही उपादान करना उचित है; अतएव पूर्वोक्त घटकी अभिव्यक्तिका साधन आवरणका भङ्ग है, उसके लिए प्रकरणव्यापार होता है, यह पक्ष निःसार है; आवरणका भङ्ग तो साधनान्तरसे भी हो सकता है; पर वह कार्या-

अतो नियतमेवाऽत्र कार्याभिव्यक्तिसाधनम् ।
सदेव व्यज्यते कार्यं नाऽपूर्वं जायते ततः ॥ ८२ ॥
भाषामात्रविभेदोऽयमिति चेत्तर्ह्यवैदिकीम् ।
त्यक्त्वा भाषां कार्यसत्तां वद वैदिकभाषया ॥ ८३ ॥

---

भिव्यक्तिका प्रतिकूल होनेसे सर्वथा कार्यार्थियोंको अनपेक्षित है; अतः कार्यकी अभिव्यक्तिके लिए ही यत्न होता है; आवरणके भङ्गके लिए नहीं, क्योंकि वह तो आर्थिक है ॥ ८१ ॥

प्रकृत अर्थका उपसंहार करते हैं—'अतो नियतमेवाऽत्र' इत्यादिसे ।

चूँकि यत्न कार्यकी अभिव्यक्तिके लिए है, आवरणके भङ्गके लिए नहीं है, अतः कार्यकी अभिव्यक्तिके लिए दण्ड, चक्र आदि साधन नियत हैं, अनियत नहीं हैं । अपूर्वोत्पत्ति पक्षमें जैसे जो साधन नियत हैं, वैसे ही सत्कार्यवादमें भी वे नियत ही हैं, अनियत नहीं हैं ।

शङ्का—यदि दोनों पक्षोंमें समान ही साधन हैं, तो सत्कार्यवादमें ही विशेष आग्रह क्यों ?

समाधान—असत्कार्यवादमें विशेष दोष आगे स्पष्ट होंगे ॥ ८२ ॥

'भाषामात्र०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि कार्यके लिए व्यक्तिवादीके मतमें भी दण्ड आदि साधन आवश्यक हैं, तो उत्पत्ति और व्यक्ति वस्तुतः एक ही पदार्थ हुए, केवल शब्द-का भेद हुआ, क्योंकि नैयायिकादि जिसको उत्पत्ति कहते हैं, उसे वेदान्ती लोग अभिव्यक्ति कहते हैं, अतः दोनों मतोंमें अर्थ एक ही है ।

समाधान—यद्यपि अर्थ एक ही है, तो भी वैदिक शब्दका प्रयोग उचित है । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रत्यक्ष अर्थके अभिधायी 'इदं' शब्दसे व्याकृत नामरूपात्मक समस्त जगत्का निर्देश-कर यह प्रत्यक्ष गोचर विषय स्वोत्पत्तिसे पूर्व अव्याकृत नामरूपसे, बीज शक्तिके समान, कारणमें सत् ही था, यह कहा गया है, अतएव असद् उत्पत्तिवादके निराकरणके लिए 'कथमसतः सज्जायेत' इस श्रुतिमें असत्से सत्कार्य कैसे होगा ? कहा गया है । कारणमें सत्त्व और असत्त्वका विवाद होनेपर भी कार्यमें श्रुतिसे सत्त्वका ही प्रदर्शन किया गया है । तर्कसे भी सत्कार्यवाद ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है । आम्रबीजसे आम्रवृक्ष ही नियमसे पैदा होता है, अन्य वृक्ष नहीं, यदि आम्र बीजमें असत

भूतभाविघटौ न स्तस्तव सन्तौ मते मम ।
तयोर्ज्ञानं सद्विषयं वर्तमानस्य धीरिव ॥ ८४ ॥

आम्र वृक्षकी उत्पत्ति होती है, तो उसमें वृक्षान्तर भी असत् है, फिर उसकी भी उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? यदि कहिये कि आम्रबीजमें आम्रवृक्षजननकी ही शक्ति है, वृक्षान्तरजननकी शक्ति है नहीं, इसलिए वृक्षान्तर नहीं होता, तो उत्पत्तिसे पूर्व भी वृक्ष है, यह मानना पड़ेगा, अन्यथा याने जब वृक्ष ही नहीं होगा, तब उसका शक्तिके साथ सम्बन्ध कैसे होगा ? सत्का सत्के साथ सम्बन्ध होता है; असत्के साथ नहीं, इससे शक्ति द्वारा उत्पत्तिसे पूर्व कारणमें कार्य है, यह मानना आवश्यक है ।

शङ्का—यदि कार्यकी भी सत्ता मानते हो, तो अनेक सत्ताओंके सिद्ध होनेसे अद्वैतवादका ही भङ्ग हो जायगा ।

समाधान—स्वतन्त्र कार्यकी सत्ता माननेसे उक्त आपत्ति होगी । परन्तु कारणसत्ता ही कार्यमें प्रतीत होती हैं, ऐसा माननेसे उक्त आपत्ति नहीं होगी, अथवा कार्यमें व्यावहारिक सत्ता है, परमार्थिक सत्ता नहीं, इसलिए उक्त दोषका प्रसङ्ग ही नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—अवैदिक शब्दका त्यागकर वैदिक शब्दसे ही व्यवहार कीजिये अर्थात् कार्य सत् होनेसे अपूर्व उत्पन्न तो हो नहीं सकता, किन्तु कार्यकी अभिव्यक्ति ही कहनी पड़ेगी ॥ ८३ ॥

'भूतभावि०' इत्यादि । उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्य सत् है, किन्तु आवृत होनेसे दृष्टिगोचर नहीं होता, इसका तथा अभिव्यक्तिलिङ्गक अनुमानका प्रसङ्ग समाप्त हुआ । अब वर्तमान और अतीत घट आदिके प्रत्ययभेदसे भी सत्कार्यका ही अनुमान होता है, इसका निरूपण करते हैं—अतीत घट तथा भावी घट आपके ( न्यायके ) मतसे असत् हैं, क्योंकि आप अतीतका ध्वंस और भावीका प्रागभाव मानते हैं, किन्तु मेरे ( वेदान्तीके ) मतमें उक्त दोनों घट सत् हैं, क्योंकि वर्तमान घटके ज्ञानके समान अतीत और अनागत घटका ज्ञान भी सद्विषयक ही होता है, असद्विषयक नहीं होता । अभिप्राय यह है कि ज्ञान सविषयक होता है । विषयके बिना सविषयक ज्ञान नहीं होता, अतः 'अतीतादिघटविषयकं ज्ञानम्, सद्विषयकम्, घटज्ञानत्वात्, वर्तमानघटज्ञानवत्' इस अनुमानसे भूत और भावी घटका ज्ञान भी सद्विषयक ही सिद्ध होता है । यदि अतीत आदि दशामें

अतीतानागतोऽर्थोऽसन्निति यद्युच्यते तदा ।
अतीतानागतज्ञानं भ्रान्तमेवैश्वरं भवेत् ॥ ८५ ॥

घट असत् होता, तो उसका ज्ञान भी न होता । उसका ज्ञान जब आप भी मानते ही हैं, तब उक्त अनुमानसे यह सिद्ध होता है कि जैसे वर्तमान घटका ज्ञान सद्विषयक है, वैसे ही अतीत तथा अनागत घटज्ञान भी सद्विषयक ही है, अतः अतीत आदि दशामें भी सूक्ष्मरूपसे घट आदि कार्य रहता है, यह अवश्य मानना चाहिए । और भावी घटकी इच्छासे पुरुषकी प्रवृत्ति होती है अर्थात् 'घट बनावें' ऐसी इच्छासे घटके निर्माणमें कुलालकी प्रवृत्ति होती है, यह सभीके अनुभवसे सिद्ध है । यदि भावी घट असत् होता, तो उसकी कामनासे घटके निर्माणमें कुलालकी प्रवृत्ति ही नहीं होती, क्योंकि खपुष्प आदिकी इच्छासे तो किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है । तथा योगियोंको और ईश्वरको अतीत एवं अनागत घट आदिका प्रत्यक्ष होता है, प्रत्यक्ष विषयके बिना होता नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष विद्यमानग्राही ही है, यह सबका सिद्धान्त है, इसलिए उक्त अवस्थामें भी घट आदि कार्य विद्यमान ही हैं, यह मानना होगा ॥ ८४ ॥

'अतीता०' इत्यादि । अतीत तथा अनागत पदार्थ—घट आदि—असत् हैं, यदि यह कहते हो, तो ईश्वर और योगियोंका अतीत-अनागतविषयक ज्ञान भ्रम हो जायगा और उनको भ्रमात्मक ज्ञान नहीं होता, यह सब आस्तिकोंका सिद्धान्त है । भ्रम भी आगेके बाधक ज्ञानके बिना सिद्ध नहीं होता । बाधक अधिक बलवान् होता है । ईश्वरके ज्ञान निरतिशय माने जाते हैं । ईश्वरादिका ज्ञान दुष्ट सामग्रीसे उत्पन्न भी नहीं होता, क्योंकि वह नित्य निरतिशय है, इसलिए उसको भ्रम कहना तो असङ्गत ही है, अतः उनका प्रमात्मक ज्ञान ही माना जाता है । यदि अतीत आदि दशामें घट नहीं रहेगा, तो उनका ज्ञान प्रमात्मक कैसे होगा ?

शङ्का—ईश्वरका ज्ञान समीचीन है, फिर भी वह घटकी उत्पत्तिसे पूर्व असद्घटविषयक ही है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

समाधान—उक्त अनुमानसे उत्पत्तिसे पहले भी घट सत् ही है, यह सिद्ध कर चुके हैं, इसलिए उसको असद्विषयक माननेसे भ्रमकी आपत्ति हो जायगी । और उसके आगे बाधक ज्ञानकी भी कल्पना करनी पड़ेगी तथा बाधक ज्ञानमें भी बाध्यज्ञानकी अपेक्षासे प्राबल्यके नियामक अतिशयविशेषकी भी कल्पना करनी

प्रागभावस्तथा ध्वंस इत्याद्या वाद्युदीरिताः।
अभावा ब्रह्मकार्यत्वात्सद्रूपाः स्युर्घटादिवत् ॥ ८६ ॥
भावत्वस्याऽविशेषेऽपि यथा जलभुवोर्भिदा।
भावावान्तरभेदाः स्युः प्रागभावादयस्तथा ॥ ८७ ॥

पड़ेगी इत्यादि अनेक दोषोंकी प्रसक्ति होगी, इसलिए अनागत अवस्थामें भी कार्यकी सत्ताका स्वीकार करना ही श्रेष्ठ है ॥ ८५ ॥

'प्रागभाव०' इत्यादि। प्रागभाव और ध्वंस अतिरिक्त नहीं हैं, किन्तु अपने-अपने अधिकरणस्वरूप ही हैं, क्योंकि पिण्ड, कपालादिमें ही वे प्रतीत होते हैं। 'इह घटो भविष्यति' इस प्रतीतिको नैयायिक प्रागभावविषयक मानते हैं। विचार करनेपर प्रागभाव पिण्डसे अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। एवं ध्वंस भी 'इह कपाले घटो ध्वस्तः' इत्याकारक प्रतीतिसे कपालमें रहनेवाले घटध्वंसको कपालसे अतिरिक्त मानते हैं, विचार करनेपर वह भी पूर्ववत् अधिकरण-भूत कपाल आदिसे अतिरिक्त सिद्ध नहीं होता, इसलिए प्रागभाव और ध्वंस—ये दोनों अधिकरणस्वरूप तथा भावात्मक हैं, इसे तर्क द्वारा सिद्ध करके तर्क स्वयं प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रमाणका अनुग्राहक होता है, अतएव केवल तर्कसे कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता, इसलिए इस तर्कका अनुग्राह्य अनुमान कहते हैं—वाद्युक्त प्रागभाव आदि अभाव सद्रूप हैं, ब्रह्मकार्य होनेसे, घट आदिके समान। ब्रह्मकार्य होनेसे घट आदि जैसे भावस्वरूप हैं वैसे ही पराभिमत अभाव भी ब्रह्मकार्य होनेसे भावात्मक ही है, तदतिरिक्त नहीं। कार्य और कारणका तादात्म्य सम्बन्ध ही सयुक्तिक है, समवाय आदि सम्बन्धान्तर नहीं। जब कारण भावस्वरूप है, तब तदात्मा कार्य उससे विपरीत अभावात्मक कैसे हो सकता है? यह निष्कर्ष है ॥ ८६ ॥

'भावत्वस्या०' इत्यादि।

शङ्का—यदि घट आदिके समान ब्रह्मकार्यत्व हेतुसे प्रागभावादिको भावस्वरूप कहते हो, तो प्रागभाव आदि घट आदिकी तरह भावात्मक ही क्यों नहीं प्रतीत होते? भावसे विलक्षण ही उनकी प्रतीति क्यों होती है? अर्थात् विधि-मुखसे भावकी प्रतीति होती है और निषेध मुखसे अभावकी, यह क्यों?

समाधान—पृथिवी और जल—ये दोनों भावस्वरूप हैं, यह तो आप भी

लोकप्रसिद्धिमुल्लङ्घ्य किं भावत्वदुराग्रहात् ।
कार्यं तवेति चेत्ते वा किं कार्यं वेदलङ्घने ॥ ८८ ॥

मानते हैं, फिर भी गन्धवत्स्वरूपसे और शीतस्पर्शवत्त्वरूपसे उन्हें विलक्षण भी कहते हैं अर्थात् भावत्व सामान्य धर्म एक होता है और विशेष—असाधारण धर्म—भिन्न-भिन्न होते हैं। भावोंमें अवान्तर भेद भी होता ही है, क्योंकि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—ये छः भेद भावोंमें भी मानते ही हो। भावका अवान्तर भेद अभाव है, अतः घटादिसे विलक्षण है, ऐसा कहनेमें क्या आपत्ति है? कुछ नहीं है, तो अभावको भावात्मक ही मानना ठीक है, भावसे अतिरिक्त मानना व्यर्थ है ॥ ८७ ॥

घट आदिके समान प्रागभाव आदि भावविशेष हैं, ऐसा कहनेमें आपका क्या अभिप्राय है? क्या अभावको अतिरिक्त पदार्थ माननेसे अद्वितीय आत्माकी सिद्धि नहीं होगी? या एकविज्ञानसे सबका विज्ञान होता है, इस श्रौत प्रतिज्ञाकी असङ्गति होगी? वस्तुतः ये दोनों भय नहीं हैं, क्योंकि पृथिवी आदि भावोंके सदृश अभावकी भी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार कीजिये, विविध भोगजनक प्राणीके कर्मोंके भेदसे भावोंमें वैलक्षण्य माना ही जाता है, इस आशयसे कहते हैं—'लोकप्रसिद्धि०' इत्यादिसे।

शङ्का—प्रागभाव आदिमें अभाव शब्दकी लोकमें प्रसिद्धि है अर्थात् अभाव-शब्दसे ही सदा उनका व्यवहार होते आया है। आप इस लोकप्रसिद्धिका उल्लंघन कर भावरूपसे उनका व्यवहार करते हैं। जो सदासे अभावात्मक होते आये हैं, उन्हें आप भावात्मक कहते हैं, ऐसा कहनेसे आपको क्या लाभ है? फलरूप अतिशयके बिना लोकप्रसिद्धिका त्याग करना उचित नहीं है।

समाधान—सबसे प्राचीन वेद हैं और नित्य होनेसे वे अपौरुषेय हैं, अतः वेदसे लोक-प्रसिद्धिका त्याग करते हैं। इसमें आपको कौन-सा फल मिलता है कि फलविशेषके बिना ही अभाव भावसे भिन्न तत्त्वान्तर है, ऐसा कहते हो? वेदमें अभावके पृथक् स्वरूपका निर्देश भी नहीं है, इसलिए भावात्मक ही जगत् प्रतीत होता है। अभावका व्यवहार भी वेदमें भावस्वरूपसे ही किया गया है, पृथक्तत्त्वसे नहीं। इस परिस्थितिमें वेदप्रसिद्धिका उल्लंघन कर अभावको भावसे भिन्न तत्त्व मानते हैं, इसमें आपको ही कौन-सा फल मिलता है? इसलिए यह आक्षेप वेदान्तियोंके लिए लागू नहीं होता, प्रत्युत नैयायिकोंके लिए ही है [illegible]

सदेव सर्वमित्युक्त्वा व्यावर्त्यं किं भवेद्वद ।
अभाव इति चेत्तर्हि सोऽभ्युपेयो बलात्त्वया ।। ९० ।।
बाढमभ्युपगच्छामि शून्यत्वं भ्रान्तिकल्पितम् ।
तन्निवर्त्योऽथ भावत्वं युक्तियुक्तमिहोच्यते ।। ९१ ।।

---

वही भावस्वरूप कहलाता है और जब पटभिन्नत्वेन व्यवहृत होता है, तब पटभिन्न घट कहा जाता है अर्थात् उसमें अभावत्व व्यवहार होता है, अतएव 'भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्' इत्यादि वचन सङ्गत होते हैं ।

'स्वरूपपररूपाभ्यान्नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद्रूपं कैश्चित्कदाचन ।।'

यह श्लोक भी उक्त अर्थमें प्रमाण है, इस विषयका निरूपण पूर्वमें कर चुके हैं, अतः ग्रन्थके विस्तारके भयसे पुनः निरूपणसे विरत होते हैं ।। ८९ ।।

'सदेव सर्व०' इत्यादि । 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुतिमें एवशब्द है, इसका अर्थ इतरव्यवच्छेद होता है, सत्से इतर असत् ही हो सकता है, उसे आप मानते नहीं, असत्का भी रूपान्तरसे भावमें ही अन्तर्भाव करते हैं, इसलिए यह प्रश्न होता है कि एवकारका व्यावर्त्य है या नहीं ? यदि है तो सत्से अतिरिक्त असत् बलात् मानना पड़ेगा । दूसरे पक्षमें एवकार व्यर्थ होता है, एवकारके रहनेसे यह अर्थ होता है कि अग्रे अर्थात् उत्पत्तिसे पूर्व जगत् सत् ही था, असत् नहीं था । यदि असत् पदार्थ श्रुतिको अभिप्रेत न होता, तो वह प्रसक्त ही न हो सकता, फिर उसके निराकरणके लिए एवकारकी आवश्यकता ही क्या थी ? अतः इस विषयमें अद्वैतवादी दोनों ओरसे फंदेमें फंसे हैं ।।९०।।

उसीका उत्तर देते हैं—'बाढम०' इत्यादिसे ।

एवकारका व्यावर्त्य असत् है, यह अवश्य कहते और मानते हैं, किन्तु वह असत् परमतकल्पित शून्यात्मक है । शब्द परार्थ है अर्थात् दूसरेको समझानेका असाधारण उपाय है । परमतसिद्ध पदार्थोंके द्वारा समझानेसे शिष्यकी श्रद्धापूर्वक श्रवण आदिमें प्रवृत्ति होती है । अन्यथा अविश्वास होनेका भय रहता है और श्रुत अर्थमें पूर्ण विश्वास नहीं करता । बिना विश्वास श्रुत अर्थ निष्फल होता है; इसलिए श्रोताके अनुग्रहके लिये श्रुतिने परमतसिद्ध असत् पदार्थकी आवृत्तिके लिए एवकारका उपादान किया है । वह जगत सत है, ऐसा कहनेसे

किं प्रागभावः प्रध्वंसाद्भिद्यतेऽथ न भिद्यते।
अभेदे तेऽपसिद्धान्तो भेदे भेदकमुच्यताम् ॥ ९२ ॥
विलक्षणस्वरूपत्वं न तयोः शून्यमात्रयोः ।
न चौपाधिकभेदः स्याच्छून्यस्योपाध्यसम्भवात् ॥ ९३ ॥

---

श्रोता यह भी समझ सकता है कि सत् है और असत् भी है अर्थात् जगत् दो राशिमें विभक्त है—कोई सत् है कोई असत् है या उत्पत्तिसे पूर्व असत् है, उत्पत्तिके अनन्तर सत् है अथवा रूपभेदसे उभयात्मक याने सदसदात्मक है, इत्यादि बोध न हो यह अपेक्षित है, अन्यथा परम पुरुषार्थकी अप्राप्ति और अनर्थकी प्राप्ति हो जायगी, इसलिए परमतकल्पित असत्की आवृत्तिके लिए एवकारका उपादान किया गया है। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि श्रुतिमें असद्व्यावृत्तिके तात्पर्यसे एवकारका उपादान है, इसलिए असत्का स्वीकार अवश्य करना ही पड़ेगा, क्योंकि यदि ऐसा नियम माना जाय, तो वादीके पक्षका अनुवाद करके प्रतिवादीका खण्डन करना ही असंभव हो जायगा। केवल अनुवाद करनेसे प्रतिवादीका अभिमत हो जायगा और अभिमत पक्षका खण्डन करनेसे अपसिद्धान्तनामक निग्रहस्थानसे निगृहीत हो जायगा, पुनः कथामें अधिकार ही नष्ट हो जायगा, ऐसा होता नहीं। इसलिए भ्रान्तिसिद्ध असत् पदार्थकी एवकारसे व्यावृत्ति कर युक्तियुक्त भावत्वका प्रतिपादन 'सदेव' इत्यादि श्रुति करती है ॥ ९१ ॥

'किं प्रागभावः' इत्यादि। अच्छा, अब आपसे प्रश्न करते हैं—प्रागभावको प्रध्वंससे भिन्न मानते हो या अभिन्न? अन्त्य पक्षमें तो अपसिद्धान्त स्पष्ट है। प्रथम पक्षमें कौन भेदक धर्म है? अभाव अनुपाख्य है, अतः भावभूत धर्मका आश्रय तो हो नहीं सकता, भेदक धर्मके बिना एक दूसरेसे व्यावृत्त है, यह कैसे समझ सकते हो या किसीको समझा सकते हो? असाधारण धर्मके बिना पदार्थोंका विवेक होता नहीं ॥ ९२ ॥

वास्तविक धर्म ही केवल भेदक नहीं होता, किन्तु औपाधिक धर्म भी भेदक होता है। अभाव वास्तविक दो असाधारण धर्म नहीं हैं, किन्तु औपाधिक हैं, यदि यह कहिए, तो औपाधिक धर्म कौन है? यही बतलाइये, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'विलक्षण०' इत्यादिसे ।

घटस्य प्रागभावो यः स पिण्डोपाधिको यदि ।
तर्ह्यत्र मानं वक्तव्यं प्रत्यक्षं तु न युज्यते ॥ ९४ ॥
नीरूपप्रागभावस्य चाक्षुषत्वमसङ्गतम् ।
पिण्डे दृष्टे प्रागभावो दृष्ट इत्येष ते भ्रमः ॥ ९५ ॥

---

प्रागभाव और ध्वंस ये दोनों शून्यात्मक हैं, अतः घट और पटके सदृश उनका स्वरूप ही परस्पर विलक्षण है, यह तो कह ही नहीं सकते। घट, पट आदि सावयव हैं तथा अनेक गुण और धर्म आदिके आश्रय हैं, इसलिए उन दोनोंमें स्वरूपका भेद तो सबके अनुभवसे सिद्ध है। पर ये दोनों अभाव तो निराकार और सर्वथा परतन्त्र हैं। और औपाधिक धर्म उनका भेदक है, यह भी कहना तभी बन सकता है, जब उपाधि सिद्ध हो, अतः प्रथम उपाधिका परिचय कराइये॥९३॥

**'घटस्य प्रागभावो'** इत्यादि। इस मृत्पिण्डमें घट होगा, इस प्रतीतिसे सिद्ध घटके प्रागभावका अधिकरण है—मृत्पिण्ड। 'इस कपालमें घट नष्ट हुआ' इस प्रतीतिसे सिद्ध घटके ध्वंसका अधिकरण है—कपाल। ये दोनों अधिकरण ही दोनों अभावोंकी उपाधि हैं। मृत्पिण्डवृत्तित्व और कपालवृत्तित्वरूप उपाधिके भेदसे दोनों अभाव भिन्न हैं, मृत्पिण्डमें घटका प्रागभाव और कपालमें घटका ध्वंस है, इसमें प्रमाण क्या है? प्रत्यक्ष प्रमाण है कहना तो युक्त नहीं है ॥ ९४ ॥

**'नीरूपप्रागभावस्य'** इत्यादि। नीरूप ( रूपशून्य ) प्रागभावका प्रत्यक्ष तो असङ्गत है। अभिप्राय यह है कि उद्भूतरूपवाले घट आदि द्रव्यके चाक्षुष प्रत्यक्षमें उद्भूतरूप कारण है, ऐसा नियम है? प्रागभावमें जब रूप ही नहीं है; तब उद्भूत रूपकी संभावना ही कैसे हो सकती है? अतः प्रागभावका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। त्वाच प्रत्यक्षमें उद्भूतस्पर्शवत्ता नियामक है, इसलिए स्पर्शशून्य उक्त अभावके त्वाच प्रत्यक्षका भी सम्भव नहीं है। अन्य इन्द्रियाँ गुणग्राहक हैं। प्रागभाव गुण नहीं है। मन बाह्य विषयका स्वयंग्राहक नहीं हैं। इस प्रकार कारणोंपर दृष्टि देनेसे प्रत्यक्षका कोई कारण नहीं है। इस अभिप्रायसे कहते हैं—प्रत्यक्ष तो ठीक नहीं है, अतः अन्य कोई प्रमाण कहिये।

शङ्का—यदि उद्भूतरूपवान्‌का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष मानते हो, तो गुणमें गुण नहीं रहता इस नियमके अनुसार रूपमें उद्भूत रूप नहीं है, फिर उसका प्रत्यक्ष कैसे होगा?

प्रागभावव्यवहृतिर्यदि पिण्डदृशस्तदा।
स एव प्रागभावोऽस्तु किमुपाधितया तव ॥ ९६ ॥

समाधान—उक्त नियम द्रव्यविषयक है, गुणादिविषयक नहीं, इसलिए गुणादिविषयक प्रत्यक्षमें कोई आपत्ति नहीं है। प्रागभाव गुणादि नहीं है, इसलिए उसके चाक्षुष प्रत्यक्षमें उक्त नियम लागू है।

शङ्का—आपके मतसे प्रागभाव क्या है?

समाधान—घटादिकी अपेक्षासे अधिकरण द्रव्य ही को आप लोग प्रागभाव कहते हैं, उससे अतिरिक्त पदार्थान्तर प्रागभाव नहीं है।

शङ्का—'पिण्डे पिण्डः' यह प्रतीति नहीं होती पर 'पिण्डे प्रागभावः' यह प्रतीति क्यों होती है?

समाधान—उक्त प्रतीति आत्माश्रयादि दोषसे नहीं होती, सो ठीक ही है, अन्तिम प्रतीति अन्यकी अपेक्षासे भेद मानकर आप लोगोंको भ्रमात्मक होती है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'पिण्डे दृष्टे'** इत्यादि। पिण्डके देखनेपर प्रागभाव देखा जाता है, यह कहना आपका भ्रम है और भ्रमसे किसी पदार्थकी वास्तविक सत्ता मानी नहीं जा सकती। आकाश नील है, इस प्रतीतिसे वस्तुतः आकाशमें नीलरूपकी सत्ता कोई नहीं मानता ॥ ९५ ॥

**'प्रागभाव०'** इत्यादि। मृत्पिण्डके देखनेवालोंका अक्सर यह व्यवहार देखा जाता है कि इस पिण्डमें कुछ कालके बाद घट होगा, किन्तु अभी नहीं है, अतः इस प्रणालीसे अर्थात् इस व्यवहार द्वारा पिण्डमें घटके प्रागभावका अस्तित्व सिद्ध होता है, यदि ऐसा कहें, तो इसका उत्तर यही है कि उक्त व्यवहारसे पिण्ड ही घटप्रागभावस्वरूप क्यों न माना जाय? क्योंकि मृत्पिण्डके दर्शनके बिना प्रागभावका जब दर्शन होता ही नहीं है तब आवश्यक होनेपर पिण्डको ही प्रागभाव मानना युक्तियुक्त है। पिण्ड उक्त प्रागभावकी उपाधि है, ऐसा कहनेसे आपको क्या लाभ है? अर्थात् कुछ भी नहीं और दूसरी बात यह है कि जैसे 'घटोऽस्ति' यह व्यवहार होता है, वैसे ही यदि 'घटप्रागभावोऽस्ति' यह व्यवहार मानते हो, तो सत्त्वधर्मितया प्रतीयमान प्रागभाव भी घटादिके समान भावस्वरूप ही सिद्ध होगा, उससे विलक्षण अभावस्वरूप नहीं। और आधाराधेयभाव जो प्रतीत होता है, उसे तो 'राहोः शिरः' के समान कल्पित भेद मानकर भी मान

पिण्डत्वप्रागभावत्वे एकस्याऽप्यविरोधिनी ।
स्वतः पिण्डोऽप्यपेक्ष्याऽन्यं प्रागभावत्वमश्नुते ॥ ९७ ॥
प्रागभावोऽस्ति दृष्टश्चेत्येवं तत्सत्त्वदर्शने ।
भावस्यैवोपपद्येते न शून्यस्य निरात्मनः ॥ ९८ ॥

सकते हैं, निःस्वरूप अभावमें अस्त्यर्थका सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा मानना 'सदसतोस्सम्बन्धानर्हत्वम्' इस न्यायसे विरुद्ध है ॥ ९६ ॥

'पिण्डत्व०' इत्यादि । पिण्डत्व और घटप्रागभावत्व—ये दोनों धर्म एक ही पिण्ड व्यक्तिमें रूप-रसकी तरह रह सकते हैं, इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं होता ।

शङ्का—विरोध क्यों नहीं है ? एक भावात्मक है और दूसरा अभावात्मक ?

समाधान—पटत्व और घटभिन्नत्व ये दोनों धर्म जैसे एक पटव्यक्तिमें रहते हैं, वैसे ही दो धर्मोंकी एक व्यक्तिमें स्थिति विरुद्ध नहीं है। वस्तुतस्तु एक ही व्यक्तिमें सापेक्ष अनेक धर्मोंका व्यवहार होता है । एक ही देवदत्तादि व्यक्तिमें पिता, पुत्र, जामाता, श्वसुर इत्यादि व्यवहारसे पितृत्व, पुत्रत्व आदि अनेक धर्म माने जाते हैं । एक व्यक्तिकी अपेक्षासे वे धर्म विरोधी अवश्य हैं, लेकिन धर्मान्तरकी अपेक्षासे विरुद्ध नहीं हैं । किसीका पिता किसीका पुत्र, किसीका जामाता इत्यादि होता ही है । अतः उन-उनकी अपेक्षा उन-उन धर्मोंका एक धर्मीमें व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी कहते हैं—पिण्डत्व और प्रागभावत्वका एक व्यक्तिमें विरोध नहीं है, अपेक्षा-भेदसे उक्त उभय स्थितियोंका समर्थन करते हैं—स्वतः पिण्ड है पर घटकी अपेक्षासे वह प्रागभाव भी कहा जा सकता है । जैसे घट अपने स्वरूपसे भावात्मक है और पटादिरूपसे निरूप्यमाण तथा 'पटभिन्न' इत्यादिसे प्रतीयमान अभावात्मक कहा जाता है । अतएव

'स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते रूपं किञ्चित् कैश्चित्कदाचन ॥'
'भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्'

इत्यादि वचन संगत होते हैं ॥९७॥

'प्रागभावो' इत्यादि । प्रागभाव है, और देखा जाता है, इत्यादि प्रतीतिको यदि प्रागभावविषयक मानते हो; तो घटादिके समान प्रागभाव भी भावात्मक ही

युक्तियुक्तं वैदिकं च मतं त्यक्त्वा दुराग्रहात् ।
कुतर्कसमये मग्नः किं मुधा परिमुह्यसि ॥ ९९ ॥
अभावस्याऽपि भावत्वे कुतः कार्यमसद्भवेत् ।
कारणस्य तु भावत्वमविवादं मतेऽपि ते ॥ १०० ॥

सिद्ध होता है; शून्यात्मक नहीं, क्योंकि निःस्वरूपमें कोई धर्म नहीं रह सकता। यदि किसी भी धर्मका आधार होगा, तो वह निःस्वरूप कैसे हो सकता है ? ॥९७॥

**'युक्तियुक्तम्'** इत्यादि। दुराग्रहसे युक्तियुक्त याने तर्कसिद्ध वैदिक मतका त्याग कर कुतार्किकोंके मतमें फँसकर क्यों अपनी मूर्खता प्रकाशित करते हो ? यदि घट आदिके अभावको अधिकरणभूत पट आदिसे भिन्न मानते हो, तो घटाभावमें भी तो घट नहीं है, इसलिए उसमें भी घटका अभाव मानना पड़ेगा एवं उस अभावमें फिर घटाभाव, इस प्रकार अनन्त घटाभाव मानने पड़ेंगे, परन्तु इतने अभाव किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं हैं। इसलिए आखिरमें अभावमें रहनेवाले अभावको अधिकरणसे अतिरिक्त नहीं, किन्तु अधिकरण-स्वरूप ही मानोगे। फिर उसमें भी यह शङ्का होगी कि अभावको अधिकरणस्वरूप माननेपर 'घटाभावे घटाभावः' यह प्रतीति कैसे होगी ? आधार और आधेयके भेदके बिना ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसका उत्तर काल्प-निक भेद मानकर ही कर सकते हो, दूसरा उपाय नहीं है। इसी प्रकार घट-प्रागभाव पिण्डादिस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, ऐसा स्वीकार करना उचित है ॥ ९९ ॥

**'अभावस्याऽपि'** इत्यादि। किसी तटस्थकी शङ्का है कि घटप्रागभावको यदि पिण्डात्मक ही मानोगे अर्थात् भावात्मक ही अभाव है, भावसे अतिरिक्त दूसरा नहीं, यह मानोगे, तो प्रकृतमें सत्कार्यवाद माननेका क्या उपयोग हुआ ?

समाधान—विचारसे यदि अभाव भावात्मक ही सिद्ध होता है, तो उत्पत्तिसे पूर्व कार्य असत् कैसे हो सकता है ? पिण्डमें पिण्डसे अतिरिक्त घटके अभावका समर्थन यदि होता, तो यह संभव था कि असत् घटादिकी उत्पत्ति होती है, इसलिए असत्कार्यवादकी किसी तरह कल्पना हो सकती, किन्तु भावसे अतिरिक्त अभाव अन्य तत्त्व है ही नहीं। यदि वह नरशृङ्गके समान अत्यन्त असत होता, तो कारणके व्यापारसे भी घटादिकी उत्पत्ति नहीं होती। घटादिकी

नन्वत्रैकं स्वतःसिद्धं प्रत्यग्रूपमनन्यदृक् ।
वस्त्विष्टं वेदसिद्धान्ते किमर्थे कार्यकारणे ॥ १०१ ॥
एवम्भूतात्मबोधार्थं कारणादि प्रसाध्यते ।
उपायः सोऽवतारायेत्याचार्यैरेतदीरणात् ॥ १०२ ॥

उत्पत्ति देखते हैं, अतः अत्यन्त असत्से विलक्षण भावात्मक ही वह है, यह मानना पड़ेगा । केवल भेद इतना है कि पूर्वमें अव्याकृतनामरूपसे घटादि था, इसलिए उस समय लौकिक कार्यके लिए क्षम नहीं हुआ और कारणके व्यापारके अनन्तर व्याकृतनामरूप होनेपर लौकिक कार्यके लिए समर्थ हुआ। और कारणको भावात्मक तो आप भी कहते ही हैं, अतः कारणके अंशमें तो विवाद ही नहीं है। हमारे मतसे कार्य तथा कारणका अभेद है, इसलिए भी कार्य असत् नहीं होता ॥ १०० ॥

'नन्वत्रैकम्' इत्यादि ।

शङ्का—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'यद्भासा भासितमिदम्', 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इत्यादि श्रुतियोंसे अद्वैत ब्रह्म ही एक तत्त्व है, यह वेदान्तका सिद्धान्त सिद्ध होता है, अतः इसके विपरीत कारणसत्ताकी सिद्धि क्यों करते हो ? ऐसा करनेसे वेदान्तियोंका अपसिद्धान्त होगा, इसलिए कार्यकारणका विचार ही व्यर्थ है और कारणकी सत्ता सिद्ध करना, तो अपने घरमें ज्वालाप्रक्षेपके सदृश अद्वैतका व्याघात करना है, अतः वह अत्यन्त अनुचित है ॥१०१॥

समाधान—'एवंभूता०' इत्यादिसे । समस्त जगत्का कारण, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, स्वयंप्रकाश तथा प्रत्यगूरूप ब्रह्मात्मतत्त्वका बोध होनेके लिए कार्यकारणका विचार करते हैं । यह विचार उक्त बोधके अवतार ( उत्पत्ति ) का उपाय है, ऐसा पूर्वाचार्योंने कहा है; तात्पर्य यह है कि अद्वैत ब्रह्मका ज्ञान अद्वैतज्ञानके बिना नहीं हो सकता; अद्वैतज्ञानमें घट, पट आदि द्वैतमें सत्यत्वका ग्रहण करानेवाला प्रत्यक्ष बाधक है, इसलिए यह विचार आवश्यक है कि श्रुतिप्रदर्शित आत्मैकत्वज्ञान कैसे हो सकता है ? और प्रमाण, प्रमेय आदि लौकिक व्यवस्था भी व्यवहारदशामें बनी रहे, इस जिज्ञासासे श्रुतियोंमें ध्यान देनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रुतिमें प्रदर्शित उसके उपाय ही सर्वोत्तम उपाय हैं, श्रुति उच्च स्वरसे कहती है कि 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' अर्थात् मृत्तिकामें जितने घट, शराव आदि कार्य

सत्तत्त्वकमिदं सर्वमिति संसाध्य यत्नतः ।
तस्यापि संविन्मात्रेण पूर्णतैवोच्यते स्वतः ॥ १०३ ॥

बनते हैं, वे सब-के-सब मृत्तिका ही हैं, उससे अतिरिक्त तत्त्वान्तर नहीं हैं एवं सुवर्णादिके विकार सुवर्णादिसे अतिरिक्त नहीं हैं केवल आकारसे वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं और सुवर्णके सदृश स्थायी नहीं होते, अतएव वागारम्भणामात्र हैं अर्थात् केवल कुछ समय तक इनका व्यवहार होता है। उपादानरूप मृत्तिका, सुवर्ण आदिका व्यवहार उनके कार्यान्तरोंमें भी अनुवृत्त रहता है, अतएव तत्तत् कार्यकी अपेक्षासे वे सत्य कहलाते हैं, इसी अभिप्रायसे श्रुति कहती है—'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' मृत्तिका कारणकी उपलक्षण है अर्थात् कार्यकी अपेक्षा कारण परमार्थ सत् है, इसीसे एकविज्ञानसे सब विज्ञात हो जाता है, यह श्रौत प्रतिज्ञा भी उपपन्न होती है। यदि कारणसे वस्तुतः कार्य अतिरिक्त माना जाय, तो कारणके विज्ञानसे उससे अतिरिक्त कार्यका विज्ञान कैसे हो सकता है? जो कारणको सत् कहते हैं और कार्यको उत्पत्तिसे पूर्व असत् कहते हैं, उनके मतमें कार्य और कारणका अभेद नहीं बन सकता; अतएव वे लोग उनका भेद ही मानते हैं और उत्पत्तिके बाद कार्यको सत् कहते हैं। उनका मत 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेहनानास्ति किञ्चन', 'तत्त्वमसि', 'सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे विरुद्ध है। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'ऐतदात्म्यम्' इत्यादि श्रुतियोंका उपक्रमोपसंहार द्वारा अद्वैतमें ही परम तात्पर्य है; यह पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं, अतः फिर कहनेकी आवश्यकता नहीं है। 'एतस्मादात्मनः आकाशः' इत्यादि सृष्टिबोधक श्रुतियोंका वास्तविक तात्पर्य सर्गके प्रतिपादनमें नहीं है, किन्तु अध्यारोपापवादन्यायसे कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं है, इस प्रकार बोधन द्वारा अद्वैतमें ही परम तात्पर्य है; 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इत्यादि श्रुति समस्त कार्य ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है; ब्रह्म ही में स्थित है, और उसीमें लीन होता है; यह प्रतिपादन करती है; इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म समस्त संसारका उपादान और निमित्त दोनों प्रकारका कारण है, इससे ईश्वर केवल निमित्त कारण है संसारका उपादान कारण नहीं, यह सर्वथा श्रुतिविरुद्ध है, इस विषयमें शङ्का समाधानका ब्रह्मसूत्र और उसके भाष्य आदिमें विस्ताररूपसे निरूपण किया गया है, इसलिए विशेष जिज्ञासुओंको वहाँ ही देखना चाहिए ॥१०२॥

'सत्तत्त्वक०' इत्यादि। उक्त प्रकारसे इस समस्त संसारमें सत्स्वरूप

कारणादिनिषेधेन नन्वद्वैतमभीप्सितम् ।
तथा च नेति नेतीति बोधस्योत्तमता मता ॥ १०४ ॥

परम ब्रह्मकी सत्ता है, क्योंकि कार्यमात्रका कारण तत्त्व होता है, सबका कारण ब्रह्म ही है, इसलिए संसारमें ब्रह्मकी सत्ता मानी जाती है, इस प्रकार श्रुति तथा तदनुकूल अनुमान आदि प्रमाणोंसे यत्नपूर्वक सिद्ध करके कारण भी वास्तविक संवित्मात्र ( बोधमात्र ) अतएव पूर्ण अखण्ड परम ब्रह्मस्वरूप है, यह कहा जाता है। 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' इस योगसूत्रादिसे भी परमात्मा केवल ज्ञानस्वरूप है, यह स्पष्ट है।

शङ्का—एक करणसे कोई कार्य नहीं होता, क्योंकि लोकमें समवायी, असमवायी और निमित्त इन तीन कारणोंसे ही कार्योंकी उत्पत्ति देखी जाती है, तथा सहकारी कारण भी अनेकविध देखे जाते हैं।

समाधान—किसी लौकिक कारणमें पूर्ण कार्यानुकूल सामर्थ्य नहीं है, इसलिए सहकारी आदिके द्वारा कारणमें पूर्ण सामर्थ्याधानके लिए अन्यकी अपेक्षा युक्त ही है। ब्रह्म स्वतः सब कार्योत्पादनके लिए परिपूर्ण है, अपूर्ण नहीं है; अतः किसी सहकारीकी अपेक्षा नहीं रखता, अतएव 'सत्यसंकल्प' कहा जाता है ॥१०३॥

'कारणादि०' इत्यादि। सभी लौकिक कार्य कारणसे अभिन्न हैं, कारणकी अवस्थाविशेष ही कार्य है, अतिरिक्त नहीं, अतएव सूत्रसे भिन्न पट नहीं है, यह कहना ठीक ही है। लौकिक कारण भी ब्रह्मकार्य ही हैं, वे भी उक्त न्यायसे ब्रह्मभिन्न नहीं हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही सिद्धान्त किया गया है। 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुतियोंने सकल कार्यकारणभावापन्न द्वैतका निषेध कर द्वैताभावसे उपलक्षित आत्मस्वरूपका ज्ञान ही मोक्षके लिए उपयोगी है, यह कहा है।

शङ्का—'नेति नेति' इत्यादि वाक्य द्वारा द्वैतनिषेधज्ञान ही यदि मुक्तिका कारण प्रतीत है, तो वही मुमुक्षुओंको उपादेय होगा, ब्रह्म उपादेय नहीं होगा।

समाधान—हां ठीक है, द्वैताभावोपलक्षित ब्रह्मस्वरूपमात्रविषयक निर्विकल्पक ज्ञानका द्वैतनिषेधज्ञान उपयोगी है; पर उपादेय नहीं है। फलकी प्राप्तिसे पूर्व साधन उपादेय होता है; अनन्तर वह भी मिथ्या होनेसे त्याज ही है। क्योंकि 'अतोऽन्यदार्तम्', 'द्वितीयाद्वै भयं भवति', 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं

चिदाभासेषु नानात्वं दुःखित्वाद्यवभासनात् ।
बुद्धिद्रष्टृषु दुःखादेरारोपो मुह्यतां नृणाम् ॥ १२३ ॥
अज्ञानानुपमर्देन यत्सृष्टौ द्वैतभासनम् ।
स्वप्नविज्ञानवच्चेदं वस्तुतत्त्वावभासकम् ॥ १२४ ॥

'चिदाभासेषु' इत्यादि । एकजीववादमें जो यह आक्षेप किया जाता है कि सुख, दुःख आदिकी तथा बन्ध और मोक्ष आदिकी व्यवस्था नहीं बन सकती । तात्पर्य यह है कि अनेकजीववादमें तो संसारमें एक समय जीवभेदसे कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई ज्ञानी है, कोई मूढ़ है, कोई बद्ध है और कोई मुक्त है, इत्यादि व्यवस्था शास्त्र और लोकमें ठीक-ठीकरूपसे बन सकती है, पर एक-जीववादमें उक्त व्यवस्था सुसङ्गत नहीं हो सकती, कारण कि एक कालमें एक ही जीव परस्पर विरुद्ध धर्मोंका अनुभव कैसे कर सकता है ? सो भी अविचार-मूलक है, क्योंकि चिदाभासोंमें नानात्व तो एकजीववादी भी मानते ही हैं । अन्तःकरणके भेदसे तदुपाधिक चैतन्य भी भिन्न ही है और उक्त सुख, दुःख आदि भाव चिदाभासमें मानते ही हैं, किन्तु साक्षीमें किसी धर्मको वास्तविक नहीं मानते । आरोपित धर्मोंका निषेध भी उसमें नहीं है, अतः चिदाभासमें रहनेवाले दुःखादिके अवभाससे उसमें नानात्व इष्ट है ही नहीं, ऐसा कौन कहता है ? तथा मूढ़ पुरुष बुद्धिके साक्षी जीवमें मोहसे ( अविवेकसे ) बुद्धिगत धर्मोंका—सुख, दुःख आदि धर्मोंका—आरोप कर दुःख आदिसे युक्त होते हैं, जैसे मलिन दर्पणमें मुख देखकर दर्पणगत मालिन्य प्रतिबिम्बमें प्रतीत होता है, और प्रतिबिम्बको ही वस्तुतः मुख समझ कर दुःखी होता है और कहता है कि मेरा मुख न जाने क्यों मलिन हो गया ? वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ १२३ ॥

'अज्ञानानुपमर्देन' इत्यादि ।

शङ्का—'अहं सुखी, दुःखी' इत्यादि प्रतीति सबके अनुभवसे सिद्ध है, पर केवल विवाद इस अंशमें है कि यह प्रतीति आत्मामें वस्तुतः सुख आदिकी बोधक है अथवा आरोपित सुख आदिकी ? नैयायिक आदि कहते हैं कि 'नाऽहं सुखी' इत्यादि बाधक ज्ञान है नहीं, इसलिए उक्त प्रतीति वस्तुतः आत्मसमवेत सुख आदिकी ही बोधक है, अगर ऐसा ही माना जाय तो पक्षमें क्या क्षति है ?

अथाऽपि तत्त्वविज्ञानहेतुत्वं द्वैतमृच्छति ।
निद्रां हित्वा यथा स्वापान्निमित्तादपि बुद्ध्यते ॥ १२५ ॥

समाधान—आत्मतत्त्वकी अज्ञानदशामें जो जो प्रतीतियाँ होतीं हैं, वे वस्तुतत्त्वकी भासक नहीं होतीं, जैसे निद्राकालमें जो स्वप्न देखा जाता है, वह यथार्थवस्तुविषयक नहीं होता, किन्तु कल्पितवस्तुविषयक ही होता है, वैसे ही जाग्रत्कालमें जो घट, पट आदि विषयोंका अवगाहन करनेवाले प्रत्यय होते हैं, वे भी स्वप्नप्रत्ययके समान परमार्थविषयक नहीं हैं।

शङ्का—स्वप्न-प्रत्ययोंका तो प्रबोधदशामें स्पष्ट बाध होता है, इसलिए वे कल्पितविषयक माने जाते हैं। प्रबोधदशाके प्रत्यय तो वैसे हैं नहीं, फिर वे कल्पितविषयक कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—तात्कालिक बाधाभाव तो स्वाप्निक प्रत्ययोंमें भी समान ही है, अतः उस विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं है, हाँ प्रबोध-प्रत्ययका कालान्तरमें बाध नहीं होता है, यह तो नहीं कह सकते, क्योंकि 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' इत्यादि श्रुतियाँ आत्मतत्त्व-ज्ञानदशामें निखिल प्रपञ्चका बाध स्पष्ट कहतीं हैं। असलमें आत्मतत्त्वके अज्ञानरूप उपादानसे होनेवाला जगत् , जब आत्मतत्त्वके ज्ञानसे जगत्के उपादान अज्ञानके उच्छेदसे उच्छिन्न होता है, तब उन विषयोंका भान नहीं होता, क्योंकि 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुति ही इस अर्थमें प्रमाण है, इससे अज्ञानकालमें प्रत्यक्ष आदिसे अबाधित होनेपर भी 'द्वैत परमार्थ सत् नहीं है' यह सिद्धान्त अकाट्य सिद्ध हुआ ॥ १२४ ॥

'अथाऽपि तत्त्व०' इत्यादि ।

शङ्का—स्वाप्निक ज्ञानके समान प्रबोधकालके प्रत्ययको भी यदि मिथ्या मानते हो, तो श्रुत्यादिविषयक प्रत्यक्ष भी मिथ्या ही होगा, मिथ्या प्रत्ययके विषय श्रुत्यादि भी मिथ्या ही मानने पड़ेंगे, ऐसी अवस्थामें मिथ्याभूत श्रुति द्वारा ब्रह्मज्ञान ही कैसे होगा ?

समाधान—मिथ्याभूत द्वैत भी वेदान्त-तत्त्वज्ञानका कारण होता है, जैसे स्वापकालमें स्वाप्निक व्याघ्रको देखकर भी भय होता है, उस भयसे मनुष्य जाग उठता है ।

साध्यसाधनतां तस्मादज्ञानैकव्यपाश्रयाम् ।
उच्चैरनूद्य तत्तत्त्वं वेदान्ताः प्रत्यपादयन् ॥ १२६ ॥

शङ्का—जागनेका कारण जो स्वाप्निक व्याघ्रदर्शन-जन्य भय है, वह तो वास्तविक ही है, मिथ्या नहीं है ।

समाधान—तो भयका कारण क्या है ? यदि स्वाप्निक व्याघ्रका दर्शन है ? तो वह मिथ्या ही है ।

शङ्का—स्वप्न-ज्ञानका विषय व्याघ्र मिथ्या है, परन्तु रज्जुज्ञान तो स्वरूपसे सत् ही है; और भयका कारण ज्ञान ही है ।

समाधान—नहीं, केवल ज्ञान भयका कारण नहीं है, किन्तु व्याघ्रविषयानुरञ्जित ज्ञान भयका कारण है, अतः असत् भी सत्के समान ही कारण होता है, एवं नाग और नग इत्यादि लिपिमें वर्णप्रत्यय तथा ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि प्रत्यय भले ही मिथ्या हों, किन्तु उससे अर्थका बोध समीचीन ही होता है, इत्यादि अनेक असत्-कारणत्वके उदाहरण हैं, अतः यहां दिङ्मात्रका प्रदर्शन किया गया है ॥ १२५ ॥

'साध्यसाधनताम्' इत्यादि ।

शङ्का—'एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादि श्रुतियोंसे सृष्टिका प्रतिपादन किया गया है, इसलिए कार्य-कारणभाव अवास्तविक कैसे हो सकता है ?

समाधान—प्रतिपादन तो अवश्य किया गया है, किन्तु उसमें उक्त श्रुतियोंका मुख्य तात्पर्य नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—उस अर्थमें शास्त्रका मुख्य तात्पर्य माना जाता है, जो अप्राप्त और फलवान् होता है, प्रकृतमें अज्ञानप्रयुक्त कार्यकारणभावका श्रुतियोंसे अनुवाद करके 'कार्यमात्र कारणभूत ब्रह्मस्वरूप है, अतिरिक्त नहीं है', इस अर्थमें सृष्ट्यादिकी बोधक श्रुतियोंका तात्पर्य है । यह प्रमाणान्तरसे प्राप्त नहीं है तथा इसका फल भी आरोपित द्वैतकी निवृत्ति करनेमें समर्थ अद्वैत आत्मज्ञानके उत्पादन द्वारा आत्मैकत्व लक्षण परम पुरुषार्थकी प्राप्ति है । द्वैत ज्ञानका कुछ भी फल श्रुतियोंमें नहीं है, प्रत्युत 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इत्यादि

अकारणमकार्यं सत् कार्यकारणतामगात् ।
मोहादेव, ततः शास्त्रं मोहोच्छित्त्यै प्रवर्तते ॥ १२७ ॥
नामरूपादिना येयमसत्येवाऽवभासते ।
माया तस्याः परं सौक्ष्म्यं मोहशब्देन भण्यते ॥ १२८ ॥

श्रुतिसे द्वैतकी निन्दा ही उपलब्ध होती है, किसीकी निन्दा व्यर्थ नहीं की जाती, किन्तु निन्दा करनेका तात्पर्य त्यागमें रहता है; इस तात्पर्यसे कहते हैं—कार्यका तत्त्व ब्रह्म ही है, उसका वेदान्तोंने प्रतिपादन किया है ॥ १२६ ॥

'अकारणमकार्यम्' इत्यादि । सत् ब्रह्म न किसीका वस्तुतः कारण है और न किसीका कार्य ही है, किन्तु उदासीन होनेसे असंग चिन्मात्र है, अतः मोहसे ही कार्यकारणभावापन्न प्रतीत होता है, इसलिए कार्यकारणभावके प्रसंजक मोहके उच्छेदके लिए ही वेदान्तशास्त्र प्रवृत्त होता है ॥ १२७ ॥

मोहशब्दार्थका विवेचन करते हैं—'नामरूपा०' इत्यादिसे ।

श्लोकमें उक्त नामरूपादिके आदि शब्दसे कर्मका संग्रह होता है । केवल कार्यलिङ्गक अनुमानसे ही गम्य माया नहीं है, किन्तु अनुभवसे भी सिद्ध है, इसे फुट करनेके लिए 'इयम्' शब्दका ग्रहण है ।

शङ्का—तब तो प्रमाणसिद्ध होनेसे माया वस्त्वात्मक ही सिद्ध होगी ?

समाधान—इसीलिए तो श्लोकमें 'असती' भी कहा गया है, अतः सत् और असत्से अनिर्वचनीय माया है, क्योंकि तत्त्वतः मानगम्य नहीं है, प्रतीति तो आभाससाधारण है, इसलिए वह वस्तुकी साधक नहीं है । माया और अविद्याका कोई लोग भेद भी मानते हैं, पर वह प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि भेदमें प्रमाण नहीं मिलता और ऐसा माननेमें प्रयोजन भी नहीं है, इसलिए माया और अविद्या दो पदार्थ नहीं है, प्रत्युत उन दो शब्दोंसे एक ही अर्थका अभिधान किया जाता है । इसलिए केवल 'माया' शब्दका उपादान किया गया है । अव्यक्तनाम-रूप अतएव प्रत्यक्षके अयोग्य पञ्चीकृत पञ्च-महाभूतावस्थासे अतिरिक्त मायाका स्वरूप है, इसी सुसूक्ष्म अंशको मोह कहते हैं । भावार्थ यह हुआ कि असती याने अनिर्वचनीय माया नाम, रूप और कर्म रूपसे प्रसिद्ध होनेसे अनुभवकी विषय है, इसीके सुसूक्ष्म अंशको मोह कहते हैं ॥ १२८ ॥

निगीर्णाशेषसंसारं शुद्धं संस्कारसंश्रयम् ।
अव्याकृतमिति ब्रह्म मोहयोगेन भण्यते ॥ १२९ ॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च भूमिर्विश्वस्य धारिणी ॥ १३० ॥

श्रुतिः । नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् अशनायया अशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्त ।

---

'निगीर्णा०' इत्यादि ।

शङ्का—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है कि अव्याकृत ही जगत्का कारण है, फिर आप ब्रह्मको कारण कैसे कहते हैं ?

समाधान—निगीर्णाशेषसंसारं—अपनेमें उपसंहृत अशेष प्रपञ्च—अर्थात् सूक्ष्मरूपसे समस्त संसार जिसमें विद्यमान है, ऐसा शुद्ध तथा संस्कारोंका आश्रय ब्रह्म ही अव्याकृतशब्दसे कहलाता है, वही जगत्का कारण माना जाता है । शुद्ध मुक्तिका आलम्बन जो ब्रह्म है, उसकी व्यावृत्तिके लिए 'संस्काराश्रय' विशेषण है और संसारी ब्रह्मकी व्यावृत्तिके लिए 'शुद्ध' विशेषण दिया गया है । यहांपर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अन्तर्यामी भी यही कहलाता है । अव्याकृत और अन्तर्यामीमें केवल भेद इतना ही है कि उपाधिप्रधान अव्याकृत है अर्थात् अव्याकृतमें दोनों विशेषण प्रधान होते हैं और अन्तर्यामी उपहितप्रधान है । पूर्वोक्त विशेषणसे विशिष्ट ब्रह्म अव्याकृत है और उक्त दो विशेषणोंसे उपलक्षित ब्रह्म अन्तर्यामी है, यह फलितार्थ है ॥ १२९ ॥

मूल कारणसे ही संपूर्ण सृष्टि होती है, इसमें अथर्वणश्रुतिको प्रमाण देते हैं—'एतस्मात्' इत्यादि ।

शङ्का—यदि इसी मूल कारणसे सृष्टि मानते हैं, तो प्रथम आकाशकी सृष्टिका निर्देश करना चाहिए, प्राणकी सृष्टिका निर्देश नहीं करना चाहिए ।

समाधान—दो प्रकारका सृष्टिनिर्देश श्रुतियोंमें पाया जाता है—एक क्रमविशिष्ट सृष्टिका और दूसरा क्रमशून्य केवल सृष्टिका । द्वितीयके अनुसार अथर्वणश्रुतिका ग्रन्थमें उदाहरण दिया गया है । 'एतस्मात्' अर्थात्

तत्राऽऽदौ सृज्यवस्तूनां प्राणादीनां विचारणे ।
दक्षं मनोऽसृजत्तेन वेदे सृज्यं व्यचारयत् ॥ १३१ ॥

सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिविशिष्ट ब्रह्मसे प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी आदि उत्पन्न हुए। भाव यह है कि सृष्टि क्रमसे ही मानी जाती है, युगपत् नहीं, परन्तु सृष्टिप्रक्रियाके निर्देशका और कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु मूल कारणका ज्ञान ही है जिसका कि फल परम पुरुषार्थकी प्राप्ति है। इसलिए मूल कारणके बोधनके लिए किया गया सृष्टिमात्रका निर्देश अनुपयोगी नहीं है ।

शङ्का—ठीक है, पर प्रकृत ग्रन्थमें तो सर्वप्रथम मनकी उत्पत्ति बतलाई गई है, इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—सृष्टि संकल्पपूर्वक होती है, संकल्पका असाधारण कारण मन है, इसलिए प्रथम मनकी सृष्टिका ही निर्देश युक्तियुक्त है ।

शङ्का—मनसे पहले तो कोई विषय है ही नहीं, तो मन किस विषयका संकल्प करेगा ।

समाधान—मालूम होता है, आप नैयायिकोंके कुचक्र में पड़ गये हैं, यहां सत्कार्यवाद है, असत्कार्यवाद नहीं है। अन्य श्रुतियोंसे सिद्ध आकाशादि क्रमसे युक्त सृष्टि अव्याकृतनामरूप होकर संस्काररूपसे मूल कारणमें वर्तमान है, इसीका अभिव्यक्त नामरूपावस्थाके लिए मनको पर्यालोचन करना है, इसलिए वही मन संकल्पका विषय है, अतएव 'तन्मनोऽकुरुत' इससे प्रथम मनका निर्देश किया है ।

शङ्का—मन भी तो इन्द्रियोंमें आ जाता है, फिर उसका पृथक् उपादान क्यों है ?

समाधान—वेदान्ती लोग मनको इन्द्रियोंसे अतिरिक्त मानते हैं, इसमें यह श्रुति ही प्रमाण है, मनको इन्द्रिय मानना श्रुतिविरुद्ध है ॥ १३० ॥

मनकी सृष्टि और उसका फल कहते हैं—'तत्रादौ' इत्यादिसे ।

श्रुतिमें 'तन्मनोऽकुरुत' यहांपर 'तत्' शब्दसे कारणका परामर्श नहीं हो सकता, कारण कि मृत्युरूप कारण पुल्लिङ्ग शब्दसे कहा गया है, अतः उसके परामर्शके तात्पर्यसे 'स' यह निर्देश होना चाहिये, इसलिए 'तत्' शब्द मनका परामर्श करता है । 'तनको' अर्थात् सृज्यमान वस्तुके विचारमें दक्ष मनको उत्पन्न

न चाऽस्य मनसः सृष्टचै प्रसज्येत मनोऽन्तरम् ।
नहीदमतिगम्भीरं शक्यं तर्कयितुं नृभिः ॥ १३२ ॥
स तेन मनसा स्वस्मिन् लीनान् वेदाननुस्मरन् ।
समन्वालोचयेद्देवो वेदोक्तां सृष्टिपद्धतिम् ॥ १३३ ॥

किया । मनसे यथाक्रम स्थित सृज्यमान आकाशादि पदार्थोंका स्मरण किया अर्थ इस क्रमसे इन पदार्थोंकी सृष्टि की जाय, यह सङ्कल्प किया ।

शङ्का—किसने ?

समाधान—मूल कारण आत्माने । अथवा मन शब्दका अर्थ है—सङ्कल्प सूत्रात्माने विराड्रूपसे आत्मसृष्टिके उद्देश्यसे हम विराडात्मा हों, इस तात्पर्य सङ्कल्प किया । सङ्कल्पस्वरूप मनकी सृष्टि होनेपर स्रष्टा हिरण्यगर्भ इस मन हम मनस्वी हों इस अभिप्रायसे विशिष्ट हुए । ब्रह्म सृष्टिका कारण है तत्कारण हिरण्यगर्भ हुए, अतएव 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिः' इत्या श्रुतिका निर्देश भी है ॥१३१॥

**'न चाऽस्य मनसः'** इत्यादिसे ।

शङ्का—यदि संकल्पात्मक मनके बिना सृष्टि नहीं बन सकती है, इसलि सृष्टिसे पूर्व मनकी सृष्टि की, यह आप कहते हैं, तो मनकी सृष्टि कैसे हुई क्योंकि इसकी सृष्टिके लिए भी मनकी अपेक्षा होगी, इस प्रकार मनकी सृष्टि अन्य मनकी अपेक्षा बनी रहनेसे अनवस्था होगी ?

समाधान—श्रुतितात्पर्यगोचर अर्थमें तर्क नहीं करना चाहिए; य विषय अतिगहन है अर्थात् केवल श्रुतिसे ही गम्य है, तर्कगम्य नहीं है तर्कके अविषयमें तर्कके प्रयुक्त होनेपर कुतर्क कहा जाता है; अतएव मनु आ ऋषियोंने कहा है कि 'तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्' । अतः सङ्कल्पसे अतिरिक्त कार्यों सङ्कल्प पूर्वकत्वका नियम मानना चाहिये । सङ्कल्पके बिना भी सङ्कल्प होता है अन्य नहीं यह श्रुति-सम्मत अर्थ है ॥१३२॥

**'स तेन मनसा'** इत्यादिसे । मनकी सृष्टिका प्रयोजन कहते हैं—सृज्यमा पदार्थके पर्य्यालोचनमें समर्थ मनसे आत्मामें लीन वेदोंका उसने स्मरण किया, स्मरणके बाद उसमें क्रमशः स्थित सृज्यमान पदार्थोंका सङ्क स्मरण हुआ, अनन्तर तत्-तत् क्रमसे वर्तमान सर्गमें भी तत्-तत् पदार्थोंकी सृष्टिक

**सृष्टिः सर्वा मनस्यस्य प्रादुरासीद्यथायथम् ।**
**हिरण्यगर्भ एषोऽभूदीशो मानससृष्टितः १३४ ॥**

पद्धति याने मार्ग अर्थात् सभी तरहके प्रकारों का उसने स्मरण किया ॥ १३३ ॥

'**सृष्टिः सर्वा**' इत्यादि । आत्माके समान मनस्वी होनेके कारण वेद-प्रतिपादित क्रमविशिष्ट सम्पूर्ण सृष्टि इसकी स्मृतिविषय हुई अर्थात् यथास्थित अखिल सृज्यमान पदार्थोंका स्मरण हुआ और मानस सृष्टिसे सृज्यमान पदार्थविषयक स्मरणशाली होनेसे यही हिरण्यगर्भ ईश हुए ॥ १३४ ॥

श्रुति—'**नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्**' इत्यादिसे लेकर '**अजायन्त**' यहांतक । मनकी उत्पत्तिसे पूर्व इस संसारमण्डलमें कोई भी विभक्तनामरूपवाला नहीं था ।

शङ्का—तो क्या शून्य था ? अर्थात् कार्य या कारण कुछ नहीं था ?

समाधान—अविभक्त-नामरूपात्मक था, किन्तु मृत्युरूपसे आवृत था। यदि कुछ न होता तो, किससे कौन आवृत कहा जाता ? वन्ध्यापुत्र आकाशके पुष्पसे छिपा है, ऐसा तो लोकमें नहीं कहा जाता, पर यहां श्रुति स्पष्ट कहती है कि यह सब कार्य मूलकारणभूत मृत्युसे आवृत था, इसलिए यह मानना आवश्यक है कि सृष्टिके पूर्व आवृत और आवरक—ये दोनों पदार्थ थे अर्थात् कारणके समान कार्य भी था, इससे स्पष्टतया सत्कार्यवाद सिद्ध होता है । अतएव असत् कार्य उत्पन्न होता है, यह नैयायिक मत, श्रुतिविरुद्ध होनेसे, वेदके अनुयायियोंको मान्य नहीं है । केवल श्रुतिसे ही नहीं पूर्वोक्त अनुमानसे भी उत्पत्तिसे पूर्व कार्यकी सत्ता सिद्ध कर चुके हैं । मृत्युका क्या स्वरूप है ? इस जिज्ञासासे श्रुति मृत्युका लक्षण कहती है, अशनाया—बुभुक्षा—अर्थात् खानेकी इच्छा—ही मृत्यु है ।

शङ्का—कैसे ?

समाधान—जो पुरुष खानेकी इच्छा करता है, वह हिंसा करता है ।

शङ्का—खाना तो प्राणका धर्म है और प्राण उस समयमें था ही नहीं, अतएव श्रुति कहती है—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' ।

समाधान—ठीक है, यहां प्राणशब्दसे लक्षणा द्वारा प्राणका कारण ब्रह्म विवक्षित है । अशनायावान् प्राणका हेतु ब्रह्म है । कार्य और कारणका अभेद

श्रुतिः ॥ अर्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कꣳह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥ १ ॥

माना जाता है, अतः उसका कारण ब्रह्म भी अशनायावान् है। वस्तुतः वाग् आदि इन्द्रियाँ प्राणमें लीन होती हैं, इसलिए प्राणमें मृत्युशब्द प्रसिद्ध है, अतएव प्राणके कारण ब्रह्ममें भी मृत्युशब्दका औपचारिक प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि मृत्युशब्दसे लक्षित जगत्-कारणमें सम्पूर्ण जगत् सूक्ष्मरूपसे स्थित था, उस मूल कारणने सङ्कल्प किया कि हम मनस्वी हों, तदनन्तर वह मनस्वी हुआ। मनस्वी होनेपर अर्चन्—अर्चयन्—आत्मानम् अर्थात् अपनेको उसने कृतकृत्य ( पूजित ) माना। सृष्टिके विषयमें हम समर्थ हैं, इस प्रकार अपनी सामर्थ्यका आलोचन ही प्रकृतमें पूजा है। अर्चायुक्त रूपसे पूजाका साधन जल उत्पन्न हुआ।

शङ्का—अन्य श्रुतिमें तो प्रथम आकाशकी उत्पत्ति कही गई है और यहाँपर प्रथम जलकी उत्पत्ति बतलाई जाती है, इससे सन्देह होता है कि किसकी पहले उत्पत्ति ठीक मानी जाय ?

समाधान—अन्य श्रुतिके उक्त विरोधके परिहारके लिए यहाँकी श्रुतिका आकाश, वायु, अग्नि—इन तीनोंकी सृष्टिके बाद जल उत्पन्न हुआ, यह अर्थ करना ठीक है, क्योंकि वस्तुमें विकल्प नहीं होता और दोषरहित होनेसे बाध्यबाधकभाव भी श्रुतियोंमें नहीं हो सकता।

अश्वमेधाङ्ग भौतिक अग्निकी अर्कनामसे भी उपासना होती है, यह कहनेके लिए अग्निमें अर्कशब्दके प्रयोगका बीज श्रुति कहती है—'अर्चते' इत्यादिसे।

यहाँ षष्ठ्यर्थमें चतुर्थी है। परन्तु भाष्यकारने चतुर्थ्यर्थ ही में चतुर्थीको मानकर व्याख्यान किया है। पूजा करते ही जल उत्पन्न हुआ, ऐसा उक्त मृत्युने माना; इस कारण अश्वमेधके साधन अग्निमें अर्कत्व प्राप्त हुआ, अतः यही उक्त अर्थमें उक्त शब्दकी प्रवृत्तिका बीज है। 'अर्' (अर्च) और 'क' के संयुक्त होनेपर 'अर्क' शब्द बनता है, अर्थका भी—पूजा और जलका भी—सम्बन्ध श्रुतिने स्पष्ट ही कहा है—'कं शिरो जलमाख्यातम्' इस कोशसे और 'कं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिसे 'क' शब्द सुख और जल दोनोंका वाचक है। अपनी प्रशंसाके समय सुख और जल दोनों हुए, इसलिए अर्थ और शब्द दोनोंका सम्बन्ध

**स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहितः तस्य प्राची दिक् शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥ ३ ॥**

प्रथम मन्त्रका तात्पर्य—इस प्रक्रियामें है—अव्याकृत-प्रपञ्चविशिष्ट मूल कारण ब्रह्मके संकल्पके अनन्तर अपञ्चीकृत आकाश आदि पाँच भूत हुए। वे ही सूत्र भी कहे जाते हैं। उसके बाद अपञ्चीकृत-पञ्चभूतोपाधिक हिरण्यगर्भ हुए, उनसे पञ्चीकृत पञ्चभूतोपाधिक समस्त प्रपंचशरीराभिमानी विराट् हुए, उनसे अण्डा, अण्डेसे विराट् और विराट्से समस्त सृष्टि हुई। हिरणगर्भसे विराड्रूप अग्नि हुई। अग्निस्वरूप विराड् ही अश्वमेधाङ्ग संस्कृत अग्नि है, इस बुद्धिसे उपासना प्रकृतमें विवक्षित है ॥२॥

**'स त्रेधा'** इत्यादि।

**शङ्का**—यहां 'स' शब्दसे विराडात्मा प्रजापति अथवा सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इन दोनोंमें से किसका परामर्श है?

**समाधान**—सूत्रात्मा हिरण्यगर्भका परामर्श है, क्योंकि उनका शरीर अपञ्चीकृतसूत्रात्मक होनेसे व्यवहारके योग्य नहीं है और 'स एष' ऐसी भाष्यकारकी व्याख्या है। 'स' से उक्त पूर्वकालस्थ और 'एष' से उक्त वर्तमानकालस्थ—इन दोनोंका अभेद प्रतीत होता है। इसलिए 'एष' इस वाक्यशेषके अनुरोधसे 'स' शब्दसे हिरण्यगर्भका ही परामर्श ठीक है, विराड्का परामर्श ठीक नहीं है, अतः 'एष' पद व्यर्थ हो जायगा। विभागका फल प्रकृतमें उपासनात्मक व्यवहार ही है।

**शङ्का**—विभागका प्रकार कैसा है?

**समाधान**—वायु और अग्निकी अपेक्षा तीसरा आदित्य तथा अग्नि और आदित्यकी अपेक्षासे तीसरा वायु तथा वायु और आदित्यकी अपेक्षासे तीसरा अग्नि, इस प्रकार विभाग समझना चाहिए। यद्यपि श्रुतिमें आदित्य और वायुका ही नाम है, अग्निका नहीं है, तथापि तृतीयत्व तीसरेके बिना नहीं हो सकता, इसलिए तीसरा अग्नि ही समझना चाहिए।

**शङ्का**—यह विभाग विराड्के शरीरका उपमर्दन करके ही किया गया

होगा, क्योंकि एक कार्यके रहनेपर फिर उसमें दूसरा कार्य नहीं होता। जिस सुवर्णसे कुण्डल बना है, उसी सुवर्णसे 'कुण्डलके रहते' पुनः केयूर नहीं बन सकता अर्थात् कुण्डल और केयूर एक समयमें एक उपादानमें नहीं रह सकते।

समाधान—नहीं, जैसे एक ही मृत्तिकामें कपाल और घट दोनों कार्य साथ रहते हैं, उसी प्रकार विराट्के रहते ही इन कार्योंका आरम्भ हुआ। वास्तवमें कोई कार्य अविरुद्ध होनेसे पूर्व कार्यके साथ ही एक कारणमें रहता ही है, जैसे कपाल और घट। जो विरुद्ध कार्य होता है, वह कार्यान्तरके साथ एक कारणमें नहीं रहता, जैसे पिण्ड और घट। प्रकृतमें विरोध न होनेसे पूर्वकार्यके स्वरूपके उपमर्दनके बिना ही उत्तर कार्य होता है। इस प्रथमोत्पन्न अश्वमेधाङ्ग अर्क्नामक अग्निमें अश्वमेधाङ्ग अश्वदृष्टिके समान दृष्टिका विधान करते हैं। यह सब पूर्वोक्त उत्पत्ति अग्निकी स्तुतिके लिए है, यह नहीं भूलना चाहिए। इस प्रकार शुद्धजन्मा अग्नि है, अतः उसकी उपासना कल्याणके लिए अवश्य करनी चाहिए, यह तात्पर्य है। दृष्टिका विधान कहते हैं—इस उक्त अग्निमें पूर्व दिशा सिर है, ईशान और अग्निकोण बाहु हैं, पश्चिम दिशा पुच्छ है, नैर्ऋत्य और वायव्य दोनों पुट्ठा हैं, दक्षिण और उत्तर दोनों पार्श्व हैं, द्यौ पृष्ठ है, उदर आकाश है, उर (छाती) पृथिवी है। यह अग्नि जलमें प्रतिष्ठित है, अर्थात् लोकात्मक अग्नि आकाशादि सहित जलमें प्रतिष्ठित है, क्योंकि पञ्च महाभूत सब जगत्के कारण हैं, कार्य कारणमें प्रतिष्ठित रहता है, यह वेदान्तसिद्धान्त है। इस उपासनाका फल यह है कि उपासक जहां कहीं भी जाता है, वहीं शुभ प्रतिष्ठा पाता है। यहांपर वार्तिकके अनुसार प्रक्रियाका निर्देश सुखावबोधके लिए लिखते हैं—शुद्ध तथा संसारीसे व्यावृत्त संस्काराश्रय अतएव अपनेमें उपसंहार कर रक्खा है निखिल प्रपञ्चका जिसने ऐसा ब्रह्म व्याकृत है और उससे उपहित अन्तर्यामी है। इन दोनोंमें भेद इतना ही है कि संस्कारविशिष्ट व्याकृत कहलाता है और संस्कारोपलक्षित अन्तर्यामी कहलाता है।

अव्यक्त-नामरूप प्रत्यक्षायोग्य अपञ्चीकृतमहाभूतावस्थातिरिक्त अपञ्चीकृतमहाभूतोपादान मायाका सूक्ष्मरूप मोह है, यही साभास चिदज्ञान भी कहलाता है। यही वस्तुतः मृत्युशब्दका अर्थ प्रकृतमें विवक्षित है। अपञ्चीकृतभूतान्तरसहित अणुतर जलात्मक माया कहलाती है। पूर्वोक्त मोह भी मायाका सूक्ष्मरूप होनेसे मायात्मक ही है। भेद इतना है कि वह अपञ्चीकृत

भूतान्तरका उपादान है, अतएव उसकी अपेक्षा माया स्थूल है। इसीसे अनुभवकी विषय भी होती है। पूर्वोक्त मोहसे अपञ्चीकृत पञ्चभूतात्मक सूत्र हुआ, सूत्रोपाधिक अपञ्चीकृत भूतशरीराभिमानी हिरण्यगर्भ हुआ, वही सूत्रात्मा भी कहलाता है। उसने संकल्प किया कि हम मनस्वी हों, अतः संकल्पात्मक मन हुआ। मनसे वेदोंका स्मरण किया, तदुपरान्त सक्रम सृष्टिका परिज्ञान हुआ। उसके बाद आकाशादिकी सृष्टि की, अथवा उक्त हिरण्यगर्भ विराड्की सृष्टिके लिए संकल्पात्मक मनकी इच्छा की, अनन्तर मनस्वी हुए। सृष्टिमें हम समर्थ हैं, इस प्रकार स्व-सामर्थ्यका आलोचन किया। अर्चा करनेके समय जल उत्पन्न हुआ। प्रकृतमें जल उपलक्षण है—पञ्चीकृत भूतमात्रका। ये पञ्चीकृत पञ्चभूत सर्गके सूत्र कहे जाते हैं। मृत्यु जैसे सूत्रात्मा हुए, वैसे अर्क भी हुए।

अन्य श्रुतिमें सृष्टिका दूसरा प्रकार भी है, उसे 'आपो वा' इस द्वितीय मन्त्रसे कहते हैं। पञ्चीकृत भूतान्तरसहित जल सूत्र कहलाता है, उससे विराड्की उत्पत्ति पहले कह चुके हैं। वस्तुतः सृष्टिमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु अग्निकी स्तुतिमें है, इसलिए श्रुतियोंमें परस्पर विरोध नहीं है, यह निष्कर्ष है। सूत्रसे विराड्की उत्पत्ति अथर्वण श्रुतिमें स्पष्ट है—तथाहि, 'आपो ह वा इदमग्र आसुः सलिलमेव ता अकामयन्त कथन्नु प्रजायेमहीति ता अश्राम्यंस्तास्तपोऽतप्यन्त तासु तपस्तप्यमानासु तास्वन्तर्हिरण्यमण्डं संबभूव' यह बृहदाण्यक और शतपथ श्रुतिकी प्रकृत अर्थमें एकवाक्यता है। सूत्रात्मा, नानारस है। प्रथम सूक्ष्म शरीरकी सृष्टि की पश्चात् स्थूल शरीरकी। स्थूलशरीराभिमानी विराड् प्रजापति है। प्रजापति स्रष्टा कहलाता है, इसलिए सूत्रात्मा तथा विराड् दोनों प्रजापति हैं। प्रकृत प्रजापति अर्थात् सूत्रात्मा प्रजापति क्रियाविज्ञान-शक्तिस्वरूप है, अतः उसका कार्य विराड् भी उक्त शक्तिद्वयरूप ही है। सूत्रात्मा विराड् हुए, इसका अभिप्राय यह है कि जैसे घटकी उत्पत्तिसे 'घटाकाशो जातः' यह व्यवहार होता है, वैसे ही पिण्डकी उत्पत्तिसे तदवच्छिन्न विराड्में भी 'जातः' यह व्यवहार समझना चाहिए। सूक्ष्म और स्थूल—इन दो शरीरोंसे अवच्छिन्न अविद्यासंवृत परमेश्वर ही लोकत्रयशरीरसंपन्न अग्नि कहलाते हैं।

शङ्का—परमेश्वर ही यदि शरीरद्वयावच्छिन्न होकर सूत्र और विराड् है, ... ही विराड्की तरह व्यष्टिस्वरूप मानिये ? विराड्की क्या ?

**सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनँ समभवत् अशनाया मृत्युः तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत् ॥**

समाधान—जैसे आकाश कुम्भावच्छिन्न और कूपावच्छिन्न होकर कुम्भाकाश कूपाकाश कहलाता है और स्वभावसे आकाश कहलाता है, वैसे ही सूत्ररूप आत्मा विराड् देह की उत्पत्तिकर और तदवच्छिन्न होकर अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव—इन उपाधियोंमें प्रविष्ट होकर व्यष्टि कहलाता है। विराड्-शरीररहित समष्टि कहा जाता है। सारांश यह हुआ कि सूत्र सूक्ष्मसमष्टि है और विराड् स्थूल-समष्टि है ॥ ३ ॥

जिस मृत्युने पञ्चीकृत पञ्चभूत और उनके कार्यके क्रमसे विराडात्माकी सृष्टि की है, उसने किस व्यापारसे सृष्टि की, इस आकांक्षाकी शान्तिके लिए चतुर्थ मन्त्रका अवतार है अथवा अत्ता अग्निकी सृष्टि कहकर अत्ताकी स्थितिके लिए अन्नकी सृष्टि आकांक्षित है, इसलिए उत्तर मन्त्रसे अन्नकी सृष्टि कहते हैं—यह वार्तिकोक्त सङ्गति है।

'सोऽकामयत' इत्यादि। मृत्युकी इच्छा हुई कि मेरा दूसरा शरीर हो, जिससे मैं शरीरी हो जाऊँ। यहां आत्मा शरीरके तात्पर्यसे कहा गया है, क्योंकि आत्मभेद तो अद्वैतमें है नहीं। ऐसी कामना करनेपर मनसे वेदवाणीका स्मरण किया अर्थात् वेदस्थित सृष्टिप्रक्रियाका स्मरण किया।

शङ्का—किसने स्मरण किया ?

समाधान—अशनायासे लक्षित मृत्युने, क्योंकि अशनाया ही मृत्यु है, स्वयं श्रुतिने मृत्युका यह लक्षण बतलाया है, इससे अव्यवहित पूर्व विराड् है, और प्रायः अव्यवहित पूर्वका परामर्श सर्वनाम 'तत्' शब्दसे होता है, इस भ्रमके निवारणके लिए पुनः मृत्युशब्दका प्रयोग श्रुतिमें आया है। मन और वाक्‌के मिथुनसे जो रेत—बीज—हुआ, वही प्रथम-शरीरी प्रजापतिकी उत्पत्तिका कारण हुआ, लोकप्रसिद्ध वीर्य्यके भ्रमके वारणके लिए प्रकृतमें ज्ञानकर्मरूप बीज विवक्षित है, यह भाष्यकारने स्पष्ट किया है।

शङ्का—प्रजापति तो अभी उत्पन्न ही नहीं हुए, फिर इनका ज्ञानकर्म ही कहाँ ? जिसका कि दर्शन मृत्युने कर पाया।

समाधान—प्रजापतिके पूर्वजन्मकी ज्ञानक्रियाका दर्शन किया, संसार

अनादि है, जिन ज्ञानकर्मोंके अवशिष्ट रहनेपर प्रलय हो जाता है, वे बने ही रहते हैं ? कल्पके आदिमें जिनके जैसे ज्ञानकर्म रहते हैं, उन्हींके अनुसार उनका शुभाशुभ जन्म होता है, यह शास्त्रका सिद्धान्त है। अतः प्रजापतिके जन्मके लिए उसके ज्ञानकर्मका पर्यालोचन करना आवश्यक है। जिसका सबसे उत्तम ज्ञानकर्म होगा, वही प्रजापति हो सकता है। योग्य स्थानके लिए योग्य ज्ञानकर्मकी समीक्षा उचित ही है। वह बीजरूपसे जलमें प्रवेश कर अण्डारूपसे गर्भगत होकर संवत्सर हुआ। संवत्सर काल बनानेवाला प्रजापति संवत्सर हुआ। संवत्सरकालके निर्माता प्रजापतिसे पूर्व काल नहीं था अर्थात् प्रजापति ही आदित्यात्मक है। प्रजापतिसे पूर्व आदित्य ही नहीं था। आदित्यसे ही संवत्सर बनता है, बारह राशियोंमें सूर्यका परिभ्रमण पूर्ण होनेसे संवत्सर होता है। यदि प्रजापति नहीं थे, तो आदित्य भी नहीं था, ऐसी अवस्थामें संवत्सर नहीं था, यह स्पष्ट ही है।

शङ्का—कितने कालमें अण्डेसे गर्भ हुआ ?

समाधान—एक वर्षमें अर्थात् जितने कालका संवत्सर होता है, उतने कालके बाद अण्डा फोड़ा, उससे प्रजापति उत्पन्न हुए। मृत्युने जातमात्र अग्निस्वरूप प्रथमशरीरी कुमारको दग्धोदरकी पूर्त्तिके लिए खाना चाहा, वह कुमार मृत्युकी इस क्रियासे, स्वाभाविक अविद्यासे, भयभीत हुआ और उसने 'भाण' ऐसा शब्द किया। वही शब्द हुआ।

शङ्का—अविवेकियोंकी निन्द्य कर्ममें प्रवृत्ति भले ही हो, पर प्रजापति तो विवेकी हैं, अतः उनकी अपने पुत्रके भक्षणरूप निन्द्य कर्ममें प्रवृत्ति कैसे हुई ?

समाधान—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इत्यादि भाष्यसे स्पष्ट किया गया है कि व्यवहारदशामें विद्वानोंकी भी प्रवृत्ति अविद्वानोंके सदृश होती है। क्षुत्पिपासाकुल पुरुष क्या नहीं करता ? यह इतिहासोंमें स्पष्ट है। अत्ता और अन्न—इनका यह स्वभाव ही है, इसलिए प्राणकी अन्नभक्षणमें प्रवृत्ति उचित ही है, अत्ता अन्नको देखकर खानेके लिए मुँह बाता ही है, यह स्वभाव लोकप्रसिद्ध है।

शङ्का—अच्छा तो प्रजापतिने भक्षण क्यों नहीं किया ?

समाधान—कुमारके भांण शब्दसे वे डर गये, विशेष आगे कहेंगे। भांण ही शब्द हुआ अर्थात् शब्दका सर्ग हुआ, इस उपनिषद्का यह वार्तिकसारानुसारी अर्थ है।

क्रियाविज्ञानशक्त्यात्मा सूक्ष्मादृष्टशरीरभृत् ।
स्थूलभूतानि सृष्ट्वाऽत्र रेतो विन्यदधात्स्वकम् ॥ १३५ ॥
द्वैतैकत्वात्मकज्ञानकर्मणी पूर्वसञ्चिते ।
भावना च तयोरेतत् त्रयं रेतोऽभिधीयते ॥ १३६ ॥
भूतानां सार एकत्र सङ्घीभूयाऽथ रेतसा ।
यतोऽण्डमभवत्तेन विधाता गर्भवानभूत् ॥ १३७ ॥

**'क्रियाविज्ञान०'** इत्यादि । ज्ञानक्रियाशक्तिस्वरूप होनेसे अदृष्ट शरीरको धारण करनेवाले अथवा धर्मादिशरीरवाले प्रजापतिने स्थूल भूतोंकी सृष्टि कर उनमें स्वरेतका—अपने वीर्यका—निषेक किया ॥ १३५ ॥

प्रकृतमें लोकप्रसिद्ध रेतका अर्थ वीर्य संगत नहीं हो सकता, अतः श्रुतिमें अभिप्रेत रेतःशब्दके अर्थका प्रदर्शन करते हैं—**'द्वैतैकत्वा०'** इत्यादिसे ।

द्वैत नानारस है, अतः उपासना भी अनेक हैं; क्योंकि उपास्यके भेदसे उपासनाएँ भी भिन्न भिन्न होती हैं, इसमें किसीका विवाद नहीं है। यहाँ उपास्य ब्रह्म है; उसकी विविध उपाधियोंसे अनेक प्रकारकी अवस्थाएँ श्रुति और स्मृतियोंमें प्रसिद्ध हैं। यहाँपर द्वैतका तात्पर्य उसकी उपासनामें है। उपासनाजन्य आत्मैकत्वविज्ञान, ज्ञानसमुच्चित—ज्ञानसहित—कर्म तथा इन दोनोंकी भावना—ये तीनों ही रेतःशब्दके अर्थरूपसे प्रकृतमें विवक्षित हैं अर्थात् ये तीनों रेत कहलाते हैं ॥ १३६ ॥

**'भूतानां सार'** इत्यादि । उक्त त्रितयात्मक रेतके द्वारा पाँच भूतोंके सार एक जगह संहत याने इकट्ठा हुए। वे ही अण्डेके रूपसे परिणत हुए। उसीसे विधाता हिरण्यगर्भ गर्भवान् हुए।

शङ्का—ज्ञान, कर्म और उनकी भावना—ये तीनों अपनी सत्तामात्रसे सृष्टिके हेतु हैं? अथवा उन तीनोंका केवल दर्शन सृष्टिका कारण है? प्रथम पक्षमें वेद द्वारा सृष्टिका आलोचन व्यर्थ होगा। द्वितीय पक्षमें किस समय उसे दर्शन हुआ, यह कहना होगा।

समाधान—प्रजापतिकी फलावस्थामें अर्थात् सृष्टिके आरम्भकालमें हेतु-भूत ज्ञानके लिए वेदोंका स्मरण किया; उस समय जन्मान्तरमें संचित

हिरण्यगर्भगर्भो यः स संवत्सरतामगात् ।

श्रुतिः ॥ न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभर्यावान् संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत तं जातमभिव्याददात्स भाणमकरोत्सैव वागभवत् ॥ ४ ॥

हिरण्यगर्भः कालेन हीनोऽण्डं कालसंयुतम् ॥ १३८ ॥
अण्डं भित्त्वान्तरसृजद्विराजं पुरुषं प्रभुः ।
क्रियाविज्ञानशक्त्यात्मा विराजोपहितो ह्यभूत् ॥ १३९ ॥
नामरूपादिमद्देहसम्बन्धात् तद्विलक्षणम् ।
अरूपोऽपि हि सूत्रात्मा लक्ष्यते रूपवानिव ॥ १४० ॥

---

सूक्ष्मरूपसे स्थित ज्ञान आदि तीनोंका स्मरण हुआ। आविर्भूत ज्ञान आदि तीनोंसे विशिष्ट प्रजापति उन तीनोंसे पञ्चीकृत भूतोंकी सृष्टि कर स्थावर और जङ्गम सृष्टिके हेतुभूत अण्डेसे गर्भवान् हुए अर्थात् पाँच भूतोंके उत्पादककी सृष्टि कर उसी अण्डेमें प्रविष्ट हुए। इसीके अनुसार यह मनुका वचन है—

'अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत् ।
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ॥
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।' इत्यादि ॥१३७॥

शङ्का—हिरण्यगर्भ कितने समय तक गर्भवान् रहे ?

समाधान—'हिरण्यगर्भः' इत्यादिसे। हिरण्यगर्भके गर्भकी, उक्त पञ्चभूतात्मक अण्डेकी, जो कि आदित्यात्मक विराड्की उत्पत्ति द्वारा संवत्सरका आरम्भक हुआ, संवत्सरके बाद सृष्टि हुई। हिरण्यगर्भ संवत्सर रहित थे, कारण कि आदित्यकी उत्पत्तिसे पूर्व संवत्सर था ही नहीं। संवत्सर सूर्यके उदय तथा अस्तसे होता है, अतः वह सूर्यके अधीन है; इस समय भी एक वर्ष बारह मासका होता है यह प्रसिद्ध है, इसी प्रसिद्ध परिमाणसे यह उत्तर देना संभव है कि एक वर्ष तक हिरण्यगर्भ गर्भवान् थे ॥ १३८ ॥

'अण्डं भित्त्वा' इत्यादि । क्रियाविज्ञानशक्तिसे उक्त हिरण्यगर्भने संवत्सरके बाद अण्डेको बीचसे फोड़कर विराट्नामक पुरुषका उत्पादन किया ॥ १३९ ॥

'नामरूपादि०' इत्यादि । यद्यपि सूत्रात्मा स्वयं नाम और रूपसे रहित है,

सूक्ष्मस्थूलशरीराभ्यां चिदाभाभ्यामविद्यया ।
युतः कूटस्थ ईशोऽपि सशरीरो बभूव ह ॥ १४१ ॥
स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्मोपास्य इहेरितः १४२ ॥

---

तथापि नाम और रूपवान्‌के देहके संबन्धसे नामरूपवान्‌के सदृश लक्षित होता है, अतः नाम और रूपके औपाधिक होनेसे वह वस्तुतः अनाम-रूपात्मक ही है ॥१४०॥

'सूक्ष्मस्थूल०' इत्यादि । 'चितः अभिव्यक्तिर्ययोस्ते ताभ्यां चिदाभाभ्याम्' अर्थात् चैतन्यप्रतिबिम्बित स्थूल और सूक्ष्म दो शरीरोंसे कूटस्थ परमात्मा भी शरीर सहित होकर शरीरीके समान लक्षित हुए। हिरण्यगर्भका शरीर अपञ्चीकृत भूतात्मक होनेसे सूक्ष्म शरीर है और विराड्का पञ्चीकृतपञ्चभूतात्मक शरीर है; अतः वह स्थूल शरीर है; उन दोनोंमें परमात्मा ही प्रतिष्ठित है। यहाँ 'अपि' शब्द एवकारार्थक है। इससे परमात्मा ही प्रतिष्ठित है, अन्य प्रतिष्ठित नहीं है, यह फलितार्थ हुआ।

शङ्का—तो क्या ब्रह्म वास्तविक संसारी है ?

समाधान—अविद्यासे ही उसका शरीरके साथ संबन्ध हुआ है, इसलिए वह शरीरवान्‌के समान कहा जाता है; वस्तुतः वह शरीरवान् है नहीं। आरोपित वस्तुमें रहनेवाले गुण और दोषका अधिष्ठानमें कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, यह अनेक बार कह चुके हैं ॥१४१॥

'स वै शरीरी' इत्यादि। वही सूत्रात्मा विराड्भावापन्न अर्थात् विराड् होकर प्रथम शरीरी, पुरुष तथा समस्त भूतोंका कर्ता कहलाता है और उसी ब्रह्मका यहाँ उपास्यत्वरूपसे निर्देश भी किया गया है।

वार्तिकमें 'ब्रह्माग्रे समवर्तत' ऐसा 'चतुर्थ चरण' लिखा है और उसकी टीकामें उक्तार्थकी पुष्टिके लिए पुराणवाक्यको प्रमाण रूपसे उद्धृत करते हैं—'स वै' इत्यादिसे। इससे यह प्रतीत होता है कि वार्त्तिककारने पुराणश्लोकका अविकल निर्देश किया है, किन्तु वार्तिकसारकारने प्रकरणके अनुसार चतुर्थ चरण बदल दिया है। अतः अपनी व्याख्यामें दोनों अर्थोंका समावेश कर यह लिखना अनुचित नहीं है कि वह उत्पन्न हुआ और वही उपास्यत्वरूपसे निर्दिष्ट है।

शङ्का—विराड भी कूटस्थ ब्रह्म ही हैं; यह पूर्वमें कह चुके हैं; फिर उनकी उत्पत्ति कैसे ?

आशनायादिमत्त्वात् स स्वभावबलचोदितः ।
हिरण्यगर्भस्तं पुत्रमत्तुं दारितवान् मुखम् ॥ १४३ ॥
भिनत्ति सर्वमर्यादां नान्वयाद्यप्यपेक्षते ।
अस्य दग्धोदरस्याऽर्थेको न कुर्यादसाम्प्रतम् ॥ १४४ ॥

---

समाधान—जैसे घटके उत्पन्न होनेपर घटाकाशकी उत्पत्तिका व्यवहार होता है, वैसे ही शरीरस्वरूप उपाधिकी उत्पत्तिसे उससे उपहित उक्त पुरुषमें भी उत्पत्तिका औपचारिक प्रयोग होता है ॥१४२॥

'अशनाया०' इत्यादि । ग्रसनस्वभाव मृत्युस्वरूप हिरण्यगर्भ क्षुधा और पिपासासे आकुल होनेके कारण हिंसास्वभावसे प्रेरित होकर ज्येष्ठ पुत्र विराड्का भक्षण करनेके लिए प्रवृत्त हुए और उन्होंने मुख बाया ।

शङ्का—ब्रह्मस्वरूप प्रजापति ( मृत्यु ) विराट् विवेकी हैं, इसमें तो सन्देह है नहीं, फिर मर्यादा-भङ्ग करनेके लिए उनकी ऐसे अतिनिन्द्य कर्ममें प्रवृत्ति क्यों हुई ?

समाधान—क्षुधा और पिपासासे व्याकुल पुरुष कौन-सा जघन्य कर्म नहीं करता । विश्वामित्र आदि महर्षियोंकी भी अभक्ष्यके भक्षणमें प्रवृत्ति हुई थी, यह पुराणपरिशीलनपरायण व्यक्तिसे छिपा नहीं है । और सदसत्-कार्यमात्र जगत्का कारण ईश्वर है, अन्यथा सर्पादिमें वह स्वभाव कहांसे आता ? इसपर भी दृष्टि दीजिए । अत्ताने याने मृत्युशब्दसे पुकारे जानेवाले प्रजापतिने अपने भक्षणके लिए अन्नकी सृष्टि की । अन्नके बिना अन्नादकी स्थिति ही असम्भव है; अतएव अन्न देखकर अत्ताका मुख बाना ठीक ही है । इस तात्पर्यसे श्रुतिने कहा है—सबका प्राण अन्न है ॥ १४३ ॥

उक्तार्थका ही स्पष्टीकरण करते हैं—'भिनत्ति' इत्यादिसे । क्षुत्पिपासासे व्याकुल मनुष्य प्रायः सदाचार-मर्यादाका भङ्ग करता है ।

शङ्का—फिर भी अत्ताको अपना स्वरूप तथा अन्नका स्वरूप तो देखना चाहिए ।

समाधान—नहीं, वह यह नहीं देखता कि यह अपने वंशका है या वंशान्तरका है, केवल यही देखता है कि वह अन्न है और मैं अन्नाद हूँ । अन्नादकी तुष्टिके लिए अन्न है; इस अभिप्रायसे कहते हैं—'को न कुर्यादसाम्प्रतम् ।' कौन क्षुधा

स्वभावप्रेरितो ह्येष प्राण्यदृष्टवशानुगः ।
रोदनोत्थरवत्रस्तः स्वभावं चिच्छिदे भयात् ॥ १४७ ॥
अत्यन्तमपि शूराणां स्वस्वभावैकहेतुतः ।
तित्तिरादिसमुत्पाते वेपथुर्जायते भयात् ॥ १४८ ॥
इत्थं विचारयामास विरतः पुत्रभक्षणात् ।
अन्नबीजं विराड्देहस्तन्न भक्ष्यं फलार्थिना ॥ १४९ ॥
विचार्य तेन बीजेन भोक्तृभोज्ये ससर्ज सः ।
अन्नयाद्या इह भोक्तारो वेदयज्ञादि भोग्यकम् ॥ १५० ॥

इत्यादि अर्थमें विश्वास करनेके लिए इस इतिवृत्तका उल्लेख श्रुतिने किया है ॥ १४६ ॥

व्याघ्र जैसे पशुओंका भक्षण करता है, वैसे मृत्युने कुमारका भक्षण क्यों नहीं किया ? इसपर कहते हैं—'**स्वभाव०**' इत्यादिसे ।

प्राणियोंकी जन्मान्तरकृत शुभ और अशुभ कर्मोंके अनुरूप ही वर्तमान जन्ममें प्रवृत्ति होती है; इसलिए मृत्युने भी पूर्वजन्मकृत कर्मवासनानुसारी हिंसास्वभावसे प्रेरित होकर भी कुमारके रोदनशब्दसे भयभीत होकर अपने हिंसास्वभावको त्याग दिया ॥ १४७ ॥

'**अत्यन्त०**' इत्यादिसे ।

शङ्का—अतिशूर-वीर प्रजापति मृत्युको भय क्यों हुआ ?

समाधान—शूरवीरको भी अतर्कित शब्द सुनकर भय होता है, यह प्रकृतिका स्वभाव है । तित्तिर पक्षिविशेषके अचानक शब्दसे वीरको भी भय होता है और वह कांप उठता है; इसी प्रकार प्रजापतिने कुमारके अचानक शब्दसे भीरु होकर अपना हिंसास्वभाव तत्कालमें छोड़ दिया ॥ १४८ ॥

'**इत्थम्**' इत्यादि । पुत्रके भक्षणसे उपरत होकर प्रजापतिने अन्नका बीज मूल कारण विराड्का देह है; अन्नार्थियोंको उसके मूलका भक्षण नहीं करना चाहिए; यह विचार किया । अभिप्राय यह है कि बीजसे प्रचुर अन्न होगा और उससे अधिक काल तक तृप्ति होती रहेगी । और बीजके स्वल्प होनेसे बहुत थोड़े समय तक कुछ तृप्ति रहेगी। इसलिए प्रचुर अन्न चाहनेवालोंको मूलका भक्षण नहीं करना चाहिए और न लोग करते ही हैं ॥ १४९ ॥

'**विचार्य**' इत्यादि । कुमारके मुखके शब्दसे भीत प्रजापतिने विराड्रूपी

स्वरूपानुपमर्देन स विराट् देवतात्मभिः ।
आत्मानं व्यभजत् स्थूलैस्त्रिधा वाय्वग्निभानुभिः ॥ १५१ ॥

श्रुतिः ॥ स ऐक्षत यदि वा इममभिमꣳस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किञ्चर्चो यजूꣳषि सामानि च्छदाꣳसि यज्ञान्प्रजाः पशून् स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वꣳ सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥ ५ ॥

---

बीजसे और उसके मुखसे उत्पन्न शब्दसे वाच्य-वाचकात्मक जगत्‌की सृष्टि की। अग्नि आदि भोक्ता हैं और वेद, यज्ञ आदि भोग्य हैं, इन दो वर्गोंमें जगत् अन्तर्भूत है ॥ १५० ॥

'स्वरूपानुपमर्देन' इत्यादि। विराट् सब देवताओंका आत्मा है; अतः विराट्‌ने स्वात्मभूत अग्नि, भानु तथा वायु देवता द्वारा अपना शरीर पूर्ववत् रखकर अपने तीन विभाग किये अर्थात् अग्नि, वायु और आदित्यकी सृष्टि की ॥१५१॥

'स ऐक्षत' इत्यादि। कुमारशब्दसे भयभीत प्रजापतिने कुमारके भक्षणसे विरत होकर विचार किया कि यदि इसकी हिंसा करेंगे, तो थोड़ा ही अन्न होगा इसलिए इसके द्वारा अधिक अन्न उत्पन्न करें, इस अभिप्रायसे कुमारकी वाणीसे शब्द नामकी और उस कुमारसे वाच्य अर्थजातकी सृष्टि की। नाम-रूपात्मक ही सब प्रपञ्च है।

शङ्का—विराड्‌की सृष्टि करनेपर स्थावरजंगमात्मक निखिल प्रपञ्चकी सृष्टि तो हो ही चुकी, फिर 'इदं सर्वम्' इत्यादिसे पुनः सृष्टि प्रतीत होती है, सो क्यों?

समाधान—यहां सर्वशब्दका संकोच कर उससे ऋगादि वेद, यज्ञ-कर्ता, पशु आदि विवक्षित हैं। प्रजापतिने स्वसृष्टमात्रके भक्षणकी इच्छा की। इसीसे 'अदिति' शब्दका निर्वचन श्रुति स्वयं करती है—'यस्मादत्ति तस्माददितेरदितित्वम्' प्रजापतिमें प्रजापतित्व है, अतएव 'अदितिर्द्यौः' इत्यादि मन्त्र है। प्रजापतिमें अदितिनामत्वरूप गुणके ध्यानका फल श्रुति कहती है—सब उपासकका अन्न होता है, जो उक्त प्रकारसे प्रजापतिमें अदितित्वको जानता है अर्थात् प्रजापति होनेपर सर्वात्मा होकर सब अन्न खाता है ॥५॥

इत्थं महाभाग एष वह्निस्तेन विराड्धिया ।
उपास्य इति संस्तौति ध्येयोऽश्वः स्तूयते तथा ॥ १५२ ॥
स विराडश्वमेधेन यजेयेति व्यचारयत् ।
विराजः प्राण उत्क्रान्तो विचारश्रमकर्शितात् ॥ १५३ ॥

'इत्थं महाभाग' इत्यादि । इस प्रकार अग्नि प्रतिष्ठित है, साक्षात् विराड्के शरीरसे अग्नि उत्पन्न हुई है, इसलिए विराड्बुद्धिसे अग्निकी उपासना करनी चाहिए । इसीलिए श्रुति अग्निकी स्तुति करती है । इसी प्रकार अश्वकी प्रजापतिबुद्धिसे उपासना करनी चाहिए, अतः अश्वकी भी स्तुति ध्यानार्थ ही है ।

शङ्का—उपासना और उसके फलका निरूपण करनेके अनन्तर इस प्रकरणकी समाप्ति ही उचित है, उत्तर ग्रन्थकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—अप्रतिष्ठितत्व और अदितित्व—इन दो गुणोंसे विशिष्ट प्रजापतिकी उपासनाके विधानके अनन्तर प्रजापति ही अश्वादि नामप्रवृत्तिके बीज हैं, इस अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए उत्तर ग्रन्थका आरम्भ करते हैं ॥ १५२ ॥

'स विराड्' इत्यादि । उस विराट्ने विचार किया कि भूयान् यागसे याने अश्वमेधनामक यज्ञसे फिर याग करें । इतर यागकी अपेक्षा अश्वमेध यागमें दक्षिणा अधिक देनी पड़ती है, इसलिए अश्वमेध भूयान् याग कहलाता है ।

शङ्का—अभी तो प्रजापतिने कोई याग किया ही नहीं, किन्तु करनेवाले हैं, फिर भूयःशब्दका प्रयोग क्यों आया ? द्वितीय बार फिर उसी कार्यको करनेके तात्पर्यसे उक्त शब्दका प्रयोग होता है ।

समाधान—प्रजापति अतीत जन्ममें अश्वमेध कर चुके हैं, वही यजमान संप्रति हिरण्यगर्भकी अवस्थामें हैं; दोनों अवस्थाओंमें अपनेको एक ही मानकर भूयः-शब्दका प्रयोग किया है, सो ठीक ही है । अतीत कालकी अश्वमेधवासना हिरण्यगर्भकी अवस्थामें भी अभिव्यक्त हुई; तदनुसार भूयःशब्द प्रयुक्त हुआ, क्योंकि कर्ता और भोक्ता अभिन्न नहीं माना जाता है ।

शङ्का—वह तो ईश्वर है और 'कष्टं कर्म' इस न्यायसे कर्म दुःखात्मक है, नित्य सुखी ईश्वरकी दुःखात्मक कर्म करनेको इच्छा क्यों हुई ?

प्राणोत्क्रान्तौ विराजोऽस्य देह उच्छूनतां गतः ।

श्रुतिः ।। सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशोवीर्यमुदक्रामत् प्राणा वै यशोवीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीर ँ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ।।६।। सोऽकामयत मेध्यं म इद ँ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूत् इति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम् ।

यतोऽश्वयत्ततोऽश्वाख्यां वैराजो देह आप्तवान् ।। १५४ ।।

समाधान—व्यवहारदशामें कार्यमात्र प्रकृतिके अधीन रहता है, इसलिए प्रकृतिवश सूत्रात्माकी भी कर्म करनेकी इच्छा हुई । फलभोक्ताकी पूर्वावस्था ( तत्कर्मकर्तृ अवस्था ) ही प्रकृति कही जाती है । पूर्वावस्थामें अश्वमेध किया था; अतः फलावस्थामें प्रजापतिकी अश्वमेधके अनुष्ठानकी इच्छा हुई । अतएव 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' यह भगवद्वाक्य भी संगत होता है। प्रजापतिने तप किया, विचारश्रमसे खिन्न प्रजापतिके प्राण निकल गये । श्रुतिमें प्राणको यश और वीर्य कहा है, क्योंकि यश और वीर्यका हेतु प्राण है; प्राणके बिना कोई यशस्वी अथवा बली नहीं हो सकता ।।१५३।।

'प्राणोत्क्रान्तौ' इत्यादि । प्राण निकल जानेपर विराट्का देह फूल उठा और अपवित्र हो गया । शरीरसे अलग होनेपर भी प्रजापतिका मन उसी शरीरमें संलग्न था । जैसे कोई आसक्त पुरुष दूर देश चला जाता है, तो भी उसका चित्त प्रिय वस्तुमें लगा ही रहता है, वैसे प्रजापतिका मन उक्त शरीरमें था। विराट्का देह ( यतोऽश्वयत् , अतः ) अश्व नामक हुआ । प्रजापतिके शरीरमें अश्वशब्दकी प्रवृत्तिका बीज यही निर्वचन है । देहतादात्म्यसे प्रजापति भी अश्व कहे जाते हैं ।

शङ्का—प्राण निकलनेपर प्रजापतिका मन शरीरमें क्यों संलग्न था ?

समाधान—तत्त्वज्ञान तो उसे था नहीं, इसलिए फिर शरीरमें आनेके लिए शरीर ही में मन लगा रह गया, अतएव भगवान्‌ने कहा है—'सदा तद्भावभावितः' ।

शङ्का—फिर भी त्यक्तका पुनः परिग्रह करना तो उचित नहीं है ।

समाधान—असमीचीन ज्ञानसे ऐसे कार्योंमें प्रवृत्ति होती है ।

शङ्का—अच्छा, मान लिया कि प्रजापतिका मन उस शरीरमें संलग्न था । फिर क्या हुआ ? ।। १५४ ।।

सोऽकामत मेध्यं मे शरीरं स्यादिति प्रभुः ।
कामयित्वा विवेशाऽस्मादमेध्यं मेध्यतामगात् ॥ १५५ ॥
अश्वयन्मेध्यमभवदश्वमेधस्ततो विराट् ।
अश्वाश्वमेधौ स्तूयेते ज्ञानकर्मप्रवृत्तये ॥ १५६ ॥
अश्वाश्वमेधवह्नीनामर्थवादेन संस्तवात् ।
ज्ञानकर्मविधानेन तस्य स्यादेकवाक्यता ॥ १५७ ॥
इति वार्तिकसारे प्रथमाध्याये द्वितीयमग्निब्राह्मणं समाप्तम् ॥

समाधान—'सोऽकामयत' इत्यादिसे। उस प्रभु विराड्की इच्छा हुई कि मेरा शरीर पवित्र हो जाय; ऐसी कामना करके वे फिर उसी शरीरमें प्रविष्ट हुए। प्रजापतिके पुनः प्रवेशसे अपवित्र उक्त शरीर फिर पवित्र हो गया। अशरीरको कामना कैसे हुई? यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रजापति समर्थ हैं, इसलिए अशरीरको भी कामना होनेमें कोई आपत्ति नहीं है। प्राकृत प्राणियोंमें ही उक्त नियम है। अश्वकी पजापतिरूपसे स्तुति की गई है, इसलिए वह उपास्य है, यह फलित अर्थ हुआ ॥१५५॥

शङ्का—उक्त निर्वचनसे अश्व प्रजापतिस्वरूप हो सकता है, फिर भी अश्वमेध यज्ञ प्रजापतिस्वरूप कैसे कहा जा सकता है?

समाधान—'अश्वयत्' इत्यादिसे। शरीर और प्राणके वियोगसे 'अश्वयत' प्राणके प्रवेशसे मेध्य हुआ, अतः प्रजापतिका शरीर अश्वमेध कहा जाता है। और देहके तादात्म्यसे प्रजापति भी अश्वमेध कहलाते हैं। अश्वमेध याग और अश्वकी उपासना—इन दोनोंमें पुरुष की प्रवृत्ति हो, इसलिए अश्वमेध याग और उसके अङ्गभूत अश्व—इन दोनोंकी स्तुति की गई है।

शङ्का—उक्त यागका अङ्ग अश्व और अश्वमेधयागात्मक अग्नि—इन दोनोंकी स्तुति और उपासना पूर्वमें कह चुके हैं; फिर 'एष ह वा अश्वमेधम्' इत्यादि उत्तर ग्रन्थका आरम्भ क्यों हुआ?

समाधान—उक्त अश्वकी उपासना तथा 'नैवेह' इत्यादिसे उक्त अग्निकी उपासना—ये दोनों भिन्न-भिन्न कर्म नहीं हैं, किन्तु एक ही कर्म है, इस अर्थकी सिद्धिके लिए उत्तर ग्रन्थका आरम्भ है अर्थात् 'एष ह' से 'भवति' पर्यन्त श्रुतिका आरम्भ है ॥१५६॥

'अश्वाश्वमेध०' इत्यादि। अश्व, अश्वमेध और अग्नि—इन तीनोंकी अर्थवादसे स्तुति की गई है, अतः ज्ञान ( उपासना ), कर्म ( अश्वमेध याग ) इन

श्रुतिः ॥ एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद तमनवरुद्ध्येवामन्यत त२ संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत पशून् देवताभ्यः प्रत्यौहत् तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते ।

---

दोनोंका विधान है, इसलिए दोनों ब्राह्मणोंकी एकवाक्यता है। यदि भिन्न वाक्य होते, तो ये दो कर्म स्वतन्त्र होते। एकवाक्यताके न होनेपर ही तो अनेक वाक्य माने जाते हैं। प्रकृतमें एकवाक्यता होती है, इसलिए एक ही उपासना मानना समुचित है।

शङ्का—दोनों उपासनाएँ स्वतन्त्र क्यों नहीं हैं?

समाधान—पूर्व वाक्योंमें विधायक पद नहीं हैं, इसलिए पदोंकी संगति नहीं बनती। इसलिए विधिविशिष्ट उत्तर वाक्यकी प्रवृत्ति हुई।

शङ्का—पूर्व वाक्यमें भी तो 'अदितित्वं वेद' यह विधि स्पष्ट ही है, फिर विधि नहीं है, यह क्यों कहते हो?

समाधान—हां है, किन्तु गुणविधिमात्र है, प्रधानविधि नहीं है। प्रधानविधि 'अश्वमेधं वेद' यही है। पूर्व वाक्यमें विधि नहीं है, यह कहनेका तात्पर्य यह है कि वह प्रधान विधि नहीं है। 'एष ह वा' इत्यादि श्रुतिका अर्थ यह है—जो कोई उपासक प्रजापतिरूप अश्व और अग्निको वक्ष्यमाण प्रकारसे पूर्णतया जानता है, वही अश्वमेध जानता है, अतः विहित प्रकारसे ही जानना चाहिए। अश्वदर्शन इस प्रकार है प्रजापति ने अपने शरीरकी सकलकाललोकादि धर्म विशिष्ट अश्वरूपसे कल्पना की।

शङ्का—क्यों ऐसी कल्पना की?

समाधान—फिर अश्वमेध यज्ञ करें, इस संकल्पसे अपने देहमें अश्वकी कल्पना की।

शङ्का—अश्वमेध तो प्रजापतिदेवतात्मक है, प्रजापति स्वयं देवता हैं उनसे अन्य दूसरा प्रजापति देवता है ही नहीं, इसलिए उनका उक्त यागमें अधिकार ही नहीं, फिर उनकी प्रवृत्ति क्यों हुई?

समाधान—उपासनाके लिए यह अर्थवाद है, वस्तुतः उक्त याग करनेमें प्रवृत्ति हुई, यह तात्पर्य नहीं है।

शङ्का—अच्छा तो उक्त संकल्पके बाद उन्होंने क्या किया?

समाधान—सकललोकात्मक उक्त अश्वको बे-रोक-टोक एक वर्ष तक छोड़ दिया।

शङ्का—फिर ?

समाधान—एक वर्षके बाद आत्माके लिए उसका आलम्भन किया और उक्त प्रजापतिने स्वांशभूत अग्न्यादि देवताओंको शास्त्रविधिके अनुसार ग्रामीण पशु ( अजा आदि ) और आरण्य ( जङ्गली गवय आदि ) पशु दिये। भाव यह है कि जैसे प्रजापतिने उपासना की है, वैसे ही दूसरोंको भी उपासना करनी चाहिए। पर विरक्त और मुमुक्षु इस उपासनाके अधिकारी नहीं है, क्योंकि वे प्रजापतित्व रूप फलकी प्राप्तिसे भी विरक्त हैं और प्रतीकमें अहंग्रहके भी अधिकारी नहीं हैं। प्रजापतिकी उक्तिके अनुसार ही याज्ञिक लोग भी प्रजापतिके कार्य ही हैं; इसलिए प्रोक्षित ( मन्त्रपूत ) जलसे संस्कृत घोड़ेको सर्वदेवत्य तथा प्राजापत्य मानकर उसका आलम्भ न करते हैं। सर्वदैवत्य होनेमें हेतु है—प्राजापत्य—प्रजापति सर्वदेवात्मक हैं। इस प्रकार उपासना कहकर उसका फल कहते हैं—जो उपासना द्वारा मनसे संपादित उक्त अश्व और अग्नि—इन दो साधनोंसे अश्वमेध होता है और जो बाह्य अश्व और अग्नि—इनसे भी अश्वमेध होता है, इन दोनों मानसिक और कायिक यज्ञोंके फल सविता ( सूर्य ) ही हैं। उक्त सूर्य ही की संवत्सररूपसे भावना करनी चाहिए।

शङ्का—अश्वमेधका फल रूप सविता कौन है ? सूर्यमण्डल अथवा उसके देवता।

समाधान—देवता।

शङ्का—संवत्सर आदित्यका आत्मा कैसे है ?

समाधान—सूर्य कालसे परिच्छिन्न है, अतएव कालसे भिन्न नहीं है। आदित्यके उदय और अस्तसे क्रमशः दिन और रात्रि बनती है और तीस दिनका मास होता है और तीन सौ साठ दिनका संवत्सर होता है, इस परंपरासे संवत्सरका निर्माता सूर्य है। निर्माता और निर्मेयका तादात्म्य उचित ही है। अश्वमेध अर्क है, यह कहकर अग्नि भी अर्क है, यह श्रुति कहती है। 'अयमग्निरर्कः' इति—अभिप्राय यह है कि पार्थिव संस्कृत अग्नि क्रतुका अङ्ग है, यह 'तेजोरसो निरवर्ततााग्निः' इस श्रुतिने कहा है, सो अग्नि फलात्मा अर्क ही है अथवा अर्कशब्दसे अग्निका ही निर्देश है, अग्नि ही सविता है।

**एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्मा अयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवति एतासां देवतानामेको भवति ॥७॥**

**इत्युपनिषदि द्वितीयमग्निब्राह्मणं समाप्तम् ।**

शङ्का—पूर्वोक्त अग्निको आदित्य क्यों कहते हो ? संस्कृत अग्नि अन्य है और आदित्यरूप अग्नि अन्य है, यही क्यों न कहा जाय ?

समाधान—'तस्य प्राची' इत्यादि वाक्यसे लोकात्मक अग्निमें जिस चित्यत्वका पूर्वमें निर्देश किया गया है, उसी लोकात्मकत्वको यहां भी कहते हैं, इसलिए इसी अग्निमें आदित्यत्व इष्ट है, यह श्रुतिवाक्यसे स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः वही ग्राह्य है, अर्थान्तर ग्राह्य नहीं है ।

शङ्का—आदित्य अश्वमेध है, यह पूर्वमें कहा गया है; अश्वमेधका हेतु अग्नि है; इस परिस्थितिमें आदित्य और अग्नि—ये दोनों साध्य—साधन स्वरूप ही होंगे अर्थात् अश्वमेधका साध्य फलात्मा आदित्य है और साधन संस्कृत चित्य अग्नि है; फिर इन दोनोंका अभेद कैसे ?

समाधान—क्रतुफलात्मा सविता और क्रतुसाधनात्मा चित्य अग्नि—ये दोनों उपासनाके लिए भिन्नव्यापारशील हैं, यह कहनेपर भी वस्तुतः दोनों प्राणाख्य देवता एक ही हैं; भिन्न नहीं हैं; इस अभिप्रायसे श्रुति कहती है—'सा पुनरेकैव देवता भवति ।'

शङ्का—कौन एक देवता है ?

समाधान—'मृत्युरेव' मृत्युको ही अशनाया और पिपासासे युक्त स्थूल प्रपञ्चका संहार करनेवाली जो प्राणाख्य देवता उपासनाके लिए पूर्वमें कही गई है; वही उपासनावान् पुरुषकी आत्मा है ।

शङ्का—क्षुधा और पिपासासे संयुक्त प्राणाख्य देवता यदि उपासककी आत्मा होगी, तो क्षुत्पिपासायुक्त पुरुष अतिदुःखी होगा; इसलिए यह उपासना ही अनर्थकरी है; अतः इस उपासनामें किस सचेताकी प्रवृत्ति होगी ? अर्थात् किसीकी नहीं होगी, अतः यह उपासना व्यर्थ है ।

समाधान—मृत्युका आत्मा निरुपाधिक होनेसे अजर, अमर तथा नित्यानन्द-स्वरूप परमात्मा ही है, यदि उपासकका भी वही आत्मा होगा; तो सब उपद्रवोंसे रहित परम सुखी क्यों न होगा, इसलिए परमपुरुषार्थहेतुक होनेसे प्रकृत उपासना आवश्यक है ।

शङ्का—इस उपासनाका परमपुरुषार्थ फल कैसे होगा? इसका फल तो मृत्यु-स्वरूपकी प्राप्ति कहते हैं; जैसे आत्माके साथ संबन्ध होनेसे देह नष्ट होती है, वैसे आत्माके साथ उक्त संबन्धका भी नाश होगा, फिर आत्मा भी विनश्वर हो जायगा ?

समाधान—नहीं, आत्माका नाश नहीं होता; वह तो अमर है, यह कह-चुके हैं ।

शङ्का—तो आत्मवान् मृत्युके संबन्धसे उपासकका शरीर भी नष्ट नहीं होगा; तो अशरीरत्व ही व्याहत हो जायगा ?

समाधान—प्राणात्मारूपसे अवस्थित उपासक विद्वान् प्रारब्ध कर्मके भोगके अनन्तर वर्तमान शरीरका त्याग तो अवश्य करता ही है; किन्तु सब सम्बन्धोंका विच्छेद होनेसे फिर मरणार्थ शरीरान्तर धारण नहीं करना पड़ता, इस तात्पर्यसे श्रुति कहती है—मृत्युस्वरूप होता है, फिर मृत्युको जीत लेता है, फिर नहीं मरता । और अग्नि आदि सम्पूर्ण देवताओंका आत्मा ( अभिन्न ) हो जाता है, अर्थात् एक हो जाता है ।

वार्तिकसारके भाषानुवादमें द्वितीय अग्निब्राह्मण समाप्त ।

आध्यात्मिकपरिच्छेदं परित्यज्याधिदैविके ।
रूपे स्वरूपबुद्धिर्या सा तत्प्राप्तिरितीर्यते ॥ २ ॥

निर्णयके लिए ही उत्तर ब्राह्मणका अवतार है—इन दोनोंमें हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है ।

'तृतीये' इत्यादि । हिरण्यगर्भकी प्राप्तिके लिए शुद्धि आदि गुणसे युक्त प्राणकी उपासनाका तृतीय ब्राह्मणमें निरूपण करते हैं ॥ १ ॥

'आध्यात्मिक०' इत्यादि । देहपरिच्छेदके अभिमानका त्याग कर आधिदैविक अग्न्यादि देवताके स्वरूपमें अपने स्वरूपकी बुद्धि ही 'तत्प्राप्ति' शब्दसे यहां इष्ट है । तात्पर्य यह है कि उक्त प्रजापतिकी दो प्रकारकी सन्तान हैं—एक देवता और दूसरे असुर । प्रजापतिके प्राण और वागादि दश इन्द्रियां मन, बुद्धि ये ही अपत्यत्वरूपसे विवक्षित हैं। शास्त्रजन्य ज्ञान और कर्मसे भावित वागादिवृत्तियां देवता हैं । और वे ही स्वाभाविक कर्म-ज्ञानसे भावित असुर हैं । 'असुषु स्वेषु रमन्ते इति असुराः' यह असुर शब्दकी व्युत्पत्ति है । इन देवासुरोंको शास्त्रीय और लौकिक कार्यमें परस्पर स्पर्द्धा होने लगी । देवताओंने चाहा कि शास्त्रीय कर्म करें और असुरोंने चाहा कि जिस कार्यसे वर्तमान कालमें सुख हो वही करें, शास्त्रकी इसमें क्या आवश्यकता है ? इस परिस्थितिमें कभी देवता विजयी होते थे, तो शास्त्रीय कर्मानुष्ठान होता था और जब केवल लौकिक सुखार्थ प्रवृत्ति होती तो असुरोंकी विजय होती थी । देवोंकी विजयका ऊँचासे-ऊँचा फल प्रजापतित्वकी प्राप्ति है और असुरोंकी विजयका फल नीचेसे नीचा स्थावरत्व प्राप्ति है । दोनोंके समान होनेपर मनुष्यत्वकी प्राप्ति होती है । किन्तु देवता थोड़े थे और असुरोंकी संख्या बहुत अधिक थी, इसलिए देवताओंका अधिक पराजय होता था । बार-बार पराजय होनेपर देवताओंने विचार किया कि बिना प्रकर्षके हम लोग विजयी नहीं हो सकेंगे, अतः उद्गीथ कर्म द्वारा असुरोंका पराजय कर अपने वास्तविक देवस्वरूपको प्राप्त करें, इस प्रकार देवताओंका परस्पर परामर्श निश्चित हुआ । उद्गीथ कर्मसे यहां मन्त्र-जप विविक्षित है, जो आगे कहेंगे । तदनन्तर वागभिमानी देवतासे देवोंने कहा कि हम लोगोंके कल्याणके लिए औद्गात्र कर्म करो । वागने कहा अच्छा, और उद्गान किया ।

शङ्का—किसका उद्गान किया ?

समाधान--जिस वदनादिव्यापारसे वागादि समुदायको सुखविशेष होता है, उसीका उद्गान किया। किन्तु केवल देवतार्थ उद्गान न कर अपने स्वार्थके लिए भी उद्गान किया। नौ स्तोत्रोंका पवमान होता है। तीन पवमानोंसे सबके भोगके लिए गान किया और नौ स्तोत्रोंसे केवल अपने फलके लिए—'वाचि यो भोगस्तम्' इत्यादि श्रुतिसिद्ध कल्याण भोगके लिए--उद्गान किया। वाक् इन्द्रियने स्वार्थके लिए उद्गान किया था, इससे असुरोंको विघ्न करनेका अवसर मिला। असुरोंने आपसमें विचार किया कि देवता लोग शास्त्रजनित कर्मवासनासे हम असुरोंका अतिक्रमण करना चाहते हैं, इससे हम लोगोंका बड़ा अनिष्ट होगा; अतः इसका प्रतीकार अवश्य करना चाहिए। वैसा विचार करनेके बाद उद्गान करनेवाली वाक्के पास पहुँच कर उन्होंने स्वाभाविक स्वविषयासङ्गलक्षण पापसे उसको विद्ध किया, अतः वाक् वैदिक कर्मसे पराङ्मुख हुई। वाक् कर्मेन्द्रियमात्रका उपलक्षण है। एवं घ्राण आदि ज्ञानेन्द्रियोंने भी पूर्ववत् पापविद्ध होकर अपने-अपने श्रेयःकर्मका त्याग कर दिया। यहां इन्द्रियोंकी निन्दाका तात्पर्य यह है कि कल्याणार्थियोंको इन्द्रियोंकी उपासना न करनी चाहिए। इस प्रकार इन्द्रियोंसे निराश होकर उक्त देवताओंने आसन्य प्राणसे कहा और आसन्य प्राणने उद्गीथका गान किया। उस समय भी असुरगण प्राणको पापसे संयुक्त करनेके लिए पहुँचे, पर पत्थरके ऊपर फेंके गये मिट्टीके ढेलेके समान स्वयं असुर ही चूर-चूर हो गये। असुरोंका नाश होनेपर वागादि इन्द्रियां अपनेको अग्न्यादि देवतास्वरूप समझने लगीं। देवतारूप तो पहले भी थीं; किन्तु पापके संसर्गसे पिण्डाभिमानी होकर अपनेको भूल गई थीं। प्रतिबन्धककी निवृत्ति होनेपर उन्हें अपने वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान हुआ। जैसे वागादि इन्द्रियसमुदायरूप यजमान प्राणात्म-भावनासे अपने पिण्डमात्रपरिच्छिन्नाभिमानका त्यागकर विराट्स्वरूप हो जाता है; वैसे प्राणोपासक भी प्राणात्मभावनासे पिण्डपरिच्छेदके अभिमानका त्याग कर विराट्स्वरूप होता है।

शङ्का—विराड् तो लोकसमष्टि होनेसे अचेतन है, इसलिए वह उपास्य नहीं हो सकता और अविराड्भाव फल भी नहीं हो सकता, क्योंकि चेतन उपासक अचेतनात्मा कैसे होगा?

समाधान---देवताविग्रह (सकलदेवतात्मक) विराडात्मा क्रियाशक्तिकी प्रधानतासे प्राण कहलाता है और ज्ञानशक्तिकी प्रधानतासे हिरण्यगर्भ

अश्वाग्न्युपासनस्याऽपि फलमेतन्न चेतरत् ।
तथाप्युपास्यभेदेन भिन्नैवोपास्तिरिष्यते ॥ ३ ॥
एकत्वेऽपीश्वरस्याऽस्य गुणभेदेन भिन्नता ।
स्थूलसूक्ष्मशरीराख्यौ विराट्प्राणौ हि तौ गुणौ ॥ ४ ॥
पूर्वस्य स्थूलमुख्यत्वमिह सूक्ष्मस्य मुख्यता ।
तथा च सूक्ष्मदेहोत्थाद्भवेत् स्थूलाद्विवेचितः ॥ ५ ॥

---

कहा जाता है, वह चैतन्याभासविशिष्ट है; इसलिए उपासना और तथाकथित उसका फल यहाँ ठीक है। उक्त फलप्राप्ति भी औपचारिक है। वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप जीव अज्ञानवश अपनेको भिन्न मानता है। तत्त्वज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर ब्रह्मस्वरूपका अनुभव करता है। यह प्रकार जीव और हिरण्यगर्भके स्वरूपके विषयमें नहीं है। यह विषय इसलिए संक्षेपसे लिखा है कि इसपर आगे विचार किया जायगा ॥ २ ॥

'अश्वाग्न्य०' इत्यादि। अश्व और अग्निकी उपासनाका भी यही फल है, अतिरिक्त नहीं।

शङ्का—यदि दोनों उपासनाओंका एक ही फल है, तो उपासनाओंका भेद क्यों मानते हो ?

समाधान—उपास्य प्राणात्मा हिरण्यगर्भ और अश्वाग्निशरीर विराडात्मा—ये दोनों उपास्य भिन्न हैं, इसलिए उपासना भी भिन्न है, अतएव सायुज्य फलकी प्राप्ति समान होनेपर भी मनोमयत्व आदि गुणोंके भेदसे परमात्माकी उपासना भिन्न-भिन्न मानी जाती है, यह सिद्धान्त माना गया है ॥ ३ ॥

'एकत्वेऽपीश्वर०' इत्यादि। ईश्वरकी उपासनाके समान प्रकृतमें स्थूलशरीरवाला विराट् और सूक्ष्म शरीरवाला सूत्रात्मा प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भ—इन दोनोंके गुणोंके भेदसे प्रकृत उपासना भी भिन्न ही है; एक नहीं है। अन्यथा सायुज्यफलक और क्रममुक्तिफलक विविध गुणोंसे विशिष्ट उपासनाओंमें भी एकत्वापत्ति हो जायगी, जो इष्ट नहीं है ॥ ४ ॥

'पूर्वस्य स्थूल०' इत्यादि। पूर्वकी उपासनामें स्थूल शरीर प्रधान है, और उत्तरकी उपासनामें सूक्ष्म शरीर प्रधान है, इस प्रकार स्थूलसे सूक्ष्मका विवेचन होता है। समष्टिशरीराभिमानी विराट्का मूल सूक्ष्म-शरीरात्मा हिरण्यगर्भ है; हिरण्यगर्भका मूल अव्यक्त ब्रह्म है, मायाके मोहापरनामक सूक्ष्मरूपसे रहित शुद्ध ब्रह्म अव्यक्त

आत्मविद्याधिकारेऽस्मिन्नुपास्त्यादि यदुच्यते ।
तद्विवेकोपयोग्येव तस्मात्प्राणो विविच्यते ॥ ६ ॥
स्थूलस्य सुविवेचत्वादादौ मन्दं प्रतीरितम् ।
उत्तमं प्रत्यसौ प्राणो दुर्विवेचो विविच्यते ॥ ७ ॥
पौर्वापर्यमतो युक्तं विराट्प्राणाख्यविद्ययोः ।
मुख्यं प्राणमुपासीत शुद्ध्यादिगुणसंयुतम् ॥ ८ ॥

---

कहा जाता है । शुद्ध ब्रह्मके यथार्थ ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति द्वारा कैवल्यकी प्राप्ति होती है; अतः मोक्षार्थी स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी विवेचना द्वारा शुद्ध ब्रह्मका जिज्ञासु होता है । इसीके लिए प्रकृतमें दोनों उपासनाएँ बतलाई गई हैं । दोनों उपासनाओंका फल परम पुरुषार्थ ही है । यही क्रम-मुक्तिका साधन है ॥५॥

'आत्मविद्या०' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मविद्याके ( ब्रह्मविद्याके ) अधिकरणमें विराट् हिरण्यगर्भकी उपासनाका विधान करनेका अभिप्राय क्या है ?

समाधान—प्रकृत उपासनाका तात्पर्य यह है कि उपासनासे ही उपास्यके तत्त्वका साक्षात्कार होता है । जो जिस स्वरूपकी उपासना करता है, उसको उस तत्त्वका साक्षात्कार होता है । जब उक्त उपासना द्वारा उक्त तत्त्वका साक्षात्कार होगा, तब यह स्पष्ट प्रतीत होगा । इन दोनोंमें वस्तुतः उपाधि-मात्रका भेद है, मूल तत्त्व एक ही है एवं प्राणात्मा हिरण्यगर्भ भी अपञ्चीकृत पञ्चभूतोपाधिमात्रासे भिन्न कहे जाते हैं, वस्तुतः मूल तत्त्व ब्रह्म ही है । इस प्रणालीसे ब्रह्मका यथार्थ स्वरूप ( विवेक ) ज्ञात होता है, अतः यह विवेक ब्रह्मविवेकका सर्वथा उपयोगी है, इसलिए प्राणका विवेक आगे किया जाता है ॥६॥

'स्थूलस्य' इत्यादि । स्थूलका विवेक मन्दबुद्धियोंको स्वल्प प्रयत्नसे हो जाता है, इसलिए प्रथम स्थूल स्वरूपका विवेचन किया, उसके बाद जिनकी उक्त विचारसे कुशाग्र बुद्धि हो जायगी या प्राचीन सुसंस्कारसे जो जन्मसे ही कुशाग्रबुद्धि हैं, उन अधिकारियोंके लिए, निरूपणसे पूर्व जिसका विवेचन नहीं हो सकता है, ऐसे सूक्ष्म उपाधिसे युक्त प्राणका विवेक करते हैं ॥ ७ ॥

'पौर्वापर्यमतो' इत्यादि । अधिकारियोंके अनुरोधसे ग्रन्थका विषय होना चाहिए, इसलिए पूर्वमें स्थूलोपाधि अतएव सुविवेक विराट्का विवेक

**वागादयो न शुद्धाः स्युर्विषयासङ्गदूषिताः।**
**मुख्यप्राणस्तु शुद्धः स्याद्विषयासङ्गवर्जनात् ॥ ९ ॥**

कर पश्चात् सूक्ष्म दुर्विवेक प्राणका विवेक किया। इन विद्याओंमें पौर्वापर्य—पूर्वोत्तरभाव—समुचित ही है। मुख्य (आसन्य) प्राणकी उपासना करनी चाहिए।

शङ्का— प्राणशब्दसे तो वागादि इन्द्रियोंका भी ग्रहण होता है, फिर आसन्य (मुख्य) प्राणकी ही उपासना प्रकृतमें विवक्षित है, इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—वागादि इन्द्रियां स्वाभाविक विषयासङ्गसे दूषित हैं और मुख्य प्राणमें उक्त दोषका संपर्क नहीं है, इसलिए उक्त प्राण विशुद्धि आदि गुणोंसे युक्त है, जो आगेके मन्त्रोंसे स्पष्ट है, इस अभिप्रायसे 'शुद्ध्यादिगुणसंयुतम्' यह मुख्य प्राणका विशेषण कहा गया है। शुद्धि आदि गुण द्वारा मुख्य प्राणकी प्रशंसा और उक्त दोष द्वारा इन्द्रियोंकी निन्दा श्रुतिने स्वयं की है। निष्प्रयोजन स्तुति और निन्दा समुचित नहीं होती, इसलिए ग्रहणके लिए स्तुति और त्यागके लिए निन्दा की जाती है। अतः उन श्रुतियोंका तात्पर्य 'प्राणकी उपसना करनी चाहिए, वागादि गौण प्राणोंकी उपासना नहीं करनी चाहिए' इसीमें है। तात्पर्यविषय अर्थमें ही शब्द प्रमाण माना जाता है ॥ ८ ॥

**'वागादयः'** इत्यादि। रूप, स्पर्श आदि विषयोंके आसङ्गसे वागादि गौण प्राण दूषित हैं, शुद्ध नहीं हैं और उक्त दोषरहित मुख्य प्राण शुद्ध है और शुद्धकी ही उपासना करनी चाहिए, दूषितकी नहीं, यह सारांश है।

शङ्का—'द्वया ह' इत्यादि श्रुति ज्ञानका निरूपण नहीं करती है, किन्तु वक्ष्यमाण अभ्यारोह-जप-विधिकी शेष होनेसे अर्थवाद है।

समाधान—'य एवं वेद' इत्यादि वाक्यसे विहित प्राणोपासनाका बोधक ही उक्त वाक्य है, जपविधिका शेष नहीं है, वेदन और उपासना ये पर्यायवाची शब्द हैं, यह पूर्वमें कह चुके हैं।

शङ्का—अच्छा उक्त श्रुतिवाक्य जपविधिशेष मत हो, किन्तु औद्गात्र कर्मके प्रस्तावकी सन्निधिमें पुराकल्पका 'द्वया ह' इत्यादि वाक्यसे श्रवण है, इसलिए उस विधिका शेष है, ज्ञाननिरूपणपरक नहीं है।

समाधान—यदि उक्त कर्म विधिशेष होता, तो कर्मके प्रकरणमें इसका पाठ होता, क्योंकि कर्मकाण्डोपयोगियोंका ही कर्मकाण्डमें पाठ अपेक्षित है और इसका पाठ ज्ञानकाण्डमें है, अतः प्रकरणके भेदसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि

यह ज्ञानोपयोगी है, कर्मोपयोगी नहीं है। यद्यपि जपविधि समान प्रकरणमें है, तथापि उसका शेष न होनेमें यह भी कारण है कि प्राणकी स्तुति और वागादिकी निन्दाका श्रवण है, इसलिए प्राणोपासनाकी विधि स्पष्ट है।

शङ्का—अर्थवादसे विधिकी कल्पना कहीं देखी जाती है ?

समाधान—हां 'आयुर्वै घृतम्' 'यस्य पर्णमयी जुहुः' इत्यादि वाक्योंसे स्तुतोंकी विधि स्पष्ट है, इसलिए यहां भी स्तुतिसे विधिकी कल्पना मानी जाती है और यह भी कारण है कि प्राणकी उपासनाका फल 'मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते' इस वचनसे स्पष्ट रूपसे निर्दिष्ट है।

शङ्का—इन्द्रियादिके विषयमें यह तो अवश्य कहा गया है कि प्रकृत उपासनासे वागादि अग्न्यादिस्वरूप हो जाते हैं और अग्न्यादि देवात्मक होनेपर अमर हो जाते हैं, परन्तु प्राणात्मा हिरण्यगर्भरूप फलकी प्राप्ति उन्हें होती है, यह कहां कहा गया है ?

समाधान—जैसे प्राणकी उपासना कर वागादि वास्तविक स्वस्वरूपापन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणोपासक भी वास्तविक हिरण्यगर्भस्वरूपापन्न हो जाता है; दृष्टान्तमें भी उपासना द्वारा हिरण्यगर्भकी प्राप्ति अवश्य होती है, इसलिए उस फलकी प्राप्तिमें उसकी उपासना निमित्त है।

शङ्का—अदुष्ट प्राणकी उपासनाकी विधि हो सकती है; लेकिन प्राण विशुद्धि आदि गुणोंसे विशिष्ट है, इसमें क्या प्रमाण है ? क्योंकि उपासना आरोपित गुणसे भी हो सकती है और उक्त वाक्यका उपासनाविधिमें तात्पर्य होनेसे विशुद्ध्यादि अर्थमें तात्पर्य नहीं हो सकता ?

समाधान—जिस प्रकार प्राणकी उपासनामें उक्त वाक्यका तात्पर्य है; उसी प्रकार विशुद्ध्यादि गुणमें भी अवान्तर तात्पर्य है। उपासना, उपास्य और गुणवत्प्राण—ये तीनों समान ही प्रमाणसे सिद्ध हैं। उदाहरणके लिए देवताधिकरणका स्मरण कीजिये, वहांपर भाष्यकारने सिद्धान्त किया है कि विग्रहप्रत्यायक देवताके स्तावक मन्त्रोंसे देवता विग्रहवती है; यह सिद्ध होता है। मीमांसकोंने कहा कि नहीं, उन मन्त्रोंका तात्पर्य देवताओंकी स्तुतिमें है, विग्रहमें नहीं, इसका उत्तर है—जिन मन्त्रोंके वाच्यार्थमें प्रमाणान्तरका विरोध होता है; जैसे 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादि, उनका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है; किन्तु स्तुतिमें ही तात्पर्य माना जाता है और जिनके अर्थमें प्रमाणसे बाध नहीं है, जैसे

मुख्यप्राणोऽहमस्म्येष आसुरैरप्रधर्षितः ।
हिरण्यगर्भदेवस्य त्रीणि रूपाणि सन्ति मे ॥ १० ॥
अयास्य इति नामैकं तथाऽऽङ्गिरस इत्यपि ।
दूरित्येतानि नामानि तेषामर्थो मयि स्थितः ॥ ११ ॥

'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि, उनका स्तुतिमें महा तात्पर्य है; और अवान्तर तात्पर्य वाच्यार्थमें भी माना जाता है। दो अर्थोंमें महातात्पर्य माननेपर वाक्यभेदका भय रहता है; यहांपर वाच्यार्थमें प्रमाण-विरोध न होनेसे प्राणोपासनाके विधायक मन्त्रोंका विशुद्ध्यादि गुणसे विशिष्ट प्राणकी उपासनामें तात्पर्य है, इसलिए दोनोंमें निर्दिष्ट मन्त्र ही प्रमाण है। निष्कर्ष यह निकला कि भूतार्थवादोंका स्वार्थमें प्रामाण्य माना जाता है; अभूतार्थवादोंका नहीं।

शङ्का—प्रमाणान्तरका संवाद भी तो नहीं है?

समाधान—शास्त्रीय अर्थमें प्रमाणान्तरके संवादकी अपेक्षा नहीं है, जैसे आसन्यत्वादि गुण प्राणमें मिथ्या नहीं हैं, वैसे विशुद्ध्यादि गुण भी सत्य ही हैं।

शङ्का—प्राणमें आसन्यत्वादि जैसे प्रमाणान्तरयोग्य है; वैसे ही विशुद्ध्यादि गुण भी प्रमाणान्तरयोग्य होना चाहिए। विशुद्ध्यादिः प्रमाणान्तरयोग्यः, प्राणगुणत्वात्, आसन्यत्ववत्, इस अनुमानसे विशुद्ध्यादि भी प्रमाणान्तर-योग्य होना चाहिए?

समाधान—उक्त अनुमानमें श्रुतिमात्रागम्यत्व उपाधि है। विशुद्ध्यादि गुण श्रुतिमात्रगम्य होनेसे धर्मादिके समान प्रमाणान्तरयोग्य नहीं हैं, इसलिए—इन अर्थोंमें संवादकी अपेक्षा नहीं है। और समीचीन रजतज्ञानसे रजतप्राप्ति लोकमें दृष्ट है, विपरीत ज्ञानसे वास्तविक अर्थका लाभ नहीं होता। प्रकृतमें विशुद्ध्यादि गुणविशिष्ट प्राणका ज्ञान समीचीन है; अतः उसका फल (मृत्युभावातिक्रमणप्राप्ति) भी समीचीन होगा, उक्त फलकी प्राप्तिमें प्रमाणका विरोध न होनेसे सत्य मानते हैं, तो विशुद्ध्यादि गुण भी प्राणमें वस्तुतः हैं ही, इत्यादि विस्तर वार्तिकमें देखिए ॥ ९ ॥

'मुख्यप्राणो' इत्यादि। असुरोंसे अपराजित यह [प्राण समझने लगा कि] आसन्य मुख्य प्राण मैं ही हूँ और हिरण्यगर्भ देवताके तीन रूप मुझमें हैं ॥१०॥

'अयास्य' इत्यादि। अयास्य, यह एक नाम, आङ्गिरस, यह दूसरा नाम और दूर्, यह तीसरा नाम, इन तीनों नामोंका अर्थ मुझमें स्थित है ॥ ११ ॥

अयमास्येऽन्तरस्तीति देवा मां प्राणमूचिरे ।
तेनाऽयास्योऽभवं सर्वप्राणिवक्त्रस्थितत्त्वतः ॥ १२ ॥

'अयमास्ये' इत्यादि । वागादि गौण प्राणोंने आत्मस्वरूप प्राणकी उपासना करके पिण्डमात्र-परिच्छिन्नत्वाभिमानका त्याग कर अपरिच्छिन्न देवतास्वरूपकी प्राप्तिके अनन्तर स्मरण करके परस्पर यह कहा कि हम लोगोंको मृत्युभावसे छुड़ाकर जिस दयालुने देवतास्वरूपको प्राप्त कराया, वह कहाँ है । लोकमें उपकार करनेवालेका स्मरण करते ही हैं । वितर्कके बाद उसे कार्यकरण-संघातात्मामें देखा अर्थात् मुखस्थ आकाशमें प्राणको देखा ।

शङ्का—प्राणको आस्यमें देखा इतना ही परिचयके लिए पर्य्याप्त है ? फिर 'अन्तः' यह विशेषण क्यों दिया ?

समाधान—आस्यमें प्राणके समान त्वगिन्द्रिय भी है, उसके वारणके लिए 'अन्तः' यह विशेषण है, अन्यथा त्वगिन्द्रियमें भी प्राणत्वकी प्रसक्ति हो जायगी । उक्त विशेषण देनेसे त्वगिन्द्रिय मुखमें है, मुखस्थ आकाशमें नहीं, और प्राण मुखविवरसंचारी होनेसे मुखस्थ आकाशमें है ।

शङ्का—'अन्तः' शब्दका मध्य अर्थ है, मध्यस्थ आकाश नहीं है, इसलिए उक्त विशेषण देनेपर भी त्वग्की व्यावृत्ति कैसे होती है ? प्राण जैसे मुखके मध्यमें संचरण करनेसे मुखस्थ कहा जाता है, वैसे उक्त इन्द्रिय भी शरीरव्यापक होनेसे मुखके मध्यमें स्थित ही है ।

समाधान—त्वगिन्द्रिय आस्यपर्य्यन्त रहती है, वाक् ( जिह्वा ) भी आस्यके मध्यमात्रमें नहीं है । और नासिकापर्यन्त आस्य है, इस मतमें वाग् ( जिह्वा ) तद्गत है भी नहीं, मुख और नासिका इन दोके मध्यमें प्राण संचारी है, इसलिए 'अन्तः' इस विशेषणसे इतर इन्द्रियोंकी व्यावृत्ति और मुख्य प्राणका संग्रह होता है । अथवा 'अन्तः' शब्द अवसानवाची है, सब इन्द्रियां स्वापकालमें प्राणमें लीन होती हैं, इसलिए अवसानमें प्राणस्वरूप होनेसे इन्द्रियोंका प्राण ही आत्मा है, अतएव स्वापकालमें 'प्राणं तर्हि वागप्येति' इस श्रुतिने वाक्से उपलक्षित इन्द्रियमात्रके लयका प्राणमें बोधन किया है और नेमिमें जैसे 'अर' अर्पित रहते हैं वैसे ही सकल भूत-भौतिक पदार्थ प्राणमें लीन होते हैं और उसीसे उत्पन्न होते हैं, इत्यादि स्पष्ट कहा गया है । अथवा वागादि देवताओंने पूर्वकल्पमें

अङ्गानां सारभूतत्वादहमाङ्गिरसोऽभवम् ।
पाप्मनो दूरभूतत्वात् दूर्नामा प्राप्तवानहम् ॥ १३ ॥

देवभावप्रापक महान् उपकारी प्राणको देखकर कहा था कि यह उदार प्राण आस्यके 'अन्तः' मध्यमें है, इस कारण प्राणका 'अयास्य' यह नाम पड़ा। इस अन्तिम तात्पर्यसे वार्तिकमें लिखते हैं—'अयमास्येऽन्तः' इति। देवताओंने मुखके भीतर मुझको देखकर 'अयमास्येऽन्तः' यह कहा इसलिए (निखिल प्राणियोंके मुखमें स्थित होनेसे ) मैं अयास्य हुआ अर्थात् 'अयास्य' मेरा नाम हुआ ॥१२॥

'अङ्गानां सारं' इत्यादि। अङ्गोंका कार्यकरणलक्षण शरीरोंका प्राण ही रस—सारभूत—है, इसलिए मैं 'आङ्गिरस' हुआ। यह लोकमें प्रसिद्ध ही है—जिन अङ्गोंमें प्राणका संचार नहीं होता अर्थात् जो अङ्ग प्राणसंबन्धसे शून्य हो जाते हैं, वे सब नीरस अतएव सूख जाते हैं, और जिनमें प्राणका संबन्ध रहता है, वे नहीं सूखते। इससे उक्त लौकिक अन्वयव्यतिरेकसे स्पष्ट हुआ कि प्राण अङ्गोंका रस है।

शङ्का—यदि प्राण उपास्यत्वरूपसे इष्ट हो, तो उसका गुणगान करना उचित होता, पर प्राण उपास्यत्वरूपसे इष्ट ही नहीं है, क्योंकि उपासनाके प्रयोजक विशुद्धि आदि गुण हो गये हैं, परन्तु विचार करनेपर प्राणमें विशुद्धि आदि गुणोंका संचय नहीं है। यद्यपि विषयासङ्गलक्षण दोष स्वतः प्राणमें नहीं है, तथापि उस दोषसे दूषित वागादिके संबन्धसे परंपरया वह अविशुद्ध ही

थ नहीं है।

—'सा वा एषा देवता दूर्नाम' इस श्रुतिसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि परासे भी दोषका संबन्ध नहीं है, इस आशयको श्रुति स्वयं —'दूरम्' इत्यादिसे। इस प्राण देवतासे पाप दूर रहता है, इस 'दूः' नाम पड़ा है। यद्यपि प्राणके समीपमें ही विषया- है, पर यह आकाशके समान संसर्गी होनेसे मानो दूर ही है, प्राणनामकी ख्याति ही 'प्राण विशुद्ध है' इस अर्थकी ज्ञापक है, रूपसे प्राण इष्ट है। यद्यपि पूर्व गुणोंका बोधन करनेसे ही नका बोध होता है, तथापि 'दूः' इत्यादि गुणसे 'पापसंबन्धकी णसे उक्त उपासना दृढ़ होती है और उक्त गुणसे विशिष्ट

वागादिदेवताभ्योऽहं पाप्मानमपहत्य ताः ।
अग्न्यादिभावमनयं ते यथायथमासते ॥ १४ ॥
मदर्थमन्नं सम्पाद्य तद् भुञ्जे तेन देवताः ।
वागाद्यो मदात्मानस्तृप्यन्त्वहमिवेतराः ॥ १५ ॥

'वागादिदेवता०' इत्यादि । मैंने—मुख्य प्राणने—वागादि देवताओंसे पापका अपहरण कर उन वागादि इन्द्रियोंको अग्न्यादि देवताका स्वरूप प्राप्त करवाया और वे यथायथ—अपने-अपने देवताके—स्वरूपको प्राप्त हुईं । वाग् अग्निदेवतास्वरूप हुई, प्राण वायुदेवतास्वरूप हुआ इत्यादि । जिस इन्द्रियकी जो देवता है, उस इन्द्रियने अपनेको उस देवताका स्वरूप समझा । तात्पर्य यह है कि वस्तुतः वागादि इन्द्रिय तत्तद्देवतास्वरूप तो हैं ही, किन्तु परिच्छेदाभिमानसे अपनेको देवतासे भिन्न जानती हैं । ध्येय प्राणके विज्ञानसे उसके अज्ञानकी निवृत्ति होती है और भावनाके प्रकर्षसे ध्येय प्राणमें देवताभाव होता है । वागादि देवता अपने-अपने अधिष्ठाता देवताका स्वरूप ही अपनेको मानते हैं ।

शङ्का—प्राणकी उपासनासे वागादि इन्द्रियाँ तत्-तत् देवतास्वरूप हुईं, इससे प्रकृतमें प्राणोपासकको क्या लाभ हुआ ? प्राणकी उपासनाका तत्-तत् देवभाव फल तो मान नहीं सकते, क्योंकि ऐसा माननेसे इस उपासनामें इन्द्रियोंका ही अधिकार होगा, जीवका अधिकार नहीं होगा ।

समाधान—वागादि इन्द्रियां प्राणकी उपासनासे देवतात्वके प्रतिबन्धक पापका नाशकर तत्-तत् देवस्वरूप होती हैं, इस कथनसे सूचित होता है कि उपासक भी अपने प्राणकी आत्मस्वरूपसे उपासना कर भावनाके बलसे प्राणाख्य वैराज-पदका, पूर्व यजमानके समान, लाभ करता है ॥ १४ ॥

'आत्मने' इत्यादि श्रुतिका अर्थ कहते हैं—'मदर्थमन्नम्' इत्यादिसे ।

अपने लिए अन्न और आद्यका सम्पादन कर उससे मैं भोजन करता हूँ । मेरे भोजनसे ही वागादि सब देवता तृप्त हों, क्योंकि वागादि मेरे ही स्वरूप हैं, इसलिए मेरी तरह वे भी तृप्त हों ।

कच्चा अन्न अन्नशब्दसे विवक्षित है और पका अन्न 'आद्य' शब्दका अर्थ है इन दोनोंका भोक्ता प्राण ही है; इसीसे सब इन्द्रियोंकी स्थिति तथा पुष्टि होती

भर्ता श्रेष्ठः पुरो गन्ता ह्यन्नादोऽस्मि तथाऽधिपः ।
ऋग्यजुःसामरूपोऽहं सा चामश्वेति साम तत् ॥ १६ ॥

है। प्रजापतिने अन्नका स्वीकार किया, इसमें केवल श्रुति ही प्रमाण नहीं है, किन्तु कार्यलिङ्गक अनुमान भी प्रमाण है। कार्यभूत प्राणियों द्वारा अन्नका स्वीकार देखा जाता है, अतः यह अनायाससे ज्ञात होता है कि कारणभूत प्रजापतिने भी अन्नका स्वीकार किया था; अन्यथा उसके कार्यभूत प्राणियोंमें भी यह स्वभाव न आता, क्योंकि कारणानुसारी ही कार्य होता है; यह सर्वसंमत सिद्धान्त है।

शङ्का—अन्नके भक्षणसे सबका समान उपकार होता है; फिर प्राण ही भोक्ता है दूसरा नहीं, इस प्रकार अवधारण करनेका क्या मतलब है ?

समाधान—ठीक है, भक्षणसे सभीका समान उपकार होता है, किन्तु प्राणके भोजनके द्वारा ही सर्वत्र उपकार होता है; स्वतः उपकार नहीं होता, इसलिए अवधारण है कि प्राण ही भोक्ता है।

शङ्का—यदि प्राणने स्वार्थके लिए भी आगान किया है, तो वागादिकी तरह प्राण भी पापविद्ध क्यों नहीं हुआ।

समाधान—अन्नाद्यागानसे प्राणमें पापप्रवेशरूप दोषकी संभावना उचित नहीं है, क्योंकि शरीरेन्द्रियादिकी स्थितिके लिए ही प्राणने उक्त गान किया था, वागादिके समान केवल स्वार्थके लिए नहीं, अतएव श्रुति है—'अन्नं प्राणे प्रतिष्ठितम्' प्राणमें स्थित अन्न स्थूल देह तथा इतर प्राणोंका—वागादि इन्द्रियोंका—पालन करता है; वागादि इन्द्रियोंकी स्थिति प्राणके अन्नादि भक्षणके अधीन हैं। आंखमें घी डालनेसे आंखका उपकार नहीं होता; किन्तु प्राणकर्तृक भक्षणसे उपकार होता है, यह प्रसिद्ध ही है।

देहाकारसे परिणत अन्नमें प्राण प्रतिष्ठित है, तदनुसारिणी वागादि इन्द्रियोंकी स्थिति है, इसलिए प्राणकी स्थितिके लिए अन्न है ॥१५॥

वागादिके समान प्राण पापविद्ध नहीं हुआ, यह कहनेके अनन्तर उत्तर ग्रन्थका तात्पर्य कहते हैं—'भर्ता श्रेष्ठः' इत्यादिसे।

ध्येयभूत प्राणमें भर्ता, श्रेष्ठः, पुरोगन्ता, अन्नाद और अधिप इत्यादि गुणोंका विधान करनेके लिए उत्तर ग्रन्थ है। 'उत्तर' वाक्यसे भर्ता इत्यादि एक एक गुणका विधान है, क्योंकि श्रुतिमें एक एक गुणका फल पृथक् रूपसे कहा गया है, जैसे

'दध्ना जुहुयादिन्द्रियकामस्य' इस श्रुतिसे अग्निहोत्रमें केवल दधिरूप गुणका विधान किया जाता है। तात्पर्य यह है कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस वचनसे अग्निहोत्रका विधान हो ही चुका है । इसमें होमसाधनकी अपेक्षासे 'दध्ना जुहोति' 'पयसा जुहोति' इन वाक्योंसे दध्यादिका विधान भी है, पुनः 'दध्ना जुहुयात्' इसका क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर यह कहा गया है कि उक्त वाक्यमें इन्द्रियफल श्रुत है, अतः इन्द्रियफलके लिए ही गुणविधि है, एवं प्रकृत गुणबोधक वाक्योंमें भर्त्रादि फल श्रुत है, अतः तदर्थ ही ये गुण विधेय हैं, तात्पर्य यह है कि प्राणने अपने लिए अन्नाद्यका गान किया, तो वागादि इन्द्रियोंने कहा कि आपने अपने लिए अन्नाद्यका गान किया, इसलिए अन्न आप ही के लिए होगा, किन्तु हम लोगोंकी स्थिति भी अन्नके बिना नहीं हो सकती, अतः हम लोगोंके लिए भी अन्नका विभाग कीजिए। प्राणने उत्तर दिया कि अन्न मेरे व्यापारके बिना आप लोगोंका पोषण नहीं कर सकता, इसलिए यदि आप लोग अन्नार्थी हैं, तो शीघ्र मेरे चारों तरफ बैठिये । मेरे भोजनसे सब वागादि देवता तृप्त होंगे ।

शङ्का—प्राणके भोजनसे वागादिकी तृप्ति कैसे होगी ? चैत्रके भोजनसे मैत्र तो तृप्त नहीं होता ।

समाधान—भुक्त अन्न तीन राशिमें विभक्त होता है अर्थात् तीन प्रकारसे भुक्त अन्नका परिणाम होता है—एक स्थूल, दूसरा मध्यम और तीसरा अणुतर । स्थूल भाग पुरीष बाहर निकल जाता है, मध्यम भाग रसादि द्वारा स्थूल देहका वर्द्धक ( पोषक ) होता है और जो सूक्ष्म अंश है, वह नाड़ी द्वारा वागादि देवताओंको तृप्त करता है ।

शङ्का—आप कहते हैं कि सूक्ष्म अंश नाड़ियोंमें प्रविष्ट होकर इन्द्रियोंको आप्यायित करता है, सो ठीक है, किन्तु अन्नके रससे आत्माकी भी तृप्ति होती है, अतः आत्मा भी वागादिके समान भौतिक क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान—कार्य-करण-संघातकी स्थिति एवं उपचयके लिए अन्न है। प्रकृतमें स्थिति ही तुष्टिरूपसे विवक्षित है। उपचय तो शरीरमें प्रसिद्ध ही है। आत्मामें अन्ननिमित्तक तुष्टि और उपचय दोनों नहीं हैं, इसलिए उसमें भौतिकत्वकी आशङ्का नहीं है ।

शङ्का—तुष्टिजन्य सुख भी शरीरमें ही मानना चाहिए। यदि यह इष्ट है, तो शरीरमें ही चैतन्यकी आपत्ति होगी ।

समाधान—नहीं, उससे सुख आत्मामें ही होता है, अचेतन पदार्थ सुखका आश्रय नहीं होता। धनादिकी वृद्धिसे आत्मामें सुख होता है, यह सर्वसम्मत है, उसके समान प्रकृतमें भी समझना चाहिए। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, बुद्धि और मन ये सत्रह (१७) आत्मा (भोक्ता) के लिए करण हैं। प्राणके कथनके अनन्तर सब वागादि अपने जीवनके लिए चारों ओर जैसे बैठे, वैसे ही प्राणोपासकके चारों तरफ ज्ञातिके लोग बैठते हैं।

शङ्का—प्राणवेत्ताके चारों तरफ ज्ञातिजन बैठ सकते हैं, किन्तु वागादिके समान वे तृप्त कैसे हो सकते हैं? प्राणके समान आश्रितोंको तृप्त करनेकी सामर्थ्य उपासकमें नहीं है।

समाधान—विद्याकी सामर्थ्यसे भरण-सामर्थ्य भरणार्थियोंकी उपस्थिति होनेपर हो जाती है। भरद्वाज महर्षिने उक्त सामर्थ्यसे ही ससैन्य भरतजीका जो स्वागतादि किया था, वह इतिहास जाननेवालोंसे छिपा नहीं है, इस तरहके अनेक उदाहरण पुराण आदिमें स्पष्ट है।

शङ्का—भर्ता और श्रेष्ठमें क्या भेद है?

समाधान—भर्ता पालक क्षत्रियादि भी होते हैं, श्रेष्ठ श्रोत्रियादि गुणाधिक्यसे कहे जाते हैं अर्थात् भर्तृत्व बलनिमित्तक है और श्रेष्ठत्व गुणनिमित्तक है, यह भेद है।

शङ्का—पुरोगन्तृत्व गुणका क्या प्रयोजन है, क्योंकि भर्तृत्वादिके रहनेसे पुरोगन्तृत्वादि अन्यथासिद्ध है।

समाधान—अग्रगण्य न होनेपर ज्ञातियोंमें भर्तृत्व आदि निष्फल हो जायगा, क्योंकि प्रबल दुर्जनोंके समक्ष दुर्बल सज्जन गुणाधिक और भर्ता होनेपर भी सुखी नहीं होता, इसलिए पुरोगन्तृत्व गुणकी आवश्यकता है।

शङ्का—अच्छा तो भले ही पुरोगन्तृत्व रहे अन्नादत्व गुणकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—दीप्ताग्नि न होनेपर भर्तृत्वादि व्यर्थ हैं, क्योंकि उक्त गुणोंसे युक्त होनेपर भी मन्दाग्नि होनेसे सुखी नहीं होता।

शङ्का—पुरोगन्तृत्वमात्रसे अभीष्टकी सिद्धि हो जायगी, फिर आधिपत्यकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—पुरोगन्तृत्वमात्रसे आधिपत्य गुण नहीं होता, क्योंकि पुरोगन्ता पुरोहित भी होता है; किन्तु वह राजाके समान अधिपति नहीं माना जाता; इसलिए आधिपत्यकी भी आवश्यकता अवश्य है; प्राणकी आत्मबुद्धिसे उपासना करनेवालोंको

पूर्वोक्त फल होते हैं और उनकी जातियाँ भी वागादिके सदृश फलवान् होती हैं। प्राणके साथ स्पर्द्धा करनेवाले असुर जैसे नष्ट हो गये, वैसे ही प्राणवेत्ताके साथ विद्वेष करनेवाले मनुष्य अपनी ज्ञातियोंका भरण पोषण नहीं कर सकता; क्योंकि विद्वान्‌के साथ विद्वेष करनेसे चित्तका संस्कार हत हो जाता है, अतएव श्रीरहित हो जाता है। निःश्रीक रक्ष्यकी रक्षा कहां तक कर सकता है; प्राणवेत्ताका विरोधी न श्रेष्ठ, न पुरोग और न अन्नाद ही होता है, किन्तु असुरवत् होता है। प्राण कार्य-कारणका ही आत्मा है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु ऋग्, यजुः, साम जो नामात्मक हैं; उनका भी आत्मा प्राण है अर्थात् सर्वात्मना प्राणस्तुति उसकी उपासनाके लिए है। 'वाग् वै बृहती' यहां बृहतीशब्दसे ऋक्‌का ग्रहण होता है, क्योंकि वाग्‌के साथ बृहतीका सामानाधिकरण्य श्रुतिमें निर्दिष्ट है। छत्तीस अक्षरोंका बृहती छन्द होता है; 'वाग् वै-अनुष्टुप्' इस श्रुतिसे अनुष्टुप् वाक् है। अनुष्टुप् ३२ अक्षरोंका होता है। ३६में बत्तीसका अन्तर्भाव होता है; इसलिए 'वाग् वै बृहती' यह श्रुति समुचित ही है। बृहतीमें सब ऋचाओंका अन्तर्भाव हो जाता है। 'प्राणो बृहती' 'प्राण ऋचः' इस श्रुतिसे वागात्मक ऋगादिका प्राणमें अन्तर्भाव है; यह स्पष्ट है। बृहतीनामक ऋक्‌का पति प्राण है; क्योंकि कोष्ठाग्निप्रेरित वायुसे ही शब्दका प्रादुर्भाव होता है अथवा वाक्‌का पालन प्राण करता है; इससे भी पति कहा जाता है; एवं यजुःका भी पति प्राण है; वाग् वै ब्रह्म' 'तस्या एष पतिः' यहां ब्रह्मशब्दसे यजु विवक्षित है; क्योंकि श्रुति ब्रह्ममें वाक्‌का सामानाधिकरण्य कहती है। 'वाग्वै ब्रह्म' इत्यादि वागात्मक ब्रह्म यजुर्वेद ही प्रकृतमें विवक्षित है, अर्थान्तर नहीं।

शङ्का—बृहतीसे ऋक् और ब्रह्मसे यजुका ही ग्रहण इष्ट है, अर्थान्तरका ग्रहण इष्ट नहीं है, ऐसा क्यों ?

समाधान—'वाग् वै साम', 'वाग् वै बृहती', 'वाग् वै ब्रह्म' इन श्रुतियोंसे सामादिमें वाक्सामानाधिकरण्य स्पष्टरूपसे निर्दिष्ट है। सामका विशेषरूपसे अभिधान भी है एवं बृहती और ब्रह्म शब्दका भी विशेषरूपसे अभिधान उचित है, अन्यथा विशेष अर्थके निर्णयके बिना बृहती आदि पद व्यर्थ हो जायँगे। 'वाङ्मात्र' लेनेसे पौनरुक्त्यापत्ति हो जायगी, बृहतीसे वाङ्मात्रका ग्रहण होनेसे ब्रह्म और ब्रह्मसे वाग्मात्रका ग्रहण करनेसे बृहती एवं वाक्‌से वाङ्मात्रका बोध होता ही है, पुनः उभय ग्रहण व्यर्थ हो जायगा और ऋक्, यजुः, साम, उद्गीथ इत्यादि

**सेति वाचोऽविधानं स्यादमः प्राणाभिधा तथा ।**
**सामेत्युभयमत्रोक्तं समत्वाद्वाऽथ साम तत् ॥ १७ ॥**

क्रम श्रुतियोंमें नियत है, इसलिए बृहतीसे ऋक् और ब्रह्मसे यजुका ग्रहण मानना चाहिए। 'बृहस्पतिर्देवानां पुरोहित आसीत्' इस श्रुतिके अनुरोधसे देवताओंके प्रसिद्ध पुरोहित बृहस्पतिका ग्रहण क्यों नहीं होता ? यह आक्षेप भी समाहित हो जाता है, क्योंकि 'ब्रह्मणस्पतिः' इस उत्तर वाक्यमें ब्रह्मशब्दसे यजुका ग्रहण होता है, अतः उसके अनुरोधसे श्रुति-क्रमानुसार पूर्व वाक्यमें ऋक्का ग्रहण आवश्यक है।

शङ्का—यजुके विषयमें भी ब्रह्मशब्द सन्दिग्ध ही है, अतः सन्दिग्ध ब्रह्मशब्दके अनुरोधसे बृहतीशब्दसे ऋक्का ग्रहण कैसे करते हैं ?

समाधान—सन्दिग्ध पदोंका वाक्यशेषसे अर्थ-निर्णय किया जाता है। प्रकृतमें अन्त्यमें 'प्राण सामका आत्मा है' ऐसा स्पष्ट कहा है; इसलिए उपक्रममें भी प्राण यजु आदिका आत्मा है; ऐसा अर्थ अभीष्ट है, ब्रह्मशब्द यजुका वाची है, ऐसे मानसे उक्तार्थकी सिद्धि होती है; अतः 'बृहतीपतिः, ऋक्पतिः' 'ब्रह्मपतिः', 'यजुष्पतिः' यह अर्थ स्फुट होता है। 'स उ एष साम' इस श्रुतिमें घटकसाम शब्दका व्याख्यान करते हैं। 'सा च अमश्चेति' इसका व्याख्यान उत्तर श्लोकसे कहेंगे, इसलिए वहींपर व्याख्यान करना उचित है। 'ऋग्-यजुः-सामरूपोऽहम्' प्राणको ही ऋग्, यजुः और साम समझना चाहिए। 'केन मे' इत्यादि श्रुतिके अनुसार वाक् और प्राणका वाचक सामशब्द है।

शङ्का—'सा' से वाक् और 'अम' से प्राणका ग्रहण होता है, इस प्रकार व्यस्त एक-एक अंशसे वाक् और प्राण साम शब्दार्थ हैं, किन्तु समस्त सामशब्दका वाच्य अर्थ क्या है ?

समाधान—वाक् और प्राण—ये दोनों मिलित अर्थात् वाग्विशेषणक प्राण साम शब्दके वाच्य हैं, वाग्रहित केवल प्राण सामशब्दवाच्य नहीं है, अतएव वाक्प्राण उक्त शब्दार्थ होनेपर भी साम यह एक वचनान्त है। यदि दोनों परस्पर विशेष्य-विशेषणभावानापन्न सामशब्दार्थ होते, तो द्विवचन होता। वागुपसर्जन प्राणको उक्त शब्दार्थ माननेसे विशिष्टार्थ एक है, इसलिए एक-वचनान्त ही साधु है, वागुपसर्जन प्राण समस्त सामशब्दका अर्थ है, यह निष्कर्ष हुआ ॥ १६ ॥

**'सेति वाचो'** इत्यादि। 'सा' यह वाक्का वाचक है। 'अम' यह

पुत्तिका मशको नागो विराट् सूत्रमितीरिताः ।
ये देहास्तैः समोऽहं स्यां लिङ्गेनैषां प्रपूरणात् ॥ १८ ॥

प्राणका वाचक है, साम ये दोनों प्राणमें प्रयुक्त हैं, इसलिए वागुपसर्जन प्राणका वाचक 'साम' शब्द है। दूसरा निर्वचन भी करते हैं—प्राणमें सामशब्दका प्रवृत्तिका निमित्त है—समत्व, जो आगे स्फुट होगा।

शङ्का—लोकमें प्रगीत मन्त्रविशेषमें सामशब्दका प्रयोग होता है और शास्त्रमें 'गीतिषु समाख्या' इस न्यायसे मन्त्राधिकरणक गीतिविशेषमें 'साम' शब्दका प्रयोग होता है, इसलिए गीत्युपसर्जनक मन्त्र अथवा मन्त्रोपसर्जनक गीति सामशब्दका अर्थ मानना उचित है, फिर आप प्राणमात्रको सामशब्दार्थ कैसे कहते हो ?

समाधान—गीतिके भी प्राणव्यापारसाध्य होनेसे सामशब्दार्थ होनेमें कोई आपत्ति नहीं है ? सारांश यह है कि प्राणके व्यापारके बिना कोई भी सामशब्दार्थ नहीं माना जाता, वस्तुतः वागुपसर्जन प्राण मुख्य सामशब्दका अर्थ है; प्राणके सम्बन्धसे पद, वाक्य, स्वर, वर्ण आदिमें गौण प्राणशब्दका प्रयोग होता है; जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' यहां मञ्चशब्दका मुख्य प्रयोग मञ्चार्थमें है, मञ्चके सम्बन्धसे मञ्चस्थ पुरुषमें भी उक्त शब्दका गौण प्रयोग पाया जाता है, वैसे ही उक्त प्राणवाचक सामशब्द प्राणके संबन्धसे पद, वाक्य और स्वरादिके समुदायमें गौणतया प्रयुक्त होता है; अतएव प्राण अर्थ और पद वाक्यादि शब्द ये दोनों साम शब्दके अर्थ हैं, यह आप कहते हैं, पर अन्य शब्द ऐसे नहीं पाये जाते कि जिनका अर्थ शब्दात्मक और अर्थात्मक उभयविध हो, किन्तु कोई शब्दार्थक है और कोई शब्देतरार्थक है, उभयार्थक नहीं, अतः 'सम' शब्दमें यह कथन ठीक नहीं है, यह आक्षेप भी निरस्तप्राय है, क्योंकि दोनों अर्थ मुख्य मानते, तो यह आक्षेप हो सकता, किन्तु ऐसा कहते नहीं है गौण अर्थ अनेकविध हो सकते हैं, इसमें कोई आपत्ति नहीं है, मुख्य अनेक अर्थ होनेसे अनेकार्थत्वकी प्रसक्ति होती है, जिसके बारेमें शास्त्रकारोंका 'एकस्य शब्दस्य सति संभवे अनेकार्थत्वकल्पना अन्याय्या', संमत यह न्याय मुख्यार्थ और गौणार्थ भेदमें लागू नहीं है ॥१७॥

'पुत्तिका' इत्यादि। 'पतङ्गिका पुत्तिका स्याद्दंशस्तु वनमक्षिका' इस अमर-

कोशके वाक्यके अनुसार पुत्तिका ( छोटी मधुमक्खीका नाम है ), मशक ( मच्छड़ ), नाग ( हाथी ), विराट् ( पञ्चीकृत भूतशरीर ), सूत्र—हिरण्यगर्भ—इन छोटेसे छोटों और बड़ेसे बड़ों का प्राण समान ही है। सूत्रात्माशब्द सबसे बड़े प्रपञ्चका उपलक्षण है और पुत्तिकाशब्द सूक्ष्म जन्तुका उपलक्षण है। तात्पर्य यह हुआ कि पुत्तिकाके शरीरमें प्राण पुत्तिकाके समान है और मशकके शरीरमें मशकके समान है, नागके शरीरमें नागके समान, विराड्के शरीरमें विराड्के समान और सूत्रके शरीरमें सूत्रके समान प्राण है।

शङ्का—सूत्रशब्दसे प्रकृतमें हिरण्यगर्भस्वरूप प्राण विवक्षित है, वह पुत्तिका आदिके शरीरमें उसके ही समान है, क्योंकि सम्पूर्ण शरीरमें प्राणका संबन्ध है, अन्यथा प्राणशून्य शरीरावयवोंमें शोषकी आपत्ति हो जायगी, इसी प्रकार मशकादि शरीरमें व्याप्यवृत्तित्वका लाभ होता है, अतः उसके समान है, इसमें हेतु है—प्राणात्मक वायुसे उन शरीरोंका पूरण। परन्तु 'प्राणस्वरूप सूत्रमें भी प्राण उसीके समान है', इस कथनसे प्राण प्राणके समान है, ऐसा बोध होता है, सो ठीक नहीं है, कारण कि साम्य भेदघटित है, अभेदमें समत्वव्यवहार कैसे ?

समाधान—हिरण्यगर्भ क्रियाशक्तिमान् और ज्ञानशक्तिमान् ( उभयात्मा ) माने जाते हैं। क्रियाशक्तिसे प्राण कहलाते हैं और ज्ञानशक्तिसे आत्मा कहलाते हैं, अतः क्रियाशक्तिवाले प्राणमें ज्ञानशक्तिवालेका परस्पर औपाधिक ( क्रियाशक्तिमत्त्वरूपसे और ज्ञानशक्तिमत्त्वरूपसे ) भेद मानकर श्रुतिने साम्यका निर्देश किया है, यह तात्पर्य है। सर्वत्र समत्व ही प्राणशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त है, अतः प्राण साम है ? जबतक 'अहं प्राणोऽस्मि' ( मैं प्राण हूँ ) यह भावना उत्पन्न न हो, तबतक प्राणकी उपासना करनी चाहिए। उपासक उपासनाका फल—सायुज्य, सालोक्य और ऐकात्म्य—पाता है, सायुज्य समान-देहेन्द्रियाभिमानत्व है अर्थात् हिरण्यगर्भके शरीर तथा इन्द्रिय आदिके समान ही अपनी देह और इन्द्रियोंका अभिमान करता है, सालोक्य याने समानलोकता, यह स्फुट ही है। ऐकात्म्य अर्थात् प्राणरूपता, यह भी स्पष्ट ही है।

उपासना एक ही है और फलश्रुतिमें विकल्प है नहीं, इसलिए प्राणवेत्ता तीनों फलोंका उपभोग करता है, यह किसीका पक्ष है, परन्तु यह पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि फलके हेतुभूत ध्यान आदिके तारतम्यसे ये तीनों फल व्यवस्थित हैं अर्थात् केवल उपासनाके ही ये फल नहीं है, जिससे कि उपासना एकरूप होने-

उद्गीथोऽहं प्राण उत् स्याद्वाग्गीथाऽहं द्वयात्मकः ।
प्राणप्रधानया वाचा करोम्यौद्गात्रमध्वरे ॥ १९ ॥

से फल भी समान ही हो, किन्तु उत्कृष्ट ज्ञानकर्मसे सारूप्य, मध्यम ज्ञानकर्मसे सायुज्य और निकृष्ट ज्ञानकर्मसे सालोक्य फल होता है इत्यादि ॥ १८ ॥

'उद्गीथोऽहम्' इत्यादि । मैं (प्राण) उद्गीथ हूँ, क्योंकि उत् प्राण कहलाता है और वाग् गीथा है । प्राणसाध्य गीथात्मक वाग् भी मैं ही हूँ, अतः—मेरे दो रूप होनेके कारण—यज्ञकर्ममें औद्गात्र कर्म मैं ही करता हूँ । भाव यह है कि सामके मन्त्रविशेषका यज्ञमें जो गान करता है, वह उद्गाता कहलाता है । उद्गाताका जो विशेष कर्म-ज्ञान आदि है, वह औद्गात्र कर्म कहा जाता है । यहाँपर औद्गात्र कर्ममें उद्गीथशब्दका प्रयोग आया है और उद्गीथशब्दकी रूढि सामके भागविशेषमें है, इसलिए प्रकृत प्रयोगके अनुसार औद्गात्र कर्म गान-विशेष उद्गीथ है, या रूढिके अनुसार सामका भागविशेष ? यह शङ्का होती है । इसका उत्तर स्वयं श्रुति कहती है—ये दोनों उद्गीथशब्दार्थ नहीं हैं, किन्तु प्राण ही उद्गीथशब्दसे यहाँ विवक्षित है । 'साम' शब्दित प्राणका 'एष' शब्द परामर्श करता है और उद्गीथके साथ सामानाधिकरण्य है, अतः प्राण ही उद्गीथ है ।

शङ्का—प्राणमें उद्गीथशब्दका प्रयोग करनेमें बीज क्या है ? रूढि तो कह नहीं सकते, क्योंकि प्राणमें उद्गीथशब्दका प्रयोग वृद्धोंने कहीं किया ही नहीं है । अवयवार्थकी प्रतीतिके न होनेसे यौगिक भी नहीं कह सकते ।

समाधान—योग ही उक्तार्थमें उक्त शब्दके प्रयोगका मूल है, तथाहि—उत् शब्दका उत्कृष्ट-क्रियाद्योत्य अर्थ है, ( 'विनश्वरं जगत् प्राणः उत्तभ्य धारयति' यह व्युत्पत्ति है ) प्राणके विनाशसे शरीर आदि नहीं रह सकते, इसलिए उत्तब्धावयव उत् प्राणका वाचक है, उद्गीथका अवयव भी उत् है, इसलिए योगवृत्तिसे उद्गीथ प्राण कहलाता है ।

शङ्का—रूढि योगसे बलवान् है, इसलिए सामके भागविशेषमें ही उद्गीथ-शब्दका प्रयोग उचित है, प्राणमें नहीं ।

समाधान—उद्गीथमें सामशब्दकी रूढिका निमित्त प्राणका संबन्ध ही है,

अगर यह बात सच हो, तो सिर न गिरे; परन्तु उनका सिर धड़से नीचे नहीं गिरा, इसलिए सबको प्रामाणिक अतएव मान्य हुआ कि वागुपसर्जन प्राण ही वस्तुतः उद्गीथ-देवता है ।

शङ्का—अयास्य ही इस विषयमें साक्षी क्यों माने गये ?

समाधान—पूर्व कालमें महर्षियोंके यज्ञमें वे ही विद्वानोंमें अग्रगण्य उद्गाता थे, उनमें सबका पूर्ण विश्वास था और प्राण-विधानमें वे बे-जोड़ थे, इसीसे उनका नाम 'अयास्य' था । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस कालमें उनके समान दूसरा साक्षीके योग्य नहीं था ।

शङ्का—वागुपसर्जन प्राण ही उद्गीथका देवता है, यह तो शपथ ही से प्रमाणित हो चुका फिर इसके प्रमाणित करनेके लिए 'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्' ऐसा श्रुतिने क्यों कहा ? इससे श्रुतिमें पुनरुक्त दोष होता है या नहीं ।

समाधान—वागुपसर्जन प्राण उद्गीथका देवता है, इसमें जो शपथ हुआ है, उसीका अनुवाद श्रुतिने किया है । स्वतन्त्र वाद होता तो पुनरुक्त होता । शपथ प्रमाण है, इसलिए उसके विषयको प्रमाणित करनेके लिए श्रुतिने नहीं कहा, क्योंकि प्रमाणमें अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं होती, अन्यथा अनवस्था दोष होगा; किन्तु स्मृति या सदाचार एतदन्यतरात्मक शपथ स्वयं प्रमाण नहीं है, किन्तु वेदमूलक होनेसे प्रमाण माना जाता है, इसलिए प्रकृत शपथको प्रामाणिक होनेके लिए उक्तार्थ श्रुतिकी अपेक्षा है । वागुपसर्जन प्राण उद्गीथका देवता है, इसमें केवल शपथ ही साधक नहीं है, किन्तु युक्तिसे भी उक्त अर्थकी सिद्धि होती है । युक्ति यह है कि उद्गीथ कर्ममें वाक् और प्राणका व्यापार निरन्तर जैसे अपेक्षित रहता है, वैसे दूसरेके व्यापारकी अपेक्षा नहीं है ।

शङ्का—रसनाके और मनके व्यापारकी तो वैसे ही अपेक्षा रहती है; अतः उनको देवता क्यों नहीं मानते ?

समाधान—अपेक्षित है, किन्तु प्राण और वाक्‌का व्यापार प्रधानरूपसे अपेक्षित रहता है और मन तथा रसना—का व्यापार वाक्‌के व्यापारके लिए होनेसे प्रधानरूपसे वाग्-व्यापारमें और तद् द्वारा उद्गीथ कर्ममें हेतु है। इसलिए वे देवता नहीं हैं, किन्तु वागुपसर्जन प्राण ही उद्गीथका देवता है; इस अभिप्रायसे कहते हैं—प्राणप्रधान वाक्‌से यज्ञमें औद्गात्र कर्म करता हूँ ॥ १९ ॥

साम्नो मम धनं कण्ठमाधुर्यं वर्णसौष्ठवम् ।
सुवर्णं मे प्रतिष्ठा तु वाग्देहो वा भवेदिह ॥ २० ॥

उद्गीथका देवता प्राण ही है, इसका निर्णय करके स्व-सुवर्ण-प्रतिष्ठा गुणके विधानके लिए आगेकी तीन कण्डिकाओंका अवतरण करते हैं—'साम्नो मम' इत्यादिसे ।

सामशब्दितस्य प्राणस्य अर्थात् सामनामक प्राणका कण्ठ-माधुर्य ही स्व (धन) है; और वर्णसौष्ठव यानी यह कण्ठ्य वर्ण है, यह दन्त्य वर्ण है, इस प्रकारके लक्षणज्ञानपुरःसर साधु वर्णोंका उच्चारण ही मेरे सामस्वरूप प्राणका सुवर्ण है तथा वाक् अथवा [ अन्न ] देह प्रतिष्ठा है, 'अन्न इत्युहैक आहुः' इस श्रौत वाक्यके अनुसार प्रतिष्ठाके विषयमें विकल्प है, वाक्शब्दसे वागवयववर्णाभिव्यक्तिके जनक कण्ठ आदि स्थान यहां विवक्षित हैं, क्योंकि 'वाचि प्रतिष्ठितः गीयते' इस वचनसे वागवस्थित प्राण उद्गान करता है, वह प्रतिष्ठापदसे विवक्षित है ।

शङ्का—अयास्य आदि गुणोंके ज्ञानके समान स्वादि-गुणज्ञान यजमानको विवक्षित है, अथवा ऋत्विक्को ।

समाधान—स्व-सुवर्ण-प्रतिष्ठा-गुणविधिसे पूर्व जो अयास्यादि-गुण-विशिष्ट प्राणकी उपासना है, उसका फल यजमानगामी है, क्योंकि उद्गाता यजमानके धनसे खरीदा गया है, इसलिए उसके द्वारा किये गये कर्मका फल यजमानको ही होना उचित है, जैसे सैनिक पुरुषका विजय फल स्वामिगामी होता है, क्योंकि वह पुरुष स्वामीके धनसे क्रीत है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ।

शङ्का—तो स्वादिके ज्ञानका फल भी उक्त न्यायसे यजमानगामी होना चाहिए ।

समाधान—हां होता, यदि इस विषयमें विशेष वचन न होता; परन्तु 'आर्त्विज्यं करिष्यन् वाचि स्वरमिच्छेत्' इत्यादि वाक्यसे ऋत्विग्‌के नामका संबन्ध होनेसे स्वादिप्रतिष्ठागुणफल यजमानगामी नहीं है, किन्तु ऋत्विग्गामी है ।

शङ्का—यजमानगामी फलके लिए ही कर्ममें ऋत्विक् प्रवृत्त होता है, अतः उसको अपने फलके लिए यत्न नहीं करना चाहिए ।

समाधान—स्वामीके फलकी क्षति करके अपने फलके लिए कर्म करना अनुचित माना गया है, इस परिस्थितिमें यजमान फलके साथ यदि विरोध न हो, तो अपने

अभ्यारोहजपस्याऽहं देवता प्राणविग्रहः ।
इत्युपासीन एवेममभ्यारोहं जपेत्पुनः ॥ २१ ॥

फलके लिए कर्मका अनुष्ठान करना कोई प्रतिषिद्ध नहीं है, अदृष्टार्थ फलका निरास तो कर भी सकते हैं, किन्तु दृष्टफलका निरास तो 'दृष्टत्वादेव' अशक्य है। उद्गाताके कण्ठका माधुर्य सामशब्दवाच्य प्राणका स्व ( धन ) है अर्थात् भूषण है। स्वरसे भूषित उद्गान समृद्धिमान्‌के सदृश ज्ञात होता है, इसलिए करिष्यमाण आर्त्विज्य कर्मके लिए उद्गाताने वाक्‌में स्वरकी इच्छा करनी चाहिए, यद्यपि इच्छामात्रसे स्वरकी सिद्धि नहीं होती, इसलिए उसके संपादनार्थ दन्तधावन, तैलपान आदि उपयोगी कर्म करने चाहिएँ। बाह्य धनके साथ संबन्ध कहनेके अनन्तर आन्तरिक धनके साथ संबन्ध कहते हैं—सौस्वर्य बाह्य धन है, क्योंकि यह ध्वनिका धर्म है, ध्वनि वर्णकी अभिव्यञ्जक है, अतः उससे अतिरिक्त है और सौवर्ण्य वर्णगत है, इसलिए आन्तर है। इन दोनोंसे अन्तरङ्ग है—प्राणमें प्रतिष्ठा गुण। यहां वाग्‌से वर्णाभिव्यक्तिके जनक जिह्वामूलीयादि स्थान विवक्षित हैं, क्योंकि ये ही गानप्रतिष्ठाके हेतु हैं अर्थात् इन्हीं स्थानोंमें स्थित होकर प्राण उद्‌गान करता है, कोई विद्वान् अन्नको ही प्रतिष्ठा कहते हैं।

शङ्का—एककी दो प्रतिष्ठा ( आश्रय ) तो हो नहीं सकतीं, इसलिए एक ही होनी चाहिए। 'प्रतितिष्ठति अस्याम्' इस भाष्यकारके विग्रहसे उक्त आठ स्थान ही प्रतिष्ठा है, यह समीचीन है। एकदेशीय मतके अनुसार अन्न—व्रीहि आदि—में प्राण रहता भी नहीं है, इसलिए यह पक्ष ठीक नहीं है।

समाधान—अन्नसे अन्नके विकारका ग्रहण करना इष्ट है, देहके रहनेसे ही उक्त स्थान रह सकते हैं, इसलिए देह भी प्रतिष्ठा हो सकती है। 'आश्रयत्व' यहां साक्षात् परंपरा-साधारण विवक्षित है; अतः वाक्‌प्रतिष्ठितत्वविशिष्ट अथवा अन्नप्रतिष्ठितत्वविशिष्ट प्राणकी विकल्पसे उपासना विहित है; यथारुचि तत्तद्‌गुणविशिष्टकी उपासना करनी चाहिए।

उक्त रूपसे प्राणवेत्ताका अभ्यारोह-जपमें अधिकार है, इसलिए प्राणविज्ञानका निरूपण करके देवभावफलक अभ्यारोह-जप कर्मके विधानके लिए अग्रिम ग्रन्थ है।

'अभ्यारोह०' इत्यादि। प्राणकी प्रधान उपासना है और अभ्यारोह-मन्त्रजप उसका अङ्ग है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इस योगसूत्रके अनुसार केवल मन्त्रात्मक

इत्युपास्तिप्रकारोऽयं यथावदिह वर्णितः ।
प्रधानगुणभेदेन फलमत्र विभज्यते ॥ २२ ॥
ऐहिकामुष्मिकत्वाभ्यां प्रधानस्य फलं द्विधा ।
तदभ्यारोहमन्त्रेषु द्वाभ्यामादौ प्रदर्शितम् ॥ २३ ॥

शब्दमात्रकी निरन्तर आवृत्ति ही जप नहीं है; किन्तु मन्त्रके अर्थके निरन्तर ध्यानसे युक्त शब्दावृत्ति जप है। ध्यान मानसी क्रिया है। शब्द द्वारा जैसा ध्यान जहां विहित हो, वहां वैसा ध्यान करना चाहिए। प्रकृत मन्त्रकी देवता प्राण है; इसलिए इस जपमें प्राणका ध्यान आवश्यक है; इसलिए ध्यानार्थ प्राणके अनेक अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग गुण और उनके फलोंका पूर्वमें निरूपण किया गया है। समस्त अङ्गोंके निरूपणके अनन्तर मुख्य अङ्गीका निरूपण करना उपासकको जिज्ञासित है; इसलिए अभ्यारोह-जपके विधानके विषयमें कहते हैं—अभ्यारोह-जपका देवता प्राण विग्रह मैं ही हूँ; इस प्रकार प्रकृत उपासना करनी चाहिए, फिर अभ्यारोहका जप करे, विशेष आगे कहेंगे ॥२१॥

'इत्युपास्ति०' इत्यादि। इस प्रकारसे यथोचित प्राणकी उपासनाके प्रकारका समीचीन वर्णन किया गया। अब प्रधान और गुण भेदसे फल दो प्रकारका है, यह कहते हैं। फलज्ञानके बिना स्वल्प-यत्नसाध्य कर्ममें भी साधारण पुरुषोंकी प्रवृत्ति नहीं होती, फिर विद्वानोंकी प्रवृत्ति तो दूर ही रही, इसलिए विहित कर्ममें उक्त फलके अभिलाषी पुरुषकी सोत्साह प्रवृत्ति हो, इस वास्ते सविशेष फलका निरूपण परमावश्यक है ॥ २२ ॥

'ऐहिका०' इत्यादि। प्रधान प्राणोपासनका फल दो प्रकारका है—एक ऐहिक अर्थात् इसी भूलोकमें और वर्तमान शरीरसे ही भोगने योग्य और दूसरा आमुष्मिक, जो लोकान्तरमें शरीरान्तरसे उपभोगके योग्य होता है, ये दोनों फल क्रमशः ऐहिक और आमुष्मिक कहे जाते हैं। ये दोनों फल प्रधान-प्राणोपासनाके हैं। अभ्यारोह-जपके तीन मन्त्र हैं, उनमें से पहले दो मन्त्रोंसे—प्रथम और द्वितीय मन्त्रसे—क्रमशः ऐहिक और आमुष्मिक दो फल दिखलाये गये हैं। तीनों मन्त्र ये है—'असतो मा सद्गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्माऽमृतं गमय'। मन्त्रका अर्थ गूढ़ अर्थात् छिपा होता है, इसलिए सहृदय श्रुति स्वयं मन्त्रकी व्याख्या करती है। 'मृत्युर्वा असत्' स्वाभाविक कर्म और ज्ञान—ये दोनों मृत्यु कहलाते हैं।

स्वाभाविक ज्ञान और कर्मसे मृत्यु फल होता है, इनसे अमृत फलकी आशा कभी नहीं रखनी चाहिए, प्रत्युत वे अधःपतनके हेतु हैं, यह ध्यानमें रखना चाहिए। सत्—अमृत सच्छास्त्रीय कर्म या विज्ञान और ये दोनों यद्यपि स्वरूपसे अमृत नहीं हैं, किन्तु इनका फल अमृत है, अतः अमृतसाधन होनेसे फल द्वारा अमृत कहे जाते हैं, पदार्थ निरूपणके बाद वाक्यार्थ यह है, असत्से स्वाभाविक ज्ञानकर्मसे मा ( मुझको ) सत् सच्छास्त्रीय कर्मज्ञानमें पहुँचाहिए अर्थात् देवत्वके साधन आत्मभावको प्राप्त कराइए, मुझको अमर कीजिए, यह निचोड़ अर्थ हुआ। द्वितीय मन्त्रका अर्थ यह है–'तमसो मा ज्योतिर्गमय' मृत्युर्वै तमः। अज्ञान आवरक होनेसे तम कहा जाता है, तम जैसे घटादिका आवरक है, वैसे ही अज्ञान भी आवरक है, अतएव गीतामें भगवान्‌ने भी श्रीमुखसे कहा है—'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः', इति। तम स्वयं मृत्युरूप न होनेपर भी मृत्युका हेतु है, इसलिए पूर्ववत् मृत्यु कहा जाता है। 'ज्योतीरूप अमृत तमसे विपरीत है, अतएव प्रकाशात्मक होनेसे मृत्युसे विपरीत नामका भागी है—अमृत। वह देवस्वरूप है, यही प्रकाशात्मक है, अतः 'ज्ञान, ज्योति' इत्यादि शब्दोंसे कहा जाता है, अविनाशी होनेसे अमृतपदाभिधेय भी यही है, 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' मृत्युसे मुझे अमर करो। निष्कृष्टार्थ हुआ कि प्राजापत्यदेवभावको प्राप्त कराओ—इन दोनों मन्त्रोंका मुख्य फल एक ही है, किन्तु इन दोनों मन्त्रोंमें भेद यह है कि प्रथम मन्त्रसे असाधनस्वभाव अमृतको असाधन ( स्वाभाविक ) कर्मज्ञानसे अमृत-साधनस्वभाव सच्छास्त्रीय कर्मविज्ञानस्वभावको—पहुँचाहिए, यह प्रार्थना है और द्वितीय मन्त्रसे साधनस्वभाव अज्ञानसे साध्यस्वभावको प्राप्त कराइये। तात्पर्य यह है कि विवक्षित अमृतका स्वाभाविक ज्ञान, कर्म साधन नहीं हैं, किन्तु शास्त्रीय ज्ञान-कर्म ही उसके साधन हैं, इसलिए असाधनसे उसके साधनभावको पहुँचानेकी प्रार्थना है। और दूसरे मन्त्रसे साधनसे असाध्य स्वभाव प्रकाशात्मक ज्ञानस्वरूप आत्मभावको प्राप्त कराइए। प्रथमका फल साध्य है, द्वितीयका सिद्धस्वरूप है, अतः पुनरुक्तिकी आशंका नहीं हो सकती।

शङ्का—ठीक है, फिर भी तृतीय मन्त्र पुनरुक्तार्थ ही प्रतीत होता है। द्वितीय मन्त्रका जो अर्थ है, वही 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' इस तृतीय मन्त्रसे स्पष्ट प्रतीत होता है।

समाधान—हाँ, तृतीय मन्त्रका अर्थ जो प्रतीत होता है, वही है, किन्तु

प्राणात्मत्वाभिमानेन साक्षात्कारोऽयमैहिकः ।
स आसुरासङ्गपापनाशे भवति नाऽन्यथा ॥ २४ ॥
लोष्टः पाषाणभेदाय क्षिप्तश्चूर्णीभवेद् यथा ।
नश्येदासुरपाप्मैवं प्राणोपासनशालिनः ॥ २५ ॥

---

दोनों मन्त्रोंका समुचित अर्थ तृतीय मन्त्रसे कहते हैं, सो स्पष्ट है। पूर्व मन्त्रोंका जैसे गूढ़ ( छिपा हुआ ) अर्थ है, वैसा अर्थ तृतीय मन्त्रका नहीं है ॥ २३ ॥

ऐहिक फल कहते हैं—'प्राणात्मत्वा०' इत्यादिसे ।

प्राणात्माभिमानसे जो साक्षात्कार होता है, वही प्राणकी उपासनाका ऐहिक फल है। केवल यही प्रकृत उपासनाका फल है, यह बात नहीं है, किन्तु जिसके बिना यह फल नहीं होता, वह आसङ्गलक्षण-पापनाश भी उसका फल माना जाता है, अर्थात् स्वाभाविक ज्ञानमूलक प्रवृत्ति जबतक बनी रहेगी, तबतक उक्त साक्षात्कार हो ही नहीं सकता। उक्त साक्षात्कारकी उत्पत्तिमें यह पाप प्रतिबन्धक है, इसलिए उक्त साक्षात्कारार्थीको इसकी निवृत्ति करना आवश्यक है। इसकी निवृत्तिका उपायान्तर शास्त्रमें है नहीं, किन्तु प्रकृत प्राणकी उपासना ही दोनों फलोंके लिए विहित है। इसलिए यह आनुषङ्गिक अथवा नान्तरीयक फल है। जैसे न्यायमतमें मङ्गलके समाप्ति और विघ्नध्वंस—ये दोनों फल कोई-कोई विद्वान् मानते हैं। पर इनमें दोनों समानरूपसे फल नहीं माने जाते, किन्तु गौण तथा प्राधान्यरूपसे माने जाते हैं। समाप्ति मङ्गलका मुख्य फल है और विघ्नध्वंस नान्तरीयक अर्थात् विघ्नध्वंसके बिना समाप्ति नहीं हो सकती; इसलिए विघ्नध्वंस समाप्तिमें द्वार है और समाप्ति मुख्य फल है। एवं प्रकृतमें पापनाश अवान्तर फल है और साक्षात्कार मुख्य फल है। यद्यपि आमुष्मिक तद्भावाप्ति ही मुख्य फल है ऐहलौकिक उक्त साक्षात्कार नहीं, किन्तु वह मुख्य फलका साधन है, तथापि ऐहिक पापनाशकी अपेक्षा उक्त साक्षात्कार मुख्य कहा जा सकता है, इस तात्पर्यसे इसको प्रधान फल कहा है, इसमें विशेष आगे कहेंगे ॥२४॥

'लोष्टः पाषाणभेदाय' इत्यादि। पत्थरको चूर करनेके उद्देश्यसे यदि उसके ऊपर मिट्टीका ढेला फेंका जाय, तो उससे पत्थरकी कुछ भी क्षति नहीं होती,

किन्तु ढेला स्वयं चूरचूर हो जाता है, क्योंकि ढेलेकी अपेक्षा पत्थर अतिसख्त और दुर्भेद्य है। एवं प्राणका भेदन करनेके उद्देश्यसे आसुरभावका प्रयत्न स्वनाशका मूल हुआ। लोष्टके समान असुर स्वयं अनेक प्रकारसे नष्ट हुए। भाव यह है कि सात्त्विक चित्तवृत्तियां वे हैं, जो शास्त्रजनित ज्ञान-कर्मकी वासनासे होती हैं। आसुर चित्तवृत्तियां वे हैं, जो स्वाभाविक ज्ञान-कर्मसे हुआ करती हैं। उनको आसुर इसलिए कहते हैं कि वे रागद्वेषात्मक होनेसे दूषित हैं तथा निकृष्ट कर्ममें प्रवर्तक होनेसे पुरुषको स्थावरान्त अधोगति प्रदान करती हैं। सात्त्विक चित्तवृत्तियोंने आसुरवृत्तियोंसे अपनी बारबार पराजय देखकर आपसमें परामर्श किया कि आसुरवृत्तियां संख्यामें हम लोगोंसे बहुत अधिक हैं, इनसे आत्मत्राण पाना कठिन है। इसलिए कर्म द्वारा प्रकर्षसम्पादनके बिना इनपर विजय पाना कठिन है। अतः हम लोग प्रभावातिशयके लिए कोई अनुष्ठान अवश्य करें, यह विचार कर उन्होंने औद्गात्र कर्ममें वागिन्द्रियकी प्रेरणा की कि तुम औद्गात्र कर्म करो। उक्त कर्ममें वागिन्द्रियकी प्रवृत्ति देख असुर समझ गये कि हम लोगोंकी पराजयके लिए यह अनुष्ठान हो रहा है, इसलिए अब इसमें आत्मरक्षार्थ विघ्न करना चाहिए। इस विचारसे असुरोंने आसङ्गलक्षण पापसे उक्त इन्द्रियको विद्ध किया, जिससे उक्त इन्द्रिय उक्त कर्ममें असफल हुई। इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ क्रमशः पापविद्ध होनेसे असमर्थ होती गईं। अन्तमें प्राणसे कहा गया कि आप उक्त कर्ममें उक्त मन्त्रका गान कीजिए। जब प्राणने गान आरम्भ किया तो फिर असुरोंने प्राणपर भी पूर्ववत् आक्रमण किया, किन्तु इस बारके आक्रमणमें असुर स्वयं नष्ट हो गए। इसमें लोष्टका दृष्टान्त देते हैं— भाव यह है कि लोष्टमें पत्थरके भेदनके लिए जितना वेग रक्खा जाता है वह सब वेग लोष्टका ही नाशक होता है, पत्थरका नहीं। सारांश यह कि प्राण अति गम्भीर अतएव अधर्षणीय और असुरोंके सर्वथा अगोचर है। असुरोंका नाश होनेपर वागादि इन्द्रियां फिर उक्त कर्मानुष्ठानसे वास्तविक स्वरूपापन्न हुईं। जिस आयुधसे असुरोंने अनेक वागादि इन्द्रियोंको हराया था, वे ही आयुध प्राणके संग्राममें भी थे, परन्तु इस बार असुरोंकी ही पराजय हुई और देवताओंकी विजय। एवंभूत प्राणकी स्तुति उपासनाके लिए प्राण ही उपादेय है, इन्द्रियां नहीं, यह सूचित करनेके लिए है। स्तुति और निन्दा उपादेय और हेय बोधनके लिए की जाती है, यह सारांश है ॥ २५ ॥

उपासनविरोधिन्यो रागाद्याश्चित्तवृत्तयः ।
आसुर्यो दूरतो यान्ति दूर्नामप्राणचिन्तनात् ॥ २६ ॥

'उपासनविरोधिन्यो' इत्यादि । प्राणोपासनाकी विरोधी रागादि चित्त-वृत्तियां आसुरी कहलाती हैं । दुर्गुणत्वविशिष्ट प्राणके ध्यानसे उक्त आसुरी वृत्तियां दूर भाग जाती हैं । भाव यह है कि विषयोंमें इन्द्रियोंकी आसक्ति पाप है । वस्तुतः इन्द्रियाभिमानी देवता अपरिच्छिन्न हैं, किन्तु अज्ञानवश तत्-तत् स्थानावच्छिन्नत्वके अभिमानसे उसकी वृत्तियां स्वाभाविक ज्ञानकर्मानुकूल विषयोंमें राग-द्वेषादि द्वारा कलुषित होनेसे आसुर कहलाती हैं और वे ही शास्त्रीय ज्ञानकर्मौपयिक वृत्तियोंकी विरोधिनी हैं अर्थात् सात्त्विक वृत्तिकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक हैं । इसलिए शास्त्रीय कर्म-ज्ञानमें स्वरसतः प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु स्वाभाविक ज्ञान-कर्ममें अनायास प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति होती रहती है; जिससे उत्कर्षापकर्षके तारतम्यसे मनुष्यादि स्थावरान्त अधोगति होती है । इस अनिष्टसे छुटकारा पानेके लिए श्रुति स्वयं उपायके साथ उपदेश देती है । दूर्नामत्वविशिष्ट प्राणकी उपासनासे प्रतिबन्धक आसुर वृत्तियोंकी निवृत्ति होगी, अन्यथा नहीं ।

शङ्का—अभिमत प्राणकी उपासनासे आसुर वृत्तियोंका क्या विरोध है ?

समाधान—विरोध यह है कि इन्द्रियोंका परिच्छेदाभिमान ही आसुरभावका मूल है । शास्त्रीय प्राणोपासनासे अपरिच्छिन्न स्वरूपका परिज्ञान होता है । परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्व ज्ञान परस्पर विरोधी हैं, इसलिए प्रामाणिक अपरिच्छिन्नत्व ज्ञानसे उनकी निवृत्ति उचित ही है । 'दध्ना जुहुयादिन्द्रियकामस्य' इस श्रुतिसे इन्द्रियार्थ होममें जैसे दधिरूप गुणका विधान है वैसे प्राणकी उपासनामें स्वतन्त्र फलके लिए दूर्गुणत्वका विधान नहीं हैं, किन्तु प्रधान प्राणोपासनाका जो फल है उसके लिए ही उक्त गुणका विधान है । कारण कि प्राणोपासनाके दो फल श्रुतिमें कहे गये हैं—एक तो पापहानि और दूसरा देवभाव । प्रकृत गुणसे पापहानिरूप फलका ही श्रवण है । प्रधान फलसे अतिरिक्त फल नहीं है । इसलिए विशिष्ट विधि है । केवल गुणविधि नहीं है ।

शङ्का—अच्छा तो इतर प्राणवत् प्रकृतप्राणकी वृत्ति भी पापसे

नैरन्तर्यप्रवृत्तेषु ध्यानेष्वन्येष्वपि क्षयः ।
कामादेरस्त्यथाऽप्यत्र त्वरा स्यात्प्राणवीर्यतः ॥ २७ ॥

विद्ध होती है, ऐसा अनुमान कर सकते हैं। अनुमान यह है कि प्राणवृत्तिः, पापविद्धा, प्राणवृत्तित्वात्, इतरप्राणवृत्तिवत् ।

समाधान—प्राणवृत्ति देहव्यापक है और वागादि इन्द्रियवृत्तियाँ परिच्छिन्न हैं, इसलिए परिच्छिन्न वृत्तियाँ पापदूषित हैं, अपरिच्छिन्न प्राणवृत्तियाँ नहीं। चक्षुसे कथन नहीं हो सकता, वाक्से दर्शन नहीं हो सकता, इसलिए ये परिच्छिन्न हैं। प्राणकी वृत्ति—चलनात्मक व्यापार—सब जगह समान है ॥ २६ ॥

'नैरन्तर्यप्रवृत्तेषु' इत्यादि। दुर्गुणविशिष्ट प्राणकी उपासनासे कामादि मनोवृत्तियां नष्ट होती हैं, इसलिए प्राणकी उपासनाका विधान है। इसमें यह शङ्का होती है कि 'धर्मेण पापमपनुदति' इस श्रुति तथा नित्यकर्मविधायक स्मृतियोंसे पापनाशके लिए नित्य कर्मानुष्ठान तो विहित ही है। फिर इसके लिए प्राणकी उपासनाकी क्या आवश्यकता है? और प्राणोपासनाका देवताभावप्राप्ति फल है, इसलिए यह काम्य कर्म होनेसे पापनिवर्तक नहीं हो सकता?

उक्त शङ्काका समाधान यह है कि नित्य कर्मका अनुष्ठान पापनिवर्त्तक है सही, किन्तु वही पापनिवर्त्तक है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि तीर्थस्नानादि भी पापनिवर्तक माने जाते हैं, पर अन्य उपायोंसे प्राणोपासनामें यह विशेष है कि यह उपासना जल्दी पापका नाश करती है और उपायान्तरसे देरमें पाप निवृत्त होता है। कारण यह है कि प्रकृतमें विषयासङ्गलक्षण पाप निवर्त्यत्वरूपसे विवक्षित है, वह विषयेन्द्रिय-सम्बन्धसे स्वाभाविक परिच्छिन्नाभिमान द्वारा ही होता है। शास्त्रबोधित अपरिच्छिन्न देवतात्मस्वरूपके चिन्तनसे उक्त पापकी निवृत्ति होती है। एक विषयमें परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्वका परस्पर विरोध है।

शङ्का—परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्वका विरोध होनेसे बाध्यबाधकभाव होता है, तो परिच्छिन्नत्वज्ञानसे अपरिच्छिन्नत्वज्ञानका ही बाध क्यों नहीं होता?

अहं मनुष्य इत्येतद्भावं त्यक्त्वाऽथ चिन्तकः ।
हिरण्यगर्भ एवाऽस्मीत्यात्मानमभिमन्यते ॥ २९ ॥

स्वरूप मानने लगीं, अतएव उपासकको स्वात्मवत् इन्द्रियोंका वास्तविक स्वरूप भासित होता है अर्थात् स्वयं और स्वकीय इन्द्रियाँ व्यापकरूपसे प्रतीत होती हैं। व्यापक तो वास्तवमें थीं ही, किन्तु आसङ्गलक्षण पापसे दूषित होकर अपनेको परिच्छिन्न समझती थीं। उक्त उपासनाके द्वारा वास्तविक स्वस्वरूपभानके प्रतिबन्धक उक्त पापकी निवृत्ति होनेसे वास्तविक सिद्ध अपरिच्छिन्न स्वस्वरूपकी प्रतीति होती है। इस उपासनाका ऐहिक फल साक्षात्कार है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। साक्षात्कारका लक्षण इस श्लोक तथा आगामी श्लोकसे कहते हैं ॥ २८ ॥

पूर्व श्लोककी व्याख्यासे इन्द्रियोंके अग्न्यादिस्वरूपसाक्षात्कारका निरूपण हो चुका। अब द्वितीय श्लोकसे उपासकका वास्तविक स्वस्वरूपसाक्षात्कार कहते हैं—'अहं मनुष्य इत्येतद्' इत्यादिसे ।

'मैं मनुष्य हूँ' इस भावका त्यागकर उपासक अपनेमें 'मैं हिरण्यगर्भ हूँ' ऐसा अभिमान करता है। वही साक्षात्कारात्मक अभिमान ऐहलौकिक उपासनाका फल है, यह भी पूर्वफलवत् अपूर्व वस्तुविषयक नहीं है, किन्तु वास्तविक उपासक हिरण्यगर्भस्वरूप है ही, किन्तु पूर्ववासनावश कार्यकरणोपाधि परिच्छेदाभिमान कर अपनेको अविद्यावश परिच्छिन्न मानता है। प्राणकी उपासनासे व्यापक स्वस्वरूपके भानके प्रतिबन्धक पापके निवृत्त होनेसे वर्तमान व्यापक स्वस्वरूपका भान होने लगता है, इसीसे फल कहलाता है। प्रतिबन्धक पापनिवृत्तिमात्रसाध्य है। पापनिवृत्ति और उक्त साक्षात्कारकी अभिव्यक्तिमें कालव्यवधान नहीं है अर्थात् प्रतिबन्धकनिवृत्तिके अव्यवहित उत्तर कालमें उक्त साक्षात्कार होता है। उपासक अपनेको साक्षात् विराट् समझने लगता है। जबतक इन्द्रियां व्यापक अग्न्यादिस्वरूप उपासकको न प्रतीत होंगी, तबतक उपासक अपनेको विराडात्मा नहीं समझ सकता, क्योंकि विराट्की इन्द्रियां पिण्ड परिच्छिन्न नहीं हैं, अन्यथा विराट्में समष्ट्यात्मत्व ही व्याहत हो जायगा, इसलिए स्व और स्वकीय इन्द्रियोंमें परिच्छेदाभिमानकी निवृत्ति आवश्यक है ॥ २९ ॥

आध्यात्मिकपरिच्छेदः प्राकृतज्ञानहेतुकः ।
युक्तोऽस्य बाधः शास्त्रीयाद्देवतात्माभिमानतः ॥ ३० ॥

'आध्यात्मिकपरिच्छेदः' इत्यादि । आध्यात्मिक परिच्छेद प्राकृतज्ञान-हेतुक है, इसलिए उसका बाध शास्त्रीय देवतात्माभिमानसे होना युक्त ही है । भाव यह है कि—

शङ्का—'अहं मनुष्यः' इत्यादि तच्छरीराभिमान स्वाभाविक प्रत्यक्ष-ज्ञानमूलक है, अनादिकालसे अनुवृत्त होनेसे बद्धमूल अतएव दृढ़ है और शास्त्र द्वारा जायमान अपरिच्छेदज्ञान अभिनव अतएव अप्ररूढ़मूल है । इन दोनोंमें विरोध होनेसे 'बलवता दुर्बलं बाध्यते' इस न्यायसे प्रबल परिच्छेदा-वगाही प्रत्यक्षसे स्वविरुद्ध अपरिच्छेदज्ञानका ही बाध होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है ।

समाधान—प्राकृतज्ञानहेतुक कहनेका तात्पर्य यह है कि परिच्छेदज्ञान मिथ्या है । शास्त्रोपदेशके बिना दुर्ज्ञेय आत्मा आदि विषयक ज्ञान जो स्वभावतः होता है, वह पशु-पक्ष्यादिसाधारण होनेसे मिथ्याज्ञान है, जैसे कि चन्द्र, सूर्यादिके मण्डलको हम लोग स्वाभाविक अपने प्रत्यक्षसे हस्त, वितस्ति आदि परिमाणवाला समझते हैं अर्थात् चन्द्रादिका मण्डल एक हाथसे अधिक चौड़ा नहीं है, ऐसा समझते हैं, किन्तु ज्योतिषशास्त्रादि द्वारा विचार करनेपर यह प्रतिदिनका प्रत्यक्ष यद्यपि प्ररूढ़मूल ( बद्धमूल ) है, तो भी ज्योतिष-शास्त्र द्वारा अचिरोत्पन्न पृथिवीपरिमाणसे भी सूर्यचन्द्रमण्डल अधिक परिमाणवाले हैं, यह ज्ञान परोक्षात्मक होनेपर भी युक्तिसहकृत होनेसे बलवान् माना जाता है । अतएव स्वाभाविक प्रत्यक्षज्ञानका बाधक होता है । यद्यपि उक्त बाधक ज्ञान होनेपर बाध्य प्रत्यक्षकी निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि तादृश ज्ञानशील ज्योतिषियोंको भी पूर्ववत् चन्द्रमण्डल आदिका प्रत्यक्ष होता है, पर फिर भी इस प्रत्यक्षमें अप्रामाण्यज्ञान होता है । उत्तर ज्ञानसे पूर्व ज्ञानमें मिथ्यात्वका बोध करना ही उत्तर ज्ञानमें बाधकत्व है और उससे पूर्व ज्ञानमें बाध्यत्व व्यवहार होता है । परोक्ष ज्ञानसे अपरोक्ष मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है, किन्तु मिथ्यात्व-प्रतीति होनेपर उसके अनुरोधसे तात्त्विक व्यवहार नहीं किया जाता । इस बाध्य-बाधकभावमें मूल है चन्द्रादिपरिमाण-

जीवाविष्ट उपास्योऽत्र देवताविग्रहः सदा ।
प्राणो हिरण्यगर्भात्मा यावत्तदभिमानता ॥ ३१ ॥

---

ज्ञान स्वाभाविक होनेसे दुर्बल है और ज्योतिषशास्त्रके अनुसार चन्द्रमण्डलका ज्ञान शास्त्रीय होनेसे सत्य है। 'धियां तत्त्वेषु पक्षपातः' न्यायसे समीचीन ज्ञानसे मिथ्या ज्ञानका बाध होता है यह सर्वसंमत है, इसलिए शास्त्रीय अपरिच्छिन्नत्व-ज्ञान प्रामाणिक होनेसे स्वाभाविक परिच्छिन्नत्व ज्ञानका बाधक होता है। इसमें वैपरीत्य शङ्का नहीं हो सकती इस अभिप्रायसे प्राकृत ज्ञान कहा है, उसका मिथ्या ज्ञानमें तात्पर्य है। उक्त देवताभिमानको सत्यत्वबोधनके तात्पर्यसे शास्त्रीय कहा है ॥ ३० ॥

'जीवाविष्ट' इत्यादि। देवताविग्रह ( देवताशरीर ) जीवाविष्ट प्राणात्मा हिरण्यगर्भ उपास्यस्वरूपसे विवक्षित है। उपासनाकी अवधि कहते हैं—जबतक मैं हिरण्यगर्भ हूँ, यह अभिमान न हो तब तक उपासना करनी चाहिए।

शङ्का—विराट्की उपासना ठीक नहीं है, करण विराट् अचेतनकी उपासना शास्त्रमें कहीं भी विहित नहीं है। उपासनाका फल तद्भावाप्ति कही गई है। यदि अचेतन उपास्य हो, तो चेतन उपासक अचेतन उपास्यरूपापन्न कैसे हो सकेगा ? और उपास्यमें उपासकाभिन्नत्वज्ञान मिथ्याज्ञान ही होगा। मिथ्याज्ञानसे कभी हितार्थका लाभ नहीं हो सकता, यह सबके अनुमत है।

समाधान—अचेतन उपास्य नहीं बतलाया गया है, किन्तु जीवाविष्ट उपास्यत्वरूपसे यहां निर्दिष्ट है। इस प्रकरणमें विराट्शरीराभिमानी आत्मा उपास्य है, जो देवताशरीर है अर्थात् क्रियाशक्तिप्राधान्यके तात्पर्यसे प्राण कहलाता है और ज्ञानशक्तिप्राधान्यसे हिरण्यगर्भ कहलाता है। हिरण्यगर्भ—अपञ्चीकृत भूतशरीरमें जो ब्रह्मचैतन्यका आभास या छाया ( प्रतिबिम्ब ) है, वही हिरण्यगर्भ कहलाता है। बिम्बप्रतिबिम्बका अभेद है, यह अन्यत्र प्रसिद्ध है। यहां अभी इसका निरूपण विस्तर भयसे नहीं करते हैं। इसका निर्णय प्रसङ्गवश पूर्वमें कर चुके हैं कि वेदान्तमें साक्षात् या परम्परासे ब्रह्म ही उपास्यत्वेन कहा गया है, अन्य नहीं। जिनका

भावनोपचयाज्जह्यात्परिच्छेदं स्वमासुरम् ।
न सकृत्प्राणविज्ञानमात्रेण ब्रह्मबोधवत् ॥ ३२ ॥

निर्गुण ब्रह्मकी उपासनामें अधिकार नहीं है, उनके लिए सगुण ब्रह्मकी उपासनाका विधान है। और जो उत्तमाधिकारी हैं, जिनका जन्मान्तरके संस्कारसे चित्त परिशुद्ध है, उनके लिए निर्गुण ब्रह्मका ध्यान बतलाया गया है। निर्गुण उपासनासे 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' के अनुसार इसी लोकमें ब्रह्मभावापत्ति होती है और सगुणोपासनासे लोकान्तरप्राप्ति होती है, तदनन्तर लोकाधिपतिके साथ अवसानमें ब्रह्मभावापत्ति होती है। इसीको क्रममुक्ति कहते हैं। प्रकृत उपासना क्रममुक्तिफलक है, इसलिए हिरण्यगर्भ, जो उपाधिविशेषसे प्राण और हिरण्यगर्भ कहलाता है वही चेतनात्मा उपास्य है, क्योंकि उपासक जीव स्वशरीरावच्छिन्नत्वरूप उपाधिसे अपनेको हिरण्यगर्भसे भिन्न समझता है, यह धारणा उपासककी स्वाभाविक मिथ्याज्ञानमूलक है। शास्त्रीय ज्ञान एतद्विपरीत है अर्थात् तुम उपासक साक्षात् हिरण्यगर्भस्वरूप हो, यह ज्ञान शास्त्रीय होनेसे समीचीन है। उपासनाकी अवधि यह है कि जैसे 'मैं मनुष्य हूँ' यह धारणा उपासनासे पूर्व उपासकमें पाई जाती है, वैसे ही 'मैं हिरण्यगर्भ हूँ' यह धारणा जबतक न हो, तबतक यह उपासना करनी चाहिए। उसके बाद फलसिद्धि होनेपर फिर इस उपासनाकी आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि उपेयसिद्धिपर्यन्त ही उपायका अनुष्ठान किया जाता है, इसमें किसीका विवाद नहीं है ॥ ३१ ॥

'भावनोपचया०' इत्यादि। शास्त्रीय ज्ञानको समीचीनत्वमात्रसे यदि बलवान् मानते हो, तो एक बार 'मैं हिरण्यगर्भस्वरूप हूँ' ऐसा ज्ञान होनेसे भी परिच्छिन्नत्वाभिमानकी निवृत्ति होनी चाहिए, असकृत् ध्यानकी क्या आवश्यकता है? सकृत् प्रदीपप्रकाशसे अन्धकारकी निवृत्ति होती है, अन्धकारकी निवृत्तिके लिए असकृत् प्रदीपप्रकाश अपेक्षित नहीं है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'न सकृत्' इत्यादि। भाव यह है कि उपासक शास्त्रसे उपास्यके स्वरूपका निश्चय कर तद्विषयक निरन्तर भावना करनेसे भावनाप्रकर्षके बलसे स्वकीय आसुर परिच्छेदका त्याग करता है। इस अर्थमें व्यतिरेकी दृष्टान्त कहते हैं—जैसे सकृत् ब्रह्मविज्ञानसे अविद्यानिवृत्तिपूर्वक ब्रह्मात्मभावका साक्षात्कार तत्त्वज्ञानीको होता है वैसे सकृत् उक्त भावनासे हिरण्यगर्भस्वरूपाभिव्यक्ति नहीं होती।

भावनातोऽन्यदेवाऽऽत्मसाक्षात्कारादयं पुमान् ।
देवो भूत्वेह तच्चित्तो मृत्वा देवोऽभिजायते ॥ ३३ ॥

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान तो प्रायः सबको हो जाता है फिर भी ब्रह्मसाक्षात्कार कहां होता है? यदि सकृत् विज्ञानमात्रसे आत्मैकत्वसाक्षात्कार होता, तो मननादि उपायका विधान भी व्यर्थ ही होता, किन्तु ऐसा है नहीं, इसलिए दृष्टान्त असंगत है ।

समाधान—मनन, निदिध्यासन आदिका विधान चित्तशुद्धिके लिए है । अशुद्ध चित्तमें वाक्य द्वारा ज्ञान नहीं होता । होनेपर भी अयोग्यताज्ञानसे अप्रमात्मक प्रतीत होता है, इसलिए वाक्यजन्य तादृश साक्षात्कारात्मक ज्ञानकी उत्पत्ति प्रतिबन्धक अशुद्धि आदि दोषोंकी निवृत्तिके लिए मननादि आवश्यक हैं, यह पीछे उपपादन कर चुके हैं, अतः यहांपर पुनः उसके लिए परिश्रम करना व्यर्थ है । शुद्ध चित्तमें सकृत् श्रुत तत्त्वमस्यादि वाक्यसे आत्मैकत्वविज्ञान होता है, यह मानकर प्रकृतमें व्यतिरेकी दृष्टान्त उचित ही है, अतएव सकृत् कामिन्यादिके ध्यानसे उनका साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु निरन्तर ध्यानसे ही उनका साक्षात्कार होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी निरन्तर दीर्घ काल, आदरादि पूर्वक ध्यानसे उसका साक्षात्कार होता है, एक बारके ध्यानसे नहीं ॥ ३२ ॥

'भावनातो०' इत्यादि । यह प्रकृत प्राणोपासक अन्य देवके ( प्राणात्मक हिरण्यगर्भके ) तादात्म्यसाक्षात्कारसे देवता होकर सदा उपास्य देवतामें लवलीन होनेसे मरणके अनन्तर स्वयं उपास्य देवतास्वरूप हो जाता है अर्थात् सायुज्य फल पाता है । भावार्थ यह है कि आत्माको आत्मान्तरका स्वभावतः प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए वह अतीन्द्रिय माना जाता है, किन्तु 'रथगत्येव सारथिः' इस वचनके अनुसार शरीरचेष्टादिसे अन्यदीय शरीरमें आत्माका अनुमान होता है । जैसे अचेतन रथकी समीचीन गति केवल चेतन घोड़ेके सम्बन्धमात्रसे नहीं होती, इसलिए उसपर सारथीका अनुमान होता है । उपास्य हिरण्यगर्भ प्राण है उपासक जीव है ये दोनों पिण्ड और घटकी तरह भिन्न कार्य हैं, वस्तुतः एक नहीं हैं । इसलिए उपासनाके बलसे जन्य साक्षात्कारसे उपासक प्रथम स्वयमुपास्यस्वरूप होकर, मरणपर्यन्त तादृश साक्षात्कारसे विशिष्ट होकर अन्तमें 'सदा तद्भावभावितः' इस भगवद्वचनके अनुसार उपास्यस्वरूप सायुज्य फल पाता है ।

ब्रह्मैव सन् वस्तुतः स्याद्ब्रह्माज्ञानमात्रतः ।
ज्ञानादज्ञानमुच्छिन्द्याद्भावना तत्र नार्थ्यते ॥ ३४ ॥

भावप्राप्तिकी अपेक्षा इसमें विशेष है। उक्त फल अज्ञानध्वंसमात्रसे प्राप्त होता है, यह अज्ञानध्वंसमात्रसे नहीं मिलता, किन्तु उक्त उपासनासे। जीव तो तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व भी ब्रह्मस्वरूप ही है केवल अज्ञानवश अपनेको भिन्न मानता है, अतः उसके अनुभवमें केवल अज्ञानमात्र व्यवधायक है। प्रकृत उपासक स्वयं हिरण्यगर्भस्वरूप नहीं है, किन्तु उससे भिन्न है, इसलिए अज्ञान इसमें व्यवधायक नहीं है। यद्यपि चैतन्यांश अभिन्न है तथापि तावन्मात्र तो हिरण्यगर्भ या जीव नहीं है, किन्तु उपाधिविशिष्ट है। वह तो भिन्न ही है। ब्रह्मसे निरुपाधि दोनों अभिन्न हैं पर सोपाधि तो पिण्ड और घटकी तरह भिन्न ही हैं। अतएव श्रुतिने स्पष्ट ही कहा है कि 'देवो भूत्वा देवानप्येति' अर्थात् देवता होकर देवभावको प्राप्त होता है। देवता होनेमें साधन है—शास्त्रविहित तत्तदुपासना। प्राणात्मत्व उपासनाका कार्य है, इस अर्थमें उक्त श्रुति ही प्रमाण है। कारण के बिना कार्य नहीं होता, इसलिए हिरण्यगर्भसायुज्य फलके लिए अश्वमेध कर्म और उसका ज्ञान —इन दोनोंका श्रुतिने विधान किया है। अतः ज्ञानमात्रसे यह फल नहीं होता, किन्तु पुरुषव्यापारसाध्य यह फल है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ ३३ ॥

उक्त व्यतिरेक दृष्टान्तको स्फुट करते हैं—'ब्रह्मैव सन्' इत्यादिसे। तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व भी जीव वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही है केवल अविद्यारूप आवरणसे अपनेको भिन्न मानता है, इसलिए तत्त्वज्ञानसे तिरोधायक अविद्यानिवृत्तिमात्रकी आवश्यकता है। ब्रह्मभावफलके लिए भावनाकी अपेक्षा नहीं है, इससे यह शङ्का निरस्त हुई कि प्राणात्मभावके समान ब्रह्मात्मभाव भी ज्ञानमात्रसे नहीं हो सकता, किन्तु इस फलके लिए भी भावना की आवश्यकता है, अतएव 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे उक्त फलके लिए ध्यानापरपर्याय उपासनाका विधान स्पष्ट देखते हैं। अन्यथा प्राणात्मभावको भी ज्ञानमात्र ही से मानना पड़ेगा। वैषम्यमें प्रमाण नहीं है, वस्तुतः प्रमाण तो 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'अतोऽन्यदार्तम्' इत्यादि श्रुतियां हैं। इनसे ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई तत्त्व ही नहीं है, यह सिद्ध होता है। जीवतत्त्व है यह सबका सिद्धान्त है, उसे तत्त्व मानना तो ब्रह्मस्वरूप माननेसे ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए ज्ञानमात्राधीन मोक्ष है, यह

हिरण्यगर्भता पूर्वमसती भावनाबलात् ।
लब्धव्या तेन तद्भावाभिमानो ध्यानजो मतः ॥ ३५ ॥
देवात्मत्वाभिमानो यः स साक्षात्कार ऐहिकः ।
आद्याभ्यारोहमन्त्रेण प्रार्थ्यते फलरूपतः ॥ ३६ ॥

स्पष्ट ही है । अव्यक्त ब्रह्मसे हिरण्यगर्भ, हिरण्यगर्भसे विराट्, विराट्से संपूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, इसीमें जीवका भी समावेश है । जैसे अज्ञाननिवृत्तिमात्रसे जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है वैसे अज्ञाननिवृत्तिमात्रसे प्राणोपासक हिरण्यगर्भस्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि हिरण्यगर्भ और जीव ये दोनों अज्ञानकल्पित ही हैं; अज्ञाननिवृत्तिसे इन दोनोंकी निवृत्ति हो जायगी । जब हिरण्यगर्भकी स्थिति न रहेगी तो उपासक हिरण्यगर्भस्वरूप कैसे रह सकता है ? इसलिए अज्ञानदशामें ही हिरण्यगर्भरूप फलप्राप्तिके लिए यह उपासना कही गई है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निरुक्त उपायसे ही उक्त फलप्राप्ति होती है, अज्ञानध्वंसमात्रसे नहीं । अव्यक्त हिरण्यगर्भ आदिकी स्वयंसिद्धि माननेसे 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिविरोध स्पष्ट ही है और मोक्ष भी नहीं बन सकेगा, क्योंकि आत्मैकत्वरूप मोक्ष आत्मासे इतर पदार्थके अभावमें ही बनता है । यदि अव्यक्त हिरण्यगर्भादिकी भी स्वतःसत्ता मानी जाय, तो अद्वितीयत्वलक्षण मोक्षकी सर्वथा असिद्धि ही हो जायगी ॥३४॥

'हिरण्यगर्भता' इत्यादि । उपासनासे पूर्व उपासकमें हिरण्यगर्भता नहीं है, किन्तु उपासना द्वारा अनन्तर कालमें प्राप्तव्य है, इसलिए हिरण्यगर्भात्माभिमान उपासनाजन्य है । जैसे जीवमें तत्त्वज्ञानसे पूर्व भी ब्रह्मभाव सत् है असत् नहीं है वैसे उपासकमें हिरण्यगर्भता पहलेसे सिद्ध नहीं है, किन्तु उत्पाद्य है । प्रकृत उपासना ही इसकी उत्पादिका है, यह शास्त्रसे सिद्ध होता है । अतएव यह फल कर्मजन्य होनेसे अनित्य है, मोक्षके समान नित्य नहीं है । इसी तात्पर्यसे इन कर्मोपासनाओंका फल मृत्युभावप्राप्तिपर्यन्त ही है, मृत्युका अतिक्रम उनका फल नहीं है ॥३५॥

'देवात्मत्वा०' इत्यादि । हिरण्यगर्भात्माभिमान ( मैं हिरण्यगर्भ हूँ इत्याकारक साक्षात्कार ) जो ऐहलौकिक फल कहा गया है, इसी लोकमें इसी शरीरमें वह साक्षात्कार इष्ट है । उक्त फल पानेके लिए प्रथम अभ्यारोह मन्त्रसे उपासक प्रार्थना करता है । प्रथम अभ्यारोह मन्त्र यह है—'असतो मा सद्गमय' इस मन्त्रका

हिरण्यगर्भरूपत्वं स्वस्यैवाऽऽमुष्मिकं फलम् ।
प्रार्थ्यं द्वितीयमन्त्रेण तृतीयेनोभयं पुनः ॥ ३७ ॥
सायुज्यमपि सालोक्यं स्याद् द्विधाऽऽमुष्मिकं फलम् ।
भावानाया विचित्रत्वाद् द्वयं पुरुषभेदतः ॥ ३८ ॥

अर्थ पहले कह चुके हैं, तो भी सुखावबोधके लिए संक्षेपसे फिर कहते हैं। स्वाभाविक कर्मज्ञान मृत्यु है, वही असत् भी कहलाता है। शास्त्रजनित कर्मज्ञानका फल अमृत है, अतः वह अमृत भी कहा जाता है और सत् भी कहलाता है। हयको और उपासकको स्वाभाविक ज्ञानकर्ममूलक प्रवृत्तिसे हटाकर शास्त्रीय कर्मज्ञानमूलक प्रवृत्तिमें पहुँचाइए अर्थात् इन कर्मोंसे निवृत्त कर सत्कर्मानुष्ठानपरायण कीजिए।

शङ्का—फल सुख अथवा दुःखनिवृत्ति ये ही दो पुरुषके प्रार्थ्यमान होनेसे पुरुषार्थ कहलाते हैं, देवभावापत्ति तो उक्त अन्यतररूपात्मक है नहीं, अतः फल यह कैसे कही जा सकती है ?

समाधान—ठीक है, यद्यपि यह मुख्य फल नहीं है तथापि उक्त मुख्य फल-साधन होनेसे यह भी फल कहलाती है ॥३६॥

'हिरण्यगर्भ०' इत्यादि। मरणके अनन्तर उपासककी जो हिरण्यगर्भ-स्वरूपप्राप्ति होती है, वह आमुष्मिक फल है। उसकी प्रार्थना द्वितीय मन्त्रसे की गई है और तृतीय मन्त्रसे दोनोंकी प्रार्थना है। द्वितीय मन्त्र है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इसका यह अर्थ है—मृत्यु तम है। शास्त्रीय कर्मविज्ञान मृत्यु है, क्योंकि कर्मोंका फल सातिशय और विनाशी होता है। उसका हेतु शास्त्रीय कर्मज्ञान भी मृत्यु कहा जाता है। उस तमसे ज्योतिः ( प्राजापत्य अमृत ) पदको प्राप्त कराइए। तृतीय मन्त्रके उक्त दोनों ही अर्थ माने जाते हैं, इसलिए उनको पृथक् नहीं कहा पूर्वमें कह भी चुके हैं ॥३७॥

अभ्यारोह मन्त्रसे प्रार्थनीय फलका निरूपण करनेके अनन्तर फिर आमुष्मिक फल और तत्साधनका भेद कहते हैं—'सायुज्य०' इत्यादिसे।

सायुज्य और सालोक्य भेदसे आमुष्मिक पारलौकिक फल दो प्रकारका है। भावना विचित्र होती है—उत्कृष्ट और अपकृष्ट। भावनाके प्रकर्ष और अपकर्षमें हेतु पुरुषविशेष है। अधिकारीके तारतम्यसे साधनके अनुष्ठानमें तारतम्य होता है और अनुष्ठानतारतम्यसे फलमें तारतम्य प्रसिद्ध

मनुष्यत्वव्यवहृतेर्यावत्स्यात् दृढविस्मृतिः ।
तावच्चेद्भावानां कुर्यात्तदा सायुज्यमाप्नुयात् ॥ ३९ ॥
देवात्मतायाः प्राचुर्ये मर्त्यत्वं च कदाचन ।
भाति चेत्तर्हि सालोक्यं तदप्येवमनेकधा ॥ ४० ॥

---

ही है । उत्तम उपासक प्राणोपासना द्वारा सायुज्य फल पाता है और मध्यम अधिकारी उक्त उपासनासे सालोक्य फल पाता है । इतने-मात्रसे शास्त्र अव्यवस्थित नहीं कहा जा सकता । शास्त्रमें अधिकारीके अनुरूप दोनों प्रकारके फल प्रकृत उपासनाके बतलाए गये हैं । सायुज्य समानरूपता है और सालोक्य समानलोकता है । सायुज्यकी अपेक्षा समानलोकता मध्यम है, यह स्पष्ट ही है ॥ ३७ ॥

'मनुष्यत्व०' इत्यादि । उपासना द्वारा 'मैं मनुष्य हूं' यह व्यवहार विस्मृत हो जाय [ यद्यपि भावनाके समयमें उक्त व्यवहारका विस्मरण उभयोपासक साधारण है तथापि व्युत्थानदशामें भी तादृश विस्मण हो ] तो वह विस्मण दृढ़ कहलाता है । दृढ़ विस्मरण तक उक्त भावना करनेसे सायुज्य फलकी प्राप्ति होती है, इससे सायुज्यफलकामीके लिए तावत्पर्यन्त उपासना करनी चाहिए, यह बोधन करनेके लिए इसका निर्देश किया है ॥ ३९ ॥

'देवात्मतायाः' इत्यादि । 'मैं हिरण्यगर्भ हूँ' यह भावना प्रचुर हो अर्थात् दीर्घकाल तक हो और कभी कभी 'मैं मनुष्य हूँ' यह भी भावना होती जाय, तो इस उपासनासे सालोक्य फल होता है । सालोक्य भी अनेक प्रकारका होता है, कारण कि तत्कारण प्राणोपासना पुरुषबुद्धिके भेदसे अनेक प्रकारकी हो सकती है। किसीको मनुष्यत्वभावना बीच बीचमें अधिक समय तक अनेक बार होती है, किसीको स्वल्प समय तक मनुष्यत्वभावना होती है, किसीको एक दिनमें एक बार ही अति स्वल्प समय तक होती है इत्यादि मनुष्यत्व-देवत्वकी भावनाके प्रकर्ष और निकर्षसे तत्फल सालोक्य भी अनेक प्रकारका होता है। समान लोकमें सब समान ही नहीं होते, जैसे मनुष्यलोकमें सम्राट्, राजा, धनी, निर्धन इत्यादि सब प्रकारके मनुष्य रहते हैं वैसे ही तत्तल्लोकमें विविधसुखविशिष्ट जीव रहते हैं । साधन-तारतम्यसे ही फल-तारतम्य होता है, यह निर्विवाद है ।

शङ्का—मनुष्यदेही जबतक उपासक है तबतक 'मैं हिरण्यगर्भ हूँ' और ऐसी

हिरण्यगर्भो भूयासं भाविसृष्टौ जगत्सृजन् ।
इति सङ्कल्पयुक्तश्चेत्तथैव भवति ध्रुवम् ॥ ४३ ॥
इत्थमुक्तं मुख्यफलं गुणानां फलमुच्यते ।
न दूर्गुणफलं पापदूरत्वं तस्य मुख्यतः ॥ ४४ ॥

---

रहता है और सारूप्यमें समानरूपता तो हो जाती है, किन्तु जगद्‌व्यापारमें स्वतन्त्रता नहीं रहती है। अन्यथा कदाचिद् भिन्नाभिप्राय होनेसे जगद् अव्यवस्थित हो जायगा। यदि स्वस्वसङ्कल्पानुसार कार्य न कर सके, तो एक में अनीश्वरत्वापत्ति होगी। समानशक्तिक ज्ञानवाले दो ईश्वरोंको कोई भी शास्त्रकार नहीं मानते और न मानने लायक ही है, इसलिए सारूप्यका भी सालोक्यमें ही अन्तर्भाव मानना समुचित है ॥४२॥

शङ्का—अच्छा तो इस मतके अनुसार सायुज्य मुक्ति कौन है ?

समाधान—'**हिरण्यगर्भो**' इत्यादिसे। अगली सृष्टिमें जगत्‌की सृष्टि करता हुआ 'मैं हिरण्यगर्भ होऊँ' इस भावनासे—सङ्कल्पसे—युक्त होकर जो प्राणोपासक निरन्तर प्राणकी उपासना करता है वह भावी सृष्टि में अवश्य हिरण्यगर्भ होता है और जगत् की वैसे ही रचना करता है। इसीको सायुज्य मुक्ति कहते हैं। इस प्रकारकी मुक्ति कल्पान्तरमें ही होती है, क्योंकि एक कल्पमें एक ही हिरण्यगर्भ होते हैं। इनकी आयु अपने वर्षके अनुसार एक सौ वर्षकी होती है। इनका कार्यकाल समाप्त होनेपर प्रलय हो जाता है अर्थात् जगत्‌का अवसान हो जाता है। अवसान भी ब्रह्मवर्षके अनुसार एक सौ वर्षका ही होता है। अवशिष्ट प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार जब पुनः सृष्टि प्रारम्भ होती है, तो वही हिरण्यगर्भ होता है जो अतीत कल्पमें उक्त सङ्कल्पसे युक्त होकर प्राणकी उपासना कर चुका है, वही सायुज्य मुक्ति फलका भागी कहलाता है ॥४३॥

'**इत्थमुक्तम्**' इत्यादि। उक्त प्रकारसे मुख्य प्राणकी उपासनाका फल कह चुके। अब गुणोंकी उपासनाका फल कहा जाता है—दूनामंगुणकी उपासनाका फल पापनिवृत्ति है, इस भ्रमके वारणके लिए कहते हैं कि पापकी निवृत्ति उक्त गुणका फल नहीं है, कारण कि पापकी निवृत्ति हिरण्यगर्भात्मप्रत्यक्षमें कारण है, क्योंकि उपासकमें हिरण्यगर्भका प्रत्यक्ष होनेमें पाप प्रतिबन्धक है। प्रतिबन्धकाभाव कार्यमें कारण माना जाता है, इसलिए उक्त गुणविशिष्ट प्राणकी उपासना

वागादिपोषकत्वं यत्प्राणस्य तदुपासनात् ।
ज्ञातीनां पोषको भूत्वा श्रैष्ठ्यादिगुणवान्भवेत् ॥ ४५ ॥
अस्य वैरी स्वपोष्याणां पोषणाय न शक्नुयात् ।
अस्य शिष्यश्च भक्तश्च शक्नुतां ज्ञातिपोषणे ॥ ४६ ॥

जो मुख्य है उसीका फल है । यद्यपि देवभावसाक्षात्कार ही मुख्य उपासनाका फल कहा गया है, पापनिवृत्ति नहीं, तथापि पापनिवृत्तिके बिना उक्त साक्षात्कार नहीं होता, इसलिए वह भी उस उपासनाका अवान्तर फल है, यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं । 'दध्ना जुहुयादिन्द्रियकामस्य' के समान केवल गुणमात्रका यह फल नहीं है, किन्तु विशिष्ट उपासनाका ही यह फल है ॥ ४४ ॥

'वागादि' इत्यादि । वागादि इन्द्रियपोषकत्व जो प्राणनिष्ठ गुण-विशेष है, उसकी उपासनाका फल यह है कि जो उपासक पोषकत्वगुण-विशिष्ट प्राणकी उपासना करता है, वह उपासक अपने ज्ञातियोंका पोषक होकर श्रेष्ठत्वादि गुणवान् भी होता है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वागादि इन्द्रियाँ स्वनिर्वाहके लिए प्राणको घेर कर बैठ गईं कि हमारी स्थिति आपके अधीन है और प्राणने कहा कि मैं आप लोगोंका पूर्ण पालन करूँगा इसके लिए आप लोग चिन्ता न करें और उक्त रीतिसे प्राण सकल इन्द्रियोंका पालन करता है उसी प्रकार प्राणोपासकके समीप उसके बन्धुवर्ग उक्त संकल्प कर बैठ जाँय, तो उपासक स्वज्ञातिमात्रका प्राणवत् पोषण कर सकता है और इन्द्रियोंने जैसे 'त्वं नः श्रेष्ठः' अर्थात् आप हम सबमें श्रेष्ठ हैं, ऐसा माना है वैसे ही ज्ञातिके लोग यह कहेंगे कि भगवन् ! आप हम लोगोंमें श्रेष्ठ हैं ।

शङ्का—प्राण तो जिस अन्नादिका भक्षण करता है उसीसे यथायोग्य सब इन्द्रियोंका निर्वाह होता है उन्हें अतिरिक्त अन्नकी अपेक्षा नहीं रहती, यह सबपर स्पष्ट है, किन्तु प्राणवेत्ताके भक्षणसे तो ज्ञातियोंका पोषण नहीं हो सकता, उनके पोषणके लिए तो अतिरिक्त अन्नादिकी आवश्यकता होगी, उसे प्राणवेत्ता कहांसे लायेगा ।

समाधान—प्राणवेत्तामें जो प्राणविद्या है उसीके प्रभावसे इच्छानुसार अन्नादिलाभ उक्त विद्वान्को होता है । उसीसे सबका पालन करता है, यह इतिहास-पुराणादिका परिशीलन करनेवालोंसे छिपा नहीं है ॥ ४५ ॥

'अस्य वैरी' इत्यादि । जो प्राणवेत्ताका प्रभाव देखकर कुढ़ता है और

स्वसुवर्णप्रतिष्ठानध्यानात्स्वादिफलं भवेत् ।
एतैर्गुणफलैर्मुख्ये फले विश्वास उद्भवेत् ॥ ४७ ॥
मुख्यात्फलं चिरेण स्यादचिरेण गुणात्फलम् ।
अतो गुणफले दृष्टे पुंसः श्रद्धा विवर्द्धते ॥ ४८ ॥

चाहता है कि हम भी इसी प्रकार अपने ज्ञातिके लोगोंका पोषण करें वह पोषण करना तो दूर रहा, स्वयं नष्ट हो जाता है । तात्पर्य यह है कि प्राणकी स्पर्द्धा करनेसे जैसे असुर नष्ट हो गये वैसे ही प्राणवेत्ताकी स्पर्द्धा करनेसे उसके शत्रु स्वयं नष्ट हो जाते हैं और ज्ञातियोंका पोषण भी नहीं कर सकते । महान्का विद्वेष विपरीत फलप्रद होता है, यह भी स्पष्ट ही है, उसके लिए उदाहरणकी अपेक्षा नहीं है । उसके विद्वेषका फल कहकर उसकी भक्तिका फल कहते हैं—'अस्य' इत्यादिसे । प्राणवेत्ताका शिष्य अथवा भक्त सेवक अपनी अपनी ज्ञातियोंका पोषण कर सकता है । पोषण गुणका अभिधान उपलक्षण है, उक्त गुणान्तरका भी फल ऐसा ही समझना चाहिए । पुरोगन्ता अन्नाद अधिपतिके शिष्य और भक्त स्वज्ञातियोंमें पुरोगन्ता अन्नाद और अधिपति हो सकते हैं । प्राणवेत्ताका वैरी असुरोंके समान स्वयं नष्ट हो जाता है, स्वज्ञातियोमें उक्त गुणसे विशिष्ट होना तो दूर रहा ॥ ४६ ॥

'स्वसुवर्ण०' इत्यादि । स्वधन, सुवर्ण और प्रतिष्ठाके ध्यानसे धन, सुवर्ण और प्रतिष्ठा होती है । इन सब गुणोंके निर्देश करनेका तात्पर्य कहते हैं कि गुणोंका फल देखनेसे प्रधान कर्मके फलमें भी विश्वास होता है अन्यथा फलप्राप्तिमें सन्देह होनेपर तदुपायमें साभिनिवेश प्रवृत्ति न होगी । फलप्राप्तिमें दृढ विश्वास होनेपर ही फलार्थीकी उसके उपायमें दृढ प्रवृत्ति होती है, इसलिए गुणके फलका अभिधान आवश्यक और सप्रयोजन है ॥ ४७ ॥

'मुख्यात्फलं' इत्यादि । मुख्य कर्मसे फल देरमें होता है और गौणसे स्वल्प कालमें उसका फल होता है । स्वल्पकालिक गुणफलको देखकर मुख्यफलमें भी पुरुषकी श्रद्धा बढ़ती है । 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' इत्यादि धर्मस्मृतियोंमें यह कहा गया है कि शास्त्रविहित कर्मोंका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करनेसे ही शास्त्रोक्त फल होता है, श्रद्धावैगुण्यसे कर्म विगुण हो जाता है । विगुण कर्मका शास्त्रोक्त फल नहीं होता, इसलिए अन्य अङ्गोंके समान श्रद्धा भी कर्माङ्ग है । श्रद्धा आन्तरिक धर्म है, वह

गुणमुख्यफले उक्ते फलभागथ चिन्त्यते ।
कर्म्यैव फलभागत्र कर्मकाले विधानतः ॥ ४९ ॥

फलप्रत्यक्षके बिना नहीं होती । मुख्य फल अनेक वर्षोंके बाद हो सकता है, इसलिए मध्यमें फलादर्शनप्रयुक्त अश्रद्धा हो सकती है, इसके दूर करनेका उपाय शास्त्रकारोंने यह बतलाया है कि गुणफलोंपर अनुष्ठाताका ध्यान होना चाहिए । जिस गुणका जो फल शास्त्रमें लिखा है तादृश गुणकी उपासनाका फल देख कर साधक यह समझ सकता है कि शास्त्रीय इस गुण उपासनाका यह फल कहा गया है, सो हो रहा है, इसलिए वैसे ही शास्त्रविहित मुख्य कर्मका भी फल अवश्य होगा ॥४८॥

'गुणमुख्य०' इत्यादि । गुण और मुख्य इन दोनोंके फलनिरूपणके अनन्तर फलभागी कौन होता है ? इसका विचार करते हैं अर्थात् उक्त फल यजमानको होता है अथवा ऋत्विक्को ? 'शास्त्रदेशितं फलं कर्तरि' इस वचनके अनुसार कर्तृगामी फल होता है, यह पूर्वमीमांसामें निश्चित हो चुका है, फिर इसमें सन्देह ही क्यों ? सन्देहका बीज यह है कि ज्योतिष्टोमयागानुष्ठानानुसारि-प्रकरणस्थ उद्गीथको लेकर प्राणदर्शनका विधान किया गया है, जपकर्म-समुच्चित ज्ञानसे प्राणभावापत्ति कही गई है । यागका फल यजमानगामी होता है, इसमें सन्देह नहीं । यागमें अनेक कर्म होते हैं, जिनको एक समयमें अथवा भिन्न समयमें भी एक पुरुष नहीं कर सकता, क्योंकि अपेक्षित मन्त्र और उनके ज्ञानका एक पुरुषमें असंभव ही है। संभव होनेपर भी होता, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता इत्यादि विभिन्न पुरुषोंका विधान है । जिसका जो कर्म कर्तव्यत्वेन विहित है वही उस कर्मका अनुष्ठान कर सकता है, अन्य नहीं, अतः औद्गात्र, आध्वर्यव इत्यादि कर्मोंकी परिभाषा है । यजमान दक्षिणा द्वारा ऋत्विगादिका परिक्रयण करता है, इसलिए ऋत्विगादि कर्मका फल यजमानगामी होता है । यह वहांका सिद्धान्त है, यहांपर इन्द्रियोंने तीन स्तोत्रोंमें यजमानके फलका गान कर शेष स्तोत्रोंमें स्वार्थका भी गान किया है और यहां तो उक्त सन्देहका वस्तुतः अवसर ही नहीं है। 'यानीतराणि' इत्यादि श्रुतिसे नौ स्तोत्रोंमें स्वार्थका भी आगान स्पष्ट ही लिखा है, अतः यजमानके समान उद्गाता भी फलभागी हो सकता है, यही निष्कर्ष करेंगे, परन्तु विचारार्थ प्रथम पूर्वपक्ष कहते हैं कि

प्रस्तोता प्रस्तुयात्साम यस्मिन्काले तदा जपः ।
कार्योऽभ्यारोह उद्गात्रा स च प्राणविदीरितः ॥ ५० ॥
एष एवंविदुद्गाता यं कामं कामयेत तम् ।
स्वार्थं वा यजमानार्थं सम्पादयति सर्वथा ॥ ५१ ॥
इति श्रुतेरन्यतरो यजमानर्त्विजोः फलम् ।
परकर्मप्रवेशेऽपि वचनादृत्विजः फलम् ॥ ५२ ॥

---

कर्मीको ही फलभागी होना चाहिए, क्योंकि कर्मकालमें ही उक्त मन्त्रके जपका विधान है ॥४९॥

'प्रस्तोता' इत्यादि । जिस कालमें प्रस्तोता सामका प्रस्ताव आरम्भ करे, उस कालमें उद्गाता अभ्यारोहका जप करे, किन्तु उद्गाता प्राणविद् हो । तात्पर्य यह है कि 'अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः' इत्यादि भाष्यसे अभ्यारोह जपका समय कहते हैं । यद्यपि उद्गीथ लिङ्गसे सामगानके समय उक्त मन्त्रका जप प्राप्त होता है तथापि कालका संकोच करनेके लिए कहते हैं—पवमानस्तोत्रगानके समयमें ही जप करना चाहिए, इतर समयमें नहीं । किन्तु प्रस्तावके समयमें ही उक्त जप विवक्षित है, इस जपका नाम है—अभ्यारोह, अभ्यारोहति अध्यात्मपरिच्छेदं त्यक्त्वा देवभावमनेन इति अभ्यारोहः— देवभावप्रापक जप ॥५०॥

'एष एवं०' इत्यादि । प्राणवेत्ता उद्गाता जिस जिस कामकी इच्छा करे उस उस कामका स्वार्थ या यजमानके लिए गान करे । पवमानमें यजमानका जो अभीष्ट फल है उसके गानके अनन्तर अपने फलके लिए शेष मन्त्रोंमें उद्गान करे ।

शङ्का—यजमानकार्यसिद्धिके लिए प्रवृत्त उद्गाता स्वकार्यका कैसे संपादन करेगा ?

समाधान—क्यों नहीं करेगा ? 'आत्मने वा यजमानाय वा' यह श्रुति स्वयं कह रही है कि अपने कामका भी गान करे, क्योंकि उद्गाता प्राणवेत्ता है । प्राणने भी तो ऐसा ही उद्गान किया था । प्राणवेत्ता उद्गाता स्वविद्यासामर्थ्यसे यजमानके फलका और अपने फलका सम्पादन कर सकता है । दोनों फलसिद्धियोंमें समर्थ है, इसलिए उभयफलसिद्धिके लिए गान समुचित है ॥ ५१ ॥

'इति श्रुते०' इत्यादि । उक्त श्रुतिसे दोनोंकी फलश्रुति है, यजमानका फल तथा

तस्मात्स्याद्देवभावाप्तिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयात् ।
कर्महीने तु विदुषि स्यान्न वेत्यत्र शङ्क्यते ॥ ५३ ॥
तदेतत्प्राणविज्ञानं कर्महीनमपि ध्रुवम् ।
स्वफलप्रदमेवेति श्रुत्या शङ्का निवार्यते ॥ ५४ ॥

ऋत्विक्का फल श्रुतिसे श्रुत है, इसलिए यजमानकामसंपादन करनेके लिए प्रवृत्त उद्गाता स्वफलका भी साधन कर सकता है। उक्त श्रुतिवचनसे ऋत्विक्को भी फल होता है। जहां ऋत्विक्की स्वतन्त्र फलश्रुति नहीं है, वहां केवल यजमानगामी फल माना जाता है। प्रमाणाभावसे स्वतन्त्र ऋत्विगादिगत फल नहीं होता, जैसे ज्योतिष्टोमादियागका फल केवल यजमानमात्रगामी माना जाता है॥ ५२ ॥

'तस्माद्' इत्यादि। प्राणविज्ञान और उक्त मन्त्रजप इन दोनोंके समुच्चयसे देवभावरूप फलकी प्राप्ति होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान और तत्सहकारी कर्मसे कर्मीको देवभावप्राप्ति होती है। इसमें तो सन्देह नहीं है, सन्देह इसमें है कि कर्मशून्य केवल विद्वान्को यह फल होता है या नहीं? क्योंकि सहकारीके बिना केवल कारणमात्रसे कार्य लोकमें दृष्टचर नहीं है, अन्यथा सहकारित्वका ही अभाव हो जायगा ॥५३॥

प्रकृत शङ्काका मूल है—समुच्चयहेतुकत्व, इसका उत्तर देते हैं—'तदेतत्प्राण०' इत्यादिसे ।

उक्त प्राणविज्ञान कर्मरहित भी स्वफलप्रद अवश्य होता है, क्योंकि 'तद्धैत-ल्लोकजिदेव' इत्यादि श्रुतिसे केवल विद्वान्को भी फल होता है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है, फिर इसमें शङ्का ही क्या है? सहकार्य्यन्तरके विषयमें साधारण नियम है, लेकिन यहां संशय उचित नहीं, विद्याबलको न समझकर शङ्का की गई है, क्योंकि अन्यत्र धरणीसलिलसंयोगके बिना केवल कुसूलस्थ बीजसे अङ्कुर नहीं होता, इसीके निराकरणके लिए 'तद्धैतत्' श्रुति है। श्रुतिप्रमित अर्थमें शङ्काका अवकाश नहीं है अथवा वर्तमान जन्ममें कर्मोपासनासे हिरण्यगर्भात्मताका साक्षात्कार होता है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु सत्यलोकप्राप्ति ज्ञानकर्मसमुच्चयसे कही गई है। इसलिए केवल विद्वान्को उक्त लोकप्राप्ति होती है या नहीं, यह शङ्का होती है, इसके निराकरणके लिये 'तद्धैतल्लोकजिदेव' इत्यादि श्रुति है। इससे केवल ज्ञानीको भी उक्त लोककी प्राप्ति होती है, यह निर्णय किया गया है। अर्थात् समुच्चयसे सत्यलोकप्राप्ति

इहैवाऽऽसुरभावस्य प्राणोऽस्मीत्यभिमानतः ।
प्रध्वस्तत्वात्कुतः शङ्का भवेद्धेतुविवर्जनात् ॥ ५५ ॥

होती है इसमें प्रमाण तो आगम ही है, फिर केवल ज्ञानसे भी उक्त लोककी प्राप्ति होती है इसमें उक्त आगम ही प्रमाण है, इसलिए शंका अयुक्त है। उक्त श्रुतिका अर्थ यह है—यह प्राणविज्ञान यथोक्त ( कर्मशून्य ) भी लोकजिदेव अर्थात् सत्यलोकप्राप्तिफलक है । 'न हैवा लोकताया आशास्ति य एवमेतत्साम वेद' जो उक्तरूपसे साम प्राणको जानता है उसको अलोकताकी आशा नहीं करनी चाहिए अर्थात् ज्ञानमात्रसे सत्यलोकप्राप्ति होती है ॥ ५४ ॥

'इहैवासुर०' इत्यादि । इसी शरीरमें 'मैं प्राण हूँ' इस भावनासे आसुरभावके प्रध्वंस होनेसे शङ्का कैसे ? शङ्काका बीज आसुरभाव ही है । उक्त कारणसे उसका नाश होनेपर ( बीजाभावसे अङ्कुरके समान शङ्काबीजके अभावसे ) शङ्काका भी असंभव ही है । तात्पर्य यह है कि उपासक जबतक अपनेको शरीरसे परिच्छिन्न मानता है तबतक उससे यह कहा जाय कि आप अपरिच्छिन्न हिरण्यगर्भ हैं या इस उपासनासे अपरिच्छिन्न हो जायँगे, तो उसको समय समय पर शङ्का हो सकती है कि परिच्छिन्न अपरिच्छिन्न कैसे होगा ? परिच्छिन्नाभिमानको ही आसुरभाव कहते हैं, क्योंकि स्वाभाविक ज्ञानकर्मसे ही यह होता है । 'मैं अपरिच्छिन्न प्राणस्वरूप हूँ' इस निरन्तर भावनासे जब अपनेको वस्तुतः अपरिच्छिन्नस्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है तब परिच्छिन्नस्वरूप उक्त आसुरभाव नष्ट हो जाता है । तो मूलाभावसे शङ्का नहीं होती, शङ्का मूल रहनेसे होती है अन्यथा नहीं । एक ही धर्मीमें परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते । स्थाणु है या पुरुष ? यह संशय तबतक रहता है जबतक अन्यतर कोटिका निर्णय नहीं हो जाता । पुरुष है यह निर्णय होनेपर शङ्काका बीज नष्ट हो जाता है, इसलिए पुनः शङ्का नहीं होती ; एवं अपरिच्छिन्नत्वका साक्षात्कार होनेसे परिच्छिन्नत्व भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है । उक्त भ्रम ही शङ्काका बीज है, इसलिए शङ्काके अभावका कारण कहते हैं— 'हेतुविवर्जनात्' । शङ्काके हेतुके अभावसे शङ्का नहीं हो सकती, केवल ज्ञान फलप्रद है या नहीं ? इस शङ्काकी निवृत्ति केवल श्रुतिसे ही होती है, यह बात नहीं, न्यायसे भी यह अर्थ सिद्ध होता है कि केवल ज्ञानसे भी उक्त फलकी

मनुष्योऽस्मीति धीर्यस्य भवेदासुरपाप्मतः ।
तन्मूलात्तस्य शङ्का स्यात्सत्यप्यस्मिन्समुच्चये ॥ ५६ ॥

प्राप्ति होती है इसमें सन्देह नहीं, कारण न्यायसे विचारिए, न्याय क्या है ? 'कारणाभावे कार्याभावः'। इस न्यायसे 'शङ्काकारणाभावे शङ्काभावः' यह अनायास सिद्ध होता है ॥ ५५ ॥

शङ्काका मूल कहते हैं—

'**मनुष्योऽस्मी०**' इत्यादि। उक्त विषयाभिष्वजलक्षण पापसे 'अहं मनुष्योऽस्मि' ( मैं मनुष्य हूँ ) यह बुद्धि जिस मनुष्यकी है उस मनुष्यको उक्त पापमूलक शङ्का समुच्चयपक्षमें भी हो सकती है, फिर केवल ज्ञानपक्षमें ही यह आक्षेप क्यों ? उक्त मूलका नाश होनेपर समुच्चयपक्षके समान केवल ज्ञानपक्षमें भी शङ्का नहीं हो सकती। अच्छा, यह विचार कीजिए कि समुच्चयपक्षमें देवभाव फल यजमानको होता है या उद्‌गाताको ? सुवर्णादिके ज्ञानसे उद्गातामें फल माना गया है। अयास्यादि गुणक प्राणविज्ञानसे यजमानमें फल कहा गया है। 'आत्मने यजमानाय वा' इस श्रुतिसे समुच्चित प्राणध्यानसे किसको फल होता है ? यह विचारना आवश्यक है। यजमान को होता है या उद्गाताको अथवा दूसरे किसीको ? उद्गाताको तो समुच्चयपक्षमें फल नहीं हो सकता, समुच्चय ज्ञान और कर्म एकात्मनिष्ठ ही है। यजमानार्थ कर्ममें प्रवृत्त उद्गाता स्वयं कर्मी नहीं है केवल ज्ञानी है, इसलिए उद्गातामें समुच्चय नहीं है।

शङ्का—उद्गाता तो यजमानका कर्म करनेके लिए व्यापृत रहता है, तो उसमें कर्माभाव कैसे कहते हो ? उपासना उद्गातामें ही है, फिर समुच्चयमें शङ्का क्या ?

समाधान—शंका यह है कि उद्गाताकी उपासनाका उसके कर्मके साथ समुच्चय कहते हो या यजमानकर्मके साथ ? प्रथम पक्षमें तो आपने ही कह दिया है कि उद्गाता परकर्मप्रवृत्त है अर्थात् उद्गाताका कर्म स्वकर्म नहीं है, किन्तु यजमानकर्म है। जिसका फल जिसको हो प्रकृतमें उसीका वह कर्म कहलाता है और उस समयमें उद्गाताको उक्त ज्ञान भी नहीं रह सकता। उपासनासन्ततिसे अनुवर्तमान प्राणज्ञान होता है, इसीसे प्राणका साक्षात्कार होता है। यदि संतति मानें, तो वह अपने कर्तव्यका अवधारण ही नहीं कर सकेगा। इसके बिना

न च धीजन्ममात्रेण परमात्मप्रबोधवत् ।
सम्भाव्यो देवभावोऽस्य देवो भूत्वेति संश्रयात् ॥ ५७ ॥

कर्मानुष्ठानका ही असंभव होगा । दोनों ज्ञानोंका एक समय एकमें संभव नहीं है । ज्ञानाभ्यासके विना भी शास्त्रप्रामाण्यसे उद्‌गानानुष्ठान द्वारा ही देवतासाक्षात्कार होगा, यह कल्पना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मानुष्ठानसे वस्तुसाक्षात्कार कहीं दृष्ट नहीं है । अदृष्टकल्पना निष्प्रामाणिक है । ज्ञानसन्ततिसे देवतासाक्षात्कारमें बाधक कह चुके हैं कि उद्‌गाता स्वकर्तव्य कर्मका अनुष्ठान ही कर सकेगा । अनुष्ठेय ज्ञानके बिना कर्म करनेमें प्रवृत्ति ही असंभव है, इसलिए कर्तव्यानुष्ठानके समय प्राणज्ञानसंतति नहीं हो सकती ॥ ५६ ॥

अभ्यासके बिना केवल ज्ञानमात्रसे ही ब्रह्मभावके सदृश देवभाव भी मानिये, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'न च धीजन्म०' इत्यादि ।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों द्वारा सकृद् ज्ञानमात्रसे ब्रह्मभाव होता है, यह पूर्वमें भी कह चुके हैं, सकृद् ज्ञानसे देवभाव प्राप्त होता है, ऐसा माननेमें कोई प्रमाण नहीं है, केवल प्रमाणाभाव ही नहीं, किन्तु इसके विपरीत प्रमाण मिलता है। वह यह है—'देवो भूत्वा देवानप्येति' 'भूत्वा' इस पदसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि देवभाव केवल ज्ञानमात्रसे नहीं, किन्तु देवता होकर देवभाव प्राप्त करता है । देवकर्तृक भवन, जो पुरुषव्यापार है, उससे साध्य देवभाव है, जैसे 'भुक्त्वा तृप्यति' भोजन करके तृप्त होता है, ऐसा कहनेसे तृप्तिमें भोजन-जन्यत्व और भोजनोत्तरकालिकत्वकी प्रतीति होती है वैसे 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इस वाक्यसे देवभवनजन्यत्व और देवभवनोत्तरकालिकत्वकी प्रतीति देवभावमें होती है, इसलिए सकृत् ज्ञानमात्रसे ब्रह्मभावके समान देवभाव प्राप्त होता है, यह कथन उपपत्तिशून्य है । इस तात्पर्यसे कहते हैं—सकृत् धीजन्ममात्रसे—सकृत्परमात्म-ज्ञानमात्रसे—मोक्षके सदृश देवभाव नहीं होता, कारण कि 'देवो भूत्वा' यह श्रुति है; इसका अर्थ कह चुके हैं । उद्गातामें ज्ञानकाल और ज्ञानाभावकालमें कर्मसमुच्चय नहीं हो सकता, यह तो हो चुका । अब यदि यजमानकर्मके साथ विद्वान् उद्गातामें समुच्चय मानकर फल कहें, तो वह भी नहीं बनता, कारण कि अन्यनिष्ठ कर्मका और अन्यनिष्ठ ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता, दोनोंके एकात्मनिष्ठ होनेसे समुच्चय कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं । प्रकृतमें कर्म यजमानमें और ज्ञान

समुच्चयाद्देवभाव आगमादेव निश्चितः ।
अतोऽस्य शङ्क्यमानोऽपि न शङ्क्यः प्राणदर्शिनः ॥ ६० ॥

'समुच्चयाद्देवभावः' इत्यादि । समुच्चयसे देवभाव आगमरूप प्रमाणसे निश्चित है, पर समुच्चयकी शङ्कासे उक्त रीतिसे समुच्चयके न बननेपर समुच्चयसे उक्त फलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? यदि यह शङ्का हो, तो भी प्राणदर्शीको तो अवश्य फल होगा, इसमें तो शङ्काका लेश भी नहीं है; क्योंकि देवभावमें दो साधन बतलाये गये हैं—एक ज्ञानकर्मसमुच्चय, दूसरा केवल ज्ञान । प्रथम पक्षमें समुच्चयानुपपत्तिसे फलमें शङ्काका संभव है, परन्तु द्वितीय पक्षमें तो शङ्का हो ही नहीं सकती ।

शङ्का—ज्ञानकर्म-समुच्चयसे देवभाव प्राप्त होता है, इसमें आगम प्रमाण आपने कहा, पर उक्त रीतिसे समुच्चय बनता ही नहीं है, ऐसी अवस्थामें अयुक्त अर्थमें आगमको प्रमाण कैसे कहते हो ?

समाधान—समुच्चयपर दृष्टि देनेसे प्रतीत होगा कि समुच्चयका सर्वथा असंभव नहीं है। सूक्ष्म दृष्टि दीजिये, 'एवंविदुद्गाता आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति' एवंविद्—उक्त रीतिसे अयास्यत्वादि गुणोंसे विशिष्ट—प्राणवेत्ता यजमानके लिए अथवा अपने लिए जो फल चाहता है, उसे पवमान स्तोत्रगानसे सिद्ध करता है । पवमानस्तोत्र यागमें ही गाया जाता है, स्वतन्त्र नहीं; इससे यह प्रतीत होता है कि केवल उक्त गान फलसाधक नहीं है, किन्तु कर्मसहकृत होकर ही उक्त फलका साधक है । एवंवित् इस विशेषणसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस प्रकारकी विद्यासे शून्य उद्गाता उक्त गानसे फलसाधनमें समर्थ नहीं है, इसलिए कर्मको उक्त फलकी सिद्धिके लिए विद्याकी अपेक्षा है । परस्परसापेक्ष ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर उक्त फलके साधक हैं, दोनोंका मेल ही समुच्चय कहलाता है। अब विचारना यह है कि दोनोंका मेल हो सकता है या नहीं ? उक्त रीतिसे समुच्चयकी उपपत्ति नहीं हो सकती, यह तो स्पष्टरूपसे कह चुके हैं । अब समुच्चयकी उपपत्तिपर ध्यान दीजिये, [ शास्त्रप्रमाणसे समुच्चयका उपपादन करते हैं— ] यजमानकी कर्मसिद्धि उद्गानव्यापारके बिना नहीं हो सकती, इसलिए स्वकर्मसिद्धिके लिए यजमान प्राणवेत्ता उद्गाताका वरण करता है और केवल उद्गानव्यापारसे भी फलसिद्धि नहीं होती, इसलिए कर्मका भी विधान है ।

वस्तुतः कर्मसंबन्धसे ही उद्गाता कहलाता है, केवल प्राणवेत्ता उद्गाता नहीं कहे जाते। कार्यविशेषके संपादनके लिए योग्य यजमान द्वारा वृत पुरुषविशेष उद्गाता कहलाता है, जो यज्ञमें ही होता है, स्वतन्त्र नहीं; इसलिए विद्या और कर्म इन दोनोंका समुच्चय फलका साधन है, यह तो शास्त्रसंमत है, पर विभिन्न दो पुरुषोंमें रहनेवाले ज्ञान और कर्मका समुच्चय हो कैसे ? यही विचारना है। विचार यह है कि यजमानके कर्मकी निष्पत्तिके लिए यदि उद्गाताकी अपेक्षा मानते हैं, तो वैसे ही उद्गाताके ज्ञानकी भी अपेक्षा मानिए। इसीलिए श्रुतिने उद्गातामें एवंवित् यह विशेषण दिया है। उद्गाताका कर्म यजमानके लिए फलप्रद होनेसे यजमानस्वामिक (यजमान उसका स्वामी) है, अतएव यजमानका ही कहा जाता है, उसी प्रकार यजमानके लिए फलप्रद होनेसे उद्गाताकी विद्या भी यजमानकी विद्या कहलाती है अर्थात् स्वजन्यफलवत्त्वसंबन्धसे उद्गाताका कर्म यजमानमें कहते हैं, एवं उक्त संबन्धसे उद्गाताकी विद्या भी यजमानमें है। इस रीतिसे यजमानमें ज्ञानकर्मका समुच्चय बनता है, इस समुच्चयसे यजमानको देवभाव होता है। इसी प्रकार उद्गातामें भी उक्त समुच्चय बनता है। जैसे उद्गाताके बिना ज्योतिष्टोमादि क्रिया नहीं हो सकती, वैसे ही उक्त क्रियाके बिना उद्गाताकी भी सिद्धि नहीं होती। यागमें वृत पुरुष ही उद्गाता कहलाता है। स्वजनकज्ञानाश्रयत्वसंबन्धसे क्रिया भी उद्गातामें है और आश्रयत्वसंबन्धसे ज्ञान भी उद्गातामें है ही। इस प्रकार उद्गातामें भी समुच्चय बनता है। अतएव उद्गाताको भी देवभावरूप फलकी प्राप्ति होती है। ऐसे सम्बन्धसे घटित समुच्चयमें प्रमाण समुच्चयसे फलप्राप्तिका बोधक आगम ही है। यद्यपि उद्गाता यजमान द्वारा क्रीत है तथापि समुच्चय दोनोंमें तुल्य ही है। इसलिए फलप्राप्ति भी समान ही होती है। भिन्न-भिन्न अधिकरणवाले ज्ञान और कर्मके समुच्चयकी शङ्का करना व्यर्थ है। जैसे यजमानस्वामिक कर्मको लेकर उद्गाताका अन्नाद्यागान फलसाधक माना जाता है, वैसे ही उद्गाताके ज्ञानको लेकर अर्थात् तत्समुच्चित यजमान कर्म भी फलसाधक होता है, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। अदृष्टफलक वाक्योंका उसके अनुसार ही अर्थ किया जाता है, इसलिए भिन्नाश्रयवृत्ति ज्ञानकर्मसमुच्चय यजमानगामी होनेसे यजमानको उक्त फल देता है और उद्गातृगामी होनेसे उद्गाताको भी फल देता है, इसमें कोई शङ्का नहीं है।

**शङ्का**—यदि समुच्चयसे देवभावप्राप्ति यजमान और उद्गाता दोनोंको

यस्तु कर्मजविक्षेपं सोढ्वा प्राणात्मभावदृक् ।
तस्याऽप्यशङ्कितोपास्तिबलादेव न कर्मणः ॥ ६१ ॥

होती है, तो 'तद्धैतत्' इत्यादि श्रुति केवल ज्ञानमात्रसे देवभावफल किसको कहती है ? यजमानको, उद्गाताको अथवा अन्य पुरुषको ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, कारण कि उक्त दोनोंमें समुच्चयसे ही फलसिद्धि हो जाती है, फिर उसके लिए उपायान्तरकी क्या आवश्यकता है ? द्वितीय पक्षमें पुरुषान्तर अप्रस्तुत है, इसलिए उसके लिए फलका कथन असङ्गत है ॥ ६० ॥

समाधान—'यस्तु कर्मजविक्षेपम्' इत्यादिसे । कर्मशून्य त्रैवर्णिकमात्रको केवल ज्ञानमात्रसे देवभाव प्राप्त होता है, यह बोधन करनेके लिए 'तद्धैतत्' इत्यादि वाक्य है । इससे केवल ज्ञानीको उक्त फलप्राप्तिमें सन्देह ही नहीं है ।

शङ्का—यदि उक्त शास्त्रप्रामाण्यसे त्रैवर्णिकमात्रको देवभावप्राप्ति होती है, तो कर्मसमुच्चयका क्या प्रयोजन ?

समाधान—जो कर्मी हैं, उनके लिए समुच्चय सप्रयोजन है । यजमान भी ज्ञानी हो यह कठिन है, किन्तु उसके यागमें प्रवृत्त होनेपर यदि प्राणविद् उद्गाता मिल जाय, तो उसको भी उक्त फल होता है, इसलिए समुच्चयका विधान समुचित है । श्लोकका अर्थ करनेसे पहले यह आशङ्का करनी चाहिए कि समुच्चयपक्षमें कर्मसमयमें कर्मविक्षेप अर्थात् अनुष्ठेय पदार्थज्ञानके अन्तरायसे निरन्तर प्राणविज्ञानोत्पादरूप ध्यानके न होनेसे उपासनासे फलप्राप्ति नहीं होती अथवा कर्मज विक्षेप होनेपर भी कर्मरूप सहकारीके प्रभावसे शास्त्रप्रामाण्यसे फलप्राप्ति होती है, यही शङ्का है । इसका उत्तर दे चुके हैं कि होती है, पर केवल ज्ञानसन्तानसे फलप्राप्ति होती है, इसमें तो शङ्काका लेश भी नहीं है । श्लोकका वाच्य अर्थ यह है कि जो पुरुष कर्मज विक्षेपको सहकर अर्थात् कर्मका त्याग कर प्राणात्मभावदृक् ( निरन्तर प्राणात्मस्वरूपका ध्यान करता ) है, उसको उपासनाके बलसे असन्दिग्ध देवभावकी प्राप्ति होती है । सारांश यह है कि यजमानने दक्षिणा द्वारा प्राणवित्‌को अपनाया है, अर्थात् उद्गाता यजमानस्वामिक हुआ है, अतएव उद्गातृकर्तृक उद्गान स्वामी यजमानको उक्त फल देता है, तो स्वय-

कर्मकाले चिन्तयतो देवावाप्तिः समुच्चयात् ।
निरन्तरं चिन्तयत इहैव प्राणरूपता ॥ ६२ ॥
उपासकप्रयोज्यत्वादभ्यारोहजपो न तु ।
सूत्रितः कल्पसूत्रेषु विद्याप्रकरणोक्तितः ॥ ६३ ॥

मुद्गाताको तो कैमुतिकन्यायसे फलप्राप्ति सिद्ध ही है। जलका शैत्य गुण स्वाश्रय जलसे संसृष्टको यदि शीत कर देता है, तो उसके साक्षात् स्वाश्रय जलको शीत करनेमें क्या आश्चर्य है, एवं उद्गाताका प्राणविज्ञान उद्गाताके स्वामी यजमानको यदि देवभाव प्राप्त कराता है, तो उद्गाताको देवभावप्राप्ति कराये इसमें क्या कहना है ? उद्गाताको अवश्य ही फल होता है, उसे सहकारी कर्मकी आवश्यकता नहीं है ॥ ६१ ॥

दोनों उपायोंकी व्यवस्था कहते हैं—'कर्मकाले' इत्यादिसे ।

कर्मकालमें प्राणके ध्यानसे कर्मज्ञानसमुच्चय मरणानन्तर देवभावप्रापक होता है, उससे पूर्व नहीं । और निरन्तर प्राणकी उपासनासे वर्तमान जन्ममें ही उपासक प्राणस्वरूप हो जाता है । समुच्चयकी अपेक्षा प्राणकी उपासना उत्कृष्ट है । कर्म स्वयं उक्त फल नहीं दे सकता, किन्तु ज्ञानसे सहकृत होकर ही उक्त फल देता है और ज्ञान कर्मानपेक्ष और वर्तमान जन्ममें ही फलप्रद होता है ॥ ६२ ॥

'उपासक०' इत्यादि ।

शङ्का—अभ्यारोह-मंत्रजप कर्म नहीं है, क्योंकि कर्मसूत्रकार आपस्तम्बादि महर्षियोंने उक्त मन्त्र-जपका सूत्र नहीं बनाया है । वे ही कर्म कहे जाते हैं, जिनके सूत्र उक्त महर्षियोंने रचे हैं ।

समाधान—उक्त महर्षियोंने इसका सूत्र नहीं बनाया, इस कारण यह कर्म नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह विद्याप्रकरणमें पढ़ा गया है, कर्मकाण्डमें नहीं; विद्वान् ही इस कर्मका अनुष्ठान कर सकते हैं, सर्वसाधारण नहीं; कर्मकाण्डमें विहित कर्मोंके ही सूत्रकारोंने सूत्र बनाये हैं, यह नित्यकर्म भी नहीं है, क्योंकि विद्वान् ही इस जपको कर सकते हैं; सन्ध्यावन्दनादिके समान त्रैवर्णिकमात्र नहीं, इसलिए उक्त महर्षियोंने इसका सूत्र नहीं बनाया है । अर्थ—अभ्यारोह मन्त्रका जप केवल उपासक ही कर सकता है तथा विद्याप्रकरणमें पठित है, इसलिए कल्पसूत्रोंमें इसका सूत्र नहीं है, परन्तु है यह भी कर्म ही ॥ ६३ ॥

ज्ञानकर्मसमुच्चेतुर्जप आवश्यको मतः ।
प्राणात्मदर्शनेनैव नियम्येतोर्ध्वरेतसः ॥ ६४ ॥
ध्यानं फलं फली चेति त्रय इत्थं निरूपिताः ।
सुस्थितं विधितात्पर्यमर्थवादो निरूप्यते ॥ ६५ ॥
देवासुराख्यायिकया प्राणशुद्धिः परीक्ष्यते ।

श्रुतिः ॥ द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव

'ज्ञानकर्मसमुच्चेतुः' इत्यादि । ज्ञानकर्मसमुच्चेता गृहस्थके लिए यह जप आवश्यक है । अनाश्रमी ऊर्ध्वरेताको प्राणकी उपासना ही करनी चाहिए, न कि उक्त मन्त्रका जप । ऊर्ध्वरेता वे कहे जाते हैं जो आजन्म ब्रह्मचर्यधारण करते हैं, चाहे वे धर्मजिज्ञासासे मरणपर्यन्त गुरुकुलमें रहें, या गुरुकुलमें न रहकर भी ब्रह्मचर्यका पालन करते रहें—जैसे भीष्मपितामह आदि । उनके लिए कर्मका विशेषरूपसे विधान नहीं है, यागादि कर्म भार्यासहितके लिए ही विहित हैं, विधुरादिके लिए नहीं । इसलिए वे कर्म कर ही नहीं सकते, फिर कर्मसमुच्चित जपमें उनका अधिकार कहाँ ? यदि उनको भी उक्त देवभावकी कामना हो, तो वे केवल प्राणकी उपासना करनेसे ही उक्त फलके भागी हो सकते हैं; इसलिए कहते हैं—'प्राणदर्शनेन' इत्यादि । अर्थात् उनके लिए प्राणदर्शन ही फलहेतु है, कर्मसमुच्चित दर्शन नहीं ॥ ६४ ॥

'ध्यानं फलं०' इत्यादि । अयास्यत्वादि और स्वादि अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग गुणोंसे विशिष्ट प्राणका ध्यान, देवभावप्राप्ति फल तथा यजमान, उद्गाता और ऊर्ध्वरेता फली, इस प्रकार उक्त तीनोंका निरूपण हो चुका । और विधितात्पर्य भी निश्चित हो गया कि उक्त फलके लिए कर्मीके लिए ज्ञानसमुच्चित कर्मका विधान है और अनाश्रमीके लिए केवल ज्ञानमात्रका विधान है ॥ ६५ ॥

इसके अनन्तर अब अर्थवादवाक्योंके अर्थका निरूपण करते हैं—'देवासुरा०' इत्यादिसे ।

देवासुरकी आख्यायिकाका तात्पर्य देवासुरसङ्ग्राममें नहीं है, किन्तु इस आख्यायिकासे इन्द्रियाँ क्यों पापसे बिद्ध हुईं और प्राण क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर ठीक समझमें आ जाता है, इसीमें आख्यायिकाका तात्पर्य है, इसमें यह प्रमाण भी है ।

देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त ते ह देवा ऊचुः हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ १ ॥

सात्त्विक्यो वृत्तयो देवास्तामस्योऽसुरसंज्ञकाः ॥ ६६ ॥
प्रजापतित्वप्राप्त्यर्थमुपासीनस्य वृत्तयः ।
वागादिजन्या द्विविधास्तत्राऽल्पा एव देवताः ॥ ६७ ॥

---

'द्वया ह' यहांसे 'अत्ययामेति' यहांतक श्रुति है। अर्थ स्पष्ट है और मूल श्लोककी व्याख्याके समय अति स्पष्ट हो जायगा, इस कारण स्वतन्त्र व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है ॥१॥

'सात्विक्यो वृत्तयो' इत्यादि । मनुष्योंकी चित्तवृत्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—एक सात्त्विक (सत्त्वगुणप्रचुर), [ सत्त्वगुणका लक्षण है 'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्' (इष्ट हलका तथा प्रकाशक) और इष्ट सुख—सदसत्का प्रकाश सात्त्विक चित्तवृत्तिसे हुआ करता है, इसमें भी न्यूनाधिकभावसे अन्य गुणोंके सम्बन्धसे अनेक भेद होते हैं जो शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं। ] ये ही सात्त्विक वृत्तियाँ देवशब्दसे विवक्षित हैं और दूसरी तामस । तमोगुणप्रचुर वृत्तियां तामस कहलाती हैं, तमोगुणका स्वभाव है—गुरु (भारी) और आवरण। यही वृत्ति सन्मार्गका प्रायः आच्छादन किया करती है और असत्कर्मप्रवृत्तिमें सहायक होती है, इसीलिए आसुर कही जाती है। चित्तकी वृत्तियाँ वस्तुतः दो ही प्रकारकी नहीं होतीं, किन्तु एक प्रकार और है जिसको राजस कहते हैं, कारण कि सत्त्व, रज और तमके भेदसे अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है । दो गुणोंका अपचय कर एक गुण उपचित होता है। वृत्तिकालमें जिस गुणका उपचय रहता है, वृत्ति तद्गुणात्मक कही जाती है, सत्त्वोपचयदशामें सात्त्विक, रजकी उपचयदशामें राजस और तमकी उपचयदशामें तामस । पर यहाँ दो ही का उपयोग है, इसलिए सात्त्विक और तामस दो ही वृत्तियाँ कही गई हैं, राजस नहीं कही गईं ॥ ६६ ॥

'प्रजापतित्वप्राप्त्यर्थं' इत्यादि । प्रजापतित्वरूप फलकी कामनासे प्राणोपासनामें प्रवृत्त साधक की वागादि इन्द्रियजन्य वृत्तियां दो प्रकारकी होती हैं, उनमें सात्त्विक वृत्तियां स्वल्प होती हैं वे ही देवता कहलाती हैं, मनुष्य जब कि शुभ काम करनेका सङ्कल्प करता है, तो स्वाभाविक तामस चित्तवृत्तियाँ उसमें बाधा डालनेके लिए विविध प्रकारके

दैवं वृत्तं यत्नसाध्यमासुरं सहजं ततः ।
देवाः कियन्त एव स्युरनन्ता असुरा नृणाम् ॥ ६८ ॥
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तलोकेष्वेनमुपासकम् ।
यथायथं नयामेति तेऽस्पर्द्धन्त परस्परम् ॥ ६९ ॥
अधोलोकफलेष्वेव प्राकृतासङ्गकर्मसु ।
यत्नादासञ्जनीयोऽयं पितेत्यासुरनिश्चयः ॥ ७० ॥

क्लेश तथा द्रव्यव्यय दिखलाती हैं और फलसिद्धिमें संशय डालकर कर्मीको सदा शुभकर्मसे विरत किया करती हैं। देवता असुरोंका जैसे शाश्वतिक विरोध है, वैसे ही इन वृत्तियोंका भी स्वाभाविक विरोध है, इसीसे इन वृत्तियोंमें देव और असुर शब्दका गौण प्रयोग किया गया है ॥ ६७ ॥

'कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः' इसमें हेतु कहते हैं—'दैवमित्यादि' से ॥

दैव चित्तवृत्ति यत्नसे साध्य है, सत्सङ्ग सदागमके परिशीलनसे वह प्राप्त होती है, इसीसे स्वल्प होती है और तामस वृत्तियाँ यत्नके बिना स्वभावतः हुआ करती हैं, इसलिए वे अधिक होती हैं। और यह भी न्यूनाधिक भावमें हेतु है कि सात्त्विक वृत्तियाँ आरम्भमें दुःखद और परिणाममें सुखप्रद होती हैं, इसके ठीक विपरीत आसुर वृत्तियाँ आरम्भमें अतिसुखप्रद और परिणाममें अतिक्लेशप्रद होती हैं, अतः आरम्भकालिक सुखके आसङ्गसे प्रायः असंयत आत्मा इन्हींको चाहता है और इनकी उत्पादक सामग्री सदा सब जगह सुलभ है, इन कारणोंसे देवता गिनतीके योग्य हैं और मनुष्यकी आसुर वृत्तियां अनन्त हैं, जिनका परिच्छेद करना असम्भव है ॥ ६८ ॥

श्रुत्युक्त परस्पर स्पर्द्धामें कारण कहते हैं,—'ब्रह्मादि०' इत्यादिसे ।

देववृत्तियाँ चाहती हैं कि प्राणके उपासकको ब्रह्मस्वरूप अथवा ब्रह्मलोकमें पहुँचावें और असुरवृत्तियां चाहती है कि इस उपासकको क्रमशः नीचे गिराते-गिराते स्थावर योनि तक पहुँचावें, यही परस्पर स्पर्द्धामें मूल कारण है ॥ ६९ ॥

'अधोलोक०' इत्यादि । किस प्रकार पिता यजमानको स्थावरान्त अधोलोकमें पहुँचावें, यह विचार कर असुरोंने निश्चय किया कि दृष्टफलक प्राकृतासङ्ग कर्म ही इस गतिका मूल कारण है, स्वाभाविक विषय अभिलाषामें प्राणियोंकी आसक्ति प्रायः होती है, इन्हीं फलोंके लिए पुरुष सतत प्रयत्न करता है, विषयभोग-

प्राकृतासङ्गहानेन पिताऽयं देवसाधनैः ।
उत्कृष्टव्यो यथाशक्तीत्येवं देवचिकीर्षितम् ॥ ७१ ॥
यद्यप्यचेतनत्वेन न स्पर्द्धेन्द्रियवृत्तिषु ।
अथापि तासां साकल्याद्देवानां वाऽभिमानिनाम् ॥ ७२ ॥

फलक जितने कर्म हैं, उनसे उन्नति नहीं हो सकती, किन्तु क्रमशः अधोगति ही होती है; इसलिए प्रयत्नपूर्वक विषयोंमें आसक्त कर स्वाभाविक ज्ञानकर्म में ही इनके मनको लगाना चाहिए, इसीसे हम लोगोंका अभीष्ट सिद्ध होगा। पारलौकिक कर्ममें प्रवृत्ति रोकनेसे ही यह काम पूरा होगा, क्योंकि प्रवृत्तिशील पुरुष प्रवृत्तिके बिना क्षणभर स्थिर नहीं रह सकता। यदि पारलौकिक कर्म न करेगा, तो अवश्य ही उक्त फलवाले कर्मोंका अनुष्ठान करेगा ही, यह असुरोंका विचार स्थिर हुआ ॥ ७० ॥

'प्राकृतासङ्गहानेन' इत्यादि। इस विषयमें देवताओंका निश्चय सुनिए, इन लोगोंने यह विचार किया कि पिताजीको स्वाभाविक प्राप्त ज्ञानकर्मोंसे छुड़ाकर देवभावप्रापक शास्त्रीय ज्ञानकर्मोंके अनुष्ठान आदि द्वारा देवभावप्राप्ति कराकर इनका उत्कर्ष ( उन्नति ) करें, यह देवताओंने अपना कर्तव्य निश्चित किया, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि असुरोंका पिताजीपर द्वेष था, देवताओंके समान उनका भी पिताजीपर प्रेम था, अतएव दोनों पिताजीका उत्कर्ष चाहते थे, परन्तु उत्कर्षबुद्धिमें मतभेद रहा। देवता देवभावप्राप्तिको उत्कर्ष मानते हैं, असुर लोग स्थावरान्त गतिको ही उत्कर्ष मानते हैं, अथवा साधनमें ही मतभेद था। असुर लोग पिताजीको वर्तमान समयमें क्षणभर भी दुःखी नहीं देखना चाहते थे, किन्तु सतत विषयानन्दसे प्रमुदित देखना चाहते थे और देवता लोग चाहते थे कि साधनावस्थामें चाहे जितना भी क्लेश हो उनको सहकर सदा सुखमय देवभावकी प्राप्ति करनी चाहिए, इसी कारण दोनोंमें स्पर्द्धा हुई ॥ ७१ ॥

'यद्यप्यचेतनत्वेन' इत्यादि।

शङ्का—स्पर्द्धा तो चेतनका धर्म है अचेतन इन्द्रियोंमें कैसे हुई ?

समाधान—स्पर्द्धासे यहां वृत्तियोंका उद्भव और अभिभव विवक्षित है, जो अचेतन वृत्तियोंका धर्म है। दैवी वृत्तिका उद्भव होता है, तो आसुरी

यदोद्भवति शास्त्रोत्था दैवी वृत्तिरथाऽऽसुरम् ।
बलं नश्यत्यशेषेण स देवानां जयो भवेत् ॥ ७३ ॥
आसुरी तु यदा सेना कामक्रोधपुरःसरा ।
जृम्भतेऽथ जयं प्रापुरसुरा देवनाशतः ॥ ७४ ॥

वृत्तिका अभिभव होता है और आसुरी वृत्तिके उद्भवकालमें दैवी वृत्तिका अभिभव होता है, यही स्पर्द्धा है । दैवी वृत्तिका उद्भव दैवी स्पर्द्धा है और आसुरी वृत्तिका उद्भव आसुरी वृत्तिकी स्पर्द्धा है ।

फिर भी देवताओं और असुरोंके परस्पर पराजयके लिए प्रयत्न और उसमें विघ्न करना इत्यादि चेतनधर्मोंकी क्या गति है ?

इन्द्रियवृत्तियाँ देव और असुर नहीं कही गई हैं, किन्तु उनके अभिमानी देवता देवता और असुर कहे गये हैं, अतएव प्रेरणाविषयत्वकी उपपत्ति भी होती है । इन्द्रियोंने वाक्से कहा कि तुम हम लोगोंकी विजयके लिए औद्गात्र कर्म करो । वाक्ने उद्गान किया तथा वह प्राणकी उपासना कर अग्न्यादि देवभावको प्राप्त हुई इत्यादि आख्यायिकाका अर्थ वागादि इन्द्रियाभिमानी देवताओंके तात्पर्यसे ही संगत हो सकता है, करणस्थानके ग्रहणसे यह सब संगत हो जायगा । और भाष्यकारने स्पष्ट ही कहा है कि 'वाग्देवतानिवर्त्यमौद्गात्रं कर्म' इत्यादि ।

शङ्का—वाग्देवता तो एक ही है, फिर वही देवता और असुर दोनों कैसे कही जा सकती है ।

समाधान—यद्यपि शुद्ध वाग् देवता एक ही है, किन्तु तत्तत् वृत्तिके भेदसे विशिष्ट भेद मान कर दोनों शब्दोंका समयभेदसे प्रयोग हो सकता है ।

शङ्का—जप-मन्त्रसे प्रकाश्य जो देवता है, वही प्रकृतमें उपास्य है, वाग्देवता जप-मन्त्रसे प्रकाश्य नहीं है, इसलिए वह उपास्य कैसे हो सकती है ?

समाधान—'असतो मा सद्गमय' इस मन्त्रकी वाग्देवता ही अभिधेय है और यही उद्गीथ देवता है, यह निश्चय कर देवताओंने उद्गीथबुद्धिसे वाग्देवताकी उपासना की ॥ ७२ ॥

'यदोद्भवति' इत्यादि । जिस समय शास्त्रसे प्रकाशित ज्ञानकर्मानुरूप दैवी चित्तवृत्ति होती है, उस समय समस्त असुरोंका बल नष्ट होता है, यही देवताओंकी विजय है ॥ ७३ ॥

'आसुरी तु यदा' इत्यादि । जिस समय काम-क्रोधपुरःसर आसुरी सेनाका

इस मनुवचनके अनुसार विनशनसे पूर्व और प्रयागसे पश्चिम प्रसिद्ध मध्यदेशका ग्रहण क्यों न किया जाय ?

समाधान—ऐसा कहनेसे मध्यदेशसे अतिरिक्त देशमात्र पापीयान् है, यह प्रतीत होगा, सो अनुचित है; क्योंकि यह प्रामाणिकप्रसिद्धिसे विरुद्ध है। शास्त्रप्रसिद्ध अनिन्दित आचारसे संस्कृत चित्तवाले मनुष्योंकी निवासभूमि मध्यदेश प्रसिद्ध है। मध्यदेशमें भी जो भाग अन्त्यजादिका आश्रय है, वह पापीयान् ही समझा जाता है, इसलिए उक्त विचारवाले मनुष्य और तदाश्रित देशकी अपेक्षासे इतर जन ( अन्त्यजादि जन ) और दिगन्त ( तदाश्रित देश ) ही हेयरूपसे विवक्षित है।

शङ्का—तो क्या मध्यदेश अनेकार्थक कहा जायगा ?

समाधान—मुख्य अनेक अर्थ मानने से अनेकार्थकी प्रसक्ति होती है। प्रकृतमें औपचारिक मध्यदेशका प्रयोग है। अनिन्दित आचारवाले पुरुष और तदाश्रित देश भाष्यमें मध्यदेश कहा गया है, इसलिए जो प्रसिद्ध मध्य देशका भाग है, किन्तु अनाचारी अन्त्यज आदिसे सेवित है, वह भी दिगन्त होनेसे त्याज्य है। और जो प्रसिद्ध मध्यदेशसे भिन्न है, किन्तु अनाचारी पुरुषोंसे युक्त नहीं, प्रत्युत सदाचारीसे युक्त है, वह उक्त मध्यदेशात्मक होनेसे त्याज्य नहीं है, किन्तु उपासकोंके लिए सेव्य ही है। सारांश यह है कि प्रत्यन्त देश तथा उसके निवासियोंमें प्राण देवताने उपासकके पापोंका निक्षेप किया है, इसलिए सज्जनोंको चाहिए कि म्लेच्छादि देश तथा उसमें रहनेवाले मनुष्य—इन दोनोंका त्याग करें।

शङ्का—उक्त निषेध प्राणके उपासकके लिए है, क्योंकि प्राणकी उपासनाके प्रकरणमें उक्त निषेध कहा गया है; फिर सज्जनमात्र इन दोनोंका त्याग क्यों करें ?

समाधान—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण०' इत्यादि मीमांसासूत्रमें यह विचार आया है कि जहाँ वाक्य और प्रकरणमें परस्पर विरोध प्राप्त हो वहां प्रकरणसे वाक्य बलवान् होता है, क्योंकि वाक्य लिङ्ग और श्रुतिकी कल्पना द्वारा विनियोजक होता है और प्रकरण वाक्य, लिङ्ग और श्रुति इन तीनोंकी कल्पना करके विनियोजक होता है। दोकी कल्पना तीनकी कल्पनाकी अपेक्षा अन्तरङ्ग है, इसलिए वाक्य

श्रुतिः ॥ सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहृत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥ ११ ॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२ ॥

---

प्रकरणसे बलवान् है, यह सिद्धान्त किया गया है। प्रकृतमें वाक्यसे सज्जनमात्रके लिए निषेध प्रतीत होता है, क्योंकि उक्त देश तथा उसमें रहनेवाले लोगोंके साथ संपर्क होनेसे पापका संसर्ग कहा गया है, जो सज्जनमात्रके लिए अनिष्ट है। इसलिए प्रकरणका बाध कर वाक्यसे सज्जनमात्रके लिए यह निषेध है। प्राणोपासकके लिए कैमुतिक न्यायसे निषेध सिद्ध होता है। 'नेत् पाप्मानम्' यहांपर नेत् इन दोनों पदोंका समास है किं वा असमस्त अतएव भिन्न-भिन्न हैं? अन्त्य पक्षमें 'इत् इत्थं निषेधपालनं न कुर्याम्' अर्थात् इस प्रकार उक्त निषेधका पालन यदि मैं न करूँगा, तो निषेधके उल्लंघनसे पापसंसर्गी हो जाऊँगा, सो यह अनिष्ट है। इसलिए उक्त निषेधका पालन अवश्य करना चाहिए। प्रथम पक्षमें पापसंसर्गी हो जाऊँगा, इसलिए निषेधका पालन करना चाहिए ॥ ८७ ॥

'सा वा एषा देवता' इत्यादि। उसी इस प्राण देवताने वागादि देवताओंको मृत्युरूपी पापसे मुक्त कर अग्न्यादिभावरूप वास्तविक स्वरूपका अनुभव कराया। ध्येय प्राणके विज्ञानसे अज्ञानका नाश हुआ और भावनाप्रकर्षसे ध्येयमें देवताभाव, भावनासामर्थ्यसे उपासकके उपाधिभूत वागादिदेवताको मृत्युका अतिक्रमण कराकर उपासककी आत्मा प्राणने अग्न्यादि देवभावको प्राप्त कराया अर्थात् जिस इन्द्रियका जो देवता है, उस इन्द्रियको उस देवताके स्वरूपको प्राप्त कराया ॥ ११ ॥

सामान्यतः उक्त अर्थको विशेषरूपसे कहते हैं—'स वै वाचमेव' इत्यादिसे। प्रथमशब्दका यहां प्रधान अर्थ विवक्षित है। उद्गानमें प्रधान वाग् ही है, उद्गाता आसन्य प्राणके अत्यन्त सन्निहित होनेसे इतर इन्द्रियोंकी अपेक्षा वाणी अत्यन्त समीप है, क्योंकि दोनोंका समावेश आस्यमें है। वाणीको मृत्युसे मुक्त कर अग्न्यादि स्वरूप प्राप्त कराया यही श्रुति क्रमशः कहती है। जिस समय वाग्ने मृत्युके परिच्छेदाभिमानका त्याग किया। उस समय वाग् अग्निस्वरूप हुई 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्'

अथ प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥ १३ ॥

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥ १४ ॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवꣳस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥ १५ ॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवं ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥ १६ ॥

एवं प्राणः स्वयं शुद्धः शुद्धं कुर्यादुपासकम् ।
अतो वागादिकं त्यक्त्वा प्राणं ध्यायेत्प्रतर्पकम् ॥ ८८ ॥

---

इस श्रुतिके अनुसार वाग्की देवता अग्नि है, यह सिद्ध है, सो यह अग्नि मृत्युसे मुक्त होकर अत्यन्त दीप्तिमान् होती है ॥ १२ ॥

'अथ प्राणमत्य०' इत्यादि । अर्थ पूर्ववत् स्पष्ट है । प्राण वायु हुआ । प्राणका देवता वायु है, वह मृत्युमुक्त होकर पवित्र करता है ॥ १३ ॥

'अथ चक्षुः' इत्यादि । पूर्ववत् । चक्षु आदित्य हुआ । चक्षुका देवता आदित्य है, वह मृत्युमुक्त होकर तपता है ॥ १४ ॥

'अथ श्रोत्रम्' इत्यादि । मृत्युसे मुक्त होकर श्रोत्र दिग् हुआ । प्राच्यादि दिशाएँ ये ही हैं ॥ १५ ॥

'अथ मनः' इत्यादि । मन मृत्युसे मुक्त होकर चन्द्रमा हुआ । मनका चन्द्रमा देवता माना जाता है, 'चन्द्रमा मनसो जातः' इत्यादि श्रुति इस अर्थमें अनुकूल है। भाति—शोभित होता है। उक्त फल उपासकको होता है, इसका निर्देश करते हैं—'एवंवेद' जो उक्तरूपसे उपासना करता है । वेदका तात्पर्य उपासनामें है । सकृत् ज्ञानमें नहीं है, क्योंकि तावन्मात्रसे फलका दर्शन नहीं होता ॥ १६ ॥

'एवं प्राणः' इत्यादि । एवं उक्त और वक्ष्यमाण गुणोंसे विशिष्ट प्राणकी प्रधानरूपसे जो उपासना ( साक्षात्कारफलक उपासना ) करता है, वह प्राणके उपासकको इस उपासनासे शुद्ध करता है, इसलिए अर्थात् स्वपरिशुद्धिके लिए

श्रुतिः ॥ अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदꣳसर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माऽभिसंविशतेति तथेति तꣳसमन्तं परिण्यविशन्त तस्माद्यदनेनान्नमत्ति ॥ १८ ॥

तर्पयत्येष वागादीन् स्वभुक्तान्नेन सर्वशः ।
इत्यर्थस्य कुतः सिद्धिरिति चेदुच्यते शृणु ॥ ८९ ॥

---

वागादि देवताओंका त्यागकर परिशुद्ध प्राणकी उपासना ( ध्यान ) करे । साक्षात्कृत प्राण उपासकका परिच्छेदाभिमान नष्ट कर सर्वात्मभावको प्राप्त कराता है ॥ ८८ ॥

'अथात्मने' इत्यादि । वागाद्युपाधिक यजमानके अभ्युदयके लिए तीन पवमानोंमें गान कर अवशिष्ट नौ स्तोत्रोंमें अपने लिए अन्न और आद्यका आगान किया । अन्नशब्दसे भोज्यसामान्यका संग्रह इष्ट है और आद्यशब्दका संस्कृतान्नमें तात्पर्य है, अतएव अन्न और आद्य ये दोनों शब्द सामान्य और विशेष विवक्षासे सार्थक हैं, अतः प्रकृतमें पुनरुक्तिकी आशङ्का नहीं है । अपने लिए अन्नाद्यका गान किया, इसमें कारण कहते हैं—'यद्धि'से । लोकमें प्राणी जो कुछ खाते हैं, वस्तुतः वह प्राण ही खाता है, चाहे अन्न हो अथवा आद्य । और शरीराकार परिणत अन्नमें ही प्राण प्रतिष्ठित रहता है, इसलिए प्राणने अपने लिए अन्नाद्यका आगान किया ॥ १७ ॥

शङ्का—'ते देवा अब्रुवन्' इत्यादि । प्राण ही खाता है, यह नियम ठीक नहीं है, अन्न द्वारा अन्य वागादि इन्द्रियोंका भी उपकार देखा जाता है ।

समाधान—हां, उपकार अवश्य देखा जाता है, किन्तु प्राणके भक्षणके द्वारा ही अन्यत्र भी उपकार होता है, अन्य इन्द्रियोंमें स्वतः अन्नाद्यके भक्षणकी सामर्थ्य नहीं है । वे वागादि देवता मुख्य प्राणसे बोले कि जिसे शरीरस्थितिके निमित्त खाते हैं, वही तो अन्न है, उससे अतिरिक्त नहीं है; किन्तु उस सबका आपने अपने लिए आगान किया और हम लोग भी अन्नके बिना नहीं रह सकते, इसलिए अपनेमें से कुछ हम लोगोंको भी दीजिये । प्राणने उत्तर दिया कि यदि आप लोग भी अन्नार्थी हैं, तो मेरे समीपमें ही बैठें, यह सुन कर अन्य देवताओंने कहा बहुत अच्छा । यह कह कर प्राणके चारों तरफ वे देवता बैठ गये । यह सबपर

भुक्तं त्रिधा भवत्यन्नं स्थूलमध्यमसूक्ष्मकैः ।
भागैः स्थूलो बहिर्याति मध्यमाद्देहपोषणम् ॥ ९० ॥
अणीयान्सूक्ष्मनाडीस्थो देवताः पोषयत्ययम् ।
पुष्टेन्द्रियैः सुखोत्पत्तिर्या जीवात्मन एव सा ॥ ९१ ॥
ता एता देवताः सप्तदश ज्ञानक्रियात्मकाः ।
सोऽयं सप्तदशग्रामो भोक्तुः करणलक्षणः ॥ ९२ ॥

विदित ही है कि निष्प्राण शरीरमें या सप्राण ही शरीरमें यदि प्राण भक्षण न करे, तो तत्-तत् इन्द्रियाधिष्ठानोंपर अन्नाद्यके रखनेपर भी अणुमात्र भी उनका उपकार नहीं होता, अतः प्राणके द्वारा ही अन्य इन्द्रियोंका उपकार होता है, यह निर्विवादसिद्ध है। प्राण द्वारा ही शेष इन्द्रिय आदिकी तृप्ति होती है, यह निष्कर्ष निकला ॥ ८८ ॥

'तर्पयत्येष वागादीन्' इत्यादि। एष यह प्राण स्वभुक्त अन्नसे वागादि समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करता है, यह अर्थ कैसे सिद्ध होता है, अर्थात् चैत्रके भक्षण करनेसे तदतिरिक्त मैत्रकी तृप्ति तो लोकमें दृष्ट नहीं है, इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं कि अन्यके भक्षणसे अन्यकी तृप्ति कैसे होती है, यह सुनो ॥ ८९ ॥

'भुक्तं त्रिधा' इत्यादि। प्राण द्वारा भुक्त अन्न तीन राशियोंमें विभक्त होता है। एक अंश स्थूल, दूसरा अंश मध्यम और तीसरा अंश सूक्ष्म कहा जाता है। स्थूल अंश पुरीष होकर शरीरसे बाहर निकल जाता है और द्वितीय मध्यम अंशसे शरीरका पोषण होता है ॥९०॥

'अणीयान्' इत्यादि। अणुतर तृतीय अंश सूक्ष्म नाड़ीरूप होकर उक्त वागादि देवताओंको पुष्ट करता है और पुष्ट इन्द्रियोंसे जो सुख होता है, वह जीवात्माका माना जाता है ॥ ९१ ॥

'ता एता देवताः' इत्यादि। ये सत्रह देवता ज्ञानात्मक और क्रियात्मक हैं, इन्हीं सत्रह देवताओंका समूह भोक्ता जीवका करण कहलाता है। नाडीस्थ सूक्ष्म भुक्तान्नरस इन्हीं देवताओंका पोषक है। इनमें स्वतन्त्रताके परिहारके लिए कहते हैं कि ये भोक्ता जीवके करण हैं, स्वतन्त्र नहीं है ॥ ९२ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाण्यपि ।
वायवः पञ्च बुद्धिश्च मनः सप्तदशं विदुः ॥ ९३ ॥
त्यक्तेऽपि स्थूलदेहेऽस्मिन्भूतपञ्चकमाश्रयः ।
लिङ्गं सप्तदशग्रामं प्राहुः पञ्चकसंयुतम् ॥ ९४ ॥
पयोम्भोवदिदं लिङ्गं नानारूपैः समन्वितम् ।
आविर्भावतिरोभावैः कारणात्मनि वर्त्तते ॥ ९५ ॥

उक्त सत्रह देवताओंका परिगणन करते हैं—'बुद्धीन्द्रियाणि' इत्यादिसे।

त्वक्, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और जिह्वा—ये पांच बुद्धिके साधन हैं, इसलिए बुद्धीन्द्रिय कहलाते हैं । वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पांच कर्मसाधन होनेसे कर्मेन्द्रिय कहलाते हैं । प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—ये पांच वायु प्राण कहलाते हैं। अध्यवसायात्मक बुद्धि और संकल्पात्मक मन—इन्हीं सत्रह करणोंका समुदाय लिङ्ग शरीर कहलाता है । इस लिङ्ग शरीरका ज्ञान विवेकियोंको ही होता है, साधारणको नहीं। आशय यह कि यह लिङ्ग शरीर स्थूल शरीरके समान सर्वसाधारणसे वेद्य नहीं है ॥ ९३ ॥

'त्यक्तेऽपि स्थूलदेहेऽस्मिन्' इत्यादि ।

शङ्का—देवताशब्दसे करण-समूह विवक्षित है । उक्त करणसमूहको स्थूल देहके आश्रित मानते हैं । स्थूल देहके नाशके पश्चात् करण निराश्रय तो रह नहीं सकते, अतः करणोंके भी नाशका स्वीकार करना पड़ेगा, तो तत्त्वज्ञानके बिना ही मरणके अनन्तर सबकी मुक्ति होनी चाहिए, ऐसी परिस्थितिमें तत्त्वज्ञान भी व्यर्थ ही है ।

समाधान—स्थूल देहका नाश होनेपर भी उक्त करण-समुदाय निराश्रय होकर नष्ट नहीं होता, किन्तु कारण अपञ्चीकृत पञ्चभूत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये ही उक्त सत्रह करणोंके आश्रय कहे जाते हैं । अपञ्चीकृत पांच भूत सब कार्योंके साधारण कारण माने जाते हैं ॥ ९४ ॥

'पयोम्भोवदिदम्' इत्यादि ।

शङ्का—पाँचभूत भी तो कार्य ही हैं, अतः उनका भी नाश अवश्यंभावी है, उनके नाशके बाद उक्त करणसमूह फिर किसमें रहेगा ?

समाधान—मूल कारणमें रहेगा । आशय यह है कि जैसे दूध तथा जल नानारूपसे रहते हैं, कभी दूध अपने स्वरूपसे रहता है और कभी दही आदि-

एकीभूते क्षीरनीरे यथा ज्ञानक्रिये तथा ।
एकीभूते स्थिते लिङ्गे रूपेणाऽनेकशक्तिके ॥ ९६ ॥
यथा वा धेनुभिः पीतं नीरं क्षीरीभवेत्तथा ।
साभासमोहश्चिन्निष्ठो लिङ्गीभूयाऽवभासते ॥ ९७ ॥

रूपसे परिणत होकर रहता है एवं जल भी कभी स्वस्वरूप द्रवात्मक स्वभावसे रहता है और कभी निमित्तान्तरके संसर्गसे हिमादि कठिन स्वभावसे परिणत हो जाता है, किन्तु विकार ( परिणाम ) दशामें भी क्षीर, नीरादिका नाश नहीं होता, किन्तु जिन स्वावयवोंमें क्षीरादि रहता है, उन्हींमें दध्यादि विकार भी रहते हैं, वस्तुतः क्षीरादि अवयवोंका ही रूपान्तरसे परिणाम होता है । केवल क्षीरादि अवयवोंमें दुग्धादिका आविर्भाव तिरोभाव होता है । तन्निमित्तक ही उत्पत्ति और नाशका व्यवहार होता है, एवं करणसमूह समष्टि व्यष्ट्यात्मक नाना-कारविशिष्ट कालभेदसे अभिव्यक्त होता है और फिर मूल कारणमें छिप जाता है ॥ ९५ ॥

आविर्भाव और तिरोभाव पूर्वमें कहे गये हैं, तिरोभावका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं—'**एकीभूते क्षीरनीरे**' इत्यादिसे ।

लिङ्गात्मक ज्ञान-क्रिया क्षीर-नीरके समान मिश्रितस्वरूप होनेसे विभक्त ( अलग-अलग ) स्वरूपसे नहीं प्रतीत होतीं, किन्तु एक पात्रमें दोनोंकी स्थिति रहती है, वैसे ही ज्ञानक्रियात्मक करणद्वय अविविक्त होकर अनेक शक्ति-विशिष्ट मूल कारणमें क्षीर-नीरके समान रहते हैं अर्थात् मूलकारणात्मना रहते हैं, अतएव तत्कालमें करणोंका तिरोभाव कहा जाता है ॥ ९६ ॥

आविर्भाव कहते हैं—'**यथा वा धेनुभिः**' इत्यादिसे ।

धेनु ( नव प्रसूतिका ) गौका पिया जल जैसे क्षीर होता है, वैसे ही चिन्निष्ठ साभास मोह लिङ्गात्मना आविर्भूत होता है । अविद्याका सुसूक्ष्म अवस्था-विशेष मोह कहलाता है । मोहसे अविद्यामें चैतन्यकी छाया पड़ती है । चिच्छायापन्न अविद्या चेतनके सदृश प्रतीत होती है । वही अनवच्छिन्न दण्डायमान एक अविद्या अनुभूयमान शब्दादि विषयोंकी कारण है, अतएव तदात्मक कहलाती है । इसी अविद्यासे स्वप्न और सुषुप्ति इन दोनों स्थानों तथा तद्गत कार्योंका उपसंहार कर स्वापकालमें ईश्वर कारणात्मना अवस्थित रहता है । यद्यपि निर्विकार कूटस्थ करणका आधार नहीं हो सकता, तथापि साभास

आविर्भावतिरोभावौ बहुशः पटचित्रवत् ।
पटे विकाससङ्कोचाविव बोधसुषुप्तके ॥ ९८ ॥
कूटस्थबोधतन्मोहचिदाभासत्रयात्मना ।
सङ्कोच्य जागरस्वप्नौ लिङ्गं सुप्तौ तिरोभवेत् ॥ ९९ ॥

अविद्यावश करणाधारत्वमें आपत्ति नहीं है । कल्पित धर्मसे अधिष्ठानमें वास्तविक दोषका संभव नहीं है और न कल्पित धर्मोंसे पारमार्थिक अद्वैतका विघात ही हो सकता है ।

शङ्का—करणोंकी स्थिति प्रधानमें ही क्यों नहीं मानते ? प्रधानके त्रिगुणात्मक होनेसे तत्-तत् करणरूपसे प्रधानके परिणाममें कोई बाधक नहीं है । जाग्रत्कालमें प्रधानसे इन्द्रियोंका आविर्भाव और स्वप्नकालमें उसीमें लय भी कहना समुचित है ।

समाधान—प्रधान अद्वैतवादियोंके मतमें अवैदिक होनेसे मान्य नहीं है, 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रोंमें स्पष्ट है और अचेतन काष्ठके समान है, इसलिए चेतनतन्त्र नहीं है, फिर भी यदि उसे चेतनतन्त्र मानें, तो नाममात्रमें विवाद कहा जा सकता है, सो सर्वथा उपेक्ष्य है । आविर्भाव-तिरोभावके द्वारा मूलकारण ही लिङ्गका आधार है ॥ ९७ ॥

'आविर्भावतिरोभावौ' इत्यादि । पटस्थ चित्र पटके पसारनेसे आविर्भूत होता है, साफ साफ दिखाई देता है और उसके सिमेटनेसे उसमें स्थित चित्र भी तिरोहित हो जाता है, पटमें रहनेपर भी स्पष्ट लक्षित नहीं होता, अतः पटके विकास और संकोचके समान ही बोध और सुषुप्ति अवस्थाविशेष हैं । पटके विकासके समान प्रबोध और संकोचके समान सुषुप्ति है । स्वप्नका प्रबोधसे संग्रह अभीष्ट है, क्योंकि उस अवस्थामें मानस ज्ञान रहता ही है ॥ ९८ ॥

'कूटस्थबोधतन्मोह०' इत्यादि । लिङ्ग—उक्त करणसमूह—कूटस्थबोध, तन्मोह और चिदाभास इन तीन रूपोंसे जागर और स्वप्नका संकोच कर सुषुप्ति अवस्थामें तिरोहित हो जाता है, अर्थात् उत्तरोत्तर कार्यकी पूर्व-पूर्व कारणोंमें संस्काररूपसे अवस्थितिको ही तिरोभाव या लय कहते हैं, जागरावस्थामें जैसे तीनोंका अवभास होता है वैसे सुषुप्ति अवस्थामें नहीं होता, क्योंकि उस कालमें लिङ्ग स्वकारणमें तिरोहित हो जाता है ॥९९॥

अपास्ताशेषबाह्यार्थं तज्जवासनयाऽन्वितम् ।
लिङ्गमाविर्भवेत्स्वप्ने प्रसार्याखिलवासनाः ॥ १०० ॥
जाग्रत्काले विशेषेण स्थित्वा हृदयसद्मनि ।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीर्व्याप्यावतिष्ठते ॥ १०१ ॥

विस्तृत पटके समान जाग्रत् स्वप्नमें लिङ्गका विकास कहते हैं—'अपास्ताशेषबाह्यार्थं' इत्यादिसे ।

संपूर्ण बाह्य अर्थोंका त्याग कर केवल बाह्यार्थवासनासे संयुक्त लिङ्ग संपूर्ण उक्त वासनाओंका प्रसार कर आविर्भूत होता है । बाह्य अर्थके साथ इन्द्रियोंका संबन्ध न होनेसे उनका भान नहीं होता, किन्तु दर्शन-श्रवण-जनित विषयवासनाएँ जो चित्तमें रहती हैं, तदनुसार अनिर्वचनीय अनादि अविद्या परिणत होती है और मन उसको देखता है, यह स्वाप्निक विषयका अवभास है ।

शङ्का—यदि संपूर्ण अनात्म पदार्थोंका आत्मामें उपसंहार मानते हो, तो ऐसी अवस्थामें संसारका तो कारण अवशिष्ट रहा नहीं, फिर संसार नहीं हो सकेगा ।

समाधान—नहीं, संसारका निदान संस्कार आत्मामें अवशिष्ट रहता है, किन्तु अतीन्द्रिय होनेसे उसका भान नहीं होता, यह स्फुट करनेके लिए 'तज्जवासनयाऽन्वितम्' यह विशेषण दिया है ।

शङ्का—जैसे मुक्तके निरस्तबाह्यविषय होनेसे उसमें संस्कार नहीं माना जाता वैसे ही परमें भी उक्त विशेषण द्वारा संस्कारशून्यत्व क्यों नहीं मानते ?

समाधान—मुक्त तो ध्वस्तप्रत्यगज्ञान होता है, इसलिए उसमें संस्कारकी स्थिति नहीं हो सकती और पर शब्दसे यहां सूत्रात्मा विवक्षित है, उसका आत्मज्ञान मुक्तके समान ध्वस्त नहीं है, किन्तु अध्वस्तप्रत्यगज्ञान है, इसलिए पुनः सृष्टिका विकास होता है, यह श्रुति-स्मृतियोंमें प्रसिद्ध है, अतएव अपरब्रह्मकार्य ब्रह्मादि कहे जाते हैं ॥१००॥

'जाग्रत्काले' इत्यादि ।

शङ्का—परको ही यदि सूत्ररूपसे सुषुप्ति आदि दशामें अवस्थित मानते हैं, तो पिण्डादि ब्रह्मसे भिन्न है, इसलिए अद्वैतका भङ्ग हो जायगा ।

समाधान—पर प्रबोधकालमें हृदयगृहमें स्थित होकर बहत्तर हजार नाड़ियोंमें व्याप्त होकर अवस्थित रहता है ।

एकमेव यथा गोत्वं प्रतिव्यक्ति समापितम् ।
प्रतिदेहं समाप्यास्ते तथैका लिङ्गदेवता ॥ १०४ ॥

शङ्का—यदि जीवोंके लिङ्गशरीरको तत्तच्छरीरके बराबर मानते हो, तो पुत्तिकाशरीरवाले जीवको उसके कर्मके कारण जन्मान्तरमें गजशरीर मिलेगा, तो उसमें वह शरीर व्यापक कैसे होगा? प्रत्येक जन्ममें लिङ्गशरीर तो बदलता नहीं, सर्गसे लेकर सृष्टिकी समाप्ति तक प्रत्येक जीवका लिङ्गशरीर एक ही माना जाता है, कर्मवासनाएँ भी उसीमें मानी जाती हैं।

समाधान—ठीक है, किन्तु रबड़के समान लिङ्गशरीर संकोच-विकासशाली माना जाता है। पुत्तिकाशरीरमें उक्त शरीर सङ्कुचित और गजशरीरमें विकसित हो जाता है, इसलिए उक्त अनुपपत्ति नहीं हो सकती; इस तात्पर्यसे कहते हैं कि हम लोगोंका शरीर जैसे पैरसे लेकर मस्तक तक लिङ्गशरीरसे व्याप्त रहता है, वैसे ही देवताओंका शरीर भी लिङ्गशरीरसे व्याप्त रहता है, इसलिए लिङ्ग सर्वात्मक है ॥१०३॥

'एकमेव यथा०' इत्यादि। न्यायके मतसे गोत्वजाति एक ही है और हर एक गोव्यक्तिमें परिसमाप्त है वैसे ही वेदान्तमतमें लिङ्ग देवता प्रतिव्यक्तिमें परिसमाप्त रहता है। तात्पर्य यह है कि द्वित्वादि संख्या दो वस्तुओंमें परिसमाप्त है—पर्याप्ति सबन्धसे रहती है और एक-एक व्यक्तिमें अपरिसमाप्तवृत्ति है—अपर्याप्ति संबन्धसे रहती है, इसलिए एक व्यक्तिमें अपर्याप्त एकत्वके रहनेपर भी 'द्वौ' यह प्रयोग नहीं ही होता, पर 'द्वित्ववान्' यह प्रयोग होता है। 'द्वित्ववान्' इस प्रतीतिमें अपर्य्याप्त भी द्वित्वनिमित्त है और द्वौ इस प्रतीतिमें पर्याप्त ही द्वित्व द्वौ इस प्रतीतिका नियामक माना जाता है, एवं लिङ्गशरीरको एक-एकमें अपर्याप्ति संबन्धसे और समुदायमें पर्याप्ति सबन्धसे मानना चाहिए, इस भ्रमके निराकरणके लिए कहते हैं कि लिङ्गशरीरके विषयमें ऐसा नहीं माना जाता, किन्तु इस विषयमें अनुकूल दृष्टान्त गोत्वादि है। गोत्व प्रतिगोव्यक्तिमें पर्याप्तिसे रहता है और उनके समुदायमें भी पर्याप्ति सम्बन्धसे रहता है, अतएव एक-एक गो व्यक्तिमें 'गौः' यह प्रयोग किया जाता है और गोसमुदायके तात्पर्यसे भी 'गौः' यह प्रयोग साधु माना जाता है; क्योंकि पर्याप्ति सबन्ध से ही गोत्व एक-एक और तत्समुदायमें रहता है, यही प्रकार लिङ्गशरीरके विषयमें भी समझना चाहिए ॥ १०४ ॥

लिङ्गं क्षुद्रशरीरेण पुत्तिकाख्येन तत्समम् ।
मशकेन गजेनाऽपि विराट्पिण्डेन तत्समम् ॥ १०५ ॥
वायुर्गौतम तत्सूत्रमित्युक्तेर्वायुदेहभृत् ।
हिरण्यगर्भस्तेनाऽपि लिङ्गमेतत्सममतम् ॥ १०६ ॥
समस्तव्यस्तदेहेषु समष्टिव्यष्टितामगात् ।
लिङ्गं समस्तदेहोऽयं वायुर्व्यस्ता गजादयः ॥ १०७ ॥

---

'लिङ्गं क्षुद्रशरीरेण' इत्यादि । पुत्तिकाकी—क्षुद्रकीटविशेषकी—अतिस्वल्प देहके समान लिङ्ग शरीर है तथा मशक ( मच्छड़ ) और गजके ( हाथीके ) शरीरके समान और विराट् शरीरके समान भी उक्त देह है । गोत्वके दृष्टान्तका तात्पर्य व्यष्टि और समष्टि जो मिथःकार्यकारणभावापन्न हैं, उनके अभेदकी विवक्षा में है । विराट्की लिङ्गदेह समष्ट्यात्मक है और उसका कार्य्य प्रत्येक जीवका लिङ्ग शरीर व्यष्ट्यात्मक है । वस्तुतः व्यवहार-दशामें प्रत्येक जीवका लिङ्ग शरीर भिन्न-भिन्न है । इसी शरीरके द्वारा स्वर्गादि तथा अनेक योनियोंमें जीव अपने उपार्जित पुण्य और पापके अनुसार विविध सुख, दुःख आदिका उपभोग करता है । स्थूल शरीरके बिना केवल लिङ्ग शरीरसे सुखादिका उपभोग नहीं हो सकता, इसलिए स्थूल शरीरकी आवश्यकता पड़ती है ॥ १०५ ॥

'वायुर्गौतम०' इत्यादि ।

शङ्का—हिरण्यगर्भका लिङ्ग शरीर हिरण्यगर्भके शरीरके समान है, इस कथनसे यह प्रतीत होता है कि हिरण्यगर्भका भी शरीर है, इसलिए प्रश्न होता है कि हिरण्यगर्भका कैसा शरीर है तथा उसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान—हिरण्यगर्भका शरीर वाय्वात्मक है, वायु सूक्ष्म तथा पृथिवी आदिका व्यापक है, इसमें प्रमाण 'वायुर्गौतम तत्सूत्रम्' इत्यादि श्रुति है, अतः हिरण्यगर्भके वाय्वात्मक शरीरके समान ही उसका लिङ्ग शरीर है, यह निर्विवाद सिद्ध हुआ ॥ १०६ ॥

'समस्तव्यस्त०' इत्यादि । यही वायु समस्त और व्यस्त अर्थात् समुदाय और एक व्यक्तिके तात्पर्यभेदसे समष्टि और व्यष्टि कहलाता है । समस्त देहमें समष्टि और व्यस्त देहोंमें व्यष्टि कहा जाता है । लिङ्ग समस्त देह है और व्यस्त गजादि देह है, यद्यपि आकाश एक है, तथापि जैसे समस्त घट, करक

धेन्वां गर्भस्थवत्से च यथा गोत्वं समं तथा।
सूत्रात्मन्यस्मदादौ च लिङ्गसाम्यं श्रुतीरितम् ॥ १०८ ॥
समायामपि जिह्वायां नरो वक्ति पशुर्न तु।
सत्यसङ्कल्पता तद्वत्सूत्रादौ नाऽस्मदादिषु ॥ १०९ ॥

---

आदिगत आकाशके तात्पर्यसे केवल आकाशशब्दका प्रयोग किया जाता है और तत्-तत् पदार्थगत आकाशादिके तात्पर्यसे घटाकाश, करकाकाशका प्रयोग होता है वैसे प्रकृतमें भी भेदाभेदकी विवक्षासे दोनों प्रयोग किये जाते हैं॥१०७॥

'धेन्वां गर्भस्थ०' इत्यादि। धेनु और उसके गर्भके बछड़ेमें गोत्व जैसे समान रहता है, वैसे ही सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) और तदन्तःपाती अस्मदादिमें जो लिङ्ग शरीरका साम्य श्रुतिने कहा है, सो उचित ही है। गौ बड़ी है और उसका गर्भस्थ बछड़ा उसकी अपेक्षा छोटा है, पर गोत्वकी स्थिति दोनोंमें समानरूपसे है, एवं हिरण्यगर्भके शरीरकी अपेक्षा अस्मदादि शरीर अति लघु है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु लिङ्ग-शरीर दोनोंमें समानरूपसे पर्याप्त है ॥ १०८ ॥

'समायामपि' इत्यादि।

शङ्का—यदि सूत्रात्मा और हम लोगोंमें लिङ्ग शरीर समान ही है, तो सूत्रात्मा सत्य-संकल्प माने जाते हैं और हम लोग असत्य-संकल्प, यह भेद क्यों हुआ? प्रत्युत उसके समान हम लोग भी सत्य-संकल्प ही क्यों न हुए? अर्थात् हम लोगोंको भी सत्य-सङ्कल्प होना चाहिए, क्योंकि आत्मा तथा लिङ्ग शरीर तो समान ही हैं।

समाधान—मनुष्य और पशुमें जिह्वा समान ही होती है, फिर भी मनुष्य जैसा बोलता है, वैसा पशु नहीं बोलता, अतः तत्-तत् उपभोगका जनक अदृष्टविशेष भी कार्यभेदमें प्रयोजक माना जाता है। मनुष्योंके अदृष्टविशेषसे उसकी जिह्वाका आरम्भ होता है, और तादृश अदृष्टसे विलक्षण अदृष्टसे पशुओंकी जिह्वाका आरम्भ होता है, इसलिए अवान्तर कारणविशेषसे जिह्वादिकी आकृति और तत्कार्य भी भिन्न-भिन्न होता है, एवं जिस अदृष्टविशेषसे सहकृत हिरण्यगर्भका लिङ्ग शरीर है, उससे विलक्षण अदृष्ट से सहकृत हम लोगोंका लिङ्ग शरीर है, इसलिए हिरण्यगर्भ सत्य-संकल्प है, और हम लोग वैसे नहीं हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है? ॥ १०९ ॥

अभ्यासेन वचःपानाद्यथा वक्ति शुकस्तथा ।
योगाभ्यासेन धर्मात्मा सत्यसङ्कल्पवान्नरः ॥ ११० ॥

'अभ्यासेन वचः०' इत्यादि । यदि मनुष्य और पशुमें जो भेद है, वही हिरण्यगर्भ और हम लोगोंमें है, तो जैसे पशु मनुष्यका शब्द कभी नहीं बोल सकता, वैसे ही हम लोग हिरण्यगर्भके समान सत्यसंकल्प नहीं हो सकते, यह स्वरसतः सिद्ध होता है। ऐसी परिस्थितिमें मनुष्यको हिरण्यगर्भके समान सत्यसंकल्प होनेके लिए उपायका उपदेश ही व्यर्थ है, क्योंकि प्रकृत उपासनासे भी तो समानता नहीं हो सकती। इस शंकाका निराकरण करते हैं कि जैसे मनुष्य-वाणीका अभ्यास करनेसे तोता, मैना आदि पक्षी, जिनकी यह स्वाभाविक वाणी नहीं है, मनुष्यके समान 'राम राम' इत्यादि शब्दोंका उच्चारण करते हैं, वैसे ही मनुष्य योगाभ्यास द्वारा धर्मात्मा होकर हिरण्यगर्भके समान सत्यसंकल्प हो सकता है, इसमें आश्चर्य नहीं है; क्योंकि स्वतःसिद्ध स्वभावसे विलक्षण स्वभावकी प्राप्ति उपायसे होती है। जो उपायके अनुष्ठानमें समर्थ हैं, उन्हींके लिए शास्त्रोंमें उपायका उपदेश किया गया है और जो अधिकारी नहीं है उनके लिए न तो उपाय ही है और न उनका शास्त्रोंमें उल्लेख ही है। प्रत्यक्षसे देखते हैं कि तोता, मैना आदि पक्षी मनुष्यकी चेष्टासे मनुष्यकी वाणीसे युक्त हो जाते हैं, पर गाय, अश्व आदि नहीं होते, इसलिए यह निश्चय होता है कि उपायके अधिकारकी भी सीमा है। जैसे शुक आदिका चेष्टाभ्यासादि द्वारा मनुष्यकी वाणी तक अधिकार है, वैसे ही प्रकृत उपासनाके द्वारा मनुष्यका सत्यसंकल्पादि तक अधिकार है।

और मनुष्यकी योनि सर्व-साधन योनि है, इससे सब फल पा सकता है। वर्तमान प्रजापतिने भी तो मनुष्य होकर ही उपायके अनुष्ठानसे उक्त पद प्राप्त किया है। इसी प्रकार अन्य मनुष्य भी कर सकते हैं। वचःपानका ब्राह्मीपान भी अर्थ किया गया है। शास्त्रोंमें बुद्धिकी वृद्धिके लिए ब्राह्मीके पानका विधान है। पर प्रकृतमें तोताके साथ इसका समन्वय ठीक नहीं होता, इसलिए यह अर्थ विवक्षित नहीं है। शब्दार्थ होनेसे कोई अर्थ विवक्षित नहीं कहा जा सकता, किन्तु वाक्यार्थमें समन्वित होनेसे विवक्षित कहा जाता है ॥ ११० ॥

प्रबोधसुप्तिवत् सृष्टिसंहृत्योः सूत्रविग्रहे ।
आविर्भावतिरोभावौ लिङ्गमाप्नोति मोहजम् ॥ १११ ॥
चिदात्मव्यवहारार्थमुपाधिर्लिङ्गमीरितम् ।
लिङ्गोपहित आत्मैष बहुधा व्यवतिष्ठते ॥ ११२ ॥
प्रतिप्राणि परिच्छेदो ज्ञानकर्मानुरोधतः ।
धर्माधर्मानपेक्षः सन्नाऽऽनन्त्येनाऽवतिष्ठते ॥ ११३ ॥

'प्रबोधसुप्तिवत्' इत्यादि । प्रबोध और सुषुप्ति क्रमशः जैसे आत्मामें आविर्भूत और तिरोभूत होते हैं; वैसे ही सृष्टि और संहार आत्मामें ही आविर्भूत और तिरोहित होते हैं । सृष्टिके समान प्रबोध है और लयके समान सुषुप्ति है । क्रमशः इन दोनोंका प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है । खपुष्पके समान जो अत्यन्त असत् हैं, उनकी उत्पत्ति नहीं होती और सत्का निरन्वय नाश नहीं होता ।

'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।' इत्यादि भगवद्-वाक्य भी इसी अर्थका समर्थक है । फिर भी जीव मोहज लिङ्गको—आविद्यिक लिङ्ग देहको—सूत्रविग्रहमें ( अपञ्चीकृत भूतरूप विग्रहमें ) समझता है, यह उसकी भूल है । भूलमें मूल कहते हैं—'मोहजम्' अर्थात् मोहका कार्य । मोहसे पुरुष मूढ़ होता है और मूढ़ विपरीत भानशील ही होता है, यह भी स्फुट है ॥ १११ ॥

'चिदात्म०' इत्यादि । चिदात्माके व्यवहारके लिए उपाधिस्वरूप लिङ्ग देहकी कल्पना की गई है । देव, असुर, नर, तिर्यक् आदि रूपसे आत्माका ही अनेकविध व्यवहार लोक तथा शास्त्रमें देखते हैं । आत्मा कूटस्थ, एकरस होनेसे स्वभावतः विरुद्ध विविध व्यवहारका विषय नहीं हो सकता, इसलिए उपाधिकी कल्पना की गई है । उपाधिकी विलक्षणतासे उपहित भी विलक्षण व्यवहारका विषय कहा जाता है । जैसे स्वभावतः आकाश सर्वत्र सम है, परन्तु घट, मठ आदिके भेदसे घटाकाश, मठाकाश आदि विलक्षण व्यवहार होता है, उसी प्रकार लिङ्गोपहित लिङ्गसंयुक्त—आत्माका देव, मनुष्य आदि रूपसे विविध व्यवहार होता है । ब्रह्माकी देहसे लेकर पुत्तिकादिकी देह तक आत्मा एकरस ही है । भेद उपाधिमात्रका है, उपधेयका नहीं है, अतएव 'शुनि चैव श्वपाके' इत्यादि भगवद्वचन भी उपपन्न होता है ॥ ११२ ॥

'प्रतिप्राणि' इत्यादि ।

एवं च सति सूत्रात्मा वर्त्तमानः पुरातनात् ।
अनुष्ठितज्ञानकर्मसाधनात्स्रष्टृतामगात् ॥ ११४ ॥

शङ्का—यदि एक ही आत्माको निखिल शरीरोंमें मानते हो, तो जन्म, मरण, सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान, बन्ध, मोक्ष आदिकी व्यवस्था कैसे होगी? लोकमें देखते हैं कि एक जनमता है, तो दूसरा मरता भी है, एक दुःखसे रोता है और उसी समयमें दूसरा सुखसे गाता—हंसता है, एक बद्ध है, तो दूसरा मुक्त है, एक ज्ञानी अतएव गुरु है तो दूसरा अज्ञानी अतएव शिष्य है, इस परिस्थितिमें उक्त व्यवस्थाके लिए आत्माका भेद मानना आवश्यक है ।

समाधान—यह व्यवस्था तो उपाधिके भेदसे बन जाती है, इसलिए आत्माका भेद मानना अनावश्यक है । जैसे एक ही मनुष्य समयके भेदसे जन्म, मरण सुख, दुःख आदिका लाभ करता है, इसमें किसीको अणुमात्र भी सन्देह नहीं है, वैसे ही शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधियोंके भेदसे एक ही आत्मा एक कालमें सुख, दुःख आदिका लाभ कर सकता है, इसमें सन्देह ही क्या है? क्योंकि अवच्छेदक गृहादिके भेदसे आकाशमें तम और प्रकाशवत्ता आदिका व्यवहार लोकसिद्ध है । प्रतिप्राणि परिच्छेद याने हर एक प्राणीमें परस्पर भेद शरीर, इन्द्रिय आदि मूलक है और शरीर, इन्द्रिय आदिमें भेद धर्म और अधर्मके ज्ञान और अज्ञानसे बना है, धर्मादिका भेद कर्मसे बना है । जिस पुरुषका शुभाशुभ कर्म जिस प्रकारसे रहता है, उसी प्रकार शुभाशुभकर्म भी ज्ञानानुसार ही होता है, अतः सांसारिक पुरुषोंमें अनुभूयमान भेद प्रकारान्तरसे उपपन्न हो जाता है । इसलिए 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिसे विरोध रखनेवाले आत्मभेदकी कल्पना अयुक्त है ।

उपाधिशून्य आत्माका वास्तविक स्वरूप कहते हैं—**धर्माधर्मानपेक्षः** । धर्मादिशून्य आत्मा अपरिच्छिन्न अतएव अनन्तस्वरूपसे स्थित रहता है, जैसे अनवच्छिन्न आकाश अनन्त है, वैसे ही वस्तुतः आत्माको अनन्त समझना चाहिए ॥ ११३ ॥

**'एवं च सति'** इत्यादि । ज्ञान और कर्मके अनुसार जन्म होता है, यह सिद्ध होनेपर वर्तमान प्रजापति अपने पूर्व जन्मार्जित अतएव पुराने ज्ञान कर्मके

एकापूर्वप्रयुक्तत्वात् समस्तव्यस्तरूपिणाम् ।
प्राणिनां व्यवहारोऽयं स्रष्टभिप्रायतो भवेत् ॥ ११५ ॥
प्रातिस्विकान्यपूर्वाणि प्राणिनां यानि तान्यपि ।
तत्रैवाऽन्तर्भवन्त्यस्य तादृक्सङ्कल्पयोगतः ॥ ११६ ॥

अनुसार वर्तमान कल्पमें स्रष्टा हुए। पटका उपादान जैसे सूत है, वैसे ही इस जगत्के वे उपादान हैं, इसलिए सूत्रात्मा कहलाते हैं ॥ ११४ ॥

'एकापूर्व०' इत्यादि। एकके—सूत्रात्मा प्रजापतिके—अपूर्वसे—उसकी यजमान अवस्थामें विहित यागादिजन्य अपूर्वसे—बना हुआ यह समस्त और व्यस्त अर्थात् अनुवृत्त और व्यावृत्त संपूर्ण विकार है, इसलिए इसके चित्तकी अनुवृत्ति सब प्राणी करते हैं और एक दूसरेसे मिलकर अपना कार्य करते हैं। इसमें अनुमान प्रमाण है—विमतं संभूयकार्यकारि, एकापूर्वप्रयुक्तत्वात्, हस्तादिवत्।

शरीरके अवयव हस्त आदि जैसे एक अपूर्वसे प्रयुक्त हैं, अतएव एक दूसरेसे मिलकर अपना कार्य करते हैं, उसी प्रकार सबके एकापूर्वप्रयुक्त होनेसे सभी कार्यकारी होते हैं, इसी कारण 'न एकः स्वकार्ये पर्याप्तः' अकेला कोई कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता, यह सिद्धान्त है। अतएव पञ्चीकृत भूतसे सृष्टि मानी जाती है। एक-एक भूत अन्य भूतोंकी अपेक्षा न रख कर किसी भी कार्यके आरम्भक नहीं हो सकते। वस्तुतः समस्तता और व्यस्तता आत्माके अज्ञानसे कल्पित हैं।

शङ्का—परमात्मामें समस्तता और व्यस्तताको वास्तविक क्यों नहीं मानते ?

समाधान—'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियोंसे अविद्या और तत्कार्योंकी निवृत्ति परमात्मामें स्पष्ट है।

शङ्का—सूत्र और परमात्मा—ये दोनों सर्वात्मक हैं क्या ?

समाधान—परमात्मा ही तत्तदधिकारस्थानस्थित होकर सर्वविशेषस्वरूपसे अवस्थित है, यह वेदान्तसिद्धान्त है ॥ ११५ ॥

'प्रातिस्विकान्य०' इत्यादि।

शङ्का—जीवोंको यदि एकापूर्वप्रयुक्त कहते हो, तो जीवमात्र समान होने चाहिएँ, फिर विविध शरीर, सुख, दुःख आदिका भेद क्यों हुआ ?

सर्वात्मप्राणरूपोऽस्मीत्येवं सङ्कल्प्य तत्फलम् ।
प्राप सूत्रादिदेहेषु पुत्तिकान्तेष्ववस्थितः ॥ ११७ ॥
एकमेव जगद्बीजमीशाभिप्रायहेतुतः ।
भूरिनानाप्रदेशेन प्रत्यात्मं व्यवतिष्ठते ॥ ११८ ॥

---

समाधान—एकापूर्वप्रयुक्त कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि अवान्तर अपूर्व कारण ही न हों, ऐसा माननेसे तो मुक्तकी भी फिर उत्पत्ति माननी पड़ेगी। किन्तु तात्पर्य यह है कि जो प्राणियोंके अवान्तर अपूर्व हैं, वे भी उक्त प्रजापतिके अपूर्वमें अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि सर्वात्मभवनसंकल्पसे ही प्रजापतिने उक्त पद पाया है। अतएव सत्यसंकल्प भी है। पूर्व पूर्व अदृष्टोंके अनुसार जिस प्राणीको जैसा होना है, उन उन अदृष्टोंके अनुसार ही प्रजापतिने तत्-तत् स्वरूप होनेकी कामना की है, तदनुसार ही सर्वात्मक भी हुए।

यदि अवान्तर अदृष्टोंका उक्त संकल्पमें संग्रह नहीं होगा, तो अनेकाकार जगत्का स्वरूप ही नहीं बन सकता, फिर सर्वशब्दका प्रयोग ही कैसे हो सकता है, अतः तत्संकल्पान्तर्गत तत्-तत् अदृष्टभेद प्राणिभेदमें प्रयोजक हैं, इसीसे समष्टि-व्यष्टि व्यवहार किया जाता है, अदृष्टसमुदायसे समष्टि और प्रातिस्विक अदृष्टसे व्यष्टि कही जाती है ॥ ११६ ॥

'सर्वात्मप्राण०' इत्यादि। 'मैं सर्वात्म-प्राणस्वरूप हूँ', ऐसा संकल्प करके उन्होंने सर्वात्मप्राणस्वरूप फल पाया अर्थात् सर्वात्म-प्राण हुए, अतएव वे सूत्र-शरीरसे लेकर पुत्तिकादि शरीरोंमें अवस्थित हैं ॥११७॥

आत्मस्वरूपनिरूपणका उपसंहार करते हैं—'एकमेव जग०' इत्यादिसे।

यद्यपि जगत्का बीज अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान एक ही है, तथापि उसमें जो चिदाभास—इसका अभिप्रायविशेष—पड़ा है, उसके भेदसे—प्रतिजीवहेतु-फलभेदसे—बहुविध प्रतीत होता है। कारणभेदके बिना कार्यभेद नहीं हो सकता, कारण कि अनिर्वचनीय अज्ञान एक ही है। फिर इससे विविध विचित्र जगत्की उत्पत्ति कैसे हुई? इस शङ्का पर कहते हैं कि अज्ञान एक है, यह सत्य है; पर उसमें जो चिदाभास है, उसके भेदसे विभिन्न जगत् प्रत्यात्मव्यवस्थित है। शरीरभेद, सुख-दुःखादिभेद, फलभेद, ज्ञानकर्मादिभेद, हेतुभेद—ये सब ईशके उक्त अभिप्रायके भेदसे होते हैं। कल्पित भेदसे कार्यभेद है; यह सारांश है ॥११८॥

कुर्यान्मेरावणुधियमणौ मेरुधियं तथा ।
सर्वत्राऽप्रतिघात्येव प्रत्यगज्ञो महेश्वरः ॥ ११९ ॥
अतत्त्वज्ञस्य तमसो रज्ज्वज्ञानोरगादिवत् ।
अष्टावस्थाप्रभेदेन मिथ्याऽज्ञानं प्रजायते ॥ १२० ॥
देहेन्द्रियमनःप्राणविराट्सूत्रेशशक्तयः ।
अष्टावस्था इमाः प्रोक्ताश्चिदेकरसवस्तुनः ॥ १२१ ॥

---

'कुर्यान्मे' इत्यादि । साभास भी अज्ञान असद्भेदका प्रकाशक कैसे होगा? इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—अघटितघटनापटीयसी अज्ञानापर-पर्याय माया होती है; यह लोकमें प्रसिद्ध है। असंभव कार्यको देखकर लोग कहते हैं कि यह माया है। मायासे कोई भी कार्य हो सकता है; अतः उससे कुछ भी असंभव नहीं है। मायासे सुमेरुमें स्वल्पपरिमाणज्ञान हो सकता है, जो सर्वथा असंभव प्रतीत होता है; एवं अणुमें मेरुधी ( महत्परिमाणज्ञान ) होता है; अतएव वह सब कार्यके लिए समर्थ है, किसी कार्यके लिए असमर्थ नहीं है।

शङ्का—यदि अज्ञानको समर्थ कहना है; तो 'अज्ञः' क्यों कहा? क्योंकि ऐसा कहनेसे अज्ञानविशिष्ट चेतनकी प्रतीति होती है; सो प्रकृतमें विवक्षित नहीं है।

समाधान—अज्ञान सदा परतन्त्र है, यह बोध करानेके लिए 'अज्ञः' ऐसा निर्देश किया गया है। 'अज्ञानम्' कहनेसे स्वतंत्र अज्ञान असंभवको संभव करता है, ऐसा भी प्रतीत हो सकता है, इसके वारणके लिए उपसर्जनविधया अज्ञान उक्त कार्यकारी है, केवल नहीं है, इस प्रकार 'अज्ञ' शब्दसे सूचित किया ॥११९॥

'अतत्त्व०' इत्यादि। कोई कहता है कि द्वैत अज्ञानसे जन्य नहीं है, पिण्ड, विराट्, सूत्र इत्यादि वक्ष्यमाण आठ अवस्थाओंसे विशिष्ट वस्तु तत्त्व है, इसका खण्डन करते हैं—रज्जुतत्त्वाभिज्ञको तमसे—मन्दान्धकारसे—रज्जुत्वका अज्ञान और सर्पका भ्रम—ये दोनों जैसे होते हैं, वैसे ही आत्मतत्त्वानभिज्ञको अज्ञानसे आत्मतत्त्वका अज्ञान और आठ अवस्थाओंका ज्ञान भ्रमात्मक होता है, अतः रज्जुसर्पज्ञानके समान उक्त अवस्थाज्ञान भी मिथ्या है ॥ १२० ॥

उक्त आठ अवस्थाओंका निर्देश करते हैं—'देहेन्द्रिय०' इत्यादिसे ।

इत्थं प्राणस्य सर्वाक्षतर्पकत्वप्रसङ्गतः ।
उक्ता तत्त्वस्थितिः प्राणस्तर्पको ध्येय इष्यताम् ॥ १२४ ॥
शुद्धिं ब्रुवन्नर्थवादस्तत्त्वस्थितिमसूसुचत् ।
अतः प्रतीयमानेऽर्थे प्रमाणमविरोधतः ॥ १२५ ॥

प्रत्यग् आत्मामें उसके अज्ञानसे समस्तता, संपूर्णता, व्यस्तता, पृथगात्मता और नानारसता कल्पित है, वास्तविक नहीं है, क्योंकि 'नेति नेति', 'अस्थूलमनणु' 'अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धम्' 'नेह नानास्ति' इत्यादि सैकड़ों श्रुतिवाक्योंसे आत्मामें अविद्या और उसके कार्योंका प्रतिषेध स्फुट है, इसलिए आत्मामें वास्तविक समस्तता और व्यस्तताका संभव नहीं है । ब्रह्म सकलविकारातीत, प्रज्ञानघन, कूटस्थ तथा चिदेकरस है; यह वेदान्तसिद्धान्त है; अतः अपास्तसमस्तान्ध्यमें याने समस्त अविद्यासे शून्य आत्मामें अविद्या और उसके कार्योंका सम्भव नहीं है ॥ १२३ ॥

'इत्थं प्राणस्य' इत्यादि । इस प्रकार प्राण सब इन्द्रियोंका तर्पक ( तृप्तिकारक ) है, अतएव ध्येय ( इष्ट ) है ॥१२४॥

जिस प्रसंगसे यह तत्त्व कहा गया है, उस प्रसङ्गको स्फुट करते हैं— 'शुद्धिं ब्रुवन्न०' इत्यादिसे ।

वागादिनिष्ठ उद्गानकर्तृत्वका आत्मामें आरोप है । आत्मा शुद्ध है, अतएव उद्गानके समयमें असुर प्राणको पापविद्ध नहीं कर सके; किन्तु पत्थरपर फेंके गये ढेलेके समान वे असुर स्वयं नष्ट हो गये, इत्यादि अर्थवादसे वस्तुतः आत्मामें कर्तृत्वादिका प्रतिपादन इष्ट नहीं है, इस परिस्थितिमें स्तुति आरोपितरूपसे भी होती है, यह सूचित होता है ।

शङ्का—यदि यह स्तुतिवाक्य है, तो प्राण विशुद्ध है, इस अर्थमें वह प्रमाण कैसे होगा ? क्योंकि तात्पर्यविषय अर्थमें ही शब्द प्रमाण माना जाता है, यह शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है ।

समाधान—अर्थवाद भूतार्थवाद भी होता है । भूतार्थवादका मुख्य तात्पर्य स्तुतिमें रहता है । अवान्तर तात्पर्य स्ववाच्यार्थमें भी माना जाता है, यह देवताधिकरणमें भाष्यकारने सिद्धान्त किया है । जो प्रमाणान्तरसे बाधित अर्थका बोधक होता है; वह वाच्यार्थमें प्रमाण नहीं माना जाता । प्राणविशुद्धि प्रमाणान्तरसे न तो बाधित ही है और न ज्ञात ही है, इसलिए अज्ञात, अबाधित और सप्रयोजन अर्थका बोधक यह वाक्य स्वार्थमें प्रमाण ही है ॥ १२५ ॥

ननूपास्तिविधिं नैव पश्यामो ब्राह्मणे क्वचित् ।
अभ्यारोहजपस्यैव विधिरत्राऽवलोक्यते ॥ १२६ ॥
नैवमासुरपापस्य नाशोक्तौ तद्विधिश्रुतेः ।
य एवं वेद स प्राणो भवेत् पाप्मा तु नश्यति ॥ १२७ ॥
वागादिनिन्दया मुख्यप्राणोपासा न चेदिह ।
विधित्सिताऽथ तन्निन्दा व्यर्था प्राणस्तुतिस्तथा ॥ १२८ ॥

'ननूपास्ति०' इत्यादि ।

शङ्का—प्रकृत ब्राह्मणग्रन्थमें प्राणकी उपासनाका विधान नहीं दीखता है, किन्तु केवल अभ्यारोह-जपका विधान स्फुटरूपसे दीखता है ॥ १२६ ॥

समाधान—'नैवमा०' इत्यादिसे ।

आसुर पापकी निवृत्ति उपासनाका फल कहा गया है । कर्मविधानके बिना फलका संकीर्तन व्यर्थ हो जायगा । यद्यपि उपास्तिपदका प्रयोग नहीं है, तथापि 'य एवं वेद' इस वाक्यमें वेद शब्दका श्रवण है । प्रकृतमें वेद शब्दका उपासनामें तात्पर्य्य है । जो प्राणकी उपासना करता है, वह प्राण होता है, यही अर्थ विवक्षित है । सकृत् वेदनमात्रसे ध्येयस्वरूपकी प्राप्ति कहीं दृष्टचर नहीं है, इसलिए ज्ञान-सामान्यवाची 'वेद'का विशेष ध्यानरूप अर्थके तात्पर्यसे प्रयोग किया गया है, यह पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं, इसलिए विशेष निरूपणकी आवश्यकता नहीं है ॥१२७॥

'वेद' इसको विधि न माननेमें बाधक कहते हैं—'वागादिनिन्दया' इत्यादिसे ।

यदि मुख्य प्राणकी उपासनाका यहांपर विधान करना इष्ट न हो, तो वागादि इन्द्रियोंकी निन्दा तथा मुख्य प्राणकी स्तुति—ये दोनों व्यर्थ हो जायँगे, अतः 'यत्स्तूयते तद्विधीयते' अर्थात् जिसकी स्तुति की जाती है, उसका विधान होता है, ऐसा माना जाता है । केवल स्तुति तो पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए वह व्यर्थ है; इसलिए जिसकी स्तुति शास्त्रमें देखते हैं; वहां पुरुषार्थ-साधनोपयोगी बनानेके लिए विधिकी कल्पना की जाती है । प्रकृतमें प्राणकी स्तुति देखी जाती है, इसलिए यह कल्पना की जाती है कि इस स्तुतिका तात्पर्य प्राणकी उपासना करनेमें है । इन्द्रियोंकी निन्दा भी इसीके लिए ही है । केवल निन्दा भी स्तुतिके समान व्यर्थ है, अतः किसी कर्मका त्याग करनेके लिए किसीकी निन्दा की जाती है, जैसे प्रकृतमें वागादिकी निन्दा की गई है । इसका तात्पर्य है कि

ऐहिकामुष्मिकफले पूर्वोक्ते जपमात्रतः ।
न सिध्यतस्ततो नाऽस्य जपशेषार्थवादता ॥ १२९ ॥
उपास्त्या तु फलं सिद्ध्येदन्तरेणापि तं जपम् ।
इत्यर्थो गम्यते लोकजिदेवेति श्रुतत्वतः ॥ १३० ॥
शुद्ध्यादिप्राणमाहात्म्यं विधिशेषार्थवादतः ।
न सिध्यतीति नो वाच्यं बाधस्याऽनुपलम्भनात् ॥ १३१ ॥

इन्द्रियां पापविद्ध हुईं; अतएव वे अविशुद्ध हैं, अतः वे उपास्य नहीं हो सकतीं। यदि उपासनाका विधान ही नहीं मानियेगा, तो इन्द्रियोंकी उपासना प्राप्त ही नहीं होगी, ऐसी अवस्थामें निन्दा निरर्थक हो जायगी, इसलिए उपासनाका विधान आवश्यक है ॥ १२८ ॥

'ऐहिका०' इत्यादि ।

शङ्का—प्राणोपासनाकी विधिके बिना भी उक्त अर्थवाद—स्तुति-निन्दा-बोधक उक्त वाक्य—अभ्यारोहजपविधिशेष होकर सार्थक हो सकते हैं, इसलिए प्राणोपासनाविधिकी कल्पना प्रामाणिक नहीं है ।

समाधान—ऐहिक—प्राणात्मसाक्षात्कार—और आमुष्मिक—उसके स्वरूप आदिकी प्राप्ति—ये दोनों पूर्वमें कहे जा चुके हैं । इनकी प्राप्ति जपमात्रसे नहीं हो सकती, इसलिए ये अर्थवाद जपविधिके शेष नहीं हो सकते। जप साक्षात्कारका कारण नहीं माना जाता, किन्तु उसका ध्यान तद्विषयके साक्षात्कारमें कारण माना जाता है, यह कामिनी आदि साक्षात्कारके स्थलमें लोकमें सर्वत्र मान्य है, इसलिए उक्त जप विधिशेष नहीं है, किन्तु प्राणोपासना ही विधिशेष है ॥१२९॥

'उपास्त्या तु' इत्यादि । उक्त जपके बिना भी उक्त उपासनासे उक्त फलकी सिद्धि हो सकती है, यह अर्थ 'लोकजिदेव' इस श्रुतिसे स्पष्ट सिद्ध होता है । जप कर्मांग है, जिसका कर्ममें किसी कारणवश अधिकार नहीं है, वह जपका भी अधिकारी नहीं होता, अतः उसके लिए समुच्चय नहीं है; किन्तु केवल प्राणकी उपासनासे श्रुतिनिर्दिष्ट फलभागी होता है; यह विशेषरूपसे पूर्वमें सिद्धान्त हो चुका है ॥ १३० ॥

'शुद्ध्यादि०' इत्यादि । उपासनाविधिका शेष अर्थवादवाक्य जब 'प्राण आसुर पापसे विद्ध नहीं हुआ, प्रत्युत असुर ही पराभूत हो गये' इस अर्थका प्रतिपादक है, तब उक्त रीतिसे उक्त अर्थवादसे प्राणमें विशुद्धि वास्तविक

मुख्यस्थित्यादयः प्राणे गुणा दृष्टा न तेष्विह ।
योषाग्नित्वादिवत्कश्चिद्विरोध उपलभ्यते ॥ १३२ ॥
अक्षाद्यविषया ये तु गुणा आगमतो मताः ।
शुद्ध्यक्षतर्पकत्वाद्याः कुतस्तेषां मृषार्थता ॥ १३३ ॥

---

सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि स्तुति आरोपित गुणोंसे भी हुआ करती है; यह आक्षेप नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रकृत वाक्यार्थमें कोई बाधक नहीं देखते। सारांश यह है कि जो अभूतार्थ अर्थवाद होते हैं; वे ही स्वार्थमें प्रमाण नहीं माने जाते, क्योंकि उनका अर्थ प्रमाणसे बाधित रहता है। जैसे 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादि। कोई भी पुरुष अपनी वपाका उच्छेदन कर जीवित नहीं रह सकता। तदनन्तर यागसम्पादन करना तो अतिदूर है। इस समयके अनुसार ही अन्य समयमें भी स्वभाव माना जाता है। उत्कर्षापकर्षकी बात दूसरी है; किन्तु सर्वथा विपरीत स्वभावकी कल्पना करना दृष्टविरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक माना जाता है ॥ १३१ ॥

'मुख्यस्थित्यादयः' इत्यादि। मुख्य स्थिति—मुखबिलवर्तमान आसन्यत्व—तथा आदिपदसे आङ्गिरसत्वादि जो गुण उपासनाके लिए प्राणमें कहे गये हैं, वे वस्तुतः उसमें हैं। पञ्चाग्निविद्याके प्रकरणमें 'योषा वाव गौतमाग्निः' के समान प्रमाणबाधित नहीं हैं। योषा—स्त्री—में अग्नित्वबुद्धि प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है; परन्तु उक्त वाक्यसे उसमें अग्निकी उपासनाका विधान है; इसलिए यहांपर 'सिंहो देवदत्तः', 'अग्निर्माणवकः' के समान अग्निशब्दका गौण प्रयोग है। सादृश्यधर्मसे गौण प्रयोग किया जाता है; प्रकृतमें सादृश्य होमाधारत्व है। अग्निमें हविका हवन होता है, स्त्रीमें रेतका; अतः पञ्चमाहुतिका द्युपर्जन्यादिके समान स्त्री भी होमाधार होनेसे गौण अग्नि है। प्रथम होमका आधार संस्कृत अग्नि है, यह मुख्य अग्नि है। आसन्यत्व, आङ्गिरसत्व प्राणमें वास्तविक माननेमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ विरोध उपलब्ध नहीं होता है, अतः उक्त गुणबोधक वाक्य अर्थवाद होनेपर भी अवान्तर तात्पर्यसे अबाधितार्थबोधक होनेके कारण स्वार्थमें भी प्रमाण है ॥ १३२ ॥

'अक्षाद्यविषया' इत्यादि। जो पदार्थ प्रत्यक्षादिविषय हैं; उनकी विधिमें प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होती है। ये गुण प्रत्यक्षयोग्य हैं। शास्त्रसे

मृषात्वसाधकं मानं न किञ्चिदिह विद्यते ।
न च कारणदोषोऽत्र वेदे सम्भाव्यते क्वचित् ॥ १३४ ॥

जिनका विधान देखते हैं, उनमें यह अवधारण किया जा सकता है कि ये गुण प्रत्यक्षादि प्रमाणसे भी सिद्ध होते हैं या नहीं ? प्रथम पक्षमें मुख्यतः शब्दप्रयोग माना जाता है; द्वितीय पक्षमें गौण । और जो गुण आगमैकवेद्य हैं; उनके विषयमें प्रमाणान्तरके साथ विरोध तथा उसके अनुरोधसे गौण प्रयोग माननेका अवसर ही नहीं आता, जैसे शुद्धत्वादि । 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इस वेदान्त-सूत्रमें यह सिद्धान्त किया है कि शुद्धत्वादि शास्त्रैकवेद्य पदार्थ हैं; प्रत्यक्षादिके विषय नहीं हैं ।

अतएव शुक्ति और शंखके समान कपाल (मृत मनुष्यकी खोपड़ी) पवित्र नहीं माना जाता; अन्यथा प्राणीके दोनों अङ्ग समान है, फिर शंख शुद्ध है और उक्त कपाल शुद्ध नहीं है, इसमें क्या विनिगमक है ? अर्थात् कुछ नहीं। केवल आगमके विश्वाससे ही लोकमें उक्त व्यवस्था मानी जाती है। इसलिए कहते हैं—प्रत्यक्षादि प्रमाणके अविषय शुद्धि, इन्द्रियतर्पकत्व आदि प्राणमें जो आगम द्वारा विहित हैं, उनमें मृषाकी क्या संभावना है ? अर्थात् उक्त गुणविशिष्ट प्राण है, यह सत्य है ॥१३३॥

'मृषात्वसाधकम्' इत्यादि । ज्ञानमें प्रामाण्य स्वतः है अर्थात् जिन सामग्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न होता है उन्हीं सामग्रियोंसे प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है; गुण प्रामाण्यका जनक है, यह न्यायसिद्धान्त स्वतःप्रामाण्यवादी मीमांसक और वेदान्तियोंको मान्य नहीं है । एवं प्रामाण्यज्ञान भी ज्ञानग्राहक सामग्रीसे ग्राह्य माना जाता है, अतः प्रामाण्यके ग्रहणके लिए अतिरिक्त सामग्रीकी अपेक्षा नहीं है ।

शङ्का—यदि ज्ञानजनक सामग्रीमात्रसे प्रामाण्यकी उत्पत्ति मानते हो, तो ज्ञानमात्रमें प्रामाण्य होनेसे अप्रमाण ज्ञान ही दुर्लभ हो जायगा तथा स्वतः तज्ज्ञान माननेमें ज्ञानमें प्रामाण्यका संशय भी नहीं बन सकेगा, क्योंकि ज्ञानका ग्रहण होनेपर उसका प्रामाण्य भी गृहीत ही हो जायगा । ज्ञानकी अग्रहणदशामें धर्मिज्ञान जब है ही नहीं, तब संशयकी क्या संभावना ?

समाधान—दोषाभावसहकृत ज्ञानसामग्रीसे प्रामाण्यकी उत्पत्ति मानते हैं तथा अर्थान्यथात्वज्ञान और दोषज्ञान से पूर्वगृहीत प्रामाण्यका अपनोद मानते हैं और उसकी अग्रहणदशामें उक्त ज्ञान तद्ग्रहमें प्रतिबन्धक माने जाते हैं ।

अद्वैतश्रुतिबाधेन मृषात्वमिति चेन्न तत् ।
प्राणोऽस्ति शुद्धिर्मिथ्येति नैवमाह श्रुतिः क्वचित् ॥ १३५ ॥

अन्यत्र स्वरसतः ज्ञानभानसमयमें उत्सर्गविधया प्रामाण्यभान होता ही है; प्रकृतमें मृषात्वसाधक मान नहीं है अर्थात् प्राण शुद्ध नहीं है, आसन्य नहीं है, ऐसा कोई बोध करानेवाला प्रमाण नहीं है, इससे प्रामाण्यग्रहमें प्रतिबन्धक अर्थान्यत्वग्राहक प्रमाणके अभावकी सिद्धि होती है तथा दोषज्ञान भी नहीं है, पौरुषेय-वाक्यजन्य ज्ञानमें पौरुषेय भ्रम, प्रमाद आदि दोष हो भी सकते हैं। परन्तु अपौरुषेयवेद-वाक्यजन्य ज्ञानमें दोषकी सम्भावना ही नहीं है, प्रकृतमें ही क्या कहीं पर भी वेद-वाक्यजन्य ज्ञानमें दोषकी सम्भावना नहीं हो सकती। वेद पौरुषेय है, यह तार्किक मत है, इसमें भी ईश्वर नित्य ज्ञानवान् और दोषरहित है, अतएव तदुक्त वेद-वाक्यमें दोषकी संभावना नहीं है। शब्दमें स्वतः दोष कोई नहीं मानता, किन्तु वक्तृदोषसे शब्द दुष्ट होता है, ऐसा माना जाता है। दुष्ट शब्दसे अप्रामाणिक ज्ञान होता है, सो वेदातिरिक्त विषयमें हो सकता है। और अपौरुषेयवेदवादीके मतमें तो दोषकी शङ्का भी नहीं है, इसलिए प्राणमें विशुद्ध्यादिज्ञान प्रमाण है ॥१३४॥

'अद्वैतश्रुति०' इत्यादि।

शङ्का—यदि प्राणशुद्धि सत्य है, तो शुद्ध्यादिज्ञानको प्रमाण मानना चाहिए, परन्तु ऐसा माननेमें 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिसे विरोध होगा। ब्रह्मका साधारणस्वरूप है—सत्य। यदि शुद्ध्यादि भी सत्य है, तो वह ब्रह्मका असाधारण स्वरूपलक्षण कैसे हो सकता है? क्योंकि दो सत्य माननेसे उक्त श्रुतिके साथ विरोध है। तथा दो सत्यकी अनुपपत्ति भी है; क्योंकि 'सत्यं ज्ञानम्' यह श्रुति सत्यको ज्ञानस्वरूप बतलाती है। विशुद्धि जड़-स्वरूप है, इसलिए सत्य दो प्रकारके कहे जा सकते हैं—एक ज्ञानस्वरूप और दूसरा जड़स्वरूप। पर ऐसा श्रुतिको इष्ट नहीं है, अतएव 'एकमेवाद्वितीयम्' यह श्रुति एक ही सत्य कहती है और द्वितीय सत्यका निषेध करती है। अतएव प्रपञ्च मिथ्या माना जाता है, अन्यथा उक्त श्रुतिके साथ विरोध होगा। प्राणशुद्धि सत्य माननेसे उक्त श्रुतिविरोध अपरिहार्य है, फिर प्रपञ्चको मिथ्या माननेसे भी क्या लाभ? अतः उक्त श्रुतिविरोधके परिहारके लिए शुद्ध्यादिज्ञान मिथ्या है, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा; अतः यहां भी मिथ्यात्वज्ञापक प्रमाणान्तरविरोध स्फुट है, फिर कैसे कहते हैं कि मिथ्यात्वबोधका कारण नहीं है, इसलिए यह ज्ञान मिथ्या नहीं है।

सत्यासत्यविभागोऽयमविभागात्मवस्तुनि ।
प्रत्यगज्ञानहेतूत्थः पृथङ्‌ नास्तीत्यभाषत ॥ १३६ ॥
स्वाभासफलकारूढस्तदज्ञानजभूमिषु ।
तत्स्थोऽपि तदसम्बद्ध ईशः प्राणादितां गतः ॥ १३७ ॥

समाधान—परमार्थदशामें प्राण ही नहीं है, तो उसकी शुद्धि कहां? व्यवहारदशामें व्यावहारिक प्रमाण द्वारा जैसे प्राण माना जाता है, वैसे ही उसकी शुद्धि भी है। यदि प्राण है और उसकी शुद्धि मिथ्या है, ऐसा निर्देश श्रुतिमें होता तो विरोध हो सकता; पर ऐसा तो है नहीं, इसलिए व्यवहारदशामें प्राणके समान उसकी शुद्धि भी सत्य है। परमार्थदशामें तो इसके विचारका अवसर ही नहीं है ॥१३५॥

'सत्यासत्य०' इत्यादि। विभागशून्य आत्मवस्तुमें सत्य और असत्यका विभाग आत्माके अज्ञानसे ही है, दूसरेसे नहीं है, यह श्रुतिने स्पष्ट कहा है—तात्पर्य यह है कि आत्मा परमार्थ सत्य है। जो देशान्तर और कालान्तरमें अवस्थान्तरापन्न न हो वह परमार्थ सत् है, जैसे आत्मा। परिणामी असत्य है, जैसे प्रपञ्च। प्रपञ्चका कुछ-न-कुछ परिणाम होता रहता है। यह सब व्यवहार भी आत्माके अज्ञानसे कल्पित ही है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति प्रपञ्चको ब्रह्मस्वरूप कहती है, ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि 'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुतिसे प्रपञ्चके स्वरूपका निषेध इष्ट नहीं है, किन्तु ब्रह्मसत्तासे अतिरिक्त प्रपञ्चकी सत्ता नहीं है, इसमें तात्पर्य है, क्योंकि स्वरूपनिषेध असम्भव है। प्रत्यक्षसे जगत्‌के स्वरूपकी उपलब्धि होती है और 'सर्वम्' 'इदम्' इत्यादि शब्दप्रयोग भी निरालम्ब हो जायगा, अतएव 'नास्ति' यह अलग कहा। पृथक् ब्रह्मसत्तातिरिक्तसत्ताविशिष्ट प्रपञ्च नहीं है। शिखीध्वस्तके समान वस्तुतः अतिरिक्त सत्ताका निषेध है, द्वैतका नहीं। तात्पर्य यह है कि उक्त विभाग अज्ञानकृत है, अतः अज्ञाननाशसे उक्त विभाग भी नष्ट हो जाता है ॥१३६॥

'स्वाभासफल०' इत्यादि।

शङ्का—आपके मतमें ईश्वर है या नहीं? अन्त्य पक्षमें नास्तिककी आपत्ति होती है। जो ईश्वर नहीं मानता, वह नास्तिक कहलाता है। यद्यपि नास्तिकके कई लक्षण हैं, व्याकरणसूत्रकार भगवान् पाणिनिके मतसे जो परलोक नहीं मानता है, वह नास्तिक कहलाता है और 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इत्यादि वचनोंसे वेदनिन्दक भी नास्तिक कहलाता है, तथापि यह नास्तिकोंका

आवान्तर भेद है, वस्तुतः ईश्वर न माननेवाला नास्तिक है। ईश्वर न माननेपर परलोक और वेदका न मानना स्वतः प्राप्त हो जाता है। यदि शङ्का हो कि मीमांसक ईश्वरको नहीं मानते, फिर भी वे नास्तिक नहीं कहलाते, तो यह शङ्का व्यर्थ है। इसका विवेचन अन्यत्र देखिए, यहाँ लिखनेसे ग्रन्थगौरव होगा। 'विशुद्धज्ञानदेहाय' इत्यादि श्रीभट्टपादके मङ्गलाचरणसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मीमांसक भी ईश्वरको मानते हैं। सर्वज्ञत्वनिराकरणाधिकरणका तात्पर्य अन्यत्र है, इसका यहाँ निरूपण अपेक्षित नहीं है, इसलिए इससे विरत होते हैं। और ईश्वरके न माननेमें कार्यलिङ्गक कारणानुमानके साथ विरोध भी होगा। प्रथम पक्षमें ईश्वर वैदिक है, अतः परमार्थ सत् है, यह मानते हो, तो वैदिक होनेसे ईशितव्य प्रपञ्चको भी ईश्वरके समान परमार्थ सत् ही मानना चाहिए। यदि ईशितव्य प्रपञ्च ही नहीं है, तो ईश्वर किसके कहे जाते हैं। राज्यके बिना तो कोई राजा कहा नहीं जाता। राजाकी सत्ताके साधक प्रमाणोंसे ही उसका राज्य सिद्ध होता है। जैसे कल्पित राज्यसे लोकमें कल्पित कोई राजा कहा जा सकता है, वैसे ही कल्पित प्रपञ्चसे कल्पित ईश्वर हो सकता है, वास्तविक नहीं। वेद ईशितव्यविशिष्ट ईश्वरमें प्रमाण है, इसलिए ईश्वरसमसत्ताक ही प्रपञ्च मानना चाहिए, कल्पित नहीं। ऐसी परिस्थितिमें प्रत्यग्ज्ञानसे अज्ञानध्वंस होनेपर द्वैतमात्रकी निवृत्ति होती है, यह कैसे कहा जा सकता है?

समाधान—प्रत्यग्के अज्ञानके—सकल द्वैताकार अज्ञानके—परिणाममें जो आत्माका आभास है, तादृश आभासरूप तख्तेपर बैठकर आत्मा साक्षी, ईश्वर, कारण और अन्तर्यामी इत्यादि कहलाता है।

वस्तुतः असंग अद्वितीय आत्मामें साक्षित्व, ईश्वरत्व आदि कोई धर्म नहीं हैं। अज्ञानका विश्वाकार परिणाम होनेपर वासनावश उसीमें प्रपञ्च तथा उसीमें चैतन्यकी छाया पड़नेपर उस छायामें उक्त धर्म प्रतीत होते हैं, उन्हींका अनुवाद व्यवहारदशामें श्रुतिने किया है। श्रुति अनुवादक है, अतः द्वैतादिके बोधमें उसका मुख्य तात्पर्य नहीं है। जैसे स्वप्नावस्थामें गन्धर्वनगरादिरूपसे अज्ञानका परिणाम होता है, उसीमें वासनावश मनकी कल्पनाके अनुसार तत्-तत् मनुष्य, गज, तुरग आदि रूपसे अज्ञानका परिणाम हो जाता है और उस समय मन उसको देखता है। पर यह नहीं समझ पाता कि यह परमार्थ सत् नहीं है, अतएव तदानीन्तन इष्ट और अनिष्टसे सुखी और दुःखी भी होता है।

तदज्ञानं तदुत्थं च जगत्कृत्स्नं तदात्मकम् ।
यतोऽतस्तदनूद्याह सदेवेदमिति श्रुतिः ॥ १३८ ॥

वहींपर कल्पित नगरके राजाका अनुशासन भी मानता है, किन्तु प्रबोध अवस्थामें उन पदार्थोंका असली तत्त्व समझता है ।

एवं उक्त परिणामदशामें अविद्याप्रतिबिम्बित आत्मा यद्यपि वस्तुतः अविद्यासंबद्ध नहीं है, तथापि अपनेको अविद्यासे प्राणादिस्वरूप मानता है । जैसे स्वप्नदशामें जीव अपनेको देवादिस्वरूप मानकर तदुचित व्यवहार करता है, पर वास्तविक देवादिशरीरसे असंबद्ध ही है, वैसे ही प्राणादितादात्म्य आत्मामें नहीं है, फिर भी व्यवहारदशामें अज्ञानसे अपनेमें प्राणतादात्म्य मानता है । 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुति वास्तविक संगका निराकरण करती है, आविद्यिक संगका नहीं, अतः श्रुतिविरोधकी भी आशङ्का नहीं है ।

अविद्याकृत नाम, रूप उपाधिके अनुरोधसे आत्मा ईश्वर माना जाता है यह अद्वैतवेदान्तका सिद्धान्त है, अतः आत्मज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति द्वारा द्वैतकी निवृत्ति होती है और प्राणतादात्म्यानापन्न आत्मा अज्ञानवश ही प्राणस्वरूप अपनेको मानता है, इस कथनमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ १३७ ॥

'तदज्ञानम्' इत्यादि । ईश्वरसहित सम्पूर्ण जगत् अज्ञानशरीर है, इसमें श्रुति प्रमाण है । चूंकि आत्माका अज्ञान और उसके अज्ञानसे उत्पन्न संपूर्ण जगत् सदात्मक है अर्थात् तत्स्वरूपात्मक तत्सत्ताक है, इसलिए 'इदम्' शब्दसे इस सब जगत्का अनुवाद कर आत्मा ही सदात्मक है, इस प्रकार 'सदेवेदम्' इत्यादि श्रुति कहती है । सत्में कल्पित समस्त जगत् सदात्मक है, अतिरिक्त नहीं है, जैसे कि शुक्तिमें कल्पित रजत शुक्तिसे अतिरिक्त नहीं है ।

तात्पर्य यह है कि रजतभानदशामें 'सदिदं रजतम्'—यह रजत सत्य है, इस प्रतीतिकी विषय अधिष्ठानभूत शुक्तिसत्तासे अतिरिक्त रजतसत्ता नहीं है; किन्तु शुक्तिसत्ताको ही विषय कर उक्त प्रतीति होती है, एवं 'सन् प्रपञ्चः' इत्यादि प्रतीति भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी सत्ताको लेकर प्रपञ्चविषयक होती है, अतः आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न संसारका अनुवाद कर सदात्मकत्वविधान श्रुतिने किया है । विधेयमें शब्द प्रमाण माने जाते हैं, अनुवादमें नहीं, यह शाब्दनयनिपुणोंका मत है, इसलिए यह श्रुति द्वैतको विषय करती है,

प्राणो वा तस्य शुद्धिर्वा सर्वं सत्तत्त्वमित्यसौ ।
अद्वैतश्रुतिराचष्टे न तु किञ्चिन्निषेधति ॥ १३९ ॥
नृशृङ्गाद्यपि सत्तत्त्वमित्यभ्युपगमः श्रुतेः ।
प्राणशुद्धयादिसत्तत्त्वमिति वक्तव्यमत्र किम् ॥ १४० ॥
यादृशं प्राणसत्यत्वं तादृशी शुद्धिसत्यता ।
अनर्थकारि शास्त्रं स्यादयथावस्तुबोधने ॥ १४१ ॥

'प्राणो वा तस्य' इत्यादि । प्राण और उसकी शुद्धि यह सब सत्य है, ऐसा अद्वैतश्रुति बोधन करती है । किसी धर्मी या धर्मके निषेधका बोधन नहीं करती, जिससे कि शुद्धयादिका प्राणमें निषेध कर सकें । तात्पर्य यह है कि 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतिसे यद्यपि परमार्थदशामें द्वैतमात्रका निषेध इष्ट है, तथापि व्यवहारदशामें निषेध नहीं है । ब्रह्मज्ञानदशामें प्रामाणिक द्वैतभान नहीं है, अतएव अनुष्ठेयविशेष भी कुछ नहीं है, किन्तु उससे पूर्व प्राण और उसके विशुद्धयादि गुणोंकी सत्यताका कथन उपासनाके लिए ठीक ही है, अधिकारीके भेदसे विधिनिषेधबोधक श्रुतियां अपने-अपने विषयमें प्रमाण हैं, यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है ॥१३९॥

'नृशृङ्गाद्यपि' इत्यादि ।

शङ्का—नृशृङ्गादि अत्यन्त असत् हैं, इनको श्रुति सत्य कैसे कहती है, अन्यथा अत्यन्तासत्‌का जगत्‌में अपलाप ही हो जायगा ।

समाधान—ठीक है, यहां नृशृङ्गसे प्रातिभासिक शुक्तिरजतादि विवक्षित हैं । प्रातिभासिक शुक्तिरजतादि शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यमें कल्पित हैं, अतः घटादिके समान वह भी सदात्मक ही हैं, यह श्रुतिको अभिमत है, फिर प्राण और उसके शुद्धयादिमें कहना ही क्या है ? वे तो कैमुतिकन्यायसे सदात्मक सिद्ध होते ही हैं। तात्पर्य यह है कि प्रातिभासिक रजतादि यदि अत्यन्त असत् होता, तो उसकी अपरोक्ष प्रतीति नहीं होती । अपरोक्ष चैतन्याध्यासके बिना अनात्मवस्तुका अपरोक्ष नहीं होता अतएव अपरोक्षविषय घटादिका अपरोक्ष चैतन्यमें अध्यास माना जाता है, उसी प्रकार अपरोक्षविषय रजतका भी आत्मामें अध्यास होनेसे अपरोक्षत्व होता है, इसलिए घटादिके समान शुक्ति-रजतादि सदात्मक हैं, यही श्रुतिका तात्पर्य है॥१४०॥

'यादृशम्' इत्यादि। जैसे प्राणमें सत्यत्व है, वैसे ही उसकी तदीय शुद्धिमें भी सत्यत्व है जो वस्तु जिस स्वभावकी नहीं है, उस स्वभावका बोधक यदि शास्त्र होगा,

नाम ब्रह्मेत्येवमादावयथावस्तुधीर्भवेत् ।
शास्त्रेणेति न वक्तव्यं तद्बुद्धेर्गौणता यतः ॥ १४२ ॥
यद्वद्भिन्नज्ञातभेदेऽपि विष्णुधीरुपलात्मनि ।
विधीयते तथा नाम्नि ब्रह्मबुद्धिर्विधीयते ॥ १४३ ॥

तो अनर्थकारी हो जायगा, इसलिए शास्त्र यथार्थ वस्तुका बोधक माना जाता है। व्यावहारिक सत्यत्व प्राण और उसकी शुद्धिमें समान है। प्राणमें व्यावहारिक सत्यत्व और उसकी शुद्धिमें पारमार्थिक सत्यत्व है अथवा शुद्धिरहित प्राणमें शुद्धिबोधन है—ये दोनों अयथावस्तुबोधन हैं, इससे शास्त्र अनर्थकारी हो जायगा, परन्तु शास्त्र ऐसा माना नहीं जाता; इसलिए वस्तुयथार्थबोधक शास्त्र होता है। अतएव समीचीन ज्ञानसे श्रेयःप्राप्ति और असमीचीन ज्ञानसे अनर्थकी प्राप्ति होती है, यह भाष्यकारने कहा है। और यथार्थज्ञानजनक होनेसे ही शास्त्र प्रमाण भी होगा, अन्यथा शास्त्रमें अप्रामाण्यप्रसक्ति हो जायगी ॥ १४१ ॥

**'नाम ब्रह्मेत्येव०'** इत्यादि। 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादि अयथावस्तुबोधक भी तो शास्त्र देखे जाते हैं, क्योंकि नाम तो ब्रह्म नहीं है? यद्यपि यह प्रश्न सत्य है तथापि शास्त्र तद्विपरीत उपदेश देता है कि नाममें ब्रह्म दृष्टि कर उपासना करो, इससे ब्रह्मप्राप्ति होगी। अब्रह्ममें ब्रह्मज्ञान असमीचीन ज्ञान है तथा 'यावन्नाम्नोगतम्' इस प्रकार फल भी कहा गया है। उक्त भाष्यसे सिद्ध हुआ था कि समीचीन ज्ञानसे ही श्रेयःप्राप्ति होती है, असमीचीन ज्ञानसे नहीं होती। उक्त दोनों नियमोंका व्यभिचार देखा जाता है, इस शंकाका निराकरण करते हैं—**'इति न वक्तव्यम्'** से। ये दोनों आक्षेप ठीक नहीं हैं। नाममें गौण ब्रह्मदृष्टिका उपदेश शास्त्र करता है, मुख्य ब्रह्मदृष्टिका नहीं। जैसे 'अग्निर्माणवकः' यह शब्द माणवकको अग्नि कहता है, माणवक वस्तुतः अग्नि नहीं है, किन्तु वह अयथावस्तुबोधक तब कहा जा सकता, जब कि माणवकको वास्तविक अग्नि कहता। यहां तो तेजस्वित्वेन माणवक अग्निसदृश है, इस तात्पर्यसे अग्निमें गौण माणवकशब्दका प्रयोग हुआ है, अतः शास्त्र अप्रमाण नहीं है। गौण और मुख्यके तात्पर्यसे शब्दप्रयोग लोक और वेद दोनोंमें समानरूपसे पाये जाते हैं, नाम और ब्रह्म दोनोंके भेदज्ञानकालमें नामको ब्रह्म कहा है, इसलिए यह गौण प्रयोग है ॥ १४२ ॥

**'यद्वद्भि०'** इत्यादि। जैसे शालग्राममें विष्णुबुद्धिसे विष्णुकी उपासनाका

अज्ञातरज्जुतत्त्वो हि रज्जुसर्पधियेक्षते ।
नामादौ न तथा तस्माद्गौणी धीर्न तु सा मृषा ॥ १४४ ॥

शास्त्रमें विधान किया है, पर मुख्य विष्णुबोधनमें शास्त्रका तात्पर्य नहीं है। जहां श्रोता और वक्ता दोनोंके द्वारा भेदज्ञानपूर्वक अन्य अर्थमें अन्य शब्दका प्रयोग किया जाता है, वह गौण कहलाता है। जैसे उक्त स्थलमें वक्ता और श्रोता दोनोंको उक्त शिलामें विष्णुके भेदका ज्ञान है फिर भी शिलामें विष्णुशब्दका शास्त्रकार प्रयोग करते हैं और श्रोता भी उसको मानते हैं, अतएव तदनुसार उपासना करते हैं, किन्तु यह सन्देह नहीं करते कि अविष्णुको शास्त्रकारोंने विष्णु कैसे कहा और इस अयथार्थ उपासनासे शास्त्रफल कैसे होगा, सन्देह न करनेका यही कारण है कि बोद्धा यह स्पष्ट समझता है कि यह गौण विष्णुशब्दका प्रयोग है मुख्य नहीं वैसे ही नाममें ब्रह्मदृष्टिके विधानके समयमें ही श्रोता यह समझ लेता है कि इस ब्रह्मशब्दका नाममें गौण प्रयोग किया गया है, मुख्य नहीं। गौण और मुख्य दोनों धर्मसे उपासना शास्त्रमें विहित है, जहां ऐसा नहीं है, वहां स्थाणुमें पुरुषबुद्धिका उपदेश जैसे अयथार्थ है और इससे श्रेयःप्राप्ति नहीं होती, वैसे ही अन्यत्र अयथार्थ बुद्धिसे उक्त फलकी प्राप्ति नहीं होती, इस तात्पर्यसे उक्त भाष्य है। प्रकृतमें शालग्राममें विष्णुबुद्धिके समान ब्रह्म भिन्नरूपसे ज्ञात नाममें ब्रह्मदृष्टि शास्त्रसे कही गई है, इसलिए गौणब्रह्मशब्दका प्रयोग होनेसे शास्त्र अयथार्थका बोधक नहीं है और न उक्त फलकी प्राप्तिमें ही कोई अनुपपत्ति है ॥ १४३ ॥

'अज्ञात०' इत्यादि।

शङ्का—नाममें ब्रह्मदृष्टि गौण है, यह ठीक है, परन्तु ब्रह्मभिन्नमें ब्रह्म-बुद्धि होनेसे मिथ्या तो हुई, इसमें तो गौणमुख्यका प्रभाव कुछ हो ही नहीं सकता।

समाधान—अवश्य होता है, जो पुरुष रज्जुको रज्जुस्वरूपसे नहीं जानता अर्थात् जिसको रज्जुत्वका ज्ञान नहीं है, वही रज्जुको सर्पस्वरूपसे देखता है और सर्पदर्शनजन्य भय, कम्पादि फलका भागी भी होता है, और जिसको रज्जुमें सर्पभेदज्ञान है, उसको गौणसर्पशब्दके प्रयोगसे जो ज्ञान होता है, वह न तो मिथ्या ही है और न भय, कम्पादिका जनक ही है, कारण कि अविवेकपूर्वक

ब्रह्माख्यं नहि वस्त्वस्ति बुद्धिरेवाऽस्त्यतो मृषा ।
इति चेन्न यतो गौणबुद्धिर्मुख्यार्थपूर्विका ॥ १४५ ॥

जो ज्ञान होता है, वही मिथ्या कहा जाता है, प्रकृतमें नामादिमें जो ब्रह्मज्ञान उक्त वाक्योंसे होता है, वह अविवेकपूर्वक नहीं है, किन्तु नाममें ब्रह्ममेदज्ञानपूर्वक उक्त ज्ञान होता है, इसलिए इसको मिथ्या कहना अयुक्त है। सारांश यह है कि अविवेकपूर्वक जो ज्ञान होता है, वही मिथ्या कहलाता है। नामादिमें ब्रह्मज्ञान विवेकपूर्वक होता है इसलिए यह मिथ्या ज्ञान नहीं है ॥ १४४ ॥

'ब्रह्माख्यम्' इत्यादि ।

शङ्का—ब्रह्म वस्तु तो प्रसिद्ध ही नहीं है, फिर उसके मेदका ज्ञान ही कहां ? अभावज्ञानमें धर्मिप्रतियोगीका ज्ञान कारण है, अतएव तार्किक अप्रसिद्धप्रतियोगिक अभाव नहीं मानते। अप्रसिद्ध न मेदका प्रतियोगी हो सकता और न धर्मी ही हो सकता है।

समाधान—उपनिषत्के द्वारा ब्रह्म प्रसिद्ध है, उसे अप्रसिद्ध क्यों कहते हो ? प्रत्यक्ष प्रमाणसे जो प्रसिद्ध होता है केवल वही प्रसिद्ध नहीं कहलाता है, किन्तु किसी प्रमाणसे जो प्रसिद्ध होता है, वही प्रसिद्ध कहलाता है।

यदि कहो कि उपनिषत् तो ऊषर भूमिके समान है, वह प्रमाण कैसे हो सकती है, अर्थात् जैसे ऊषर भूमि किसी पुरुषार्थकी साधक नहीं होती, प्रत्युत उसमें जो बीज बोया जाता है वह भी नष्ट हो जाता है, इसीसे कोई भी फलार्थी उसकी अपेक्षा नहीं करता, अतएव अनुपादेय है, वैसे ही उपनिषत्में किसी कर्तव्यार्थका विधान नहीं है और न फलार्थी उसकी अपेक्षा ही करता है; अतएव जैमिनि आचार्यने स्पष्ट कहा है कि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वा-दानर्थक्यमतदर्थानाम्' कर्तव्यार्थबोधक वेद प्रमाण है, जो कर्तव्यार्थका बोधक नहीं, वह वेद भी प्रमाण नहीं, इस तात्पर्यसे अप्रामाण्यकी आशङ्का उपनिषदोंके अभिप्रायसे की गई है अतः नामादिमें ब्रह्मदृष्टि विवेकपूर्वक है, यह नहीं हो सकता, किन्तु शुक्तिरजतज्ञानके समान ही ब्रह्मदृष्टि नाम आदिमें मिथ्या है। यदि ब्रह्म नहीं मानते हो, तो इसपर प्रश्न यह होता है कि 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' इस वाक्यका क्या अर्थ करते हो ? अर्थ यह करते हैं कि जैसे

गौणस्य मुख्यापेक्षत्वान्मुख्यं ब्रह्म विना न तत् ।
गौणं ब्रह्म यथा गौणो वह्निर्मुख्याग्निपूर्वकः ॥ १४६ ॥

शुक्तिरूप्य अप्रसिद्ध है, तो भी शुक्तिखण्डमें उसकी बुद्धिका आरोप होता है, वैसे ही अप्रसिद्ध ब्रह्मकी दृष्टि नामादिमें करना चाहिए। यह पूर्वपक्ष हुआ।

अब इसका समाधान सुनिए, यह कहना ठीक नहीं है कि उपनिषत् ऊषरके समान पुरुषार्थसाधनके योग्य नहीं है। उपनिषत् परम पुरुषार्थसाधन है, अतएव पुरुषधौरेय व्यास, वशिष्ठ, शुक, वामदेव आदि महर्षियोंके परम उपादेय होनेसे प्रमाणोंमें मूर्द्धाभिषिक्त प्रमाण उपनिषत् है। जैमिनि मुनिका पूर्वोत्तर पक्ष कर्मकाण्डकी श्रुतियोंके तात्पर्यसे है। उपनिषत्के तात्पर्यसे नहीं, ब्रह्ममें प्रमाण सुनिये—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि अनेक श्रुतियां ब्रह्ममें प्रमाण हैं। संबन्धग्रन्थमें उपनिषदोंके प्रामाण्यका समर्थन कर चुके हैं, पुनः प्रतिपादन पिष्टपेषणके समान व्यर्थ है। कर्मप्रतिपादक वेदकी अपेक्षासे उपनिषदोंमें यह विशेष महिमा है कि वे स्वार्थज्ञानके अनन्तर कर्मानुष्ठान द्वारा फलप्रद होते हैं और उपनिषत् स्वार्थज्ञानमात्रसे पुरुषको नित्यनिरतिशय फल देती हैं, कर्तव्यविशेषकी आवश्यकता नहीं है। विशेष पूर्वमें कह चुके हैं। ब्रह्मज्ञानकी प्रशंसा एवं तन्नास्तित्वकी निन्दा भी वेदमें देखते हैं—'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः', 'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेदस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः'। और अनुमानके बिना जिनका मन सन्तुष्ट नहीं होता, उन तार्किकोंके लिए अग्रिम अनुमान भी उक्त अर्थमें प्रमाण है—ब्रह्मदृष्टिः सत्यार्था, शास्त्रीयदृष्टित्वात् 'इयमेवर्गग्निः सामेति दृष्टिवत्। ऋग्में अग्निदृष्टि जैसे शास्त्रीय होनेसे सत्यदृष्टि है, वैसे ही ब्रह्मदृष्टि भी शास्त्रीय है; अतएव सत्य भी है; अतः नामादिमें सत्य ब्रह्मदृष्टिका उपदेश है, असत्य दृष्टिका नहीं और गौणबुद्धि तो आप भी मानते हो मुख्यके बिना गौणबुद्धि तो होती नहीं है, अग्नि मुख्य है तो 'अग्निर्माणवकः' यह गौणबुद्धि होती है। यदि मुख्यार्थ ही नहीं तो गौणार्थ कैसे हो सकता ? मुख्यसदृश गौण कहा जाता है, गौणार्थ माननेपर गलेपादुका न्यायसे मुख्यार्थ मानना पड़ेगा ॥ १४५ ॥

'गौणस्य' इत्यादि। ब्रह्मके अस्तित्वमें नामादिमें गौणब्रह्मशब्दका प्रयोग

विध्यभावाद् ब्रह्मवाक्यमाभास इति चेन्न तत् ।
क्रियावाक्यसमानत्वाद्विद्यावाक्यस्य सर्वतः ॥ १४७ ॥

भी प्रमाण है । गौण मुख्यसापेक्ष है, क्योंकि मुख्य ब्रह्मके बिना गौण ब्रह्म हो ही नहीं सकता । गौण ब्रह्म गौण वह्निके समान है । गौण अग्निमाणवक आदि भी मुख्य अग्निपूर्वक ही होते हैं और असद्विषयक बुद्धि कभी भी नहीं होती, बुद्धिः सालम्बना, बुद्धित्वाद् , घटादिबुद्धिवत् अर्थात् घटादिबुद्धिके समान ब्रह्मबुद्धि भी बुद्धिस्वभाव होनेसे ब्रह्मावलम्बन है, निरालम्ब ( निर्विषयक ) नहीं है । समस्त भाव और अभावके साधक चिद्ब्रह्ममें तो सत्त्वासत्त्वका सन्देह ही नहीं हो सकता, फिर यह कैसे कहते हो कि ब्रह्म नहीं है । नामादिमें केवल ब्रह्मदृष्टिमात्र विधित्सित है ॥ १४६ ॥

'विध्यभावाद्' इत्यादि । पूर्वमें प्रतिपादित संबन्ध ग्रन्थको न जानकर यह प्रश्न है कि वेदान्तमें विधिवाक्य नहीं है, इसलिए ब्रह्ममें वेदान्त प्रमाण नहीं हो सकता । विधिवाक्य लिङ् , लोट् , तव्य, तव्यत् , लेट् , इत्यादिसे युक्त होता है; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्यमें लिङादि नहीं हैं, अतः यह विधिवाक्य नहीं है, यह तो सर्वसंमत है । पर प्रामाण्यके विषयमें विप्रतिपत्ति है—मीमांसक विधिरहित वाक्योंको प्रमाण नहीं मानते और वेदान्ती प्रमाण मानते हैं, इसका विचार कर पहले यह निश्चय किया गया है कि प्रकृतमें उक्त वाक्य ब्रह्ममें प्रमाण है, किन्तु स्थूणानिखननन्यायसे उक्त वाक्यमें प्रामाण्यको दृढ़ करनेकी कामनासे फिर विचार करते हैं ।

शङ्का—विधिके अभावसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य ब्रह्ममें प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह वाक्याभास है अर्थात् वाक्य ही नहीं है, कारण कि उसमें लिङादिका श्रवण नहीं है ।

समाधान—'ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यादि कार्यार्थबोधक वाक्यके समान वह वाक्य है, इसलिए ब्रह्मविद्यावाक्य—'सत्यं ज्ञानम्', 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य—स्वार्थमें प्रमाण हैं ।

भाव यह है कि जैसे प्रमाणान्तरसे अप्राप्त अपूर्वबोधक ज्योतिष्टोम आदि वाक्य प्रमाण है वैसे ही प्रमाणान्तरसे अप्राप्त 'अपूर्वमनन्तरम्' इत्यादि श्रुतिसिद्ध ब्रह्मका बोधक उक्त वाक्य भी प्रमाण है, क्योंकि अपूर्वार्थावबोधकत्व दोनोंमें समान है । कर्म

विधिवाक्योंका अपूर्व कार्य है और वेदान्तवाक्योंका प्रतिपाद्य अपूर्व नित्य है, यह अवान्तरविशेष प्रामाण्यका अनुपयोगी होनेसे अकिञ्चित्कर है ।

शङ्का—अर्थका बोध दोनों वाक्योंसे होता है; यह ठीक है, इसलिए अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य प्रकृतमें भी नहीं कह सकते; किन्तु विपर्यासजनकत्व, संशयजनकत्वरूप अप्रामाण्य वेदान्तवाक्योंमें कह सकते हैं ।

समाधान—अधिकारीके अनुसार एकरूपसे अबाधित बुद्धि दोनोंसे होती है; अनधिकारीके लिए सन्दिग्धार्थबोधकत्व भी दोनोंमें समान ही है; अतएव चार्वाक आदि कर्मविधिमें भी श्रद्धा नहीं करते; उनको वाक्यार्थ बोध ही नहीं होता; यह तो अपलापमात्र है । पद-पदार्थकी व्युत्पत्ति तथा व्याकरण और न्यायके तत्त्व जाननेवाले व्यक्तियोंके वाक्यार्थबोध होनेमें कोई रुकावट नहीं है, किन्तु उनको उस वाक्यार्थके बोधमें प्रामाण्यग्रह नहीं होता, इसलिए उन वाक्योंके द्वारा उपदिष्ट कर्ममें न उनकी प्रवृत्ति होती है और न वे दूसरेको उन अर्थोंके अनुष्ठानमें प्रेरित ही करते हैं ।

क्रियार्थक वाक्योंका अक्रियार्थक वेदान्तवाक्योंसे वैधर्म्य है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रामाण्योपयोगी धर्म दोनोंमें समान है, अनुपयोगी धर्मोंसे वैधर्म्य तो प्रत्येक वाक्यमें ही रहता है, अन्यथा दोनोंमें ऐक्यकी आपत्ति हो जायगी, वाक्यजन्य ज्ञानका यथार्थत्व दोनोंमें समान है, यही प्रामाण्यका प्रयोजक है । लिङादिघटित ही वाक्य प्रमाण है, ऐसा माननेसे 'स्वर्गकामः सिकतां भक्षयेत्' यह वाक्य भी प्रमाण हो जायगा, क्योंकि यह भी लिङ्घटित है, अज्ञातज्ञापकत्व दोनोंमें समान ही है । और प्रत्यक्षादि जैसे घट, पट आदि वस्तुके बोधक होते हैं, वैसे ही शब्द भी सिद्ध, साध्य आदि विविध वस्तुओंका बोधक है ।

शङ्का—ब्रह्म पदार्थ है अथवा वाक्यार्थ है ? अर्थात् पदगम्य है किंवा वाक्यगम्य ? अन्त्य पक्षमें कार्य ही वाक्यगम्य होता है, ब्रह्म कार्य नहीं है, अतः वह वाक्यगम्य नहीं होगा ।

यदि कहो कि अकार्य भी ब्रह्म वाक्यगम्य क्यों नहीं होगा ? क्योंकि वाक्यगम्य कार्य ही होता है, इसमें क्या प्रमाण है ?

प्रमाण यह है कि क्रियाके बिना पदोंकी संहति नहीं होती और पदसंहति ही वाक्य है, 'देवदत्तः घटं जानाति' यहांपर देवदत्त और घटकी संहति 'जानाति' क्रियाके द्वारा ही होती है, अन्यथा नहीं। 'गौरश्वः पुरुषः'

असन्दिग्धाविपर्यस्तधीः समा वाक्ययोर्द्वयोः ।
मानत्वे तावता सिद्धे विधिः किं ते करिष्यति ॥ १४८ ॥
अकार्येऽपि हि मेर्वादावस्ति मेरुरितीरणात् ।
सम्यग्धीर्जायते यद्वत्तथा तत्त्वमसीत्यतः ॥ १४९ ॥

---

इत्यादि क्रियाशून्य पदसमूह वाक्य नहीं कहा जाता, अतएव 'तिङ्सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता' इस वाक्यलक्षणमें चेदर्थक 'वा' शब्दका प्रयोग किया गया है। यदि कारकान्विता क्रिया हो, तो पदसमूह वाक्य होता है, अन्यथा नहीं। लोक और वेदमें कहीं भी क्रियाशून्य पदसंहति नहीं देखी गई है। प्रथम पक्षमें ब्रह्म आगमैकवेद्य है, यह नहीं सिद्ध होगा; क्योंकि पदार्थ तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणगम्य माने जाते हैं, अन्यथा व्युत्पत्तिग्रह ही दुर्घट हो जायगा।

समाधान—ब्रह्म पदार्थ है, यह तो अनुक्तोपालम्भन है, क्रियाके बिना पदसंहतिरूप वाक्य नहीं होता, यह भी ठीक ही है। वेदान्तवाक्योंमें क्रिया नहीं है, यह कहना निस्सार है। वेदान्तवाक्योंमें सर्वथा क्रियाशून्यत्व नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्योंमें 'असि, अस्मि' इत्यादि क्रिया स्पष्ट है। लिङादिकी अर्थभूत क्रिया वाक्यमें अपेक्षित नहीं है, क्योंकि 'भूतले घटोऽस्ति' इत्यादि स्थलमें घट और भूतलका समभिव्याहार सर्वसंमत है और लिङादि नहीं है, तथा सोने और चाँदीके परवाले अतिशीघ्रगामी सुन्दर पक्षी द्वीपान्तरमें रहते हैं, इस वाक्यसे बोध सर्वानुभवसिद्ध है और इस वाक्यका अर्थज्ञान प्रमा है, उसे भ्रम कहनेका संभव नहीं है, इसी प्रकार कार्याबोधक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य ब्रह्मविषयक सम्यक् ज्ञानके उत्पादक हैं, ऐसा माननेमें कोई भी आपत्ति नहीं है ॥ १४७ ॥

'असन्दिग्धा०' इत्यादि। असन्दिग्धाविपर्यस्तबोधजनकत्व ही वाक्यमें प्रामाण्य है, सो दोनों लौकिक और वैदिक वाक्योंमें समान है; इसीसे दोनों वाक्योंमें प्रामाण्य सिद्ध होता है। प्रामाण्यानुपयोगी विधि आपको क्या फल देगी; जिसका आग्रह निरन्तर करते हैं। यह आग्रह लाभके बदले हानिप्रद है, क्योंकि सिद्धार्थबोधक उक्त लौकिक वाक्योंमें सर्वसंमत प्रामाण्यका भङ्ग हो जायगा ॥ १४८ ॥

'अकार्येऽपि हि' इत्यादि। 'मेरुरस्ति' इस वाक्यसे अकार्य मेर्वादिका जैसे

वेदेऽप्यस्ति विना कार्यं निषिद्धार्थावबोधनम् ।
पलाण्ड्वादावकरणाभान्या धीर्जायते श्रुतेः ॥ १५० ॥

समीचीन ज्ञान होता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे अकार्य जीवब्रह्मा-भेदविषयक समीचीन ज्ञान होता है ॥१४९॥

विमतम् अफलम्, सिद्धार्थकत्वात्, मेर्वादिबोधकवाक्यवत् अर्थात् 'तत्त्वमसि' इत्यादि सिद्धार्थबोधक वाक्य निष्फल हैं । जैसे 'मेरुरस्ति' इत्यादि वाक्यसे वाक्यार्थ-ज्ञान होता है सही, पर उससे श्रोता कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध कर सकता, अतएव निष्फल होनेसे वह वाक्य प्रमाण नहीं है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य भी निष्प्रयोजन ज्ञानके जनक हैं, इससे अप्रमाण माने जाते हैं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'वेदेऽप्यस्ति' इत्यादिसे ।

'मेरुरस्ति' इत्यादि लौकिक वाक्यवत् वेदमें भी अकार्य-बोधक वाक्य है—'न पलाण्डुं भक्षयेत्' इत्यादि ।

लहसुनविशेष पलाण्डु कहलाता है जो लोकमें पियाज नामसे प्रसिद्ध है । यदि उस निषेधवाक्यसे भी कार्यबोध मानें, तो विधि और निषेधमें अभेदकी आपत्ति होगी और अनुभवविरोध भी होगा, इसलिए नञर्थका धात्वर्थके साथ ही अन्वय होता है । धात्वर्थ प्रतियोगितासंबन्धसे नञर्थ अभावमें अन्वित होता है । अभाव विशेष्य और धात्वर्थ विशेषण होता है, अतः पलाण्डुभक्षणाभाव इष्टसाधनम्, ऐसा न्यायादिमतमें बोध होता है, क्योंकि नैयायिक इष्टसाधनत्वको लिङर्थ मानते हैं । कार्य लिङ्का अर्थ है, यह प्रभाकर मिश्रका मत है, उनके मतमें यह अनुपपत्ति है कि अभाव कृतिसाध्य नहीं होता, इसलिए यह कहना निःसार है कि वेद अकार्यार्थका बोधक नहीं है, क्योंकि निषेध-वाक्यमात्र अकायार्थबोधक है । अथवा 'न सुरां पिबेत्', 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इन वाक्योंका यदि अर्थ यह हो कि सुरापान पापजनक है और ब्राह्मणका हनन पापजनक है, तो भी वह कर्तव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस पुरुषको निषेधवाक्यार्थज्ञानजन्य संस्कार है अर्थात् निषेध्य अर्थके अनुष्ठानसे पाप होता है, यह संस्कार है; वह उक्त निषेध-वाक्योंका अर्थ जानता है, पर कर्तव्यज्ञान उसको नहीं होता, अतएव उन कर्मोंसे उदासीन रहता है, अतः यह सिद्ध होता है कि जैसे निषेधवाक्य कार्यानपेक्ष स्वार्थमें प्रमाण है, वैसे ही वेदान्तवाक्य भी कार्यानपेक्ष स्वार्थमें प्रमाण है ।

तस्मान्निषेधशास्त्रस्य शुद्धभूतार्थनिष्ठता ।
पुंव्यापारस्य गन्धोऽपि न तत्राऽस्तीति निश्चयः ॥ १५३ ॥

तब वह पुरुष उक्त कर्मोंसे उदासीन हो जाता है । औदासीन्यके लिए नूतन कोई व्यापार नहीं किया जाता, किन्तु तत्-तत् कर्मोंके अनुकूल जो व्यापार प्रसक्त था, उसके त्यागमात्रसे औदासीन्य सिद्ध होता है, इसलिए निषेधस्थलमें कर्तव्यांशका संभव ही नहीं है और निषेध भी प्रमाण माने जाते हैं, उनके समान वेदान्त भी ब्रह्ममें प्रमाण है ॥ १५२ ॥

'तस्मान्नि०' इत्यादि । दृष्टान्तका उपसंहार करते हैं—निषेधशास्त्र जैसे भूतार्थ है अर्थात् उसमें कर्तव्यांशका समावेश नहीं है और प्रामाण्य उन वाक्योंमें सर्वसंमत है, वैसे ही अकर्तव्यार्थ 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य ब्रह्ममें प्रमाण हैं ।

शङ्का—निषेधवाक्यके दृष्टान्तसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें प्रामाण्यका समर्थन करना ठीक नहीं है, क्योंकि दोनोंमें बड़ा वैषम्य है । कलञ्जभक्षण आदि अज्ञानकृत और अनर्थफलक है । 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि निषेधवाक्य कलञ्जभक्षणादिमें अनिष्टसाधनत्वके बोधन द्वारा पुरुषोंको तत्-तत् कर्मसे निवृत्त करता है, इसलिए निवृत्तिमात्र करानेसे वे प्रमाण माने जाते हैं, सो उचित ही है, रागतः प्राप्त प्रवृत्तिका बाधक निषेधशास्त्र है, परन्तु श्रौत कर्म यागादि न अज्ञानकृत ही हैं और न अनर्थफलक ही हैं और न रागतः प्राप्त ही हैं, किन्तु शास्त्रीय और तत्-तत् फलकी प्राप्तिके उपायरूपसे विहित हैं, अतएव समानबल हैं । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य तत्त्वरूपसे ज्ञानके जनक होनेपर भी श्रौत कर्मके निवर्तक नहीं हो सकते, इसलिए निवर्त्तकरूपसे प्रामाण्यका समर्थन नहीं हो सकता ।

समाधान—जैसे कलञ्जभक्षण अज्ञानकृत अतएव अनर्थफलक है, वैसे ही श्रौत कर्म याग, दान, होम आदि भी आत्माज्ञानकृत हैं, वस्तुतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विशिष्ट आत्मा नहीं है, किन्तु अज्ञानवश अपनेको कर्ता और भोक्ता समझता है, यह बार-बार कह चुके हैं और इसी अर्थमें अनेक श्रुतियोंका प्रमाणरूपसे उल्लेख भी कर चुके हैं। देहादि अज्ञानज हैं, वस्तुतः ये ही अनर्थके निदान भी हैं। आत्मैकत्वसाधक वाक्य द्वारा आत्मैकत्वका ज्ञान होनेपर सविलास अज्ञानकी निवृत्ति होती है और तन्निबन्धन निखिल कर्तृत्व आदि आरोपित धर्मोंकी निवृत्ति होती है, इसलिए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य निवृत्तिपरतया निषेधवाक्यके समान प्रमाण हैं, ऐसा कहना उचित नहीं है, अनुपयोगी वैधर्म्य अकिञ्चित्कर है ।

आत्मयाथात्म्यविज्ञाननिष्ठता तद्वदीक्ष्यताम् ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानां नाऽनुष्ठेयं मनागपि ॥ १५४ ॥
न केवलमनुष्ठेयस्याऽभावः किन्तु वेदनात् ।
पूर्वं प्रवृत्तकर्माऽपि बाध्यं पुंसो निषेधवत् ॥ १५५ ॥
अकर्त्रात्मधिया कर्म लौकिकं वैदिकं तथा ।
बाध्यं निषेधशास्त्रेण कलञ्जादिप्रवृत्तिवत् ॥ १५६ ॥

शङ्का—काम्य कर्म अज्ञानमूलक तथा अनर्थफलक है, यह ठीक है, किन्तु नित्य कर्म तो केवल शास्त्रीय है, अतः उसे अज्ञानकृत नहीं कह सकते और न वह अनर्थफलक ही है, प्रत्युत अनर्थरूप प्रत्यवायका नाशक है, इसका उत्तर आगे कहेंगे ॥ १५३ ॥

'आत्मयाथा०' इत्यादि । जैसे निषेधवाक्य निषेधमात्रपरक हैं, अनुष्ठेयार्थपरक नहीं हैं, वैसे ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भी आत्मयथार्थज्ञानमात्रपरक हैं, उससे अतिरिक्त अनुष्ठेय अर्थके बोधक नहीं हैं, इनमें अणुमात्र भी कतर्व्यांशका समावेश नहीं है ॥ १५४ ॥

'न केवल०' इत्यादि । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें अनुष्ठेयाभाव है, केवल यही नहीं, किन्तु ज्ञानसे पूर्व जो कर्म अनुष्ठेयरूपसे प्राप्त हैं वे भी ज्ञानके अनन्तर बाध्य हो जाते हैं, क्योंकि कर्तृत्व आदिका ज्ञान रहनेपर ही कर्ममें अधिकार होता है । तत्त्वज्ञान द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर तज्जनित कर्तृत्व आदिकी निवृत्ति होनेपर पुरुषका कर्ममें अधिकार ही नहीं रहता, अतः पूर्व प्रवृत्तिकर्म भी निवृत्त हो जाते हैं । इसमें दृष्टान्त है—निषेधवत् । 'न पलाण्डुं भक्षयेत्' इत्यादि वाक्यार्थके ज्ञानसे समीहित-साधनबुद्धिसे कलञ्जादिके भक्षणमें प्रवृत्त पुरुषको जब ज्ञान हो जाता है कि यह अनिष्टका साधन है, तब प्रवृत्त पुरुषकी भी उस कर्मसे निवृत्ति हो जाती है । अपूर्व कर्ममें प्रवर्त्तक दोनों नहीं हैं, पूर्व प्रवृत्त कर्मसे निवर्त्तक दोनों समान है ॥ १५५ ॥

'अकर्त्रात्मक०' इत्यादि । आत्मा अकर्म है, कर्तृभोक्तृत्वादिस्वभाव नहीं है, इसका निश्चय होनेपर लौकिक और वैदिक दोनों कर्म बाधित हो जाते हैं । कर्तृत्व आदि धर्मके अभिमानी पुरुषका ही कर्ममें अधिकार है । विपरीत ज्ञान होनेपर लौकिक और वैदिक कर्म बाधित हो जाते हैं, इसलिए उनका त्याग

अथ कृष्यादिबाधेऽपि न बाधः श्रौतकर्मणः ।
मैवमज्ञानहेतूत्थानर्थार्थत्वसमत्वतः १५७ ॥

हो जाता है । कलञ्ज आदिमें प्रवृत्तिका दृष्टान्त ठीक ही है, निषेधवाक्यज्ञानसे पूर्व जो पुरुष कलञ्जादिभक्षणमें प्रवृत्त होता है, उसकी निषेधवाक्यार्थज्ञानके बाद प्रवृत्ति बाधित हो जाती है, फिर उसमें प्रवृत्ति तो दूर रही ॥ १५६ ॥

'अथ कृष्यादि०' इत्यादि ।

शङ्का—लौकिक कलञ्जादिभक्षण रागतः प्राप्त होता है और अनर्थफलक है, इसलिए निषेधशास्त्रसे उसका बाध होना जैसे उचित है, वैसे ही लौकिक कृष्यादि कर्मका बाध हो सकता है, किन्तु शास्त्रीय कर्मका भी ज्ञानीके लिए बाध कहते हैं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय कर्म अनर्थफलक नहीं है और न रागसे ही प्राप्त है, किन्तु शास्त्रसे प्राप्त है, दोनों शास्त्रसे समबल हैं, इसलिए कर्मबोधक शास्त्रका बाध कैसे ?

समाधान—बाध्यमें हेतु है—अज्ञानजत्व और अनर्थार्थत्व, सो दोनोंमें समान है । अज्ञानसे समुत्पन्न जैसे लौकिक कृष्यादि हैं, वैसे ही वैदिक याग, दान, होम आदि हैं । आत्माको कर्ता मानकर ही पुरुष कर्माधिकारी होता है । कर्म चाहे लौकिक हो या वैदिक । आत्माको कर्ता मानना केवल अज्ञाननिबन्धन है ।

ऐहिक या आमुष्मिक फल भोक्ताके लिए ही है । जब निष्क्रिय आत्मा भोक्ता नहीं है, तब वह उसके लिए फल भी नहीं हो सकता, अज्ञानसे अपनेको जब तक भोक्ता मानता है तब तक उसका फल कहा जाता है । अज्ञाननिवृत्तिके अनन्तर दोनों समान ही अफल हैं, अतः लौकिक बाध्य है, शास्त्रीय नहीं, इसमें विनिगमक कुछ नहीं है, शास्त्रोंमें बाध्यबाधकभाव नहीं है, इसलिए बलाबलका विचार व्यर्थ है। दोनों शास्त्र अपने-अपने विषयमें व्यवस्थित हैं। अविद्वान्‌के लिए कर्मविधि शास्त्र है, अतएव भाष्यकारने स्पष्ट कहा है कि 'अविद्यावत्पुरुषविषयाणि शास्त्राणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि च' इत्यादि । ज्ञानीके लिए कर्मनिवृत्तिबोधक वेदान्त है । इसी तात्पर्यसे 'त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः' इत्यादि आप्तवचन हैं । वर्ण, आश्रम आदि भेदके समान अवस्थाभेदसे जैसे एक ही पुरुषके प्रति विधि और निषेध शास्त्र व्यवस्थित माने जाते हैं, वैसे ही वेदान्त

हितत्वभ्रान्तिनरकौ कलञ्जादाविवात्मनः ।
कर्तृत्वभ्रान्तिदेहाप्ती समाने श्रौतकर्मसु ॥ १५८ ॥
शास्त्ररागादिजन्यत्वात् काम्यानामेवमस्तु तत् ।
शास्त्रमात्रनिमित्तत्वान्नित्यानां नेति चेन्न तत् ॥ १५९ ॥
स्वर्गादिकामिनो यद्वदग्निहोत्रविधिस्तथा ।
मोहकामादिदुष्टस्य नित्यं कर्म विधीयते ॥ १६० ॥

---

भी व्यवस्थित हैं । अज्ञानीके लिए कर्मकाण्ड और ज्ञानीके लिए वेदान्त है, यह निष्कर्ष हुआ ॥ १५७ ॥

**'हितत्व०'** इत्यादि । निषेधवाक्य और वेदान्तवाक्यके साम्यका उपपादन करते हैं—निषेधवाक्यके अर्थके ज्ञानसे पहले कलञ्ज-भक्षणमें समीहितसाधनत्वकी भ्रान्ति और उसके भक्षणसे होनेवाला फल—नरकप्राप्ति—एवं वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञानसे पहले अपनेमें रहनेवाले कर्तृत्व आदिकी भ्रान्ति तथा तत्फल—देहप्राप्ति—ये दोनोंमें समान हैं; निषेध करनेवाले वेदवाक्यके अर्थज्ञानके अनन्तर दोनोंमें अप्रवृत्ति भी समान है । भाव यह है कि जैसे निषेधशास्त्रके अज्ञान अथवा उसमें अविश्वाससे हनन और अभक्ष्यभक्षण आदिमें हितसाधनत्वका भ्रम होता है; इस भ्रमसे हिंसादिमें प्रवृत्ति होती है, जिसका फल नरकनिपतन आदि है; वैसे ही आत्मतत्त्वके अज्ञानसे कर्तृत्व आदिका भ्रम होता है; उसका फल देहान्तरप्राप्ति है; देहान्तरप्राप्ति आत्यन्तिक पुरुषार्थ नहीं है; इसलिए श्रौत कर्म भी कृषि आदि कर्मोंके समान ही हैं । श्रुति भी दोनोंको समान ही कहती है—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' इत्यादि ॥ १५८ ॥

**'शास्त्ररागादि०'** इत्यादि । शास्त्र, राग आदिसे अविद्या और अविद्याजन्य काम्य कर्म होते हैं; इसलिए उनका त्याग ठीक है; नित्य कर्म तो शास्त्रमात्र-निमित्तक हैं; इसलिए उनका त्याग नहीं होना चाहिए ।

यहाँ भाव यह है कि जितने काम्य कर्म हैं, उन सबका अज्ञानादि मूल है तथा वे अनेक अनर्थके कारण हैं; अतः त्याज्य हैं; किन्तु नित्य कर्म तो केवल शास्त्रमात्रनिमित्तक हैं; अतएव अनर्थके मूल भी नहीं हैं प्रत्युत प्रत्यवायके नाशक हैं; इसलिए उनका त्याग उचित नहीं है ॥१५९॥

**'स्वर्गादि०'** इत्यादि । स्वर्गशब्द पारलौकिक फलोंका उपलक्षण है । आदि-

अकर्त्तारं स्वमात्मानं कर्तृत्वेनाऽभिमन्यते ।
नित्यकर्माधिकार्यस्मान्मोहदोषोऽधिकारिणः ॥ १६१ ॥
सोऽकामयत जाया मे स्यादित्यादि श्रुतौ स्फुटम् ।
कामदोषः प्रत्यपादि सर्वकामाधिकारिणाम् ॥ १६२ ॥

शब्दसे पशु, पुत्र आदिका ग्रहण है। उन स्वर्गादिकामियोंके प्रति स्वर्गादिके उद्देश्यसे जैसे अग्निहोत्रादि कर्मोंका विधान है, वैसे ही मोहकामादिदुष्ट पुरुषोंके लिए नित्य कर्मोंका विधान है। अविद्यादोषदुष्टत्व, उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग और अधिकारी इत्यादि नित्य और काम्य दोनों विधियोंमें समान हैं।

शङ्का—यदि दोनों समान हैं, तो नित्य और काम्यका विभाग कैसे?

समाधान—स्वर्ग, पुत्र आदि विशेषरूपसे फलके कामियोंके प्रति तत्-तत् फलके उद्देश्यसे विशेष-विशेष काम्य कर्मोंका विधान है और 'इष्टं मे स्यादनिष्टं मा भूत्' इस प्रकार सामान्यरूपसे फलार्थियोंके उद्देश्यसे नित्य कर्मोंका विधान है। अथवा कामनाप्रयुक्त काम्य कर्म हैं और जीवन-प्रयुक्त नित्य कर्म हैं—इस प्रकार भी दोनोंमें भेद मानकर उक्त विभागकी उपपत्ति है। यही एक प्रकार है जिसके द्वारा इन दोनोंका विभाग सिद्ध हो सकता है, दूसरेसे नहीं, क्योंकि कामनाधीनत्व तो काम्य और नित्य दोनोंमें समान है। 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुः तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इत्यादि वचन तथा अनुभवके अनुसार कामना प्रवृत्तिमात्रमें कारण है। इसीसे चेतनकी प्रवृत्तिमात्रमें इष्ट-साधनताका ज्ञान कारण है। इस प्रकार यह कार्यकारणभाव सर्वसंमत माना जाता है; अतएव 'न प्रयोजनमन्तरेण मन्दोऽपि प्रवर्तते' यह लोकमें प्रसिद्धि है। यावज्जीवन तो नित्य कर्म भी बराबर नहीं होता। सायं और प्रातःकालमें नित्याग्निहोत्रादि होते हैं; जीवन रहनेपर ही कदाचित् काम्य कर्म भी होता है, अतः अग्निहोत्रादिमें नित्यत्व बाधित ही है॥ १६० ॥

'अकर्तारम्' इत्यादि। वस्तुतः अकर्तारूप आत्मामें कर्तृत्वका अभिमान करके ही जीव नित्य कर्मका अधिकारी होकर नित्य कर्म करता है। इससे स्पष्ट समझा जाता है कि नित्य कर्म करनेवाला पुरुष मोहादिदोषदुष्ट अवश्य है, विपरीत ज्ञान मोहके बिना नहीं हो सकता, इसमें किसीका विवाद नहीं है॥ १६१ ॥

'सोऽकामयत' इत्यादि। प्रजापतिने कामना की कि मेरी भी

आविरिञ्च्याद्विरक्तोऽपि मुक्तिं कामयते ततः ।
तत्प्रवृत्तिश्च काम्येति चेत्तर्ह्येषाऽपि बाध्यताम् ॥ १६३ ॥
आत्माज्ञानैकहेतुत्वाद्वाङ्मनःकायकर्मणाम् ।
आत्मज्ञानेन तद्धानात्समाप्तिः सर्वकर्मणाम् ॥ १६४ ॥

जाया 'स्त्री' हो, यह कामना श्रुतिमें स्पष्ट है । इसके अनुसार सब कामना-धिकारियोंमें कामना दोष श्रुतिने स्पष्ट कहा है । अविद्याके बिना कामना नहीं होती, अतः मूल दोष अविद्या है, यह अर्थात् सिद्ध होता है ॥ १६२ ॥

'आविरञ्च्या०' इत्यादि ।

शङ्का—जैसे कामादिदोषदुष्टका कर्ममें अधिकार है, वैसे ही मोक्षकी कामना-वाले मुमुक्षुका ज्ञानमें अधिकार है, अतः कामनारूप दोष उन दोनोंमें समान ही है, फिर ज्ञान और कर्ममें क्या विशेष हुआ ? मोक्षकामनाके बिना उसके साधन श्रवण, मनन आदिमें पुरुषकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ।

समाधान—सभी कामनाएँ दोष नहीं हैं । प्रकृतमें बन्धनहेतु विषयकी कामना कामनाशब्दसे विवक्षित है । स्थाणुसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त जो विविध ऐहिक आमुष्मिक फल हैं, उन फलोंसे विरक्त परमार्थ सत् सांसारिक-धर्मातीत आत्मा है, ऐसा जिसको विवेक है, उस पुरुषका मोक्षमें अधिकार है । अथवा यदि कामनामात्र दोष है, यही सिद्धान्त मानते हो, तो मोक्षकामनाका भी बाध मानो, मोक्षशब्द मोक्षसाधन ( उसके उपाय ) श्रवणादिके तात्पर्यसे कहा गया है । विरक्तका ही ज्ञानमें अधिकार है, इसमें क्या प्रमाण ? 'पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्' इत्यादि और 'कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र' इत्यादि वचन प्रमाण हैं । इनसे कामकी निन्दा की गई है । निन्दा त्यागके लिए की जाती है, निरर्थक नहीं । 'योऽकामः' इत्यादि श्रुति साक्षात् कामका निषेध करती है । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कामादिसे रहित पुरुषरत्नकी श्रेयोमार्ग सम्यग्ज्ञानमें प्रवृत्ति होती है ॥१६३॥

'आत्माज्ञानै०' इत्यादि । वाचिक, मानसिक, कायिक—इन त्रिविध कर्मोंमें आत्माका अज्ञान ही कारण है । आत्मज्ञानसे आत्माज्ञानकी निवृत्ति होनेसे सब कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है । कारणके अभावसे कार्यका भी अभाव होता है, यह सर्वसिद्धान्त है, इसलिए मोक्षके लिए ज्ञानीको कर्मकी अपेक्षा नहीं होती ॥१६४॥

कर्मोपयोगाभावेऽपि वृथाकालक्षयाद्वरम् ।
कर्मानुष्ठानमिति चेन्न प्रवृत्तेरसम्भवात् ॥ १६५ ॥
न चोच्छिन्नात्ममोहस्य सदैवाऽऽत्मधियः स्मृतेः ।
अल्पोऽप्यवसरोऽस्तीह वाङ्मनःकायकर्मणाम् ॥ १६६ ॥

'कर्मोपयोगा०' इत्यादि ।

शङ्का—यद्यपि उक्त रीतिसे मोक्षके लिए ज्ञानियोंको कर्मकी अपेक्षा नहीं होती, फिर भी कर्मानुष्ठानका त्यागकर व्यर्थ काल बितानेकी अपेक्षा शास्त्र-विहित शुभकर्मोंके अनुष्ठान द्वारा समय बिताना अच्छा है, इस दृष्टिसे ज्ञानियोंके लिए भी कर्मानुष्ठान आवश्यक है ।

समाधान—नहीं, कर्मके अनुष्ठानमें ज्ञानियोंकी प्रवृत्ति ही असंभव है । ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व कर्म और उसके फलमें सत्यत्वज्ञान रहनेसे श्रद्धा और तत्-तत् फलकी कामना होती है, इसलिए फलकी कामनावाला पुरुष उसके साधन कर्ममें प्रवृत्त होता है, तत्त्वज्ञान होनेके बाद द्वैतमात्रमें मिथ्याज्ञान होनेसे अश्रद्धा हो जाती है और फलकी कामना मुमुक्षुको होती नहीं, फिर कर्ममें प्रवृत्तिकी क्या संभावना है ? ॥ १६५ ॥

प्रवृत्त्यसम्भवको ही स्फुट करते हैं—'न चोच्छिन्ना०' इत्यादिसे ।

ज्ञानक्षणिकत्ववादीकी शङ्का है कि जिस पुरुषका आत्ममोह—आत्माज्ञान—आत्मतत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है, उस पुरुषकी भी प्रवृत्ति उक्त ज्ञानका नाश होनेपर फिर हो सकती है ।

समाधान—आत्मज्ञान क्षणिक है, ऐसा माननेपर भी उत्तरोत्तरज्ञानप्रवाह उत्पन्न होता ही रहता है, क्योंकि मुमुक्षुकी निदिध्यासनमें ही सदा प्रवृत्ति रहती है, इसलिए मुमुक्षुकी आत्मज्ञानशून्य अवस्था ही नहीं है, तो कर्मानुष्ठानका क्या प्रसंग ? इस अभिप्रायसे कहते हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक—इन तीनों कर्मोंका थोड़ा भी अवसर नहीं रहता अर्थात् सतत आत्मज्ञानमें ही तत्पर होनेसे मुमुक्षुको कर्म करनेका अवसर नहीं है । वार्तिकमें 'आत्मधियः स्थितेः' यह पाठ है और वार्तिकसारमें 'आत्मधियः स्मृतेः' यह पाठभेद है, पर दोनोंमें प्रवाहरूपसे स्थिति मानना आवश्यक है । निर्विचिकित्स शब्दज्ञानसन्तति स्मरणात्मक ही है, इसलिए वार्तिकसारमें धीविशेषवाचक स्मृतिशब्दसे निर्देश किया है, सामान्यविशेषवाचकशब्दके प्रयोगका भेद है, अर्थ तो एक ही है ॥ १६६ ॥

कर्मणोऽवसरश्चेत्स्यात्त्वद्भिक्षावसरो यथा ।
मैवं क्षुधादिदोषैकहेतुत्वेनाऽनिवारणात् ॥ १६७ ॥
कर्माऽपि मोक्षकामादिमूलं चेद्यो विमुह्यति ।
स करोत्येव कर्माणि को ह्यज्ञं विनिवारयेत् ॥ १६८ ॥
अनिवार्यक्षुधेवाऽयं मोहो यस्याऽनिवारणः ।
तस्मिन्कुर्वत्यमूढस्य किं छिन्नं ब्रह्मवेदिनः ॥ १६९ ॥

---

'**कर्मणो**' इत्यादि ।

शङ्का—ज्ञानी जीवन्मुक्तको जैसे भिक्षाटन आदि कर्म करनेका अवसर मिलता है, वैसे ही अन्य कर्म करनेका अवसर उसे क्यों नहीं मिलता ? यह तो कोई कह नहीं सकता कि जीवन्मुक्त भिक्षाटन आदि कर्म भी नहीं करता, क्योंकि शरीरधारण भिक्षाटनके बिना हो ही नहीं सकता और तत्त्वोपदेशके लिए शास्त्रके निर्माण आदिमें भी उसकी प्रवृत्ति देखी जाती है; फिर कर्ममें ही क्या द्वेष है ? जो कि उसे नहीं कर सकता है, ऐसा कहते हो ?

समाधान—भिक्षा आदिमें प्रवृत्तिके कारण हैं प्रारब्धकर्मवश शरीरधारणोपयोगी भिक्षाशनके मूल कारण क्षुधादिदोष, सो दृष्ट हैं; इसलिए उनमें प्रवृत्ति होती है, अन्य फलकी इच्छा नहीं है, अतः शास्त्रीय कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती ॥ १६७ ॥

'**कर्माऽपि**' इत्यादि । जो केवल विवेकी है, तत्त्वज्ञानी नहीं है, उसकी यह धारणा होती है कि कर्मानुष्ठान ही मोक्षकामनाका मूल है, यह यद्यपि विवेक नहीं है, किन्तु मोहमात्र है; तथापि ऐसे मुग्धकी कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति ही है, कारण कि अज्ञ अर्थात् विपरीत ज्ञानवान्‌को कौन रोक सकता है । भ्रान्त पुरुष अपने अज्ञानवश आभासमें भी प्रवृत्त होता ही है ॥ १६८ ॥

'**अनिवार्य०**' इत्यादि । शरीरधारी प्राणिमात्रको क्षुधा जैसे अनिवार्य है; अर्थात् अपने अनुरूप आहार अवश्य ही करना पड़ता है, वैसे ही सब पुरुषोंको उक्त मोह अनिवार्य है अर्थात् शास्त्राचार्योपदेश द्वारा भी निवृत्त नहीं होता, अतएव वह काममें प्रवृत्त रहता है, ब्रह्मज्ञानी अतएव मोहरहितकी क्या हानि होगी ? अर्थात् कुछ नहीं होगी, अधिकारीका दृष्टान्त अनधिकारी पर लागू नहीं होता ॥ १६९ ॥

क्षुधितो भुङ्क्त इत्येवं भुङ्क्ते तृप्तो न कुत्रचित् ।
मूढः कुरुत इत्येवं नैव कुर्यादमूढधीः ॥ १७० ॥
उच्छिन्नस्य न मोहस्य ह्यकस्मात्पुनरुद्भवः ।
येन मूढः प्रवर्त्तेत नित्यकर्मसु तत्त्ववित् ॥ १७१ ॥

'क्षुधितो' इत्यादि । क्षुधित—भूखा—पुरुष यदि भोजन करता है, तो क्या तृप्त भी कहीं भोजन करते पाया जाता है ? यदि ऐसा पाया जाय, तो यही मानना पड़ेगा कि वह तृप्त ही न था, एवं मूढ़ कर्म करता है, यह देखकर अमूढ़धी आत्मानात्मविवेकी अद्वैत-ब्रह्म-तत्त्वदर्शी कर्म नहीं कर सकता ॥ १७० ॥

'उच्छिन्नस्य' इत्यादि ।

शङ्का—ज्ञानीका अज्ञान नष्ट हो जाता है, इसलिए उसको कर्म करनेका अवसर ही नहीं आता, यह आपने कहा, सो ठीक नहीं जँचता; कारण कि फिर यदि अज्ञान उत्पन्न हो, तो कर्मका अवसर क्यों नहीं आवेगा ? अज्ञान-नाशके अनन्तर पुनः अज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, इसमें कोई कारण नहीं कहा है ।

समाधान—ज्ञानाग्निसे समूल अज्ञान नष्ट हो जाता है, अतः ज्ञान रहने-पर पुनः अज्ञान उत्पन्न नहीं होता । इस तात्पर्यसे कहते हैं—'उच्छिन्नस्य न मोहस्येत्यादि' । अभिप्राय यह है कि जो अज्ञान नष्ट हुआ है, उसकी फिर उत्पत्ति तो असम्भव ही है । यदि उसके सजातीय दूसरे अज्ञानकी उत्पत्ति कहिए, तो कारणके अभावसे ही अज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि अज्ञानको ही उत्पादक कहिये, तो वह नष्ट हो चुका है । यदि अज्ञानका नाश ही न मानिए, तो ज्ञानोत्पत्ति ही व्यर्थ होगी और कभी मोक्ष ही नहीं होगा । यदि आत्माको ही अज्ञानका उत्पादक कहिये, तो फिर अनिर्मोक्षापत्ति ही दोष होगा । आत्मा नित्य है और उसीको अज्ञानका उत्पादक कहते हो, अतः अज्ञान सदा ही होता रहेगा । यदि कहिये कि अनेक अज्ञान मानेंगे, तो इसमें कुछ प्रमाण नहीं है 'अहमज्ञः' इत्यादि प्रतीति जब एक अज्ञानको लेकर भी उपपन्न हो जाती है, तो फिर अनेक अज्ञानोंमें कुछ प्रमाण नहीं हैं, अतः जिस पुरुषका अज्ञान नष्ट हो गया है, वह ज्ञानी पुरुष कर्म नहीं करता ।

भिक्षाटन आदि कर्म भी परोक्षात्मतत्त्वदर्शी ही करता है, उसमें भी मूल

न वस्त्ववसरापेक्षं स्वतः सिद्धत्वकारणात् ।
क्रियैवाऽवसरापेक्षा तस्याः कारकतन्त्रतः ॥ १७३ ॥
यदोद्भवेत्क्षुधेवाऽस्य प्रबला मोहवासना ।
तदाकृतं न नित्यं स्यात्तस्य याद‍ृच्छिकत्वतः ॥ १७४ ॥

---

बुद्धिकी सदा स्थिति ही रहती है, इसलिए किसी तरह उसमें कालसबन्ध नहीं कह सकते ।

शङ्का—तब किसको कालकी अपेक्षा है ?

समाधान—क्रियासे कार्यमात्रका ग्रहण होता है, कार्यमात्रको अक्सर कालकी अपेक्षा होती है, क्योंकि क्रिया (कार्यमात्र) कारकतन्त्र (कारकके अधीन) ही है । कारणके समवधानसे ही कार्य होता है, अन्यथा नहीं । अतएव कदाचित्क कहा जाता है ॥ १७३ ॥

**यदोद्भवेत्** इत्यादि । जिस समय तत्त्वज्ञानीको दोषमात्रजन्य क्षुधाके समान मोहवासना उत्पन्न होती है, उस समय कर्म अवश्य करना चाहिए, यह धारणा होती है, उस समयका किया हुआ अग्निहोत्रादि कर्म नित्य कर्म नहीं कहा जा सकता, वह तो केवल याद‍ृच्छिक कहलाता है ।

अभिप्राय यह है कि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति', 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इत्यादि शास्त्रसे विहित जो कर्म हैं, ये नित्य कर्म कहलाते हैं । प्रतिदिन उनका नियत साधन, समयादिसे अनुष्ठान होता है, जिसे कर्मी प्रायः किया करते हैं । तत्त्वबुभुत्सु मुमुक्षु जब निदिध्यासनमें निरत रहता है, उस समय उसको काल-कर्मादिका ज्ञान है ही नहीं, इसलिए तदनुष्ठान असंभव ही है । कदाचित् व्युत्थानदशामें पूर्वार्जितवासना अभिव्यक्त होती है, तो अग्निहोत्रादि कर्ममें शास्त्रकी आज्ञासे नहीं, किन्तु स्वेच्छासे बालक्रीडादिवत् प्रवृत्ति हो जाती है, परन्तु वह कर्म नित्य कर्म नहीं कहा जाता; किन्तु वासनाकृत अतएव याद‍ृच्छिक कर्म कहा जाता है । जो कर्मवश किया जाता है, वह नित्य कर्म कहलाता है, जो स्वेच्छामात्रसे किया जाता है, वह याद‍ृच्छिक कहलाता है, यही दोनोंमें भेद १७४ ॥

दोषजन्येऽपि भिक्षादौ कालादिनियमः श्रुतः ।
विधिः स एष विदुष इति चेन्न तदिष्यते ॥ १७५ ॥
नैवाऽयं नियमोऽस्माकं परिसङ्ख्या हि सा यतः ।
नो चेद्विहितकालेऽस्य भिक्षात्यागो न शक्यते ॥ १७६ ॥

**'दोषजन्ये'** इत्यादि। ज्ञानी भिक्षाटन आदि कर्म कामादि-दोषवश करता है; अग्निहोत्रादि कर्म नहीं करता, क्योंकि वे दोषनिबन्धन नहीं हैं, किन्तु विधि-निबन्धन हैं। विधि ज्ञानीके लिए है नहीं; अतएव भाष्यकारने शारीरकमें स्पष्ट ही कहा है—'अविद्यावद्विषयाणि शास्त्राणि' अर्थात् शास्त्र अविद्वानोंके लिए हैं। यहाँ विद्वान्‌का तात्पर्य ब्रह्मज्ञानीमें है; अतः उससे अतिरिक्त विद्वान् भी अविद्वान् ही माने जाते हैं। इसका 'पश्वादिभिश्चाऽविशेषात्' इत्यादि वाक्यसे भाष्यकारने स्वयं स्पष्टीकरण किया है।

शङ्का—ज्ञानीके लिए शास्त्रमें विधि नहीं है, यह तो आप ठीक नहीं कह रहे हैं, क्योंकि 'चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्ष्यम्', 'एककालं चरेद्भैक्ष्यम्', 'यतीनां च चतुर्गुणम्' इत्यादि शास्त्रोंसे जैसे ज्ञानीके लिए भिक्षा आदिका विधान है, वैसे अग्निहोत्र आदिका भी विधान क्यों नहीं मानते? आखिर आप विधिका सर्वथा निषेध तो कर नहीं सकते, क्योंकि उक्त वचनोंसे भिक्षा, अशौच आदिमें काल, वर्ण और संख्याका नियम स्फुट ही विहित है ॥ १७५ ॥

समाधान—इनकी भी विधि ज्ञानीके लिए नहीं है, इसका उत्तर अग्रिम श्लोकसे कहते हैं—**'नैवाऽयं'** इत्यादिसे।

हमारे ( वेदान्तियोंके ) मतसे पूर्वोदाहृत नियमविधि नहीं है, किन्तु वह परिसंख्याविधि है, अन्यथा विहितकालमें भिक्षादिका त्याग नहीं हो सकेगा।

अभिप्राय यह है कि विधि तीन प्रकारकी होती है—अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि। अत्यन्त अप्राप्तकी प्रापक अपूर्वविधि है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' यहां अग्निहोत्रमें स्वर्गसाधनत्व प्रमाणान्तरसे सर्वथा अप्राप्त है, इसका प्रापक यही वचन है। इसलिए 'अग्निहोत्रम्' इत्यादि अपूर्वविधि है। 'व्रीहीनवहन्ति' यह नियमविधि है। पक्षमें अप्राप्तकी प्रापक नियमविधि कहलाती है। अवघातका प्रयोजन तण्डुल-निष्पत्ति है, सो दो प्रकारसे हो सकती है, अवघातसे—कूटनेसे—अथवा

नखविदलनसे। जिस पक्षमें नखविदलन द्वारा तण्डुलनिष्पत्तिमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है; उस पक्षमें अप्राप्त अवघातकी नियमविधि है; अवघातसे ही तण्डुलोंकी निष्पत्ति करनी चाहिए, उपायान्तरसे नहीं; अन्यथा अपूर्वकी उत्पत्ति नहीं होगी। तत्र और अन्यत्र अर्थात् दोनों पक्षोंमें प्राप्ति हो तो परिसंख्या है; जैसे 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'। यहाँपर रागतः पञ्चनखापञ्चनखसाधारणके भक्षणमें प्रवृत्ति है; अतः पञ्चनखेतरका भक्षण नहीं करना चाहिए, इस अर्थमें इस वचनका तात्पर्य है; पञ्चनखके भक्षणमें नहीं, अन्यथा पञ्चनखके अभक्षणसे प्रत्यवायकी आपत्ति होगी; क्योंकि विधिके उल्लंघनसे प्रत्यवाय होता है; यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। प्रकृतमें यदि नियमविधि मानेंगे तो नियत समयपर भिक्षा करनी ही पड़ेगी। परिसंख्याविधिके माननेपर यदि भिक्षादि करना ही है, तो नियत समय पर ही करे, अन्यथा नहीं और न करना हो, तो कोई शास्त्रकी प्रेरणा नहीं है कि भिक्षादि अवश्य करो। ब्रह्मवेत्ताके लिए नियमविधि समुचित भी नहीं है, क्योंकि वह विधियोंसे अति दूर होनेके कारण किसी भी विधिका विषय नहीं हो सकता।

शङ्का—यदि ज्ञानी विधिसे अतिक्रान्त है, तो वह निषेधसे भी अतिक्रान्त है, ऐसा भी मानना पड़ेगा, ऐसी परिस्थितिमें उसकी निन्द्य आचरणमें भी प्रवृत्ति हो सकती है, क्योंकि उसके लिए निषेधशास्त्र भी नहीं-के समान है।

समाधान—निन्द्य आचरणमें प्रवृत्ति तो अधर्म और अविवेकसे होती है, ज्ञानीमें इन दोनोंकी संभावना नहीं है, इसलिए उक्त प्रवृत्तिकी संभावना ही नहीं है, क्योंकि ऐसे पुरुष-रत्नोंकी जब अविद्यादशामें भी निन्द्य आचरणोंमें प्रवृत्ति नहीं होती तो विद्यादशामें कहाँसे होगी? कपूयसंस्कार भी उनमें हैं नहीं, जिनसे कि ऐसी संभावना भी हो सके और वस्तुतः अविद्वान् अतएव विविदिषु पुरुषोंके लिए विधि है, परन्तु उनके लिए भी उक्त नियमविधि नहीं है, किन्तु परिसंख्या है। परिसंख्या अन्यत्र निवृत्तिकी प्रयोजिका है, क्रियाविशेषमें प्रयोजिका नहीं है।

अतः ब्रह्मविद्याकी वह विरोधिनी नहीं है। चित्तकी स्थिरताके बिना आत्मचिन्तन नहीं हो सकता, अतः चित्तस्थैर्यके लिए भोजन अपेक्षित है, सो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन त्रैवर्णिकोंसे ही भिक्षाका ग्रहण करना चाहिए, इस अंशमें उक्त शास्त्रका व्यापार नहीं है, किन्तु शूद्रसे भिक्षाका ग्रहण नहीं करना चाहिए, इस अंशमें उक्त शास्त्रका व्यापार है। इससे स्पष्ट होता है कि निवृत्तिके बोधनमें ही

एवं चेत्परिसङ्ख्या तेऽकाले भुक्त्वा तु तत्त्ववित् ।
प्रत्यवेयादिति प्राप्तं बाढमस्य न दुष्कृतम् ॥ १७७ ॥
मोहवासनया कृत्वा विहितं सुकृती यथा ।
निषिद्धातिक्रमेणैवं दुष्कृती न भवेत्कुतः ॥ १७८ ॥

परिसंख्याका व्यापार है, सो भी अविद्वान् विविदिषुके प्रति है, ज्ञानीके प्रति नहीं। ब्रह्मज्ञानी तो विधिनिषेधकी भूमिसे अतिक्रान्त है, अतः उसके लिए परिसंख्या भी नहीं है ॥ १७६ ॥

'एवं चेत्' इत्यादि ।

शङ्का—यदि आप परिसंख्या मानते हो, तो भी अविहित कालमें अथ च शूद्रसे भिक्षाका ग्रहण कर उसके सेवनसे तत्त्वज्ञानी भी प्रत्यवायी होगा, क्योंकि परिसंख्यासे इतरकी निवृत्ति बोधित होती है, इसलिए निषेधके उल्लङ्घनसे प्रत्यवाय अवश्य होगा, अन्यथा निषेध ही व्यर्थ हो जायगा, अतएव पञ्चनखेतरभक्षणसे प्रत्यवाय शास्त्रकारोंने माना है ।

समाधान—हाँ ठीक है, किन्तु ज्ञानी विधि-निषेधकी भूमिमें नहीं है, यह कह चुके हैं, आर्द्र जमीनमें अभर्जित बीज उगता है, इससे क्या संतप्त बालुमय भूमिमें भर्जित बीज कभी उगता है ? कभी नहीं। एवं ज्ञानीको दुष्कृत हो भी, तो भी वह भर्जित बीजके समान मरुस्थलसम ज्ञानीके चित्तमें क्लेशाङ्कुरका आरम्भक नहीं हो सकता। पहलेके छपे हुए वार्तिकसारमें 'कालेऽभुक्त्वा' ऐसा पाठ है, पर वह प्रमादसे छप गया है। 'अकाले भुक्त्वा' ऐसा पाठ होना चाहिए, इसीमें अर्थकी संगति होती है, इसलिए हमने ऐसा ही पाठ रक्खा है ॥ १७७ ॥

'मोहवासनया' इत्यादि ।

शङ्का—मोहवासनासे तीर्थस्नान, उपवास आदिका अनुष्ठान करके ज्ञानी यदि सुकृती—पुण्यवान्—होता है, तो निषेधके अतिक्रमसे—निषिद्धके अनुष्ठानसे—दुष्कृती क्यों नहीं होता ? यद्यपि इस विषयमें निर्णय हो चुका है कि वह विधिनिषेधका विषय नहीं है, तथापि स्थूणानिखननन्यायसे सिद्धान्तको पुनः दृढ़ करनेके लिए और इस विषयमें शास्त्रप्रमाण दिखलानेके लिए फिर आक्षेप किया गया है ॥१७८॥

अश्लेषवचनान्नाऽस्य सुकृतं लेपकं यदि ।
दुष्कृतं च तथेत्येवं सन्तोष्टव्यं विपश्चिता ॥ १७९ ॥

'अश्लेषवचना०' इत्यादि । अश्लेषवचनसे ज्ञानीका सुकृत ( पुण्य ) लेपक (फलप्रद) नहीं होता, तो उसी प्रकार दुष्कृत भी फलप्रद नहीं होता, यह समझ कर ही विद्वानोंको इस विषयमें सन्तोष करना चाहिए। यह अभिप्राय है—वेदान्तसूत्र तथा उसके भाष्यमें यह विचार किया गया है कि ब्रह्मवेत्ताका दुरित नष्ट होता है या नहीं ?

शङ्का—कर्म फलप्रद होता है, अतः फलप्रदानके बिना कर्म नष्ट नहीं होता, अतएव स्मृतिकारोंने कहा है—'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म' इत्यादि ।

यदि कहो कि कर्म फल दिये बिना नष्ट नहीं होता, तो प्रायश्चित्तका विधान ही व्यर्थ होगा, क्योंकि प्रायश्चित्त तो इसीलिए है कि बिना फल दिये कर्म नष्ट हो, तो इसका उत्तर यह है कि कर्मनाशके उद्देश्यसे किया गया प्रायश्चित्त कर्मका नाशक हो सकता है, पर ब्रह्मविद्या तो इस उद्देश्यसे विहित है नहीं, इसलिए ब्रह्मवेत्ताका दुरित फल दिये बिना नष्ट नहीं होगा। यदि ब्रह्मवेत्ताको भी स्वकर्मफल भोगना पड़ा, तो शरीरेन्द्रियोंके बिना उसके फलका भोग होगा नहीं, अतः तद्देशकालादिसापेक्ष शरीरादिका धारण आवश्यक होनेसे मोक्ष ही दुर्लभ हो जायगा ।

समाधान—ब्रह्मवेत्ताके पूर्व और उत्तर—ये दोनों पाप निवृत्त हो जाते हैं, भेद केवल इतना है कि पूर्व दुरितका विनाश और उत्तर कालिक दुरितका असंश्लेष ( असंबन्ध ) मात्र होता है, इसमें प्रमाण यह है—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते'। एवं पूर्व दुरितके विनाशमें प्रमाण है—तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वपाप्मानः प्रदूयन्ते' तथा 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' आदि । जो यह कहा कि कर्म फलके भोगके बिना नष्ट नहीं होता, सो ठीक नहीं है, क्योंकि 'नाभुक्तम्' इत्यादिका तात्पर्य फलदान, समर्थ कर्ममें है, सो हम भी मानते हैं। प्रायश्चित्तके समान ब्रह्मविद्या भी उसके फलके प्रदानमें प्रतिबन्धक है ।

वस्तुतस्तु कर्म नष्ट नहीं होता, यह औत्सर्गिक है, इसका अपवाद है प्रायश्चित्त तथा ब्रह्मविद्या। इन दोनोंके द्वारा पुण्य और पाप—ये दोनों फलदानके

**तस्मात्कर्माधिकारणां निषेधायाऽऽत्मधीवचः ।**
**निषेधवाक्यवत्तेन कार्या शङ्का न काचन ॥ १८० ॥**

बिना भी नष्ट हो जाते हैं । इसमें प्रमाण है—'सर्वपाम्पानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इत्यादि श्रुति । जो आपने यह कहा कि प्रायश्चित्त जैसे पापनाशके उद्देश्यसे विहित है, वैसे ब्रह्मविद्याका विधान नहीं है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि सगुण ब्रह्मविद्या पापनाश और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके उद्देश्यसे विहित है, निर्गुण ब्रह्मविद्याका विधान यद्यपि उक्तोद्देश्यसे नहीं है, तथापि अकर्तृत्वादि ज्ञान द्वारा पूर्व कर्मोंका नाश उत्तर कर्मोंका असंबन्ध स्वतःसिद्ध होता है, जब अपनेको तत्त्ववेत्ता कर्ता ही नहीं मानता, तब पुण्य, पाप आदि तथा उनके फल भी कहां ? 'शास्त्रदेशितं फलं कर्तरि' इस सूत्रसे कर्तृत्वाद्यभिमानीको ही धर्माधर्म तथा उसका फल भी होता है । उस अभिमानसे शून्यको नहीं, 'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु' इस सूत्रमें यह सिद्धान्त किया है कि पुण्य कर्मका भी पापके समान असंश्लेष और विनाश माना जाता है । 'उभे उ हैवैष एते तरति' इस श्रुतिसे दुष्कृतके समान सुकृतका भी नाश होता है । जहां कहीं दुष्कृतका नाश बतलाया है, वहां सुकृतमें भी उसका तात्पर्य है, क्योंकि ज्ञानीका सुकृत भी ज्ञानफलका (मोक्षका) प्रतिबन्धक होनेसे दुष्कृतके समान ही है अर्थात् दोनोंका फल ज्ञानरूप फलकी अपेक्षा निकृष्ट है ॥ १७९ ॥

'तस्मात्' इत्यादि । चूंकि अकर्तृत्वाद्युपलक्षित आत्मदर्शीको कोई कर्तव्य नहीं रहता, इससे सकल नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मोंके निषेधके लिए आत्मधीवचः—तत्त्वमस्यादि वाक्य—हैं। 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि' 'न सुरां पिबेत्' इत्यादि निषेधवाक्य जिस प्रकार औदासीन्यसे अतिरिक्त किसी कर्तव्य अर्थके बोधक नहीं हैं, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि आदि वाक्य भी सकल कारकव्यवहारातीत ब्रह्मस्वरूप जीव है, इस बोधन द्वारा जीवको किसी कर्तव्य अर्थका उपदेश ही नहीं देते, प्रत्युत सकल कर्मोंसे उपरतिके ही बोधक हैं; अतः पूर्वोक्त शङ्का नहीं करनी चाहिए कि परिसंख्याविधि भी ब्रह्मविद्याकी विरोधिनी है ।

निषेधवाक्य जैसे ब्रह्मविद्याके विरोधी नहीं हैं, कारण कि वे क्रियाके प्रयोजक

तथा चाऽत्र निषेधेऽपि शुद्ध्यादौ वेदमानता ।
ब्रह्मणीव ततः प्राण उपास्यो गुणसंयुतः ॥ १८१ ॥
विध्यर्थवादन्यायानां पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे यथा ।
सङ्ग्रहस्तद्वदत्राऽपि तृतीयब्राह्मणे कृतः ॥ १८२ ॥

इति वार्तिकसारे तृतीयमुद्गीथब्राह्मणम् ।

---

नहीं हैं, किन्तु उसमें औदासीन्यके प्रयोजक हैं, वैसे ही परिसंख्या भी क्रियाकी प्रयोजक नहीं है, किन्तु निषेधवाक्यके समान औदासीन्यमात्रकी प्रयोजक है, क्रियामात्रमें औदासीन्य ब्रह्मविद्याके अनुकूल है, प्रतिकूल नहीं है ।

सारांश यह है कि निषेधवाक्य और 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भ्रान्त पुरुषकी प्रवृत्ति रोकनेके अतिरिक्त कुछ कर्तव्य अर्थके उपदेशक नहीं हैं, अतः कार्यशेष नहीं हैं, किन्तु वस्त्ववसान हैं ॥ १८० ॥

'तथा चाऽत्र' इत्यादि ।

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वाक्य आत्मैकत्वमें प्रमाण नहीं हो सकते, कारण कि कर्तव्यार्थके बोधक नहीं हैं, अतः 'सुमेरुरस्ति' इत्यादि सिद्धार्थक वाक्य प्रमाण नहीं माने जाते, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि जैसे 'न पलाण्डुं भक्षयेत्' इत्यादि निषेधबोधक वाक्य कर्तव्यार्थबोधक नहीं हैं, तो भी प्रमाण माने जाते हैं, वैसे ही 'तत्त्वमसि आदि वाक्यमें भी कर्तव्यार्थबोधकत्वके न होनेपर भी अज्ञातार्थज्ञापकत्व होनेसे वह प्रमाण माना जाता है । 'सुमेरुरस्ति' इत्यादि सिद्धार्थक वाक्य निष्प्रयोजन हो सकते हैं, किन्तु उक्त महावाक्य परमपुरुषार्थक होनेसे निष्प्रयोजन भी नहीं हैं । उपासनाविधिपरक भी वाक्य प्राणोंके शुद्ध्यादि गुणमें भी प्रमाण हैं । देवताधिकरणन्यायसे अवान्तर तात्पर्य प्रमाणान्तराविरुद्ध वाच्यार्थमें मानकर अन्यपरक वाक्यका अपने वाच्य अर्थमें प्रमाण माना ही जाता है । यह श्रुतिमें कहीं नहीं है कि प्राण सत्य है और उसमें रहनेवाला विशुद्ध्यादि गुण मिथ्या है, इत्यादि पूर्वमें विशेषरूपसे निरूपण कर चुके हैं, उसीका यहां संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—तथा चेत्यादिसे । निषेध और शुद्ध्यादिमें ब्रह्मवत वेद प्रमाण है, अतः विशुद्ध्यादिगुणविशिष्ट प्राण उपास्य है, यह निष्कर्ष निकला ॥ १८१ ॥

**'विध्यर्थ०'** इत्यादि । विधि, अर्थवाद और न्यायका संग्रह संक्षेपसे

श्रुतिः ॥ तेनैतास्तृप्यन्त्येव ँह वा एन ँस्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वाना ँश्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविद ँस्वेषु प्रतिर्बुभूर्षति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनुभवति यो वै तमनु भार्यान्बुभूषति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥ १८ ॥

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गाना ँहि रसः प्राणो वा अङ्गाना ँरसः प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाऽङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गाना ँरसः ॥ १९ ॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥ २० ॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१ ॥

एष उ एव साम वाग्वै साऽमैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । यद्वेद समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्य ँसलोकतां य एवमेतत्साम वेद ॥ २२ ॥

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत् प्राणेन हीद ँसर्वमुत्तब्धं वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥ २३ ॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्द्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥ २४ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव

---

प्रतिपादन जैसे पूर्व ब्राह्मणमें किया गया है, वैसे ही उक्त तीनोंका संग्रह इस तृतीय ब्राह्मणमें भी किया गया है ॥ १८२ ॥

इति म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितबृहदारण्यकवार्तिक-सारभाषानुवादमें प्रथमाध्यायका तृतीय ब्राह्मण समाप्त ।

स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसम्पन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव अथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥ २५ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥ २६ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥ २७ ॥

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्, असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति, स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तँ स एष एवंविदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कमं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशाऽस्ति य एवमेतत्साम वेद ॥ २८ ॥

इत्युपनिषदि तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ।



**सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मनः औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥**

लक्षणवाला हूँ ? यह आलोचना करके प्राणपिण्डात्मक कार्यकरणरूप प्रजापति-शरीरसे अन्य वस्तुको नहीं देखा, केवल आत्माको ही सर्वात्मा देखा।

वैसे ही पूर्वजन्मके श्रौतविज्ञानसे संस्कृत हुए प्रजापतिने मैं प्रजापति हूँ, मैं सर्वात्मा हूँ, यह ( पहले कहा था )। चूंकि पूर्वज्ञानके संस्कारसे प्रजापतिने अपने शरीरको पहले 'अहं' कहा था, इसलिए उसका नाम 'अहम्' हो गया। 'तस्योपनिषदहम्' यह श्रुति भी प्रजापतिका 'अहम्' नाम कहती है। चूंकि कारण शरीर प्रजापतिमें ऐसा व्यवहार हुआ है, इसलिए इस कालमें भी प्रजापतिके कार्यभूत प्राणियोंमें यही व्यवहार देखा जाता है। किसी भी शरीरधारीको बुलाकर पूछे कि तू कौन है ? तो वह कहता है 'मैं हूँ'। इस प्रकार कारणशरीर प्रजापतिका नाम ही अपना नाम बतलाकर पीछे विशेष नाम पूछनेपर विशेष शरीरका नाम 'देवदत्त', 'यज्ञदत्त' आदि जो माता पिताका रक्खा हुआ है उसे बतलाता है। उस प्रजापतिने अतीत-जन्ममें सम्यक् कर्म, ज्ञान और भावनाके अनुष्ठानोंसे साधक अवस्थामें कर्म, ज्ञान और भावनाके अनुष्ठानों द्वारा प्रजापतिपदकी प्राप्तिकी इच्छावाले सब उपासकसमुदायसे पहले दग्ध कर दिया था। किसको दग्ध कर दिया था ? अज्ञानलक्षण सब पापोंको, जो कि प्रजापतिपदके प्रतिबन्धक थे। चूंकि प्रजापतिने सब पापोंको पहले दग्ध किया था, इसलिए प्रजापतिका पुरुष नाम हुआ। इसी प्रकार अन्य पुरुष भी ज्ञान, कर्म और भावनाके अनुष्ठानरूपी अग्निसे अथवा केवल ज्ञानके बलसे भस्म कर देता है। उसको ? जो इस विद्वान्से पहले प्रजापति बनना चाहता है। उसीको दिखलाते हैं—'य एवं वेद' इत्यादिसे इसका अर्थ जो ज्ञान भावना प्रकर्षवान् है, यह है। यदि शङ्का हो कि जब ऐसा उपासक दूसरे पुरुषको दग्ध कर देता है, तो प्रजापतिपदकी प्राप्ति अनर्थरूप सिद्ध होती है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ज्ञानभावनाके उत्कर्षके न होनेसे प्रथम पुरुष प्रजापतिपदको प्राप्त नहीं हुआ है, यहांपर यही दाह शब्दका अर्थ है, क्योंकि उत्कृष्ट साधनवाला पहले प्रजापति-पदको प्राप्त हो गया, न्यून साधनवाला प्राप्त न हुआ, यही उसका दाह है।

चतुर्थे ब्राह्मणे पूर्वज्ञानकर्मफलोर्जितम् ।
अव्याकृतं व्याकृतं च विद्याविद्ये च वक्त्यसौ ॥ १ ॥
श्रुत्वा फलोर्जितिं भीमां तद्दोषानखिलान्धिया ।
अवेक्ष्य शुद्धया तस्माद्विरक्तोऽथ मुमुक्षति ॥ २ ॥
अव्याकृतोक्त्या वेदान्तप्रमेयं कथितं भवेत् ।
व्याकृतोक्त्या ब्रह्मबोधद्वारं जीवोऽत्र वर्णितः ॥ ३ ॥
आदेयहेयनिर्देशो विद्याऽविद्यावचोद्वयात् ।
एतावता च शास्त्रार्थः संक्षेपेणाऽत्र पूर्यते ॥ ४ ॥
यद्वैराजं पदं पूर्वज्ञानकर्मफलं हि तत् ।
चिदात्मैव विराड्रूपो यथा स्यादुच्यते तथा ॥ ५ ॥

---

लोकमें संग्राममें जानेवाले योद्धाओंमें से जो पहले संग्राममें जाता है, वह ंको दग्ध ( लज्जित ) कर देता है, ऐसा ही यहांपर भी समझना चाहिये ।

'चतुर्थे' इत्यादि । पहले तीन ब्राह्मणोंमें प्रतिपादित ज्ञान और कर्मके ा उत्कर्ष एवं अव्याकृत, व्याकृत, विद्या और अविद्या—इन पांच ंको यह श्रुति कहती है ॥ १ ॥

'श्रुत्वा' इत्यादि । ज्ञान और कर्मके उत्कृष्ट फलस्वरूप विचारके पदको होकर भी प्रजापतिको भय, अरति आदि दोष प्राप्त हुए [ इस विषयमें ; आगे कहेंगे ] । शुद्ध बुद्धिसे उन दोषोंको देखकर पुरुषको ब्रह्मलोकके े वैराग्य हो जाता है, तब वह मोक्षकी इच्छा करता है ॥ २ ॥

'अव्याकृत' इत्यादि । अव्याकृतपदकी उक्तिसे वेदान्तका प्रमेय ( अज्ञात ब्रह्म ) ाया है और व्याकृतपदकी उक्तिसे ब्रह्मबोधके द्वारभूत जीवका वर्णन इस प्रकार 'अव्याकृत' पदसे 'तत्' पदार्थका और 'व्याकृत' पदसे पदार्थका वर्णन हो गया ॥ ३ ॥

आदेय०' इत्यादि । विद्या और अविद्या—इन दोनों वचनोंसे 'आदेयका' करने योग्य आत्मवस्तुका ) और हेयका ( त्यागने योग्य संसारका ) किया गया है । इतना कहनेसे संक्षेपसे यहाँ शास्त्रार्थ पूर्ण हो ॥ ४ ॥

ङ्का—पहले कर्म और ज्ञानका फल कहा जाता है, यह तुम्हारा कथन

प्रत्यग्रूपः पराग्रूपाद् व्यावृत्तोऽनुभवात्मकः ।
प्रथते यः स आत्मेति प्राहुरात्मविदो बुधाः ॥ ६ ॥
आत्मात्मीयादिरूपं यन्नामरूपादिमज्जगत् ।
तस्य यद्वास्तवं रूपं स प्रत्यङ्ङद्वयस्तथा ॥ ७ ॥
नानात्वेनैव यद्भाति तत्प्रत्यग्दृष्टिशालिनाम् ।
प्रत्यङ्मात्रे विलीनं स्यात्परागेवैति चित्रताम् ॥ ८ ॥

अयुक्त है, क्योंकि 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इस श्रुतिमें पहले आत्ममात्रका कथन है ।

समाधान—'यद्वै' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त ज्ञान और कर्मका प्रसिद्ध फल जो विराट्पद है, वह विराट्से उपहित चिदात्मा ही है । यह अर्थ जिस प्रकार स्पष्ट होगा, वही कहा जाता है ॥ ५ ॥

प्रतिज्ञात अर्थकी सिद्धिके लिए 'आत्मैवेदं' इस श्रुतिके आत्मपदका अर्थ कहते हैं—'प्रत्यग्रूपः' इत्यादिसे ।

पराक् ( बाह्य ) रूपोंसे 'व्यावृत्त' ( रहित ) प्रत्यक् ( आन्तर ) रूप जो अनुभव ( ज्ञान ) प्रतीत होता है, उसीको आत्मज्ञानी पण्डित आत्मा कहते हैं ॥ ६ ॥

'आत्मैवेदम्' यहांपर 'इदं' शब्दसे निर्दिष्ट जगत्में प्रथमा विभक्तिसे आत्माका सामानाधिकरण्य ( एकरूपता ) प्रतीत होता है, इसलिए 'इदं' शब्दकी जगत्में अनुस्यूत सत्तामें लक्षणा करके निश्चयका फल कहते हैं— 'आत्मा' इत्यादिसे ।

आत्मा ( देह ), आत्मीय ( स्त्री, पुरुष, धन आदि ) रूप जो नाम, रूप आदिसे युक्त जगत् है, उसका जो वास्तविक रूप है, वह 'प्रत्यक्' अद्वितीय सन्मात्र है ॥ ७ ॥

'नानात्वे०' इत्यादि । प्रत्यग्दृष्टिवाले ( अन्तर्मुख ) पुरुषोंको जो नानाभावसे प्रतीत होता है, उसका वे प्रत्यक्मात्रमें लय कर देते हैं अर्थात् समष्टि-व्यष्टिदेहोंको आत्मरूप ही जानते हैं, अतः पराग्दृष्टि ( बहिर्मुख ) पुरुषोंको तो प्रत्यक् आत्मा ही 'चित्रताम् एति' अर्थात् नानारूप प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

अपामार्गलतेवाऽयं विरुद्धफलदो भवः ।
प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय संसाराय पराग्दृशाम् ॥ ९ ॥
अग्रादधो मार्जने सा न लग्ना कण्टकैः करे ।
मूलादूर्ध्वं मार्जने तु लग्ना स्याद् बहुधा करे ॥ १० ॥
एवमन्तर्मुखस्याऽयं संसारो नैव दुःखदः ।
बहिर्मुखस्तु संसारे दुःखाद् दुःखतरं व्रजेत् ॥ ११ ॥
प्रबुद्धोऽन्तर्मुखस्तिष्ठेदप्रबुद्धो बहिर्मुखः ।
बहिर्मुखेन न ज्ञातं प्रत्यक्तत्त्वं विना मितिम् ॥ १२ ॥
यदज्ञातं परं तत्त्वं तच्छ्रुतं कारणं श्रुतौ ।
आऽन्त्यात्कार्यात्तदेव स्यात्सर्वकार्यस्य कारणम् ॥ १३ ॥
तेन तेनाऽऽत्मकार्येण विशिष्टः सन् सृजेत्प्रभुः ।
स्वात्माभासतमोयुक्तस्तेजोबन्नानि मायया ॥ १४ ॥

---

'अपामार्ग०' इत्यादि । अपामार्ग लताकी तरह यह संसार विरुद्ध फलका देनेवाला है—प्रत्यगृदृष्टिवालोंको तो मोक्ष देता है और परागृदृष्टियोंको संसार देता है ॥ ९ ॥

'अग्रादधो' इत्यादि । चोटीसे जड़की ओर मार्जन करनेसे अपामार्ग लताके कांटे हाथमें चुभ जाते हैं, जड़से ऊपरकी तरफ मार्जन करनेमें कांटे हाथमें नहीं चुभते हैं ॥ १० ॥

'एवम०' इत्यादि । इस प्रकार अन्तर्मुख पुरुषके लिए यह संसार दुःखदायी नहीं होता है और बहिर्मुख पुरुष तो संसारमें दुःखके अनन्तर दुःख ही प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

'प्रबुद्धो०' इत्यादि । ज्ञानी पुरुष सदा अन्तर्मुख रहता है और अज्ञानी सदा बहिर्मुख रहता है, क्योंकि विवेकके न होनेसे बहिर्मुख पुरुष प्रत्यकृतत्त्वको नहीं जानता है ॥ १२ ॥

'यदज्ञातम्' इत्यादि । जो अज्ञात परतत्त्व है, वही श्रुतिमें जगत्का कारण कहा गया है, 'अन्त्य' ( पृथिवी ) पर्यन्त सब कार्योंका वही अज्ञात ब्रह्म कारण है ॥ १३ ॥

'तेन' इत्यादि । उस आत्मकार्यसे विशिष्ट होकर ही प्रभु अपने चिदाभाससे युक्त मायासे तेज, जल, पृथिवी आदि कार्योंको उत्पन्न करता है ॥ १४ ॥

ज्ञानकर्मादितन्त्रं सत्सूत्रं जज्ञे ततो विभोः ।
ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात्तत्रेदं जगदाहितम् ॥ १५ ॥
विराडपि ततो जज्ञे त्रैलोक्यात्मकदेहवान् ।
यथोक्तज्ञानकर्मभ्यामेवं प्रत्यग्विराडभूत् ॥ १६ ॥
स एष परमोऽप्यात्मा कोशपञ्चकधारणात् ।
संवृतः पुरुषाकारः कामाविद्याद्युपप्लुतः ॥ १७ ॥
सोऽनुवीक्ष्यात्ममोहोत्थं वैराजं रूपमात्मनः ।
नाऽपश्यदपरं किञ्चित्सोऽहमस्मीत्यथाभ्यधात् ॥ १८ ॥
अहमित्येव नामाऽस्य सम्पन्नं तेन लौकिकाः ।
तत्सृष्टाः स्वं स्वमात्मानमहमित्यभिचक्षते ॥ १९ ॥
कोशपञ्चकयुक्तस्य प्रत्यक्तत्त्वस्य नाम तत् ।
विराजा कृतमित्येतत्सर्वसाधारणं मतम् ॥ २० ॥

---

'ज्ञान०' इत्यादि । सूक्ष्मभूतोपहित ब्रह्मसे ज्ञान और कर्मका फलरूप सूत्र ( हिरण्यगर्भ ) उत्पन्न हुआ । ज्ञानक्रियाशक्तिमान् होनेसे उस सूत्रमें यह सारा जगत् स्थित है ॥ १५ ॥

'विराडपि' इत्यादि । ततः ( सूत्रोपहित ब्रह्मसे ) त्रैलोक्यात्मक देहवान् विराट् भी उत्पन्न हुआ, इस प्रकार यथोक्त ज्ञानकर्मोंसे प्रत्यगात्मा ही विराट् हुआ है ॥ १६ ॥

'स एष' इत्यादि । यह प्रत्यगात्मा परमशुद्ध होता हुआ भी कोशपञ्चकके धारण करनेसे पुरुषाकार हो गया और अविद्या, काम आदिसे युक्त हो गया ॥ १७ ॥

'सोऽनुवीक्ष्या०' इत्यादि । उसने आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न हुए अपने विराट्रूपको देखकर दूसरी वस्तुको न देखते हुए 'अहमस्मि' ( मैं हूँ ) यह कहा ॥ १८ ॥

'अहमित्येव' इत्यादि । अहम् यही इसका नाम हो गया, इसलिए उसके रचे हुए लोक अपने-अपने शरीरको 'मैं हूँ', यह कहते हैं ॥ १९ ॥

'कोशपञ्चक०' इत्यादि । पाँच कोशोंसे युक्त प्रत्यक्तत्त्वका विराट्ने 'अहम्' यह नाम किया है, इसलिए सर्वसाधारणका अहम् नाम हो गया ॥ २० ॥

असाधारणदेहस्य तत्तातपित्रादिना कृतम् ।
देवदत्तादिकं नाम जघन्यं पूर्वनामतः ॥ २१ ॥
कस्त्वमित्यपि पृष्टः सन्नादावहमिति ब्रुवन् ।
पश्चाज्जघन्यनामेदं वक्ति जिज्ञासवे जनः ॥ २२ ॥
चिदेकरस आत्मैव कश्मले कोशपञ्चके ।
एकतामभिसम्पन्नोऽहङ्करोत्यभिमानतः ॥ २३ ॥
बहवो वीतकल्पेऽन्ये आसन्यद्यप्युपासकाः ।
तथापि भावनाधिक्यादेक एव विराडभूत् ॥ २४ ॥
निःशेषेणासुरं पापं दग्धवान्बहुजन्मभिः ।
ततो विराडभूदन्योऽप्येवं दग्ध्वा भवेद्विराट् ॥ २५ ॥

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षां चक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥ २ ॥

---

असाधारण देहका माता, पिता आदिका किया हुआ, देवदत्तादिक नाम इस पूर्व ( अहम् ) नामसे जघन्य है ॥ २१ ॥

तू कौन है ? ऐसा पूछनेपर पहले मैं हूँ, यह कहता है, पीछे जिज्ञासा करनेपर लोक जघन्य नाम बतलाते हैं ॥ २२ ॥

चिदेकरस आत्मा ही कश्मल कोशपञ्चक में एकताका अभिमान करके अहङ्कार करता है ॥ २३ ॥

'बहवो' इत्यादि। अतीत कल्पमें यद्यपि बहुतसे उपासक हो चुके हैं, तथापि भावनाकी अधिकतासे विराट् एक ही हुआ ॥ २४ ॥

'निःशेषेणा०' इत्यादि । बहुत जन्मोंके किये गये सब आसुर पापों को दग्ध करके वह विराट् हुआ था । अन्य पुरुष भी इसी प्रकार सब पापों को दग्ध करके विराट् हो सकता है ॥ २५ ॥

कर्मकाण्डविहित ज्ञान और कर्मके फलरूप प्रजापति, जिसकी यहां स्तुति करनी अभीष्ट है, संसारके विषयसे बाहर नहीं है । इस अर्थको दिखलानेके लिए श्रुति कहती है—'सोऽबिभेत्' इत्यादिसे ।

वह प्रजापति जो प्रथम शरीरधारी पुरुषाकार कहा गया है, वह हम लोगोंकी ही

दग्धपापोऽप्यनात्मज्ञो देहादावभ्यमन्यत ।
ततः स्वनाशमाशङ्क्य सोऽबिभेदस्मदादिवत् ॥ २६ ॥
स्रज्यहिं कल्पयित्वाऽऽस्ते तद्भयादाकुलेन्द्रियः ।
एवं नश्वरदेहादिं प्रतीच्यारोप्य कम्पते ॥ २७ ॥

तरह डर गया अर्थात् वह पुरुषविध (शरीर और इन्द्रियोंवाला है), चूँकि वह शरीर-नाशविषयक विपरीत ज्ञानवाला होनेसे डर गया; इसलिए आज भी शरीरधारी पुरुष निर्जन वन आदिमें अपनेको अकेला पाकर डरता है। किंच जैसे हम लोगोंके भयके हेतुभूत विपरीत ज्ञानके नाशका कारण यथाभूत आत्मज्ञान है, वैसे ही उस प्रजापतिने विचार किया—मुझसे भिन्न अर्थात् प्रजापति-शरीरको छोड़कर प्रतिद्वन्द्वी दूसरी वस्तु नहीं है, इसलिए आत्माके नाशका कारण न होनेसे मैं किससे डरूँ ? अर्थात् किसीसे नहीं। इस यथार्थ आत्मदर्शनसे प्रजापतिका भय स्पष्टरूपसे नष्ट हो गया। प्रजापतिको जो भय था, वह केवल अविद्यासे ही था। परमार्थ दर्शनमें वह सर्वथा अयुक्त है, यह श्रुति कहती है—'कस्माद्ध्यभेष्यत्' अर्थात् वह प्रजापति क्यों डरा ? परमार्थ निरूपणमें भय अयुक्त ही है, यह अभिप्राय है। क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' ( द्वितीयसे भय हुआ करता है ) क्योंकि अदृश्यमान—न देखा हुआ—द्वितीय भयको नहीं उत्पन्न कर सकता है, कारण कि 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' यह मन्त्र है; अर्थात् जो सर्वत्र ब्रह्मरूपसे एकताको देखता है उसको मोह कैसा और शोक कैसा ? अतः एकत्वदर्शनसे प्रजापतिका भय नष्ट हो गया। यह युक्त ही था, क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' ( द्वितीयसे भय हुआ करता है ) वह द्वितीय-दर्शन एकत्वदर्शनसे नष्ट हो चुका है, इसलिए भय कैसा ?

'दग्धपापो०' इत्यादि। पापोंके दग्ध होनेपर भी अनात्मज्ञ होनेसे उसने देहादिमें अभिमान किया, इसलिए आत्मनाशकी शङ्का करके वह विराट् भी हम लोगोंकी तरह डर गया ॥ २६ ॥

'स्रज्यहिं' इत्यादि। मालामें सर्पकी कल्पना करके सर्पके भयसे जैसे पुरुष व्याकुल हो जाता है वैसे ही प्रत्यगात्मामें नश्वर देहादिका आरोप करके मनुष्य काँपता है ॥ २७ ॥

आलोचयेत्स्रजस्तत्त्वं भीतिध्वस्तौ यथा नरः ।
विराडालोचयत्तद्वत्प्रतीचस्तत्त्वमादरात् ॥ २८ ॥
आलोचयन्यथातत्त्वमपास्तध्वान्ततद्भयम् ।
अनन्यानुभवं साक्षाद्ददर्शैकात्म्यमात्मनि ॥ २९ ॥
प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानशिखिप्लुष्टमहातमाः ।
आप्ताशेषपुमर्थोऽथ सोऽमन्यत ततो विराट् ॥ ३० ॥
देहेन्द्रियमनोबुद्धिभावाभावादिसाक्षिणः ।
प्रतीचोऽन्यत्किमप्यत्र नाऽस्ति कस्माद्बिभेम्यहम् ॥ ३१ ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्वमात्मानं यदा पुमान् ।
प्रतीच्येवाऽनुसन्धत्ते ब्रह्मास्मीति तदैक्षत ॥ ३२ ॥
प्रत्यग्दृष्ट्या तदज्ञानं न तज्जं चेक्षते स्वतः ।
ब्रह्मप्रतीचोरैकात्म्यात्तदूरीकृत्य गर्जति ॥ ३३ ॥

---

'आलोच०' इत्यादि । मालाके तत्त्वका विचार करनेपर जैसे मनुष्यका भय नष्ट हो जाता है, वैसे ही विराट्ने आदरसे प्रत्यक्तत्त्वका विचार किया ॥ २८ ॥

'आलोचयन्' इत्यादि । तत्त्वका विचार करनेसे विराट्ने अपनी आत्मामें उस ऐकात्म्यका साक्षात् दर्शन किया, जिसमें अज्ञानरूप अन्धकार और उससे उत्पन्न होनेवाला भय नहीं है और जो अद्वितीय ज्ञानस्वरूप है ॥ २९ ॥

'प्रत्यग्०' इत्यादि । प्रत्यगात्माके यथार्थज्ञानरूप अग्निसे, जब उसका अज्ञानरूप अन्धकार दग्ध हो गया और पूर्ण पुरुषार्थ प्राप्त हो गया तब विराट्ने विचार किया ॥ ३० ॥

'देहेन्द्रिय०' इत्यादि । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि—इनके भाव और अभाव आदिके साक्षी प्रत्यक्तत्त्वसे अन्य कोई वस्तु ही नहीं है, अतः मैं किससे डरता हूँ ॥ ३१ ॥

'अन्वय०' इत्यादि । जब पुरुष अन्वय और व्यतिरेकसे अपने आत्माका प्रत्यगात्मामें अनुसन्धान करता है, तब 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय हो जाता है ॥ ३२ ॥

'प्रत्यग्दृष्ट्या' इत्यादि । प्रत्यक् दृष्टिसे न अज्ञानको न उसके कार्यको देखता है । ब्रह्म और प्रत्यगात्माके ऐकात्म्यका स्वीकार करके गर्जता है ॥ ३३ ॥

प्रत्यक्ता ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मता चाऽऽत्मनः स्वतः ।
एवं सति कुतो मे भीरिति विद्वांस्त्रपायते ॥ ३४ ॥
ब्रह्मविद्यामृते नाऽन्यद्भयहेतुविनाशकृत् ।
अतोऽत्र बोधादेवाऽस्य भयं वीयाय सर्वतः ॥ ३५ ॥
कस्मादभेष्यदीशोऽयं द्वितीयात्खलु तद्भयम् ।
द्वितीयो नेश्वरस्याऽस्ति ततो निर्भय एव सः ॥ ३६ ॥
ननु प्रजापतेरैक्यदर्शनं कुत उद्बभौ ।
शास्त्राचार्यादितद्धेतोरसत्त्वात्तदसम्भवः ॥ ३७ ॥
यदि जन्मान्तराभ्याससंस्कारोत्थमिदं तदा ।
नैरर्थक्यप्रसक्तिः स्यात्सम्यग्ज्ञानस्य सर्वतः ॥ ३८ ॥
स्वभ्यस्ताऽप्यात्मविद्येयं पूर्वजन्मनि तत्तमः ।
नाऽधाक्षीद्येन वैराजं देहं स्वीकृत्य वर्त्तते ॥ ३९ ॥

'प्रत्यक्ता' इत्यादि । प्रत्यक्ता ब्रह्मका रूप है और प्रत्यगात्माकी ब्रह्मता स्वभावसिद्ध है, ऐसी दशामें मुझे भय क्यों हुआ ? यह जानकर लज्जित हो जाता है ॥ ३४ ॥

'ब्रह्मविद्या०' इत्यादि । ब्रह्मविद्याके सिवा भयके कारणका नाश करनेवाला दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, इसलिए ज्ञानसे ही विराट्का भय नष्ट हुआ ॥ ३५ ॥

'कस्माद०' इत्यादि । ईश्वरको भय क्यों हुआ ? भय द्वितीयसे हुआ करता है, ईश्वरका प्रतिद्वन्द्वी द्वितीय है नहीं, इसलिए वह निर्भय ही है ॥ ३६ ॥

'ननु' इत्यादि । प्रजापतिको एकताका दर्शन कैसे हुआ ? क्योंकि उस समय ज्ञानके कारण शास्त्र, आचार्य आदि नहीं थे, अतः उनकी ज्ञानप्राप्ति सर्वथा असम्भव है ॥ ३७ ॥

'यदि' इत्यादि । यदि यह कहें कि प्रजापतिको यह ज्ञान जन्मान्तरके अभ्यासके संस्कारोंसे उत्पन्न हुआ है, तो यथार्थ ज्ञानकी सर्वथा निरर्थकता हो जायगी ॥ ३८ ॥

'स्वभ्यस्ता०' इत्यादि । जब पूर्व जन्ममें भली भाँति किये गये अभ्याससे प्राप्त हुई विद्याने भी प्रजापतिके अज्ञानको दग्ध न किया, इससे उसको विराट्-देह स्वीकार करनी पड़ी, तब हम लोगोंकी आत्मविद्या कैसे अज्ञानको नष्ट कर सकती है ? ॥ ३९ ॥

एवं यत्साधनफलं सिद्धं यस्याऽन्यसाधनात् ।
तस्य तत्साधनं व्यर्थमितरस्य च सार्थकम् ॥ ४६ ॥
नाऽवेदविद् बृहन्तं तं मनुते कश्चिदित्यसौ ।
श्रुतिर्ब्रह्मात्मविज्ञाने वेदादन्यं निषेधति ॥ ४७ ॥
नाऽतो विकल्पते वेद एक एवाऽऽत्मवेदने ।
अन्यानि तु विकल्पन्ते साधनानि यथायथम् ॥ ४८ ॥
एवं सति स्वयम्भातवेदत्वाद् बुद्धवान्स्वयम् ।

श्रुतिः—स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छ सहैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽ पातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्द्धबृगलमिव स्व इति स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताꣳ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त ॥ ३ ॥

---

अपेक्षा नहीं करती है। योगी लोग मनके साधन नेत्रकी अपेक्षा नहीं करते हैं ॥ ४५ ॥

**'एवम्'** इत्यादि। इस प्रकार जिसको जिस साधनका फल सिद्ध है, उसको अन्य साधनसे उसकी सिद्धि करना व्यर्थ है और जिसको फल सिद्ध नहीं है उसके लिए वह साधन सार्थक है ॥ ४६ ॥

**'नावेद०'** इत्यादि। वेदज्ञके बिना उस ब्रह्मको कोई भी पुरुष नहीं जान सकता, इस प्रकार श्रुति ब्रह्मात्मविज्ञानमें वेदसे अन्य साधनका निषेध करती है ॥ ४७ ॥

**'नाऽतो विकल्पते'** इत्यादि। इसलिए आत्मज्ञानमें केवल एक वेदका ही विकल्प नहीं है, अन्य साधनोंका तो यथायथ विकल्प हुआ ही करता है ॥ ४८ ॥

**'एवं सति'** इत्यादि। ऐसी दशामें स्वयम्भात-वेद होनेसे प्रजापतिको गुरु शास्त्र आदि साधनोंके बिना ही बोध हो गया।

**श्रुत्यर्थ**—प्रजापति-पद संसारके अन्तर्गत ही है, क्योंकि प्रजापतिको रतिका अनुभव न हुआ; इसलिए हम लोगोंकी तरह प्रजापति भी अरति (बेचैनी) से आविष्ट हो गया था।

इसीलिए अब भी एकाकी पुरुष रतिका अनुभव नहीं करता। इस

बोधध्वस्तात्ममोहस्याप्यरतिः समजायत ॥ ४९ ॥

पदार्थके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली क्रीडाको रति कहते हैं। इस प्रकारकी क्रीडासे युक्त पुरुषको इष्ट पदार्थके वियोगसे मनमें जो व्याकुलता होती है, उसको अरति कहते हैं। उस प्रजापतिने अरतिके हटानेके लिए अरतिके नाशमें समर्थ दूसरे साथीकी ( स्त्रीकी ) इच्छा की। इस प्रकार स्त्रीकी इच्छा करते ही प्रजापतिका स्त्रीसे आलिङ्गित स्वरूपकी तरह अपना भाव हो गया, उस भावसे सत्यकाम होनेके कारण प्रजापतिके शरीरका परिमाण उतना हो गया, जितना कि अरतिके दूर करनेके लिए आलिङ्गित स्त्री-पुरुषोंका परिमाण हुआ करता है। तब प्रजापतिने उस परिमाणवाले अपने शरीरके दो टुकड़े पातन किये ( गिरा दिये )। 'इममेव' ( इसीको ) यहाँ 'एव' अवधारण मूलकारण-विराट्के विशेषणके लिए है। जैसे सर्वतोभावसे दुग्धका नाश करके दधिभावकी प्राप्ति होती है, वैसे ही विराट्शरीरका सर्वतोभावसे नाश करके पति-पत्नी-भाव की प्राप्ति नहीं हुई, किन्तु विराट् उसी अवस्थामें स्थित रहे। सत्य-संकल्प होनेके कारण विराट्-शरीरसे भिन्न आलिङ्गित स्त्री-पुरुषके परिमाणवाला अन्य शरीर हुआ, अतः वह विराट् ही पति-पत्नीरूप भिन्नशरीर हो गया है। यह विषय 'सहैतावा-नास' ( वह विराट् ही इतना हो गया ) इस सामानाधिकरण्यसे जाना जाता है। उस पातन ( गिराने ) से पति और पत्नी हुए थे, यह लौकिक दम्पतियोंका निर्वचन हो गया। विराट्-आत्माका यह अर्धभाग पीछे पृथक् हुआ था, जो यह स्त्री है, इसलिए यह शरीर आत्माका अर्धबृगल ( आधा द्विदल 'दाल' ) की तरह है, अर्थात् स्त्रीका विवाह करनेसे पहले पुरुषका शरीर अर्धबृगल ( दाल याने आधा ) कहा जाता है, यह यज्ञवल्क्यके अपत्य दैवरातिने कहा है। चूंकि विवाहसे पहले पुरुषका अर्ध आकाश स्त्रीरूपी अर्धसे शून्य होता है अतः विवाहके अनन्तर स्त्रीरूपी अर्धसे पूर्ण हो जाता है, जैसे दो बिदलोंके मिलानेसे संपुट हो जाता है। उस मनु नामक प्रजापतिने शतरूपा नामवाली अपनी पुत्रीको पत्नी समझकर उससे मैथुन किया, उस मैथुनसे मनुष्य उत्पन्न हुए।

ज्ञानसे आत्माके अज्ञानका नाश हो चुका था, तो भी प्रजापतिको अरति हुई ॥ ४९ ॥

स्वाभीष्टवस्त्वलाभेन चेतसो याऽनवस्थितिः ।
अरतिः सा सिसृक्षोः सा वध्वलाभादजायत ॥ ५० ॥
ननु विज्ञानविध्वस्तावविद्यायाः कुतोऽरतिः ।
ध्वस्तान्ध्यस्याऽपि सा चेत्स्यादनिर्मोक्षः प्रसज्यते ॥ ५१ ॥
अरत्युद्भूतिलिङ्गेन नाऽस्ति विद्येति कल्प्यताम् ।
द्वितीयवैर्यभावस्य बोधाद्भीतिरपैष्यति ॥ ५२ ॥
समीचीनाऽपि विद्येयं प्रकृतानुचितत्वतः ।
अकालकुसुमानीव नैव प्रीतिकरी सताम् ॥ ५३ ॥
पिण्डसृष्टौ प्रवृत्तायां ज्ञानस्यावसरोऽत्र कः ।
इति चेद्युक्तमेवात्र ज्ञानं प्रकरणत्वतः ॥ ५४ ॥
आरब्धोपनिषत्सर्वा विद्यार्थैव तथा सति ।
त्वद्विद्याऽऽक्षेप एवायमकालकुसुमायते ॥ ५५ ॥

---

'स्वाभीष्ट०' इत्यादि। अपनी अभीष्ट-वस्तुके अलाभसे जो चित्तकी अनवस्थिति ( बेचैनी ) होती है, उसको अरति कहते हैं। सृष्टिकी इच्छावाले प्रजापतिको वधूके न मिलनेसे वह अरति हुई ॥ ५० ॥

'ननु विज्ञान०' इत्यादि। ज्ञानसे अज्ञानका नाश हो जानेपर प्रजापतिको अरति क्यों हुई ? अज्ञानका नाश होनेपर भी यदि अरति हो, तो कभी मोक्ष हो ही नहीं सकता ॥ ५१ ॥

'अरत्यु०' इत्यादि। अरतिकी उत्पत्तिरूप लिङ्गसे प्रजापतिमें विद्या नहीं है, यह कल्पना करनी चाहिए। द्वितीय शत्रुके अभावके ज्ञानसे भयके नाशका सम्भव है ॥ ५२ ॥

'समीचीना०' इत्यादि। समीचीन होती हुई भी यह विद्या इस प्रकृत अनौचित्यसे अकालपुष्पकी तरह महात्माओंकी प्रीतिकरी नहीं हो सकती है ॥ ५३ ॥

'पिण्ड०' इत्यादि। प्रजापति पिण्डकी सृष्टिमें प्रवृत्त हुआ है, यहाँ ज्ञानका अवसर ही क्या है ? यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि प्रकरण ज्ञानका है ॥ ५४ ॥

'आरब्धो०' इत्यादि। सम्पूर्ण उपनिषद्का आरम्भ विद्या ही के लिए किया गया है, इसलिए तुम्हारा विद्याका आक्षेप ही अकालपुष्पके सदृश है ॥५५॥

पिण्डसृष्टेर्निन्द्यतया तन्निन्दायै भयादिगीः ।
तद्भीतिध्वस्तिहेतुत्वगिरा विद्या प्रशस्यते ॥ ५६ ॥
लोकेऽपि महतीं भीतिमापन्नाः परमेश्वरम् ।
तूर्णं शिव शिवेत्येवं स्मरन्ति भयहारिणम् ॥ ५७ ॥
विराजो जगदीशस्य भीतावन्यः परात्मनः ।
को वा स्मार्यस्ततो विद्या स्वकालकुसुमायते ॥ ५८ ॥
न विराजो वैरिशङ्का न तादृक् पूर्ववासना ।
सर्वात्मको विराडस्मीत्येवं पूर्वमुपासनात् ॥ ५९ ॥
अथ वैरी स्वस्य पिता भक्षणाय प्रवर्तितः ।
तर्ह्ययुक्तो भीतिनाशो द्वितीयस्याऽत्र संस्थितेः ॥ ६० ॥
अभिज्ञातात्मवृत्तान्तो देहनाशात्स्वविच्युतिम् ।
मत्वा भीत्या प्रबुद्धोऽभून्निर्भीरिति तु युज्यते ॥ ६१ ॥

---

'पिण्डसृष्टे०' इत्यादि । शरीरकी रचना ही निन्द्य है, उसकी निन्दाके लिए भय आदिका कथन है । विद्यासे प्रजापतिके भयका नाश हुआ था यह विद्याकी प्रशंसा है ॥ ५६ ॥

'लोकेऽपि' इत्यादि । लोकमें भी महाभयके प्राप्त होनेपर मनुष्य तत्काल ही शिव, शिव इस प्रकार भयनाशक परमेश्वरका स्मरण करते हैं ॥ ५७ ॥

'विराजो' इत्यादि । जगदीश्वर विराट्को भय होनेपर वह परमात्मासे भिन्न किस दूसरेका स्मरण करे ? इसलिए विद्या स्वकाल-कुसुमके सदृश है ॥ ५८ ॥

'न विराजो' इत्यादि । विराट्को न तो शत्रुकी शङ्का ही है; न वैसी पूर्ववासना ही है, क्योंकि 'मैं सर्वात्मक विराट् हूँ' इस प्रकार पूर्वजन्ममें उसने उपासना की थी ॥ ५९ ॥

'अथ वैरी' इत्यादि । यदि कहें विराट्का पिता हिरण्यगर्भ जो कि विराट्को खाने लगा था, वही विराट्का शत्रु है, तो भयका नाश नहीं हो सकता, क्योंकि द्वितीय हिरण्यगर्भ अब भी स्थित है ॥ ६० ॥

'अविज्ञातात्म०' इत्यादि । आत्मस्वरूपको नहीं जानता था देहके

अप्युत्पन्नात्मबोधानामाऽधिकारसमाप्तितः ।
अरत्यादि यथा दृष्टं तथैव स्यात्प्रजापतेः ॥ ६२ ॥
अधिकारो यस्य यावान्भुक्ते भोगे स तावति ।
कुतो न मुच्यते मुक्तिप्रतिबन्धस्य संक्षयात् ॥ ६३ ॥
सत्यामप्यात्मविद्यायां दोषो न विनिवर्तते ।
तेन दोषेणाऽनुमेयोऽधिकारो विदुषामसौ ॥ ६४ ॥
विराजोऽधिकृतिः सृष्टौ व्यासादेः शास्त्रनिर्मितौ ।
अस्मदादौ यथायोग्यं कार्यात्कारणमूह्यताम् ॥ ६५ ॥
दोषोऽस्तीत्येव विधेयं नास्तीत्येवं न शक्यते ।
वक्तुं, नह्यनुमेयाऽसौ, दृष्टैषा घटबोधवत् ॥ ६६ ॥

नाशसे आत्मनाश समझकर डर गया था। ज्ञान होनेपर निर्भय हो गया, यही तो युक्त है ॥ ६१ ॥

'अप्युत्पन्नात्म०' इत्यादि। ज्ञानके उत्पन्न होनेपर भी जब तक अधिकार ( प्रारब्ध कर्म ) समाप्त नहीं होता, तब तक हम लोगोंको ज्ञानी होनेपर भी जैसे अरति आदि देखे जाते हैं, वैसे ही प्रजापतिको भी अरति आदि हो सकते हैं ॥ ६२ ॥

'अधिकारो' इत्यादि। जिसका जितना अधिकार है, उतना भोग भोग लेनेपर वह क्यों नहीं मुक्त होगा ? क्योंकि मुक्तिका प्रतिबन्धक जो अधिकार है, वह तो नष्ट हो चुका है ॥ ६३ ॥

'सत्याम०' इत्यादि। आत्मविद्याके होनेपर भी जो दोष निवृत्त नहीं होता है, उस दोषसे तत्त्वज्ञानियोंके अधिकारका अनुमान करना चाहिए ॥ ६४ ॥

'विराजो०' इत्यादि। विराट्का अधिकार सृष्टिमें था, व्यासादिका शास्त्रोंकी रचनामें था और अस्मदादि ज्ञानियोंमें भी यथायोग्य दोषरूपी कार्यसे कारणका अनुमान कर लेना चाहिए ॥ ६५ ॥

'दोषो' इत्यादि। किसी तत्त्वज्ञानीमें कोई दोष है, इससे उसको ज्ञान नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञानका अनुमान नहीं हुआ करता, किन्तु घटके ज्ञानकी तरह आत्मज्ञानका दर्शन होता है ॥ ६६ ॥

चार्वाकवत्स्वस्य देहं पुष्णन्नपि न वैदिकः ।
व्यतिरिक्तात्मविज्ञानविहीन इति कथ्यते ॥ ६७ ॥
व्यतिरिक्तात्मबोधस्य शक्यते न परोक्षता ।
अहं देहीत्यापरोक्ष्यान्मानसं सर्वसम्मतम् ॥ ६८ ॥
यथाऽतिरिक्तात्मबोधेऽप्यरतिः कर्मिणीक्ष्यते ।
तथा ब्रह्मात्मबोधेऽपि विदुष्यरतिरीक्ष्यताम् ॥ ६९ ॥
नाऽयं दोषः कर्मिणि स्याद्भोक्तृत्वादिति मन्यसे ।
भोक्तर्येवाऽरतिस्तर्हि विद्वद्देहेऽपि नो चिति ॥ ७० ॥
अभोक्तृचिद्विबोधेन बाधिता भोक्तृतेति चेत् ।
अतिरिक्तात्मबोधेन देहात्मा किन्न बाधितः ॥ ७१ ॥
बाधितोऽपि यथापूर्वं वर्त्तते स्वस्वभावतः ।
इत्येतत्कर्मिविदुषोः स्वस्थाने समम्रुत्तरम् ॥ ७२ ॥

'चार्वाकवत्' इत्यादि । चार्वाककी तरह अपनी देहका पोषण करता हुआ भी वैदिक पुरुष देहातिरिक्त आत्माके ज्ञानसे रहित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता ॥ ६७ ॥

'व्यतिरिक्ता०' इत्यादि । वैदिक पुरुषको देह-व्यतिरिक्त आत्माका ज्ञान परोक्ष नहीं है, क्योंकि 'मैं देहधारी हूँ' इस प्रकार उसको मानस-प्रत्यक्ष होता है, मनरूप इन्द्रियसे भी प्रत्यक्ष हुआ करता है, यह सर्वसम्मत है, क्योंकि सुख, दुःख आदिका मानस प्रत्यक्ष होता है ॥ ६८ ॥

'यथा०' इत्यादि । जैसे देहातिरिक्त आत्माका ज्ञान होनेपर भी कर्मीमें अरति देखी जाती है, वैसे ही ब्रह्मात्मबोध होनेपर भी विद्वान्‌में अरति देखी जानी चाहिए ॥ ६९ ॥

'नाऽयं' इत्यादिसे । यह दोष नहीं है, कर्मी भोक्ता है, इसलिए उसमें अरति हो सकती है । यदि भोक्तामें ही अरति होती, तो विद्वान्‌को भी देहमें ही अरति होनी चाहिए, चैतन्यमें नहीं ॥ ७० ॥

'अभोक्तृ०' इत्यादि । अभोक्ता चैतन्यके ज्ञानसे विद्वान्‌में भोक्तृताका बाध हो चुका है, यदि ऐसा कहें, तो देहातिरिक्त आत्माके बोधसे क्या देहात्माका बाध नहीं हुआ ? ॥ ७१ ॥

'बाधितोऽपि' इत्यादिसे । बाधित हुआ भी देहात्मा अपने स्वभावसे

देहातिरिक्तकर्त्तारं कर्मी जानात्ययं पुनः ।
कर्त्तुरप्यधिकं ब्रह्मेत्येतावन्मात्रभिन्नता ॥ ७३ ॥
कर्त्रात्मानं विबुध्यासौ करोतीति मतं यदि ।
तर्ह्यकर्त्रात्मबोधेन न करोतीति तत्समम् ॥ ७४ ॥
किं बहूक्तेन बोधौ द्वौ स्वस्वबोध्यावभासने ।
शक्तौ, व्यवहृतिर्नश्येत्स्वाधिकारनिवृत्तितः ॥ ७५ ॥
अरतेरुद्भवे भीतिः कुतो नोद्भवतीति चेत् ।
भये नाऽधिकृतः किन्तु सृष्टाविति तदुत्तरम् ॥ ७६ ॥
नियामकोऽधिकारोऽतः क्वाऽपि नातिप्रसञ्जनम् ।
अतिप्रसङ्गभीरुः किमधिकारं नियच्छति ॥ ७७ ॥
ईश्वरोऽप्यनुसृत्यैव प्राणिकर्म जगत्सृजेत् ।
नियन्तृमानिनस्ते त्वं सामर्थ्यं वेत्सि नो वयम् ॥ ७८ ॥

---

पूर्ववत् वर्तमान रहता है। स्वभाववादका उत्तर तो कर्मी और विद्वान्—इन दोनोंका अपने-अपने स्थानमें तुल्य है ॥ ७२ ॥

'देहातिरिक्त०' इत्यादि। देहसे अतिरिक्त कर्त्ताको कर्मी जानता है और विद्वान् कर्त्ता—आत्मा—से अधिक ब्रह्मको अकर्त्ता जानता है, इतना ही भेद है ॥७३॥

'कर्त्रात्मानम्' इत्यादि। यदि आत्माको कर्त्ता समझकर कर्मी यह मानता है कि 'मैं कर्त्ता हूँ' तो आत्माको अकर्त्ता समझकर विद्वान् यह मान सकता है कि 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ', यह उत्तर दोनोंके लिए समान है ॥ ७४ ॥

'किं बहूक्तेन' इत्यादि। बहुत कहनेसे क्या? दोनों ज्ञान अपने-अपने बोध्य अर्थका प्रकाश करनेमें समर्थ हैं। व्यवहार तो अधिकारकी निवृत्तिसे ही नष्ट हो सकता है ॥ ७५ ॥

'अरतेरुद्भवे' इत्यादि। अरति होनेपर विराट्को भय क्यों नहीं उत्पन्न होता है? यदि यह कहें, तो उसका उत्तर यह है कि भयमें प्रजापतिका अधिकार नहीं है, किन्तु सृष्टिमें ही अधिकार है ॥ ७६ ॥

'नियामको०' इत्यादि। अधिकार ही नियामक है; इसलिए कहीं भी अतिप्रसङ्ग नहीं होता। अतिप्रसङ्गसे भय करनेवाला पुरुष क्या अधिकारको रोक सकता है? ॥ ७७ ॥

'ईश्वरो' इत्यादि। ईश्वर भी प्राणियोंके कर्मके अनुरोधसे ही जगत्की

आत्मक्रीडश्चाऽऽत्मरतिरिति रत्यन्तरं श्रुतिः ।
वारयेदिति चेत्तर्हि व्यवस्थाऽस्तु श्रुतिद्वये ॥ ७९ ॥
प्रबलारब्धविषयं विज्ञेयमरतेर्वचः ।
इतरद् भ्रान्तिविषयरत्यन्तरनिवारकम् ॥ ८० ॥
विनाऽपि प्रबलारब्धमविवेकभ्रमार्पिताः ।
ये रागास्ते विलीयन्ते विवेकेन न संशयः ॥ ८१ ॥
प्रबलारब्धवेगेन कामुकः सन्प्रजापतिः ।
एकं देहं स्वभोगार्थमसृजन्मिथुनात्मकम् ॥ ८२ ॥
तं द्वेधाऽपातयद्देहमभूतां दम्पती उभौ ।
मनुः पुमान् वधूर्ज्ञेया शतरूपाऽत्र नामतः ॥ ८३ ॥
तयोः सम्भोगतो जाता मनुष्या दम्पती पुनः ।
नानादेहानगृह्णीतां ताभ्यां द्वन्द्वानि जज्ञिरे ॥ ८४ ॥

---

रचना करता है । ऐसे भी कर्मको मैं रोक सकता हूँ, इस प्रकार कहनेवाले तुम्हारी शक्तिको तुम्हीं जानते हो, हम नहीं जानते ॥ ७८ ॥

'आत्मक्रीड०' इत्यादि । 'आत्मक्रीडश्च' यह श्रुति आत्मासे भिन्न पदार्थमें रतिका निषेध करती है, यदि ऐसा कहो, तो दोनों श्रुतियोंमें व्यवस्था समझनी चाहिए ॥ ७९ ॥

'प्रबलारब्धविषयम्' इत्यादि । अरतिका वचन प्रबल प्रारब्ध कर्मके विषयमें है और निषेधवचन भ्रान्तिविषय अनात्मरतिका निवारक है ॥ ८० ॥

'विनाऽपि' इत्यादि । प्रबल प्रारब्धके बिना भी अविवेकप्रयुक्त भ्रमसे जो राग उत्पन्न होते हैं, वे विवेकसे नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ८१ ॥

'प्रबलारब्धवेगेन' इत्यादि । प्रबल प्रारब्धके वेगसे कामी होकर प्रजापतिने मिथुनात्मक एक देहकी अपने भोगके लिए रचना की ॥ ८२ ॥

'तं द्वेधा' इत्यादि । भोगके अनन्तर अपनी देहके दो टुकड़े करके पातन किया ( गिरा दिया ) वे पति-पत्नी हो गये, उनमें से मनु पुरुष और शतरूपा वधू हुई ॥ ८३ ॥

'तयोः' इत्यादि । उनके भोगसे मनुष्य उत्पन्न हुए, फिर पति-पत्नीने अनेक देह धारण किये । उन देहोंसे सब द्वन्द्व ( जोड़े ) उत्पन्न हुए ॥ ८४ ॥

गवाश्वरासभाजाविप्रमुखा आपिपीलिकम् ।
प्राणिनो मिथुनात्मानो जाताः कर्मानुसारतः ॥ ८५ ॥

सो हेयमीक्षांचक्रे कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा सम्भवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्ताँ समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त बडवेतराऽभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताँ समेवाभवत्तत एकशफमजायताजेतराऽभवद्वस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्ताँ समेवाभवत् ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किञ्च मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥ ४ ॥

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहँ हीदँ सर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याँ हास्यैतस्यां भवति य एवंवेद ॥ ५ ॥

'गवाश्व०' इत्यादि । गाय, घोड़ा, गधा, बकरा, मेड़ आदिसे लेकर पिपीलिका ( चींटी ) पर्यन्त अपने-अपने कर्मोंके अनुसार मिथुनात्मक ( जोड़े ) प्राणी उत्पन्न हुए ॥ ८५ ॥

श्रुत्यर्थ—'सा उ, ह, इयम्' इस प्रकार पदच्छेद है । उस शतरूपाने, पुत्रीके गननमें स्मृतिकथित निषेधका स्मरण करके, विचार किया कि यह ऐसा अकृत्य क्यों करता है ? जो मुझको स्वयं ही उत्पन्न करके मेरे साथ भोग करता है । यद्यपि यह निर्लज्ज हो गया है तथापि मैं क्यों न 'तिरोऽसानि' अर्थात् अन्य जातिको धारण करके छिप जाऊँ । यह सोचकर वह गऊ बन गई तब प्रजापति बैल बन गया और उसने उसी प्रकार भोग किया । उससे गउएँ उत्पन्न हुईं । प्रजापतिका अपना कोई कर्म नहीं है । सृज्यमान प्राणियोंके कर्मोंसे प्रेरित होकर ही शतरूपा और मनुकी यह दशा होती रही । फिर वह लज्जित होकर घोड़ी बन गई और प्रजापति घोड़ा बन गया । वह गधी बनी तो प्रजापति गधा बन गया । उनके सम्भोगसे एकखुरवाली तीन जातियाँ अर्थात् घोड़े, खच्चर और गधे उत्पन्न हुए । वह बकरी बनी तो प्रजापति बकरा बन गया । वह मेड़ बनी प्रजापति मेष बन गया, उसके साथ समागम करता ही रहा । उनसे बकरियाँ और मेड़ें उत्पन्न हुईं । इसी प्रकार चींटी तक जितने जोड़े हैं, वे सब इसी प्रकार उत्पन्न हुए ॥ ४ ॥

'सोऽवेदहं' इत्यादि । इस सारे जगत्‌की रचना करके उस प्रजापतिने विचार किया कि मैं ही सृष्टि हूँ । मेरा रचा हुआ जगत् मुझसे भिन्न नहीं है ।

यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवा अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च

प्रसिद्ध है। यद्यपि यहां क्षत्रादि देवताओंकी सृष्टि नहीं कही है, तथापि वक्ष्यमाण है, सृष्टिके साकल्यके लिए वक्ष्यमाण सृष्टिका उपसंहार करके भाष्यकारोंने यहींपर क्षत्रादि देवताओंकी सृष्टि भी कह दी है। जिस प्रकार श्रुतिकी ऐसी व्यवस्था है, उसी प्रकार प्रजापति ही सब देवता है, यह अर्थ निश्चित है, क्योंकि सृष्ट ( रचे हुए ) पदार्थ स्रष्टा ( रचने वाले ) से भिन्न नहीं हुआ करते हैं, क्योंकि सब देवताओंकी सृष्टि प्रजापति ही ने की है; इसलिए प्रजापति सर्वदेवस्वरूप है। इस प्रकार प्रकरणार्थकी व्यवस्था होनेपर प्रजापति ही सब देवस्वरूप है, इस अर्थकी स्तुतिके अभिप्रायसे अज्ञानियोंके मतोंकी निन्दाका उपन्यास है, क्योंकि अन्यकी निन्दा अन्यकी स्तुतिके लिए हुआ करती है। कर्म-प्रकरणमें केवल याज्ञिक लोग यागकालमें जो यह वचन कहते हैं उस 'अग्निका यजन कर', 'उस इन्द्रका यजन कर' इत्यादि नाम, शास्त्र, स्तोत्र, कर्म आदिके भेदसे अग्नि आदि एक-एक देवताको भिन्न-भिन्न मानते हुए ऐसा कहते हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। चूँकि ये सब देवता इस प्रजापतिकी ही सृष्टि हैं, इसलिए यह प्रजापति ही सर्वदेव-स्वरूप है। वह प्रजापति प्राण है। यहांपर कुछ लोग विवाद करते हैं। एक कहते हैं, कि हिरण्यगर्भ परमेश्वर है। दूसरे कहते हैं कि हिरण्यगर्भ संसारी ( जीव ) है, 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' ( इस प्रजापतिको ही इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि कहते हैं ) इस श्रुतिसे 'एष ब्रह्मा एष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः' ( यही ब्रह्मा है, यही इन्द्र है, यही विराट् और यही सब देवता है ) इस श्रुतिसे 'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्' ( कोई इसको अग्नि कहते हैं, कोई मनु और कोई प्रजापति कहते हैं ) और 'योऽसावतीन्द्रियो ग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ' ( वह प्रजापति ही सर्वरूप हो गया ) इस स्मृतिसे भी यही प्रतीत होता है कि हिरण्यगर्भ परमात्मा है। अथवा हिरण्यगर्भ संसारी ही है, क्योंकि 'सर्वान् पाप्मन औषत्' ( उस प्रजापतिने सब पाप दग्ध कर दिये ) इस प्रकार श्रुति है, क्योंकि परमात्माके पापके दाहका प्रसङ्ग ही नहीं है। भय, अरति और सम्भोग

सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः । यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्यां हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

भी सुने जाते हैं, 'अथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत' ( आप मरनेवाला होकर उसने अमर देवताओंको उत्पन्न किया ) इससे और 'हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं' ( उत्पन्न होनेवाले हिरण्यगर्भको देखो ) इस मन्त्रवर्णसे और कर्मविपाककी प्रक्रियामें 'ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च । उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥' ( ब्रह्मा, प्रजापति, धर्म, महत्तत्त्व और अव्यक्त—इनको पण्डित लोग उत्तम सात्त्विकी गति कहते हैं ) इस स्मृतिसे भी यही प्रतीत होता है कि हिरण्यगर्भ जीव है। क्या विरुद्ध अर्थोंकी अनुपपत्तिसे वेदमें प्रामाण्यका व्याघात होता है, नहीं, क्योंकि उसकी अन्य कल्पना द्वारा विरोधका हो सकता है । और वह कल्पना उपाधिविशेषके सम्बन्धसे हो सकती है । 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः । कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति' । ( वह बैठा रहता है, दूर-दूर भागता है, वह सोया रहता है और सब जगह जाता है, वह देव मदवाला है और मदसे रहित है, उस देवको मेरे बिना ( तत्त्वज्ञानीके बिना ) और कौन जान सकता है ? ) । इत्यादि श्रुतियोंसे उपाधियोंके सम्बन्धसे हिरण्यगर्भ संसारी है । परमार्थमें वह संसारी नहीं है; किन्तु स्वयं वह असंसारी परमात्मा ही है । इस प्रकार उपाधिकी दृष्टिसे हिरण्यगर्भ नाना है और स्वरूपकी दृष्टिसे एक है, यही दशा सब जीवोंकी है । उपाधिकी दृष्टिसे वह जीव है, परमार्थसे परमात्मा ही है; क्योंकि 'तत्त्वमसि' ( हे श्वेतकेतो ! तू ब्रह्म है ) ऐसी श्रुति है । हिरण्यगर्भकी उपाधिमें शुद्धिका अतिशय है, इसलिए प्रायः श्रुति-स्मृति-वादोंमें हिरण्यगर्भको परमात्मा ही कहा है । कहीं-कहीं संसारित्व भी दिखलाया है । जीवोंकी तो उपाधियोंमें अशुद्धिकी अधिकता है; इसलिए प्रायः वे संसारी ही कहे जाते हैं । उपाधिमें सब मिथ्या हैं, इस दृष्टिसे तो श्रुति-स्मृति-वादोंमें भी सब जीवोंका परमात्मस्वरूपसे ही वर्णन किया गया है । तार्किकोंने तो वेदके बलका त्याग कर दिया है । कोई कहता है आत्मा है, कोई कहता है नहीं है, कोई कहता है कर्त्ता है, कोई कहता है अकर्त्ता है, इस प्रकार परस्पर विरुद्ध तर्क करते हुए उन्होंने

मुखबाहूरुपादेभ्यो वह्नीन्द्रवसुभूमयः।
देवता असृजद्ब्रह्मा चातुर्वर्ण्यनियामिकाः ॥ ८६ ॥

शास्त्रार्थको व्याकुल कर दिया है, इसलिए अर्थका निश्चय दुर्लभ है। जो केवल शास्त्रका अनुसरण करनेवाले शान्तदर्प ( मदरहित ) पुरुष हैं, उनको तो प्रत्यक्ष विषयकी तरह देवता-विषयक शास्त्रार्थका निश्चय ही है। एक ही प्रजापतिका अत्ता ( भोक्ता ), आद्य ( अन्न ) लक्षण भेद विवक्षित है। उनमें से अग्नि अत्ता है, यह पहले कह चुके हैं। सोम अन्न है, यह अब कहा जाता है। इस लोकमें जो ये आर्द्र ( द्रवात्मक—गीली ) वस्तुएँ हैं, उनको प्रजापतिने अपने रेतस् ( बीज ) से उत्पन्न किया है, क्योंकि 'रेतस आपः' ( वीर्यसे जल ) ऐसी श्रुति है। जो द्रवात्मक है, वह सोम है। इसलिए प्रजापतिने अपने वीर्यसे जो आर्द्रवस्तु उत्पन्न की है, वह सोम ही है। सारा जगत् इतना ही है, इससे अधिक नहीं। इतना क्या ? अन्न, जो द्रवात्मक होनेसे पुष्टि करनेवाला है और 'अन्नाद अग्नि' जो कि उष्ण और रूक्ष है, उसमें यह अवधारण है। सोम ही अन्न है अर्थात् जो खाया जाता है, वह सोम है। अत्ता ही अग्नि है, ऐसा अर्थके बलसे निश्चय करना चाहिए। अग्नि भी कहीं खाई जावे, तो सोमके पक्ष ही में है। जहां सोमके लिए यज्ञ किया जाता है, वहां सोम ही अग्नि है; अत्ता ( भोक्ता ) होनेसे, इस प्रकार सारे अग्निसोमात्मक जगत्को आत्मरूपसे देखनेवाला विद्वान् किसी दोषसे लिप्त नहीं होता है और प्रजापति होता है। वह यह प्रजापति ब्रह्मकी अतिसृष्टि ( अपनेसे भी अतिशयित ) है। कौन सी वह ? कहते हैं जो अपनेसे अधिक श्रेष्ठ देवताओंकी सृष्टि है। इसलिए देवसृष्टि अतिसृष्टि है, किस प्रकार फिर वह आत्मासे अतिशयित सृष्टि है ? कहते हैं 'यत्' ( जिस कारणसे ) मर्त्यः सन् ( मरणधर्मा होते हुए ) प्रजापतिने 'अमृत' ( मरणसे रहित ) देवताओंकी कर्म-ज्ञानरूप अग्निसे अपने सब पापोंको दग्ध करके सृष्टि की है। इसलिए यह देवसृष्टि अतिसृष्टि ( उत्कृष्ट ज्ञानका फल ) है। इसलिए इस प्रजापतिकी आत्मभूत अतिसृष्टिको जो जानता है, वह इस अतिसृष्टिमें प्रजापतिकी तरह स्रष्टा होता है ॥ ६ ॥

'मुख०' इत्यादि। मुख, बाहु, उरु, पाद इनसे ब्रह्माने चारों वर्णोंको नियममें रखनेवाले अग्नि, इन्द्र, वसु और भूमि देवताओंकी सृष्टि की ॥ ८६ ॥

तत्रेन्द्रादीन् भिन्नदेवान्मन्यन्ते यागभूमिषु ।
कर्मिणस्तदसज्ज्ञेयं विराडेवाऽखिला इमे ॥ ८७ ॥
अविद्वदधिकारित्वात्कर्मणां भिन्नदेवताः ।
उच्यन्तां कर्मकाण्डेन वस्तुतस्तु न तत्तथा ॥ ८८ ॥
विराजो जीवतामाहुः केचिदन्ये परात्मताम् ।
उभयं युक्तमेवैतद्विवक्षाया विशेषतः ॥ ८९ ॥
सोपाधिकविवक्षायां जीव एव विराड् भवेत् ।
निरुपाधिविवक्षायां परमात्मैव नेतरः ॥ ९० ॥
वयमप्येवमेवेति यद्युच्येत तथाऽस्तु तत् ।
सृष्ट्वा विराड् भोक्तृवर्गं भोग्यमन्नमचीक्लृपत् ॥ ९१ ॥
पूर्वजन्मनि मर्त्यः सन्कृत्वाऽसौ ज्ञानकर्मणी ।
अमृतानसृजद्देवान्यद्यप्येतन्महाद्भुतम् ॥ ९२ ॥
सृष्ट्वाऽखिलमवेत्सृष्टमहमस्म्यखिलं जगत् ।
ईदृशो महिमा ज्ञेयः कृतयोर्ज्ञानकर्मणोः ॥ ९३ ॥

---

'तत्रे०' इत्यादि । कर्मी लोग यज्ञमें इन्द्र आदिको भिन्न-भिन्न देवता समझते हैं, यह सत्य नहीं है, क्योंकि विराट् ही सर्व-देवता है ॥ ८७ ॥

'अविद्व०' इत्यादि । कर्मोंका अधिकारी अज्ञानी है, इसलिए कर्मकाण्ड भिन्न-भिन्न देवता कहता है, वास्तवमें वह ठीक नहीं है ॥ ८८ ॥

'विराजो' इत्यादि । कोई कहते हैं—विराट् जीव है, कोई कहते हैं—वह परमात्मा है, विवक्षाके भेदसे दोनों ही मत युक्त हैं ॥ ८९ ॥

'सोपाधिक०' इत्यादि । सोपाधिक-विवक्षामें विराट् जीव ही है और निरु-पाधिककी विवक्षामें विराट् परमात्मा ही है, जीव नहीं है ॥ ९० ॥

'वयमप्ये०' इत्यादि । हम सब भी इसी प्रकारके हैं, ऐसा भी यदि कहा जाय, तो ठीक ही है । विराट्ने भोक्तृवर्गकी सृष्टि करके भोग्य अन्नकी रचना की ॥ ९१ ॥

पूर्वजन्मनि' इत्यादि । पूर्व-जन्ममें मर्त्य होते हुए भी विराट्ने ज्ञान और कर्मके उपार्जन द्वारा अमृत देवताओंकी सृष्टि की यह महान् आश्चर्य है ॥ ९२ ॥

'सृष्ट्वा' इत्यादि । सारे जगत्को उत्पन्न करके मुझसे रचा गया सारा

वर्णितेत्थं प्रयत्नेन ज्ञानकर्मफलोर्जितिः ।
उपासितुः प्रवृत्त्यर्थं निवृत्त्यर्थं मुमुक्षतः ॥ ९४ ॥
सृष्ट्यैश्वर्ये स्वतन्त्रत्वं तत्कामी बहु मन्यते ।
दोषानेव विवेक्यत्र बहूनुत्प्रेक्षते धिया ॥ ९५ ॥
अविद्यापटसंवीतचक्षुषामियदेव हि ।
वैदिकं साधनं ज्ञेयं ज्ञानकर्मस्वभावकम् ॥ ९६ ॥
तच्च कर्त्रादिसापेक्षं विरिञ्च्यन्तफलप्रदम् ।
जन्मादिविक्रियाषट्कयुक्तं सातिशयं जडम् ॥ ९७ ॥
दुःखानि च विचित्राणि सन्त्येतद् बहुजन्मसु ।
अनेकक्लेशयुक्तेन दुर्लभं तपसा बिना ॥ ९८ ॥
कथंचित्साधितेऽप्यस्मिन्परानन्दघनं प्रभुम् ।
अन्तर्भाव्य विराट्पिण्डे स्थातव्यं हि जुगुप्सिते ॥ ९९ ॥

जगत् मैं ही हूँ, इस प्रकार प्रजापतिने जाना। किये गये ज्ञान और कर्मकी ऐसी महिमा समझनी चाहिए ॥ ९३ ॥

'वर्णिते०' इत्यादि। इस प्रकार उपासककी प्रवृत्तिके लिए और मुमुक्षुकी निवृत्तिके लिए ज्ञान और कर्मके फलके उत्कर्षका यत्नसे वर्णन किया गया है ॥ ९४ ॥

'सृष्ट्यैश्वर्ये' इत्यादि। ब्रह्मलोककी कामनावाला पुरुष सृष्टिके ऐश्वर्यमें स्वतन्त्रताका बड़ा आदर करता है; इसलिए वह उपासनामें प्रवृत्त होता है, विवेकी पुरुष अपनी बुद्धिसे विराट्पदमें बहुतसे दोषोंको देखता है ॥ ९५ ॥

'अविद्या०' इत्यादि। अविद्यारूपी वस्त्रसे जिनके नेत्र बँधे हुए हैं, उनके लिए केवल ज्ञान-कर्म-स्वरूप ही वैदिक साधन उपयुक्त है ॥ ९६ ॥

'तच्च' इत्यादि। और वह साधन कर्त्ता आदिकी अपेक्षा रखता है। और विराट्पद-पर्यन्त ही फल देता है। यह विराट्पद जन्म आदि षड्विकारोंसे युक्त, सातिशय और जड़ है ॥ ९७ ॥

'दुःखानि' इत्यादि। बहुत जन्मोंमें इसकी प्राप्तिके लिए अनेक विचित्र दुःख भोगने पड़ते हैं अतः अनेक क्लेशोंसे युक्त तपस्याके बिना यह विराट्पद दुर्लभ भी है ॥ ९८ ॥

'कथञ्चित्' इत्यादि। किसी प्रकार इस पदके सिद्ध होनेपर भी परमानन्द-

न केवलं पिण्डवासस्तादात्म्यं चाऽभिमानिता ।
ततो भयं भक्षणाय पितुर्मुखविदारणात् ॥ १०० ॥
चाण्डालानां च नेयं भीः किन्तु पन्नगजन्मनः ।
को भेदः स्याद्विराड्जन्मन्युरगात्पुत्रभक्षिणः ॥ १०१ ॥
कृच्छ्राद्भये प्रशान्तेऽपि जग्राहाथाऽरतिग्रहः ।
क्रियमाणे प्रतीकारे गर्दभादिशरीरताम् ॥ १०२ ॥
एकयोनौ सकृज्जातः क्लेशं सोढुं न शक्नुयात् ।
अनन्तयोनिष्वसकृज्जायमानस्य का कथा ॥ १०३ ॥
निस्तरेद्विद्यया चेत्किं बकबन्धप्रयासतः ।
अथ विद्यामुपेक्ष्योर्ध्वं किं विद्या प्रार्थयिष्यते ॥ १०४ ॥

---

घन प्रभु परमात्माको जुगुप्सित ( घृणित ) विराट्पिण्डमें छिपाकर रहना पड़ता है ॥ ९९ ॥

'न केवलम्' इत्यादि । न केवल पिण्डमें वास ही होता है, प्रत्युत उस जुगुप्सित देहमें तादात्म्य और अहंताका अभिमान भी होता है, फिर जब विराट्को खानेके लिए पिता हिरण्यगर्भ अपने मुखका विदारण करता है, तो विराट्को भय भी होता है ॥ १०० ॥

'चाण्डालानाम्' इत्यादि । चाण्डालोंको भी यह भय नहीं होता है, क्योंकि चाण्डाल भी अपने पुत्रको नहीं खाता है । सर्पिणी अपने पुत्रोंको खा लेती है, इसलिए सर्पोंको यह भय होता है । ऐसी परिस्थितिमें विराट्के जन्ममें और पुत्रभक्षी सर्पके जन्ममें क्या भेद रह जाता है ? ॥ १०१ ॥

'कृच्छ्रा०' इत्यादि । कष्टसे भयके शान्त होनेपर भी फिर अरतिरूप ग्रहने विराट्को पकड़ लिया । अरतिका प्रतिकार करनेपर गर्दभादि शरीरोंकी प्राप्ति हुई ॥ १०२ ॥

'एकयोनौ' इत्यादि । एक योनिमें एकबार उत्पन्न होकर भी क्लेशोंके सहन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है । फिर अनन्त योनियोंमें जो बारबार जन्मता है, उसके क्लेशोंकी क्या कथा ? ॥ १०३ ॥

'निस्तरे०' इत्यादि । 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' इस वचनसे विराट्को ब्रह्मज्ञान अवश्यम्भावी है, उससे सब दुःखोंकी निवृत्ति हो जावेगी, इस प्रकार शङ्का करके

क्लेशेन महतोपास्य बहुयोर्नि प्रविश्य च ।
विद्यान्वेषणतः श्रेय इदानीमेव वेदनम् ॥ १०५ ॥
एवं विचार्य बहुशस्तूर्णमेव मुमुक्षति ।
निवृत्तः सर्वबाह्यार्थात्प्रमेयं मातुमर्हति ॥ १०६ ॥
अधिकारी साधितः स्यादेवं फलविचारतः ।
तेन प्रमातुं यद्योग्यं तदिदानीं निरूप्यते ॥ १०७ ॥
ननु शास्त्रं प्रमाणत्वात्प्रमापयतु वस्तु तत् ।
प्रमातुं योग्यता त्वादौ यत्नेन किमितीर्यते ॥ १०८ ॥

कहते हैं—जब ब्रह्मविद्यासे ही मुक्ति होती है तब इस बकबन्धप्रयाससे[1] क्या लाभ ? क्योंकि विराट्की प्राप्तिसे जो सुख होनेवाला है, वह भी तो ब्रह्मानन्दका लेश है, इसलिए उपासनासे विराट्पदको प्राप्त होकर फिर ब्रह्मविद्याकी प्रार्थना न करके केवल इसी मनुष्यजन्ममें ब्रह्मविद्याके लिए यत्न करना चाहिए ॥ १०४ ॥

'क्लेशेन' इत्यादि । महान् क्लेशसे उपासना करके और बहुत-सी योनियोंमें प्रवेश करके विद्याके अन्वेषणकी अपेक्षा अभी मनुष्यदेहमें ही विद्याका अन्वेषण करना श्रेष्ठ है ॥ १०५ ॥

'एवम्०' इत्यादि । इस प्रकार बहुत विचार करके शीघ्र ही मुक्त होनेकी इच्छा करता है, सब बाह्य पदार्थोंसे निवृत्त होकर प्रमेय ( अज्ञात आत्मतत्त्वको ) जानना चाहता है ॥ १०६ ॥

'अधिकारी' इत्यादि । इस प्रकार फलके विचारसे अधिकारीकी सिद्धि हो गई, अब उसका ज्ञातव्य जो प्रमेय है, उसका निरूपण किया जाता है ॥ १०७ ॥

'ननु' इत्यादि । शास्त्र प्रमाण है, इसलिए वह भले ही वस्तुका बोधन करे, परन्तु पहले ज्ञानकी योग्यताका यत्नसे क्यों निरूपण किया जाता है ? ॥ १०८ ॥

१—बकके बन्धनके लिए कुछ पुरुष उपाय बतलाते हैं कि बकके सिरपर घृत रख देना चाहिए। सूर्यकी गर्मीसे जब घी पिघल कर उसकी आंखोंमें गिरता है, तब वह अन्धा हो जाता है और पकड़ा जा सकता है, परन्तु यह प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि जो उसके सिरपर घृत रख सकता है, वह पकड़ भी सकता है ।

न कर्मशास्त्रं यत्नेन कर्मणो मानयोग्यताम् ।
क्वचिद् ब्रूते तथा साऽत्र न वक्तव्येति चेन्न तत् ॥ १०९ ॥
कर्मशास्त्रव्यवहृतिर्लौकिकव्यवहारवत् ।
साध्यसाधनरूपेण प्रसिद्धा न विलक्षणा ॥ ११० ॥
वेदान्तप्रतिपाद्यं तु न साध्यं नाऽपि साधनम् ।
अलौकिकत्वात्पुम्बुद्धिर्नैतत्सम्भावयत्यपि ॥ १११ ॥
सम्भावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना ।
इति न्यायेन तन्मेयमादौ सम्भाव्यते श्रुतौ ॥ ११२ ॥
उपादेयस्य मेयस्य वाच्या सम्भावना यथा ।
हेयसंसारहेतुश्च वक्तव्यो यत्नतस्तथा ॥ ११३ ॥
संसाराख्यमहाव्याधेः किं मूलमिति चिन्तिते ।
तद्ध्वस्तये चिकित्सेयं तदा फलवती भवेत् ॥ ११४ ॥

---

'न कर्म०' इत्यादि । कर्ममें मानयोग्यता है, ऐसा कर्म प्रतिपादकशास्त्र कहीं नहीं कहता, इसलिए ब्रह्ममें भी मानयोग्यता नहीं कहनी चाहिए, ऐसा कहें तो यह ठीक नहीं है ॥ १०९ ॥

'कर्मशास्त्र०' इत्यादि । कर्मशास्त्रका व्यवहार लौकिक व्यवहारकी तरह साध्यसाधनरूपसे होता है, विलक्षण नहीं होता, यह प्रसिद्ध है ॥ ११० ॥

'वेदान्त०' इत्यादि । वेदान्तका प्रतिपाद्य तो न साध्य है, न साधन है, क्योंकि अलौकिक होनेसे पुरुषकी बुद्धिमें उसकी सम्भावना ही नहीं हो सकती ॥ १११ ॥

'सम्भावितः' इत्यादि । 'पर्वत वह्निमान् है' इस प्रतिज्ञामें पक्षभूत पर्वतमें सम्भावित वह्नि धूमरूपी हेतुसे सिद्ध की जाती है । इस न्यायसे श्रुतिमें पहले प्रमेयकी सम्भावना कही है ॥ ११२ ॥

'उपादेयस्य' इत्यादि । उपादेय ( ग्रहण करने योग्य ) प्रमेयकी सम्भावना जैसे कहनी पड़ती है, वैसे ही हेय ( त्याग करने योग्य ) संसारका कारण भी यत्नसे कहना चाहिए ॥ ११३ ॥

'संसारा०' इत्यादि । संसाररूप महारोगका मूल क्या है ? ऐसा चिन्तन कर लेनेपर संसारके नाशके लिए की गई चिकित्सा फलवाली हो सकती है ॥ ११४ ॥

अविज्ञातनिदानेन भिषजा च चिकित्सितम् ।
अनर्थकृत्    यद्वद्ब्रह्मज्ञोऽप्यनवगम्यताम् ॥ ११५ ॥
मायासूक्ष्मं हेतुमेवमित्येवातो कथं त्विदम् ।
मौढ्यं बुद्धिमतोऽत्यस्मादतोऽन्या तु नैव धीः ॥ ११६ ॥
देहाकाशदिशाकालरसगन्धासावर्जितम् ।
द्वारा संसारभेदः स्यादात्माज्ञानं तु लोकवत् ॥ ११७ ॥
आत्माज्ञानमनर्थानां मूलं लोकेऽपि नेष्यते ।
स्वपराज्ञमज्ञात्वा दुःख्यन्निव एव हि ॥ ११८ ॥
एवं स्वात्मानमज्ञात्वा संसारानर्थमाप्नुयात् ।
अनर्थाज्ञानयोः कार्यकारणत्वं प्रकल्प्यते ॥ ११९ ॥
क्रियाश्रितस्याऽनर्थस्य हेतुः स्यात्सशरीरता ।
न क्रियाभिप्रतियोगः अशरीरस्य कस्यचित् ॥ १२० ॥

---

'अविज्ञात०' इत्यादि । जो वैद्य निदानको नहीं जानता है, उसकी की हुई चिकित्सा जैसे अनर्थकारी होती है, वैसे ही ब्रह्ममें भी समझना चाहिए ॥ ११५ ॥

'माया सूक्ष्म' इत्यादि । इस द्वैतका मूल माया है, वह जब तक ज्ञात न हो जाय, तब तक मौढ्य बुद्धिसे नहीं जा सकता है । मौढ्यके बिना अन्य बुद्धि तो हेय ही है ॥ ११६ ॥

'देह०' इत्यादि । देह, आकाश, ( धर्माधर्म ) दिशा, काल, रस, गन्धवह, आदि पदार्थ—इन सब पदार्थोंके द्वारा आत्माका अज्ञान लोककी तरह संसारका हेतु हो सकता है ॥ ११७ ॥

'आत्मा' इत्यादि । लोकमें भी आत्माका अज्ञान ही अनर्थोंका मूल है, और नहीं है, क्योंकि अपने स्वरूपको न जानकर दुःख अनेकत्व करता ही है ॥ ११८ ॥

'एवम्' इत्यादि । इस प्रकार अपनी आत्माको न जानकर संसाररूप अनर्थ को प्राप्त होता है । अनर्थ और अज्ञानके कार्य-कारणभावको निरूपण करते हैं ॥ ११९ ॥

'क्रियाश्रित०' इत्यादि । स्नान करनेके योग्य जो अनर्थ है, उसका हेतु

योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवो-पासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति । तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमा-

---

नाम, रूप और कर्म—ये तीन हैं, इस प्रकार आगे कहा जायगा। मनन करनेसे मन कहलाता है, जन्तुविशेष निकायोंका साधारण करण मन है; परन्तु पुरुष तो मननका कर्ता होनेसे मन कहा जाता है। ये नाम आदि इस आत्माके कर्मनाम हैं—कर्मजन्य नाम हैं, वस्तुमात्रको ये विषय नहीं करते हैं; इसलिये ये कृत्स्न आत्मवस्तुके द्योतक नहीं हैं। इस प्रकार यह आत्मा प्राणनादिक्रियासे तत्-तत् क्रियाजनित प्राणादि नामरूपोंसे व्याप्त होता हुआ—द्योत्यमान ( प्रकाश्यमान ) होता हुआ—भी कृत्स्न नहीं देखा गया है।

जो पुरुष इस प्राणनादिक्रियासमुदायसे एक-एकको—प्राण अथवा चक्षु इस प्रकार विशिष्टको—अन्यविशिष्टक्रियात्मकका उपसंहार न करके मनसे 'यह आत्मा है' ऐसी उपासना करता है—चिन्तन करता है, वह ब्रह्मको नहीं जानता है। किस हेतुसे? इस हेतुसे कि वह आत्मा इस प्राणनादिक्रिया-समुदायसे अकृत्स्न है—असमस्त है—अपूर्ण है, इसलिये इतरविशिष्ट कर्मोंका उपसंहार न करनेसे एक-एक विशेषणसे वह विशिष्ट ही है। जबतक वह इस प्रकार जानता है—'मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ', इस प्रकार स्वभावप्रविभिन्न आत्माको जानता है—तबतक वह भली भाँति कृत्स्न आत्माको नहीं जानता। फिर किस प्रकार देखता हुआ जानता है? यह कहते हैं—'आत्मेत्येव'। प्राणादि जितने विशेषण कहे गये हैं, उन सबको व्याप्त होता है, इसलिये यह आत्मा कहा जाता है। वह उस प्रकार कृत्स्न विशेषोंका उपसंहार करता हुआ कृत्स्न होता है, क्योंकि वस्तुमात्ररूपसे प्राणादि उपाधिविशेषोंकी क्रियासे उत्पन्न हुए विशेषोंको वह व्याप्त कर लेता है। और ऐसा आगे कहेंगे—'ध्यान करते हुएकी तरह है, चेष्टा करते हुएकी तरह है'।

इसलिये 'आत्मा' इसी प्रकार उपासना करे, क्योंकि इस प्रकार वह अपने वस्तुरूपसे एकभाव होता हुआ कृत्स्न हो जाता है। किस हेतुसे कृत्स्न हो जाता है? इस प्रकार शङ्का करके कहते हैं—जलसूर्य-प्रतिबिम्बभेदोंकी तरह इस निरुपाधिक आत्मामें प्राणादि उपाधियोंसे

किये हुए मनआदिकर्मोंसहित आदि पूर्वोक्त विशेष एक हो जाते हैं—अविद्यासे प्राप्त हो जाते हैं।

'आत्मेत्येवोपासीत' यह अपूर्व विधि नहीं है, क्योंकि पक्षमें प्राप्त है। 'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है', 'यही ब्रह्म विज्ञानघन है' इत्यादि आत्माका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न हुआ है। वहाँ आत्मस्वरूपके ज्ञानसे ही आत्मविषयक अनात्माभिमानवृत्ति—आत्मविषय-अनात्मप्रतीतिरूप अविद्या—निवृत्त हो गयी है। उसके निवृत्त होनेपर कामादि दोषोंकी अनुपपत्तिसे अनात्मचिन्ताकी प्राप्ति ही नहीं है। परिशेषात् आत्मचिन्ता ही प्राप्त है, इसलिये प्राप्त होनेसे इस पक्षमें उपासनाका विधान नहीं करना चाहिये।

आत्मोपासनाकी प्राप्ति पाक्षिकी है अथवा नित्य है, यह रहने दो, अपूर्वविधि तो हो सकती है, क्योंकि ज्ञान और उपासना एक ही हैं, इसलिये अप्राप्त है। 'न स वेद' इस प्रकार ज्ञानका आरम्भ करके 'आत्मेत्येवोपासीत' यह कहा गया है, इसलिये वेदनार्थक और उपासनार्थक एक ही अर्थके वाचक हैं, यह ज्ञात होता है।

स्वरूपका ध्यान करनेमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिये यह अपूर्वविधि ही है। कर्मविधिके समान होनेसे भी यह अपूर्वविधि ही है—जैसे 'यजेत', 'जुहुयात्' इत्यादि कर्मविधियाँ हैं, वैसे ही 'आत्मेत्येवोपासीत', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि आत्मोपासनविधियाँ हैं, उनमें कुछ भी विशेष

---

१ अविद्याके निवृत्त होनेपर भी प्रारब्धवश सम्भव होनेसे विधिकी प्रवृत्ति हो सकती है, क्योंकि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इस न्यायसे विद्वान् और अविद्वान्‌के व्यवहारमें कोई विशेष नहीं है। विद्वान्‌में एक-देशसे अनात्मचिन्तन है। और इससे पहले भी इन निवृत्तियोंमें अपने ही आत्मचिन्तनकी अपेक्षा है, इसलिये आत्मचिन्तन पहले ही प्राप्त है। और ज्ञान होनेपर तो अज्ञान है ही नहीं, ऐसी प्रतीति होनेसे आत्मचिन्तनकी नित्य ही प्राप्ति है।

२ स्वभावसे ही मन इन्द्रियोंकी तरह इन्द्रियाँ विषयप्रवण होती हैं, इसलिये वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें प्रवृत्त भी नहीं करती हैं, अतः अत्यन्त अप्राप्त होनेसे आत्मज्ञानमें अपूर्वविधि है, यह मत है। यद्यपि शब्दजन्यज्ञानस्वरूप श्रवणादिसे शाब्द ज्ञान उत्पन्न होता ही सिद्ध है, तथापि यहाँपर शाब्द ज्ञान विवक्षित नहीं है, किन्तु उपासना विवक्षित है। उपासना व्यापार भी है, पर उसकी अनादि है, इसलिये उसको ज्ञान भी कहते हैं। उपासनात्मक ज्ञान अप्राप्त है, इसलिये उसकी विधि हो सकती है।

प्रतीत नहीं होता। नियम मानसक्रियात्मक है—जैसे 'जिस देवताके लिये हविः ग्रहण किया हो वषट्कार करते हुए उसका ध्यान करे' इत्यादिमें मानस क्रियाका विधान किया जाता है। वैसे ही 'आत्मेत्येवोपासीत', 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिमें ज्ञानरूप क्रियाका ही विधान है। इसलिये हमने कहा कि वेद और उपासन क्रियाका एक अर्थ है। तथा भावनाके अंशत्रयकी उत्पत्ति होनेसे भी ज्ञान और उपासना एक है—जैसे 'यजेत' (यज्ञ करे) इस भावनामें क्या? किससे? किस प्रकार? ऐसी साध्यादिकी आकाङ्क्षाको पूर्ण करनेके लिये तीन अंश प्रतीत होते हैं, वैसे ही 'उपासीत' इस भावनाके विषयमें भी किसकी उपासना करे? किस साधनसे उपासना करे? और किस प्रकार उपासना करे? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर आत्माकी उपासना करे, मनसे करे, संन्यास, ब्रह्मचर्य, शम, दम, उपरम, तितिक्षा आदि इतिकर्तव्यतासे संयुक्त होकर करे इत्यादि तीन अंशोंका शास्त्रसे ही समर्पण किया जाता है।

जैसे सारे ही दर्शपूर्णमास आदि प्रकरणका दर्शपूर्णमासादिविधिके शेषरूपसे उपयोग है, वैसे ही औपनिषद आत्मोपासनाप्रकरणका आत्मोपासनाविधिके शेषरूपसे ही उपयोग है। 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंका उपास्य आत्माके स्वरूप-विशेषके समर्पणसे उपयोग है और फल मोक्ष अथवा अविद्याकी निवृत्ति है।

दूसरे आचार्य कहते हैं—उपासनासे आत्मविषयक विशिष्ट विज्ञानान्तरकी भावना करे, उससे आत्मा ज्ञात होता है और उसीसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। वेदवाक्यसे उत्पन्न हुआ जो आत्मविषयक ज्ञान है, उससे न तो आत्मा ज्ञात होता है और न अविद्याकी निवृत्ति होती है। इस पक्षके पोषक वचन भी हैं—'ज्ञान कर प्रज्ञा (ज्ञानसन्तति) करे', 'दर्शन करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये, निदिध्यासन करना चाहिये', 'उसका अन्वेषण करना चाहिये, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये' इत्यादि। परन्तु उनका यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि कोई दूसरा अर्थ है नहीं। 'आत्मेत्येवोपासीत' यह अपूर्वविधि नहीं है, क्योंकि आत्मस्वरूपकथन शास्त्रसे अनात्माका प्रतिषेध करके आत्मतत्त्वके कथनसे अतिरिक्त कोई मानस अथवा बाह्य कर्तव्य (करने योग्य) अवशिष्ट है नहीं।

---

१ विविध प्रकार कर्मोंका वर्णन। २ नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका त्याग। ३ 'शान्तो दान्त' इत्यादि।

विधिकी अपेक्षा उत्पन्न हुआ करती है वहाँपर विधिवाक्यके श्रवणमात्रसे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा पुरुषकी दूसरी प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिमें। दर्शपूर्णमासविधि-वाक्यसे उत्पन्न हुआ ज्ञान ही दर्शपूर्णमासका अनुष्ठान नहीं है, वह तो अधिकारादिकी अपेक्षासे अनन्तर हुआ करता है। 'नेति नेति' इत्यादि आत्मप्रतिपादक वाक्य द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानसे अतिरिक्त दर्शपूर्णमासादिकी तरह किसी पुरुषव्यापारका सम्भव नहीं है, क्योंकि उस वाक्यसे उत्पन्न हुआ ज्ञान सब व्यापारोंकी निवृत्तिका हेतु है, कारण कि उदासीन ज्ञान प्रवृत्तिजनक नहीं हुआ करता और 'एकमेवाद्वितीयम्', 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य कर्तृत्व और भोक्तृत्वके ज्ञानके निवर्तक हैं, उनकी निवृत्ति होनेपर प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि विरोध है। वाक्यजनित ज्ञानमात्रसे कर्तृत्व और भोक्तृत्वके ज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य आत्माके स्वरूपका निरूपण करनेवाले हैं।

ब्रह्मविधिके विषयविशेषके समर्थक ये वाक्य हैं, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अर्थान्तर है नहीं, यह उत्तर कह चुके हैं। आत्मवस्तुके स्वरूपके समर्थक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे ही अनायासमें आत्माका दर्शन हो चुका है; इसलिए ब्रह्मविधिका अनन्तर करने योग्य अनुष्ठान नहीं है, यह उत्तर कह चुके हैं। विधिके बिना वाक्यस्वरूपके श्रवणमात्रसे आत्मज्ञानमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आत्मप्रतिपादक वाक्योंके श्रवणसे आत्मविज्ञान उत्पन्न हो चुका है, अब वह उपक्रम ( विनियोग ) क्या करता है? आत्माके अवगममें भी प्रवृत्ति न होगी, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अनवस्थाका प्रसङ्ग है। जैसे आत्मप्रतिपादक वाक्योंके अर्थावगममें विधिके बिना प्रवृत्त नहीं होता है, वैसे ही विधिवाक्यार्थके अवगममें भी विधिके बिना प्रवृत्त नहीं होगा, इसलिए अन्य विधिकी अपेक्षा होगी, वैसे ही उसके अर्थावगममें भी अन्य विधिकी अपेक्षा होगी, इस प्रकार अनवस्थाका प्रसङ्ग है। श्रवणविज्ञानमात्रसे वाक्यजनित आत्मज्ञानकी स्मृतिकी सन्तति ( धारा ) अर्थान्तर है, वही विधेय है, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि स्मृतिसन्तति अर्थसे ही प्राप्त है। फिर अन्यमें आत्मप्रतिपादक वाक्यके श्रवणसे आत्म-

विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी क्षणमें उत्पन्न होता हुआ वह आत्म-विषयक मिथ्या ज्ञानको निवृत्त करता हुआ ही उत्पन्न होता है।

आत्मविषयक मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति होनेपर मिथ्या ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली स्वाभाविक अनात्मवस्तुमेंविषयक स्मृतियाँ नहीं होती हैं। अनर्थात्मक ज्ञान होनेसे भी। क्योंकि आत्माका ज्ञान होनेपर अनात्मपदार्थ अनर्थरूप प्रतीत होते हैं, कारण कि अनात्म वस्तुमें अनित्यत्व, दुःख, अशुचि आदि बहुत-से दोष हैं, आत्मवस्तुमें वे हैं नहीं, इसलिए आत्माका ज्ञान होते ही अनात्मज्ञान-स्मृतियोंके अभावकी प्राप्ति है। परिशेषसे आत्मैकत्वज्ञानकी स्मृतिसन्तति अर्थतः ही प्राप्त है, इसलिए उसकी विधि नहीं हो सकती। और आत्मस्मृति शोक, मोह, भय, प्रयास आदि दुःखात्मक दोषोंकी निवर्तक है, क्योंकि शोक-मोहादि दोष विपरीत ज्ञानसे उत्पन्न हुआ करते हैं। तथा च 'तत्र को मोहः' इत्यादि श्रुतियाँ इसी अर्थको कहती हैं।

निरोध अर्थान्तर है। वेदान्तवाक्यजनित आत्मज्ञानसे चित्तवृत्तियोंका निरोध अर्थान्तर है और अन्य दर्शनोंमें निरोधकी कर्तव्यता प्रसिद्ध है, इसलिए चित्त-वृत्तियोंके निरोधकी विधि है, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि निरोध मोक्षका साधन है। इस प्रकार वेदान्तोंमें ब्रह्मात्मविज्ञानसे अन्य पुरुषार्थका साधन कोई अवगत नहीं है, क्योंकि 'उसने आत्माको ही जाना था', 'उसीसे वह सर्वरूप हो गया', 'ब्रह्मवित् परको प्राप्त होता है', 'जो उस परम ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म ही है', 'जो इस प्रकार जानता है, वह अमृत हो जाता है' इत्यादि अनेकों श्रुतियाँ हैं।

निरोधका अन्य कोई साधन नहीं है अर्थात् आत्मज्ञान और उसकी स्मृतिके संतानके सिवा चित्तवृत्तिके निरोधका दूसरा साधन नहीं है, यह निरोधका अनधिकार करके कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षका साधन है ही नहीं। और आकांक्षाके अभावसे अनन्यताका अभाव है—जो यह कहा गया है कि जैसे 'यजेत' इत्यादिमें किसे? किससे? कैसे? इस प्रकार भाव्यादिकी आकांक्षाके होनेपर फल, साधन, इतिकर्तव्यताओंसे आकांक्षाकी निवृत्ति की जाती है, वैसे ही आत्मज्ञानकी विधिमें भी हो सकता है, यह समीचीन नहीं है, क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम्', 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंके अर्थज्ञानसे ही सब आकांक्षाओंकी निवृत्ति हो जाती है। पुरुष वाक्यार्थज्ञानसे विधिसे प्रेरित

होकर प्रमाण होता है, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि विधिकाण्डकी प्रवृत्तिमें अन्यथा दोष कह चुके हैं और 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंमें विधिवाचक पद भी नहीं है। ब्रह्मस्वरूपके कथनसे ही उनकी समाप्ति होती है। वस्तुस्वरूपके कथनमात्रसे वेदवाक्योंको अप्रमाणता होगी। जैसे 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (वह रोया था, जो वह रोया था वही रुद्रका रुद्रत्व है) इत्यादिमें वस्तुस्वरूपके कथनमात्रसे जैसे अप्रमाणता है, वैसे ही ब्रह्मार्थ वाक्योंकी भी अप्रमाणता होगी, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि विशेष है।

वस्तुका कथन अथवा क्रियाका कथन वाक्यके प्रामाण्य और अप्रामाण्यका कारण नहीं है, किन्तु निश्चित फलवाले ज्ञानको उत्पन्न करना उसका कारण है; अतः वह जिसमें है, वह वाक्य प्रमाण है और जिसमें नहीं है, वह अप्रमाण है। किञ्च, हम आपसे पूछते हैं—आत्मस्वरूपका अन्वाख्यान करनेवाले वाक्योंसे फलवाला निश्चित विज्ञान उत्पन्न होता है या नहीं? यदि उत्पन्न होता है, तो अप्रामाण्य कैसा? किञ्च अविद्या, शोक, मोह, भय आदि संसारबीज दोषोंकी निवृत्ति ज्ञानका फल है, यह तुम देखते नहीं हो? क्या नहीं सुनते हो 'एकत्वदर्शीको मोह और शोक नहीं होते हैं' 'मैं मन्त्रवित् ही हूँ, आत्मवित् नहीं हूँ, इसलिए हे भगवन्! मैं शोक करता हूँ, आप मुझे शोकके पार कर देवें' इत्यादि सैकड़ों उपनिषद्वाक्योंको? क्या 'सोऽरोदीत्' इत्यादिमें ऐसा फलवाला निश्चित ज्ञान है? यदि नहीं है, तो उनकी अप्रमाणता होगी। उनकी अप्रमाणता होनेसे फलवत् निश्चित ज्ञानके उत्पादक वेदान्तवाक्योंकी अप्रमाणता कैसे हो सकती है? यदि वेदान्तवाक्योंकी अप्रामाण्य होगी, तो दर्शपूर्णमासादि-वाक्योंमें भी विश्वास कैसे होगा?

यदि कहो कि दर्शपूर्णमासादिविषयक पुरुषकी प्रवृत्तिके ज्ञानके उत्पादक हैं, इसलिए वे प्रमाण हैं, आत्मविज्ञानवाक्योंमें वह है नहीं, तो यह कहना यद्यपि सत्य है, तथापि दोष नहीं है, क्योंकि प्रामाण्यके कारणकी उपपत्ति है। प्रामाण्यका कारण जो पहले कह चुके हैं, वही है, अन्य नहीं है। आत्मप्रतिपादक वाक्योंमें जो सर्वप्रवृत्तिनिरोधक ज्ञानकी उत्पादकता है, वह अलङ्कार है, अप्रामाण्यका कारण नहीं है। जो यह कहा गया है कि 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इत्यादि वाक्योंसे वाक्यार्थ-ज्ञानसे अतिरिक्त उपासनाकर्तव्य है, वह सत्य है, किन्तु अपूर्वविधिकर्तव्य नहीं है,

पक्षमें प्राप्त होनेसे नियमविधि ही है। जिस प्रकार फिर उपासनकी प्राप्ति है, क्योंकि यह कह चुके हैं कि पहिलेसे आत्मज्ञानकी स्मृतिसंतति नियमप्राप्त है, ठीक है, शरीरारम्भक प्रारब्ध कर्म अवश्य फलप्रद होता है, इसलिए सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर भी वाणी, मन और शरीरकी प्रवृत्ति अवश्यम्भाविनी है, क्योंकि छोड़े हुए बाणकी प्रवृत्तिकी तरह प्रवृत्ति कर्म आरब्ध हुआ करता है।

इसलिए पहले ज्ञानप्रवृत्तिकी दुर्बलता प्राप्त है। इस हेतुसे त्याग, वैराग्य आदि साधनोंके अवलम्बनसे आत्मविज्ञानस्मृतिसंतति करनी चाहिए, यह नियमविधि हो सकती है, अपूर्वविधि नहीं, क्योंकि प्राप्त है, यह कह चुके हैं, इसलिए 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इत्यादि वाक्य अन्य अर्थका असम्भव होनेसे प्राप्त विज्ञानस्मृतिसंततिकी नियमविधिके निमित्त है।

शङ्का—इतिशब्दके प्रयोगसे यह अनात्माकी उपासना है, जैसे 'प्रियमित्येतदुपासीत' इत्यादिमें। अर्थात् जैसे उक्त वाक्यमें प्रियादि गुणकी उपासना नहीं है, किन्तु प्रियादि गुणवाला प्राण उपास्य है, वैसे ही यहाँ भी इतिपरक आत्मशब्दका प्रयोग होनेसे आत्मगुणवाली अनात्मवस्तु उपास्य है, यह प्रतीत होता है और आत्मोपासनाके वाक्यसे यह विलक्षण भी है, क्योंकि आगे कहेंगे—'आत्मानमेव लोकमुपासीत' ( आत्मलोककी ही उपासना करे ) इस वाक्यमें 'आत्मानमेव' इस द्वितीयाके प्रयोगसे आत्मा ही उपास्यत्वेन अभिमत है। 'आत्मेत्येवोपासीत' इस वाक्यमें तो द्वितीया नहीं लगी जाती है और आत्मशब्दके आगे 'इति' शब्द है, इसलिए आत्मा उपास्य नहीं है, किन्तु आत्मगुणवाला कोई अन्य उपास्य है, यह प्रतीत होता है।

समाधान—नहीं, वाक्यशेषमें आत्मा उपास्य है, यह प्रतीत होता है, इसी वाक्यके शेषमें आत्मा ही उपास्यत्वेन प्रतीत होता है—'यह सब इस आत्माका पदनीय (प्राप्त करने योग्य) है' 'जो यह अन्तरतर आत्मा है' 'जिसको आत्माने आत्म ही जाना' इत्यादि। प्रतिषेध दर्शनका प्रतिषेध है, इसलिए वह उपास्य नहीं है अर्थात् जिस आत्माका निषेध किया गया है, क्योंकि दर्शनका 'तं न पश्यन्ति' इससे निषेध किया जाता है, क्योंकि प्रकृतका उपादान है, इसलिए आत्मा उपास्य नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अवधारण दोष है। दर्शनका निषेध अकृत्स्न होनेसे अभिप्रायसे है, आत्माकी उपासनाके निषेधके लिए नहीं है,

त्मानेन ह्येतत्सर्वं वेद । यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥ ७ ॥

---

क्योंकि प्राणनादिक्रियाविशिष्टत्वेन विशेषण दिया गया है। यदि आत्माकी उपासनामें अभिप्राय न होता, तो प्राणनादि एक-एक क्रियासे विशिष्ट आत्माका 'अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति' (यह एक-एकसे अपूर्ण होता है) यह अकृत्स्नत्वका प्रतिपादक वचन अनर्थक होता; इसलिये अनेक धर्मोंसे विशिष्ट आत्माके ज्ञेय होनेसे वह उपासना करनेके योग्य ही है, यह सिद्ध हुआ।

श्रुतिमें आत्मशब्दका जो इतिपरक प्रयोग किया गया है वह तो आत्म-तत्त्व वास्तवमें आत्मशब्द और आत्मप्रत्ययका अविषय है, यह सूचित करनेके लिये है; अन्यथा 'आत्मानमुपासीत' ऐसा ही कहते और इस प्रकारमें अर्थतः आत्मामें आत्मशब्द और आत्मप्रत्ययकी अनुज्ञा होती, जो अनिष्ट है; क्योंकि 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियाँ विद्यमान हैं। जो 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' यह वाक्यान्तर है, वह तो अनात्माकी उपासनाके प्रसङ्गकी निवृत्तिके लिये है।

अविशेष समान होनेसे आत्मा और अनात्मा दोनों ही ज्ञातव्य हैं, फिर 'आत्मेत्येवोपासीत' इस वाक्यसे आत्माके ही उपासनको क्यों कहा किया जाता है? दूसरेके उपासनको क्यों नहीं किया गया? इसपर कहा जाता है—यह यह प्रकृत आत्मा पदनीय—गमनीय (प्राप्त करने योग्य)—है, अन्य नहीं।

'अस्य सर्वस्य' यह निर्धारणार्थक षष्ठी है, इससे 'इस सबमें' ऐसा अर्थ हुआ जो यह आत्मा अर्थात् जो यह आत्मतत्त्व, यह अर्थ है। क्या इससे (आत्मतत्त्वसे) अन्य ज्ञातव्य ही नहीं है? नहीं, ज्ञातव्य तो है। किन्तु उसके ज्ञातव्य होनेपर भी आत्मज्ञानसे भिन्न ज्ञानान्तरकी उसके जाननेके लिये अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ज्ञात हुए इस आत्मासे अनात्मवस्तुको—अन्य सब अनात्म-पदार्थोंको—जान लेता है। अन्यके जाननेसे अन्यका ज्ञान नहीं होता, इस प्रश्नका परिहार दुन्दुभ्यादि ग्रन्थसे करेंगे। किस प्रकार फिर यह आत्मा पदनीय है? कहा जाता है—जैसे लोकमें खोये हुए गऊ आदि पशुको पानेकी इच्छावाला पदसे (गऊ आदिके खुरसे चिह्नित देशको 'पद' कहते हैं, उस पदसे) अन्वेषण करता हुआ पा लेता है, वैसे ही आत्माका लाभ होनेपर सबका लाभ होता है, यह अर्थ है। आत्माके ज्ञात होने-पर अन्य सबका ज्ञान हो जाता है, इस प्रकारसे ज्ञान-प्रकरणमें 'अनुविन्द

तमेवं धीरविज्ञायासीदृष्ट्यात्वामिवम्‌ ।
इत्येवमस्मिन्न्यायोक्तयात्मे यथार्थत्वात्प्रतीयते ॥ १११ ॥

( विज्ञान प्रकरण नहीं ) ऐसा क्यों कहा जाता है ? यदि ऐसा कहो तो, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँपर ज्ञान और कर्म—इन दोनोंका एक ही अर्थ विवक्षित है, क्योंकि ध्यान ही ध्यानका प्रकरण है। इस परिस्थितिमें ज्ञान ही ध्यानात्मक कर्म हुआ और वह ध्यानसमयमें तथा असमाप्तमात्रिक नहीं है, क्योंकि यहाँपर ध्याना और ज्ञानमें भेद नहीं है।

जहाँ आत्माको अनात्मा ज्ञान होता है, वहाँ अनात्मा आत्मा और अनात्मा ज्ञात होता है और वह अनात्माको अप्राप्त तथा उत्पाद्यादि क्रियाके अपेक्षित होनेके कारण कारकविशेषके उपादानसे क्रियाविशेषको उत्पन्न करके प्राप्त किया जाता है। वह तो स्वरूपसे पुरुषादिके ज्ञानकी तरह असमाप्तमात्रिक तथा अनित्य है, क्योंकि मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुए कर्म और क्रियासे वह उत्पन्न होता है। यह आत्मा तो उससे विपरीत है। आत्मा होनेसे ही उत्पाद्यादि क्रियासे अपेक्षित नहीं है। यद्यपि यह नित्य ज्ञानस्वरूप है, तथापि उसमें अविद्यामात्र व्यवधान है। जैसे शुक्तिके शुक्तिमात्र होनेपर भी विपरीत रजतज्ञानसे जो रजत उत्पन्न होता है, उसमें विपरीतज्ञान ही व्यवधान है, इसलिये उसका ज्ञानमात्र ही साधन है, क्योंकि ज्ञान विपरीतज्ञानरूप व्यवधानका नाश कर देता है। इसी प्रकार यहाँ भी आत्माके ज्ञानमें अविद्यामात्र व्यवधान है, इसलिये विद्यासे उसकी निवृत्ति ही काम है, अन्य कर्म कदापि कुछ नहीं है।

अतः आत्मज्ञानमें ज्ञानसे भिन्न साधनकी अपेक्षा नहीं है। इससे निश्चय होकर ज्ञान और उसकी एकार्थताकी सिद्धिसे ज्ञानके प्रकरणमें 'अनुविद्य' पद कहा गया है, क्योंकि 'विदि' धातुका अर्थ ज्ञान है। इस श्रुतिके विज्ञानका फल कहते हैं—जिस प्रकार वह आत्मा आत्मज्ञानसे प्रवेश करनेसे आत्मा इत्यादि नामरूपोंसे व्यक्तिको प्राप्त हुआ और मनुष्यादि शरीरस्थ श्लोकको प्राप्त हुआ, उस प्रकार जो जानता है वह मुमुक्षुओंसे अपेक्षित कीर्ति ( एकत्वरूप ज्ञान ) तथा श्लोक ( स्तुति ) को प्राप्त होता है, यह श्रुति ही कहती है ॥ ७ ॥

'तदेतत्' इत्यादि। 'तदेतत्' इस श्रुतिसे यह सब अनित्य कहा — — कहा गया है, अतः इसी प्रकार वाक्यमें कथित पदके क्योंकि अर्थ कहे

एकस्य जगतोऽवस्थे व्याकृताव्याकृतात्मिके ।
अवस्थयोर्विभेदेऽपि तद्वस्तु नहि भिद्यते ॥ १६८ ॥
बाल्ययौवनभेदेऽपि देवदत्तो न भिद्यते ।
ततो तदिदमेवेति सामानाधिकरण्यधीः ॥ १६९ ॥
नामरूपाभिव्यक्तौ शब्दमात्रं तत्र लभ्यते ।
तर्हीत्येतेन शब्देन, स कालो लोकसम्मतः ॥ १७० ॥
यद्यप्यव्याकृते कालव्याप्तिर्नास्ति तथाऽप्यमी ।
लोका भूतकालव्यवहारं प्रकुर्वते ॥ १७१ ॥
जगतोऽनभिव्यक्तिरव्याकृतगिरोच्यते ।
न जगत्प्रागवस्थायां व्यक्तं पर्यस्य घटवत् ॥ १७२ ॥
आसीदिति च तच्छब्दमभिव्यक्त्योरितम् ।
तथा च नामरूपाभ्यामव्याकृतमभूदिति ॥ १७३ ॥

---

सामानाधिकरण्य ( एक विभक्ति ) युक्त कहा है । इसलिए कार्य (व्याकृत) और कारण (अव्याकृत)—इन दोनोंकी एकता सिद्ध होती है ॥ १६७ ॥

'एकस्य' इत्यादि । व्याकृत और अव्याकृत—ये दोनों अवस्थाएँ एक ही जगत्की हैं । यद्यपि इन अवस्थाओंमें भेद है, तथापि उनका धर्मी जगत् भिन्न नहीं होता ॥ १६८ ॥

'बाल्य०' इत्यादि । [ क्योंकि ] बाल्य और यौवनका भेद होनेपर भी देवदत्तका भेद नहीं हुआ करता । इसलिए 'तद् और इदम्'—इन दो समानार्थक पदोंसे व्याकृत और अव्याकृत जगत्का सामानाधिकरण्य ( अभेद ) ज्ञात हो सकता है ॥ १६९ ॥

'नाम०' इत्यादि । श्रुतिमें जब 'तर्हि' इस शब्द द्वारा नाम-रूपकी अभिव्यक्तिसे पूर्व काल कहा जाता है, वह काल लोगों द्वारा स्वीकृत है ॥ १७० ॥

'यद्यप्य०' इत्यादि । यद्यपि अव्याकृतमें कालकी व्याप्ति नहीं है, तथापि लोग उसके लिए भूतकालका व्यवहार करते हैं ॥ १७१ ॥

'जगतो०' इत्यादि । श्रुतिमें 'अव्याकृत' शब्दसे जगत्की अनभिव्यक्ति ( प्रकट न होना ) कही जाती है, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्व कालमें घटकी तरह जगत् व्यक्त ( प्रकट ) नहीं था ॥ १७२ ॥

'आसीदिति' इत्यादि । श्रुतिमें 'आसीत्' इस शब्दसे अभिव्यक्तिका सद्-

अध्यासरूपं च वस्त्वेकमवस्थास्याऽस्य वर्णिताः ।
तदात्मा जय यत्स्वार्थो न्यायेनैव निरूप्यते ॥ १७४ ॥
तत्त्वमध्यासमस्त्येव यत्स्वार्थस्तस्य च त्वया ।
प्रमेयत्वं स्वप्रकाशत्वमित्याकारावुभौ मतौ ॥ १७५ ॥
आस्तां स्वप्रकाशताऽऽकारा प्रमेयत्वं निरूप्यताम् ।
अज्ञात आत्मा वेद्यमेवाज्ञानस्यानिरूपणात् ॥ १७६ ॥
ज्ञानाभावो किमज्ञानं किंवाऽनिर्वाच्यरूपकम् ।
आद्ये त्वपसिद्धान्तो द्वितीये तु न सम्भवः ॥ १७७ ॥
अनिर्वाच्यं किमज्ञानं मीयतेऽथ न मीयते ।
आद्ये मानानिवर्त्यं स्यादन्त्येऽस्य स्यादसिद्धिता ॥ १७८ ॥
अप्रमेयं तदज्ञानं भासते वा न भासते ।
भानं च किं स्वतो भिन्नमस्यैवान्यतोऽथवा ॥ १७९ ॥

---

तत्त्वका कथन है, इस परिस्थितिमें यत्स्वार्थ होनेके कारण अनाप्तकी अभिव्यक्ति हो सकती है ॥ १७३ ॥

'अध्यासरूपम्' इत्यादि । इस प्रकार अध्यासरूप वस्तुका प्रकरण देकर उसके पदार्थोंका वर्णन कर दिया । अब न्यायसे वाक्यार्थका निरूपण करते हैं ॥१७४॥

'तत्त्व०' इत्यादि । इस जीव वाक्यका अर्थ अध्यासरूप वस्तु है । तुमने उसके प्रमेयत्व और स्वप्रकाशत्व—ये दो आकार माने हैं ॥ १७५ ॥

'आस्ताम्' इत्यादि । भले ही अध्यासका स्वप्रकाश आकार रहे । परन्तु उसके प्रमेयत्व आकारका निरूपण करो । यदि तुम कहो कि अज्ञात आत्मा प्रमेय है, तो यह समीचीन नहीं है, क्योंकि अज्ञानका निरूपण ही नहीं हो सकता ॥ १७६ ॥

'ज्ञानाभावो' इत्यादि । [ क्योंकि प्रश्न होगा कि ] क्या ज्ञानाभाव अज्ञान है ? अथवा अनिर्वचनीयरूप अज्ञान है ? प्रथम पक्षमें तुम्हें अपसिद्धान्त है और द्वितीय पक्ष तो सम्भव ही नहीं है ॥ १७७ ॥

'अनिर्वाच्यम्' इत्यादि । क्या अनिर्वचनीय अज्ञान प्रमाणसे जाना जाता है अथवा नहीं ? प्रमाणसे अज्ञान जाना जाता है, इस प्रथम पक्षमें प्रमाणसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती । और प्रमाणसे नहीं जाना जाता, इस दूसरे पक्षमें अज्ञानकी सिद्धि ही नहीं हो सकती ॥ १७८ ॥

'अप्रमेयम्' इत्यादि । किसी भी प्रमाणसे प्रमित न हुआ वह अज्ञान भासता

जडस्य न स्वतो ज्ञानमात्मनास्याऽन्येन ज्ञातवेत् ।
ज्ञानान्तरेऽस्य [illegible] विन्यते ॥ १५० ॥
निर्गुणोऽसम्बन्धस्य अनन्याङ्गमनात्मकम् ।
[illegible] सर्वं च ॥ १५१ ॥
स्वतोऽन्यनुभव [illegible] सदा ।
[illegible] ॥ १५२ ॥
नान्योऽज्ञानेन मानं [illegible] तु न सिध्यति ।
[illegible] ॥ १५३ ॥
[illegible] ॥ १५४ ॥
[illegible] ॥
[illegible] ॥ १५५ ॥

है या नहीं । [illegible] है अथवा [illegible] ? ॥ १४९ ॥

'जडस्य' इत्यादि । [illegible] है, [illegible] नहीं सकता और [illegible] नहीं कर सकता, क्योंकि [illegible] होगी ॥ १५० ॥

'निर्गुणा०' इत्यादि । [ क्योंकि ] सब सम्बन्धोंसे रहित [illegible] ही आत्मा है, वह [illegible] है ॥ १५१ ॥

'स्वतो०' इत्यादि । [illegible] है, इसलिए सदा ही [illegible] ( [illegible] रहित ) है । [illegible] नहीं सकता ॥ १५२ ॥

'नान्यो' इत्यादि । इसलिए [illegible] नहीं सकता, [illegible] सिद्धि नहीं हो सकती और [illegible] भी है, इसलिए [illegible] नहीं करनी चाहिए ॥१५३॥

'अपि०' इत्यादि । [illegible] नहीं होता है, न कभी [illegible] होता है, न [illegible] होता है और न [illegible] ही है, अतः [illegible] होगा ? ॥ १५४ ॥

'[illegible]' इत्यादि । [illegible] कहा जाता है—[illegible]

अविचारितसंसिद्धिमविद्यां ब्रूम आत्मनि ।
स्वभावव्यतिरेकाभ्यां भ्रान्तसिद्धेरसम्भवात् ॥ १५६ ॥
न विद्यात्मस्वभावा स्यादविद्या जाड्यरूपता ।
नाऽपि चाऽऽत्मव्यतिरेकेण सत्ता सिद्ध्यति जाड्यतः ॥ १५७ ॥
न द्वितीयो यतः स्वात्मन्यविद्यैवाऽनुभूयते ।
स्वानुभूतिर्न वेद्मीति यथा प्राक्तत्त्वबोधतः ॥ १५८ ॥
निवृत्ताशेषसम्बन्धमित्यादि यदुदीरितम् ।
तथैवाभ्युपैम्यत्र नाज्ञत्वे विवदामहे ॥ १५९ ॥
निरंशोऽप्यसङ्गोऽप्यज्ञातः स्यात्तमसात्मता ।
तमोदृष्ट्यपेक्ष्यैव न तु वास्तवरूपता ॥ १६० ॥

---

विचारासहत्व ( विचारसे सिद्धिका न होना ) कहते हो या अपने अनुभवका कथन करते हो? प्रथम पक्ष तो मेरा सिद्धान्त ही है ॥ १५५ ॥

'अविचारित०' इत्यादि। क्योंकि हम आत्मामें अविद्याको अविचारसिद्ध ( विचार न करनेसे सिद्ध ) मानते हैं, कारण कि स्वभाव और व्यतिरेकसे आत्मामें अविद्याकी सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ १५६ ॥

'न विद्या०' इत्यादि। अविद्या जड़रूप है, इसलिए वह विद्यात्मा स्वभाव नहीं हो सकती। आत्माके बिना उसकी सत्तासिद्धि भी नहीं हो सकती, क्योंकि वह जड़ है ॥ १५७ ॥

'न द्वितीयो' इत्यादि। द्वितीय पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मामें इस अविद्याका अनुभव होता है, कारण कि तत्त्वज्ञानसे पहले 'मैं आत्माको नहीं जानता' ऐसा अनुभव देखा गया है ॥ १५८ ॥

'निवृत्ता०' इत्यादि। आत्मामें निःशेष भी सम्बन्ध नहीं है, यह जो तुमने कहा उसको मैं वैसा ही स्वीकार करता हूँ, क्योंकि आत्माकी अज्ञतामें हमें विवाद नहीं है ॥ १५९ ॥

'निरंशो०' इत्यादि। निरंश तथा असङ्ग होता हुआ भी यह आत्मा अज्ञानसे ही अज्ञात है। अज्ञानकी दृष्टिकी अपेक्षासे उसको अज्ञात कहते हैं, वस्तुतः अज्ञात नहीं है, क्योंकि वह अज्ञानका साधक है ॥ १६० ॥

वाच्यवस्तुनि मर्यादा न तादृक् स्यादमस्यसौ ।
दृश्यते स्वस्तिकेनो निद्रामेन तथास्थिता ॥ १५१ ॥
वस्तुमर्यादया स्यात्सा निरविधोऽपि सन्तसौ ।
तमोऽवधिस्तथा कस्मात्साविधो न भविष्यति ॥ १५२ ॥
मर्यादयोर्यदि व्याप्तं नियामकमिहेच्छसि ।
प्रत्यक्षठिन्यपोस्त्वर्हि नीरसौ क्षुद्रीर्यताम् ॥ १५३ ॥
तादृक्स्वभावभेदमेवमेतस्मोऽस्मी प्रकमाययो ।
स्वभावप्रमापत्ति समानैवाऽऽत्मयोर्द्वयोः ॥ १५४ ॥
वस्तुभूत्वा समायान्यथवयोरपि तत्समम् ।
सर्वं च युक्तिहीनत्वं यदिहं च न लभ्यते ॥ १५५ ॥
वस्तुस्वभावात्प्रभवाद्वस्त्वपोपपादते ।
यन्मतं युक्तियुक्तं तदावधारणम् तादृशा ॥ १५६ ॥

'वाच्यवस्तुनि' इत्यादि । वस्तुमें जैसी मर्यादा दृष्ट होती है, वैसी उसमें ( स्वभावमें ) मर्यादा नहीं है । लोग दृष्ट समस्त पुरुष स्वस्ता सिर व्या दूजा देखता है और प्रायः पुरुष कभी नहीं देखता है ॥ १५१ ॥

'वस्तुमर्यादया' इत्यादि । वस्तुमर्यादासे निरविध होता हुआ भी वह स्वभाव तमोमर्यादासे सावधि क्यों नहीं हो सकता है ? ॥ १५२ ॥

'मर्यादयो०' इत्यादि । यदि इन दोनों मर्यादाओंका तुम नियामक व्याप्त चाहते हो, तो जलमें द्रवत्व और पाषाणमें कठिनत्वकी मर्यादाका नियामक बतलाओ ॥ १५३ ॥

'तादृक्०' इत्यादि । यदि कहो कि द्रवित्व और पाषाणके स्वभावका भेद ही उस मर्यादाका नियामक है, तो तम और आत्मामें भी वह समाधान समान है । यदि कहो कि उनमें स्वभावप्रमाणकी आपत्ति होगी, तो वह आत्मामें स्वभावप्रमाणकी आपत्ति उनमें भी तुल्य है, इसलिए वह दोष दोनोंके लिए समान है ॥ १५४ ॥

'वस्तुभूत्वा०' इत्यादि । मर्यादाओंका वस्तुत्व होता है, वह समाधान भी इन दोनोंमें तुल्य है । इसलिए युक्ति-हीनताकी बात नहीं हो सकती है ॥ १५५ ॥

'वस्तुस्वभावा०' इत्यादि । वस्तुके स्वभाव और वस्तुस्वभाव अनुरोध करके

तर्हि स्वमार्गस्थोऽयं दृष्टो निर्मितिमिष्यते ।
धर्माधर्मस्वभावस्य ज्ञानमादिति मिति यो ॥ १६७ ॥
स्वसातो लौकिके वाक्येऽपि तथा यदि ।
वाक्यक्रियाऽभ्युपेता स्यात्ताऽसौ दुष्यस्तथा सति ॥ १६८ ॥
प्रत्यक्षो निर्विकल्पस्वभावस्त्वनुभूयते ।
ज्ञानस्वरूपो ज्ञानादि विकल्पं निर्विषयताम् ॥ १६९ ॥
अविद्यायाः स्वभावम् प्रकाशस्वरूपतया ।
अनुभूयत एवेह मानवैरखिलैर्मनैः ॥ १७० ॥
अत एव न भेदस्य अविद्याया विद्यात्मनि ।
अविरोधस्वरूपविज्ञाने तथा स्थिता तथा ॥ १७१ ॥
इत्यमारभ्या स्वतोऽप्रज्ञोऽप्यविद्यातोऽनुसृता ।
सिद्धोऽस्याऽभेदस्य तस्मादेवमनुसृतिः परीक्ष्यते ॥ १७२ ॥

---

जिस प्रकार उपसंहार किया जाये, वह दुष्टियुक्त ही होता है । यह प्रकरण वैसा ही है ॥ १६२ ॥

'तर्हि' इत्यादि । उन स्वमार्गस्थ विषय मार्गोंमें क्यों किया ? स्वमत-वादियोंने धर्माधर्मके स्वभावका अवगम किया है, इसलिए मार्गोंमें स्वभावमात्रका निषेध किया ॥ १६७ ॥

'स्वसातो' इत्यादि । मार्गकाने जैसे लौकिक स्वभावका स्वीकार किया है, वैसे ही वैदिक स्वभावका भी यदि स्वीकार किया होता, तो मायाम उसको दूषित न करते ॥ १६८ ॥

'प्रत्यक्षो' इत्यादि । प्रत्यक्ष निर्विकल्प स्वभाव अनुभवसिद्ध है, क्योंकि ज्ञानवादी इन तीनों प्रकारोंसे ज्ञानको निर्विषय मानता है ॥ १६९ ॥

'अविद्यायाः' इत्यादि । और अविद्याका स्वभाव प्रकाश आवरण करना है, इसका भी सब ज्ञानियोंको अनुभव है ॥ १७० ॥

'अत एव' इत्यादि । इसीलिए विद्यात्मामें अविद्याकी भिन्नता नहीं है । तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिसे ज्ञानस्वरूप-ज्ञानका कभी विरोधन नहीं होता है ॥ १७१ ॥

'इत्यमारभ्या' इत्यादि । इस प्रकार स्वतः अप्रज्ञ होता हुआ भी आत्मा

११५

ननु केयमनुभूतिः स्यादात्माऽविद्यायाः प्रसाधिका ।
किं मानजन्या धीवृत्तिश्चिदात्मा वाऽथ केवला ॥ १७३ ॥
नाऽऽद्यो नाशादभिव्यक्तेः प्राग्धीवृत्तेरसम्भवात् ।
ऊर्ध्वं च मानतो नाशान्न मानेन प्रमीयते ॥ १७४ ॥
किञ्च मानप्रमात्राद्ये कथं मानं प्रवर्तते ।
अज्ञातैकदेशत्वादविद्यायाः कुतो मितिः ॥ १७५ ॥
अज्ञातत्वमविद्यात्वं प्रमात्वाविभिन्नं विदुः ।
प्रमात्वाद्यसम्बद्धं प्रमाणेनेति साहसम् ॥ १७६ ॥
प्रमात्रादिविशेषेण यदज्ञातत्वमुच्यते ।
तस्य मानाभिसम्बन्धो न कालेनाऽपि कल्प्यते ॥ १७७ ॥

---

अज्ञानसिद्धिमें अनुभव प्रमाण है, यह अर्थ सिद्ध हो गया। इस अर्थकी दृढ़ताके लिए अनुभवकी परीक्षा की जाती है ॥ १७२ ॥

'ननु' इत्यादि। यह कौन-सा अनुभव है? जो अविद्याको सिद्ध करने-वाला है। क्या प्रमाणजन्य वृत्तिरूप है अथवा चिदात्मा है? अथवा कोई और ही है ॥ १७३ ॥

'नाऽऽद्यो' इत्यादि। प्रथम पक्ष तो कह नहीं सकते, क्योंकि मान-रूपकी अभिव्यक्तिसे पहले वृत्तिरूपकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। मानरूपकी अभि-व्यक्तिके अनन्तर प्रमाणसे ही अज्ञानका नाश होता है, अतः प्रमाणसे अज्ञानका ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १७४ ॥

'किञ्च' इत्यादि। किञ्च, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—इनका उपादान कारण जो अज्ञान है, उसमें प्रमाण कैसे प्रवृत्त हो सकता है। अविद्या तो अज्ञातत्वका एक देश है उसका प्रमाणसे ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि अज्ञातत्वकालमें प्रमाण उत्पन्न ही नहीं हुआ था ॥ १७५ ॥

'अज्ञातत्व॰' इत्यादि। अज्ञातत्व उसको कहते हैं जो अज्ञात होकर—प्रमात्वसे भिन्न न होवे, अतः प्रमाणसे असम्बद्ध अज्ञानका प्रमाणसे ज्ञान होता है, यह कहना साहस है ॥ १७६ ॥

'प्रमात्रादि॰' इत्यादि। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—इनके मिलनसे ही तो यह अज्ञातत्व कहा जाता है। उस अज्ञातत्वमें प्रमाणके सम्बन्धकी वार्ता कल्पनामें भी नहीं हो सकती ॥ १७७ ॥

परोक्षमित्यनेनाऽपि वाक्येनाऽस्याक्षयं नहि ।
प्रमीयते, किन्तु तत्त्वबोधायैवानुभूयते ॥ १७८ ॥
न द्वितीयश्चिदात्माऽयमविकारी न साधयेत् ।
न तृतीयो बुद्धिचिद्भ्यां यतो नाऽन्योऽनुभवो भवेत् ॥ १७९ ॥
अथोच्यते चिदात्माऽप्यविकार्यपि भासयेत् ।
न विक्रियन्ते सूर्याद्या वस्तोऽस्याऽवभासने ॥ १८० ॥
स्वरूपसत्तामात्रेण योऽन्यस्योपकरोत्यसौ ।
न विक्रियेत एवाऽत्र प्रसवाद्युपयोगता ॥ १८१ ॥
यथा प्रभाप्रभाभासरूपादीनामपेक्षता ।
स्वायत्तिन्यप्रमाणात्स्यात्प्रसिद्धिस्तमसस्तथा ॥ १८२ ॥

---

'परोक्षम्' इत्यादि । 'परोक्षम्' इस शीतलात्मरूप प्रमाणसे भी अस्याविच्छिन्न ज्ञान नहीं होता, क्योंकि 'परोक्षम्' यह वाक्य आत्मामें प्रमाण नहीं है, किन्तु तत्त्वबोधके लिए अधिकारीके अनुभवसिद्ध आत्माका अनुवाद करता है ॥ १७८ ॥

'न द्वितीय०' इत्यादि । द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि वह चिदात्मा अविकारी ( अचल ) है, इसलिए आत्माको सिद्ध नहीं कर सकता । तृतीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि बुद्धिवृत्ति और चिदात्मा—इन दोनोंको छोड़कर तृतीय कोई अनुभव ही नहीं है ॥ १७९ ॥

'अथोच्यते' इत्यादि । यदि कहा जाय है—कि चिदात्मा अविकारी होता हुआ भी आत्माका प्रकाश कर सकता है, क्योंकि घट वस्तुका प्रकाश करनेमें सूर्य, चन्द्र आदिमें कोई विकार ( परिणाम ) नहीं होता है ॥ १८० ॥

'स्वरूपसत्ता०' इत्यादि । स्वरूपसत्तामात्रसे जो अन्यका उपकार करता है, उसमें विकार नहीं हो जाता है, क्योंकि उसमें उसका उपयोग नहीं है, [ इसी अर्थमें चन्द्र और सूर्यका दृष्टान्त है ] ॥ १८१ ॥

'यथा' इत्यादि । जैसे प्रभा, प्रभाभास और रूप आदिकी सिद्धि पूर्व रीतिसे स्वार्थ ( स्वरूप ) अनन्य ( अपने अधीन ) प्रमाण ( स्वतःसिद्ध ) सत्तासे होती है, वैसे ही आत्माकी भी सिद्धि सत्तासे होती है ॥ १८२ ॥

न मानानि स्वतो मान्ति भवत्वान्न परस्वतः
मानस्यन्ति एकमकमनित्वाद्धि न्स्वतोऽन्यतः।
संदेहमिथ्याज्ञानाख्यौ प्रमाणाभासौ न मानतः।
भातो मानविरुद्धत्वात्ततोऽन्यद्भासकं तयोः।
धीद्वयविरुद्धा रागाद्या प्रतीयन्ते न मानतः।
द्विविधस्य क्रमवद्भावनाद्धि न्स्वतोऽन्यतः।
तथाऽन्यत्स्वार्थमिव स्यात्तौ चेन्नैवत्वमापतेत्
मेयत्वे चाऽनवस्था स्यात्तत् स्वार्थमनन्यवत् ।
तमसो मानमेयत्वं दृष्टं दृष्टपरिक्रिया ।
भाति चैकपदस्थं तस्मात्साक्षिनैव विभाति तत् ।
तस्मात्स्वस्मानमाश्रित्य स्वतः सिद्धमनन्यगम् ।
मानामानात्मकं विश्वं सर्वमेतत्प्रसिध्यति ।

'न मानानि' इत्यादि । प्रमाण स्वतःप्रकाश नहीं है, हैं, भिन्न-भिन्न क्षणमें रहनेवाले हैं, इसलिए उनका परस्परसे होता है, किन्तु अन्यसे ही प्रकाश होता है, वह अन्य साक्षी है

'सन्देहमिथ्या०' इत्यादि । सन्देह और मिथ्याज्ञान भी प्रमाणसे नहीं प्रतीत होते हैं, क्योंकि प्रमाणसे उनका [illegible] इसलिए उन दोनोंका भासक भी अन्य ही है, वह अन्य साक्षी है

'धीद्वयविरुद्धा' इत्यादि । बुद्धिद्वयविरुद्ध रागादि भी प्रमाण होते हैं, क्योंकि दो वृत्तियाँ एक क्षणमें नहीं हो सकतीं, भी अन्यसे भासते हैं, वह अन्य साक्षी है ॥ १८५ ॥

'तथाऽन्यत्' इत्यादि । वह अन्य स्वतन्त्र ही है। यदि स्वतः वह भी प्रमेय होता । तथा उसके प्रमेय होनेसे अनवस्था हो वह अनन्यग ( अन्य प्रमाणका अविषय ) साक्षी स्वतन्त्र है ॥ १८

'तमसो' इत्यादि । अज्ञान प्रमाणोंका प्रमेय है, इसमें पू कर दिया है, प्रमेय न होते हुए भी अज्ञान प्रतीत होता है, ही उसका भान होता है ॥ १८७ ॥

'तस्मात्' इत्यादि । इसलिए साक्षात्मक स्वतःसिद्ध होकर वह मानामानरूप समस्त विश्व प्रसिद्ध होता है ॥ १८८ ॥

विदुषोऽविदुषश्चापि सुषुप्त्याज्ञस्यात्मनि ।
अस्त्वज्ञत्वात्मे परामर्शादिति चेत्, नैतदिष्यते ॥ १९५ ॥
न सुषुप्तमोहस्य नाऽज्ञासिषमिति स्मृतिः ।
अनतीतस्वभावत्वेन मोहेऽस्मिन्स्मृत्यसम्भवात् ॥ १९६ ॥
न भूतकालसम्बन्धः प्रत्यक् च नाऽज्ञासिषमितीष्यते ।
अन्यथा वर्तमानेऽस्मिन्काले प्रत्यक् न सम्भवेत् ॥ १९७ ॥
अतोऽपि प्रत्यगविज्ञानाभासत्वं' समीक्ष्यते ।
नाऽनुमानागमा सन्ति मिथ्याज्ञानमतो भवेत् ॥ १९८ ॥

---

अज्ञानकी सीपकी तरह भले ही अज्ञानकी कल्पना करे, परन्तु विद्वान्‌की दृष्टि उससे क्या होगा ? ॥ १९४ ॥

'विदुषो०' इत्यादि । सुषुप्तिसे व्युत्थान होनेपर 'न किञ्चिदवेदिषम्' (मुझे कुछ ज्ञान नहीं था) यह परामर्श विद्वान् और अविद्वान् दोनोंको होता है, इसलिए सुषुप्ति अवस्थामें आत्मामें अज्ञानकी सिद्धि होती है यह यदि कहो, तो यह कथन समीचीन नहीं है ॥ १९५ ॥

'न सुषुप्त०' इत्यादि । 'न किञ्चिदवेदिषम्' यह स्मृति सुषुप्तिकालके अज्ञानकी नहीं है, क्योंकि आत्मा सदा विद्यमान है, उसमें अज्ञान अतीत है नहीं, इसलिए आत्मा अतीत नहीं है और आत्मामें अध्यस्त अज्ञान भी अतीत नहीं है, इसलिए उसकी स्मृति सम्भव नहीं है, क्योंकि स्मृति अतीतकी हुआ करती है ॥ १९६ ॥

'न भूतकाल०' इत्यादि । आत्मामें न भूत कालका सम्बन्ध है और न भविष्यत्कालका । यदि इनका सम्बन्ध होता, तो वर्तमान कालमें प्रत्यगात्माकी प्रतीति न होती ॥१९७॥

'अतोऽपि' इत्यादि । प्रत्यगात्मासे अतीत पदार्थोंकी प्रतीति कहीं भी नहीं हुआ करती है । अतीतके साथ हेतुका सामानाधिकरण्य न होनेसे अतीतमें अनुमानादि भी प्रवृत्त नहीं हो सकते, इसलिए 'नावेदिषम्' यह ज्ञान मिथ्या (भ्रान्तिमात्र) है । पाञ्चरात्रिकोंने कहा है 'प्रमाणानुपपत्तौ प्रत्ययस्तु विपर्ययः।' जिसका केवल ज्ञानसे भान हो और वह ज्ञानका जो विषय न हो वह ज्ञान मिथ्या कहा है ॥ १९८ ॥

---

ऐसा पाठ प्रतीत होता है ।

तस्मात् त्रिष्ववस्थासु तत्साक्ष्यभवदीक्षिता ।
अभिन्नस्वप्रकाशं स्वस्वात्मानं सदेक्षते ॥ १९९ ॥
यथा जलभिदां प्रत्यक्ष्ययोऽप्यपि नेक्ष्यते ।
एवं देहविभेदोऽपि न प्रतीत्युपपद्यते ॥ २०० ॥
देहस्वरूपता सर्वे देहाद्याः परतन्त्रता ।
स्वतन्त्रं प्रत्यगात्मानं देहत्वेन समाश्रिताः ॥ २०१ ॥
यत्स्वरूपं स्वभावस्तु न तस्यापि विवर्तते ।
नाज्ञातरज्जुता सर्पो रज्जुरूपस्य वर्तते ॥ २०२ ॥
तस्मात्सामान्यशरीरेषु अन्योन्यव्यभिचारिषु ।
प्रत्यक्चैतन्यमेवैकं सर्वत्राऽव्यभिचारवत् ॥ २०३ ॥
सर्वधीविक्रियासाक्षित्वेन सिद्धे स्वतो ध्रुवौ ।
सर्वे देहादयस्ते प्रत्युक्ते बाधिताः श्रुतियुक्तिभिः ॥ २०४ ॥

---

'तस्मात्' इत्यादि । इसलिए जाग्रत्-आदि तीनों अवस्थाओंमें उनका साक्षी अभिन्न स्वयंप्रकाश स्वरूपभूत आत्माको सदा देखता है ॥ १९९ ॥

'यथा' इत्यादि । जैसे मरुस्थलमें जलभेदको कदापि भी नहीं देखता है, वैसे ही प्रत्यक् आत्मामें देह-भेद भी अनुभव नहीं हो सकता ॥ २०० ॥

'देहस्वरूपता' इत्यादि । देहभावसे युक्त परतन्त्र देह आदि सब पदार्थ स्वतन्त्र प्रत्यक्स्वरूप आत्माकी देहरूप आश्रयण करके स्थित हैं । अर्थात् आत्मामें देहादि उपाधियोंसे देहपरिच्छेद, कालपरिच्छेद तथा वस्तुपरिच्छेद प्रतीत होते हैं ॥ २०१ ॥

'यत्स्वरूपम्' इत्यादि । जो वस्तु जिस तत्त्वमें रहा करती है, वह वस्तु उस तत्त्वका उल्लंघन ( त्याग ) कभी नहीं करती, क्योंकि अज्ञात रज्जुमें कल्पित होनेवाला सर्प रज्जुरूप त्यागकर कल्पित नहीं रहता ॥ २०२ ॥

'तस्मात्' इत्यादि । इसलिए परस्पर-व्यभिचारी अनेक शरीरोंमें सर्वत्र अव्यभिचारी प्रत्यक् चैतन्य एक ही है ॥ २०३ ॥

'सर्वधी०' इत्यादि । इस प्रकार बुद्धिके सब विकारोंके साक्षी स्वयंप्रकाश आत्माके सिद्ध होनेपर जो लोग अहङ्कारके सहित चैतन्यको अनित्य कहते हैं, उनका मत श्रुति युक्तिसे विरुद्ध होनेसे त्याज्य है ॥ २०४ ॥

न चापेक्षा इत्यादि विज्ञानघन इत्यपि ।
इत्यादिश्रुतिविरोधित्वात्कार्यं कस्मादुपेक्ष्यते ॥ २०५ ॥
प्रमाणाद्युत्थितेः पूर्वं कारकं दुर्लभं चितः ।
कारकव्यापृतिस्तत्र निपुणेनापि नेक्ष्यते ॥ २०६ ॥
स्वगताऽप्यस्त्युपेक्ष्यमेवैतत् स्याद्व्युत्थिता ।
तस्मात्स्वात्ममाना विज्ञायमानेव लक्ष्यते ॥ २०७ ॥
प्रमेये च क्रियायां च प्रमाणे च प्रमातरि ।
सम्बन्धाद्युपाधित्वात्स्वात्मनामेव विस्फुरेत् ॥ २०८ ॥
तद्विनाशेऽपि साक्षित्वाद्विनश्यन्तीव लक्ष्यते ।
यतोऽस्याः कार्यतां तस्या नेश्वरोऽपि प्रसाधयेत् ॥ २०९ ॥
कार्यत्वे मानमात्रोऽस्याः स्वरूपा स न युज्यते ।
सर्वेषामात्मसाक्षित्वात्स्वात्मसाक्षी न संविदः ॥ २१० ॥

'न चापेक्षा' इत्यादि । 'न चापेक्षा' इत्यादि और 'विज्ञानघन' इत्यादि इन श्रुतियोंसे विरोध करनेवाले कार्योंकी क्यों उपेक्षा की जाती है ? ॥ २०५ ॥

'प्रमाणा०' इत्यादि । युक्ति भी बताते हैं—प्रमाणादिकोंकी उत्पत्तिसे पहले चैतन्य चित्में कर्ता आदि कारक दुर्लभ है । उसमें कोई भी बुद्धिमान् कारक व्यापारको नहीं देख सकता है ॥ २०६ ॥

'स्वगता' इत्यादि । प्रश्न उत्पन्न होता है, यह व्यवहार यद्यपि विषयोंकी उत्पत्तिसे औपचारिक है, पर व्यवहारको अपने अनुभवके अनुसार स्वीकार करना चाहिए, इसलिए चैतन्य उत्पन्न नहीं होता । व्यवहारादि परिणाम उपाधियोंकी उत्पत्तिसे उत्पन्न हुएकी तरह प्रतीत होता है ॥ २०७ ॥

'प्रमेये' इत्यादि । प्रमेय, प्रमितिक्रिया, प्रमाण और प्रमाता— इनके साथ सम्बन्ध होनेसे इन उपाधियोंकी उत्पत्तिसे चैतन्य उत्पन्न हुएकी तरह प्रतीत होता है ॥ २०८ ॥

'तद्विनाशेऽपि' इत्यादि । उपाधियोंका नाश होनेपर नाशका साक्षी होनेसे नष्ट होनेकी तरह प्रतीत होता है, इसलिए आत्माकी कार्यताको ( अनित्यताको ) ईश्वर भी सिद्ध नहीं कर सकता है ॥ २०९ ॥

'कार्यत्वे' इत्यादि । यदि आत्मा कार्य होता, तो उसका प्रमाणमात्र भी
युक्त नहीं है, क्योंकि उसके व्यवहारका साक्षी होनेसे आत्माका

तस्यात्मेत्यागमत्वात् स्यात्सिद्धिरप्येविभासका कथम् ।
प्रत्यक्षासम्भवोऽप्येवं तस्मान्नित्यैव सिद्धयेत् ॥ २११ ॥
स्वात्मसाक्षिकतां त्यक्त्वा भावाभावात्मवस्तुनः ।
यतोऽसिद्धिरतः प्रत्यगनिरस्तसमस्तविक्रिया ॥ २१२ ॥
प्रागविद्यायाः साक्षिका स्वात्मानुभूतिः परीक्षिता ।
यानुभूत्या साध्यमाना साऽविद्याऽद्य परीक्ष्यते ॥ २१३ ॥
नन्वविद्या स्वतो बुद्धे न कथंचन सम्भवेत् ।
विरोधादविरोधे तु केन सैषा निवर्त्यते ॥ २१४ ॥
न तन्निवर्तकं मानं तत्कार्यत्वात्तदादिवत् ।
नियोगाद्बाधकं तर्हि विधेयाऽस्तु निवर्तिका ॥ २१५ ॥

---

'तस्यात्मेत्०' इत्यादि । यदि ज्ञानका आगमत्व होगा, तो वह कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि उसका साधक ( ज्ञान ) नहीं है । इसी प्रकार ज्ञानका प्रत्यक्षत्व भी असम्भव है, इससे ज्ञानस्वरूप सिद्धि नित्य ही है ॥ २११ ॥

'स्वात्म०' इत्यादि । चूँकि भाव और अभावरूप सब वस्तुओंकी सिद्धि साक्षीरूप आत्माको छोड़कर अन्य किसी प्रमाणसे नहीं हो सकती, इसलिए प्रत्यगात्मा सभी विकारोंसे रहित है ॥ २१२ ॥

'प्रागविद्यायाः' इत्यादि । अविद्याकी साधक जो साक्षीरूप अनुभूति है, उसकी परीक्षा हो चुकी । अब उस अनुभूतिसे साध्यमान ( साक्षीसे भास्य ) अविद्याकी परीक्षा की जाती है ॥ २१३ ॥

'नन्वविद्या' इत्यादि । स्वयंप्रकाश आत्मामें अविद्याका सम्भव कैसे हो सकता है ? क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और अविद्या अज्ञानस्वरूप है । ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध है । यदि उनका विरोध न माना जाय, तो अविद्याकी निवृत्ति कैसे होगी ? ॥ २१४ ॥

'न तन्निवर्तकम्' इत्यादि । बुद्धिवृत्तिरूप प्रमाण अविद्याका निवर्तक नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो अविद्याकी तरह अविद्याका ही कार्य है । यदि कहो कि नियोगके योगसे वह प्रमाण अविद्याका बाधक है, तो नियोगको ही बाधक क्यों न माना जाय ? बीचमें प्रमाणकी क्या आवश्यकता है ? ॥ २१५ ॥

असम्भवे त्वविद्यायास्तत्कार्या संसृतिः कुतः ।
तदभावे भेदभिन्ना कथमन्तःपरीक्षणम् ॥ २१६ ॥
उच्यते किं तमस्यैवं चोद्येऽस्य तत्त्ववित् ।
नाऽज्ञो सुखस्य बोधार्थं ह्युत्पत्त्यसम्भवात् ॥ २१७ ॥
स्वतो बुद्धे कुतोऽविद्या तस्ये संसृतिः कुतः ।
इति बुद्धात्मतत्त्वस्य धीरियं न तमस्विनः ॥ २१८ ॥
अबुद्धोपालम्भनं त्वात्मज्ञस्यात्र चोद्यते ।
न तं प्रति यतं तत्त्वपरीक्षारम्भणं मतं ॥ २१९ ॥
तमस्विनं प्रति त्वेषा परीक्षा, तस्य यद्धिता ।
स्वप्रकाशात्मसिद्धिं तमसा त्वपह्नुता ॥ २२० ॥
यथोऽभिज्ञात्मनोऽन्यः शुद्धीमपि निह्नुते ।
तथा तमस्वी बोधात् प्राप्तैकात्म्यमपि निह्नुते ॥ २२१ ॥

---

'असम्भवे' इत्यादि । इस प्रकार जब भेदरूपसे अविद्याका असम्भव है, तब अविद्याका कार्य संसार कैसे हो सकता है? उसके न होनेपर भेदवाली भिन्न कोशोंसे पाँचवीं परीक्षा सब व्यर्थ है ॥ २१६ ॥

'उच्यते' इत्यादि । उक्त पूर्वपक्षके समाधानमें कहते हैं—क्या यह प्रश्न अज्ञानीका है या तत्त्वज्ञानीका? अज्ञानीका प्रश्न तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि उसको ऐसा भ्रम होना असम्भव है ॥ २१७ ॥

'स्वतो' इत्यादि । [ इसलिए ] स्वयं-प्रकाश चैतन्यमें अविद्या कैसे? और अविद्याके बिना संसार कैसे? यह प्रश्न आत्मज्ञानीका है, अज्ञानीका नहीं है ॥ २१८ ॥

'अबुद्धोपालम्भनम्' इत्यादि । यदि तत्त्वज्ञानी ऐसा प्रश्न करता है, तो उसके ऐसा उपालम्भ देना ठीक नहीं है, क्योंकि उस आत्मज्ञानीके लिए हमने तत्त्व-परीक्षाका आरम्भ नहीं किया है ॥ २१९ ॥

'तमस्विनम्' इत्यादि । अज्ञानीके प्रति इस परीक्षाका आरम्भ है, क्योंकि उसकी दृष्टिसे स्वयं-प्रकाशता अप्रसिद्ध है अर्थात् अज्ञानसे छिपी हुई है ॥ २२० ॥

'यथोऽभिज्ञात्म०' इत्यादि । जैसे यह तत्त्वज्ञानी शुद्ध शास्त्र-वादियोंका भी निषेध करता है, वैसे ही अज्ञानी शास्त्रसे प्राप्त ऐकात्म्यका भी निषेध करता है ॥ २२१ ॥

काकोलूकनिशेवाऽयं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः ।
या निशा सर्वभूतानामित्यवोचत्स्वयं हरिः ॥ २१२ ॥
सत्येव तत्त्वे स्फुरत्येव प्राक्तनोऽज्ञानमीक्ष्यते यदा ।
तस्मान्न वस्तुतत्त्वं तदज्ञानाद्यपनोदकृत् ॥ २१३ ॥
प्रमाणसूक्ष्मां लब्ध्वा ज्ञानविनाशकेवला ।
ब्रह्मविनिश्चिरतो यथात्मसात्म्यमित्र सम्मितम् ॥ २१४ ॥
तृणादेर्भासिकाऽप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत् ।
सूर्यकान्तमुपारुह्य तन्न्यायं विदि योजयेत् ॥ २१५ ॥

---

'काकोलूक०' इत्यादि । यह संसार अज्ञानी और ज्ञानीके लिए [ क्रमशः ] कौए और उल्लूकी रात्रिके समान है अर्थात् जैसे कौएकी रात्रिमें उल्लू जागता है, इसलिए उल्लूकी दृष्टिमें वह रात्रि नहीं है और जब कौआ जगता है तब उल्लूके लिए वह रात्रि है, वैसे ही अज्ञानीकी दृष्टिमें आत्मतत्त्व और ज्ञानीकी दृष्टिमें संसार रात्रि है । इस बातको भगवान्‌ने स्वयं 'या निशा' ( सब भूतोंकी जो रात्रि है ) इत्यादिसे गीतामें कहा है ॥ २१२ ॥

'सत्येव' इत्यादि । सत् तत्त्वके होनेपर ही ज्ञानसे पूर्व जन्ममें आत्मामें अज्ञानका कार्य जगत् देखा जाता है, इसलिए आत्माका स्वरूप अज्ञान और उसके कार्यको नष्ट नहीं कर सकता ॥ २१३ ॥

'प्रमाणसूक्ष्मात्' इत्यादि । यद्यपि केवल ज्ञान अज्ञानको निवृत्त नहीं करता, तथापि बुद्धिवृत्तिरूप प्रमाणमें प्रतिबिम्बित होकर वही ज्ञान—आत्मा—अज्ञान आदिका पूर्ण रीतिसे नाश कर देता है, इसलिए भगवान् सूत्रकार, भाष्यकार और वार्त्तिककार आदिने ब्रह्ममें वेदान्तोंका प्रामाण्य स्वीकार किया है ॥ २१४ ॥

'तृणादेर्भासिका०' इत्यादि । जैसे तृण आदिको प्रकाश करनेवाली भी सूर्यकी कान्ति सूर्यकान्त मणिमें ( आतशी शीशेमें ) प्रतिबिम्बित होकर तृणादिको दग्ध कर देती है, वैसे ही यद्यपि केवल आत्मचैतन्य अज्ञानका नाश नहीं करता तथापि बुद्धिवृत्तिमें प्रतिबिम्बित होकर वह अज्ञान आदिका नाश कर देता है ॥ २१५ ॥

भेदाभावात् प्रमाणस्य प्रामाण्यमिह युज्यते ।
विश्वस्य महिम्नैव प्रमाणानां प्रमाणता ॥ १२६ ॥
यथाचिदात्मयाथात्म्यसमुल्लेखनसंभवात् ।
तन्मात्रमत्र मानत्वं लभते न तु भेदकम् ॥ १२७ ॥
चिन्मात्रमेव याथात्म्यं प्रत्यगात्मस्वरूपयोः ।
यथाचित्त न भेदोऽस्ति मात्रादेः प्रत्यगात्मनि ॥ १२८ ॥
कूटस्थोऽपि स्वता प्रत्यक्परान्मुखतामयम् ।
स्वचिदाभासतस्मोहयोगाद्वाप्नोति मातृताम् ॥ १२९ ॥
चिन्मात्रस्यैव वस्तुतोऽप्यनात्मन्यात्मनि ।
प्रथते स्वात्मचैतन्यात् स्वरूपेणाविरोधता ॥ ११० ॥
कार्यकारणरूपाभ्यामतथाविधताभिदा ।
आत्माविद्यैव सर्वत्र प्रथते स्वात्मसाक्षिका ॥ २११ ॥

'भेदाभावा' इत्यादि । एकत्व होनेपर भी प्रमाण यहाँ प्रमाण नहीं क्योंकि विश्वकी महिमासे ही प्रमाणोंकी प्रमाणता होती है ॥ २११ ॥

'यथाचिदात्म०' इत्यादि । आत्माके यथाचित् यथार्थ स्वरूपका प्र काशनेसे ही प्रमाण आत्मामें प्रमाणताको प्राप्त होता है, भेदक रूप समझसे नहीं ॥ २

'चिन्मात्रमेव' इत्यादि । प्रत्यगात्माका स्वरूप शुद्ध चैतन्यमात्र है, प्रमाता, प्रमाण आदि भेद नहीं है, जैसे व्यवहारमें ज्ञानकी उत्पत्तिकालमें का कारणरूपमें प्रमाता, प्रमाण आदि भेद है, वैसे ही प्रत्यक् आत्मामें नहीं हैं, ज्ञानका उदय होते ही प्रमाता आदि भेद बाधित हो जाता है, इस प्रकार ज्ञानोंकी तरह प्रत्यगात्मामें प्रमाता आदिक भेद नहीं है ॥ १२८ ॥

'कूटस्थोऽपि' इत्यादि । स्वयं कूटस्थ होता हुआ भी प्रत्यगात्मा पराङ्मुख रूपमें अपने चिदाभाससे युक्त अज्ञानके सम्बन्धसे प्रमाता बन जाता है ॥ २२९

'चिन्मात्रस्यैव' इत्यादि । यद्यपि वस्तुतः आत्मा चिन्मात्र है, तथा आत्मामें आत्मचैतन्यसे ही अनादि अज्ञानकी प्रतीति होती है, क्योंकि अज्ञान आत्माके स्वरूपके साथ विरोध नहीं है ॥ ११० ॥

'कार्यकारण०' इत्यादि । कार्यकारणरूपसे अविद्या ही सर्वत्र प्रतीत होती वह अविद्या आत्माकी तरह सत्य नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय है । आत्मा अविद्याका साक्षी है ॥ २११ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
इति श्रीमन्मुकुन्दस्य वाक्यमेवं समञ्जसम् ॥ २१२ ॥
अविद्या चाऽस्य तत्कार्यं न भेदेनाऽप्यभेदतः ।
निरूप्यते यतोऽस्याः स्यादविचारितसिद्धकम् ॥ २१३ ॥
स्वमहिम्ना न संसिद्धेर्जडत्वाच्चाऽऽत्मनः पृथक् ।
अत एव जडत्वाच्च चिन्मयैक्यं न सम्भवति ॥ २१४ ॥
जडस्वभावतैवाऽन्यद्रूपं कार्येषु गम्यते ।
तमश्च चिद्विभास्यत्वाज्जडतां नातिवर्तते ॥ २१५ ॥
यथा नीरूपयोः खे च तिमिरे नीलतागमः ।
अविचारितसिद्धोऽयं तमस्त्वं च नीरूपताम् ॥ २१६ ॥
स्वानुभूत्या भासितत्वान्नाऽविद्या खपुष्पवत् ।
विचारनाशितत्वेन नाऽप्यविद्या विद्यमानवत् ॥ २१७ ॥

---

'मया०' इत्यादि। जो 'मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है', इस प्रकारका श्रीमान् मुकुन्द भगवान्‌का वचन भी समञ्जस होता है ॥ २१२ ॥

'अविद्या' इत्यादि। अविद्या और अविद्याका कार्य न तो आत्मासे भिन्न ही सिद्ध हो सकता है, न अभिन्न ही। और विचारसे अविद्याकी सिद्धि नहीं हो सकती, इसीलिए उसको अनिर्वचनीय कहते हैं ॥ २१३ ॥

'स्वमहिम्ना' इत्यादि। अविद्या जड है, इसलिए उसकी स्वतःसिद्धि नहीं हो सकती, इससे वह आत्मासे भिन्न नहीं है। अतएव जड होनेके कारण चेतनके साथ उसका अभेद भी नहीं हो सकता ॥ २१४ ॥

'जड०' इत्यादि। कार्योंमें जडस्वभावसे अन्य रूप नहीं देखा जाता है और अज्ञान भी चैतन्यसे प्रतीत होता है, इसलिए वह भी जड ही है ॥ २१५ ॥

'यथा' इत्यादि। आकाश नील रूपसे रहित है और अन्धकार प्रकाशसे रहित है, इस प्रकार नीरूप होनेपर भी आकाश और अन्धकारमें जैसे नील रूपकी प्रतीति होती है, वैसे ही आत्मामें अज्ञान और उसके कार्य जगत्‌की, विचारके अभावसे ही, सिद्धि होती है ॥ २१६ ॥

'स्वानुभूत्या' इत्यादि। अपने अनुभवसे अविद्या प्रतीत होती है, इसलिए वह असत्‌की तरह असत् नहीं है और विचारसे अविद्याका नाश हो जाता है, इसलिए विद्यमानकी तरह सत् भी नहीं है ॥ २१७ ॥

अनुभूताभिधायां विवादो नैव कस्यचित् ।
न वेद्मीति व्यवहारोऽज्ञानात्स्वप्रमाणवित् ॥ २१८ ॥
प्रमाणादिविनिर्मुक्तमनुभूयोक्तिवत्स्फुटा ।
नाज्ञासिषमिति प्राह स्वानुभूत्यनुसारतः ॥ २१९ ॥
प्रमाणाद्युत्थितो पूर्वं विभिन्नात्मस्वभावता ।
चैतन्येनैव स्वरूपं न तु मानेन केनचित् ॥ २२० ॥
आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
इति स्मृत्वा च कल्पेयमनुभूतं स्वचक्षुषे ॥ २२१ ॥
सुप्तिस्मृतिर्यथाऽस्माकमनुमानेन सिध्यति ।
अनात्मसाधना सिद्धेश्चाप्यन्यतो प्रत्यक्षस्मृतिः ॥ २२२ ॥
न मानान्तिकमज्ञानो लोके ज्ञातताज्ञातते अपि ।
सुप्तविधा न प्रमेयत्वेऽपि प्रत्यक्षमत्र किम् ॥ २२३ ॥

---

'अनुभूताभि०' इत्यादि । अविद्याके अनुभवमें किसीको विवाद नहीं है, क्योंकि सभी, पण्डित और अपण्डितों तकमें 'न वेद्मि' ( मैं नहीं जानता ) का व्यवहार होता है ॥ २१८ ॥

'प्रमाणादि०' इत्यादि । प्रमाता आदिसे भिन्न शुद्ध स्वरूपका सुषुप्ति अनुभव करके जागनेपर अपने अनुभवके अनुसार 'नाज्ञासिषम्' ( मैंने नहीं जाना ) का कथन है ॥ २१९ ॥

'प्रमाता०' इत्यादि । प्रमाता आदिकी उत्पत्तिसे पहले सुषुप्तिकालमें अज्ञान चैतन्यसे भिन्न किसी वस्तुका सम्बन्ध नहीं था, इसलिए अज्ञानका भासित चैतन्यसे ही होता है, किसी अन्य प्रमाणसे नहीं ॥ २२० ॥

'आसीदिदम्' इत्यादि । यह जगत् अज्ञात, अलक्षण (किसी चिह्नसे रहित) तथा तमोरूप था, यह श्रुत्यादि प्रमाणोंसे प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षकार श्रुती द्वारा अनुभूत अज्ञानका अनुवाद करती है ॥ २२१ ॥

'सुप्तिस्मृतिर्यथा०' इत्यादि । जैसे हम लोगोंको सुषुप्तिकी स्मृति अनुमानसे सिद्ध होती है, वैसे ही ईश्वरकी कृपासे मनु आदिको प्रलयकी स्मृति प्रत्यक्षसे सिद्ध होती है ॥ २२२ ॥

'न मानात्' इत्यादि । लोकमें वस्तुकी ज्ञातता (ज्ञान) और अज्ञातता (अज्ञान

अज्ञानकर्मसंसिद्धं न तस्याज्ञातता भवेत् ।
न चाज्ञाता चाज्ञेन सता व्यभिचरेत् ॥ २५० ॥
अज्ञात आत्मा यः पूर्वं संक्षेपेणोपपादितः ।
सिद्धविद्यापरीक्षाभ्यां स एवेत्थं प्रपञ्चितः ॥ २५१ ॥
अज्ञानावृतचैतन्यं प्रमेयमिति साधितम् ।
प्रमाणादिप्रमेयं यत् तदिदानीं निरूप्यते ॥ २५२ ॥
अविज्ञातार्थसम्भूति प्रमाणानीति वादिनाम् ।
सर्वेषां सम्मतिस्तत्र प्रमेयोऽर्थो विचार्यते ॥ २५३ ॥
ज्ञातोऽप्यथवाऽज्ञातो वा ज्ञाताज्ञातात्मकोऽथवा ।
यदि वाऽनुभयात्मार्थं चतुर्थोऽपि न युज्यते ॥ २५४ ॥
आद्ये ज्ञातत्वमर्थस्य न तावद्धर्मिसिद्धितः ।
अनभ्युपगमान्नापि प्रमाणादन्योन्यता ॥ २५५ ॥

---

स्थित है, इसलिए अज्ञात होनेसे अल्पज्ञात्मा ही उन प्रमाणोंका प्रमेय है, इतर व्याप्ति प्रमेय नहीं है ॥ २४९ ॥

'अज्ञानकर्मसंसिद्धम्' इत्यादि। ज्ञाता आत्मा अज्ञानका कर्म है, अतः वह उससे अज्ञात नहीं हो सकता, क्योंकि अज्ञानकी धारा अज्ञानसे कभी नहीं कटी जा सकती है ॥२५०॥

'अज्ञात' इत्यादि। जो अज्ञात आत्मा पहले संक्षेपसे कहा गया था, उसीका सिद्धि और अविद्याकी परीक्षासे यहाँपर विस्तार किया है ॥ २५१ ॥

'अज्ञाना०' इत्यादि। अज्ञानसे आवृत चैतन्य प्रमेय है, यह सिद्ध हो गया। अब प्रमाणियोंका जो प्रमेय है, उसका निरूपण किया जाता है ॥ २५२ ॥

'अविज्ञातार्थ०' इत्यादि। प्रमाण अज्ञात अर्थका बोधन करते हैं, इस अर्थमें सब वादियोंकी सम्मति है, इसलिए अज्ञात प्रमेय—अर्थ—का विचार किया जाता है ॥ २५३ ॥

'ज्ञातोऽप्यथवोऽज्ञातो' इत्यादि। यह व्याप्ति पदार्थ ज्ञात है, अथवा अज्ञात है या ज्ञाताज्ञातोभयात्मक है अथवा अनुभयात्मक ( न ज्ञात और न अज्ञात ) है? ये चारों ही पक्ष युक्त नहीं हैं ॥ २५४ ॥

'आद्ये' इत्यादि। [ क्योंकि ] प्रथम पक्षमें पदार्थका ज्ञातत्व प्रत्यक्षसिद्धिसे तो सिद्ध हो नहीं सकता, क्योंकि तुममें वह स्वीकार नहीं है, प्रमाणसे भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाणसे ज्ञात होनेपर अन्योन्याश्रयकी प्राप्ति होती है ॥ २५५ ॥

ज्ञानत्वमात्रौ सम्याच ज्ञानसर्वं प्रमाणवत् ।
सार्धं च ज्ञानान्यस्य प्रमाणमतिवर्तते ॥ २५६ ॥
स्वत एव प्रमेयोऽर्थो यदि ज्ञातस्तथापि च ।
अनन्यार्थप्रसिद्धिमैत्यत्वं किमिवान्यतः ॥ २५७ ॥
नहि दीपान्तरादीपो भास्वरत्वं प्रपद्यते ।
तथा स्वतो ज्ञातस्तो मानेन नहि मीयते ॥ २५८ ॥
अथाज्ञातो स्वप्रपर्यस्तथाप्यज्ञातता कथा ।
स्वतो वा परतो वा स्यात् स्वतश्चेदाप्यते कथम् ॥ २५९ ॥
नहि सम्यग्ता बाध्या स्वतस्याज्ञातता यथा ।
किञ्चाज्ञाते कल्पितं स्यादज्ञातत्वं रज्जुसर्पवत् ॥ २६० ॥
न च यदास्वत्वं रूपं तदभ्यासेन बाध्यते ।
रज्जुसर्पविधा लोके न रज्जुरिति धीक्षति ॥ २६१ ॥

---

'ज्ञानत्वमात्रौ' इत्यादि । ज्ञानके ज्ञानत्वसे अलग करके भिन्न ज्ञात अर्थका बोधन करता हुआ प्रमाण ज्ञानान्तरके प्रमाणसे कुछ कम नहीं है ॥ २५६ ॥

'स्वत' इत्यादि । प्रमेय अर्थ स्वतः ही ज्ञात है, ऐसा यदि मानो, तो स्वतःप्रकाश होनेसे वह कैसे प्रमेय हो सकता है ? ॥ २५७ ॥

'नहि' इत्यादि । जैसे अन्य दीपसे दीपको प्रकाश नहीं मिला करता है, वैसे ही स्वतः ज्ञात हुआ वह प्रमाणसे नहीं जाना जा सकता ॥ २५८ ॥

'अथाज्ञातो' इत्यादि । यदि वह यानि पदार्थ अज्ञात ही है, तो उसमें अज्ञातता कैसे आई ? वह अज्ञातता क्या स्वतः सिद्ध है अथवा किसी निमित्तसे होती है ? यदि स्वतः सिद्ध है, तो उसका नाश कैसे हो सकता है ? ॥ २५९ ॥

'नहि' इत्यादि । जैसे वस्तुकी स्वतः सिद्ध सम्यक्ताका नाश नहीं हो सकता, वैसे ही वस्तुकी अज्ञातता भी यदि स्वतः सिद्ध होगी, तो उसका भी नाश नहीं होगा । किञ्च, यदि प्रमाणकी प्रवृत्तिसे पहले ही वह अज्ञात है, तो अज्ञान उसमें रज्जुसर्पकी तरह कल्पित होगा ॥ २६० ॥

'न च' इत्यादि । जिसका जो वास्तवरूप होता है, उसका अभ्याससे नाश नहीं हुआ करता, इसीसे लोकमें रज्जुसर्पके ज्ञानसे रज्जुज्ञानका नाश नहीं हुआ करता ॥ २६१ ॥

यतोऽपि हेतो नैवाज्ञातत्वं घटे भवेत् ।
अनिर्वाच्याज्ञानतो वा ज्ञानाभावाद्धेतोर्भवताम् ॥ २६२ ॥
आद्ये त्वयाऽपसिद्धान्तो द्वितीये कूर्मरोमवत् ।
अज्ञातत्वं प्रसज्येत नाभावात् भवो यतः ॥ २६३ ॥
यदाऽस्वन्तासाधकमज्ञातत्वं तदा तव ।
सदा सर्वज्ञतैव स्याच्च यतोऽज्ञातमस्ति न हि ॥ २६४ ॥
साधकप्रमाणाभावेऽज्ञातत्वं न सिध्यति ।
न च मानात् प्रसिद्धिः स्यात्कूर्मरोमादिवस्तुनः ॥ २६५ ॥
ज्ञाताज्ञातोभयासत्त्वं व्यभिचरेऽप्यथा ।
व्यभिचरेत्पदं वस्तु न तयोर्व्यभिचारिता ॥ २६६ ॥
न देवदत्तस्याऽऽयानौ गमनागमनात्मनौ ।
ज्ञाताज्ञातत्वे वस्तुनो न व्यभिचरतः ॥ २६७ ॥

'यतोऽपि' इत्यादि । किसी अन्य निमित्तसे भी घटमें अज्ञातत्व नहीं हो सकता । यदि ऐसा कहो मानो, तो बतलाओ कि वह निमित्त अनिर्वचनीय अज्ञान है अथवा ज्ञानाभाव है ? ॥ २६२ ॥

'आद्ये' इत्यादि । प्रथम पक्षमें तुम्हें अपसिद्धान्त है, क्योंकि तुम्हें अनिर्वचनीय अज्ञानका स्वीकार नहीं है । द्वितीय पक्षमें अज्ञातत्व कूर्मरोमकी तरह असत् हो जायगा, क्योंकि अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हुआ करती । फिर ज्ञानाभावसे अज्ञातत्वकी उत्पत्ति कैसे होगी ? ॥ २६३ ॥

'यदाऽस्वन्ता०' इत्यादि । जब तुम अज्ञातत्वको असत्स्वरूप मानते हो, तब तुम्हें सदा ही सर्वज्ञ होना चाहिए, क्योंकि अज्ञात कोई वस्तु ही नहीं है ॥ २६४ ॥

'साधक०' इत्यादि । ऐसा ( असत् ) अज्ञातत्व प्रमाणसे अथवा से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कूर्मरोमादि असत्-वस्तुकी प्रमाणसे सिद्धि नहीं हुआ करती ॥ २६५ ॥

'ज्ञाताज्ञातो०' इत्यादि । ज्ञात और अज्ञात इन दोनों व्यभिचरित होते हैं, अथवा एक ही कालमें । सर्वकालमें वस्तु अनुगत हुआ करती है । व्यभिचार नहीं हुआ करते ॥ २६६ ॥

'न देवदत्त०' इत्यादि । जैसे एक समयमें गमन और आगमन देवदत्तके सम्भव नहीं

शीतोष्णवद्विरुद्धत्वाद्यौगपद्यं न युज्यते ।
नाऽपि चाऽनुभवात्मत्वं विविक्तस्याऽप्रसाधनात् ॥ २६८ ॥
ज्ञातताऽज्ञातते त्यक्त्वा वस्तुमात्रं त्वया क्व वा ।
उदाह्रियेताऽभ्युपगत एव स्यादनुदाहृतौ ॥ २६९ ॥
ज्ञातताऽज्ञातते यस्य स तयोरनुगच्छति ।
व्यावृत्ताभ्यां विभिन्नोऽयमिति चेत्तत्र का प्रमा ॥ २७० ॥
सर्वावभासकः साक्षी त्वया वेदविरोधिना ।
उपेक्षितोऽन्यः को नाम तत्सर्वं तव भासयेत् ॥ २७१ ॥
सुषुप्तिवद्विविक्तात्मा समाधेऽप्यनिरूपिता ।
चेदज्ञातस्याऽप्यक्षं न वेद्मीति मतमेव ते ॥ २७२ ॥

---

हुआ करते, वैसे ही वस्तुमें होनेवाली ज्ञातता और अज्ञातता एकसाथ नहीं हो सकतीं ॥ २६७ ॥

'शीतोष्ण०' इत्यादि । शीत और उष्णकी तरह विरुद्ध होनेसे ज्ञातता और अज्ञातताका यौगपद्य ( एक कालमें होना ) भी युक्त नहीं है । ज्ञातता और अज्ञातता अनुभवात्मक भी नहीं हो सकतीं, क्योंकि ज्ञात और अज्ञातसे भिन्न तृतीय पदार्थका उदाहरण नहीं मिलता ॥ २६८ ॥

'ज्ञातता' इत्यादि । ज्ञातता और अज्ञातताका त्याग कर वस्तुमात्रका उदाहरण तुम कहाँ दे सकते हो, क्योंकि ज्ञातका ही उदाहरण हुआ करता है ॥ २६९ ॥

'ज्ञातता०' इत्यादि । जिस वस्तुकी ज्ञातता और अज्ञातता होती है, वह दोनोंमें अनुगत रहता है, इसलिए ज्ञात अज्ञातसे भिन्न दोनोंमें अनुगत धर्मी तृतीय-पदार्थ सिद्ध हो सकता है, यह तुम नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञात और अज्ञातसे भिन्न केवल वस्तुमें तुम्हें कोई प्रमाण नहीं है ॥ २७० ॥

'सर्वावभासकः' इत्यादि । तुम वेदविरोधीने सर्वावभासक साक्षीकी उपेक्षा की है, इसलिए तुम्हारे मतमें उस साक्षीसे भिन्न ज्ञात और अज्ञात सब पदार्थोंका कौन प्रकाश कर सकता है ? ॥ २७१ ॥

सुषुप्तिमें भी अज्ञात वस्तुका 'न वेद्मि' ( मैं नहीं जानता हूँ ), इस प्रकार अज्ञानीके अनुभवसे स्वीकार करना चाहिए, यदि ऐसा कहो, तो

सर्वथा च यथाऽज्ञातं प्रमाणेन प्रसिध्यति ।
अज्ञानं च यथा भ्रान्तिर्मिथ्याधीसंशयौ तथा ॥ २७३ ॥
प्रत्यक्षादिप्रमाणानामज्ञानादिप्रसिद्धये ।
नैवास्त्यन्यतमं मानं स्वप्रकाशं च वर्तते ॥ २७४ ॥
चित्तेन्द्रियसम्बन्धविरहाद्भ्रममक्षजम् ।
नाऽस्ति दुःखादिधीस्तस्मात्प्रत्यक्षं नाप्यपि मानसम् ॥ २७५ ॥
ज्ञानमात्रात्मकाज्ञानं मानसे सति तत्कथम् ।
अयौगपद्यात्प्रत्यक्षं संशयादेर्न मानकम् ॥ २७६ ॥
न ज्ञानयौगपद्यं त्वन्मतेऽस्ति युगपत्कथम् ।
प्रत्यक्षाद्यनिदाने स्यातां संशयमानसे ॥ २७७ ॥

---

ज्ञानका स्वीकार करते हैं, ऐसा कहते हैं—'यद्यपि०' इत्यादिसे । यद्यपि विकल्पोंका प्रमाण होनेपर भी अनिरूपित अज्ञात वस्तु प्रमाण अनुभवसे सिद्ध होती है, यदि ऐसा कहते हो, तो आपको मेरा ही मत मानना होगा अर्थात् अज्ञात वस्तु साक्षीसे भास्य है, यह मानना होगा ॥ २७२ ॥

'सर्वथा' इत्यादि । किसी प्रकार भी अज्ञात वस्तु प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकती, जैसे अज्ञानकी सिद्धि प्रमाणसे नहीं होती है, वैसे ही मिथ्याज्ञान और संशयकी सिद्धि भी प्रमाणसे नहीं हो सकती ॥ २७३ ॥

'प्रत्यक्षादि०' इत्यादि । प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें से कोई भी प्रमाण अज्ञान और भ्रान्तिको नहीं सिद्ध कर सकता और घटादि जड़ पदार्थ स्वप्रकाश हैं नहीं, इसलिए इन पदार्थोंका प्रकाश साक्षीसे ही होता है ॥ २७४ ॥

'चित्ते०' इत्यादि । चित्तेन्द्रियसम्बन्धका अभाव होनेसे बाह्य प्रमाण तो अज्ञानमें प्रवृत्त हो ही नहीं सकता । दुःखादिज्ञानकी तरह मानस प्रत्यक्ष भी अज्ञानका नहीं हो सकता ॥ २७५ ॥

'ज्ञान०' इत्यादि । ज्ञानमात्ररूप अज्ञान मानस ज्ञानके होनेपर रह ही कैसे सकता है । प्रत्यक्ष संशय और मिथ्याज्ञानका प्रकाश भी नहीं कर सकता, क्योंकि ज्ञानका अयौगपद्य है ( अर्थात् एक क्षणमें दो ज्ञान नहीं होते हैं ) ॥२७६॥

'न ज्ञान०' इत्यादि । तुम्हारे मतमें ज्ञानोंका यौगपद्य नहीं है, फिर कैसे प्रत्यक्षादि ( विषय और विषयी ) संशय और मानस ज्ञान
२७७ ॥

प्रत्यक्षार्थैकदेशस्य प्रत्यक्षमात्रमनुभूयते ।
नाऽप्रत्यक्षेऽनुमानादि यतः पारोक्ष्यबोधकम् ॥ १७८ ॥
मिथ्याज्ञानादिसंसिद्धौ क उपाय इतीर्यताम् ।
इति चेत्, श्रूयतां यत्र साक्षिणं सर्वभासकम् ॥ १७९ ॥
यथैव चक्षुषाभासे घटाकारोऽनुभूयते ।
तथैव साक्षिणस्तादृग्ज्ञानाद्यनुभूयते ॥ १८० ॥
इत्थं साधकयोरात्म्यां स्वपक्षपरपक्षयोः ।
प्रमेयं साधितं तस्य कल्पकपरतोऽभ्यते ॥ १८१ ॥
अर्थैकशरणभावोऽयं शास्त्रयुक्तिपरीक्षणे ।
अविचारितरम्या सन् भासते न तु वस्तुता ॥ १८२ ॥
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
इति वास्तवत्वम्यादि शास्त्रेणैव निराकृतम् ॥ १८३ ॥

---

'प्रत्यक्षार्थ०' इत्यादि । प्रत्यक्ष और आगमका प्रत्यक्ष पदार्थकी तरह अनुभव होता है, इसलिए अनुमानादिकी उसमें गति नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमान आदि परोक्ष अर्थका बोधन किया करते हैं ॥ १७८ ॥

'मिथ्याज्ञानादि०' इत्यादि । यदि आप यह पूछते हैं कि मिथ्या ज्ञान आदिकी सिद्धिमें उपाय क्या है, तो मैं तो यही कहूँगा कि उनके प्रकाशक साक्षीको शरणमें जाओ ॥ १७९ ॥

'यथैव' इत्यादि । जैसे चक्षुका ज्ञान होनेपर घटका स्पष्ट अनुभव होता है, वैसे ही साक्षीसे अज्ञान आदिका स्पष्ट अनुभव होता है ॥ १८० ॥

'इत्थम्' इत्यादि । इस प्रकार अपने पक्षके साधनोंसे और पर पक्षके बाधोंसे प्रमेयकी सिद्धि हो गई । अब उसकी कल्पकरूपता कहते हैं ॥ १८१ ॥

'अर्थैकशरण०' इत्यादि । शास्त्र और युक्ति द्वारा परीक्षा करनेपर यह अर्थैकशरणपक्ष विचारके न होनेसे ही रमणीय प्रतीत होता है, वास्तवमें अर्थैकशरणपक्ष है नहीं ॥ १८२ ॥

'नाऽसतो' इत्यादि । असत्का भाव नहीं है और सत्का अभाव नहीं है, इस प्रकार शास्त्रने ही वास्तव रूपता आदिका निराकरण किया है ॥ १८३ ॥

मुक्तिश्चान्योन्यसापेक्षा कार्यकारणतेष्यते ।
स्यात्तस्मान्न तयोरेकस्याप्यनपेक्षता ॥ १८४ ॥
नाभ्युपेतकारणं यत् कार्यापेक्षा ततो भवेत् ।
कार्यं नाऽक्रियमाणं स्यात्कारणापेक्षता ततः ॥ १८५ ॥
अविचारितसम्पमेवाज्ञानस्यैककारणता ।
स्यात्, स्वप्नस्य तथा यथा अज्ञानस्यैककारणता ॥ १८६ ॥
अज्ञातस्यातिरेकेण ज्ञानतो जगतो जनिम् ।
सम्यग्ज्ञानाच्च मुक्तिः स्यान्न ज्ञानं वस्तुघातकम् ॥ १८७ ॥
कर्मभ्योऽपि न मुक्तिः स्यात्कर्मापि नहि वस्तुघ्नम् ।
ततो ज्ञानेन मुक्त्यर्थमज्ञानस्यैककारणता ॥ १८८ ॥
यस्ते वैपरीत्येन यस्याऽविद्यैव सर्वदा ।
तस्यैषोऽनुपपत्तिः का मोक्षकार्यो यथा क्वचित् ॥ १८९ ॥

'मुक्ति०' इत्यादि। कार्यकारणता परस्परकी अपेक्षा रखती है, इसलिए अन्योन्याश्रयरूप मुक्तिमें भी कार्यकारणभावका सिद्धान्त सिद्ध होता है, क्योंकि कार्य और कारण—इन दोनोंमें से एक भी ऐसा नहीं है, जो दूसरेकी अपेक्षा न रखता हो ॥ १८४ ॥

'नाभ्युपेतकारणम्' इत्यादि। कुछ भी व्यापार न करनेवाला कभी कारण नहीं देखा गया है, इसलिए कारणको कार्यकी अपेक्षा है और न करनेसे कार्य नहीं होता है, इसलिए कार्यको कारणकी अपेक्षा है ॥ १८५ ॥

'अविचारित०' इत्यादि। यदि विचारके न होनेसे ही संसार प्रतीत होता है, तो मानना चाहिए उसका एक कारण अज्ञान अवश्य ही है, क्योंकि स्वप्नका कारण अज्ञान अवश्य ही है, यह देखा गया है ॥ १८६ ॥

'अज्ञाता०' इत्यादि। अज्ञात आत्मासे भिन्न किसी पदार्थसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार माननेवालोंके मतमें यथार्थ ज्ञानसे मुक्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ज्ञान कभी वस्तुको नष्ट नहीं किया करता ॥ १८७ ॥

'कर्मभ्योऽपि' इत्यादि। कर्मोंसे भी मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कर्म भी वस्तुको नष्ट नहीं कर सकता है, इसलिए ज्ञानसे मुक्ति माननेवालोंको यह अवश्य मान लेना चाहिए कि एक अज्ञात आत्मा ही संसारका कारण है ॥१८८॥

'...' इत्यादि। जिसके मतमें अविद्या ही कार्यकारणरूपसे प्रतीत हो

वस्तुत्वमपेक्ष्यैव स्वतः परतस्तथा ।
सर्वं वाऽस्य स्वयोग्यस्य तथा तत्कार्यमेव च ॥ २९० ॥
तमविद्यामसद्रूपं नाज्ञासिषमितीक्षणात् ।
जगज्जन्मस्थितिध्वंसास्तस्मात्सन्ति ह्यात्मनि ॥ २९१ ॥
तमःप्रधाना क्षेत्राणां चित्प्रधानाचिदात्मनाम् ।
परा कारणतामेति बन्धमोक्षभिदा तथा ॥ २९२ ॥
तत्तज्जातिविशिष्टैस्तैस्तैर्ध्यानज्ञानकर्मभिः ।
देवतिर्यङ्मनुष्यादिवैचित्र्यमुपपद्यते ॥ २९३ ॥
तत्तज्जात्युचिते चित्ते भूयोऽभ्यासेन वासना ।
जीवन्मुक्तिपराख्या या मायैवेत्युच्यते हि सा ॥ २९४ ॥
शास्त्राभ्यासोपासनादिज्ञानमप्यभिधीयते ।
विहितं प्रतिषिद्धं च कर्म वैचित्र्यजन्मता ॥ २९५ ॥

---

रही है, उसके मतमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि उसपर कोई उपालम्भ नहीं हुआ करता है ॥ २८९ ॥

'वस्तुत्व॰' इत्यादि । क्योंकि अद्वितीय आत्मवस्तुके स्वरूपकी अपेक्षासे न अज्ञान और उसका कार्य न स्वतः सिद्ध है, न परतःसिद्ध है, किन्तु अज्ञान और उसके कार्यरूप प्रपञ्च अज्ञानकी ही दृष्टिसे है ॥ २९० ॥

'तमविद्या॰' इत्यादि । 'नाज्ञासिषम्' ( सुषुप्तिकालमें मुझे ज्ञान नहीं था ) ऐसा स्मरणरूप ज्ञान होता है, अतः तम ( अज्ञान ) अविद्यारूपसे युक्त है, इसलिए जगत्के जन्म, स्थिति और प्रलय अज्ञात आत्मामें ही होते हैं ॥ २९१ ॥

'तमःप्रधाना॰' इत्यादि । तमःप्रधान होकर परमात्मा क्षेत्रोंका ( जड़ोंका ) कारण है और चित्प्रधान होकर चेतनोंका कारण है, इसलिए लोकमें जड़ और चेतनका भेद सिद्ध होता है ॥ २९२ ॥

'तत्तज्जाति॰' इत्यादि । उन-उन प्राणियोंसे किये हुए उन उन ध्यान, ज्ञान और कर्मोंसे देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि विचित्रता भी बन जाती है ॥ २९३ ॥

'तत्तज्जा॰' इत्यादि । उस-उस जातिमें प्रसिद्ध चित्तकी बार बार अभ्यास करनेसे जीवन्मुक्तिपर्यन्त जो वासना होती है, उसको माया कहते हैं ॥२९४॥

'शास्त्रा॰' इत्यादि । शास्त्रका अभ्यास, उपासना आदि ज्ञान और

अव्याकृतमर्त्यं किञ्चिद्यावन्नादि समीक्ष्यते ।
तद्व्याकृतरूपेण स्थितं व्यक्तेत सूयते ॥ २९६ ॥
तमसो तम एवाऽत्र निमित्तं लोकपंक्तिता ।
लोके कार्यविशेषाणां तम एव नियामकम् ॥ २९७ ॥
तैलवर्तिस्थिते कस्मात् दीपवर्ति कुतो मति ।
इति पृष्टो न जानामीत्येवं मनुष्यं वदेत् ॥ २९८ ॥
तमिस्रामकमज्ञाममिति तेनोदितं भवेत् ।
मनुष्य तामसा तत्र गच्छत्येव पिपृच्छिका ॥ २९९ ॥
मनुष्योऽज्ञौकर्त्तं बहूनं बहुकैसमीरणात् ।
अन्यथा ह्यकृत्स्नमन्यस्त्वयेषाम्नोत्तरं यत् ॥ ३०० ॥

निमित्त-प्रतिनिधि कर्म वे भी हेतु रूपसे पाते हैं, अतः इनसे निमित्त का होते हैं ॥ २९५ ॥

'अव्याकृतमर्त्यम्' इत्यादि । व्याकृत जगत्में जो पाकृत आदि ऐसे प हैं, वे ही व्याकृतरूपमें अव्याकृतरूपसे स्थित होकर व्यक्तिरूपमें व्यक्त । करते हैं ॥ २९६ ॥

'तमसो' इत्यादि । लोककी व्यक्तिसे उनकी व्यक्तिमें निमित्त भावि ( अज्ञान ) ही है, क्योंकि लोकमें कार्यविशेषोंका नियामक अज्ञा ही है ॥ २९७ ॥

'तैलवर्तिस्थिते' इत्यादि । दियेमें तेलकी वर्ति क्यों है ? दीपवर्ति क्यों नहीं ? ऐसा प्रश्न करनेपर 'मैं नहीं जानता हूँ' यही मनुष्य सिकता है ॥ २९८ ॥

'तमिस्रामक०' इत्यादि । इस कथनसे यही कथित होता है कि व्यक्तियों नियामक अज्ञान है, इस मनुष्यके देनेवाल पूछनेवाला फिर प्रश्न भी न करता है ॥ २९९ ॥

'मनुष्योऽज्ञौकर्त्तम्' इत्यादि । इसमें अज्ञानका अनौचित्य नहीं समझना चाहिए क्योंकि इनका पुरुष भी ऐसा ही मनुष्य किया करते हैं । अन्यथा तुम इनका दे तो तुम ही इसका मनुष्य बतलाओ ॥ ३०० ॥

परमाणुर्मूलहेतुरितीष्टं मनुष्यादिकम् ।
तदन्तरे यथा तद्वदस्मि बुद्धिं समाश्रयात् ॥ १०७ ॥
तमो नियामकं चेदस्तिमन्तर्यामितेति चेत् ।
अन्तर्यामित्वशक्तिर्वा सैव तमस उच्यते ॥ १०८ ॥
ईशस्तमःप्रधानात्मा सचिदाभासात्मा नियामकः ।
तेनैव चित्प्रधाना सन् साक्षितां प्रतिपद्यते ॥ १०९ ॥
तमोऽभिनिमित्ता कर्मसाधनावासमस्थितम् ।
बीजं बध्नन्ति यो शुद्धं कारणत्वनिवृत्तिता ॥ ११० ॥
यथा कार्यो घटः कोऽपि मृत्तिकां नाऽतिवर्तते ।
तमःकार्यं मनआदि नाऽतिवर्ततेऽमस्तथा ॥ १११ ॥

---

अज्ञानको मैं कारण कहता हूँ। अज्ञान अव्यक्त एवं कारण है, ऐसा श्रुति-ने भी माना, अतः भावि अवान्तर कारण हो सकते हैं ॥ १०६ ॥

'परमाणु०' इत्यादि । कणादके मूलकारण परमाणुको मानते हुए भी नैयायिक द्व्यणुकादिको जैसे अवान्तर कारण मानते हैं, वैसे ही मैं अज्ञानको सविषय एवं कारण कहता हूँ ॥ १०७ ॥

'तमो नियामकम्' इत्यादि । यदि अज्ञान नियामक है, तो अन्तर्यामीकी क्या आवश्यकता है ? यदि ऐसा कहो तो कहते हैं—अन्तर्यामीकी जो अन्तर्यामित्व शक्ति है, उसीको हम अज्ञान कहते हैं ॥ १०८ ॥

'ईशस्तमः०' इत्यादि । ईश्वर अज्ञानप्रधान होकर निखिल जगत्का नियामक ( अन्तर्यामी ) है । वही चैतन्यमें चित्प्रधान होता हुआ ईश्वर साक्षित्वको प्राप्त होता है, इसलिए उपाधिसे अन्तर्यामी और साक्षीमें भेद होते हुए भी चैतन्यकी हानि नहीं है ॥ १०९ ॥

'तमोऽभिनिमित्ता' इत्यादि । अज्ञानसे निर्मित कर्म, भावना आदि अज्ञानी जीवको ही बद्ध करते हैं, शुद्धको बद्ध नहीं करते, क्योंकि उनका कारण अज्ञान निवृत्त हो चुका है ॥ ११० ॥

'यथा कार्यो' इत्यादि । जैसे मृत्तिकाके कार्यभूत कोई भी घट आदि मृत्तिकाका त्याग नहीं कर सकते, वैसे ही तमके कार्यभूत मन आदि अज्ञानका त्याग नहीं करते हैं ॥ १११ ॥

जलूका व्रणगा रक्तं दुष्टमेव विवेचयेत् ।
तथाऽऽत्मगतकर्मादि लब्धात्मानं विचिन्तयेत् ॥ ३१२ ॥
स्वकर्तुरुपभोगार्थं कर्माव्याकृतरूपकम् ।
व्यक्तीभवत्प्रयुङ्क्ते तद् भूतभौतिकवज्जगत् ॥ ३१३ ॥
अव्यक्तजगतो व्यक्तिरन्तर्यामिप्रभावतः ।
भवन्ती देशकालादिव्यवस्थां प्रतिपद्यते ॥ ३१४ ॥
यथा नियमयत्येष तथा भवति तज्जगत् ।
नियन्ता सर्वजगतो नाऽन्यः सम्भाव्यते प्रभोः ॥ ३१५ ॥
न चोपालब्धुमस्माभिः शक्यते परमेश्वरः ।
अतो विमुच्य चोद्यानि श्रूयतां महिमैश्वरः ॥ ३१६ ॥
अन्तर्यामी यदा कर्म नोद्बोधयति संहृतिः ।
तदा भवेद्यदोद्बोधं कुर्यात्सृष्टिस्तदा भवेत् ॥ ३१७ ॥

---

'जलूका' इत्यादि । जैसे व्रणमें लगी हुई जलूका ( जोंक ) दुष्ट ही रक्तको खींचती है, वैसे ही आत्मामें रहनेवाले कर्म, भावना आदि कर्ता आत्माको ही चिपटते हैं ॥ ३१२ ॥

'स्वकर्तुरुपभोगार्थं' इत्यादि । प्रलय-कालमें अव्याकृतरूपसे स्थित हुए कर्म आदि सृष्टि-कालमें व्यक्त होकर अपने कर्ताके भोगके लिए भूत और भौतिक जगत्की रचना करते हैं ॥ ३१३ ॥

'अव्यक्तजगतो' इत्यादि । अव्यक्त जगत्से अन्तर्यामीके प्रभावसे होती हुई व्यक्ति देश, काल आदि व्यवस्थाको प्राप्त होती है ॥ ३१४ ॥

'यथा नियम०' इत्यादि । वह जिस प्रकार नियमन करता है, उसी प्रकार वह जगत् होता है । सब जगतोंका नियन्ता प्रभुके सिवा दूसरा सम्भव ही नहीं है ॥ ३१५ ॥

'न चोपा०' इत्यादि । परमेश्वरपर हम उपालम्भ नहीं कर सकते हैं, इसलिए तर्कोंका त्याग कर ईश्वरकी महिमा सुनो ॥ ३१६ ॥

'अन्तर्यामी' इत्यादि । अन्तर्यामी जब कर्मका उद्बोधन नहीं करता तब प्रलय होता है और जब उद्बोधन करता है, तब सृष्टि होती है ॥ ३१७ ॥

अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादनकारणम् ।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥ ३१८ ॥
तादृशो ब्रह्मणोऽकस्मात्कर्मोद्बोधे प्रवर्तकम् ।
तथा कर्मोपसंहारे नेश्वरोऽन्यदपेक्षते ॥ ३१९ ॥
वाति वायुर्यथाऽकस्मादकस्माच्चोपशाम्यति ।
निर्निमित्ते तथैव स्यात्कर्मोद्बोधोपसंहृती ॥ ३२० ॥
उत्थास्यामि मुहूर्तेऽहं ब्राह्म इत्यभिसन्दधत् ।
शयानो नियमेनैव तदोत्तिष्ठेत्तथेक्ष्यताम् ॥ ३२१ ॥
संहरन्नभिसन्धत्त इयत्तां संहृतेस्ततः ।
तावत्याः संहृतेरन्ते सिसृक्षोदेति सत्वरम् ॥ ३२२ ॥
अज्ञानमात्रोपहितं ब्रह्माकाशस्य कारणम् ।
आकाशोपहितं वायोर्वायूपहितमर्चिषः ॥ ३२३ ॥

---

'अस्य' इत्यादि । इस द्वैतरूप इन्द्रजालका उपादान कारण जो अज्ञान है, उसीका आश्रयण करके ब्रह्म कारण कहा जाता है, वास्तवमें ब्रह्म शुद्ध ही है ॥ ३१८ ॥

'तादृशो' इत्यादि । उस ब्रह्मसे अकस्मात् कर्मके उद्बोधनमें तथा कर्मके उपसंहारमें ईश्वर अज्ञानके बिना अन्य हेतुकी अपेक्षा नहीं करता ॥ ३१९ ॥

'वाति वायुर्यथा' इत्यादि । जैसे वायु अकस्मात् बहता है और अकस्मात् शान्त हो जाता है, वैसे ही कर्मके उद्बोधन और उपसंहार भी निर्निमित्त ही हैं ॥ ३२० ॥

'उत्थास्यामि' इत्यादि । मैं ब्राह्म मुहूर्त्तमें उठूंगा, इस प्रकार अभिसन्धि ( इरादा ) करके सोनेवाला पुरुष जैसे नियमसे ब्राह्म मुहूर्तमें ही उठता है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए ॥ ३२१ ॥

'संहरन्नभिसन्धत्त' इत्यादि । प्रलय करता हुआ प्रलयकी इयत्ता ( परिमाण ) की अभिसन्धि करता है । उतने प्रलयके अन्तमें शीघ्र ही सिसृक्षा ( सृष्टिकी इच्छा ) उत्पन्न हो जाती है ॥ ३२२ ॥

'अज्ञानमात्रोपहितम्' इत्यादि । अज्ञानमात्रसे उपहित ब्रह्म आकाशका कारण है और आकाशसे उपहित होकर वायुका और वायुसे उपहित होकर अग्निका कारण है ॥ ३२३ ॥

अग्निनोपहितं चाऽऽपां जलेनोपहितं भुवः ।
एवमुत्तरकार्येषु ततः सर्वकृदुच्यते ॥ ३२४ ॥
कार्यकारणरूपेण स्थितं यज्जगदीक्ष्यते ।
ओतं प्रोतं तदीशेऽस्मिन्कार्पासे तन्तुवस्त्रवत् ॥ ३२५ ॥
प्रतिबिम्बतया कार्येष्वीशो नानात्वमाव्रजेत् ।
स्वोत्सृष्टतोयधारासु प्रतिबिम्बैर्यथा रविः ॥ ३२६ ॥
अपास्ताज्ञान ईशोऽसावस्थूलाद्युक्तिगोचरः ।
साभासाज्ञानयुक्तः सन्साक्ष्यन्तर्यामितां व्रजेत् ॥ ३२७ ॥
हिरण्यगर्भो बुद्धिस्थो रजःसत्त्वतमोगुणैः ।
ब्रह्मा हरिः पिनाकी स्यादेवमर्त्यादयस्तथा ॥ ३२८ ॥

---

'अग्निनोपहितम्' इत्यादि । अग्निसे उपहित होकर जलका और जलसे उपहित होकर ब्रह्म पृथ्वीका कारण कहा जाता है, इसी प्रकार उत्तरोत्तर कार्योंसे उपहित होता हुआ ब्रह्म ही सब कार्योंका कर्ता कहा जाता है ॥ ३२४ ॥

'कार्यकारणरूपेण' इत्यादि । कार्यकारणरूपसे अवस्थित जो जगत् देखा जाता है, वह कपासमें तन्तु और वस्त्रकी तरह उस ईश्वरमें ओत-प्रोत है ॥ ३२५ ॥

'प्रतिबिम्बतया' इत्यादि । जैसे सूरज अपनेसे ही बनाई हुई जलकी धाराओंमें अपने प्रतिबिम्बोंसे नानाभावको प्राप्त होता है, वैसे ही ईश्वर भी अपने कार्योंमें प्रतिबिम्बित होकर देव, मनुष्य आदि रूपसे नानाभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३२६ ॥

'अपास्ताज्ञान' इत्यादि । अज्ञानसे रहित अस्थूलादि शब्दोंका गोचर जो निरुपाधिक ब्रह्म कहा जाता है, वही ईश्वर साभास अज्ञानसे युक्त होकर चित्की प्रधानतासे साक्षिताको और तमकी प्रधानतासे अन्तर्यामिताको प्राप्त होता है ॥ ३२७ ॥

'हिरण्यगर्भो' इत्यादि । जैसे वह समबुद्धिसे उपहित होकर हिरण्यगर्भ रजोगुणसे उपहित होकर हरि और तमोगुणसे उपहित हो कर शिव कहा जाता है, वैसे ही देव, मर्त्य आदि शरीररूप उपाधियोंसे वही देव मर्त्यादि कहा जाता है ॥ ३२८ ॥

तत्तत्सोपाधिजन्मैवं जन्मात्मन इहोच्यते ।
अजनेर्वियतो जन्म यथा कुम्भादिजन्मना ॥ ३२९ ॥
असाधारणरूपैव मृत् स्वकार्ये बहुत्वतः ।
सामान्यरूपतामेति स्वकार्येष्वीश्वरस्तथा ॥ ३३० ॥
अव्यावृत्तानुगतमपि ब्रह्म तमोवशात् ।
व्यावृत्तानुगतात्मत्वमित्थं प्राप्तमिवेक्ष्यते ॥ ३३१ ॥
अनादि तत्तमो ज्ञेयं तज्जकालाद्यनाप्लुतेः ।
आगन्तु चेदिहाऽज्ञानमनिर्मोक्षः प्रसज्यते ॥ ३३२ ॥
न चाऽनादेरनुच्छित्तिरनाद्यज्ञाननाशने ।
मानानां मानतां सर्वे आश्रयन्ति हि वादिनः ॥ ३३३ ॥
मान्तरैः पूर्वमज्ञातं वस्तु मेयमितीर्यते ।
यद्वस्तुबोधादज्ञाननाशकं मानमुच्यते ॥ ३३४ ॥

---

'तत्तत्सोपाधिजन्मैवम्' इत्यादि । तत्-तत् उपाधियोंका जन्म होनेसे ही आत्माका जन्म कहा जाता है । जैसे जन्मरहित आकाशका जन्म कुम्भ आदिके जन्मसे कहा जाता है ॥ ३२९ ॥

'असाधारणरूपैव' इत्यादि । जैसे मृत्तिका असाधारणरूपसे ही अपने कार्योंमें बहुरूप होकर सामान्यरूपताको प्राप्त होती है; वैसे ही ईश्वर अपने कार्योंमें सामान्यरूपताको प्राप्त होता है ॥ ३३० ॥

'अव्यावृत्ता०' इत्यादि । ब्रह्म न किसीसे व्यावृत्त है, न किसीमें अनुगत ही है, तथापि अज्ञानके वशसे व्यावृत्ति और अनुगतिको प्राप्त हुएकी तरह देखा जाता है ॥ ३३१ ॥

'अनादि' इत्यादि । देश, काल आदि अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं, इसलिए अज्ञानको अनादि समझना चाहिए । यदि अज्ञान आगन्तुक ( उत्पन्न हुआ ) होता, तो अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग होता, क्योंकि कारणके बिना जैसे पहले उत्पन्न हुआ था, वैसे ही नष्ट होकर भी उत्पन्न हो सकता था ॥ ३३२ ॥

'न चाऽनादे०' इत्यादि । अनादि अज्ञानका उच्छेद नहीं हो सकता, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सभी प्रकारके वादी लोग अनादि अज्ञानका नाश करना ही प्रमाणोंकी प्रमाणता कहते हैं ॥ ३३३ ॥

'मान्तरैः' इत्यादि । जो वस्तु पहले किसी प्रमाणसे ज्ञात न हो, उसीको

उक्ताज्ञानप्रधानत्वे कार्यकारणता चितः ।
चित्प्राधान्यविवक्षायां कार्यकारणसाक्षिता ॥ २३५ ॥
साक्ष्ये अज्ञानतत्कार्ये अपेक्ष्य भ्रान्तबुद्धिभिः ।
कूटस्थो निर्द्वयोऽप्यात्मा साक्षीत्यध्यस्यते जडैः ॥ २३६ ॥
मोहतत्कार्यनीडं यत्कूटस्थाभासरूपकम् ।
ज्ञानं तदविनाभूतः परः साक्षीति भण्यते ॥ २३७ ॥
कूटस्थस्य न साक्षित्वं द्वितीयासङ्गतेर्भवेत् ।
नाशिनोऽपि न साक्षित्वं साक्ष्येणाऽव्यतिरेकतः ॥ २३८ ॥
अज्ञानमात्रहेतौ तु सर्वमेतत्समञ्जसम् ।
कर्तृत्वाद्यन्यथाज्ञानहेतुत्वात्तस्य चाऽऽत्मनि ॥ २३९ ॥

---

प्रमेय कहा करते हैं। जिससे वस्तुका बोध होकर अज्ञानका नाश होता है, उसको प्रमाण कहते हैं ॥ २३४ ॥

'उक्ताज्ञान०' इत्यादि। उक्त अज्ञानकी प्रधानतासे चेतनमें कार्यकारण-भाव है, चित्प्राधान्यकी विवक्षा होनेपर वह सब कार्यों और कारणोंका साक्षी है ॥ २३५ ॥

'साक्ष्ये' इत्यादि। अज्ञान और अज्ञान-कार्य ये दोनों साक्ष्य ( साक्षीसे भासित होनेवाले ) हैं, उनकी अपेक्षा करके भ्रान्त-बुद्धि जड़ लोग कूटस्थ अद्वितीय आत्माको भी साक्षी कहते हैं ॥ २३६ ॥

'मोहतत्कार्यनीडम्' इत्यादि। अज्ञान और अज्ञानके कार्यमें स्थित जो कूटस्थका आभासरूप ज्ञान है, उसके साथ मिलकर ही परमात्मा साक्षी कहा जाता है ॥ २३७ ॥

'कूटस्थस्य' इत्यादि। द्वितीय वस्तुके सम्बन्धके सिवा कूटस्थ साक्षी नहीं हो सकता और विनाशी चिदाभास साक्षिभास्य होनेसे साक्षी नहीं हो सकता ॥ २३८ ॥

'अज्ञानमात्रहेतौ' इत्यादि। आज्ञानमात्रको कारण माननेपर सब व्यवस्था समीचीन हो जाती है, क्योंकि अज्ञान ही आत्मामें कर्तृत्वादि अन्यथा-ज्ञानका हेतु है ॥ २३९ ॥

न चाऽज्ञानस्य वस्तुत्वं शक्यते शङ्कितुं बुधैः ।
तेन साक्षित्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादेरवस्तुता ॥ ३४० ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिरस्मद्धीपरिमोषणात् ।
तमोरूपमिवाऽऽभाति भानुर्नक्तंदृशामिव ॥ ३४१ ॥
आत्मात्मवत्त्वसम्बन्ध आत्मात्माज्ञानयोर्मतः ।
ईशादिविषयान्तं यत्तदविद्याविजृम्भितम् ॥ ३४२ ॥
मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
इति वेदशिरःसूक्तिरुक्तार्थे युज्यते स्फुटम् ॥ ३४३ ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम मायेति च स्मृतिः ।
वैष्णवी खल्वियं मायेत्येवं लोके च गीयते ॥ ३४४ ॥
इत्थमव्याकृतस्याऽस्य जगत्कारणतोदिता ।
प्रमेयत्वं पूर्वमुक्तं द्वैविध्यं तत्र सुस्थितम् ॥ ३४५ ॥

---

'न चाऽज्ञानस्य' इत्यादि । पण्डित लोग अज्ञानको वस्तु नहीं कह सकते हैं, इसलिए साक्षित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि भी अवस्तु ( मिथ्या ) हैं ॥ ३४० ॥

'ज्योतिषा०' इत्यादि । वह परमात्मा सूर्यादि ज्योतियोंका भी ज्योति है, परन्तु हमारी बुद्धिके स्थगित हो जानेसे जैसे उल्लू सूर्यको नहीं देखता, वैसे ही वह हम लोगोंको अज्ञातकी ही तरह प्रतीत होता है ॥ ३४१ ॥

'आत्मा०' इत्यादि । आत्मा और आत्माके अज्ञानका 'आत्मात्मवत्त्व' ( आध्यासिक तादात्म्य ) ही सम्बन्ध है, इसलिए ईश्वरसे लेकर विषयपर्यन्त सारा जगत् अविद्याका ही विलास है ॥ ३४२ ॥

'मायान्तु' इत्यादि । मायाको प्रकृति ( उपादान कारण ) समझना चाहिए और मायीको महेश्वर समझना चाहिए । यह उपनिषद्का वचन स्पष्ट प्रमाण है ॥ ३४३ ॥

'दैवी' इत्यादि । यह गुणमयी दैवी माया मेरी है, यह स्मृति है । लोकमें भी माया वैष्णवी ( विष्णुकी शक्ति ) कही जाती है ॥ ३४४ ॥

'इत्थमव्याकृत०' इत्यादि । इस प्रकार इस अव्याकृतमें जगत्-कारणता कही गई । प्रमेयत्व पहले कह चुके हैं, इसलिए ईश्वरमें कारणत्व और प्रमेयत्व स्थित हैं ॥ ३४५ ॥

चित्प्रधानं प्रमेयत्वे हेतुत्वे मोहमुख्यता ।
मेयत्वात्तदुपादेयं हेयं तत् कारणत्वतः ॥ ३४६ ॥
तस्मिन्नव्याकृते ब्रह्मभागः शास्त्रेण मीयते ।
मोहभागोऽनर्थमूलं ब्रह्मबोधेन बाध्यते ॥ ३४७ ॥
यतो बिभ्यति भूतानि संसाराख्यादनर्थतः ।
तन्मूलं मोह इत्युक्ते स्यादुच्छेद्यत्वसम्भवः ॥ ३४८ ॥
आगता बहवश्चोरा इति श्रुत्वाऽतिविह्वलः ।
स्वप्नप्रलापं तं ज्ञात्वा भवेत्स्वस्थो यथा तथा ॥ ३४९ ॥
महासम्भ्रमसंसारं दुरुच्छेदत्वशङ्कया ।
विह्वलो मूलशैथिल्यं ज्ञात्वोच्छेदे प्रवर्तते ॥ ३५० ॥
स्वात्मैव मेयं इत्युक्ते बोधसौलभ्यसम्भवात् ।
भवेदभिमुखो यत्नाच्छ्रुतमव्याकृतं ततः ॥ ३५१ ॥

'चित्प्रधानम्०' इत्यादि । प्रमेयत्वमें चेतनकी प्रधानता है और कारणत्वमें अज्ञानकी प्रधानता है । प्रमेय होनेसे चैतन्य-भाग उपादेय ( ग्रहण करनेके योग्य ) है और कारण होनेसे अज्ञान हेय ( त्याज्य ) है ॥ ३४६ ॥

'तस्मिन्नव्याकृते' इत्यादि । उस अव्याकृतमें जो ब्रह्म-भाग है, वह शास्त्रसे ज्ञात होता है और अनर्थका मूल जो अज्ञान-भाग है, उसका ब्रह्मज्ञानसे बाध हो जाता है ॥ ३४७ ॥

'यतो' इत्यादि । जिस संसाररूपी अनर्थसे सब प्राणी डरते हैं, उसका मूल मोह ( अज्ञान ) है, ऐसा कहनेपर उसके नाशकी सम्भावना हो जाती है ॥३४८॥

'आगता' इत्यादि । बहुतसे चोर आये हैं, ऐसा सुनकर व्याकुल हुआ पुरुष जब यह जान लेता है कि यह स्वप्नका प्रलाप है तब जैसे स्वस्थ हो जाता है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए ॥ ३४९ ॥

'महासंभ्रम०' इत्यादि । महासंभ्रम संसारके दुरुच्छेदत्वकी शङ्कासे व्याकुल हुआ पुरुष मूलकी शिथिलताको जानकर उसके उच्छेदमें प्रवृत्त हो जाता है ॥ ३५० ॥

'स्वात्मैव' इत्यादि । अपना आत्मा ही ज्ञातव्य है, ऐसा कहनेपर जब ज्ञानकी सुलभताकी सम्भावना प्रतीत होती है, तब यत्नसे ज्ञानके अभिमुख होता है, इसलिए श्रुतिने अव्याकृतशब्द कहा है ॥ ३५१ ॥

इत्यव्याकृतवाक्यार्थो न्यायेन सुनिरूपितः ।
अथ व्याकृतवाक्यार्थः क्रमप्राप्तो निरूप्यते ॥ ३५२ ॥
व्याकृतं द्विविधं देहसृष्टिर्देहप्रवेशनम् ।
देहादिर्विषयत्वेन प्रवेशात् पूर्वमुच्यते ॥ ३५३ ॥
अव्याकृतं यत्पुरोक्तमनामकमरूपकम् ।
तदिदं नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते स्वयम् ॥ ३५४ ॥
सुषुप्तादुत्थिती राज्ञः स्वयमेव यथा तथा ।
जग्धाशेषजगन्मूर्तेरव्यक्ताद्व्याकृतिर्मुहुः ॥ ३५५ ॥
नामरूपे तु शब्दार्थौ न ताभ्यामतिरिच्यते ।
जगत्किञ्चिद्धटादौ हि द्वयमेव समीक्ष्यते ॥ ३५६ ॥
प्रक्रियानियमो नाऽत्र पुंव्युत्पत्तिप्रधानतः ।
अतः श्रुतिषु सृष्ट्यादिविगानं बहुधेक्ष्यते ॥ ३५७ ॥

---

'इत्यव्याकृत०' इत्यादि । इस प्रकार अव्याकृतवाक्यका अर्थ न्यायसे निरूपण किया गया, अब क्रमप्राप्त व्याकृतवाक्यके अर्थका निरूपण करते हैं ॥ ३५२ ॥

'व्याकृतम्' इत्यादि । व्याकृत दो प्रकारका है—एक देहकी सृष्टि और दूसरा देहमें प्रवेश । प्रवेशका विषय देह है, इसलिए वह प्रवेशसे पहले कहा जाता है ॥३५३॥

'अव्याकृतम्' इत्यादि । जो पहले नामरूपसे रहित अव्याकृत कहा गया है, वह यह आप ही नामरूपसे व्याकृत हो गया ॥ ३५४ ॥

'सुषुप्तादुत्थिती' इत्यादि । जैसे राजाका सुषुप्तिसे जागरण स्वयमेव हो जाता है, वैसे ही अशेष जगत्का भक्षण करनेवाले अव्याकृतसे फिर स्वयमेव व्याकृति हो जाती है ॥ ३५५ ॥

'नामरूपे' इत्यादि । शब्द और अर्थको नाम और रूप कहते हैं । शब्द और अर्थके बिना जगत् कोई पदार्थ ही नहीं है, क्योंकि घट आदिमें शब्द और अर्थ ये दो ही देखे जाते हैं ॥ ३५६ ॥

'प्रक्रियानियमो' इत्यादि । पुरुषकी व्युत्पत्ति ही प्रधान है, अतः प्रक्रियाका नियम यहाँ विवक्षित नहीं है । श्रुतिका तात्पर्य पुरुषको

योऽनाऽनिर्वाच्यमज्ञानमुपेक्ष्याऽन्यदुपेयते ।
मिथ्याज्ञानं मते तस्य त्रितयं भ्रान्तिकारणम् ॥ ३६३ ॥
अवस्तुत्वादनिर्वाच्यं कथं संसारकारणम् ।
मिथ्याज्ञानं तु वस्तुत्वाद्धेतुः स्यादिति चेन्न तत् ॥ ३६४ ॥
वस्तुप्रमित्या हेयस्य मिथ्याज्ञानस्य वस्तुता ।
न युक्ता वस्तुनो मानहेयत्वे शून्यशेषता ॥ ३६५ ॥
मिथ्या च वस्तु चेत्येतत्कथं न व्याहृतं वचः ।
न च त्रितयजन्यत्वं मिथ्याज्ञानस्य युक्तिमत् ॥ ३६६ ॥
व्योमनैल्ये दिग्भ्रमे च रविप्राग्यानिद्रयोः ।
अङ्गीकर्तव्यमेवैतन्मिथ्याज्ञानमृते त्रयात् ॥ ३६७ ॥
व्योमन्यचाक्षुषे नैल्यभ्रमश्चाक्षुष ईक्ष्यते ।
न च सामान्यविज्ञानं चाक्षुषं तत्र सम्भवेत् ॥ ३६८ ॥

---

'येनाऽनिर्वाच्य०' इत्यादि। जो अनिर्वचनीय अज्ञानकी उपेक्षा करके मिथ्या-ज्ञानको भिन्न स्वीकार करता है, उसके मतमें भ्रान्तिके कारण तीन हैं ॥३६३॥

'अवस्तुत्वाद०' इत्यादि। अवस्तु होनेसे अनिर्वचनीय अज्ञान संसारका कारण कैसे हो सकता है? मिथ्याज्ञान तो वस्तु होनेसे संसारका कारण हो सकता है, यह नहीं कहना चाहिए ॥ ३६४ ॥

'वस्तुप्रमित्या' इत्यादि। जिस मिथ्याज्ञानको तुम संसारका कारण मानते हो, उसका अधिष्ठानज्ञानसे बाध होता है या नहीं? मिथ्याज्ञानका अधिष्ठानज्ञानसे बाध होता है, इस प्रथम पक्षमें मिथ्याज्ञान वस्तु सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वस्तुका यदि प्रमाणसे नाश हो, तो शेष शून्य रह जायगा, सो युक्त नहीं है ॥ ३६५ ॥

'मिथ्या' इत्यादि। अधिष्ठानज्ञानसे मिथ्याज्ञानका बाध नहीं होता, इस द्वितीय पक्षमें मिथ्या और वस्तु—ये वचन व्याहत हैं, इसलिए मिथ्याज्ञान तीन कारणोंसे जन्य है, इसमें कोई युक्ति नहीं है ॥ ३६६ ॥

'व्योमनैल्ये' इत्यादि। आकाशकी नीलता, दिशाओंके भ्रम, सूर्यकी पूर्वकी ओर गति और निद्रामें मिथ्याज्ञान कारण-त्रितयके बिना होता है, यह अङ्गीकार करना पड़ेगा ॥ ३६७ ॥

'व्योमन्य०' इत्यादि। अचाक्षुष ( चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञानके अविषय )

नीरूपदिग्विभेदेषु प्राच्यादिव्यत्ययेक्षणम् ।
पश्चाद्गच्छत्सु मेघेषु रवौ प्राग्गतिविभ्रमः ॥ ३६९ ॥
स्वप्ने नानाप्रपञ्चाढ्यं मिथ्याज्ञानमवेक्ष्यते ।
न सम्पादयितुं शक्यं तत्र तत्रोदितं त्रयम् ॥ ३७० ॥
सम्यग्ज्ञाने च मिथ्यात्वं स्याच्चत्र त्रयसम्भवात् ।
सोऽयं घट इति ज्ञाने सम्भवत्युदितं त्रयम् ॥ ३७१ ॥
कालद्वयेऽप्यनुगतं सामान्यं भात्यथान्तरे ।
विशेषो नैव भात्यस्ति तत्रांशे स्मरणं तथा ॥ ३७२ ॥
मिथ्याधियः स्मृतित्वेन वस्तुत्वं ये प्रचक्षते ।
तन्मतं च न सम्भाव्यं पुरोवर्तित्वभासनात् ॥ ३७३ ॥

---

आकाशमें नीलताका भ्रम चाक्षुष देखा जाता है और आकाशमें चाक्षुष-सामान्यज्ञानका सम्भव नहीं है ॥ ३६८ ॥

'नीरूप०' इत्यादि । रूपरहित दिशाओंमें भी प्राच्यादि विपरीत ज्ञान देखा जाता है । मेघ पश्चिम दिशाको जाता हो, तो सूर्यकी पूर्वकी ओर गतिका भ्रम होता है ॥ ३६९ ॥

'स्वप्ने' इत्यादि । स्वप्नमें नाना प्रपञ्चोंसे युक्त मिथ्याज्ञान देखा जाता है । इन स्थलोंमें उक्त कारणत्रितयका सम्पादन शक्य नहीं है ॥ ३७० ॥

'सम्यग्ज्ञाने' इत्यादि । सम्यक्ज्ञानमें भी कारणत्रितयका सम्भव होनेसे मिथ्यात्वकी प्रसक्ति होगी, क्योंकि 'सोऽयं घटः' इस सम्यक्ज्ञानमें उक्त त्रितयका सम्भव है ॥ ३७१ ॥

'कालद्वये०' इत्यादि । क्योंकि 'सोऽयं घटः' इस ज्ञानमें कालत्रयमें भी अनुगत घटत्वरूप सामान्यकी प्रतीति होती है । घटके अन्तर्भागके अंशोंकी विशेषरूपसे प्रतीति नहीं होती है, किन्तु स्मरण होता है, इसलिए आन्तर अंशोंका विशेषरूपसे अज्ञान है, अतः 'सोऽयं घटः' यह ज्ञान भ्रम होना चाहिए ॥ ३७२ ॥

'मिथ्याधियः' इत्यादि । मिथ्याज्ञानको स्मृति मानकर जो वस्तु कहते हैं, उनका मत सम्भव ( युक्त ) नहीं है, क्योंकि रजतमें पुरोवर्तित्वकी प्रतीति होती है ॥ ३७३ ॥

रजतभ्रमयुक्तस्य शुक्तिकैषेति वाक्यतः ।
शुक्तिबोधो भवेन्नैव मिथ्याज्ञानानिषेधतः ॥ ३८० ॥
अज्ञानमेव हेतुः स्याद्यदि भ्रान्तेस्तदा कथम् ।
रूप्यधीनियमः शुक्ताविति चेत्तेऽपि तत्समम् ॥ ३८१ ॥
अथ ते शौक्ल्यसाम्येन रौप्यधीर्यदि तर्हि ते ।
वस्तुत्वसाम्यतः शुक्तौ गजधीरपि नो कुतः ॥ ३८२ ॥
अस्तु शौक्ल्येन नियमस्तस्य वा रूप्य एव कः ।
पक्षपातो विना हेतुं बलाकाज्ञानकृन्न किम् ॥ ३८३ ॥
अदृष्टेनाऽस्य नियमे समो मायामतेऽपि सः ।
यद्वा दुर्घटकारिण्यां मायायामेव सम्भवेत् ॥ ३८४ ॥

---

'रजत०' इत्यादि । इसी प्रकार 'इदं रजतम्' इस रूप्यभ्रमवाले पुरुषको 'यह शुक्ति है' इस वाक्यसे शुक्तिका ज्ञान नहीं होना चाहिए, क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस वाक्यका उच्चारण न करनेसे तुम्हारे अभिमत अज्ञानका नाश नहीं हुआ है । सिद्धान्तमें तो 'यह शुक्ति है' इस वाक्यसे शुक्तितत्त्वका ज्ञान होनेपर उसके साथ ही अवश्यम्भावी होनेसे शुक्तिके अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है 'इदं रजतम्' यह वाक्य उसका अनुवादक है ॥ ३८० ॥

'अज्ञानमेव' इत्यादि । यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि भ्रान्तिका कारण अज्ञान ही है, तो शुक्तिमें रजतका ही भ्रम होता है, यह नियम कैसे ? किसी अन्य श्वेत वस्तुका भ्रम क्यों नहीं हो जाता है ? तो यह दोष उसके मतमें भी तुल्य है ॥ ३८१ ॥

'अथ' इत्यादि । यदि वह यह कहे कि शुक्लत्वका सादृश्य होनेसे शुक्तिमें रजतभ्रम ही होता है, तो वस्तुत्वका सादृश्य होनेसे शुक्तिमें गजका ज्ञान क्यों नहीं होता ? ॥ ३८२ ॥

'अस्तु' इत्यादि । हेतुके बिना यदि शुक्लतासे ही नियम है, तो रजतमें पक्षपात क्यों ? बलाका भ्रम क्यों नहीं हो जाता है ? ॥ ३८३ ॥

'अदृष्टेनाऽस्य' इत्यादि । शुक्तिमें नियमसे रजतभ्रम होता है, इससे यदि अदृष्टको कारण मानो, तो वह समाधान मायावादमें भी तुल्य है अथवा दुर्घट-कारिणी मायामें ही भ्रमके नियमका सम्भव है ॥ ३८४ ॥

कस्माददृष्टमप्येतन्नान्यथैव नियच्छति ।
मायाचोद्ये वस्तुवादी कथं परिहरिष्यति ॥ ३८५ ॥
न जानामीति चेद्वक्ति मायावाद्येव तर्हि सः ।
तस्मादज्ञान एवैष विभ्रमः पर्यवस्यति ॥ ३८६ ॥
अज्ञातशुक्तौ रजतभ्रान्तिर्यद्वत्तथाऽऽत्मनि ।
अविज्ञाते नामरूपे विभ्रमाद् द्वैतलक्षणम् ॥ ३८७ ॥
पदार्थान्तरसद्भावमपेक्ष्याऽन्यस्य वस्तुनः ।
यस्य सिद्धिर्मृषा तत्स्याद्रज्जुसर्पद्विचन्द्रवत् ॥ ३८८ ॥
प्रमात्रादीह यत्किञ्चित्तत्सर्वं प्रत्यगात्मनः ।
सत्तामपेक्ष्य संसिद्ध्येत्तस्मात्तत्स्वप्नवन्मृषा ॥ ३८९ ॥
अनन्यापेक्ष आत्माऽयं स्वमहिम्नैव सिध्यति ।
नहि भावमपेक्षन्ते लोका अहमितीक्षणे ॥ ३९० ॥

---

'कस्माद्०' इत्यादि । अदृष्ट भी विपरीत नियम क्यों नहीं कर देता ? यदि मायावादी ऐसा प्रश्न करे, तो वस्तुवादी क्या उत्तर देगा ? ॥ ३८५ ॥

'न जानामीति' इत्यादि । यदि वह कहता है कि 'मैं नहीं जानता हूँ' तो वह मायावादी ही है, इसलिए भ्रमका कारण अज्ञान ही पर्यवसन्न होता है ॥ ३८६ ॥

'अज्ञातशुक्तौ' इत्यादि । अज्ञात शुक्तिमें जैसे रजतभ्रम होता है, वैसे ही अज्ञात आत्मामें भ्रमसे ही नामरूपात्मक द्वैत प्रतीत होता है ॥ ३८७ ॥

'पदार्थान्तर०' इत्यादि । जिस वस्तुकी सिद्धि पदार्थान्तरके सद्भावकी अपेक्षा करके होती है, वह पदार्थ रज्जुसर्प, द्विचन्द्र आदिकी तरह मिथ्या ही हुआ करता है ॥ ३८८ ॥

'प्रमात्रादीह' इत्यादि । प्रमाता आदि सब जगत् प्रत्यगात्माकी सत्ताकी अपेक्षा करके सिद्ध होता है, इसलिए वह स्वप्नकी तरह मिथ्या है ॥ ३८९ ॥

'अनन्यापेक्ष' इत्यादि । यह आत्मा अन्यकी अपेक्षाके बिना अपनी महिमासे ही सिद्ध होता है । लोग 'मैं हूँ' इस प्रकार 'मैं' के दर्शनमें किसी अन्य भावपदार्थकी अपेक्षा नहीं करते हैं ॥ ३९० ॥

अस्य द्वैतस्य वस्तुत्वं यद्विभाति प्रतीतितः ।
तदात्मवस्तुसम्बन्धाद्भाति तत्र न तु स्वतः ॥ ३९१ ॥
रज्जुसर्पो यथा रज्ज्वा सात्मकः प्राग्विवेकतः ।
स्वतो निरात्मकं तत्स्यात्सात्म द्वैतं तथाऽऽत्मना ॥ ३९२ ॥
यत्स्याद्यस्मिन्नविज्ञाते ज्ञाते तस्मिन्न तद्भवेत् ।
स्वतो निरात्मकं तत्स्यादिदं द्वैतं च तादृशम् ॥ ३९३ ॥
अहं ब्रह्मेत्यविज्ञाते द्वैतमेतद्विभासते ।
ज्ञाते त्वविद्याविध्वंसान्न क्वचिद्भेदधीर्भवेत् ॥ ३९४ ॥
विद्योत्पत्तावविद्येयं विरुद्धत्वेन बाध्यते ।
नाऽतः पृथगपेक्षाऽस्ति मिथ्याधीबाधनं प्रति ॥ ३९५ ॥
मिथ्याधियोऽस्याः सद्भावः स्यादविद्यैकमूलतः ।
मूलध्वस्तौ हतैवैषा भाताऽप्यस्मान्न बाधते ॥ ३९६ ॥

---

'अस्य' इत्यादि । प्रतीतिसे जो इस द्वैतका वस्तुत्व प्रतीत होता है, वह आत्म-वस्तुके सम्बन्धसे प्रतीत होता है, स्वतः नहीं ॥ ३९१ ॥

'रज्जुसर्पो' इत्यादि । जैसे विवेकज्ञानसे पहले रज्जुसर्पका स्वरूप रज्जु ही है, वैसे ही इस द्वैतका स्वरूप आत्मा ही है ॥ ३९२ ॥

'यत्स्याद्यस्मिन्न०' इत्यादि । जिसके अविज्ञात होनेपर जो पदार्थ प्रतीत होता है, वह उसके ज्ञात होनेपर प्रतीत नहीं होता, वह स्वतः निःस्वरूप हुआ करता है, यह द्वैत वैसा ही है ॥ ३९३ ॥

'अहम्' इत्यादि । 'मैं ब्रह्म हूं', ऐसा ज्ञान न होनेपर द्वैत भासता है और 'मैं ब्रह्म हूं', इस ज्ञानके होनेपर अविद्याका नाश हो जानेसे कहीं भेदज्ञान नहीं होता ॥ ३९४ ॥

'विद्योत्पत्ता०' इत्यादि । विद्याकी उत्पत्ति होनेपर विरोध होनेके कारण अविद्याका बाध हो जाता है, इसलिए भ्रमके बाधके लिए किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है ॥ ३९५ ॥

'मिथ्याधियोऽस्याः' इत्यादि । मिथ्याज्ञानके सद्भावका मूल एकमात्र अविद्या ही है । उस अविद्यारूपी मूलका विद्यासे नाश होनेपर मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है, फिर भी यद्यपि प्रारब्ध कर्मवश बाधित द्वैतकी अनुवृत्ति हो सकती है, तथापि अविद्यारूपी मूलके नष्ट होनेके बाद प्रतीत होनेवाला द्वैत हमारा बिगाड़ नहीं कर सकता ॥३९६॥

मूले क्रकचसंलूने सुमहानपि पादपः ।
यथापूर्वं फलं नैव दत्ते शुष्यति कालतः ॥ ३९७ ॥
यत्राऽध्यासो यदध्यस्तं भेदो भाति तयोरिति ।
यदुक्तं तदसद्भेद एवाऽत्राध्यस्यते यतः ॥ ३९८ ॥
न भेदभेदिनोर्लोके भेदान्तरमपेक्ष्यते ।
तस्मादध्यस्यते भेदो निर्भेदात्मन्यविद्यया ॥ ३९९ ॥
ईश्वराव्याकृतप्राणविराड्भूतेन्द्रियादिधीः ।
नाऽविद्योपाश्रयं मुक्त्वा सम्भाव्या प्रत्यगात्मनि ॥ ४०० ॥
प्रत्यग्याथात्म्यदृष्ट्या तन्निपुणोऽपि न वीक्षते ।
न च प्रत्यग्धियं मुक्त्वा पराग्बुद्धिर्मितिर्भवेत् ॥ ४०१ ॥
पराञ्चि खानीत्येतच्च साटोपमभिधीयते ।
प्रत्यक्ष्मानैकमेयत्वं वेदान्तेष्वात्मवस्तुनः ॥ ४०२ ॥

'मूले क्रकचसंलूने' इत्यादि। [जैसे] क्रकचसे (आरेसे) मूलके काट देनेपर महान् वृक्ष भी पूर्ववत् फल नहीं देता और काल पाकर सूख जाता है वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥३९७॥

'यत्राऽध्यासो' इत्यादि। जिसमें अध्यास है और जो अध्यस्त है; उन दोनोंका भेदज्ञान अध्यासका कारण है, यह जो कहा गया है, वह समीचीन नहीं है, क्योंकि भेद भी तो अध्यस्त ही है ॥ ३९८ ॥

'न भेदभेदिनोर्लोके' इत्यादि। लोकमें भेद और भेदवालेको अन्य भेदकी अपेक्षा नहीं हुआ करती, इसलिए भेदरहित आत्म-वस्तुमें अविद्यासे भेद अध्यस्त है ॥ ३९९ ॥

'ईश्वरा०' इत्यादि। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर, अव्याकृत, प्राण, विराट्, भूत तथा इन्द्रिय आदिका ज्ञान संसारका कारण है, परन्तु उसका अविद्यारूप आश्रयको छोड़कर प्रत्यगात्मामें सम्भव नहीं ॥ ४०० ॥

'प्रत्यग्याथात्म्य०' इत्यादि। प्रत्यगात्माकी यथार्थ दृष्टिसे निपुण पुरुष भी आत्मामें द्वैतको नहीं देखता, क्योंकि प्रत्यगात्माके ज्ञानके बिना द्वैतज्ञान कभी हो ही नहीं सकता ॥ ४०१ ॥

'पराञ्चि' इत्यादि। 'पराञ्चि खानि' इस श्रुतिने डंकेकी चोटसे घोषणा की है कि वेदान्तोंमें आत्मवस्तुका ज्ञान प्रत्यक् प्रमाणसे ही हो सकता है ॥ ४०२ ॥

नित्यशुद्धस्तथा बुद्धो मुक्तः सत्यः परः स्वतः ।
प्रत्यग्दृष्ट्याऽवसेयोऽसौ सद्वेदान्तोक्तिमानतः ॥ ४०३ ॥
एवम्भूतोऽप्यसम्बुद्धस्वात्मतत्त्वो महेश्वरः ।
आपेदे कारणात्मत्वं नामरूपादिसर्जने ॥ ४०४ ॥
नामरूपाध्यास एवं व्याकृतः प्रतिपादितः ।
प्रवेश्यः, तत्र जीवस्य प्रवेशः प्रतिपाद्यते ॥ ४०५ ॥
सर्वशास्त्रारम्भ एष यदर्थस्तद्विबुद्धये ।
स एष इह देहेषु प्रविष्ट इति गीयते ॥ ४०६ ॥
आत्मज्ञानावतारार्थः सर्वशास्त्रसमुद्भवः ।
संसारोच्छेदमेवाऽमी फलं शास्त्रकृतो ब्रुवन् ॥ ४०७ ॥
स्वत एव मनुष्याणां प्रवृत्तिर्भोगसिद्धये ।
तत्राऽनुवादि शास्त्रं स्यान्निवृत्तावेव तन्मितिः ॥ ४०८ ॥

---

'नित्यशुद्धस्तथा' इत्यादि । प्रत्यक् प्रमाणमात्रसे गम्य परमात्मा स्वतः नित्य शुद्ध है, बुद्ध है, मुक्त है और सत्य है । वेदान्तवाक्यरूप प्रमाणसे वह परमात्मा प्रत्यग्दृष्टिसे ही जाना जा सकता है ॥ ४०३ ॥

'एवम्भूतो०' इत्यादि । एवम्भूत आत्मतत्त्वको न जाननेवाला वह महेश्वर नाम-रूपादि सृष्टिमें कारणताको प्राप्त हुआ ॥ ४०४ ॥

'नामरूपाध्यास' इत्यादि । इस प्रकारसे नामरूपाध्यास व्याकृत है और वही प्रवेश्य ( प्रवेश करने योग्य ) है, ऐसा प्रतिपादन किया गया, अब उसमें जीवके प्रवेशका प्रतिपादन करते हैं ॥ ४०५ ॥

'सर्वशास्त्रारम्भ' इत्यादि। जिसके ज्ञानके लिए यह सब शास्त्रोंका आरम्भ है वह यह परमात्मा जीवरूपसे इन देहोंमें प्रवेश कर गया है, यह कहा जाता है ॥ ४०६ ॥

'आत्मज्ञाना०' इत्यादि । सब शास्त्रोंकी रचना आत्मज्ञानकी उत्पत्तिके लिए ही है, क्योंकि सब शास्त्रकार संसारका उच्छेद ही आत्मज्ञानका फल है, ऐसा कहते हैं ॥ ४०७ ॥

'स्वत एव' इत्यादि । भोगकी सिद्धिके लिए मनुष्योंकी स्वतः ही प्रवृत्ति

विरोधः सर्वशास्त्रेषु पदार्थानां व्यवस्थितौ ।
युक्तस्तात्पर्यहीनत्वाच्छ्रुतौ सृष्टिविगानवत् ॥ ४०९ ॥
अपि वात्स्यायनादीनां शास्त्राणां द्वारभेदतः ।
प्रामाण्यमविरुद्धं स्यादैकात्म्यज्ञानजन्मने ॥ ४१० ॥
प्रवर्त्तमानः कामेषु शास्त्रदीपितवर्त्मना ।
दुर्लभत्वादिकान्दोषान्दृष्ट्वाऽतो विनिवर्त्तते ॥ ४११ ॥
अनित्यदुःखशून्यत्वं पदार्थानां स्फुटं ब्रुवन् ।
बुद्धोऽपि रागाद्युच्छित्तौ यतते नाऽऽत्मनिह्नुतौ ॥ ४१२ ॥
यद्वा वेदस्य कृत्स्नस्य स्वात्मज्ञानार्थतोदिता ।
तिष्ठन्त्वनात्मावादास्ते किन्नस्तैस्तैः प्रयोजनम् ॥ ४१३ ॥
स एषोऽत्राऽऽनखाग्रेभ्यः प्रविष्ट इति वेदगीः ।
व्याख्यायतेऽसौ पदश आदौ मीमांस्यते त्वथ ॥ ४१४ ॥

---

होती है, इसलिए भोग-प्रधान शास्त्र अनुवादमात्र है। उनका तात्पर्य निवृत्तिमें ही है ॥ ४०८ ॥

'विरोधः' इत्यादि। पदार्थोंकी व्यवस्थामें ही सब शास्त्रोंका विरोध है, सो युक्त ही है, क्योंकि पदार्थोंमें शास्त्रका तात्पर्य नहीं है। जैसे सृष्टिमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है किन्तु संसारकी निवृत्तिमें ही है, वैसे ही शास्त्रोंका भी निवृत्तिमें ही तात्पर्य है ॥ ४०९ ॥

'अपि वात्स्या०' इत्यादि। अपि च कामप्रधान वात्स्यायनादि शास्त्रोंका भी द्वारभेदसे आत्मज्ञानकी उत्पत्तिमें ही अविरुद्ध प्रामाण्य है ॥ ४१० ॥

'प्रवर्त्तमानः' इत्यादि। क्योंकि शास्त्रबोधित मार्गसे भी भोगोंमें प्रवृत्त होनेवाला पुरुष दुर्लभत्वादि दोषोंको देखकर उन भोगोंसे निवृत्त हो जाता है ॥ ४११ ॥

'अनित्यदुःखशून्यत्वं' इत्यादि। पदार्थोंको अनित्यदुःखशून्यात्मक बतलाता हुआ बुद्ध भी रागादिके उच्छेदमें स्पष्ट यत्न करता है, आत्माके छिपानेमें यत्न नहीं करता ॥ ४१२ ॥

'यद्वा' इत्यादि। अथवा सम्पूर्ण वेद आत्मज्ञानार्थक है, यह कह दिया। जो अनात्मवाद हैं, वे वैसे ही बने रहें, उनसे हमें क्या प्रयोजन है ? ॥४१३॥

'स एषोऽत्रा०' इत्यादि। वह यह परमात्मा इस देहमें नखाग्रपर्यन्त प्रवेश

स इत्यनेन शब्देन प्रकृतार्थावलेहिना ।
अव्याकृताध्यक्ष आत्मा यः पुरोक्तः स उच्यते ॥ ४१५ ॥
ननु व्याक्रियतेत्येष शब्दः स्यात्कर्मकर्तरि ।
नोक्तोऽतोऽध्यक्ष इति चेन्नाऽर्थाक्षिप्तत्वसम्भवात् ॥ ४१६ ॥
अव्याकृतेदम्पदयोः सामानाधिकरण्यतः ।
व्याकृताव्याकृतैकत्वाद्ध्यक्षोऽद्येव कल्प्यताम् ॥ ४१७ ॥
इदं जगन्नियन्त्रादिविभिन्नानेकरूपवत् ।
यथाऽधुना तथा पूर्वमव्यक्तत्वं विशिष्यते ॥ ४१८ ॥

कर गया, इस वेदवाक्यकी व्याख्या करते हैं, अब एक-एक पदकी मीमांसा की जाती है ॥ ४१४ ॥

'स इत्यनेन' इत्यादि। प्रकृतके ( प्रकरणस्थित पदार्थके ) बोधक 'स' इस शब्दसे पूर्वोक्त आत्मा, जो अव्याकृतका अध्यक्ष है, कहा जाता है ॥ ४१५ ॥

'ननु' इत्यादि । 'व्याक्रियत' यह शब्द कर्म-कर्तामें 'लङ्' लकार करनेसे सिद्ध हुआ है । कार्यकी सुकरताकी अपेक्षासे जहाँ अन्य कारकोंकी अपेक्षा नहीं की जाती वहां अन्य कारक भी कर्ता हो जाया करते हैं । जैसे 'स्वयमेव लूयते केदारः' ( खेत आप ही कट रहा है ) सूखा होनेसे आसानीसे कट रहा है, इसलिए खेतरूपी कर्म यहाँ कर्ता कहा जाता है, वैसे ही इस श्रुतिमें 'तद्धेदं व्याक्रियत' ( प्रलय-कालमें अव्याकृतमें लीन वह जगत् आप ही व्याकृत हो गया ) इस प्रकार व्याकृतिकी सुकरताकी अपेक्षासे कर्मभूत जगत्को कर्ता कहा है । इस वाक्यमें अध्यक्षका तो कथन है नहीं ? यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे, तो ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थसे अध्यक्षका आक्षेप हो सकता है ॥ ४१६ ॥

'अव्याकृते' इत्यादि । अव्याकृत और इदम् ये दोनों पद प्रथमान्त होनेसे समानाधिकरण ( अभिन्न अर्थके वाचक ) प्रतीत होते हैं, इसलिए व्याकृत और अव्याकृतकी एकता सिद्ध होती है; इसलिए उन दोनोंकी एकताके लिए दोनोंका साक्षी एक है, यह कल्पना करनी चाहिए ॥ ४१७ ॥

'इदम्' इत्यादि । नियन्ता आदि अनेकभेदोंवाला और अनेकरूपोंवाला यह जगत् जैसा अब है, वैसा ही अव्याकृत-अवस्थामें था । केवल भेद इतना ही है कि अब व्यक्त है, प्रलयकालमें अव्यक्त था ॥ ४१८ ॥

व्याकृतं वाऽव्याकृतं वा जगदित्यभिधानतः ।
आत्मानात्मोभयार्थैव विवक्षेत्यभिगम्यताम् ॥ ४२५ ॥
तर्ह्यव्याकृतवाक्येऽस्मिन् द्वयस्य प्रकृतत्वतः ।
परस्यैव परामर्शः कथमत्रेति चेच्छृणु ॥ ४२६ ॥
जगज्जनिस्थितिध्वंसनृत्तसाक्षिणमीश्वरम् ।
मुक्त्वाऽन्यस्य प्रवेश्यत्वात्प्रवेष्टा शिष्यते परः ॥ ४२७ ॥
अथवा भयनाशाय विराजः स्वात्मवीक्षणे ।
तच्छब्देनोदितः साक्षी स परामर्शमर्हति ॥ ४२८ ॥
यद्वा विराडधिष्ठानं ब्राह्मणादावुदीरितम् ।
आत्मशब्देन तस्याऽत्र परामर्शो भविष्यति ॥ ४२९ ॥
तच्छब्देन परामृष्टः साक्ष्यव्याकृतभासकः ।
एतच्छब्देन कार्यस्थः प्रत्यक्षमुपदिश्यते ॥ ४३० ॥

---

'व्याकृतम्' इत्यादि । जगत् इस कथनसे व्याकृत अथवा अव्याकृत दोनों कहे जाते हैं, इसलिए यहांपर आत्मा और अनात्मा दोनोंकी जगत्शब्दसे विवक्षा समझनी चाहिए ॥ ४२५ ॥

'तर्ह्यव्याकृत०' इत्यादि। 'तर्हि' इस अव्याकृत वाक्यमें आत्मा और अनात्मा दोनों ही जब प्रकृत हैं, तब 'स' शब्दसे परमात्माका ही परामर्श क्यों किया जाता है ? ऐसा कहो तो सुनो ॥ ४२६ ॥

'जगज्जनि०' इत्यादि । जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप नृत्यके साक्षी ईश्वरको छोड़कर अन्यके ( अनात्माके ) प्रवेश्य ( प्रवेशस्थान ) होनेसे शेष रहा जो परमात्मा है, वही प्रवेष्टा हो सकता है ॥ ४२७ ॥

'अथवा' इत्यादि । अथवा 'यन्मदन्यन्नास्ति' इस प्रकार भयके नाशके लिए विराट्ने आत्माका दर्शन किया था, इसलिए तत्शब्दसे कहा हुआ, साक्षी 'स' शब्दसे परामर्शके योग्य है ॥ ४२८ ॥

'यद्वा' इत्यादि । अथवा ब्राह्मणके आदिमें ही 'आत्मैवेदमग्रे' इस श्रुतिसे विराट् अधिष्ठान कहा गया है, उसीका यहांपर आत्मशब्दसे परामर्श होगा ॥ ४२९ ॥

'तच्छब्देन' इत्यादि । 'स एष इह' इस श्रुतिमें 'स' शब्दसे अव्याकृतके

अद्वितीयमधिष्ठानं कार्यस्थः सद्वयस्तयोः ।
स एष इत्यभेदोक्तिर्दुष्करोति न चोद्यताम् ॥ ४३१ ॥
अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य दुष्करं नाऽस्ति किञ्चन ।
नीलीकृतं नभः पश्य चक्षुषा नीलवस्त्रवत् ॥ ४३२ ॥
योग्यायोग्यव्यपेक्षेयं मानव्यवहृतौ भवेत् ।
कल्पनामात्रनिष्पत्तेर्नापेक्षाऽज्ञानभूमिषु ॥ ४३३ ॥
इहेत्यनेन सूत्रादिस्थाणुपर्यन्तविग्रहाः ।
उच्यन्ते, तेषु जीवोऽयं विस्पष्टमुपलभ्यते ॥ ४३४ ॥
प्रविष्ट इति शब्देन चिदाभासतमोन्विता ।
जीवत्वेनोपलब्धिर्या चितः सैषाऽभिधीयते ॥ ४३५ ॥

---

भासक साक्षीका परामर्श है। 'एष' शब्दसे कार्यमें स्थित साक्षीका प्रत्यक्ष उपदेश है ॥ ४३० ॥

'अद्वितीयमधिष्ठानम्' इत्यादि। अधिष्ठान अद्वितीय है, कार्यस्थ सद्वितीय है, उन दोनोंकी 'स एष' इस प्रकार अभेदोक्ति नहीं हो सकती है, यह तर्क नहीं करना चाहिए ॥ ४३१ ॥

'अज्ञातवस्तु०' इत्यादि। अज्ञातवस्तुतत्त्व ( जिसको आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं है ) उसके लिए कुछ कठिन नहीं है। तुम नेत्रसे नीलवस्त्रकी तरह नील हुए आकाशको नहीं देखते हो ॥ ४३२ ॥

'योग्यायोग्य०' इत्यादि। यह योग्य और अयोग्यके व्यवहारकी अपेक्षा प्रमाणके व्यवहारमें हुआ करती है। अज्ञानजन्य भ्रम तो कल्पनामात्रसे सिद्ध होते हैं, उनमें योग्य-अयोग्यव्यवहारकी अपेक्षा नहीं है ॥ ४३३ ॥

'इहेत्यनेन' इत्यादि। 'इह' इस शब्दसे सूत्रसे आरम्भ करके स्थावर-पर्यन्त शरीर कहे जाते हैं, उनमें यह जीव स्पष्ट रूपसे उपलब्ध होता है ॥ ४३४ ॥

'प्रविष्ट' इत्यादि। 'प्रविष्ट' इस शब्दसे चैतन्यकी जीवत्वरूपसे अज्ञान और चिदाभाससे युक्त जो उपलब्धि होती है, वही कही जाती है अर्थात् चैतन्यका अविद्या द्वारा बुद्धिमें प्रतिबिम्ब ही प्रवेशशब्दका अर्थ है ॥ ४३५ ॥

चिदाभासप्रवेशस्तु प्रत्यङ्मोहे स्वतो भवेत् ।
तत्कार्येष्वनुवृत्तः स उपाधिश्चित्प्रवेशने ॥ ४३६ ॥
जपाकुसुमरक्तत्वं स्फटिके कल्प्यते यथा ।
चिदाभासप्रवेशोऽयं चित्यध्यारोप्यते तथा ॥ ४३७ ॥
सूत्रादिस्थाणुपर्यन्तं जगत्सृष्ट्वा स्वमायया ।
स्वाभासैकसहायेन स एव प्राविशत् परः ॥ ४३८ ॥
आनखाग्रेभ्य इत्युक्त्या मर्यादाऽस्य प्रवेशने ।
उक्ता, स्पर्शेन चैतन्यं नखाग्रावधि लभ्यते ॥ ४३९ ॥
सामान्येन विशेषाच्च चिद् देहं व्याप्य वर्तते ।
दृष्टान्ताभ्यां द्वयी वृत्तिर्द्विविधाभ्यामिहोच्यते ॥ ४४० ॥
दारु कृत्स्नमभिव्याप्य यथाऽग्निर्दारुणि स्थितः ।
संव्याप्य तद्वदखिलं देहमात्मा व्यवस्थितः ॥ ४४१ ॥

---

'चिदाभास०' इत्यादि । प्रत्यगात्माके अज्ञानमें तो चिदाभासका प्रवेश स्वतः ही होता है और अज्ञानके कार्योंमें उस चिदाभासकी अनुवृत्ति होती है, अतः वह चिदाभास ही चितिके प्रवेशमें उपाधि है ॥ ४३६ ॥

'जपाकुसुम०' इत्यादि । जैसे जपाकुसुमकी रक्तताकी स्फटिकमें कल्पना की जाती है, वैसे ही चिदाभासके प्रवेशका चेतनमें आरोप किया जाता है ॥४३७ ॥

'सूत्रादि०' इत्यादि । सूत्रसे लेकर स्थावर-पर्यन्त जगत्को अपनी मायासे बनाकर अपने आभासकी सहायतासे उस परमेश्वरने ही उसमें प्रवेश किया है ॥ ४३८ ॥

'आनखाग्रेभ्य' इत्यादि । 'आनखाग्रेभ्यः' इस कथनसे उस परमात्माके प्रवेशकी मर्यादा कही गई है, क्योंकि स्पर्श करनेसे नखाग्रपर्यन्त चैतन्यकी उपलब्धि होती है ॥ ४३९ ॥

'सामान्येन' इत्यादि । सामान्य और विशेषरूपसे देहको व्याप्त करके चैतन्य वर्तमान है, इसलिए दो दृष्टान्तोंसे दो प्रकारकी उसकी स्थिति यहाँपर कही जाती है ॥ ४४० ॥

'दारु' इत्यादि । जैसे अग्नि सारे ही काष्ठको व्याप्त करके काष्ठमें स्थित है, वैसे ही सारे ही देहको व्याप्त करके आत्मा देहमें स्थित है ॥ ४४१ ॥

तस्थावसंव्याप्य यथा क्षुरपात्रं क्षुरस्तथा।
श्रोत्रादिनाडीमध्यस्थस्तनुमव्याप्य संस्थितः ॥ ४४२ ॥
क्षुरपात्रे स्थानभेदाद्विभिद्यन्ते यथा क्षुराः।
चैतन्यानि विभिद्यन्ते तथा नाडीविभेदतः ॥ ४४३ ॥
प्राप्नोति वृत्ती द्वे जीवः स्वप्नजाग्रदवस्थयोः।
सामान्यवृत्तिमेवैकां सुषुप्तेः प्रतिपद्यते ॥ ४४४ ॥
सामान्यवृत्तिर्या साऽत्र जीवनायोपयुज्यते।
विशेषवृत्तयो देहे शब्दाद्या लोचनोद्यताः ॥ ४४५ ॥
प्रवेशवाक्यं पदशस्तात्पर्याच्च स्फुटीकृतम्।
तदनुग्राहको न्याय इदानीं प्रविचार्यते ॥ ४४६ ॥
किं देवदत्तगृहवत् प्रवेशोऽथोपलादिवत्।
जलार्कबिम्बवर्त्किंवा यद्वा द्रव्यगुणादिवत् ॥ ४४७ ॥

---

'तस्थाव०' इत्यादि। जैसे क्षुर क्षुरधानको व्याप्त किये बिना ही क्षुरधानमें रहता है, वैसे ही श्रोत्र आदि नाडियोंके मध्यमें स्थित चैतन्य देहको व्याप्त किये बिना ही देहमें स्थित है ॥ ४४२ ॥

'क्षुरपात्रे' इत्यादि। क्षुरधानमें स्थानोंके भेदसे जैसे क्षुरोंका भेद होता है, वैसे ही श्रोत्रादि नाडियोंके भेदसे देहमें चैतन्योंका भेद होता है ॥ ४४३ ॥

'प्राप्नोति' इत्यादि। स्वप्न और जाग्रत्—इन दो अवस्थाओंमें जीवकी दो वृत्तियाँ होती हैं और सुषुप्ति अवस्थामें एक सामान्यवृत्ति ही होती है ॥४४४॥

'सामान्यवृत्तिर्या' इत्यादि। जो सामान्यवृत्ति है, उसका जीवनमात्रमें उपयोग होता है और विशेष वृत्तियाँ देहमें शब्द आदि विषयोंके ज्ञानमें उपयोगी होती हैं ॥ ४४५ ॥

'प्रवेशवाक्यम्' इत्यादि। इतने ग्रन्थसे प्रवेशवाक्यके प्रत्येक पदका तात्पर्य स्पष्ट किया गया, अब प्रवेशानुग्राहक न्यायका विचार करते हैं ॥ ४४६ ॥

किं देवदत्त०' इत्यादि। जैसे बाहर अवस्थित देवदत्त घरमें प्रवेश करता है, वैसे ही यह प्रवेश है? या जैसे पाषाणके अन्दर पाषाणका ही सर्परूपसे परिणाम होता है, वैसे ही परमेश्वरका जीवरूपसे परिणाम है? अथवा जलमें सूर्यकी तरह प्रवेश है? किंवा द्रव्यमें गुणकी तरह प्रवेश है? ॥ ४४७ ॥

फलबीजवदाहोस्वित्, नाऽऽद्यः सर्वगतत्वतः ।
देवदत्तः परिच्छिन्नः सांशश्चाऽऽत्मा तु नो तथा ॥ ४४८ ॥
अव्यावृत्ताननुगतयाथात्म्यादात्मवस्तुनः ।
परिच्छेदाद्यसम्भाव्यं नेति नेतीति वारणात् ॥ ४४९ ॥
नाऽतोऽनवच्छिन्नतनोर्निर्विभागात्मवस्तुनः ।
पूर्वस्थानवियोगेन नृवत्स्थानान्तरागमः ॥ ४५० ॥
न द्वितीयोऽपरिणतेरश्मान्तः सर्परूपतः ।
भूतानि परिणम्यन्ते न त्वात्मा परिणामवान् ॥ ४५१ ॥
न तृतीयोऽर्कजलयोरिव देहचिदात्मनोः ।
न संयोगविभागौ स्तो येन तद्वत्प्रवेशनम् ॥ ४५२ ॥

---

'फलबीज०' इत्यादि । अथवा फलमें बीजकी तरह प्रवेश है ? आद्य पक्षका तो सम्भव है नहीं, क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक है, देवदत्त परिच्छिन्न तथा सावयव है और आत्मा अपरिच्छन्न तथा निरवयव है ॥ ४४८ ॥

'अव्यावृत्ता०' इत्यादि । आत्मा न किसीसे व्यावृत्त है और न किसीमें अनुगत है, इसलिए उसके परिच्छेद आदिका सम्भव नहीं है और 'नेति नेति' श्रुतिने परिच्छेदादिका निषेध भी किया है ॥ ४४९ ॥

'नाऽतोऽनव०' इत्यादि । किसी भी अवच्छेदसे रहित और किसी भी विभागसे रहित आत्म वस्तुका मनुष्यकी तरह पूर्वस्थानके वियोगसे स्थानान्तरमें प्रवेश नहीं हो सकता ॥ ४५० ॥

'न द्वितीयोऽ०' इत्यादि । पाषाणमें सर्पकी तरह आत्माका परिणाम है, यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्माका परिणाम नहीं होता । पाषाणके अन्दर सर्परूपसे जो परिणाम है, वह पाषाणरूपसे स्थित भूतोंका परिणाम है, आत्माका परिणाम नहीं होता ॥ ४५१ ॥

'न तृतीयो०' इत्यादि । तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सूर्य और जल—इन दोनोंके संयोग और विभाग होते रहते हैं, देह और चिदात्माके संयोग और विभाग नहीं होते, इसलिए जलमें सूर्यकी तरह देहमें आत्माका प्रवेश नहीं हो सकता है ॥ ४५२ ॥

न चतुर्थोऽपारतन्त्र्यात्, द्रव्यतन्त्रा गुणादयः ।
न त्वात्मा देहतन्त्रोऽयं सर्वेश्वर इति श्रुतेः ॥ ४५३ ॥
न पञ्चमोऽविक्रियत्वाद्बीजं विक्रियया युतम् ।
षड्भावविक्रियाहीन आत्मा शास्त्रेषु सम्मतः ॥ ४५४ ॥
आधाराधेयता सर्पशिलयोः फलबीजयोः ।
अंशांशितेति वैषम्यान्न तत्र पुनरुक्तता ॥ ४५५ ॥
परिच्छिन्नो जीव एव देहेषु प्रविशत्वतः ।
न दोष इति चेन्नैवं स्रष्टुरेव प्रवेशनात् ॥ ४५६ ॥
तत्सृष्ट्वाऽथ तदेवाऽनु प्राविशत्स इति श्रुतेः ।
स्रष्टृप्रवेष्ट्रोरेकत्वं स्याद् भुक्त्वा व्रजतीतिवत् ॥ ४५७ ॥
ततः केनाऽप्युपायेन प्रवेशो घटते नहि ।
इति प्राप्ते पूर्वपक्षे प्रवेश उपपाद्यते ॥ ४५८ ॥

---

'न चतुर्थोऽ०' इत्यादि । आत्मा स्वतन्त्र है, इसलिए चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि गुण आदि द्रव्यके अधीन हुआ करते हैं, आत्मा तो देहके अधीन नहीं है, श्रुति भी कहती है आत्मा सर्वेश्वर है ॥ ४५३ ॥

'न पञ्चमोऽ०' इत्यादि । आत्मा अविक्रिय है, इसलिए पञ्चम पक्ष भी ठीक नहीं है, बीज विकारसे युक्त है और शास्त्रसम्मत आत्मा छः प्रकारके भावविकारोंसे रहित है ॥ ४५४ ॥

'आधाराधेयता' इत्यादि । सर्प और शिलाका आधाराधेयभाव है तथा फल और बीजका अंशांशिभाव है, अतः इस प्रकार विषमता होनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥ ४५५ ॥

'परिच्छिन्नो' इत्यादि । यदि कहो कि परिच्छिन्न जीव ही देहोंमें प्रवेश करता है, ऐसा कहनेमें कोई दोष नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि स्रष्टाका प्रवेश कहा गया है ॥ ४५६ ॥

'तत्सृष्ट्वा०' इत्यादि । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' ( उसकी रचना-कर आप ही उसमें प्रवेश कर गया ) इस श्रुतिसे 'भुक्त्वा व्रजति' ( भोजन करके जाता है ) इस वाक्यके प्रयोगकी भाँति स्रष्टा और प्रवेष्टाकी एकता ही है ॥ ४५७ ॥

थतिमें किसी भी उपायसे उसका ( स्रष्टाका )

अप्रविष्टस्वभावोऽयं दिग्देशाद्यनभिप्लुतेः ।
कल्पितोऽस्य प्रवेशः स्याज्जलपात्रार्कबिम्बवत् ॥ ४५९ ॥
विभागाद्यंशवैषम्येऽप्यस्ति साम्यं विवक्षितम् ।
उपाधिस्थोपलब्ध्यादि साम्यं केन निवार्यते ॥ ४६० ॥
उपाधावुपलभ्यत्वमन्यथात्वेन भासनम् ।
बहुत्वभानमित्येतद् दृष्टदार्ष्टान्तयोः समम् ॥ ४६१ ॥
तेजोऽधिकं रवेर्बिम्बमशक्यं द्रष्टुमञ्जसा ।
तथापि जलमध्ये तद्बिम्बं सम्यगवेक्ष्यते ॥ ४६२ ॥
स्वयम्प्रकाश आत्मैवं नोपलभ्योऽनुपाधिकः ।
जडदेहाद्युपाधौ तु विस्पष्टमुपलभ्यते ॥ ४६३ ॥

---

प्रवेश नहीं बन सकता, [ क्योंकि वह अपरिच्छिन्न तथा व्यापक है ], इस प्रकारका पूर्वपक्ष प्राप्त होता है, अतः उसके प्रवेशका उपपादन किया जाता है ॥ ४५८ ॥

'अप्रविष्ट०' इत्यादि । दिक्, देश, काल आदिका परिच्छेद न होनेके कारण यद्यपि यह आत्मा अप्रविष्टस्वभाव है, तथापि जलपात्रमें सूर्यके बिम्बकी तरह इसका प्रवेश प्रतिबिम्बरूपसे कल्पित है ॥ ४५९ ॥

'विभागाद्यंश०' इत्यादि । यद्यपि दृष्टान्तानुसार संयोग, विभाग आदि अंशोंकी प्रकृत दार्ष्टान्तमें समानता नहीं है, तथापि उपाधिमें स्थिति और उपाधिमें उपलब्धिरूप दोनोंकी समताको कौन हटा सकता है अर्थात् जैसे जलमें सूर्य्यकी स्थिति और उपलब्धि होती है, वैसे ही आत्माकी चिदाभासरूपसे बुद्धिमें स्थिति और उपलब्धि होती है, यही समता प्रकृतमें विवक्षित है, यह भाव है ॥ ४६० ॥

'उपाधा०' इत्यादि । उपाधिमें उपलब्ध होना, अन्यथारूपसे प्रतीत होना, तथा नानारूपसे प्रतीत होना—इस प्रकार तीनों दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें समान है ॥ ४६१ ॥

'तेजोऽधिकम्' इत्यादि । अधिक तेजवाले सूर्यका बिम्ब यद्यपि ठीक-ठीक रूपसे नहीं देखा जा सकता, तथापि जलके मध्यमें वह ठीक रूपसे देखा जाता है ॥ ४६२ ॥

'स्वयंप्रकाश' इत्यादि । यह स्वयंप्रकाश आत्मा उपाधिके बिना उपलब्ध

दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्य स्वमाननम् ।
प्राप्नुवन्त्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम् ॥ ४६४ ॥
देहाद्युप्लुतैवं धीरात्मानं व्याप्नुवत्यसौ ।
अविक्रियं विक्रियाभिर्युक्त इत्येव भासयेत् ॥ ४६५ ॥
एकोऽप्यनेकधा भाति तरणिः पात्रभेदतः ।
एवं नानादेहभेदाद् भ्रान्त्याऽऽत्मैकोऽप्यनेकधा ॥ ४६६ ॥
निर्धूताशेषनानात्वतद्धेतुरविभाववान् ।
अनन्यसाक्षिकोऽपीदृक् स्यात्प्रवेशभ्रमादयम् ॥ ४६७ ॥
द्रष्ट्रादिरूपरहितः प्रत्यगात्माऽभवत्पुरा ।
नामरूपजनौ सत्यां द्रष्टृत्वादियुतो भवेत् ॥ ४६८ ॥

---

नहीं होता और जड़ देह आदि उपाधियोंमें तो स्पष्टरूपसे उपलब्ध होता है ॥ ४६३ ॥

'दर्पणा०' इत्यादि । जैसे दर्पणसे टक्कर खाकर लौटी हुई दृष्टि अपने ही मुखको प्राप्त होकर उसी मुखको सामने दर्पणमें विपरीतरूपसे दिखलाती है ॥ ४६४ ॥

'देहाद्यु०' इत्यादि । वैसे ही देहादिसे टक्कर खाकर लौटी हुई बुद्धि आत्माको व्याप्त करके अविकारी आत्माको विकारोंसे युक्त बतलाती है ॥ ४६५ ॥

'एकोऽप्य०' इत्यादि । सूरज यद्यपि एक है, तथापि पात्रोंके भेदसे जैसे अनेक हो जाता है, वैसे ही आत्मा यद्यपि एक है, तथापि नाना देहोंके भेदसे आत्मा भ्रमसे अनेक प्रतीत होता है ॥ ४६६ ॥

'निर्धूता०' इत्यादि । यद्यपि आत्माका किसी प्रकारसे भेद, भेद-कारण धर्मभेद, किसी प्रकारसे विभाग कोई दूसरा साक्षी नहीं है, तथापि वह आत्मा प्रवेशके भ्रमसे ऐसा प्रतीत होता है ॥ ४६७ ॥

'द्रष्ट्रादि०' इत्यादि । सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले प्रत्यगात्मा द्रष्टा आदि [illegible] शुद्ध ब्रह्म ही था; नाम और रूपकी उत्पत्ति होनेपर वही द्रष्टृत्वादि [illegible]या ॥ ४६८ ॥

द्रष्टृश्रोत्रादिरूपो यो यश्च द्रष्ट्रादिवर्जितः ।
बुद्धितत्कारणोपाधी क्षेत्रज्ञेश्वरसंज्ञकौ ॥ ४६९ ॥
जिघ्राणीममहं गन्धमिति यो वेत्त्यविक्रियः ।
स सर्वसाक्षी पूर्वाभ्यामुपलक्षणमर्हति ॥ ४७० ॥
अप्पात्रोत्थापिताद्भानोर्दिवि भानुर्यथेक्ष्यते ।
सर्वसाक्षी तथा धीस्थात्कर्तृभोक्त्रादिलक्षणात् ॥ ४७१ ॥
प्रकाशात्मा यथा चन्द्रः शाखाग्रादतथाविधात् ।
लक्ष्यस्तथा चिदात्मापि कारणोपाधितो जडात् ॥ ४७२ ॥
जीवत्वभ्रान्तिरेषैवं प्रत्यग्बोधोपयोगतः ।
जलपात्रार्कसाम्येन प्रवेश इति कल्प्यते ॥ ४७३ ॥
दिग्देशकालशून्यस्य प्रवेशो बिलसर्पवत् ।
न त्वजस्य परस्याऽस्ति तेनाऽविद्याप्रकल्पितः ॥ ४७४ ॥

'द्रष्टृ०' इत्यादि । द्रष्टा, श्रोता आदिरूपसे कहलानेवाला जो बुद्धिरूप उपाधिसे युक्त चेतन है, उसकी क्षेत्रज्ञ ( जीव ) संज्ञा है । तथा द्रष्टृत्व आदिसे रहित होकर जो कारणरूप ( अज्ञानरूप ) उपाधिसे युक्त है, उसकी ईश्वर संज्ञा है ॥ ४६९ ॥

'जिघ्राणी०' इत्यादि । मैं इस गन्धको सूँघता हूँ, इस प्रकार अविक्रिय होता हुआ जो जानता है, वह पूर्वोक्त दोनों उपाधियोंसे उपलक्षित चैतन्य सबका साक्षी अर्थात् बुद्ध्यादि सब पदार्थोंका भासक है ॥ ४७० ॥

'अप्पात्रो०' इत्यादि । जलपात्रमें स्थित प्रतिबिम्बरूप सूर्यसे जैसे आकाशस्थ सूर्यका दर्शन होता है, वैसे ही बुद्धिमें स्थित कर्ता, भोक्ता आदिरूप चेतनसे सबको साक्षीरूप चेतनका दर्शन होता है ॥ ४७१ ॥

'प्रकाशात्मा' इत्यादि । जैसे प्रकाशस्वरूप चन्द्रमा अप्रकाशस्वरूप शाखाग्रसे देखा जाता है, वैसे ही चिदात्मा भी जड़ात्मक कारणरूप उपाधिसे देखा जाता है ॥ ४७२ ॥

'जीवत्वभ्रान्ति०' इत्यादि । प्रत्यगात्माके ज्ञानका उपयोगी जो जीवत्वभ्रम है, वही प्रकृतमें जलपात्रके सूर्यकी समतासे प्रवेश कहा जाता है ॥ ४७३ ॥

'दिग्देश०' इत्यादि । दिग् , देश और काल आदि परिच्छेदसे रहित तथा

नाऽसतो जन्मना योगः सतः सत्त्वं न चेष्यते ।
कूटस्थे विक्रिया नाऽस्ति तस्मादज्ञानतो जनिः ॥ ४८१ ॥
रूपं रूपमितीयं तु स्पष्टमृक्प्रत्यगात्मनः ।
याथात्म्यदर्शनायैव सृष्ट्यादीन्यभ्यभाषत ॥ ४८२ ॥
क्षुरपात्राख्यदृष्टान्ताद्विशेषेण प्रवेशनम् ।
इन्द्रियेष्वतिविस्पष्टमुपलभ्यत्वमात्मनः ॥ ४८३ ॥
यदग्निकाष्ठदृष्टान्तात्सामान्येन प्रवेशनम् ।
तदधिष्ठानरूपेण कार्यव्यापित्वमुच्यते ॥ ४८४ ॥
अधिष्ठानारोप्यभावमन्तरेण न कुत्रचित् ।
व्याप्यव्यापकयोः कृत्स्नस्वरूपव्याप्तिरीक्ष्यते ॥ ४८५ ॥
अत्यन्तभिन्नयोर्व्याप्तिर्नहि दृष्टा गवाश्वयोः ।
नाऽप्यत्यन्तमभिन्नस्य, व्याप्यव्यापकवर्जनात् ॥ ४८६ ॥

---

ही समझना चाहिए। युक्तिसे सृष्टिप्रवेश आदि सिद्ध नहीं हो सकते; इसलिए सृष्टि-प्रवेश आदि कल्पित ही हैं ॥ ४८० ॥

'नाऽसतो' इत्यादि। असत्‌का जन्म नहीं हो सकता और सत्‌का भी जन्म नहीं हो सकता, [ क्योंकि वह तो पहलेसे ही विद्यमान है। ] और कूटस्थमें विकार नहीं है, इसलिए अज्ञानसे ही उसका जन्म है ॥ ४८१ ॥

'रूपं रूपं' इत्यादि। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' यह श्रुति आत्माके यथार्थ-स्वरूपका स्पष्टरूपसे दर्शन हो, इसलिए सृष्टिका प्रतिपादन करती है ॥ ४८२ ॥

'क्षुरपात्रा०' इत्यादि। क्षुरपात्रके दृष्टान्तसे प्रतिपादित जीव-चैतन्यकी इन्द्रियोंमें अतिस्पष्ट उपलब्धि ही विशेषरूपसे प्रवेश है ॥ ४८३ ॥

'यदग्नि०' इत्यादि। अधिष्ठानरूपसे कार्यभूत देह आदिमें चैतन्यकी व्याप्ति ही अग्निकाष्ठके दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित सामान्यरूपसे चैतन्यका प्रवेश है ॥ ४८४ ॥

'अधिष्ठाना०' इत्यादि। अधिष्ठानारोप्यभावके बिना कहीं भी व्याप्य और व्यापककी पूर्णरूपसे व्याप्ति नहीं देखी जाती है ॥ ४८५ ॥

'अत्यन्त०' इत्यादि। परस्पर अत्यन्त भिन्न गाय और अश्वकी व्याप्ति नहीं

भेदाभेदौ वास्तवौ तु दुर्लभौ तेन शिष्यते ।
अधिष्ठानारोपितयोरेव व्याप्तिर्बलादियम् ॥ ४८७ ॥
तमसैव यथा सर्पे स्रक् प्रविष्टा न तु स्वतः ।
प्रत्यगज्ञानकार्याणि स्वात्मैवं मायया विशत् ॥ ४८८ ॥
व्यापित्वमुपलभ्यत्वमिति द्वेधा प्रवेशनम् ।
सिद्धं प्रविष्टात् ये दोषास्तान्निराचक्ष्महेऽधुना ॥ ४८९ ॥
पर एव प्रविष्टश्चेत् प्रविष्टानामनेकतः ।
तदनन्यत्वतः प्रापन्महेशस्याऽप्यनेकता ॥ ४९० ॥
नैष दोषोऽस्य चोद्यस्य विपरीतत्वसम्भवात् ।
बहूनामेकतादात्म्यादेकत्वं किं न चोद्यते ॥ ४९१ ॥

---

देखी जाती है और अत्यन्त अभिन्नकी ( स्वकी स्वमें ) भी व्याप्ति नहीं देखी जाती है, क्योंकि उनका व्याप्यव्यापकभाव नहीं है ॥ ४८६ ॥

**'भेदाभेदौ'** इत्यादि। वास्तव भेद और अभेद तो दुर्लभ हैं, इसलिए परिशेषसे अधिष्ठान और आरोपितकी व्याप्ति ही सिद्ध होती है ॥ ४८७ ॥

अधिष्ठानका आरोप्यके साथ संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध तो है नहीं, इसलिए कल्पित तादात्म्य सम्बन्धसे ही अधिष्ठानकी आरोप्यमें व्याप्ति होती है; इस अर्थको दृष्टान्तसे कहते हैं—**'तमसैव'** इत्यादिसे ।

जैसे माला अज्ञानसे ही सर्पमें प्रवेश करती है, स्वरूपसे नहीं, वैसे ही अपने अज्ञानके कार्योंमें आत्माने अज्ञानसे ही प्रवेश किया ॥ ४८८ ॥

**'व्यापित्वम्'** इत्यादि । चैतन्यरूपसे व्याप्ति और द्रष्टा, श्रोता आदिरूपसे उपलब्धि यों दो प्रकारसे चेतनका प्रवेश सिद्ध हो गया । अब जो प्रवेश करनेसे परमात्मामें दोष देते हैं, उनका निराकरण करते हैं ॥ ४८९ ॥

**'पर एव'** इत्यादि । यदि परमात्माने ही प्रवेश किया है, तो वह प्रविष्ट होकर जीवरूपसे अनेक हो गया, इस परिस्थितिमें उन जीवोंके साथ ईश्वरका अभेद होनेसे उसमें भी अनेकता हो जायगी ॥ ४९० ॥

**'नैष दोषो०'** इत्यादि । यह दोष नहीं है, इससे विपरीत तर्कका भी सम्भव है, क्योंकि अनेक जीवोंका एक परमात्माके साथ तादात्म्य होनेसे एकत्वका तर्क क्यों नहीं करते हो ? ॥ ४९१ ॥

नियामकस्त्वागमोऽत्र स च भेदं निवारयेत् ।
कल्प्यैः सर्पादिभिर्भेदैर्न तु रज्जुर्विभिद्यते ॥ ४९२ ॥
एको देवो निविष्टोऽत्र बहुधेति श्रुतीरणात् ।
वियद्वदेक एवैष ईश्वरोऽभ्युपगम्यताम् ॥ ४९३ ॥
संसारित्वात् प्रविष्टानां परस्य तदभेदतः ।
संसारित्वं प्रसक्तं चेत्, न, क्षुधाद्यत्ययश्रुतेः ॥ ४९४ ॥
सुखदुःखविमोहादिदर्शनान्नेति चेत्, न तत् ।
न लिप्यते लोकदुःखैर्लोकबाह्य इति श्रुतेः ॥ ४९५ ॥
उपाधिजनितो योऽयं चिदाभासोऽवभासते ।
दुःखाद्यनुभवस्तत्र सावकाशो भविष्यति ॥ ४९६ ॥
दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत् ।
दुःखिनः साक्षिता नैव साक्षिणो दुःखिता तथा ॥ ४९७ ॥

'नियामक०' इत्यादि । इस अर्थमें वेद नियामक है, क्योंकि वह भेदका निषेध करता है । और कल्पित सर्पादि भेदोंसे अधिष्ठानभूत रज्जुका भेद नहीं हुआ करता ॥ ४९२ ॥

'एको देवो' इत्यादि । 'एक ही देव प्रवेश करके अनेकरूप हो गया है' इस प्रकार श्रुतिका कथन है; इससे आकाशकी तरह प्रवेश करनेवाले ईश्वरको एक ही मानना चाहिए ॥ ४९३ ॥

'संसारित्वात्' इत्यादि । प्रविष्ट संसारी जीवोंका परमात्माके साथ अभेद होनेसे परमात्मामें संसारित्वकी प्रसक्ति होगी, इस प्रकारकी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'अशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' ( क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परमात्मा रहित है ) इस श्रुतिसे परमात्मामें क्षुधा आदिका अभाव सुना जाता है ॥ ४९४ ॥

'सुखदुःख०' इत्यादि । सुख, दुःख, मोह आदिके दर्शनसे क्षुधा आदिका अभाव नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि श्रुति कहती है कि 'वह लोकोंसे बाह्य है और लोक-दुःखोंसे लिप्त नहीं होता' ॥ ४९५ ॥

'उपाधिजनितो' इत्यादि । अन्तःकरणरूपी उपाधिमें जो यह चिदाभास प्रतीत होता है, उसमें दुःख आदिका अनुभव सावकाश हो सकता है ॥४९६

'दुःखी' इत्यादि । यदि आत्मा दुःखी होगा, तो दुःखीका साक्षी

नर्ते स्यात् विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः ॥ ४९८ ॥
शरीरेन्द्रियसङ्घाते आत्मत्वेनाऽभिमानिनीम् ।
चिदाभासयुतां बुद्धिं विशिंषन्ति सुखादयः ॥ ४९९ ॥
उदासीनो यथा पश्येद्दण्डिनं कलहोदितम् ।
सुखदुःखादिमद्बुद्धिं साक्षी तद्वदसंहतः ॥ ५०० ॥
एवं सति पराच्येव दुःखं प्रत्यक्षमिष्यताम् ।
प्रतीच्यात्मनि वेदोऽयमक्षादीनि निषेधति ॥ ५०१ ॥
विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति श्रुतिः ।
विदिताविदिताभ्यां तदन्यदेवेति च श्रुतेः ॥ ५०२ ॥
अहं सुखीति विज्ञानमात्मच्छायैककर्मकम् ।
आत्मन्यारोप्यते भ्रान्तैर्विद्वद्भिश्चोपचर्यते ॥ ५०३ ॥

---

कौन होगा? दुःखी साक्षी नहीं हुआ करता और साक्षी दुःखी नहीं हुआ करता ॥ ४९७ ॥

'नर्ते' इत्यादि। विकारके बिना दुःखी नहीं होता और विकारी साक्षी नहीं होता है। मैं तो बुद्धिके सहस्रों विकारोंका साक्षी हूँ, इसलिए अविक्रिय हूँ ॥ ४९८ ॥

'शरीरेन्द्रिय०' इत्यादि। शरीरेन्द्रिय-संघातमें आत्मत्वका अभिमान करनेवाली चिदाभास सहित बुद्धिके सुख, दुःख आदि विशेषण हैं ॥ ४९९ ॥

'उदासीनो' इत्यादि। जैसे उदासीन पुरुष लड़नेके लिए उद्यत हुए दण्डी पुरुषको देखता है; वैसे ही सुख, दुःख आदिसे युक्त बुद्धिको बुद्धिसे असंहत (अलग) होकर साक्षी देखता है ॥ ५०० ॥

'एवं सति' इत्यादि। ऐसी दशामें परक् जो देहादि हैं, उन्हींमें दुःखको प्रत्यक्षरूपसे देखना चाहिए। प्रत्यगात्मामें तो वेद इन्द्रियोंका निषेध करता है, इसलिए प्रत्यगात्मामें दुःखका प्रत्यक्ष ही नहीं होता ॥ ५०१ ॥

'विज्ञाता०' इत्यादि। 'सब पदार्थोंके ज्ञाता आत्माको किससे जानें' इत्यर्थक श्रुतिका वचन है, वैसे ही 'ज्ञात और अज्ञात दोनोंसे भिन्न है' यह भी श्रुति है ॥ ५०२ ॥

'अहं सुखीति' इत्यादि। 'अहं सुखी' (मैं सुखी हूँ), यह ज्ञान आत्माकी

नासिकाग्रे महद् दुःखं पादाङ्गुष्ठाग्र इत्यपि ।
देहावयवगं दुःखं दृष्टमात्मनि तत्कथम् ॥ ५०४ ॥
प्रतीचि चेद्भवेद् दुःखं व्याप्नुयाद्बोधवद्वपुः ।
चिद्वद् द्रष्टृस्वरूपत्वात्प्रतिकूलं च नो भवेत् ॥ ५०५ ॥
आत्मनस्त्वेव भोगाय सर्वं प्रियमिति श्रुतेः ।
सुखमात्मैकविषयमिति चेत्, तन्न युज्यते ॥ ५०६ ॥
यत्र वाऽन्यस्य क्लृप्तिः स्यात्तत्राऽन्योऽन्यत्प्रपश्यति ।
इति भ्रान्तात्मविषयं श्रुतं द्वैतं सुखात्मकम् ॥ ५०७ ॥
यत्र त्वात्मैव सर्वं स्यात्तत्र कं केन पश्यति ।
इति बुद्धात्मनि द्वैतं सुखदुःखादि वारितम् ॥ ५०८ ॥
तुभ्यं न रोचते पापात् मया त्वित्यनुभूयते ।
प्रत्यक्प्रवणया दृष्ट्या संसारः कोऽपि नाऽऽत्मनि ॥ ५०९ ॥

---

जो चिदाभासरूप छाया है, उसको विषय करता है । भ्रान्त पुरुष आत्मामें इस ज्ञानका आरोप करते हैं और विद्वान् उपचार करते हैं ॥ ५०३ ॥

'नसिकाग्रे' इत्यादि । नासिकाके अग्रभागमें बड़ा दुःख है; पैरके अंगूठेमें बड़ा दुःख है, इस प्रकार देहके अवयवोंमें जो दुःख प्रतीत होता है, वह आत्मामें कैसे हो सकता है ? ॥ ५०४ ॥

'प्रतीचि' इत्यादि । प्रत्यगात्मामें यदि दुःख होता, तो ज्ञानकी तरह सारे शरीरमें व्याप्त हो जाता, जैसे द्रष्टाका स्वरूप होनेसे ज्ञान आत्माके प्रतिकूल—द्वेष्य—नहीं है, वैसे ही दुःख भी आत्माके प्रतिकूल न होता ॥५०५॥

'आत्मन०' इत्यादि । यदि शङ्का हो कि 'आत्माके ही भोगके लिए सब प्रेय हैं' यह श्रुति आत्मामें ही सुख बतलाती है, तो यह शङ्का युक्त नहीं है ॥५०६॥

'यत्र' इत्यदि । क्योंकि 'जहां अन्यकी कल्पना होती है, वहां अन्य अन्यको देखता है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है कि सुखरूप द्वैत भ्रान्त आत्मामें है ॥५०७॥

'यत्र' इत्यादि । 'जिस अवस्थामें सब आत्मा ही है, उस अवस्थामें कौन किसको देखे', इस प्रकार श्रुतिने ज्ञानी आत्मामें सुख-दुःखादि द्वैतका निषेध किया है ॥ ५०८ ॥

'तुभ्यम्' इत्यादि । तुम्हें पापसे यह विषय पसन्द नहीं आता, परन्तु मैं तो प्रत्यक्प्रवणदृष्टिसे अनुभव करता हूँ कि आत्मामें कोई भी संसार नहीं है ॥५०९॥

इच्छाद्वेषादिमानात्मेत्येवं समयबन्धनम् ।
तार्किकैः क्रियतां तत्तु नैव युक्त्योपपद्यते ॥ ५१० ॥
नित्यानुमेय आत्मा चेत् मनसा तस्य दुःखिता ।
न भायात्, दृश्य आत्मा चेद् द्रष्टृभावः प्रसज्यते ॥ ५११ ॥
द्रष्टृत्वं दृश्यता चाऽस्य निरंशत्वान्न युज्यते ।
सांशत्वे स्यादनित्यत्वं नाऽतो दुःखित्वमात्मनः ॥ ५१२ ॥
अदुःखित्वे परस्येष्टे तदन्यस्याऽप्यभावतः ।
कस्य दुःखनिवृत्त्यर्थमारब्धोपनिषत्त्वया ॥ ५१३ ॥
प्रत्यगज्ञानहेतूत्थदुःखित्वादिभ्रमोऽत्र यः ।
तद्ध्वंसमात्रसिद्ध्यर्थमारब्धोपनिषन्मया ॥ ५१४ ॥
नवसङ्ख्येयमात्रेक्षी दशमो विभ्रमाद्यथा ।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति स्वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥ ५१५ ॥

'इच्छाद्वेषा०' इत्यादि । आत्मा इच्छा, द्वेष आदिसे युक्त है ; इस प्रकार तार्किकोंने अपने शास्त्रमें माना है; परन्तु वह युक्तिसे सिद्ध नहीं हो सकता ॥५१०॥

'नित्यानुमेय' इत्यादि । क्योंकि यदि आत्मा नित्य अनुमेय है, तो मनसे उसके दुःखका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है ; यदि आत्मा दृश्य है, तो द्रष्टाका अभाव हो जायगा ॥ ५११ ॥

'द्रष्टृत्वम्' इत्यादि । आत्मा निरवयव है, इसलिए उसमें द्रष्टृत्व और दृश्यत्व दोनोंका होना युक्त नहीं है । यदि उसे सावयव मानो तो आत्मामें अनित्यत्वकी प्राप्ति होगी, इसलिए आत्मामें दुःख नहीं है ॥ ५१२ ॥

'अदुःखित्वे' इत्यादि । तुम परमात्मामें दुःख नहीं मानते । जब जीव परमात्मासे भिन्न ही नहीं है, तब किसके दुःखकी निवृत्तिके लिए तुमने उपनिषद्का आरम्भ किया है ? ॥ ५१३ ॥

'प्रत्यगज्ञान०' इत्यादि । प्रत्यगात्माके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जो दुःखका भ्रम है, उस भ्रमकी निवृत्तिके लिए मैंने उपनिषद्का आरम्भ किया है ॥ ५१४ ॥

'नवसंख्येयमात्रेक्षी' इत्यादि । जैसे नौ ( नव ) पुरुषोंको देखनेवाला दशम पुरुष नौ पुरुषोंको और अपनेको देखता हुआ भी भ्रमसे अपनेको दशम नहीं जानता है ॥ ५१५ ॥

निःशेषानात्मदृक्तद्वदनिर्ज्ञातात्मतत्त्वकः ।
न वेत्त्यैकात्म्यमस्मीति स्वीक्षमाणोऽप्यनात्मनः ॥ ५१६ ॥
दशमोऽसीति वाक्योत्थसम्यग्ज्ञानानलार्चिषा ।
प्लुष्ट्वाऽऽत्मदशमाज्ञानं दशमोऽस्मीति वीक्षते ॥ ५१७ ॥
तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्योत्थज्ञानवह्निना ।
प्लुष्ट्वाऽत्राऽऽत्मतमस्तज्जं चैकात्म्यं प्रतिपद्यते ॥ ५१८ ॥
प्रत्यगज्ञानहेतूत्थशास्त्राचार्यादिसाधनः ।
तद्विरुद्धं निजैकात्म्यं प्रत्यपद्यत मायया ॥ ५१९ ॥
प्रविष्टमुपजीव्याऽपि दोषः कोऽपि न वादिभिः ।
इहाऽऽपादयितुं शक्यः प्रवेशस्तेन सुस्थिरः ॥ ५२० ॥
नन्वेवं पर एवाऽत्र प्रविष्टश्चेत्तदा जनाः ।
पश्यन्ति तं विना शास्त्रमिति शास्त्रं वृथा भवेत् ॥ ५२१ ॥

---

'निशेषा०' इत्यादि। वैसे ही आत्मतत्त्वको न जाननेवाला तथा अपनेसे अतिरिक्त अहङ्कारादि सब तत्त्वोंका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष सब अनात्माओंको देखता हुआ भी 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपनी एकात्मताको नहीं देखता है ॥५१६॥

'दशमोऽ०' इत्यादि। 'दशमोऽसि' (तू दशम है), इस वाक्यसे उत्पन्न हुई यथार्थ ज्ञानरूपी अग्निकी ज्वालासे दशमके अज्ञानको दग्ध करके 'दशमोऽस्मि' (मैं दशम हूँ) इस प्रकार दशमको जैसे देखता है, वैसे ही तत्त्वमस्यादि वाक्योंसे उत्पन्न हुई ज्ञानरूपी अग्निसे आत्माके अज्ञानको और अज्ञानजन्य संसारको दग्ध करके अपनी एकात्मताको जानता है ॥ ५१७—१८ ॥

'प्रत्यगज्ञान०' इत्यादि। प्रत्यगात्माके अज्ञानसे कल्पित शास्त्र, आचार्य आदि साधनों द्वारा प्राप्त ब्रह्मविद्यासे पुरुष द्वैतके विरुद्ध अपनी एकात्मताको जान लेता है ॥ ५१९ ॥

'प्रविष्ट०' इत्यादि। परमात्माने ही प्रवेश किया है; इस पक्षका स्वीकार करनेमें भी वादी लोग किसी प्रकारका दोष नहीं दे सकते, इसलिए उसका प्रवेश स्थिर हो गया ॥ ५२० ॥

'नन्वेवम्' इत्यादि। यदि पर ही प्रवेश कर गया है; तो उस प्रविष्ट हुए चेतनको सभी लोग शास्त्रके ही बिना देखते हैं; अतः शास्त्र व्यर्थ होगा ॥५२१॥

अहं प्राणिम्यहं वच्मि पश्याम्येतच्छृणोमि तत् ।
मन्येऽहमित्यहम्बुद्ध्या दृष्ट एवाऽखिलैः परः ॥ ५२२ ॥
उच्यते तं न पश्यन्ति प्रविविक्षुं स्वतो जनाः ।
नोच्छ्वासभाषणे दृष्टिश्रुती वा स्तोऽस्य नो मतिः ॥ ५२३ ॥
प्रविष्टस्याऽस्ति चेच्छ्वासभाषणाद्यस्तु तावता ।
प्रवेष्टरि किमायातं शास्त्रबोध्यः स एव हि ॥ ५२४ ॥
प्रविष्टस्य प्रवेष्टुश्च रूपाभेदेऽपि भिन्नताम् ।
प्रविष्टत्वाप्रविष्टत्वधर्माभ्यां को निवारयेत् ॥ ५२५ ॥
प्रविष्टं ये प्रपश्यन्ति नाऽप्रविष्टममी विदुः ।
व्याधत्वेन प्रपश्यन्तो न विदू राजपुत्रताम् ॥ ५२६ ॥
व्याधोऽयमित्यसाधुक्तिर्योजयेत्प्राणसङ्कटे ।
राजदेवादिकोक्तिस्तु भवेद्बहुफलप्रदा ॥ ५२७ ॥
तद्वत्प्रविष्टदृष्टिर्या सा संसारे नियोजयेत् ।
अप्रविष्टात्मदृष्टिस्तु मोचयेत् सर्वसङ्कटात् ॥ ५२८ ॥

'अहम्' इत्यादि । [ क्योंकि ] मैं श्वास लेता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं देखता हूँ; मैं सुनता हूँ, मैं सोचता हूँ, इस प्रकार अहम्बुद्धिसे सब लोग परमात्माको ही देख रहे हैं ॥ ५२२ ॥

'उच्यते' इत्यादि । कहते हैं—उस प्रवेशकी इच्छा करनेवालेको शास्त्रके बिना अपने आप लोग नहीं देख सकते हैं । और श्वास, भाषण, दृष्टि, श्रुति, मति ये अप्रविष्टके नहीं होते ॥ ५२३ ॥

'प्रविष्टस्याऽस्ति' इत्यादि । प्रविष्टमें यदि श्वास, भाषण आदि हैं; तो इससे प्रवेष्टामें ( प्रवेश करनेवालेमें ) क्या आया ? क्योंकि शास्त्रसे बोध्य तो प्रवेष्टा है ॥ ५२४ ॥

'प्रविष्टस्य' इत्यादि । प्रविष्ट और प्रवेष्टाके रूपमें यद्यपि भेद नहीं है; तथापि प्रविष्टत्व और अप्रविष्टत्व धर्मोंकी भिन्नताको कौन हटा सकता है ? ॥ ५२५ ॥

'प्रविष्टम्' इत्यादि । जो प्रविष्टको देखते हैं, वे अप्रविष्टको नहीं जान सकते, क्योंकि व्याधरूपसे देखनेवाले पुरुष उसकी राजपुत्रताको नहीं जानते हैं ॥५२६॥

'व्याधोऽयम्' इत्यादि । जैसे यह व्याध है, इस प्रकारका वचन प्राणके सङ्कटमें डाल देता है और यह राजा है अथवा देव है, ऐसा कथन बहुत फलका देनेवाला

अतोऽप्रविष्टदृष्ट्यर्थं निन्द्यतेऽत्र प्रविष्टदृक् ।
प्रविष्टदर्शनं यत्स्यान्न तद्दर्शनमात्मनः ॥ ५२९ ॥
अव्यावृत्तानन्तुगतं प्रत्यग्वस्तु स्वतो मितेः ।
तद्विरुद्धेह या दृष्टिर्मिथ्यारूपैव सा मता ॥ ५३० ॥
अयं मेयः प्रमाताऽहं मानमेतदितीक्षणे ।
मिथ्याज्ञाने जनस्तुष्टः स्वप्नमायेन्द्रजालवत् ॥ ५३१ ॥
नन्वत्र तं न पश्यन्तीत्यनेन वचसोच्यते ।
प्रविष्टदर्शनाभावः प्रविष्टस्यैव सन्निधेः ॥ ५३२ ॥
परात्मदर्शनाभावपरत्वेन कथं त्वया ।
व्याख्यातमिति चेदत्र तच्छब्देनेति विद्धि भोः ॥ ५३३ ॥
स एष इति पूर्वत्र तदेतच्छब्दयोः क्रमात् ।
अप्रविष्टप्रविष्टौ द्वौ वाक्यार्थादुपवर्णितौ ॥ ५३४ ॥

---

होता है, वैसे ही प्रविष्टदृष्टि संसारके बन्धनमें डालती है और अप्रविष्ट-दृष्टि सब सङ्कटोंसे मुक्त कर देती है ॥ ५२७–५२८ ॥

'अतोऽप्रविष्ट०' इत्यादि । इससे अप्रविष्ट-दृष्टिके लिए प्रविष्ट-दृष्टिकी निन्दा की जाती है—प्रविष्टका जो दर्शन है; वह आत्माका दर्शन नहीं है ॥ ५२९ ॥

'अव्यावृत्ता०' इत्यादि । स्वयम्प्रकाश होनेसे प्रत्यक् वस्तु न किसीमें अनुगत है और न किसीसे व्यावृत्त है, इस प्रकार विद्वानोंका अनुभव है, अतः यहाँ इससे विरुद्ध जो दृष्टि वह मिथ्यादृष्टि ही है ॥५३०॥

'अयं मेयः' इत्यादि । यह प्रमेय है, मैं प्रमाता हूँ और यह प्रमाण है, इस प्रकारके ईक्षणरूप मिथ्या ज्ञानमें स्वप्न, माया और इन्द्रजालकी तरह लोग सन्तोष किये हुए हैं ॥ ५३१ ॥

'नन्वत्र' इत्यादि । यदि कहो कि 'तन्न पश्यन्ति' इस वचनसे प्रविष्टके साथ-साथ प्रविष्टके दर्शनका निषेध भी किया गया है ॥ ५३२ ॥

'परात्म०' इत्यादि । तो इसपर हमारा यह प्रश्न है कि उस वचनका तात्पर्य परमात्माके दर्शनके अभावमें है, ऐसा व्याख्यान तुमने कैसे किया ? कहते हैं—सुनो, 'तत्' शब्दसे ऐसा व्याख्यान किया ॥ ५३३ ॥

'स एष' इत्यादि । [क्योंकि] 'स एष' इस पूर्व वाक्यमें क्रमसे 'तत्' शब्दका

नमस्कृतोऽशुचिर्विप्रो नमस्कारवतां नहि ।
पूरयेदेवमेवाऽन्येऽप्युदाहार्या दिशाऽनया ॥ ५४१ ॥
स्वतः परोऽपि देहादौ प्रविष्टोऽकात्स्न्र्यदोषतः ।
दूषितो दर्शनं तस्य न भवेत्परदर्शनम् ॥ ५४२ ॥
अकृत्स्नत्वं यथाऽस्य स्याद्व्यवहारे तथोच्यते ।
श्वासयोगात् प्राणिता स्याद्वक्ता वदनयोगतः ॥ ५४३ ॥
द्रष्टा दर्शनयोगेन श्रोता श्रवणयोगतः ।
मन्ता मननयोगेन स्प्रष्ट्रादौ योजयेत्तथा ॥ ५४४ ॥
एवं चाऽहं प्राणितेति ज्ञाते वक्त्राद्यसङ्ग्रहः ।
वक्ताऽहमित्यपि ज्ञाते प्राणित्रादेरसङ्ग्रहः ॥ ५४५ ॥
यतिदीक्षितचोरादिभूमिका धारयेन्नरः ।
तत्र दृष्टे दीक्षितेऽन्ये दृष्टा यत्यादयो नहि ॥ ५४६ ॥
यस्मिन् दृष्टे ह्यदृष्टोऽन्यो द्रष्टव्यः शिष्यते तथा ।
अदृष्टेऽप्यन्यदृष्टिः स्यादकृत्स्नस्तादृगुच्यते ॥ ५४७ ॥

'नमस्कृतो०' इत्यादि । नमस्कार किया हुआ अशुद्ध ब्राह्मण नमस्कार करनेवालोंको आशीर्वाद नहीं दे सकता, इसी प्रकारके और भी उदाहरण हो सकते हैं ॥५४१॥

'स्वतः' इत्यादि । स्वरूपसे परमात्मा होता हुआ भी वह देहादिमें प्रवेश करनेसे अकृत्स्न हो गया है, इसलिए प्रविष्टका दर्शन दूषित है, अतः उसका दर्शन पर-दर्शन नहीं है ॥ ५४२ ॥

'अकृत्स्नत्वम्' इत्यादि । व्यवहारमें जिस तरह इसमें अकृत्स्नत्व होता है, उसे कहते हैं—श्वास लेनेसे प्राणिता और बोलनेसे वक्ता कहलाता है ॥ ५४३ ॥

'द्रष्टा' इत्यादि । देखनेसे द्रष्टा, श्रवण करनेसे श्रोता और मनन करनेसे मन्ता कहलाता है । इसी प्रकार स्प्रष्टा आदिमें भी समझना चाहिए ॥५४४॥

'एवं चाऽहम्' इत्यादि । मैं प्राणिता हूँ, ऐसा जाननेपर वक्ताका संग्रह नहीं होता और 'मैं वक्ता हूँ' ऐसा जाननेपर प्राणिताका संग्रह नहीं होता ॥५४५॥

'यति०' इत्यादि । जहाँ नट यति, दीक्षित, चोर आदि स्वांगोंको धारण करता है, वहां दीक्षितका दर्शन होनेपर यति आदिका दर्शन जैसे नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ५४६ ॥

'यस्मिन्' इत्यादि । जिसका दर्शन होनेपर अन्य द्रष्टव्य शेष रह जाता

प्रत्येकं दीक्षिताद्याश्च प्राणित्राद्याश्च तादृशाः ।
अतोऽकृत्स्ना इमे ज्ञेयास्तद्दृष्टिस्तेन नाऽऽत्मदृक् ॥ ५४८ ॥
अत्र केचिन्महात्मानोऽकृत्स्नत्वेन विनिन्दनात् ।
अशेषोपाधिसंयुक्तः परात्मेति प्रचक्षते ॥ ५४९ ॥
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति योऽत्र नानेव पश्यति ।
इत्यादिना विरुद्धं तन्महतामेव शोभते ॥ ५५० ॥
कर्त्राद्युपाधयः कृत्स्नाः परस्परविभेदिनः ।
निरुपाधिक आभान्ति ह्यागमापायसाक्षिणि ॥ ५५१ ॥
साक्षिरूपं स्वतः सिद्धं सर्वेष्वव्यभिचारतः ।
कर्त्रादयः स्वतोऽसिद्धाः बहुधा व्यभिचारतः ॥ ५५२ ॥

---

और जिसका दर्शन न होनेपर भी अन्यका दर्शन हो सकता है; उसको अकृत्स्न कहते हैं ॥ ५४७ ॥

'प्रत्येकम्' इत्यादि । प्रत्येक दीक्षित आदि और प्राणिता आदि वैसे ह हैं; इसलिए इन सबको अकृत्स्न समझना चाहिए, उनका दर्शन आत्मदर्श नहीं है ॥ ५४८ ॥

'अत्र केचिन्महा०' इत्यादि । यहांपर कोई महात्मा कहते हैं—अकृत्स्न निन्दा की है, इसलिए सब उपाधियोंसे युक्त परमात्माका दर्शन कर चाहिए ॥ ५४९ ॥

'मृत्योः' इत्यादि । 'वह पुरुष मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है, जो इ आत्मामें नानाभावको देखता है' इत्याद्यर्थक श्रुतियोंसे विरुद्ध यह कथन उ महात्माओंको शोभा देता है ॥ ५५० ॥

'कर्त्राद्युपाधयः' इत्यादि । कर्त्ता आदि सब उपाधियाँ परस्पर भेदव हैं और इनकी उत्पत्ति और नाशके साक्षी निरुपाधिक आत्मामें वे प्रत होती हैं ॥ ५५१ ॥

'साक्षिरूपम्' इत्यादि । साक्षीका स्वरूप स्वतःसिद्ध है; क्योंकि वि ... पदार्थोंमें साक्षीका व्यभिचार नहीं है; कर्त्ता आदि अनेकरूपसे व्यभि

देशतः कालतो रूपादवस्थातोऽर्थधर्मतः ।
सदाव्यभिचरन्त्यन्ये कर्त्राद्याः प्रत्यगात्मनि ॥ ५५३ ॥
अज्ञातायां यथा रज्ज्वां तदध्यस्तैकरूपिणाम् ।
व्यभिचारः स्रगादीनां प्रतीच्येवमनात्मनाम् ॥ ५५४ ॥
संयुक्तो नामरूपाभ्यां प्राणनादिषु कर्मसु ।
लक्ष्यते मोहतः प्रत्यग्रज्जुः सर्पादिभिर्यथा ॥ ५५५ ॥
प्राणादिकं तस्य नाम, रूपं श्वासादिधारणम् ।
व्योम्नीव तरवो नैते सम्भाव्यन्ते चिदात्मनि ॥ ५५६ ॥
अनन्यमेयतन्मानमातृ वस्त्वविभागवत् ।
अमेयमानमात्रेकं तदात्मेति प्रचक्ष्महे ॥ ५५७ ॥
यत एवमविद्योत्थं प्राणाद्यस्याऽतदात्मनः ।
नामरूपमतस्ताभ्यां पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ५५८ ॥

'देशतः' इत्यादि । जिस देश और कालमें जो वस्तु होती है; वह अन्य देश और कालमें नहीं होती । एक वस्तुका जैसा स्वरूप होता है; वह दूसरेका नहीं होता । एककी जो जन्मावस्था होती है, वह दूसरेकी नहीं होती और एक पदार्थका जो धर्म होता है; वह दूसरेका नहीं होता, इस प्रकार कर्त्ता आदिका प्रत्यगात्मामें सदा व्यभिचार देखा जाता है ॥ ५५३ ॥

'अज्ञातायाम्' इत्यादि । जैसे अज्ञात रज्जूमें अध्यस्त माला आदिका उसीमें व्यभिचार होता है; वैसे ही प्रत्यगात्मामें अध्यस्त अनात्माओंका व्यभिचार होता है ॥५५४॥

'संयुक्तो' इत्यादि । जैसे सर्पादिसे हीन भी रज्जू अज्ञानसे सर्पादिरूप प्रतीत होती है, वैसे ही प्रत्यगात्मा प्राणनादि कर्म करनेपर अज्ञानसे ही नाम-रूपसे युक्त प्रतीत होता है ॥ ५५५ ॥

'प्राणादिकम्' इत्यादि । प्राण आदि उसके नाम हैं, श्वासादि धारण उसके रूप हैं, इनका आकाशमें वृक्षोंकी तरह चिदात्मामें सम्भव नहीं है ॥ ५५६ ॥

'अनन्यमेय०' इत्यादि । जो किसी दूसरेसे जानने योग्य नहीं है, जो स्वयं ही प्रमाण है एवं जो स्वयं ही प्रमाता है, वास्तवमें जो सब विभागोंसे शून्य होनेसे न प्रमेय है, न प्रमाण है, न प्रमाता है; ऐसी वस्तुको हम आत्मा कहते हैं ॥५५७॥

'यत एवमविद्योत्थम्' इत्यादि । चूँकि प्राण आदि नाम-रूपसे रहित आत्माके

प्राणनादिकृतां मध्ये एकैकं यः समीक्षते ।
न स जानात्यकृत्स्नत्वादेतदीक्षितृवस्तुनः ॥ ५५९ ॥
सर्वेषां मेलनं त्वत्र दूषितं महतां मतम् ।
न चाऽशेषं मेलयित्वा व्यवहर्तुं क्षमो नरः ॥ ५६० ॥
अतो यः प्राणिमीत्यादि स्वरूपं यावदीक्षते ।
अक्रियाकारकं वस्तु न तावद्वेद तत्त्वतः ॥ ५६१ ॥
यत्नात्प्रवेशः श्रुत्युक्तः पुनः श्रुत्या स निन्द्यते ।
इत्यत्राऽभिप्रायभेदः कोऽसाविति स ईर्यते ॥ ५६२ ॥
ब्रह्मबोधद्वारतया प्रवेशः प्रतिपादितः ।
द्वारं ब्रह्मतया भ्रान्त्या ये विदुस्तान्विनिन्दति ॥ ५६३ ॥

---

प्राण आदि नाम-रूप अविद्यासे उत्पन्न हुए हैं, इसलिए नामरूपसे युक्त आत्माको देखता हुआ भी पुरुष नहीं देखता है ॥ ५५८ ॥

'प्राणनादिकृताम्' इत्यादि। प्राणनादि क्रियाओंके कर्ताओंके मध्यमें से जो एक-एकको देखता है, वह अज्ञानी है; क्योंकि इसका जाना हुआ आत्मा अकृत्स्न है ॥ ५५९ ॥

'सर्वेषाम्' इत्यादि। [ किंच कृत्स्नत्व यदि आत्माका स्वाभाविक धर्म हो, तो एक ही कालमें प्राणनादि सब व्यापार हो जायेंगे, यह इष्ट नहीं है, इसे कहते हैं—] सब उपाधियोंको मिलाकर परमात्माका दर्शन करना चाहिए, इस प्रकारका महात्माओंका मत दूषित है, क्योंकि सब उपाधियोंको मिलाकर व्यवहार करनेमें मनुष्य असमर्थ है ॥ ५६० ॥

'अतो यः' इत्यादि। इसलिए पुरुष जब तक प्राण आदि स्वरूपको देखता है; तब तक परमार्थरूपसे अक्रिया-कारक वस्तुको नहीं जानता है ॥ ५६१ ॥

'यत्नात्प्रवेशः' इत्यादि। श्रुतिने यत्नसे प्रवेश कहा और श्रुतिने ही प्रवेशकी निन्दा की, इस अभिप्रायका क्या भेद है, उसे कहते हैं ॥ ५६२ ॥

'ब्रह्मबोध०' इत्यादि। चिदाभासके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान होता है, यह प्रवेश श्रुतिका तात्पर्य है, इस तात्पर्यको न जानकर भ्रान्तिसे जो चिदाभासको ब्रह्म जानते हैं, उनकी श्रुति निन्दा करती है ॥ ५६३ ॥

विद्याभासोऽपोदितः स्यात्कर्तृदर्शननिन्दनात् ।
इत्युक्तं व्याकृतं सर्वं जडाजडविभागवत् ॥ ५६४ ॥
प्रमेयं प्रमितिद्वारं प्रमाभासविनिन्दनम् ।
त्रयमुक्त्वा प्रमित्यर्थं विद्यासूत्रमथोच्यते ॥ ५६५ ॥
प्रायेणाऽऽरोप एवाऽत्र तृतीयेऽध्याय ईर्यते ।
तथापि तदमुख्यत्वज्ञप्त्यै विद्या च सूचिता ॥ ५६६ ॥
अन्यथाऽऽरोप एवाऽत्र प्रतिपाद्य इति भ्रमः ।
प्राप्नुयात्, तद्व्युदासार्थं विद्यां मुख्यामसूत्रयत् ॥ ५६७ ॥
आत्मेत्येवमुपासीतेत्येतत्सूत्रमुदाहृतम् ।
अपरेऽत्र विकल्पेन चतुर्धा सूत्रमूचिरे ॥ ५६८ ॥
आत्मेत्येकमिदं सूत्रं कण्डिकाद्वयमेव वा ।
अध्यायो वा समस्तोऽयमध्यायद्वयमेव वा ॥ ५६९ ॥

---

'विद्याभासो०' इत्यादि। कर्ताके दर्शनकी निन्दासे विद्याभासका अपवाद हो गया। इस प्रकार जड़ और चेतन विभागवाला सम्पूर्ण व्याकृत कहा गया है ॥५६४॥

'प्रमेयम्' इत्यादि। प्रमेय, प्रमितिद्वार और प्रमाभासकी निन्दा—इन तीनोंको कहकर अब प्रमितिके लिए विद्यासूत्र कहा जाता है ॥ ५६५ ॥

'प्रायेणाऽऽरोप' इत्यादि। यद्यपि इसमें तृतीय अध्यायमें प्रायः आरोपका ही कथन किया जाता है, तथापि वह मुख्य नहीं है, इस प्रकारके ज्ञानके लिए विद्याका सूचन किया गया है ॥ ५६६ ॥

'अन्यथाऽऽरोप' इत्यादि। अन्यथा यह भ्रम हो सकता है कि इस अध्यायमें आरोपका ही प्रतिपादन किया गया है, अतः इस भ्रमको दूर करनेके लिए मुख्य विद्यासूत्र कहा गया ॥ ५६७ ॥

'आत्मेत्येव०' इत्यादि। 'आत्मेत्येवमुपासीत' यह सूत्र कहा है। यहाँपर कोई आचार्य विकल्पसे चार सूत्र कहते हैं ॥ ५६८ ॥

'आत्मेत्येक०' इत्यादि। कोई कहते हैं—'आत्मा' यह एक सूत्र है। कोई कहते हैं—दो कन्डिकाएँ सूत्र है। कोई कहते हैं—यह एक ( समूचा तृतीय ) अध्याय ही सूत्र है, कोई कहते हैं—दो ( तृतीय, चतुर्थ ) अध्याय ही सूत्र है ॥ ५६९ ॥

अव्याकृतप्रवेशात्मपदनीयप्रियोक्तयः ।
पञ्च सूत्राणि गीतानि कैश्चित्तान्यपि सन्तु वा ॥ ५७० ॥
यथोक्तानां तु सूत्राणामाशास्त्रार्थसमापनात् ।
वृत्तिः स्यादुत्तरो ग्रन्थस्तत्र चैषां समापनात् ॥ ५७१ ॥
सर्वथाऽप्यात्मसूत्रेऽस्मिन्विवादो नाऽस्ति कुत्रचित् ।
तत्सूत्रेण निवर्त्या या शङ्का सा तावदुच्यते ॥ ५७२ ॥
व्याकृते हेतुकार्याभ्यामव्यक्ते कारणेन तत् ।
तिरोहितं वस्तुतत्त्वं कथं तत्त्वं विबुध्यताम् ॥ ५७३ ॥
कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धः स्यादिति नैगमिकं वचः ॥ ५७४ ॥
तुरीये तूक्तबन्धौ तौ न सिध्यत इतीरणात् ।
तुरीयत्वेन बोद्धव्यमिति चेत्तत्कदा वद ॥ ५७५ ॥

---

'अव्याकृत०' इत्यादि । कुछ लोग कहते हैं—अव्याकृत ( अज्ञात आत्मतत्त्व, जो जगत्का निदान है ), उसका सृष्ट जगत्में प्रवेश, ज्ञातव्य आत्मा, उसकी पदनीयता और उसकी प्रियता इस तरह पाँच प्रकारके सूत्र हैं। ये भी पाँच सूत्र हों, इससे कुछ हानि नहीं है ॥ ५७० ॥

'यथोक्तानाम्' इत्यादि । शास्त्रकी समाप्तिपर्यन्त उत्तर ग्रन्थको यथोक्तसूत्रोंका वृत्तिरूप ( व्याख्यानरूप ) समझना चाहिए, क्योंकि इन्हीं सूत्रोंसे अध्यायकी समाप्ति है ॥ ५७१ ॥

'सर्वथा' इत्यादि । सर्वथापि यह आत्मसूत्र है; इसमें किसीको विवाद नहीं है, इस सूत्रसे निवृत्त करने योग्य जो शङ्का है, इसे पहले कहते हैं ॥ ५७२ ॥

'व्याकृते' इत्यादि । वस्तुतत्त्व ( आत्मस्वरूप ) व्याकृतमें ( जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें ) कारण—अज्ञान—और कार्य—शरीर—से तिरोहित है और अव्यक्तमें ( सुषुप्ति अवस्थामें ) कारणसे तिरोहित है, अतः वह कैसे जाना जा सकता है ? ॥ ५७३ ॥

'कार्यकारण०' इत्यादि । [ क्योंकि ] विश्व और तैजस कार्य और कारणसे बद्ध हैं और प्राज्ञ कारणसे बद्ध है; यह निगमका वचन है ॥ ५७४ ॥

'तुरीये' इत्यादि । तुरीयमें दोनों बन्धन सिद्ध नहीं होते हैं। इस

विस्फारिताक्षो जानाति शब्दाद्येव न तत्परम् ।
आपीतकरणग्रामः शब्दाद्यपि न वेत्ति हि ॥ ५७६ ॥
एतच्छङ्कानिवृत्त्यर्थमात्मेत्येवेति सूत्रणम् ।
उक्त्वा पदार्थं शङ्काया उत्तरं योजयिष्यते ॥ ५७७ ॥
यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चाऽत्ति विषयानिह ।
यच्चाऽस्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते ॥ ५७८ ॥
व्याप्नोत्यनवशेषेण सर्पादीन् स्रगिवाऽखिलान् ।
कल्पनाधिष्ठानतया प्रत्यङ्ङात्मा भवेत्ततः ॥ ५७९ ॥
सर्वाधिष्ठानसन्मात्र इत्यशेषजगत्प्रति ।
अधिष्ठानतया व्याप्तिं श्रुतिर्ब्रूते सदाऽऽत्मनः ॥ ५८० ॥
स्वचिदाभासमोहेन तदुत्थानखिलान् यतः ।
आदत्तेऽनात्मनः प्राज्ञस्ततश्चाऽऽत्मेति तं विदुः ॥ ५८१ ॥

---

कथनसे तुरीयरूपसे उसे जानना चाहिए, यदि यह कहो, तो बतलाओ कि कब जानना चाहिए ॥ ५७५ ॥

'विस्फारिताक्षो' इत्यादि । जब इन्द्रियाँ खुली रहती हैं; तब तो शब्दादिको जानता है, परमात्माको नहीं जानता और सुषुप्ति अवस्थामें जब इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं, तब शब्द आदिको भी नहीं जानता ॥ ५७६ ॥

'एतच्छङ्का०' इत्यादि । इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए 'आत्मेत्येवोपासीत' यह सूत्र कहा गया है, अतः पहले उसका पदार्थ कहकर शङ्काका उत्तर कहेंगे ॥५७७॥

'यच्चाऽऽप्नोति' इत्यादि । चूँकि यह विषयोंको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है और खा लेता है, इसलिए और चूँकि इसकी सत्ता व्यापक है; इसलिए इसको आत्मा कहते हैं ॥ ५७८ ॥

'व्याप्नोत्य०' इत्यादि । चूँकि जैसे माला सर्प आदि सब कल्पित पदार्थोंको व्याप्त कर लेती है, वैसे ही सब कल्पनाओंका अधिष्ठान होनेके कारण प्रत्यक्‌ने सब पदार्थोंको व्याप्त किया है, इसलिए वह आत्मा है ॥ ५७९ ॥

'सर्वाधिष्ठान०' इत्यादि । सबका अधिष्ठान सन्मात्र है, इस प्रकारकी श्रुति सबका अधिष्ठान होनेके कारण सब अनात्माओंमें आत्माकी व्याप्ति कहती है ॥५८०॥

'स्वचिदा०' इत्यादि । अज्ञानसे उत्पन्न हुए सब अनात्म पदार्थोंको

पर आत्मनि सर्वेऽपि सम्प्रतिष्ठन्त एकले ।
पृथिव्याद्या अनात्मान इति चाऽथर्वणे वचः ॥ ५८२ ॥

आत्माभासाः पराचीना धीवृत्तीर्विषयोन्मुखाः ।
प्रत्यङ्ङत्ति यतोऽतोऽसावात्मेत्युक्तो मनीषिभिः ॥ ५८३ ॥

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञ इति चाऽऽगमशासनम् ॥ ५८४ ॥

अव्यावृत्तानुगतः पूर्णः स्वात्मन्यवस्थितः ।
यतोऽस्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति पठ्यते ॥ ५८५ ॥

तद्विष्णोरिति मन्त्रोऽपि विष्णुस्तत्परमं पदम् ।
चक्षुर्वदाततं व्योम्नि व्याचष्टे प्रत्यगात्मनि ॥ ५८६ ॥

---

अपने चिदाभाससे युक्त अज्ञानसे प्राज्ञ ग्रहण कर लेता है; इसलिए उसको आत्मा कहते हैं ॥ ५८१ ॥

'पर आत्मनि' इत्यादि । पृथ्वी आदि सब अनात्म पदार्थ उस एक परमात्मामें ही लीन हो जाते हैं; यह अथर्वणका वचन है ॥ ५८२ ॥

'आत्माभासाः' इत्यादि । चिदाभासोंसे युक्त विषयकी ओर जाती हुई बहिर्मुख बुद्धिवृत्तियोंको प्रत्यक् आत्मा खा लेता है अर्थात् साक्षात्कार करता है, इसलिए मनीषी लोग उसको आत्मा कहते हैं ॥ ५८३ ॥

'विश्वो हि' इत्यादि । विश्व स्थूलभुक् (स्थूलका साक्षात्कार करनेवाला) है, तैजस प्रविविक्तभुक् ( सूक्ष्मपदार्थोंका साक्षात्कार करनेवाला ) है और प्राज्ञ आनन्दभुक् है, इस प्रकार आगमका शासन है ॥ ५८४ ॥

'अव्यावृत्ता०' इत्यादि । चूँकि यह किसीसे व्यावृत्त नहीं है, किसीमें अनुगत नहीं है, पूर्ण है, अपने ही रूपमें स्थित है और सर्वत्र यह विद्यमान है, इसलिए इसको आत्मा कहते हैं ॥ ५८५ ॥

'तद्विष्णो०' इत्यादि । 'तद्विष्णोः' यह मन्त्र भी यही कहता है कि विष्णु परमपद है; आकाशमें चक्षुकी तरह वह विष्णु अपनी आत्मामें ही व्याप्त है, क्योंकि अनात्म पदार्थ है ही नहीं ॥ ५८६ ॥

चतुर्विधनिरुक्त्याऽत्र चत्वारोऽर्थाः प्रकीर्तिताः ।
अधिष्ठानं कारणत्वं जीवभावो विमुक्तता ॥ ५८७ ॥
यन्मुक्तरूपं साक्षित्वाद्व्याकृतेऽव्याकृतेऽपि तत् ।
अतिरोहितमत्रात्मशब्देनैतद्धि सूत्रितम् ॥ ५८८ ॥
प्रत्यक्तया यः प्रथते स्वयञ्ज्योतिःस्वभावकः ।
तिरोधीयेत यद्येष जगदान्ध्यं तदा भवेत् ॥ ५८९ ॥
जिघ्राणीममहं गन्धमिति यो वेत्त्यविक्रियः ।
स आत्मा तत्परं ज्योतिरिति वेदशिरो वचः ॥ ५९० ॥
आत्मशब्दधियोरात्मा विषयो नेति भाषितुम् ।
सूत्रेऽस्मिन्नितिशब्दोऽयं यथैतत्स्यात्तथोच्यते ॥ ५९१ ॥
व्यवहर्तुं शक्य एष न च माण्डूक्यवाक्यतः ।
अमात्रो यश्चतुर्थः सोऽव्यवहार्य इतीदृशात् ॥ ५९२ ॥

---

'चतुर्विध०' इत्यादि । चार प्रकारकी निरुक्तिसे चार प्रकारके अर्थ कहे गये हैं—अधिष्ठान, कारणत्व, जीवभाव और विमुक्तता ॥ ५८७ ॥

'यन्मुक्तरूपम्' इत्यादि । जो मुक्तका स्वरूप है, वह साक्षी है, अतः व्याकृत और अव्याकृत—इन दोनोंमें अतिरोहित ( छिपा हुआ नहीं ) है, उसीका आत्मशब्दसे यहाँ सूत्रण किया गया है ॥ ५८८ ॥

'प्रत्यक्तया' इत्यादि । जो स्वयंज्योतिःस्वभाव आत्मा प्रत्यग्रूपसे प्रतीत होता है, वह यदि तिरोहित हो जाय, तो सारा जगत् ही अन्ध हो जायगा ॥ ५८९ ॥

'जिघ्राणी०' इत्यादि । 'मैं इस गन्धको सूंघता हूं' इस प्रकार विकारके बिना जो गन्धको जानता है, वह आत्मा परमात्मा ही है; ऐसा उपनिषद्का वचन है ॥ ५९० ॥

'आत्मशब्द०' इत्यादि । 'आत्मा' इस शब्दका और 'आत्मा' इस बुद्धिका विषय आत्मा नहीं है, इस अर्थको कहनेके लिए इस सूत्रमें जिस प्रकारका 'इति' शब्द कहा गया है; उसी प्रकारका 'इति' शब्द बतलाते हैं ॥ ५९१ ॥

'व्यवहर्तुम्' इत्यादि । इस आत्माका व्यवहार नहीं हो सकता है; क्योंकि माण्डूक्य श्रुतिने कहा है कि वह तुरीय अमात्र है, अव्यवहार्य है ॥ ५९२ ॥

अस्त्वनिश्चितसन्तानो मोक्षोऽप्यत्राऽस्त्वपाक्षिकः ।
ततः कृत्वा कर्म कार्या कर्मच्छिद्रेण सन्ततिः ॥ १११६ ॥
इति मत्वा कुर्वते ये कर्मच्छिद्रेषु सन्ततिम् ।
नूनं ते नासिकाग्रेण वीक्षन्ते सूर्यमण्डलम् ॥ १११७ ॥
वस्तुतन्त्रा तत्त्वविद्या नृतन्त्रा नैव तेन सा ।
नृभिः कर्तुमकर्तुं वा स्वेच्छया नैव शक्यते ॥ १११८ ॥
यत एवमतो यो नः प्रत्यक्संमोहहानिकृत् ।
आद्योऽन्त्यः सन्ततोऽन्यो वा स बोधः सर्वभावदः ॥ १११९ ॥
न चाऽनिवर्त्तको बोधो मोहस्येत्यपि शङ्क्यताम् ।
यतोऽनुभूयते मोहनिवृत्तिस्तत्त्ववेदिभिः ॥ ११२० ॥

---

नहीं हुआ है कि इतने परिमाणसे मुक्ति होती है, इसलिए शास्त्रमें अप्रामाण्य होगा ॥ १११५ ॥

'अस्त्व०' इत्यादि । 'आत्मेत्येवोपासीत' इस श्रुति द्वारा विद्याकी सन्ततिमात्रसे अविद्याकी निवृत्तिका सम्भव होनेके कारण अनिश्चित सन्तान ही अविद्याका निवर्तक है, इस पक्षमें भी मोक्ष अपाक्षिक ( नित्य ) हो सकता है, इसलिए प्रतिदिन नित्य कर्मोंको करके अनन्तर ( कर्मविश्रान्तिकालमें ) ज्ञानसन्तति करनी चाहिए ॥ १११६ ॥

'इति मत्वा' इत्यादि । यह समझकर जो पुरुष कर्म करनेके ही बाद सन्तति करते हैं, वे लोग सचमुच घ्राण इन्द्रियसे सूर्यमण्डलका दर्शन करना चाहते हैं ॥ १११७ ॥

'वस्तुतन्त्रा' इत्यादि । तत्त्वविद्या तो वस्तुके अधीन है, पुरुषके अधीन नहीं है, इसलिए पुरुष अपनी इच्छासे कर्तुम् ( करनेके लिए ) और अकर्तुम् ( न करनेके लिए ) समर्थ नहीं हैं ॥ १११८ ॥

'यत एवमतो' इत्यादि । चूँकि ऐसा है, इसलिए कोई भी बोधसन्तान, चाहे वह प्रथम हो या अन्त्य हो अथवा इन दोनोंसे कोई तीसरा ही क्यों न हो, प्रत्यगात्माके अज्ञानका नाश करके सर्वभावका प्रदान करता है ॥ १११९ ॥

'न चा०' इत्यादि । ज्ञान अज्ञानको निवृत्त नहीं करता, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि तत्त्वज्ञानियोंको अज्ञानकी निवृत्तिका अनुभव होता है ॥ ११२० ॥

विद्यासन्तत्यभावो यो जीवतः पूर्ववादिना ।
प्रागुक्तस्तत्र सन्तानमात्रं तावद्वारणम् ॥ ११२१ ॥
प्रमेयमानसम्बन्धे धारावाहिकसन्ततिः ।
केन वारयितुं शक्या सर्वमेयेषु दर्शनात् ॥ ११२२ ॥
यावज्जीवमविच्छिन्ना सन्ततिश्चेन्न शक्यते ।
मा शक्यतामविच्छिन्नसन्तत्या किं फलं तव ॥ ११२३ ॥
तादृक्सन्ततिहीनस्य पुनर्भ्रान्त्युदये सति ।
रागद्वेषानिरोधेन न मुक्तिरिति चेच्छृणु ॥ ११२४ ॥
मुक्तिरायुःक्षयात् पूर्वं पश्चाद्वा तव सम्मता ।
नाऽऽद्यः, प्रारब्धभोगस्य देवैरप्यनिवारणात् ॥ ११२५ ॥
पश्चात्तनी तु या मुक्तिः सा केनाऽपि न वार्यते ।
रागादिभिर्वार्यते सेत्येतत्स्याद्बालभाषितम् ॥ ११२६ ॥

'विद्या०' इत्यादि । पूर्वपक्षीने जो यह कहा था कि जीवित अवस्थामें विद्यासन्तति नहीं हो सकती, सो भी समीचीन नहीं है, क्योंकि सन्तानको कोई रोक नहीं सकता ॥ ॥ ११२१ ॥

'प्रमेय०' इत्यादि । प्रमेय और प्रमाणका सम्बन्ध होनेपर धारावाहिक सन्ततिको कौन रोक सकता है ? अर्थात् कोई नहीं रोक सकता, क्योंकि सभी प्रमेयोंमें वह देखी जाती है ॥ ११२२ ॥

'यावज्जीव०' इत्यादि । यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि यावज्जीव (जीवनपर्यन्त) अविच्छिन्न सन्तति नहीं हो सकती, तो इसपर हमारा यह कहना है कि भले ही न हो, क्योंकि अविच्छिन्न सन्ततिसे तुम्हें क्या लेना देना है अर्थात् तुम्हें उससे कौनसा अभीष्ट होनेवाला है ? यह बतलाओ ॥ ११२३ ॥

'तादृक्सन्तति०' इत्यादि । यदि तादृश ( अविच्छिन्न ) सन्तति नहीं होगी, तो पुरुषको फिर भ्रमका उदय होगा, इस परिस्थितिमें राग-द्वेष उत्पन्न होंगे, इसलिए मुक्ति नहीं होगी, यदि ऐसा कहो, तो इसका भी उत्तर सुनो ॥११२४॥

'मुक्तिरायुः०' इत्यादि । मरनेसे पहले तुम मुक्ति चाहते हो या पीछे ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रारब्धभोगका निवारण तो देवता भी नहीं कर सकते ॥ ११२५ ॥

'पश्चात्तनी' इत्यादि । मरणके पश्चात् कालकी मुक्तिको तो कौन हटा

सञ्चितारब्धयोर्ज्ञानभोगाभ्यां कर्मणोः क्षये ।
जन्महेतोरसद्भावान्मुक्तिरेवाऽवशिष्यते ॥ ११२७ ॥
रागादिजन्येनाऽऽगामिकर्मणा श्लिष्यते नहि ।
प्रियाप्रिये ज्ञातयोऽस्य जगृहुः पुण्यपातके ॥ ११२८ ॥
ब्रह्मात्मबोधमात्रेण शास्त्रार्थस्य समाप्तितः ।
रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यते ॥ ११२९ ॥
रागादिरोधाद्ये मुक्तिमाहुस्ते प्रलये कुतः ।
न मुक्तास्तत्र रागादेर्निरोधोऽभूदशेषतः ॥ ११३० ॥
तावानपि न पर्याप्तो निरोधो मुक्तये, कथम् ।
अल्पीयोऽहःसमभ्यस्तो निरोधोऽलं विमुक्तये ॥ ११३१ ॥

---

सकता है। रागादि उन्हें हटा देंगे, यह कहना तो बालवचन है। [क्योंकि प्रारब्धके नाशसे नष्ट हुए रागादि प्रतिबन्धक नहीं हो सकते, यह भाव है ] ॥ ११२६ ॥

'सञ्चिता०' इत्यादि। ज्ञानसे सञ्चित कर्मोंका और भोगसे प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेपर जन्मका कोई हेतु ही नहीं रहता, इसलिए केवल मुक्ति ही शेष रहती है ॥ ११२७ ॥

'रागादि०' इत्यादि। रागादिसे उत्पन्न होनेवाले आगामी कर्मका विद्वान्में श्लेष नहीं होता। ज्ञानीके प्रिय और अप्रिय पुण्य और पापोंको मित्र और शत्रु ग्रहण कर लेते हैं; इसीसे विद्वान्में आगामी कर्मका श्लेष नहीं होता है ॥ ११२८ ॥

'ब्रह्मात्म०' इत्यादि। ब्रह्मात्मबोधमात्रसे शास्त्रार्थ समाप्त हो चुका है; इसलिए तत्त्वज्ञानीमें राग, द्वेष आदि भले ही यथेष्ट रूपसे रहें; परन्तु उनका सद्भाव ज्ञानीकी कोई हानि नहीं कर सकता [ क्योंकि वे प्रारब्ध कर्मका फल देनेके लिए ही ज्ञानीमें आभासरूपसे विद्यमान हैं ] ॥ ११२९ ॥

'रागादिरोधाद्ये' इत्यादि। रागादिके निरोधसे जो मुक्ति कहते हैं; वे प्रलयकालमें मुक्त क्यों न हुए, क्योंकि उसमें तो उनके रागादिका पूर्णरीतिसे निरोध हो गया था ॥ ११३० ॥

'तावानपि' इत्यादि। उतने प्रचुर कालसे अभ्यस्त निरोध भी जब मुक्तिके लिए पर्याप्त न हुआ, तब थोड़े दिनोंसे अभ्यस्त निरोध मुक्तिके लिए पर्याप्त होगा; यह कैसे कह सकते हैं? ॥ ११३१ ॥

बोधाभावादमुक्तिश्चेत्प्रलये तर्हि बोधतः ।
मुक्तिरित्येव वक्तव्यं कोऽर्थो रागादिरोधतः ॥ ११३२ ॥
रागादिष्वनिरुद्धेषु बोध एव न सम्भवेत् ।
यदि तर्हि निरुध्यन्तामाबोधं ते बुभुत्सुभिः ॥ ११३३ ॥
पश्चात्तु यदि बोधेन बाध्यन्तेऽस्तु तथैव तत् ।
अथाऽऽरब्धेन जन्येरन् जन्यन्तां भोगसिद्धये ॥ ११३४ ॥
निरोद्धुं नहि शक्यन्ते रागाद्या भोगहेतवः ।
बुभुत्सुबुद्धमूढानां मध्ये केनाऽपि धीमता ॥ ११३५ ॥
अभोगहेतवो ये स्युरविचारैकनिर्मिताः ।
ते तु बुद्धबुभुत्सुभ्यां निरुध्यन्ते विचारतः ॥ ११३६ ॥
ये भोगहेतवस्तेऽपि प्रबुद्धे भ्रष्टबीजवत् ।
दृश्यन्ते बोधदग्धाश्चेन्नीरागादिः सुखी भवेत् ॥ ११३७ ॥

'बोधाभावा०' इत्यादि। पूर्वपक्षी यदि यह कहे कि प्रलयकालमें बोधका अभाव था, इसलिए मुक्ति नहीं हुई, तो इसपर हम कहते हैं कि बोधसे ही मुक्ति होती है, यही कहना चाहिए फिर रागादिके निरोधसे मुक्ति होती है, ऐसा कहनेसे क्या लाभ ? ॥ ११३२ ॥

'रागादि०' इत्यादि। यदि पूर्वपक्षी कहे कि रागादिका निरोध न होनेपर बोधका ही होना संभव नहीं है, तो बोधपर्यन्त जिज्ञासुओंको निरोध करना चाहिए, यह मानना होगा ॥ ११३३ ॥

'पश्चात्तु' इत्यादि। बोधके पश्चात् यदि बोधसे ही रागादिका बाध हो जाय, तो ठीक ही है। यदि प्रारब्धसे वे उत्पन्न होते हैं; तो भोगकी सिद्धिके लिए उत्पन्न होने दो ॥ ११३४ ॥

'निरोद्धुम्' इत्यादि। जिज्ञासु, ज्ञानी, अज्ञानी—इनमें से कोई भी बुद्धिमान् भोगके हेतु रागादिको नहीं रोक सकता है ॥ ११३५ ॥

'अभोग०' इत्यादि। जो भोगके हेतु नहीं हैं और केवल अविवेकसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसे राग आदिको ज्ञानी और जिज्ञासु विचारसे रोक लेते हैं ॥ ११३६ ॥

'ये भोग०' इत्यादि। जो भोगके हेतु रागादि हैं, वे भी भुने हुए अन्नकी तरह बोधसे ज्ञानीमें दग्ध हो चुके हैं, इसलिए वास्तवमें ज्ञानी राग आदिसे रहित और सुखी है ॥ ११३७ ॥

आगमाद्वेद चेद्ब्रह्म ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
फलावस्थस्य च सतः काऽतो रागादिसम्प्लुतिः ॥ ११३८ ॥
ज्ञाततत्त्वस्य न पुनर्भ्रान्त्युत्पत्तिरहेतुतः ।
विशेषाज्ञानजा भ्रान्तिर्विशेषज्ञानिनः कुतः ॥ ११३९ ॥
यः सामान्यग्रहो यच्च विशेषाग्रहणं तथा ।
आरोप्यस्यैव संस्कारस्तत्त्रयं भ्रान्तिकारणम् ॥ ११४० ॥
चिदात्मत्वं तु सामान्यं विशेषो ब्रह्मरूपता ।
भवेदारोप्यसंस्कारो ह्यनादिर्द्वैतवासना ॥ ११४१ ॥
तत्र ब्रह्मात्मविज्ञाने निर्हेतुर्विभ्रमः कथम् ।
उदेति, द्वैतधीस्तेषां बाधितैवाऽनुवर्त्तते ॥ ११४२ ॥
तयाऽनुवृत्त्याऽऽरब्धस्य शेषोऽप्यत्रोपभुज्यते ।
विद्यया सर्वभावश्च भुञ्जानेनाऽनुभूयते ॥ ११४३ ॥

---

'आगमात्' इत्यादि । शास्त्रसे जिसको ब्रह्मका ज्ञान हो चुका है, वह स्वयं ब्रह्म ही है और फलावस्थामें स्थित है, अतः उसकी रागादि क्या हानि कर सकते हैं ? ॥ ११३८ ॥

'ज्ञाततत्त्वस्य' इत्यादि । तत्त्वज्ञानीको फिर भ्रमकी उत्पत्ति हो, इसका कोई कारण नहीं है; क्योंकि विशेष धर्मके अज्ञानसे भ्रान्ति हुआ करती है; वह तो आत्माके नित्यमुक्तत्व आदि विशेष धर्मको जानता है; इसलिए उसको भ्रान्ति कैसे होगी ? ॥ ११३९ ॥

'यः सामान्य०' इत्यादि । अधिष्ठानका सामान्यरूपसे ज्ञान, विशेषरूपसे अज्ञान तथा आरोप्यके ज्ञानका संस्कार—ये तीन भ्रान्तिके कारण हैं ॥११४०॥

'चिदात्मत्वम्' इत्यादि । चिदात्मत्व सामान्यरूप है, ब्रह्मरूपता विशेषरूप है और अनादि द्वैतवासना आरोप्यका संस्कार है ॥ ११४१ ॥

'तत्र ब्रह्मात्म०' इत्यादि । मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा ज्ञान होनेपर भ्रम कैसे हो सकता है, क्योंकि कारणभूत विशेषरूपका अज्ञान नहीं है, इसलिए ज्ञानवान्की द्वैतबुद्धिकी बाधित ही अनुवृत्ति होती है ॥ ११४२ ॥

'तयाऽनुवृत्त्या०' इत्यादि । उस बाधित अनुवृत्तिसे प्रारब्धके शेषका भोग होता है और प्रारब्धफलका भोग करते हुए ही तत्त्वज्ञानी विद्यासे सर्वभावका अनुभव करता है ॥ ११४३ ॥

देहादिरेव भोगस्य हेतुर्न त्वस्य वस्तुता ।
अनृतेनाऽपि भोगोऽस्ति स्वप्ने देहादिना यतः ॥ ११४४ ॥
वस्तुत्वमेव विद्येयं बाधते नाऽनृतात्मताम् ।
नाऽऽदर्शस्थमुखं बाध्यं स्वमुखैकत्वविद्यया ॥ ११४५ ॥
वास्तवांशस्य दग्धत्वात् प्रतीत्या भोगसम्भवात् ।
जीवन्मुक्तिकथा प्रोक्ता प्रारब्धान्तमनिन्दिता ॥ ११४६ ॥
तस्मान्न जीवतः सर्वभावः क्वाऽपि विरुध्यते ।
अहं ब्रह्मेति यो वेत्ति सद्यः सर्वं भवत्यसौ ॥ ११४७ ॥
आत्मेत्येवेति विद्यायाः सूत्रं यत् सूत्रितं पुरा ।
तद्व्याख्यानमिदं श्रुत्या संक्षेपेण समापितम् ॥ ११४८ ॥
इत्थमादेयविद्यायाः सूत्रवृत्ती उदाहृते ।
हेयाविद्यां स्वकार्येण युक्तां सूत्रयति श्रुतिः ॥ ११४९ ॥

'देहादिरेव' इत्यादि । देहादि भोगके हेतु हैं, उनकी सत्यता भोगकी हेतु नहीं है, क्योंकि स्वप्नमें मिथ्याभूत देह आदिसे भोग होता ही है ॥११४४॥

'वस्तुत्वमेव' इत्यादि । यह विद्या वस्तुत्वका बाध करती है, मिथ्या-स्वरूपका बाध नहीं करती, क्योंकि अपने मुखकी एकताके ज्ञानसे दर्पणस्थ मुखका बाध नहीं हुआ करता ॥ ११४५ ॥

'वास्तवांशस्य' इत्यादि । वास्तव अंश दग्ध हो चुका है और प्रतीतिसे भोग हो सकता है, इसलिए प्रारब्धकी समाप्तिपर्यन्त जीवन्मुक्ति-कथाकी कोई निन्दा नहीं कर सकता ॥ ११४६ ॥

'तस्मान्न०' इत्यादि । इसलिए जीवित अवस्थामें सर्वभावका कोई विरोधी नहीं है, क्योंकि मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार जो जानता है; वह ज्ञानकालमें ही सर्वात्मा हो जाता है ॥ ११४७ ॥

'आत्मेत्येव०' इत्यादि । 'आत्मेत्येव' यह जो पहले विद्याका सूत्र कहा था, उसका यह व्याख्यान संक्षेपसे श्रुतिने समाप्त कर दिया ॥ ११४८ ॥

'इत्थमा०' इत्यादि । इस प्रकार आदेय ( ग्रहण करने योग्य ) विद्याका सूत्र और उसकी वृत्ति कह दी गई अब अपने कार्यसहित हेया (त्याग करने योग्य) अविद्याको श्रुति सूत्रित करती है ॥ ११४९ ॥

स्वस्मादन्यां देवतां य उपास्ते स्वं न वेद सः ।
इति सूत्रमविद्यायाः सकार्यायाः श्रुतीरितम् ॥ ११५० ॥
स्वब्रह्मत्वापरिज्ञानमविद्याऽनर्थकारिणी ।
अन्योपास्त्या पारतन्त्र्यमिहाऽनर्थ इतीर्यते ॥ ११५१ ॥
नन्वव्याकृतमज्ञानं व्याकृतं कार्यमीरितम् ।
तदेव द्वयमत्राऽपि भूयः कस्मादुदीर्यते ॥ ११५२ ॥
शृणु विद्याफले पुंसां विसंवादभ्रमोदयम् ।
विनिवारयितुं बोधविनिवर्त्यं विविच्यते ॥ ११५३ ॥
अध्यात्ममधिदैवं च जीवत्वेशत्वकल्पिका ।
द्विधा शक्तिरविद्याया द्वैविध्यं तद्विविच्यते ॥ ११५४ ॥
स्वाश्रयं मोहयेद्याऽसौ शक्तिर्जीवत्वकल्पिका ।
साऽस्य ब्रह्मत्वमावृत्य जनयेज्जीवताभ्रमम् ॥ ११५५ ॥

'स्वस्मादन्याम्' इत्यादि । अपनेसे अन्य देवताकी जो उपासना करता है; वह आत्माको नहीं जानता है, इस प्रकार कार्यसहित अविद्याका सूत्र श्रुति द्वारा कहा गया है ॥ ११५० ॥

'स्वब्रह्मत्वा०' इत्यादि । आत्माके ब्रह्मत्वका अज्ञान ही अनर्थकारिणी अविद्या है, अन्यकी उपासनासे जो परतन्त्रता होती है, वही प्रकृतमें अविद्याकृत अनर्थ कहा जाता है ॥ ११५१ ॥

'नन्वव्याकृत०' इत्यादि । अव्याकृत अज्ञान है और व्याकृत कार्य है, यह पहले कह चुके हैं; फिर उन दोनोंका यहाँ क्यों उल्लेख किया जाता है ? ॥ ११५२ ॥

'शृणु' इत्यादि । सुनो, विद्यासे होनेवाले मोक्षरूप फलमें पुरुषोंको निष्फलताके भ्रमकी निवृत्तिके लिए बोधसे निवर्त्यका ( निषेध्यके स्वरूपका ) विवेचन किया जाता है ॥ ११५३ ॥

'अध्यात्म०' इत्यादि । जीवत्व और ईश्वरत्वकी कल्पना करनेवाली अविद्याकी शक्ति अध्यात्म और अधिदैव भेदसे दो प्रकारकी है, उन दो प्रकारोंका विवेचन किया जाता है ॥ ११५४ ॥

'स्वाश्रयम्' इत्यादि । जो शक्ति अपने आश्रयको मोहित कर देती है,

जीवोऽहमिति मूढोऽन्यामुपास्ते देवतामयम् ।
सेयं मोहकरी शक्तिर्विद्ययैव निवर्त्तते ॥ ११५६ ॥
न मोहयति या शक्तिः स्वाश्रयं साऽऽधिदैविकी ।
आविर्भावतिरोभावौ व्याकृताव्याकृताभिधौ ॥ ११५७ ॥
प्रतिभासत एवैषा विदुषोऽप्यत्र जीवतः ।
तस्याः प्रारब्धभोगान्ते प्रतिभासो निवर्त्तते ॥ ११५८ ॥
तामाधिदैविकीं शक्तिमाहुर्मायेति केचन ।
आध्यात्मिकीं मोहकरीमविद्येति प्रचक्षते ॥ ११५९ ॥
अविद्यामाययोर्भेदमात्यन्तिकमपाकरोत् ।
यत्नाद्विवरणाचार्य ऊचे स्वाकारभिन्नताम् ॥ ११६० ॥

---

वही जीवत्वकी कल्पना करती है और वह इसके ( जीवके ) ब्रह्मत्वका आवरण करके जीवत्वभ्रमको उत्पन्न करती है ॥ ११५५ ॥

'जीवोऽहम्' इत्यादि । इससे 'मैं जीव हूँ' ऐसा मानकर यह अज्ञानी अन्य देवताकी उपासना करता है, यह मोहकरी शक्ति विद्यासे हीं निवृत्त होती है ॥ ११५६ ॥

'न मोहयति' इत्यादि । जो शक्ति अपने आश्रयको मोहित नहीं करती, वह आधिदैविकी शक्ति है । व्याकृतशब्दका अर्थ आविर्भाव और अव्याकृत शब्दका अर्थ तिरोभाव है ॥ ११५७ ॥

'प्रतिभासतः' इत्यादि । जीवनकालमें विद्वान्‌को भी ये दोनों भासते ही रहते हैं; प्रारब्धभोगके अन्तमें प्रतिभास भी निवृत्त हो जाता है ॥११५८॥

'तमाधिदैविकीम्' इत्यादि । उस आधिदैविकी शक्तिको कोई लोग माया कहते हैं और आध्यात्मिकी मोहकरी शक्तिको अविद्या कहते हैं ॥११५९॥

'अविद्या०' इत्यादि । विवरणाचार्यने अविद्या और मायाके आत्यन्तिक भेदका निराकरण किया है; उनके भिन्न-भिन्न आकार कहे हैं । भाव यह है कि मूल प्रकृति ही विक्षेपशक्तिकी प्रधानतासे आधिदैविक शक्ति अथवा माया कही जाती है, वही मूल प्रकृति आवरणशक्तिकी प्रधानतासे अध्यात्मशक्ति अथवा अविद्या कही जाती है । आवरणशक्तियाँ प्रत्येक जीवमें भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए एक जीवमें विद्याकी उत्पत्ति होनेसे उस जीवके आवरणकी

सृष्टिप्रकरणे तत्र मायाकारः पुरोदितः ।
अव्याकृतगिरा तस्य कार्यं व्याकृतमीरितम् ॥ ११६१ ॥
कर्मप्रकरणे त्वस्मिन्नविद्याकार ईर्यते ।
स्वस्माद्भिन्ना देवतेति धीरविद्याविजृम्भिता ॥ ११६२ ॥
स्वस्य तत्त्वमविज्ञाय यागदानादिकर्मभिः ।
स्वतोऽन्यदेवताः पाति ह्यनड्वान् वणिजं यथा ॥ ११६३ ॥

---

निवृत्ति होकर उस प्रकृतिमें जीवत्वापादक अविद्यात्वकी निवृत्ति होनेपर भी अन्य जीवोंके संसारका हेतु जो मायाका स्वरूप है, वह निवृत्त नहीं होता, क्योंकि उन जीवोंके प्रारब्धसे वह प्रतिबद्ध है । उस मायास्वरूपके नष्ट न होनेपर भी विद्वान्‌का, देहपातके अनन्तर ही असङ्ग, शुद्ध चैतन्यके साथ तादात्म्य होनेसे, मायाके साथ सम्बन्ध नहीं होता; इसलिए मुक्त पुरुषको माया और मायाके कार्यका प्रतिभास नहीं होता । कोई एकदेशी माया और अविद्याका आत्यन्तिक भेद कहते हैं । विवरणाचार्य श्रीप्रकाशात्मचरणोंने इस एकदेशी मतका इस प्रकार निराकरण किया है—'माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' ( माया और अविद्या आप ही होती हैं ) इस श्रुति और 'मायैवाज्ञानशब्देन पठ्यते मुनिसत्तम ।' इत्यादि स्मृतिके विरोधसे माया और अविद्याका जो भेदव्यवहार है, वह उक्त आकारके भेदमात्रसे उपपन्न हो सकता है, इसलिए माया और अविद्याका आत्यन्तिक भेद नहीं है ॥ ११६० ॥

'सृष्टिप्रकर्णे' इत्यादि । पहले सृष्टिके प्रकरणमें अव्याकृतशब्दसे मायाका आकार कहा गया है और व्याकृतशब्दसे मायाका कार्य कहा गया है ॥ ११६१ ॥

'कर्मप्रकरणे' इत्यादि । इस कर्मके प्रकरणमें तो अव्याकृतशब्दसे अविद्याका आकार कहा जाता है । अपनेसे भिन्न देवताको समझना ही अविद्याका विलास है ॥ ११६२ ॥

'स्वस्य तत्त्वम०' इत्यादि । जैसे बैल वहन आदिसे वैश्यका पालन करता है; वैसे ही स्वरूपके तत्त्वको न जानकर याग, दान आदि कर्मोंसे यह मनुष्य अन्य देवताओंका पालन करता है ॥ ११६३ ॥

योे देवपारतन्त्र्यस्य हेतुर्मोहश्चिदात्मनः ।
ब्रह्मत्वबुध्या हेयोऽसावित्येतदिह वर्ण्यते ॥ ११६९ ॥
प्रामाण्यं कर्मकाण्डस्य देवानां प्रभुता तथा ।
पशुकल्पेषु मूढेषु भवेन्न तु विवेकिनि ॥ ११७० ॥
इत्थमाध्यात्मिकाज्ञानं कर्माधिकृतिकारणम् ।
बोधहेयं जगद्धेतोरव्यक्तात् प्रविवेचितम् ॥ ११७१ ॥
नन्वब्रह्मत्वधीर्यद्वदहं ब्रह्मेति बोधतः ।
निवर्तते तथा द्वैतधीरप्यद्वैतबोधतः ॥ ११७२ ॥
ततश्च जीवतो बोधहेयं किञ्चिदथेतरत् ।
भुक्तभोगस्य देहान्ते नङ्क्ष्यतीत्यसदीरितम् ॥ ११७३ ॥
नैष दोषो यतो बोधः कृत्स्नाज्ञानं दहन्नपि ।
न दहेद्भोगहेतुत्वमारब्धप्रतिबन्धतः ॥ ११७४ ॥

इन देवताओंके अनुग्रहसे अन्तर्मुख होकर अपने स्वरूपको जान लेता है, तब परतन्त्रता नष्ट हो जाती है ॥ ११६८ ॥

'यो देवपार०' इत्यादि । देवताओंकी परतन्त्रताका हेतु चिदात्माका अज्ञान है और ब्रह्मज्ञानसे उसका त्याग होता है, इसका यहांपर वर्णन किया जाता है ॥ ११६९ ॥

'प्रामाण्यम्' इत्यादि । कर्मकाण्डकी प्रमाणता और देवताओंकी प्रभुता पशुतुल्य अज्ञानियोंमें है, विवेकीमें नहीं ॥ ११७० ॥

'इत्थमा०' इत्यादि । इस प्रकार कर्मोंके अधिकारका कारणीभूत एवं बोधसे निवृत्त होनेवाला जो आध्यात्मिक अज्ञान है, उसको, जगत्‌के कारण अव्यक्तसे पृथक् करके, दिखला दिया ॥ ११७१ ॥

'नन्व०' इत्यादि । जैसे ब्रह्मज्ञानसे अब्रह्मत्वज्ञान निवृत्त होता है; वैसे ही अद्वैतज्ञानसे द्वैतज्ञान निवृत्त होता है ॥ ११७२ ॥

'ततश्च' इत्यादि । इसलिए सर्व द्वैतकी निवृत्तिका अङ्गीकार करनेपर जीवित पुरुषके अविद्यात्व अंशकी ज्ञानसे निवृत्ति होती है और मायाके कार्य जगत्‌का प्रतिभास तब तक होता रहता है जब तक प्रारब्ध रहता है, और भोगोंके भोग लेनेसे देहके अन्तमें वह नष्ट हो जायगा; यह कथन समीचीन नहीं है ॥ ११७३ ॥

'नैष दोषो' इत्यादि । यह दोष नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण अज्ञानको दग्ध करता

मण्यादयो यथा वह्नेः प्रतिबध्नन्ति दग्धृताम् ।
न तु प्रकाशसामर्थ्यं तथांशप्रतिबन्धनम् ॥ ११७५ ॥
भोगोपयुक्तं देहादि यावत्तावन्न बाध्यते ।
विद्ययाऽनुपयुक्तस्तु बाध्यते जीवताभ्रमः ॥ ११७६ ॥
ननु देहाभिमानेन विना भोगो न दृश्यते ।
सुप्तौ तेनाऽत्र भोगाय जीवभ्रान्तिरपेक्षिता ॥ ११७७ ॥
मैवं देहाभिमानस्य जीवभ्रान्तेः पृथक्त्वतः ।
कर्मजन्योऽभिमानः स्याद् भ्रान्तिस्त्वज्ञानमात्रजा ॥ ११७८ ॥
कर्मक्षयेऽभिमानोऽयं सुषुप्तौ प्रविलीयते ।
पुनः कर्मोद्भवे सोऽयमुदेत्येव हि जागरे ॥ ११७९ ॥
लिङ्गदेहस्थूलदेहसम्बन्धो लिङ्गकर्मजः ।
कर्माभावाद्ब्रह्मणस्तु जीवता नैव कर्मजा ॥ ११८० ॥

हुआ भी बोध प्रारब्धरूप प्रतिबन्धकसे भोगकी हेतुताको दग्ध नहीं करता है ॥ ११७४ ॥

'मण्यादयो' इत्यादि । जैसे चन्द्रकान्त मणि आदि अग्निकी दाहशक्तिका प्रतिबन्ध करते हैं; प्रकाशशक्तिका प्रतिबन्ध नहीं करते; वैसे ही ज्ञान मायाकी शक्तिके अंशका प्रतिबन्ध करता है ॥ ११७५ ॥

'भोगोपयुक्तम्' इत्यादि । विद्या भोगके उपयोगी जो देहादि हैं, उनका बाध नहीं करती, किन्तु भोगमें अनुपयोगी जो जीवत्वभ्रम है, उसका बाध कर देती है ॥ ११७६ ॥

'ननु०' इत्यादि । यदि कहो कि सुषुप्ति अवस्थामें देहका अभिमान न होनेसे भोग नहीं देखा जाता, इसलिए भोगके लिए जीवत्वभ्रमकी आवश्यकता है, तो यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि देहाभिमान और जीवत्व-भ्रम भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं । अभिमान कर्मोंसे उत्पन्न होता है और भ्रम अज्ञान-मात्रसे होता है ॥ ११७७–७८ ॥

'कर्मक्षये' इत्यादि । सुषुप्ति अवस्थामें कर्मोंका क्षय होनेसे देहाभिमान नष्ट हो जाता है और फिर जाग्रत् अवस्थामें कर्मोंका उद्भव होनेपर देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है ॥ ११७९ ॥

'लिङ्ग०' इत्यादि । लिङ्गदेह और स्थूलदेहका सम्बन्ध लिङ्गदेहके कर्मोंसे

लिङ्गदेहस्य सान्निध्यादविवेकेन जीवता ।
प्राणधारणरूपैषा भ्रमाद्ब्रह्मणि कल्पिता ॥ ११८१ ॥
अविवेककृतं यत्तद्विवेकेन विलीयते ।
कर्मापादितसम्बन्धो लीनः स्यात्कर्मणः क्षये ॥ ११८२ ॥
अज्ञानजत्वात्कर्मापि बाध्यं यद्यपि विद्यया ।
तथाऽप्यतीतकर्मैतद्बाध्यते विद्यया कथम् ॥ ११८३ ॥
फलं नाऽऽरभते यावत्तावत्कर्म स्वरूपतः ।
वर्तते फलमुत्पाद्य निवर्त्तेतैव बीजवत् ॥ ११८४ ॥
यथोत्पाद्याऽङ्कुरं बीजं जहात्येव हि बीजताम् ।
सोऽङ्कुरो वृक्षरूपेण वर्द्धते न विनश्यति ॥ ११८५ ॥

---

उत्पन्न होता है । ब्रह्ममें कोई कर्म नहीं है, इसलिए जीवत्वभ्रम कर्मजन्य नहीं है ॥ ११८० ॥

'लिङ्गदेहस्य' इत्यादि । लिङ्गदेहके सान्निध्यसे यह प्राणधारणरूप जीवभाव अविवेकजन्य भ्रमसे ब्रह्ममें कल्पित है ॥ ११८१ ॥

'अविवेक०' इत्यादि । अविवेकका कार्य विवेकसे नष्ट हो जाया करता है; इसलिए कर्मजन्य सम्बन्ध कर्मोंका क्षय होनेसे सुषुप्तिमें लीन हो जाता है ॥ ११८२ ॥

'अज्ञानत्वात्' इत्यादि । यद्यपि अज्ञानका कार्य होनेसे कर्मका भी विद्यासे बाध होना चाहिए, तथापि अतीत कर्मका विद्या कैसे बाध कर सकती है अर्थात् ज्ञानोत्पत्तिकालमें जब प्रारब्ध कर्म हैं ही नहीं तब उनका ज्ञानसे बाध कैसे होगा ? ॥ ११८३ ॥

'फलं नाऽऽरभते' इत्यादि । जबतक कर्म फलका आरम्भ नहीं करता तबतक कर्म स्वरूपसे बना रहता है और फलको उत्पन्न करके बीजकी तरह नष्ट हो जाता है ॥ ११८४ ॥

'यथो०' इत्यादि । जैसे अङ्कुरको उत्पन्न करके बीज बीजभावका त्याग कर देता है, वह अङ्कुर वृक्षरूपसे बढ़ता ही रहता है, नष्ट नहीं होता ॥ ११८५ ॥

तथा देहादिमुत्पाद्य युक्तं कतिपयायुषा ।
कर्म त्यजति कर्मत्वं देहादिरनुवर्त्तते ॥ ११८६ ॥
मुक्तो बाणो यथा वेगक्षये पतति नाऽन्यथा ।
असौ देहस्तथैवाऽऽयुःक्षये शाम्यति नाऽन्यथा ॥ ११८७ ॥
यावदायुस्तावदेष भुङ्क्ते भ्रमविवर्जितः ।
अन्तरेणाऽपि जीवत्वभ्रमं भोगोऽत्र सम्भवेत् ॥ ११८८ ॥
सुखदुःखविकाराढ्यधियः साक्ष्यवभासता ।
भोगः प्रोक्तः स भोगश्च समानो मूढबुद्धयोः ॥ ११८९ ॥
भोक्तृत्वमपि कर्तृत्वं चिदाभासगतं चिति ।
मूढ आरोपयेद् बुद्धो नेति वैषम्यमेतयोः ॥ ११९०
इत्युक्तयुक्तितस्तस्य तावदेव चिरं त्विति ।
श्रुतेर्ज्ञान्यनुभूतेश्च भोगो बाध्यो न बोधतः ॥११९१ ॥

'तथा' इत्यादि । वैसे ही कुछ आयुसे युक्त देहको उत्पन्न करके कर्म कर्मभावको त्याग देता है और देहादि बने रहते हैं। जैसे धनुषसे छूटा हुआ बाण वेगका क्षय होनेपर ही गिरता है, अन्यथा नहीं गिरता, वैसे ही यह देह आयुका क्षय होनेपर ही नष्ट होता है, अन्यथा नष्ट नहीं होता ॥ ११८६–८७ ॥

'यावदायु०' इत्यादि । ज्ञानवान् पुरुष जबतक देह है तबतक भ्रमरहित होकर भोगोंको भोगता है, इसलिए जीवत्वभ्रमके बिना भी भोगका सम्भव है ॥ ११८८ ॥

'सुखदुःख०' इत्यादि । सुख, दुःख आदि विकारोंसे युक्त बुद्धिका जो साक्षीसे प्रकाश होता है; उसीको भोग कहते हैं; वह भोग अज्ञानी और ज्ञानी दोनोंको समान होता है ॥ ११८९ ॥

'भोक्तृत्वमपि' इत्यादि । भोक्तृत्व और कर्तृत्व चिदाभासके धर्म हैं। अज्ञानी उनका चेतनमें आरोप करता है और ज्ञानी चेतनमें आरोप नहीं करता, यही उन दोनोंमें परस्पर वैलक्षण्य है ॥ ११९० ॥

'इत्युक्त०' इत्यादि । इस उक्त युक्तिसे, 'तस्य तावदेव चिरम्' इस श्रुतिसे और ज्ञानीके अनुभवसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानसे भोगका बाध नहीं होता ॥ ११९१ ॥

कर्माधिकारिजीवस्य भ्रान्तिकृद्यदवेदनम् ।
तद्बोधबाध्यं तद्बाधे याति देवाद्यधीनता ॥ ११९२ ॥
ननु बोधात् पुराऽप्यात्मा न देवादिवशं गतः ।
देहादि तूर्ध्वमप्यस्ति यद्देवादिवशानुगम् ॥ ११९३ ॥
तथा च सत्यबुद्धस्य कर्मित्वं न विवेकिनः ।
इति व्यवस्थापयितुं न शक्यमिति चेन्न तत् ॥ ११९४ ॥
मुक्तोऽहमात्मा देहादिरारब्धान्ते विलीयते ।
भाविजन्म न कस्याऽपीत्येवं ज्ञाने कुतः क्रिया ॥ ११९५ ॥
अवाप्स्याम्युत्तमं देहमित्यध्यस्याऽऽत्ममोहतः ।
तद्देहसाधने पुण्ये यथाशास्त्रं प्रवर्त्तते ॥ ११९६ ॥
अतः कर्मप्रकरणे कर्महेतुमवेदनम् ।
सूत्रयित्वाऽथ तत्कार्यं पारतन्त्र्यादि वर्ण्यते ॥ ११९७ ॥

'कर्माधिकारि०' इत्यादि । कर्माधिकारी जीवमें भ्रमको उत्पन्न करनेवाला जो अज्ञान है, उसका ज्ञानसे बाध होता है और अज्ञानका बाध होनेसे देवताओंकी परतन्त्रता नष्ट हो जाती है ॥ ११९२ ॥

'ननु' इत्यादि । बोधसे पहले भी आत्मा देवादिके वशमें नहीं था और देवताओंके वशमें रहनेवाले देह आदि तो ज्ञानके अनन्तर भी देवताओंके अधीन हैं ॥११९३॥

'तथा च' इत्यादि । ऐसी दशामें अज्ञानी कर्मी है; विवेकी कर्मी नहीं है, यह व्यवस्था नहीं की जा सकती, ऐसा कहें, तो समीचीन नहीं है ॥ ११९४ ॥

'मुक्तोऽह०' इत्यादि । आत्मस्वरूप मैं मुक्त हूँ, प्रारब्धके अन्तमें देह आदि लीन हो जायँगे, भावी जन्म किसीका भी नहीं है, ऐसा ज्ञान होनेपर कर्म कैसे हो सकता है ? ॥ ११९५ ॥

'अवाप्स्या०' इत्यादि । मैं उत्तम देहको प्राप्त होऊँगा, यह अध्यास करके अज्ञान द्वारा उस देहके साधनीभूत पुण्यमें शास्त्रके अनुसार प्रवृत्त होता है ॥ ११९६ ॥

'अतः' इत्यादि । इसलिए कर्मके प्रकरणमें कर्मके कारण अज्ञानका सूत्ररूपसे कथन कर अब अज्ञानके कार्य परतन्त्रता आदिका वर्णन किया जाता है ॥११९७॥

स्पष्टीकृतं पारतन्त्र्यं पशुदृष्टान्ततो नृणाम् ।

श्रुतिः ॥ ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकꣳसन्न व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति । तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म । तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत

---

'स्पष्टीकृतम्' इत्यादि । पशुके दृष्टान्तसे मनुष्योंकी परतन्त्रता स्पष्ट की गई ।

'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' ब्रह्म वै—जो अग्निको उत्पन्न करके अग्निरूपको प्राप्त हुआ वह ब्रह्म ही—ब्राह्मण-जातिके अभिमानसे 'ब्रह्म' कहा जाता है । यह क्षत्रादि जाति भी ब्रह्मसे अभिन्न ( ब्रह्मरूप ) ही—एक ही—थी अर्थात् क्षत्रादि भेद नहीं था । वह एक ब्रह्म ( ब्राह्मण ) अर्थात् क्षत्रिय आदि पालन करनेवालोंसे शून्य होनेके कारण समर्थ न हो सका अर्थात् कर्म करनेमें पर्याप्त न हो सका, इसलिए ब्रह्मने मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा इस प्रकार कर्तव्य है, इस प्रकार ब्राह्मणजाति निमित्तक कर्म करनेकी इच्छासे अपने कर्मकर्तृत्वकी विभूतिके लिए श्रेयोरूप ( अतिश्रेष्ठ ) की—अतिशयित क्षत्रिय जातिकी—सृष्टि की । उसी क्षत्रको व्यक्तिभेदसे श्रुति दिखलाती है—जो ये लोकमें प्रसिद्ध देवताओंके बीचमें क्षत्रिय हैं । जातिके कथन पक्षमें बहुवचन होता है, इस स्मृतिसे अथवा व्यक्तिबहुत्वसे भेदका उपचार करके श्रुतिमें 'क्षत्राणि' यह बहुवचन कहा है ।

वे क्षत्र ( क्षत्रिय ) कौन हैं ? उन्हींको श्रुति कहती है—उनमें भी विशेष करके अभिषिक्तोंका ही निर्देश करती है—देवताओंका राजा इन्द्र, जलोंका राजा वरुण, ब्राह्मणोंका सोम, पशुओंका रुद्र, विद्युदादिका पर्जन्य, पितरोंका यम, रोगादिका मृत्यु, दीप्तियोंका ईशान इत्यादि देवताओंमें क्षत्रिय हैं । इसके अनन्तर इन्द्रादि देवताओंसे अधिष्ठित सोम और सूर्य वंशमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य क्षत्रियोंकी भी सृष्टि यहाँपर श्रुतिको अभिप्रेत है; यह समझना चाहिए, क्योंकि उन्हींके लिए देवक्षत्र सृष्टिका प्रस्ताव है ।

चूँकि ब्रह्माकी अतिशयित सृष्टि क्षत्र है, इसलिए क्षत्रियसे भिन्न अन्य

उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ योनिमृच्छति स पापीयान्भवति यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳसित्वा ॥ ११ ॥

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥ १२ ॥

---

कोई ब्राह्मणजातिका नियन्ता नहीं है, इसलिए क्षत्रियका कारण होता हुआ भी ब्राह्मण राजसूय यज्ञमें क्षत्रियकी अपेक्षा नीचे खड़ा होकर ही ऊपर स्थित क्षत्रियकी उपासना करता है। क्षत्रमें ही वह अपने 'ब्रह्म' इस रूपसे ख्यात यशकी स्थापना करता है। राजसूयमें अभिषिक्त आसन्दी ( मोढ़े ) पर स्थित राजाके द्वारा हे ब्रह्मन्! यों आमन्त्रित किया गया ऋत्विक् फिर उसको उत्तर देता है—हे राजन्! तुम ब्रह्म हो! यह कथन ही क्षत्रमें उस यशका स्थापन करना है ॥

यह जो ब्रह्म ( ब्राह्मण ) है, वही प्रकृत क्षत्रकी योनि है; इसलिए यद्यपि राजा परमताको—राजसूयाभिषेक गुणको—अर्थात् राजसूयमें श्रेष्ठत्व गुणको प्राप्त होता है, तथापि ब्रह्मको ही—ब्राह्मण जातिको ही——अन्ततः याने अन्तकालमें अर्थात् कर्मकी समाप्ति होनेपर पुरोहितका आश्रय करता है——अपनी योनि पुरोहितको अपने आगे रखता है, यह अर्थ है। यदि बलके अभिमानसे अपनी योनि ब्राह्मण जातिकी हिंसा करता है—उसको अपनेसे नीचे देखता है, तो वह क्षत्रिय अपनी ही योनिका नाश करता है अर्थात् अपने ही प्रसवका विच्छेद ( नाश ) कर देता है। वह इस कर्मको करनेसे अतिपापी होता है। पहले ही क्षत्रिय क्रूर होनेसे पापी है, फिर अपने कारणकी हिंसासे अत्यन्त पापी हो जाता है, जैसे लोकमें श्रेयान्की ( प्रशस्ततरकी ) हिंसा करके ( परिभव करके ) अत्यन्त पापी होता है, वैसे ही समझना चाहिए ॥ ११ ॥

क्षत्रियकी सृष्टि करनेपर भी वह धनके उपार्जयिताके अभावसे ब्राह्मण कर्मके लिए समर्थ न हो सका, अतः कर्मसाधन धनके उपार्जनके लिए उसने वैश्यको उत्पन्न किया। कौन है फिर वह वैश्य? जो यह देवजात है, [ यहाँ स्वार्थमें निष्ठा है, अतः ] जो यह देवजातिभेद है, यह अर्थ है। उन्हें गणशः कहा जाता है। क्योंकि वैश्य गणप्राय ही होते हैं, क्योंकि वे प्रायः मिलकर ही धनके उपार्जनमें समर्थ होते हैं, एक एक नहीं। वसुओंका गण

स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेय॰ हीद॰ सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ॥ १३ ॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति। अथो अबलीयान्बलीया॰समाश॰सते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्त॰ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥ १४ ॥

---

आठ संख्यावाला है, रुद्र एकादश हैं, आदित्य द्वादश हैं और विश्वेदेवा त्रयोदश हैं, अथवा विश्वाके अपत्य सभी देवता सप्त-सप्त ( ४९ ) हैं ॥ १२ ॥

वह ब्रह्म सेवकके अभावसे फिर भी समर्थ न हुआ, अतः उसने शौद्रवर्णकी सृष्टि की। शूद्रको ही यहां शौद्र कहा है। स्वार्थमें अण् करके वृद्धि हुई है। कौनसा वह शूद्रवर्ण है जिसकी सृष्टि की? पूषाकी। जो पालन करे उसको पूषा कहते हैं। कौन है वह पूषा? उसका श्रुति विशेषरूपसे निर्देश करती है—यह पृथ्वी ही पूषा है, [ आप ही उसका निर्वचन करती है—] क्योंकि पृथिवी ही जो कुछ है, उस सबका पालन करती है ॥ १३ ॥

चारों वर्णोंको उत्पन्न करके भी क्षत्रके उग्र होनेके कारण अनियतत्वकी शङ्कासे अपनेको कर्म करनेमें असमर्थ समझकर अत्यन्त श्रेयोरूप धर्मकी सृष्टि की। सृष्ट श्रेयोरूप धर्म क्षत्रका भी क्षत्र है अर्थात् क्षत्रका भी नियन्ता है, धर्म उग्रसे भी उग्र है, चूँकि धर्म क्षत्रका भी नियन्ता है, इसलिए उस धर्मसे पर नहीं है, क्योंकि उस धर्मसे सब नियममें रक्खे जाते हैं। सो कैसे? कहा जाता है—दुर्बलतर भी अपनेसे अत्यन्त बलवालेको धर्मरूप बलसे जीतनेकी कामना करता है। जैसे लोकमें कोई एक दुर्बल कुटुम्ब सबसे बलिष्ठ राजाका आश्रय करके अन्य बलवान्‌को जीतनेकी इच्छा करता है। इसलिए सबसे बलवत्तर होनेके कारण धर्ममें सर्वनियन्तृत्व सिद्ध हो गया। लौकिक पुरुषों द्वारा व्यवहृत होनेवाला व्यवहाररूप जो धर्म है, वह सत्य है; सत्य माने शास्त्रोक्त अर्थ। वही शास्त्रोक्त अनुष्ठान धर्मनामवाला हो जाता है। बलवान् शास्त्रार्थत्वेन ज्ञायमान ही सत्य है, चूँकि ऐसा है; इसलिए शास्त्रके अनुसार

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत् ॥ १५ ॥

व्यवहारकालमें सत्यभाषण करनेवालेको समीपस्थित धर्म और सत्य—दोनोंके विवेकको जाननेवाले पुरुष—'धर्मं वदति' ( धर्म कहता है ) प्रसिद्ध लौकिक न्यायको कहता है, ऐसा कहते हैं। वैसे ही इसके विपरीत धर्मरूप लौकिक व्यवहारका कथन करनेवालेको सत्य कहता है, शास्त्रके अनुसार कहता है, ऐसा कहते हैं इन दोनोंके ज्ञान और अनुष्ठानसे धर्म ही होता है; इसलिए वह ज्ञानानुष्ठानलक्षण धर्म शास्त्रज्ञोंको और अन्य सबको भी नियममें रखता है; इसलिए वह धर्म क्षत्रका भी क्षत्र है, इसलिए उस धर्मका अभिमानी अज्ञानी कर्मविशेषके अनुष्ठानके लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रजातिविशेषरूप निमित्तको स्वीकार करता है। ये ब्राह्मण्यादि स्वभावसे ही कर्माधिकारके निमित्त हैं ॥ १४ ॥

ब्रह्म, क्षत्र, विट् और शूद्र इस प्रकार चातुर्वर्ण्यको उत्पन्न किया, ऐसा जो उपसंहार है, वह उत्तरार्थ[1] है। जो वह स्रष्टृ ब्रह्म है वह अग्निरूपसे ही देवताओंमें ब्रह्म ( ब्राह्मण जाति ) हुआ, अन्यरूपसे नहीं। मनुष्योंमें ब्राह्मणरूपसे वह ब्रह्म हुआ है। इतर वर्णोंमें विकारान्तरको प्राप्त होकर क्षत्रियरूपसे इन्द्रादि देवताओंसे अधिष्ठित क्षत्रिय हुआ, वैश्यसे[2] वैश्य, शूद्रसे[3] शूद्र। चूँकि[4] क्षत्रादिमें विकारापन्न होकर और अग्निमें ब्राह्मणरूप होकर ही अविकृत ब्रह्म स्रष्टा है; इसलिए अग्निमें ही, देवताओंके मध्यमें कर्मफलकी इच्छा अग्निसम्बद्ध कर्म करके ही करते हैं, यह अर्थ है। इसीलिए वह ब्रह्म कर्मोंके

१ अर्थात् पहले देवताओंमें प्रदर्शित जो वर्णविभाग है, उसकी उत्तरग्रन्थसे मनुष्योंमें योजना करनेके लिए उपसंहार है, यह भाव है।

२ वसु आदिसे अधिष्ठित होकर।

३ पूषासे अधिष्ठित होकर स्तुतिके लिए कहा है।

४ अग्न्यादिभावको प्राप्त होकर क्षत्रादिभावको प्राप्त होता है। क्षत्रादिभावको प्राप्त होकर अग्न्यादिभावको प्राप्त नहीं होता है, इतनेसे ब्रह्ममें विकृतत्व और अविकृतत्व अग्नि और ब्राह्मणकी स्तुतिके लिए कहा है।

अविद्या, काम कर्मरूपी हेतुओंसे उत्पन्न हुए इस शरीरसे अग्न्याधीन कर्मके अभिमानसे अथवा ब्राह्मणजातिनिमित्तक कर्मके अभिमानसे प्राप्त होनेवाला जो 'अस्वभूत' ( आत्मासे व्यतिरिक्त ) लोक है, उससे आत्मरूप स्वलोकको आत्मत्वेन अव्यभिचारीरूपसे 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार न देखकर प्रैति ( मरता ) है, वह यद्यपि स्वलोक है तथापि अविद्यासे व्यवहित होनेके कारण इस आत्माका लौकिक[1] आत्माकी तरह शोक, मोह, भयादि दोषोंकी निवृत्तिके द्वारा पालन नहीं कर सकता ।

और जैसे लोकमें अननूक्त ( अनधीत ) वेद कर्मादिका बोध न करनेसे पालन नहीं करता है अथवा अन्य लौकिक कृष्यादि कर्म अकृत ( न किया हुआ, अपने स्वरूपसे न प्रकट हुआ ) अपने फलदानसे पालन नहीं करता, वैसे ही यह आत्मरूप स्वलोक नित्य आत्मस्वरूपसे व्यक्त न होकर अविद्यादिकी निवृत्तिके द्वारा पालन नहीं करता ।

स्वलोकदर्शनरूप निमित्तके परिपालनसे क्या लाभ ? अनिष्ट कर्मके फलकी प्राप्ति भी निश्चित होती है; इसलिए इष्टफलनिमित्तक अश्वमेधादि अनेक कर्म होनेसे तन्निमित्तक पालन अक्षय हो सकता है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि कृत (कर्म) क्षयदोषवाला है, यही कहती है—इस संसारमें आश्चर्यरूप कोई महात्मा भी 'अनेवंवित्' ( यथोक्तविधिसे स्वलोकके न जाननेवाला ) पुरुष मेरा फल अनन्त हो जायगा, इस दृष्टिसे अश्वमेधादि इष्टफलक पुण्यकर्मोंको निरन्तर करता है, इससे वह इस अज्ञानीका कर्म अविद्यासे उत्पन्न हुए कामरूपी हेतुसे हुआ है; इसलिए स्वप्नदर्शनरूपी भ्रमसे उत्पन्न हुई विभूतिकी तरह फलोपभोगके अन्तमें नष्ट ही हो जाता है; क्योंकि उनके कारण अविद्या और काम चंचल हैं, उनसे किये हुए कर्मोंके फलका क्षय निश्चित है; इसलिए पुण्यकर्मफलपालनकी अनन्तताकी आशा नहीं है ।

इसलिए 'आत्मानं' यह शब्द 'स्वं लोकं' इस अर्थमें है, क्योंकि 'स्वं लोकं' यह प्रकृत है, और यहां स्वशब्दका प्रयोग नहीं है । 'उपासीत'

१—जैसे लौकिक दशम पुरुष 'मैं दशम हूं' इस प्रकार अज्ञात होता हुआ शोकादिकी निवृत्तिसे आत्माकी पालना नहीं कर सकता है, वैसे ही अज्ञात परमात्मा भी नहीं कर सकता है, यह अर्थ है ।

कहा है। वह जो आत्मा ही लोककी उपासना करता है, उसको क्या होता है? यह कहा जाता है। इसका कर्म क्षीण नहीं होता, ज्ञानीको कर्मके अभावसे यह नित्यानुवाद है, जैसे अज्ञानीका कर्मक्षयलक्षण संसार-दुःख निरन्तर बना रहता है वैसे ज्ञानीको नहीं होता, यह अर्थ है। जैसे मिथिलाके दग्ध होनेपर मेरा कुछ नहीं दग्ध होता है, वैसा ही यहाँ समझना चाहिए।

स्वात्मलोकके उपासक विद्वान्‌का कर्म विद्याके संयोगसे नष्ट नहीं होता, ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं। कर्मसम्बन्धी लोकशब्दार्थकी दो प्रकारसे निश्चित कल्पना करते हैं। एक व्याकृत अवस्थावाला कर्माश्रयलोक हिरण्यगर्भ नामक है, उस कर्मसमवायी व्याकृत परिच्छिन्नकी जो उपासना करता है, उस परिच्छिन्न कर्मात्मदर्शीका कर्म नष्ट हो जाता है, यह निश्चित है। उसी कर्मसमवायी लोककी, अव्याकृतावस्थ कारणरूप समझकर, जो उपासना करता है उसका, अपरिच्छिन्न कर्मात्मदर्शी होनेके कारण, कर्म नष्ट नहीं होता।

कल्पना तो यह सुन्दर है, परन्तु श्रौत नहीं है, क्योंकि 'स्वलोक' शब्दसे प्रकृत परमात्माका कथन है, 'स्वं लोकं' ऐसा प्रस्ताव कर फिर स्वशब्दका त्याग करके आत्मशब्दका प्रक्षेप करके फिर उसीका निर्देश किया है, 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इति ( आत्मा लोककी ही उपासना करे )। वहाँ कर्मसमवायी लोककी कल्पनाका अवसर ही नहीं है और परग्रन्थ जो केवल विद्याविषयक है, उसके साथ विरोध भी है। हम प्रजासे क्या करेंगे, जिनका ( हमारा ) यह आत्मा ही लोक है, पुत्र कर्म अपर विद्या इनसे किये हुए लोकोंसे भेद करके श्रुति दिखलाती है—यह आत्मा हमारा लोक है। किसी कर्मसे इसका लोक नष्ट नहीं

१—जैसे कुण्डलादि भूषणोंके अन्दर और बाहर अन्वेषण करनेसे सुवर्णसे अतिरिक्त कोई रूप नहीं मिलता इसलिए सुवर्णरूपसे कुण्डलादि नित्य हैं, वैसे ही कर्मसाध्य हिरण्यगर्भादिलोक अव्याकृतका कार्य होनेसे अव्याकृत ही हैं, यह अङ्गीकार करके उस अव्याकृतमें अहं बुद्धिसे जो उपासना करता है, वह अपरिच्छिन्न अव्याकृतोपासक ब्रह्मवित् भी है और कर्मी भी है, उसका कर्म नष्ट नहीं होता। उस अद्वैतावस्थाकी उपासना करनेवालेका आत्मा ही कर्मी होता है यह भर्तृप्रपञ्चकी व्याख्या है।

अथ यो ह वा अस्माल्लोकात् स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाऽननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतम् । यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव । आत्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते । अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥ १५ ॥

वर्णाश्रमादितद्धर्मसृष्टिः कर्मार्थमीरिता ॥ ११९८ ॥
नन्वेवं तर्हि मुक्तिश्च स्यादेवाऽऽत्मधियं विना ।
अज्ञानकर्मणोः श्रुत्या चाऽऽदरेणोपवर्णनात् ॥ ११९९ ॥

होता है, यह इसका परम लोक है' उन विशेषणोंसे युक्त वाक्योंकी इस वाक्यसे एकवाक्यता युक्त है, क्योंकि यहाँ भी 'स्वं लोकं' ऐसा विशेषण देखा जाता है ।

'इससे कामना करता है' यह जो श्रुतिने कहा है, वह अयुक्त है, ऐसा यदि कहें, अर्थात् यहाँ स्वलोक परमात्मा है, उसकी उपासनासे वही हो जाता है, ऐसा जब सिद्ध है, तब 'जिस जिसकी कामना करता है वह उस उस फलको आत्मासे ही उत्पन्न कर देता है', यों आत्मप्राप्तिसे व्यतिरिक्त फलका कथन करना अयुक्त है, ऐसा यदि कहें, तो यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यह फलवचन स्वलोककी उपासनाकी स्तुति करता है—ज्ञात स्वलोकसे ही सब इष्ट सम्पन्न हो जाते हैं, यह अर्थ है । इससे आप्तकाम ( पूर्णकाम ) होनेसे अन्य फलकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिए; जैसे कि 'आत्मतः प्राण आत्मत आशा' इत्यादि श्रुतिमें कहा गया है । अथवा पूर्ववत् सर्वात्मभावके प्रदर्शनके लिए है, क्योंकि जब परमात्मा ही हो जाता है तब 'अस्माद्ध्येवात्मना' यों आत्मशब्दका प्रयोग करना युक्त ही है । उस शब्दके प्रयोगका 'प्रकृत आत्मरूप स्वलोकसे' यह अर्थ है । यदि यह अभिप्राय न होता, तो 'अव्याकृत अवस्थावाले कर्मरूप लोकसे' ऐसा विशेषण परमात्मलोककी व्यावृत्तिके लिए और व्याकृतावस्थाकी निवृत्तिके लिए श्रुतिमें कहा जाता, क्योंकि इस प्रकृत विशेषितमें अश्रुत ( श्रुतिसे अनुक्त ) अन्तरालावस्थाका ( अव्याकृत नामवाली मध्यावस्थाका ) परिज्ञान नहीं हो सकता ॥१५॥

'वर्णाश्रमा०' इत्यादि । वर्णाश्रम आदि और उनके धर्मोंकी सृष्टि कर्मके लिए कही गई है ॥ ११९८ ॥

'नन्वेवम्' इत्यादि । ऐसी दशामें आत्मज्ञानके विना ही मुक्ति होनी चाहिए, क्योंकि श्रुतिने आदरसे अज्ञान और कर्मका वर्णन किया है ॥ ११९९ ॥

नैवमात्मा किमज्ञातो मुक्तिदः कर्म वा बृहत् ।
आम्नायकृषिवन्नाऽयमज्ञातात्मा फलप्रदः ॥ १२०० ॥
अनधीतो यथा वेदो नाऽर्थज्ञानेन पालयेत् ।
अकृता वा कृषिः पाति नाऽकर्त्तारं फलार्थिनम् ॥ १२०१ ॥
तथा स्वात्माऽप्यविज्ञातो मुमुक्षुं मोक्षदानतः ।
न पालयत्यतो मुक्तिरज्ञस्य नहि कस्यचित् ॥ १२०२ ॥
स्वात्माख्यलोकमज्ञात्वा यो देहादस्वलोकतः ।
प्रैत्यसौ पुनरप्यन्यं देहलोकं व्रजेद् दृढम् ॥ १२०३ ॥
अनात्मविन्महत्पुण्यमश्वमेधादिकं यदि ।
कुर्यान्नित्यपदायैतदथाप्यन्ते विनश्यति ॥ १२०४ ॥
कृतस्य हि क्षयोऽवश्यं गोष्ठागारादिवद्भवेत् ।
न मोक्षायाऽऽदरस्तस्माच्छ्रुतावज्ञानकर्मणोः ॥ १२०५ ॥

'नैवमात्मा' इत्यादि । ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि प्रश्न होता है कि क्या अज्ञात आत्मा ही मुक्तिका देनेवाला है अथवा अश्वमेधादि कर्म मुक्तिके देनेवाले हैं ? [ इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, ] क्योंकि वेद और कृषिकी तरह यह अज्ञात आत्मा फलप्रद नहीं हो सकता ॥ १२०० ॥

'अनधीतो' इत्यादि । जैसे अनधीत वेद अपने अर्थके ज्ञानसे पालन नहीं करता अथवा न की हुई कृषि फलार्थीका पालन नहीं करती है ॥ १२०१ ॥

'तथा' इत्यादि । वैसे ही अज्ञात आत्मा भी मोक्षदानसे मुमुक्षुका पालन नहीं करता; इसीलिए किसी अज्ञानीकी मुक्ति नहीं होती ॥ १२०२ ॥

'स्वात्माख्य०' इत्यादि । आत्मरूप स्वलोकको न जानकर जो पुरुष देह-रूप अस्वलोकसे ( परलोकसे ) निकलता है, वह फिर भी अन्य देहलोकको ही प्राप्त होता है ॥ १२०३ ॥

'अनात्मवित्' इत्यादि । [ द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि ] आत्माको न जाननेवाला नित्य पदकी प्राप्तिके लिए यदि अश्वमेध आदि महापुण्य भी करे, तो भी वह अन्तमें नष्ट ही हो जाता है ॥ १२०४ ॥

'कृतस्य' इत्यादि । [ क्योंकि ] गोष्ठ और अगार आदिकी तरह कृत कर्मका अवश्य ही क्षय होता है, इसलिए श्रुतिमें अज्ञान और कर्मका मोक्षके लिए आदर नहीं किया गया है ॥ १२०५ ॥

किन्तु जीवन्मुक्तिकाले बोधहेयं विवेचितम् ।
मुक्तिस्तु विद्यासूत्रेण सूत्रिता स्याद्विचारतः ॥ १२०६ ॥
आत्मानमेव निर्द्वैतं स्वप्रभं प्रविचारयेत् ।
विचारयति यस्तस्य फलं न क्षीयते क्वचिद् ॥ १२०७ ॥
कामी कामयते यद्यत्सुखं स्वर्गादिजं पुमान् ।
अस्मादेवाऽऽत्मनस्तत्तत्सृजते कर्मपूजितात् ॥ १२०८ ॥
अविनाशोऽखिलानन्दहेतुत्वं चेद्द्वयदो द्वयम् ।
न कर्मणां फले युक्तं युक्तं विद्याफले तु तत् ॥ १२०९ ॥
सिद्धस्य व्यञ्जिका विद्या व्यक्तात्मा फलमुच्यते ।
नह्यात्मनो विनाशोऽस्ति नित्यं विद्याफलं ततः ॥ १२१० ॥
सार्वभौमादिकाः प्रोक्ता उत्तरोत्तरवृद्धितः ।
हिरण्यगर्भपर्यन्ता आनन्दा आत्मबिन्दवः ॥ १२११ ॥

'किन्तु' इत्यादि । किन्तु जीवन्मुक्तिकालमें बोधसे जो हेय ( त्याज्य ) है उसका विवेक किया है और विद्यासूत्रसे सूचित मुक्ति तो विचारसे होती है, यह पहले कहा जा चुका है ॥ १२०६ ॥

'आत्मानमेव' इत्यादि । द्वैतरहित स्वयंप्रकाश आत्माका ही विचार करना चाहिए, क्योंकि जो विचार करता है, उसका फल कभी नष्ट नहीं होता ॥१२०७॥

'कामी कामयते' इत्यादि । कामी पुरुष जिस जिस स्वर्गादिजन्य सुखकी कामना करता है, उन सबकी कर्मोंसे पूजित इस अपनी आत्मासे ही रचना कर * लेता है ॥ १२०८ ॥

'अविनाशो' इत्यादि । अविनाश और अखिल आनन्दोंकी हेतुता—इन दोनोंका कर्मोंके फलमें रहना युक्त नहीं है, किन्तु विद्याके फलमें उनका रहना युक्त है ॥ १२०९ ॥

'सिद्धस्य' इत्यादि । विद्या सिद्धकी ( विद्यमानकी ) व्यञ्जिका ( व्यक्त करनेवाली ) ही है; उससे व्यक्त हुआ आत्मा फल कहा जाता है । चूँकि आत्माका विनाश नहीं होता; इसलिए विद्याका फल नित्य है ॥ १२१० ॥

'सार्वभौमा०' इत्यादि । सार्वभौमसे ले करके उत्तरोत्तर शतगुण

* प्रत्यगात्मा परमानन्दरूप है, वही कर्मोंके अनुसार जब प्रकट होता है, तब विषयानन्द कहा जाता है ।

ब्रह्मानन्दस्य भूतानि मात्रां यान्तीत्युदीरणात् ।
तत्तत्कर्मानुसारेण ब्रह्मानन्दः स्फुरेन्नृणाम् ॥ १२१२ ॥
तत्तद्विषयकामेन चित्तेऽस्मिन् व्याकुलीकृते ।
आनन्दः स्वात्मभूतोऽपि स तिरोधीयते नृणाम् ॥ १२१३ ॥
पुण्येन विषये लब्धे चित्ते स्वास्थ्यमुपागते ।
आत्मानन्दः स्फुरेत्तावद्यावद् व्याकुलतान्तरम् ॥ १२१४ ॥
एवं च विषयानन्दा ब्रह्मानन्दस्य बिन्दवः ।
सर्वानन्दनिधिर्विद्याफलमित्यत ईरितम् ॥ १२१५ ॥
आनन्दबिन्द्वभिव्यक्तिहेतुकर्मप्रसिद्धये ।
ब्रह्मक्षत्रादिवर्णानां सृष्टिर्यत्नेन वर्णिता ॥ १२१६ ॥

श्रुतिः ॥ अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः । स यज्जुहोति

---

वृद्धिसे युक्त जो हिरण्यगर्भपर्यन्त आनन्द हैं; वे सब आत्मरूप आनन्दसमुद्रके बिन्दु हैं ॥ १२११ ॥

'ब्रह्मानन्दस्य' इत्यादि । 'सभी भूत ब्रह्मानन्दकी मात्राको ( लेशको ) प्राप्त होते हैं', इत्यर्थक श्रुतिसे यह सिद्ध होता है कि उन कर्मोंके अनुसार ब्रह्मानन्द ही विषयानन्द होकर मनुष्योंको प्रतीत होता है ॥ १२१२ ॥

'तत्तद्विषय०' इत्यादि । तत्-तत् विषयोंकी कामनासे इस चित्तके व्याकुल होनेपर अपना स्वरूप होता हुआ भी ब्रह्मानन्द मनुष्योंके लिए तिरोहित हो जाता है ॥ १२१३ ॥

'पुण्येन' इत्यादि । जब पुण्य कर्मके अनुसार विषयकी प्राप्ति होती है, और उससे जब चित्त स्वस्थ हो जाता है, तब पुरुषको आत्मानन्दका अनुभव होने लगता है, और जब दूसरी व्याकुलता होगी, तब वह नहीं रहता है ॥ १२१४ ॥

'एवं च' इत्यादि । इस प्रकार सभी विषयानन्द ब्रह्मानन्दकी बूंदें हैं; इसलिए सर्वानन्दनिधि आत्मा (सर्वानन्दसमुद्र आत्मा) विद्याका फल कहा गया है ॥१२१५॥

'आनन्द०' इत्यादि । आनन्दके बिन्दुओंकी अभिव्यक्तिके हेतु कर्मोंकी सिद्धिके लिए ब्रह्म, क्षत्र आदि वर्णोंकी सृष्टिका यत्नसे वर्णन किया गया है ॥१२१६॥

'अथो अयं वा आत्मा' । यहांपर अज्ञानावस्थामें अथवा पूर्वग्रन्थमें वर्णाश्रम आदिका अभिमानी धर्मसे नियम्यमान अज्ञानी देवादि कर्म करनेके लिए पशुके समान

यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाᳬस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोकः। यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवᳬहैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमाᳬसितम् ॥ १६ ॥

परतन्त्र है, यह कहा गया है। अब वे कौनसे कर्म हैं ? जिनको करनेसे पशुके समान परतन्त्र होता है। अथवा वे कौनसे देवादि हैं ? जिनका पशुके समान कर्मोंसे गृहस्थ उपकार करता है, इन दोनोंका प्रपञ्च श्रुति करती है—

'अथो' यह शब्द वाक्यके उपन्यासके लिए है। यह जो प्रकृत गृहस्थ, कर्मका अधिकारी, अज्ञानी और शरीरेन्द्रियसंघातादिविशिष्ट पिण्ड है, वह यहां 'आत्मा' शब्दसे कहा जाता है। अतः देवतासे लेकर पिपीलिकापर्यन्त सब भूतोंका यह आत्मा ( मनुष्यशरीर ) लोक ( भोग्य ) है, यह अर्थ फलित हुआ, क्योंकि वर्णाश्रमादिविहित कर्मोंसे वह सबका उपकार करता है।

किन कर्मविशेषोंसे उपकार करता हुआ वह किन भूतविशेषोंका लोक कहा जाता है ? इसे श्रुति कहती है—वह गृहस्थ जो होम करता है, याग करता है, ( देवताका उद्देश्य करके स्वत्वका परित्याग करना याग कहलाता है और उस परित्यक्तका अग्निमें जब प्रक्षेप किया जाता है, तब वही—परित्यक्त-प्रक्षेप—होम कहा जाता है ) वे होम और यागलक्षण कर्म अवश्य कर्तव्य हैं, अतः पशुके समान परतन्त्रतासे प्रतिबद्ध हुआ यह देवताओंका लोक कहा जाता है। जो यह अनुवचन करता है माने प्रतिदिन वेदका अध्ययन करता है, उससे यह ऋषियोंका लोक है। जो पितरोंको देता है, अर्थात् पिण्ड, जल आदिका दान करता है, और जो यह प्रजाकी इच्छा करता है—प्रजाके लिए उद्यम करता है। यहां इच्छा उत्पत्तिका उपलक्षण है, इससे प्रजाको उत्पन्न करता है, उस अवश्यकर्तव्य कर्मसे यह पितरोंका लोक है—पितरोंका भोग्य होनेसे पितरोंका परतन्त्र लोक है। फिर जो अपने घरमें स्थान और जल आदिके दानसे मनुष्योंका वास करवाता है और जो उन बसनेवाले अथवा न बसनेवाले अर्थियोंको भोजन देता है, उससे यह मनुष्योंका लोक है। और जो पशुओंको तृण, उदक पहुँचाता है, उससे यह पशुओंका लोक है। और

वर्णाश्रमाभिमानी सन्नतत्त्वज्ञः पराङ्मतिः ।
देवादीनामाश्रयः स्यात् सर्वेषामापिपीलिकम् ॥ १२१७ ॥
देवानां यागहोमाभ्यामृषीणां वेदपाठतः ।
पितॄणां श्राद्धतो नृणां वस्त्रान्नगृहदानतः ॥ १२१८ ॥
कर्मणाऽनार्जितो यस्मान्न कश्चिदुपकारकृत् ।
गृही देवादिभिस्तस्मादर्जितोऽभूत्स्वकर्मभिः ॥ १२१९ ॥

---

जो इसके घरमें श्वापद और पक्षी पिपीलिका आदिके साथ कण, बलि, भाण्डक्षालन आदिसे उपजीवन करते हैं, उससे यह उनका लोक है ।

चूँकि यह इन कर्मोंको करता हुआ देवादिका उपकार करता है, इसलिए जैसे लोकमें स्वलोकके ( अपनी देहके ) अविनाशकी ( स्वत्वभावसे अप्रच्युतिकी ) इच्छा करता है और स्वत्वभावकी प्रच्युतिके भयसे पोषण, रक्षण आदि द्वारा सर्वतोभावसे उसका पालन करता है वैसे ही 'एवंवित्' के लिए ( 'मैं सब भूतोंका भोग्य हूँ', इसलिए मुझे अवश्य ऋणीकी तरह प्रतिकार करना चाहिए, इस प्रकार जो अपनेको मानता है, उसके लिए ) सब भूत और यथोक्त देवादि अरिष्टिकी ( अविनाशकी ) इच्छा करते हैं अर्थात् स्वत्वकी ( अपनेपनकी ) अप्रच्युतिके (अविनाशके ) लिए सर्वतोभावसे रक्षा करते हैं, जैसे कि कुटुम्बी पशुओंकी रक्षा करता है । इसलिए इन सबको वह (उसका ज्ञानी होना) प्रिय नहीं है, यह कहा है । उन यथोक्त कर्मोंको ऋणीकी तरह अवश्य करना चाहिए यह पञ्च महायज्ञके प्रकरणमें विदित है और कर्तव्यतासे उनकी मीमांसा याने विचार भी अवदानप्रकरणमें किया गया है ॥ १६ ॥

**'वर्णाश्रमा०'** इत्यादि । वर्णाश्रमाभिमानी, बहिर्मुख तथा अज्ञानी गृहस्थ पिपीलिकापर्यन्त सब देवादिका आश्रय है ॥ १२१७ ॥

**'देवानाम्'** इत्यादि । याग और होमसे देवताओंका, वेदपाठसे ऋषियोंका, श्राद्धसे पितरोंका और वस्त्र, अन्न तथा गृहदानसे मनुष्योंका आश्रय है ॥ १२१८ ॥

**'कर्मणाऽ०'** इत्यादि । जो अपने कर्मसे उपार्जित न हो, वह किसीका उपकार नहीं करता है, इसलिए देवादिने इस गृहस्थका अपने कर्मोंसे उपार्जन किया है ॥ १२१९ ॥

पशूनां तृणनीराभ्यामुच्छिष्टकणधान्यतः ।
श्वाखुटिट्टिभमुख्यानामेवं सर्वाश्रयो गृही ॥ १२२० ॥
स्वस्वकर्मार्जितत्वेन देवाद्याः स्वस्वदेहवत् ।
अविनाशं सदेच्छन्ति गृहिणः स्वोपकारिणः ॥ १२२१ ॥
तत्त्वं बुद्ध्वाऽननुष्ठानं नाशोऽयं गृहिणो महान् ।
एष देवादिभिः सर्वैर्नहि शक्यश्चिकित्सितुम् ॥ १२२२ ॥
कर्मणामननुष्ठानं मृतिरोगादिना तु यत् ।
नाऽसावात्यन्तिको नाशो यस्मात् पश्चात्करिष्यति ॥ १२२३ ॥
मा भूत्सर्वस्वहानिर्नो ब्रह्मयाथात्म्यविद्यया ।
इति देवादयो ह्येतां प्रतिबध्नन्ति यत्नतः ॥ १२२४ ॥

श्रुतिः ॥ आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे

---

'पशूनाम्' इत्यादि । तृण और जलसे पशुओंका तथा उच्छिष्ट कण और धान्यसे श्वान, मूषक, टिट्टिभ आदि सबका यह गृहस्थ आश्रय है अर्थात् पालन करता है ॥ १२२० ॥

'स्वस्वकर्मा०' इत्यादि । अपने अपने कर्मसे देवादियोंने उसका उपार्जन किया है; इसलिए वे अपनी देहकी तरह अपने उपकारी गृहस्थके अविनाशकी सदा इच्छा करते हैं ॥ १२२१ ॥

'तत्त्वम्' इत्यादि । तत्त्वको जानकर कर्मोंका अनुष्ठान न करना ही गृहस्थका महानाश है, क्योंकि ऐसा होनेपर सब देवादि इसकी चिकित्सा नहीं कर सकते हैं ॥ १२२२ ॥

'कर्मणा०' इत्यादि । मृत्यु और रोगादिसे जो कर्मका अननुष्ठान है, वह आत्यन्तिक नाश नहीं है, क्योंकि वह पीछे उसको करेगा ॥ १२२३ ॥

'मा भूत्' इत्यादि । ब्रह्मके यथार्थज्ञानसे हमारे सर्वस्वकी हानि न हो, यह जानकर देवादि यत्नसे इसका प्रतिबन्ध करते हैं ॥ १२२४ ॥

यह पहले आत्मा ही था । जब जीव ब्रह्मको जान लेता है, तब कर्तव्यता-बन्धनरूप उस पशुभावसे छूट जाता है । ऐसी कौन प्रेरणा कर रहा है ? जिससे कि गृहस्थ कर्मबन्धनाधिकारमें ही अवश होकर प्रवृत्त होता है और मुक्तिके उपाय विद्याधिकारमें प्रवृत्त नहीं होता ? पर यह पहले ही कह चुके हैं कि देवता रक्षा

प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते। तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवं श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्म आत्मना हि कर्म करोति स

और निःश्रेयसके साधन कर्म करूं, अर्थात् जिस कर्मसे मैं अनृणी होकर देवताओंके लोकोंको प्राप्त होऊं उस कर्मको करूं और पुत्र, वित्त और स्वर्ग आदिके साधन काम्य कर्म हैं, इतना ही काम है याने इतने ही विषयोंसे काम परिच्छिन्न है—इतनेकी ही कामना करनी योग्य है। स्त्री, पुत्र, धन और कर्म ये सब साधन-लक्षणा (कारणरूप) एषणा है। तीनों लोक—मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक ये इस साधनैषणाके फल हैं। उन्हींके ही लिए जाया, पुत्र वित्त और कर्मरूप साधनैषणा है। इसलिए वही एक एषणा है, जो लोकैषणा नामवाली है। वही साधनकी अपेक्षासे दो प्रकारकी है, इससे श्रुति भी अवधारण करेगी कि दोनों ही एषणाएँ हैं।

सब आरम्भ फलके ही लिए हुआ करते हैं; इसलिए अर्थसे प्राप्त लोकैषणा भी कही गई। 'एतावान्वा' ( इतना ही काम है ) यह अव-धारण किया गया है; जैसे भोजनका कथन होनेपर तृप्तिका कथन पृथक् नहीं हुआ करता, क्योंकि भोजन तृप्तिके ही लिए है। ये साध्यसाधनलक्षण दो एषणाएँ ही काम है। जिससे प्रेरित होकर अज्ञानी परतन्त्र होता हुआ कोशकार कृमिकी तरह अपनेको लपेट लेता है—कर्म-मार्गमें ही अपनेको लगाता हुआ बहिर्मुख होकर स्वलोकको नहीं जानता है। तैत्तिरीयकमें कहा है—अग्निसे[1] मुग्ध धूमसे[2] तान्त स्वलोकको नहीं जानता है। किस प्रकार फिर ऐसा अवधारण किया जाता है? कामोंके अनन्त होनेसे, क्योंकि 'काम अनन्त हैं', ऐसी आशङ्का करके श्रुति हेतु कहती है—चूँकि इच्छा करनेपर भी फलसाधन-लक्षणसे अधिकको कोई भी नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि लोकमें फलसाधनसे अतिरिक्त दृष्ट अथवा अदृष्ट कोई लब्धव्य ( प्राप्त करने योग्य ) नहीं है, क्योंकि लब्धव्यविषयक ही काम हुआ करता है, वह लब्धव्य इन दोनोंको

१—अग्नि ही होमादिके द्वारा मेरे कल्याणका साधन है। आत्मज्ञान साधन नहीं, इस अभिमानवालेको अग्निमुग्ध कहते हैं।

२—धूमसे ग्लानिको प्राप्त हुआ अथवा देहके अन्तमें मेरेको धूमताकी प्राप्ति होवे, यों अभि-मान करनेवाला धूमतान्त कहलाता है।

एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदꣳसर्वं यदिदं किञ्च तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥ १७ ॥

इत्युपनिषदि तृतीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

छोड़कर नहीं है; इसलिए यह कहना युक्त है कि इतना ही काम है। इससे यह युक्त हुआ कि दृष्टार्थक अथवा अदृष्टार्थक अज्ञानी पुरुषके अधिकारका विषय साध्य-साधनरूप दो एषणाएँ ही काम हैं; इसलिए विद्वान्‌को इससे व्युत्थान करना चाहिए।

इसलिए इस अविद्वान् कामीने पहले कामना की, इसी तरह पूर्वतरने भी वैसी ही कामना की थी, यह लोककी स्थिति है। प्रजापतिका यह सर्ग इसी प्रकार हुआ था। वह अविद्यासे भीत हो गया, फिर कामसे प्रेरित होकर, एकाकी रमण न होनेसे, अरतिके नाशके लिए स्त्रीकी उसने इच्छा की, उसका उसने सङ्ग किया, उससे यह सर्ग हुआ, यह कह चुके हैं। इसलिए उसकी सृष्टिमें इस कालमें भी विवाहसे पहले एकाकी होता हुआ मेरे स्त्री हो, मैं उत्पन्न होऊँ, मेरे धन होवे, फिर मैं कर्म करूँ, ऐसी अभिलाषा करता है। वह इस प्रकार जायादिकी कामना करता हुआ और सम्पादन करता हुआ जबतक सबको इन यथोक्त जायादिमें से एक एकको भी नहीं पा लेता तबतक अपनेको 'मैं अकृत्स्न हूँ, मैं अपूर्ण हूँ', ऐसा ही मानता है। परिशेषात् जब इन सबका सम्पादन कर लेता है, तब उसकी कृत्स्नता होती है।

जब कृत्स्नताका सम्पादन नहीं कर सकता, तब इसकी कृत्स्नताके सम्पादनके लिए श्रुति कहती है—उस अकृत्स्नत्वाभिमानीकी यह कृत्स्नता इस प्रकार होती है, किस प्रकार ? इस कार्यकारणसंघातका ( पिण्डका ) विभाग किया जाता है। उसमें अन्य सब कार्यकरणजात मनके अधीन है; इसलिए प्रधान होनेसे मन आत्माके सदृश आत्मा है। जैसे कुटुम्बपति जायादिकी आत्मा ही हुआ करता है, क्योंकि जायादिचतुष्टय उसका अनुकरण करते हैं वैसे ही यहाँ भी कृत्स्नताके लिए मन आत्मा है, ऐसी कल्पना की जाती है, इसी तरह वाक् ( वाणी ) जाया है, क्योंकि मनका अनुसरण करना वाणीका सामान्य धर्म है। वाक् शब्दसे चोदनालक्षण शब्द कहा जाता है। मन श्रोत्रके द्वारा शब्दका ग्रहण करता है, अवधारण करता है और प्रयोग करता है, इसलिए वाणी मनकी जायाके सदृश है।

जाया और पतिस्थानीय उन मन और वाणीसे कर्म करनेके लिए प्राण उत्पन्न होता है; इसलिए प्राण प्रजाके सदृश है। उनमें से प्राणचेष्टादिलक्षण कर्म चक्षुरूपी दृष्ट धनसे सिद्ध होता है, इसलिए चक्षु मानुष धन है। धन दो प्रकारका होता है—मानुष और दैव, अतः दैव धनकी निवृत्तिके लिए मानुष यह विशेषण दिया गया है। गौ आदि मनुष्यसम्बन्धी धनका चक्षुसे ग्रहण किया जाता है और वह कर्मका साधन है, इसलिए वह उसके स्थानापन्न है। उसके साथ सम्बन्ध होनेसे चक्षु मानुष धन है, क्योंकि चक्षुसे ही उस मानुष धनको पाता है, गौ आदिको प्राप्त होता है, यह अर्थ है।

कौन दूसरा धन है? श्रोत्र है अर्थात् यह श्रोत दैव धन है, क्योंकि विज्ञान देवविषक है। विज्ञान दैव वित्त है, अतः यहाँ सम्पत्तिका विषय श्रोत्र ही है, क्योंकि श्रोत्रसे उस दैव वित्त विज्ञानको सुनता है, अतः विज्ञानके श्रोत्राधीन होनेसे वह श्रोत्र ही है। कौन फिर आत्मासे लेकर वित्त पर्यन्तोंसे यहाँ सिद्ध करने योग्य कर्म है? आत्मा ही है। आत्मा इस शब्दसे शरीर कहा जाता है। किस प्रकार फिर आत्मा कर्मस्थानीय है? चूँकि यह कर्मका हेतु है, इसलिए कर्मस्थानीय है। कैसे कर्मका हेतु है? क्योंकि आत्मासे (शरीरसे) कर्म करता है, उस अकृत्स्नत्वाभिमानीको यों कृत्स्नता सम्पन्न हुई जैसी कि बाह्य जायादिलक्षणा कृत्स्नता सिद्ध है। इसलिए वह पांक्त है—पांचोंसे सिद्ध हुआ है। यह पाङ्क्त यज्ञ कर्म न करनेपर भी दर्शनमात्रसे (ज्ञानमात्रसे) सिद्ध हो जाता है।

किस प्रकार फिर इसको पञ्चत्वसम्पत्तिमात्रसे यज्ञत्व है? कहा जाता है—बाह्य भी यज्ञ पुरुष और पशुसे साध्य है और पुरुष और पशु पाङ्क्त ही है, क्योंकि उसमें यथोक्त मन आदि पाँचोंका योग है। उसीको श्रुति कहती है—गौ आदि पशु पाङ्क्त हैं, पुरुष पाङ्क्त है। पशुत्व होनेपर भी, अधिकारी होनेसे, इस पुरुषमें उससे विशेष है, इसलिए पृथक् पुरुष ग्रहण किया गया है। बहुत कहनेसे क्या? ये सब कर्मसाधन और सब फल पाङ्क्त हैं। इस प्रकार आत्मारूपी यज्ञमें जो पाङ्क्तत्वका सम्पादन करता है, अर्थात् जो ऐसी उपासना करता है, वह इस सारे जगत्को आत्मरूपसे प्राप्त होता है।

नन्वनर्थकरे केन गृही त्वेवं प्रवार्त्तितः ।
पारतन्त्र्यमृते नैव धीमानत्र प्रवर्तते ॥ १२२५ ॥
देवादिपारतन्त्र्यं तु गृहिणामधिकारिणाम् ।
मिथ्याधीमात्रहेतुत्वान्नाऽप्यविद्या प्रवर्त्तिका ॥ १२२६ ॥
तर्हि प्रवर्त्तकं ब्रूमः काम एव प्रवर्त्तकः ।
काम एष क्रोध एष इत्यादिस्मृतिवाक्यतः ॥ १२२७ ॥
अकामतः क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कस्यचित् ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ १२२८ ॥
तस्मात् कामयते पूर्वं ब्रह्मचारी चतुष्टयम् ।
जाया मे स्यादथाऽपत्यमथ वित्तमथ क्रिया ॥ १२२९ ॥
एतावानेव संसारे कामो नाऽतोऽधिकः क्वचित् ।
लोकान्तरं कर्मफलं कर्मोक्त्यैवेरितं भवेत् ॥ १२३० ॥

---

'नन्वनर्थकरे' इत्यादि । इस अनर्थकर मार्गमें इस प्रकार गृहीको किसने प्रवृत्त कराया है ? बुद्धिमान् पुरुष परतन्त्रताके बिना इसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता है ॥ १२२५ ॥

'देवादि०' इत्यादि । जो अधिकारी गृहस्थोंमें देवताओंकी परतन्त्रता है, वह तो मिथ्या ज्ञानमात्रहेतुक है । अविद्या भी प्रवर्तक नहीं है; क्योंकि आवरणमात्र उसका स्वरूप है ॥ १२२६ ॥

'तर्हि' इत्यादि । तब हम प्रवर्तक कहते हैं—काम ही प्रवर्तक है, क्योंकि 'काम एष क्रोध एषः' इत्यादि स्मृतिवाक्यसे उसकी प्रवर्तकता सिद्ध है ॥१२२७॥

'अकामतः' इत्यादि । कामके बिना किसीकी कोई क्रिया नहीं देखी जाती है । जो जो जीव करता है, वह कामकी ही चेष्टा है ॥ १२२८ ॥

'तस्मात् कामयते' इत्यादि । इसलिए ब्रह्मचारी पहले चतुष्टयकी कामना करता है—मेरे जाया हो, उससे पुत्र उत्पन्न करूं, धन हो और उससे कर्म करूँ ॥ १२२९ ॥

'एतावानेव' इत्यादि । संसारमें इतना ही काम है, इससे अधिक कहीं नहीं है । कर्मका फल जो लोकान्तर है, वह कर्मके कथनसे कथित हो गया ॥ १२३० ॥

असम्भवे तु जायादेर्मनोवागादिषु क्रमात् ।
आत्मा जायादि सङ्कल्प्य ध्यायेज्जायादिसिद्धये ॥ १२३१ ॥
एवं कामप्रेरितः सन् याति कर्माधिकारिताम् ।
अवरुन्धन्ति गृहिणं देवाद्या अधिकारिणम् ॥ १२३२ ॥
इत्यविद्यासूत्र उक्तोऽनर्थो यत्नेन विस्तृतः ।
अयं निवर्त्यो विदुषा जीवतेति श्रुतेर्मतिः ॥ १२३३ ॥

इति वार्त्तिकसारे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थं पुरुषविधब्राह्मणं समाप्तम् ।

---

'असम्भवे तु' इत्यादि । जायादिका असम्भव होनेपर तो मन, वाक् आदिमें क्रमसे जाया आदिका सङ्कल्प करके आत्मा जायादिकी सिद्धिके लिए ध्यान करे ॥ १२३१ ॥

'एवं काम०' इत्यादि । इस प्रकार कामसे प्रेरित हुआ गृही कर्माधिकारको प्राप्त होता है । गृहस्थ अधिकारीका देवादि अवरोध करते हैं अर्थात् विद्यामें प्रतिबन्ध करते हैं ॥ १२३२ ॥

'इत्यविद्या०' इत्यादि । अविद्यासूत्रमें यह अनर्थ कहा है, यत्नसे उसका विस्तार किया है, विद्वान्‌को जीवनकालमें ही उसको निवृत्त कर देना चाहिए, ऐसी श्रुतिकी सम्मति है ॥ १२३३ ॥

॥ इति श्रीब्रह्मीभूतपरमहंस-परिव्राजकाचार्यवर्य-श्रीअच्युतमुनिजी महाराज-विरचित वार्त्तिकसारके भाषानुवादमें प्रथमाध्यायका चतुर्थ पुरुषविधब्राह्मण समाप्त ॥









प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी

मुद्र
ना० रा० सोम
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काश

* श्रीः *

# भूमिका

सम्पूर्ण भवव्याधियोंकी एकमात्र महौषधि जीवब्रह्मैक्य-ज्ञान उपनिषदोंसे ही प्राप्त हो सकता है, यह निर्विवाद है। प्रस्तुत ग्रन्थके विषय और प्रयोजनका निर्देश करते हुए ग्रन्थकारने भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

'संसारकारणाविद्याध्वंसकृज्ज्ञानसिद्धये ।
प्रारब्धेयं प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत् परा ॥'

यहांपर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि 'उपनिषत्' शब्दका अर्थ क्या है? इस विषयमें भी ग्रन्थकार मौन नहीं हैं। वे कहते हैं—'उपनिषत्' शब्दका अर्थ ब्रह्मैक्यविज्ञान ही है, क्योंकि 'उपनिषत्' शब्दका अवयवार्थ विज्ञानमें ही घटता है। उपनिषत्-शब्दमें उप, नि, सद् और क्विप् ये चार अवयव हैं। उपका अर्थ सामीप्य, निका निश्चय, सद्का विशरण, गति और अवसादन तथा क्विप्का कर्ता है। सबका निष्कर्ष यह निकला कि 'शुद्धं त्वमर्थं जीवम् उपोपलक्षितं प्रत्यञ्चं ब्रह्म निश्चयेन नीत्वा—तत्स्वरूपं ग्राहयित्वा—सकार्यां समूलां च अविद्यां शिथिलयति नाशयति या सा उपनिषत्' अर्थात् शुद्ध जीवको सामीप्योपलक्षित ब्रह्मके पास पहुँचाकर—ब्रह्मस्वरूपका बोध कराकर—सकार्य और समूल अविद्याका जो विनाश करती है, वह उपनिषत् ( ब्रह्मविद्या ) है। विद्या और अविद्याका प्रकाश और तमकी नाईं परस्पर विरोध सर्वविदित ही है। विरोधी होनेसे विद्या अविद्याको निवृत्त कर देती है। अविद्याकी निवृत्ति होनेपर उसके कार्य संसारकी स्वतः निवृत्ति हो जाती है। उक्त रीतिसे उपनिषत्का मुख्य अर्थ यद्यपि ब्रह्मविद्या ही है, तथापि उक्त विद्याकी प्राप्तिका उपाय होनेसे ग्रन्थ भी गौणीवृत्तिसे उपनिषत् कहा जाता है, जैसे 'जीवनं लाङ्गलम्' यहांपर कृषकके जीवनका साधन हल जीवन कहा जाता है * इत्यादि।

---

* देखिये ग्रन्थका उपोद्घात—'अत्रोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः ।
तच्छब्दावयवार्थस्य विद्यायामेव संभवात् ॥
उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचि समाप्यते ।
सामीप्यतारतम्यस्य विश्रान्तेः स्वात्मनीक्षणात् ॥

यों तो पूर्वोक्त रीतिसे सभी उपनिषत् ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके साधन हैं, बृहदारण्यकोपनिषत्का स्थान अध्यात्मदृष्टिसे बहुत ऊँचा है। श्रीसुरेश्वराचार्य बृहदारण्यकशब्दका निर्वचन करते हुए कहा है—

'अरण्याध्ययनाच्चैतदारण्यकमितीर्यते ।
बृहत्त्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम् ॥'

अन्य उपनिषदोंसे विपुलाकार होनेके कारण यह ग्रन्थतः बृहत् है अखण्ड ब्रह्मका प्रतिपादक होनेके कारण इसमें ब्रह्मज्ञानके अन्तरङ्ग और ब सैकड़ों साधनोंका वर्णन है, इसलिए यह अर्थतः भी बृहत् है एवं अरण्यमें नि पूर्वक इसका अध्ययन होनेके कारण इसे बृहदारण्यक कहते हैं † ।

बृहदारण्यकोपनिषत्पर भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने विशद भाष्यका निर्मा मुमुक्षुओंका जो उपकार किया, वह वर्णनातीत है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्य बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यकी निरवद्यता और महत्ताकी श्रीसुरेश्वराचार्यजीने इस प्र मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है—

'यां काण्वोपनिषच्छलेन **सकलाम्नायार्थसंशोधिनीम्**,
सञ्चक्रुर्गुरवोऽ**नुवृत्तगुरवो** वृत्तिं सतां शान्तये ।
अर्थाविष्करणं कुतार्किककृताशङ्कासमुच्छित्तये
तस्या न्यायसमाश्रितेन वचसा प्रक्रम्यते लेशतः ॥'

उक्त विशद भाष्यार्थमें भी मन्दमति और अतीक्ष्णमति लोगोंकी बि बुद्धि हो सकती है। उक्त बुद्धिका निरास करनेके लिए भाष्यके अर्थविस्त अपेक्षा हुई। उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिए श्रीसुरेश्वराचार्यजीने भाष्यमें विषयका सूक्ष्मरूपसे प्रतिपादन हुआ था, जिसका नहीं हुआ था और जो मन्दमति

---

त्रिविधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम् ।
उपनीयेयमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः ॥
निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद् भवेत् ।
प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः ॥
यतोऽवसादयेद् विद्या तस्मादुपनिषद् भवेत् ।
यथोक्तविद्याहेतुत्वाद् ग्रन्थोऽपि तदभेदतः ॥
भवेदुपनिषन्नामा लाङ्गलं जीवनं यथा ।'

† उपनिषदन्तरेभ्यो ग्रन्थाधिक्याद् ग्रन्थतोऽस्य बृहत्त्वमर्थतस्त्वखण्डस्य ब्रह्मणोऽत्र प्र त्वात् तज्ज्ञानहेतूनां चाऽन्तरङ्गबहिरङ्गाणां भूयसां प्रतिपादनात्, अतो बृहत्त्वादारण्य बृहदारण्यकम् । ( देखिये आनन्दगिरिकृतशास्त्रप्रकाशिका व्याख्या )

आपाततः पुनरुक्त-सा प्रतीत होता था, उन सबका यथायोग्य विचारपूर्वक समाधान करते हुए सर्वाङ्गपूर्ण विस्तृत वार्तिककी * रचना की।

बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक अतिविस्तृत है, इस घोर कलिकालमें अल्पायु जीवोंके लिए इतने विस्तृत ग्रन्थसागरके अवलोडन द्वारा ज्ञानरत्नके अन्वेषणमें कठिनाईका अनुभव कर महांमहिमशाली श्रीविद्यारण्यमुनिने श्रीसुरेश्वराचार्यकी सूक्तियोंमें यत्र तत्र विखरे हुए रत्नोंका एकत्र संग्रह करनेकी इच्छासे बृहदारण्यक-भाष्यवार्तिकसारका निर्माण किया। यद्यपि वार्तिककी अपेक्षा यह ग्रन्थ अति लघु है, तथापि ग्रन्थकारने वार्तिकमें प्रतिपादित सम्पूर्ण विषयोंका इसमें असाधारण कौशलसे समावेश किया है। भाषानुवादके साथ इसका प्रथम खण्ड वेदान्तप्रेमी महानुभावोंके सन्मुख उपस्थित करते हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इसका दूसरा खण्ड भी, भगवान्‌की कृपासे, शीघ्र ही प्रकाशित होगा, ऐसी हमें आशा है।

गङ्गातीरनिवासी ब्रह्मविद्वरिष्ठ ( अब ब्रह्मीभूत ) श्रीअच्युतमुनिजी महाराजकी, जिनकी पुण्य स्मृतिमें दानवीर श्रीमान् सेठ गौरीशङ्कर गोयनकाजीने इस ग्रन्थ-मालाकी स्थापना की है, हार्दिक इच्छा थी कि अच्युतग्रन्थमामालामें बृहदारण्यक-वार्तिकसार ऐसे प्रमेयप्रचुर उत्तम ग्रन्थका भाषानुवादके साथ प्रकाशन कर लोकोपकार किया जाय। इसी सदिच्छासे प्रेरित होकर उन्होंने प्रथमाध्यायके सम्पूर्ण चतुर्थ ब्राह्मणका स्वयं अनुवाद कर उसे हमारे पास बहुत पहले भेज दिया था। वार्धक्यके कारण स्वास्थ्यवैषम्यसे वे सम्पूर्ण ग्रन्थका अनुवाद न कर सके। तदुपरान्त हमने श्रीजोखीराममटरूमलगोयनका-संस्कृतमहाविद्यालयके प्रधानाध्यापक ( प्रिन्सिपल ) महामहोपाध्याय सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पण्डितप्रवर श्रीहरिहरकृपालु द्विवेदीजीसे उक्त ग्रन्थका अनुवाद करनेकी प्रार्थना की। हमारी प्रार्थनाको स्वीकार कर महामहोपाध्यायजीने पूर्वोक्त अनूदित अंशको छोड़कर सम्पूर्ण ग्रन्थका भाषानुवाद करनेकी कृपा की है। उनका यह विशद और विस्तृत भाषानुवाद जिज्ञासुओंके लिए कितना उपयोगी और सुन्दर हुआ है, इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल यही कह देना पर्याप्त है—

'नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते।'

---

वार्तिकका लक्षण है—* उक्तानुक्तद्विरुक्तादिचिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥

अन्तमें हम श्रद्धेयतम श्रीमहामहोपाध्यायजी को, उनकी सुन्दर कृतिके लिए, शतशः हार्दिक धन्यवाद देते हैं और अच्युततादात्म्यापन्न श्रीअच्युतमुनिजीसे प्रणामपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि आपके सत्संकल्पानुसार यथाशक्ति सुन्दरताके साथ प्रकाशित इस ग्रन्थरत्नके प्रकाशनसे आप प्रसन्न हों। इति शम्।

काशी,
अक्षय नवमी १९९७

विद्वज्जनानुचर
श्रीकृष्णपन्त

# बृहदारण्यकवार्तिकसारकी विषयसूची।

## अधिकारिपरीक्षा [ १–१७३ ]

## सम्बन्धपरीक्षा [ १७४–२१९ ]



## प्रामाण्यपरीक्षा [ २२०–४८८ ]

## प्रमेयपरीक्षा [ ४८९–५८८ ]

### प्रथमाध्यायका प्रथम ब्राह्मण [ ५८९–६०६ ]



### प्रथमाध्यायका द्वितीय ब्राह्मण [ ६०७–७२२ ]

## प्रथमाध्यायका चतुर्थ ब्राह्मण [ ८५३—११२९ ]

प्रथमाध्यायकी सूची समाप्त

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

# बृहदारण्यकवार्तिकसार

## [ भाषानुवादसहित ]

## प्रथम अध्याय

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् * ॥
श्रीमत्सुरेश्वराचार्यपादाब्जभ्रमरा इमे ।
वार्त्तिकेक्षुरसं पीत्वा तृप्यन्त्वात्मानुभूतितः ॥ १ ॥

---

विषयेऽखिललोकानां निषये सर्वसंविदाम् ।
मुक्तये ज्ञानिनां नित्यम् नमोऽस्तु त्रिपुरारये ॥१॥
यदविद्यावशं भाति विश्वमुच्चावचं चिरम् ।
तं स्वनाथं जगन्नाथं विश्वनाथमहं भजे ॥२॥
प्रणम्य मातापितरौ भक्त्या च परया गुरून् ।
व्याख्या वार्तिकसारस्य भाषया क्रियते मया ॥३॥

सदाचार-परम्परा एवं उससे अनुमित श्रुति द्वारा यह सकल आस्तिक जनोंका अभिमत सिद्धान्त है कि ग्रन्थके आरम्भमें मङ्गल करना परम आवश्यक है, अन्यथा बीचमें विघ्न उपस्थित होनेसे समाप्तिमें सन्देह होता है ।

शङ्का—नास्तिक-ग्रन्थोंमें मङ्गलाचरणके बिना भी समाप्ति देखी जाती है तथा कतिपय आस्तिक-ग्रन्थोंमें मङ्गलाचरण रहनेपर भी समाप्ति नहीं देखी जाती, इसलिए समाप्ति न होनेपर बीचमें अवश्य विघ्न हुआ होगा, यह ज्ञान अनिवार्य होता है । अतः मङ्गल विघ्नविनाश तथा विघ्नविनाश द्वारा समाप्तिका कारण ही

नहीं हो सकता। कारण वही कहा जाता है, जिसके अभावमें कार्य न हो तथा अस्तित्वमें कार्य अवश्य हो। प्रकृतमें मङ्गल रहनेपर भी समाप्ति न होने और न रहनेपर भी समाप्ति होनेसे अन्वय-व्यतिरेक व्यभिचार है। अतः मङ्गलमें विघ्नध्वंस तथा समाप्तिकारणताका अभाव ही निश्चित होता है। अतः मङ्गलाचरण व्यर्थ है।

समाधान—जहांपर मङ्गल न रहनेपर भी समाप्ति दृष्टिगोचर होती है, वहींपर जन्मान्तरीय मङ्गलकी कल्पना की जाती है, क्योंकि जन्मान्तरीय शुभ और अशुभ कर्मोंका जन्मान्तरमें भी फल होता है, यह निर्विवाद है। और जहांपर मङ्गल रहनेपर भी समाप्ति नहीं है, वहां विघ्नबाहुल्य अथवा विघ्नप्राबल्यकी कल्पना की जाती है। अग्निसे काष्ठ भस्म होता है यह निर्विवाद है, किन्तु स्वल्प अग्निसे आर्द्र तथा बृहत् काष्ठके भस्म न होनेपर भी उनके कार्य-कारणभावमें कोई बाधा नहीं आती। अन्यथा दाहके लिए अग्निके आनयनमें किसीकी प्रवृत्ति ही न होगी।

शङ्का—यदि विघ्नाभावपूर्वक ग्रन्थसमाप्तिकी कामनासे मङ्गलाचरण आवश्यक है, तो मङ्गल भले ही किया जाय। पर ग्रन्थमें उसे लिखनेकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—शिष्यशिक्षाके लिए उसे ग्रन्थमें लिखना आवश्यक है। अन्यथा ग्रन्थमें मङ्गलाचरण न देखकर शिष्यगण भी मङ्गलाचरणसे विरत हो जायँगे, यह पहला प्रयोजन हुआ, दूसरा प्रयोजन है—ग्रन्थका प्रचुरमात्रामें प्रचार और तीसरा प्रयोजन है—अध्येता जनोंके श्रमकी सफलता, चिरजीवित्व आदि। इसमें प्रमाण है—'मङ्गलादीनि शास्त्राणि प्रथन्ते' इत्यादि महाभाष्य।

अतः वार्तिकसारकार इष्टदेवतानमस्काररूप मङ्गल करते हैं—

वागीश बृहस्पति और ब्रह्माको कहते हैं। बृहस्पति या ब्रह्मा आदि देवगण सब कार्योंके आरम्भमें जिसको नमस्कार कर सफलमनोरथ हुए हैं, मैं भी अपने कार्यकी सिद्धिके लिए ग्रन्थके आरम्भमें उन गणेशजीको नमस्कार करता हूँ *।

बृहदारण्यकभाष्यवार्तिककार श्रीमत्सुरेश्वराचार्यके चरणकमलानुरागी शम, दम, आदि साधनसम्पन्न सज्जन इक्षुरसोपम वार्तिकके अर्थका आस्वाद कर आत्मानुभवरूप मोक्षसे तृप्त हों॥ १॥

[ तात्पर्य यह है कि यद्यपि वार्तिककारने तत्त्वज्ञानपिपासुओंके लिए वार्तिक ग्रन्थका निर्माण किया है, किन्तु उसके इक्षुदण्डके समान कठिन होनेसे साधारण-बुद्धिवाले जिज्ञासु जनोंको वार्तिकका रसास्वाद नहीं हो सकता। जैसे दयामय परमात्माने मधुर रसके प्रेमियोंके लिए इक्षुदण्डकी सृष्टि की, किन्तु साधनके बिना

*निजपदभक्तजनानामजलिखितशिरोलिपिं प्रमार्ष्टि ।*
*हंसपदं दत्त्वा यः शंसतु तं राममादराद्वाणी* * ॥ १ ॥

असमर्थ बालक और वृद्ध उसके रसका स्वाद नहीं ले सकते । उनके लिए इक्षु (ईख) को पेरनेके लिए कोल्हू आदि यन्त्रकी अत्यन्त आवश्यकता होती है । उसी प्रकार वार्त्तिक गम्भीराशय होनेसे अति कठिन है। स्फुट व्याख्याके बिना साधारण विद्वानोंको हृदयङ्गम नहीं हो सकता, अतः वे इस रससे वञ्चित रह जाते किन्तु अब इस वार्तिकसार द्वारा चिर-अभिलषित मधुररसामृत पान कर सदाके लिए वे परितृप्त हों । अपूर्वग्रन्थरचनाकी अपेक्षा उसी वार्त्तिकका संक्षिप्त एवं सरल वार्तिकसार नामका ग्रन्थ बनाना ही श्रेयस्कर है। मनुष्योंमें शास्त्रके अर्थको समझनेकी शक्ति उत्तरोत्तर परिक्षीण हो रही है। अतः समयानुसार सरल व्याख्याकी ही आवश्यकता है। जिस तरह शीघ्रगति-शक्तिके ह्रासने रेलगाड़ीकी आवश्यकता हुई, उसी तरह अब भाषा व्याख्याकी आवश्यकता हो गई है । अतः मेरा भी प्रयत्न सार्थक है । अनधिकारियोंसे रसकी रक्षा करनेके लिए ईखको जिस तरह ईश्वरने कठिन बनाया, उसी तरह वार्त्तिककारने भी अमृतकी रक्षा करनेके लिए कठिन पद्यमय वार्त्तिक बनाया । कारण कण्टकावरोध या छरदिवालीके बिना सुगन्ध और सरस पुष्प-फलमय वाटिकाकी रक्षा नहीं हो सकती ] ।

जो परमहंसपदको अर्थात् जीवन-मुक्तिको प्रदानकर अपने भक्तोंके ललाटकी अमिट अज्ञतासूचक ब्रह्म-दुर्लिपि मिटाते हैं, मेरी वाणी उन भक्तवत्सल श्रीरामजीका सदा गुणानुवाद किया करे ॥१॥

[ भावार्थ यह है कि जो विद्वान् हैं, वे व्याख्यान द्वारा वार्त्तिकसारका मनन कर मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, इससे उनका उद्धार तो हो सकता है, किन्तु जो जड़बुद्धि हैं, जिनके ललाटमें जड़तासूचक ब्रह्माकी लिपि मौजूद है, उनके उद्धारका क्या उपाय है ? यदि कुछ नहीं, तो परमात्माकी सर्वशक्ति तथा परम दयालुता भी सीमाबद्ध हो जायगी । वास्तवमें वे दोनों निस्सीम हैं, इसलिए उनके लिए उपायान्तरकी सूचना मङ्गल द्वारा प्रगट करते हैं। रामनामोच्चारण भक्ति-प्रासादका प्रथम सोपान है । यद्यपि भक्तिस्वरूपमें विद्वानोंका विविध मतभेद है, जिसका विचार स्वतन्त्ररूपसे अलग हो सकता है, तथापि यहांपर केवल सिद्धान्तरूपसे

* पहले वार्तिकसारकी टीकाका भी भाषानुवाद प्रकाशित करनेंका विचार था, परन्तु ग्रन्थकी विपुलताकी ओर ध्यान देते हुए वह विचार त्याग देना पड़ा । प्रकृतमें अत्यन्त उपयुक्त केवल टीकाके मङ्गल श्लोकोंका अनुवाद दिया जाता है । सम्पादक ।

संक्षेपमें तैलधारावदविच्छिन्न भगवत्स्वरूपस्मरणात्मक ज्ञान भक्ति है, यह मानकर विचार करते हैं। जो प्रज्ञारूप साधनसे रहित हैं, उनके लिए रामनामोच्चारण ही परम्परासे मुक्तिसाधन है। रामनामोच्चारण किस तरह तत्त्वज्ञानोत्पादक होता है, यह विषय भी विस्तृत होनेसे अलग ही विचार करने योग्य है, परन्तु फलतः पुराणोंका परिशीलन करनेवाले महानुभावोंसे यह बात छिपी नहीं है कि अध्यात्म-शास्त्रशिरोभूषण जटिल विषयोंका प्रतिपादन करनेवाले योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थोंके रचयिता जीवन्मुक्त महर्षि बाल्मीकि मुनिकी प्रथम अवस्था क्या थी, और किन साधनोंसे चरमावस्था प्राप्त हुई ? आश्चर्य है कि उनको राम और मरा शब्दके स्वरूपका विवेक भी न था, फिर भी मरा शब्द ही सतत उच्चारण करनेसे रामशब्द हो गया। इसीसे उनको परमहंसपदकी प्राप्ति हुई; ऐसे कितने ही उदाहरण शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। जो पशु, पक्षी आदि शास्त्ररूप साधनोंके अधिकारी नहीं हैं, उनको भी रामनामसे ही ज्ञान तथा सद्गतिकी प्राप्ति हुई है। ज्ञानके बिना भक्तिसे भी मोक्ष मिल जाता है, क्योंकि 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' इत्यादि गीतावचनोंसे मुक्तिके दो साधन सिद्ध हैं—ज्ञान और योग—भक्ति। अतः अज्ञानियोंको भक्ति द्वारा ही मोक्ष होता है इत्यादि कहना ठीक नहीं है, कारण कि 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुतियोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि आत्मज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। यदि अन्य उपायसे मुक्ति मानी जाय तो स्वर्गविशेषरूप ही वह होगी। जैसे यागादिकर्मजन्य होनेसे स्वर्गादि अनित्य और सातिशय हैं, वैसे ही भक्तिरूप उपासनाक्रियाजन्य होनेसे मुक्ति भी अनित्य और सातिशय होगी, तो स्वर्गविशेष ही मोक्ष हो जायगा। परन्तु शास्त्रोंमें मोक्षका स्वरूप नित्य और निरतिशय बतलाया गया है। यदि नामोच्चारण द्वारा भक्तिसे ही मोक्ष हो सकता, तो वाल्मीकि तत्त्वज्ञानी कैसे होते और मोक्षार्थियोंके लिए अध्यात्मशास्त्रोंका प्रणयन तथा उपदेश क्यों करते ? अतः रामनामोच्चारणसे अनेक जन्मार्जित विविध दुरित नष्ट हो जाते हैं। ये ही दुरित ज्ञानोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक हैं। चित्तके शुद्ध होनेपर स्वल्पोपदेशसे भी तत्त्वज्ञानोत्पत्ति हो जाती है। लिखा है कि 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः'। तुलसीदासजीने भी कहा है—

'राम-नाम बिन सुनहु खगेशा। मिटहिं न जीवन केर कलेशा॥'

गीतामें भी पृथक् साधननिरासके लिए लिखा है—

*यतो जगत्समुद्भूतिसम्भूतिपरिभूतयः ।*
*तं वन्दे राममात्मानं चिदानन्दघनं गुरुम् ॥ २ ॥*

'सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥' इत्यादि ।

अब विवक्षित रामशब्दार्थका परिचय करानेके लिए कहते हैं— **यतो जगदित्यादि ।**

जिससे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है । उसी चिदानन्दघन, गुरुस्वरूप अपनी आत्मासे अभिन्न रामजीकी वन्दना करता हूँ ॥२॥

[ तात्पर्य यह है कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञास्व, तद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुति और श्रुतिमूलक 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र द्वारा तटस्थ लक्षणसे लक्षित तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों द्वारा स्वरूपलक्षणसे लक्षित जो समस्तोपाध्यनवच्छिन्न अपेत-ब्रह्मक्षत्रादिभेद, चिदानन्दैकरस उदासीन अकर्तृभोक्तृ आत्मतत्त्व ही रामशब्दार्थ है, उसीके श्रवण, मनन और उपासना द्वारा साक्षात्कार करनेसे अविद्याविनाश-पूर्वक स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूपाविर्भावरूप नित्यसुखात्मरूप मोक्ष प्राप्त होता है । यदि शङ्का हो कि सगुण श्रीरामचन्द्रजीके भजनसे मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि निर्गुणकी उपासनासे ही मुक्ति होती है, यह सुना जाता है, तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि वाल्मीकि, तुलसीदास, सूरदास आदि महानुभावों ने मुक्तिके लिए अयोध्या-धिपति श्रीरामचन्द्रजीका गुणगान, भजन स्वयं किया तथा मुमुक्षु जनोंको वैसा ही उपदेश दिया है । इसलिए अधिकारीके भेदसे दोनों उपासनाएँ सार्थक हैं, जिनका चित्त जन्मान्तरीय सगुणोपासनासे परिशुद्ध—संस्कृत है, उनके लिए सगुणोपासनाकी आवश्यकता नहीं है । जैसे सनत्कुमार, वामदेव प्रभृति जिनका चित्त रजस्तमोगुणात्मक होनेसे अशुद्ध है, उनके चित्तको परिशुद्ध करानेके लिए निष्काम नित्य-नैमित्तिककर्मानुष्ठान तथा उनमें असमर्थ जिज्ञासुओंके लिए रामनामोच्चारण ही परम साधन है । यद्यपि साधनावस्थामें उपास्योपासकरूपसे भेदज्ञान आवश्यक है । फिर भी ज्यों ज्यों श्रद्धा, भक्ति पुरःसर नामोच्चारण आदि उपासना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, त्यों त्यों उपास्योपासकके परस्पर अभेदकी

भावना भी दृढ़तर होती जाती है, जब चरमावस्थामें 'तत्त्वमसि' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता' इत्यादि और 'अहं ब्रह्मास्मि' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'इत्यादि-श्रुतिसे बोधित अद्वैतात्मानुभव दृढ़तर होता है, उस अवस्थाके तात्पर्यसे 'आत्मानम्' यह विशेषण कहा है। यदि यह कहें कि इस दशामें भी वृत्तिरूपसे अविद्या विद्यमान है, तो फिर अद्वैत आत्माका अनुभव कैसे ? और वृत्तिकी निर्गम-दशामें तो प्रकाशकके संबन्धके अभावसे प्रकाश ही नहीं हो सकता, अप्रकाशित जीव और ब्रह्मका अभेद पुरुषार्थ नहीं हो सकता है तो इसका, उत्तर देते हैं—सच्चिदानन्दघनम्। तात्पर्य यह है कि आत्माके चैतन्यस्वरूप होनेसे वह स्वयंप्रकाश है; अतः उसके प्रकाशके लिए प्रकाशान्तरकी आवश्यकता ही नहीं है, इस विषयका अधिक विस्तार आत्मस्वरूपके निरूपणके समय विशेषरूपसे करेंगे। यदि फिर सन्देह हो कि ज्ञानके प्रकाशात्मक होनेपर भी वह सुखात्मक तो है नहीं, वैसे ही दुःख-निवृत्तिस्वरूप भी वह नहीं है, तब वह पुरुषार्थ कैसे हो सकता है ? क्योंकि संसारमें सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति—दो ही पुरुषों द्वारा अर्थ्यमान पुरुषार्थ है। 'सुखं मे स्यात् दुःखं माभूत्'(मुझे सुख हो और दुःख न हो।) इसी प्रकारकी इच्छा सारे संसारी-जीवोंमें विद्यमान है, इसीके लिए तत्-तत् सुखके साधन विषयविशेषमें इच्छा तथा प्रवृत्ति होती है, अतः इस सन्देहके निरासार्थ 'आनन्द' यह विशेषण कहा है अर्थात् यह प्रकाश आनन्दस्वरूप है। 'सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःस्यानन्तरं सुखम्' इस लौकिक वाक्यके अनुसार लौकिक सुखके अनन्तर जैसे दुःख होता है वैसे ही मोक्षसुखके उत्तर भी दुःख हो सकता है, अतः 'घन' यह भी विशेषण दिया है। विषयसुखके उपभोगावस्थामें विषयाधीन होनेसे स्वल्प दुःखसे मिश्रित ही वह रहता है, तथा विषयकी अनित्यता होनेसे तदधीन सुख भी विनाशी ही होता है एवं इन्द्रियादि साधनाधीन होनेसे इन्द्रियशक्तिवैकल्यसे भी पूर्णसुखका विकास नहीं होता है, प्रकृतमें आनन्दके नित्यात्मस्वरूप होनेसे दुःखके गन्धका भी संभव नहीं है। सैन्धवघनकी तरह मोक्ष सर्वात्मना आनन्द ही है। 'गुरुम्' कहनेका तात्पर्य यह है कि लौकिक ज्ञान तथा आनन्द ये दोनों अचेतनस्वरूप ही हैं। यदि इस आनन्दका स्वरूप आत्मा है, तो वह भी अचेतन हुआ, और अद्वैत होनेसे भासकान्तर संबन्ध है ही नहीं, अभासमान आनन्द पुरुषार्थ नहीं है, अतः 'गुरुम्—शासितारम्' 'एतस्य शासने सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः', 'पश्य-

मनमें रखकर प्रीति करता है। द्वितीयकी अपेक्षा पहला श्रेष्ठ है। शास्त्रमें सकामोपासनासे निष्कामोपासना श्रेष्ठ मानी गई है। उपकार भी दो प्रकारका होता है—एक प्रत्युपकारसे साक्षेप और दूसरा उससे निरपेक्ष। पहला पशु, पक्षी आदि सकललोकसाधारण है और दूसरा परमेश्वर अथवा बड़े-बड़े ईश्वरभावप्राप्त महात्माओंमें ही होता है; इसीका नाम परमदयालुता भी है। यह सात्त्विक-लोगोंमें ही होती है; रजस्तमोदूषित चित्तवालोंमें नहीं होती। प्रथमचरणसे सुख-प्रदान द्वारा उपकारकबुद्धिसे प्रेमातिशय सूचित किया गया है, और द्वितीयचरणसे दुःखनिवृत्ति द्वारा। यह कह चुके हैं कि संसारमें मुख्य दो ही प्रयोजन हैं, तीसरा नहीं। उनमें पहला सुखप्राप्ति और दूसरा दुःखनिवृत्ति है। दोनोंका मूल कारण साक्षात् या परम्परया परमात्मोपासना ही है।

यद्यपि साक्षात् प्रतिकूलवेदनीय होनेसे केवल दुःख ही जिहासित है और उसकी निवृत्ति द्वारा गुरुमें परमोपकारकत्वका लाभ हो ही जाता है, अतः अनुपयुक्त अविद्यानिवर्त्तकत्वका कथन निष्प्रयोजन है, तथापि कारणकी निवृत्तिके बिना कार्यकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि मूलके रहनेपर कालान्तरमें फिर कार्योत्पत्ति हो सकती है। दृष्ट उपायकी अपेक्षा आत्मज्ञानरूप उपायमें यही तो विशेष है। इसके बिना तो दोनों तुल्य हो जाते हैं, फिर सुकर दृष्टोपायको छोड़कर गुरुतर अनेकजन्मायाससाध्य आत्मज्ञानरूप उपायमें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। एक प्रसिद्ध कहावत है कि—'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' अर्थात् पास ही में यदि मधु मिल जाय, तो मधुके लिए पर्वतमें कौन जायगा? अर्थात् असल बात यह है कि विद्या अविद्याकी ही नाशिका है अविद्या ही के साथ विद्याका साक्षात् विरोध है। दुःखकारणीभूत अविद्याके निवृत्त होनेसे तत्कार्य दुःखकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है, अतः समूल दुःखनिवृत्तिके सूचनके लिए अविद्या और तज्ज इन दोनोंका निर्देश किया गया है।

पूर्व श्लोकमें परमगुरुकी वन्दना की है इस श्लोकमें साक्षात्गुरुका भजन करता हूँ यह लिखा है। 'भजे' यह 'भज् सेवायाम्' इस धातुका रूप है। 'भजे' इसका अर्थ है सेवा करता हूँ। यद्यपि सेवा कई प्रकारकी होती है तथापि स्थूलरूपसे सेवा तीन प्रकारकी होती है—कायिक, वाचिक और मानसिक। इनके भी अवान्तर अनेक भेद हैं जिनका स्वतन्त्ररूपसे विचार किया जायगा। किन्तु सामान्यरूपसे शरीर, मन तथा वाणीसे प्रतिकूल आचरण न कर सदा अनुकूल आचरण करना ही सेवा

पूर्वाचार्याल्लोकवन्द्यान्नत्वाऽऽनन्दगिरीयतः ।
व्याख्या वार्तिकसारस्य लघु संगृह्य लिख्यते ॥ ४ ॥

---

। यह सेवा गुरुके रहने तथा न रहनेपर भी हो सकती है, किन्तु प्रकारान्तरकी ा विद्यमानदशामें ही हो सकती है। यहां 'भजे' इस रूप-निर्देशसे सेवामें मानताकी प्रतीति होती है। अतः गुरुसंमत ही अर्थ इस व्याख्यामें प्रकाशित या जायगा, तद्विरुद्ध नहीं। जैसे ग्रन्थान्तरकी टीकाएँ मूलकारके अभिप्रायको ऽट-पुलट कर स्वाभिमेत अर्थकी सृष्टि करती हैं, वैसे यह टीका नहीं करती, [ भावको अभिव्यक्त करनेके लिए 'भजे' पदका उपादान किया है ]।

भाष्यकारने पहिले पूर्वाचार्योंकी वन्दना की है। इसलिए पूर्वाचार्योंकी भी दना करते हैं—'पूर्वाचार्यान् लोकवन्द्यान्' इत्यादिसे।

पूज्य पूर्वाचार्योंको नमस्कार कर, आनन्दगिरिकी व्याख्यासे अभिप्रेत अर्थका ग्रह कर वार्तिकसारकी लघु व्याख्या लिखता हूँ ॥४॥

[ यहाँपर यह प्रश्न होता है कि भाष्यकारने तो प्रथम पूर्वाचार्योंका भिवादन करके पश्चात् साक्षात् गुरुका अभिवादन किया है और वार्तिक-रके व्याख्याकारने ईश्वरवन्दनाके अनन्तर पहिले साक्षात् गुरुकी वन्दना र पश्चात् पूर्वाचार्योंकी वन्दना की है, ऐसा करनेका क्या अभिप्राय ? इसका उत्तर देते हैं कि यदि एक कालमें पारम्परिक गुरु और साक्षात् रु दोनोंका अभिवादन प्राप्त हो, तो प्रथम किसका अभिवादन करना ाहिए ? ऐसा प्रश्न उठनेपर दोनोंका एक समयमें तो अभिवादन नहीं सकता, अतः क्रमकी आवश्यकता है। ऐसी परिस्थितिमें नियत क्रम होनेसे स्वेच्छासे दोनों प्रकार हो सकते हैं; किन्तु धर्मशास्त्रका वचन था शिष्टाचार यह है कि प्रथम साक्षात् गुरुका अभिवादन करना चाहिए, श्चात् परमगुरुका अभिवादन करना चाहिए। अतएव श्राद्धमें पितृपूजनपूर्वक ी पितामहादिका पूजन होता है। यदि शास्त्रमें क्रम नियत है, तो भाष्यकारने ुत्क्रम क्यों किया ? भाष्यकारका अभिप्राय यह है कि विधि और निषेध कर्म-रायण मनुष्योंके लिए हैं, ज्ञानियोंके लिए नहीं। इसीलिए भगवान् भाष्यकारने अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणानि शास्त्राणि च' ऐसा अध्यासभाष्यमें कहा है। भाष्यकार ज्ञानी थे, उनके लिए विधि और निषेध नहीं हैं; अतः वे

चाहे जैसा लिखें पर दूसरेका वैसा करना ठीक नहीं है । इसलिए साक्षाद्गुरुनमस्कारपूर्वक ही परम्परागुरुका जो नमस्कार किया है, वह उचित ही है ।

स्वकीय व्याख्यानमें दृढ़ विश्वासोत्पत्तिके लिए लिखते हैं—'**आनन्दगिरीयत** इत्यादि । भाव यह है कि जबतक प्रमाणोंमें संवाद नहीं होता है, तबतक प्रमेयका निश्चय नहीं होता । कारण कि विषयके निश्चयमें विषयग्राहक प्रमाणके प्रामाण्यका निश्चय कारण है । सम्भव है कि स्वयं वक्ताने कल्पना कर ऐसा लिखा हो । शब्द स्वयम् अदुष्ट होनेपर भी वक्ताके दोषसे दूषित होकर मिथ्या अर्थका भी बोधक होता है । भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव और उच्चारणदोष वक्ता पुरुषमें अनिवार्य होते हैं, इसीसे वेदको अपौरुषेय माना है, अन्यथा पुरुषदोषोंकी संभावनासे वेद भी अप्रामाणिक हो जायगा, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं कि हम आनन्दगिरिव्याख्यासे सङ्ग्रह कर लिखते हैं । इस तरह प्रमाणसंवाद होनेसे स्वकल्पित सन्देह निवृत्त होता है और प्रामाणिकत्व निश्चय होनेसे जिज्ञासुओंकी श्रद्धापूर्वक प्रकृत ग्रन्थमें प्रवृत्ति होती है । यदि आनन्दगिरिव्याख्यासे ही सङ्ग्रह-कर लिखना है, तो उक्त व्याख्यान है ही, फिर इस नवीन ग्रन्थकी आवश्यकता ही क्या है, अतः 'लघु' पद कहा अर्थात् यह ग्रन्थ संक्षिप्त है । लघुका 'लिख्यते'के साथ सम्बन्ध करनेसे लेखमें लघुत्व प्रतीत होता है ।

शास्त्रकारोंकी शास्त्ररचनामें दो प्रकारसे प्रवृत्ति होती है—विस्तृतको संक्षिप्त करनेके लिए और संक्षिप्तको विस्तृत करनेके लिए, इसी प्रकारको समास और व्यास भी कहते हैं । योग्यता और समय आदिके अनुसार श्रोता दो प्रकारके होते हैं, एक संक्षेपसे शुश्रूषु होते हैं और दूसरे विस्तारसे शुश्रूषु होते हैं । इसलिए अधिकारीके अनुसार ही शास्त्र होना चाहिए । विस्तारके जिज्ञासुओंके लिए आनन्दगिरिव्याख्या हुई है । किन्तु संक्षिप्तके जिज्ञासुओंके लिए यह लघु व्याख्या की गई है । जिनकी इस व्याख्या तृप्ति न हो, वे विशेषज्ञानके लिए आनन्दगिरिव्याख्या देखें, यह भी प्रयोजन है । अथवा यदि लघुका संबन्ध 'संगृह्य' के साथ करें, तो थोड़ा संग्रह अर्थात् कहीं-कहीं आनन्द-गिरिव्याख्याका सङ्ग्रह है; इससे उस व्याख्यासे प्रकृतग्रन्थ गतार्थ है, इस शङ्काका अवसर ही नहीं आता । स्थालीपुलाकन्यायसे संवादद्वारा प्रामाण्य भी समर्थित हो जाता है । ]

संक्षिप्त-जिज्ञासुओंके लिए यह ग्रन्थ है सही; किन्तु महिमाशाली महात्माओंसे

मणयो मणितत्त्वज्ञैः सञ्चितास्तत्र केचन ।
बालिशेन समानीताः किं न ग्राह्यास्तदर्थिना ॥ ५ ॥

प्रणीत ग्रन्थोंके रहते आपके ग्रन्थमें उनकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, क्योंकि आपकी अपेक्षा उक्त महात्माओंमें लोगोंका अधिक विश्वास है, अतः उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थोंमें ही श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति होगी। इसलिए अनुपादेय होनेसे इसकी रचना व्यर्थ है? इस आशंकाकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—'**मणयो**' इत्यादि।

मणितत्त्वज्ञोंने—खरे-खोटेकी पहिचान करनेवाले जौहरियोंने—जहांपर मणियोंका सञ्चय कर रक्खा है, वहांपर यदि कोई बालिश अर्थात् मणितत्त्वानभिज्ञ क़ीमती मणि लेकर जाय, तो ग्रहणेच्छा होनेपर भी क्या जौहरी इसलिए नहीं ग्रहण करेगा कि ले आनेवाला मूर्ख है? प्रापकके गुण या दोषसे प्राप्य वस्तु हेय या उपादेय नहीं होती। गुणग्राही विद्वज्जन गुणके ग्रहणमें लोलुप होते हैं। वक्ताके गुण और दोषकी अपेक्षा नहीं रखते। इसीलिए कहा है—'ननु वक्तृविशेषनिस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः', 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' इत्यादि। अर्थात् गुणग्राही विद्वान् वक्तृविशेषकी इच्छा न कर केवल विषयगुणका अवश्य ही ग्रहण करते हैं, इस दृढ़ विश्वाससे इस ग्रन्थरचनामें मेरी भी प्रवृत्ति हुई है। आशा है, गुणग्राही सज्जन इसमें अवश्य प्रवृत्त होंगे ॥ ५ ॥

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित् ।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते ॥
सिद्धार्थं ज्ञातसंबन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः संबन्धः सप्रयोजनः ॥

इस भट्टपादकी उक्तिसे तथा सकल शास्त्रकारोंका यह सिद्धान्त है कि मङ्गलाचरणोत्तर सर्वप्रथम अनुबन्धचतुष्टयका निर्देश अवश्य करना चाहिए, इस नियमसे अनुबन्धचतुष्टयका निर्देश कर देना परम आवश्यक है। अधिकारी, प्रयोजन, विषय और संबन्ध ये ही चार अनुबन्ध हैं। इनका लक्षण है—प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्व अर्थात् जिनका ज्ञान शास्त्रप्रवृत्तिमें कारण है, वे ही अनुबन्ध हैं। जब तक अपनेको अधिकारी नहीं समझता, तब तक कोई किसी कर्म या किसी शास्त्रके अध्ययनमें प्रवृत्त नहीं होता। यदि शङ्का हो कि ग्रन्थारम्भमें

**संसारकारणाविद्याध्वंसकृज्ज्ञानलब्धये ।**
**प्रारब्धेयं प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत्परा ॥ २ ॥**

किसीकी प्रवृत्ति ही न हुई, तो ग्रन्थकी रचना ही व्यर्थ है, क्योंकि ग्रन्थ तो परार्थ है; स्वार्थ नहीं । कीर्ति आदि स्वार्थ भी तभी हो सकता है जब कि अध्ययनाध्यापन द्वारा ग्रन्थका प्रचुर प्रचार हो । अतः उक्त शङ्काके परिहारके लिए प्रथम श्लोकके प्रथम पादके—'**पादाब्जभ्रमरा इमे**' इस पादके 'इमे' इस पदसे अधिकारीकी सूचना दी गई है । 'इमे' यह सर्वनाम बुद्धिस्थका परामर्शक है । बुद्धिस्थ है—नित्यानित्य-वस्तुविवेक, ऐहिक तथा पारलौकिक फलसे वैराग्य, शम, दम आदि साधन-सम्पत्ति और मुमुक्षत्व, इस प्रकारके चार साधनोंसे सम्पन्न पुरुष तथा 'पादाब्जभ्रमराः' इस पदसे गुरुवचनमें श्रद्धाविश्वासादिपूर्वक शुश्रूषा, अवधान आदि विशेष ।

'**संसारकारण**' इस द्वितीय श्लोकसे प्रयोजन और विषयकी सूचना दी गई है । [ संसारः घटीयन्त्रवदविच्छिन्नजन्ममरणप्रवाहः तत्कारणमविद्या—आत्मयथार्थाननुभवः, तन्नाशकं ज्ञानमात्मयथार्थानुभवः तत्प्राप्तये इयं उपनिषदर्थतात्पर्य-निरूपणपरा प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत् प्रारब्धा ] अर्थात् संसारकी कारणीभूत अविद्याका विनाश करनेमें समर्थ आत्मतत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए, बड़े श्रमसे उपनिषद् अर्थके तात्पर्यके निर्वचनके लिए इस वेदान्तोपनिषत्का प्रारम्भ किया गया है । यद्यपि 'आरभ्यते' यह कहना चाहिए, क्योंकि आरम्भमें अभी वर्तमानकालता है, अतीतकालता नहीं, तथापि बुद्धिमें संग्रह कर चुके हैं, इस तात्पर्यसे अतीत कालका सूचन करनेके लिए 'प्रारब्धा' ऐसा कहा । प्रकृत ग्रन्थके अभ्याससे जन्य आत्माके यथार्थ अनुभवसे अभिव्यक्त पूर्वश्लोकस्थ तृप्तिशब्दसे सूचित नित्य निरतिशय स्वस्वरूप ब्रह्मसुखरूप प्रयोजन ही अज्ञातावस्थामें विषय है । 'यमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' इस न्याय-सूत्रके अनुसार ब्रह्मस्वरूप नित्य सुखकी अभिलाषासे अध्यात्मशास्त्रमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, अतः वही नित्यसुख ज्ञातावस्थामें प्रयोजन है । जीव और ब्रह्मका अभेदरूप ब्रह्मात्मैकत्व विषय है । संबन्धका निर्देश ग्रन्थकारने नहीं किया है, कारण कि बिना कहे भी ज्ञान और फलका उपायोपेयभावसम्बन्ध स्वयं ज्ञात हो जाता है और शास्त्र एवं विषयका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव संबन्ध स्वयं ज्ञात होता है, इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टयनिर्देशपुरःसर ग्रन्थारम्भ भी समर्थित हुआ ॥ २ ॥

अत्र चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः ।
तच्छब्दावयवार्थस्य विद्यायामेव सम्भवात् ॥ ३ ॥
उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचि समाप्यते ।
सामीप्यतारतम्यस्य विश्रान्तेः स्वात्मनीक्षणात् ॥ ४ ॥

उपनिषत्शब्दका अर्थ है—ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान। अतः प्रकृतमें ग्रन्थतात्पर्यसे 'उपनिषत् प्रारभ्यते' ( उपनिषत्का आरम्भ किया जाता है ) यह प्रयोग उचित नहीं है और ज्ञान तथा ग्रन्थ दोनों उपनिषत्शब्दके अर्थ हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'एकार्थत्वे संभवति अनेकार्थत्वकल्पना अन्याय्या' इस न्यायसे एकार्थक ही उपनिषत्शब्द है, अनेकार्थक नहीं है। 'उपनिषदं भो ब्रूहि' इत्यादि प्रयोग ब्रह्मविद्यामें देखा जाता है। अनादि कालसे जिस अर्थमें जिस शब्दका प्रयोग पाया जाता है, वही उस शब्दका मुख्य अर्थ होता है। आधुनिक ग्रन्थमें 'उपनिषत्' शब्दका प्रयोग अनुचित है, इस तात्पर्यसे लिखते हैं—'अत्र च' इत्यादि।

यह कहना युक्ति-युक्त है कि उपनिषत्शब्द ब्रह्मविद्याका बोधक है, क्योंकि उपनिषत्शब्दके निर्वचनसे उसका अवयवार्थ ब्रह्मविद्यामें ही सङ्गत होता है। जैसे 'बृंहयति' इस निर्वचनसे बृंहणकर्तृत्व ब्रह्मचैतन्यमें है, अतः ब्रह्मचैतन्य ही ब्रह्मशब्दार्थ है वैसे ही प्रकृतमें शक्तिग्रहका उपाय व्यवहार है और विवरण भी है—'वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति' इत्यादि ॥३॥

उपनिषत्शब्दका अवयवार्थ दिखलाते हैं—'उपोपसर्गः' इत्यादिसे। उपनिषत् शब्दमें चार अवयव हैं—उप, नि, सत् और क्विप्, अन्तिम लुप्त है और तीन विद्यमान हैं। उपका अर्थ है—सामीप्य, निशब्दका अर्थ है निश्चय, सद्‌धातुका अर्थ है विशरण, गति और अवसादन और क्विप्प्रत्ययका अर्थ है कर्ता। [अतः शुद्ध जीवमुपशब्दार्थसामीप्योपलक्षितं ब्रह्म निश्चितं नीत्वा—तत्स्वरूपं ग्राहयित्वा—सकार्यां समूलां चाऽविद्यां शिथिलयति—नाशयति—या सा उपनिषत्, इस प्रकारकी व्युत्पत्तिसे शुद्ध जीवको सामीप्योपलक्षित ब्रह्मके पास ले जाकर अर्थात् ब्रह्म-स्वरूपका बोध कराकर समूल अविद्याका जो विनाश करती है उसे उपनिषत् कहते हैं] विद्या और अविद्याका परस्पर विरोध होनेसे विद्या अविद्याकी निवर्तिका है। और अविद्याकी निवृत्ति होनेसे तत्कार्य संसारकी स्वतः निवृत्ति हो जाती है।

**त्रिविधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम् ।**
**उपनीयेममात्मानं ब्रह्माऽपास्तद्वयं यतः ॥ ५ ॥**

इस श्लोकका तात्पर्यार्थ यह है कि सामीप्य दो प्रकारका होता है—सातिशय और निरतिशय । जैसे बाह्य विषयोंकी अपेक्षा आत्माके समीप शरीर है, उसकी अपेक्षा इन्द्रियाँ समीप हैं, और उनकी अपेक्षा मन समीप है । परन्तु इनका सामीप्य सातिशय है । निरतिशय सामीप्य है आत्मस्वरूपका, क्योंकि जाग्रत् अवस्थामें शरीरेन्द्रियादिका सम्बन्ध रहनेसे शरीरेन्द्रियादि समीप हैं । स्वप्नावस्थामें मनका सम्बन्ध रहनेसे मनका सामीप्य अन्तरङ्ग है । सुषुप्त्यवस्थामें मनका सम्बन्ध भी नहीं रहता, पर स्वरूपभूत आनन्द वहाँ भी रहता है, क्योंकि जागनेपर 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादि परामर्श होता है और आत्मा जब कुछ देखना या सुनना चाहता है तब पहले अन्तरङ्ग मनको प्रेरित करता है । मन इन्द्रियोंको प्रेरित करता है, इन्द्रियाँ स्वस्वविषयमें प्रवृत्त होती हैं । इस कारणसे मनसम्बन्धपर्यन्त सामीप्य सातिशय है । प्रकृतमें निरतिशय सामीप्य विवक्षित है, मुख्यार्थकी संभवदशामें गौणार्थका ग्रहण अनुचित है । इस तात्पर्यसे लिखते हैं—**'सामीप्य तारतम्यस्य'** इत्यादि ।

सामीप्यकाष्ठाकी समाप्ति निरतिशय सामीप्यमें ही होती है, निरतिशय सामीप्य स्वरूप ही में होता है, अन्यत्र नहीं । यद्यपि अद्वितीयावस्थामें सामीप्यादि धर्म भी नहीं रहते हैं । इसलिए सामीप्योपलक्षित स्वरूप विवक्षित है । उपलक्षण वह है जो कभी लक्ष्यमें विद्यमान रहकर अविद्यमानावस्थामें भी इतर-व्यावर्तक हो । जैसे 'कमण्डलुपाणिश्छात्रः' यहाँपर कमण्डलु उपलक्षण है, सदा छात्रके हाथमें नहीं रहता, वैसे ही संसारदशामें काल्पनिक-धर्मधर्मिभाव ब्रह्ममें है ही; अतः सामीप्य भी काल्पनिक ब्रह्ममें है । परमार्थ-दशामें काल्पनिक सामीप्यके न रहनेपर भी ब्रह्मस्वरूपको तदुपलक्षित कहनेमें कोई बाधा नहीं है ॥४॥

सद्‌धातुका अर्थ विशरण, गति और अवसादन है । उपसर्ग धात्वर्थका द्योतक होता है, अतः उपसर्गके अर्थका पहले धात्वर्थमें ही अन्वय होता है । 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन' ऐसा शाब्दिकोंका सम्प्रदाय है । इसीके अनुसार लिखते हैं—**'त्रिविधस्य'** इत्यादि ।

निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद्भवेत् ।
निहत्यानर्थमूलं साऽविद्यां प्रत्यक्तया परम् ॥ ६ ॥
गमयत्यस्तसम्भेदमतो वोपनिषद्भवेत् ।
प्रवृत्तिहेतून्निश्शेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः ॥ ७ ॥

निशब्दार्थ निश्चय—गति, विशरण और अवसादनरूप त्रिविध सदर्थमें —विशेषण है। उसके द्वारा निशब्द भी विशेषण है, क्योंकि विशेषणताप्रयोजकत्वरूप विशेषणत्व निशब्दमें भी है। अतः निश्चित गति, निश्चित विशरण, निश्चित अवसादन यह अर्थ हुआ। निशब्दार्थविशेषित त्रिविध धात्वर्थमें उपशब्द भी स्वार्थ द्वारा विशेषण है। दो उपसर्गोंके अर्थ एक कालमें धात्वर्थमें विशेषण नहीं हो सकते, क्योंकि एक उद्देश्यमें अनेकका विधान करनेसे विधिभेदकी प्राप्ति होती है। किन्तु 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणम्' इस न्यायसे निशब्दार्थ-विशेषित सदर्थमें उपशब्दार्थ विशेषण है [ ऐसी परिस्थितिमें 'जीवस्य सामीप्यो-लक्षितब्रह्मस्वरूपनिश्चितप्राप्तिः, ततः अविद्याशैथिल्यं ततस्तदवसाद एतत्सर्वं या करोति सा विद्या' यहांपर यह निष्कर्ष निकला कि पहले 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इस गीतावाक्यके अनुसार ब्रह्मस्वरूपप्राप्ति, तदनन्तर अविद्या-शैथिल्य और उसके बाद अविद्याका अवसाद यह सब जो करती है वह विद्या है।] पर यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि जबतक अविद्या समूल निवृत्त न हो जायगी तबतक व्यवधायक अविद्या रहनेसे स्वरूप-प्राप्ति कैसे हो सकती है? गतिका फल प्राप्ति है, गतिका अर्थ प्राप्ति नहीं है। गत्युपसर्जनप्राप्तिके गत्यर्थ होनेपर भी मुख्य गत्यर्थका भान नहीं होता, क्योंकि धातुपाठमें गतिका प्रधानतया निर्देश है। ब्रह्मस्वरूपता जीवमें नित्य प्राप्त है। अतः गतिपूर्वक प्राप्ति नहीं कह सकते, इन शङ्काओंकी निवृत्तिके लिए दूसरा अर्थ करते हैं—'निहत्य' इत्यादिसे ॥ ५,६ ॥

जो अनर्थमूल अविद्याका समूल नाशकर चैतन्यस्वरूपाभिन्न परब्रह्म-स्वरूपताको प्राप्त कराती है अथवा बोध कराती है, [ जो गत्यर्थ होते हैं वे बुद्ध्यर्थक भी होते हैं, ऐसा नियम है ] वह विद्या ही उपनिषत् शब्दका अर्थ है ग्रन्थ उपनिषत्शब्दका अर्थ नहीं है। एवंच ग्रन्थतात्पर्यसे उपनिषत्का प्रयोग ठीक नहीं है। यह कथन ठीक ही है कि विद्या उत्पन्न

होगी तो समूल और सकार्य अविद्याका नाश करेगी, किन्तु विद्योत्पत्ति होना ही कठिन है, क्योंकि रागादिदोषदूषित उन्मत्त मन सांसारिक विविध हेय और उपादेय विषयभोगोंकी लोलुपतासे उचितानुचित कर्ममें इन्द्रियोंकी प्रेरणा करता हुआ शुभ और अशुभ फल देनेवाले विहित तथा निषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा संसार-श्रृंखलासे पुरुषको जकड़ता ही रहेगा फिर विद्योत्पत्तिकी आशा करना दुराशामात्र है ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—'**प्रवृत्ति**' इत्यादि ।

[ यह भाव है कि 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इस न्यायसूत्रके अनुसार मिथ्याज्ञान ही संसारका कारण है, क्योंकि मिथ्याज्ञानसे राग, द्वेष, मोह आदि दोष होते हैं । जैसे शरीरात्मज्ञानसे शरीरानुकूल विषयको आत्मानुकूल समझकर उसमें प्रवृत्ति होती है, यदि वह विहित है, तो धर्म होगा यदि निषिद्ध है तो कलञ्जभक्षण आदिके सदृश अधर्म होगा । ये धर्म और अधर्म सुवर्ण और लोहेकी श्रृंखलाके सदृश बन्धन ही हैं । इसीको कहते हैं प्रवृत्ति । 'प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः' इस सूत्रसे रागादि धर्माधर्मात्मक प्रवृत्तिके कारण हैं । इन्हींको भोगनेके लिए जन्म होता है । जन्म होनेपर फिर ये होते हैं । इस तरह घटीयन्त्रके समान इनका प्रवाह विच्छिन्न नहीं होता, इसीसे संसार अनादि कहलाता है । जन्म होनेपर दुःख अवश्य ही होगा, अतः आत्यन्तिक दुःखका उच्छेद हो ही नहीं सकता, इस आक्षेपके निराकरणके लिए 'दुःखजन्म०' इत्यादि सूत्र है ।

संक्षेपसे इसका तात्पर्य यह है—मिथ्याज्ञान ही परम्परासे संसारका कारण है । यदि मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति हो जाय, तो संसारकी भी अवश्य ही निवृत्ति हो जायगी, क्योंकि कारणकी निवृत्ति होनेपर कार्यकी अनुवृत्ति नहीं हो सकती । वह्निके न रहनेसे धूम भी नहीं रह सकता । यदि धूमका हटाना अभीष्ट तो पहले आग हटानी होगी ।

अब यह विचार करना चाहिए कि मिथ्याज्ञान नष्ट हो सकता है या नहीं ? मिथ्याज्ञान यदि जन्य है तो अवश्य विनाशी है । उसे जन्य तो सभी मानते ही हैं, किन्तु नाशके उपायके न होनेपर अथवा अज्ञात होनेपर वह नष्ट नहीं हो सकता । ये पक्ष नहीं हो सकते, कारण कि शास्त्रकारोंने तत्त्वज्ञान को मिथ्याज्ञानका नाशक बतलाया है ।

भवेदुपनिषन्नामा लाङ्गलं जीवनं यथा ।
ऐकात्म्यविषयान्नान्यो वेदान्तवचसां यतः ॥ ९ ॥

साधन है, अतः लक्षणासे हल भी जीवन कहलाता है । 'अन्नं वै प्राणाः' यह वै
दृष्टान्त भी है, अन्नके प्राणसाधन होनेसे 'अन्नं वै प्राणाः' यह कहा गया है ।

शङ्का—अवसादन और शैथिल्यकरण दोनोंको कहनेका प्रकृतमें क्या प्रयो
है । यास्कमुनिने संसारकी छः अवस्थाएँ बतलाई हैं—जिसको षड्भावे
भी कहते हैं । यथा 'उत्पद्यते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते
विनश्यति' । ( अपक्षय है—अवयवशैथिल्यरूप तदनन्तर विनाश होता है
इस वचनसे तथा सर्वलोकानुभवसे यह क्रम सिद्ध होता है कि अवयवशैथिल्य
अनन्तर सबका विनाश होता है । अतः अर्थसिद्ध अवयवशैथिल्यका निर्दे
करनेमें क्या अभिप्राय है ?

यह तो कोई नियम नहीं है, कि जिस धातुके जितने अर्थ हैं उन सबकी ए
ही कालमें उस धातुके प्रयोग-से प्रतीति होती ही है । यदि ऐसा माने, तो 'मन्द
इस प्रयोगसे एक कालमें स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गतिकी प्रती
होनी चाहिए । केवल स्तुतिके तात्पर्यसे 'मन्दते' यह प्रयोग ही नहीं होगा, बल्कि
एक समयमें उतने अर्थोंके एककर्तृक न होनेसे इस तरहके धातुओंके प्रयोग
असम्भव ही हो जायगा और एकवाक्यताकी हानि हो जायगी ।

समाधान—अवयवशैथिल्य कहनेका प्रयोजन यह है कि तत्त्वज्ञानी दो प्रकारके
होते हैं—एक जीवन्मुक्त दूसरे परममुक्त । जीवन्मुक्तमें कार्यरूपसे अविद्या बनी
रहती है, अन्यथा उसकी भिक्षादिमें भी प्रवृत्ति न होगी । तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेप
भी वह समूल और सकार्य अविद्याका निवर्तक नहीं हुआ, इस कारण विद्यामें अविद्या
निवर्त्तकत्व नहीं सिद्ध होगा । तब अविद्यानिवर्त्तक विद्याप्राप्तिके लिए अध्यात्म-शास्त्रश्रवणादिमें भी किसीकी प्रवृत्ति न होगी, इसलिए विद्याके दो कार्य बतलाते हैं—एक अविद्याशैथिल्य और दूसरा अविद्यानाश । प्रारब्धकर्मनाशसहित विद्या अविद्याकी निवर्त्तिका है और प्रारब्धकर्मसहित विद्या अविद्याकी शैथिल्यसम्पादिका है । जीवन्मुक्तमें नाशप्रतिबन्धकप्रारब्धकर्मसहित विद्यासे अविद्याका नाश न होनेपर भी नाशप्रागवस्थारूप अवयवशैथिल्य अवश्य होता है ।

प्रश्न—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' इस श्रुतिसे तथा 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन !'

इस गीतावाक्यसे यदि तत्त्वज्ञानमें सर्वकर्मनाशकत्व स्पष्ट प्रतीत होता है, तो फिर प्रारब्धकर्मका नाश क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—'तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' इत्यादि श्रुतिसे तथा 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इत्यादि स्मृतिवाक्योंसे पूर्वोक्त वचनोंका विरोध-परिहारके लिए प्रारब्धकर्मातिरिक्त कर्मनाशकत्वमें ही पूर्वोक्त वचनोंका तात्पर्य मानना चाहिए। अथवा चरम ज्ञानमें ही कर्मनाशकत्व है। उसके पूर्व ज्ञानोंमें अविद्याशैथिल्यजनकत्व ही है, नाशकत्व नहीं है। चरम ज्ञानके तात्पर्यसे 'भिद्यते' इत्यादि वाक्य है। पूर्व ज्ञानके तात्पर्यसे ही 'तस्य तावदेव' इत्यादि वाक्य है। इस तरह विषयका भेद होनेसे दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—अच्छा, तो पूर्वोक्तवचनोंके विरोधका परिहार तो संसारदशामें कर्मोंका भोगसे नाश्यत्व और मोक्षदशामें कर्मोंका ज्ञानसे नाश्यत्व माननेपर भी हो सकता है, फिर मध्यमें जीवन्मुक्तिदशा माननेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यदि जीवन्मुक्ति न मानी जाय, तो तत्त्वज्ञानोत्पादक शास्त्रोंका निर्माण ही असंभव हो जायगा, क्योंकि यदि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके समयमें ही शरीर-पात हो जाय, तो शरीर और इन्द्रियके अभावसे शास्त्रका कैसे निर्माण होगा और जिज्ञासुओंको साक्षात् भी उपदेश नहीं मिल सकेगा। अतः जीवन्मुक्तिदशा अवश्य माननी चाहिए। जीवन्मुक्तिदशामें यदि विद्या किसी तरह प्राप्त हुई है तो शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मों द्वारा पुण्य तथा पापके उदय होनेपर विहित और निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्ति और निवृत्तिसे रागादि सब दोष चित्तमें अवश्य उत्पन्न होंगे, ऐसी परिस्थितिमें 'निर्दुष्ट चित्तमें विद्या उत्पन्न होती है दुष्ट चित्तमें नहीं' यह सिद्धान्त ही असंगत हो जायगा। विवेकवैराग्यादिसे चित्तभूमि परितप्त मरुभूमिके सदृश हो जाती है। उसमें जो पुण्य और पाप उत्पन्न होते हैं वे भूँजे हुए बीजके तरह भोगाङ्कुर-जननमें असमर्थ होते हैं। जो जन्मारम्भक पुण्य और पाप होते हैं, वे ही बन्धक होनेसे दोष हैं। रागाद्यात्मक बुद्धि द्वारा जो कर्म किए जाते हैं, उन्हींसे पुण्यादि फल उत्पन्न होते हैं और जो अनाभोगात्मक बुद्धिसे किए जाते हैं, वे बन्ध्य वृक्षके समान निष्फल होते हैं। प्रवृत्त्यादि द्वारा रागादिका अनुमान करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि रागादिके बिना भी लोकानुवृत्तीच्छासे कर्मानुष्ठान होता है। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजीने गीतामें कहा है—यद्यपि मुझे कर्मफलकी इच्छा नहीं है, तथापि यदि मैं कर्मका त्याग कर दूँ तो जनता भी कर्मका त्याग कर देगी और नष्ट हो जायगी,

इसलिए मैं कर्म करता हूँ। ज्ञानी भी फलकी इच्छा न रहनेपर भी ऐसे ही कर्म करता है। और 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादि श्रुतिसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञानोत्तर विदेहकैवल्यमें देहपातमात्रका ही विलम्ब है। यदि देह रहते तत्त्वज्ञान ही नहीं होता, तो 'तावदेव चिरं' यह कहना सर्वथा असंगत हो जायगा। इतिहास और पुराणोंमें जीवन्मुक्तकी कथाएँ बहुत हैं, अतः जीवन्मुक्तोंमें अविद्याका शैथिल्यमात्र तत्त्वज्ञानसे होता है, नाश नहीं होता। सर्वात्मना अविद्याका नाश विदेहदशामें ही होता है। रागादिनाश ही अविद्याशैथिल्य है, इसलिए जीवन्मुक्ति-दशामें रागादिके सद्भावका सन्देह भी करना अनुचित है।

अच्छा तो ब्रह्मविद्या अविद्याको शिथिल करती है, अविद्यानाश करती है और शोधित आत्माको सामीप्योपलक्षित स्वस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति कराती है यह उपषित् शब्दका अर्थ सिद्ध हुआ। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि इससे यह भी प्रतीत होता है कि ब्रह्मविद्यासे किसीकी अविद्या शिथिलमात्र होती है, किसीकी नष्ट होती है और किसीको ब्रह्मस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। तथा अनेक अर्थ होनेसे वाक्य-भेद भी होता है। 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं बोधयति' इस न्यायसे एक बार उच्चरित उपनिषत्शब्दसे तीनों अर्थ प्रतीत नहीं हो सकते, इसलिए तीनों अर्थोंकी प्रतीतिके लिए तन्त्र या तीन बार उपनिषत्शब्दका उच्चारण करना पड़ेगा और अनेकार्थक भी हो जायगा इत्यादि दोष होगा एवं अभिलषित अर्थकी सिद्धि भी न होगी। उपनिषत् शब्दका अभिमत अर्थ यह है कि विद्या समूल अविद्याको शिथिल कर, प्रारब्ध कर्मसे होनेवाले भोगानन्तर उसको नष्ट कर स्वस्वरूपाभिन्न मोक्षका सात्क्षाकार कराती है, इसलिए परस्पर विशेष्यविशेषण-भावापन्नसदर्थत्रयका एक ही वाक्यार्थ मानना ठीक है। वह इस प्रकार होता है—विद्या समूल सकार्य अविद्याको शिथिल करके अन्तमें उसका विनाश कर स्वाभिन्न ब्रह्मस्वरूप मोक्षकी अभिव्यक्ति कराती है।

अब यह शङ्का होती है कि उपनिषत्से जो ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान होगा, जिसको कि समूल अविद्याका निवर्त्तक मानते हैं, वह प्रामाणिक नहीं है। कारण कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से द्वैत प्रमित है, इसलिए अद्वितीयत्वरूप विषय ही बाधित है। जैसे 'मत्कर्णकुहरं प्रविश्य सिंहो गर्जति' यह वाक्य विषयबाधसे अप्रामाणिक है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य भी अभेदके बाधित होनेसे अप्रामाणिक हैं। अप्रामाणिकवाक्यजन्य ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति कैसे हो सकती है? प्रत्युत अविद्यासे विद्याकी ही निवृत्ति हो सकती है, क्योंकि

अविद्या अनादि कालसे चली आ रही है, अतः दृढ़मूला है। अचिरोत्पन्न अद्वैतज्ञान अप्ररूढ़मूल होनेसे दुर्बल है, तथा प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाण भेदज्ञानके सहायक हैं, विद्याका सहायक केवल अद्वैताम्नायमात्र है। प्रत्यक्षादिप्रमाणके साथ विरोधके परिहारके लिए श्रुतिका द्वितीय अर्थ माना गया है। यद्यपि 'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्योंसे आदित्याभिन्न यूप, यजमानाभिन्न प्रस्तर यह अर्थ शक्तिसे प्रतीत होता है तथापि प्रत्यक्षादिसे आदित्यका भेद यूपमें और यजमानका भेद प्रस्तरमें सिद्ध होनेसे अभेद बाधित है। इसलिए जैसे आदित्यादि पदकी सदृशमें लक्षणा कर 'आदित्यके सदृश यूप है' इत्यादि अर्थ किया जाता है, वैसे ही प्रकृतमें प्रत्यक्षादिके विरोधसे विषयके बाधित होनेसे श्रुतिका अर्थान्तर ही करना चाहिए, अभेद अर्थ नहीं करना चाहिए। अतएव 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इस श्रुतिसे अज्ञानादिकी निवृत्तिदशामें जीव और परमात्माका परमसाम्य हो जाता है, क्योंकि वे दोनों चैतन्यस्वरूप हैं। अज्ञानादि ही भेदक हैं उनकी निवृत्ति होनेपर जीव ब्रह्मके सदृश हो जाता है। और 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' यह श्रुति भी इसी अर्थकी पुष्टि करती है अथवा 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य अभेदज्ञान सम्पद्रूप हैं। अपकृष्ट अवलम्बनमें उसके रूपका तिरस्कार कर उत्कृष्ट वस्तुके अभेदका ध्यान करना सम्पद्रूप ज्ञान है। ध्यानमें आलम्बनको अप्रधान कर प्राधान्येन उत्कृष्ट वस्तुके अभेदका ही ध्यान करना चाहिए। जिस तरह अपनी वृत्तिके बदौलत मन अनन्त हैं और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं, अतः अनन्तत्वसादृश्यसे मनमें विश्वेदेवाका अभेदारोप कर प्राधान्येन चिन्तन करनेसे अनन्तलोकरूप फल-प्राप्ति होती है, इसी तरह ब्रह्मभिन्न जीवमें चेतनत्वसादृश्यसे ब्रह्माभेदका आरोप कर चिन्तन करनेसे मोक्षरूप फलकी प्राप्ति हो सकती है। अथवा 'आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत' इस श्रुतिसे ब्रह्मभिन्न आदित्यकी ब्रह्मबुद्धिसे जो उपासना विहित है वह अध्यास है। अध्यास और सम्पद्में इतना ही अन्तर है कि सम्पद्में आरोप्यमाणका प्राधान्येन चिन्तन किया जाता है और अध्यासमें आलम्बनका प्राधान्येन चिन्तन किया जाता है। 'अतस्मिन् शास्त्रतस्तद्बुद्धिः' अर्थात् तद्भिन्नमें तद्बुद्धि शास्त्र द्वारा करना दोनोंमें समान होनेसे दोनों ज्ञान मिथ्या हैं। अथवा 'वायुर्वाव संवर्गः' इत्यादि वायु प्रलयकालमें पृथिव्यादिको अपनेमें लीन करता है, अतः 'संवृङ्क्ते इति संवर्गः' तथा 'प्राणो वाव संवर्गः' सुषुप्ति-

लभ्यते विषयः कश्चित्तस्मात्तद्धीस्तमोपनुत् ।
सा चात्मोत्पत्तितो नाऽन्यद् ध्वान्तध्वस्तावपेक्षते ॥ १०

कालमें वागादि इन्द्रियाँ प्राणमें लीन हो जाती हैं, अतः प्राण भी संवर्ग कहा है। संवरणक्रियाके योगसे जैसे संवर्गरूपसे वायु तथा प्राण दोनोंका होता है, वैसे ही 'बृंहयतीति ब्रह्म' इस व्युत्पत्तिसे बृंहणक्रियाकर्तृत्व जीव औ दोनोंमें है, इस कारण जीवका ध्यान भी ब्रह्मरूपसे किया जाता है । इस पक्षमें उ ब्रह्मशब्दका प्रयोग गौण है। इस कारण 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' 'एक द्वितीयम्' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान अप्रामाणिक है। भेदग्राही प्रत्यक्षादि प्रमा विरोधसे अभेदरूप जो वेदान्तविषय है, वह बाधित है; इसलिए जब वेदा वाक्यजन्य ज्ञान ही अप्रमाण है, तब इसके लिए ग्रन्थ बनाना सर्वथा असंगत इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—'ऐकात्म्यविषयात्' इत्यादि ।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे उपदिष्ट ऐकात्म्य ही वेदान्तका वि है, दूसरा कोई विषय नहीं है; अतः अद्वैतात्मज्ञान अज्ञानका निवर्तक है वह अद्वैतात्मज्ञान अज्ञान-निवृत्तिके लिए अपनी उत्पत्तिके अतिरिक्त अन्य सा की अपेक्षा नहीं करता ॥९।१०॥

[ अर्थात् 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' इस प्राचीनोंकी उक्तिसे तथा 'अज्ञातार्थज्ञा कत्वं प्रामाण्यम्' लक्षणसे भी यह निश्चय होता है कि प्रमाणान्तरसे अप्रा ब्रह्मात्मैकत्व ही वेदान्तवाक्योंका विषय है, दूसरा नहीं ।

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥'

इस श्लोकमें निर्दिष्ट उपक्रम और उपसंहारके ऐक्य आदिसे भी ज्ञात होता है कि उक्तार्थमें ही उक्त वाक्योंका तात्पर्य है, अन्यत्र नहीं है। तथाहि—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवा द्वितीयम्' इससे उपक्रम करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् तत्सत्यं स आत्मा' यह उपसंहार किया गया है, 'तत्त्वमसि' इसके नौ बारका कथन अभ्यास है। बृहदारण्यकमें भी 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' यह उपक्रम है 'अयमात्मा ब्रह्म' यह अभ्यास है, 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' यह उपसंहार है, 'स एष नेति नेत्यात्मा' यह अभ्यास है और 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' यह फल है। ऐतरेयकमें भी 'आत्मा वा इदमेक एव' यह उपक्रम है, 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म-ततमपश्यत्' यह परामर्श है, 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह उपसंहार है। आथर्वण उप-

निषत्‌में भी 'कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्' यह उपक्रम है, 'ब्रह्मैवेदम्' यह उपसंहार है। तैत्तिरीय-उपनिषत्‌में 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' 'यो वेदनिहितं गुहायाम्' यह उपक्रम है और 'यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' यह परामर्श है। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' यह उपसंहार है और 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति' यह फल है। सर्वत्र आत्मैकत्व अपूर्व है।

इस प्रकार उपक्रम और उपसंहारके ऐक्य आदिसे सब उपनिषदोंका तात्पर्य आत्मैकत्वमें ही निश्चित होता है, क्योंकि 'तात्पर्यार्थे शब्दः प्रमाणम्' यह सब विद्वानोंका सिद्धान्त है। अतः सदृशादि अर्थ माननेपर ये उपनिषद्वाक्य व्यर्थ ही हो जायँगे। गौणार्थक भी तभी हो सकेंगे जब कहीं मुख्यार्थक हों। इसी तरह संपदादिरूप अर्थमें तात्पर्य माननेपर 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंसे प्रतीयमान ब्रह्मात्मैकत्वका त्याग करनेसे स्वाभाविकाभेदान्वयबोधकत्वका भी त्याग करना पड़ेगा। रह गया प्रत्यक्षादिके विरोधका परिहार। यह तो अनेक प्रकारसे हो सकता है, उनमें प्रथम परिहार यह है कि जीव और ब्रह्मके भेदका तो प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता, कारण कि जीवके असली स्वरूपका ही प्रत्यक्ष यदि नहीं है तो ब्रह्मप्रत्यक्षकी बातका तो क्या पूछना है। सम्बन्धियोंके प्रत्यक्ष न होनेपर भेदका प्रत्यक्ष नहीं होता है। यदि कहिए कि 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' इत्यादि मानस प्रत्यक्ष सर्वजनसिद्ध है तो 'अहं गौरः' 'अहं कृशः' ऐसी प्रतीति शरीरमें भी है, अतः यह प्रत्यक्ष ही अप्रामाणिक है। इस तरह, शरीर, इन्द्रिय और मन इनसे अतिरिक्त सकलसंसारधर्मातीत आत्माका प्रत्यक्ष यदि नहीं हुआ तो फिर विरोध कैसा? यदि यह शङ्का हो कि आत्मैकत्व तब हो सकता है जब घट, पट आदि दृश्य पदार्थ भी न हों,' किन्तु यह नहीं कह सकते, क्योंकि घट, पट आदि प्रत्यक्षसिद्ध हैं। यह भी ठीक नहीं है, कारण कि प्रत्यक्षमात्रसे पदार्थकी सत्ता नहीं सिद्ध होती। प्रत्यक्ष तो शुक्ति-रजतका भी होता है, इस कारण शुक्ति-रजतकी सत्ता तो नहीं मानी जाती। जैसे शुक्ति-रजत-ज्ञानका तो 'नेदं रजतम्' इस ज्ञानसे बाध होता है, इसलिए वह मिथ्या माना जाता है। यदि वास्तविक सत्ता होती तो रजतज्ञानका बाध ही नहीं होता वैसे ही 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वाक्योंसे प्रपञ्चका भी तो बाध है, इसलिए प्रपञ्चकी भी सत्ता पारमार्थिक नहीं हो सकती।

प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः ।
ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्यागस्त्यागेनैक इति श्रुतेः ॥ ११ ॥

परीक्षिताप्रमाण्य प्रत्यक्ष अति दुष्ट है अतएव उस प्रत्यक्षका गृहीतप्रामाण्य आगमज्ञानसे बाध होना अनिवार्य है। विशेष बातें विरोधके परिहारके समय लिखी जायँगी। सारांश यह निकला कि ब्रह्मैकत्व जो वेदान्तवाक्योंका विषय है वह वास्तविक है, इसलिए तद्विषयक आगम प्रमाण है वह उत्पन्न होते ही समूल अविद्याकी निवृत्ति कर देता है। यद्यपि अविद्या प्ररूढमूला है विद्या सद्यः उत्पन्न होनेसे अप्ररूढमूला है; फिर भी अप्रमासे प्रमा बलवती होती है यह सब विद्वानोंका सिद्धान्त है। यहां तक कि बाह्य—बौद्ध लोग भी यह कहते हैं कि 'निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः' तत्त्वज्ञानका मिथ्याज्ञानसे यत्न न करनेपर भी बाध नहीं हो सकता कारण कि बुद्धिका पक्षपात तत्त्व ही में होता है, अतत्त्वमें नहीं होता, अतः ब्रह्मात्मैकत्वविषयक धी प्रमा है, इसलिए तदर्थ वेदान्तविचारके आवश्यक होनेसे ग्रन्थारम्भ भी आवश्यक ही है। आत्मैकत्वातिरिक्त वेदान्तका विषय ही नहीं है, इसलिए वेदान्तप्रामाण्यकी रक्षाके लिए वेदान्तविचारको ब्रह्मात्मैकत्वविषयक अवश्य मानना चाहिए। केवल विषयके अबाधित होनेसे ज्ञानके प्रामाण्यकी रक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि निष्प्रयोजनवत्त्व भी अप्रामाण्यका प्रयोजक है, इसलिए कहते हैं—'तद्धीस्तमोपनुत्' अर्थात् आत्मैकत्वज्ञान तमका—अज्ञानका—निवर्त्तक है। अज्ञानके निवृत्त होनेसे स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूपानन्दरूप मोक्ष परमप्रयोजन अभिव्यक्त होता है जिससे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। ]

अब यह शङ्का होती है कि यद्यपि वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्मात्मैकत्वबुद्धि हो सकती है तो भी केवल तादृश बुद्धि ही अविद्याकी निवर्त्तिका नहीं हो सकती। अन्यथा उपनिषद् ग्रन्थका अध्ययन करनेवाले जितने हैं, उन सबकी अविद्या निवृत्त हो जायगी, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता; इस कारण कर्मसहकृत विद्या अविद्याकी निवर्त्तिका है। अतः अविद्यानिवृत्ति केवल ब्रह्मविद्याका फल नहीं हो सकती। अच्छा तो कर्मको सहकारी कारण आप मानते हैं पर विद्याका फल क्या है? ब्रह्मस्वरूप साक्षात्कार तो फल हो नहीं सकता,

क्योंकि ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार नित्य है और फल होता है अनित्य। यद्यपि उत्पाद्य तथा विकार्य ये दोनों फल अनित्य हैं और संस्कार्य तथा प्राप्य नित्यानित्य साधारण हैं तथापि संस्कार्य वही होता है जिसमें क्रियाजन्य अतिशय हो सके। जैसे कि प्रोक्षणरूप संस्कारका आधार होनेसे व्रीहि संस्कार्य कर्म हैं। ब्रह्मके निर्धर्मक होनेसे कोई भी अतिशय उसमें नहीं हो सकता तथा वह प्राप्य कर्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि अप्राप्त ग्रामादि गति द्वारा प्राप्त होते हैं अतः वे प्राप्य कर्म हैं। ब्रह्म तो नित्यप्राप्त होनेसे प्राप्य कर्म नहीं हो सकता। इससे अतिरिक्त और कोई कर्म-प्रकार है ही नहीं। ठीक है, यदि ब्रह्मसाक्षात्कार ब्रह्मस्वरूप होता तो वह फल नहीं हो सकता, किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे घटसाक्षात्कार घटातिरिक्त है वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार भी ब्रह्मातिरिक्त है, अतः वह फल हो सकता है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट तो जड है अर्थात् पराधीनप्रकाश है अतः घटको अपने प्रकाशके लिए अन्य प्रकाशकी अपेक्षा होती है, परन्तु ब्रह्म तो अपराधीनप्रकाश होनेसे स्वयंप्रकाश है, अतएव ब्रह्मप्रकाश ब्रह्मस्वरूप होनेसे नित्य है, कार्य नहीं है; अतः फल भी नहीं है। यदि ब्रह्मसाक्षात्कारको ब्रह्मस्वरूपातिरिक्त भावनाप्रकर्षजन्य प्रातिभज्ञानस्वरूप मानें, तो जैसे कामिनीकी भावनाके प्रकर्षसे जन्य कामिनीका साक्षात्कार अप्रामाणिक होता है, वैसे ही भावना-प्रकर्षजन्य प्रातिभज्ञान भी प्रामाणिक नहीं हो सकता, कर्म किसका सहकारी कारण होगा ?

और यह भी विचार आवश्यक है कि ब्रह्मभावना क्या है ? यदि ब्रह्मज्ञानमात्र है, तो सकृत् ब्रह्मज्ञानसे किसीकी अविद्या निवृत्त ही नहीं होती, अतः सहकारीकारणकी चर्चा ही व्यर्थ है। यदि ब्रह्मविषयक शाब्दज्ञानसन्तति ब्रह्मभावना है, तो संशयसाधारण ज्ञानमात्राभ्याससे वस्तुस्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह संशयात्मक निरन्तराभ्यस्यमान ज्ञान 'यह स्थाणु है' अथवा 'यह पुरुष है' इन दोनों कोटियोंमें किसी भी कोटिका निर्णायक नहीं होता, इसलिए निर्विचिकित्स ब्रह्मविषयकशब्दज्ञानसन्तति ही ब्रह्मभावना है, यह मानना चाहिए। इस भावनासे ब्रह्मविषयक साक्षात्कार होता है, उस साक्षात्कारसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, यही कहना युक्ति-युक्त है, क्योंकि प्रत्यक्षात्मक भ्रमकी प्रत्यक्षात्मक प्रमाणसे ही निवृत्ति होती है। अपरोक्षदिग्भ्रम तो आप्तोक्ति द्वारा परोक्ष ज्ञान होनेपर भी निवृत्त नहीं होता। एवं बाँसमें सर्पका

भ्रम भी परोक्षज्ञानसे निवृत्त नहीं होता, इसलिए 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्य प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है। अतः जब तक त्वंपदार्थका ब्रह्मपदार्थके साथ अभे रूपसे अर्थात् परिशोधित त्वंपदार्थका ब्रह्मस्वरूपात्मकत्वरूपसे साक्षात्कार न होग तब तक जीवमें सांसारिक दुःख, शोक और मोहादिकी निवृत्ति न होगी।

अब आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि अविद्यानिवर्त्तक ब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्का कर्मका फल हो सकता है या नहीं? कर्म अप्रमाणात्मक है, अतः साक्षात्का कर्मका फल नहीं हो सकता। यह साक्षात्कार अन्तःकरणवृत्तिविशेष है, ब्रह्म स्वरूप नहीं है, अतः यही फल है, इसीको चरम तत्त्वज्ञान कहते हैं, यही समस्त प्रपञ्चका निवर्त्तक है, इसकी निवृत्ति स्वतः होती है। जैसे पङ्किल जलमें निर्मल डाल देनेसे वह पङ्कको नीचे बैठा देती है और स्वयं भी नीचे बैठ जाती है वैसे ही यह ज्ञान संसारोपादान अविद्याको नष्ट करता हुआ स्वयं भी नष्ट हो जाता है। अविद्यानिवृत्तिके लिए विद्या कर्मकी अपेक्षा नहीं करती, यह अनुमानसे भी सिद्ध है।

'ब्रह्मात्मैकत्वधीः अन्यापेक्षा न, तत्त्वधीत्वात्, शुक्तितत्त्वधीवत्' अर्थात् जैसे शुक्तितत्त्वज्ञान रजत और उसके अज्ञानकी निवृत्तिके लिए अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही उक्त विद्या भी प्रपञ्च और उसके उपादान अविद्याकी निवृत्तिके लिए अन्यकी अपेक्षा नहीं करती। इस विचार द्वारा यह सिद्ध हुआ कि मोक्षप्राप्तिका साधन केवल विद्या ही है। कर्म सहकारी कारण भी नहीं है।

अब शङ्का यह होती है कि कर्मको मोक्षसाधन ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण तो अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि श्रुतिमें लिखा है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' इत्यादि यद्यपि 'प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इस न्यायसे यज्ञादिके साधनभावका सम्बन्ध प्रधानीभूत विविदिषा ही में होना चाहिए तथापि 'असिना जिघांसति' इत्यादि प्रयोगसे हिंसासाधनत्वका सम्बन्ध तलवारमें ही प्रतीत होता है, इच्छामें नहीं, वाक्य द्वारा जिस पदार्थका जिस पदार्थमें सम्बन्ध प्रतीत होता है, उस पदार्थका उसी पदार्थके साथ सम्बन्ध करना चाहिए। कर्मसंज्ञा द्वारा भी ब्रह्मवेदनमें ही आर्थ प्राधान्य है, क्योंकि कर्ताके इष्टतमकी कर्मसंज्ञा होती है। तथा 'विद्यां चा विद्यां च यस्तद्वेदोभयं स ह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इसमें अविद्यासे वर्णाश्रमकर्म विवक्षित हैं, मृत्युका अर्थ है ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक पूर्वकर्म तीर्त्वा—अपोह्य अर्थात् नित्यानुष्ठित निरभिसन्धि

अप्रमाणभूत कर्मसे जन्य ज्ञान प्रमात्मक नहीं होगा। प्रमाज्ञान प्रमाणजन्य ही होता है। कर्मानुष्ठानके बिना भी व्युत्पन्न पुरुषको पदार्थोपस्थितिघटित शाब्द सामग्री रहनेसे शाब्दबोध होता ही है, अन्यथा नास्तिकोंको शाब्दबोध ही न होगा। नास्तिक-ग्रन्थोंके देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे ग्रन्थोंका भी अर्थज्ञान उनको उतना ही होता है जितना कि हम लोगोंको; अन्यथा वे लोग खण्डन ही कैसे कर सकते? यह बात दूसरी है कि हम लोगोंको अपने ग्रन्थोंमें प्रामाण्यग्रह होनेसे श्रद्धा आदि होते हैं उनको प्रामाण्य-ग्रह न होनेसे वे नहीं होते, किन्तु बोधमें कोई अन्तर नहीं है।

और यदि शाब्दबोधमें कर्म कारण होगा तो बड़ी आपत्ति यह उपस्थित होगी कि जब तक विधि और निषेध वाक्योंका यथार्थ ज्ञान न होगा, तब तक विहित कर्मोंका अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मोंका त्याग ही न हो सकेगा। विहित और निषिद्ध वाक्योंका अर्थज्ञान होनेसे कर्मानुष्ठान और कर्मानुष्ठान होनेपर उन वाक्योंका अर्थज्ञान इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष भी होगा। अन्योन्याश्रय होनेसे कार्यकारणभाव ही नष्ट हो जायगा।

यदि कहें कि कर्मकाण्डके वाक्योंके अर्थज्ञानमें कर्म कारण नहीं हैं, किन्तु उपनिषद्वाक्योंके अर्थज्ञानमें ही कर्म कारण हैं, तो इसमें विनिगमक क्या है? सांसारिक सुख-दुःखादिविशिष्ट जीवका सर्वज्ञ सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्मके साथ अभेद असम्भव है; अतः योग्यता-ज्ञान न होनेसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे जीव और ब्रह्मका अभेदविषयक बोध शीघ्र नहीं होता। कर्मानुष्ठानजन्य पुण्यसे जब पापकी निवृत्ति हो जाती है, तब चित्त परिशुद्ध हो जाता है, चित्तके शुद्ध होनेसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक योग्यता-ज्ञानोत्पत्ति होती है और जीव तथा ब्रह्मका अभेदविषयक बोध होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि योग्यताज्ञान जब प्रमाणजन्य होगा, तभी प्रामाणिक होनेसे प्रमात्मक शब्दबोधमें कारण होगा, क्योंकि प्रामाणिक योग्यताज्ञान ही शाब्दप्रमामें कारण होता है। अन्यथा 'वह्निना सिञ्चति' इस वाक्यसे भी अप्रामाणिक योग्यताज्ञानसे प्रमात्मक बोध होने लगेगा।

अथवा कर्म भी अतिरिक्त प्रमाण है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। इन दोनों पक्षोंमें किसी पक्षको भी मानना ठीक नहीं है, क्योंकि 'तस्मात् यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि वाक्यमें श्रुत यागादिसाधनभावका सम्बन्ध ब्रह्मज्ञानमें नहीं है, किन्तु प्रधानभूत ब्रह्मविविदिषा—ब्रह्मेच्छामें ही है, ज्ञानसे भी इच्छा शब्दतः प्रधान है।

जैसे 'राजपुत्रमानय' इस वाक्यसे राजपुत्र ही का आनयनक्रियामें अन्वय होता है। यद्यपि पुत्रकी अपेक्षासे अर्थतः प्रधान राजा है फिर भी शब्दतः प्राधान्य पुत्र हीमें है, वैसे ही यहां समझना चाहिए। याग आदि कर्मोंसे पुण्य होता है, पुण्यसे पापकी निवृत्ति होती है इसके द्वारा पुरुषका चित्त संस्कृत होता है। श्रुतिमें लिखा है—'स ह वा आत्मयाजी यो वेद इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते' अर्थात् यागादि पुण्य कर्म करनेसे पापकी निवृत्ति होती है, तदनन्तर ब्रह्मज्ञानकी इच्छा होती है, तदुपरान्त तत्त्वज्ञान होता है, इस क्रमसे 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' ध्यान मानसीक्रिया होनेसे पुरुषतन्त्र है। इच्छा करनेपर ध्यान हो सकता है, न करनेपर नहीं हो सकता, अतः 'ध्यायमानः' यह कहा है। ध्यान होनेसे तत्कारण इच्छा होती है विशुद्ध सत्त्वध्यानजनक इच्छाकी उत्पत्तिमें कारण है। इच्छा होनेसे ध्यान करता है और उसके बाद संस्कृत मनसे निष्कल अद्वैत ब्रह्मको देखता है, क्योंकि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' ऐसी श्रुति है।

सारांश यह है कि नित्यकर्मानुष्ठानसे धर्मोत्पत्ति होती है, अनन्तर पापकी निवृत्ति होती है। पाप ही अनित्य अशुचि दुःखमें नित्य शुचि सुखात्मक भ्रमको पैदाकर चित्तको मलिन करता है। पापकी निवृत्ति होनेपर जब प्रत्यक्ष तथा उपपत्तिके द्वार खुल जाते हैं, तब प्रत्यक्ष तथा उपपत्तिसे संसार अनित्य अशुचि दुःखात्मक है, यह अवश्य निश्चय होता है, इस कारण संसारसे वैराग्य होता है। तदनन्तर संसारको त्याग देनेकी इच्छा होती है। उसके बाद पुरुष संसार त्यागनेका उपाय खोजता है। खोज करनेपर यह सुनता है कि आत्माका यथार्थज्ञान ही इसका उपाय है, दूसरा नहीं है, क्योंकि 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुति है। आत्माकी जिज्ञासा करनेके बाद श्रवणादि द्वारा आत्माको जान लेता है। इस तरह परम्परया यागादि कर्म ज्ञानोत्पत्तिमें कारण हैं इसी बातको भगवद्गीता भी कहती है—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥'

अर्थात् आत्मज्ञानेच्छाका कारण कर्म है। तबतक कर्मानुष्ठान आवश्यक है जबतक ज्ञान न हो, ज्ञानोत्पत्तिके बाद कर्म करनेका अधिकार ही नहीं रहता, किन्तु कर्मत्यागपूर्वक केवल शम, दम आदि साधनयुक्त पुरुषका मुक्तिकी

कारण ज्ञाननिष्ठामें ही अधिकार है। जिन महानुभावोंका चित्त पूर्वजन्मकृत कर्मसे परिशुद्ध है, उनको इस जन्ममें कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता ही नहीं है। चित्तके शुद्ध होनेसे संसारमें आते ही संसारके असली स्वरूपका ज्ञान उनको हो जाता है, उसीसे वैराग्य होता है और ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, उनको कर्म करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती, उन्हीं पुरुषरत्नोंको लक्ष्यकर श्रुति कहती है—'यदि वा इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'। इन महाजनोंको ऋणकी निवृत्तिके लिए भी कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है। इनको ऋण होता ही नहीं, क्योंकि 'जायमानो ह वै' इत्यादि श्रुतिका तात्पर्य है—'गृहस्थः संपद्यमानः'। अन्यथा ब्रह्मवादियोंको ऋण होता तो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यासाश्रममें आ सकता है, यह कहना असंगत हो जाता, क्योंकि 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' इस स्मृतिके अनुसार जबतक पुरुष देवऋण पितृऋण, और ऋषिऋण इन तीनों ऋणों चुका न दे, तब तक वह मोक्षाधिकारी नहीं हो सकता। इन तीनों ऋणोंको चुकानेके लिए गृहस्थाश्रममें भी आनेकी आवश्यकता है। अध्ययनसे ऋषि-ऋणकी निवृत्ति होती है, पर देवऋणकी निवृत्ति तो यागादि कर्मानुष्ठानसे ही होती है, यागाद्यनुष्ठान दारपरिग्रहके बिना नहीं हो सकता। कारण कि पत्नीकर्तृक आज्यावेक्षण विहित है। होमार्थ घृतका निरीक्षण पत्नीको करना चाहिए। यदि पत्नी न रहेगी तो आज्यसंस्कार ही नहीं होगा। असंस्कृत आज्यसे याग करनेसे फल यदि न होगा तो याग ही व्यर्थ है। तथा पितृऋणकी निवृत्ति संतानोत्पत्तिसे होती है, इसके लिए दारपरिग्रह आवश्यक ही है और यज्ञो-पवीतसंस्कारसे पहिले किसी वैदिक विधि-निषेध कर्मका अधिकार भी नहीं रहता, इसलिए उत्पद्यमान त्रैवर्णिक बालक ऋणी हैं, यह कहना ठीक नहीं है। अध्ययनादिमें ऋणशब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि ऋण जैसे अवश्य चुकाना पड़ता है, वैसे ही योग्यता होनेपर अध्ययनादि अवश्य कर्तव्य है। जन्मसमयसे ही योग्यता नहीं होती, किन्तु उपनयनोत्तर होती है, अतः जायमानका उत्पद्यमान, यह अर्थ ठीक नहीं है। यहांपर ऋणशब्दका गौण प्रयोग है, ब्रह्मचर्याश्रमसे भी संन्यास हो सकता है। यदि जन्मान्तरीयकर्मानुष्ठानसे चित्त पूर्ण परिशुद्ध हुआ हो। इसलिए 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' यह श्रुति साधनचतुष्टयसम्पत्ति होनेपर आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा नहीं बतलाती, किन्तु जिस दिन पूर्ण वैराग्य हो जाय उसी दिन संन्यासी हो जाय—यह बोधन करती है। यहां पर संन्यासका तात्पर्य

नन्वभ्युदयवत्साध्या मुक्तिरप्राप्तरूपतः ।
सिषाधयिषया चाऽतोऽधिकारी न बुभुत्सया ॥ १३ ॥

आजकलके संन्यासमें नहीं है, किन्तु मोक्षाधिकारमें है। मोक्षाधिकारी होनेपर कर्माधिकार समाप्त हो जाता है, इसलिए श्रुति कहती है—'त्यागेनैकेऽमृतत्व मानशुः' अर्थात् मोक्ष त्याग हीसे होता है, कर्मादिसे नहीं। गीताके भगवद्-वाक्यसे भी यही सिद्ध होता है—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः'
'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।' इत्यादि

सब धर्मोंका त्यागकर अद्वितीयात्मचिन्तनसे समूल संसारदुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायगी, शोक मत करो इत्यादि। यह निष्कर्ष निकला कि कर्म चित्तशुद्धि द्वारा विविदिषाका कारण है, मोक्षसाधन ज्ञानका कारण नहीं है।]

**'नन्वभ्युदयवत्साध्या'** इत्यादि।

'मोक्षः कर्मसाध्यः, शास्त्रीयफलत्वात्, स्वर्गवत्' अर्थात् मुक्ति कर्मसाध्य है, शास्त्रीयफल होनेसे स्वर्गकी तरह इस अनुमानसे कर्मसाध्यत्वकी आशङ्का करते हैं। अभ्युदय—स्वर्गादि जैसे अप्राप्त है वह कर्मद्वारा ही प्राप्त होता है वैसेही मोक्ष भी अप्राप्त है अतएव इसकी भी प्राप्ति कर्मसे ही हो सकती है अन्यथा नहीं। सिषाधयिषया—उत्पिपादयिषया अर्थात् कर्मानुष्ठान द्वारा मोक्ष उत्पन्न होता है, ऐसी इच्छावाला मनुष्य मोक्षाधिकारी है न कि बुभुत्सया—ज्ञानेच्छया अर्थात् मुक्त्यभिव्यक्तिकी इच्छासे ॥ १३ ॥

[ शङ्का—जैसे स्वर्गादि फल शास्त्रीय होनेसे कार्य है, उसी तरह मोक्ष भी शास्त्रीय फल होनेसे कार्य ही है, नित्य नहीं। कार्य व्यापारके बिना नहीं होता, इस कारण मोक्ष भी स्वर्ग-सा जन्य ही है, नित्य नहीं।

यदि कहिए कि मोक्ष शास्त्रीय फल होनेपर भी अकार्य है, तो क्या हानि है? हानि यह है कि जो पुरुष जिस कर्मको अपना कार्य समझता है, वही पुरुष उस कर्मका अधिकारी कहलाता है। मोक्षके अकार्य होनेसे, उसके अधिकारीका लाभ नहीं होगा। अधिकारीके बिना मोक्षशास्त्र व्यर्थ हो जायँगे, यह अधिकारीके विवेचनके समय कह चुके हैं। केवल शास्त्र ही में

यह बात नहीं है, किन्तु लोकमें भी ऐसा ही नियम है। जो गृहनिर्माण आदि कार्यको अपना कर्तव्य समझता है, वही गृहनिर्माणकार्यका अधिकारी है। शास्त्र भी लोकन्यायानुसारी है, अन्यथा नहीं। जो पुरुष अभ्युदय-फल तथा तत्साधन नियोग—पुण्य—दोनोंको अपना कर्तव्य समझता है, वही अभ्युदयार्थ यागादि कर्मोंका अधिकारी अपनेको समझ कर यागाद्यनुष्ठान करता है। नित्य कर्मका अधिकारी वह है, जो नियोग ही को अपना कर्तव्य समझता है, क्योंकि उसका फल स्वर्गादि नहीं है, इसीसे नित्य कर्मानुष्ठानजन्य पुण्यको पण्डापूर्व कहते हैं। उस पुण्यसे सुख-दुःखादिरूप फल नहीं होता, अतः नपुंसक पुरुषके सदृश होनेसे वह अपूर्व पण्ड कहलाता है। 'क्लीवः पण्डो नपुंसके' ऐसा कोष है।

इससे यह निश्चित हुआ कि शास्त्रीय फलप्राप्ति कर्माधीन है, इसलिए स्वर्गके समान मुक्ति भी कर्मजन्य ही है, अन्यथा नहीं। केवल अनुमानसे ही यह नहीं कहते, किन्तु श्रुतिसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है—'तज्जलानिति शान्त उपासीत' 'स क्रतुं कुर्वीत' विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' 'आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतियोंमें मोक्षफलप्राप्तिके लिए आत्मज्ञानकी विधि भी देखते हैं।

समाधान—यदि मुक्ति कर्मजन्य मानी जाय तो जिस तरह साधनतारतम्यसे स्वर्गादिफल सातिशय तथा अनित्य है, उसी तरह मुक्ति भी सातिशय और अनित्य हो जायगी, तथा स्वर्ग और मुक्तिरूप फलके अधिकारियोंमें वैलक्षण्यरूप फल भी न रहेगा, क्योंकि अनित्य और सातिशय फलकी कामना दोनोंमें समान है, तो फिर कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड तथा पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाका भेद भी असङ्गत हो जायगा, क्योंकि अधिकारी और फलके भेदसे ही इनका भेद है। जब दोनोंके फल और अधिकारियोंमें वैलक्षण्य ही नहीं है तो शास्त्रभेद भी असङ्गत ही है और श्रुतियोंमें ज्ञान तथा कर्मका स्वरूप श्रेय और प्रेय भेदसे दो प्रकारका बतलाया गया है। मोक्षका साधन ज्ञान जो स्वर्गके साधन कर्मसे विलक्षण है वह श्रेय कहलाता है और स्वर्गसाधन कर्म अर्थात् मोक्षसाधनसे जो भिन्न है वह प्रेय कहलाता है। प्रायः श्रेय और प्रेय इन दोनोंके साधन ज्ञान और कर्म क्रमसे उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसाके विषय हैं, क्योंकि ये ही दोनों क्रमसे पुरुषको स्वर्गापवर्गमें बांधते हैं, 'विसिनोति बध्नाति इति विषयः' इस व्युत्पत्तिसे दोनों विषय हैं। इन दोनोंमें जो अपवर्गसाधन ज्ञानका

मैवं साध्याऽप्यसौ मुक्तिः स्वर्गवन्नैव जन्यते ।
किन्त्वभिव्यज्यते बोधात् प्रदीपेन घटो यथा ॥ १४ ॥

श्रवण, मनन आदिसे संचय करता है, वह नित्य मोक्षरूप फल पाता है और जो स्वर्गादिके लिए कर्मोंका अनुष्ठान करता है, वह सातिशय अनित्य स्वर्गादिरूप फल पाता है। आत्मज्ञानशून्य होनेसे नित्य मोक्षफलसे वञ्चित रहता है। और 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादि श्रुति भी है। इसका तात्पर्य यह है कि ऐहिक पशु, पुत्र आदि फल और पारलौकिक स्वर्गादि फल कर्मजन्य होनेसे कृषि आदिकी तरह अनित्य हैं, यह अनुमान कर अधिकारी पुरुष निश्चय कर ले कि नित्य फल मोक्ष अनित्य कर्मादि द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। अतः अनित्य फल तथा उनके साधनसे विरक्त होकर, उपनिषद्वाक्योंसे मोक्षका साधन ज्ञान ही है, दूसरा नहीं, यह जानकर समित्पाणि होकर गुरुके पास जाय। व्युत्पन्न होनेपर भी अपने-आप विचार करनेसे ज्ञानप्राप्ति नहीं होती है; क्योंकि लिखा है—'आचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् आचार्य द्वारा शिक्षा मिलनेपर ही आत्मज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। समित्पाणिका यह तात्पर्य है कि 'रिक्तहस्तस्तु नोपेयाद् राजानं देवतं गुरुम्' (राजा, देवता तथा गुरुके पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए) कुछ उपहार लेकर ही जाना चाहिए। उपहार योग्यतानुसार ही होना चाहिए। यद्यपि विरक्त श्रोत्रिय गुरुके योग्य उपहार तो हो ही नहीं सकता, तथापि निषेधपालनके लिए लकड़ी, जो सर्वत्र सुलभ है, लेकर जाना चाहिए। गुरु अधीतवेद (जिसने साङ्गवेदाध्ययन किया हो) तथा ब्रह्मज्ञानी होना चाहिए। आजकलकी तरह नहीं। वस्तुतः आजकल ज्ञानप्राप्तिके उद्देश्यसे तो गुरु किए नहीं जाते, किये जाते हैं केवल दीक्षाग्रहणके लिए ही, इसलिए वह विद्वान् ही होना चाहिए, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।]

फिर भी यह शङ्का होती है कि मुक्ति भी स्वर्गके समान साध्य ही है, क्योंकि जैसे अप्राप्त स्वर्गकी प्राप्ति यागादि कर्मोंसे होती है, वैसे ही अप्राप्त मोक्षकी प्राप्ति ज्ञानसे होती है, इसलिए साध्य दोनों हैं, साधनभूत ज्ञान और कर्ममें भले ही भेद हो।

अच्छा, अब यह बतलाइए कि मोक्षकी अप्राप्ति आप वास्तविक समझते हैं या भ्रांतिसे अप्राप्ति समझते हैं। मोक्षकी अप्राप्ति वास्तविक है, यह तो आप ही कह सकते हैं, हम ऐसा नहीं कह सकते। द्वितीय पक्षमें अनुत्पन्नकी उत्पत्ति अभिमत है या अप्राप्तिभ्रमका नाश? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है; कारण कि

तमोमात्रान्तरायत्वात्तमसो विद्यया हतेः ।
व्यज्यमानैव सा साध्येत्युपचारात् प्रयुज्यते ॥ १५ ॥

मुक्ति आत्मस्वरूप होनेसे नित्य है, अतः वह कार्य नहीं हो सकती । इसलिए अनुत्पन्नकी उत्पत्ति कहना तो नहीं बनता । इसलिए अप्राप्तिभ्रमका ध्वंस ही कह सकते हैं । जैसे किसी पुरुषके गलेमें माला विद्यमान है, किन्तु उसे वह कहीं खो गई, ऐसा भ्रम हो गया, अतः उसकी प्राप्तिके लिए वह इधर-उधर उसका अन्वेषण करता है । जब किसी दयालु पुरुषको यह ज्ञात होता है कि यह पुरुष भ्रान्तिसे दुःख पा रहा है, तब वह पूछता है—क्यों भाई, क्या खोजते हो ? क्यों दुःखी हो ? वह कहता है—भगवन् , मेरी सोनेकी माला खो गई है, इसीलिए मैं दुःखी हूँ और उसीको खोज रहा हूँ । तब कृपालु कहते हैं क्यों घबराते हो देखो न, माला तो तुम्हारे गलेमें ही है; यह सुननेपर उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है और माला मिल गई, यह समझ कर वह परम सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य द्वारा जब अपनेको शुद्ध ब्रह्मस्वरूप समझ लेता है, तब सांसारिक विविध क्लेशोंसे छुटकारा पा जाता है । स्वर्गसे मुक्तिमें यही विशेष है कि स्वर्ग सातिशय तथा अनित्य है और मुक्ति निरतिशय और नित्य है । इसीसे इनके साधन—ज्ञान और कर्म—भिन्न-भिन्न कहे गए हैं ॥१४॥

इसी तात्पर्यसे कहते हैं—'तमोमात्रान्तरायत्वात्' इत्यादि ।

तमोमात्र—अज्ञानमात्र ही अन्तराय—मुक्तिमें बाधक है । विद्यासे आवरक अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे मुक्तिकी अभिव्यक्ति होती है । इस कारण मुक्तिमें भी औपचारिक साध्यत्वका प्रयोग होता है ।

औचारिकवृत्ति गौणीवृत्ति कहलाती है । गुण-सादृश्यसे अन्यके वाचक शब्दका अन्यत्र प्रयोग होता है । जैसे 'सिंहो देवदत्तः' यद्यपि देवदत्त सिंह नहीं है, तथापि सिंहसदृश क्रूर तथा सूर है, इस तात्पर्यसे सिंहसमवेतक्रौर्यादिसदृश क्रौर्यादिका बोधन करानेके लिए औपचारिक सिंहशब्दका प्रयोग देवदत्त आदि मनुष्यमें भी देखा जाता है । जैसे घटादि कार्य कारणव्यापारसे पहले दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु कारणव्यापारके अनन्तर ही दृष्टिगोचर होता है, अतः कार्य कहलाता है, वैसे ही मुक्ति भी आत्मज्ञानसे पहले नहीं प्रतीत होती, आत्मज्ञानोत्तर प्रतीत होती है । इसलिए कार्यसादृश्यसे उपचारवृत्तिसे उसे कार्य कहते हैं ॥१५॥

चिकित्सयेव सम्प्राप्यं स्वास्थ्यं रोगार्दितस्य तु ।
आत्माविद्याहतेर्बोधात् तत्कैवल्यमवाप्यते ॥ १६ ॥
ब्रह्म वा इदमग्रेऽभूत्तदात्मानमवेत्पुनः ।
अहं ब्रह्मेति तस्मात्तत्सर्वमासीदिति श्रुतिः ॥ १७ ॥
यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येष इति श्रुतिः ।
सुषुप्तनरवच्छ्रुत्या बोध्यते प्रेर्यते न तु ॥ १८ ॥
प्रेर्यतेऽभ्युदये कर्त्ता नृतन्त्रे विधिवाक्यतः ।
किमत्र विधिना कार्यमनृतन्त्रे चिदात्मनि ॥ १९ ॥

इसी अर्थको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—**'चिकित्सयेव'** इत्यादि ।

जिस तरह रोगदशामें रोगीका स्वास्थ्य अभिभूत होनेसे ठीक नहीं है, ऐसा लोग कहते हैं, किन्तु चिकित्सा करनेपर जब अभिभावक रोग निवृत्त हो जाता है तब लोग कहते हैं—स्वास्थ्यका लाभ हुआ । परन्तु अलब्धस्वास्थ्यका लाभ नहीं हुआ, पूर्व भी स्वास्थ्य था, उसीकी रोगनिवृत्तिसे अभिव्यक्ति हुई । उसी तरह अज्ञान-निवृत्तिसे मुक्तिकी अभिव्यक्ति होती है ॥१६॥

मुक्तिके आत्मस्वरूप होनेसे वह नित्य प्राप्त ही है, इसमें प्रमाण कहते हैं—**'ब्रह्म वा'** इत्यादिसे । 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' (सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् केवल ब्रह्मरूप ही था) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म होकर ही ब्रह्मको प्राप्त होता है) 'तदात्मानमवेत्' (अपने स्वरूपभूत आत्माको पहिचाने ) 'अहं ब्रह्मास्मि' ( मैं ब्रह्म हूँ ) 'तत् सर्वमासीत्' ( सब ब्रह्म ही था ) इत्यादि श्रुतियाँ तथा 'यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ( ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है ) इत्यादि श्रुतियाँ मुक्तिको स्वयंप्राप्त नित्य आत्मस्वरूप ही बतलाती हैं, परन्तु विशेष यह है कि जैसे सुषुप्त पुरुष पार्श्वस्थित पुरुष द्वारा हाथसे हिलाकर जगाया जाता है, प्रेरित नहीं किया जाता, वैसे ही 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियोंसे जीवात्माको अपने स्वरूपकी अवगति कराई जाती है, अर्थात् तुम संसारी जीव नहीं हो, किन्तु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही हो, इस प्रकार उसको ज्ञान कराया जाता है, कोई अपूर्व कार्य नहीं कराया जाता है, यह भाव है ॥१७, १८॥

शङ्का—जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गकी अभिलाषा करनेवाला यज्ञ करे) इत्यादि श्रुतियोंसे स्वर्गसाधन यज्ञका विधान किया जाता है, वैसे ही 'प्रज्ञां कुर्वीत'

जिज्ञासोरधिकारोऽतो न सिषाधयिषोरिति ।
सुस्थमेतदथैतस्य दार्ढ्यायैव मतान्तरम् ॥ २० ॥
पर आहात्मनः स्वास्थ्यं श्रेयो यद्यभिवाञ्छसि ।
कर्मभ्य एव तत्सिद्ध्येच्छ्रुतत्वात् कर्मणः श्रुतौ ॥ २१ ॥

इत्यादि श्रुतियोंसे प्रज्ञाका अर्थात् ब्रह्मज्ञानका विधान किया जाता है, ऐसी अवस्थामें ब्रह्मज्ञानका विधान नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—यह ठीक है, परन्तु कर्मोंके पुरुषतन्त्र होनेके कारण उनका अनुष्ठान या विधान हो सकता है, परन्तु ज्ञान तो पुरुषतन्त्र नहीं है, अतः उसका विधान नहीं हो सकता, इसलिए यद्यपि 'प्रज्ञां कुर्वीत' इस प्रकार विधि श्रुत है, तथापि वह विधि ब्रह्मज्ञानमें प्रयोजक पदार्थविवेकके लिए है, न कि ब्रह्मज्ञानके लिए । इसीको 'प्रेर्यतेऽभ्युदये' इत्यादिसे कहते हैं—

श्लोकका तात्पर्य यह है कि अपुरुषतन्त्र अभ्युदयमें अर्थात् पुरुषार्धीन स्वर्गादि अभ्युदय फलके लिए विधिवाक्यसे पुरुष प्रेरित किया जाता है, पुरुषतन्त्र चिदात्मामें विधिका क्या प्रयोजन है ? अर्थात् उसमें विधिकी सम्भावना हो ही नहीं सकती ॥ १९ ॥

आत्मज्ञानकी जब विधि है ही नहीं, तो यही फलित होता है कि वेदान्तमें तत्त्वजिज्ञासुका ही अधिकार है सिषाधयिषुका नहीं, यद्यपि यह विषय निश्चित है, तथापि इस विषयकी अधिक दृढ़ताके लिए निम्नलिखित ग्रन्थसे मतान्तर भी कहते हैं ॥ २० ॥

'नष्टाश्वदग्धरथवत्' न्यायसे अर्थात् जैसे अपने-अपने रथको लेकर युद्धमें गये हुए दो योद्धा रथियोंमें से एकके घोड़े और दूसरेका रथ नष्ट हो गया । दोनों गतिशून्य हो गये । सामनेसे शत्रुका भय है । ऐसी अवस्थामें जिसके पास घोड़े हैं उसको रथकी आवश्यकता है और जिसके पास रथ है उसको घोड़ोंकी आवश्यकता है । वे दोनों योद्धा आपसमें एकमत होकर एकके घोड़े और दूसरेके रथसे अपना काम कर लेते हैं । और दोनों रथी हो जाते हैं और युद्धमें विजय पाते हैं, इसी तरह प्रकृतमें नित्य कर्मोंके बोधक वाक्योंकी मोक्षफलबोधक वाक्योंके साथ एकवाक्यता होनेपर दोनों वाक्य अनुष्ठेयार्थके प्रकाशक होनेसे सार्थक हो जाते हैं, इसलिए मोक्षको जन्य ही

आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम् ।
नहि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः ॥ ३७ ॥
न तु कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यमेवात्मसंसृतिः ।
न तु तच्छक्तिरित्यात्मा मुक्तः स्याच्छक्त्यवस्थितौ ॥ ३८ ॥

यदि द्वितीय पक्ष कहिए कि आत्मामें कर्तृत्वरूपयोग्यता है, तो मुक्तिकी इच्छा मत कीजिए, यह भी कह चुके हैं ।

क्योंकि पदार्थोंके स्वभावोंकी निवृत्ति नहीं होती । रविमें औष्ण्य अर्थात् गर्मीकी निवृत्ति कभी कहीं नहीं देखी गई है । ऊष्माके निवृत्त होनेसे तो रवि ही नष्ट हो जायगा, निःस्वभाव हो जायगा ॥ ३७ ॥

[तात्पर्य यह है कि जो निःस्वभाव है, वह आकाशके फूलकी तरह अत्यन्तासत् है, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि विशेष कारणसे स्वभावकी प्रच्युति भी कहीं-कहीं देखी गई है । जिस तरह मणि, मन्त्र, औषध और जल आदिसे अग्निमें उष्णभावकी निवृत्ति होती है, पर अग्निका नाश नहीं होता, उसी तरह आत्मज्ञानसे आत्मस्वभाव कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थमूलकी निवृत्ति हो सकती है और अग्निकी तरह आत्मा भी सुखदुःखादि वैषयिक अनर्थसे शून्य रह सकता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मणि, मन्त्र आदि द्वारा अग्निमें गर्मीका नाश नहीं होता; किन्तु दाह, फोड़ा आदि कार्योंकी केवल उत्पत्ति नहीं होती है । उष्णता रहती है, इसीसे जिसके हाथमें जड़ीका लेप है उसीका हाथ अथवा और कोई अंग, जहांपर लेप हुआ है, नहीं जलता और दूसरोंका जिनमें जड़ीका सम्बन्ध नहीं है उनका हाथ जलता ही है । मन्त्रमें यह विलक्षण शक्ति देखी गई है । जिसके उद्देश्यसे और जब तकके लिए दाह न होनेका संकल्प कर मन्त्र पढ़ा गया हो, उस वस्तुका तब तक दाह न होगा, किन्तु वस्त्वन्तरका—दूसरी वस्तुका—उसी कालमें और उसी वस्तुका कालान्तरमें अवश्य दाह होगा । यदि अग्निकी स्वभावभूत उष्णता नष्ट हो जाती, तो दाह कैसे होता ? प्रतिबन्धकके न रहनेपर सर्वानुभवसिद्ध है कि आगन्तुक कोई कारणान्तर भी नहीं देख पड़ता, जिससे यह भी कह सकें कि पूर्व उष्णताका नाश तो अवश्य हो गया, किन्तु नवीन उष्णता उत्पन्न हो गई है । इसकी शक्ति विलक्षण है । किसीका नाश, दाह, फोड़ा आदि कार्य करती है, किसीका नहीं । यदि अग्निस्वरूपको ही उत्पादक मानें, तो प्रतिबन्धदशामें

**नैवं शक्तेरवस्थाने तत्कार्यस्याऽनिवारणात् ।**
**शक्तिस्वरूपहाने तु शक्तिमद्वस्तुनिह्नुतिः ॥ ३९ ॥**

भी अग्निस्वरूप है । प्रतिबन्धकी अदशामें भी वही स्वरूप है । यदि स्वरूपमें वैलक्षण्य नहीं है, तो फिर कार्यशक्तिमें वैलक्षण्य कहांसे आवेगा ? प्रतिबन्धकमें शक्तिनाशकत्वरूप प्रतिबन्धकत्वका ही व्यवहार होता है, शक्त्युत्पादकत्वरूप करणत्वका व्यवहार नहीं होता, इत्यादि संक्षेपसे कहा गया है । इससे यह सारांश निकला कि पदार्थके स्वभावका नाश पदार्थके रहते नहीं होता, इस कारणसे कर्तृत्व आदि यदि आत्मस्वरूप होंगे, तो उनकी निवृत्ति न होगी, फिर मुक्तिकी संभावना ही क्या ॥ ३७ ॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वरूप कार्य ही संसार है, कर्तृत्वादि निरूपित शक्ति संसार नहीं है, अतः मुक्तिदशामें कर्तृत्वादिरूप कार्य ही नष्ट होते हैं, तन्निरूपित शक्ति रहती है, क्योंकि शक्तिस्वभाव ही आत्मा है; इस शङ्कापर कहते हैं—

**'न तु कर्तृत्वे'** इत्यादि ॥३८॥

शक्तिस्वभाव होनेपर मुक्त हो सकता है, इस पक्षमें दोष कहते हैं—

**'नैवं शक्तेः'** इत्यादि ।

शक्तिके रहनेपर कर्तृत्वादिकार्यकी निवृत्ति नहीं होती, और शक्तिके नाश होनेपर तो शक्तिमद्वस्तुका भी नाश अवश्य हो जाता है ।

तात्पर्य यह है कि शक्ति, शक्तिमान् तथा शक्तिशक्य—कार्य—इनका परस्पर भेद है या अभेद ? यदि भेद कहें, तो जैसे गौ और घोड़ेका परस्पर भेद प्रतीत होता है, वैसे ही यह शक्ति है, ये उसके कार्य कर्तृत्वादि हैं, ऐसा प्रत्यक्ष होना चाहिए; किन्तु शक्ति और शक्यका भेद प्रत्यक्ष नहीं होता । यदि कहिए कि गौ और घोड़े दोनों प्रत्यक्षके योग्य हैं, इसलिए इनके भेदका प्रत्यक्ष होता है, परन्तु शक्ति प्रत्यक्षकी योग्य नहीं है, इसलिए शक्ति और शक्यका भेद प्रत्यक्ष नहीं होता, तो उसके प्रत्यक्ष न होनेपर घटशक्तिका घटके साथ शक्तिशक्यभाव ही नहीं होगा । जैसे गौका अश्वके साथ शक्यशक्तिभाव नहीं है, वैसे ही स्वशक्तिके साथ भी शक्यश——— नहीं रहेगा, अत्यन्त भेदके होनेपर शक्तिशक्यभाव सम्बन्ध नहीं गौका अश्वके साथ भी शक्यशक्तिभाव संबन्ध हो

अथ कार्यानभिव्यक्तिनिमित्तासम्भवान्न तत् ।
धर्मादेः शक्तिरूपेण सम्भवः केन वार्यते ॥ ४० ॥

होनेपर भी शक्यशक्तिका कार्यकारणभाव सम्बन्ध है, इसलिए शक्यशक्तिभाव होता है, गौ और अश्वका कार्यकारणभाव सम्बन्ध नहीं है, अतः शक्यशक्तिभाव भी नहीं है, तो यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अत्यन्त भेद रहनेपर अश्व और महिषका जैसे कार्यकारणभाव नहीं होता, वैसे ही शक्यशक्तिका भी कार्यकारणभाव नहीं होगा। और अभेद माननेपर भी कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्ववर्त्ती कारण होता है। और स्वयं स्वका पूर्ववर्ती नहीं हो सकता, क्योंकि स्वोत्पत्तिक्षणसे पहले स्वकी स्थितिका संभव नहीं है। स्वयं कारणतापक्षमें यह भी दोष है कि 'अकुर्वत्' ( जो कुछ नहीं कर रहा है, वह) भी कारण कहलावेगा है और जो नहीं कर रहा है (वह भी कार्य कहलावेगा अर्थात् शक्तिसे अभिन्न होनेके कारण शक्ति जैसे शक्तिका कारण नहीं है, वैसे ही अभेद होनेसे कार्यका भी कारण नहीं हो सकेगी। अत्यन्ताभेद होनेसे कार्यकारणभाव बन ही नहीं सकता। और यह भी दोष होगा कि कार्यका नाश होनेपर कार्यसे अभिन्न शक्ति भी नष्ट हो जायगी। शक्तिका नाश होनेपर हानि क्या है? जब कार्य आगे इष्ट ही नहीं है, तो शक्ति रहे या न रहे कुछ फल तो है नहीं? यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि यदि शक्तिका नाश हो, तो शक्तिमान्‌का—कारणका —भी नाश हो जायगा। जैसे कार्यसे शक्तिका अभेद होनेपर कार्यके नाशसे शक्तिनाशका प्रसंग होता है, वैसे ही शक्तिसे शक्तिमान्‌का भी अभेद है। अतः शक्तिके नाशसे शक्तिमान्‌का भी नाश अवश्य प्रसक्त होगा। सारांश यह है कि कार्यनाश होनेपर कार्याभिन्न शक्तिका नाश होगा, शक्ति आत्मस्वभाव है। स्वभावकी, जब तक आश्रय रहेगा तब तक, अनुवृत्ति होती है। स्वभावके नष्ट होनेपर आत्मा निःस्वभाव हो जायगा। निःस्वभावका तात्पर्य यह है कि अभाव अर्थात् आत्माका अभाव होनेसे मुक्ति फल ही किसके लिए होगा? आत्माको शक्तिस्वभाव या कार्यस्वभाव माननेपर ये दोष हैं, अतः इन दोनों पक्षोंका त्यागकर पक्षान्तरका आश्रयण करते हैं ॥३९॥

शक्ति तथा उसके कार्यका नाश मुक्ति नहीं है, किन्तु कार्यकी अनभिव्यक्ति मुक्ति है। कार्यकी अनभिव्यक्ति सुषुप्तिकालमें भी होती है, क्या वह भी मुक्ति है?

तस्मात् कर्तृस्वभावस्य दुर्लभा मुक्तिरात्मनः ।
साधनं च निषिद्धादिवर्जनं दुःशकं तथा ॥ ४१ ॥

नहीं, क्योंकि सुषुप्तिकालमें यद्यपि कार्य अनभिव्यक्ति है, किन्तु कारण धर्माधर्मादि रहता है, इसलिए फिर कार्याभिव्यक्ति हो जाती है, अतः आत्यन्तिक अनभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिए वह मुक्ति नहीं है। मुक्तिकालमें अदृष्टका नाश होनेपर फिर कार्यकी अभिव्यक्ति नहीं होगी, इस पक्षमें भी दूषण देते हैं—'**धर्मादेः**' इति । शक्तिरूपसे अदृष्ट मोक्षकालमें भी रहता ही है, तो फिर कार्याभिव्यक्ति क्यों नहीं होगी ? कार्य और शक्तिके आत्मस्वभाव होनेसे इन दोनोंका नाश तो होता नहीं । कार्याभिव्यक्तिकी सामग्री रहनेपर कार्याभिव्यक्ति रुकती नहीं । यदि यह कहिए कि हेतु और फल दोनों अव्यक्तस्वरूप हैं, इसलिए इनका सम्बन्ध ही नहीं है, अतः मुक्तिकालमें शक्तिके रहनेपर भी कार्याभिव्यक्ति नहीं होती । तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि धर्माधर्मादिका जैसे समवाय सम्बन्ध है, एवं शक्तिका जैसे आत्माके साथ समवाय सम्बन्ध है वैसे ही कर्तृत्वादिके साथ यदि समवाय सम्बन्ध है, तो फिर मुक्तिदशामें कार्याभिव्यक्ति क्यों नहीं होगी ? जैसे संसारदशामें आत्मा है, उसमें समवायसम्बन्धसे अदृष्ट है और कर्तृत्वादि शक्ति है, इसलिए संसारानुभव होता है वैसे ही मुक्तिदशामें भी यदि आत्मा है, धर्मादि है और कर्तृत्वादिशक्ति है, तो संसारानुभव क्यों न होगा, अतः कर्तृत्वादिशक्तिके रहनेपर मुक्तिकी आशा रखना व्यर्थ है । यदि सामग्रीके बिना कर्तृत्वादि मानें, तो भी मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सामग्रीके अधीन होनेपर तो कदाचित् सामग्रीकी निवृत्ति होनेसे कर्तृत्वादिकी निवृत्ति भी हो सकती है, जैसे गर्मीमें जाड़ेकी सामग्री नहीं रहती तो जाड़ा भी नहीं रहता अर्थात् जाड़ेकी भी निवृत्ति हो जाती है । यदि कारणके बिना कर्तृत्वादि रहेगा, तो उसकी निवृत्ति नहीं हो सकेगी, जैसे कि आत्माकी निवृत्ति कभी नहीं होती, क्योंकि आत्माका कोई कारण नहीं है । और यह भी दोष होगा कि कर्तृत्वादिकी उत्पत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि कारणके बिना किसीकी उत्पत्ति नहीं होती; अन्यथा आत्माकी भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी ॥ ४० ॥

इसी पूर्वोक्त आशयसे कहते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादि । यदि आत्मा कर्तृस्वभाव है, तो मुक्ति दुर्लभ ही है । यदि कहिए कि संसारके कारण निषिद्धका अकर्मके अनुष्ठानके त्यागनेसे शरीरारम्भ ही न होगा, तो संसारनिवृत्ति ही हो जायगी

सूक्ष्मापराधसंदृष्टेरतियत्नवतामपि ।
निषिद्धकाम्ये निःशेषे वर्जयेन्निपुणोऽपि कः ॥ ४२ ॥

फिर तत्त्वज्ञानरूप उपायकी आवश्यकता नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि निषिद्धके—अकर्मके—अनुष्ठानका त्याग बड़े-बड़े विद्वानोंसे भी नहीं हो सका और न हो सकता हैं, साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है ? ॥४१॥

इसी अभिप्रायसे लिखते हैं 'सूक्ष्मा०' इत्यादि। बड़े-बड़े ज्ञानियोंसे भी सूक्ष्म अपराध हो ही जाता है। संपूर्ण निषिद्ध और काम्य कर्मोंका त्याग प्रयत्न करनेपर भी कोई नहीं कर सकता।

शङ्का—निःशेष काम्य और निषिद्ध कर्मोंका त्याग कोई नहीं कर सकता, यह हम लोगोंका कहना ठीक नहीं है, कारण कि इतनी बड़ी पृथिवी तथा अति-महान् काल है। शायद किसी कालमें किसी स्थलमें ऐसा मनुष्य हो या हो सके जो निःशेष निषिद्ध और काम्य कर्म का त्याग कर सके। हम लोग सर्वज्ञ तो हैं ही नहीं, जो यह निश्चय कर लें कि कोई ऐसा हो ही नहीं सकता। और निर्मूल कल्पना किसी कामकी नहीं होती।

उत्तर—हां ! ठीक है, विश्वमें ऐसा कोई हो ही नहीं सकता, इस हमारी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है, परन्तु ऐसा कोई हो सकता है, इस कल्पनामें भी तो कोई प्रमाण नहीं है, अतः इसमें सन्देह होता है। सन्देहसे भी प्रवृत्ति नहीं होती, थोड़े श्रमसे सिद्ध होनेवाले कार्यमें, उपायमें सन्देह होनेपर भी परीक्षा तथा मनोविनोदके लिए, प्रवृत्ति हो भी सकती है; किन्तु अन्तमें यदि अनेकजन्मायाससाध्य गुरुतर कार्योंमें सन्देह हो, तो प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। जिस उपायमें किसीकी प्रवृत्ति न हो, उस उपायका उपदेश बाहुसे समुद्र तैरनेके उपदेशकी तरह व्यर्थ है। यदि कहिए कि निःशेष निषिद्ध-काम्यवर्जन मुक्तिका साधन है या नहीं ? यह संशय तो होता है। संशयमें कोटिद्वय अर्थात् साधनत्व और तदभावका बोध अवश्य होता है। कहीं रहनेपर अन्यत्र संशय होता है। जो कहीं नहीं है उसका संशय भी नहीं होता। खपुष्प है अथवा नहीं ? यह संशय कहीं किसीको कभी नहीं होता। इसलिए किसी निष्पाप पुरुषमें उक्त कर्मत्याग ही मोक्षसाधन है। यह संशयानुरोधसे मानना पड़ेगा। यद्यपि अमुक पुरुष ऐसा है, यह विशेषरूपसे नहीं कह सकते; फिर

**मुमुक्षुः काम्यपापे द्वे वर्जयेदिति चोदना।**
**नाऽस्ति वेदे क्वचिद्येन वचनात्तत्प्रकल्प्यते ॥ ४३ ॥**

भी पुरुषरत्न ऐसा कोई हो सकता है, जिसकी मुक्ति त्याग ही से हो सकती है। ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा माननेमें कोई दोष नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दोष यह है कि प्रत्यक्ष संशयमें यह नियम हो सकता है कि कहीं प्रसिद्धका ही संशय होता है, अप्रसिद्धका नहीं; किन्तु शाब्दसंशयमें यह नियम नहीं है। शाब्दज्ञान तो अत्यन्तासत्का भी होता है। 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' यह न्याय है। इसी कारणसे—विमतं क्वचित्सिद्धम् संशयकोटित्वात्, संमतवत्—यह अनुमान भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान निश्चायक होता है; संशायक नहीं होता है।

और अनुमानसे सिद्ध होनेपर वह संशयका विषय नहीं हो सकता। 'संदेहविषयो निश्चयविषयः' यह कहना अयुक्त है, इसको व्याघात कहते हैं। लौकिक फल कृषि आदि कर्म सन्दिग्ध होनेपर भी उपदेशयोग्य हैं, पर मोक्ष-साधन निश्चित ही उपदेशयोग्य है, सन्दिग्ध नहीं।

यदि शङ्का करें कि पारलौकिक फलके लिए सन्दिग्ध कर्मका उपदेश नहीं है, तो तप्तशिलारोहणादिसे भी मुक्ति होती है, ऐसा बौद्धादि शास्त्रोंमें उपदेश कैसे हुआ? सो ठीक नहीं है, क्योंकि तप्तशिलारोहण मुक्तिसाधन है, यह तो श्रुत्यादिप्रमाणसे सिद्ध नहीं है; अतः यह उपदेश अप्रामाणिक है। प्रामाणिक लोगोंका ऐसा उपदेश नहीं हो सकता। जो जिस कार्यको करनेमें समर्थ है, वही उस कार्यमें अधिकारी है असमर्थ नहीं। यह सामर्थ्यरूप शक्ति आख्यात—लिङ् द्वारा प्रतीत होती है। और ऐसा कहीं विधिवाक्य नहीं देखते कि 'मोक्षकामः काम्यादि वर्जयेत्'। यदि ऐसा वाक्य होता, तो यह कल्पना कर सकते कि मनुष्यमें भी ऐसी शक्ति हो सकती है; अन्यथा मनुष्योंके लिए यह उपदेश ही व्यर्थ हो जायगा ॥ ४२ ॥

मुमुक्षु—मोक्षार्थी—काम्य—स्वर्गादिफलक यागादि—और पाप—सुरापानादि—निषिद्ध कर्म—इन दोनोंका त्याग करे, ऐसा कहीं वेदमें वचन नहीं है। अगर होता, तो यह कल्पना भी कर सकते कि मनुष्यमें निःशेष कर्मत्यागकी हो सकती है, अन्यथा यह वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा।

काम्यादिवर्जनं चैतत्स्वकपोलप्रकल्पितम् ।
अतः प्रामादिकात् काम्यान्निषिद्धाच्च पुनर्जनिः ॥ ४४ ॥

यद्यपि 'मोक्षार्थी काम्यादि वर्जयेत्' ऐसी प्रत्यक्ष श्रुति नहीं है, तथापि—

'मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ॥'

इस स्मृतिवाक्यसे उक्तार्थक श्रुतिका अनुमान हो सकता है। जैसे 'अष्टका कर्तव्या' इस स्मृतिवाक्यसे श्रुतिका अनुमान होता है। अन्यथा धर्म अतीन्द्रिय है, इसलिए पौरुषेयवाक्य स्वतः धर्ममें प्रमाण नहीं हो सकता। इस सन्देहसे यदि अष्टकानुष्ठान ही नहीं होगा, तो तद्बोधक स्मृति भी अप्रमाण हो जायगी। इस लिए स्मृतिप्रामाण्याधिकरणमें लिखा है—'विरोधे ह्यनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानं स्यात्'। यदि प्रत्यक्ष श्रुतिसे विरुद्ध स्मृतिवाक्य हो, तो वह अनपेक्ष है, अर्थात् अप्रमाण ही है। जैसे 'औदुम्बुरी सर्वा वेष्टयितव्या' यह स्मृतिवाक्य है 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्' यह श्रुति है। यदि उदुम्बरकी शाखा सम्पूर्ण रक्त वस्त्रसे वेष्टित कर देंगे, तो उद्गानके समय उसका स्पर्श नहीं हो सकेगा, अतः सर्ववेष्टनकी प्रतिपादिका स्मृति प्रत्यक्षश्रुतिसे विरुद्ध है, अतः यह स्मृति सर्ववेष्टनश्रुतिका अनुमान नहीं करा सकती। विरोध न रहनेपर अनुमान होता है। जैसे कि अष्टकाविधायक स्मृतिसे श्रुतिका अनुमान होता है। क्योंकि स्मार्तवाक्य पौरुषेय है, अतः वह धर्ममें साक्षात् प्रमाण नहीं हो सकता। उसी तरह उक्त स्मृतिसे श्रुतिका अनुमान कर अनुमित श्रुतिमूलक स्मृति है यह कह सकते हैं। स्मृतिमूलक मदुक्त वाक्य प्रमाण हो सकता है, यदि प्रत्यक्ष श्रुतिविरोध न होता। 'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते, तमेव विदित्वा अतिमृत्यु-मेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि प्रत्यक्षश्रुतिसे विरुद्ध उक्त स्मृति है। अतः अनपेक्ष है, अतः तन्मूलक आपका वाक्य भी अप्रमाण ही है। 'आचाराच्च स्मृतिं ज्ञात्वा स्मृतेश्च श्रुतिकल्पनम्' इत्यादि स्मृतिवाक्य प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धातिरिक्त विषयक है जैसे कि होलिकोत्सवादि ॥४३॥

इस तात्पर्यसे कहते हैं—'काम्यादिवर्जनम्' इत्यादि।

'मुमुक्षुः काम्यादि वर्जयेत्' इस वाक्यका मूल आपकी कल्पना ही अर्थात् उक्त कल्पनामें कोई श्रुति प्रमाण नहीं है, इसलिए निषिद्ध और

अथाऽपराधो यस्याऽस्ति जायतामेष यस्य तु ।
नाऽपराधो मुच्यतेऽसाविति चेद्वर्धतां भवान् ॥ ४५ ॥
सापराधत्वतो मुक्तिः सन्दिग्धैव प्रसज्यते ।
द्विजातीनां खरादेस्तु त्वदुक्त्या स्यादसंशयम् ॥ ४६ ॥

काम्यका वर्जन अशक्य है, इस अवस्थामें प्रमादसे, काम्यसे और निषिद्धाचरणसे पुनर्जन्म ही होगा, उसका निवारण हो ही नहीं सकता ॥ ४४ ॥

साधारण पुरुष निषिद्धादिके आचरणसे जन्मान्तरका ग्रहण भले ही करे, परन्तु जिस विशिष्ट पुरुषके अपराध नष्ट हो चुके हैं, उसको मुक्ति हो सकती है, क्योंकि—

'यान्यतोऽन्यानि जन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत् ।
यत्कृत्यं पुरुषेणेह नाऽन्यथा ब्रह्मणि स्थितिः ॥'

( जिस पुरुषकी ब्रह्ममें स्थिति अर्थात् आत्मैकत्वबुद्धि हो गई है, उस पुरुषने—वर्तमान जन्मसे अन्य जो पूर्व जन्म हो चुके हैं, उनमें निश्चित शुभ कर्मोंका अनुष्ठान किया है। अन्यथा ब्रह्ममें उसकी स्थिति न होती ) इस अर्थमें उक्त वचन प्रमाण है, इसलिए कहते हैं—**'अथापराधो'** इत्यादि ।

जो पुरुष प्रमाद आदिसे मुमुक्षु होनेपर भी काम्यादि कर्मका अनुष्ठानरूप अपराध कर लेता है, उसकी मुक्ति भले ही न हो; किन्तु जिसने ऐसा अपराध नहीं किया है, उसकी मुक्ति ज्ञानके बिना भी हो जाती है, यदि ऐसा कहते हो, तो तुम्हारा कल्याण हो परन्तु ऐसा कौन हो सकता है कि जिससे प्रमादादि दोष कभी न हुए हों, क्योंकि भ्रमप्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव ये दोष तो पुरुषमें रहते ही हैं। इन दोषोंसे सर्वथा शून्य तो कोई हो ही नहीं सकता, अतः सब को अपनेमें सापराधत्व की शङ्का रहती ही है। और सापराधकी मुक्ति तो संदिग्ध ही रही ॥ ४५ ॥

ठीक है, सापराधकी मुक्ति तो सन्दिग्ध ही रही, किन्तु मनुष्यमात्रमें अपराधकी शङ्का तो रहेगी ही, अतः मुक्तिमें असंदिग्ध अधिकार आपके मतसे गर्दभादिको ही हो सकता है, क्योंकि प्रमादादिसे काम्यकर्मानुष्ठान वे नहीं कर

नित्यस्य फलमिष्टं चेदुपात्तदुरितक्षयः ।
तथाऽपि काम्यपुण्यानां क्षयो नाऽदुरितत्वतः ॥ ४७ ॥
उपपातकमल्पं चेत् क्षीयतां नित्यकर्मणा ।
अनन्तदेहहेतूनां हत्यादीनां कुतः क्षयः ॥ ४८ ॥

सकते, तात्पर्य यह है कि किसीकी मुक्ति नहीं होगी। प्रकृतमें गर्दभादिका निर्देश उपहासार्थ है ॥ ४६ ॥

यदि नित्यकर्मानुष्ठानका फल पूर्वजन्मार्जित दुरितक्षय मानते हो, तो भी पूर्वजन्ममें किये हुए सुकृतका नाश तो नहीं हो सकता; क्योंकि सुकृत तो दुरित नहीं है ॥ ४७ ॥

नित्यकर्मके अनुष्ठानसे पूर्व पापका नाश हो, परन्तु सब पापोंका नाश नहीं हो सकता, कई दुःशरीरके आरम्भके कारण जो ब्रह्महत्यादि पाप हैं, उनकी निवृत्ति उक्त कर्मसे नहीं हो सकती, कारण स्मृतियोंमें ऐसा लिखा है कि ब्रह्म-हत्यापाप अनेक जन्म तथा अनेक शरीरसे भोगना पड़ता है, क्योंकि इस विषयमें—

'श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।
चाण्डालपुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥'

इत्यादि वचन प्रमाण हैं, अतः इन पापोंकी निवृत्ति नित्यकर्मानुष्ठानसे नहीं होगी, इसलिए मुक्तिकी आशा नहीं करनी चाहिए, सुकृत और दुष्कृतके जो लक्षण आपने किये हैं, वे ठीक नहीं हैं। यदि विहित ही सुकृत हो, तो 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस श्रुतिवाक्यसे विहित श्येनयाग भी है, अतः वह भी सुकृत हो जायगा। यदि कहें कि श्येन विहित नहीं है, क्योंकि विधि इष्टसाधनकी होती है, अनिष्टसाधनकी नहीं, उक्त याग नरकनिपतनादि बल-वदनिष्टका साधन है। यद्यपि कर्ताको तत्कालमें शत्रुवध इष्ट है, अतः तत्साधन श्येनयाग भी इष्ट है, अतः उसकी विधिकी शङ्का हो सकती है, तथापि बलवदनिष्टसे रहित इष्ट प्रकृतमें विवक्षित है, श्येनयाग बलवदनिष्टसे विशिष्ट है, रहित नहीं है, अतः श्येनयागमें विधि नहीं हो सकती। यदि विधि नहीं है, तो 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस वाक्यका क्या अर्थ है? अर्थ यह है कि शत्रुमें जिसका प्रबल द्वेष है, शत्रुकी हिंसा करना चाहता है, उसके लिए उपायका प्रदर्शन

सकती । आहार्य ज्ञानकी तरह आहार्य इच्छा निष्प्रयोजन है, अतः यागादि कर्म विविदिषाके भी साधन नहीं हो सकते । इसका समाधान पूर्वमें कह चुके हैं । वे चित्तशुद्धि द्वारा परम्परया पुरुषके संस्कारक हैं, अतः उनका विविदिषामें उपयोग है । 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्य है । फिर इसमें शङ्का होती है कि कर्म संस्कार द्वारा ज्ञानका हेतु है, यह माननेपर जब तक ज्ञान न हो, तब तक कर्मानुष्ठान नहीं छोड़ना चाहिए, यदि ऐसा है; तो कर्म करनेपर तत्तत्फलभोगके लिए शरीरका होना अनिवार्य होगा । ऐसी दशामें मुक्ति कैसे होगी ?

इसका उत्तर देते हैं कि फलेच्छासे कर्म करनेपर तत्-तत् फल होता है जो तपके द्वारा शुद्धचित्त हैं और वेदान्तका अध्ययन तथा तद्द्वारा कर्मोंका फल अनित्य तथा दुःखमिश्रित है, ऐसा जिन्होंने निश्चय कर लिया है, उन्हें कर्मफलोंमें वैराग्य हो जाता है । वे केवल चित्तशुद्धिके लिए ही कर्म करते हैं, अतः उनको उनका फल नहीं होता, इसीसे निष्काम कर्म करनेकी विधि है ।

'तस्मात्त्वं कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय'
'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।'

इत्यादि वाक्य इस अर्थमें प्रमाण हैं ।

जो जन्मान्तरीय निष्काम कर्मसे शुद्धचित्त हैं, उनको वर्तमान जन्ममें कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है । उन्हींके लिए यह श्रुतिवाक्य है—'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' ।

प्रश्न—जो प्रथम कर्ममें अश्रद्धा कर संन्यासका ग्रहण करते हैं, पीछे उनकी कर्ममें श्रद्धा हुई, ऐसे संन्यासीको कर्म करनेकी आवश्यकता है या नहीं ? यदि नहीं है, तो उनकी चित्तशुद्धि कैसे होगी ? यदि है, तो संन्यास ही त्यागना होगा; क्योंकि संन्यासमें काम्यादि कर्म नहीं हैं ।

उत्तर—उनको इन कर्मोंमें अधिकार नहीं है । जैसे युवावस्थामें वैराग्य हो गया और संन्यासका ग्रहण कर लिया, फिर ढली अवस्थामें विषयाभिलाषकी इच्छा हुई, तो उनको गार्हस्थ्यमें अधिकार नहीं है, वैसे ही कर्म करनेका भी अधिकार नहीं है, जन्मान्तरमें संस्कारानुसार कर्म कर सकते हैं । जन्मान्तरीय कर्मका अनुष्ठान जन्मान्तरीय ज्ञानका उपकारक होता है; इसमें दृष्टान्त वामदेव तथा गार्गी और मैत्रेयी हैं । वामदेवजीको गर्भ ही में ज्ञान हो गया था, 'तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवम्' इत्यादि

पापं पुण्यकृतां नेदृङ् नाऽस्ति स्वर्गावरोहिणाम् ।
श्वशूकरादिजन्मोक्तेर्विप्रक्षत्रादिजन्मवत् ॥ ४९ ॥
रमणीयतराचारा विप्रक्षत्रादियोनयः ।
कपूयचरणाः श्वादियोनयः स्युरिति श्रुतिः ॥ ५० ॥

गर्भावस्थामें क्या कोई श्रौत या स्मार्त कर्म कर सकता है ? मैत्रेयी और गार्गी स्त्री हैं, अतः इनको वर्तमान जन्ममें स्वतन्त्ररूपसे कहां श्रौत और स्मार्त कर्मोंका अधिकार है । गार्गी तो आजन्म ब्रह्मचारिणी रही फिर भी वह ब्रह्मज्ञानवती थी, इसलिए इन लोगोंके ज्ञानका उपकार जन्मान्तरीय कर्मोंसे हुआ, यह मानना पड़ेगा ।

इसका भी विचार करना आवश्यक है कि क्या एक जन्मके ही पुण्य-पाप शरीरारम्भक होते हैं अथवा अनेक जन्मके ? प्रथम पक्ष तो पूर्वोक्त स्मृतिसे विरुद्ध है, क्योंकि ब्रह्महत्या करनेवालेके लिए क्रमशः अनेक दुर्योनियाँ बतलाई गई हैं। यह कल्पना भी प्रामाणिक नहीं है कि प्रायणमें अर्थात् मृत्युकालमें ब्रह्महत्यातिरिक्त सब पूर्व कर्म अभिव्यक्त हो जाते हैं, अतः निःशेष पूर्व कर्मोंसे शरीरका आरम्भ होता है। केवल स्मृतिके प्रामाण्यसे ब्रह्महत्यादि ही अनेक शरीरारम्भक होते हैं। मनुष्यमात्र ब्रह्मघ्न होता ही है, इसमें तो कुछ प्रमाण नहीं है । जो ब्रह्मघ्न नहीं है, नित्यकर्मसे संचित दुरितोंके नष्ट होनेपर, उसकी मुक्ति होती है, यह भी प्रमाणशून्य है । इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि सब कर्मोंसे एक ही जन्म होता है, प्रत्युत इसके विपरीत प्रमाण है । नित्यादि कर्मानुष्ठानशीलको पूर्व पाप रहता ही नहीं है, इसीसे धर्मानुष्ठानसे स्वर्ग होता है, यह ठीक नहीं, इसी तात्पर्यसे कहते हैं——'पापम्' इत्यादि ।

धर्माचरणशीलको अनेक शरीरोंका आरम्भक पाप नहीं लगता है, यह ठीक नहीं है, यदि ऐसा होता है, तो स्वर्ग भोगनेके बाद जब फिर मृत्युलोकमें जन्म लेता है, तो किस योनिमें आता है, इस सन्देहकी निवृत्तिके लिए श्रुति कहती है—

'ये रमणीयचरणास्ते रमणीयां योनिमापद्यन्ते ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा । ये कपूयचरणास्ते कपूयां योनिमापद्यन्ते श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा' ।

इस वचनमें स्पष्ट कहा गया है कि अनेक जन्मके पुण्य-पापोंसे वर्तमान शरीर

नित्यकर्मभिरप्यस्ति स्वर्गः काम्याग्निहोत्रवत् ।
आपस्तम्बेन तत्प्रोक्तमाम्रवृक्षनिदर्शनात् ॥ ५१ ॥
फलार्थे निर्मिते त्वाम्रे छायागन्धाववारितौ ।
तथा वर्णाश्रमाचारादनुगच्छेत् त्रिविष्टपम् ॥ ५२ ॥

बनता है। यदि स्वर्गोपभोगसमयमें भी पाप रहता है, तो दुःख अवश्य होगा, फिर दुःखासम्भिन्न सुखस्वरूप स्वर्ग ही कैसे होगा ? पापके रहनेपर दुःख अवश्य ही होता है, यह नियम नहीं है। नियम यह है कि फलपाकोन्मुख अर्थात् जो पुण्य या पाप फल देनेके लिए अभिव्यक्त होता है, उसीका फल भोगविषय होता है। जो अनभिव्यक्त अवस्थामें रहता है; उसका उस समय भोग नहीं हो सकता। दोनोंका एक समयमें परिपाक नहीं होता; कारण कि दोनोंके फल सुख-दुःख परस्पर विरोधी हैं। विरोधी दो भावोंका एक कालमें एक देशमें अवस्थान विरुद्ध है; अतः देश, काल, निमित्त आदि भेदसे भिन्न कालमें पुण्य-पापकी अभिव्यक्ति मानी जाती है। पर बीजरूपसे स्थिति अवश्य रहती है। अन्यथा पूर्वोदाहृत श्रुतिवाक्य असंगत हो जायगा ॥ ४९,५० ॥

जो मुमुक्षु नित्य कर्म करते हैं, उनका अकरणनिमित्त प्रत्यवायके परिहारके सिवा शरीरान्तरका आरम्भ फल नहीं होता है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृतिसे यह भी निश्चित है कि फलान्तर भी अवश्य होता है। आपस्तम्बस्मृतिमें लिखा है—'आम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते' इत्यादि। अर्थात् फलके लिए आम लगानेपर छाया और गन्ध भी उत्पन्न होते ही हैं। चाहे उसका छाया और गन्धमें तात्पर्य न हो, पर उसकी उत्पत्ति अनिवार्य है। इस तरह प्रत्यवायकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किए हुए कर्मोंसे अर्थादि भी उत्पन्न होते हैं। यदि अर्थादि भी उत्पन्न होगा, तो काम्य हो जायगा, फिर उसे नित्य कर्म कैसे कह सकते हैं ? काम्यकर्म करनेपर यदि फल न हो, तो कर्म विगुण समझा जाता है अर्थात् उससे धर्म हुआ ही नहीं। और नित्य कर्मसे यदि अर्थादि न भी हो, तो कर्म विगुण होता नहीं, क्योंकि अर्थाद्युत्पत्ति तो प्रधान फल नहीं है, प्रतिबन्ध या निमित्तान्तराभावसे अर्थादि नहीं भी हो सकता है ॥ ५१ ॥

फलके लिए लगाये गये आमसे जैसे छाया और गन्धकी अवश्य प्राप्ति होती है, वैसे ही नित्य कर्म करनेसे स्वर्ग अवश्य होता है ॥ ५२ ॥

निषिद्धकाम्यनित्यानि पूर्वजन्मसु चाऽत्र च ।
कृतानि सन्त्यनन्तानि स्वास्थ्यं तत्रात्मनः कुतः ॥ ५३ ॥
ऐकात्म्यज्ञानतः कर्मक्षयं चेदात्थ तर्हि ते ।
निर्विघ्ना मुक्तिरस्त्वद्य ममेव हि न संशयः ॥ ५४ ॥
तेन निःसारतां बुध्वा कर्मणां वेदतत्त्ववित् ।
ऐकात्म्यज्ञानमन्वेति कर्मत्यागपुरःसरम् ॥ ५५ ॥

तात्पर्य यह है कि पहले यह दिखला चुके हैं कि कर्मसे मुक्ति होगी या नहीं, इसमें संशय है, कारण कि नित्यकर्मके अनुष्ठानसे प्रत्यवाय निवृत्त होगा, काम्य और निषिद्धके वर्जनसे शरीराम्भक कर्म उत्पन्न ही नहीं होगा। प्रारब्ध-कर्मके भोगसे निवृत्त होनेपर शरीरपातानन्तर मुक्ति हो जायगी, किन्तु इस सिद्धान्तमें यह भारी अड़चन है कि अनेक जन्मोंके कर्मोंसे शरीरका आरम्भ होता है, केवल एक जन्मके कर्मोंसे नहीं। इस अनादि संसारशृङ्खलामें न मालूम कितने ही जन्मोंके कर्म अभी अनारब्धभोग हैं, जिनको भोगना होगा। इस निश्चयमें कुछ प्रमाण नहीं कि वर्तमान शरीरके बाद अवश्य मुक्ति होगी। अब यह कहते हैं कि नित्य कर्मका केवल प्रत्यवायनिवृत्ति ही फल नहीं है, किन्तु पूर्वोक्त आपस्तम्बस्मृतिसे यह ज्ञात होता है कि नित्य कर्मोंका फल स्वर्गादि भी है तब तो दृढ़ निश्चय यही होता है कि उक्त रीतिसे कर्म द्वारा मुक्ति कभी नहीं हो सकती। इस भावसे लिखते हैं—**'निषिद्धकाम्य'** इत्यादि।

इस जन्म तथा जन्मान्तरमें कृत नित्य, काम्य और निषिद्ध कर्म अनन्त हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती। अतः उनके भोगनेके लिए शरीरका धारण करना आवश्यक है, तब स्वास्थ्य ( आत्माकी मुक्ति ) कैसे होगा ? ॥५३॥

यदि कहो कि ऐकात्म्यज्ञानसे मुक्ति होती है, तो इसपर कहते हैं— **'ऐकात्म्यज्ञानतः'** इत्यादि।

नित्यकर्मके अनुष्ठान तथा भोगसे निश्शेष कर्मनाश होता है, इस पक्षका त्याग कर ऐकात्म्यज्ञान ही से सकल कर्मनाश मानकर यदि मेरी तरह मुक्ति चाहो, तो बेखटके मुक्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं ॥५४॥

**'तेन निःसारताम्'** इत्यादि।

वेदवित विद्वान कर्मको निःसार समझ

कर्मत्यागी बनकर ऐकात्म्यज्ञान ही का श्रवण, मनन आदिसे अनुसरण करता है, अर्थात् आत्मज्ञान ही मुक्तिका साधन है, दूसरा नहीं।

[ भाव यह है कि कर्म द्वारा मुक्ति माननेमें भारी अड़चन एक यह है कि जिस उपाय द्वारा जिस वस्तुकी सिद्धि श्रुति बतलाती है, उसमें उस उपायानुष्ठानकी शक्ति है या नहीं? यदि नहीं है, तो उपायोपदेश ही व्यर्थ है। शक्तको उपायोपदेश करना चाहिए, जो उपाय द्वारा फल प्राप्त कर सके; अशक्तको नहीं, क्योंकि जब वह उपायानुष्ठान ही नहीं कर सकता, तब उसके प्रति उपायोपदेश समुद्रत-रणवत् व्यर्थ है।

यदि कहिए कि 'है' तो शक्ति यावद्द्रव्यस्वभाव है अर्थात् जब तक आश्रय रहेगा तब तक शक्ति भी रहेगी। शक्ति आश्रयका स्वभाव है। जब तक अग्नि रहती है, तब तक दाहप्रकाशस्वभाव रहता है। शक्तिके रहनेपर तत्कार्य अवश्य होगा। कार्यके बिना भी शक्ति है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। अन्यथा जलमें भी दाहप्रकाशशक्ति है, किन्तु कार्य नहीं होता, इस आक्षेपका क्या उत्तर होगा? अतः शक्तिकी कार्यदशामें भी शक्ति माननी पड़ेगी। यदि शक्तिका सद्भाव स्वीकार करते हो, तो शक्तिकार्य भी अवश्य ही होगा, क्योंकि कारणके रहनेपर कार्योत्पत्ति दुर्निवार है। अन्यथा कार्यकारणभाव ही नहीं सिद्ध होगा।

यदि ऐसा नियम हो कि कार्यारम्भके बिना शक्ति सिद्ध नहीं हो सकती, तो शक्तिकी स्थितिके लिए कार्य आवश्यक हो; किन्तु ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि घटोपत्तिके बिना भी दण्ड रहता है? हां दण्ड रहता है, परन्तु दण्डत्वरूपसे—घटकारणत्वरूपसे—ही कारणताज्ञान कार्यताज्ञानसापेक्ष है। जब तक अमुक इसका कार्य है, यह प्रत्यक्ष न हो, तब तक इसका यह कारण है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकता, और शक्तिकी अपेक्षा दण्डमें यह विशेष है कि दण्ड प्रत्यक्षसिद्ध है और शक्ति कार्यानुमेय ही है। कार्यदर्शनके बिना शक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। वास्तविक कार्यकारणभाव सामग्री और कार्यमें है, दण्डादिमें तो स्वरूपयोग्यतारूप कारणता है। शक्तिकी तरह सामग्री भी प्रत्यक्ष नहीं है, अतः सामग्रीसे कार्यकी सिद्धि होती है। इसलिए कार्य और कारण ये दोनों पदार्थ परस्परसापेक्षसिद्धिक हैं अर्थात् एकके बिना दूसरेकी सिद्धि नहीं होती, अतः

यत्तूक्तं कर्मशेषत्वमात्मतज्ज्ञानयोर्न तत् ।
न तावदात्मा तच्छेषोऽनुवृत्तेर्लोकमोक्षयोः ॥ ५६ ॥

मुक्तिसमयमें यदि शक्ति रहेगी, तो कार्य अवश्य होगा, इस परिस्थितिमें मुक्ति कैसे होगी ? कर्तृत्वशक्तिके रहनेपर कार्यप्रवाहका विच्छेद नहीं हो सकता ।

यहां तकके विचारसे यह निष्कर्ष निकला कि कतिपय विहिताकारण, निषिद्ध देशादिसेवनरूप सूक्ष्मापराध प्रमादादिवश अवश्यंभावी हैं और जन्मान्तरके कर्मोंकी संभावना भी हुई है, तो आपके कहनेके अनुसार नित्य कर्मानुयायियोंकी मुक्ति सन्दिग्ध ही है, बल्कि पूर्वोक्त रीतिसे कर्मानधिकारी गर्दभादि ही मुक्तिके अधिकारी हो सकते हैं । यदि एक ही जन्मका कर्म शरीरारम्भक हो, तो भी पूर्वोक्त स्मृति प्रमाण नहीं हो सकती, इसलिए यदि प्राणिमात्र मुक्तिके अधिकारी नहीं है, तो उपदेश सर्वथा व्यर्थ ही है । और 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतिसिद्ध ज्ञानका फल मुक्ति है, यह भी असंगत हो जायगा । यदि कहिए कि ऐसी श्रुतियाँ अर्थवाद हैं, अर्थात् उनका तात्पर्य मुक्तिसाधन ज्ञान है, इस अर्थमें नहीं है, आत्मा कर्माङ्ग है, अतः ज्ञान भी कर्माङ्ग ही है, स्वतन्त्रफलक नहीं है, यह कह चुके हैं ] ॥ ५५ ॥

आत्मा यागका कर्ता है, अतः वह यागाङ्ग है, इसलिए आत्मज्ञान भी तद् द्वारा यागाङ्ग ही है, यदि ऐसा कहो तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा यागाङ्ग नहीं है, अतः आत्मज्ञान भी यागाङ्ग नहीं है, कारण कि लौकिक तथा वैदिक सब कार्योंका वह कर्त्ता है, केवल यागका ही नहीं, इसलिए वह यागाङ्ग नहीं है ।

[ अभिप्राय यह है कि लौकिक आत्मज्ञानको कर्माङ्ग मानते हो या वैदिक ? लौकिक आत्मज्ञान तो कर्माङ्ग नहीं है, क्योंकि आत्मज्ञानके निर्णयके लिए पहले आत्मपदार्थका निर्णय आवश्यक है । आत्मा देहको मानते हो या अन्तःकरणविशिष्टको या वेदान्तवेद्य अशनायाद्यतीतको ? यदि देहको आत्मा मानो, तो देहात्मज्ञान कर्माङ्ग नहीं हो सकता है, क्योंकि देह तो स्वर्गमें जाता नहीं, फिर पारलौकिक फल किसको होगा ? यदि कर्मजन्यफलभोक्ता अपनेको न समझे [illegible] होगा, तो कर्म करेगा ही क्यों ? यदि द्वितीय पक्ष मानो, तो आत्मा लौकि[illegible] [illegible] कर्मका कर्त्ता है, इसलिए यागाङ्ग नहीं [illegible]

**ज्ञानं कस्यात्मनोऽत्र स्यादिह कर्तृपरात्मसु ।**
**देहात्मधीर्भोगहेतुर्वैदिकं कर्म न स्पृशेत् ॥ ५७ ॥**
**देहान्तराभिसम्बन्धी न चाऽत्मास्तीति जानतः ।**
**विवेकिनो न युक्तेयं प्रवृत्तिः पारलौकिकी ॥ ५८ ॥**

यागोपकारी यागाङ्ग कहलाता है। जैसे जुहू यागातिरिक्त कर्मका उपकारक न होकर यागोपकारक है, अतः पर्णता यागाव्यभिचरित जुहू द्वारा कर्माङ्ग है; इसलिए पापश्लोकश्रवणाभावश्रुति अर्थवाद है। प्रकृतमें आत्माका यागके साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसका लौकिक कर्मके साथ भी सम्बन्ध है; अतः उसका ज्ञान भी कर्माङ्ग नहीं है। यदि तृतीय पक्ष मानो, तो अशनाद्यतीत आत्मा यागाधिकारी हो ही नहीं सकता, फिर उसे यागकर्तृ तथा यागाङ्ग मानना तो अत्यन्त असंगत है ] ॥ ५६ ॥

प्रथम पक्षके तात्पर्यसे कहते हैं—**'ज्ञानं कस्यात्मनोऽत्र स्यात्'** इत्यादि। कर्तृपरात्मपक्षमें ये दो विकल्प हैं—देह आत्मा है या अन्तःकरणविशिष्ट? प्रथम पक्षमें कहते हैं कि देहात्मबुद्धि भोगहेतु है, वैदिक कर्मका तो स्पर्श भी न करेगी। देहको आत्मा माननेवाला वैदिक पारलौकिक कर्म क्यों करेगा। देह तो परलोक जायगा नहीं। उसका यही सिद्धान्त रहेगा—

यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थात् जब तक जीता है आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करे, ऋण करके भी घी पिया करे। ऋण न चुकानेपर परलोकमें दुःख होगा इसकी चिन्ता नहीं। देह तो यहीं भस्म हो जायगा, फिर परलोकका क्या भय? अतएव ऋण न चुकानेपर उसका जन्मान्तरमें सेवक होना पड़ेगा, यह भी भय व्यर्थ है। जब वहां जाना ही नहीं, तब वहांसे फिर आनेकी क्या शङ्का? ॥ ५७ ॥

द्वितीय पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—**'देहान्तराभिसम्बन्धी'** इत्यादि।

आत्मा देहान्तरसम्बन्धी है, यह जब तक न जानेगा, तब तक पारलौकिक कर्ममें प्रवृत्ति नहीं हो सकती; इसलिए देहातिरिक्त आत्मविवेकी ही यागाधिकारी है; परन्तु यह आत्मज्ञान वेदान्तियोंको अभिप्रेत नहीं है; किन्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशून्य, अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेद और समस्तोपाधिशून्य चिदानन्दैकरस आत्मा अभिप्रेत है ॥ ५८ ॥

बाढं कर्त्रात्मधीः कर्महेतुश्चेदस्तु तावता ।
किमायातं कर्मघातिपरब्रह्मात्मवेदने ॥ ५९ ॥
वर्णाश्रमवयोवस्थाध्यासं कर्मोपजीवति ।
वर्णाश्रमादि हन्त्येतत् परब्रह्मात्मवेदनम् ॥ ६० ॥

उसे ही कहते हैं—'बाढं कर्त्रात्मधीः' इत्यादिसे ।

यदि कहो कि द्वितीय पक्षाभिप्रेत अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा कर्ता है, तो यह भी ठीक है, क्योंकि अन्तःकरणविशिष्ट आत्माके कर्माङ्ग होनेपर भी कर्मके घातक परब्रह्मात्मवेदनमें क्या हानि हुई ? अर्थात् वह तो कर्माङ्ग नहीं है, प्रत्युत कर्मविरोधी है, इसीलिए वह कर्मघाती कहा गया है, कर्मघाती कर्मोपकारक नहीं हो सकता । प्रमाण द्वारा अङ्गाङ्गीभावका निर्णय होता है । आत्मज्ञान कर्माङ्ग है, इसमें क्या प्रमाण है ? श्रुति है अथवा दूसरा कोई प्रमाण ? श्रुति प्रमाण तो नहीं है, क्योंकि 'य एवं विद्वान् यजते' इत्यादि श्रुतिवाक्य हेत्वादिज्ञानका अनुवाद कर केवल उसीके यागाङ्गत्वका विधान करता है, आत्मज्ञानके कर्माङ्गत्वका विधान नहीं करता है, क्योंकि यह श्रुति कर्मप्रकरणस्थ है । आत्मप्रकरणस्थ नहीं है; अतः उक्त वाक्य प्राकरणिक अर्थका विधायक है, अप्राकरणिक अर्थका विधायक नहीं है । द्वितीय विकल्पके आश्रयणमें यदि अर्थापत्ति अभिप्रेत है अर्थात् देहभिन्न आत्मविज्ञानके बिना पारलौकिक फलमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती; इसलिए पारलौकिक फलके साधनमें प्रवृत्तिकी अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण है; तो वह अर्थापत्ति अन्तःकरणविशिष्ट आत्मविषया है ? या केवल आत्मविषया ? प्रथम पक्षमें विशिष्टके कल्पित होनेसे वह शुद्ध आत्मविषयक नहीं है, अतः उसके कर्माङ्ग होनेपर भी शुद्ध आत्मज्ञान कर्माङ्ग नहीं है; दूसरे पक्षमें अज्ञानविशिष्ट ही कर्माधिकारी होता है, शुद्धात्मज्ञानी मुक्तके समान अधिकारी ही नहीं है ॥ ५९ ॥

इसमें प्रमाण कहते हैं— 'वर्णाश्रम' इत्यादिसे ।

'ब्राह्मणो यजेत' 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत' 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इत्यादि विधिवाक्य वर्णाश्रमावस्थाध्यासविशिष्ट पुरुषके उद्देश्यसे तत्-तत्कर्मके विधायक हैं । इसलिए अध्यासविशिष्ट आत्मज्ञान ही कर्माङ्ग हो सकता है, परब्रह्मात्मवेदन तो पूर्वोक्ताध्यासका निवर्तक है, उपकारक नहीं है, कर्तृत्वादि आत्मामें कल्पित हैं, सत्य नहीं हैं, अतः उनके ज्ञानसे निवृत्त होनेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

कर्तृभोक्त्रादिरूपत्वं प्रत्यगज्ञानहेतुजम् ।
ज्ञाते प्रतीचि तद्रूपमपैति स्वाप्नरूपवत् ॥ ६१ ॥

मोक्ष आत्मस्वरूपावस्थानस्वरूप है। आत्मज्ञानसे अज्ञानके निवृत्त होनेपर वह स्वयंसिद्ध हो जाता है; उसमें साधनान्तरकी आवश्यकता नहीं है ।

यहांपर यह शङ्का होती है कि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतियोंसे जब आत्माकी असङ्गता सिद्ध है, तब उसमें कर्तृत्वादिका सङ्ग कैसे है ? यदि वह सङ्ग अज्ञाननिमित्तक है, तो शङ्का होती है कि अज्ञानका आत्माके साथ सङ्ग कैसे ? यदि निमित्तसे हो सकता तो उसमें भी निमित्तान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोष होगा। और यदि अनिमित्तक मानें तो अविद्या की निवृत्तिसे; कर्तृत्वादिकी निवृत्ति कैसे होगी? क्योंकि निमित्तकी निवृत्तिसे नैमित्तिककी निवृत्ति होती है, जब कर्तृत्वादिके साथ अविद्याका निमित्तनैमित्तिकभाव सम्बन्ध ही नहीं है तो अविद्याकी निवृत्ति होनेपर भी कर्तृत्वादिकी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

उत्तर—सादिमें निमित्तनैमित्तिकभावकी अपेक्षा होती है, अनादिमें नहीं अविद्याध्यास आत्मामें अनादि है। इसलिए निमित्तान्तरकी आवश्यकता नहीं है अथवा स्वपरसाधारण अविद्या ही निमित्त है, कर्तृत्वादि कल्पित हैं वास्तविक नहीं हैं, इसमें प्रमाण है अनुमान—कर्तृत्वाद्यनात्मा अविद्याधीनः, कार्यत्वात्, रज्जुसर्पवत्। अनात्मस्वरूप साक्षिवेद्य है, अतः साक्षिसम्बन्धके बिना साक्षिवेद्यत्वानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति भी प्रमाण है ॥६०॥

इसपर कहते हैं—'कर्तृभोक्त्रादि०' इत्यादिसे ।

कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सकल अनात्म पदार्थ प्रत्यग् आत्माके अज्ञानरूप हेतुसे उत्पन्न अर्थात् स्वात्म यथार्थाज्ञानहेतुक हैं, अतः आत्मयथार्थज्ञान होनेपर [ ज्ञाते प्रतीचि ] स्वाप्निक दृश्यके समान सब निवृत्त हो जाते हैं ॥६१॥

यह शङ्का होती है कि आत्मा चेतन होनेसे वास्तविक कर्ता-भोक्ता हो सकता है, फिर कर्तृत्व-भोक्तृत्वको कल्पित माननेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—असल बात यह है कि आत्मा असंग है, स्वतः कर्ता-भोक्ता नहीं है, किन्तु कर्महेतुके सम्बन्धसे आत्मामें भी कर्महेतुत्वकी प्रतीति होती है, कर्मके हेतु हैं— पुण्य और पाप । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा पापः पापेन' इत्यादि श्रुतिसे पूर्व पुण्य उत्तर पुण्य कर्ममें निमित्त हैं एवं पाप भी पापकर्ममें निमित्त हैं। कर्मफलभोग राग द्वारा कर्ममें कारण है। अनुपभुक्तमें राग नहीं होता। रागके बिना

**करोम्यन्धो द्विजो बालो दग्धश्छिन्नोऽहमित्यपि ।**
**नाविद्यामन्तरेणैतैः प्रत्यगात्मा विशिष्यते ॥ ६५ ॥**

स्वरूप हो सकता है या नहीं ? नहीं हो सकता है, यही कहना उचित है, क्योंकि गऊ और महिष एक दूसरेसे भिन्न हैं; इसलिए न तो गऊ महिषकी विशेषण ही हो सकती है, और न स्वरूप ही हो सकती है । यदि अन्य अन्यका कहींपर विशेषण या स्वरूप देखा जाय, तो उसे अज्ञानप्रयुक्त ही हुआ समझना चाहिए, अन्यथा वैसा हो नहीं सकता, इस भावसे कहते हैं—'चोरोऽसौ' इत्यादिसे ।

मन्दान्धकारमें सामने स्थाणुको देखकर यह चोर है और मेरे सामने आ रहा है, इस प्रकार अज्ञानवश स्थाणु चोरमें विशेषणरूपसे प्रतीत होता है, वास्तविक नहीं । जो वस्तुतः स्थाणुको जानता है, वह ऐसी कल्पना नहीं करता, इसलिए यह मानना आवश्यक है कि अज्ञानसे ही स्थाणु पुरुषमें विशेषण होता है, अन्यथा नहीं ।

शङ्का—अज्ञानके बिना भी दूसरा दूसरेमें विशेषणरूपसे देखा जाता है, जैसे 'दण्डी पुरुषः' 'राजाश्वः' इत्यादि ।

उत्तर—हां, देखा जाता है; किन्तु आपने हमारा अभिप्राय नहीं समझा । हमारा अभिप्राय यह है कि विशेषणविशेष्यभाव दो प्रकारका होता है, एक भेदग्रहपूर्वक और दूसरा भेदाग्रहपूर्वक । 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि स्थलमें जो विशेषणविशेष्यभाव है, वह भेदग्रहपूर्वक है, वह अज्ञानके बिना भी होता है । द्वितीयमें—भेदाग्रहपूर्वक विशेषणविशेष्यभावमें—अज्ञानके बिना अन्य वस्तु अन्य वस्तुमें विशेषण नहीं हो सकती । 'गौरोऽहं' 'कृशोऽहम्' इत्यादि स्थलमें भी गौर और कृशादिका आत्माके साथ जो विशेषणविशेष्यभाव प्रतीत होता है, वह भेदाग्रहपूर्वक है, अर्थात् यद्यपि आत्मा और शरीरका भेदभान नहीं है, तो भी विशेषणविशेष्यभाव है, अतः यह भी अज्ञाननिमित्तक है । इसी तरह 'चौरोऽयम्' इत्यादि स्थलमें भी अज्ञाननिमित्तक विशेषणविशेष्यभाव है । भेदज्ञान होनेपर उक्त विशेषणविशेष्यभावकी भी निवृत्ति हो जाती है ॥६४॥

मैं अन्ध हूँ, बालक हूँ, द्विज हूँ, दग्ध हूँ, छिन्न हूँ, मैं करता हूँ, इत्यादिसे अन्धादिकी आत्मामें जो विशेषणरूपसे प्रतीति होती है, वह अज्ञान ही से होती है । आत्माका यथार्थज्ञान होनेपर ये विशेषणभावसे प्रतीत नहीं हो सकते ॥६५॥

इयमेवात्मनोऽविद्या कर्माधिकृतिकारणम् ।
अधिक्रियन्ते येनैते बृहस्पतिसवादिषु ॥ ६६ ॥
सर्वकर्मसमुच्छेदि ज्ञानं वेदान्तमानजम् ।
तन्मूलाज्ञानघातित्वान्नोऽस्य कर्माङ्गता ततः ॥ ६७ ॥

जिनका परस्पर भेद नहीं ज्ञात है, ऐसे स्थाणु-चोरकी तरह शरीरादि और आत्माका विशेषणविशेष्यभाव अविद्यानिमित्तक ही सही, परन्तु प्रकृत धर्माचरणमें विशेष क्या हुआ ? इसे कहते हैं—'**इयमेवात्मनोऽविद्या**' इत्यादिसे ।

यह अविद्या अर्थात् अविद्याधीन विशेषणविशेष्यभाव कर्मसम्बन्ध-निमित्तक ब्राह्मणत्वाभिमानका हेतु होनेसे कर्माधिकारका हेतु है, 'ब्राह्मणो वैश्वदेवेन यजेत' इत्यादि श्रुतिसे विहित वैश्वदेव आदि यागोंका ब्राह्मणत्वाभिमानी पुरुष अर्थात् 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस प्रकार अपनेको ब्राह्मण समझनेवाला पुरुष ही कर्ता प्रतीत होता है । ब्राह्मणत्वके अभिमानके अविद्या-प्रयुक्त होनेसे उक्त उन-उन बृहस्पतिसव आदि यज्ञोंका अविद्यावान् पुरुष ही अधिकारी है ॥ ६६ ॥

शुद्धात्मज्ञानं कर्माङ्गम्, आत्मज्ञानत्वात्, इतरात्मज्ञानवत्, अर्थात् शुद्ध आत्माका परिज्ञान कर्मका अङ्ग है, आत्माका ज्ञान होनेसे, अन्य आत्मज्ञानके समान, इस अनुमानसे शुद्ध आत्माके परिज्ञानकी भी कर्मोंके अङ्गरूपसे प्रतीति होती है । इस शङ्कापर कहते हैं—'**सर्वकर्म**' इत्यादिसे । 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वेदान्त-वाक्योंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, कर्मोंकी मूलभूत अविद्याका निवर्तक होनेसे, सब कर्मोंका नाशक है, अतः यह ज्ञान कर्मका अङ्ग नहीं हो सकता ।

शङ्का—शुद्ध आत्माका ज्ञान सब कर्मोंका नाशक है ? इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—श्रुति, स्मृति आदि तथा अनेक तत्त्वदर्शी विद्वानोंका अनुभव ही उक्त अर्थमें प्रमाण है ।

उनमें 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' यह श्रुति है और 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' इत्यादि स्मृति है । इन विविध श्रुत्यादि प्रमाणोंसे यह निश्चित होता है कि उत्पन्न हुआ निरतिशयानन्दैक-रसस्वरूप अद्वैत [illegible] अविद्यादि क्लेशोंको और उनके [illegible]

यच्चोक्तमर्थवादत्वं ब्रह्मज्ञानफलस्य तत् ।
अभ्युपैम्यर्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः ॥ ६८ ॥

एवं तन्मूलक सारे द्वैत-प्रपञ्चको नष्ट करता है। यदि द्वैताभाव होनेसे साध्य-साधनभाव ही नहीं रहता, तो कर्माङ्ग कैसे होगा ?

शङ्का—अच्छा, तो यह बतलाइए कि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होकर अज्ञान आदिका नाशक होता है अथवा अनुत्पन्न होकर नाशक होता है ? यदि प्रथम पक्षका अङ्गीकार किया जाय, तो ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध होनेसे जबतक अज्ञान रहेगा, तबतक ज्ञानकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, और यदि यह न माना जाय, तो उनका विरोध ही होगा। द्वितीय पक्षका स्वीकार करनेपर जब ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हुआ, तो ज्ञान अज्ञानका निवर्तक कैसे हो सकता है ? यदि असत् ज्ञान अज्ञानका निवर्तक हो, तो संसारमें स्थित सभी पुरुषोंका अज्ञान निवृत्त हो जाना चाहिए।

समाधान—चित्तके विमल होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और उससे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। जैसे कि प्रदीपका आलोक उत्पन्न होकर ही अन्धकारको नष्ट करता है, यह लोकमें आप स्वयं अनुभव करते ही हैं, फिर इस विषयमें अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता है ? इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्माका परिज्ञान कर्मोंके प्रति अङ्गभूत नहीं है। इस परिस्थितिमें अर्थात् आत्मज्ञानके अन्य शेष न होनेमें आत्मज्ञानके फलकी—ब्रह्मभावकी—बोधक श्रुतियाँ अर्थवाद नहीं हो सकतीं ॥ ६७ ॥

यद्यपि विचारसे आत्मज्ञानके फलकी बोधक श्रुतियाँ अर्थवाद नहीं हैं, यह निर्णय कर चुके हैं, तथापि आपके आग्रहसे अभ्युपेत्यवादका अङ्गीकार करके यदि अर्थवाद माना जाय, तो भी समाधान हो सकता है, इसे कहते हैं—**'यच्चोक्तम्'** इत्यादिसे।

जो आपने कहा है कि ब्रह्मज्ञानके फलका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ अर्थवाद हैं। यद्यपि वह मेरा सिद्धान्त नहीं है, तथापि उनके अन्यपरक—ब्रह्मात्मैक्यपरक—होनेसे आग्रहवश उनको अर्थवाद मान भी लें, तो कोई हानि नहीं है ॥ ६८ ॥

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि क्या वह भूतार्थवाद है या गुणवाद है ?

**विरोधानुपलम्भेनापापश्लोकश्रुतेरिव ।**
**नैवाभूतार्थवादत्वं किन्तु भूतार्थवादता ॥ ६९ ॥**

---

( वाच्य अर्थके साथ यदि अन्य किसी प्रमाणका विरोध न हो, तो उस अर्थवादको भूतार्थवाद कहते हैं, अन्यथा वह गुणवाद कहा जाता है ) इसी भावसे कहते हैं—'**विरोधानुपलम्भेन**' इत्यादिसे ।

विरोधके न होनेसे वह अपापश्लोक श्रुतिके समान अभूतार्थवाद नहीं है, किन्तु, भूतार्थवाद ही है, भूतार्थवादका स्वार्थमें भी तात्पर्य रहता है। सारांश यह है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि ब्रह्मस्वरूपके निरूपणके लिए प्रवृत्त श्रुतियाँ प्रधान हैं और 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि गौण हैं, क्योंकि गुणप्रधानभावके बिना एक वाक्यका दूसरे वाक्यके साथ मिलकर वाक्यैकवाक्यतासे एक अर्थका बोधन नहीं हो सकता । इसलिए गुणत्वरूप अन्य शेष होनेपर भी वह स्वार्थमें प्रमाण होता ही है, गुणवादके समान अप्रमाण नहीं होता । जैसे कि 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इस वाक्यका, जुहू द्वारा कर्मशेष होनेपर भी अपापश्लोकश्रवणरूप फलमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु जुहूके अङ्गत्वमें है । पर्णताका फल पापश्लोक-श्रवणाभाव नहीं है । प्रकृतमें 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि आत्मज्ञानफलकी बोधक श्रुति प्रधानभूत पूर्वोक्त 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि वाक्यकी अपेक्षा गौण होनेपर भी ब्रह्मज्ञानके फलांशमें प्रमाण ही है—ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मस्वरूपप्राप्तिरूप फल होता है, अन्य उपायसे नहीं ।

'यस्य पर्णमयी' इत्यादि वाक्य तो पर्णतामें जुह्वङ्गत्वका बोधन करके सार्थक हो जाता है, इसलिए काम्य अर्थका बोधक नहीं है । यदि वाक्यका दोनोंमें तात्पर्य मानें, तो वाक्यभेद हो जायगा, अतः फलका श्रवण केवल स्तुतिमात्र है, भूतार्थवाद नहीं है । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि वाक्यका यदि ब्रह्मभावरूप फलमें तात्पर्य न होगा, तो यह वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा । इसलिए यह पर्णताके समान केवल स्तुतिमात्रफलक नहीं है, किन्तु भूतार्थवाद—सत्यार्थवाद—है, अतः स्वार्थमें प्रमाण है । जैसे दर्शपूर्णमासप्रकरणमें पठित 'दर्शपूर्णमासाविज्येते' इस प्रकारका अर्थवाद वाक्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां [illegible]' इत्यादिका वाक्यशेष होनेपर भी भूतार्थवाद ही है । वैसे ही [illegible]

कुतो विरोधः शङ्क्येत प्रत्यक्षे ब्रह्मधीफले ।
ब्रह्मत्वमात्मनो दृष्ट्वा नोत्तरेत्संसृतिं कथम् ॥ ७० ॥

बोधक उक्त श्रुति भी भूतार्थवाद ही है, अन्यथा ज्ञानके अनुभूयमान श्रौतफलके साथ विरोध होगा ।

शङ्का—'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' इत्यादि वाक्यसे दर्श आदिका विधान है, अतः 'स्वर्गाय' इत्यादि वाक्य अनुवादक हो सकता है, अन्य प्रमाणसे प्रसिद्ध अर्थका पुनः कथन अनुवाद है, प्रकृतमें ब्रह्मभावापत्तिरूप अर्थ अन्य किसी प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए 'ब्रह्म वेद' इत्यादि अनुवाद कैसे हो सकता है ?

समाधान—यद्यपि अन्य वाक्यसे ब्रह्मभावापत्तिरूप फल प्रसिद्ध नहीं है, तथापि विद्वानोंके प्रत्यक्ष अनुभवसे उसकी प्रसिद्धि है; शब्दप्रमाणसे प्रसिद्धि अनुवादमें अपेक्षित है, प्रमाणान्तरसे प्रसिद्धि नहीं, यह नहीं है । इसीसे 'अग्नि-र्हिमस्य भेषजम्' यह वाक्य प्रत्यक्षप्रसिद्ध अर्थका बोधक होनेसे अनुवादक माना गया है ।

निचोड़ अर्थ यह निकला कि शुद्ध आत्माका विज्ञान मुक्तिका कारण है, वह कर्मविधिका स्पर्श भी नहीं करता, अतः कर्मशेष नहीं है । कर्म-विधि अभ्युदयमें कारण है और आत्मज्ञान मुक्तिका कारण है । इसीसे ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा आदिकी भिन्नता और अधिकारीका भेद भी उचित प्रतीत होता है । कर्तृत्व आदि अभिमानसे कर्मानुष्ठान होता है । श्रवण आदिमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति अभिमानरहित है, इसीसे मुमुक्षुको कर्मोंकी अभिलाषा नहीं होती है, और कर्म मुक्तिके विरोधी भी हैं ।

'धर्मरज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वं पापरज्ज्वा व्रजेदधः' ।

अर्थात् धर्मरूप रस्सीसे स्वर्गको जाता है और पापरूप रस्सीसे नरकमें जाता है, इत्यादि स्मृतियोंसे कर्मोंका फल बन्धन ही है और मुमुक्षु चाहता है—बन्धनसे मुक्ति । इस परिस्थितिमें वह अपने अभीष्ट फलके साथ विरोध रखनेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करेगा ही क्यों ? अर्थात् नहीं करेगा, प्रत्युत उनका त्यागकर श्रवण, मनन आदिमें ही प्रवृत्त होगा ॥६८,६९॥

श्रवण आदि करता हुआ मुमुक्षु बीच-बीचमें यदि कर्मोंका अनुष्ठान करे, तो क्या अनुपपत्ति है ? इस शङ्काके परिहारके लिए कहते हैं—'कुतो विरोधः' इत्यादिसे ।

ब्रह्मज्ञानियोंमें भी सांसारिक कर्तृत्व आदि धर्मोंका अभिमान देखा जाता है, अतः मुमुक्षु भी यथावकाश कर्म कर सकते हैं, इसमें विरोध ही क्या है? ब्रह्मज्ञानका ब्रह्मात्मदर्शनरूप फल प्रत्यक्ष है, अतः वह संसारके पार क्यों नहीं उतरेगा? ॥७०॥

[ आशय यह है कि प्रवृत्तिके प्रति राग आदि मल ही कारण हैं, श्रवण आदिसे विवेक, वैराग्य आदि भावना द्वारा राग आदि मलोंके निःशेष निवृत्त हो जानेपर जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब उन राग आदिकी सम्भावना नहीं रहती, फिर कर्ममें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? पूर्वाभ्यासवश कर्म करनेकी इच्छा उसे हो सकती है, यह भी शङ्का ठीक नहीं है, कारण कि किसीको अपने गाँवपर जानेकी इच्छा हुई, किन्तु ग्राम-प्राप्तिके मार्ग दो हैं— एक मार्ग तो ऐसा है, जिसमें खाने पीनेका सामान स्थान-स्थान पर मिलता है, किनारे-किनारे मनोरम फल-पुष्पोंसे भरपूर वृक्ष-वाटिका लगी है, हिंस्र जन्तु तथा चोरोंका बिलकुल भय नहीं है, सब तरहसे सुगम एवं सीधा है। और दूसरा मार्ग ठीक इससे विपरीत है अर्थात् जहाँ तहाँ अनेक घातुक प्राणियोंसे मार्ग भरपूर है।

अब आपसे पूछा जाता है कि इन दो मार्गोंमें से दूरदर्शी विद्वान् किस मार्गका आश्रयण करेगा? मेरा तो दृढ़ विश्वास है—आप यही कहेंगे कि प्रथम मार्गका ही विद्वान् आश्रयण करेगा।

और प्रकृतमें इस विषयपर भी विचार कर लेना अत्यन्त उपयुक्त है कि क्या विद्वान् स्वतः अपनेको कर्माधिकारी समझता है या अनात्मवस्तुके सम्बन्धसे? उसमें भी अनात्मवस्तुका सम्बन्ध स्वाभाविक है या अविद्यानिमित्तक? असङ्ग आत्मामें अनात्मवस्तुका सम्बन्ध स्वाभाविक तो हो नहीं सकता, अतः आविद्यिक कहना होगा, परन्तु यह कैसे हो सकता है, क्योंकि अविद्याके निवृत्त हो जानेपर तन्मूलक कर्तृत्व आदि धर्मोंके भी निवृत्त हो जानेसे—'सब धर्मोंसे शून्य तथा निष्क्रिय मैं हूँ, कारण कि व्यापक आत्मामें क्रिया नहीं रह सकती' ऐसा जो अपनेको मानता है, भला वह कैसे कर्म कर सकता है?

और यह भी विचारना चाहिए कि वह विद्वान् कर्ममें किस लिए प्रवृत्त होगा? क्या स्वर्ग आदि फलके लिए या मुक्तिके लिए या मुक्तिसाधन ज्ञानके लिए? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि जब वैराग्य आदिकी भावनाके

ऐहिक और आमुष्मिक फलमें रागकी निवृत्तिसे जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, उसको फिर स्वर्ग आदिमें राग होगा ही कहाँसे। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि मुक्ति तो स्वकीय आत्मरूप होनेसे नित्य प्राप्त ही है, अप्राप्त वस्तुमें क्रियाकारकभावकी अपेक्षा होती है, नित्य-प्राप्तमें नहीं होती। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे यदि वृत्तिरूप साक्षात्कार अभीष्ट है, तो वह प्रत्ययैकतानतारूप ध्यानसे ही होता है, अतः उसके लिए कर्मकी आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य तो यह है कि मुक्ति नित्य है, जन्य नहीं। जन्य और उत्पाद्य फलके लिए कर्मोंकी अपेक्षा होती है, नित्य फलके लिए नहीं। स्वर्ग आदिके लिए विद्वान् भी कर्म करेगा, यह तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इत्यादि स्मृति-वाक्योंसे कर्मोंमें मोक्षविरोधिता जानकर उनमें मुमुक्षु प्रवृत्त ही कैसे हो सकता है? अल्पज्ञ मूर्ख पुरुष भी पूर्वमें जानेकी इच्छासे पश्चिमकी तरफ नहीं जाता, तो फिर विद्वान् विपरीत कर्म कैसे करेगा? यदि करे, तो उसे विद्वान् ही नहीं कहना चाहिए।

और यह अनेक बार कह चुके हैं कि अविद्यावान् ही कर्माधिकारी है, विद्यासे सविलास अविद्याकी निवृत्ति हो जानेसे कार्य करनेकी सामग्री ही विद्वान्‌में नहीं है, तो वह कर्म कैसे करेगा? यह भी प्रसिद्ध है कि अविवेकपूर्वक ही कर्ममें पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है। विद्यावान् पुरुषमें अविवेकको सम्भावना नहीं हो सकती, फिर उसकी कर्ममें प्रवृत्ति कैसे होगी?।

शङ्का—कृतकृत्य विद्वान् भी मनोविनोदके लिए कर्म कर सकता है। जैसे यद्यपि परब्रह्म परमात्मा आप्तकाम है, तथापि क्रीड़ार्थ जगत्‌की रचना करता है।

समाधान—यह आपकी शङ्का ठीक नहीं है, कारण कि परमात्मा तो स्वतः शक्तिमान् है, अतः वह सृज्यमान प्राणियोंके अदृष्टसे सृष्टि करता है अर्थात् समस्त ब्रह्माण्डको उत्पन्न करता है, और विद्वान् तो उपकरणरहित है, अतः सर्वथा असमर्थ है।

शङ्का—तत्त्वके ज्ञानसे सम्पूर्ण प्राक्तन अज्ञानोंका नाश होनेपर भी पुनः उत्पन्न अन्य अज्ञानसे विद्वान् कर्म कर सकता है।

समाधान—यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर आत्मा कूटस्थ हो जाता है, अतः वह स्वयं अज्ञानोत्पत्तिका

**उत्तीर्य संसृतिं भूयः कर्तृत्वादीन्न वीक्षते ।**
**रोगादिवदनर्थत्वात् कर्तृत्वादिजिहासतः ॥ ७१ ॥**

कारण हो नहीं सकता। अद्वितीय होनेसे अन्य हेतुकी सम्भावना भी नहीं हो सकती, और अनिमित्त कार्यकी उत्पत्ति व्याघात आदि दोषसे नहीं होती, इससे अज्ञानान्तर द्वारा भी शङ्का ठीक नहीं है। और

'अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च ।'
'किमिच्छिन् कस्य कमाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।'
'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।'

इत्यादि शास्त्रोंसे भी विद्वानोंका कर्माधिकार निषिद्ध किया गया है, अतः विरक्त तथा जिसने सब कर्मोंका परित्याग किया है वही पुरुष मोक्षका अधिकारी है और इससे विपरीत पुरुष कर्मानुष्ठानका अधिकारी है, ऐसा सभी शास्त्रोंका निष्कर्ष है।

शङ्का—यदि अज्ञानसे युक्त पुरुष ही कर्मोंका अधिकारी है, तो सुषुप्ति-दशामें भी अज्ञान रहता है, इसलिए क्या उस दशामें भी शास्त्रसिद्ध कर्मोंका अधिकारी पुरुष हो सकता है ?

समाधान—नहीं, नहीं हो सकता है, क्योंकि अज्ञानसे अज्ञानमूलक शरीरेन्द्रियादिका अभिमान लेना चाहिए, यह तात्पर्य है। सुषुप्ति-दशामें उक्त अहङ्कार नहीं है, अतः उस दशामें कर्माधिकार हो ही नहीं सकता।]

यदि शङ्का हो कि मुमुक्षुको भी प्रारब्ध कर्मसे शरीर आदिका अभिमान तो रहता ही है; अतः उसका भी कर्माधिकार अनिवार्य ही होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि मुमुक्षु पुरुष देहाभिमानको मिथ्या समझता है, अतएव तादृश अभिमानसे साध्य कर्ममें श्रद्धा-शून्य पुरुष प्रवृत्त ही नहीं होगा। श्रद्धा कर्मानुष्ठानमें कारण है। 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' इत्यादि शास्त्रसे श्रद्धारहित पुरुष कर्माधिकारी नहीं हो सकता। और जीवन्मुक्तमें तो शरीरादिका भान रहनेपर भी उसका अभिमान नहीं रहता है। इससे उनके कर्माधिकारकी सम्भावना ही नहीं है। अविद्या, अविद्याकार्य कर्तृत्व आदिका विद्याके साथ विरोध है, विद्वान्के लिए कर्तृत्वादि और तन्मूल अविद्या, ये दोनों विलसित हैं, उनमें नहीं हैं, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'उत्तीर्य संसृतिं भूयः' इत्यादि से। [illegible]

[illegible] संसारको पार करके फिर कर्तृत्व आदि [illegible]

**कर्तृत्वादिस्वभावस्य दृश्यत्वात्तु दृगात्मनि ।**
**अविद्याकल्पितत्वं स्याद् दृगात्मा तु न दृश्यते ॥७२॥**

क्या उस समय उसमें दर्शनसामर्थ्य ही नहीं रहती ? नहीं, यह बात नहीं है, किन्तु बात यह है कि 'स्वनिष्ठतया तदानीं न पश्यति' अर्थात् जैसे रोगी पुरुषको रोग जिहासित है । औषधके उपचारसे रोगके निवृत्त होनेपर फिर उस रोगको वह रोगी अपनेमें अनुभव नहीं करता, वैसे ही कर्तृत्व आदि धर्म भी रोगके समान अनिष्टके ही हेतु हैं, अतः विद्वान्को वे जिहासित हैं । तत्त्वज्ञानसे जब कर्तृत्वादि धर्मोंकी निवृत्ति हो जाती है तब कर्तृत्व आदि धर्मोंका अपनेमें वह अनुभव नहीं करता, इसलिए मुक्त पुरुषको कर्माधिकार नहीं रहता है, यह निचोड़ अर्थ है ॥ ७१ ॥

शङ्का—कर्तृत्व आदि आत्माके स्वभाव हैं, अतः वे जिहासित नहीं हो सकते । वे आत्मस्वभाव हैं, इसमें अनुमान ही प्रमाण है । वह इस प्रकार होता है—कर्तृत्वादिः आत्मस्वभावः, तत्र प्रतीयमानत्वात्, चैतन्यवत् । इसपर कहते हैं—'**कर्तृत्वादि**' इत्यादिसे ।

कर्तृत्व आदि स्वभाव दृश्य होनेसे आत्मामें कल्पित ही हैं, सत्य नहीं हैं । द्रष्टारूप आत्मा तो दृश्य नहीं हो सकता है । और यह अनुमानप्रमाणसे भी सिद्ध है कि आत्मामें कर्तृत्व आदि कल्पित हैं । अनुमानका स्वरूप यह है—कर्तृत्वादिस्वभावः आत्मनि कल्पितः, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत् । प्रकृतमें दृश्यत्व चैतन्यविषयत्वरूप ही विवक्षित है, अतः चैतन्यकी विषयता चैतन्यसे भिन्नमें ही रहेगी चैतन्यमें नहीं, इसलिए आत्मामें व्यभिचार नहीं है ।

'द्रष्टारमरे केन विजानीयात्'
'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

'अद्रेश्यम्' इत्यादि प्रमाणोंसे चैतन्यकी विषयता चैतन्यमें नहीं रहती है, यह ब्रह्मवादियोंका सिद्धान्त है ॥ ७२ ॥

कर्तृत्व आदि आत्माके धर्म नहीं हैं, इसमें जो अनुमान किया गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहं कर्ता' इत्यादि प्रत्यक्षप्रमाण उक्त अनुमानका बाधक है । जैसे अग्निः अनुष्णः, कृतकत्वात्, घटवत्, इत्यादि अनुमान 'वह्निः उष्णः' इस प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है, अतः उक्त अनुमानसे वह्निमें

जाय, तो भी प्रश्न यह होता है कि वह भोक्ता है या नहीं ? प्रथम पक्षमें उसकी विकारिता अनिवार्य है, उसके विकारी होनेपर उसकी अनित्यताका निवारण इन्द्र भी नहीं कर सकता। द्वितीय पक्षमें भोग्यमात्र ही जगत् रहा, अथवा यों कहिए कि भोक्ताके न रहनेसे भोग्य भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु स्वरूपसे जगत् कहा जायगा, लेकिन सच पूछिये, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्ग ही व्यर्थ हो जायगा। अतः आत्मा अनित्य है, यह चार्वाकोंका कथन ठीक नहीं है; कारण कि विकार अनित्यत्वसे व्याप्त है। यदि आत्मामें विकार होगा, तो उसमें अनित्यत्व भी अवश्य रहेगा, यह ठीक है, परन्तु आत्मामें विकार रहता ही नहीं है। जो कि आत्मामें जन्मादि विकार प्रतीत होता है, वह आत्माका नहीं है, किन्तु शरीरका है। आत्मामें जब अनित्यत्व ही नहीं रहता है, तब उसका व्याप्य विकार भी नहीं रह सकता। आगे चलकर विस्तारसे आत्मामें नित्यत्वका साधन करेंगे, और जितने विकार होते हैं, वे सब-के-सब भूत, भौतिक आदि कार्योंमें रहते हैं, आत्मामें नहीं रहते। आत्मा तो केवल साक्षी है।

शङ्का—भले ही जन्मादि विकार आत्मामें न हों, परन्तु भोक्तृत्व आदि विकार जो कि चेतन-धर्म हैं, वे आत्मामें तो रह सकते हैं ?

समाधान—यह आपकी शङ्का ठीक है, परन्तु पहले भोगपदार्थ क्या है, इसका विचार करना आवश्यक है। सुख, दुःख आदिका अनुभव अथवा तन्निमित्त विषयका अनुभव भोग कहलाता है, और इसीका सम्बन्ध ही आत्मामें भोक्तृत्व है। लेकिन यह क्रियाके बिना नहीं हो सकता, आखिर बात यह है कि आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः अपने स्वरूपका अनुभव आप ही कर लेता है, इसमें दूसरेकी आवश्यकता नहीं है। विषय आदिका अनुभव अन्तःकरणके द्वारा करता है, अतः यह अवश्य मानना होगा कि आत्मामें भोक्तृत्व बुद्धि आदिके सम्बन्धसे है, स्वतः नहीं।

'आत्मेन्द्रियादिसंयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।
अविक्रियस्य भोक्तृत्वं स्यादहंबुद्धिविभ्रमात्॥'

इत्यादि अनेक प्रकारके शास्त्रप्रमाणोंसे वास्तविक भोक्तृत्व बुद्ध्यादिमें है और आत्मामें वह कल्पित ही है।

और यह बात भी जानने लायक है कि जो वस्तु प्रागभावकी प्रतियोगी होती है उसीमें विकार रहता है, जैसे अग्नि, घट आदि अनित्य पदार्थोंमें।

आत्मा प्रागभावका प्रतियोगी नहीं है, अतः उसमें विकारकी शङ्का ही नहीं हो सकती। अन्य मतावलम्बी जिन परमाणु आदिको नित्य मानते हैं, वे भी अपने मतमें अर्थात् वेदान्तीके मतमें प्रागभावके प्रतियोगी ही हैं, क्योंकि 'अतोऽन्यदार्तम्' इस श्रुतिसे आत्मातिरिक्त सभी पदार्थ अनित्य सूचित होते हैं।

शङ्का—आत्मा प्रागभावका प्रतियोगी नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है?

समाधान—पहले तो यही प्रमाण कहते हैं कि उसके प्रतियोगित्वमें ही कोई प्रमाण नहीं है। और आत्मा अपने प्रागभावका स्वयं प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, क्योंकि प्रतियोगीके समयमें प्रागभावका अस्तित्व ही नहीं रहता, अतः जब एक कालमें ग्राह्य-ग्राहक नहीं हैं, तो आत्मासे प्रागभावका ग्रह कैसे हो सकता है। अन्य आत्मासे भी प्रागभावका प्रत्यक्ष तभी हो सकता है, जब कि आत्माका भेद हो, परन्तु 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' 'नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा एक ही है अनेक नहीं। स्वकीयानुमानसे भी स्वप्रागभाव सिद्ध नहीं हो सकता। साध्यसाधनका व्याप्तिग्रह नहीं है, बल्कि 'विमतः कालः, आत्मसत्तावान्, कालत्वात्, सम्मतवत्', इस अनुमानसे कालमात्रमें आत्मसत्ता ही सिद्ध होती है, प्रागभाव सिद्ध नहीं होता। 'आत्मा विक्रियावान्, आविर्भावतिरोभाववत्त्वात्, अग्न्यादिवत्', इस अनुमानसे भी आत्मामें विकार सिद्ध नहीं हो सकता। अग्न्यादि सावयव पदार्थ हैं, अतएव जन्य हैं, कारणके सद्भाव और असद्भावसे आविर्भाव और तिरोभाव होते हैं। आत्मा नित्य तथा निरंश है, अतः उसके आविर्भाव और तिरोभाव नहीं हो सकते। और दूसरी बात यह भी है कि तुम आविर्भाव और तिरोभावको आत्मामें कल्पित मानते हो या वास्तविक? प्रथम पक्ष इष्ट ही है, क्योंकि हम भी आविर्भाव और तिरोभाव आत्मामें कल्पित मानते ही हैं। द्वितीय पक्षमें शुक्ति-रजत, गन्धर्व-नगर आदिमें व्यभिचार है। रजतादि भी आविर्भूत और तिरोभूत प्रतीत होते हैं फिर भी इनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इसी तरह साध्य विक्रियावत्त्व भी कल्पित मानते हो या वास्तविक? इस विकल्पका भी पूर्व दोषसे ही खण्डन समझिए, यदि आत्मामें विकार नहीं है, तो विकार प्रतीत क्यों होता है? प्रतीत होनेका कारण यह है कि वास्तविक आत्मामें कर्तृत्वादि धर्म नहीं हैं। अज्ञानवश कर्तृत्वादिका भान होता है। आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर कर्तृत्वादि धर्मोंका भान नहीं होता।

[illegible] चैतन्यके समान वास्तविक आत्मधर्म हैं, [illegible]

मातृस्थं मेयगं मानं प्रतीचि त्रयसाक्षिणि ।
न व्यापारयितुं शक्यं वन्हिं दग्धुमिवोल्मुकम् ।।७४।।

नहीं है, क्योंकि चैतन्य तो आत्मस्वभाव है और कर्तृत्वादि चैतन्याधीन हैं, अतः दोनों समान नहीं हो सकते ॥ ७३ ॥

यदि यह कहिए कि कर्तृत्व आदि आत्मधर्म हैं कि नहीं ? यदि प्रथम पक्ष मानिए, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'कर्तृत्वादिर्नात्मधर्मः, दृश्यत्वात्, घटादिवत्', इस अनुमानसे दृश्यमान वस्तुमात्र अनात्मधर्म ही सिद्ध होता है । द्वितीय पक्षमें साधक ही नहीं कह सकते, आत्मधर्मसाधक प्रमाणके बिना आत्मधर्म कैसे माना जाय ? यदि कहिए कि 'अहं कर्ता' इत्यादि प्रतीति ही कर्तृत्वादिसाधिका है, अतएव 'कर्तृत्वादि आत्मधर्म नहीं हैं' यह अनुमान उक्त प्रत्यक्ष प्रतीतिसे विरुद्ध है यह अयुक्त है, क्योंकि 'अहम्' इस प्रत्यक्षको प्रमातृकर्तृक मानते हैं या साक्षिकर्तृक ? प्रथम पक्षमें उक्त प्रमाता तो साक्षीका विषय है अतः प्रमातृकर्तृक क्रिया साक्षीका कर्म नहीं हो सकता, जैसे अग्नि स्वदाह्य उल्मुक ( लुआठी ) अङ्गारका दाह्य नहीं है, इसीको कहते हैं— **'मातृस्थम्'** इत्यादिसे ।

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाला तथा पट आदि पराक् ( बाह्य ) विषयोंका अवलम्बन करनेवाला मान अर्थात् अन्तःकरणवृत्तिविशेषका प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय, इन तीनोंके साक्षीभूत प्रत्यगात्मामें व्यापार नहीं कर सकते, अर्थात् प्रमाणका विषय साक्षी नहीं हो सकता है । जैसे अग्निसे दग्ध होनेवाला उल्मुक वह्निको दग्ध नहीं कर सकता, वैसे ही साक्षीसे प्रकाशित होनेवाले प्रमाता आदि साक्षीका प्रकाश नहीं कर सकते, प्रकृतमें जैसे वह्नि और उल्मुकका दाह्यदाहकभाव संसर्ग है, वैसे ही साक्षी और प्रमाता आदिका प्रकाश्य-प्रकाशकभाव संसर्ग है, यह समझना चाहिए ।

साक्षी स्वतः किसी विकारसे युक्त नहीं है, अतः वह प्रमाका कर्ता नहीं हो सकता, यही कारण है कि 'कर्तृत्व आदि वस्तुतः आत्माके धर्म नहीं हैं', इस अनुमानमें 'अहं कर्ता' इत्यादि कर्तृत्वावगाही प्रत्यक्ष बाधक नहीं हो सकता है ।

शङ्का—प्रमाता आदिका साक्षी द्रष्टा है या नहीं ? यदि प्रथम पक्ष माना जाय, तो वह भी—साक्षी भी—किसी अन्य साक्षीसे दृश्य है, ऐसा अनुमान हो सकता अर्थात् साक्षी साक्षीसे वेद्य है, द्रष्टा होनेसे, प्रमातृवत् ; यह अनुमान

**परार्थसंहतानात्मभोग्यकर्त्रादिबोधिना ।**
**मानेन तद्विरुद्धोऽर्थः साक्ष्ययं मीयते कथम् ॥ ७५ ॥**

हो सकता है। इस परिस्थितिमें साक्षीमें भी वास्तविक कर्तृत्व आदि धर्मोंकी सिद्धि हो सकती है, तो कर्तृत्व आदि आत्मधर्म नहीं हैं, यह पूर्वोक्त अनुमान बाधित हो जायगा। द्वितीय पक्षका अवलम्बन करनेसे 'साक्षी अचेतनः, अद्रष्टृत्वात्, घटादिवत्' इस अनुमान द्वारा साक्षी अचेतन ही सिद्ध होगा, अतः उसमें साक्षित्वकी ही अनुपपत्ति होगी।

समाधान—जितने घट आदि बाह्य पदार्थ हैं, उनका चेतनके बिना प्रकाश नहीं हो सकता, इसलिए उनमें साक्ष्यत्व है और चिदात्मामें साक्षित्व है। चिदात्मामें, जो कि स्वयं प्रकाश है, साक्ष्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि वह आप ही अन्यका और अपना साक्षी है। उसके लिए अन्य साक्षीकी अपेक्षा नहीं है, यदि साक्षीकी अपेक्षा करेगा, तो वह खुद ही जड़ हो जायगा। अजड़ होनेपर साक्षीकी उसे अपेक्षा नहीं रहती। चेतनका अभेद होनेसे अन्य साक्षी है ही नहीं, अतएव वह आदित्यके समान स्वस्वरूपका आप ही प्रकाशक है।

फिर भी शङ्का होती है कि 'आत्मा मात्रादिग्राहकग्राह्यः, मात्राद्यविलक्षणत्वात्' जो जिससे विलक्षण होता है, वह उसके मानका विषय नहीं होता, जैसे आकाश घटसे विलक्षण है, अतः वह घटविषयक मानका विषय नहीं होता। प्रमाता आदिसे साक्षी विलक्षण है, इसमें 'साक्षी विलक्षणः, अपरार्थत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रमात्रादि' यह अनुमान प्रमाण है, साक्षी परार्थ है, इसमें 'विमतं परार्थम्, संहतत्वात्, शयनासनादिवत्' यह अनुमान प्रमाण है, इसीको बतलाते हैं—'परार्थसंहता' इत्यादिसे।

दूसरोंके लिए संहत भोग्यभूत प्रमाता आदि अनात्मपदार्थोंके बोधक मानसे ( प्रत्ययसे ) प्रमाण आदिसे विलक्षण साक्षीका ग्रहण कैसे हो सकता है! अर्थात् पराग्विषयक प्रमाण प्रत्यग्विषयक नहीं हो सकता। पराक् अनात्मा है और प्रत्यक् है आत्मा ॥ ७५ ॥

यदि आत्मा साक्षी है, तो उसका साक्ष्यके साथ कोई सम्बन्ध बतलाना चाहिए, सम्बन्धके बिना साक्षी नहीं हो सकता। और सम्बन्ध होनेसे वह असङ्ग नहीं हो सकता, इसपर कहते हैं—'साक्षिसाक्ष्या०' इत्यादिसे।

**साक्षिसाक्ष्याभिसम्बन्धः साक्षिवस्तुनि कल्पितः ।**
**साक्ष्यापेक्ष्यं न साक्षित्वं केवलानुभवात्मनि ॥ ७६ ॥**

साक्षिसाक्ष्यका संबन्ध केवल अनुभवस्वरूप साक्षीरूप आत्मामें अविद्यासे कल्पित है, वास्तविक नहीं है अथवा जैसे प्रकाश्यस्वरूप घटादिके साथ संबन्धके बिना भी सूर्यमें प्रकाशत्व है। अतः 'सविता प्रकाशते' इस व्यवहारमें प्रकाशकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि 'प्रकाशते' यह अकर्मक धातु है। इसलिए यहाँ कर्मकी अपेक्षा नहीं है। यदि 'प्रकाशयति' होता, तो किं प्रकाशयति ? अर्थात् किसका प्रकाश करता है, यह अपेक्षा हो सकती, किन्तु 'प्रकाशते' होनेसे प्रकाश्य कर्मकी नियमतः अपेक्षा नहीं होती; इसी तरह 'साक्षी केवलो निर्गुणश्चेतिता च' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा चेतन होनेसे साक्षी है, इसमें साक्ष्य सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं है।

यदि गुरुत्वादिके समान प्रकाशकत्वादिको भी नित्यसापेक्ष ही मानें, तो व्यवहारदशामें साक्ष्यसंबन्धको भी अविद्यानिमित्तक कह सकते हैं; इससे उसके असङ्गत्वमें हानि नहीं है। यदि वास्तविक धर्मसम्बन्ध मानें, तो असंगत्वकी हानि होगी। काल्पनिक धर्मसे नहीं होगी। मरुमरीचिकामें जलकी कल्पनासे मरुभूमि आर्द्र नहीं होती, अतएव भाष्यकारने कहा है—'यत्र यदध्यासः तत्कृतेन गुणेन दोषेण वाणुमात्रेण स न सम्बद्ध्यते'। वस्तुतः कल्पना तो पुरुषधर्म है, वस्तुधर्म नहीं है, अतः पुरुषकी कल्पनासे वस्तुमें क्या विशेष हो सकता है, अर्थात् कुछ नहीं। यदि साक्षीमें वास्तविक धर्मसंबन्ध होगा, तो वह भी संहत होनेसे परार्थ हो जायगा, इससे वह साक्षी ही नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुतिमें 'केवल' शब्द कहा गया है। 'केवल' शब्दका तात्पर्य है कि निरंश ही सांश और संहत कहलाता है। निर्गुण अर्थात् निधर्म है अर्थात् आत्मामें कोई वास्तविक धर्म नहीं रहता है। आत्माका साक्षित्वसाधक केवल चैतन्य ही है, इससे वह 'चेतिता' कहा गया है ॥ ७६ ॥

शङ्का—नैयायिकाभिमत इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि तो आत्मधर्म हो सकते हैं, देखिए—'इच्छादयः क्वचिदाश्रिताः, गुणत्वात्, रूपादिवत्' इस अनुमानसे इच्छादिमें द्रव्यसमवेतत्वकी सिद्धि होनेपर वे पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशके विशेष गुण नहीं हो सकते; क्योंकि ऐसा माननेसे बहिरिन्द्रियसे उनका प्रत्यक्ष प्रसक्त होगा, परन्तु ऐसा होता नहीं। एवं इच्छादि दिक्, काल,

मनके भी गुण नहीं हो सकते, कारण कि इनमें विशेष गुण नहीं रहता है, अतः परिशेषसे आत्मगुण ही उन्हें मानना चाहिए। इच्छा आदिके आत्मगुण होनेपर कर्तृत्वादि भी आत्मधर्म हो सकते हैं, क्योंकि 'इच्छन् करोमि' इस प्रतीतिसे इच्छा और कर्तृत्वका समानाधिकरण्य एक ही वस्तुमें प्रतीत होता है।

सामाधान—यह कहना ठीक नहीं है, देखिए—क्या इच्छादिको आप स्वतन्त्र मानते हैं? या परतन्त्र? प्रथम पक्षमें हेत्वसिद्धि दोष होगा, क्योंकि यदि वे स्वतन्त्र हैं तो गुण कैसे हो सकते हैं, क्योंकि गुण धर्मिपरतन्त्र होते हैं। द्वितीय पक्षमें आश्रयके ज्ञानके सिवा गुणका ज्ञान ही नहीं हो सकता, अतः धर्मीका निश्चय होनेपर अमुक धर्मीमें वे समवेत हैं, यह निश्चय होगा; तदनन्तर इच्छादिमें गुणत्वका निश्चय होगा, पहले नहीं होगा। और इच्छादि जड़ हैं, अतः वे स्वतः अपने आश्रयके साधक नहीं हो सकते। यदि उन्हें आत्मस्वरूप माना जाय, तो आत्मासे वे दृश्य नहीं होंगे, और इस परिस्थितिमें उन्हें रूपादिके समान गुण मानना भी अनुचित होगा। और 'इच्छादयः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः, तेषु असम्भावितत्वे सति गुणत्वात्, शब्दवत्' यह अनुमान भी श्रुतिविरोधसे असंगत है, क्योंकि 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इस श्रुतिसे इच्छादि मनोधर्म ही प्रतीत होते हैं, अतः उनको आत्मधर्म माननेसे उक्त श्रुतिके साथ स्पष्ट ही विरोध होगा। और यह विचारिए कि इच्छादि कार्य हैं? या नित्य हैं? नित्य कहिएगा तो नित्यकी निवृत्ति नहीं होती; इसलिए इच्छादि सदा आत्मामें रहेंगे, फिर मुक्ति कभी न होगी और मुक्तिसाधनोपदेशपरक वेदान्तादि शास्त्र भी व्यर्थ हो जायँगे। प्रथम पक्षमें इच्छादिका कारण है या नहीं? यदि नहीं है, तो बिना कारणके खपुष्पके समान कभी होंगे ही नहीं अर्थात् इच्छादि नित्य असत् ही रहेंगे अथवा आत्माके समान उनका नित्य सद्भाव ही रहेगा। नित्यपक्षमें कभी मुक्ति नहीं होगी। नित्यासद्भावपक्षमें बन्ध ही नहीं होगा। प्रथम पक्षमें क्या इच्छादि ही अपने कारण हैं या दूसरा कोई अथवा इच्छादि और दूसरा ये दोनों मिलकर करण हैं? पहले पक्षमें आत्माश्रय है, क्योंकि स्वके प्रति स्व कारण नहीं हो सकता, कारण सिद्ध रहता है और कार्य असिद्ध रहता है; एक समयमें एक ही पदार्थमें सिद्धत्व और असिद्धत्व नहीं बन सकता। असिद्ध इच्छादिको कारण मानें, तो मोक्षकालमें भी इच्छा उत्पन्न हो जायगी, क्योंकि इच्छाकी असिद्धि तो वहाँ भी है। द्वितीय पक्षमें इच्छादिसे भिन्न हेत्वन्तर इष्ट ही

**इच्छाद्वेषादयोऽप्येते न चिदात्मनि सम्मताः ।**
**कामः सङ्कल्प इत्येवं मनोधर्मत्वसंश्रवात् ॥ ७७ ॥**

नहीं है। अगर कोई दृष्ट है, ऐसा कहो और उसे कादाचित्क मानो, तो फिर कारणान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्थादोष होगा। यदि उसे सदातन मानो, तो सदा इच्छा होती ही रहेगी और मुक्तिका असंभव हो जायगा। तृतीय पक्षमें दूसरा कारण अचेतन है या चेतन ? प्रथम पक्षमें इच्छाजनकत्व उसका स्वभाव है या अस्वभाव ? प्रथम पक्षमें मोक्ष ही नहीं होगा। द्वितीय पक्षमें कभी भी वह इच्छाजनक नहीं होगा, क्योंकि जिसका जो स्वभाव नहीं है, उससे वह नहीं हो सकता। जैसे आकाशमें घटोत्पादकत्व स्वभाव नहीं है; अतः उससे घट नहीं हो सकता, इससे आत्मामें इच्छादि अविद्याकल्पित ही हो सकते हैं, वास्तविक नहीं; इस तात्पर्यसे कहते हैं—'इच्छाद्वेषादयः' इत्यादिसे।

इच्छा, द्वेष आदि धर्म आत्मामें वास्तविक नहीं हैं; क्योंकि 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुतिसे वे मनोधर्म ही सुने गये हैं, अतः वही मानना चाहिए। और यह भी दोष है कि इच्छादि आत्मासे भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? यदि भिन्न हैं, तो गाय और अश्वके समान उनका धर्मधर्मिभाव नहीं बन सकेगा। अभिन्न होनेपर भी यही दोष होगा। गौका गौके साथ धर्मधर्मिभाव जैसे नहीं हो सकता है, वैसे ही इच्छा और आत्माका अभेद होनेपर उनका परस्पर धर्मधर्मिभाव नहीं बन सकेगा। भिन्नाभिन्न मानना तो अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि भेदका भेदाभावरूप अभेदसे सदा विरोध ही है। अन्यथा भावाभावका विरोध ही सिद्ध नहीं होगा। और सर्वत्र भावाभावमूलक ही विरोध माना जाता है। आकाशकुसुमके समान तुच्छ भी नहीं कह सकते, क्योंकि आकाशकुसुमका प्रत्यक्ष नहीं होता है और इच्छा तो प्रत्यक्षसिद्ध है। इसलिए इन विचारोंसे यही सिद्ध होता है कि यद्यपि इच्छादि अपरोक्षसिद्ध हैं, तो वे भी आकाशनीलिमाके सदृश अनिर्वचनीय और आविद्यिक ही हैं॥ ७७ ॥

और इच्छाको उभयहेतुक माननेपर द्वितीय कारण यदि चेतन हो, तो वह जीव है या पर अथवा दोनों ? यदि जीव है, तो वह अनर्थरूपसे इच्छादिको अपने आप जानता है या नहीं ? प्रथम पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—'आत्मनश्चेदमी' इत्यादिसे।

आत्मनश्चेदमी सर्वेऽनर्थं कुर्यात् स्वयं कथम् ।
आत्मा जानन्यथा शत्रोस्तथा तस्मादनात्मवान् ॥ ७८ ॥

इच्छादि आत्मामें अनर्थ करते हैं, यह जानता हुआ जीव अनर्थके हेतु इच्छादिको क्यों करेगा ? यह तो किसी विचारशीलका कर्तव्य नहीं कि स्वयं ही शत्रुकी नाईं स्वात्मामें अनिष्ट सामग्रीका संचय करे, इसलिए इच्छादि अनात्म-पदार्थ हैं, यही पक्ष ठीक है। यदि इच्छादिमें अनर्थहेतुत्व जीवको विदित नहीं है, तो स्पष्ट ही इच्छादिमें अज्ञानकार्यत्व है; इसलिए इच्छादि आत्मासे उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं, यही मानना शास्त्र और युक्तिसे युक्त है।

यदि यह कहिए कि पर सर्वज्ञ है, अतः यह जानता है कि मुक्तमें इच्छा आदिकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक मुक्तिका उपाय है, इसलिए इच्छादिका वह उत्पादन नहीं करता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि मुक्तिका उपाय ज्ञान है या कर्म ? दोनों ही उस अवस्थामें नहीं हैं, तो प्रतिबन्धक कहांसे होगा ? यदि कहिए कि लौकिक दुःखनिवृत्तिके समान मुक्ति भी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप नहीं है, किन्तु 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि श्रुति द्वारा मुक्त और पर इन दोनोंका साम्य है, इसलिए मुक्त परप्रेरित इच्छादि अनर्थका परिहार करेगा। तो यह भी आश्वासन ठीक नहीं है; क्योंकि मुक्त अवस्थामें परिहारके उपाय शरीरेन्द्रियादि नहीं हैं, अतः परिहारसाधनके अभावमें परिहार कैसे कर सकता है ? उस समय शरीरेन्द्रियादि माने जायँ, तो संसारी ही हो जायगा, मुक्त नहीं होगा। तो क्या आप ईश्वरके भी शरीरेन्द्रियादि मानते हैं ? यदि नहीं तो उत्पादन कैसे करेगा ? यदि शरीरादिके विना भी ईश्वर उत्पादन कर सकता है, तो मुक्त भी वैसे ही परिहार कर सकेगा, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? आश्चर्य यह है कि ईश्वर मायावी है और मुक्त वैसा नहीं है।

यदि यह मानिए कि केवल जीव या केवल ईश्वर इच्छाका उत्पादक नहीं है, किन्तु दोनों मिलकर उत्पादक हैं, इसलिए मुक्तिदशामें इच्छादि उत्पन्न नहीं होते। यद्यपि जीवके मुक्त होनेसे इच्छादि उसके अनुकूल नहीं हैं, तथापि उसकी संसारदशामें वे अनुकूल हैं, इसलिए उत्पन्न होते हैं ?

यह भी ठीक नहीं है, जैसे केवल परजन्यत्वपक्षमें मुक्ति नहीं हो सकती

अविद्ययाऽऽत्मधर्मत्वे दोषः कश्चिन्न विद्यते ।
तद्धजनस्य संसिद्धेर्वेदान्तरात्मबोधनात् ॥ ७९ ॥

वैसे ही उभयजन्यत्वपक्षमें भी मुक्ति नहीं होगी, क्योंकि ईश्वर स्वतन्त्र तथा सर्व-शक्तिसम्पन्न है, अतः मुक्तको अनुकूल बनाकर इच्छादिका उत्पादन कर सकता है।

यदि कहिए कि मुक्तके उद्देश्यसे यही ईश्वरकी इच्छा है कि मुक्तको कभी दुःख न हो, इसलिए उनमें अनर्थोत्पादन नहीं करता, इससे मुक्तिमें दोष नहीं है ? तो दूसरेकी इच्छाका निश्चय आप कैसे कर सकते हैं। शायद ईश्वरकी ऐसी इच्छा ही न हुई, तो मुक्ति ही नहीं हो सकती ॥ ७८ ॥

हमारे ( वेदान्तियोंके ) मतमें तो कर्तृत्वादि अविद्यानिमित्तक हैं, परनिमित्तक नहीं हैं, अतः विद्यासे जब अविद्याकी निवृत्ति हो जायगी, तो 'कारणाभावात् कार्याभावः' इस न्यायसे मुक्तात्मामें अनर्थोत्पत्ति हो ही नहीं सकती, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'अविद्ययाऽऽत्मधर्मत्वे' इत्यादिसे ।

इच्छादि अनर्थ आत्मामें अविद्यासे ही हैं, अर्थात् आविद्यिक धर्म हैं, वास्तविक नहीं, यह हमारा मत है, इसमें कोई दोष नहीं है। वेदान्त द्वारा आत्मबोध होनेपर इच्छादि अनर्थका परिहार होता है। अविद्याका परिहार तो मोक्षदशामें भी है, इसलिए उस दशामें अनर्थोत्पत्तिकी संभावना नहीं है।

अच्छा तो यह बतलाइए कि अविद्यानिवर्तक अविद्या है, अथवा अविद्याकार्य, या आत्मा आहोस्वित् दूसरा कोई ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति अविद्यासे कहिए, तो स्वव्याघात दोष होगा, क्योंकि स्व यदि स्वका निवर्तक होगा तो स्वोत्पत्ति ही न हो सकेगी। द्वितीय पक्ष भी असंगत है, क्योंकि कार्य स्वोपादानका निवर्तक नहीं होता; अन्यथा स्वस्थिति ही नहीं होगी। तन्तुकी निवृत्ति यदि पटसे हो जाय, तो पट कहाँ रहेगा, इसलिए कार्य कारणका निवर्तक नहीं होता। तृतीय पक्षमें दोष यह है कि यदि आत्मा निवर्तक होगा, तो अविद्याका उपलम्भ ही नहीं होगा, अर्थात् अविद्याकी सत्ता ही सिद्ध न हो सकेगी। चतुर्थ पक्षमें कोई प्रमाण ही नहीं है अर्थात् दूसरा कोई निवर्तक है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है ।

इसका उत्तर देते हैं—आत्मबोधनात्, अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्मा

**अबोधकत्वान्नो मात्वं स्यादितोऽन्यार्थकल्पने ।**
**वेदान्तानामतो ध्यानविध्याद्यर्थो न कल्प्यताम् ॥ ८१ ॥**

भी उपत्ति और नाशकी प्रतीति होती है; वस्तुतः ज्ञान नित्य है, उसमें उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति औपाधिक है; जैसे 'घटाकाशो जातः, नष्टः' इत्यादि प्रतीतिसे आकाशमें भी औपाधिक उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति होती है; वैसे ही वृत्तिगत उत्पादविनाशका आरोप कर ज्ञानमें वैसी प्रतीति होती है। प्रत्यक्षादि प्रमाण परागर्थ-विषयक हैं, यह मानकर तत्फलभूत अखण्ड संवित् वेदान्तकी प्रमेय है; यह कहा गया है, वस्तुतः प्रत्यक्षादि परागर्थविषयक ही नहीं होते, अन्यथा निखिलद्वैताभावोपलक्षित ब्रह्ममें वेदान्त प्रमाण ही नहीं होंगे ॥८०॥

यदि द्वैतको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध मानेंगे, तो वेदान्तवाक्यसे द्वैताभावविषयक बोध ही नहीं होगा, तो अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य होगा, इसीको कहते हैं—'**अबोधकत्वात्**' इत्यादिसे ।

इससे—अद्वितीय ब्रह्मसे—अतिरिक्त द्वैतकल्पना करनेपर अर्थात् द्वैतमें प्रत्यक्षादि प्रमाण है; यह माननेपर प्रत्यक्षादिविरोधसे 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वेदान्तवाक्यमें अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य हो जायगा, अतः ब्रह्मातिरिक्त द्वैत है नहीं, किन्तु कल्पित तत्तादुपाधिविशिष्ट ब्रह्म प्रत्यक्षादिविषय है और निरुपाधि ब्रह्म वेदान्तविषय है, यही मानना उचित है । इसीसे ध्यानादिविध्यर्थ वेदान्त है, यह कल्पना नहीं हो सकती। यदि वेदान्तप्रमाणसे अद्वैत ब्रह्मको ही परमार्थ सत्य मानते हो, तो कर्मकाण्ड अप्रमाण ही हो जायगा, क्योंकि क्रियाकारकादि भेदके बिना तो कर्म हो नहीं सकता। भेदाभावरूप अभेद माननेसे कर्तृ, कर्म, साधन और फल यदि सब अभिन्न ही हैं तो कर्म ही कैसे हो सकेगा है, अतः कर्मकाण्ड अप्रमाण हो जायगा। वेदान्तियोंके लिए यह अनिष्ट नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, वेदान्तमें भी अप्रामाण्याशङ्का होगी । कर्मकाण्ड जैसे वेद हैं, वैसे ही वेदान्त भी वेद हैं । यदि वेदैकदेश कर्मकाण्ड वेदान्तविरोधसे अप्रमाण हो जाय, तो कर्मकाण्डविरोधसे वेदान्त ही अप्रमाण क्यों न होगा; विशेष तो कोई है नहीं । वस्तुतः कर्मकाण्डके समान प्रत्यक्षादि प्रमाण भी विरोधी हैं, इसलिए 'भूयसामनुग्रहो न्यायः' इस न्यायसे वेदान्ताप्रामाण्य ही मानना ठीक है । इसलिए वेदान्तियोंको कर्मकाण्डका अप्रामाण्य इष्ट नहीं है, अन्यथा वेदान्तप्रामाण्यमें विश्वास न होगा, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'**नन्वेवमपि**' इत्यादिसे ।

नन्वेवमपि मानत्वव्याघातः स्यात् क्रियाविधेः ।
अद्वयात्मनि सम्बुद्धे कर्मानुच्छित्त्यसम्भवात् ॥ ८२ ॥
नैतदेवं यतो शेषमानानामपि मानता ।
आपरात्मावबोधात् स्याद्बोधात्पूर्वमबाधनात् ॥ ८३ ॥
ऊर्द्ध्वं त्विष्टममानत्वमैकात्म्यमतिबाधनात् ।
मानान्यपि च बाध्यन्ते मानेन प्रबलेन हि ॥ ८४ ॥

---

वेदान्तवाक्य द्वारा अद्वितीयात्माके ज्ञात होनेके बाद उक्त प्रामाण्यके अनुरोधसे अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य अर्थ है, इसका स्वीकार करनेपर क्रियाविधिपरक कर्मकाण्डका प्रामाण्य ही नष्ट हो जायगा, अतः वेदान्तमें भी विश्वास नहीं रह सकता, क्योंकि दृष्ट अर्थके अनुकूल ही अदृष्ट अर्थ भी माना जाता है, दृष्टविरुद्ध नहीं, इससे कर्मकाण्डकी प्रामाण्यरक्षाके लिए द्वैत मानना ही ठीक है क्योंकि प्रत्यक्षादिके प्रामाण्यकी रक्षा इसीसे हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥८२॥

प्रत्यक्षादि तथा कर्मकाण्डमें तात्त्विक प्रामाण्यका भङ्ग होगा, यह शङ्का है अथवा व्यावहारिक प्रामाण्यका भङ्ग होगा, यह शङ्का है ? यदि तात्त्विक प्रामाण्यके भङ्गकी आपत्ति हो, तो वह इष्ट ही है। द्वितीयके विषयमें कहते हैं—'नैतदेवम्' इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानसे पहले विषयका बाध नहीं है, इसलिए सब प्रमाणोंमें प्रमाणता है, आत्मज्ञानोत्तर सब अनात्म पदार्थोंकी निवृत्ति हो जानेसे विध्यादिमें प्रामाण्य इष्ट नहीं है ॥८३॥

इसीको सविस्तर कहते हैं—'उर्ध्वम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मज्ञानोत्तर ब्रह्मात्मैकत्वबुद्धिसे प्रपञ्चका बाध होनेपर प्रमाणोंमें अप्रमाण्य इष्ट ही है। प्रमाण भी प्रबल प्रमाणसे बाधित होता है, इसलिए प्रमाणोंमें परस्पर बाध्य-बाधकभाव नहीं होता, यह कहना व्यर्थ है। विद्वान् भी तो जब तक शरीर रहता है तब तक प्रमाणोंसे व्यवहार करता ही है, अतः कैसे कहते हैं कि ज्ञानके बाद विध्यादि प्रमाण नहीं हैं ? हां, वह व्यवहार करता है, परन्तु प्रत्यक्षादि वास्तविक प्रमाण हैं, यह जानकर नहीं, किन्तु पूर्ववासनानुवृत्तिसे व्यवहार होता है ॥८४॥

श्येनादिविधिबाधः स्यादहिंसाविधिना यथा ।
तथैवैकात्म्यमानेन द्वैतमानं प्रबाध्यताम् ॥ ८५ ॥
श्येनाहिंसाविधी एतौ दृष्टादृष्टार्थभेदतः ।
व्यवस्थितौ तयोरेकमबाध्यममतं यदि ॥ ८६ ॥
तर्ह्यद्वैतद्वैतमाने तत्त्वातत्त्वार्थगोचरे ।
उभयोर्व्यवतिष्ठेतां नरयोर्मुक्तबद्धयोः ॥ ८७ ॥

'ऐक्यज्ञानं मानबाधकं न , मानत्वात् , मानान्तरवत्' इस अनुमानसे जैसे प्रत्यक्षादि मान अनुमानादि मानका बाधक नहीं है, वैसे ही आत्मज्ञान भी मानका बाधक नहीं हो सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**श्येनादि**' इत्यादिसे ।

जैसे 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस अहिंसाविधिसे 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस हिंसाविधिका बाध होता है, वैसे ही ब्रह्मात्मैक्यज्ञानप्रमाणसे द्वैतविषयक प्रत्यक्षादि प्रमाणका भी बाध होता है, अतः उक्त अनुमान व्यभिचारी होनेसे मान्य नहीं है ॥८५॥

शत्रुपर क्रोधसे जिस पुरुषका चित्त अपने वशमें नहीं है, वह अवश्य शत्रुकी हिंसा करना चाहता है, अतः उसके लिए ही श्येनादि याग शत्रुवधके उपायरूपसे प्रदर्शित किया गया है, और जिसका चित्त शत्रुपर द्वेष होनेपर भी अपने वशमें है अर्थात् जो शत्रुवधका परिणाम नरकनिपात आदि समझकर हिंसा नहीं करना चाहता, उसके प्रति अदृष्टार्थ 'मा हिंस्यात्' इत्यादि श्रुतिसे अहिंसाविधि है, अतः दोनों वाक्योंके व्यवस्थिताधिकारिपरक होनेसे उनका परस्पर बाध्य-बाधकभाव ही नहीं होता, इसीको कहते हैं—'**श्येना**' इत्यादिसे ।

श्येन और अहिंसाविधि ये दोनों उक्त अधिकारिपुरुषके भेदसे व्यवस्थित हैं, हिंसाविधि दृष्टार्थक है और अहिंसाविधि अदृष्टार्थक है, इसलिए इन दोनोंमें एक बाधक और अपर बाध्य नहीं है, अतः प्रमाणोंमें परस्पर बाध्यबाधक होनेका दृष्टान्त नहीं हो सकता, अतः ऐक्यज्ञानसे द्वैतविषयक प्रमाणोंका बाध नहीं बन सकता ॥८६॥

इसपर कहते हैं—'**तर्ह्यद्वैत**' इत्यादिसे ।

बद्ध पुरुषके लिए अतत्त्वार्थविषयक प्रत्यक्षादि प्रमाण और मुक्त पुरुषके

**कर्माण्यतो विधीयन्तामविवेकिनरं प्रति ।**
**न तु विध्वस्तसकलकर्महेतुं बुधं प्रति ॥ ८८ ॥**

लिए तत्त्वार्थगोचर अद्वैतज्ञान ये दोनों ही व्यवस्थित हैं, इसलिए कर्मकाण्डमें व्यावहारिक प्रामाण्य है, तात्त्विक नहीं है ।

'विमतं कर्मकाण्डप्रामाण्यं तात्त्विकम्, मानत्वात्, आत्मैक्यज्ञानवत्' इस अनुमानसे कर्मकाण्डका प्रामाण्य भी तात्त्विक ही है, व्यावहारिक नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञानके साथ कर्महेतु वर्ण, आश्रम और शरीर आदिके अभिमानका नाश होनेपर विद्वान्के प्रति कर्मका विधान नहीं हो सकता है ॥८७॥

उक्तानुमानमें मानत्वरूपहेतु तत्त्वावेदकत्वरूप है या व्यवहारिकत्वरूप है ? प्रथम पक्षमें साध्याविशिष्ट होनेसे साध्यसम हेतुदोष है, जैसे अनुमानसे पहले पक्षमें साध्य अप्रसिद्ध है, अतएव हेतु द्वारा साध्य है, वैसे ही यदि हेतु भी पक्षमें अप्रसिद्ध हो, तो साध्यवत् हेतु भी साध्य ही कहलाता है, अतः हेतुको सिद्ध करनेके लिए हेत्वन्तरकी अपेक्षा होगी, क्योंकि जब तक हेतु न होगा तब तक साधन नहीं हो सकता । यदि हेतु और साध्य दोनों साध्य ही रहें, तो साध्यसम हेत्वाभास हेतुदोष है, दुष्ट हेतुसे साध्य नहीं सिद्ध होता । द्वितीय पक्षमें स्वाप्निक बोधमें व्यभिचार है, इसलिए अनुमान द्वारा भी विध्यादिमें तात्त्विक प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता, इसे कहते हैं— **'कर्माण्यतो'** इत्यादिसे ।

अविवेकी, शरीराद्यभिमानी तथा अज्ञानी पुरुषके प्रति कर्मोंका विधान है, अतः कर्मकाण्डमें व्यावहारिक प्रामाण्य ही है । आत्मविद्याके उदय द्वारा जिनका अज्ञानके साथ कर्मके प्रति हेतुभूत शरीराद्यभिमान निवृत्त हो गया है, ऐसे विद्वान्के प्रति कर्मोंका विधान नहीं है । विद्वान् कर्मके अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि ऐक्यप्रमासे सम्पूर्ण साध्यसाधनफलभेद ही जब विद्वान्का निवृत्त हो गया है, तो वह कर्मोंमें प्रवृत्त होगा कैसे ?

यदि कहिए कि विद्वान्के प्रति कर्मविधि न सही, परन्तु विविदिषावान्के प्रति तो 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिसे कर्मका विधान हो सकता है, इसलिए वेदान्तकी तरह विध्यादिमें भी तात्त्विक प्रामाण्य मानना उचित है तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विवेक, वैराग्य और विविदिषा आदिसे युक्त पुरुष कर्मसंन्यासपूर्वक श्रवण मननादिका अधिकारी है, यह

सम्यग्विमृदिताशेषध्वान्तस्य च न पूर्ववत् ।
अज्ञानादि पुनः कर्तुं शक्यते हेत्वसम्भवात् ॥ ८९ ॥
सर्वकर्मनिरासेऽतो ऽधिकारः स्यादविवेकिनः ।
बुभुत्सोरपि संसिद्धो बुद्धत्वपदवाञ्छनात् ॥९०॥

आत्मयथार्थज्ञानका हेतु है, अतः कर्मप्रवृत्ति प्रतिकूल होनेसे पूर्वोक्ताधिकारीका कभी भी उसमें अधिकार नहीं है, इसलिए अविवेकीके प्रति कर्माधिकार है, अतः कर्मकाण्डमें व्यावहारिक ही प्रामाण्य है, तात्त्विक नहीं ॥८८॥

**'सम्यग्विमृदिता'** इत्यादि ।

समीचीन आत्मज्ञानसे जिनका सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो गया है, वे पहलेकी तरह अज्ञानादिप्रयुक्त कर्म नहीं कर सकते । कर्मका मूल अज्ञान है, अज्ञानका विरोधी तत्त्वज्ञान है । जब तत्त्वज्ञान होनेपर निःशेष अज्ञानकी निवृत्ति होती है, तो कर्म कैसे हो सकता है ॥८९॥

यदि कहिए कि जब तक अपना ज्ञान न होगा तब तक विवेकी भी कर्म नहीं त्यागता, ज्ञान होनेपर ही त्याग करता है, पहले नहीं; क्योंकि 'यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' ऐसा स्मृतियोंमें लिखा है, अतः ज्ञानीको न सही, परन्तु विविदिषुका तो कर्माधिकार है ही, इसपर कहते हैं— **'सर्वकर्मनिरासे'** इत्यादिसे ।

विवेकी विविदिषुको भी सब कर्मोंके त्याग ही में अधिकार है, अर्थात् जब तक विविदिषा उत्पन्न न हो, तब तक कर्माधिकार है । कर्म विविदिषाका कारण है । विविदिषाके उत्पन्न होनेपर आत्मज्ञानकी ही कामना होती है, सो तो कर्मसंन्यासपूर्वक श्रवणादिसे ही होगा, इसलिए प्रयोजनाभावसे कर्मत्याग ही उचित है, कर्त्रादिकारकव्यवहार ही कर्म कहलाता है, अतः कर्त्रादिकारकका व्यवहार रहनेपर आत्मजिज्ञासा नहीं होगी । अगर होगी भी, तो शुद्ध वस्तुके दर्शन करनेमें समर्थ नहीं हो सकती । कर्ममें ही चित्त लगा रहेगा, यह किया, वह करना बाकी है इत्यादि । इसलिए विवेकोत्पत्ति ही कर्मकी सीमा है, विवेक हो जानेपर कर्मका त्याग ही श्रेयस्कर है । गीतामें भी यही उपदेश दिया है—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥'

कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते ।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे तु कारकव्यापृतिर्न हि ॥९१॥
कारकाकारकधियोर्नैकदैकत्र वस्तुनि ।
विरोधात्सम्भवोऽस्तीह प्रकाशतमसोरिव ॥९२॥
अविरोधः क्रमेण स्यात् स्थितिगत्योरिवेति चेत् ।
नात्मज्ञानस्य कूटस्थवस्तुतन्त्रत्वहेतुतः ॥ ९३ ॥

---

'यज्ञो दानं तपः कर्म' इत्यादि उक्त वाक्य नित्यकर्मस्तुतिपरक है ॥९०॥

जब निष्प्रपञ्चतत्त्वविषयक विवेक हो गया तब कर्मका निमित्त अभिमान ही शिथिल हो गया, इसलिए कर्माधिकार नहीं हो सकता, इसीको कहते हैं—**'कारकव्यवहारे'** इत्यादिसे ।

कारकव्यवहार और कर्मव्यवहारके रहनेपर पुरुष शुद्ध वस्तुको—आत्मतत्त्वको—नहीं देख सकता, शुद्ध वस्तु देखनेपर अर्थात् आत्मज्ञान होनेपर अज्ञानका नाश होता है, फिर कारकव्यापार या कर्म रहते ही नहीं ॥९१॥

और यह भी प्रश्न है कि विवेकीको कारक ( कर्म ) और अकारककी ( आत्माकी ) बुद्धि है या नहीं ? कर्म करनेके लिए कारकज्ञान आवश्यक है, इसलिए दोनों ज्ञान एक समयमें हैं या क्रमशः हैं ? पहले पक्षमें कहते हैं—**'कारकाकारक'** इत्यादिसे ।

एक समयमें एक वस्तुके विषयमें कारक और अकारकका ज्ञान प्रकाश और अन्धकारके सदृश परस्पर विरुद्ध होनेसे नहीं हो सकता । जैसे एक ही स्थलमें एक समयमें प्रकाश और अन्धकार नहीं रहते, वैसे ही एक ही आत्मामें एक समयमें कारकत्व ( कर्तृत्व ) और अकारकत्व ये दोनों ज्ञान नहीं हो सकते ॥९२॥

जब तक स्वात्मामें कर्तृत्वज्ञान न होगा तब तक हम कर्ता हैं ऐसा नहीं समझेगा, प्रत्युत वेदान्त द्वारा उसे यह निश्चय हुआ है कि हम अकर्ता हैं, अतः कर्माधिकारी न होनेसे कर्म नहीं कर सकता । द्वितीय पक्षसे अर्थात् क्रमशः, इस पक्षमें कहते हैं—**'अविरोधः क्रमेण स्यात्'** इत्यादिसे ।

स्थिति और गतिनिवृत्ति ये दोनों क्रमशः गति, निवृत्ति और स्थिति स्वरूप हैं, पर भावाभावात्म होनेसे विरुद्ध हैं । फिर भी जैसे क्रमसे पूर्व गति पश्चात् स्थिति या पूर्व स्थिति पश्चात् गति दोनों कालभेदसे एक ही में रहते हैं वैसे ही कालभेदसे आत्मामें कर्तृत्व और [illegible]

**नौष्ण्यात्मको मितो वन्हिः क्रमशोऽक्रमशो ऽथवा ।**
**वस्तुतः शीततामेति कर्तृतन्त्रं तथा भवेत् ॥ ९४ ॥**

आपत्ति नहीं है ? यह ठीक है, किन्तु यह तो कहिए कि पहले कारकत्वज्ञान पश्चात् अकारकत्वज्ञान यह क्रम विवक्षित है या पहले अकर्तृत्वज्ञान पश्चात् कर्तृत्वज्ञान यह क्रम अभीष्ट है ? प्रथम पक्ष तो मानते हैं, क्योंकि संसारदशामें अज्ञानवश अपनेको कर्ता मानता ही है और विवेकादि साधनसंपन्न होनेपर अकर्ता समझता है, यह तो ठीक ही है, किन्तु द्वितीय पक्षमें अकर्ता आत्मा है, यह निश्चय विवेकादिसम्पन्न पुरुषको ही होगा, दूसरेको नहीं; क्योंकि विवेकी होनेपर मोक्षाधिकारी है, कर्माधिकारी नहीं, क्रमसे—प्रथम अकर्ता पश्चात् कर्ता इस क्रमसे—आत्मामें कर्तृत्वाकर्तृत्वज्ञान नहीं हो सकता, स्थिति और गति तो पुरुषतन्त्र याने पुरुषाधीन हैं, पुरुषेच्छासे स्थितिपूर्वक गति और गतिपूर्वक स्थिति ये दोनों होते हैं । चाहे ठहरके जाय या जाकर ठहरे, पर ज्ञान तो वस्तु-तन्त्र अर्थात् वस्त्वधीन है, जैसी वस्तु रहेगी, वैसा ही ज्ञान होगा, अन्यथा नहीं । जब वेदान्तप्रमाण द्वारा आत्मा कूटस्थ अविकारी नित्य है, यह निश्चय हो गया तब कर्तृत्वादिविकारशून्य होनेसे, उसमें कर्तृत्वादिज्ञान कैसे हो सकेगा ? कर्तृत्वादिज्ञानोत्पादक अज्ञानादि पूर्वके समान तो हैं नहीं, क्योंकि उनका तत्त्वज्ञानसे समूल नाश हो गया है ॥९३॥

फिर भी आत्मा अकारक है, यह निश्चय होनेपर कल्पित कारकत्वका ज्ञान होगा या अकल्पित कारकत्वका ? आद्य पक्षमें कल्पिताधिकारी जो वस्तुतः अनधि-कारी है, वह भी कर्माधिकारी हो जायगा, परन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि वास्तविक अधिकारी विशेषण विवक्षित है । कल्पित ब्राह्मणादि यागाधिकारी नहीं हैं, किन्तु वास्तविक, इस द्वितीय पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—'**नौष्ण्यात्मको**' इत्यादिसे ।

जैसे उष्णस्वभाव अग्नि क्रमसे—कालभेदसे—या अक्रम—एक कालमें—भी शीत-स्वभाव नहीं होती, कारण उष्णत्व या शीतत्व वस्तुतन्त्र हैं, वैसे ही कर्तृत्वादि वस्तुतन्त्र हैं अतः आत्मामें कभी वास्तविक नहीं रहते, किन्तु कल्पित ही रहते हैं, वास्तविक तो अकर्तृत्व ही है । 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादि वाक्यप्रमाणसे षोडशिग्रहणाग्रहणके सदृश कर्मवाक्यके प्रामाण्यसे आत्मामें कर्तृत्व और वेदान्तवाक्यके प्रामाण्यसे अकर्तृत्व ये दोनों धर्म मानने

भेदाभेदावुपाश्रित्य यो ऽप्याह ज्ञानकर्मणोः ।
एकाधिकारं, सोऽप्यत्र विरुद्धत्वं कथं नुदेत् ॥ ९५ ॥

चाहिएँ, अन्यथा—अकर्तृत्व ही माननेपर—कर्तृत्वबोधक कर्मवाक्य अप्रमाण हो जायँगे, यह विचार ठीक नहीं है शोडशिग्रहण पुरुषतन्त्र है, ग्रहण करना न करना पुरुषकी इच्छापर निर्भर है, इसलिए जिसकी इच्छा हो वह ग्रहण करे, जिसकी इच्छा न हो वह ग्रहण न करे, फलमें उभयथा हानि नहीं है, इसीसे उसे विकल्प कहा जाता है। प्रकृतमें कर्तृत्वादि वस्तुतन्त्र हैं, इसलिए विकल्प नहीं हो सकता। विकल्प माननेपर वस्तु विरुद्धधर्मविशिष्ट होनी चाहिए, परन्तु वह हो नहीं सकती। अग्नि शीत और गरम उभयस्वभाव नहीं देखी गई है ॥९५॥

भास्करके मतानुयायी ब्रह्ममें भेदाभेद दोनों मानते हैं, अतः उनके मतसे कर्तृत्वाकर्तृत्व दोनों आत्मामें पारमार्थिक धर्म हो सकते हैं? इस पर कहते हैं—'**भेदाभेद**' इत्यादिसे।

भेदाभेद मानकर एक पुरुषके भी ज्ञान और कर्ममें अधिकार है, यह जो कहा गया है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि कर्तृत्वाकर्तृत्वका विरोध कैसे हटेगा? जब तक विरोध दूर न हो सके तब तक दोनों धर्म एक धर्मीमें नहीं रह सकते, अतः यह मत भी ठीक नहीं है। भास्करका यह मत है कि 'एतस्मादात्मनः आकाशः संभूत आकाशाद् वायुरित्यादि और 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियोंसे एवं 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति इत्यादि श्रुति और अथातो ब्रह्मजिज्ञासा 'प्रकृतिश्च'इत्यादि वेदान्तसूत्रोंसे तथा 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' इत्यादि स्मृतियोंसे एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाका समर्थन द्वारा यह निश्चय किया है कि ब्रह्म जगत्का उपादान तथा निमित्त दोनों कारण है, ब्रह्म नित्य है, किन्तु कूटस्थ नित्य नहीं है, परिणामी नित्य है, जिसके परिणाम होनेपर भी 'तदेवेदम्' अर्थात् ( वही यह है ) यह बुद्धि नष्ट नहीं होती, वह परिणामी नित्य कहलाता है।

जैसे सुवर्णका कुण्डलरूपसे परिणाम होता है, किन्तु यह वही सुवर्ण है, इस बुद्धिका नाश नहीं होता, इसलिए सुवर्णादि परिणामी नित्य हैं, वैसे ही ब्रह्मका जगद्रूपसे परिणाम होनेपर भी ब्रह्मबुद्धि नष्ट नहीं होती, अतः ब्रह्म परिणामी

**अतश्चाज्ञानकर्मादिधर्मशून्यमविक्रियम् ।**
**अक्रियाकारकं वाञ्छन्नानन्दं श्रुतिमानतः॥ ९६ ॥**

नित्य है। अप्रच्युतस्वभाव होनेसे वह अकारकबुद्धिका भी विषय है। और परिणामभेदसे अनेकविध होनेके कारण कारकबुद्धिका भी विषय है, अतएव भेदनिमित्तक होनेपर भी कर्मकाण्ड प्रमाण ही है, परिणामापेक्षासे भेद पारमार्थिक ही है, स्वभावाप्रच्युत्यपेक्षासे कूटस्थ तथा अद्वितीय भी कह सकते हैं।

इसीसे भेदाभेदका प्रतिपादन करनेवाले द्वैताद्वैततियोंके मतमें भी प्रामाण्य अक्षुण्ण रहता है और अभेदांश लेकर एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी प्रतिज्ञा भी समर्थित हो जाती है, इत्यादि पूर्वपक्ष भी हो सकता है। इसका निराकरण करते हैं—**विरुद्धत्वं कथं नुदेत्**। आपका कहना तो ठीक है, किन्तु इस मतमें असल बाधक विरोध है। उसके परिहारका उपाय तो है नहीं, जहाँ भेद रहता है, वहाँ अभेद नहीं रहता। जो महिषादि गउसे भिन्न है उस महिषादिमें गवाभेद नहीं रहता, अन्यथा विरोध ही संसारसे सदाके लिए कूंच कर जायगा। अतः एकमें भी अनेक बुद्धि होगी, इसलिए भिन्नत्व और अभिन्नत्व वस्तुतन्त्र है, बुद्धितन्त्र नहीं, अतः वास्तवमें भेदाभेद एकमें नहीं रह सकता। हां, एकको पारमार्थिक और दूसरेको कल्पित माने, तो विरोध नहीं, यदि भेद वास्तविक माने तो वस्तुतन्त्र होनेसे भेदबुद्धि प्रमाण होगी और भेदप्रमाके होनेपर अभेदबुद्धि उत्पन्न होगी नहीं। यदि अभेद पारमार्थिक होगा तो, उसके वस्तुतन्त्र होनेसे अभेदबुद्धि ही प्रामाणिक होगी, तो विरोधसे भेदबुद्धि न होगी, इसलिए चाहे भिन्न ही मानिए या अभिन्न ही मानिए, दोनोंका एकमें होना बनता नहीं, यदि एकमें भिन्नाभिन्नत्व वास्तव नहीं, अर्थात् एकमें भिन्नाभिन्नत्वबुद्धि यदि अप्रमाण है, तो कोई क्षति नहीं है।

यदि प्रामाणिक कहिए, तो उक्त विरोधका परिहार नहीं हो सकता। आत्मामें भिन्नाभिन्नत्वबुद्धि कल्पित है, तो अभिन्नत्वबुद्धि पारमार्थिक और भिन्नत्वबुद्धि कल्पितभेदविषयक होनेसे अप्रामाणिक है, यहीं मानना उचित है। व्यावहारिक होनेसे व्यवहारदशामें अपेक्षित है, अभेदके पारमार्थिक होनेसे परमार्थ मुक्तिदशामें वह अपेक्षित है। आत्मा सदा एकरस है, 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुतिमें, एक एव अद्वितीय, ये तीन विशेषण हैं, इनके प्रयोजन प्रदर्शनके समय यह विशेषरूपसे कहेंगे कि आत्मामें भेदाभेद नहीं बन सकता।

वारिपथ्याशनोपेतं सर्वानर्थविवर्जितम् ।
मार्गं त्यक्त्वा सुधीः को वा यियासत्यतथाविधे ।। ९८ ।।

किन्तु ब्रह्ममें वस्तुपरिच्छेद होनेसे ब्रह्म ही अब्रह्म हो जायगा, यह दोष भी नहीं कह सकते, कारण कि संसार कल्पित है वास्तविक नहीं है, अकल्पित कहलाता है कल्पित नहीं। संसारान्तर्गत कर्मादि कल्पित हैं, अतः जिज्ञासुको कर्माधिकार नहीं है।

**'अतश्चाऽज्ञान०'** इत्यादि । अज्ञान और कर्म आदि धर्मोंसे शून्य, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विक्रियाओंसे रहित, अक्रिय, अकारक एवं सकल द्वैतके अभावसे उपलक्षित आत्माके स्वरूपमोक्षकी कामनासे ( मोक्षसे ) विरुद्ध फल अर्थात् ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयरूप फल देनेवाले अतएव अव्ययात्मकफलसे विरुद्धफलवाले तथा शरीरेन्द्रियादि और द्रव्यदेवतादिसे साध्य कर्तृ-कर्मकरणाद्यनेककारकात्मक कर्ममें जानकार विवेकी कौतुकसे मनोविनोदके लिए भी चित्त धारण नहीं करता अर्थात् उसका चित्त उसमें नहीं लग सकता । [ यह श्लोकयुग्म है, पूर्वश्लोकमें प्रधान क्रिया नहीं है, उत्तरश्लोकमें है । दोनोंमें प्रधान क्रिया एक ही है, अतः पृथक् क्रियार्थ बोध नहीं है । जिनका एक साथ ही वाक्यार्थ बोध होता है, ऐसे दो श्लोकोंको युग्म कहते हैं ] ॥९६, ९७॥

समीचीन सुकरोपाय मिलनेपर बुद्धिमान् मनुष्य दुष्कर संन्दिग्धोपायका आश्रयण नहीं करता, इसमें लौकिक दृष्टान्तके साथ कहते हैं—**'वारिपथ्याशनोपेतम्'** इत्यादिसे ।

प्रसंगवश इसका अर्थ पहले कह चुके हैं। यहां फिर संयोगवश कथित अर्थका स्मरण करा देते हैं। अर्थ तो बिलकुल स्पष्ट है। जलभोजनादि सुलभ मार्गका त्यागकर बुद्धिमान् दुर्लभ जलादि, संदिग्ध मार्गमें जानेकी इच्छा नहीं करता। यदि यह कहिए कि 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यादि स्मृतिवाक्यसे कर्ममें मुक्तिकारणता यदि प्रतीत होती है, तो कर्म मुक्तिविरुद्धफलक है, यह कहना ही ठीक नहीं है। इसलिए जिज्ञासु भी कर्मका अधिकारी ही है ॥९८॥

**'विरक्तस्य तु'** इत्यादि। ऐहिकामुष्मिकफलविरक्त जिज्ञासुको ज्ञानसे अतिरिक्त कर्मादिकी अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि कर्मकी अपेक्षा साध्यमें—कर्मसाध्यमें—

विरक्तस्य तु जिज्ञासोर्ज्ञानान्यम्यपेक्षणम् ।
कर्मापेक्षा हि साध्येऽर्थे सिद्धेऽर्थे न तदर्थकम् ॥ ९९ ॥
ऐकात्म्यमेव तन्मेयं तस्यैवाऽप्रतिबोधतः ।
बुद्धो भेदो न तन्मेयो भेदाभेदौ तु दुःशकौ ॥१००॥

होती है, सिद्ध मोक्षरूप अर्थमें नहीं होती। साध्य घटादिमें कर्मापेक्षा है, सिद्ध घटकी अभिव्यक्तिके लिए दण्डादिकी अपेक्षा नहीं होती, किन्तु प्रदीपकी ही अपेक्षा होती है ॥ ९९ ॥

आत्मज्ञान मुक्तिका हेतु है, यह माननेपर भी अद्वैतात्मज्ञान ही मुक्तिसाधन है, यह स्वीकार नहीं हो सकता; अन्यथा कर्माधिकार न हो सकेगा। आत्मज्ञानका तात्पर्य तटस्थ ईश्वरज्ञानमें है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं— **'ऐकात्म्यमेव'** इत्यादिसे।

ऐकात्म्य ही जिज्ञासुके लिए मेय अर्थात् प्रमेय है, क्योंकि वही प्रमाणान्तरसे सर्वथा अज्ञात है, और भेद अर्थात् द्वैतप्रपञ्च तो प्रत्यक्षादि प्रमाणसे ज्ञात ही है; अतः ज्ञातज्ञापनपरक वाक्यका अनुवाद होनेसे वह प्रमाण नहीं हो सकता। 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' इस न्यायसे प्रमाणान्तरसे प्रसिद्ध अर्थके बोधक जो शब्द हैं, वे अनुवादकमात्र हैं, भेद और अभेद दोनों तो पूर्वोक्त रीतिसे असम्भव ही हैं, अतः भेद और अभेदमें तात्पर्य मानना असङ्गत ही है ॥१००॥

अच्छा तो इसका विचार कीजिये—अविद्या किसमें है, ब्रह्ममें है या जीवमें है अथवा स्वतन्त्र है? प्रथम पक्षमें ज्ञानस्वभाव सर्वज्ञ ब्रह्ममें तद्विपरीतस्वभाव अज्ञान सूर्यमें अन्धकारके समान कैसे रह सकता है? द्वितीय पक्षमें अविद्याके बिना जीवभाव ही नहीं बन सकता, क्योंकि अविद्योपाधिक ही जीव है। अविद्या होनेपर जीवभाव और जीवभाव होनेपर अविद्या इस अन्योन्याश्रय दोषसे जीवमें भी अविद्या नहीं रह सकती। और यदि ब्रह्ममें अविद्या न मानें, तो जीवमें अविद्या है, यह कहना भी नहीं बनता, कारण कि जीव तो ब्रह्मसे अभिन्न ही है, ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ऐसी अवस्थामें ब्रह्ममें अविद्या नहीं है यह माननेपर ब्रह्माभिन्नमें अविद्या है, यह कैसे कहा जायगा? तृतीय पक्षमें ब्रह्मकी तरह अविद्या भी ज्ञाननिवर्त्य नहीं हो सकती। ज्ञान स्वतन्त्र पदार्थका नाशक नहीं है, इसलिए विद्या ही निरर्थक हो जायगी। [illegible]

नन्वविद्यावदिष्टं चेद् ब्रह्म दोषो महानयम् ।
निरविद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते ।। १०१ ।।
मैवं नभःस्थसूर्यस्य समेघामेघते इव ।
सविद्यनिरविद्यत्वे किं न स्तो दृष्टिभेदतः ।। १०२ ।।
अविचाराद् घनच्छन्नो निर्घनस्तु विचारतः ।
अतत्त्वतत्त्वदृष्टिभ्यां ब्रह्मापि द्विविधं तथा ।। १०३ ।।

---

अविद्या स्वतन्त्र नहीं है, जीवाश्रित भी नहीं है, किन्तु ब्रह्माश्रित है । ज्ञानस्वभाव ब्रह्ममें तद्विपरीतस्वभाव अविद्या कैसे रह सकती है ? यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्यासम्बन्ध ब्रह्ममें यदि तात्त्विक मानें, तो विरोध होगा, क्योंकि विरुद्ध दो धर्म एक धर्मीमें नहीं रह सकते । यदि एकको तात्त्विक और दूसरेको अतात्त्विक मानें, तो कोई विरोध नहीं है । वास्तविक अन्धकारकी स्थिति सूर्यमें नहीं रह सकती, किन्तु काल्पनिक अन्धकारकी स्थिति सूर्यमें विरुद्ध नहीं है । उल्लूकी सूर्यमें अन्धकार-कल्पना है ही, अतः जैसे सूर्यके वास्तविक प्रकाशस्वरूप होनेपर भी उल्लू आदिसे कल्पित अन्धकारके उसमें रहनेमें विरोध नहीं है, वैसे ही स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूपमें कल्पित अविद्याकी स्थिति विरुद्ध नहीं है । इसी आशयसे कहते हैं—'**नन्वविद्या०**' इत्यादिसे ।

यदि ब्रह्म अविद्यावत् इष्ट हो अर्थात् ब्रह्माश्रिता अविद्या मानें, तो बड़ा दोष है—व्याघात । ज्ञानस्वभाव सर्वज्ञ ब्रह्ममें सूर्यमें अन्धकारकी स्थितिके सदृश अविद्याकी स्थिति हो नहीं सकती । यदि ब्रह्ममें अविद्या नहीं है, तो जीव भी तो ब्रह्मभिन्न है, अतः उसमें भी अविद्या नहीं रह सकती । तृतीय पक्ष ( स्वतन्त्र ) अविद्या है, यह माननेपर अविद्याके ब्रह्मवत् ज्ञाननिवर्त्य न होनेसे विद्या निरर्थक हो जायगी ॥१०१॥

'**मैवं नभःस्थ०**' इत्यादि । काल्पनिक अविद्यासम्बन्ध माननेमें दोष नहीं है—जैसे आकाशस्थ सूर्यमें समेघत्व ( मेघसहितत्व ) और निर्मेघत्व ( मेघरहितत्व ) ये दोनों कल्पनाएँ होती हैं, वैसे ही साविद्यत्व और निरविद्यत्व बुद्धिभेदसे ब्रह्ममें क्यों नहीं हो सकते ? जैसे सूर्यमें निर्मेघता वास्तविक है और समेघता कल्पित है, वैसे ही ब्रह्ममें निरविद्यत्व पारमार्थिक और साविद्यत्व काल्पनिक है ॥ १०२ ॥

अस्याविद्येत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते ।
ब्रह्मद्वारा त्वविद्येयं न कथञ्चन युज्यते ॥ १०४ ॥
न जानाम्यहमित्येषाऽनुभूतिः सर्वसम्मता ।
तत्राऽविद्याचिदात्मानौ तत्सम्बन्धश्च भान्त्यमी ॥ १०५ ॥

---

इसी अर्थको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—'**अविचारात्**' इत्यादि।

अविवेकसे सूर्य मेघाच्छन्न प्रतीत होता है वस्तुतः मेघसे बहुत दूर सूर्य है। मेघका सूर्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, पर लोकदृष्टिसे मेघसे आवृत-सा प्रतीत होताहै, परन्तु विचार करनेसे मेघशून्य ही सूर्य सिद्ध होता है। उसी प्रकार अविवेकसे ब्रह्ममें अविद्याकी प्रतीति होती है विवेक करनेपर तो वास्तविक अविद्याशून्य ही ब्रह्म सिद्ध होता है ॥१०३॥

अविद्यामें कोई प्रमाण है या नहीं? यदि है, तो प्रमाणजन्यज्ञान-विषय होनेसे वह प्रामाणिक ठहरी, अतः प्रमाणजन्य ज्ञानसे उसकी निवृत्ति न होगी। द्वितीय पक्षमें प्रमाणाभावसे अविद्याकी सिद्धि नहीं हो सकती, इस शङ्काका उत्तर यह है कि अविद्या प्रमाणविषय नहीं है, किन्तु साक्षि-वेद्य है, जिसकी सिद्धि आगे करेंगे। किन्तु यहाँपर '**अस्याविद्या**' इत्यादिसे कहते हैं कि अविद्या में ही रहकर अर्थात् अविद्वान् होकर ही ब्रह्मकी अविद्याकी (ब्रह्माविद्यासम्बन्धकी) कल्पना होती है। ब्रह्मदृष्टिसे—ब्रह्मीभूतदृष्टिसे—अर्थात् ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारात्मक दृष्टिसे तो अविद्याका सम्बन्ध किसी तरह ब्रह्ममें सिद्ध नहीं हो सकता, यही युक्तियुक्त है ॥ १०४ ॥

अविद्यामें साक्षी प्रमाण है, इसे कहते हैं—'अहं न जानामि' यह प्रतीति सर्वसंमत है, इसका विषय क्या है यह विचारना आवश्यक है। यदि 'न जानामि' इस प्रतीतिको ज्ञानाभावावगाहिनी मानें अर्थात् ज्ञानाभाव इसका विषय है, यह मानें, तो ठीक नहीं है, कारण कि प्रतियोगी और अधिकरण इन दोनोंके ज्ञानके बिना अभावका ज्ञान नहीं होता। अभावके ज्ञानमें प्रतियोगी तथा अधिकरणका ज्ञान कारण है, इसलिए ज्ञान तथा आत्म-ज्ञान न होनेपर 'न जानामि' यह प्रतीति ही नहीं हो सकती। यदि आत्मामें दोनों ज्ञान हैं, तो ज्ञानसामान्याभावकी प्रतीति ही नहीं हो सकती। सामान्याभावका प्रतियोगीके साथ विरोध होनेसे एक ही अधिकरणमें एक ही समयमें ज्ञान और ज्ञानाभाव दोनों प्रतीत नहीं हो सकते, इसलिए अज्ञान-

अविचाराद्भासमाना विचाद्विनिवर्तते ।
अविद्येयं चिदात्मा तु भात्येवाऽसौ निरन्तरम् ॥ १०६ ॥

विषयक ही 'न जानामि' यह प्रतीति है, यही कह सकते हैं, अतः अज्ञान साक्षिवेद्य है, यह मानते हैं। इस प्रतीतिमें तीनका भान है—आत्मा ( चिदात्मा ), अविद्या और चिदात्मा और अविद्याका सम्बन्ध अर्थात् 'अहं न जानामि' मुझमें अज्ञान है 'मयि ज्ञानं नास्ति' इसका मुझमें ज्ञानाभाव है, यह अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि मुझमें ज्ञानाभाव है, यह भी तो ज्ञान ही है। इस ज्ञानके रहनेपर ज्ञानसामान्याभाव तो नहीं रह सकता। सामान्याभावका प्रतियोगितावच्छेदक-विशिष्ट प्रतियोगीके साथ विरोध है, इसलिए 'मुझमें अज्ञान है' यही उक्त प्रतीतियोंका विषय है।

शङ्का—आपके मतसे भी तो ज्ञान और अज्ञानका विरोध है ही, अन्यथा ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति ही नहीं होगी। फिर जैसे ज्ञान और तदभावका विरोध है, वैसे ही ज्ञान और अज्ञानका विरोध समान ही है, तो ज्ञानाधिकरणमें ज्ञानाभावके समान अज्ञानकी प्रतीति भी कैसे होगी?

समाधान—ज्ञान और अज्ञानके विरोधमें विशेष यह है कि अज्ञानका विरोध प्रमाणजन्य ज्ञानके साथ है। साक्षिज्ञान प्रमाणजन्य नहीं है, इसलिए भ्रमप्रमासाधारण साक्षि-चैतन्यात्मक अनुभवका विषय अज्ञान होता है 'ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा सर्वं वस्तु साक्षिचैतन्यस्य विषयः' यह सिद्धान्त है ॥ १०५ ॥

यदि अविद्या साक्षिविषय है, तो चिदात्माके सदृश अविद्याको भी सत्य ही मानना चाहिए, ऐसी शङ्का उपस्थित होनेपर कहते हैं—'**अविचारात्**' इत्यादिसे।

यदि अविद्या सत्य होती तो विचारके बाद भी चैतन्यके समान निवृत्त न होती। विचारके बाद निवृत्त होनेसे चैतन्यके सदृश वह पारमार्थिक नहीं है, किन्तु अविद्या और तत्सम्बन्ध ये दोनों विचारबाधित होनेसे परमार्थ सत्य नहीं हैं। चिदात्मा तो विचारसे पहले और विचारके बाद भी भासमान ही रहता है, कभी निवृत्त नहीं होता, इसलिए परमार्थ सत्य है ॥ १०६ ॥

यदि अविद्या सत्य नहीं है, किन्तु कल्पित है यह सत्य है; तो अविद्याकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न करना ही व्यर्थ है। एक तो कल्पित पदार्थसे कुछ अनिष्टकी प्राप्ति या इष्टका लाभ कुछ नहीं होता, इसलिए हेय या उपादेय नहीं हो सकती,

अविद्या त्वविचारेण भासते, तन्निरूपणे ।
अविद्वान्वाऽथ विद्वान्वा नोभावप्यत्र शक्नुतः ॥ १०७ ॥
अविद्यावानविद्यात्वं न निरूपयितुं क्षमः ।
ब्रह्मबोधात् पुरा तस्या वस्तुत्वेनैव भासनात् ॥ १०८ ॥

किन्तु उपेक्ष्य ही है । दूसरा कारण यह भी है कि कल्पित तो सदा रहता नहीं । यदि वह सदा रहे तो कल्पित ही कैसे ? इसलिए प्रयत्नके बिना भी कादाचित्क होनेसे वह स्वयं निवृत्त हो ही जायगी । फिर उसके लिए विशेष प्रयासकी क्या आवश्यकता है ? ठीक कहते हैं, किन्तु अविद्या कल्पित है, यह कोई जान नहीं सकता, यह कहते हैं—'अविद्या त्व०' इत्यादिसे ।

अविचारके साथ अविद्याका भान होता है, इसलिए अविद्याके निरूपणमें अविद्वान् तथा विद्वान् दोनों असमर्थ हैं । ब्रह्ममें अविद्या तथा उसके सम्बन्धको अविद्वान् जान सकता है या विद्वान् इस प्रश्नका यही उत्तर हो सकता है कि दोनों नहीं जान सकते, कारण कि ब्रह्मज्ञानके बिना ब्रह्ममें अविद्या और उसके सम्बन्धका ज्ञान कैसे हो सकता है ? आश्रयज्ञानके बिना आश्रितज्ञान नहीं होता । सम्बन्धज्ञान दो सम्बन्धियोंके ज्ञानके अधीन है, अतएव नित्य साकांक्ष है । पुरुषज्ञानके बिना पुरुषमें दण्ड तथा तत्संयोगरूप सम्बन्ध ये दोनों नहीं जाने जा सकते । द्वितीय पक्षमें 'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतिके अनुरोधसे आत्मज्ञानके होनेपर सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्ति हो जाती है । केवल चिदात्मा ही अवशिष्ट रह जाता हैं, तो प्रमातृ, प्रमाण, प्रमेय आदि भेदसापेक्ष प्रमाणजन्य ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसलिए विद्वान् भी अविद्याका निरूपण नहीं कर सकता ॥१०७॥

इसी अर्थको स्पष्ट करनेके लिए दोनोंकी अशक्ति क्रमसे कहते हैं—'अविद्यावान्' इत्यादिसे ।

आश्रयरूप ब्रह्मके ज्ञानके बिना अविद्वान् अविद्याका साक्षात्कार नहीं कर सकता, क्योंकि जबतक आश्रय ब्रह्मका ज्ञान ही नहीं हुआ तबतक आश्रितका ज्ञान उक्त रीतिसे कैसे होगा ? बल्कि ब्रह्मज्ञानसे प्रथम अविद्याकी वस्तुरूपसे ही प्रतीति होती है, अवस्तु ( कल्पित ) रूपसे प्रतीति नहीं होती ॥ १०८ ॥

अच्छा, तो ब्रह्मरूप आश्रयज्ञान होनेसे ब्रह्मवेत्ताको तो अविद्याका साक्षात्कार हो सकता है फिर विद्वान् कैसे असमर्थ है ? ऐसी शंका [illegible]

न निरूपयते विद्वान्विद्याहृष्ट्यैव बाधनात् ।
वेद्यं ब्रह्मैव विद्यायां भासते बाध्यते तु सा ॥ १०९ ॥
निद्राया नहि निद्रात्वं निद्राणेन निरूप्यते ।
अनिद्राणोऽप्यपश्यंस्तां न निरूपयितुं क्षमः ॥ ११० ॥
अथ बुध्वाऽनुभूतां तामनिद्राणः परामृशेत् ।
परामृशत्वविद्यां च बोधादूर्ध्वं बुधस्तथा ॥ १११ ॥

विद्वान्की असमर्थताको प्रकट करनेके लिए कहते हैं—**'न निरूपयते'** इत्यादिसे ।

आत्मैक्यज्ञानरूप विद्यासे अविद्याका बाध हो जाता है, ऐसी अवस्थामें अविद्यारूप विषय नहीं है, फिर साक्षात्कार कैसे होगा ? विद्यमानविषयक ही प्रत्यक्ष होता है, अविद्यमानविषयक प्रत्यक्ष नहीं होता । अविद्या उपलक्षण है, प्रमाणादिभेदमात्रकी उक्त रीतिसे निवृत्ति हो जाती है, इस अर्थको सूचित करनेके लिए कहते हैं—**'वेद्यं ब्रह्मैव'** । ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है और द्वैतमात्र कल्पित होनेसे विद्या होनेपर बाधित हो जाता है । जब प्रमाणादिभेद ही नहीं है, तो कौन किससे क्या प्रमित करे ? ॥१०९॥

इसी अर्थमें अनुरूप दृष्टान्त देते हैं—**'निद्राया नहि'** इत्यादिसे ।

निद्राशब्दका स्वप्नमें तात्पर्य है। स्वप्न देखनेवाले पुरुषको यह भान नहीं होता कि हम स्वप्न देख रहे हैं अर्थात् उसे स्वप्नमें स्वप्नत्वका साक्षात्कार नहीं होता, बल्कि स्वप्नमें सत्यत्वका ही उसे भान होता है । इसीसे स्वाप्निक सुख-दुःखका भान होता है । यदि स्वप्नदशामें कदाचित् स्वप्नत्वका साक्षात्कार हो जाता है, तो सुखदुःखानुभवसे हर्ष और विषाद नहीं होते। और जागरावस्था भी हो जाती है जागनेपर स्वप्न ही निवृत्त हो जाता है; इस वास्ते साक्षात्कार नहीं होता । जैसे सुप्त या जाग्रत् कोई भी पुरुष स्वप्नत्वका साक्षात्कार नहीं कर सकता वैसे ही अविद्वान् अथवा विद्वान् कोई अविद्याके कल्पितत्वका साक्षात्कार करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ॥११०॥

निद्रित पुरुषको निद्राकालमें कल्पितत्वका ज्ञान नहीं होता, किन्तु जागनेपर दृष्टार्थका बाध देखकर कल्पितत्वका भान होता है इस तात्पर्यसे कहते हैं—**'अथ बुध्वाऽनुभूतां'** इत्यादिसे ।

जागा हुआ पुरुष स्वाप्निक पदार्थके अनुभवका यदि स्मरण करता है, तो तत्त्वज्ञानोत्तर विद्वान् भी अविद्याका परामर्श करे ॥१११॥

अविद्याब्रह्मसम्बन्धमविद्यादृष्टिकल्पितम् ।
परामृशत्यतः सिद्धमस्याविद्येत्युदीरितम् ॥ ११२ ॥
अविद्यावृत्तवीक्षायां ब्रह्मसम्बन्धतेत्यपि ।
ब्रह्मवृत्तपरीक्षायां नासौ ब्रह्मस्पृगिष्यते ॥ ११३ ॥

अनुभवके बिना स्मरण नहीं होता, अतः स्मरणसे पूर्वावस्थामें अनुभूत अविद्या सिद्ध होती है। तथा अविद्यानुभव और अविद्यानुभवका परामर्श दोनों होनेसे दोनो सिद्ध होते हैं। अविचारदशामें कल्पित पदार्थका स्मरण होता है, इसलिए अविद्या और ब्रह्मका सम्बन्ध कल्पित ही है। यही कहते हैं— **'अविद्याब्रह्म०'** इत्यादिसे।

अविद्यादृष्टिसे कल्पित ब्रह्म और अविद्याके सम्बन्धका परामर्श करता है, इसलिए ब्रह्मका अविद्यासम्बन्ध अज्ञानकल्पित है, सत्य नहीं है, यह पूर्व कथन सिद्ध हुआ ॥११२॥

**'अविद्यावृत्त'** इत्यादि । अविद्याव्यवहारदशामें ( अविचारदशामें ) अविद्या और ब्रह्मका सम्बन्ध कहा गया है। अविद्याके समान अविद्यासम्बन्ध भी ब्रह्ममें अज्ञानकल्पित ही है, पारमार्थिक नहीं है। ब्रह्मज्ञानावस्थामें विचारदृष्टिसे अविद्यासम्बन्ध ब्रह्मका स्पर्श करता है, यह भी दृष्ट नहीं है अर्थात् परमार्थदशामें अविद्याका ब्रह्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अविद्या ही जब विद्यासे नष्ट हो गई, तब अविद्याका सम्बन्ध कहाँ ?

भेदाभेदवादी मायावादीके मतके साथ स्वमतकी तुलना कर यह कहते हैं कि आपके ( मायावादीके ) मतमें अविद्याकी कल्पना और अविद्यामें संसारकारणत्वकी कल्पना करनी पड़ती है। हमारे मतमें संसार और ब्रह्म ये दोनों क्लृप्त ही हैं। ब्रह्मसे संसारका भेदाभेद भी इष्ट ही है, इसलिए भेदाभेद मानना ही ठीक है।

किन्तु विचार करनेपर भेदाभेद पक्षमें ही अधिक कल्पना करनी पड़ती है—जगद् और ब्रह्मका भेदाभेद, सत्य बन्धका ध्वंस, शुभाशुभ कर्मफल, नित्य कैवल्य इत्यादि अनेक कल्पनाएँ आवश्यक हैं। यदि कहिए, ये सब प्रमाणसिद्ध हैं, इनका स्वीकार करनेमें गौरव दोष नहीं है, क्योंकि 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि' इत्यादि वचनोंसे अनेक प्रामाणिक पदार्थोंके माननेपर भी गौरव दोष नहीं होता। तो ठीक है, किन्तु [illegible]

परस्पर विरुद्ध होनेसे प्रामाणिक नहीं है, अतः 'न कल्प्यो निष्प्रमाणकः' इस न्यायसे भेदाभेद उपादेय नहीं है। किसी भी प्रमाणसे एक हीमें एकका भेदाभेद नहीं सिद्ध होता। और यदि संसार अनादि भावस्वरूप है, तो ब्रह्मके समान निवृत्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'संसारो न ध्वंसप्रतियोगी, अनादिवस्तुत्वात्, आत्मवत्' इस अनुमानसे संसार सदातन हो जायगा। तुम मोक्षको कर्मफल मानते हो, सो भी श्रुतिविरुद्ध है, क्योंकि श्रुतियोंसे मोक्ष ज्ञानका फल है, यह सिद्ध है। कर्मफल मानेनपर भी मोक्षको नित्य मानते हो, सो भी 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इस व्याप्तिमूलक अनुमान तथा 'नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादि आगमसे विरुद्ध है। इस तरह आपके मतमें भी तो अनेक कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं, अविद्यामें अनादित्व, बन्धकत्व, विद्यानिवर्त्यत्व इत्यादि, अतः अनेक कल्पनाएँ दोनों मतमें एक-सी ही हैं, इसलिए यह दोष हमारे मतमें अक्षम्य नहीं है।

'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः ।
नैकस्तत्रानुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥'

अर्थात् जो दोष दोनों मतोंमें समान है तथा उसका परिहार भी समान ही है, ऐसे दोषका उद्भावन एक दूसरेके मतमें न करे।

इस वचनसे अनेक कल्पनाएँ दोनोंमें समान हैं, इसलिए मेरे मतमें यह विशेषरूपसे दोष नहीं हो सकता।

अविद्यामें अनादित्व, अनिर्वाच्यत्व, बन्धकत्व, विद्यानिवर्त्यत्व आदि श्रुतिस्मृतिसिद्ध हैं कल्प्य नहीं हैं, जो श्रुत्यादि प्रमाणसे सिद्ध नहीं हैं, किन्तु आवश्यकतानुसार मानने पड़ते हैं वे कल्प्य कहे जाते हैं।

'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते'।
'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'

इत्यादि वचनोंसे मायामें अनादित्व सिद्ध है, 'नासदासीद् नो सदासीत्' 'आसीदिदं तमोभूतम्' इत्यादि वचनोंसे मायामें अनिर्वाच्यत्व, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्', 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः', 'मायामेतान्तरन्ति ते' इत्यादि वचनोंसे मायामें बन्धकत्व और ज्ञाननिवर्त्यत्व प्रसिद्ध ही है कल्प्य नहीं है। अविद्याको कल्प्य नहीं कह सकते, क्योंकि वह नित्यानुभवसिद्ध है—'अहमज्ञः' इत्यादि प्रत्यक्षानुभवसिद्ध है, यह पूर्वमें कह चुके हैं ॥११३॥

वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृतिर्नहि युज्यते ।
अविद्या च न वस्त्विष्टं मानयोगासहिष्णुतः ॥ ११६ ॥
अविद्याया अविद्यात्वमिदमेवाऽत्र लक्षणम् ।
मानयोगासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥ ११७ ॥
मानेन ब्रह्मवीक्षायामविद्यागन्धवर्जनात् ।
ब्रह्मद्वारेति सुष्ठूक्तं नोक्तदोषद्वयं ततः ॥ ११८ ॥

---

यदि अविद्याके अप्रामाणिकत्वमें प्रमाणान्तरके बिना सन्तोष न हो, तो स्वानुभवातिरिक्त अनुमान प्रमाण देनेके लिए कहते हैं—**'वस्तुनोऽन्यत्र'** इत्यादिसे।

वस्तुसे अन्यत्र अर्थात् अवस्तुमें प्रमाणोंका व्यापार नहीं होता। जैसे शुक्ति-रूप्य आदि अवस्तु है, अतः उनमें कोई प्रमाण नहीं ही है वैसे ही अविद्या भी अवस्तु है, अत एव उसमें भी कोई प्रमाण नहीं हो सकता। प्रमाणा-सहिष्णुत्व—प्रमाणको सहन न करना—ही अवस्तुत्व है ॥ ११६ ॥

विमतं मानयोग्यम्, शास्त्रार्थत्वात्, ब्रह्मवत्, अर्थात् विमत ( अवस्तु ) प्रमाणयोग्य है, शास्त्रप्रतिपाद्य होने, ब्रह्मके समान इस अनुमानसे अविद्यामें भी प्रमाणप्रवृत्ति योग्यता हो सकती है। उक्त अनुमानमें हेतुकी असिद्धि दिखलाते हैं—**'अविद्याया'** इत्यादिसे।

अविद्यामें अविद्यात्व क्या है? मानयोगासहिष्णुत्व अर्थात् प्रमाणा-विषयत्व ही अविद्याका असाधारण लक्षण है? यदि अविद्या प्रमाणगोचर होगी, तो उसका यह असाधारण लक्षण ही नहीं होगा। जैसे शशशृङ्ग आदि अवस्तुभूत पदार्थ प्रमाणविषय नहीं हैं, वैसे ही अविद्यामें अविद्यात्व भी अवस्तु है, अतः प्रमाणविषय नहीं है। ब्रह्ममें अविद्याशून्यत्व वास्तविक है ॥ ११७ ॥

**'मानेन'** इत्यादि। 'तत्त्वमसि' इत्यादि प्रमाणसे जन्य ब्रह्मात्मैकत्वबुद्धिदशामें अविद्या लेशमात्रसे भी नहीं रहती, इसलिए ब्रह्ममें निरविद्यत्व ठीक ही कहा गया है, अतः ब्रह्ममें अवस्थाभेदसे तथा ज्ञानभेदसे साविद्यत्व और निरविद्यत्व दोनों रहते हैं, इसलिए पूर्वोक्त दोनों दोष नहीं होंगे। बद्ध और मुक्त पुरुषके भेदसे साविद्यत्व और निरविद्यत्वकी उपपत्ति होती है। आत्मैकत्वज्ञान होनेपर अविद्याका

ध्वंस होता है, यह माननेपर भी अद्वैत आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती, अविद्या-ध्वंस ही दूसरा पदार्थ है, यही अद्वैतमें बाधक होगा ? नहीं, ध्वंस अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, वह ब्रह्मस्वरूप ही है। अभाव अधिकरणात्मक होता है, यही युक्तियुक्त है। इसीसे प्राचीन आचार्योंका कहना है—'भावान्तरमभावो हि' इत्यादि ॥११८॥

[ अब यहाँपर यह शङ्का होती है कि आत्मैकत्वको वेदान्तका प्रमेय मानना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादिप्रमाणसे द्वैत ही सिद्ध होता है। कर्मकाण्ड द्रव्यदेवताकर्तृकरणादिसापेक्ष है, क्योंकि द्वैतके बिना कर्मानुष्ठान नहीं हो सकता। और अनुष्ठान न होनेपर तद्बोधक वेदभाग अप्रमाण हो जायगा, इसलिए द्वैत मानना अत्यावश्यक है। द्वैत सर्वलोकशास्त्रप्रसिद्ध है, और इससे विरुद्ध अद्वैत अप्रसिद्ध है। प्रसिद्धके अनुरोधसे अप्रसिद्धका त्याग करना ही श्रेष्ठ है। सर्वलोकप्रसिद्धिके बलपर आप आत्मैकत्वका त्याग करनेपर तुले हैं सो आप यह बतलाइये कि प्रसिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणके अन्तर्गत है या इनसे अतिरिक्त प्रमाणान्तर है ? प्रथम पक्षमें ज्योतिषशास्त्रके विरोधसे वितस्तिपरिमित चन्द्रमण्डल-ग्राही प्रत्यक्षके समान सम्भावित दोषसे नित्य निर्दुष्ट तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य ज्ञानसे प्रत्यक्षादि बाध्य है, अतः वह मिथ्या है यह निश्चय हो जानेपर व्यावहारिक प्रामाण्य ही प्रत्यक्षादिमें है तात्त्विक नहीं है, यह विचारसे सिद्ध हो चुका है। फिर लोकप्रसिद्धिके बलपर आक्षेप करना वृथा है। द्वितीयपक्षमें 'इह वटे यक्षः' इस प्रसिद्धिकी तरह निर्मूल प्रसिद्धि प्रमाण ही नहीं हो सकती। प्रसिद्धि दो प्रकारकी होती है—एक प्रत्यक्षादिमूलक और दूसरी निर्मूल। प्रथम तो प्रत्यक्षादिके अन्तर्गत होनेसे प्रमाण है और दूसरी अमूलक होनेसे अप्रमाण है। उसके अनुरोधसे अद्वैतागमसे सिद्ध ऐकात्म्यका त्याग नहीं हो सकता। सारांश यह है कि इस संसारमें यह अर्थ प्रत्यक्षसिद्ध है, यह अर्थ अनुमानसिद्ध है, यही अर्थ सर्वथा स्वीकार करने योग्य है, यह अभिमान लोगोंका है, सो प्रत्यक्षादि अद्वैता-गमसे मिथ्या सिद्ध हो चुका है। जैसे शुक्तिमें रजतज्ञान प्रत्यक्ष है, किन्तु 'यह शुक्ति है' इस समीचीन ज्ञानसे बाधित होनेपर वह रजतसत्ताका साधक नहीं होता, वैसे ही द्वैतग्राही प्रत्यक्ष 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि श्रुतिसे बाधित होनेसे अर्थका साधक नहीं है। इस श्रुतिमें नामधेय यह उपलक्षण है। रूपका भी 'नामरूपे व्याकरवाणि' इस सृष्ट्यारम्भक श्रुतिमें पहले नाम है पश्चाद् रूप है, इसलिए नामधेयशब्दसे नामरूपात्मक जगत्

एवं चाऽज्ञातमैकात्म्यं सुस्थाऽतोऽस्यैव मेयता ।
प्रत्यक्षं द्वैतबोध्यत्र दौर्बल्यान्न विरुध्यते ॥११९॥

अभिप्रेत है, सो जगत् 'वाचैव केवलमारभ्यते न तत्त्वतः' नामधेयात्मक अखिल विकार वागारम्भमात्र है, सत्य नहीं है। जैसे मृत्तिका कार्य—घट, शराब आदि मृत्तिकासे अतिरिक्त—नहीं हैं फिर भी शब्दभेद और रूपभेद प्रतीत होता है किन्तु वह भ्रम है वैसे ही ब्रह्मकार्य जगत् ब्रह्मातिरिक्त तथा ब्रह्मविलक्षण प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः अतिरिक्त नहीं है (विलक्षण नहीं है)। जैसे आदि और अन्तमें मृत्तिका ही केवल उपलब्ध होती है मध्यमें कुछ समयतक विलक्षण घट, शराब आदि प्रतीत होते हैं, मृत्तिकासे घटादि अभिव्यक्त होकर कुछ समयतक मृत्तिकामें प्रतीत होकर फिर उसीमें लीन हो जाते हैं वैसे ही जगत् ब्रह्मसे अभिव्यक्त होकर नियत समयतक ब्रह्ममें प्रतीत होकर फिर उसीमें लीन हो जाता है। इसलिए यदि जगत् पारमार्थिक नहीं है, तो तद्विषयक प्रत्यक्षादि प्रमाण पारमार्थिक है, इसकी क्या सम्भावना ? यदि यह कहिए कि 'श्रौतमात्मज्ञानं न प्रत्यक्षबाधकम्, अप्रत्यक्षत्वाद्, अनुमानवत्', इस अनुमानसे आत्म-ज्ञान प्रत्यक्षका बाधक नहीं हो सकता, इसलिए प्रत्यक्षादिसिद्ध बन्धका आगमज्ञानसे बाध नहीं हो सकता, तो यह बतलाइए कि आत्म-ज्ञान प्रत्यक्ष क्यों नहीं है ? क्या सन्निहितार्थबोधक नहीं है अथवा प्रत्यक्षार्थबोधक नहीं है किं वा प्रत्यक्षत्वका अधिकरण नहीं है अर्थात् प्रत्यक्षत्वधर्म उसमें नहीं है अथवा निरपेक्ष नहीं है ? प्रथम पक्षमें अनुमेयकी अपेक्षासे प्रत्यक्षविषय अर्थ जैसे सन्निहित है वैसे ही वेदान्तवाक्यजन्य बोध सबसे ज्यादा सन्निहित आत्माको विषय करता है और पूर्वोक्तरीतिसे सन्निहित तारतम्य आत्मामें विश्रान्त है, यह दिखला चुके हैं। आत्मा ही में बोध है और वही बोधका विषय है, इसलिए ऐकात्म्यज्ञान अतिसन्निहितात्मविषयक होनेसे प्रत्यक्षात्मक है, अप्रत्यक्षात्मक नहीं, इसलिए द्वैतबुद्धिके बाधक न होनेसे आपत्ति नहीं है। इससे जो यह आपत्ति थी कि प्रत्यक्ष-विरुद्ध अद्वैत परोक्षसिद्ध कैसे ग्राह्य हो सकता है तो वह तो ज्यों-की-त्यों रही, क्योंकि 'ग्रावाणः प्लवन्ते' इत्यादि वाक्यजन्य परोक्षात्मक ज्ञानका 'ग्रावाणो न तरन्ति' एतदर्थक प्रत्यक्षसे बाध होनेसे उक्त ज्ञान जैसे अप्रमाण है वैसे ही द्वैतविषयक प्रत्यक्षसे बाध होनेसे ऐकात्म्यबोधक उक्त वाक्य अप्रमाण है। ]

उक्त शङ्काके निराकरणके लिए द्वैतप्रत्यक्षकी अपेक्षासे उक्त वाक्यार्थज्ञान प्रबल है यह दिखलाते हैं—'एवं चाऽज्ञात०' इत्यादिसे।

आसन्नत्वादाश्रयत्वाद्वैशद्याच्चात्मवस्तुनः ॥
तद्बोधिशास्त्रं प्रत्यक्षात् प्रबलं द्वैतबोधिनः ॥१२०॥
प्रत्यक्षं तद्यथाऽऽसन्नं परोक्षार्थावबोधिनः ॥
सर्वप्रत्यक्तमे तद्वद्बोधो वाक्योत्थ आत्मनि ॥१२१॥

ऐकात्म्य प्रमाणान्तरसे अप्राप्त है, अतः यही वेदान्तवाक्यका प्रमेय सुस्थिर है। अज्ञातज्ञापक ही प्रमाण है, द्वैतग्राही प्रत्यक्ष दुर्बल हैं, इसलिए विरोधी नहीं है। संभावित दोष दौर्बल्यका कारण है एवं निर्दोषत्व प्राबल्यका कारण है । उक्त रीतिसे प्रत्यक्ष दुर्बल है और वेदान्तवाक्य प्रबल हैं, अतः समबल न होनेसे प्रत्यक्ष बाधक नहीं है, किन्तु 'बलवता दुर्बलं बाध्यते' इस न्यायसे वेदान्त ही प्रत्यक्षका बाधक है ॥ ११९ ॥

अब आगमज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, इससे जो विकल्प किये गये हैं, उनमें प्रथम पक्षमें आगमज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है परोक्ष नहीं, यह कहते हैं—**'आसन्नत्वात्'** इत्यादिसे। प्रत्यक्ष अनुमान आदिकी अपेक्षा प्रबल है, इसमें बीज यह है कि अनुमेय अर्थकी अपेक्षा प्रत्यक्ष सन्निहितविषयक होता है । दूरस्थ पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं होता । जहां तक चक्षुरादि सम्बन्ध हो सकता है, वहीं तक प्रत्यक्ष होता है अनुमान दूरस्थका भी होता है अतः दूरस्थ पदार्थविषयक अनुमानसे सन्निहितार्थबोधक प्रत्यक्ष प्रबल है अर्थात् प्राबल्यप्रयोजक सन्निहितार्थविषयकत्व ही है। यदि प्रत्यक्ष सन्निहितविषयक होनेसे प्रमाण है, तो प्रत्यक्षादिविषय घटादिकी अपेक्षासे अतिसन्निहित आत्मा है तद्विषयक श्रौतज्ञानको प्रत्यक्षसे भी प्रबल मानना चाहिए।

श्लोकार्थ—आत्मवस्तु आसन्न, आश्रय तथा अतिविशद है, अतः तद्बोधक शास्त्र ( वेदान्त ) अनासन्नादि द्वैतार्थग्राही प्रत्यक्षसे भी प्रबल है ॥१२०॥

प्रथम आसन्न हेतुके स्पष्टीकरणके लिए कहते हैं—**'प्रत्यक्षं तद्यथाऽऽसन्नम्'** इत्यादिसे । जैसे दूरस्थपदार्थविषयक अनुमानादि की अपेक्षा सन्निहित-विषयक प्रत्यक्ष प्रबल होता है वैसे ही वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान अतिसंन्निहित आत्मविषयक होनेसे सबसे प्रबल है, अतः द्वैतग्राही प्रत्यक्षादिका बाधक है, उससे बाध्य नहीं है ॥१२१॥

द्वितीय तृतीय विकल्पाभिप्रायसे कहते हैं—**'आत्मानं सत्यमात्मा...'** इत्यादिसे। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष भी स्वांशिक नहीं है ...

**आत्मानं सत्यमाश्रित्य मिथ्याद्वैतं प्रसिध्यति ॥**
**आत्मानुभववैशद्याज्जडार्थो विशदीभवेत् ॥१२२॥**

जडात्मक अन्तःकरणकी विषयाकार वृत्तिको प्रत्यक्ष कहते हैं। जड मनका परिणाम होनेसे वृत्ति भी जड़ ही है, अतः स्वयंसिद्ध नहीं है। यदि कहिये, प्रमाणान्तर भी तो जड़ ही है फिर उसकी सिद्धिके लिए प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोष होगा, इसलिए वृत्ति ही न मानें तो विषयसाधक न होनेसे विषयसिद्धि ही न होगी, अतः स्वयंप्रकाश आत्मासे वृत्ति और वृत्ति द्वारा बाह्यपदार्थकी सिद्धि मानी जाती है, इसलिए प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्धिका मूल स्वयंप्रकाशानुभवस्वरूप आत्मा ही है। जैसे अन्तःकरणवृत्तिमें मूल प्रमाण आत्मा है वैसे ही यदि आत्मानुभवमें मूल प्रमाणकी अपेक्षा होगी तो अनवस्था दोष हो जायगा। अतः सकल पदार्थोंकी सिद्धिके मूल अनुभवरूप आत्माकी सिद्धि दूसरेसे नहीं हो सकती, इसलिए वह स्वयमपरोक्षस्वभाव है यही मानना उचित है, तो वेदान्तवाक्य अपरोक्षार्थका बोधक नहीं है, इस कारण प्रत्यक्षसे बाधित हो जायगा; यह शङ्का भी नहीं कर सकते, क्योंकि अपरोक्षत्वानधिकरणत्व तृतीय विकल्पमें यह समाधान है कि प्रत्यक्षमें स्वतः अपरोक्षत्व नहीं है, क्योंकि वृत्तिविशेषरूप प्रत्यक्ष स्वयं जड़ है। यदि नित्यापरोक्षात्मानुभवके सम्बन्धसे प्रत्यक्षमें अपरोक्षत्व आता है, तो आत्मविषयक वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञानमें भी अपरोक्ष आत्माका सम्बन्ध होनेसे वह भी अपरोक्ष क्यों नहीं होगा? चतुर्थ कल्प भी निरपेक्षत्वरहित ठीक नहीं है, क्योंकि वेदमें स्वतःप्रामाण्य पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसामें सिद्धान्तरूपसे माना ही गया है, इसलिए सापेक्षत्वेन अप्रमाण नहीं कह सकते।

श्लोकार्थ—जैसे व्यावहारिक सत्य इदमादिमें ही रजतारोप होता है वैसे ही सत्यात्मा अधिष्ठानमें ही जगत्‌का आरोप होता है। आत्मानुभववैशद्यसे—आत्मस्फुरणसे अर्थात् घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यकी स्फूर्तिसे घटादिकी स्फूर्ति होती है। चक्षु और विषयके संयोगसे जब विषयाकार अन्तःकरणकी वृत्ति होती है तब उस वृत्तिसे विषयावरक चिन्निष्ठाज्ञानकी निवृत्ति होती है। अतः अनावृत अपरोक्ष चैतन्यमें विषयका तादात्म्याध्यास होनेसे विषय भी अपरोक्ष होता है इस कारण वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान अपरोक्षात्मविषयक होनेसे अपरोक्ष है। अतः सबसे प्रबल है अद्वैतात्मज्ञान अनपेक्ष प्रत्यक्षात्मक होनेसे सब प्रमाणोंसे प्रबल प्रमाण है, अतः अज्ञानमूलक प्रपञ्चग्राही प्रत्यक्षादिका बाधक है। अज्ञान और तन्मूलक प्रपञ्च बाध्य है, इसलिए उक्त-

अतः प्रबलमानेन ब्रह्मतत्त्वेऽवबोधिते ।
विद्याफलस्य प्रत्यक्षान्नाऽस्याऽभूतार्थवादता ॥ १२३ ॥
ननु निर्धूतशोकादि फलं यत् श्रूयते श्रुतौ ।
आत्मविद्यास्तुतिर्ह्येषा विद्यायां पुम्प्रवृत्तये ॥ १२४ ॥
मनोराज्यसमं मन्ये सर्वमेतत्कृतं फलम् ।
न प्रत्येमि यतः साक्षात्प्रत्यक्षं ज्ञानतः फलम् ॥ १२५ ॥

ज्ञान प्रपञ्चको निवृत्तकर मुक्तिका साधन होता है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'अतः' इत्यादिसे ।

'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तवाक्यरूप प्रबल प्रमाणसे ब्रह्मतत्त्वके (अद्वितीयात्माके) ज्ञात होनेपर विद्याका ब्रह्मात्मभावरूप फल (मोक्ष) आत्मज्ञानियोंके अनुभवसे सिद्ध है, अतः वेदान्तवाक्य अभूतार्थवाद—असत्यार्थवाद—नहीं हो सकते। 'ग्रावाणस्तरन्ति' इत्यादि वाक्योंकी बराबरी करनेवाले वाक्य प्रत्यक्षादिसे बाधित होनेके कारण भूतार्थवाद नहीं कहलाते हैं, किन्तु प्रत्यक्षादिके बाधक होनेसे अभूतार्थवाद ही कहलाते हैं, इसलिए वे स्वार्थमें प्रमाण नहीं हैं। परन्तु 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि वाक्य तो भूतार्थवाद ही है, क्योंकि ज्ञानका फल मोक्ष विद्वान्के अनुभवसे सिद्ध है, यह भाव है ।

अतएव साधनचतुष्टयसम्पन्न विवेकी मोक्षका अधिकारी है और अविवेकी अभ्युदयके हेतु कर्मका अधिकारी है, इस प्रकार अधिकारीका भेद होनेसे पूर्वोत्तर काण्डका भेद, अभ्युदय एवं अपवर्गरूप फलका भेद और कर्म तथा ज्ञानरूप साधनका भेद भी सङ्गत होता है ॥१२३॥

'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुति विद्याकी स्ताविका होनेसे विद्याफलमें प्रमाण नहीं हो सकती, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'ननु' इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानका शोकादिनिवृत्तिरूप फल जो श्रुतियोंमें सुना जाता है, वह आत्मज्ञानमें पुरुषकी प्रवृत्तिके लिए स्तुतिमात्र है अर्थात् मोक्ष आत्मज्ञानका फल है, इस अर्थमें उक्त वाक्य प्रमाण नहीं है, किन्तु उक्त ज्ञानमें पुरुषकी प्रवृत्तिके लिए स्तुतिवाक्य है ॥१२४॥

विद्याका फल मोक्ष है, यह आत्मज्ञानियोंके प्रत्यक्ष प्रमाणसे [illegible] अतः उक्त श्रुति स्तुतिपरक नहीं हो सकती, किन्तु वास्तविक [illegible] है, इस वेदान्तसिद्धान्तकी खण्डके लिए कहते हैं—'मनोराज्य' [illegible]

अत्रोच्यते फलं त्विष्टं गम्यमानं प्रमाणतः ।
त्यक्त्वा कल्पयसे कस्मादनिष्टामश्रुतां स्तुतिम् ॥ १२६ ॥

स्वप्नस्थानादिसञ्चारिविज्ञानमयनामकः ।
धीस्थचैतन्यबिम्बोऽयं सदा शोचतु मुह्यतु ॥ १२७ ॥

आत्मज्ञानका फल शोकनिवृत्ति है, इसमें प्रमाण है—विद्वानोंका अनुभवात्मक प्रत्यक्ष। यहाँपर आप विद्वानोंके अनुभवसे अपने अनुभवका निर्देश करते हैं या वामदेव आदि मुक्त महापुरुषोंके अनुभवका निर्देश करते हैं ? प्रथम पक्षमें तो हमारा विश्वास ही नहीं है, क्योंकि आपका ऐसा प्रत्यक्ष आपके मनोराज्यके समान है। भाव यह है कि मनोरथसे कल्पित है, सत्य नहीं है, क्योंकि आपके सदृश हम भी तो विद्वान हैं, किन्तु ज्ञानका फल मोक्ष है, यह प्रत्यक्ष हमको नहीं होता तो आप ही को ऐसा प्रत्यक्ष क्यों होता है, यदि होता है तो स्पष्ट आपके मनोराज्यके समान है, अतः यह प्रमाण नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उन महापुरुषोंके अनुभवका परिज्ञान हमारे सदृश आपको भी नहीं हो सकता, यह निर्विवाद है ॥१२५॥

अच्छा तो 'तरति शोकमात्मवित्' इस श्रुतिसे यह अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मज्ञानका शोकनिवृत्ति फल है, फिर भी आप इस अर्थका त्याग करते हैं, इसमें क्या कारण है, क्या यह इष्ट नहीं है, इसलिए फल ही नहीं हो सकता या वाक्यान्तरसे यह प्रमित ही नहीं है ? प्रथम पक्षके निराकरणके लिए कहते हैं—'अत्रोच्यते' इत्यादिसे।

संसारके प्राणी-मात्रकी यह इच्छा रहती है कि हमको सुख हो और दुःख न हो, अतः सुखके समान दुःखनिवृत्ति भी इष्ट होनेसे अवश्य फल है। अतः 'तरति शोकम्' इत्यादि प्रमाणसे प्रतीयमान दुःखनिवृत्तिरूप इष्ट फलका त्यागकर अश्रुत अनिष्ट स्तुतिफलकी कल्पना क्यों करते हो ॥१२६॥

वेदान्तवाक्यसे आत्मज्ञान होनेपर भी 'अहं दुःखी' यही अनुभव होता है, इसलिए अनुभवविरुद्ध दुःखनिवृत्ति उक्त ज्ञानका फल नहीं हो सकता, किन्तु स्तुति अर्थ हो सकता है, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं —'स्वप्नस्थानादि' इत्यादि से।

बहुशोऽसङ्गवचसा निःसङ्गत्वं ब्रुवाणया ।
श्रुत्यैव शोकमोहादि बिम्बात्मनि निवारितम् ॥ १२८ ॥
अहं दुःखीतिधीर्मूढं शोचन्तं प्रतिबिम्बितम् ।
चिदाभासं प्रगृह्णातु किमायातं चिदात्मनि ॥ १२९ ॥

उक्त श्रुति तथा प्रत्यक्ष दोनों प्रमाण भिन्नविषयक हैं, अतः उनका परस्पर विरोध ही नहीं है तो बाध्यबाधकभावकी कथा ही कैसे हो सकती है ? कर्तृत्वादिधर्मशून्य केवल चैतन्यरूप आत्मविषयक श्रुति है और कर्तृत्व आदि धर्मसे युक्त तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीन अवस्थाओंमें गमन करनेवाला अतएव आगमापायी उक्त स्थानत्रयका अभिमानी अहं प्रतीतिका विषय बुद्धिस्थ चैतन्यबिम्बविषयक प्रत्यक्ष है, अतः अपने अपने विषयमें दोनों व्यवस्थित हैं, इसलिए विरोध न होनेसे बाध्यबाधकभाव नहीं है । अतः श्रुतिविषयसे भिन्न प्रत्यक्षका विषय विशिष्ट आत्मा चाहे शोक करे या मोह करे, परन्तु जाग्रत् आदिके साथ सम्बन्ध न रखनेवाला वेदान्तवेद्य आत्मा अवस्था-त्रयाद्यधीन दुःखका अनुभव कभी नहीं करता, अतः प्रत्यक्ष और आगमके विरोधका समाधान श्रुतिने ही कर दिया है, इसलिए दोनोंमें परस्पर विरोधकी शंका ही नहीं है ॥ १२७ ॥

इसी अर्थके स्पष्टीकरणार्थ कहते हैं—'बहुशोऽसङ्गवचसा' इत्यादि । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिने अनेक बार असंगत्वके प्रतिपादनसे बिम्बात्मामें अर्थात् शुद्धात्मामें शोक, मोह आदि सांसारिक धर्मोंका निवारण किया है अथवा 'आत्मा निस्संग है', यह कहनेवाली असंगत्वश्रुतिने शुद्धात्मामें शोक, मोह आदिका बार बार निराकरण किया है ॥ १२८ ॥

यदि आत्मामें दुःख, मोह आदि नहीं है, तो 'अहं दुःखी' यह प्रतीति कैसे होती है, इसके समर्थनके लिए कहते हैं—'अहं दुःखी' इत्यादिसे । 'अहं दुःखी' इत्याकारक बुद्धि अहमाकारवृत्तिप्रतिबिम्बित मूढ एवं शोकशील चिदाभासको [illegible] करती है, अतः उससे भिन्न चिदात्मामें क्या आया ? वृत्तिप्रतिबिम्बित [illegible] वास्तविक आत्मा नहीं है । अतः उसके सुखी या दुःखी होनेपर भी [illegible]का गन्ध भी नहीं होता, वेदान्तवेद्य आत्मा चित् है [illegible]दिका विषय है, अतएव मिथ्या है ॥१२९॥

आभासगतशोकादि स्वात्मन्यारोप्यते यदि ।
आरोपोऽपोद्यते श्रुत्या निःसङ्गत्वादिबोधनात् ॥ १३० ॥
चित्स्वरूपचिदाभासौ वाक्याहम्बुद्धिगोचरौ ।
अदुःखिदुःखिनौ भूत्वाऽनुभूयेते यथायथम् ॥ १३१ ॥

यदि यह कहिए कि 'अहम्' इस प्रतीतिसे पृथक् शुद्धात्माकी प्रतीति तो है नहीं और अहंप्रतीतिके विषयमें ही दुःखादिका ज्ञान होता है, तो शुद्धात्मामें भी दुःखादिका भान मानना चाहिए, अन्यथा प्रमाणाभावसे शुद्धात्माकी सिद्धि ही नहीं होगी, इसलिए कहते हैं—**'आभासगत०'** इत्यादिसे ।

चिदाभासगत दुःख, मोह आदिका चिदात्मामें आरोप करते हैं. इसी कारणसे निःसङ्गत्वबोधन द्वारा श्रुति उनका निराकरण करती है। भाव यह है कि आत्मामें शोकादि प्रसक्त हैं या नहीं ? यदि प्रसक्त हैं, तो किससे ? अहमादि प्रतीति तो चिदाभासविषयक है, शुद्धात्मविषयक नहीं है। यदि प्रसक्त नहीं है तो प्रतिषेध व्यर्थ है, इसीको अप्रसक्तप्रतिषेध कहते हैं, सो दोष है, ठीक है ? 'अहम्' आदि प्रतीति शुद्धात्मामें आरोपित शोकादिका ग्रहण करती है, जैसे 'नीलं नभः' यह प्रतीति आकाशमें आरोपित नीलिमाका ग्रहण करती है, वैसे ही उक्त प्रतीति शुद्ध आत्मामें आरोपित शोकादिका ग्रहण करती है, इसलिए जैसे नीलिमा आकाशका वास्तविक धर्म नहीं है वैसे ही शोकादि आत्माके धर्म नहीं हैं ॥ १३० ॥

भिन्नविषयक होनेसे प्रत्यक्ष और श्रुति दोनों व्यवस्थित हैं अर्थात् दोनोंमें परस्पर विरोध नहीं है, यह प्रथम निरूपण कर चुके हैं, उसीका उपसंहार करते हैं—**'चित्स्वरूप०'** इत्यादिसे ।

वेदान्तवाक्यका गोचर (विषय) अदुःखी चिदात्मा है और अहंबुद्धिका विषय दुःखी चिदाभास है, इस प्रकार वाक्य और प्रत्यक्षके विषय तथा क्रम भिन्न भिन्न हैं और विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध हैं ॥१३१॥

आत्मज्ञानसे पहले जैसी संपूर्ण दुःखोंकी चिदाभासमें अनुवृत्ति होती है, वैसी ही आत्मज्ञानोत्तर दुःखोंकी अनुवृत्ति नहीं होती, किन्तु कतिपय दुःखोंकी अनुवृत्ति ही होती है, इस विषयको समझानेके लिए कहते हैं—**'बोधात्'** इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानसे पूर्व दो प्रकारके दुःख हैं एक बुद्धिस्वभावसे होनेवाला और

तत्राद्यं कर्मजत्वेन नश्येद्भोगादृते नहि ।
द्वितीयं भ्रमजं तत्त्वबोधादेव निवर्तते ॥१३४॥

हर्षशोकौ विभ्रमोत्थौ कर्मोत्थसुखदुःखयोः ।
बोधहेयौ हर्षशोकौ भोक्तव्ये तु सुखेतरे ॥१३५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहातीति वचः प्रमा ॥ १३६ ॥

इन पूर्वोक्त बुद्धिस्वभावज और मोहज दुःखोंमें पहला दुःख बुद्धिस्वभावज कर्मजन्य होनेसे भोग ही से निवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। और द्वितीय मोहज दुःख तत्त्वज्ञानसे निवृत्त होता है, क्योंकि भ्रान्तिसे दुःख हो रहा है, क्योंकि तत्त्वज्ञानसे भ्रान्तिके निवृत्त होनेपर तन्निमित्तक दुःख भी निवृत्त हो ही जाता है, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस न्यायसे । यद्यपि कर्मजन्य सुख-दुःख ज्ञानी तथा अज्ञानीको समानरूपसे ही भोगने पड़ते हैं, भोगके सिवा दूसरा उपाय नहीं है, तथापि ज्ञानी प्रारब्धकर्माधीन सुखादिभोगके समयमें सुखसे हर्ष और दुःखसे शोक—नहीं करता अर्थात् सुखमें अतिहर्ष नहीं करता और दुःखमें शोक नहीं करता। यद्यपि यह अवश्य भोक्तव्य है, तथापि मिथ्या समझकर हर्ष शोक नहीं करता है। मिथ्या लाभ और मिथ्या हानिसे क्या हर्ष और शोक हो सकते हैं? और अज्ञानी इन हानि लाभोंको वास्तविक समझकर सुखसे मोहात्मक हर्ष और दुःखसे रोदनाद्यात्मक शोकको प्राप्त होता है ॥ १३४ ॥

द्विविध सुख-दुःखके निरूपणका प्रयोजन कहते हैं—'**हर्षशोकौ**' इत्यादिसे । विभ्रमजन्य तथा कर्मजन्य सुख-दुःखोंके फलभूत हर्ष और शोक बोधसे हेय हैं अर्थात् मिथ्या मानकर मद और रोदनादि न करना चाहिए। सुख और दुःख यथाप्राप्त भोक्तव्य ही हैं, अर्थात् शान्तचित्तसे प्राप्त सुख-दुःखोंका उपभोग करना चाहिए, वही उपदेश भगवद्गीतामें भी है ॥ १३५ ॥

उसे कहते हैं—'**दुःखेष्वनुद्विग्न०**' इत्यादिसे ।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध दुःखोंसे जिसका चित्त व्याकुल न हो, वह विवेकी है और अविवेकी दुःखप्राप्तिके समय हम

धीरत्वं बुद्धतत्त्वस्य तत्त्वानुस्मृतिसन्ततेः ।
पुनरप्युदियाद्भ्रान्तेर्वासनाविस्मृतिक्षणे ॥ १३७ ॥
पुनः संस्मृतिहेयाऽसावित्थं धीरैर्बुधैः सदा ।
फलेऽनुभूयमाने त्वं कथमेतन्निरस्यसि ॥ १३८ ॥

ड़े पापी हैं, हमें धिक्कार हैं, कौन हमारा दुःख निवृत्त कर सकता है आदि ानुतापात्मक भ्रान्तिस्वरूप तामसचित्तवृत्तिविशेष उद्वेग करता है, यदि पाप रनेके समय ऐसी बुद्धि हो, तो पापकर्ममें प्रवृत्ति न होनेसे सप्रयोजन ो, किन्तु भोगसमयमें ऐसी बुद्धि होनेपर क्या उपकार है, वह बुद्धि ाविवेकीको ही होती हैं, विवेकीको नहीं होती। तथा त्रिविध सत्त्वपरिणाम-रूप सुखमें 'विगतस्पृहः' अर्थात् आगामी और तज्जातीय सुखकी स्पृहासे रहित ो। स्पृहा भी तामसवृत्ति ही है। तज्जातीयसुखकारण धर्मानुष्ठानके बिना ही तादृश ुखकी इच्छा करता है, हर्षात्मकवृत्तिको स्पृहा कहते हैं, यह भी अविवेकीको ी होती है। जैसे कारणके रहनेपर कार्य नहीं होता, इस प्रकार व्यर्थ आकांक्षा-रूप उद्वेग विवेकी पुरुषको नहीं होता, वैसे ही कारणके न रहनेपर भी कार्य होता है इस प्रकार स्पृहा—तृष्णात्मिका आकांक्षा—वृथा नहीं होती, प्रारब्ध-कर्मानुरूप उपस्थित सुख अथवा दुःख, यह अवश्य भोक्तव्य है, इस बुद्धिसे भोगता है, उसमें हर्ष और विषाद नहीं करता, हर्ष और शोकके त्यागमें धीरता हेतु है, इस तात्पर्यसे '**धीरो जहाति**' ऐसा श्लोक कहा है ॥ १३६ ॥

निरन्तर तत्त्वके अनुसंधानसे धीरता होती है, निरन्तर तत्त्वानुसंधान न करनेपर तत्त्वविस्मरण कालमें धैर्यके न रहनेसे भ्रान्तिसे फिर हर्ष, शोक आदि वासना हो जाती है, इसे कहते हैं—'**धीरत्वम्**' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानी निरन्तर तत्त्वानुसंधान ही में तत्पर रहता है, यदि विषयान्तरका भी अनुसंधान करे, तो सम्भव है कि भ्रान्तिवश फिर हर्षादि वासनाके उद्बुद्ध हो जानेसे हर्षादि हो जायँगे, इसलिए ज्ञानी तत्त्वानुसन्धानमें परायण ही रहता है ॥ १३७ ॥

यदि भ्रान्त्यादिके वश हर्षादि वासना कदाचित् उद्बुद्ध हो जाय, तो तत्त्वा-नुस्मरणसे उसे निवृत्त कर देना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'**पुनः संस्मृति०**' इत्यादिसे ।

शोक, मोह आदिकी निवृत्ति आत्मज्ञानका फल है, इसमें तत्त्वमस्यादिवाक्य और विद्वदनुभव ये दोनों प्रमाण हैं, फिर इसका निरास कैसे हो सकता है ?

श्रुतादपि न चेद्वाक्याज्जायेत फलवन्मतिः ॥
शङ्क्येतैवं जायते तु धीः शास्त्रादधिकारिणः ॥ १३९ ॥

शङ्का—यदि तत्त्वमस्यादिवाक्यसे उक्त ज्ञान होता है, तो हम लोगोंको वह क्यों नहीं होता ।

समाधान—असंस्कृतचित्त अनधिकारी पुरुषको यदि उक्त वाक्यसे उक्त ज्ञान न हो, तो क्या अधिकारीको भी उक्त ज्ञान नहीं हो, ऐसा कहना उचित है ? बधिर अनधिकारी यदि गान नहीं सुनता है, तो क्या अबधिर अधिकारी भी नहीं सुनता ? अधिकारीके लिए प्रमितिका जनक वेद है, यह सिद्धान्त है ।

और आपने जो यह कहा है कि विद्वानोंका अनुभव भी उक्त अर्थमें प्रमाण नहीं है, कारण कि विद्वानोंका अनुभव ऐसा ही होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि वैसा अनुभव होता, तो हम लोगोंको भी होता, वैसा नहीं होता, इसलिए वैसा नहीं है, आपका यह आक्षेप अनुचित है, क्योंकि वह अनुभव आपके प्रत्यक्षयोग्य नहीं है, और अयोग्यानुपलब्धि अभाव-साधक नहीं होती । यहाँ योग्यानुपलब्धि नहीं है, इसलिए तादृशज्ञान ही होता, यह आपका मनोरथमात्र है । योगियोंको भी तादृश अनुभव नहीं हो सकता, ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि तत्त्वमस्यादि वाक्य तथाविध बोधका हेतु होता, तो ज्ञानियोंके सदृश हम लोगोंको भी वैसा बोध होता, हम-लोगोंको उक्त वाक्यसे तादृश बोध न होनेसे किसीको उक्त वाक्य द्वारा तादृश बोध नहीं होता, यही निश्चय होता है, इसका उत्तर तो दे चुके हैं कि जिनका चित्त शुद्ध तथा संस्कृत है, उनको तादृश बोध होता है, और जिनका चित्त अशुद्ध तथा असंस्कृत है उनको नहीं होता ॥ १३८ ॥

उक्त समाधान हो सकता, यदि तादृशानुभव अधिकारीकी योग्यतामें सापेक्ष होता, किन्तु प्रमेय ही ऐसा है जो मानका विषय नहीं है, अतः तत्त्वमस्यादि वाक्यसे तादृश बोध किसीको नहीं होता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**श्रुतादपि**' इत्यादिसे ।

फलसे—शोकादिसंसारनिवृत्तिसे—युक्त मति अर्थात् आत्मैकत्वज्ञान यदि उक्त वाक्यसे किसीको श्रुत न होता, तो यह कह सकते कि तादृश ज्ञान किसीको होता ही नहीं, इसलिए मेय ही मानयोग्य नहीं, किन्तु ऐसा

नित्यमुक्तत्वविज्ञानं वाक्याद्भवति नाऽन्यतः ।
वाक्यार्थस्यापि च ज्ञानं पदार्थस्मृतिपूर्वकम् ॥१४०॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थः स्मार्यते ध्रुवम् ।
सम्यक्स्मृतपदार्थस्तु वाक्येऽधिक्रियते पुमान् ॥१४१॥

नहीं कह सकते हैं। अधिकारियोंको शास्त्रसे—तत्त्वमस्यादि वाक्यसे—शोकादिका निवर्त्तक आत्मज्ञान होता ही है, अतः विषय मानयोग्य है, किन्तु अधिकारी और अनधिकारीके भेदसे उक्त वाक्यसे उक्त ज्ञानके उत्पाद और अनुत्पाद होते हैं, यही ठीक है। मानान्तरयोग्य नहीं है, यह मानना ठीक ही है, यदि उक्त वाक्य तादृशज्ञानजननमें समर्थ है, तो उक्त वाक्यका श्रवण होनेपर सबको तादृश ज्ञान होना चाहिए। और होता नहीं है, इसलिए तादृशज्ञानजननसामर्थ्य ही उक्त वाक्यमें नहीं है ॥ १३९ ॥

यद्यपि उक्त शङ्काकी निवृत्ति अधिकारीके भेदके बोधन द्वारा कर दी गई है, फिर भी स्पष्टीकरणार्थ कहते हैं—**'नित्यमुक्तत्व'** इत्यादिसे। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ही नित्यमुक्तत्वका विज्ञान होता है, दूसरे प्रमाणसे नहीं होता, पदार्थस्मृति वाक्यार्थबोधमें कारण है। अनधिकारीको पदार्थस्मृति ही नहीं होती, इसलिए बोध नहीं होता है ॥ १४० ॥

पदार्थस्मृतिमें पदार्थसम्बन्धका ज्ञान हेतु है, वह यदि अनधिकारीको है, तो पदार्थोपस्थिति क्यों नहीं होती, इसलिए कहते हैं—**'अन्वय'** इत्यादिसे।

अन्वय और व्यतिरेकसे पदार्थकी स्मृति होती है। जिसको अन्वय-व्यतिरेक द्वारा समीचीन पदार्थोपस्थिति होती है, उसी अधिकारी पुरुषको पदार्थोंकी उपस्थिति और उसके द्वारा तथाविध बोध होता है, दूसरेको नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें जिसकी अनुवृत्ति हो, वह आत्मा है और जिसकी व्यावृत्ति हो, वह अनात्मा है। जाग्रत् और स्वप्नमें कर्तृत्वादिधर्मविशिष्ट चिदाभास तथा साक्षी—इन दोनोंकी अनुवृत्ति होती है, परन्तु सुषुप्ति अवस्थामें उक्तधर्मविशिष्ट चिदाभासकी अनुवृत्ति नहीं होती, किन्तु व्यावृत्ति होती है और साक्षीकी अनुवृत्ति उक्तावस्थामें भी है, अतएव जागने पर यह स्मरण होता है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया मैंने कुछ भी नहीं जाना कि क्या होता था' इस अन्वय और व्यतिरेक द्वारा ज्ञि

युष्मदस्मद्विभागज्ञे स्यादर्थवदिदं वचः ।
अनभिज्ञेऽनर्थकं स्याद्बधिरेष्विव गायनम् ॥१४२॥

गृहीत है तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति द्वारा शुद्धचिन्मात्रमें तत्पदका सम्बन्ध गृहीत है, उनको 'तत्त्वमसि' वाक्यके श्रवणसे तत्त्वंपदके द्वारा शुद्ध चैतन्यमात्रकी उपस्थिति होनेसे अभेदका बोध होता है, वे ही उक्त ज्ञानके अधिकारी हैं ॥१४१॥

और जिनको उक्त अन्वय-व्यतिरेक द्वारा शुद्धमें उक्त पदद्वयका सम्बन्ध ही न ज्ञात हो, उनको तादृश पदार्थोपस्थिति न होनेसे तादृश बोध नहीं होता, अतएव वे उक्त ज्ञानके अनधिकारी हैं, इसी अर्थको अति स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—'युष्मदस्मद्' इत्यादिसे ।

वास्तविक तत् और त्वं पदार्थोंके अभिज्ञके प्रति 'तत्त्वमसि' यह वाक्य जीवब्रह्माभेद-बोधन द्वारा सार्थक है और उक्त पदार्थद्वयानभिज्ञके प्रति तो उक्त वाक्य अनर्थक ही है। जैसे बधिरके लिए गायन अनर्थक है। इस विषयमें प्राचीनोंका मत है कि अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट त्वंपदार्थ है और सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तत् पदार्थ है, इन दोनों पदार्थोंका अभेद नहीं हो सकता, कारण कि विशिष्टोंका अभेद होनेपर विशेषणोंका भी अभेद होना आवश्यक है। परस्परविरुद्ध किञ्चिद्ज्ञत्व और सर्वज्ञत्वका अभेद बाधित है, अतः विशिष्ट तत् और त्वं पदार्थका भी शक्तिज्ञानसे अभेदका बोध असम्भव है, इसलिए विशेषणभागका—सर्वज्ञत्वादि और किञ्चिद्ज्ञत्वादिका—त्याग कर केवल चैतन्यमात्रकी भागत्यागलक्षणासे उपस्थिति तथा अभेदान्वयबोध होता है, लेकिन यह प्रकार ठीक नहीं है, क्योंकि पदद्वयसे उक्त लक्षणा द्वारा चैतन्यमात्रोपस्थिति होनेपर उक्त बोध हो ही नहीं सकता, कारण कि अभेदान्वयबोधमें विरूपोपस्थिति कारण है, जैसे 'नीलो घटः' यहांपर नीलत्व—घटत्व—प्रकारक धर्मिविशेष्यक उपस्थिति है, इसलिए अभेदान्वयबोध होता है, 'घटो घटः' यहाँपर विशेष्यकी सरूपोपस्थिति है, इसलिए तादृश बोध नहीं होता, अतः उक्त लक्षणा द्वारा सरूपोपस्थिति होनेसे शाब्दबोध ही नहीं होगा। अतः 'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रत्यभिज्ञावाक्यका जैसे व्यक्तिके ऐक्यमें तात्पर्य है, अतएव विशेषणांश-देशकालका त्याग करते हैं, वैसे ही जीवब्रह्माभेदतात्पर्यक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें भी तत् और त्वं पदकी लक्षणा मानते हैं।

शोधितत्वंपदार्थज्ञः साक्षादेव प्रपद्यते ।
वाक्यादद्वैतमात्मानं दशमस्त्वमसीतिवत् ॥ १४३ ॥

वेदान्तवाक्यं न वस्तुमात्रे प्रमाणम्, वाक्यत्वात्, विधिवाक्यवत्, इस अनुमानसे 'सदेव' इत्यादिसिद्धार्थबोधक वेदान्तमें फिर अप्रामाण्यकी शङ्का हो सकती है। उसकी निवृत्तिके लिए प्रथम यह विकल्प करना चाहिए कि अप्रामाण्यका मतलब प्रमानुत्पादकत्वमें है या दुष्टसामग्रीजन्यत्वमें है या प्रमाणान्तरसे विषयके बाधमें अथवा अपरोक्षज्ञानजनकत्वाभावमें है ? इनमें प्रथम पक्ष तो अनुभवसे विरोध होनेके कारण हेय है, क्योंकि व्युत्पन्न अधिकारीको उक्त वाक्यसे उक्त अर्थका बोध अनुभवसिद्ध है। अपौरुषेय वेदमें दुष्ट सामग्रीकी संभावना ही नहीं है, इसलिए द्वितीय पक्ष भी असंगत है। तृतीय पक्षमें मानान्तरसे प्रत्यक्षादि विवक्षित है, सो तो विशिष्टविषयक है और वेदान्तवाक्य अद्वितीयात्मविषयक है। इस तरह सभी प्रमाण स्व-स्वविषयमें व्यवस्थित हैं, अतः प्रमाणान्तरके साथ आगमका विरोध ही नहीं है, यह पूर्वमें कहा जा चुका है। प्रमाण प्रमेयके अनुसार ज्ञान उत्पन्न करता है, अन्यथा वह अप्रमाण ही हो जायगा; अतः यदि विषय परोक्ष है, तो ज्ञान भी परोक्ष ही होगा, अपरोक्ष नहीं होगा और यदि वह अपरोक्ष होगा, तो ज्ञान भी अपरोक्ष ही होगा, इस विषयकी व्यवस्था आगे कहेंगे। प्रकृतमें 'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे आत्मा अपरोक्षस्वरूप है, अतः तद्विषयक वाक्यजन्य ज्ञान भी अपरोक्षात्मक ही है ॥१४२॥

साक्षात्कारात्मक ज्ञान वाक्यसे भी होता है, इसे दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक कहते हैं—**'शोधितत्वंपदार्थज्ञः'** इत्यादिसे।

पूर्वोक्त अन्वय और व्यतिरेकसे शोधित त्वंपदार्थका ज्ञाता साक्षात्—प्रमाणव्यापारके बिना ही—अद्वितीय आत्मतत्त्वको प्रत्यक्ष जान लेता है, अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य प्रत्यक्षात्मक ज्ञानका विषय आत्मा होता है। 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्यसे जन्य प्रत्यक्षात्मक ज्ञानका विषय दसवां पुरुष होता है। अपरोक्ष भ्रमकी निवृत्ति अपरोक्ष यथार्थ ज्ञानसे होती है, परोक्ष ज्ञानसे नहीं होती। यदि वाक्यसे परोक्ष ही ज्ञान होगा, तो नवत्वभ्रमकी निवृत्ति नहीं होगी ॥ १४३ ॥

अब शङ्का यह होती है कि अज्ञातज्ञापक प्रमाण कहलाता है। यदि

नवसङ्ख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमाद्यथा ।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥ १४४ ॥
अपविद्धद्वयोऽप्येवं तत्त्वमस्यादिना विना ।
वेत्ति नैकलमात्मानं प्रत्यङ्मोहाप्रबाधतः ॥ १४५ ॥

आत्मा अपरोक्षज्ञानात्मक होनेसे सदा ज्ञात ही है, तो फिर वेद प्रमाण कैसे हो सकता है अर्थात् उसका ज्ञापक वेद ज्ञातका ज्ञापक होनेसे प्रमाण नहीं हो सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**नवसंख्या**' इत्यादि ।

वस्तुतः दसवाँ बालक मैत्रका पुत्र चैत्र मैं हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्षसे अपनेको जानता हुआ अपनेसे भिन्न नौ लड़कोंकी गणनासे अपनेको भूलकर नौ ही देखता है । 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्यसे 'दशमोऽहमस्मि' ( दसवाँ मैं हूँ ) यह ज्ञान होता है । उक्त वाक्यके श्रवणके बिना 'दसवाँ मैं हूँ' इस तत्त्वज्ञानका प्रतिबन्धक अज्ञान है, इसलिए उक्त तत्त्वज्ञान नहीं होता । उक्त वाक्य द्वारा यथार्थ 'दसवाँ मैं हूँ' इस अपरोक्ष ज्ञानसे प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर 'दसवाँ मैं हूँ' यह तत्त्वज्ञान होता है । यदि उक्त वाक्यसे परोक्षात्मक ज्ञान होता, तो भी अपरोक्षभ्रमकी निवृत्ति न होती तथा अपरोक्ष दिगादिभ्रम अनुमान और आप्तोपदेशसे निवृत्त नहीं होता, यह असकृत् अनुभूत है । इसी तरह सामान्यतः आत्मज्ञान होनेपर भी विशेषरूपसे—ब्रह्मात्मरूपसे अज्ञात होनेसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य द्वारा विशेषरूपसे ब्रह्मातमरूपसे आत्मज्ञान होता है, अतः उक्त वाक्य, अज्ञातका ज्ञापक होनेसे, आत्मामें प्रमाण है ॥ १४४ ॥

यदि यह कहिये कि 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि स्थलमें स्वविषयक ज्ञान न होनेसे अज्ञातत्व स्वमें है प्रकृतमें आत्मा तो स्वयंप्रकाश है, अतः उसे अज्ञात नहीं कह सकते, किन्तु ज्ञात कह सकते हैं, अतः वेद प्रमाण नहीं हो सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**अपविद्ध**' इत्यादि ।

प्रत्यक् आत्माका मोह—अभाव और भावसे विलक्षण अज्ञान—संसारका निदान है और वह अनिर्वचनीय है, ज्ञानाभावरूप नहीं है । वह अज्ञान आत्माको ही विषय और आश्रयण करता है अर्थात् आत्मनिष्ठ और आत्मविषयक अज्ञान ही विद्यानिवर्त्य होनेसे मोह है । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य अद्वितीयात्म-साक्षात्कारके बिना उक्त मोहकी निवृत्ति नहीं होती और मोहनिवृत्तिके बिना

**दशमस्त्वमसीत्यस्माद्दशमत्वं निजात्मनि ।**
**साक्षात्करोति ब्रह्मत्वमेवं वाक्याच्चिदात्मनि ॥ १४६ ॥**
**बुभुत्सोच्छेदिनैवास्य सदसीत्यादिना दृढा ।**
**प्रतीचि प्रतिपत्तिः स्यात्प्रत्यगज्ञानबाधतः ॥ १४७ ॥**

---

वस्तुतः द्वितीयसम्बन्धसे रहित होनेपर भी अपनेको एक और अद्वितीय नहीं समझता । दृष्टान्तमें जैसे वास्तविक दसवां होनेपर भी 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्यके बिना अपनेको दसवां नहीं समझता, कारण कि 'दसवाँ मैं हूँ' इस तत्त्वज्ञानका प्रतिबन्धक अज्ञान वर्तमान है । उक्त वाक्यजन्य तत्त्वसाक्षात्कारसे जब उक्त प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति होती है, तब 'दसवाँ मैं हूँ' यह निश्चय होता है वैसे ही वस्तुतः 'अपविद्धम् अर्थात् [ अपगतं द्वयं द्वितीयं यस्मात्' इस व्युत्पत्तिसे ] वस्तुतः स्वयं द्वितीयशून्य होनेपर भी उक्त मोहवश अपनेको यथार्थरूपसे नहीं जानता । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य द्वारा तादृश साक्षात्कार होनेपर उक्त मोहकी निवृत्तिसे अद्वितीय आत्माका अवगम होता है । उक्त अज्ञानमें 'अहमज्ञः' 'अहं मां न जानामि' इत्यादि प्रतीति ही प्रमाण है । पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानाभावविषयक यह प्रतीति नहीं हो सकती है ॥१४५॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करनेके लिए फिर कहते हैं—**'दशमस्त्वमसि'** इत्यादि ।

'दशमस्त्वमसि' इस वाक्यसे जैसे बालक अपनेमें दशमत्वका साक्षात्कार करता है, वैसे ही मुमुक्षु भी 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे अपनेमें ब्रह्मत्वका साक्षात्कार करता है ॥१४६॥

अज्ञात ही जिज्ञासित होता है, ज्ञात जिज्ञासाका विषय नहीं होता । आत्मा स्वयं अपरोक्षात्मक होनेसे ज्ञात ही है, अज्ञात नहीं है, अतः जिज्ञासाका विषय न होनेसे शाब्दबोधका विषय नहीं हो सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'बुभुत्सोच्छेदिनैवाऽस्य'** इत्यादि ।

जिस रूपसे जो ज्ञात है उस रूपसे वह बुभुत्सित नहीं हो सकता, किन्तु जिस रूपसे ज्ञात नहीं है, उस रूपसे बुभुत्सित होता ही है । आत्मा अपरोक्ष चित्स्वभाव होनेसे ज्ञात होनेपर भी सदानन्दत्व आदिसे अज्ञात है । यद्यपि साक्ष-

अमात्वशङ्काऽसद्भावान्मान्तरैश्चाविरोधतः ।
सदसीत्यादिवाक्येभ्यः प्रमा स्फुटतरा भवेत् ॥ १४८ ॥
वाक्याधिकारहेतौ च पदार्थप्रतिशोधने ।
सन्न्यास उपकारीति प्राहतुर्हि श्रुतिस्मृती ॥ १४९ ॥

वेदाध्ययनसे आपाततः सदानन्दरूपसे भी ज्ञात ही है, तथापि विशेषरूपसे ज्ञान होनेके लिए जिज्ञासित होनेसे जिज्ञासानिवर्तक वाक्यसे अबाधित असंदिग्ध बोध होता है । अब शङ्का यह होती है कि सदादिवाक्य ज्ञात आत्माको विषय करता है अथवा अज्ञात आत्माको ? प्रथम पक्षमें अज्ञातका ज्ञापक न होनेसे वह प्रमाण ही नहीं हो सकता । द्वितीय पक्षमें अज्ञान भी तादृश वाक्यका विषय हो जायगा । विशेषणज्ञानके बिना उस विशेषणसे विशिष्टका ज्ञान नहीं होता । दण्डिज्ञानविषयता दण्डमें रहकर ही दण्डविशिष्ट पुरुषमें रहती है, अन्यथा नहीं । इस तरह अज्ञान भी यदि उक्त ज्ञानका विषय होगा, तो उससे अज्ञानकी निवृत्ति न होगी । अज्ञानतत्कार्याविषयक आत्मज्ञान ही अज्ञानका निवर्तक होता है अन्यथा घटादिज्ञानसे भी अज्ञानकी निवृत्ति हो जायगी है, ऐसी अवस्थामें वेदान्त ही व्यर्थ हो जायगा । ठीक है, अज्ञानोपलक्षित आत्मा उक्त ज्ञानका विषय है, इसलिए वाक्यजन्यज्ञानविषयता अज्ञानमें नहीं है, किन्तु आत्मामें ही है, अतः उक्त दोष नहीं हो सकता । सदानन्दत्व आदिसे जो बुभुत्सा उसके निवर्तक सदानन्दादि वाक्यसे आत्मज्ञानबोधन द्वारा शुद्धात्मामें सदानन्दाद्वितीयात्मविषयक प्रतीति अति दृढ़ होती है, यह श्लोकका भावार्थ है ॥१४७॥

सदानन्दादि वाक्य अबाधित और असंदिग्ध अर्थका बोधक होनेसे प्रमाण ही है । इसीका उपसंहार करते हैं—'**अमात्वशङ्का**' इत्यादिसे ।

नित्य अपौरुषेय वाक्यमें दोषादि समवधानकी तो शङ्का भी नहीं हो सकती, और प्रमाणान्तरके बाधकी भी सम्भावना नहीं है, इसलिए असंदिग्ध अबाधितार्थ प्रमा उक्त वाक्यसे दृढ़ होती है ॥ १४८ ॥

जिसने पदार्थका शोधन कर लिया हो ऐसे जिज्ञासुको वाक्यार्थका ज्ञानमें अधिकार होता है, ऐसा कहनेसे संन्यासमें ज्ञानाङ्गत्वकी सर्वथा उपेक्षा ही सूचित होती है । यदि ऐसा ही है, तो 'त्यागेनैके' इत्यादि वचन द्वारा त्यागसे ही ब्रह्मप्राप्ति होती है, यह पूर्व प्रतिज्ञा असंगत हो जायगी, इसलिए कहते हैं—'**वाक्याधिकार**' इत्यादि ।

**अतः संन्यस्य सर्वाणि कर्माण्यात्मावबोधतः ।**
**हत्वाऽविद्यां धियैवेयात्तद्विष्णोः परम पदम् ॥ १५२ ॥**

और पुरुषप्रदत्त भक्ष्यसे सन्तुष्ट होकर पुरुषेच्छाके अनुसार उसके हितसाधनमें लगे रहते हैं वैसे ही मनुष्य भी देवदत्त वस्तुसे सन्तुष्ट होकर यागादि कर्म द्वारा देवताओंके हितसाधनमें प्रवृत्त रहते हैं, इसलिए मनुष्य देवताके पशु हैं' ऐसा ही श्रुतियोंमें भी कहा गया है—'यथा पशुरेवं स देवानाम्' इति । इसलिए देवताओंने 'मनुष्य यदि ज्ञानी होकर मुक्त हो जायँगे, तो हमारे पशु न रहेंगे, इस भयसे मोह द्वारा मनुष्योंको 'अहं कर्ता' 'अहं भोक्ता' इत्यादि भावनासे आच्छादित कर दिया है । इस कारण देवपशुत्वका त्याग न कर विवेकशून्य होकर सांसारिक विविधफल साधनोंमें प्रवृत्त रहते हैं ।

श्लोकका अर्थ—मुक्तिसे भीत होकर देवताओं ने मनुष्योंको मोहसे आच्छादित कर दिया है इसीसे आत्मविवेकशून्य अनात्मविषयके विद्वान् बड़े उद्योगसे कर्ममें ही प्रवृत्त रहते हैं, संन्यासकी ओर दृष्टि ही नहीं देते ॥१५१॥

इसपर ध्यान देना चाहिये कि मनुष्योंकी कर्ममें प्रवृत्ति देवमायानिमित्तक है, इसलिए देवताओंकी उपासना आदिसे प्राप्त हुई है मोक्षकी अभिलाषा जिसको ऐसा विवेकी, सब कर्म अविवेकपूर्वक होते हैं, अत एव उनका त्याग कर, आत्मज्ञानके लिए श्रवण, मननादि निरन्तर श्रद्धापूर्वक करे । श्रवणादिके परिपाकसे जब आत्मसाक्षात्कार होगा, तब तत्त्व साक्षात्कारसे सम्पूर्ण दुःखोंके मूल अज्ञानका नाश होगा, किन्तु प्रारब्धकर्मभोग प्रतिबन्धक है, अतः सञ्चित क्रियमाण कर्मोंका नाश होनेपर भी प्रारब्ध कर्मवश शरीरपात नहीं होता 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये' इस श्रुतिसे ज्ञान द्वारा सकल अज्ञाननाशमें प्रारब्ध कर्म प्रतिबन्धक है, अतः जब तक प्रारब्ध देहानुवृत्ति और सूक्ष्म अज्ञानानुवृत्ति रहेगी प्रारब्धके साथ देहावसान होनेपर ज्ञानी अनवच्छिन्न ज्ञानानन्दैक रसरूप परम पदको प्राप्त हो जायगा, इस विस्तृत अर्थको कहते हैं—'**अतः संन्यस्य**' इत्यादिसे ।

मोक्षसाधनभूत ज्ञानकी उत्पत्तिमें कर्म विरोधी हैं, अतः सब कर्मोंका संन्यास (त्याग) कर आत्मावबोधसे—अद्वितीयात्मज्ञानसे—सकलसंसारनिदान अविद्याका नाश कर ज्ञानी व्यापकात्मरूप मोक्ष प्राप्त करता है ॥१५२॥

इति भाल्लविशाखायां श्रुतिवाक्यमधीयते ॥
सर्वकर्मनिरासेन तस्मादात्मधियो जनिः ॥ १५३ ॥
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं सन्न्यासलक्षणम् ॥
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य सन्न्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ १५४ ॥
इत्येवमादिवाक्यानि नानास्मृतिषु कोटिशः ॥
ज्ञानाय विदधत्युच्चैः सन्न्यासं सर्वकर्मणाम् ॥ १५५ ॥
यदुक्तं पूर्वपक्षादौ श्रुतत्वात्कर्मणः श्रुतौ ॥
विमुक्तिहेतुः कर्मेति तत्रेदमभिधीयते ॥ १५६ ॥

---

यह अपनी कल्पना नहीं है, किन्तु भाल्लविशाखामें भी ऐसा ही लिखा , यह कहते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

संन्यास ही मोक्षके साधन ज्ञानका हेतु है, ऐसा भाल्लविशाखामें लिखा ; अतः सब कर्मोंके त्यागपूर्वक श्रवण आदिसे आत्मज्ञानकी उत्पत्ति ाती है ॥१५३॥

केवल श्रुतिवाक्यमें ही, ऐसा लिखा है, सो नहीं किन्तु स्मृतिमें भी ऐसा ही है, ह कहते हैं—'प्रवृत्तिलक्षणो' इत्यादिसे ।

कर्म—प्रवृत्तिरूप योग—स्वर्गादि फलमें उपयोगी है, ज्ञानमें उपयोगी नहीं , क्योंकि वह रागादिके जनन द्वारा चित्तका दूषक है, यह पहले कह चुके हैं। ान कर्मसंन्यासलक्षण [ हेतुक ] है, क्योंकि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके त्यागके ना आत्मज्ञान नहीं होता, इसलिए बुद्धिमान् ज्ञानके लिए कर्मका संन्यास अवश्य रे ॥ १५४ ॥

केवल एक ही स्मृतिवाक्य नहीं है, किन्तु अनेक हैं, ऐसा कहते हैं— इत्येवमादि०' इत्यादिसे ।

इस तरह अनेक स्मृतियोंमें करोड़ों वाक्य हैं, जो ज्ञानके लिए सभी र्मोंके संन्यासका विधान करते हैं ॥ १५५ ॥

इस तरह अपना मत सिद्ध कर, दूसरे पक्षवालोंसे कहे गये दोषोंका नुवाद कर उनका खण्डन करते हैं—'यदुक्तम्' इत्यादिसे ।

प्रथम पूर्वपक्षमें जो यह कहा गया है कि सर्वत्र श्रुति और स्मृतियोंमें कर्म ही ोक्षका साधन श्रुत है, इस विषयमें हमें यह कहना है कि क्या कर्म साक्षात्

केन चोक्तं क्रिया मुक्तौ साधनत्वं न गच्छति ॥
तमेतमिति नाश्रौषीः संस्कारा इति च स्मृतिम् ॥ १५७ ॥
चित्ते विविदिषोत्पत्तौ रागादेर्वा विनाशने ॥
कर्माऽपक्षीयते न्यासे ज्ञानकाले न गच्छति ॥ १५८ ॥

मोक्षके साधन हैं या परम्परासे ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति तथा स्मृतिमें कहींपर भी कर्म साक्षात् मोक्षके साधन नहीं कहे गये हैं। परम्परासे तो हम भी उन्हें मोक्षका साधन मानते ही हैं, परम्परासे भी कर्म मोक्षके कारण नहीं हैं, ऐसा किसने कहा है ? ॥ १५६ ॥

इसी अर्थको कहते हैं—'**केन चोक्तम्**' इत्यादिसे ।

किसने कहा है कि कर्म मुक्तिके साधन ही नहीं हैं ? 'तमेतम्' इत्यादि श्रुति और 'यस्य चत्वारिंशत् संस्काराः' यह स्मृति क्या तुमने नहीं सुनी है ? 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिसे विविदिषोत्पादन द्वारा कर्म परम्परासे मुक्तिमें कारण ही है तथा चित्तसंस्कारकत्वरूपसे ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिमें कर्म कारण है, यह स्मृतिसे भी सिद्ध ही है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, चारों वेदोंका व्रत, समावर्तन, विवाह, पञ्चयज्ञानुष्ठान, अर्थात् देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ और ब्रह्मयज्ञका अनुष्ठान; अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी ( उपाकरण ), आग्रहायणी ( उत्सर्जन ), प्रौष्ठपदी, चैत्री आश्वयुजी ( चैत्र और आश्विनमें होनेवाली नवसस्येष्टि ) ये सात पाकयज्ञ; अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्श-पूर्णमास, आग्रायणेष्टि, चतुर्मासमें विहित व्रत-नियम ( यज्ञ ), निरूढपशुबन्ध और सौत्रामणि ये सात हविर्यज्ञ, अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम ये सात सोमयज्ञ—इन चालीस संस्कारोंसे संस्कृत ब्राह्मण सायुज्यको प्राप्त होता है, इस स्मृतिसे चित्तसंस्काररूपसे कर्म ज्ञानाङ्ग है, यह मानते ही हैं ॥ १५७ ॥

कर्मानुष्ठानका उपयोग चित्तशुद्धिमें ही है, ज्ञानोत्पत्तिमें नहीं है, अतः कर्मका त्याग ही ज्ञानसाधन है, इसे कहते हैं—'**चित्ते विविदिषोत्पत्तौ**' इत्यादिसे ।

चित्तमें विविदिषाको उत्पन्न कर तथा चित्तगत रागादि दोषोंका नाश कर नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठान क्षीण हो जाता है, अतएव त्याग ही ज्ञानकालमें अनुवृत्त हो सकता है, कर्म अनुवृत्त नहीं होता ॥ १५८ ॥

**यच्चोक्तं कर्मणो नाऽन्यन्मुक्त्यभ्युदयसाधनम् ॥**
**अस्तीति, तदसद्यस्मात्त्यागज्ञाने स्फुटं श्रुते ॥ १५९ ॥**
**निषेधविधिमात्रत्वं कर्मकाण्डस्य युज्यते ॥**
**न युक्तं ब्रह्मकाण्डस्य तत्र ब्रह्मावबोधनात् ॥ १६० ॥**
**वचसामक्रियार्थानां जैमिनिर्विधिशेषताम् ॥**
**यत्प्राह तत्कर्मकाण्डे ज्ञेयं तद्विषयत्वतः ॥ १६१ ॥**

---

श्रुति और स्मृतिमें कर्मसे अतिरिक्त पुरुषार्थका साधन श्रुत नहीं है, इस पूर्वोक्त आक्षेपके परिहारके लिए कहते हैं—**'यच्चोक्तम्'** इत्यादि ।

जो यह कहा गया है कि श्रुति और स्मृतिमें कहीं भी कर्मसे अतिरिक्त मुक्तिरूप अभ्युदयका साधन श्रुत नहीं है, वह असंगत है, क्योंकि संन्यास और ज्ञान मोक्षके साधन हैं, यह 'त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः' इत्यादि श्रुतिमें स्पष्ट ही श्रुत है ॥१५९॥

कर्मकाण्डगत अक्रियार्थक वाक्योंमें पुमर्थताके ( पुरुषार्थसाधनताके ) लिए विधि और निषेधकी शेषता—अङ्गता—का स्वीकार करनेपर भी स्वयं पुरुषार्थस्वरूप ब्रह्मके बोधक वाक्योंमें विधि और निषेधकी शेषता नहीं मानते, यह कहते हैं—**'निषेधविधिमात्रत्वम्'** इत्यादिसे । इसका अर्थ पीछे कर चुके हैं ॥१६०॥

इसी तरह 'आनर्थक्यमतदर्थानाम्' यह जैमिनि आचार्य्यका वचन भी कर्मकाण्डोक्तश्रुतिपरक है, अर्थात् कर्मकाण्डमें उक्त अक्रियापरक वाक्योंमें अप्रामाण्यकी आशंका करके उनके प्रामाण्यकी उपपत्तिके लिए विधिके साथ एकवाक्यता करके कर्तव्यार्थके बोधक होनेसे प्रामाण्यकी उपपत्ति की है, इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—**'वचसाम्'** इत्यादिसे ।

अक्रियार्थक वाक्योंको जैमिनि आचार्यने जो विधि और निषेधका शेष कहा है, वह कर्मकाण्डघटित वाक्योंके तात्पर्यसे कहा है ब्रह्मबोधक वाक्योंके तात्पर्यसे नहीं कहा है।

उन विधि और निषेध वाक्योंके साथ एकवाक्यता न माननेपर भी पुरुषार्थ-स्वरूप—आनन्दघन ब्रह्मस्वरूपमें तात्पर्य होनेसे वेदान्तवाक्य स्वयं प्रमाण हैं, विधिनिषेधशेष नहीं हैं; ॥१६१॥

किंच, यदि सभी वस्तुबोधक वाक्य विधिके अङ्ग होते, तो सर्वज्ञ वेदव्यास-जीका 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रका आरम्भ ही नहीं होता क्योंकि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' यह जैमिनि आचार्यका सूत्र है, इसीसे वेदान्तवाक्योंका भी विचार प्रतिज्ञात ही हो जाता, फिर वेदान्तवाक्योंके विचारके लिए पृथक् प्रतिज्ञाकी क्या

**अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्येवं व्यासेन कीर्त्तनात् ॥**
**धर्ममात्रस्य जिज्ञासाविषयो जैमिनेर्मतः ॥ १६२ ॥**

आवश्यकता थी ? इसपर कहते हैं—'**अथातो**' इत्यादिसे ।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस पृथक् व्याससूत्रसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' यह जैमिनिसूत्र धर्ममात्रविषयक है, ब्रह्मविषयक नहीं है, अर्थात् उक्त सूत्रसे धर्मोपयोगी कर्मकाण्डपठित वेदमात्रके विचारकी प्रतिज्ञा की गई है, इसलिए प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी शंका और उसका समाधान भी तद्विषयक ही है, वेदान्तविषयक नहीं है ।

भाव यह है कि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें धर्म वेदार्थ माना गया है, धर्मकी तरह ब्रह्म भी वेदार्थ है । वेदशब्दसे कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड-पठित संहितासे लेकर उपनिषत् तक सम्पूर्ण वेद विवक्षित है । जिस तरह वेदैकदेश अर्थात् कर्मकाण्डपठित वेदका अर्थ धर्म है, उसी तरह उसका एक देश उपनिषत्का अर्थ ब्रह्म भी धर्म है; अतः संपूर्ण वेदार्थके विचारकी प्रतिज्ञा जैमिनि आचार्यने की है और वेदार्थका लक्षण किया है—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' 'चोदना—क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनम्' अर्थात् क्रियामें प्रेरक वाक्यको चोदना कहते हैं, जैसे 'यह करो' इत्यादि । इस तरह कर्मके सदृश ब्रह्ममें भी विधिका स्पर्श प्रतीत होता है ।

तात्पर्य यह है कि साङ्ग वेदके अध्ययनके पश्चात् प्रतीयमान अर्थ बाधित है या अबाधित ? इस सन्देहकी निवृत्तिके लिए न्यायसे अर्थनिर्णयकी अपेक्षा होती है । उसीके लिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रसे न्यायपूर्वक वेदमात्रके विचारकी प्रतिज्ञा की गई है। इससे अध्यापनमें विधि, उपनयनमें अध्यापनकी अङ्गता, अध्ययनमें अध्यापनविधिप्रयुक्तता और स्वतन्त्राधिकार—ये चार अर्थ प्राप्त होते हैं । वेदार्थके विचारके उपायभूत न्यायनिरूपणपरक मीमांसाशास्त्रका आरम्भ करना चाहिए, या नहीं ? यह सन्देह होता है, अध्ययन अध्यापनविधिप्रयुक्त है; अध्यापनसे आचार्यत्वरूप फल अध्यापकमें हो ही जायगा, इसलिए अध्ययन अक्षरराशिमात्रग्रहणपरक है । अर्थसहित अध्ययनपरक नहीं है । इसलिए अर्थनिर्णयके लिए मीमांसाशास्त्रके आरम्भकी आवश्यकता नहीं है, यह पूर्वपक्ष है ।

यद्यपि अध्ययन अध्यापनविधिप्रयुक्त है, तथापि अध्ययनका फल पुरुषान्तरसमवेत आचार्यत्व नहीं है, किन्तु अन्तरङ्ग अर्थज्ञान ही है; इसलिए अध्ययन

अर्थनिर्णयफलकाध्ययनपरक है; अर्थनिर्णय मीमांसाके बिना नहीं हो सकता, इसलिए मीमांसाशास्त्रका आरम्भ करना चाहिए, यह उत्तरपक्ष है।

इस प्रकार विचार करनेसे वेदार्थमात्रके विचारके लिए मीमांसाशास्त्रका आरम्भ है; अतएव धर्मके सदृश ब्रह्म भी वेदार्थ होनेसे विचार्यरूपसे प्रतिज्ञाका विषय है, इस कारण पूर्वोक्त ब्रह्मविषयक प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी शङ्का और उसके समाधानके लिए वेदान्तशास्त्रका आरम्भ भी है, ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि सूत्रमें धर्मशब्दका उपादान है, इससे धर्मविषयक वेदभागका विचार करनेके लिए तादृश प्रतिज्ञा की गई है, अन्यथा 'अथातो वेदार्थजिज्ञासा' ऐसा सूत्र होना चाहिए था।

धर्मशब्दका तात्पर्य वेदार्थमें है, यह कह चुके हैं, इसलिए वेदार्थजिज्ञासा या धर्मजिज्ञासा—इन दोनोंका अर्थ एक ही है, अतः यह आक्षेप व्यर्थ है कि सूत्र ऐसा होना चाहिए था। नहीं, व्यर्थ नहीं है, क्योंकि 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्यायसे धर्मशब्दका वेदार्थ गौण अर्थ है; धर्म मुख्य अर्थ है, दोनोंका जहां सम्भव है, वहां मुख्यार्थ ही का ग्रहण होता है; गौणार्थका ग्रहण नहीं होता, इसलिए धर्मशब्द कर्मपरक है।

शङ्का—यदि कर्मकाण्डमें उक्त वेदार्थ ही जिज्ञास्य है, तो कर्मकाण्डमात्र प्रतिपादक वेदके अध्ययनके बाद ही उक्त जिज्ञासा होनी चाहिए, सम्पूर्ण वेदाध्ययनानन्तरकी अपेक्षा ही क्यों है, पर ऐसा नहीं है, सम्पूर्ण वेदके अध्ययनके बाद जिज्ञासा होनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदार्थमात्रकी जिज्ञासा प्रकृतमें विवक्षित है।

समाधान—कर्म और ज्ञान इन दोनोंके अधिकारी पुरुष अध्ययनके अधिकारी हैं, अतः सम्पूर्ण वेदाध्ययनके बाद स्वर्गादिकी कामनावाले धर्मविचारमें और मोक्षकी कामनावाले ब्रह्मजिज्ञासामें प्रवृत्त होते हैं, धर्मरूप विशेषके वाचकधर्म शब्दसे वेदार्थैकदेश ही जैमिनिको विवक्षित है, उपनिषद्भाग विवक्षित नहीं है।

शङ्का—यदि यह कहिए कि चोदनासूत्रमें 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्यादि श्रुतिके प्रमाणसे ब्रह्ममें भी जिज्ञासाकर्मत्वका सम्बन्ध होनेसे वह भी क्रियाविधिशेष ही है, अतएव 'वेदार्थो विषयः स किं सिद्धस्वरूपः किं वा कार्यरूप एवेति' ऐसा संशय किया है। यदि धर्म ही जिज्ञास्य होता, तो वह तो कार्य ही है, सिद्धरूप तो है नहीं, फिर 'सिद्धरूपः किं वा कार्यरूपः यह संशय नहीं बन सकता, और तादृश संशयके अनन्तर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य सिद्धार्थक

कहा गया है। यद्यपि जिज्ञासादिका कर्म होनेसे वह साध्यार्थक भी हो सकता है, तथापि जिज्ञासादि कर्मकी अस्फूर्त्तिदशामें वह सिद्धार्थक कहा गया है।

सिद्धार्थक शब्दोंमें भी 'दिष्ट्या वर्द्धसे देवदत्त ! पुत्रस्ते जातः' इत्यादि श्रवणके अनन्तर मुखविकाश आदि लिङ्गसे हर्षानुमान होता है, और हर्षका कारण परिशेषसे पुत्रजन्म ही ज्ञात होता है, उसकी प्रतीति उक्त वाक्यसे ही होती है, इसलिए सिद्धार्थक शब्दोंमें भी शक्तिग्रह होता है, तथा शाब्दबोध भी होता ही है, अतः सिद्धरूप भी वेदार्थ होता है, यह पूर्वपक्ष करके व्यवहार ही से अव्युत्पन्न बालकको पहले शब्दशक्तिग्रह होता है, और व्यवहार प्रायः कार्यार्थमें ही होता है, सिद्धार्थमें नहीं।

पुत्रजन्मादि वाक्यमें पुत्रजन्म ही हर्षका हेतु है यह निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रियासुखप्रसवादि भी हर्षके हेतु हो सकते हैं, इसलिए व्यवहार ही मुख्यतया शक्तिग्राहक माना जाता है, व्यवहार कार्यार्थक ही का होता है। आवाप और उद्वापके पश्चात् विशेषमें शक्तिग्रह होता है, और वाक्यार्थबोध शक्तिग्रहानुसारी होता है, इसलिए वेदान्तके भी विधिका शेष होनेसे अर्थात् कार्यपरक होनेसे कार्य्यरूप ही वेदार्थ है, यह सिद्धान्त किया है।

समाधान—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' चोदना क्रियामें प्रवर्त्तक वाक्य कहलाता है, 'यद्धर्म्योऽर्थः श्रेयस्करः' अर्थपदसे अनर्थफलक श्येनादिकी व्यावृत्ति होती है, इससे विधिप्रतिपाद्य श्रेयस्कर अर्थ धर्म कहलाता है, यह अर्थ निकलता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदार्थैकदेशका ही श्रुत्यर्थ द्वारा स्वरूप और प्रमाण बतलाया है। अन्यथा यदि संपूर्ण वेदार्थ जिज्ञासित होता तो 'वेदप्रमाणको वेदार्थः' ऐसा कहते, जिससे 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुतिका तथा वेदार्थसे ब्रह्मका भी ग्रहण हो जाता। किन्तु ऐसा तो कहा नहीं है, अतः वेदार्थैकदेश धर्म ही जिज्ञासित है, ब्रह्म नहीं।

कर्ममीमांसाका विषय ब्रह्म नहीं है, किन्तु उसके विषय धर्मसे विपरीत है, इसलिए वह ब्रह्मका निषेध करेगी, इस प्रकार यदि शंका हो, तो इसका उत्तर यों देना चाहिए कि क्या मीमांसासे न्यायसमुदाय विवक्षित है या सूत्रसमुदाय अथवा तदनुग्राह्य कर्मविधि ? आद्य और द्वितीय पक्षके अप्रमाणस्वरूप होनेसे प्रमाणभूत वेदार्थका बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रमाणसे प्रमाणका बाध दृष्टचर नहीं है, ब्रह्मविपरीत धर्ममें प्रमाणानुग्राहक न्यायका तात्पर्य है, उदासीन होनेसे ब्रह्ममें असंभावना

विधिभक्तेन वेदान्ते किमर्थो विधिरुच्यताम् ।
पुमर्थत्वं तु मेयस्य स्वाभाव्यान्न विधेर्बलात् ॥ १६३ ॥
विज्ञानमानन्दमिति ह्यात्मैवेति श्रुतिस्तथा ।
पुमर्थस्यैव वेदान्तमेयत्वं प्रत्यपादयत् ॥ १६४ ॥
अथोत्पन्नस्य बोधस्य संसारक्लेशबुद्धिभिः ।
यदन्यथात्वं तद्धेयं विधानेन तदप्यसत् ॥ १६५ ॥

बुद्धिका भी उत्पादक नहीं है। तृतीय पक्षमें कर्मविधि स्वार्थमें प्रमाण है, अतः वेदान्तप्रमाणके विषय ब्रह्मका निराकरण नहीं कर सकती। यदि ऐसा न माना जाय, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणका भी निराकरण कर देगी। भिन्न विषयमें व्यवस्थित होनेसे विरोध नहीं है, यह समाधान तो प्रकृतमें भी लागू है और विधि स्वविषयके विधानमें ही समर्थ होती है; दूसरेके निषेधमें नहीं, कारण कि विधि और निषेध इन दोनोंका विधान क्रमशः विवक्षित है या एक समयमें ? शब्द, बुद्धि और कर्म इनका विरम्य व्यापार ही नहीं होता; यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है, अतः प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता। द्वितीय पक्षमें एक प्रमाणमें विधि और निषेध दोनोंकी उपलब्धि ही नहीं है, अतः अक्रमसे भी दोनोंका बोध नहीं हो सकता ॥१६२॥

आत्मज्ञानकी विधिमें कुछ प्रयोजन भी नहीं है, इसको सिद्ध करनेके लिए कहते हैं—'**विधिभक्तेन**' इत्यादिसे।

वेदान्तप्रमेय ब्रह्ममें पुरुषार्थत्व हो, इसलिए विधिकी अपेक्षा है अथवा वेदान्त द्वारा उत्पन्न ब्रह्मात्मज्ञान विरोधी वृत्तियोंसे अन्यथा न हो, इसलिए किं वा अविद्यानिवृत्तिके लिए आहोस्वित् विद्याफलकी सिद्धिके लिए ? इनमें प्रथम पक्षका निराकरण करते हैं—**पुमर्थत्वमिति**। वेदान्तका प्रमेय ब्रह्म स्वयं पुरुषार्थ है, विधिके बलसे वह पुरुषार्थ नहीं है, अतः विधिभक्त मीमांसक वेदान्तमें किस प्रयोजनके लिए विधि कहते हैं, अर्थात् प्रयोजनाभावसे विधि नहीं माननी चाहिए ॥१६३॥

ज्ञान और आनन्द स्वरूप होनेसे ब्रह्म स्वयं पुरुषार्थ है, यह कहते हैं—'**विज्ञानमानन्दम्**' इत्यादिसे।

विज्ञान और आनन्द स्वरूप आत्मा ही ब्रह्म तथा वेदान्तप्रमेय है, 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म, स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्यादि श्रुति पुरुषार्थ-स्वरूप आत्मा वेदान्तप्रमेय है; इसे स्पष्ट ही कहती है ॥१६४॥

द्वितीय पक्षके निराकरणके लिए कहते हैं–

तज्ज्ञानं यस्य सञ्जातं जातमेवाऽस्य नाऽन्यथा ।
गर्भस्थस्याऽपि हि सतो वामदेवस्य तद्यथा ॥ १६६ ॥
अविद्याया निरासार्थं विधिरित्यप्यसङ्गतम् ।
उत्पन्ना चेत्तत्त्वविद्या नाविद्यां न निरस्यति ॥ १६७ ॥
दृष्टो ह्यविद्याविध्वंसो व्याधभावनयाऽन्विते ।
राजसूनौ स्मृतिप्राप्ते व्याधभावनिवर्त्तनात् ॥ १६८ ॥

'तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवम्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार मूत्र, पुरीष आदि दोषोंसे दूषित गर्भाशयमें सोये हुये वामदेवजीको पूर्वजन्म-में किये श्रवण, मनन आदिसे संस्कृतचित्त होनेसे समीचीन आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ और वह विरोधी वृत्तियोंसे बाधित भी न हुआ; क्योंकि समीचीन ज्ञान मिथ्या बुद्धिसे बाधित नहीं हो सकता, 'बुद्धेस्तत्पक्षपाततः' इस न्यायसे बुद्धिका तत्त्वमें ही अधिक पक्षपात होता है । अतः विरोध होनेसे मिथ्या बुद्धि तत्त्वबुद्धिसे स्वयं बाध्या होती है बाधिका नहीं होती । उत्पन्न आत्मज्ञान संसारक्लेशबुद्धिसे बाधित हो जायगा, इसलिए विधि माननी चाहिए, यह भी उक्त रीतिसे असंगत है ॥१६५॥

**'तज्ज्ञानम्'** इत्यादि । जिसको आत्मज्ञान एक बार हो जाता है, उसको वह सदा बना रहता ही है फिर ज्ञानान्तरसे वह बाधित नहीं होता, गर्भमें सोये हुये वामदेवजीको आत्मज्ञान हो ही गया और अन्य विरोधी वृत्तिसे वह नष्ट भी नहीं हुआ । गर्भस्थ होनेके कारण विधिकी शंका भी नहीं हो सकती ॥१६६॥

तृतीय पक्षके निराकरणके लिए कहते हैं—**'अविद्याया निरासार्थं'** इत्यादिसे ।

अविद्याकी निवृत्तिके लिए आत्मज्ञानमें विधिकी आवश्यकता है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यदि तत्त्वविद्या उत्पन्न होगी, तो अविद्याको अवश्य नष्ट करेगी ॥१६७॥

जिस तरह किसी कारणवश व्याधके ( वनेचरके ) कुलमें संवर्धित राजपुत्रको 'नासि त्वं व्याधसूनुः राजपुत्रस्त्वम्' इस आप्तवाक्य द्वारा 'राजपुत्रोऽहम्' ( मैं राजाका पुत्र हूँ' व्याधपुत्र नहीं हूँ ) यह स्मरण होता है, तो चिरकालकी व्याधभावना निवृत्त हो जाती है, इसी तरह तुम संसारी नहीं हो, सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप हो । यह 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य द्वारा गुरूपदेश होनेपर अनादि कालकी सांसारि-

मैवं निःशेषवेदार्थमनुष्ठातुं नरः कथम् ।
पुमायुषाऽपि शक्तः स्याद्येन ज्ञानेऽधिकारिता ॥१९०॥
ततोऽधिकार्यभावेन वेदान्तानाममानता ।
प्रसज्येत ततः शुद्धचित्तो विद्याधिकारभाक् ॥१९१॥
संस्कारमात्रकारित्वं सर्वेषामपि कर्मणाम् ।
संस्कारः पच्यते पुंसः पूर्वजन्मकृतैरपि ॥१९२॥

---

वेदोक्त सकल कर्मानुष्ठानके बाद ज्ञानमें अधिकार होता है, ऐसा माननेपर, तो उक्त सकल कर्मोंका अनुष्ठान अनेक जन्ममें भी नहीं होगा, अतः ज्ञानाधिकारी कोई हो ही नहीं सकेगा, अतः वेदान्त शास्त्र निरर्थक हो जायगा, यह समाधान करते हैं—'**मैवं निःशेष०**' इत्यादिसे ।

कोई भी मनुष्य संपूर्ण वैदिक कर्मोंका अनेक जन्ममें भी अनुष्ठान नहीं कर सकता, इसके बिना ज्ञानमें अधिकार नहीं होगा, इसलिए ज्ञानका नियोग ही अधिकारीके होनेसे व्यर्थ हो जायगा ॥१९०॥

और अधिकारीके बिना वेदान्त ही अप्रमाण हो जायगा, अतः शुद्धचित्त पुरुष ज्ञानका अधिकारी है, यही कहते हैं—'**ततोऽधिकार्य०**' इत्यादिसे ।

ज्ञानमें अधिकारी न होनेसे वेदान्त ही अप्रमाण हो जायगा, अतः कर्म ब्रह्मज्ञानमें उकारक चित्तसंस्कारके हेतु हैं, इस जन्मके कर्म जैसे चित्तके संस्कारक हैं, वैसे ही जन्मान्तरमें किये गये कर्मोंसे चित्तसंस्कार होता है, इसलिए काण्ड-द्वयकी एकवाक्यता माननेपर भी जिज्ञासा हो सकती है, अतः जिज्ञासासे ही मोक्षमें अधिकारी होता है ॥१९१॥

सम्पूर्ण वेदवाक्योंकी पूर्वोक्त एकवाक्यताका निराकरण करते हैं—'**संस्कारमात्र०**' इत्यादिसे ।

निखिल कर्मकाण्डमें विहित कर्मोंका अनुष्ठान ब्रह्मज्ञानोपकारक संस्कारमात्रके कारण हैं । पूर्वजन्मानुष्ठित शुभ कर्मोंसे भी चित्तमें संस्कारका परिपाक होता है, जिससे ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति होती है ।

एकवाक्यता माननेपर भी सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान अपेक्षित नहीं है, किन्तु चित्तशुद्धि-संपादक कर्मानुष्ठानमात्रकी अपेक्षा है, क्योंकि चित्तके शुद्ध होनेपर वैराग्य होता है ॥ १९२ ॥

एवमत्रैकवाक्यत्वं नाऽनुष्ठेयसमाप्तितः ।
वैराग्यादिमतः पुंसस्तेन विद्याधिकारिता ॥१९३॥
किञ्च ज्ञानमदृष्टार्थमुत दृष्टार्थमुच्यताम् ।
कस्मिन्सत्यत्र किं ते स्यादिति चेद् भाष्यते शृणु ॥१९४॥
ब्रह्मज्ञानमदृष्टार्थमग्निहोत्रादिवद्यदि ।
ततोऽधिकारचिन्ता स्यात्कृतेऽप्यफलशङ्कया ॥१९५॥

**'एवमत्रैक०'** इत्यादि । अर्थैक्यसे एकवाक्यताका निरास करनेपर भी उपकार्योपकारकत्वमात्रसे एकवाक्यता मानते हैं । फिर भी निखिल विहित कर्मानुष्ठानकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु जबतक चित्त शुद्ध न हो, तबतक कर्मोंके अनुष्ठानकी अपेक्षा है । चित्तकी शुद्धि वैराग्यादि द्वारा सूचित होती है, इसलिए वैराग्यादि चित्तसाधनोंसे युक्त जिज्ञासु विद्याधिकारी है, यह प्रकृत विचारका निष्कृष्टार्थ है ॥१९३॥

अपि च मेरे मतमें अधिकारीका लाभ है, इसलिए ज्ञानाधिकारीके लाभकी चिन्ता व्यर्थ है । वेदके अप्रामाण्यकी शङ्का तो अति दूर है, यही कहते हैं— **'किञ्च ज्ञान०'** इत्यादिसे ।

आपके मतसे अग्निहोत्रादिके समान ज्ञान अदृष्टार्थ है । अग्निहोत्र करनेपर भी फल कालान्तरमें होता है, इसलिए संशय होता है कि फल होगा अथवा नहीं ? सन्दिग्ध पुरुष कर्मानुष्ठान नहीं कर सकता, इसलिए निश्चित प्रवृत्ति होनेके लिए अधिकारीकी चिन्ता आपको आवश्यक है । अधिकारीका निश्चय करनेके लिए मोक्षकामनाकी अपेक्षा होती है । फलकामनावान् ही अधिकारी कहलाता है । मोक्षकी कामना मोक्षका ज्ञान होनेपर होगी या मोक्षज्ञानके बिना भी हो सकती है ऐसा पूर्वोक्त रीतिसे विकल्प करनेपर दोनों प्रकारसे नहीं कह सकते, यह प्रश्न आपके मतसे होता है । मेरे मतसे ज्ञान अदृष्टार्थक नहीं, किन्तु अन्वय और व्यतिरेकसे आत्मैकत्वका ज्ञानरूप फल कृष्यादि फलके समान प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसलिए शुक्त्यादिज्ञानकी तरह आत्मज्ञानमें फल निश्चित होनेसे उस फलके अभिलाषी अधिकारीका लाभ हो जाता है, इसलिए अधिकारीके लाभकी चिन्ताका अवसर ही नहीं आता । अत एव अधिकारीका लाभ होनेसे वेदान्त प्रमाण ही हैं ॥१९४॥

इस तात्पर्यसे कहते हैं—**'ब्रह्मज्ञान०'** इत्यादि ।

यदि ब्रह्मज्ञान अग्निहोत्रादिके समान अदृष्टार्थक

**कामिनाऽप्यग्निहोत्रादि शूद्रेणाऽनधिकारिणा ।**
**कृतमप्यफलं तेन यत्नात्तत्र निरूप्यताम् ॥१९६॥**
**दृष्टार्थत्वेऽपि तद्दृष्टम् अविद्यानाशमात्रकम् ।**
**ततोऽपि चाऽधिकं किञ्चिद्यल्लभ्यमधिकारतः ॥१९७॥**
**अविद्यानाशमात्रं तु विद्योत्पत्त्यैव लभ्यते ।**
**पुमर्थस्य समाप्तत्वादधिकं नार्थ्यतेऽण्वपि ॥१९८॥**

---

कर्मकालमें फल न देखनेसे फल होगा या नहीं ? इस तरह संशय होनेसे अधिकारीका लाभ नहीं हो सकता, इस प्रकार आपके मतमें अधिकारीकी चिन्ता होती है। मेरे मतमें तो फलके प्रत्यक्षसिद्ध होनेसे उक्त शङ्का नहीं है और न अधिकारीके लाभके निरूपणकी ही आवश्यकता है ॥ १९५ ॥

यदि ज्ञानमें अधिकारीकी चिन्ता नहीं है, तो वेदोक्त साधम कर्म भी हैं, इसलिए ज्ञानके समान कर्ममें भी अधिकारीकी चिन्ता व्यर्थ होनेसे अधिकारीका निरूपण ही असङ्गत हो जायगा, इसलिए कहते हैं—'**कामिना**' इत्यादिसे।

अधिकारीके निरूपणके बिना अग्निहोत्रादि कर्मोंका अनुष्ठान ही नहीं होगा। स्वर्गकामी पुरुष अधिकारी निश्चित है, यह भी शङ्का नहीं कर सकते हैं कारण कि शूद्रको स्वर्गकामना भी होती है, लेकिन स्वर्गकामी शूद्र द्वारा कृत अग्निहोत्र निष्फल है, अतः अदृष्टफलक कर्ममें अधिकारीके निरूपणके बिना विद्वानोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए अदृष्टार्थक कर्ममें अधिकारीकी चिन्ता आवश्यक है ॥ १९६ ॥

स्वर्गकी इच्छासे शूद्र द्वारा किये गये अग्निहोत्रादि कर्म निष्फल होते हैं, इसलिए विद्वानोंकी प्रवृत्तिके लिए अधिकारीकी चिन्ता अतिश्रमसे करनी चाहिए, यह कहते—'**दृष्टार्थत्वेऽपि**' इत्यादिसे।

ब्रह्मज्ञान दृष्टार्थक है। प्रकृतमें क्या अविद्याका नाशमात्र दृष्ट अर्थ विवक्षित है अथवा इससे अधिक कुछ और यह अधिकारके निरूपणसे ही ज्ञात हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥१९७॥

प्रथम पक्षमें कहते हैं—'**अविद्या**' इत्यादिसे।

आत्माके यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्तिमात्रसे दृष्ट अविद्यानिवृत्तिरूप फलसे पुरुषार्थ—मोक्ष—सिद्ध हो जाता है, इसलिए तदतिरिक्त किसी भी फलान्तरकी इच्छा नहीं होती है ॥ १९८ ॥

अविद्याघस्मरज्ञानजन्ममात्रावलम्बिनः ।
पुमर्थादधिकं धीमान् किं वा कामयते परम् ॥१९९॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्याद्यपि च यत्फलम् ।
अविद्यानाश एवैतदन्तभर्वति नो पृथक् ॥२००॥
नाऽसङ्गात्मविदा किञ्चिद्ग्रन्थिरात्मनि वीक्ष्यते ।
अन्योन्याध्यासरूपस्य ग्रन्थेर्बोधे निवर्त्तनात् ॥२०१॥
नन्वविद्यानाशमात्रं दृष्टं विद्याफलं यदि ।
अधीतवेदवेदार्था मुच्येरन्नखिलास्तदा ॥२०२॥

---

उक्त अर्थके ही स्पष्टीकरणके लिए फिर कहते हैं—'अविद्याघ' इत्यादिसे।

वेदान्तवाक्यसे अविद्यानाशक ज्ञानके लाभमात्रके अधीन मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है, इसलिए इससे अधिक और कुछ बुद्धिमान् क्या चाहेगा ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १९९ ॥

अविद्यानाशसे अतिरिक्त 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि वचनसे हृदयग्रन्थ्यादि का भेदन आदि भी ज्ञानका ही फल श्रुत है, अतः उनकी इच्छा उसे क्यों नहीं होती ? इसपर कहते हैं—'भिद्यते' इत्यादिसे।

उक्त फल अर्थात् हृदयादि-ग्रन्थिके उच्छेद आदि अविद्यानाशके अन्तर्भूत होनेसे पृथक् नहीं कहे जा सकते ॥ २०० ॥

अविद्याकी निवृत्तिसे आत्मामें कर्तृत्वादि अध्यासकी निवृत्ति होती है, इस सिद्धान्तको विद्वानोंके अनुभवसे दृढ़ करनेके लिए कहते हैं—'नाऽसङ्गात्म०' इत्यादिसे।

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिके अनुसार जो आत्माको असंग जानता है, वह आत्मामें कोई ग्रन्थि नहीं देखता, आत्माका यथार्थ बोध होनेसे अन्योन्याध्यास-रूप ग्रन्थिकी निवृत्ति हो जाती है ॥ २०१ ॥

ज्ञानका अविद्यानिवृत्तिरूप दृष्ट फल माननेमें अतिप्रसंग होगा अर्थात् उपनिषत्का परिशीलन करनेवाले सभीकी अविद्याकी निवृत्ति देखी नहीं जाती, यह कहते हैं—'नन्वविद्या०' इत्यादिसे।

वेदान्तविद्याका फल यदि अविद्याकी निवृत्तिमात्र है, तो वेद और वेदार्थका अध्ययन करनेवाले सभी अविद्याकी निवृत्ति होनेसे मुक्त हो जायँगे ॥ २०२ ॥

मैवं विद्योदयो नास्ति प्रतिबन्धक्षयं विना।
अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ॥२०३॥
प्रतिबन्धोऽप्रस्तुतश्चेद्बोधस्योदय ऐहिकः।
आमुष्मिकोऽन्यथेत्याह व्यासः सूत्रेण निर्णयम् ॥२०४॥

प्रतिबन्धककी निवृत्तिके बिना अध्ययन करनेपर भी विद्या नहीं उत्पन्न होती है, इसे कहते हैं—'**मैवम्**' इत्यादिसे।

प्रतिबन्धकके क्षयके बिना विद्या उत्पन्न ही नहीं होती, अतः वेद और वेदार्थका अध्ययन करनेपर भी सब मुक्त नहीं होते हैं ॥२०३॥

प्रतिबन्धक दो प्रकारके होते हैं, एक ऐहिक और दूसरे आमुष्मिक, इसे कहते हैं—'**प्रतिबन्धो**' इत्यादिसे।

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इस सूत्रसे छोटे बड़े सब कर्म विद्याके साधन हैं, इसका निर्णय करनेके प्रसङ्गमें यह विचार करनेके लिए सन्देह किया गया है कि इसी जन्ममें विद्याफल होता है या जन्मान्तरमें? इसी जन्ममें विद्यारूप फल होना चाहिए, कारण कि जन्मान्तरमें विद्या हो, इस कामनासे श्रवणादिमें किसीकी भी प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु इसी जन्ममें विद्या हो, इसी कामनासे श्रवणादिमें पुरुष प्रवृत्त होता है, ऐसा पूर्वपक्ष करके कहा है कि इसी जन्ममें विद्या होती है, कब? 'असति प्रस्तुतप्रतिबन्धे' अर्थात् जब जन्मान्तरीय कर्मविपाक विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धक न रहे, तब इसी जन्ममें विद्या उत्पन्न होती है।

कर्मोंका विपाक देश, काल और निमित्तके अधीन होता है। जो देश, काल तथा निमित्त एक कर्मके विपाकके निमित्त हैं, वे ही दूसरे कर्मोंके विपाकके निमित्त हैं, ऐसा नियम नहीं है, शास्त्र भी इस कर्मका यह फल है, इतना ही बतलाता है, उनके विपाकके निमित्त अमुक देश और अमुक काल आदि हैं, ऐसा विशेषरूपसे नहीं बतलाता, अतः जन्मान्तरीय प्रतिबन्धक कर्मोंके रहनेपर इस जन्ममें विद्या नहीं होती, किन्तु प्रतिबन्धकोंके निवृत्त होनेपर जन्मान्तरमें विद्या अवश्य होती है।

और जो यह कहा गया है कि जन्मान्तरमें विद्या प्राप्त हो, इस उद्देश्यसे श्रवणादिमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती? वह ठीक नहीं है, क्योंकि इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरमें विद्या हो, इस तात्पर्यसे विद्याके साधन श्रवणादिमें प्रवृत्ति होती है।

प्रतिबन्धक्षयो भूतो भवन्भावी त्रिधा मतः ।
वामदेवशुकादीनां भूतो गर्भेऽवबोधनात् ॥२०५॥
वर्त्तमानोऽस्मदादीनां शृण्वन्तोऽपीह जन्मनि ।
ये तत्त्वं नैव बुध्यन्ते तेषां भावीति निश्चयः ॥२०६॥

श्रवणादिसे विद्या उत्पन्न होती है, फिर भी प्रतिबन्धककी निवृत्तिकी अपेक्षा रहती ही है, इससे यह सिद्धान्त हुआ कि प्रतिबन्धकोंके न रहनेपर इसी जन्ममें विद्या होती है और प्रतिबन्धकोंके रहनेपर इस जन्ममें नहीं होती, किन्तु जन्मान्तरमें होती है । अतएव 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इत्यादि वचन भी संगत होता है ।

श्लोकार्थ—यदि प्रतिबन्ध अप्रस्तुत—अवर्तमान—हैं, तो इस जन्ममें विद्योदय होता है, अन्यथा–यदि वर्तमान हैं—तो जन्मान्तरमें विद्योदय होगा, यह 'ऐहिकम्' इत्यादि व्याससूत्रसे—वेदान्तसूत्रसे—निर्णीत है । पापविशेष ही विद्योत्पत्तिमें प्रतिबन्धक है, इसमें प्रमाण अर्थापत्ति और श्रुति है । सामग्री रहनेपर भी यदि किसी पुरुषमें ज्ञान नहीं देखते, तो ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक दुरितविशेषकी कल्पना करते हैं । 'हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्य्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' यह श्रुति भी उक्त प्रतिबन्धकके सद्भावमें प्रमाण है । श्रुत्यर्थ—जैसे नीचे सुवर्णनिधि–सोनेकी खान—है, यह नहीं जाननेवाले प्रतिदिन उसीके ऊपरसे आते जाते हैं, पर सोनेकी खानको नहीं जानते, वैसे ही प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्थामें ये सब प्राणी ब्रह्ममें प्राप्त होते हैं, किन्तु प्रतिबन्धकवश ब्रह्मको पहचानते नहीं ॥ २०४ ॥

प्रतिबन्धक्षयमें कालनियम कहते हैं—**'प्रतिबन्धक्षयो'** इत्यादिसे ।

भूत, वर्तमान और भविष्यके भेदसे प्रतिबन्धकका क्षय तीन प्रकारका है। वामदेव तथा शुक आदिका प्रतिबन्धक्षय भूत था, इसलिए गर्भमें ही, जहाँ कि विद्यासाधनसामग्रीके सद्भावकी संभावना भी नहीं हो सकती, प्रतिबन्धका क्षय होनेपर जन्मान्तरके श्रवणादिसे ही विद्या उत्पन्न हो गई ॥ २०५ ॥

वर्तमान और भावी प्रतिबन्धका क्षय बतलानेके लिए कहते हैं—**'वर्तमानो'** इत्यादिसे ।

**न चास्मदादिबोधस्य बोधाभासत्वशङ्कया ।**
**प्रतिबन्धः कल्पनीयोऽनुभूतिः शङ्क्यते कथम् ॥२०७॥**
**असंदिग्धाविपर्यस्तबोधः शास्त्रान्निजात्मनि ।**
**उदितश्चेत्ततोऽन्या काऽनुभूतिः प्रार्थ्यते वद ॥२०८॥**
**बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते ।**
**तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ॥२०९॥**

हम लोगोंका प्रतिबन्धक्षय वर्तमान है। इस जन्ममें वेदान्त द्वारा आत्म-श्रवण करते हुए भी जिनको तत्त्व-ज्ञान नहीं होता, उनका प्रतिबन्धक्षय भावी है, यही निश्चय होता है॥ २०६ ॥

आधुनिकोंको अप्रतिबद्ध आत्मज्ञान नहीं है, इसका अभिप्राय क्या यह है कि असंदिग्ध और अविपर्यस्त ज्ञान नहीं है अथवा ज्ञान होनेपर भी अनुभवात्मक प्रत्यक्ष नहीं है, जैसे कि शब्द द्वारा परकीय दुःखका परोक्षात्मक ज्ञान होनेपर भी स्वदुःखा-नुभवके सदृश उसका ज्ञान नहीं होता, अथवा संशय देखनेमें आता है या रागादि चित्तदोषकी निवृत्ति ही नहीं हुई? इनमें प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि असन्दिग्ध तथाअविपर्यस्त अनुभव प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः ऐसा ज्ञान ही नहीं होता, यह अपलाप नहीं कर सकते, यह कहते हैं—'**न चास्मदादि०**' इत्यादिसे।

हम लोगोंके अपने बोधमें आभासत्वकी शङ्कासे प्रतिबन्धकी कल्पना उचित नहीं है, क्योंकि वह आत्मबोध अनुभूतिस्वरूप है। प्रत्यक्षमें आशङ्का नहीं हो सकती। जैसे घटादिका प्रत्यक्ष होनेपर घटादि प्रत्यक्ष हुआ या नहीं, यह शङ्का नहीं होती, वैसे ही तादृशात्मसाक्षात्कार होनेपर तादृश ज्ञान हुआ या नहीं, यह शङ्का भी नहीं हो सकती, अतः हम लोगोंके आत्म-ज्ञानमें प्रतिबन्धकी कल्पना सर्वथा अनुचित है॥ २०७ ॥

द्वितीय पक्षका निराकरण करनेके लिए कहते हैं—'**असंदिग्धा०**' इत्यादिसे।

शास्त्रसे असंदिग्ध और अविपर्यस्त बोधका जब आत्मामें उदय हो गया फिर उससे अतिरिक्त किस अनुभवको चाहते हो, कहो। [ वाक्य द्वारा हुआ परकीय दुःखका ज्ञान परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है, यह कह सकते हैं। प्रकृतमें आत्मा नित्यापरोक्षस्वरूप है, अतः ऐसे आत्माका ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नहीं है, यह नहीं कह सकते ] ॥ २०८ ॥

अपरोक्षवस्तुविषयक ज्ञानसे अतिरिक्त अनुभव नहीं है, ऐसा निश्चय करने-वाले मन्द हैं, यह कहते हैं—'**बोधेऽप्यनु०**' इत्यादिसे।

यस्य त्वनुभवे शङ्का प्रतिबन्धोऽस्तु तस्य सः।
किं नश्छिन्नमशङ्कस्य बोधस्तेन न वार्यते ॥२१०॥
रागो लिङ्गमबोधस्येत्युक्तं यत्तत्तथैव हि।
आत्मधर्मतया रागं मन्वानो नहि तत्त्ववित् ॥२११॥
रागो जडस्य धर्मश्चेत्किमायातं चिदात्मनि ॥
रागादिहीन आत्मैव बोध्योऽस्माभिर्न चेतरः ॥२१२॥

अपने बोधमें जिसे अनुभव नहीं होता, उस नराकृति लोष्टको शास्त्र कैसे बोध करा सकता है, अर्थात् शास्त्र व्युत्पन्न पुरुषके लिए है, जो लोष्टवत् जड़ हैं, केवल आकारमात्रसे मनुष्य कहलाते हैं, उन्हें शास्त्र द्वारा भी बोध नहीं हो सकता, शास्त्र योग्यके लिए है, अयोग्यके लिए नहीं है ॥२०९॥

तृतीय विकल्पका निराकरण करनेके लिए कहते हैं—**'यस्य त्वनुभवे'** इत्यादिसे।

जिसको अनुभवमें शङ्का है, उसके लिए प्रतिबन्ध हो, इसमें हमारी कौन-सी हानि है। किन्तु जिसको संशय नहीं है, उसके आत्मज्ञानका निराकरण नहीं हो सकता ॥२१०॥

चतुर्थ विकल्पका अनुवाद करते हैं—**'रागो लिङ्ग०'** इत्यादिसे।

राग ही अबोधका सूचक है, यह आप्तोंका कहना बहुत ठीक है, किन्तु जो रागको आत्माका धर्म मानता है, वह तत्त्वज्ञानी नहीं है। भाव यह है कि नित्य कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा रागादि दोषोंकी निवृत्तिके बिना चित्त शुद्ध नहीं होता। और चित्तशुद्धिके बिना तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए जिसके चित्तमें रागादि दोष विद्यमान हैं, वह तत्त्वज्ञानी नहीं हो सकता। और जो रागादिको आत्मधर्म मानता है, उसमें तो तत्त्वज्ञानकी सम्भावना भी नहीं है ॥२११॥

'रागो लिङ्गमबोधस्य' इत्यादि अभियुक्तवचनका तात्पर्य कहते हैं—**'रागो जडस्य'** इत्यादिसे।

यदि राग जड़का धर्म है, अर्थात् त्रिगुणात्मक मनका रजःप्रधान परिणाम राग है, और परिणामात्मक धर्म परिणामी मनमें रहता है, आत्मामें नहीं, तो चित्तमें राग रहनेसे आत्मामें क्या आया अर्थात् रागसे मन दूषित होता है, आत्मा तो सदा शुद्ध ही है। जपाकुसुमकी रक्त छायासे वस्तुतः स्फटिक अरुण नहीं होता, इसलिए आत्मा रागादिशून्य है, यही तो हम लोग समझाते हैं। जो रागादियुक्त है, वह आत्मा नहीं है ॥२१२॥

**बोधात् पुराऽपि नीराग आत्मेति यदि मन्यसे ।**
**स्वस्ति तेऽस्तु नमस्यामो यथाशास्त्रार्थवादिनम् ॥२१३॥**
**पुरेत्थं चेन्न जानासि जानीह्यथ श्रुतेर्मुखात् ।**
**यदावरकमज्ञानं तद्बोधेन विनश्यति ॥२१४॥**
**आत्मन्यतिशयः कश्चिन्न कोऽपीत्येतदुत्तरम् ।**
**चित्ते वाऽतिशयः कश्चेद्बोध एवेति विद्धि भोः ॥२१५॥**

---

यदि अन्तःकरणवर्ती रागकी अनुवृत्तिसे संसारदशामें आत्मामें रागकी प्रतीति होती है, वस्तुतः आत्मामें राग नहीं है, तो तत्त्वज्ञानकी क्या आवश्यकता, क्योंकि आत्मा सदा नीराग है, यही तो तत्त्वज्ञान है, यही कहते हैं— **'बोधात् पुरापि'** इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे प्रथम ही आत्मा सदा नीराग है, यह यदि आप मानते हैं, तो शास्त्रानुकूल आत्मस्वरूपवादी आपको हम नमस्कार करते हैं ॥२१३॥

बोधसे पहले इस ज्ञानको माननेसे बोध व्यर्थ होता है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'पुरेत्थं चेन्न'** इत्यादिसे ।

रागप्रतीति आत्मा और मनमें समान है, क्योंकि 'रक्तं मे मनः' 'अहं रागवान्' यह उभयथा व्यवहार होता है। फिर भी मनमें वास्तविक है और आत्मामें औपाधिक है, यह निश्चय कैसे हो सकता है? क्योंकि आरोपके निमित्त अज्ञानके रहनेपर आरोपका ज्ञान नहीं होता । अतः श्रुति द्वारा उसका ज्ञान होनेपर उसके निमित्त अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे वस्तुतः रागादि आत्मामें आरोपित हैं, वास्तविक नहीं हैं, यह निर्णय होता है, अतः तादृश ज्ञानकी निवृत्तिके लिए बोध सार्थक है, व्यर्थ नहीं है । श्लोकार्थ—बोधसे पहले रागादि आत्मामें आरोपित हैं, यह यदि नहीं जानते, तो श्रुतिसे जानो, जो आरोपका निमित्त आवरक अज्ञान है वह तो श्रुतिजन्य बोधसे—नीरागात्मविषयक बोधसे—नष्ट होता है ॥२१४॥

आत्मामें बोधसे पहले या बादमें कोई अतिशय नहीं है, इसे कहते हैं— **'आत्मन्यतिशयः'** इत्यादिसे ।

बोधकी अनुत्पत्तिकी अवस्थासे बोधकी उत्पत्तिकी अवस्थामें आत्मामें कुछ अतिशय है, या नहीं, इसका उत्तर देते हैं—नहीं, आत्मामें कुछ अतिशय नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा अनाधेयातिशय है, अतएव कूटस्थ नित्य है ।

गुणदोषदृशौ भोग्यरागवैराग्यकारणे ।
ब्रह्मबोधात् पुरा सिद्धे बोधादूर्ध्वं च तत्तथा ॥२१९॥
परमानन्दबोधे तु तदन्यस्यास्ति दुष्टता ।
अर्थसिद्धेति चेन्नैवमल्पानन्दाविचारणात् ॥२२०॥

नहीं होते । विषयभेदसे तो एक कालमें भी होते हैं । तात्पर्य यह है कि विषय अथवा कालका भेद विरोधपरिहारके लिए आवश्यक है, अतएव रागादि औपाधिक हैं, स्वाभाविक नहीं हैं, ठीक है । फिर भी रागादिनिवर्त्तक विषयदोषदर्शन ही है, यही कहते हैं—'**भोग्यसौन्दर्य्य०**' इत्यादिसे ।

भोग्यपदार्थ—कामिनी, स्रक्, चन्दन आदि—के सौन्दर्यका विज्ञान रागका प्रधान कारण है यदि यह मानते हैं, तो श्रुति स्मृत्यादिप्रमाण द्वारा भोग्य विषयोंके दोषोंको भी जानिये ? आपाततः विषयसौंदर्यज्ञानसे राग होता है उसके बाद उसमें प्रवृत्ति होती है । यदि प्रमाण द्वारा दोषज्ञान हो जाय, तो रागकी निवृत्ति हो जायगी और उसके अधीन विषयोंके उपभोगमें प्रवृत्ति भी न होगी ! रजतभ्रान्ति, तन्मूलक राग और प्रवृत्ति जैसे पुरोवर्तीमें शुक्तितत्त्वज्ञानसे नहीं होती वैसे ही विषयोंमें यथार्थज्ञानसे रागादिकी भी निवृत्ति होती है ॥२१८॥

जाड्यकी आपेक्षासे रागमें कादाचित्कत्व वैलक्षण्य है, फिर भी रागादिका निवर्त्तक विषयोंमें दोषदर्शन ही है । यह न समझिये कि 'रागो न नष्टः' इस अभियुक्तवचनसे रागकी निवृत्ति न होगी, अतएव ब्रह्मबोधकी क्या संभावना ? इस तात्पर्यसे कहते हैं—'**गुणदोषदृशौ**' इत्यादिसे ।

भोग्यमें रागका कारण गुणज्ञान है और वैराग्य का कारण दोषज्ञान है। ब्रह्मके बोधसे पहले ये दोनों प्रसिद्ध हैं, किन्तु ब्रह्मज्ञानके उत्तर गुणज्ञानके मिथ्या होनेसे गुण भी दोष ही है ॥ २१९ ॥

सांसारिक दशामें जिसको गुण मानते हैं ब्रह्मज्ञान होनेपर वस्तुतः वह भी दोष ही प्रतीत होता है, यही कहते हैं—'**परमानन्द**' इत्यादिसे ।

ब्रह्मानन्दका बोध होनेपर ब्रह्मातिरिक्त सबमें दोष ही है यह तो अर्थादेव सिद्ध हो जाता है, इसलिए फिर दोषदर्शनकी आवश्यकता नहीं है, इस भ्रमकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**अल्पानन्द**' इत्यादि ।

ब्रह्मानन्दके द्रष्टाको क्षुद्रानन्दमें इच्छा ही नहीं होगी, फिर विषयदोष-

नहि लब्धगजेनापि राज्ञाऽश्वस्त्यज्यते क्वचित् ।
रुग्णोऽश्व इति जानंस्तु त्यजेदेव न संशयः ॥२२१॥
ब्रह्मबोधो ब्रह्मतत्त्वं बोधयेन्नान्यवस्तुषु ।
दोषं बोधयते तस्य तद्बोधाविषयत्वतः ॥२२२॥
मिथ्यात्वदोषो बुद्धश्चेद्रागोऽप्येष विबुध्यते ।
रागः सत्यो भोग्यजातं मिथ्येति नहि शास्त्रधीः ॥२२३॥

---

दर्शनकी क्या जरूरत ? यह ठीक नहीं है, क्योंकि अधिक आनन्द मिलनेपर भी क्षुद्र आनन्दकी अभिलाषा दोषदर्शन ही से निवृत्त हो सकती है अन्यथा नहीं । अन्वय और व्यतिरेक प्रदर्शन द्वारा यही कहते हैं—**'नहि लब्धगजेनापि'** इत्यादिसे ।

हाथी मिलनेपर भी राजा घोड़ा नहीं छोड़ता है। घोड़ा रोगी है या कुलक्षण है यह जाननेपर अवश्य ही छोड़ देता है । अधिक लाभ होनेपर भी स्वल्प लाभको कोई नहीं छोड़ता, क्योंकि वह भी लाभ ही है । तृष्णाकी शान्ति विषयके लाभसे नहीं होती प्रत्युत बढ़ती है, इसीसे मनुजीने कहा है— 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' इत्यादि । दोषदर्शन त्यागका कारण है, अधिक लाभ हो या न हो फिर भी दोषके ज्ञानसे अश्वादिका त्याग होता ही है ॥२२१॥

ब्रह्मज्ञान होनेपर विषयदोषदृष्टिकी आवश्यकता नहीं रहती, इसका अभिप्राय क्या है ? क्या ब्रह्मके सदृश दोष भी ब्रह्मज्ञानका विषय है, इसलिए अन्य दोषज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती अथवा ब्रह्मज्ञानसे विषयके मिथ्यात्वका निश्चय होता है, मिथ्यात्वके निश्चयसे ही विषयमें प्रवृत्ति न होगी, फिर उसके लिए दोषदर्शनकी क्या अपेक्षा ? इसमें प्रथम कल्पके निराकरणके लिए कहते हैं—**'ब्रह्म'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मबोध ब्रह्ममात्रको विषय करता है विषयदोषको नहीं, अतः विषयदोषके दर्शनकी आवश्यकता है, क्योंकिविषयदोषदर्शनके बिना रागादिकी निवृत्ति नहीं हो सकती । ब्रह्मबोध दोषाविषयक है, अतः दोषज्ञान ब्रह्मज्ञानसे नहीं हो सकता ॥ २२२ ॥

द्वितीय पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—**'मिथ्यात्व'** इत्यादिसे ।

यदि विषयमें मिथ्यात्व दोष जान लिया, तो रागमें भी मिथ्यात्व दोष जान लिया है । [ 'रागेऽप्येष' ऐसा पाठ होना चाहिए, 'रागोऽप्येष' यह पाठ ठीक नहीं

मिथ्यैवागामिजन्मापि प्रसज्येतेति चेन्न ते ।
भोग्यं तद्रागजन्मानि मिथ्येत्येवं विजानतः ॥ २२४ ॥
सन्त्वनेकानि जन्मानि शास्त्रात्तत्त्वमजानतः ।
ज्ञानाज्ञानकृते मोक्षजन्मनी इति हि स्थिति ॥ २२५ ॥

जान पड़ता ] राग सत्य है, भोग्यजात मिथ्या है; ऐसा तो शास्त्र नहीं है अर्थात् ब्रह्मातिरिक सब मिथ्या है, यह शास्त्रका आदेश है। इसके अनुसार जैसे विषय मिथ्या है वैसे ब्रह्मातिरिक्त राग भी मिथ्या ही है। सत्यज्ञान होनेपर मिथ्या-ज्ञान तथा उसका विषय इन दोनोंकी अनुवृत्ति नहीं होती है, यह शुक्त्यादि-ज्ञानस्थलमें देखा गया है ॥२२३॥

**'मिथ्यैवागामिजन्मापि'** इत्यादि । यदि ब्रह्मातिरिक्त सब मिथ्या है, तो आगामी जन्म भी मिथ्या ही है, ऐसी शङ्का आप न करें, क्योंकि भोग्य और रागजन्म ये सब-के-सब मिथ्या हैं, इस प्रकार जाननेवालोंका जन्म ही नहीं होता। यदि इनके जानकार आप भी हैं, तो फिर आपका जन्म होगा ही नहीं। फिर मिथ्यात्वप्रसक्तिकी क्या शङ्का ? जिन लोगोंको ऐसा ज्ञान नहीं है वे लोग अजन्माका भी जन्म मानते ही हैं। भाव यह है कि आत्मज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर फिर मिथ्याज्ञानकी अनुवृत्ति नहीं होती और मिथ्याज्ञानकी अनुवृत्तिके बिना रागादिकी अनुवृत्ति नहीं होती ॥२२४॥

**'सन्त्वनेकानि'** इत्यादि । जो शास्त्र द्वारा आत्मतत्त्व नहीं जानते उनके अनेक जन्म हों। कारण कि अज्ञानकृत जन्म है और ज्ञानकृत मोक्ष है, यह वेदान्तसिद्धान्त है अर्थात् आत्माका वास्तविक जन्म तो होता नहीं, जन्म तो शरीरेन्द्रियादिका होता है। लेकिन जिन्हें शरीरेन्द्रियादिमें आत्माका तादात्म्याध्यास है उन्हें शरीरेन्द्रियादिकी उत्पत्ति ही आत्माकी उत्पत्ति भासित होती है। उनको अनेक जन्म मानना ही पड़ता है। किन्तु जिन्हें श्रुत्यादि प्रमाणसे **'आत्मा कूटस्थ नित्य निर्विकार है'** यह ज्ञान है, उन्हें **'आत्मा नित्यशुद्धमुक्तस्वरूप है संसारी नहीं है'** इस प्रकार ज्ञान है और अज्ञानसे ही मुक्त और संसारी आत्मा कहा जाता है ॥२२५॥

ब्रह्मज्ञान होनेपर भी यदि रागकी अनुवृत्ति कहते हैं, तो रागके सम्पादनमें

इयताऽपि प्रयासेन रागः सम्पाद्य एव किम् ।
इति चेन्न वयं रागं सम्पादयितुमुद्यताः ॥ २२६ ॥
रागं द्विषन्भवान्ब्रह्मनिष्ठां त्यक्तुमिहोद्यतः ।
तस्य ते ब्रह्मनिष्ठायास्तं त्यागं वारयाम्यहम् ॥ २२७ ॥

आपका आग्रह प्रतीत होता है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**इयताऽपि प्रयासेन**' इत्यादिसे ।

ब्रह्मार्पणबुद्धिसे नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठानपूर्वक श्रवणादि करनेपर भी रागानुवृत्तिकी शङ्कासे विषयदोषदर्शनकी आवश्यकता बतलाते हैं, अतः प्रतीत होता है कि सर्वथा रागकी निवृत्ति उक्त उपायसे भी आप नहीं मानते, अतः विषयदोषदर्शनरूप उपयान्तरका उपदेश देते हैं । ठीक है, यदि सर्वथा राग निवृत्त हो जायगा, तो मोक्षमें भी राग न रहेगा, ऐसी दशामें ब्रह्मज्ञानमें अधिकार ही कैसे होगा ? मुमुक्षुत्व भी तो अधिकारीके विशेषणरूपसे श्रुत है, इसलिए विषयराग ही मोक्षका विरोधी होनेसे त्याज्य है, मोक्षका राग नहीं। वह ब्रह्मज्ञान परोक्षात्मक है जिससे श्रवण और मनन आदिमें प्रवृत्ति होती है। साक्षात्कारात्मक ज्ञानके तात्पर्यसे शङ्का ही नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय निखिल द्वैतकी निवृत्ति होनेसे कोई है ही नहीं। समाधानका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञान होनेपर भी रागकी अनुवृत्तिमात्रसे ब्रह्मज्ञानमें भी सन्देहसे प्रवृत्ति न होगी, किन्तु व्यापारान्तरमें ही प्रवृत्ति होगी, तो फिर मोक्षरूप परमपुरुषार्थसे वञ्चित रह जायगा । इसलिए सावधान करते हैं कि रागानुवृत्तिमात्रसे ब्रह्मविद्यामें अनादर नहीं करना चाहिए, किन्तु रागकी उत्पत्तिका स्वीकार करते हुए ब्रह्मचिन्तन आदि कार्यमें तत्पर होना चाहिए । मृगोंके भयसे खेती ही न करना, यह उचित नहीं है । किन्तु खेती करो और साथ-साथ प्रतीकारका उपाय भी करते जाओ । ऐसा करनेसे ही पुरुषार्थ लाभ होता है अन्यथा नहीं । यदि पूर्ववासनावश विषयोंका अभिलाष हो, तो शास्त्रोपदिष्ट दोषदर्शन द्वारा उसकी निवृत्ति करते जाओ, मोक्षादिराग तत्त्वज्ञानविरोधी नहीं है, अतः इनके द्वारा चित्त दूषित नहीं हो सकता, किन्तु श्रवणादिकी प्रवृत्तिमें कारण होनेसे उपादेय है हेय नहीं, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'**रागं द्विषन् भवान्**' इत्यादि ।

रागमें द्वेष कर आप ब्रह्मभावनाका ही त्याग करनेमें उद्यत हैं, उस ब्रह्मभावनाके त्यागको हम रोकते हैं अर्थात् स्वल्प भयसे महान् अर्थका त्याग उचित नहीं है ।

**वृश्चिकादपसर्पन् यः सद्यः सर्पेण मार्यते ।**
**सोढ्वाऽपि वृश्चिकोत्पन्नं दुखं जीवत्यसौ नरः ॥ २२८ ॥**
**ब्रह्मनिष्ठामवाप्तस्य रागाद्यवसरः कुतः ।**
**इति चेत्स्वस्ति ते ब्रह्मनिष्ठायास्तु विरागिणे ॥ २२९ ॥**

'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्' इस न्यायसे दृढ-विश्वासके साथ प्रतीकारपुरःसर ब्रह्मभावना निरन्तर कीजिए, यह तात्पर्य है ॥२२७॥

'वृश्चिकभिया पलायमानस्य सर्पमुखे निपातः' अर्थात् वृश्चिकके भयसे भागते हुए मनुष्यका पैर सर्पके मुखमें ही पड़ा; इस प्रसिद्ध न्यायके अनुसार कहते हैं—**'वृश्चिकादपसर्पन्'** इत्यादि ।

जो वृश्चिकसे—विच्छूसे—डर कर जल्दीसे सांपके ऊपर गिरता है, उसे सांप शीघ्र ही मार डालता है, परन्तु वृश्चिकका तो दुःख सह कर मनुष्य जीता भी रहता है । तात्पर्य यह है कि स्वल्पदुःखके परिहारके लिए अधिक भयावह उपाय नहीं करना चाहिए । प्रकृतमें रागानुवृत्तिसे ब्रह्मभावनोत्पत्तिमें सन्देह-मात्रसे त्याग कर फिर प्रपञ्चभावनामें लगना वृश्चिकके भयसे भागकर सर्पके ऊपर गिरनेके सदृश है । ब्रह्मविचारमें लगे रहनेसे मुक्ति होगी और प्रपञ्चकी भावनासे तो संसाराग्निमें ही सन्तप्त होना पड़ेगा ॥२२८॥

यदि कहिये कि ब्रह्मकी भावना ही से रागादिकी निवृत्ति हो जायगी, विषय-दोषदर्शनकी जरूरत ही नहीं है, तो इसपर कहते हैं—**'ब्रह्मनिष्ठामवाप्तस्य'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मभावनामें जिसका मन लगा हुआ है, ऐसे मुमुक्षुको रागाद्युत्पत्तिका समय ही कहां ? यदि यह कहो, तो विरागी तथा ब्रह्मनिष्ठ आपका मङ्गल हो अर्थात् यही समीचीन समाधान है, ऐसी बुद्धि ब्रह्मनिष्ठकी ही होती है, दूसरेकी नहीं । सब शास्त्रका निष्कर्ष यही है, अतः आप असंदिग्ध और प्रबुद्ध हो गये । अब आपको कुछ भी समझानेकी आवश्यकता नहीं है ॥२२९॥

यदि बोधसे प्रथम ही रागदिका त्याग हो चुका है, तो फिर रागानुवृत्तिकी शङ्का ही कैसी ? ऐहिक और आमुष्मिक फलभोगमें विरागके बिना तो साधन चतुष्टयसंपत्ति ही नहीं होती और बिना उक्त संपत्तिके ज्ञानमें अधिकार ही नहीं है । हां, ठीक है, किन्तु कर्म विचित्र होते हैं, अतः जन्मान्तरीय कर्मविपाकसे फिर अभावकान्ति

**बोधात् प्रागेव संसारदोषदृक्चेद्विरज्यते ।**
**विरज्यत्वथ पापेन रागश्चेत् स चिकित्स्यताम् ।। २३० ।।**
**दोषदृष्टिब्रह्मनिष्ठाद्वयमत्र महौषधम् ।**
**कर्मजस्याचिकित्स्यस्य भोगादेव निराक्रिया ।। २३१ ।।**
**कादाचित्कं रागलेशं चिकित्सितुमशक्नुवन् ।**
**यो ब्रह्मबोधे सन्देग्धि कदा स्यात्तस्य निश्चयः ।। २३२ ।।**

---

महर्षियोंकी रागादिकी अनुवृत्ति भी पुराणादिमें प्रसिद्ध है, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—**'बोधात् प्रागेव'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मज्ञानसे पहले ही संसारदोषदर्शनशील संसारसे विरक्त हो जाता है। हाँ, विरक्त हो जाता है, किन्तु जन्मान्तरीय पापसे राग द्वारा पुनः संसारप्रवृत्त्युन्मुख भी हो जाता है, इसलिए प्रतीकारके उपायोंका उपदेश आवश्यक है ॥२३०॥

यदि रागादिकी अनुवृत्ति न हो, तो सर्वोत्तम है, प्रतीकारकी आवश्यकता ही नहीं है, किन्तु सबका समान कर्म तो होता नहीं, यदि जन्मान्तरीय दुरदृष्टसे किसी मुमुक्षुको फिर रागकी अनुवृत्ति हो जाय, तो ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिमें सन्देह न कर रागादिकी प्रतिक्रियामें ही उसे तत्पर होना चाहिए, इसीलिए पुनः-पुनः शङ्का और समाधान करते हैं—**'दोषदृष्टि०'** इत्यादिसे ।

विषयदोषदर्शन और ब्रह्मनिष्ठा ये दोनों इसके महौषध हैं। यदि प्रारब्ध कर्मोंसे भोगोंमें उपयुक्त रागादिकी अनुवृत्ति हो, तो वह भोग ही से निवृत्त होगी, क्योंकि भोगजनक अदृष्ट सबसे प्रबल होता है। उसकी प्रतिक्रिया नहीं हो सकती, अतएव—

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥

इत्यादि महानुभावोंके वचन हैं ।

उक्त अर्थको ही 'स्थूणानिखनन' न्यायसे दृढ़ करनेके लिए कहते हैं—**'कादाचित्कम्'** इत्यादिसे ॥२३१॥

ब्रह्मचिन्तनके समय राग आदि कदाचित् उत्पन्न हों और उनकी प्रतिक्रिया न करता हुआ यदि कोई ब्रह्मबोध ही में सन्देह करता रहे अर्थात् ब्रह्मज्ञान होगा या नहीं, ऐसा सन्देह करता रहे, तो सन्देह होनेसे प्रवृत्ति शिथिल हो

अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
इत्युक्ताः प्रतिबन्धस्य सूचकाः संशयादयः ॥ २३३ ॥
यो जानाति श्रद्दधाति निश्चिनोति च शास्त्रतः ।
प्रतिबन्धो न तस्याऽस्ति मादृशस्य कदाचन ॥ २३४ ॥
प्रतिबन्धविहीनस्य ज्ञानेनाऽज्ञाननाशनम् ।
दृष्टं फलं विजानीयात्तृप्तिर्भोजनतो यथा ॥ २३५ ॥
लभ्यमाने दृष्टफले कृत्स्नकर्माननुष्ठितेः ।
नाऽधिकारो निवार्योऽत्र जिज्ञासोर्मुक्तिकामिनः ॥ २३६ ॥
ननु मानादविज्ञाता विमुक्तिः काम्यते नहि ।
ज्ञातायां स्वात्मरूपत्वात् सुतरां नास्ति कामना ॥ २३७ ॥

---

जायगी, फिर उसे कब ब्रह्मका निश्चय होगा अर्थात् कभी नहीं, अतः सन्देह सर्वथा हेय है, उसकी निवृत्तिके लिए अवश्य यत्न करना चाहिए ॥ २३२ ॥

अज्ञ, श्रद्धाशून्य और संशयशील नष्ट हो जाता है अर्थात् परमपुरुषार्थ अमृतसे वञ्चित हो जाता है। अज्ञानसे संशय, संशयसे अश्रद्धा, और अश्रद्धासे ब्रह्मज्ञानमें प्रवृत्ति नहीं होती; इसलिए अज्ञान, अश्रद्धा और संशय ये तीनों उक्त प्रवृत्तिमें प्राचीन दैवदुर्विपाकरूप प्रतिबन्धके सूचक हैं ॥ २३३ ॥

**'यो जानाति'** इत्यादि। आत्मतत्त्वको जो जानता है, श्रद्धा करता है और शास्त्रसे उसे निश्चित कर लेता है; मेरे सदृश उसके ज्ञानका कभी प्रतिबन्ध नहीं है ॥ २३४ ॥

**'प्रतिबन्ध०'** इत्यादि। प्रतिबन्धशून्यका आत्मज्ञानसे आत्माके अज्ञानका नाशरूप दृष्ट फल जानो, जैसे कि भोजनका दृष्ट फल है—तृप्ति ॥ २३५ ॥

**'लभ्यमाने'** इत्यादि। जिसका अज्ञाननाशरूप दृष्ट फल देखते हैं, सकल विहित कर्मोंका अनुष्ठान न करनेपर उस मोक्षकामी जिज्ञासुकी ज्ञानाधिकारमें रोक नहीं है ॥ २३६ ॥

अच्छा ज्ञानाधिकारीमें मोक्षकामना यदि विशेषण है, तो अज्ञात अथवा ज्ञात मोक्षमें कामना होती है, यही शङ्का करते हैं—**'ननु'** इत्यादिसे।

यदि प्रमाणसे मुक्ति अज्ञात है, तो उसमें कामना नहीं हो सकती, क्योंकि 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' इस न्यायसे इच्छा ज्ञानसे उत्पन्न होती है। यदि ज्ञान ही नहीं हो, तो इच्छा कैसे हो सकती है? और यदि ज्ञात कहें, तो भी मुक्तिके स्वात्मस्वरूप होनेसे उसमें कामना नहीं हो सकती ॥ २३७ ॥

न युक्तं कामना मुक्तौ पुंसां नास्तीति भाषितुम् ।
देशकालानवच्छिन्नसुखाद्यर्थित्वदर्शनात् ।। २३८ ।।
प्रीत्युत्कर्षो नरैर्लोके काम्यमानोऽभिवीक्ष्यते ।
दृष्टादृष्टार्थसम्बन्धिविषयेष्वविशेषतः ।। २३९ ।।

---

अप्राप्त विषयकी इच्छा होती है प्राप्त की नहीं । आत्मस्वरूप होनेसे सदा मुक्ति प्राप्त ही है, तो फिर उसकी इच्छा कैसे? इस शङ्काका समाधान करते हैं—**'न युक्तं'** इत्यादिसे ।

यद्यपि मुक्ति स्वप्रकाश आत्मस्वरूप है, अतएव अज्ञात नहीं हो सकती । और ज्ञानोदयसे पहले प्रमाणान्तरसे वह ज्ञात है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वात्मस्वरूप होनेसे वह मानान्तरकी विषय नहीं है, तथापि सामान्यसे ज्ञात है और विशेषरूपसे अज्ञात है, अतएव कामनाकी विषय है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—मुक्तिमें पुरुषकी कामना नहीं है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि देशकालानवच्छिन्न सुखके अर्थित्वके देखनेसे मुक्तिकामनाकी स्पष्ट प्रतीति होती है । 'निरवधिकं सुखं मे स्यात् कदापि दुःखं मा भूत्' यही देशकालानवच्छिन्न सुखकी प्रार्थना है, यह प्रार्थना सर्वानर्थोच्छेदस्वरूप आत्मस्वरूप मोक्ष ही में पर्यवसन्न होती है ।

अब यह शङ्का होती है कि प्रीत्युत्कर्ष मोक्ष नहीं है, किन्तु स्वर्ग है, इसलिए प्रीत्युत्कर्षकाम मोक्षकाम है, यह कैसे निश्चय करते हैं ?

उत्तर—दृष्ट हेतु पुत्रादिसे और अदृष्ट हेतु यागादिसे सम्बद्ध प्रीत्युत्कर्षसे अतिरिक्त 'सुखं मे स्यात्' इस प्रार्थनाका विषय प्रीत्युत्कर्ष निर्विशेष होनेसे स्वर्ग नहीं है, स्वर्ग तो क्रियाजन्य होनेसे सविशेष है । और विद्वान् लोग अपवर्गसे अतिरिक्त प्रार्थनाका विषय निरतिशय प्रीत्युत्कर्ष दूसरा है नहीं, ऐसा मानते हैं, क्योंकि स्वर्गादिसुख कर्मजन्य होनेसे कृष्यादिके समान अनित्य और सातिशय है और मोक्ष-साध्य नहीं है, किन्तु अभिव्यङ्ग्य है, अतएव नित्य और निरतिशयरूप है ॥२३८॥

यदि प्रीत्युत्कर्ष मोक्ष नहीं है, किन्तु स्वर्ग है, तो स्वर्गकाम मोक्षकाम कैसे हो सकता है, और काण्डद्वयका प्रामाण्य कैसे हो सकता है? इसलिए कहते हैं—**'प्रीत्युत्कर्षो०'** इत्यादिसे ।

पुत्रादि दृष्ट हेतुसे और यागादि अदृष्ट हेतुसे सम्बद्ध प्रीत्युत्कर्ष सविशेष दृष्ट है और मोक्षमें प्रीत्युत्कर्ष निर्विशेष है । 'मा न भूवं भूयासं' यह प्रेमातिशय

नानाऽन्यत्र परमानन्दादुत्कर्षः पर्यवस्यति ।
परमानन्दरूपा हि विमुक्तिः श्रुतिसम्मता ॥ २४० ॥
आत्यन्तिकसुखप्राप्तिदुःखविच्छेदकाङ्क्षिणः ।
अर्थतो मुक्तिमेवाऽमी कामयन्तेऽखिला जनाः ॥ २४१ ॥
स्वर्गादिकाम्यपि जनो मुक्तिं कामयते खलु ।
मुक्तिं कामयमानोऽन्यत्कटाक्षेणाऽपि नेक्षते ॥ २४२ ॥

आत्मामें ही दृष्ट है। पुत्रविषयक प्रेम पुत्र विशेषित है, तथा स्वर्गविषयक प्रेम स्वर्गसे विशेषित है और मोक्ष विषयविशेषसे अविशेषित है। हम सुखी रहें, यह इच्छा, हम पुत्रसे सुखी रहें, स्वर्गसे सुखी रहें, इन इच्छाओंसे विलक्षण है, अतः परमानन्दमोक्ष निरतिशय और निर्विशेषित सुख है, यही स्पष्टार्थ सूचित होता है ॥२३९॥

**'नाऽन्यत्र'** इत्यादि। परमानन्द मोक्षसे अतिरिक्तमें प्रीत्युत्कर्षका पर्यवसान नहीं है अर्थात् निःसीम प्रीत्युत्कर्ष मोक्षमें ही है, परमानन्दस्वरूप मोक्ष ही है, यह श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध है ॥२४०॥

यदि स्वर्गकाम भी मुमुक्षु हो तो कर्म और ज्ञानमें अधिकारीके भेद कैसे होगा, क्योंकि स्वर्गकाम कर्माधिकारी है, और अपवर्गकाम ज्ञानाधिकारी है इस प्रकार अधिकारीका भेद तथा ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्डका भेद और अधिकारी पुरुषके भेदसे काण्डद्वयमें प्रामाण्य भी सिद्ध होता है, परन्तु वह कैसे होगा, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'आत्यन्तिक॰'** इत्यादिसे।

स्वर्गकामना मोक्षविषयक होनेपर भी मुमुक्षु स्वर्गको चाहता ही नहीं आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति और आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्ति चाहनेवाला पुरुष अर्थतः अर्थसिद्ध मोक्ष ही चाहता है, क्योंकि स्वर्ग आदिमें आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति तथा आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्ति तो है नहीं, और चाहता है यही दोनों, तो फलतः मोक्ष ही चाहता है यही सिद्ध होता है। यही स्पष्ट अर्थके लिए फिर कहते हैं—**'स्वर्गादि'** इत्यादिसे।

स्वर्गादिकी कामनावाला भी मुक्तिकी कामना करता है और मुक्तिकी कामनावाला पुरुष स्वर्गादिको अनास्थासे भी नहीं देखता अर्थात् यदि स्वर्गादिसे विरक्त होकर ही मुमुक्षु होता है, तो फिर स्वर्गादिकी स्पृहाकी उसे क्या सम्भावना ? ॥२४२॥

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतञ्च सुखं स्वर्गपदास्पदम् ।। २४६ ।।
तस्मात् स्वर्गस्य मोक्षत्वादग्निहोत्रादिकर्मणाम् ।
मोक्षसाधनतैवेति मतं चेत्तन्न युज्यते ।। २४७ ।।
सप्तजन्म भवेद्विप्रो धनाढ्यो वेदपारगः ।
इत्यादिशा स्वतः कर्मफलेयत्ताऽवधार्यते ।। २४८ ।।

---

इयत्तासे परिच्छिन्न सुखविशेष ही स्वर्ग है, इससे अधिक सुखविशेष स्वर्ग नहीं है, यदि ऐसा कोई नियम होता, तो स्वर्गसे अधिक सुखात्मक होनेसे स्वर्गपद-वाच्य अपवर्ग नहीं है, यह कह सकते, परन्तु यह है नहीं, किन्तु अविशेषित सुखको स्वर्ग कहते हैं । अविशेषित सुख अपवर्ग भी है, अतः स्वर्गके समान अपवर्ग भी स्वर्गशब्दका अर्थ है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'**परमानन्द**' इत्यादिसे ।

परमानन्दरूप होनेसे मोक्षको भी स्वर्गशब्दसे कहते हैं ।।२४५।।

अर्थवाद वाक्यमें रहनेवाले स्वर्गशब्दके अर्थके स्वरूपके पर्य्यालोचनसे भी स्वर्गशब्द मोक्षवाची है, यह प्रतीति होती है, उसे ही कहते हैं—'**यन्न दुःखेन**' इत्यादिसे ।

जो दुःखसे मिश्रित नहीं है, विनाशी नहीं है, जो सबकी अभिलाषाका विषय है वही सुखविशेष स्वर्गशब्दका वाच्य है । पुत्र, पशु, धन आदिको कोई चाहता है, कोई नहीं चाहता है । किन्तु स्वर्गको सब चाहते हैं, इसी तात्पर्यसे 'स स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' ऐसा जैमिनि आचार्यका सूत्र है ।।२४६।।

'**तस्मात्**' इत्यादि । स्वर्गशब्द इयत्ताविशेषविशिष्ट सुखविशेषका वाचक नहीं है, किन्तु अविशेषित सुखविशेषका वाचक होनेसे मोक्षका भी वाचक है, इसलिए स्वर्गसाधन अग्निहोत्रादि कर्म मोक्षसाधन ही हैं, यही मानना चाहिए । यदि स्वर्ग और अपवर्गमें भेद नहीं है, तो तत्साधनमें भी भेद नहीं है, इसका निराकरण करते हैं—**तन्न युज्यते** इत्यादिसे ।

भाव यह है कि कर्मवाचिपदमात्रका इयत्तानवच्छिन्न सुख विशेष अर्थ है या स्वर्गशब्दका ही द्वितीय पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि कर्मफल विशेषमें इयन्ताका श्रवण है, । यही कहते हैं—'**सप्त**' इत्यादिसे ।

प्रथम पक्षका निराकरण करते हैं—'[illegible]' इत्यादिसे ।

यत्रापि स्वर्गशब्देन न विशेषोऽवधारितः ।
शास्त्रान्तरेण तत्रापि सविशेषोऽवधार्यताम् ॥ २४९ ॥

'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि वाक्यमें यद्यपि पशु आदि पद हैं, तथापि पशु स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु पशुकी प्राप्ति होनेपर दूधसे उत्पन्न होनेवाला सुख पुरुषार्थ है, अतः उसके द्वारा पशु भी पुरुषार्थ है, इसलिए पशुपदका पशुप्राप्तिजन्य-क्षीरपानसुखविशेष अर्थ होनेसे सुखविशेष यदि मोक्षस्वरूप है, तो चित्रादि यागका भी मोक्ष ही फल है, इसी तरह अग्निष्टोमका भी स्वर्ग फल होनेसे चित्रा और अग्निष्टोम आदि यागोंके फलोंमें सांकर्य हो जायगा, इसलिए पुत्र, पशु आदिसे होनेवाला सुख-विशेष चित्रादि यागका फल है, इससे विशिष्ट प्रीति स्वर्गशब्दका अर्थ है। अच्छा तो विशिष्ट प्रीति भी किसी उपाधिसे विशिष्ट है या अनवच्छिन्न है ? अर्थात् समस्त उपाधियोंसे शून्य ? प्रथम पक्षमें वह मोक्ष नहीं हो सकता । द्वितीय पक्षमें तादृश-सुखविशेष स्वर्गशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त ज्ञात नहीं है, क्योंकि ज्ञापक कोई वचन नहीं है, और न वह स्वयंप्रकाश ही है । यदि वह स्वतःप्रकाश माना जाय, तो तादृश सुखके लिए यागका अनुष्ठान ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि स्वयंप्रकाश स्वतःसिद्ध है, केवल अज्ञानमात्र व्यवधायक है, उसकी निवृत्तिके लिए ज्ञानकी ही आवश्यकता है। उससे भिन्न यागादि साधनकी आवश्यकता नहीं है। इन कारणोंसे स्वर्गशब्द मोक्षवाची नहीं हो सकता है, किन्तु लोकविशेषमें होनेवाला सुखविशेष ही स्वर्गशब्दका अर्थ है और यही 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्यमें विवक्षित है । और यहाँपर यह भी दोष है—यदि काम्य कर्मोंका फल भी मुक्ति है, तो सायं तथा प्रातःकालमें आहुति-मात्रसे मोक्षफलकी प्राप्ति हो जायगी, फिर नित्याग्निहोत्र ही व्यर्थ हो जायगा । मुक्ति निरतिशयस्वरूप है, इसलिए फलाधिक्य भी नहीं कह सकते , इसलिए कर्मफल-वाची पदमात्रका मोक्ष अर्थ है, यह नहीं कह सकते ।

श्लोकार्थ—किसी किसी कर्मका फल यह बतलाया गया है कि उसके अनुष्ठानसे सात जन्म ब्राह्मण, धनाढ्य तथा वेदपारग होता है, इस प्रकार इयत्ता-परिच्छिन्न होनेसे कर्मफल मोक्ष नहीं कहा जा सकता ॥ २४८ ॥

द्वितीय पक्षके निराकरणार्थ कहते हैं—'यत्रापि' इत्यादिसे ।

जहां इयत्ताविशेषका अवधारण नहीं है, केवल स्वर्गशब्दमात्रका श्रवण है, वहां भी शास्त्रान्तरसे सविशेषका—इयत्ताविशेषका—निश्चय कर लेना चाहिए, पुण्य

तृष्णया साधकः प्रीतिलवमन्यत्र वाञ्छति ।
पशुवृष्ट्यादिकामानां भूयसामिह दर्शनात् ॥ २५० ॥
अनर्थकोऽन्यथा चित्राकारीर्यादिविधिर्भवेत् ।
स्वर्गलक्षणमप्यस्ति सोमलोकादिभूमिषु ॥ २५१ ॥

और पापका फल क्रमशः सुख और दुःख है, यह निर्विवाद है और मनुष्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोक तक सुखमें तारतम्य है अर्थात् उत्तरोत्तर शतगुण अधिक आनन्द है—मनुष्यकी अपेक्षा देवतामें शतगुण आनन्द अधिक है, इसी तरह दुःख-तारतम्य भी है—मनुष्यलोकसे लेकर अवीचि—नरक—लोक तक उत्तरोत्तर दुःखका उत्कर्ष भी शतगुण है। साधनके उत्कर्ष और अपकर्षसे फलका उत्कर्ष और अपकर्ष होता है, क्योंकि काष्ठके उत्कर्ष और अपकर्षसे ज्वालाका उत्कर्ष और अपकर्ष सर्वानुभूत है, अतः स्वर्ग सातिशय होनेसे मोक्षपदवाच्य नहीं है ॥२४९॥

यदि स्वर्गादि सुख सातिशय है, तो प्रीतिलवमात्र है और तृष्णासे प्रीतिके साधनमें प्रवृत्त पुरुष पूर्ण प्रीति चाहता है, इसलिए प्रीतिलवके साधन कर्ममें प्रवृत्त ही नहीं होगा, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**तृष्णया**' इत्यादिसे।

मोक्षातिरिक्त विषयमें प्रीतिलवकी मनुष्य इच्छा करता ही है, अतएव 'उद्भिदा यजेत पशुकामः', 'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः' इत्यादि पशु, वृष्टि आदि फलके लिए विधायक वाक्य वेदमें श्रुत हैं। यदि प्रीतिलवकी इच्छा साधकको न होगी, तो उक्त वाक्य व्यर्थ हो जायँगे, इसलिए तत्-तत् फलकी इच्छासे ही तत्-तत् श्रौत और स्मार्त्त कर्मोंके बोधक वाक्य सार्थक होते हैं ॥२५०॥

'**अनर्थको**' इत्यादि। पशु, वृष्टि आदि फलके लिए चित्रा, कारीरी आदि यागोंका विधान है। उक्त फल प्रीतिलवस्वरूप है, अतः यदि उसमें किसीकी प्रवृत्ति न हो, तो उक्त विधि व्यर्थ हो जायगी। और सोम आदि लोकका सुख भी स्वर्गशब्दका वाच्य अर्थ है। यदि कहो कि सोमलोक आदिका सुख अनित्य है और स्वर्ग शब्दका अर्थ 'न च ग्रस्तमनन्तरम्' के अनुसार अविनाशी है, इसलिए सोम आदि लोकोंका सुख स्वर्गपदका वाच्य नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि मोक्षातिरिक्त निखिल कर्मफल स्वर्गादि अनित्य हैं। 'न च ग्रस्तमनन्तरम्' का यह तात्पर्य है कि सोमादि लोकका सुख मनुष्यलोकके सुखके सदृश क्षणिक नहीं है। इस प्रकार उस वाक्यका तात्पर्य स्तुतिमें है; नित्यत्वके प्रतिपादनमें उसका तात्पर्य नहीं है ॥२५१॥

**कृष्यादिवत्कर्मजन्यस्वर्गस्य क्षयसंश्रवात् ।**
**न मोक्षरूपता तस्मात् कर्म त्याज्यं मुमुक्षुणा ॥ २५२ ॥**
**प्रत्यक्षश्रुतिविध्यन्तविहितानामकारणात् ।**
**त्यागेऽतिसाहसं मन्ये ननु यागादिकर्मणाम् ॥ २५३ ॥**
**प्रत्यक्षोपनिषद्वाक्यविहितायास्ततोऽपि च ।**
**ऐकात्म्यज्ञाननिष्ठायास्त्यागोऽतीव हि साहसम् ॥ २५४ ॥**

कृषि आदि फलके समान याग आदि क्रियासे जन्य स्वर्ग भी अनित्य ही है, यह कहते हैं—'**कृष्यादि**' इत्यादिसे ।

कृष्यादिके सदृश स्वर्ग भी कर्मजन्य है, अतएव विनाशी है, मोक्षस्वरूप नहीं हो सकता, इसलिए मुमुक्षु कर्मका त्याग करे । अतएव 'प्लवा एते' इत्यादि श्रुतिसे यज्ञानुष्ठानशील यजमान आदि प्लव कहलाते हैं, प्लवन्ते—नश्यन्ति—इति प्लवाः अर्थात् यज्ञादि दृढ़ नहीं हैं । 'अक्षय्यम्' इत्यादि वाक्य स्तावक है, क्योंकि 'एवमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' 'नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादि वाक्योंके विरोधसे 'अक्षय्यम्' इत्यादि वाक्यका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं हो सकता है । इसलिए मुमुक्षुके लिए विनाशी फलके साधन कर्मका त्याग करना ही श्रेयस्कर है ॥२५२॥

अर्थवादवाक्यसे विधिवाक्य बलवान् होता है, अतः कर्मसे भी मुक्ति होती है, ऐसी शङ्का करते हैं—'**प्रत्यक्ष**' इत्यादिसे ।

स्वप्नान्तशब्दके सदृश विध्यन्तशब्द विधिके तात्पर्यसे प्रयुक्त है, 'यावज्जीव-मग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि विधि प्रत्यक्ष है । अपौरुषेय होनेसे मूलप्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु स्वयंप्रमाण है । इन वचनोंसे विहित अग्निहोत्र आदि श्रेयःसाधन कर्मोंका निष्कारण त्याग करना साहसमात्र है, अतः अग्निहोत्र आदि कर्मसमुच्चित ज्ञानसे मुक्ति माननी चाहिए ॥२५३॥

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः' इत्यादि वाक्यसे विरक्तके लिए संन्यास (कर्म-त्याग) विहित है 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि वाक्यमें विरक्त संन्यासीके लिए ही श्रवणाद्यात्मक ब्रह्मनिष्ठा भी शास्त्रमें कही गई है। समुच्चय पक्षके माननेसे तो उसका त्याग करना पड़ेगा और अनेक उपनिषद्वाक्योंसे निर्णीत अर्थका भी त्याग करना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मोंके त्यागके साहस की अपेक्षासे भी संन्यासका त्याग करनेमें अधिक साहस है, इसलिए केवल ऐकात्म्यज्ञान ही मोक्षका हेतु है, कर्मसमुच्चित ज्ञान मोक्षका साधन नहीं है, यह सिद्धान्त करते हैं—'**प्रत्यक्षोप**'० इत्यादिसे ।

**विचार्यमाणे यत्नेन कर्मत्यागस्य सम्भवात् ।**
**न किंचित्साहसं त्वस्ति प्रत्यक्षश्रुतिवाक्यतः ॥ २५५ ॥**

'शान्तो दान्त' इत्यादि साक्षात् उपनिषद्वाक्योंसे विहित संन्यासस्वरूप ऐकात्म्यज्ञाननिष्ठाके त्यागमें कर्मके त्यागसे भी अधिक साहस है अर्थात् मुमुक्षु कर्मत्यागपुरःसर श्रवणादिकी वृत्तिमें परायण हो और ज्ञानसे ही मुक्ति होती है, ऐसी भावनाको दृढ़ कर ज्ञानसाधनमें ही सदा तत्पर रहे ॥२५४॥

यदि यह कहिए कि कर्मके विधायक वाक्य और कर्मके संन्यासबोधक वाक्योंका परस्पर विरोध होनेसे कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड इन दोनोंमें अप्रामाण्य हो जायगा, क्योंकि 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इस न्यायसूत्रसे व्याहतार्थके ( विरुद्ध अर्थके ) बोधक वाक्य अप्रमाण होते हैं, यह निश्चित किया गया है । त्यागबोधक वाक्यसे कर्मानुष्ठान व्याहत है, और कर्मबोधक वाक्यसे कर्मोंका त्याग व्याहत है, अतः कर्म तथा उसके त्यागके परस्पर व्याहत होनेसे तत्–तत् वाक्योंमें प्रामाण्य हो ही नहीं सकता है, इत्यादि शंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'विचार्य्यमाणे'** इत्यादिसे ।

'त्यागेनैके ऽमृतत्वमानशुः', 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्', 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंमें संन्यासका—कर्म त्यागका—विधान है, इसलिए अधिकारियोंके भेदसे दोनोंकी अर्थात् कर्म और संन्यासकी व्यवस्था ठीक ही है, क्योंकि जो स्वर्गादि फलसे विरक्त मुमुक्षु हैं, उनके लिए कर्मसंन्यासविधि है और जो स्वर्गादि फलोंमें अनुरक्त हैं, उनके लिए जीवनपर्य्यन्त अनुष्ठानकी बोधक कर्मविधि है, इस प्रकारकी व्यवस्थाके माननेपर कर्मत्यागके साहसकी शङ्का ही नहीं है, क्योंकि यत्नसे पूर्व और अपर प्रकरणोंके अनुसंधानके द्वारा विचार करनेपर कर्मका त्याग ही निर्विरोध हो सकता है, इसलिए उनके त्यागमें साहस है ही नहीं, प्रत्यक्ष श्रुतिसे अर्थात् 'शान्तो दान्त' इत्यादि श्रुतिसे त्यागका विधान प्रत्यक्षसिद्ध है, 'एतावान् वै कामः' इस श्रुतिसे अविरक्त कर्मकाण्डमें अधिकार है । उसको आलस्य, प्रमाद आदिसे कर्मका त्याग नहीं करना चाहिए । 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' इत्यादि श्रुतिसे विरक्त संन्यासीका ज्ञानकाण्डमें अधिकार है, इस प्रकार अधिकारोंका विभाग

**तस्मात्सिद्धोऽधिकारोऽत्र ब्रह्मरूपं विविक्षतः ।**
**जिज्ञासोरेव कर्त्तुस्तु न सिषाधयिषोरिति ॥ २५६ ॥**

*इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिते वार्तिकसारेऽधिकारिपरीक्षानामकं प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ।*

---

श्रुतिसे सिद्ध ही है, अतः कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें विरोधकी संभावना नहीं है, इसलिए दोनोंमें प्रामाण्य व्यवस्थित है ॥२५५॥

प्रकृतका उपसंहार करते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

दोनों काण्डोंमें अधिकारीका भेद दुर्वार है, ब्रह्मरूप सदानन्द संवित्स्वभावमें प्रवेश करनेकी इच्छावाले मुमुक्षुका ज्ञानकाण्डमें अधिकार है और कर्मकाण्डमें स्वर्गादिफलरागियोंका अधिकार है । ऐकात्म्यज्ञान ही मोक्षका साधन है, कर्म नहीं है, ऐकात्म्य ज्ञानमें जिज्ञासुका ही अधिकार है, सिषाधयिषुका नहीं ! मुक्ति नित्य है, क्योंकि वह कार्य नहीं है; यह निष्कर्ष है ॥ २५६ ॥

*इति म० म० पण्डितप्रवर श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविचरित वार्तिकसारके भाषानुवादमें अधिकारिपरीक्षा नामका प्रथम प्रकरण समाप्त ।*



## अथ सम्बन्धपरीक्षा

**सिद्धेऽधिकारे वेदान्तसम्बन्धोऽथाऽभिधीयते ।**
**असम्बन्धे तु शास्त्रेऽस्मिन्नधिकार्यप्रवृत्तितः ॥ १ ॥**

ज्ञानकाण्डके साथ कर्मकाण्डकी संगति बतलानेके लिए कहते हैं— **'सिद्धेऽधिकारे'** इत्यादिसे ।

अधिकारके सिद्ध होनेपर वेदान्तके कर्मकाण्डके साथ सम्बन्धका अभिधा करते हैं, क्योंकि सम्बन्ध कहे बिना अधिकारीकी शास्त्रमें प्रवृत्ति नहीं होगी अधिकारीके विचारके बाद सम्बन्धके विचारमें हेतु यह है कि यदि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डका परस्पर सम्बन्ध न होता, तो कर्मोंके अनुष्ठानके अनन्तर ही अधिकारीकी ज्ञानमें प्रवृत्ति होनी चाहिए, ऐसा नियम नहं होता और शास्त्रका नियम ऐसा ही है । इसलिए पूर्व और उत्तर काण्डका अवश्य सम्बन्ध कहना चाहिए और पूर्वोत्तरभाव सम्बन्धहेतुक ही होता है, जिसक जिसके साथ सम्बन्ध नहीं होता है, उसका उसके साथ पूर्वोत्तरभाव भी नहीं होता न्याय और मीमांसा स्वतन्त्र हैं, इसलिए उनमें पूर्वोत्तरभाव नहीं है ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डका पूर्वोत्तरभाव है, इसलिए उनका सम्बन्ध अवश्य कहना होगा, अन्यथा कर्मानुष्ठानके बाद ज्ञानमें प्रवृत्ति नहीं होगी ॥ १ ॥

शङ्का—'तस्यास्य कर्मकाण्डेन सम्बन्धोऽभिधीयते' इस भाष्यसे विशेष सम्बन्धाभिधानकी प्रतिज्ञा होनेपर भी 'सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः' इस अग्रिम भाष्यसे सम्बन्धविशेषका अभिधान न कर वेदमें इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति और परिहारके उपायरूप अर्थान्तरका अभिधान है, जिसकी जिज्ञासा पूर्व भाष्यसे प्रतीत नहीं होती है, इस अजिज्ञासिताभिधानका तात्पर्य क्या है ?

समाधान—यद्यपि संबन्धविशेषके अभिधानकी प्रतिज्ञा की है, तो भी सम्बन्धविशेष न कहकर प्रथम वेदान्तका प्रामाण्य ही कहते हैं; इसका तात्पर्य यह है कि यदि वेदान्तशास्त्र प्रमाण है, तो कर्मकाण्डके साथ उसका सम्बन्ध बतलाना ठीक होगा, अन्यथा सम्बन्ध कहना ही व्यर्थ है, क्योंकि प्रामाणिकका अप्रामाणिकके साथ वास्तविक सम्बन्ध हो नहीं सकता । अधिकारीकी प्रवृत्तिके लिए पूर्वोत्तरका

सम्बन्ध अपेक्षित होता है, सो यदि उत्तरमें प्रामाण्य ही नहीं होगा, तो अप्रमाण-ज्ञानसे प्रवृत्ति तो होगी नहीं फिर सम्बन्धके कहनेसे क्या फल? इस तात्पर्यसे पहले वेदान्तमें प्रामाण्यका प्रतिपादन करके पश्चात् सम्बन्ध कहना उपयुक्त होगा। चोदनासूत्रमें विधिवाक्यमें ही प्रामाण्य माना गया है, वेदान्तमें विधि है नहीं, इसलिए वेदान्त स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता, किन्तु कर्ताके स्वरूपके प्रतिपादन द्वारा कर्मोंका अङ्ग ही है, ऐसी परिस्थितिमें एक शास्त्र होनेसे पूर्वोत्तरभाव ही नहीं है, तो संबन्धाभिधानकी चर्चा ही कैसे हो सकती, इसलिए पहले वेदान्त-प्रामाण्यका ही भाष्यकार प्रतिपादन करते हैं—'सर्वोऽप्ययं वेदः' इत्यादिसे।

अथवा 'तस्यास्य कर्मकाण्डेन संबन्धोऽभिधीयते' यह भाष्य सबन्धविशेषके अभिधानके लिए नहीं है, क्योंकि कर्मकाण्डेन' यह तृतीयान्त नहीं है, किन्तु 'कर्मकाण्डे' यह सप्तम्यन्त पद है; 'न' यह अभावार्थक है, विभक्ति नहीं है। अतः अर्थ यह हुआ कि वेदान्तका कर्मकाण्डमें संबन्ध नहीं कहते, किन्तु वेदान्तमें प्रामाण्यका प्रतिपादन करते हैं; इस तरह 'अभिधीयते' और 'सर्वोऽप्ययं वेदः' यह दोनों भाष्य संगत हो जाते हैं।

सम्बन्धको न कहनेमें तात्पर्य क्या है? तात्पर्य यह है कि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड ये दोनों भिन्नार्थक हैं या अभिन्नार्थक? दोनों प्रकारसे उनका परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम पक्षमें भिन्नार्थक न्याय, मीमांसा आदिमें क्या सम्बन्ध है? कुछ नहीं, क्योंकि अनपेक्षित अर्थवाले दो शास्त्रोंकी उभयाकांक्षासे अथवा अन्यतराकांक्षासे भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, द्वितीय पक्षमें एकार्थक होनेसे एक ही वाक्य है, जो दो वाक्य ही नहीं हैं, तो उनका पूर्वोत्तर सम्बन्ध कैसा? सम्बन्ध दोका होता है, एकका नहीं होता।

शङ्का—और यह भी शङ्का होती है कि दोनों काण्ड अप्रमाण हैं या प्रमाण? प्रथम पक्षमें विप्रलम्भक वाक्योंके सदृश सङ्गति कहना ही ठीक नहीं है, द्वितीय पक्षमें दोनों प्रमाण है या एक कोई? दोनों प्रकारसे सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यदि दोनों स्वतन्त्र प्रमाण हैं, तो परस्पर वार्तानभिज्ञ होनेसे सम्बन्ध ही नहीं हो सकता, अगर एक प्रमाण है और दूसरा अप्रमाण है, तो प्रमाण और अप्रमाणकी क्या सङ्गति हो सकती है? एक हीके प्रमाण माननेसे साधनादिभेद भी नहीं सिद्ध हो सकता?

तस्यास्य कर्मकाण्डेन सम्बन्धं श्रुतिरब्रवीत् ।
तमेतमिति वाक्येन साध्यसाधनलक्षणम् ॥ २ ॥
वेदानुवचनं यज्ञस्तपो दानमनाशकम् ।
आत्मतत्त्वे विविदिषां जनयन्तीति हि श्रुतम् ॥ ३ ॥
वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानवाञ्छने ।
नित्यानां विधिरित्येवमेकं तावदिदं मतम् ॥ ४ ॥

---

समाधान—सम्बन्धविशेषके जिज्ञासित होनेसे 'अत्राभिधीयते' इस भाष्यसे सम्बन्धविशेषाभिधानकी प्रतिज्ञा भी भाष्यकारने की है, किन्तु 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इस वाक्यसे सम्बन्धविशेषका अभिधान है ही, तथा यह मानकर कि वेदाध्ययन करनेके बाद पदपदार्थसम्बन्धका ज्ञान होनेसे वेदान्तमें साधारण ज्ञान होनेपर यह सम्बन्धविशेष स्वयं प्रतीत हो जायगा, इसलिए स्वयं नहीं कहा, अथवा सम्बन्धविशेषाभिधानकी प्रतिज्ञा भाष्यकारने नहीं की, किन्तु 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिसिद्ध कर्ममें विविदिषाहेतुत्वकी प्रत्यभिज्ञा करके वेदान्त ही प्रमाण नहीं तो वेदान्तज्ञानमें विविदिषा द्वारा भी कर्म कारण नहीं है, अतः कर्ममें ज्ञानहेतुत्व परम्परया भी नहीं है, इस आक्षेपको वेदान्तके प्रामाण्यका समर्थन कर सम्बन्धविशेष कहा, ऐसा माननेसे भाष्य सुसङ्गत हो जाता है।

इसी तात्पर्य से कहते हैं—**'तस्याऽस्य'** इत्यादिसे ।

'तमेतम्' इत्यादिश्रुतिने ज्ञानकाण्डका कर्मकाण्डके साथ साध्यसाधनरूप सम्बन्ध कहा है, अतः सापेक्षार्थक होनेसे दोनों काण्डोंमें पूर्वोत्तरभाव सङ्गत है ॥२॥

किसीका मत है कि नित्य नैमित्तिक कर्म ही विविदिषा द्वारा ज्ञानके हेतु हैं, काम्य कर्म हेतु नहीं है, क्योंकि काम्य कर्मोंके पुत्र, पशु आदि तत्तत्फल नियत हैं, इसलिए कर्मकाण्डके एक देशका ज्ञानकाण्डके साथ सम्बन्ध है, संपूर्ण कर्मकाण्डका नहीं, इस तात्पर्यसे कहते हैं—**'वेदानुवचनम्'** इत्यादिसे ।

वेदानुवचन–वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप—कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि अनाशक आत्मतत्त्वविषयक विविदिषाके जनक हैं, यह श्रुतियोंमें श्रुत है। एक मत यह है कि नित्य कर्म और नैमित्तिक कर्मका ही विविदिषामें उपयोग है, काम्य कर्मोंका नहीं, काम्य कर्मोंका तत्-तत् फल श्रुतिमें प्रसिद्ध ही है, उसका त्याग करनेसे तत्-तत् फलबोधक श्रुति अप्रमाण हो जायगी ॥ ३, ४ ॥

काम्यान्यपि विधीयन्ते विधिभिर्नित्यकर्मवत् ।
काम्यैश्चाऽतोऽस्ति धीशुद्धिः फलासक्तिस्तु निन्द्यते ॥ ७ ॥

करनेके लिए नहीं की जाती, किन्तु निन्द्यके त्यागके लिए की जाती है, अन्यथा निन्दामात्रसे तो कोई भी पुरुषार्थ होता नहीं, इसलिए निन्दावाक्य ही असङ्गत हो जायँगे, अतएव निन्दा सुननेसे निषेधकी कल्पना करनी चाहिए ?

अच्छा तो यह कहिये कि निन्दा कर्मके स्वरूपकी है या उसमें फलाभिसन्धिकी ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि श्रुतियोंसे काम्य कर्मोंमें कार्यत्वकी ही प्रतीति होती है, इसलिए तद्विरुद्ध निषेधकी कल्पना नहीं हो सकती । अन्यथा निन्दा द्वारा कल्पित निषेधका भी स्वरूपमें पर्य्यवसान होनेसे विधि और निषेधका एकत्र समावेश होनेसे प्रवृत्ति और निवृत्तिका सांकर्य हो जायगा । द्वितीय पक्षमें फलासङ्गमें निषेध इष्ट ही है, स्वरूपमें तो विधि है ही, अतः फलेच्छाके बिना अनुष्ठित चित्रा याग आदि काम्य कर्म भी आत्मज्ञानके हेतु ही हैं, इस तरह सभी कर्म परम्परासे ज्ञानके हेतु हैं। यदि फलकी अभिलाषा नहीं है, तो चित्रादि काम्य कैसे कहलाएँगे, मुमुक्षुकी फलेच्छा न होनेपर भी सांसारिक पुरुषोंकी उक्त फलोंमें कामना रहेगी ही, इसलिए उन लोगोंकी अपेक्षा काम्य कहलानेमें बाधा नहीं है । यदि शङ्का हो कि मुमुक्षुके प्रति वे काम्य कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि नित्य कर्मकी तरह काम्यमें भी उनकी फलाभिसन्धि नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि विधायक वाक्योंमें फलश्रुतिके रहने तथा न रहनेसे काम्य और नित्यका भेद माना जाता है ।

श्लोकार्थ—प्लवन्ते—गच्छन्ति —नश्यन्ति इति प्लवा विनश्वराः अर्थात् यज्ञादि विनाशी हैं । अतएव अदृढाः—अस्थिर हैं, इत्यादि निन्दासे काम्य कर्मसे विविदिषा नहीं हो सकती, यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि विविदिषाके उद्देश्यसे 'यज्ञेन' इत्यादि वाक्यसे उनका विधान है, अतः विरोधसे निन्दा द्वारा स्वरूपमें निषेधकी कल्पना नहीं कर सकते ॥६॥

यदि स्वरूपमें निषेधकी कल्पना नहीं कर सकते हैं, तो निन्दावाक्यकी क्या गति होगी और वह कैसे सार्थक होगा ? इसका उत्तर कहते हैं—'काम्यान्यपि' इत्यादिसे।

नित्य कर्मके सदृश काम्य कर्मोंका भी 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि श्रुतिसे विधान है, इसलिए फलाभिसन्धिरहित काम्यकर्मोंके अनुष्ठानसे भी चित्तकी शुद्धि होती है, केवल फलासक्तिकी निन्दा है, उसका त्याग करना चाहिए ॥७॥

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
इत्यादि कृष्णगीतायामुक्तमासक्तिवर्जनम् ॥ ८ ॥
आसक्त्या दुष्टचित्तस्य कर्मजा शुद्धिरप्यसौ ।
भोगायैवोपयुक्ता स्यान्न विवेकाय कर्हिचित् ॥ ९ ॥
विड्वराहादिदेहेन नह्यैन्द्रं भुज्यते पदम् ।
अतो भोगोऽपि तां शुद्धिं स्वसिद्ध्यर्थमपेक्षते ॥ १० ॥

'**कर्मण्येवाऽधिकारस्ते**' इत्यादि । तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है अर्थात् जिनका अन्तःकरण अशुद्ध—तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके योग्य नहीं—है, उनका अन्तः-करणकी शुद्धिके लिए ही कर्ममें अधिकार है, वेदान्तवाक्योंके विचारमें नहीं । किसी अवस्थामें अर्थात् कर्मानुष्ठानसे पहले या बाद अथवा कर्मानुष्ठानकालमें स्वर्गादि फलमें अधिकार याने हमीको उसका फल भोगना होगा, ऐसी इच्छा कभी न होनी चाहिए । यदि यह कहिए कि वैसी इच्छाके न होनेपर भी कर्मका फल तो अवश्य ही होगा, तो उसका उत्तर यही है कि कर्मफलकी हेतु कामना है । यदि तादृश कामना न होगी तो कर्मफल भी न होगा । कामना ही फलोत्पादक है, निष्काम कर्म फल नहीं देता । भगवदर्पणबुद्धिसे जो निष्काम कर्म किया जाता है, वह फलप्रद नहीं होता है, किन्तु चित्तशुद्धिकारक होता है, इस तात्पर्यसे 'कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, कभी भी फलकी कामना मत करो, इत्यादि फलासक्तिका प्रतिषेध श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गीतामें किया है ॥ ८ ॥

आसक्तिपूर्वक कर्मानुष्ठान करनेसे भी चित्तकी शुद्धि होती है, इस आशंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**आसक्त्या**' इत्यादिसे ।

फलके रागसे जिसका चित्त दुष्ट है अर्थात् तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके लिए अयोग्य है, उस पुरुषके उपभोगमें ही यह कर्मजा शुद्धि भी हेतु होती है, विवेककी उत्पत्तिके लिए नहीं ॥ ९ ॥

यदि विवेकोत्पत्ति न होगी, तो कर्मजा शुद्धि निष्प्रयोजन हो जायगी ? इस शंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**विड्वराहा०**' इत्यादिसे ।

विड्वराहादिकी देहसे अर्थात् सूकरादि निकृष्ट शरीरसे स्वाराज्यका उपभोग नहीं हो सकता, इसलिए भोग भी अपनी सिद्धिके लिए कर्मजन्य शुद्धिकी अपेक्षा करता है ॥१०॥

अनासक्तौ तु भोगोऽयं प्राप्नोति न विरुध्यते ।
नित्यकर्मस्विवैतेषु शुद्धिप्राधान्यसम्भवात् ॥ ११ ॥
नित्येषु शुद्धेः प्राधान्याद्भोगोऽप्यप्रतिबन्धकः ।
भोगं भङ्गुरमीक्षन्ते बुद्धिशुद्ध्यनुरोधतः ॥ १२ ॥
कर्मणा पितृलोकः स्यादित्येवं नित्यकर्मणाम् ।
फलं श्रुतं तथाप्येतैर्वेदनेच्छाऽपि जायते ॥ १३ ॥

---

अनासक्तिसे किये गये काम्य कर्म भोगके हेतु होनेपर भी चित्तकी शुद्धिके हेतु होते हैं, इसे कहते हैं—'**अनासक्तौ**' इत्यादिसे ।

फलासक्तिशून्य काम्य कर्मोंके अनुष्ठानसे भोग और तत्त्वज्ञान दोनों प्राप्त होते हैं, इनमें कोई विरोध है नहीं । जनक तथा अजातशत्रु प्रभृति महाराजोंको भोग और ज्ञान दोनोंकी प्राप्ति शास्त्र द्वारा ज्ञात ही है, क्योंकि नित्य कर्मके सदृश काम्य कर्मोंमें भी शुद्धिप्राधान्यका सम्भव है । शुद्धि और भोगमें जब विरोध ही नहीं, तो भोग होनेपर भी शुद्धि होनेमें कोई रुकावट नहीं है, आसक्ति ही वास्तविक प्रतिबन्धक है ॥११॥

नित्यकर्मके सदृश, इस उपर्युक्त दृष्टान्तको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—'**नित्येषु**' इत्यादिसे ।

नित्य कर्मोंका फल ही नहीं है, अतः आसक्ति नहीं हो सकती, फिर भी चित्तशुद्धिके उद्देश्यसे जैसे मुमुक्षु उनका अनुष्ठान करता है, वैसे ही काम्य कर्मोंका फल होनेपर भी आसक्तिका त्याग करनेसे नित्य और काम्य दोनों कर्म आसक्तिशून्य हुए, अतः नित्य कर्मकी तरह काम्य कर्मका भी शुद्धि ही प्रधानरूपसे उद्देश्य है । इसलिए भोग जैसे नित्यकर्मानुष्ठान द्वारा जायमान चित्तशुद्धिमें प्रतिबन्धक नहीं है, वैसे ही काम्यकर्मानुष्ठान द्वारा जायमान शुद्धिमें भोग प्रतिबन्धक नहीं है । भोग विनश्वर है, इस दृष्टिसे भोगमें आसक्ति नहीं होती, फिर भी काम्य कर्मोंका अनुष्ठान इसलिए करते हैं कि चित्त ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिके लिए योग्य हो जाय । इस तरह काम्योंका प्रधान उद्देश्य चित्तकी शुद्धि ही है, इसलिए उनसे वही होती है ॥१२॥

'**कर्मणा पितृ०**' इत्यादि । नित्य कर्मसे भी पितृलोकरूप फलकी प्राप्ति श्रुत है, 'कर्मणा पितृलोकः स्यात्' यह श्रुति नित्य कर्मोंका उक्त फल बोधन करती है, फिर भी विनश्वरबुद्धिसे उसमें अनास्था कर केवल चित्तशुद्धिके उद्देश्यसे अनुष्ठान करनेपर जिस

यस्याऽकृतौ प्रत्यवायस्तन्नित्यं काम्यमन्यथा ।
इत्थं सकाम्यनित्यानां ज्ञानेच्छाहेतुता स्थिता ॥ १४ ॥
अभिचारादिकाम्यं तु विहितत्वेऽपि निन्दितम् ।
फलदोषेण दुष्टत्वाज्ज्ञानार्थत्वं न तस्य हि ॥ १५ ॥
काम्यं ससङ्गं ज्ञानाय यदि नाऽलं तथापि च ।
पुंसां वैराग्यहेतुत्वादुपकार्येव तन्मतम् ॥ १६ ॥

तरह उनका फल चित्तशुद्धि मानते हो, उसी तरह काम्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे चित्तशुद्धि होती है, तद्द्वारा ब्रह्मज्ञानकी इच्छा भी होती है ॥ १३ ॥

यदि आसक्तिके बिना किये गये सब कर्म ज्ञानके हेतु हैं, यह मानते हो, तो नित्य और काम्यका विभाग कैसे होगा ? इसका उत्तर देनेके लिए कहते हैं—**'यस्याऽकृतौ'** इत्यादिसे ।

जिस कर्मके न करनेपर प्रत्यवाय होता है, वह कर्म नित्य है, जैसे सन्ध्या, पञ्च महायज्ञ आदि । तत्-तत् फलके साधन कर्म काम्य कर्म हैं, जैसे याग, दान, होम आदि । निमित्तके आनेपर ही जिनका अनुष्ठान किया जाय, वे नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं । 'यस्य आहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहति सोऽग्नये क्षामवते अष्टाकपालं निर्वपेत्' इत्यादि श्रुतिबोधित गृहदाहनिमित्तक अष्टाकपालनिर्वाप नैमित्तिक है । इस तरह ज्ञानहेतु माननेपर भी नित्य और काम्य आदिके विभागकी अनुपपत्ति नहीं है ॥ १४ ॥

नित्य, काम्य आदि सब कर्मोंको यदि आत्मज्ञानके हेतु मानते हो, तो निषिद्ध श्येनयाग आदि भी काम्य हैं, अतः वे ज्ञानके हेतु हैं या नहीं ? यह कहिए ? नहीं; ऐसा कहते हैं—**'अभिचारादि'** इत्यादिसे ।

अभिचार आदिके ( शत्रुवधके उद्देश्यसे अनुष्ठीयमान श्येनयाग आदिके ) विहित होनेपर भी वे निन्दित हैं, इसलिए वे ज्ञानके हेतु नहीं हैं । यद्यपि श्येनयाग स्वयं निन्दित नहीं है, तथापि उसके हिंसारूप फलके प्रतिषिद्ध होनेसे वह निन्दित है, इसलिए 'फलदोषेण' इत्यादि कहा है । श्येनके स्वयं दुष्ट न होनेपर भी वह फल द्वारा दुष्ट है, इसलिए वह तत्त्वज्ञानोपयोगी नहीं है ॥१५॥

अनिषिद्ध नित्यादि कर्मोंमें ज्ञानहेतुत्वके माननेपर भी संपूर्ण कर्मकाण्डकी ज्ञानकाण्डके साथ संगति सिद्ध नहीं होती है ? इस शंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'काम्यम्'** इत्यादिसे ।

असह्यदुःखफलतः स्वकार्यविनिवृत्तिकृत् ।
विरक्तिहेतुः कर्म स्यात् प्रतिषिद्धं यथा तथा ॥ १७ ॥
अपि काम्यं कृतं सर्वं दुःखात्मकफलत्वतः ।
आविरिञ्च्यात् स्वकार्येभ्यः स्यादेव विनिवृत्तये ॥ १८ ॥

यद्यपि ससंग तथा दुष्टफलक श्येन आदि काम्य कर्म ज्ञानोत्पत्तिमें भले ही कारण नहीं हैं, तथापि पुरुषके ज्ञानोपयोगी वैराग्यके सम्पादक होनेसे तत्त्व-ज्ञानोत्पत्तिमें भी उपयोगी हैं ॥ १६ ॥

'असह्य०' इत्यादि। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि श्रुतिसे निषिद्ध किये गये प्राणियोंके हनन आदिका, दुःखबहुल श्व-सूकरादिनिकृष्टयोनिप्रापक होनेसे, निषेध-शास्त्रके अर्थको जाननेवाला मनुष्य त्याग करता है और हननादि कर्मोंमें बन्धनादि दोषोंके दर्शनसे धीरे-धीरे वैराग्यसोपानके आरोहणमें प्रवृत्त होता है। फिर निषिद्ध सम्पूर्ण कर्मोंमें दोष प्रतीत होते हैं, इसलिए अशेष निषिद्ध कर्मोंसे उपरत होनेपर सूक्ष्म विचार द्वारा विहित कर्मोंमें भी दोषदृष्टि होने लगती है, इस प्रणालीसे सब कर्मोंसे तथा उनके फलोंसे विरक्ति होनेपर तत्त्वज्ञानका अधिकारी मुमुक्षु होता है, इस तात्पर्य्यसे 'तत्त्वज्ञानोपयोगी' कहा है ॥ १७ ॥

नित्य और नैमित्तिक ही कर्म मोक्षज्ञानके हेतु हैं, काम्यकर्म नहीं, इस मतके अनुसार काम्य कर्म वैराग्योत्पादन द्वारा उपयोगी हैं, यह कहते हैं—**'अपि काम्यम्'** इत्यादिसे।

संपूर्ण काम्य कर्म दुःखफलक हैं, अतः साधनपरतन्त्र तथा क्षयी होनेसे परिणाममें वे विरस हैं, इस कारण मनुष्यसे लेकर ब्रह्मपर्य्यन्त सब विवेकियोंको अपने-अपने कार्योंसे निवृत्त करा ही देगा। विवेकसे पूर्व कर्मोंसे उत्पन्न जिन-जिन अधिकार प्राप्त सुखोंको अत्यन्त उपादेय समझता है, वे ही विवेक होनेपर अत्यन्त हेय प्रतीत होते हैं, इसलिए स्वाधिकारप्राप्त सुखकी उपेक्षाकर नित्य निरतिशय सुखरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिए तत्साधनमें प्रवृत्त होनेकी चेष्टा मनुष्यसे लेकर ब्रह्मातक करते हैं ॥ १८ ॥

भिन्न प्रकरणमें उक्त नित्य आदि सम्पूर्ण कर्म चित्तकी शुद्धिके द्वारा ब्रह्म-ज्ञानके हेतु हैं, यह विवेचन हुआ, किन्तु विद्याप्रकरणस्थ सगुणोपासना और

**उपासनं तु यत्किञ्चिद् विद्याप्रकरणे श्रुतम् ।**
**तदप्यैकात्म्यविज्ञानयोग्यत्वायैव कल्प्यते ॥ १९ ॥**

तत्त्वज्ञान ये दोनों मिलकर मोक्षके हेतु हैं, यह शंका अबतक बनी ही रही, इसकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**उपासनं तु**' इत्यादिसे ।

उपासना तीन प्रकारकी होती हैं—कर्मसमृद्धिके लिए, अभ्युदयके लिए तथा क्रम-मुक्तिके लिए । इन तीनों उपासनाओंका संग्रह करनेके लिए यत्किञ्चित्पद कहा है अर्थात् ये तीनों उपासनाएँ, जिनको विद्याभिलाषाकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक पापोंसे विद्याकी अभिलाषा उत्पन्न नहीं हुई है, उनके उन प्रतिबन्धक पापोंका उच्छेद कर ब्रह्मविद्योत्पत्तिकी हेतु हैं । प्रकरण ही इस अर्थमें विनियोजक है, इसलिए विनियोजक वचनका अन्वेषण व्यर्थ है । सगुणोपासनाका तत्-तत् फल तत्-तत् विधायक वाक्योंमें श्रुत है । उसका त्यागकर अश्रुत ब्रह्मविद्योत्पत्ति फल कैसे मानें ? जैसे काम्य कर्मोंको, श्रुत तत्तत्फलका त्याग कर निरतिशय मोक्ष फलके लिए विद्याशेष मानते हैं, वैसे ही 'तमेतम्' इत्यादि विविदिषावाक्य सर्वकर्मसाधारण है, अतः काम्य कर्मके समान उपासना कर्म भी विद्याशेष ही है ।

श्लोकार्थ—विद्याके प्रकरणमें उपासनात्मक जो कर्म श्रुत हैं, वे ऐकात्म्यज्ञानो-त्पत्तिकी योग्यताके सम्पादक ही हैं । पूर्वोक्त 'संयोगपृथक्त्व' न्यायसे उपासनाओंके दोनों फल हैं । तपःशब्दसे उपासना भी विवक्षित है । तत्त्वज्ञानके समान उपासना साक्षात् मोक्षकी साधिका नहीं है, क्योंकि 'विमुच्यमानः क्व गमिष्यसि' इस प्रश्नसे उपासकोंका गन्तव्य मार्गविशेष ज्ञात होता है । तदनन्तर अर्चिरादि मार्गविशेषका श्रुतिमें निरूपण भी है । 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते' इत्यादि श्रुतिसे मुक्त यहीं ब्रह्मरूपापन्न हो जाता है, क्योंकि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' यह भी श्रुति है । इसलिए उसको मार्गविशेष अपेक्षित नहीं है और उपासनाका फल सत्यलोकादिकी प्राप्ति है, यह श्रुतियोंमें तथा स्मृतियोंमें प्रसिद्ध है । वहांपर चित्तशुद्ध होनेसे ब्रह्माके साथ उपासक भी मुक्त हो जाते हैं । 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे' इत्यादि वचनोंसे यही अर्थ स्फुट होता है । कर्म चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानका कारण है । उपनिषत्—ब्रह्मविद्या—साक्षात् मोक्षका साधन है और कर्म ज्ञानकी उत्पत्ति द्वारा मोक्षके साधन हैं, अतः पूर्वकाण्डका उत्तरकाण्डके साथ भाष्याभिप्रेत मोक्षसाधनत्व ही संबन्ध है ॥ १९ ॥

चित्तस्यैकाग्र्यजननाद् ब्रह्मलोकाप्तितोऽथवा।
ज्ञान एवोपासनानि पर्यवस्यन्ति सर्वथा ।। २० ।।
एवं चाऽखिलवेदस्य वेदनार्थत्वकारणात् ।
श्रुतं विविदिषार्थत्वं यज्ञदानादिकर्मणाम् ।। २१ ।।
यद्वा कर्माणि पुरुषं संस्कुर्वन्ति स्मृतेर्बलात् ।
अष्टाचत्वारिंशदिति स्मृतिः संस्कारवादिनी ।। २२ ।।

---

**'चित्तस्यैका०'** इत्यादि। उपासना चाहे चित्तैकाग्र्यकी हेतु हो अथवा ब्रह्मलोकप्राप्तिकी, दोनों तरहसे उसका ब्रह्मज्ञान में ही पर्यवसान है। सारांश यह है कि उपासना करनेसे रजोगुणकी निवृत्ति द्वारा चित्त शुद्ध होता है और चित्तकी शुद्धि होनेपर वेदान्तवाक्य द्वारा आत्मश्रवण, मनन तथा उपासना आदि होते हैं, तदनन्तर आत्मज्ञान होता है। यद्यपि उपासनाका फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति है, तो भी ब्रह्मलोकमें रहकर सात्त्विक भावनाके प्रकर्षसे रजोगुण और तमोगुणका अपचय होता है, अतः वह उपासक ब्रह्माके उपदेशसे आत्मज्ञानी होकर प्रलयावस्थाके पूर्व ब्रह्माके साथ मुक्त हो जाता है। इस प्रकारसे सर्वथा उपासनाओंका पर्य्यवसान ज्ञानमें ही है, अन्यत्र नहीं है ।।२०।।

**'एवं चाऽखिल०'** इत्यादि। पूर्वोक्त प्रकारसे वेदमें विहित संपूर्ण कर्मोंके ज्ञानार्थक होनेसे 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा-नाशकेन' इत्यादि श्रुतिसे श्रुत यज्ञ, दान आदि सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मज्ञानकी इच्छाकी उत्पत्तिके कारण हैं, यह भली-भाँति उपपन्न होता है ।।२१।।

विविदिषा द्वारा कर्म ज्ञानके हेतु हैं, इस मतका उपपादन कर अब संस्कार-द्वारा कर्म ब्रह्मज्ञानके हेतु हैं, इस मतका उपपादन करते हैं—**'यद्वा कर्माणि'** इत्यादिसे।

गर्भाधानसे लेकर सहधर्मचारिणीसंयोगपर्य्यन्त चौदह, पांच महायज्ञ, सात होमसंस्था, सात हविःसंस्था तथा सात पाकसंस्था, ये सब मिलकर चालीस संस्कार होते हैं। और अनश्नन् संहिताध्ययन, प्रायण, कर्मजप, उत्क्रामण, दैहिक, भस्मसमूहन, अस्थिसंचय और श्राद्ध, इन आठ संस्कारोंको पूर्वोक्त संस्कारोंके साथ मिलानेसे अड़तालीस संस्कार माने जाते हैं। जिसके ये संस्कार होते हैं, वह ब्रह्मसायुज्य तथा ब्रह्मसालोक्य पाता है।

श्लोकार्थ—अथवा स्मृतिप्रामाण्यसे कर्म पुरुषके संस्कारक हैं, क्योंकि

यस्यैतदुक्तसंस्काराः सम्पद्यन्ते यथाविधि ।
स ब्रह्मणः सलोकत्वं सायुज्यं वा समाप्नुयात् ।। २३ ।।
विशेषः को विविदिषौ संस्कृते वेति चेच्छृणु ।
अवश्यं भाविनी सिद्धिराद्येऽन्यत्र तु पाक्षिकी ।। २४ ।।
जाता विविदिषाऽवश्यं सम्पाद्याखिलसाधनम् ।
स्वफलं जनयेदाशु बुभुक्षादिर्यथा तथा ।। २५ ।।
प्रतिबन्धकपाप्मानं नाशयेच्चित्तसंस्कृतिः ।
साधनानि तु बोधस्य सम्पाद्यानि प्रयत्नतः ।। २६ ।।

---

'यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः' इत्यादि स्मृति चित्तसंस्कारकत्वरूपसे उक्त संस्कारोंका अनुवाद करती है ।।२२।।

**'यस्यैत०'** इत्यादि । शास्त्रविधिके अनुसार जिसके ये अड़तालीस संस्कार सम्पन्न होते हैं, वह पुरुष ब्रह्मके साथ समानलोकत्व तथा सायुज्य प्राप्त करता है ।।२३।।

कर्म विविदिषोत्पत्ति द्वारा ज्ञानका हेतु है, किंवा संस्कार द्वारा ज्ञानका हेतु है ? इन दोनोंमें विशेष कहनेके लिए कहते हैं—**'विशेषः को'** इत्यादिसे ।

विविदिषु और संस्कृतचित्त इन दोनोंमें क्या विशेष है ? यदि ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिरूप फल समान ही है, तो संस्कारमें कर्म कारण है, अथवा विविदिषामें, इस विचारकी क्या आवश्यकता है ? आवश्यकता यह है कि विविदिषुको ब्रह्मज्ञान अवश्य होता है और संस्कृतचित्त पुरुषको पाक्षिक है ।। २४ ।।

प्रथम पक्षका उपपादन करते हैं—**'जाता'** इत्यादिसे ।

उत्पन्न हुई विविदिषा सम्पूर्ण अपने साधन—श्रवण, मनन और गुरु प्रभृति—का सम्पादन करके स्वफलको—ब्रह्मज्ञानको—अवश्य उत्पन्न कराती है, जैसे बुभुक्षा उत्पन्न होती है, तो आहार आदि साधनोंके सम्पादन द्वारा स्वफल तृप्तिका अवश्य उत्पादन करती है । बुभुक्षाके बिना भोजनसामग्रीके रहनेपर भी भोजनमें प्रवृत्ति नहीं होती । और बुभुक्षा होनेपर यदि सामग्री उपस्थित न भी हो, तो भी पुरुष सामग्रीका संपादन करके भोजन करता है, तदनन्तर ही तृप्तिरूप फल सर्वानुभवसिद्ध है ।।२५।।

संस्कारपक्षमें फलप्राप्ति पाक्षिक है, इसका समर्थन करते हैं—**'प्रतिबन्धक०'** इत्यादिसे ।

चित्तका संस्कार तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक पापका नाशमात्र करता है, साधनका

वर्णाश्रमादिशास्त्रे प्रेरितोऽकरणे भयम् ।
पश्यन् करोति यत्कर्म तत्संस्कारकमुच्यते ॥ २७ ॥
तमेतमिति वाक्येन प्रेरितो बोधवाञ्छया ।
अन्तर्यामिण्यर्पयेद्यत्तत्स्याद्विविदिषाकरम् ॥ २८ ॥
यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २९ ॥

---

संपादन नहीं करता, साधनोंके संपादनके लिए प्रयत्नान्तर अपेक्षित है । यदि प्रयत्नान्तर हुआ तो तत्त्वज्ञान होगा और न हुआ तो तत्त्वज्ञान नहीं होगा, अतः संस्कार पाक्षिक फलप्रद है, विविदिषा नियत फलप्रद है, यही दोनोंमें अन्तर है ॥ २६ ॥

**'वर्णाश्रमादि'** इत्यादि । 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' यह नित्य कर्मकी श्रुत विधि प्रतिदिन अग्निहोत्र कर्ममें मेरी प्रेरणा करती है । यदि प्रतिदिन उक्त कर्म न करूँगा, तो विधिके उल्लंघनसे प्रत्यवाय अवश्य होगा, इस भयसे जो अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म किये जाते हैं, वे ही कर्म संस्कारक हैं ॥ २७ ॥

**'तमेतमिति'** इत्यादि । 'तमेतम्' इत्यादि विविदिषावाक्य द्वारा प्रेरित होकर ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिकी कामनासे ब्रह्मार्पणबुद्धिसे फलान्तरके लोभके बिना जिस नित्य कर्मको मुमुक्षु करता है, वह नित्य कर्म ब्रह्मविविदिषाको उत्पन्न करता है, अतः दोनोंमें प्रयुक्ति भिन्न-भिन्न है ॥ २८ ॥

ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्मानुष्ठानमें प्रमाण कहते हैं—**'यत् करोषि'** इत्यादिसे ।

'यावज्जीवम्' इत्यादि वाक्योंसे विहित आश्रमार्थ सम्पूर्ण अग्निहोत्रादि कर्मको ब्रह्मार्पण करना चाहिए, यह न हो कि आश्रमार्थ कर्म करके ईश्वरार्पण बुद्धिसे फिर अग्निहोत्र कर्मान्तर करना 'यत् करोषि, तत्' इस वाक्यसे जिस कर्मको आश्रमार्थ करते हो, उसीको मेरे अर्पण करो, दूसरेको नहीं, नित्यकर्मविधिमें श्रुत फलकी कामना मत करो, क्योंकि फलकामनासे साभिसन्धि कर्म हो जायगा, जो तत्त्वज्ञानोत्पत्तिका प्रतिबन्धक है ॥२९॥

**वाक्याद्वेदनसौन्दर्यबोधाद्विविदिषाजनिः ।**
**यद्यप्यथाप्यात्मबोधे सम्पाद्या कर्मणा रुचिः ॥ ३२ ॥**

किया जाता है कि जो विद्याकी कामना नहीं करता है अर्थात् मुमुक्षु नहीं है, केवल आश्रमनिष्ठ है, वह नित्य अग्निहोत्रादि कर्म करे या नहीं ? यह संशय होता है। 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यसे विद्याके साधन अग्निहोत्रादि कर्मका विधान है। जब विद्यारूप फलकी कामना ही उसे नहीं है, तो फिर साधनकी क्या आवश्यकता ? इसलिए नहीं करना ही ठीक है। यदि वह अमुमुक्षु अनुष्ठान करेगा, तो अग्निहोत्रादि विद्याके साधन ही नहीं रहेंगे, क्योंकि एक कर्ममें नित्यत्व और अनित्यत्वका संयोग विरुद्ध है, अर्थात् अवश्यानुष्ठेयत्व और अवश्यानुष्ठेय-त्वाभावरूप विरुद्ध धर्म एक ही अग्निहोत्रादि नित्य कर्ममें नहीं रह सकते। ऐसी परिस्थितिमें आश्रममात्रनिष्ठ अमुमुक्षुको भी नित्य कर्म करना चाहिए, क्योंकि 'याव-ज्जीवमग्निहोत्रम्' इत्यादि वाक्यसे नित्याग्निहोत्रका भी विधान है, अर्थात् सिद्धमें विरोध होता है, साध्यमें नहीं, जैसे षोडशीके ग्रहण और अग्रहणका लाभ विधिके अधीन है, अतः दो वाक्योंके प्रामाण्यकी रक्षाके लिए दोनोंका विकल्प माना जाता है, वैसे ही यावज्जीवश्रुतिसे नैमित्तिक एक अग्निहोत्रका पापक्षयार्थ विधान है, और विद्याङ्ग कादा-चित्क द्वितीय अग्निहोत्रका 'तमेतम्' इस वाक्यसे विधान है। अतः पूर्वोक्त 'संयोग-पृथक्त्व' न्यायसे एकमें नित्यानित्यसंयोग विरुद्ध नहीं है।

जो यह शङ्का थी कि नित्य होनेसे अग्निहोत्रादि विद्यासाधन नहीं होंगे ? वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'तमेतम्' इत्यादि वचनसे विद्यासाधनत्वका विधान है। इसलिए वे विद्यासाधन भी हैं, जैसे एक ही खादिरमें नित्यसंयोगसे क्रत्वर्थत्व है अनित्यसंयोगसे पुरुषार्थत्व है, वैसे ही दो वचनोंसे नित्यार्थत्व और विद्यार्थत्वका भी समावेश है।

श्लोकार्थ—जो आश्रमार्थ नित्य कर्मका अनुष्ठान होता है, वही कर्म ईश्वरार्पण बुद्धिसे मुमुक्षु करे, पृथक् नहीं, यह वेदान्तसूत्रकार श्रीवेदव्यास भगवान्ने कहा है ॥ ३१ ॥

इच्छा विषयसौन्दर्य्यके ज्ञानसे होती है, कर्मसे कैसे होगी ? इस आक्षेपके निरासके लिए कहते हैं—'**वाक्याद्वे०**' इत्यादिसे।

यह ठीक है कि कर्मसे इच्छा नहीं होती, किन्तु विषयके सौन्दर्यके ज्ञानसे ही होती है, किन्तु पहले कर्मसे 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि वाक्यबोधित आत्म-

दुग्धे पित्तवतोऽस्तीच्छा रुचिर्नास्ति ततोऽनयोः ।
रुचीच्छयोर्महान्भेदो रुचिर्विविदिषाऽत्र हि ॥ ३३ ॥
महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते ।
इति पौराणिकाः प्राहुः पुण्यसाध्या ततो रुचिः ॥ ३४ ॥
रुचिद्वारोपकुर्वन्ति कर्माण्यात्मविमुक्तये ।
अज्ञानस्याऽविरोधित्वान्न साक्षादात्मबोधवत् ॥ ३५ ॥
अविद्याया न चोच्छित्तौ ज्ञानादन्यदपेक्ष्यते ।
ज्ञानोत्पत्तौ न चैवाऽन्यच्छमादिभ्यो ह्यपेक्ष्यते ॥ ३६ ॥

---

ज्ञानमें सौन्दर्यज्ञान होता है, तदनन्तर उसमें रुचि होती है, इस प्रणालीसे कर्म विविदिषाका हेतु है ॥ ३२ ॥

रुचि और इच्छामें भेदके प्रदर्शनके लिए कहते हैं—'दुग्धे पित्त०' इत्यादिसे।

पित्तदोषसे जिसकी रसनेन्द्रिय दूषित हुई है, उस पुरुषको दूध पीनेकी इच्छा रहती है, किन्तु दूध पीनेमें रुचि नहीं होती, इसलिए रुचि इच्छासे अतिरिक्त पदार्थ है। प्रकृतमें विविदिषाका तात्पर्य रुचिमें है। दृष्टान्त द्वारा इच्छा और रुचिका भेद स्फुट ही कर दिया है ॥ ३३ ॥

**'महापापवताम्'** इत्यादि। महापातकी पुरुषोंको ज्ञानयज्ञ अर्थात् अध्यात्मशास्त्र श्रवण, मनन आदि नहीं भाता है, पुराणपारायणशीलोंका यह कथन बहुत ठीक है, कारण कि ब्रह्मज्ञानकी रुचि पुण्यसे होती है, अतएव 'श्रवणायाऽपि बहुभिर्यो न लभ्यः' इत्यादि वचन भी संगत होते हैं ॥ ३४ ॥

कर्म साक्षात् मोक्षका साधन है, इस पक्षमें दोष देनेके लिए कहते हैं—**'रुचिद्वारो०'** इत्यादिसे ।

कर्म रुचिसम्पादन द्वारा मोक्षमें उपकारी है, क्योंकि अज्ञानकी निवृत्तिके बिना मोक्ष नहीं होता और अज्ञानकी निवृत्ति कर्मसे नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मका अज्ञानके साथ विरोध ही नहीं है और विरोधके बिना निवर्त्यनिवर्तकभाव नहीं होता, किन्तु ज्ञानके साथ अज्ञानका विरोध है, अतः आत्मबोध जैसे अविद्याका निवर्तक होनेसे साक्षात् मोक्षका साधन है, वैसा कर्म नहीं है ॥ ३५ ॥

**'अविद्याया'** इत्यादि। अविद्याके विनाशमें ज्ञानसे अतिरिक्तकी अपेक्षा नहीं है और ज्ञानकी उत्पत्तिमें शम, दम आदिसे अतिरिक्तकी अपेक्षा

शमाद्युत्पत्तये नाऽन्यद् बुद्धिशुद्धेरपेक्ष्यते ।
बुद्धिशुद्धौ च नित्यादिकर्मभ्यो नाऽन्यदिष्यते ॥ ३७ ॥
पारम्पर्येण कर्मैव वेदनायोपयुज्यते ।
साधनं कर्म तेनैतत्साध्यं ब्रह्मात्मवेदनम् ॥ ३८ ॥
इत्येवमभिसम्बन्धः कर्मविज्ञानकाण्डयोः ।
इतोऽन्यथाऽभिसम्बन्धे न किञ्चिन्मानमीक्ष्यते ॥ ३९ ॥
अन्ये त्वाहुर्न शक्नोति कामसन्दूषिताशयः ।
द्रष्टुं परममद्वैतं सर्वकामासमाप्तितः ॥ ४० ॥

---

नहीं है अर्थात् शम, दम आदिसे ज्ञानकी उत्पत्ति, ज्ञानकी उत्पत्तिसे अविद्याकी निवृत्ति और अविद्याकी निवृत्तिसे मोक्ष होता है, यह वेदान्तसिद्धान्त है ॥३६॥

**'शमाद्युत्पत्तये'** इत्यादि । शम, दम आदिकी उत्पत्तिमें बुद्धिकी शुद्धिसे अतिरिक्तकी अपेक्षा नहीं है और बुद्धिकी शुद्धिकी उत्पत्तिमें नित्य आदि कर्मसे अतिरिक्तकी अपेक्षा नहीं है ॥ ३७ ॥

**'पारम्पर्येण'** इत्यादि । कर्म पूर्वोक्त परम्परासे ही ब्रह्मज्ञानमें उपयोगी हैं, इसलिए कर्म भी साधन माने जाते हैं और आत्मज्ञान कर्मसाध्य है ॥ ३८ ॥

**'इत्येवम्'** इत्यादि । उक्तरीतिसे ज्ञानकाण्डका कर्मकाण्डके साथ परम्परया साध्यसाधनत्व ही संबन्ध है, इससे अतिरिक्त कामप्रविलयन, प्रपञ्चविलयन, सोपानमार्गगति, ज्ञानकर्मसमुच्चय आदि उक्त काण्डद्वयके संबन्ध हैं, यह माननेवालोंके मतमें कोई प्रमाण नहीं देखते ॥ ३९ ॥

उक्त मतोंमें अप्रामाणिकत्वको दिखलानेके लिए प्रथम पक्षमें कहते हैं—**'अन्ये त्वाहुः'** इत्यादिसे ।

फलकी कामनासे जिसका अन्तःकरण दूषित है, वह पुरुष अद्वैत परब्रह्मका दर्शन नहीं कर सकता, अतः तत्तद्विहित कर्मानुष्ठानसे तत्तत्फलोपभोग होनेपर कामनाके ध्वंस द्वारा कर्म ज्ञानोपकारक है, यह किसीका मत है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्वय और व्यतिरेकसे कामनाके ध्वंसका हेतु आत्मज्ञान ही है । आत्मज्ञानके बिना कामनाका ध्वंस नहीं देखते हैं और आत्मज्ञान होनेपर कामनाका ध्वंस देखते हैं, इसलिए कामनाके ध्वंसका कारण आत्मज्ञान ही है, दूसरा नहीं । प्रथम कामनाके ध्वंससे ज्ञानमें अधिकार कहना असङ्गत है, क्योंकि सर्वकाम—स्वर्गादि—के उपभोगके बिना

कर्मभिर्विविधैर्धीमान् सविराडाद्युपासनैः ।
वैराजान्तं फलं भुक्त्वा तदैकात्म्यं प्रपद्यते ॥ ४१ ॥
सर्वभोगोपभोगेन कृत्स्नकामलयाध्वना ।
यान्ति मुक्तेरानुगुण्यं कर्माणि निखिलान्यपि ॥ ४२ ॥
ब्रह्मानन्दः श्रुतोऽप्यत्र साक्षादविषयीकृतः ।
दृष्टानन्दाभिलाषं स न मन्दीकर्तुमप्यलम् ॥ ४३ ॥

मनाका ध्वंस नहीं हो सकता, इसलिए स्वर्गादिसकलफलोपभोग होने- की निवृत्ति हो सकती है, यत्किञ्चित्फलोपभोगसे नहीं ॥ ४० ॥

अनुपभुक्त फलका राग निवृत्त नहीं हो सकता और सकलफलभोग होना है। संभव होनेपर भी भोगसे रागकी वृद्धि ही होगी, इस शङ्काकी के लिए कहते हैं—'कर्मभिर्विविधैः' इत्यादिसे ।

र्वीहोमसे लेकर विराट्सूत्रकी उपासना सहित सत्रान्त कर्मोंको करके मनुष्यत्वसे सत्रान्तके फलका क्रमसे भोगकर तत्तद्देहाभिमानी उससे अतिरिक्त अनुपभुक्त न्य कर्मफलके अभावसे सर्वतः निवृत्तकाम होकर ब्रह्मात्मैक्यज्ञानका अधिकारी ता है। सारांश यह है कि छोटे तथा बड़े सब शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान नुष्यदेहसे लेकर विराट् शरीर तक शरीरधारण कर निखिल कर्मफलोंका उप- जानेपर यदि शरीरान्तरसे उपभोगयोग्य कोई फल ही नहीं रहा, तो कामना किसकी होगी ? यदि कोई भोग ऐसा हो और उसके भोगनेके लिए शरीरका धारण करना पड़े, तो तादृश अपूर्व शरीरके धारण द्वारा योग्य फलकी कामना होती, सो तो है नहीं, इसलिए विराट्पदकी प्राप्ति सब काम निवृत्त हो सकता है, यह भी एक मत है ॥ ४१ ॥

'सर्वभोगो०' इत्यादि । प्राजापत्यपदकी प्राप्ति होनेपर सब कर्मोंका निखिल उपभोग हो जायगा, इसलिए सब कामका लय होनेसे निखिल कर्म—श्रौत- मुक्तिके अनुगुण हो जाते हैं—मुक्त्युपकारक हो जाते हैं । इसमें दोष यह फलभोगसे कामध्वंसकी संभावना नहीं है, भोग रागका प्रवर्तक है, नहीं है; किन्तु विषयदोषदर्शन ही कामका निवर्त्तक है ॥ ४२ ॥

अच्छा तो कर्म रागविरोधी न सही, श्रुत ब्रह्मानन्द ही तदितर रागका होगा, यह कहते हैं—'ब्रह्मानन्दः' इत्यादिसे ।

कामप्रविलयायाऽतो विधयः कर्मकाण्डगाः ।
प्रलीनकामो विज्ञानकाण्डेऽधिक्रियते पुमान् ॥ ४४ ॥
नैवं न कामसम्प्राप्त्या तन्नाशोऽब्दशतैरपि ।
तत्सेवातो विवृद्धिः स्यान्निवृत्तिर्दोषदर्शनात् ॥ ४५ ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते ॥ ४६ ॥

---

ब्रह्मानन्द श्रुत परोक्षज्ञानका विषय होनेपर भी अपरोक्ष अनुभवका विषय नहीं है, इसलिए अनुभूत फलसुखविशेषके सजातीय सुखानुरागप्रवाहको नहीं रोक सकता। अननुभूत ब्रह्मानन्दमें अनुराग नहीं है, वैषयिक सुख अनुभूत है, अतएव उसमें अभिलाषातिशय है, इसको शिथिल भी नहीं कर सकता, तो फिर रोकना तो बहुत कठिन है ॥ ४३ ॥

'कामप्रविल०' इत्यादि ।

कर्मकाण्डकी विधियां कामप्रविलयार्थ हैं, अतः तदनुष्ठान द्वारा प्रलीन-काम पुरुष विज्ञानकाण्डका अधिकारी है। पूर्वोक्त रीतिसे तत्तत्फलजनक निखिल-कर्मोंके अनुष्ठानसे अशेषफलका उपभोग हो जायगा, दूसरा कोई फल अवशिष्ट रहा नहीं, अतः भुक्त भोगोंमें फिर इच्छा न होगी, इसलिए प्रलीनकाम पुरुष मोक्षका अधिकारी है ॥४४॥

विषयोंके उपभोग रागके ध्वसंक नहीं हैं, किन्तु उनकी वृद्धिके कारण हैं, इस अभिप्रायसे पूर्वोक्त कथनका निराकरण करते हैं—'नैवम्' इत्यादिसे ।

कामके उपभोगसे सौ वर्षमें भी उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। सौ वर्ष उप-लक्षण है, कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकती। कामके सेवनसे कामकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है, विषयदोषदर्शनसे ही कामकी निवृत्ति होती है। काम्यकर्म फलराग प्रकर्षके कारण होनेसे निवर्तक नहीं हो सकते, किन्तु नित्यकर्म तो अफल हैं, अतः वे रागनिवर्तक हो सकते हैं यह भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि 'कर्मणा पितृलोकः' इत्यादि श्रुतियोंसे उनका भी फल श्रुत है, इसलिए ये भी काम्यकर्मके सदृश निवर्तक नहीं हैं, किन्तु रागप्रकर्षके हेतु ही है ॥ ४५ ॥

'न जातु कामः' इत्यादि। कामोपभोगसे कभी भी कामकी शान्ति नहीं होती, प्रत्युत घीसे अग्निज्वालाकी तरह उसकी अधिक वृद्धि ही होती है ॥ ४६ ॥

गुणस्याऽदर्शनाद्दोषदृष्टेर्वा क्षीणकामनः ।
सर्वक्लेशोपशान्त्यर्थमात्मज्ञानं समाश्रयेत् ॥ ४७ ॥
कामाश्रितो विधिः कामं दोषवन्न विलापयेत् ।
कामुकः सन् प्रवर्तेत नाऽऽत्मज्ञाने कथञ्चन ॥ ४८ ॥
उद्विजेताऽथवा ज्ञानात् सर्वपुम्भोगघस्मरात् ।
तथा च रागिगीतायां पठ्यते वचनं त्विदम् ॥ ४९ ॥
अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति ।
न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ! ॥ ५० ॥
वैराजान्तं फलं भुक्त्वा मुच्येतेति यदीरितम् ।
क्रममुक्तौ तत्तथाऽस्तु न तु सद्यो विमोचने ॥ ५१ ॥

**'गुणस्याऽ०'** इत्यादि । विषयोपभोगमें गुणके न देखनेसे तथा दोषोंके देखनेसे संपूर्ण कामनाएँ क्षीण हो जाती हैं, अतः संपूर्ण क्लेशोंकी शान्तिके लिए मुमुक्षु आत्मज्ञानका ही अवलम्बन करे ॥ ४७ ॥

**'कामाश्रितो०'** इत्यादि । कामाश्रित विधि—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधि—दोषकी तरह [ व्यतिरेकी दृष्टान्त ] है, जैसे दोषदर्शन कामनाका निवर्तक है, वैसे ही कामनाश्रित विधि भी निवर्तक नहीं है, प्रत्युत आत्मज्ञानमें प्रतिबन्धक है, क्योंकि कामुक—कामनावान्—आत्मज्ञानमें किसी तरह प्रवृत्त नहीं हो सकता ॥ ४८ ॥

**'उद्विजेताऽथवा'** इत्यादि । भोगानुरागीका केवल ज्ञानमें प्रवृत्त्यभाव ही नहीं है, किन्तु वैषयिक भोगोंके नाशक तत्त्वज्ञानसे उसे उद्वेग भी हो सकता है ॥४९॥

इसी तात्पर्यसे विषयवासनाओंसे आकृष्टचित्तोंका वचन है—**'अपि वृन्दा०'** इत्यादि ।

विषयी शून्य वृन्दावनमें शृगाल होनेकी इच्छा करता है, किन्तु हे गौतम ! निर्विषय मोक्षकी इच्छा कभी नहीं करता ॥ ५० ॥

**'वैराजान्तम्'** इत्यादि । प्राजापत्यपदकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानका द्वार है, यह युक्तिबलसे कहते हैं या श्रुतिबलसे ? युक्ति यह है कि प्रजापति सर्वात्मा है, सर्वशरीर द्वारा सब भोग हो जानेसे अवशिष्ट भोक्तव्य फलके न रहनेके कारण कामनाकी निवृत्ति हो जायगी, सो ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त न्यायसे विषयका सेवन विषयरागका वर्द्धक होता है, नाशक नहीं होता । विषयोंमें दोषदर्शनसे विषयोंसे अपरक्त होकर सगुण ब्रह्मोपासनासे ब्रह्मलोक-प्राप्ति होती है तदनन्तर तत्त्वज्ञान

द्वारं न नियतं मुक्तेः प्राजापत्यं पदं भवेत् ।
नह्युपाधिषु तत्त्वस्य विशेषः कश्चिदीक्ष्यते ॥ ५२ ॥
नाऽऽकाशस्याऽविशेषोऽस्ति कुम्भद्रोण्याद्युपाधिषु ।
दूरान्तिकादिभिन्नेषु कल्पिताकल्पितेष्वपि ॥ ५३ ॥
अतः प्रजापतौ तत्त्वं कृमौ वा न विशिष्यते ।
तर्कादागमतश्चाऽपि तद्यो य इति हीदृशात् ॥ ५४ ॥

होनेपर ज्ञानी सृष्टिके अन्तमें ब्रह्मके साथ मुक्त हो जाता है, इस प्रकार क्रममुक्तिका साधन वैराजपदकी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु यह नियम नहीं है कि वैराजपदकी प्राप्ति ही मुक्तिका साधन है, क्योंकि उक्त पदकी प्राप्तिके बिना भी 'तद्योयो देवानां प्रत्यबुध्यत' इत्यादि श्रुतिमें देव, मनुष्य आदिके शरीरमें तत्त्वज्ञान होनेपर मुक्ति लिखी है । इसलिए वैराजपदकी प्राप्ति नियत मुक्तिसाधन नहीं है । सद्योमुक्तिमें उक्त पदकी प्राप्ति हेतु नहीं है ॥ ५१ ॥

**'द्वारं न नियतम्'** इत्यादि । प्राजापत्यपद उक्त रीतिसे मुक्तिका नियत द्वार नहीं है, क्योंकि उपाधियोंमें कुछ भी तत्त्व-विशेष-नहीं देखते । मनुष्य, देवता, ब्रह्म आदिकी सभी उपाधियाँ एक ही समान हैं, क्योंकि अनात्म पदार्थ ही तो उपाधि है, सो सबमें समान है । इसी तरह उत्पन्न, उत्पद्यमान तथा उत्पत्स्यमान भी उपाधि समान ही है अर्थात् कल्पित ही है, अतः उपाधिके भेदसे उपहित आत्मामें भेद नहीं हो सकता है । जैसे घट, करक आदि उपाधिके भेदसे आकाशमें कुछ अन्तर नहीं आता, सबमें आकाश एकस्वभावसे ही है, वैसे ही आत्मा भी सब उपाधियोंमें एकरस है ॥ ५२ ॥

इसीको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—**'नाऽऽकाशस्य'** इत्यादिसे ।

कुम्भ—घड़ा—, द्रोणी—दोन अर्थात् नौकाकार काष्ठनिर्मितजलसेचन पात्र —इन उपाधियोंमें विशेष होनेपर भी उनके आकाशमें कुछ विशेष नहीं है, एवं दूर, निकट उत्पन्न और उत्पत्स्यमान उपाधियोंमें आकाश एकस्वभाव ही रहता है तथा रहेगा, इसी तरह मनुष्य आदि ब्रह्मान्तोपाधिमें आत्मा एकरस ही है ॥ ५३ ॥

द्वितीय पक्षका निराकरण करते हैं—**'अतः प्रजा०'** इत्यादिसे ।

सब उपाधियोंमें आत्मा एकरस है, इस सिद्धान्तमें प्रजापतिमें तथा कृमि-कीटमें कोई विशेष नहीं हैं, दोनोंमें आत्मा एकरस है, तर्क—युक्ति—तथा आगम अर्थात् शास्त्रसे उभयत्र आत्मा सम है, कुछ भी विशेष सिद्ध नहीं होता है ॥५४॥

प्रत्यबुध्यत देवानां मध्ये योऽयं स एव तत् ।
अभवन्नान्य इत्याह श्रुतिर्वैषम्यवारिणी ॥ ५५ ॥
एको देवः सर्वभूतेष्विति चाऽऽहाऽपरा श्रुतिः ।
अतश्चोपाधिवैशेष्याभ्नाऽऽत्मतत्त्वं विशिष्यते ॥ ५६ ॥

पूर्वमें युक्ति कह चुके हैं, अब आगम कहते हैं—'प्रत्यबुध्यत' इत्यादिसे ।

देवानाम्—देवताओं, ऋषियों तथा मनष्योंमें जो जो प्रबुद्ध हुआ अर्थात् ब्रह्मज्ञानी हुआ, वह ब्रह्म हुआ, इस कथनसे तत्त्वज्ञानोत्पत्ति देव, मनुष्य और प्रजापतिमें साधारण है । तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमें वैराजपदकी प्राप्ति विशेषरूपसे नियत कारण नहीं है, किन्तु साधनसम्पत्ति जिस उपाधिमें उत्पन्न होती है, उसी उपाधिमें तत्त्वज्ञान तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है । तत्त्वज्ञानके बिना ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती, अतएव **'नान्यः'** कहा है। इससे देव, मनुष्य आदिकी आत्मामें कुछ विशेष नहीं है, इसी तात्पर्यसे कहा है—**'वैषम्यवारिणी'** । विराट्की भी मुक्ति तत्त्वज्ञानसे ही होती है, अन्यथा नहीं ॥ ५५ ॥

**'एको देवः'** इत्यादि ।

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥'

पुराणप्रसिद्ध ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिके भेदके वारणके लिए 'एको देवः' कहा है। आगे कहेंगे 'हरिर्ब्रह्मा पिनाकीति बहुधैकोऽपि गीयते' । अखण्ड जाड्यके निवारणके लिए 'देव, ऐसा कहा है । सूर्यके समान तटस्थताके वारणके लिए सर्वभूतेषु कहा है । तब आत्मा एक ही प्रतीत क्यों नहीं होता, इसपर कहते हैं—'गूढः' । आधाराधेयभावसे प्रतीयमान भेदके निराकरणके लिए 'सर्वव्यापी' कहा है । सब ब्रह्मकी स्वरूपसत्तासे ही 'सत्' इत्याकारक प्रतीतिके विषय हैं, सदन्तरकी स्फूर्ति न होनेसे वस्तुकृत परिच्छेद भी नहीं है । नियम्यनियाकत्वप्रयुक्त भेदके निरासके लिए 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहा है । ब्रह्मादि स्तम्बान्तका यही अन्तरात्मा है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिसे स्रष्टा ही स्वसृष्टमें अविकृतरूपसे प्रविष्ट हुआ, अतः आत्मान्तर नहीं है । यदि ब्रह्म ही अन्तरात्मा है, तो उसमें कर्तृत्व आदिकी प्रसक्ति हो जायगी, क्योंकि अन्तरात्मा कर्ता है, अतएव शुभाशुभफलभोक्ता है, अतः 'कर्माध्यक्ष' कहा है। फिर भी जगत्व्यापारका साक्षी होनेसे भेदका प्रसङ्ग होगा, इसलिए 'सर्वभूताधिवास' कहा है । सब भूतोंका अधिवास याने अधिष्ठान है । अधिष्ठानके

सद्योमुक्तिं वाञ्छतोऽतो दोषदृष्ट्या विलीयते ।
कामोऽतः कर्मकाण्डस्य तात्पर्यं नैव तल्लये ॥ ५७ ॥
अन्ये तु मन्वते केचिद्गम्भीरन्यायवादिनः ।
भेदस्य विलयो वेदे गम्यते कस्यचित् क्वचित् ॥ ५८ ॥
देहात्मभावविलयः स्वर्गकामपदे खलु ।
देहाद् भिन्नोऽधिकार्यत्र स्वर्गभोग्यवगम्यते ॥ ५९ ॥

बिना आरोपितका स्वरूप नहीं हो सकता, इसलिए वस्तुपरिच्छेद नहीं है। घटके समान दृश्य होनेसे मिथ्यात्वकी प्रसक्तिके वारणके लिए कहते हैं—'साक्षी'। घट, पट आदि जड़ होनेसे मिथ्या हैं, आत्मा साक्षी है, अतः घटके समान मिथ्या नहीं है। ईक्षणका कर्ता होनेसे आत्मा परिच्छिन्न हो जायगा, इसलिए कहते हैं—'चेता'। द्रष्टा होनेपर लौकिक द्रष्टाके सदृश सविकार हो जायगा, इसलिए कहते हैं—'केवलः'। सन्निधानमात्रसे विश्वव्यवहारका हेतु होनेसे चिन्मात्रत्व ही द्रष्टृत्व है, आनन्दादि गुण हैं इस भ्रमके वारणके लिए 'निर्गुणः' ऐसा कहा है। सब विशेषोंसे शून्य एकरस ब्रह्म है, यह 'च' शब्दका तात्पर्यार्थ है ॥ ५६ ॥

**'सद्योमुक्तिम्'** इत्यादि। सद्यः मुक्ति चाहनेवालोंकी दोषदृष्टिसे कामना लीन हो जाती है, यही तात्पर्य कर्मकाण्डका है। भोगसे कर्मका लय होता है इसमें उसका तात्पर्य नहीं है। उक्त रीतिसे विषयसेवन रागका वर्द्धक है। जो जिसका साधक है, वही उसका निवर्तक नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

प्रपञ्चके विलय द्वारा कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डका शेष है, इसके माननेवालोंके मतका उल्लेख करते हैं—**'अन्ये तु'** इत्यादिसे।

प्रपञ्चके विलय द्वारा कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डका शेष है, यह मत अतिस्थूल है। अनायास ही इसका निराकरण हो सकता है, यह सूचित करनेके लिए उपहास करते हैं—**'गम्भीरन्यायवादिनः'** इत्यादि। यदि शास्त्रका प्रपञ्चाभावमें तात्पर्य होता, तो 'न प्रपञ्चोऽस्ति' इतना कहनेसे अभिमत अर्थकी सिद्धि हो जाती, फिर उसके लिए विपुल कर्मविधिबोधक वाक्य ही व्यर्थ हो जायँगे, इस आक्षेपका यह उत्तर है कि प्रतिषेध्यके बाहुल्यसे प्रतिषेधककी बहुलता है।

श्लोकार्थ—दूसरे गहनन्यायवादी वेदमें कहींपर किसी भेदका विलय प्रतीत होता है, यह मानते हैं ॥ ५८ ॥

तत्-तत् कार्य कि बोधक कर्मविधि है, प्रपञ्चाभावकी बोधक नहीं है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'देहात्म०'** इत्यादिसे।

लोकेऽपि चाऽनभिप्रेतात् पथः साक्षान्निवारणम् ।
मार्गान्तरोपदेशाद्वा वेदेऽप्येवं प्रतीयताम् ॥ ६१ ॥
एवं रागादिहेतूत्थप्रवृत्तिलयवर्त्मना ।
आत्मज्ञानाधिकारार्था निःशेषविधयः स्थिताः ॥ ६२ ॥

'न हन्यात्', 'न पिबेत्' इत्यादि निषेध और विधिवाक्य रागादिसे उत्पन्न हनन और पान आदिमें प्रवृत्तिके लयपरक हैं । इसी प्रकार नित्य और काम्यकी विधियाँ भी कार्यान्तरके विधान द्वारा स्वाभाविक प्रवृत्तिकी लयपरक हैं, यह जानना चाहिए । 'सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयात्' यह नित्य विधि है । उक्त समयमें अग्निहोत्र कर्म करनेसे स्वाभाविक कार्यान्तरकी निवृत्ति होती है, क्योंकि विरुद्ध दो कार्य एक समयमें एक पुरुष नहीं कर सकता। अतः कार्यान्तरमें अवसरके अभावके आपादन द्वारा कार्यान्तराभावमें नित्य विधि पर्यवसन्न होती है, ऐसी ही काम्य विधि भी समझनी चाहिए । 'गोदोहनेन पशुकामस्यापः प्रणयेत्' यह वाक्य दर्शाधिकारमें पठित है, इसलिए यह वाक्य भी दर्शाधिकारीसे अतिरिक्त स्वतन्त्र अधिकारीका लय—अभाव—परक है। जो स्वर्गकामी दर्शाधिकृत है, वही पशुकामना होनेपर गोदोहनसे अपःप्रणयन करे, स्वतन्त्र स्वर्गकामी न करे, इसलिए गोदोहन वाक्य भी लयपरक है ॥६०॥

यदि नित्यादि कर्मविधियोंका कार्यान्तर-विधान द्वारा लयमें ही तात्पर्य है, तो वे साक्षात् ही अभावाभिधान क्यों नहीं करतीं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'लोकेऽपि'** इत्यादिसे ।

स्वयं मार्गको न जानकर ग्रामान्तरमें जानेकी इच्छा करनेवाला जिज्ञासु किसी आप्तसे पूछता है—किस मार्गसे जाऊँ ? परन्तु मार्गदर्शक आप्त पुरुष जिस मार्गसे जाना अभीष्ट नहीं है, उसका परिहार दो प्रकारसे करता है, एक तो साक्षान्निवारण अर्थात् इस मार्गसे मत जाओ और दूसरा प्रकार यह है कि उस मार्गसे जाओ, इसका तात्पर्य इधरसे मत जाओ, इसमें भी है । जैसे लोकमें दोनों प्रकारका उपदेश होता है, वैसे ही वेदमें भी दोनों प्रकारका उपदेश है । लोकानुसार वेदमें भी गौरव आदि दोष नहीं हैं । प्रपञ्चके लय द्वारा कर्मकाण्डका ज्ञानकाण्डके साथ शेषशेषिभाव सम्बन्ध है ॥ ६१ ॥

इसीके निगमनके लिए कहते हैं—**'एवं रागादि०'** इत्यादि ।

नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषेधकी सब विधियाँ रागादिहेतुक प्रवृत्तिके अभावके

मैवं किं भेदविलयो विधीनां फलकाङ्क्षया ।
तात्पर्यादात्मबोधस्य हेतुत्वाद्वाऽत्र कल्प्यते ॥ ६३ ॥
नाऽऽद्यस्तावद्यतोऽशेषा न कर्मविधयः फलात् ।
स्ववाक्यावगतात् किञ्चिदपेक्षन्ते फलान्तरम् ॥ ६४ ॥
तात्पर्यं च विधीनां स्यात् कर्मानुष्ठान एव हि ।
अन्तरेण त्वनुष्ठानं स्वर्गपश्वाद्यसम्भवात् ॥ ६५ ॥
श्रुतेर्विलयतात्पर्ये फलमाकस्मिकं भवेत् ।
फलार्थे चेल्लयो न स्यान्नोभयं वाक्यभेदतः ॥ ६६ ॥

---

द्वारा आत्मज्ञानाधिकारके लिए हैं अर्थात् तत्-तत् कर्मबोधन द्वारा कर्मान्तराभावमें तात्पर्य होनेसे सब कर्मविधियाँ ज्ञानके लिए ही हैं ॥ ६२ ॥

कर्मकाण्ड भेदलयके द्वारा ज्ञानविधिका शेष है, इस पक्षमें दोष कहते हैं—'**मैवं किं**' इत्यादिसे ।

क्या विवक्षित अविनाशी फलकी सिद्धिके लिए भेदके लयकी विधिकाण्डके रूपमें कल्पनाकी जाती है अथवा विधि ही लयपरक है किं वा लय आत्मज्ञानका हेतु है इसलिए ? सारांश यह है कि कर्मविधि क्या मोक्षार्थीके लिए है, अथवा स्वर्गार्थीके लिए है अथवा प्रपञ्चाभावार्थीके लिए है ? ॥ ६३ ॥

'**नाऽऽद्यस्तावद्**' इत्यादि । यदि संपूर्ण कर्मविधि स्ववाक्यमें श्रुत स्वर्गरूप फलसे अतिरिक्त मोक्षफलकी अपेक्षा ही नहीं करती, तो फिर मोक्षार्थ प्रपञ्चके अभावका बोधन कैसे करावेगी ॥ ६४ ॥

द्वितीय पक्षके निराकरण करनेके लिए कहते हैं—'**तात्पर्यं च**' इत्यादिसे

कर्मकाण्डमें कहीं भी भेदका लय श्रुत नहीं है, किन्तु कर्मविधियोंका कर्मानुष्ठानमें तात्पर्य्य है, प्रपञ्चाभावमें नहीं, अतः प्रपञ्चाभाव स्वर्गका हेतु नहीं है, किन्तु कर्म ही है, इसलिए स्वर्गार्थीके प्रति कर्मविधि प्रपञ्चाभावका बोधन नहीं करा सकती, स्वर्ग, पशु आदि फलकी उत्पत्ति कर्मानुष्ठानके बिना नहीं होती, इसलिए स्ववाक्यमें श्रुत फलकी प्राप्तिके लिए स्वविहित कर्मानुष्ठानमें ही विधियोंका तात्पर्य है, अन्यत्र नहीं है ॥ ६५ ॥

लयपरकत्वमें बाधक कहते हैं—'**श्रुतेर्विलयतात्पर्ये**' इत्यादिसे ।

श्रुतियोंका तात्पर्य यदि विलयमें हो, तो स्वर्ग, पशु आदि श्रुत फल आकस्मिक

श्रुतेऽपि स्वर्गतात्पर्ये कल्पना चेल्लयेऽर्थतः ।
तन्न प्रत्यक्षवचनाद्देहादिलयसिद्धितः ॥ ६७ ॥
साक्षाद्धस्तिनि दृष्टेऽपि न हि हस्तिपदानुमा ।
अस्थूलादिवचः साक्षाद्देहादिप्रतिषेधकृत् ॥ ६८ ॥
नात्मबोधोऽपि भेदस्य लयाद्भवति कुत्रचित् ।
अलयेऽप्युपपन्नत्वाल्लये सुप्तावनीक्षणात् ॥ ६९ ॥

---

हो जायँगे, क्योंकि तत्तत्फलके साधनमें श्रुतियोंका तात्पर्य ही नहीं है। यदि श्रुत फलमें ही श्रुतियोंका तात्पर्य मानें, तो लयमें तात्पर्य सिद्ध नहीं हो सकेगा, दोनोंमें तात्पर्य माननेसे वाक्यभेद हो जायगा। और प्रपञ्चविलयो न साध्यः, अभावत्वात्, कूर्मरोमवत्, इस अनुमानसे पुत्र पशु आदिके अभावकी तरह प्रपञ्चाभाव भी पुरुषार्थ नहीं हो सकेगा, इसलिए प्रपञ्चाभावकी इच्छा भी नहीं हो सकती, अतः उसका विधान व्यर्थ है ॥६६॥

'श्रुतेऽपि' इत्यादि। कर्मविधियोंका वस्तुतः तत्-तत् फलमें ही तात्पर्य है, भेदका विलय तो अर्थतः सिद्ध होता है, देहात्मभावके विलयके बिना स्वर्गादिके लिए कर्ममें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही देहादिका विलय सिद्ध है, इसके लिए शब्दप्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इस न्यायसे जो अन्य प्रमाणसे लब्ध न हो सके, वही शब्दार्थ माना जाता है, जो प्रमाणान्तरसे लब्ध है, वही अर्थात्-लब्ध कहलाता है, वह शब्दार्थ नहीं कहलाता है ॥ ६७ ॥

यदि देहादिका शाब्द हो सकता है, तो उसे अर्थतः मानना ठीक नहीं है, इसे कहते हैं—'साक्षाद्०' इत्यादिसे।

साक्षात् हाथीके दिखाई देनेपर उसके पैरका चिह्न देखकर उसका अनुमान नहीं किया जाता, क्योंकि सिद्धि अनुमितिकी प्रतिबन्धक है। जब हाथी दृष्ट न हो, तब उसका अनुमान होता है, किन्तु देखनेपर नहीं होता। जब 'अस्थूलमनणु' इत्यादि वचनसे साक्षात् ही देहादिका प्रतिषेध प्रमित है, तब फिर काम्य कर्मविधिमें श्रुत साक्षात् पश्वादि फलका त्याग कर देहादिविलयरूप अर्थकी कल्पना व्यर्थ है, यह तात्पर्य है ॥ ६८ ॥

तृतीय पक्षमें यह विकल्प होता है कि भेदलय साक्षात् मोक्षज्ञानका हेतु है, किं वा भेदकारणनिवर्तन द्वारा, अन्वय और व्यतिरेक व्यभिचार देखनेसे प्रथम पक्ष ठीक नहीं यही कहते हैं—'आत्मबोधेऽपि' इत्यादिसे।

गुरुशास्त्राद्यविलये बोधोऽयमुपपद्यते ।
लयमात्रेण चेद्बोधः सुप्तौ केन निवार्यते ॥ ७० ॥
सर्पाभासलयेऽपीयं रज्जुस्तमसि नेक्ष्यते ।
प्रत्युताभाससर्पोऽयं लीयते रज्ज्ववेक्षणात् ॥ ७१ ॥

भेदके लयसे आत्मज्ञान कहीं नहीं होता और भेदके लयके बिना भी आत्मज्ञान होता है, इसलिए आत्मज्ञानमें भेदलय कारण नहीं हो सकता । सुषुप्ति अवस्थामें भेदका विलय होनेपर भी मुक्ति नहीं देखी जाती है ॥ ६९ ॥

उक्तार्थका ही स्पष्टीकरण करनेके लिए कहते हैं—**'गुरुशा०'** इत्यादिसे ।

गुरु, शास्त्र आदि भेदके लयके बिना भी आत्मज्ञान होता है । यदि लयमात्रसे मुक्ति होती, तो सुषुप्तिदशामें भी मुक्ति कौन रोक सकता ? सुषुप्ति अवस्थामें मुक्तिके न देखनेसे लय मुक्तिका कारण नहीं हो सकता, यह स्पष्ट निश्चय होता है ॥७०॥

जाग्रत्-अवस्थामें अन्वय-व्यभिचार कहते हैं—**'सर्पाभास०'** इत्यादिसे ।

रस्सीमें सर्पभ्रम होनेके बाद अन्धकारमें सर्पाभासका लय होनेपर भी रस्सीका साक्षात्कार नहीं होता है, इससे अध्यस्तका लय अधिष्ठानके तत्त्वके साक्षात्कारका कारण नहीं होता है, किन्तु अधिष्ठानसाक्षात्कार ही अध्यस्तका निवर्तक होता है, यही कहते हैं—**'प्रत्युत'** इत्यादिसे । अर्थात् रज्जुदर्शन ही आभास सर्पका निवर्तक है । तात्पर्य यह है कि ज्ञानका साधन प्रपञ्चका लय नहीं है, अतः वह विधिका विषय नहीं हो सकता ।

अब यह कहना है कि प्रपञ्च अनादि है या सादि ? प्रथम पक्षमें आत्माके सदृश अनादि भावभूत प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं हो सकती; द्वितीय पक्षमें कारणकी निवृत्तिसे कार्यकी निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। कारण है अज्ञान, वह ज्ञानके बिना निवृत्त नहीं हो सकता । यदि प्रपञ्चके ध्वंससे ज्ञानोत्पत्ति, ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति और उससे प्रपञ्चका ध्वंस, ऐसा मानो, तो अन्योन्याश्रय ही होगा । और यह भी शङ्का है कि निखिल प्रपञ्चका ध्वंस ज्ञानका कारण है ? किंवा प्रपञ्चके एकदेशका ध्वंस ज्ञानका कारण है ? प्रथम पक्षमें ज्ञानके बिना केवल कर्मविधियोंसे सम्पूर्ण प्रपञ्चका ध्वंस असंभव है । हां, ईश्वर निखिलप्रपञ्चका ध्वंस करते हैं, किन्तु वे ज्ञानविधिके नियोज्य—अधिकारी—नहीं हैं । एकदेशपक्षमें भी यदि यत्किञ्चित् एकदेश अभिप्रेत हो, तो प्रपञ्चका एकदेश घट भी है, अतः उसका ध्वंस भी ज्ञानका कारण होगा । परन्तु घटके फोड़नेमात्रसे ज्ञान नहीं होता ।

**अथ प्रपञ्चनाशेन नाश्यते भेदकारणम् ।**
**नैवं न कार्यनाशेन कारणं नश्यति क्वचित् ॥ ७२ ॥**

यदि एकदेशसे आध्यात्मिक शरीर, इन्द्रिय आदि अभीष्ट हों, तो स्वप्नावस्थामें इन्द्रिय आदिका लय स्वाभाविक होनेसे शास्त्रसे विहित पुरुषके व्यापारकी अपेक्षा नहीं होगी, क्योंकि जो स्वतः उत्पन्न होता है, वह शास्त्रविधिका विषय नहीं होता। यदि कहो कि स्वप्नदशामें इन्द्रिय आदिका लय तो अवश्य होता है, किन्तु जागनेपर फिर इन्द्रिय आदि देखे जाते हैं, इसलिए उस अवस्थामें उनका लय आत्यन्तिक नहीं है। ध्वस्तका पुनः अनुत्पाद ही आत्यन्तिक लय कहा जाता है, अतः आत्यन्तिक लयकी सिद्धिके लिए उसको विधिका विषय मानते हैं?

अच्छा तो यह कहिए कि स्वप्नसे पहले जो इन्द्रियादि थे, वे ही जागनेपर फिर देख पड़ते हैं? या तज्जातीय?

यदि वे ही, तो जो स्वप्नावस्थामें थे वे ही ये हैं, ऐसा अवश्य मानना होगा। अब यह बतलाइए कि क्या अभिव्यक्तरूपसे वे थे या अनभिव्यक्तरूपसे? प्रथम पक्षमें स्वापकी व्याहति और जाग्रदवस्थाकी आपत्ति होगी। यदि द्वितीय पक्ष कहिए तो अनभिव्यक्तरूपसे शरीर, इन्द्रिय आदि जैसे स्वप्नावस्थामें रहते हैं, वैसे ही ज्ञानविधिके विषयभूत शरीर आदिके लयमें भी अनभिव्यक्तरूपसे शरीर आदि रहेंगे ही, अतः शरीर, इन्द्रिय आदिके उच्छेदमें ही शङ्का होनेसे मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह कहिए कि स्वप्नावस्थामें शरीर आदिके हेतुका लय नहीं होता, इसलिए फिर उत्पत्ति हो जाती है और ज्ञानके हेतु प्रपञ्चके लयमें शरीर आदिके हेतुका लय होनेसे फिर उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, तो इस कथनमें प्रमाणाभावसे विश्वास ही नहीं हो सकता। द्वितीय पक्षमें शरीर, इन्द्रिय आदिके नाशका हेतु प्रपञ्चनाश है या ज्ञाननियोग? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि कार्यनाश कारणका नाशक नहीं होता, इसलिए प्रपञ्चनाश शरीर आदि हेतुका नाशक नहीं हो सकता, द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञाननियोग शरीर आदिके हेतुका नाशक नहीं है, क्योंकि ज्ञाननियोग प्रपञ्चलय द्वारा अज्ञानका निवर्तक है। इसलिए शरीरादिके हेतु अज्ञानकी निवृत्ति मानोगे, तो यह भी नहीं होता; क्योंकि अज्ञानके नाशके लिए वास्तविक ज्ञान ही अपेक्षित होता है, दूसरा नहीं, इसलिए प्रपञ्चका लय निष्फल है, अतः वह विधिका विषय नहीं हो सकता ॥७१॥

उक्त अर्थको ही अग्रिम श्लोकोंसे कहते हैं—

प्रपञ्चके नाशसे भेदके कारण अर्थात् प्रपञ्चके उपादान अज्ञानका नाश

कारणं किमविद्या स्याद्वस्तु वा तत्त्वबोधतः ।
अविद्यानाशनं तत्र प्रपञ्चविलयोऽफलः ॥ ७३ ॥
वास्तवोऽयं प्रपञ्चश्चेत्स विलाप्यो न केनचित् ।
अन्यथा स्वात्मतत्त्वस्य विलयो नैव वार्यते ॥ ७४ ॥
किञ्च कृत्स्नस्य विलयः कर्तुं शक्यो न जन्मभिः ।
लयस्तु जायते स्वापे स्वत एव न शास्त्रतः ॥ ७५ ॥
किञ्च भावी न चोच्छेद्यो भूतोऽप्युपरतः स्वतः ।
प्रपञ्चो वर्त्तमानस्तु कार्यत्वान्नश्यति स्वतः ॥ ७६ ॥

होता है, यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यका नाश कारणका नाशक नहीं होता, किन्तु कारणका नाश कार्यका नाशक होता है ॥ ७२ ॥

विकल्पपूर्वक कारणकी जिज्ञासा करते हैं—'**कारणम्**' इत्यादिसे ।

प्रपञ्चकी कारण अविद्या है अथवा उससे भिन्न दूसरा पदार्थ ? प्रथम पक्षमें तत्त्व-ज्ञान ही अविद्याका नाशक हो सकता है, दूसरा नहीं, क्योंकि अज्ञानका विरोध ज्ञानके साथ है, पदार्थान्तरके साथ नहीं है, अतः पूर्वोक्त रीतिसे प्रपञ्चविलय निष्फल है, इसलिए वह विधिका विषय नहीं हो सकता ॥ ७३ ॥

यदि अविद्यासे अतिरिक्त पारमार्थिक कोई कारण है, तो प्रपञ्चका विलय हो ही नहीं सकता, इसे कहते हैं—'**वास्तवोऽयम्**' इत्यादिसे ।

यदि प्रपञ्च अविद्याहेतुक नहीं है, किन्तु पारमार्थिकहेतुक है, तो प्रपञ्च भी आत्माके समान पारमार्थिक ही होगा, अतः आत्माके समान वह निवृत्त ही नहीं हो सकता। यदि पारमार्थिककी भी निवृत्ति मानोगे, तो अपनी आत्माकी निवृत्तिका वारण कौन करेगा ? और प्रपञ्चकी तरह यदि आत्माकी निवृत्ति होगी, तो शून्यवादकी आपत्ति हो जायगी तथा आत्माके नित्यत्व आदिकी बोधक श्रुतिके साथ विरोध भी होगा ॥ ७४ ॥

सम्पूर्ण प्रपञ्चका विलय अनेक जन्मोंसे भी साध्य नहीं है, इसे कहते हैं—'**किञ्च**' इत्यादिसे ।

अनेकों जन्म होनेपर भी संपूर्ण प्रपञ्चका विलय नहीं हो सकता है। और एकदेश शरीरादिका लय तो शास्त्रके बिना स्वतः ही स्वप्नावस्थामें होता है, अतएव वह शास्त्रविधिका विषय नहीं है ॥ ७५ ॥

'**किञ्च भावी**' इत्यादि। भावी, भूत तथा वर्तमान प्रपञ्चका ध्वंस ज्ञाननियोगका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि भावी तो प्राप्त ही नहीं है, अनुत्पन्नका ध्वंस असम्भव

किञ्च भेदलयेनैव सर्वानर्थप्रहाणतः ।
पुरुषार्थस्य संसिद्धेर्विद्या नैष्फल्यमापयेत् ।। ७७ ।।
अत ऐकात्म्ययाथात्म्यज्ञानादज्ञानहानतः ।
सिद्धे पुमर्थे विलयकल्पना निष्प्रयोजना ।। ७८ ।।
इष्टसाधनता बोध्या विधिभिः सकलैरपि ।
अनिष्टसाधनत्वं तु निषेधैरिति हि स्थितिः ।। ७९ ।।

ही है और भूत तो निवृत्त हो ही चुका है, अतः निवृत्तकी निवृत्ति क्या होगी ? वर्तमान प्रपञ्च तो कार्य ही है, अतः भूत प्रपञ्चकी निवृत्तिके समान नियोगके बिना भी वह निवृत्त हो ही जायगा, फिर उसमें नियोग मानना व्यर्थ ही है ॥७६॥

'**किञ्च भेद०**' इत्यादि । कर्मविधि यदि प्रपंच-ध्वंसपरक हो, तो यह भी दोष होगा कि प्रपंचके ध्वंससे ही मोक्ष हो जायगा, फिर अध्यात्मविद्याकी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् फलान्तरके अभावसे विद्या ही व्यर्थ हो जायगी ॥७७॥

'**अत ऐका०**' इत्यादि । यदि ऐकात्म्यके ज्ञानसे अज्ञानका नाश मानें, तो विद्या सफल होगी और अज्ञानका नाश होनेपर सर्वानर्थकी निवृत्ति होगी और इसीसे अनौपाधिक आत्माका लाभ होनेपर तो प्रपंचका ध्वंस निष्फल है एवं पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोषसे भी प्रपंचका ध्वंस ज्ञानका कारण नहीं हो सकता ॥ ७८ ॥

'**इष्टसाधनता**' इत्यादि ।

शङ्का—यदि कर्मविधियोंका भेदलयमें तात्पर्य नहीं है, तो उनका तात्पर्य कहाँ है ?

समाधान—सब कर्म विधियोंका इष्टसाधनत्वमें तात्पर्य है और निषेधोंका अनिष्टसाधनत्वमें तात्पर्य है; यह शास्त्रका सिद्धान्त है; अतएव कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें एकवाक्यता नहीं है, कारण कि स्व-स्ववाक्योपात्त फलके साधक होनेसे दोनों वाक्य सार्थक हैं, अतः परस्पर अपेक्षा भी नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष वाक्योंकी एकवाक्यता सर्वानुभवविरुद्ध है । एकवाक्यता अङ्ग और प्रधान वाक्योंमें होती है । अङ्ग वाक्योंको फलकी आकांक्षा होती है और प्रधान वाक्योंको इतिकर्तव्यताकी आकांक्षा होती है । उनके परस्पर साकांक्ष होनेसे दर्शपूर्णमासमें अधिकृत पुरुष ही प्रयाजादिका अधिकारी होता है, 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इन स्वतन्त्र वाक्योंके समान स्वतन्त्र अधिकारी नहीं होता है । और यह भी दोष है कि विधि और निषेध वाक्योंको नामरूपकर्मात्मक प्रपञ्चके अभावपरक माननेपर 'तत्त्वमसि' यह वाक्य भी तो वेद ही है, अतः इसे भी प्रपञ्चाभावपरक मानना ही होगा, फिर श्रवणादि

सोपानपङ्क्तिगत्येव हर्म्यपृष्ठाधिरोहणम् ।
अशेषकर्मक्रमतोऽधिकारं केचिदूचिरे ॥ ८० ॥
संध्यावन्दनमारभ्य क्रमानुष्ठितकर्मभिः ।
सहस्रवर्षसत्रान्तैर्ज्ञानितामधिरोहति ॥ ८१ ॥
यथैव नगराध्वस्थग्रामगत्युपदेशनम् ।
नगराध्वोपदेशस्य शेषत्वं प्रतिपद्यते ॥ ८२ ॥
तथैव मोक्षमार्गस्थस्वर्गादिगतिभाषणम् ।
मोक्षमार्गोपदेशस्य शेषत्वं किं न गच्छति ? ॥ ८३ ॥

विधायक वाक्य ही नहीं रहेगा, अविहितका अनुष्ठान नहीं होता है, अतः स्वर्गकी तरह अपवर्ग भी आकस्मिक हो जायगा। हो जाय, क्या दोष है ? शास्त्रानर्थक्यकी आपत्तिरूप महा दोष है ॥ ७९ ॥

**'सोपान'** इत्यादि । जैसे कोठेपर चढ़नेवाला पुरुष क्रमसे सीढ़ियोंपर चढ़ता है, वैसे ही मुमुक्षु भी स्वर्ग आदि द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है, इसलिए स्वर्गादि-हेतुक सकल कर्मोंके अनुष्ठानके अनन्तर पुरुष ज्ञानका अधिकारी होता है, यह भी मतान्तर है, [ परन्तु क्रमिक सोपानगमन प्रासादके पृष्ठारोहणका शेष है, इसमें क्या प्रमाण है ? ] ॥८०॥

**'सन्ध्या'** इत्यादि । संध्यावन्दनसे लेकर हजार वर्षमें होनेवाले सत्र पर्यन्त विहित कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा ज्ञानमें आरूढ होता है ॥ ८१ ॥

**'यथैव'** इत्यादि । जिस तरह शहर जानेका मार्ग बतलाया जाता है कि यह मार्ग अमुक ग्राम जायगा, वहांसे अमुक ग्राम जायगा, वहांसे अमुक नगर जायगा, इसी मार्गसे सीधे चले जाइये, जहां कई तरफ मार्ग गया हो, वहां यदि अपने गन्तव्य ग्राममें जानेवाले मार्गको पूछकर उसीसे जाता है, तो अभीष्ट नगरमें पहुंच जाता है उसी तरह स्वर्ग, चन्द्रलोक, सूर्यलोक, ब्रह्मलोक होकर मोक्ष पदको प्राप्त हो जाता है। नगरगतिका शेष जैसे ग्रामगति है, वैसे ही मोक्षकी प्राप्तिका शेष स्वर्गादिगमन भी है ॥ ८२ ॥

**'तथैव मोक्ष'** इत्यादि । दार्ष्टान्तिकमें कहते हैं—उसी तरह स्वर्गादिगमन भी मोक्षमार्गका शेष क्यों नहीं होगा ? ॥ ८३ ॥

शङ्का—यदि कहिये कि नगरमार्गस्थ ग्रामगति तो शेष इसलिए है कि ग्राम-गति फलविशेष न होनेसे इष्ट नहीं है, किन्तु फलविशेषके लाभके लिए नगर-

यद्वोपच्छन्दनार्थानि स्वर्गादीनि विमुक्तये ।
नगराप्त्यै तदध्वस्थग्रामादिगुणगीरिव ॥ ८४ ॥
एवं च सति दृष्टेन द्वारेणैवोपकारिणः ।
आत्मज्ञानाधिकारस्य विधयः सकला अपि ॥ ८५ ॥
मैवं ग्रामगतेः पुंसोऽनर्थ्यत्वादस्तु शेषता ।
स्वयमेव पुमर्थत्वात् स्वर्गादेः शेषता कथम् ? ॥ ८६ ॥

प्राप्ति ही अभीष्ट है, इसलिए ग्रामगति शेष हो सकती है, स्वर्गादिप्राप्ति तो स्वयं पुरुषार्थ होनेसे स्वतः इष्ट है, इसलिए वह मोक्षशेष नहीं हो सकती ।

समाधान—स्वर्गादि फल विवक्षित नहीं हैं, किन्तु केवल प्ररोचनार्थ हैं, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'यद्वोपच्छन्द०' इत्यादिसे ।

जैसे नगरकी प्राप्तिके लिए ग्रामप्राप्तिके गुणका कीर्तन किया जाता है, वास्तविक ग्रामप्राप्तिके गुण विवक्षित नहीं हैं, वैसे ही स्वर्गादि फल विवक्षित नहीं हैं, केवल मोक्षप्राप्तिके लिए कर्मविधिवाक्योंमें प्ररोचनार्थ फलका कीर्तन है अर्थात् जो पुरुष सांसारिक सुखोंसे विलक्षण मोक्ष फलकी कामना नहीं करता, उस पुरुषकी मोक्षमें प्रवृत्ति होनेके लिए स्वर्गादिफलके बोधक वाक्य प्ररोचनार्थ हैं, उनका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है । अब यह शङ्का होती है कि वस्तुतः उक्त कर्मोंका स्वर्गादि फल है या नहीं? यदि है तो वाक्य प्ररोचनार्थ नहीं हो सकता, अतः उसको स्वार्थपरक ही मानना चहिए। यदि नहीं है, तो शशविषाणके समान प्ररोचनार्थ भी नहीं हो सकता, इसका उत्तर यह है कि जैसे बालकको नगर ले जानेकी इच्छासे नगरमार्गस्थ ग्राममें अन्न, पान आदि सुलभ भोगकी सामग्रीका आरोप करके वर्णन किया जाता है, ग्रामप्राप्ति होनेपर उससे भी विलक्षण और उपादेय नगरप्राप्तिका फल वर्णन किया जाता है, जिससे ग्रामप्राप्तिके फलमें वैराग्य हो जाय और नगरप्राप्ति हो, वैसे ही सांसारिक फलके वैराग्यके लिए स्वर्गादि विशेष फलका गुणगान कर पश्चाद् उसमें भी वैराग्य होनेके लिए वास्तविक मोक्ष फलका वर्णन किया जाता है, अतः कर्मविधियोंका ज्ञाननियोग द्वारा मोक्षमें ही पर्य्यवसान है ॥ ८४ ॥

'एवं च' इत्यादि । इस तरह सब कर्मविधियाँ दृष्ट द्वारा ही ज्ञानाधिकारकी उपकारक हैं, कर्मफलके भोगके अनन्तर फिर कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होगी ॥ ८५ ॥

'मैवं ग्राम०' इत्यादि । ग्रामगति पुरुषको इष्ट नहीं है, क्योंकि उसमें कुछ

दृष्टद्वारं च रागादिप्रवृत्तिप्रतिबन्धनम् ।
यदि तर्हि निषेधेषु द्वारं भवतु तत्तथा ॥ ८९ ॥
विधयस्तु निरुन्धन्ति न रागं रागहेतवः ।
वर्धयन्ते प्रत्युताऽमी रागं भोगप्रधानतः ॥ ९० ॥
अशेषकर्मानुष्ठानमल्पायुषि न सम्भवेत् ।
सोपानपङ्क्तिन्यायोऽतो मन्दबुद्धिप्रकल्पितः ॥ ९१ ॥

पूर्वमें यह जो कहा था कि प्रवृत्तिके प्रतिबन्ध द्वारा कर्मविधि ज्ञानमें उपकारक है, वह ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—'दृष्टद्वारम्' इत्यादिसे ।

विषयानुरागसे होनेवाली स्वाभाविकप्रवृत्तिके प्रतिबन्ध द्वारा कर्मविधि ज्ञानमें उपकारक है, यह जो कहा था वह ठीक नहीं है, क्योंकि निषेधविधि रागाधीन प्रवृत्तिकी निवृत्ति द्वारा ज्ञाननियोगकी उपकारक हो सकती है, कर्मविधि तो, प्रवर्त्तक ही है, चाहे स्वाभाविक रागाधीन प्रवृत्ति हो या स्वर्गादिरागवश प्रवृत्ति हो, प्रवृत्तिमात्र ज्ञानका प्रतिकूल है । हाँ निषेधविधियां कर्ममें प्रेरक नहीं हैं, इसलिए वे ज्ञानोपकारक हो भी सकती हैं ॥ ८९ ॥

'विधयस्तु' इत्यादि । निषेधविधिके सदृश कर्मविधि भी रागादिमूलक स्वाभाविक प्रवृत्तिके वारण द्वारा ज्ञाननियोगकी शेष हो सकती है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि परिसंख्या, नियम और अपूर्व इस भेदसे विधि तीन प्रकारकी होती है । उभयप्राप्तिस्थलमें परिसंख्या विधि होती है, जैसे 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' । उसकी तरह कर्मविधिमें उभय-प्राप्ति नहीं है, अतः अन्यनिवृत्ति फलतः नहीं सिद्ध हो सकती । पाक्षिकप्राप्तिमें नियमविधि है, जैसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' । इसकी तरह प्रकृतमें नियमविधि भी नहीं है, क्योंकि पाक्षिक-प्राप्ति नहीं है, इसलिए अन्यनिवर्तक नहीं है, अपूर्वविधि तो अत्यन्त अप्राप्त अर्थकी बोधक होती है । लिखा है—

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥'

अपूर्वविधिमें केवल अप्राप्त अर्थका विधान होता है, इतरकी निवृत्ति नहीं होती । इस परिस्थितिमें रागहेतु विधि रागकी निवृत्ति नहीं करती, किन्तु भोगके प्राधान्यसे रागको बढ़ाती ही है, भोगासक्तिवश तत्तत् श्रुतिमें उक्त फलोद्देशसे ही कर्ममें प्रवृत्ति होती है, इसलिए उक्त विधियाँ रागवर्द्धक हैं । उनसे निवृत्ति होना असंभव है ॥९०॥

'अशेषकर्मा' इत्यादि । थोड़ी आयुमें मनुष्य सकल विहित कर्मोंका

अपरे मन्वते मोक्षे ज्ञानकर्मसमुच्चयः ।
प्रधानगुणभावेन त्रिविधोऽसौ समुच्चयः ॥ ९२ ॥
ज्ञानं प्रधानं केषाञ्चिदन्येषां कर्ममुख्यता ।
समप्राधान्यमुभयोरपरेषां मते स्थितम् ॥ ९३ ॥

अनुष्ठान नहीं कर सकता । अतएव सोपानपङ्क्तिन्याय मन्दबुद्धियों द्वारा कल्पित है, प्रामाणिक नहीं है । अन्ततः सौ वर्षकी मनुष्योंकी परम आयु है, क्योंकि 'शतायुर्वै पुरुषः' ऐसी श्रुति है । और एक सत्र हजार वर्षमें सम्पन्न होता है, अतः सौ वर्ष तक जीनेवाला भी सब कर्मोंको नहीं कर सकता । इसलिए उक्त न्याय मन्दबुद्धि पुरुषों द्वारा कल्पित है ॥ ९१ ॥

समुच्चयपक्षमें दोष देनेके लिए समुच्चयका अवान्तर भेद कहते हैं—'अपरे' इत्यादिसे ।

कोई-कोई आचार्य ज्ञानकर्मसमुच्चयको मोक्षका कारण मानते हैं और वह समुच्चय गुणप्रधानभावसे तीन प्रकारका होता है ॥ ९२ ॥

समुच्चयके साफ-साफ ज्ञानके लिए वह तीन प्रकारका होता है, यह कहते हैं—'ज्ञानं प्रधानम्' इत्यादिसे ।

कोई लोग कहते हैं कि विज्ञान—आत्मैकत्वविज्ञान—प्रधान है और कर्म गुण है । दूसरोंका कहना है कि कर्म ही प्रधान है और ज्ञान गुण है । तीसरा मत यह है कि ज्ञान और कर्म दोनों समप्रधान हैं, गुण कोई नहीं है । इस त्रिविध समुच्चयमें कर्मकाण्ड प्रमाण है अथवा ज्ञानकाण्ड ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, कारण कि केवल कर्मविधियोंका स्वर्गादिके साधनत्वमें तात्पर्य है । द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उपनिषत्का तात्पर्य केवल ऐकात्म्यज्ञानमें है—उपक्रमोपसंहारसे अपरोक्षैकरस ब्रह्ममें ही उनके तात्पर्यका पर्यवसान होता है, इसलिए अप्रामाणिक होनेसे समुच्चय अयुक्त है । तीनों समुच्चयोंमें यह दोष समान है । और विशेष दोष यह है कि दर्शपूर्णमास प्रकरणमें 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वाऽच्युतो भवति' इत्यादि वाक्यसे आग्नेय आदि कर्म दर्श आदि कालद्वयसंयुक्त पठित हैं ।

'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते' यह भी श्रुत है । वहाँपर यह संशय होता है कि यह विद्वद्वाक्य प्रकृत आग्नेयादि समुदायका अनुवादक है या अपूर्व कर्मान्तरका विधायक है ? 'समिधो यजति'

इत्यादिकी तरह अभ्याससे कर्मान्तरकी विधि है, ऐसा पूर्वपक्ष कर द्रव्य और देवता ये दोनों यागके स्वरूप हैं, प्रकृतमें यागके स्वरूपका भेदक द्रव्य और देवताका भेद नहीं है, अतः पूर्व वाक्यसे विहित कर्मोंका अनुवादक है, यह सिद्धान्त किया गया है। जैसा 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' 'य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते' इन वाक्योंमें पठित दो 'यजति' पदोंद्वारा समुदाया-नुवादसे 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' इत्यादि अधिकारी वाक्यमें द्वित्वकी उपपत्ति होती है, अतएव आग्नेयादिका वाक्यके एकाधिकारिक होनेसे अपूर्वमें समप्रधान होनेसे समुच्चय होता है, वैसे ही ज्ञानकर्मका समुच्चय नहीं हो सकता।

एवं आग्नेय आदि यागमें प्रत्येकमें फलका सम्बन्ध है अथवा समुदायमें ? यह सन्देह होनेपर परस्पर निराकाङ्क्ष उत्पत्तिविधिसे ज्ञात प्रधानोंमें पृथक् फलकी आकाङ्क्षा होनेसे तत्समीपमें श्रुत फलका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध होना चाहिए, यह प्राप्त होनेपर सिद्धान्त किया है कि समुदायवाची दर्श-पूर्णमासशब्दसे आग्ने-यादि कहा गया है, इसलिए जिस प्रकार फलका समुदायमें सम्बन्ध है, अर्थात् पृथक्-पृथक् यागका फलके साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यागसमुदायका फलके साथ सम्बन्ध है उसी प्रकार ज्ञान और कर्मका एक फल नहीं है, जिससे कि समुच्चय हो सके। ज्ञानका फल मोक्ष ध्रुव है, और कर्मका फल स्वर्गादि अध्रुव है, अतः यदि साध्य फल एक नहीं है, तो समुच्चयका क्या संभव ? आरुण्य और एकहायनीका गुण और प्रधान भावसे समुच्चय मानकर जैसा क्रयणके साथ समन्वय होता है, वैसा ज्ञान और कर्मका गुण और प्रधान भावसे मोक्षमें समुच्चय नहीं हो सकता, कारण कि ज्योतिष्टोम प्रकरणमें 'अरुणया एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' यह वाक्य श्रुत है। वहांपर आरुण्यका सम्पूर्ण प्रकरणमें सम्बन्ध है या क्रयणमें ही ? यह संशय करके 'अरुणया क्रीणाति' इस वाक्यमें तृतीया विभक्ति श्रुत है, अतः वाक्य द्वारा क्रयका संबन्ध प्रतीत होनेपर भी आरुण्य गुण अमूर्त है, अतः वह साक्षात् क्रियाका साधन नहीं हो सकता, इसलिए वाक्यभेद मानकर प्राकरणिक द्रव्यमात्रके साथ शेषरूपसे सम्बन्ध मानना उचित है, यह पूर्वपक्षकर 'गवा क्रीणाति' यहांपर यद्यपि अमूर्त गोत्व साक्षात् क्रयका साधन नहीं है तो भी क्रयसाधनद्रव्यपरिच्छेद द्वारा उसमें क्रयान्वय हो सकता है, अतः वाक्यभेद भी नहीं होगा। अतः आरुण्य और एकहायनीके परस्पर नियमसे सहित होनेसे अर्थात् गौ अरुणा ही हो, अरुणा गौ ही हो, इस प्रकार नियमबद्ध होनेसे

आरुण्यका गौमें निवेश होता है; आरुण्य गुण—अप्रधान—और गोरूप द्रव्य—प्रधानका जैसे गुण और प्रधान भावसे समुच्चय मानकर क्रयण क्रियामें अन्वय होता है वैसे ही ज्ञान और कर्मका मोक्षरूप एक कार्यमें साधनरूपसे समुच्चय नहीं हो सकता, कारण कि वे दोनों मोक्षमें साधनरूपसे श्रुत नहीं हैं, अतः तीनों प्रकारका समुच्चय नहीं हो सकता।

और यह भी कारण है कि समुच्चय परस्पर उपकार्य और उपकारक भावसे व्याप्त होता है, प्रकृतमें कर्तृत्वादिविभागके आश्रित कर्म और उससे रहित अद्वितीय आत्मज्ञानमें उपकार्योपकारकभाव ही नहीं है, अतः व्यापकीभूत उपकार्य और उपकारके अभावसे समुच्चय ही नहीं हो सकता। विमतं ज्ञानं कर्मसमुच्चयार्हम्, ज्ञानत्वात्, देवतादिज्ञानवत्, इस अनुमानसे भी ज्ञान और कर्मका समुच्चय ठीक नहीं है, कारण कि द्रव्यदेवताका यथार्थ ज्ञान कर्मके अन्तर्गत होनेसे कर्मात्मक ही है, कर्मातिरिक्त नहीं है, इसलिए समुच्चय नहीं हो सकता। यदि यह कहिये कि द्रव्यदेवताज्ञान कर्मान्तर्गत नहीं है, क्योंकि द्रव्यदेवताज्ञानसे हीन पुरुष भी कर्मोंका अनुष्ठान करता है 'तेनोभौ कुरुतः' इत्यादि वचनसे ज्ञान कर्मान्तर्गत नहीं है, अतः समुच्चयमें कोई बाधा नहीं है; तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'विद्वान् यजते' 'ज्ञात्वा कर्मसमारभेत' 'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि' इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे ज्ञात द्रव्य और देवता ही कर्म कहलाते हैं, इसलिए कर्मान्तर्भूत होनेसे ज्ञान कर्मात्मक ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है।

अज्ञातद्रव्यदेवताक कर्मके अनुष्ठानकी निन्दा है, 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं चर्छति गर्तं वा पद्यते' इत्यादि श्रुतियोंमें श्रुत है, अतः द्रव्यदेवताज्ञानके कर्मान्तर्गत होनेसे समुच्चय नहीं बन सकता।

यदि अज्ञातद्रव्यदेवताक कर्मका अनुष्ठान नहीं हो सकता, तो 'तेनोभौ कुरुतः' इस श्रुतिसे अज्ञातद्रव्यदेवताक कर्मके अनुष्ठाका विधान कैसे हुआ ? द्रव्यदेवताके यथार्थज्ञानरूप अङ्गविशेषसे कर्ममें भूयस्त्व होता है और उससे फलभूयस्त्व होता है, क्योंकि 'यदेव विद्यया करोति' यह श्रुति है। जो कर्म द्रव्यदेवताज्ञानपूर्वक किया जाता है, वह वीर्यवत्तर होता है' यहांपर 'तरप्' प्रत्ययके निर्देशसे यह सिद्ध होता है कि देवतादिके ज्ञानके बिना भी कर्मोंका अनुष्ठान होता है, किन्तु फलभूयस्त्व नहीं होता। फलातिशयविशिष्ट कर्ममें अङ्गभूयस्त्व होनेपर भी देवताज्ञानका कर्मके साथ

समुच्चय होनेसे कर्मदेवताज्ञानसमुच्चयका एक फल है; इसलिए दृष्टान्त साध्य-शून्य कैसे है ? यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि देवतादिका ज्ञान कर्माङ्ग है, अतः अङ्गोंका अङ्गीके साथ समुच्चय नहीं हो सकता, जैसे प्रयाजादि दर्शपूर्णमासके अङ्ग हैं, इसलिए अङ्गी दर्शपूर्णमासके साथ प्रयाजादिका समुच्चय नहीं है, प्रयाजादिविशिष्ट दर्शपूर्णमास ही स्वर्गका साधन है। इतिकर्तव्यतासे युक्त याग ही करण होता है, केवल यागकरण नहीं होता। द्रव्यादिज्ञान कर्मशेष होनेपर भी विशिष्टसे फलाधिक्यका साधन है, इसलिए द्रव्यदेवतादिज्ञानका कर्मके साथ समुच्चय नहीं है।

उक्त अनुमानमें सत्प्रतिपक्ष भी है, 'विमतं न कर्मणा समुच्चीयते, तद्विरोधित्वात्, यत् यद्विरोधि न तत् तेन सच्चीयते, यथा प्रकाशः तमसा। ज्ञानका कर्मके साथ समुच्चय नहीं है, क्योंकि ज्ञान कर्मका विरोधी है जिसका जो विरोधी होता है, उसका उसके साथ समुच्चय नहीं होता, जैसे प्रकाशका तमके साथ विरोध है, अतः दोनोंका एक कार्यमें समुच्चय नहीं होता। प्रकृतमें भी वैसा ही समझना चाहिए। प्रकाश स्वकार्यमें तमकी अपेक्षा नहीं करता, ज्ञान तो मोक्षमें कर्मकी अपेक्षा करता है, इससे ज्ञान कर्मका उपमर्दन नहीं कर सकता इस ज्ञानका विषय ब्रह्मात्मैकत्वनामक मोक्ष है, उसमें कर्मकी अपेक्षा कहाँ ? यदि कर्त्ताको आत्मज्ञानका पक्ष मानें, तो सत्प्रतिपक्ष न होनेपर भी सिद्धसाधन अवश्य होगा।

'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इत्यादि श्रुतिसे यागमें शूद्रका अधिकार तो है नहीं, अत एव अनधिकारी शूद्रसे कृत अग्निहोत्रादि कर्म फलहीन हैं, इसलिए अग्निहोत्र आदि फलके उद्देश्यसे ब्राह्मणादिका ज्ञान 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत' इत्यादि वाक्यमें जो दृष्ट है कर्मोपकारक है, उसमें कर्मसमुच्चय कहना ठीक ही है।

ज्ञानका किस कर्मके साथ आप समुच्चय कहते हैं, ज्ञानोत्पत्तिके बाद जो कर्म होंगे उनके साथ समुच्चय है या पूर्वजन्मार्जित कर्मोंके साथ अथवा वर्तमान जन्मके कर्मोंके साथ ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होनेके बाद जात्यादिका बाध होनेसे कर्मोंका अनुष्ठान नहीं हो सकता और अनुष्ठानके न होनेसे भावी कर्म ही नहीं हैं, अतः तत्समुच्चय हो ही नहीं सकता। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अक्रिय आत्मा है, यह निश्चय होनेपर जब आत्मामें वास्तविक क्रिया ही नहीं है, तब कर्मादि भी कहाँसे आवेगा ? आत्माके अपरोक्ष ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर तन्मूलक निखिल कर्तृत्व आदि धर्मकी भी निवृत्ति हो जाती

अन्तरङ्गं यथा वस्तु नित्यप्राप्तं महाफलम् ।
एकरूपं च विज्ञानं कस्तस्याऽन्यसमुच्चयः ॥ ९४ ॥

है । यदि 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' इत्यादि वाक्यसे प्राचीन कर्म ही नहीं हैं, तो उनके साथ समुच्चय कैसे ?

यदि यह कहिये कि अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानका कार्य ही निवृत्त होगा कर्म तो अज्ञानका कार्य नहीं है, अतः कर्मके साथ समुच्चय हो सकता है, तो इसका यह उत्तर है कि रज्जुमें सर्पज्ञान अज्ञान है, क्योंकि जैसे रज्जुसर्प कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है, वही अज्ञान भागनेका कारण है । वास्तविक रज्जुज्ञान होनेपर रज्जुमें सर्पका ज्ञान, रज्जुका अज्ञान और तन्निमित्तक पलायन आदि कर्म निवृत्त हो जाते हैं, यह लोकानुभव सिद्ध है वैसे ही आत्मज्ञान होनेपर आत्माके अज्ञान और तन्मूलक कर्मादिकी निवृत्ति हो जाती है । अज्ञ मनुष्य तत्-तत् फलकी कामनासे तत्-तत् कर्मका अनुष्ठान करता है, इसलिए कर्मका मूल अज्ञान ही है । जिस जन्ममें ज्ञानोत्पत्ति होती है, उसी जन्ममें ज्ञानोत्पत्तिसे पहले जो कर्म किये गये हैं, उनके साथ ज्ञानका समुच्चय है, यह तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, कारण कि लोकमें जैसे रस्सी ही है सर्प नहीं है, यह निश्चय होनेपर विद्वान् सर्पज्ञानकी निवृत्तिसे पहले अर्थात् सर्पज्ञानकी अवस्थामें भय, पलायन आदि कार्य जो हो चुके हैं, उन्हींका अनुताप करता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी अज्ञानके निवृत्त होनेपर इतना समय तक व्यर्थ ही कर्म किया, इस प्रकार उन्हींका परिताप करता है, इसलिए ज्ञानोत्पत्तिसे पहले इस जन्ममें अनुष्ठित कर्मोंके साथ भी ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता । और ज्ञान और कर्मका भी किसी प्रकार समुच्चय नहीं हो सकता । इसमें यह भी युक्ति है कि कर्मका समुच्चय होता यदि आप्त्यादि चतुर्विध कर्मव्याप्यत्व मोक्षमें होता किन्तु मोक्ष अनाधेयातिशय स्वतःसिद्ध ब्रह्मात्मैकत्वरूप है, इससे चतुर्विध कर्मव्यापारका वह विषय नहीं है । फिर समुच्चयकी क्या सम्भावना ? 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' इत्यादि श्रुतिवाक्योंका तात्पर्य क्रमसमुच्चयमें है, सहसमुच्चयमें नहीं, अतः प्रमाणाभावसे ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं बन सकता ॥ ९३ ॥

'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलवत्' इस न्यायसे प्रबल ज्ञान और दुर्बल कर्मका समुच्चय नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'अन्तरङ्गम्' इत्यादिसे ।

अन्तरङ्गत्व, यथावस्तुत्व, नित्यप्राप्तत्व, महाफलत्व और एकरूपत्व हेतुके होनेसे ज्ञान बलवान् है, यह क्रमसे कहेंगे। ज्ञान अन्तरङ्ग है, और कर्म बहिरङ्ग है, क्योंकि चित्तशुद्धि द्वारा कर्मका मोक्षमें उपयोग कह चुके हैं, और प्रबल और दुर्बलका समुच्चय नहीं होता, किन्तु समप्रधानका समुच्चय होता है। अतः प्रधान ज्ञानका अन्यके साथ समुच्चय क्या है ? कुछ नहीं है। कार्यवश अन्तरङ्गको भी बहिरङ्गकी अपेक्षा होती है, जैसे राजाका अन्तरङ्ग सचिव होता है, किन्तु सचिवको पालकीके उद्वहन कर्मके लिए वाहककी अपेक्षा होती है वैसे ही अन्तरङ्ग ज्ञानको बहिरङ्ग कर्मकी अपेक्षा हो सकती है। नहीं, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ज्ञानके समय कर्महेतु अज्ञानका नाश होनेसे कर्म रहा ही नहीं, फिर समुच्चय कैसा ? शिविका-वाहक अन्तरङ्ग सचिवके समयमें रहते हैं, अतः उक्त कार्यके लिए अन्तरङ्ग बहिरङ्गकी अपेक्षा करता है। प्रकृतमें अन्तरङ्गके समय बहिरङ्ग है ही नहीं, इसलिए समुच्चय नहीं बन सकता। कर्म मोक्षोपाय होनेके लिए ज्ञानकी अपेक्षा करता है, यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मका चित्तशुद्धिमें विनियोग कह चुके हैं, इसलिए बहिरङ्गको भी अन्तरङ्गकी अपेक्षा नहीं कह सकते। ज्ञान भी पुरुष-संस्कारक है वैदिक उपाय होनेसे, कर्मके समान, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'विमतम् अज्ञाननिवर्त्तकम्, तत्त्वज्ञानत्वात्, रज्जुज्ञानवत्' इस अनुमानसे आत्मयथार्थज्ञान अज्ञाननिवर्तक ही है पुरुषसंस्कारक नहीं है। अच्छा तो कर्म अज्ञाननिवर्तकम्, पुरुषार्थोपायत्वात्, ज्ञानवत्, इस अनुमानसे कर्म भी अज्ञानका निवर्तक है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें तत्त्वज्ञानत्व उपाधि है अतः यह अनुमान आभास होनेसे साधक नहीं है। और भी 'कर्म न अज्ञान-निवर्त्तकम्, अयथावस्त्वनुरोधित्वात्, रूप्यधीवत्' यह विपरीत सदनुमान है। अच्छा तो केवल कर्म अज्ञानका निवर्तक नहीं है, किन्तु ज्ञानसमुच्चित अज्ञानका निवर्तक है, यदि ऐसा माना जाय, तो क्या आपत्ति है ? तत्त्वज्ञानके समय कर्म रहता ही नहीं है, तो ज्ञानके साथ समुच्चय कैसा ? क्योंकि अतीतका वर्तमानके साथ समुच्चय नहीं हो सकता। ज्ञानको कर्मनिवर्तक नहीं मानते, इसलिए ज्ञानके समय कर्म क्यों नहीं रहेगा ? साक्षात् कर्मका निवर्त्तक ज्ञान नहीं है, किन्तु कर्महेतु अज्ञानका निवर्तक ज्ञान है, इसलिए कारणनिवृत्ति द्वारा कर्मरूप कार्यका भी निवर्तक है, निवर्त्य और निवर्तकका समुच्चय दृष्ट नहीं है ॥९४॥

अन्तरङ्गं हि विज्ञानं प्रत्यङ्मात्रैकसंश्रयात् ।
बहिरङ्गं तु कर्म स्याद् बाह्यद्रव्याश्रयत्वतः ॥ ९५ ॥
सत्यन्तरङ्गे विज्ञाने बहिरङ्गं न सिध्यति ।
अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ॥ ९६ ॥
यथावस्त्वात्मविज्ञानं मोहमात्राश्रयाः क्रियाः ।
सम्यग्ज्ञाने कुतः कर्म कर्महेतूपमर्दनात् ॥ ९७ ॥

कर्मके सदृश ज्ञान भी अज्ञानसे जन्य है, इसलिए दोनों समानयोगक्षेम हैं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अन्तरङ्गम्' इत्यादिसे ।

ज्ञान आत्मस्वभाव चित्प्रकाश है, अतएव नित्य होनेसे कर्मके समान नहीं है । सब देश तथा कालमें आत्मा स्वरूपसे रहता है, अतः तदात्मक चित्प्रकाश नित्य है । नित्य भी चिद्रूपज्ञान वाक्यजन्य ज्ञानकी जनक सामग्रीसे सहित होकर ही सहेतु बन्धका निवर्तक होता है, और ज्ञानकी तरह कर्म भी नित्य ही है, अन्यथा संसार सादि हो जायगा । नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनुष्ठेयतया विहित कर्म नित्य नहीं हो सकता । कर्मके अनित्य होनेपर भी कर्मप्रवाहमूल अज्ञानके अनादि होनेसे प्रवाहरूपसे कर्म तथा संसारके अनादि होनेमें कोई बाधा नहीं है । नाना कारकके अधीन कर्म है, अतएव अनित्य है । ज्ञान नित्य और कर्म अनित्य है, निष्प्रपञ्चब्रह्माकारबुद्धिवृत्तिविशेषसे सहित दृगात्मा, स्वविपरीतावभासका निमित्त जो अज्ञान है, कार्यसहित उसका नाश कर देता है, इसलिए विलक्षणस्वभाववाले ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं हो सकता ॥ ९५ ॥

आत्ममात्रके आश्रयणसे ज्ञान अन्तरंग है और बाह्य द्रव्यादिका आश्रित कर्म बहिरंग है यह कहते हैं—'सत्यन्तरङ्गे' इत्यादिसे ।

अन्तरंग ज्ञान होनेपर बहिरङ्ग द्रव्यायाससाध्य कर्म कौन करेगा, पासके मन्दारवृक्ष पर यदि मधु मिल जाय, तो उसके लानेके लिए परिश्रमसाध्य पर्वतका आरोहण कौन करेगा ? ॥ ९६ ॥

'यथावस्त्वात्म०' इत्यादि । उक्त रीतिसे ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं हो सकता, क्योंकि यथार्थवस्तुविषयक ज्ञान है, और कर्म अज्ञानमात्राश्रय है । समीचीन अद्वितीय आत्मज्ञान होनेपर कर्म करना तो दूर रहा कर्मकी

नित्यप्राप्तं च विज्ञानं प्रतीचः सन्निधेः सदा ।
कर्माऽनित्यं पृथग्रूपं नित्यं चाऽनित्यबाधकम् ॥ ९८ ॥
क्षयी कर्मार्जितो लोकः स्वराड् ब्रह्मावबोधतः ।
लब्धे त्रैलोक्यराज्ये तु भिक्षामाद्रियते कथम् ॥ ९९ ॥

स्थिति भी नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मके हेतु अज्ञानके नाश होनेपर कर्म नहीं हो सकता ॥९७॥

**'नित्यप्राप्तम्'** इत्यादि । आत्मा सब देश और कालमें स्वरूपसे रहता है, अतएव नित्यप्राप्त है । और कर्म पृथक्-पृथक् तथा अनित्य है, नित्य ज्ञान अनित्य कर्मका बाधक है ॥ ९८ ॥

**'क्षयी कर्मार्जितो'** इत्यादि । कर्मसाध्य लोक क्षयी है । और ब्रह्म ज्ञान-मात्र स्वरूप होनेसे नित्य तथा स्वानन्दतुष्ट है । त्रैलोक्यका राज्य मिलनेपर भिक्षामें कौन कैसे आदर करेगा ? विरुद्धफलक ज्ञान और कर्मके समुच्चयका चित्रायाग और दर्शपूर्णमास यागके समुच्चयकी तरह सम्भव नहीं है ।

ज्ञान और कर्मके प्रधानरूपसे और समप्रधानरूपसे समुच्चयका विचार करके यह विचार करते हैं कि अब कर्म प्रधान है और ज्ञान गुण है, इस प्रकारके समुच्चयमें प्रकरण प्रमाण है या श्रुत्यादि ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म-काण्ड और ज्ञानकाण्डके भेदसे प्रकरण भिन्न है, अतः कर्मकाण्डप्रकरणस्थ कर्मको भिन्नप्रकरणस्थ ज्ञानकी अपेक्षा ही नहीं रहती ? द्वितीय पक्ष भी समुचित नहीं है, क्योंकि कर्म भिन्नप्रकरणस्थ ज्ञानकी अपेक्षा ही नहीं करता । ऐसी दशामें सामान्य सम्बन्धके सिद्ध न होनेसे विशेष सम्बन्ध भी श्रुत्यादिसे सिद्ध नहीं हो सकता ।

असलमें उपकार्य्यको उपकारककी अपेक्षा होती है । प्रकृतमें विरुद्धफलक ज्ञान और कर्मोंमें उपकार्य और उपकारकभाव ही नहीं है, फिर उनमें अपेक्षा कैसे हो ? अतएव समुच्चय भी नहीं है । ज्ञान स्वन्तन्त्र है, गुण नहीं । ज्ञान भी स्वफल मोक्षके प्रति गुणभूत ही है स्वतन्त्र नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञानका फल मोक्ष ज्ञानस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, इसलिए मोक्षके प्रति भी वह गुणभूत नहीं है ।

शङ्का—जैसे कर्म कर्तृपरतन्त्र है, वैसे ही ज्ञान भी ज्ञातृपरतन्त्र है, तो फिर वह स्वतन्त्र कैसे ?

एकरूपस्य मोक्षस्य भिन्नरूपं न साधनम् ।
एकरूपस्य मोक्षस्य त्वेकरूपं हि साधनम् ॥ १०१ ॥
ऐकात्म्यवस्तुयाथात्म्यबोधे जात्यादिबाधनात् ।
न कर्म कुरुते किन्तु कृतं प्रत्युत शोचति ॥ १०२ ॥
अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ।
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥ १०३ ॥
एवं च ज्ञानिनः कर्मासम्भवाज्ज्ञानकर्मणोः ।
न सम्भवति मोक्षार्थस्त्रिविधोऽपि समुच्चयः ॥ १०४ ॥

---

ठीक है, मोक्षका साधन ज्ञान है, इसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष नित्य होनेपर भी अज्ञानसे आवृत है, अतएव आवरक अज्ञानकी निवृत्तिका साधन ज्ञान है, इसलिए वह मोक्षका साधन कहलाता है, वास्तविक साधन नहीं है ॥ १०० ॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करनेके लिए फिर कहते हैं—'एकरूपस्य' इत्यादि ।

एकरूप मोक्षका भिन्नस्वरूप कर्म साधन नहीं है, किन्तु एकरूप आत्मज्ञान ही साधन है ॥१०१॥

'ऐकात्म्यवस्तु०' इत्यादि। आत्मज्ञानके अनन्तर होनेवाले कर्मोंका समुच्चय भी नहीं हो सकता, कारण कि आत्माका यथार्थज्ञान होनेपर अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, फिर अज्ञानसे कल्पित ब्राह्मणत्व आदि जातिके अभिमानकी निवृत्ति हो जानेसे कर्मका अधिकार ही लुप्त हो जाता है, अतः यदि कर्म ही न करेगा, तो समुच्चय किसका होगा ? अतीत कर्म तो हैं नहीं, अतः उनके साथ ज्ञानके समुच्चयकी तो शङ्का भी नहीं हो सकती । इस जन्ममें ज्ञानोत्पत्तिसे पहले जो कर्म हो चुके हैं, उनके विषयमें परिताप ही करता है कि इतने दिनों तक व्यर्थ ही कर्म किया इत्यादि ॥ १०२ ॥

'अयथावस्तु०' इत्यादि । अयथार्थज्ञान—सर्पाभासज्ञान—भय, पलायन आदिमें हेतु है । रज्जुका यथार्थ ज्ञान होनेसे सर्पाभासबुद्धि निवृत्त हो जाती है, तब आभाससमयमें जो भय, पलायन आदि हुए हैं उनके लिए परिताप ही करता है कि मैं व्यर्थ ही भयभीत हुआ, इत्यादि ॥ १०३ ॥

'एवं च' इत्यादि । त्रिविध समुच्चय मोक्षार्थ नहीं है, अतः ज्ञान और कर्मका

तस्मात् कामलये भेदलये सोपानवर्त्मनि ।
समुच्चये च सम्बन्धो न युक्तः काण्डयोर्द्वयोः ॥ १०५ ॥
परिशेषात् पुरा प्रोक्तः साध्यसाधनलक्षणः ।
सम्बन्धोऽत्राऽवगन्तव्यो ज्ञानकर्माख्यकाण्डयोः ॥ १०६ ॥

*इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिते वार्त्तिकसारे सम्बन्धपरीक्षा-
नामकं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम् ॥*

---

समुच्चय मोक्षका साधन नहीं है । ज्ञान प्रधान, कर्म गुण; कर्म प्रधान, ज्ञान गुण; कर्म और ज्ञान दोनों समप्रधान हैं, इस प्रकार यदि त्रिविध समुच्चय हो ही नहीं सकता, तो मोक्षका साधन समुच्चय है, यह सम्भावना भी नहीं हो सकती ॥ १०४ ॥

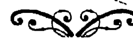
**'तस्मात्'** इत्यादि । उक्त रीतिसे कामलय द्वारा, प्रपञ्चलय द्वारा और सोपानारोहणन्यायसे समुच्चय द्वारा कर्मकाण्डका ज्ञानकाण्डके साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता ॥ १०५ ॥

**'परिशेषात्'** इत्यादि । उक्त प्रकारसे यदि दो काण्डोंका सम्बन्ध नहीं हो सकता, तो परिशेषसे साध्यसाधनभाव ही पूर्वकाण्डका उत्तरकाण्डके साथ सम्बन्ध है, दूसरा नहीं ॥ १०६ ॥

*इति म० म० पण्डितप्रवर श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचित बृहदारण्यक-
वार्तिकसारके भाषानुवादमें सम्बन्धपरीक्षा नामका
द्वितीय प्रकरण समाप्त ।*



# अथ प्रामाण्यपरीक्षा



सम्बन्धसिद्धौ वेदान्तप्रामाण्यं चिन्त्यतेऽधुना ।
अप्रामाण्ये तु सम्बन्धः पूर्वोक्तः प्रविलीयते ॥ १ ॥
केचित् कार्यैकनिष्ठत्वं कृत्स्नवेदस्य मन्वते ।
ततो ब्रह्मणि सिद्धार्थे वेदान्तानाममानता ॥ २ ॥
न प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां शून्यस्य वचसो यतः ।
क्वचिदर्थोऽत्र दृष्टोऽतो वस्तुनि स्यादमानता ॥ ३ ॥

---

वेदान्तको प्रमाण मानकर कर्मकाण्डके साथ उसका साध्यसाधनभावरूप सम्बन्ध दर्शाया गया है। अब वेदान्तके प्रामाण्यमें विप्रतिपन्नके प्रति वेदान्त-प्रामाण्य सिद्ध करनेके लिए कहते हैं—**'सम्बन्धसिद्धौ'** इत्यादि से ।

पूर्वोक्त साध्यसाधनभावरूप सम्बन्धकी सिद्धि तब होगी जब वेदान्तोंका प्रामाण्य सिद्ध होगा अन्यथा प्रमाणका अप्रमाणके साथ उक्त सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रमाण तो किसीका साधक या बाधक होता नहीं, अतः उक्त सम्बन्धकी सिद्धिके लिए वेदान्तके प्रामाण्यकी सिद्धि करना नितान्त आवश्यक है ॥१॥

मीमांसकोंका मत है कि कर्तव्यार्थबोधक वाक्य ही प्रमाण होता है, सिद्धार्थक नहीं । आप लोग वेदान्तको स्वतःसिद्ध ब्रह्मस्वरूपमात्रका बोधक मानते हैं इसलिए वेदान्तके प्रामाण्यकी चिन्ताके लिए पूर्वपक्ष कहते हैं—**'केचित् कार्यै०'** इत्यादिसे ।

कई-एक मीमांसक कहते हैं कि सम्पूर्ण वेद कर्तव्यार्थबोधक ही हैं, इसलिए सिद्धब्रह्मस्वरूप अर्थका बोधक वेदान्त अप्रमाण है। तात्पर्य वेदान्तके अप्रामाण्यके व्यवस्थापनमें नहीं है, किन्तु उपासनाक्रियाविधिशेषमें है अन्यथा अप्रामाण्यकी आपत्ति होगी, क्योंकि कोई भी वाक्य सिद्धार्थमें प्रमाण नहीं माना जा सकता ॥ २ ॥

**'न प्रवृत्ति'** इत्यादि । वाक्यका प्रवृत्ति और निवृत्तियोगसे भिन्न कोई अर्थ कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं है, इसलिए सिद्धार्थ वस्तुमें कोई वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता, अत एव—

'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥'

उत्तमप्रोक्तशब्दार्थे मध्यमव्यवहारतः ।
बालो व्युत्पद्यते तस्माद् व्युत्पत्तिरपि कार्यगा ॥ ४ ॥

इत्यादि वचन सङ्गत होता है । उक्त वचनका यह अर्थ है कि जिन कर्तव्य या अकर्तव्य अर्थका नित्य अर्थात् अपौरुषेय वेद और अनित्य—पौरुषेय धर्मशास्त्रादि—वाक्योंसे पुरुषोंको उपदेश दिया जाता है, वे शास्त्र कहलाते हैं। हितकी प्राप्ति और अहितकी अप्राप्तिके उपाय और परिहारके अनुष्ठानके लिए शास्त्र है । जैसे 'सोमेन यजेत स्वर्गकामः' । जो स्वर्ग चाहता है, किन्तु उसका उपाय नहीं जानता और उपायान्वेषणमें प्रवृत्त है, उसको शास्त्र बतलाता है कि यदि स्वर्ग चाहते हो तो याग करो अर्थात् स्वर्गका साधन याग है ।

इसी प्रकार दुःखसे पीडित मनुष्य जन्मान्तरमें भी फिर ऐसा दुःख न हो, इस लिए दुःखकी निवृत्तिका उपाय जानना चाहता है तो शास्त्र उपदेश देता है—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि । इस तरह प्रवर्तक और निवर्तक वाक्य इष्टमें प्रवृत्ति और अनिष्टसे निवृत्ति करा कर पुरुषार्थसाधन द्वारा प्रमाण माने जाते हैं और अनेवंभूत, अर्थात् 'सप्तद्वीपा वसुमती' 'राजाऽसौ गच्छति' 'एवं मदीयः स्वप्न आसीत्', इत्यादि सिद्धार्थक वाक्य प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि सात द्वीपवाली पृथिवी है, यह राजा जाता है, मेरा स्वप्न ऐसा था, इन वाक्योंको सुनकर न तो कोई किसी कर्मविशेषमें प्रवृत्त होकर कुछ फल ही प्राप्त कर सकता है और न किसी कर्मविशेषसे निवृत्त होकर अनिष्ट ही निवृत्त कर सकता है । अतः यह वाक्य जैसे निष्प्रयोजन और अप्रमाण है, वैसे ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिसे भी सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है यह जान लेनेपर क्या अभीष्ट सिद्ध होगा ? क्योंकि कर्तव्य या अकर्तव्यका तो कोई निर्देश है नहीं, जिससे कि अनुष्ठान, परिवर्जन आदि द्वारा किसी अर्थकी सिद्धि हो, अतः वेदान्तको उपासना विधिका शेष ही मानना चाहिए, अन्यथा उक्त रीतिसे सर्वथा अप्रमाण ही हो जायगा ॥३॥

वेदान्तके अप्रामाण्य होनेमें दो कारण हैं—एक तो सुखप्राप्ति या दुःख-निवृत्ति के साधनका उपदेश न होनेसे निष्फलत्व है और दूसरा कारण है—अबोधकत्व । सर्वप्रथम बालकको शक्तिग्रह कार्यान्वित वाक्यार्थमें ही होता है, अतः सिद्धार्थमें यदि शक्तिग्रहोपाय ही नहीं है, तो फिर सिद्धार्थक वाक्य अर्थका बोधक कैसे होगा ? इस तात्पर्यसे कहते हैं—'उत्तम' इत्यादिसे ।

शुक्लां गामानयेत्युक्ते कश्चिद्गोकर्मिकां क्रियाम् ।
कुर्वाणमपि वीक्ष्याऽज्ञः कुरुते कारणानुमाम् ।। ५ ।।
ज्ञातं ध्रुवमनेनैतद्यद्गोकर्मकमीक्ष्यते ।
तत एतस्य वाक्यस्य गवानयनबोधिता ।। ६ ।।

उत्तम शब्दका तात्पर्य है—गृहीतशक्तिक प्रेरकमें। और मध्यम शब्दका तात्पर्य्य है—गृहीतशक्तिक प्रेर्य्यमें। प्रेरक पुरुषके वाक्यार्थ ज्ञानसे प्रेर्य्य पुरुषके व्यवहारसे अगृहीतशक्तिक बालक शक्तिका ग्रहण करता है, इसलिए शक्तिग्रह भी कार्यार्थमें ही है, इसलिए सिद्धार्थक वाक्यसे बोध ही नहीं होता, अतः अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य भी उनमें हो जायगा ॥ ४ ॥

शक्तिग्रहका प्रकार कहते हैं—'**शुक्लाम्**' इत्यादिसे ।

प्रेरकने प्रेर्य्यके प्रति कहा कि शुक्ल गौ ले आवो, अनन्तर शुक्लगवानयन क्रिया करते हुए प्रेर्यको देखकर अगृहीतशक्तिक बालक कारणका अनुमान करता है ॥५॥

'**ज्ञातम्**' इत्यादि । 'गामानय' इस वाक्यसे गवानयनविषयक बोध प्रेर्य्यको अवश्य हुआ । यदि इस वाक्यसे ऐसा बोध न होता, तो इस वाक्यके श्रवणके अनन्तर इस कार्यमें उसकी प्रवृत्ति न होती । उक्त कार्यमें प्रवृत्ति हुई है, अतः अवश्य इस वाक्यसे उक्त बोध हुआ है, इस तरह 'गामानय' इस वाक्यका गोकर्मक आनयनमें शक्तिग्रह होता है । तात्पर्य यह है कि प्रयोजक पुरुषके 'गामानय' इस वाक्यसे प्रयोज्य पुरुषकी गवानयनमें प्रवृत्ति देखकर बालक यह निश्चय करता है कि चेतनकी प्रवृत्तिमात्रमें इष्टसाधनताज्ञान कारण अवश्य है, इसलिए यह प्रयोज्य पुरुषकी गवानयनमें प्रवृत्ति भी इष्टसाधनताज्ञानजन्य है, स्तनपान आदिमें मेरी प्रवृत्तिकी तरह । उक्त प्रवृत्तिके ज्ञानके बिना उक्त प्रवृत्तिमें इष्टसाधनतानुमिति नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमितिमें पक्षज्ञान कारण है, अतः गवानयनप्रवृत्तिज्ञान तो जरूर हुआ, पर किससे हुआ ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर, यही निश्चय करता है कि यह ज्ञान 'गामानय' इस वाक्यसे ही हुआ, कारण कि इससे पहले यह ज्ञान नहीं था, अन्यथा उक्त कार्यमें वाक्यश्रवणसे पहले प्रवृत्ति हो जाती, और इसके बाद ही यह ज्ञान हुआ, जिसके पहले जो न होकर जिसके बाद ही होता है, वह उसीसे होता है, जैसी मेरी स्तनपानानन्तर तृप्ति स्तनपान ही से होती है ।

**कार्यार्थ एव सद्भावाद् व्युत्पत्तिपुरुषार्थयोः ।**
**विधेय एव वेदार्थो न सिद्धः कोऽपि कुत्रचित् ॥ ७ ॥**
**मन्त्रार्थवादनाम्नां च कार्यार्थानुप्रवेशतः ।**
**प्रामाण्यं न स्वतस्तस्मात् कार्ये वेदस्य मानता ॥ ८ ॥**

अब विचारना यह है कि इस वाक्यसे इस अर्थका बोध क्यों हुआ, अर्थान्तरका बोध क्यों नहीं हुआ ? इससे ज्ञात होता है कि इस वाक्यका इस अर्थके साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध अवश्य है । यदि असम्बद्ध अर्थका बोधक उक्त वाक्य होता, तो सम्बन्धाभाव सबके साथ समान है, फिर सभी अर्थान्तरोंका बोधक न होकर इसी अर्थका बोधक क्यों हुआ ?

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस वाक्यका इस अर्थके साथ कोई सम्बन्ध अवश्य है । जो सम्बन्धसामान्य प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा सिद्ध हुआ है, वह सम्बन्धसामान्य विशेषसम्बन्धके बिना पर्य्यवसन्न नहीं हो सकता, अतः सामान्यरूपसे सिद्ध सम्बन्धसामान्यके पर्यवसानके लिए शक्तिरूप ही विशेष सम्बन्ध सिद्ध होता है, इस तरह कार्यान्वित अर्थमें ही शब्दका शक्तिग्रह प्रथमतः बालकको होता है । जिससे व्युत्पत्तिग्रह होता है, वही शब्द बोधक होता है, दूसरा नहीं, इसलिए कार्यपरक शब्द ही बोधक होनेसे प्रमाण हैं, सिद्धार्थक नहीं ॥ ६ ॥

**'कार्यार्थ एव'** इत्यादि । व्युत्पत्ति—शब्दशक्तिग्रह, पुरुषार्थ—सुखप्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति, ये दोनों—कार्यार्थ—कर्त्तव्यार्थ—ही में हैं, इसलिए विधेयको—कर्तव्यको—ही वेदार्थ मानना चाहिए । सिद्धार्थको वेदार्थ नहीं मानना चाहिए । उपनिषत्‌का भी तात्पर्य सिद्ध ब्रह्ममें नहीं है, किन्तु उसकी उपासनामें ही उसका तात्पर्य है ॥ ७ ॥

यदि कार्यार्थमें ही वेदको प्रमाण मानोगे, तो थोड़े वेदभाग जो विधिस्वरूप हैं, वे ही प्रमाण होंगे, अधिकांश वेदभाग—मन्त्र, नामधेय, अर्थवाद आदि—सब अप्रमाण हो जायँगे ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'मन्त्रार्थवाद०'** इत्यादिसे ।

'इषेत्वा' इत्यादि मन्त्र, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादि अर्थवाद और उद्भिदादि नामधेय, इनका भी क्रियामें ही सम्बन्ध मानना उचित है, क्योंकि 'इषे त्वोर्ज्जे त्वा'

वेदान्तानामतो वाच्यं कार्यार्थानुप्रवेशनम् ।
प्रामाण्यं वा निषेद्धव्यमत्र प्रतिविधीयते ॥ ९ ॥
किं मेयाभावतः प्रोक्ता वेदान्तानाममानता ।
किं वा मीमांसकम्मन्यतया कार्यैकरागतः ॥ १० ॥
न मेयाभावशङ्काऽस्ति सर्वव्यापृतिसाक्षिणः ।
चिदात्मनोऽपलापे तु जगदान्ध्यप्रसङ्गतः ॥ ११ ॥

इत्यादि मन्त्रोंका 'छिनद्मि', 'अनुमार्जयामि' इत्यादि क्रियावाचक पदोंका अध्याहार करके तदर्थमें अन्वय होनेसे वे पुरुषार्थसाधक और प्रमाण होते हैं। 'वायुर्वै' इत्यादि अर्थवादवाक्योंका 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इत्यादि वाक्यसे विहित वायव्ययागके प्राशस्त्यमें लक्षणा करके उक्त विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता मानी जाती है। नामका 'उद्भिदा यजेत' इसके साथ अन्वय है ही, इसलिए साक्षात् या परम्परया क्रियान्वयी वेदवाक्य ही पुरुषार्थके साधन तथा व्युत्पत्तिग्रहके योग्य होनेसे प्रमाण माने जाते हैं, अतः उपनिषदोंको प्रमाण मानना यदि अभीष्ट हो, तो श्लोकोक्त चशब्दसे संग्रह कीजिये, अथवा उनके प्रामाण्यका ही त्याग कीजिये यह मीमांसकोंका पूर्वपक्ष है, इसका उत्तर देनेके लिए कहते हैं—**'अत्र प्रति०'** इत्यादिसे ॥ ९ ॥

इस विषयमें परिहार करनेके लिए विकल्प करते हैं—**'किं मेयाभावतः'** इत्यादिसे।

क्या वेदान्तमें अप्रामाण्यका कारण फल और शक्तिग्रहकी अनुपपत्तिमात्र ही है या अन्य भी है? फलानुपपत्ति तो अति तुच्छ है, उसका परिहार आगे करेंगे। द्वितीय प्रमेयाभावके विषयमें मीमांसकोंका यह अभिनिवेश है कि कार्य ही शब्दका प्रमेय है, सिद्ध नहीं है ॥ १० ॥

उक्त शङ्काका उत्तर देते हैं—**'न मेया०'** इत्यादिसे।

सब व्यापारोंका साक्षी चिदात्मा ही वेदान्तवाक्योंका प्रमेय है, इसलिए प्रमेयाभावकी शङ्का तो नहीं कर सकते। यदि चिदात्माका ही अपलाप किया जाय, तो जगत् अन्धा हो जायगा अर्थात् संसारमें दो ही पदार्थ हैं—जड़ और चेतन। जड़ स्वयम् अप्रकाशशील है, चेतन स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाश चेतनके सम्बन्धसे जड़का भी प्रकाश होता है। यदि चेतनको न मानोगे, तो जडमात्र ही संसारमें रह जायगा जो अप्रकाशमय है, इसलिए संसार अन्धकार-

निःशेषमातृतद्वृत्तिजन्मनां सर्वदाऽस्ति हि ।
स्वप्रकाशात्मचैतन्यव्याप्तिर्वस्तुस्वभावतः ॥ १२ ॥
लिङ्गदेहः प्रमाताऽत्र कामाद्यास्तस्य वृत्तयः ।
चैतन्येन वियुक्तास्ता जायन्ते न कदाचन ॥ १३ ॥
लिङ्गतद्वृत्तिसम्भूतौ सत्यां चिद्व्याप्तये नहि ।
कश्चिद्धेतुरपेक्ष्योऽस्ति खव्याप्तौ कलशेष्विव ॥ १४ ॥

मय हो जायगा और अभासमान खपुष्प आदि की सत्ता जैसे नहीं है, वैसे ही जड़की भी सत्ता सिद्ध नहीं होगी, अतः चिदात्मा वेदान्तप्रमेय अवश्य है, उसका अभाव नहीं है ॥ ११ ॥

चिदात्मा सब व्यवहारोंका साक्षी है, इसका उपपादन करते हैं—**'निःशेष०'** इत्यादिसे ।

सब प्रमाताओं और तद्वृत्तियों का जन्म वस्तुस्वभावसे स्वप्रकाश आत्मचैतन्य द्वारा सदा व्याप्त ही रहता है, अर्थात् प्रमाता और उसकी वृत्तियां सदा ज्ञात ही रहती हैं। यदि चैतन्यकी सदा व्याप्ति न होती, तो वे वृत्तियाँ घटादिकी तरह अज्ञातसत्ताक भी मानी जाती, किन्तु ऐसा नहीं है, घटादिका वृत्ति द्वारा अनावृत चिदात्माके साथ संबन्ध होता है, इस कारण सदा व्याप्ति नहीं है, अतः घटादिका भान कादाचित्क है, सार्वकालिक नहीं है। प्रमाता और उसकी वृत्तियोंमें चिदात्माकी सार्वकालिक व्याप्ति है, अतएव इनका भान सार्वकालिक है, कादाचित्क नहीं है ॥ १२ ॥

प्रमाता और उसकी वृत्तियोंके स्वरूपके परिचयके लिए कहते हैं—**'लिङ्गदेहः'** इत्यादि ।

यहांपर प्रमातृपदसे लिङ्गदेह विवक्षित है, उसकी वृत्तिसे कामादि विवक्षित हैं। ये सब किसी भी समयमें चैतन्यसे वियुक्त नहीं होते, किन्तु सब कालमें चैतन्यसे व्याप्त ही रहते हैं ॥ १३ ॥

दृष्टान्तके साथ प्रमाता और उसकी वृत्तिमें चैतन्यकी व्याप्ति कहते हैं— **'लिङ्गतद्वृत्ति०'** इत्यादिसे ।

जैसे घट आदि पदार्थमें उत्पत्तिके बाद आकाशकी व्याप्ति स्वतः हो जाती है, उसके लिए कारणान्तरकी आकाङ्क्षा नहीं होती, वैसे ही प्रमाता और उसकी वृत्तियोंकी उत्पत्ति होनेके अनन्तर चैतन्य व्याप्ति उनमें स्वतः हो जाती है, उसके लिए कारणान्तरकी अपेक्षा नहीं होती ॥ १४ ॥

आकाशवस्तुस्वाभाव्यमात्रादेव न कारकात् ।
वियता पूर्णता कुम्भस्यैवं दृक्पूर्णता धियाम् ॥ १५ ॥
घटदुःखादिरूपित्वं धियां धर्मादिहेतुतः ।
निर्हेतुस्तु स्वतःसिद्धदृग्व्याप्तिर्नित्यसन्निधेः ॥ १६ ॥

'आकाश' इत्यादि । जैसे वस्तुस्वभावमात्रसे ही घटमें आकाशकी पूर्णता हो जाती है, उसके लिए हेत्वन्तरकी अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही बुद्धियोंमें चैतन्यकी पूर्णता उसके स्वभावमात्रसे ही होती है, उसको कारणान्तरकी अपेक्षा नहीं होती ॥ १५ ॥

अब यह शङ्का होती है कि जैसे आत्मा बुद्ध्यादिका भासक है, वैसे ही बुद्ध्यादि भी घट, पट आदि पदार्थके भासक हैं, भासक दोनों समान हैं, अतः अविकृत आत्माकी जैसे स्वभावमात्रसे व्याप्ति होती है, कारणान्तरसे नहीं होती, वैसे ही घटादिभासक बुद्धिकी भी विषयके साथ व्याप्ति निर्हेतुक होनी चाहिए ।

इस आक्षेपके निराकरणके लिए कहते हैं—'घटदुःखादि०' इत्यादि ।

घट और दुःख ये दोनों बाह्य और आन्तर विषयोंके उपलक्षक हैं, सारांश यह कि बुद्धि और तद्बोध्य—बाह्य और आभ्यन्तर विषय—परिच्छिन्न हैं, अतः परिच्छिन्न बुद्धि परिच्छिन्न विषयाकार हो सकती है, चिदात्मा तो अपरिच्छिन्न कूटस्थ नित्य है, इसलिए बुद्धि तथा तद्बोध्य घटादिरूपाकार नहीं हो सकता । बुद्धिके तत्तदाकार होनेमें प्रयोजक अदृष्ट है, सुखदुःखादिभोगजनक अदृष्टवश बुद्धि तत्तद्विषयाकार होती है । अच्छा तो जैसे घटादिबुद्धि घटाकार होती है, वैसे ही प्रत्यगात्मबुद्धि भी तदाकार होनी चाहिए, इसके निराकरणके लिए कहते हैं—'निर्हेतुस्तु' इति ।

बुद्धिका प्रत्यगाकार होना निर्हेतुक है सदा सन्निधिसे स्वतःसिद्ध चैतन्यकी व्याप्ति होती है, जैसे घटादिमें आकाशकी व्याप्ति अवर्जनीय सन्निधिसिद्ध है, सहेतुक नहीं है, वैसे ही बुद्धिमें चैतन्यकी व्याप्ति भी समझनी चाहिए, जो अव्यापक पदार्थ हैं, उनका सम्बन्ध सकारण होता है और आकाश, चैतन्यादि व्यापक पदार्थोंका कार्यके साथ उत्पत्तिसमयमें ही स्वतः सम्बन्ध होता है । व्यापककी सन्निधि सदा रहनेसे अवर्जनीय है, अतएव आगन्तुक किसी कारणकी आवश्यकता नहीं ॥ १६ ॥

मैवमप्रतिबद्धत्वाच्चिदेकरसवस्तुनः ।
तद्व्युत्पत्तेः पुरा पश्चाद् बोधो व्युत्पत्तिमात्रतः ॥ १९ ॥
बोधाबोधौ नृभिर्दृष्टौ स्वानुभूत्यैव वस्तुनः ।
दृष्टे चानुपपन्नत्वं किंबलादभिधीयते ॥ २० ॥
वेदान्तशास्त्रव्युत्पत्तेः पुरा कः प्रतिबुध्यते ।
को वा व्युत्पत्तितस्तूर्ध्वं बुद्धिमान्न विबुध्यते ॥ २१ ॥

---

ज्ञातज्ञापकत्वप्रयुक्त आत्मामें वेदके अप्रामाण्यकी शङ्काका निराकरण करते हैं—'**मैवम्**' इत्यादिसे ।

यद्यपि आत्मा स्वयंप्रकाश है, तो भी वेदान्तके विचारसे पहले 'मैं अज्ञ हूँ' 'मैं अपनेको नहीं जानता हूँ' यह प्रतीति सर्वलोकानुभवसिद्ध है इसलिए संसारदशामें आत्मा अज्ञात ही है, वेदान्तवाक्यों द्वारा श्रवण, मनन आदिसे अपरोक्ष ज्ञान होता है, अतः विचारसे पूर्व आत्माके अज्ञात होने एवं वेदान्त द्वारा ज्ञात होनेसे अज्ञातज्ञापकत्वलक्षण प्रामाण्य वेदान्तमें युक्तियुक्त है ॥ १९ ॥

स्वप्रकाश आत्मामें कादाचित्क बोध और अनादि अबोध इस प्रकार परस्पर विरुद्ध बोध और अबोध एक ही आत्मारूप धर्मीमें कैसे रह सकते हैं ? इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'**बोधाबोधौ**' इत्यादिसे ।

अन्वय-व्यतिरेक और विद्वानोंके अनुभवसे आत्मामें बोध और 'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि अपने अनुभवसे अबोध ये दोनों दीखते हैं, इसलिए दोनोंकी एकत्र स्थितिमें अनुपपत्ति ही नहीं हो सकती, विद्वानोंकी उक्ति है—'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' एकत्र परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंकी अनुपपत्ति वहां मानी जाती है, जहाँ एकत्र समावेश अदृष्टचर है । प्रकृतमें बोध और अबोध एकत्र आत्मामें सर्वानुभवसिद्ध हैं, इसलिए आत्मामें अनुपपत्तिकी शङ्का ही नहीं कर सकते, अतः वेदान्तमें अज्ञात-ज्ञापकत्वलक्षण प्रामाण्यमें कोई सन्देह ही नहीं है ॥ २० ॥

पूर्वोक्त अन्वय और व्यतिरेकको स्पष्ट करते हैं—'**वेदान्त**' इत्यादिसे ।

वेदान्तविचारादिसे पूर्व कौन आत्मज्ञानी होता है अर्थात् कोई नहीं और वेदान्तविचारके बाद कौन बुद्धिमान् आत्मज्ञानी नहीं होता अर्थात् सब अवश्य आत्मज्ञानी होते हैं, इस अन्वय और व्यतिरेकसे ज्ञान और अज्ञानकी एकत्र अवस्थितिमें विरोध नहीं है ॥ २१ ॥

एवं सार्वजनीनौ तौ बोधाबोधौ चिदात्मनः ॥
अपह्नोतुं कथं नाम शक्यौ स्यातां कुतार्किकैः ॥ २२ ॥
स्वप्रकाशोऽप्यसम्बुद्धः सुप्त्यादावनुभूयते ॥
अस्वप्रकाशतायां तु सुप्त्यादिः केन सिध्यति ॥ २३ ॥

'एवं सार्व०' इत्यादि । उक्त प्रकारसे चिदात्माका बोध और अबोध सर्वानुभवसिद्ध है, इसलिए कोई कुतार्किक भी अपलाप नहीं कर सकता कि बोध और अबोध ये दोनों आत्मामें नहीं रहते ॥२२॥

शङ्का—ज्ञान तो अज्ञानका विरोधी है, फिर ज्ञान द्वारा अज्ञानकी सिद्धि कैसे हो सकती है, क्योंकि विरोधी साधक और आश्रय दोनों नहीं हो सकता, प्रकाश अन्धकारका विरोधी है, इसलिए प्रकाश अन्धकारका न तो साधक ही है और न आश्रय ही है, इस शङ्कापर कहते हैं—'स्वप्रकाशो' इत्यादि ।

स्वप्रकाश आत्मामें पूर्वोक्त अनुभव ही केवल प्रमाण नहीं है, किन्तु अन्य अनुभव भी प्रमाण है, 'सुखपूर्वक सोया था, कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकार सुप्तोत्थित पुरुष स्मरण करता है, स्मरण अनुभवके बिना नहीं होता, इसलिए सुषुप्तिमें अनुभव अवश्य हुआ, यह स्मरणरूप कार्यसे सिद्ध होता है, उस समय ज्ञानसाधन इन्द्रियादि तो हैं नहीं, अतः ऐन्द्रियक ज्ञानसे अतिरिक्त स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूपानुभव ही सिद्ध होता है, अन्यथा सुप्ति आदिकी भी सिद्धि नहीं होगी ।

अनुपलब्धिसे भी ज्ञानके अभावका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ज्ञान होता तो उसका ज्ञान होता, यह भी तो प्रमाताके रहनेपर आपादन कर सकते हैं, अन्यथा नहीं, अतः उस समयमें आत्मप्रकाश अवश्य मानना चाहिए, बिना प्रमाताके प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

जो यह कहा गया है कि निवर्तक साधक नहीं होता, आलोक तमका निवर्तक है, इसलिए तमके प्रत्यक्षमें आलोकनिरपेक्ष ही चक्षु साधक है, आलोकसापेक्ष नहीं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि यहांपर आत्मरूप ज्ञान अज्ञानका साधक है और वाक्यजन्य ज्ञान अज्ञानका निवर्तक है, ऐसा माननेमें उक्त दोष नहीं है । और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता है, सुषुप्तिकालमें अन्तःकरणका प्राणमें लय हो जाता है, इसलिए प्रमाताका भी अभाव हो जाता

असम्बुद्धस्तदा बोधहेतुमात्राद्यभावतः ॥
अतएव न मानने सुषुप्त्यादिः प्रसिध्यति ॥ २४ ॥
सुषुप्त्यादेश्च संसिद्धिर्मात्रादिविरहेऽपि या ॥
सा त्विहान्तरसम्बुद्धस्वप्रकाशचिदाश्रयात् ॥ २५ ॥
न चाऽभावप्रमाणात्सा सति मातर्यभावमा ॥
मात्राद्यभावसंसिद्धिः कथं मात्रादिपूर्विका ॥ २६ ॥
एवं सर्वव्यवहृतिप्रसाधकचिदात्मनि ॥
सति स्पष्टेऽत्र वेदान्ता मेयहीनाः कथं वद ॥ २७ ॥

---

है, वही सुषुप्ति है। प्रमाताका अभाव प्रमातासे सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अपने अभावका साधक स्वयं नहीं हो सकता, इसलिए स्वापादिकी सिद्धि भी आत्मस्वरूपानुभवसे ही होती है, अज्ञानकी सिद्धि भी इसी तरह समझनी चाहिए, इसीको आगे स्पष्ट करेंगे ॥ २३ ॥

**'असंबुद्ध०'** इत्यादि। आत्माके स्वयंप्रकाश होनेपर भी सुषुप्तिकालमें ज्ञानके साधन इन्द्रिय और मनके अभावसे वह अज्ञात कहलाता है, इसीसे—प्रमाणाभावसे ही—सुषुप्ति आदि प्रमाणसे सिद्ध नहीं होते। योग्यानुपलब्धिसे सुषुप्ति आदिकी सिद्धि होगी, यह मत भी असंगत है, क्योंकि उक्त रीतिसे प्रमाता यदि नहीं है, तो योग्यानुपलब्धि किसकी कहोगे, इस कारणसे आत्मस्वरूपके ज्ञानसे ही स्वाप और अज्ञानकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं ॥ २४ ॥

**'सुषुप्त्यादेः'** इत्यादि। प्रमाताके न रहनेपर भी जो सुषुप्त्यादिकी सिद्धि होती है, सो भीतर प्रबुद्ध स्वयंप्रकाश चिदात्माके प्रभावसे अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्मा ही स्वीय अज्ञानादिका उक्त रीतिसे साधक है। प्रमाताके अभावसे योग्यानुपलब्धि भी नहीं हो सकती ॥ २५ ॥

**'न चाऽभाव'** इत्यादि। योग्यानुपलब्धिसे भी स्वापादिकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रमाताके रहनेपर ही प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होती है, स्वापादिकालमें प्रमाता है नहीं, फिर अनुपलब्धि प्रमाण भी किसका कहेंगे ॥ २६ ॥

साक्षी वेदान्तप्रमेय है, यही उपसंहार करते हैं—**'एवं सर्व०'** इत्यादिसे।

इस प्रकार संपूर्ण व्यवहारका साधक चिदात्मा है, सो स्वयंप्रकाश होनेसे सर्वानुभवसे सिद्ध है, वही साक्षी वेदान्तका प्रमेय है, इस कारण प्रमेयाभाव-

सर्वमानस्वभावस्य परीक्षायां चिदात्मनि ॥
मेये कैमुतिकन्यायसिद्धा वेदान्तमानता ॥ २८ ॥
यमप्रमाय मानानि नानात्मानं प्रमिन्वते ।
वस्तुवृत्तानुरोधेन कथं तत्राऽप्रमावचः ॥ २९ ॥

प्रयुक्त वेदान्तमें अप्रामाण्य नहीं हो सकता, [ उपहासार्थ कहते हैं—] कहो वेदान्त मेयहीन कैसे हैं ? ॥ २७ ॥

'सर्वमान०' इत्यादि । सब—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों—के स्वभावकी परीक्षा करनेपर चिदात्मामें वेदान्तकी मानता कैमुतिकन्यायसे सिद्ध है अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण जैसे अज्ञातार्थबोधक होनेसे प्रमाण होते हैं, वैसे ही वेदान्त भी आत्मामें अज्ञातार्थज्ञापक होनेसे प्रमाण हैं ॥ २८ ॥

कैमुतिकन्याय कहते हैं—'यमप्रमाय' इत्यादि । प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा उनके विषय शब्दादि स्वयं जड़ हैं, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण जब अपने स्वरूपका ही प्रकाश नहीं कर सकते, तो स्वविषय शब्दादिका प्रकाश कैसे कर सकेंगे । और चिदात्मा स्वयंप्रकाश है, इसलिए स्वसम्बन्धसे दूसरेका भी प्रकाश करता है, वस्तुवृत्त है, वस्तुस्वभाव, जड़ और चेतन वस्तुमें यह स्वभावभेद स्वाभाविक है, जो प्रकाशक है, वह स्वसम्बन्धसे दूसरेका प्रकाश करता है, जैसे प्रदीपादि स्वयंप्रकाश हैं । स्वयंका तात्पर्य है सजातीय प्रकाशके बिना प्रकाशमान, सो स्वसम्बन्धसे घटादिका भी प्रकाशक होता है, घट प्रकाशमान नहीं है, अतः वह सम्बन्धसे पटादिका प्रकाशक नहीं होता ।

इस प्रकार वस्तुवृत्तानुसारसे प्रत्यक्षादि प्रमाण आत्मविषयक प्रमितिकी उत्पत्ति न कर अनात्म घटादिविषयक प्रमितिके उत्पादक नहीं होते । घटादिका ज्ञान होनेपर यह सन्देह नहीं होता कि यह ज्ञान हमको हुआ अथवा दूसरेको ? बल्कि यही निश्चय होता है कि हमको ही हुआ है, यदि इस ज्ञानसे आत्माका भान न होता तो संशयादि होते, परन्तु संशयादि न होनेसे विषयके स्फुरणकी तरह आत्माका स्फुरण भी अवश्य होता है, अतएव विषय जैसे प्रमाजनक है, वैसे ही आत्माको भी प्रमाजनक मानना चाहिए । जैसे शब्दादिविषयक बोध द्वारा प्रत्यक्ष यद्यपि चरितार्थ है तथापि आत्माका बोध करता है, क्योंकि आत्माके प्रकाशके बिना अनात्माका प्रकाश हो ही नहीं सकता, सो आगे

चैतन्यमनभिव्यज्य चेत्यं व्यञ्जयितुं नहि ॥
शक्नुवन्ति प्रमाणानि चैतन्यं व्यञ्जयन्त्यतः ॥ ३० ॥
प्रकाशमगृहीत्वा न प्रकाश्यं रूपमीक्षते ।
चक्षुः, तेन प्रकाशस्य ग्रहणं रूपतः पुरा ॥ ३१ ॥
तथैव चिदभिव्यक्तिश्चेत्याभिव्यक्तितः पुरा ।
अनात्मग्राहकैर्मानैरत आत्मा प्रमीयते ॥ ३२ ॥
चिदात्मबोधनायैव प्रवृत्तायाः श्रुतेश्चिति ।
मानत्वं किमु वक्तव्यं प्रकाशग्राहिनेत्रवत् ॥ ३३ ॥

स्पष्ट करेंगे। प्रत्यक्षादि प्रमाण आत्मप्रमित्युत्पादनके बिना विषयप्रमित्युत्पादन नहीं कर सकता ॥ २९ ॥

'**चैतन्यम०**' इत्यादि। श्लोकका अर्थ तो अतिस्पष्ट है। चैतन्य आत्मा, चेत्य अनात्मा। आत्माका प्रकाश कराये बिना प्रमाण अनात्मा घटादि विषयका प्रकाश नहीं करा सकते, इसलिए वे अनात्मका प्रकाश कराते हुए आत्माका भी प्रकाश कराते हैं ॥ ३० ॥

इसी अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं—'**प्रकाश**' इत्यादिसे।

चक्षु ग्राहक आलोकके ग्रहणके बिना प्रकाश्य रूपका ग्रहण नहीं करता, इसलिए वह रूपके ग्रहणसे पहले आलोकका ग्रहण करता है, रूपके प्रत्यक्षमें आलोकसन्निकर्ष सहकारी कारण है, प्रतिबन्धकापसारकत्वरूप सहकारित्व है प्रतिबन्धक तिमिरके निरासके लिए आलोककी अपेक्षा होती है ॥ ३१ ॥

दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकमें स्फुट करते हैं—'**तथैव चिद०**' इत्यादिसे।

उसी प्रकार चेत्य अनात्म घटादिकी प्रतीतिसे पहले चित् आत्माकी अभिव्यक्ति—प्रकाश—होता है, अतएव अनात्मग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणसे आत्मा प्रमित होता है ॥ ३२ ॥

'**चिदात्म०**' इत्यादि। आलोकसे अभिव्यक्त रूपादिके ग्राहक चक्षु आदि जैसे प्रथम आलोकका ग्रहण कर पश्चात् रूपादिका ग्रहण करता है तो भी आलोकादिमें प्रमाण होता है, वैसे ही चिदभिव्यक्त चेत्यग्राहक मान चिदात्मबोधक होता है, जो अन्यार्थक मान है, सो भी आत्मामें प्रमाण होते हैं, तो चिदभिव्यक्तिके उद्देश्यसे प्रयुक्त अनन्यार्थका—जिनका दूसरा विषय ही नहीं, ऐसे—तत्त्वमस्यादि

मीमांसकम्मन्यताऽपि मानवृत्तानभिज्ञताम् ।
तव प्रकटयत्यत्र कार्यरागे निमज्जतः ॥ ३४ ॥
मानं हि व्यञ्जकं तच्च समानं सिद्धकार्ययोः ।
अतः सर्वस्य वेदस्य बोधकत्वात् प्रमाणता ॥ ३५ ॥

---

वाक्य चिदात्मामें प्रमाण हैं, इसमें कहना ही क्या है ? जब घटपटादिविषयक चक्षुरादि चिदात्मामें प्रमाण होते हैं, तब 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतिवाक्य, जो केवल चिदात्माके बोधनमात्रके तात्पर्यसे प्रयुक्त हैं, यदि उसमें प्रमाण न होंगे, तो उनका प्रयोग व्यर्थ ही हो जायगा ॥ ३३ ॥

शब्द कर्तव्यार्थमें प्रमाण होता है, सिद्धार्थमें नहीं। वेदान्तमें कर्तव्यार्थ-रूप विषय ही नहीं हैं, इस प्रकार किये गये प्रामाण्यके आक्षेपका परिहार करके सिद्ध अर्थमें शब्दशक्तिग्रह नहीं हो सकता, अतः अबोधकत्वनिमित्तक प्रामाण्यके आक्षेपके परिहार करनेके तात्पर्यसे कहते हैं—**'मीमांसकम्'** इत्यादिसे ।

सिद्धार्थमें शब्दशक्तिग्रह नहीं हो सकता, अतः सम्पूर्ण वेद सिद्धार्थबोधक नहीं हैं, किन्तु कार्यार्थबोधपरक ही हैं, इस प्रकार दुराग्रहग्रहिल आप लोग मीमांसक होनेका गर्व करते हैं, पर वस्तुतः विचारपराङ्मुख हैं, सो आगे स्पष्ट रूपसे कहेंगे, अतः इस कथनसे आप लोगोंकी प्रमाणस्वभावकी अनभिज्ञता ही प्रगट होती है। मीमांसक तो न्यायानुगृहीत अर्थके माननेवाले होते हैं, आप लोग अपनेको मीमांसक कहते हैं, पर न्यायसे अनुगृहीत अर्थ मानते नहीं, इसलिए उपहासके लिए मीमांसकम्मन्य कहा ॥ ३४ ॥

**'मानं हि'** इत्यादि । विषयेन्द्रियके सन्निकर्ष द्वारा चक्षुरादि ज्ञानके कारण हैं, अतः वे ही प्रमाण हैं, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्' इत्यादि न्यायसूत्रके अनुसार ज्ञान ही प्रमाण है, चक्षुरादि नहीं ।

श्लोकार्थ—मान व्यञ्जक है, वह सिद्ध और कार्य दोनोंमें समान है, प्रमेय दो प्रकारके हैं—स्वतःसिद्ध और परतःसिद्ध । स्वतःसिद्ध—आत्मा है। परतःसिद्ध—अनात्मपदार्थ हैं। विषयमें स्वतस्त्व और परतस्त्व का भेद होनेपर भी प्रमाणके व्यञ्जकत्वमें कुछ अन्तर नहीं है, अतः सम्पूर्ण वेदमें—कर्मकाण्ड तथा ज्ञान-काण्डमें—साध्य और सिद्ध अर्थका भेद होनेपर भी वह बोधक होनेसे प्रमाण ही है ॥ ३५ ॥

वेदान्तवचसां स्वार्थे प्रामाण्यं न विहन्यते ।
मानलक्षणसद्भावाज्ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत् ॥ ३६ ॥
यद्धेतुकं प्रमाणत्वं वेदान्तानां समर्थ्यते ।
तेनैव हेतुना कर्मकाण्डस्यापि प्रमाणता ॥ ३७ ॥
वेदान्तानाममानत्वं येन वा हेतुनोच्यते ।
तेनैव हेतुना कर्मकाण्डस्यापि प्रसज्यते ॥ ३८ ॥
बोधकत्वेन मानत्वं काण्डयोरुभयोः समम् ।
अकार्यबोधेनाऽमात्वं कर्मकाण्डेऽप्यवारणम् ॥ ३९ ॥

**'वेदान्तवचसाम्'** इत्यादि । कार्यपरक ज्योतिष्टोम आदि वाक्योंके सदृश स्वप्रकाश चैतन्यरूप अर्थमें वेदान्तवाक्योंके प्रामाण्यकी क्षति नहीं है, क्योंकि व्यञ्जकत्वरूप प्रामाण्यका लक्षण दोनोंमें समान है अथवा अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्यका लक्षण दोनोंमें समान है । ज्योतिष्टोमवाक्यका प्रमेय है—याग अथवा तज्जन्य साध्यस्वरूप नियोग और वेदान्तवाक्यका प्रमेय है—स्वप्रकाश स्वतःसिद्ध चैतन्य, इस प्रकार प्रमेयके विलक्षण होनेपर भी व्यञ्जकत्वलक्षण प्रामाण्यके विलक्षण न होनेसे वेदान्त प्रमाण ही हैं ॥ ३६ ॥

**'यद्धेतुकम्'** इत्यादि । प्रामाण्यका कारण अज्ञातज्ञापकत्व दोनोंमें समान है, इसलिए यद्धेतुक—अज्ञातज्ञापकत्वहेतुक—प्रामाण्य कर्मकाण्डमें मानते हैं, तद्धेतुक—अज्ञातज्ञापकत्वहेतुक—प्रामाण्य वेदान्तमें भी समर्थित होता है ॥३७॥

**'वेदान्ता०'** इत्यादि । कर्मकाण्डके साथ विरोध होनेके कारण यदि वेदान्तमें अप्रामाण्य है, तो वेदान्तके साथ विरोध होनेके कारण कर्मकाण्डमें भी अप्रामाण्य प्रसक्त होता है, इस परिस्थितिमें सुन्दोपसुन्दन्यायके * सदृश परस्पर विरोध होनेसे दोनोंके प्रामाण्यका भङ्ग हो जायगा ॥ ३८ ॥

कर्तव्यरूप अर्थका बोधक कर्मकाण्ड प्रमाण है, वेदान्त तो सिद्धार्थक होनेसे प्रमाण नहीं हो सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'बोधकत्वेन'** इत्यादिसे ।

* सुन्द और उपसुन्द नामक दो दैत्य थे । वे पार्वतीजीके रूपसे मोहित होकर उनकी प्राप्तिके लिए भगवान् शङ्करकी तपस्या करने लगे, उनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर शङ्करने उन्हें वर दान दिया कि जो तुम दोनोंमें बलवान् हो वह पार्वतीको ले ले । वे दोनों परस्पर लड़कर नष्ट हो गये, यही उक्त न्यायका स्वरूप है ।

कार्यं कालत्रयास्पर्शि त्वदभीष्टं न तत् क्वचित् ।
कर्मकाण्डेऽपि सम्भाव्यं नृशृङ्गादविशेषतः ॥ ४० ॥
अतः समीहितोपायतया वस्त्ववबोधनात् ।
कर्मकाण्डस्य मानत्वं कार्ये प्रेरणया न तु ॥ ४१ ॥
तथा च वस्तुयाथात्म्यज्ञापनेन प्रमाणता ।
वेदान्तानां कुतो न स्यात् प्रत्यक्षादौ तदीक्षणात् ॥ ४२ ॥

कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड दोनोंमें बोधकत्वरूप प्रामाण्य समान ही है । यदि वेदान्तमें अकार्यबोधकत्वहेतुक अप्रामाण्य कहते हो, तो कर्मकाण्डमें अकार्य-बोधकत्वप्रयुक्त अप्रामाण्यका वारण नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मकाण्ड इष्ट-साधनताका बोधक है और इष्टसाधनत्व अकार्य ही है, इसलिए अकार्य-बोधकत्वमात्रसे यदि वेदान्तमें अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो, तो कर्मकाण्डमें भी अप्रामाण्यकी आपत्ति हो जायगी ॥ ३९ ॥

**'कार्यम्'** इत्यादि । कार्यशब्दसे धात्वर्थादि विवक्षित नहीं है, किन्तु नियोग विवक्षित है । सो कर्मकाण्डमें ही है, ज्ञानकाण्डमें नहीं है, फिर विध्यर्थ नियोगकी सम्भावना ही नहीं है । नियोग कार्य है, इसका खण्डन करते हैं—कालत्रयास्पर्शी अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालमें असम्बद्ध मनुष्यकी सींगके समान कहीं भी नियोगरूप कार्य नहीं है अर्थात् वह अत्यन्तासत् है, अतः नियोग विध्यर्थ नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

**'अतः'** इत्यादि । इस हेतुसे जैसे यागादिमें इष्टसाधनताके बोधक कर्म-काण्डवाक्य हैं, वैसे ही वस्तुतत्त्वके बोधक तत्त्वमस्यादिवाक्य हैं । यदि दोनों वस्तुतत्त्वके बोधक समान हैं, तो फिर कर्मविधि प्रमाण है, वेदान्त नहीं, इसमें क्या युक्ति ? विनिगमक तो कोई है नहीं, अतः कर्मकाण्डके समान ज्ञानकाण्ड भी प्रमाण ही है । कार्यरूप नियोगके बोधक होनेसे उसमें प्रेरणाबोधकत्व हो भी सकता, सो तो है नहीं, कारण कि नियोगमें कुछ प्रमाण ही नहीं है, अतएव मानान्तरका अविषय है, इसीसे उसको अपूर्व भी कहते हैं । 'आत्मानं नियोजयति' इस व्युत्पत्तिसे यागादिकी सिद्धिमें आत्माका प्रवर्तक होनेसे उसे नियोग कहते हैं, परन्तु प्रमाणके अभावसे ऐसा पदार्थ ही नहीं है ॥ ४१ ॥

**'तथा च'** इत्यादि । जैसे यद्यपि प्रत्यक्ष आदि यथावस्थित वस्तुस्वरूपके बोधकमात्र होते हैं, अपने विषयमें द्रष्टाकी प्रेरणा नहीं करते, तो भी प्रमाण

मन्त्रादेः कार्यशेषत्वं त्वयोक्तं तत्तथैव तत् ।
अथाऽपि त्वदभीष्टं यत्कार्यं तन्मानवर्जितम् ॥ ४३ ॥
अतो यदेव साध्यार्थसाधनत्वेन गम्यते ।
वेदात्तदेव साध्यत्वात् कार्यं नान्यत् ततः पृथक् ॥ ४४ ॥
कार्यशेषोऽप्यर्थवादो न स्वार्थेऽत्यन्तमप्रमा ।
गुणानुवादभूतार्थरूपैस्त्रैविध्यसम्भवात् ॥ ४५ ॥
विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥ ४६ ॥

---

माने जाते हैं, वैसे ही वस्तुतत्त्वके बोधक तत्त्वमस्यादिवाक्य अप्रेरक होनेपर भी परमार्थ सत्य वस्तुके बोधक होनेसे प्रमाण ही हैं। जैसे कर्मकाण्ड अबाधित और अज्ञात अर्थका बोधक प्रमाण माना जाता है, वेदान्तवाक्य भी वैसे ही हैं, इसलिए प्रमाण हैं।

**'मन्त्रादेः'** इत्यादि। मन्त्र, नामधेय तथा अर्थवाद कार्यविधिके शेष हैं, यह आपका कहना ठीक है, इसमें विवाद नहीं है, परन्तु विवाद है केवल कार्यमें, क्योंकि आप जिस नियोगको कार्य कहते हैं, उसमें कुछ प्रमाण न होनेसे वह स्वीकार करनेके योग्य नहीं है। जिस पदार्थके सद्भावमें कुछ प्रमाण ही नहीं है, उसका यदि स्वीकार किया जाय तो नृशृङ्गने क्या अपराध किया है, जिससे कि उसको स्वीकार न किया जाय? इसलिए प्रामाणिक पदार्थ ही मानना चाहिए, अप्रमाणिक नहीं, अतः श्रेयःसाधन यागादिसे अतिरिक्त कार्य नहीं है ॥ ४३ ॥

**'अतो यदेव'** इत्यादि। चूँकि नियोग अप्रामाणिक है, इसलिए कृतिसाध्य और स्वर्गादि अर्थके साधन याग, दान, होम आदि ही, जो वेद द्वारा प्रतीत होते हैं, साध्य होनेसे कार्य कहलाते हैं, इनसे अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं है ॥ ४४ ॥

**'कार्यशेषो०'** इत्यादि। अर्थवादके कार्यशेष होनेपर भी वह स्ववाच्य अर्थमें सर्वथा अप्रमाण नहीं है, क्योंकि गुण, अनुवाद और भूतार्थ रूपसे अर्थवाद तीन प्रकारके होते हैं ॥ ४५ ॥

**'विरोधे गुण०'** इत्यादि। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ यदि विरोध हो, तो वह अर्थवाद गुणवाद कहलाता है। जिसका वाच्य अर्थ प्रमाणान्तरसे निश्चित हो, वह अर्थवाद अनुवाद कहलाता है और जिसके वाच्यार्थमें प्रमाणान्तरसे न विरोध हो और न अनुवाद ही हो, वह अर्थवाद भूतार्थवाद कहलाता है ॥ ४६ ॥

सदा व्यभिचरन्त्येव जाग्रदाद्याः परस्परम् ।
तत्र व्यभिचरत्येतन्न चैतन्यं कदाचन ।। ६६ ।।
व्यावृत्तेभ्योऽनुवृत्तस्य विवेकः सार्वलौकिकः ।
ततश्चिज्जाग्रदादिभ्यो विविक्तेत्यनुमीयते ।। ६७ ।।

और सुषुप्ति नहीं हैं, पर आत्मा है। जाग्रत् अवस्था साक्ष्य है, आत्मा साक्षी है एवं स्वप्नावस्थामें जाग्रत् सुषुप्ति नहीं हैं, स्वप्नावस्था साक्ष्य है, और आत्मा साक्षी है, इसी तरह सुषुप्ति अवस्थामें भी समझना चाहिए।

आत्मा तीनों अवस्थाओंमें है और तीनोंका साक्षी है। तीनों अवस्थाएँ साक्ष्य हैं और व्यभिचारी है। जिनके परस्पर व्यावृत्त होनेपर जो अनुवृत्त रहता है, सो उनसे भिन्न होता है, जैसे एक सूतमें गुथे हुए पुष्प परस्पर व्यावृत्त होते हैं, पर सूत सब पुष्पोंमें अनुवृत्त रहता है, अतः सूत पुष्पोंसे अतिरिक्त है, वैसे ही एक आत्मामें तीन अवस्थाएँ अनुस्यूत हैं। अवस्थात्रयके परस्पर व्यावृत्त होनेपर भी आत्मा सबमें अनुवृत्त है, इसलिए आत्मा तीन अवस्थाओंसे अतिरिक्त है, इस तरह अन्वय और व्यतिरेकसे तथा जो हम सोये थे वही हम जागे हैं, इस प्रत्यभिज्ञासे भी अवस्थात्रयका साक्षी एक ही चेतन आत्मा है, यही निश्चय होता है। इसके लिए आगमकी अपेक्षा नहीं है और आत्मस्फुरण और अज्ञानकी हानि प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है ।।६५।।

'सदा व्यभिचरन्त्येव' इत्यादि। पूर्वोक्त रीतिसे जाग्रदादि तीन अवस्थाएँ सदा व्यभिचरित हैं, किन्तु चैतन्य आत्मा कभी भी व्यभिचारी नहीं है अर्थात् किसी भी अवस्थामें आत्माकी व्यावृत्ति नहीं रहती, आत्माकी व्यावृत्ति होनेपर तीन अवस्थाएँ रह ही नहीं सकतीं, अतः आत्मा अवस्थात्रयसे अतिरिक्त है ।। ६६ ।।

'व्यावृत्तेभ्यो' इत्यादि। व्यावृत्तसे अनुवृत्त भिन्न है, यह सब लोग जानते हैं, जैसे सूतमें गुथे हुए पुष्पोंसे अतिरिक्त सूत है, क्योंकि पुष्पोंकी परस्पर व्यावृत्ति होनेपर भी सूत सबमें अनुवृत्त रहता है, अतः पुष्पोंसे सूत अतिरिक्त है, यह कौन नहीं जानता? अर्थात् सब जानते हैं कि पुष्पातिरिक्त सूत है ।। ६७ ।।

यः पुरा स्वप्नमद्राक्षमस्वाप्सं चापि मूढधीः ।
सोऽहं जागर्मीति पुंसां प्रत्यभिज्ञाऽऽत्मगोचरा ॥ ६८ ॥
प्रत्यभिज्ञानुमानाभ्यामात्मन्यवगते सति ।
मान्यापारसमाप्तेर्न भूयो मानमपेक्ष्यते ॥ ६९ ॥
मानान्तरेण तत्सिद्धेर्नात्र व्याप्रियते वचः ।
वासनानां निरोधेऽतः पुमान् श्रुत्या नियुज्यते ॥ ७० ॥
अनिरोधे वासनानामन्तकालेऽनुवर्त्तनात् ।
भावि जन्मानिवार्यं स्यादन्त्यप्रत्ययकारितम् ॥ ७१ ॥

**'यः पुरा'** इत्यादि । जिस मैंने पहले स्वप्न देखा था और बादको खूब सोया, मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ; वही मैं जागता हूँ, इस प्रकार तीनों अवस्थाओंका साक्षी आत्मा प्रत्यभिज्ञासे सब पुरुषोंको स्पष्ट प्रतीत होता है । तीनों अवस्थाओंमें अनुवृत्त और तीनों अवस्थाओंका साक्षी आत्मा सब लोगोंके अनुभवसे सिद्ध है, इसमें किसीको विवाद नहीं है । ॥६८॥

**'प्रत्यभिज्ञा'** इत्यादि । 'योऽहं सुप्तः सोऽहं जागर्मि' ( जो मैं सोया था वही मैं जागता हूँ ) यह प्रत्यभिज्ञा और जो जिसके व्यावृत्त होनेपर भी अनुवृत्त रहता है, वह उससे अतिरिक्त है, जैसे फूलोंसे सूत । अवस्थात्रयकी व्यावृत्ति होनेपर भी आत्मा अनुवृत्त है, इत्यादि पूर्वोक्त प्रकारसे अनुमान द्वारा भी आत्मा ज्ञात ही है, अतः प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणका व्यापार समाप्त है । इसलिए फिर अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है । अगर प्रमाणकी प्रवृत्ति न हुई होती, तो प्रमाणकी अपेक्षा होती । जब उक्त प्रकारसे प्रत्यभिज्ञा तथा अनुमान प्रमाणसे आत्मा सिद्ध ही है, तो आगमका व्यापार उसके लिए व्यर्थ है ॥ ६९ ॥

**'मानान्तरेण'** इत्यादि । मानान्तरसे—उक्त प्रत्यभिज्ञा और अनुमानसे—आत्मा सिद्ध है, अतः आत्माकी सिद्धिके लिए आगमका व्यापार नहीं है, किन्तु वासनाके निरोधमें पुरुषको श्रुति विनियुक्त करती है अर्थात् वेदान्तवाक्य आत्मस्वरूपके प्रतिपादनके लिए नहीं है क्योंकि आत्मस्वरूप तो प्रमाणान्तरसे ज्ञात ही है, इसलिए यदि वेदान्त उसका प्रतिपादन करेंगे, तो उनमें ज्ञातज्ञापकत्वलक्षण अप्रामाण्य हो जायगा, अतः वासनानिरोध और मनोनिरोधके लिए वेदान्त हैं, यही ठीक है ॥७०॥

**'अनिरोधे'** इत्यादि । यदि उक्त वासनाओंका निरोध न किया जायगा, [illegible] अनुवृत्ति हो जायगी । हो जाय क्या हानि

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवेति कौन्तय ! सदा तद्भावभावितः ॥ ७२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या याश्चाऽनात्मार्थवासनाः ।
निरोधनीयास्ताः सर्वा बिभ्यता भाविजन्मनः ॥ ७३ ॥
अनात्मप्रत्ययानन्तरितस्वात्मैकभावना ।
कार्या, तया निरुध्यन्ते वासना जन्महेतवः ॥ ७४ ॥

है ? हानि यह है कि भावी जन्म अनिवार्य हो जायगा । यदि वासना रहेगी तो वासनानुसार फिर जन्म होगा, फिर संसारनिवृत्तिरूप मोक्ष नहीं होगा । वासनाओंके रहनेपर अवश्य जन्म लेना पड़ता है ॥ ७१ ॥

इसमें गीतावाक्यको प्रमाण रूपसे कहते हैं—**'यं यं वाऽपि'** इत्यादि । अन्तकालमें जिस जिस भावका स्मरण करता हुआ पुरुष शरीरका त्याग करता है, उसी भावको प्राप्त होता है, क्योंकि सतत उसी भावकी वासनासे उसका अन्तःकरण वासित रहता है । यह भावना स्वाधीन नहीं है, किन्तु पूर्वजन्मार्जित शुभ और अशुभ कर्मोंके ( जैसा शुभकर्म या अशुभ कर्मका परिपाक प्रचुर होनेवाला है, उसीके ) अनुसार वासना होती है और तादृश वासनाके अनुरूप शरीर आदिका लाभ होता है । इसीलिए महात्मा लोग संसारकी भावना-का त्याग कर ईश्वरकी सतत भावना किया करते हैं तथा फलकी इच्छासे रहित होकर स्वाश्रमविहित नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं । ईश्वरकी निरन्तर भावनासे कतिपय अशुभ कर्मोंका नाश हो जाता है, तथा अन्त कालमें ईश्वरकी ही भावना होती है, इसलिए ईश्वरलोकप्राप्ति होती है, इसका प्रचुर उदाहरण पुराणादिमें प्रसिद्ध है ॥ ७२ ॥

**'जाग्रत्स्वप्न०'** इत्यादि । जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक वासनाएँ तथा आत्मातिरिक्त निखिल प्रपञ्चकी जितनी भावनाएँ हैं, उन सब वासनाओंका त्याग अवश्य करना चाहिए । अन्यथा इन्हीं वासनाओंसे जन्मान्तरकी प्राप्ति होगी । जिसको सकलदुःखनिदानभूत जन्मान्तरका भय है, अतएव जो उसे नहीं चाहता, उसको इन वासनाओंका अवश्य त्याग करना चाहिए ॥ ७३ ॥

अनात्मवासनाके त्यागका उपाय कहते हैं—**'अनात्म०'** इत्यादिसे ।

अनात्माकी—आत्मातिरिक्त सकल जड़की—भावनासे अनन्तरित—अव्यवहित—आत्मभावना—आत्माकी उपासना—करनी चाहिए । आत्माकी उपासनासे ही जन्म-हेतु वासनाओंकी निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं । अनात्मभावना तथा आत्मभावना

**उपासीत स्वमात्मानमिति साक्षाद्विधिश्रुतिः ।**
**तत्राङ्गभावसिद्ध्यर्थं चिदात्माऽनूद्यते श्रुतौ ॥ ७५ ॥**
**आत्मैकप्रत्ययो यावत् स्वभावात् सन्ततो भवेत् ।**
**कुर्यादुपासनं तावत् क्षीयन्ते वासनास्ततः ॥ ७६ ॥**

---

यदि दोनों होती रहेंगी, तो अन्तकालमें सम्भव है कि अनात्मवासनाएँ अभिव्यक्त हो जायँ, तो फिर तादृशवासनावश शरीरान्तरका धारण अवश्य करना पड़े। पुराण आदिमें जड़भरतादि बड़े-बड़े महात्माओंके केवल मृगादिके स्नेहवश अन्तकालमें मृगादिभावनाकी उत्पत्तिमात्रसे मृगादिशरीरका लाभ सुना जाता है, इसलिए अनात्मवासना सर्वथा त्याज्य है, इसके लिए 'अनन्तरित' यह विशेषण दिया है। इसका अर्थ यह है कि आत्मभावना अनात्मभावनासे व्यवहित न होने पावे। योग-शास्त्रमें इसीको ध्यान कहते हैं। तत्र 'प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' अर्थात् विजातीय प्रत्ययके निरासपूर्वक गृहीतविषयक प्रत्ययका निरन्तर उत्पाद प्रत्ययैकतानता है, दीर्घकाल तक आदर-सत्कारसे सेवित आत्मभावना दृढ़भूमि होती है। दृढ़भूमि आत्मभावनासे स्वविरोधी अनात्मभावनाकी निवृत्ति होती है और अन्त समयमें अनात्मसंस्कारोंके निरुद्ध होनेसे फिर जन्म प्राप्त नहीं होता, मुक्ति हो जाती है ॥७४॥

**'उपासीत'** इत्यादि। उक्त अर्थमें प्रमाण है—'आत्मानमुपासीत' यह श्रुति। उपासना, भावना, ध्यान और निदिध्यासन इन सबका एक ही अर्थ है। 'उपासीत' यह विधिश्रुति साक्षात् आत्मोपासनाकी विधायिका है। उपासनारूप क्रियाके कर्मकी सिद्धिके लिए चिदात्माका 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति अनुवाद करती है। उपासनाके कर्मके बोधनमें सब वेदान्तोंका उपयोग है ॥ ७५ ॥

इस प्रकारकी उपासनाकी अवधि कहते हैं—**'आत्मैक०'** इत्यादिसे।

जबतक मध्य-मध्यमें अनात्मभावना न हो, निरन्तर आत्मभावना स्वतः—अनायाससे—उत्पन्न होती रहे किसी समय आत्मभावनासे शून्य अन्तःकरण न हो, तबतक आत्मोपासना करे। इस उपासनासे जन्मारम्भक वासनाका क्षय हो जाता है।

इसका भाव यह है कि जब उक्त भावना हो, तब समझना चाहिए कि अब जन्मान्तर नहीं होगा। प्रारब्ध कर्मके भोगोंके अनन्तर शरीरपात होनेपर मुक्ति हो जायगी, इस विश्वासके लिए 'अवधि' यह विशेषण दिया है, उपासनाके त्यागके लिए नहीं। जबतक स्वतः आत्मभावना न होने लगे, तबतक आत्मोपासना कर्त्तव्य

अन्यदृष्ट्या जाग्रदाद्याः कल्प्यन्तां क्षीणवासने ।
विदुष्ययं स्वदृष्ट्या तु स्वात्मनोऽन्यन्न पश्यति ॥ ७७ ॥
देहं विनश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम् ।

है और जब स्वतः होने लगे तब नहीं, इस तात्पर्यसे 'कुर्यात्' कहा है अर्थात् तबतक ही करनी चाहिए, बाद तो स्वतः होती रहेगी । बाद न करना, ऐसा तात्पर्य नहीं है ॥ ७६ ॥

**'अन्यदृष्ट्या'** इत्यादि । जिस आत्मज्ञानीकी वासना क्षीण हो जाती है, उसमें भी जागर आदि अवस्थाएँ देखी जाती हैं । परन्तु ज्ञानी स्वात्मासे अतिरिक्त कुछ नहीं देखता । अज्ञानी उन अवस्थाओंकी कल्पना करता है, पर कल्पित अवस्थाओंसे आत्मामें संस्कार नहीं होता । जिस तरह मरुमरीचिकामें जलकी कल्पनासे मरुभूमि आर्द्र नहीं होती, उसी तरह तत्त्वज्ञानीमें पुरुषान्तरसे कल्पित जागरादि अवस्थाओंसे संस्कार नहीं होता, जिससे जन्मान्तरका भय हो । ज्ञानीको तो सकल प्रपञ्च आत्मस्वरूप ही प्रतीत होता है, अतिरिक्त नहीं । इसीसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह श्रुति संगत होती है । तुलसीदासजीने भी ज्ञानियोंके अभिप्रायसे 'सियाराम मय सब जग जानी । करौ प्रमाण जोरि युग पानी ॥' कहा है । 'नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति' इत्यादि वाक्य भी इसी अर्थके बोधक हैं ॥ ७७ ॥

जाग्रदादि अवस्था शरीरधर्म है । शरीरकी प्रतीति होनेपर उक्त अवस्थाओंकी भी प्रतीति होती है । जब ज्ञानीको शरीरकी प्रतीति नहीं होती, तब अवस्थाओंकी प्रतीतिका क्या सम्भव है ?

ज्ञानीको शरीरकी प्रतीति नहीं होती, इसमें श्रीमद्भागवतका श्लोक प्रमाणके लिए कहते हैं—**'देहं विनश्वरम्'** इत्यादिसे ।

मदिरामदान्ध—मद्यनशासे प्रमत्त पुरुष—जैसे स्वशरीरस्थित वस्त्र स्वस्थानसे हट गया है अथवा स्वस्थानपर ही है, यह नहीं जानता । अदृष्टवश कभी वस्त्र स्वस्थानपर ही रहता है, प्रमत्त पुरुषकी चेष्टासे नहीं । कभी स्वस्थानसे हट भी जाता है, कभी फिर स्वस्थानपर आ जाता है, ये सब क्रियाएँ अदृष्टवश हुआ करती हैं ज्ञानपूर्वक नहीं । अतएव प्रमत्त नहीं जानता कि क्या हुआ और क्या हो रहा है ? वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुष भी आसनसे अदृष्टवश उत्थित तथा स्थित

दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥ ७८ ॥
तस्मादशेषवेदान्ता वासनानां निरोधने ।
नियुञ्जते हि पुरुषमात्मोपासनमार्गतः ॥ ७९ ॥

विनश्वर स्वदेहका अनुसंधान नहीं करता, क्योंकि 'शरीरसे असंसर्गी आत्मा है, यह मेरा नहीं है, मुझसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है' यह दृढ़ निश्चय उसे हो गया है। ऐसी दशामें वह अध्यासके बिना 'मैं' या 'मेरा शरीर' यह व्यवहार कैसे कर सकता है ? इस प्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञानीको आत्मभावनासे अतिरिक्त किसी अन्यकी भावना नहीं रहती, यह बात श्रीमद्भागवतके ११वें स्कन्ध, १३वें अध्यायके ३६वें श्लोकमें वर्णितहै। और कुछ पाठभेदसे ३रे स्कन्ध २८वें अध्यायके ३७वें श्लोकमें भी है। पाठ इस प्रकार है—
देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥

चरमसिद्ध जीवन्मुक्त कहलाता है, कारण कि वह अपने शरीरके पातके अनन्तर विदेह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है, अतः चरमसिद्ध अर्थात् जीवन्मुक्त जीव जब अपने शरीरको ही नहीं देखता तब वह सुख-दुःखका अनुभव क्या करेगा ? सुख-दुःख तो शरीरसम्बन्धसे ज्ञात होता है। जब शरीरका ही भान उसे नहीं है, तब तद्द्वारा सुख-दुःखका भान कैसे हो सकता है ? आसनसे उत्थित, उठ कर फिर वहीं स्थित, वहांसे हटकर दूसरे स्थानपर स्थित और अदृष्टवश फिर उसी स्थानपर प्राप्त स्वशरीरको भी नहीं देखता, कारण कि वह शरीरसे आत्माको पृथक् जानता है अर्थात् मेरा देह नहीं है। वस्तुतः देहसम्बन्धशून्य आत्मा है, देह रहनेपर भी उसका अनुसन्धान नहीं होता, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—**'वासो यथा परिकृतं'** इत्यादि। परिवेष्टित कटिवस्त्र स्वस्थानपर है अथवा वहांसे च्युत हो गया है अथवा पुनः स्वस्थानपर आ गया है, यह जैसे मदिरामदान्ध नहीं जानता, वैसे ही निरन्तर आत्मभावनामें रत तत्त्वज्ञानी अनात्म शरीरादिका अनुसन्धान नहीं करता, प्रारब्ध कर्मवश शरीरका सम्बन्ध उसके साथ रहता है ॥ ७८ ॥

**'तस्मादशेष०'** इत्यादि। जन्मका मूलकारण वासना है, इसलिए आत्माकी उपासना द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त वासनाके निरोधमें पुरुषोंका विनियोग करते हैं।

अथवा मनसो रोधे मुमुक्षन्तं नियुञ्जते ।
तस्मिन्निरुद्धे निखिला निरुध्यन्ते हि वासनाः ॥ ८० ॥
तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावद्गतं क्षयम् ।
इति श्रुतिर्मनोरोधं विदधाति विमुक्तये ॥ ८१ ॥

मुक्तिकी कामनासे वासनाका निरोध अवश्य करना चाहिए, इस प्रकारके उपदेशके लिए वेदान्तवाक्य हैं। किसी विषयकी भावना मन अवश्य करता है। इसलिए आत्म-भावना द्वारा अनात्म-भावना निवृत्त हो सकती है, अन्यथा नहीं, इसलिए उपासनारूप आत्म-भावनाका 'आत्मानमुपासीत' इत्यादि वाक्यसे विधान किया गया है। वह आत्मा कैसा है, जिसकी भावना अनात्मभावनासे रहित हो, इस जिज्ञासासे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि आत्मस्वरूप-निरूपणके लिए वेदान्त हैं। वेदान्तके उपदशके बिना वास्तविक आत्माके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता। संसारदशामें सोपाधिक आत्माका भान रहता है। निरुपाधिक आत्मज्ञान ही मोक्षका साधन है, अतः मोक्षार्थियोंके लिए वेदान्तविचार आवश्यक है ॥ ७९ ॥

वासनाके निरोधके लिए वेदान्तवाक्य हैं, इस पक्षको कहकर मनके निरोधके लिए वेदान्तवाक्य हैं, ऐसा कहते हैं—**'अथवा'** इत्यादिसे।

अथवा सम्पूर्ण वेदान्त मुमुक्षुका मनोनिरोधमें विनियोग करते हैं। मनोनिरोध मुमुक्षुको अवश्य करना चाहिए, यही वेदान्तका उपदेश है। मनोनिरोधसे ही सब वासनाएँ निरुद्ध हो जायँगी। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इत्यादि वचनोंसे मनोनिरोधमें ही मुमुक्षु पुरुषोंका विनियोग है, आत्मावबोधमें नहीं। आत्मा तो प्रमाणान्तरसे भी ज्ञात ही है। 'योऽहं सुप्तोऽभवं सोऽहं जागर्मि' यह प्रत्यभिज्ञा प्रमाण पूर्वमें कह चुके हैं, तथा 'यस्मिन् व्यावर्तमाने यदनुवर्तते तत् ततो भिन्नम्' यह अनुमान भी कह चुके हैं, इन दोनों प्रमाणोंसे आत्मा सिद्ध है, अतः आत्मस्वरूपावबोधके लिए आगमकी आवश्यकता नहीं है ॥ ८० ॥

मनोनिरोधकी अवधि कहते हैं—**'तावन्मनो'** इत्यादिसे।

तबतक मनका निरोध करना चाहिए, जबतक संसारकी वासना नष्ट न हो जाय। वासनाका निरोध होनेपर तो मन स्वयं निरुद्ध हो जायगा, उसको निरोध करनेकी आवश्यकता न पड़ेगी। तत्तद्विषयाकार मनके परिणाममें वासनाएँ निमित्त हैं

पातञ्जलं योगशास्त्रं मनोरोधे समाप्यते ।
प्रवृत्तमनसो बन्धस्तन्निवृत्तौ विमुक्तता ॥ ८२ ॥
वासनामात्रहेतुत्वादात्मनोऽनर्थसङ्गतेः ।
अन्योपायोऽस्तु वा मा वा निरोधादेव मुक्तता ॥ ८३ ॥
स्वयञ्ज्योतिःस्वभावत्वान्निरुद्धस्वान्तवासनः ।
प्रमान्तरानपेक्षो हि स्वयमात्मा प्रकाशते ॥ ८४ ॥

---

वासनाओंका नाश होनेपर तो निमित्तके अभावसे ही मनका परिणाम नहीं होगा और मन स्वयं निरुद्ध रहेगा, इसलिए श्रुति मुक्तिके लिए मनोनिरोधका ही विधान करती है ॥ ८१ ॥

**'पातञ्जलम्'** इत्यादि । पातञ्जल—प्रतञ्जलिमहर्षिप्रणीत—योगशास्त्रका मनोनिरोधमें ही पर्यवसान है अर्थात् मोक्षके साधनके उपदेशके लिए प्रवृत्त योगशास्त्र मोक्षप्राप्तिके लिए मनोनिरोधका ही उपदेश देकर समाप्त किया गया है । मनोनिरोधसे अतिरिक्त उपायका निरूपण नहीं किया है । यदि मनोनिरोधसे अतिरिक्त उपाय होता, तो अवश्य उसका निरूपण करते। उपायान्तरके न होनेसे उक्त निरोधमें ही ग्रन्थसाधनांश समाप्त किया है.। बात भी यही ठीक है, क्योंकि मनकी प्रवृत्ति बन्ध है और बन्धकी निवृत्ति ही मोक्ष है, इससे मनोनिवृत्ति ही मोक्ष सिद्ध होता है ॥ ८२ ॥

**'वासनामात्र०'** इत्यादि । आत्मामें जितने अनर्थ—दुःखादि—प्रतीत होते हैं, वे सबके सब मनकी वासनासे ही होते हैं । सुषुप्ति अवस्थामें मनका लय होनेपर कोई दुःख प्रतीत नहीं होता है । जागरादि अवस्थामें जिन शरीरक्षतादिकोंसे दुःख होता है, वे सब सुषुप्ति अवस्थामें भी नहीं रहते हैं, इसीसे जागरावस्थाके सदृश सुषुप्ति अवस्थामें दुःख नहीं होता, इसका कारण मनोनिरोधसे अतिरिक्त और क्या कहा जाय ? दुःखहेतुके न रहनेपर भी सङ्कल्प द्वारा मन दुःखी करता है और दुःखहेतु रहनेपर भी मनोनिरोधदशामें दुःख नहीं होता, अतः अन्वय और व्यतिरेकसे अनिरुद्ध मन ही दुःखका मुख्य कारण है । इसलिए मुक्तिके लिए मनोनिरोध परम आवश्यक है । इसलिए कहते हैं—**'अन्योपायोऽस्तु'** दूसरा उपाय हो या न हो, परन्तु मनोनिरोधमात्रसे मुक्ति होती ही है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ८३ ॥

यदि वेदान्त मनोनिरोधपरक है, आत्मस्वरूपप्रतिपादनपरक नहीं है, तो आत्मस्वरूप प्रमाणान्तर—पूर्वोक्त अनुमान और प्रत्यभिज्ञा प्रमाण—से

एवं कार्यमुखेनैव ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत् ।
वेदान्तानां प्रमाणत्वं नाक्षवद्वस्तुनीष्यते ॥ ८५ ॥

सिद्ध मानते हैं, तो घटादिवत् अनात्मप्रसक्ति हो जायगी और वेदान्त-वेद्यता भी नहीं होगी । इसके निराकरणके लिए कहते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे । नित्यानित्यविवेकादि द्वारा जब मनकी संपूर्ण वासनाएं निवृत्त हो जाती हैं, तब निर्विरोधितया चित्स्वभाव होनेसे प्रकाशान्तर—पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञा तथा अनुमानकी अपेक्षा—के बिना आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है, अतः आत्माकी वेदान्तवेद्यता इष्ट नहीं है । जब किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, तब आगमकी भी अपेक्षा इष्ट नहीं है ॥८४॥

'एवम्' इत्यादि । पूर्वोक्त रीतिसे वेदान्त मनोनिरोधपरक हो सकता, यदि वेदान्तमें कहींपर मनोनिरोधका विधान होता, सो तो है नहीं, अतः निरोधविधिके शेषरूपसे वेदान्त प्रमाण नहीं हो सकता । यदि निरोधविधिके शेषरूपसे वेदान्त प्रमाण नहीं है, तो उसे अप्रमाण ही मानिए, यह कहना तो अत्यन्त असंगत है, कारण कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधिसे वेदान्तका भी अध्ययन विहित है । उक्त विधिसे अप्रमाणके अध्ययनका विधान नहीं है, किन्तु प्रयोजनवदर्थ-पर्यवसायी स्वाध्यायके अध्ययनका विधान है, अप्रामाणिक वाक्य सप्रयोजन नहीं होता, इसलिए वेदान्त प्रमाण है, यही मानना उचित है । जैसे प्रत्यक्ष वस्तु-विषयक प्रमाण है, वैसे ही आगम भी आत्मामें प्रमाण है, यह भी कहना ठीक नहीं है कारण कि घटादि जड़ पदार्थ है, इसलिए उसके प्रकाशके लिए परंपरया चक्षुरादिकी अपेक्षा होती है, आत्मा तो स्वयंप्रकाश है, अतः उसके प्रकाशनके लिए आगमकी क्या आवश्यकता ? अतः प्रत्यक्षादिकी तरह सिद्धार्थमें आगम प्रमाण नहीं हो सकता और अप्रमाण भी नहीं हो सकता, इसलिए 'समाहितो भूत्वा' इत्यादि वाक्यसे निरोध विहित है । 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' यह वाक्य जैसे नियोगपरक होनेसे प्रमाण है वैसे ही वेदान्तवाक्य भी नियोगविधिका शेष होकर प्रमाण होता है ? प्रत्यक्षकी तरह सिद्धार्थमें प्रमाण नहीं होता है। आत्मा स्वयं प्रकाश है, अतः उसमें प्रमाणान्तरका कुछ कृत्य ही नहीं है ॥ ८५ ॥

निरोधविधिका शेष वेदान्त है, इसमें यह भी प्रमाण है कि लोक या वेदमें जहाँ कहीं भी देखिए नियोगके बिना शब्दमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य नहीं है । लोकमें प्रयोक्ताका अभिप्रायविशेष ही नियोग है और वेदमें प्रयोक्ता कोई है नहीं, क्योंकि वेद अपौरुषेय है । इसलिए लिङादिशब्दनिष्ठ व्यापारविशेष

इति व्याचक्षते मन्दा नियोगार्थैकरागिणः ।
नैतत्साध्वभ्यधाय्यत्र नियोगस्याऽनपेक्षणात् ॥ ८६ ॥
कामितार्थस्य संसिद्धेर्लौकिकादेव मानतः ।
वैदिकेन नियोगेन किं कार्यं वद बुद्धिमन्! ॥ ८७ ॥
मनसो वासनानां च भावेऽनर्थोऽस्ति जाग्रति ।
तदभावे सुषुप्त्यादावनर्थो नैव वीक्ष्यते ॥ ८८ ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निरोधोऽनर्थवारणे ।
उपाय इति विज्ञातः किमपूर्वं विधीयते ॥ ८९ ॥

आत्मा नियोगका शेष होकर पुरुषार्थ है और नियोगशेष आत्मामें वेदान्त प्रमाण है, अतः शुद्ध और सिद्धमें वेदान्त प्रमाण है, इस आपके मतकी क्षति हुई । वेदान्त निरोधविधिका शेष है और कर्म भी विधिप्रकरणमें पठित हैं, इसलिए दोनों काण्डोंकी संगति भी सिद्ध हो जाती है, यह संक्षिप्त पूर्वपक्ष है, इसका खण्डन करते हैं—**'इति व्याचक्षते'** इत्यादिसे ।

वासनाके निरोधसे ही मुक्ति होती है, अतः वेदान्त उक्त निरोधविधिका शेष है, नियोगार्थैकपक्षपाती मन्दोंका यह व्याख्यान समीचीन नहीं है, कारण कि नियोगके बिना भी वासनाके निरोधसे मुक्ति होती है, यह लौकिक प्रमाणसे ही सिद्ध होता है, इसके लिए वेदान्तप्रामाण्यकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ८६ ॥

**'कामितार्थ'** इत्यादि । वासनाके निरोध तथा मनके निरोधसे मुक्ति होती है, यह अभीष्ट अर्थ प्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्ध है, इसके लिए नियोगका क्या काम ? इसका उत्तर हे बुद्धिमन् ! कहो ॥ ८७ ॥

**'मनसो'** इत्यादि । जागरावस्थामें मन और वासनाके रहनेसे कर्तृत्वादि अनर्थ—अनात्मपदार्थ—रहता है और सुषुप्तिदशामें मन और वासनाके अभावसे उक्त अनर्थ नहीं रहता, इस अन्वयव्यतिरेकलिङ्गक अनुमान तथा प्रत्यक्षसे **यह निश्चय होता है** कि मन और वासनाके निरोधसे मुक्ति होती **है** ॥८८॥

यही स्पष्ट करते हैं—**'अन्वय'** इत्यादिसे ।

उक्त **अन्वय और व्यतिरेकसे अनर्थकी निवृत्तिका** उपाय **मनोवासनानिरोध है,** यह ज्ञात होता ही है, फिर अपूर्व क्या करेगा ? तात्पर्य यह है कि वासना तथा मनके निरोध द्वारा मुक्ति होती है, इसके प्रतिपादनके लिए वेदान्त हैं, इस मतमें वेदान्तशास्त्र व्यर्थ और अप्रमाण है, कारण कि अज्ञातके ज्ञापनके

अन्तरेणापि वेदोक्तं बौद्धादेरिव सिद्धयति ।
पुरुषार्थो विमोक्षाख्यो वेदान्तो निष्फलो भवेत् ॥ ९० ॥
शून्यं स्वलक्षणं दुःखं क्षणिकं चेति भावनात् ।
तदन्यवासनारोधे मुक्तिः स्यादिति सौगतः ॥ ९१ ॥

लिए शास्त्र है, जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे ज्ञात हो जाता है, उसके लिए शास्त्र व्यर्थ है। 'अज्ञाते शास्त्रमर्थवत्' यह पूर्वाचार्योंका सिद्धान्त है। उक्त निरोधसे मोक्ष होता है, यह तो प्रत्यक्ष तथा उक्त अन्वयव्यतिरेकलिङ्गक अनुमानसे निश्चित होता ही है, इसमें शास्त्रविधिकी क्या आवश्यकता ?

यदि यह कहिए कि अनर्थ और तद्धेतु विषयमें आगम सार्थक नहीं है, कारण कि जागरावस्थामें वासनाके रहनेसे अनर्थका भान होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। किन्तु वासनाके निरोध और मनके निरोधके विषयमें शास्त्र सार्थक है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि समाधि द्वारा मनका निरोध करनेपर जागरादि वासनाएँ निरुद्ध होती हैं, अन्यथा नहीं। इस अन्वय और व्यतिरेकसे मनोनिरोधरूप उपायसे वासनारूप बन्धहेतुका ध्वंस होनेके कारण 'हेत्वभावे फलाभावः' इस न्यायसे बन्धसंज्ञक अनर्थ निवृत्त होता है। इस तरह वेदान्तशास्त्रके बिना भी पुरुषार्थ और उसके कारणकी सिद्धि होती है, अतः शास्त्रानर्थक्य उक्त मतमें दुर्वार है ॥ ८९ ॥

'अन्तरेणाऽपि' इत्यादि। वैदिक वचनके बिना मोक्षरूप पुरुषार्थ और उसका हेतु मनोवासनानिरोध अनुमानसे सिद्ध है, अतः बौद्धकी तरह आपके मतमें भी वेद अनर्थक हो जायगा ? क्योंकि लिङ्गादिसे ज्ञात अर्थके ज्ञापनके लिए शास्त्र सार्थक नहीं होता ॥ ९० ॥

'शून्यम्' इत्यादि। 'अहम्' ( मैं ) इस प्रतीतिसे अतिरिक्त आत्मा नहीं है, समानसन्तानान्तःपाती क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है। यद्यपि वे स्थायित्वानुसन्धानकल्पनासे, राग आदि दोष और विषयोंसे उपप्लुत ही उत्पन्न होते हैं, तथापि 'सर्वं क्षणिकम्'—सब क्षणिक हैं, इस भावनासे स्थायित्व आदि की कल्पना निवृत्त होती है। स्वलक्षणभावनासे द्रव्य, गुण आदि विशेषणविशेष्यकी कल्पना नष्ट होती है। 'दुःखम्' इस भावनासे रागादिदोषमूलक प्रवृत्ति, सुख और दुःखके उपप्लवोंका विनाश होता है। 'शून्यम्' इस भावनासे विषयोंके उपप्लवका निरास होता है, इसके बाद सर्वोपप्लवरहित विज्ञानोत्पत्तिरूप मुक्ति होती है, यह बौद्धका सिद्धान्त है। इस मतमें विशुद्ध विज्ञानकी

त्यक्त्वाऽपि वैदिकं मार्गं वासनानां निरोधतः ।
न सम्पादयितुं मोक्षं शक्नोष्येवानिरूपणात् ॥ ९२ ॥
वासनाशब्दवाच्याः किं संस्काराः स्मृतिहेतवः ।
नेत्रादिव्यवहारो वा, नाद्ये तद्रोधसम्भवः ॥ ९३ ॥
व्यतीतानेकजन्मोत्थवासनानामनन्ततः ।
तासां निरोधोऽसम्भाव्यो जन्मन्येकत्र मानवैः ॥ ९४ ॥
कासांचिदप्यसम्भाव्य उपायस्याऽनवेक्षणात् ।
चिरव्यवहितोप्यर्थोऽकस्मात्स्मर्यत एव हि ॥ ९५ ॥

---

उत्पत्ति ही तत्त्वज्ञान है। उपप्लव अशुद्धि है। पूर्वोक्त तत्तद्भावनासे उक्त रीतिसे तत्–तद् दोषोंकी निवृत्ति होती है, तदुत्तर विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होती है तथा तदनन्तर शून्यतापत्ति होती है ॥ ९१ ॥

'त्यक्त्वाऽपि' इत्यादि। वैदिक मार्गका त्याग करके भी वासनाओंके निरोधसे मोक्षका सम्पादन नहीं कर सकते, क्योंकि वासनाके निरोधका ही असम्भव है ॥ ९२ ॥

असम्भवका उपपादन करते हैं—'वासना' इत्यादिसे।

वासनाशब्दसे क्या विवक्षित है, क्या स्मृतिके कारण संस्कार अथवा नेत्रादिव्यवहार ? प्रथम पक्षमें तो स्मृतिके निरोधका असम्भव है ॥ ९३ ॥

'व्यतीता०' इत्यादि। अतीत अनेक जन्मोंमें अर्जित वासनाएँ असंख्य हैं, अतः उन सब वासनाओंका निरोध एक जन्ममें मनुष्योंसे असम्भव है ॥ ९४ ॥

'कासांचिद्०' इत्यादि। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि सम्पूर्ण वासनाओंका निरोध मोक्षका कारण है या किन्हीं वासनाओंका निरोध मोक्षका कारण है ? प्रथम पक्ष तो प्रथम श्लोकसे ही निराकृत हो गया। सकल वासनाएँ अनन्त हैं, अतः उन सबका निरोध मनुष्य नहीं कर सकता, देवता भले ही कर सकें; पर उनके लिए शास्त्र नहीं है। द्वितीय पक्षमें कुछ वासनाओंका निरोध होनेपर मोक्ष असम्भाव्य है, कारण कि जिन वासनाओंका निरोध नहीं होगा, तन्निमित्तक यदि अनर्थका भान होगा, तो फिर मुक्ति कहाँ ?

यदि अनन्तर दो तीन जन्मकी वासनाएँ निरुद्ध हो जायँ, तो चिर-व्यवहित पूर्व वासनाएँ रहें, पर अनर्थभान प्रयोजक नहीं है, यह निश्चय करना प्रमाणशून्य है। देशकालनिमित्तभेद वासनाका समुद्बोधक है। यदि अनेक

किञ्च यां वासनां रोद्धुमिच्छेत्तद्विषये मनः ।
सदेव सावधानं सद् दृढं प्रत्युत वासयेत् ॥ ९६ ॥
निवारयितुमिच्छन्तश्चतुर्थीचन्द्रदर्शनम् ।
कस्मादपि गृहच्छिद्रात्पश्यन्त्येव यथा तथा ॥ ९७ ॥

जन्मके बाद वासनासमुद्बोधक सामग्री उपस्थित होगी, तो अनर्थभान अवश्य होगा । यह योगशास्त्रके भी अनुसार है । कई जन्मतक पश्वादि योनिमें रहनेपर फिर यदि मनुष्य योनि प्राप्त होती है, तो अनेकजन्मव्यवहित मनुष्ययोनिकी वासना समुद्बुद्ध हो जाती है, अतएव बालक मनुष्योचित व्यवहार करता है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—**'चिरव्यवहितः'** इत्यादिसे ।

चिर-व्यवहित भी अर्थ अकस्मात् दृष्ट कारणके बिना अदृष्टवश स्मृतिगोचर होता है। अकस्मात्का कारणके बिना यह अर्थ नहीं है, क्योंकि कारणके बिना कार्य नहीं हो सकता । इसलिए अदृष्ट कारणसे स्मरण हो जाता है, यह अर्थ ठीक है । अतः कतिपय वासनाओंका निरोधमोक्षका उपाय नहीं है और ऐसी दशामें मोक्षोपायका निर्णय हो सकेगा । किन्हीं वासनाओंका निरोध मोक्षके लिए अपेक्षित है । कतिपय वासनाएँ तो संसारदशामें भी निरुद्ध रहती हैं । सब वासनाओंकी अभिव्यक्ति तो एक समयमें होती नहीं ॥ ९५ ॥

**'किञ्च'** इत्यादि । इस प्रकार भी वासनाका निरोध कठिन है । मुमुक्षु जिस वासनाको रोकनेकी इच्छा करेगा, उस विषयमें सावधान मनवाला पुरुष उस वासनाको और भी दृढ़ करेगा । मनसे दो प्रकारका ज्ञान होता है, एक संस्काराधायक, जिसको कि अपेक्षा बुद्धि कहते हैं । दूसरा संस्कारानाधायक, जिसको उपेक्षा ज्ञान कहते हैं । अवधानपूर्वक मनसे जो ज्ञान होता है, उससे वासना उत्पन्न होती है । प्रकृत मनके निरोध या वासनाके निरोधके लिए यदि मनको सावधान करेंगे, तो वासनाकी उत्पत्ति जैसे अवहित मनमें होती है वैसे ही निरोधस्थलमें भी होगी, निरोध नहीं होगा। अतः वासनाके निरोधके लिए जो मनोव्यापार होगा, उससे वासना और दृढ़ होती जायगी, अतः वासनाके निरोधसे मोक्ष होता है, यह मत सर्वथा असंगत है ॥ ९६ ॥

द्वितीय पक्षका निराकरण करते हैं—**'निवारयितुम्'** इत्यादिसे ।

भाद्र शुक्ल चतुर्थीके चन्द्रका दर्शन कलङ्कप्रद है । इस कारण भारतीय आर्यगण आज चन्द्रदर्शन न करेंगे, ऐसा सङ्कल्प करके असावधानीसे कहीं चन्द्र-

नेत्रादिव्यवहाराश्चेद्वासनाः स्युस्तथापि च।
तन्निरोधान्न मोक्षोऽस्ति विना ब्रह्मात्मदर्शनम् ॥ ९८ ॥
वासनानामभावेऽपि सुषुप्त्यादौ न मुक्तता ।
मानव्यापारविरहान्न प्रतीतिर्दृगात्मनः ॥ ९९ ॥

दर्शन न हो जाय, इस भयसे घरमें बैठ जाते हैं। उस दिन लोग ढेला भी दूसरेके घरमें फेंकते हैं, कारण कि यदि चन्द्रदर्शन हो जाय, तो उसका प्रतीकार दूसरेके घरमें रोड़ा फेंकनेसे हो जाता है, ऐसा वे मानते हैं, परन्तु दुश्चेष्ट लोग कौतुकवश दूसरेके घरमें रोड़ा फेंकते हैं, इस कारण भी शान्तप्रकृतिके लोग घरमें बैठे रहते हैं। फिर भी असावधानीसे किसी गृहच्छिद्रसे चतुर्थीके चन्द्रका दर्शन हो ही जाता है, क्योंकि चक्षुःसंयोग दुर्निवार होता है ॥ ९७ ॥

'नेत्रादि' इत्यादि। यदि नेत्रादिव्यवहारको वासना मानें, तो भी वासनाके निरोधसे मोक्ष होता है, यह पक्ष असंगत है, क्योंकि ब्रह्मात्मदर्शनके बिना मोक्ष नहीं हो सकता, यही सिद्धान्त युक्ति-युक्त है ॥ ९८ ॥

'वासनानाम्' इत्यादि। सुषुप्तिदशामें वासनाओंके न होनेपर भी मोक्ष नहीं होता। अतः वासनानिवृत्ति मोक्षसाधन नहीं है। स्वप्नावस्थामें वासनाओंकी निवृत्ति नहीं होती, किन्तु कारणरूपसे रहती है, अतएव उनका पुनरुत्थान होता है और तभी उठनेके बाद इतना काम कर चुके हैं, इतना बाकी है, यह परामर्श होता है। यदि उक्त परामर्श नहीं होता, तो मुक्तिकी अवस्थामें भी यह शङ्का हो सकती है कि वासनाएँ कारण रूपसे स्थित हैं, निवृत्त नहीं हुई। यदि यह कहिए कि सुषुप्ति-अवस्थामें वासनाका हेतु रहता है, अतः जागरावस्थामें फिर वासनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं इस कारण उक्त अवस्थामें मुक्ति नहीं होती और मुक्तिदशामें वासनाके हेतुका नाश हो जाता है, अतः पुनः वासना नहीं होती। ऐसी अवस्थामें वासनाके हेतुका नाश ज्ञानसे होता है, यही मानना होगा, क्योंकि दूसरा तो कोई कारणविशेष व्यवस्थित नहीं है, ऐसा माननेपर हमारा ही मत सिद्ध होता है। और जो यह कहा गया है कि आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः वासनाओंके निवृत्त होनेपर जो आत्मप्रकाश होता है वह भी स्वप्नावस्थामें व्यभिचारी है। यद्यपि स्वरूपप्रकाश रहता है, फिर भी प्रमाणके बिना आत्मप्रकाशका व्यवहार नहीं हो सकता। उक्त अवस्थामें प्रमाणोंका लय माना जाता है, अतः प्रमाणाभावसे व्यवहार नहीं होता, इसी तात्पर्यसे कहते हैं—'मानव्यापारविरहान्न' इत्यादि ॥ ९९ ॥

हेतुश्चात्मानर्थसङ्गे ह्यविद्यैव न वासना ।
वासनानामपि युतौ सैव यस्मादपेक्ष्यते ॥ १०० ॥
अविद्यामन्तरेणात्मन्यसङ्गे वासनायुतिः ।
अनर्थसङ्गतिर्वैषा शङ्कितुं न च शक्यते ॥ १०१ ॥
न वासनानिरोधेन नापि चित्तनिरोधतः ।
शक्योच्छेत्तुमविद्यैषा विनैकात्म्यावबोधनम् ॥ १०२ ॥
सति त्वात्मावबोधेऽस्मिन्नविद्याया निवृत्तितः ।
वासनानर्थसङ्गोऽयं स्वतोऽसङ्गान्निवर्त्तते ॥ १०३ ॥

---

पुरुष स्वतः असंग है, परन्तु उसमें कर्तृत्वादि अनर्थसंग अविद्यासे होता है, यह वेदान्त-सिद्धान्त है। यदि कर्तृत्वादि संग वासनासे माना जायगा, तो वासनाका संग किन्निमित्तक है? यह प्रश्न होनेपर यदि निमित्तान्तर कहा जायगा, तो उसके संगमें भी क्या निमित्त है? यह प्रश्न उठेगा इस प्रकार अनवस्था हो जायगी, इसलिए अविद्याको ही निमित्त मानना उचित है। अविद्या तथा वासना कर्तृत्वादि अनर्थके आरोपमें कारण हैं। विद्यासे अविद्या की निवृत्ति होनेपर मोक्षकी उपपत्ति होती है। अविद्याके सदृश वासनाको ही निखिल संगका निमित्त क्यों नहीं मानते? वासना स्वयं कार्य है इसलिए कार्य-मात्रमें उसका अन्वय नहीं हो सकता, अतएव वह यदि कार्यमात्रका उपादान नहीं हो सकती तो फिर स्वोत्पत्तिमें स्वयं उपादान कैसे होगी? अविद्या तो अनादि है, अतः कार्य नहीं है और सब कार्यमें अन्वित है, इस कारण उपादान है। अतः अविद्याके नाशसे मोक्ष होता है, वासनाके निरोधसे नहीं, यही सिद्धान्त विद्वानोंको अभिमत है, दूसरा नहीं ॥ १००, १०१ ॥

**'अविद्याम्'** इत्यादि। असङ्ग आत्मामें अविद्याके बिना वासनाका योग अथ च अनर्थसंगतिकी शङ्का भी नहीं कर सकते, क्योंकि किसीका वास्तविक सम्बन्ध कूटस्थ नित्य आत्मामें नहीं हो सकता, किन्तु मरुमरीचिकामें जलप्रतीतिके सदृश आत्मामें अनर्थप्रतीति अविद्यासे ही होती है ॥ १०२ ॥

**'सति स्वात्मावबोधे'** इत्यादि। स्वात्माके यथार्थज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। अविद्याका विद्याके साथ विरोध है। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुति-वाक्यसे वास्तविक असङ्गज्ञान होनेपर वासना तथा अनर्थसङ्ग ये दोनों स्वतः याने

साक्षादात्मावबोधेन प्रत्यग्ध्वान्तच्छिदा न चेत् ।
दुःखादिवासनाध्वस्ता कथं तद्वासना नुदेत् ॥ १०४ ॥
उपासनाचित्तरोधविधी यावुदितौ त्वया ।
तौ स्तां तथैव बोधस्य हेतुत्वेनाभ्युपैमि तौ ॥ १०५ ॥
लौकिकव्यवहारेषु प्रवृत्ता धीरुपासनात् ।
अन्तर्मुखा सती स्वात्मविचारक्षमतां व्रजेत् ॥ १०६ ॥

---

कारणान्तरके बिना ही निवृत्त होते हैं। जब आत्मामें सङ्गसामान्याभावका निर्णय हो गया, तो सङ्गविशेषका क्या प्रसङ्ग ? ॥ १०३ ॥

**'साक्षादात्मावबोधेन'** इत्यादि । प्रमाणजन्य आत्माके परोक्षज्ञानसे अविद्या-ध्वंस द्वारा वासनाकी निवृत्ति होती है और तदनन्तर मोक्ष होता है, यह कहिए तो मेरा ही मत सिद्ध होता है। यदि उक्त ज्ञान अज्ञान और उसकी सत्ताका निवर्तक नहीं है किन्तु ज्ञानभावना अज्ञान और तद्वासनाकी निवर्तिका है, तो चिरकालानुगत प्ररूढ़मूल दुःखादिभावनासे विनष्ट स्वल्पज्ञानाभ्यासवासना सकार्य अज्ञानकी निवर्तिका कैसे होगी ? अचिरकालोत्पन्न तत्त्वज्ञान अनादि कालसे प्राप्त अतएव प्ररूढ़मूल भी अज्ञानका निवर्तक होता है। बुद्धिका तत्त्वमें पक्षपात है, अतः तत्त्वविषयकत्वेन उक्त आत्मज्ञान अज्ञानसे प्रबल है। तदुभय-वासनाओंमें चिरस्थायित्व और अचिरस्थायित्वसे ही बलाबलका निर्णय किया जायगा, अतः ज्ञानभावना ही दुर्बल होगी या अज्ञानभावनासे स्वयं नष्ट हो जायगी। इस परिस्थितिमें अज्ञान या तद्भावनाकी निवर्तिका नहीं हो सकती। वार्तिकमें 'भावना नुदेत्' यह पाठ है। वार्तिकसारमें 'वासना नुदेत्' ऐसा पाठ है। दोनोंका अर्थ एक ही है, भावनापर्यायवाची वासनाशब्द है, 'विमर्शो भावना चैव वासना च निगद्यते' यह अमरकोश है॥१०४॥

**'उपासना'** इत्यादि। उपासना तथा चित्तनिरोधविधि जो आपने कही हैं वे वैसे ही रहें अर्थात् उन्हें हम भी मानते हैं, किन्तु भेद इतना ही है कि आप उन्हें मोक्षहेतु मानते हैं, हम मोक्षज्ञानहेतु मानते हैं ॥१०५॥

वेदान्तवाक्यसे आत्मज्ञान हो ही जायगा, फिर आत्मज्ञानके लिए उपासना तथा निरोध और विधियों को क्यों मानते हैं, इस शङ्काका समाधान करते हैं— **'लौकिकव्यवहारेषु'** इत्यादिसे।

शब्दस्पर्शादिरहितमात्मानं स्थूलधीर्नहि ।
द्रष्टुं शक्नोति सौक्ष्म्यार्थं धीनिरोधो विधीयताम् ॥ १०७ ॥
एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मयेति श्रुतेर्वचः ॥ १०८ ॥
अन्तर्मुखा सूक्ष्मबुद्धिः शास्त्रजन्यविवेकतः ।
पश्यत्यद्वैतमात्मानं न पुनर्वीक्षतेऽन्यथा ॥ १०९ ॥
प्रमितस्याऽऽत्मतत्त्वस्य बाधाभावात् सदा तथा ।
अर्थात्सिद्धा वासना स्यादन्त्यबुद्धिश्च नाऽन्यथा ॥ ११० ॥

बाह्यव्यवहारोपयोगी आत्मज्ञान वाक्यसे होता है, इसमें विधिकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु मोक्षोपयोगी निर्विकल्पक ज्ञान उपासना द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार यद्यपि इन्द्रियादि द्वारा बाह्यविषयक ज्ञान स्वभावतः होता ही है, तथापि इन्द्रियोंकी वृत्ति अन्तर्मुख होनेके लिए प्रयत्नान्तरकी अपेक्षा होती है, अतः अन्तर्मुख मनोवृत्तिके लिए आत्मोपासना आवश्यक है । आत्मोपासनाके अभ्याससे कर्तृत्वादिधर्मशून्य केवल आत्मज्ञान होता है, तदनन्तर अज्ञानकी निवृत्ति द्वारा मोक्षाभिव्यक्ति होती है, इस तात्पर्यसे स्वात्मविचारक्षम ज्ञानोत्पत्तिके लिए विधि आवश्यक है ॥ १०६ ॥

ज्ञानोत्पत्तिमें निरोधविधिका उपयोग कहते हैं—'**शब्दस्पर्शादि०**' इत्यादि । शब्द, स्पर्शादिसे रहित आत्माका स्थूल बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिए सूक्ष्म वस्तुके ग्रहणकी योग्यताके सम्पादनके लिए मनोनिरोधकी अपेक्षा है ॥१०७॥

एकाग्रताके बिना आत्माका यथार्थज्ञान नहीं होता, इस अर्थमें श्रुति प्रमाण कहते हैं—'**एष सर्वेषु**' इत्यादि ।

यह आत्मा सब प्राणियोंमें गूढ़—छिपा—है, अतएव प्रकाशित नहीं होता, परन्तु सूक्ष्म अर्थात् श्रेष्ठ बुद्धिसे दीख पड़ता है, यह श्रुतिवचन है ॥ १०८ ॥

'**पश्यत्य०**' इत्यादि । शास्त्रपरिशीलनजन्य विवेकसे अन्तर्मुख सूक्ष्म बुद्धि अद्वितीय आत्माको देखती है, प्रकारान्तरसे आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता ॥१०९॥

यद्यपि वेदान्तशास्त्रके परिशीलनसे विवेक—ज्ञान—होता है, तथापि चरम अद्वितीय आत्माके बोधके लिए निरोधविधिकी अपेक्षा है, अन्यथा मध्यमें आत्मवासनाकी निवृत्ति हो जायगी, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं— '**प्रमितस्य**' इत्यादि ।

अन्त्यबुद्धेरन्यथात्वासम्भवे जन्म भाव्यपि।
न भवेद्विदुषस्तस्माज्ज्ञानिनोऽनर्थको विधिः॥ १११॥
ननु सार्थो विधिर्यस्मात् सिद्धो देहं न पश्यति।
अविधौ चित्तचाञ्चल्याद् दृश्येतैव स्वकं वपुः॥ ११२॥
नैतत् किं वासनारोधात् किं वा चित्तनिरोधतः।
अद्वितीयात्मबोधाद्वा देहादर्शनमुच्यताम्॥ ११३॥

प्रमित आत्मतत्त्वका बाध नहीं हो सकता, इसलिए उत्पन्न हुई आत्मभावना मरणपर्यन्त स्वभावतः अनुवृत्त रहेगी, अतः तथाविध अन्त्य प्रत्ययके लिए आत्मभावनाकी अपेक्षा नहीं है। प्रमाज्ञानका अप्रमाज्ञानसे बाध नहीं हो सकता। जबतक आत्माका विवेक द्वारा प्रमाज्ञान नहीं होता, तबतक उपासना तथा मनोनिरोधकी जरूरत है। जब शास्त्र द्वारा प्रमाज्ञान उत्पन्न हो गया तब मध्यमें कोई बाधक न होनेसे स्वभावसे ही सदा अनुवृत्त रहेगा, फिर अन्त्य प्रत्ययके लिए निरोधविधि अपेक्षित नहीं है। इस परिस्थितिमें वासना तथा अन्त्य बुद्धिके स्वभावतः होनेके कारण उसके लिए निरोधविधि अनावश्यक है। वासना तथा अन्त्य बुद्धि निरोधविधिके अधीन नहीं है॥ ११०॥

'अन्त्यबुद्धे०' इत्यादि। प्रमितविषयक होनेसे अन्त्य बुद्धि अन्यथा नहीं हो सकती अर्थात् आत्मविषयक बुद्धिकी निवृत्ति हो जाय और अनात्मविषयक बुद्धिकी उत्पत्ति हो जाय, ऐसा नहीं होता। यदि ऐसा हो, तो जन्मान्तरकी सम्भावना हो सकती है, परन्तु अबाधितविषयक होनेसे अन्त्यबुद्धिकी सतत अनुवृत्ति रहेगी। अतः ज्ञानीके जन्मान्तरकी सम्भावना नहीं है, फिर उसके लिए निरोधादिविधि व्यर्थ ही है।

'ननु सार्थो' इत्यादि। यदि निरोधमें विधि न मानेंगे, तो चित्तके चञ्चल होनेसे सिद्ध पुरुष स्वशरीरको भी अवश्य देखेगा, क्योंकि शरीर अति सन्निहित है और मन अतिचञ्चल है। निरोधमें विधि माननेसे यदि शरीरदर्शनोन्मुख चित्त होगा, तो तुरन्त निरोध कर लेंगे, अतः शरीरादिका भान भी उन्हें न होगा॥ ११२॥

उक्त शङ्काका समाधान करनेके लिए विकल्प करते हैं—'नैतत्' इत्यादिसे। जीवन्मुक्तके स्वदेहके अदर्शनमें क्या निमित्त है? वासनानिरोध किं वा मनोनिरोध अथवा अद्वितीयात्मबोध?॥ ११३॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि ह्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ११६ ॥
इत्याद्याः श्रुतयो बोधादज्ञानप्रविलापनात् ।
अनात्मदृष्टिशोकादीन्वारयन्ति न रोधतः ॥ ११७ ॥
चित्तस्य वासनानां वा निरोधाद् यो न पश्यति ।
सुप्तेषुकारवत्तस्य विद्यया न विलापनम् ॥ ११८ ॥

इसीको स्पष्ट करनेके लिए श्रुत्यन्तरका संवाद कहते हैं—**'यस्मिन्'** इत्यादि ।

जिस ब्रह्मके ज्ञात होनेपर तत्त्वज्ञानी विद्वान्‌के लिए सब जगत् जब आत्मस्वरूप होता है, अर्थात् सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व दीखता है, तब उसे शोक और मोह कहां ? इष्ट-वियोगसे शोक होता है । आत्मव्यतिरिक्तके इष्ट होनेपर वह विनाशी है, अतः उसके वियोगसे अनात्मज्ञको शोक होता है, तत्त्वज्ञानीको आत्मा ही इष्ट है, सो अविनाशी तथा नित्य प्राप्त होनेसे वियोगनिबन्धन शोक नहीं हो सकता । मोह भी अज्ञाननिमित्तक होता है । आत्मज्ञानीको मूलभूत अज्ञान ही नहीं है, तो मोह भी नहीं हो सकता । तथा मोह भी द्वैताश्रय है, जैसे कि शुक्तिमें रजतका मोह होता है । ज्ञानीको आत्मातिरिक्त पदार्थका भान नहीं है, अतः मोह भी नहीं हो सकता । सबमें अनुगत कारण है—आत्मैकत्वदर्शन ॥११६॥

**'इत्याद्याः'** इत्यादि । पूर्वोक्त श्रुतियां आत्मज्ञानसे अज्ञानके प्रविलयका बोधन कराती हैं, अज्ञानके प्रविलयसे अनात्मदृष्टि तथा अनात्मदृष्टिजनित शोकादिका निवारण करती हैं, निरोधसे नहीं, अतः निरोधसे ज्ञानी स्वशरीरादि नहीं देखता, यह मत श्रुतिविरुद्ध होनेसे अनादरणीय है ॥ ११७ ॥

**'चित्तस्य'** इत्यादि । शुक्तिके साक्षात्कारसे रजतोपादान अज्ञानके साथ जैसे रजतका लय हो जाता है, वैसे आत्मसाक्षात्कारसे आत्माश्रित अज्ञानके साथ तत्कार्य द्वैतका यदि लय नहीं होगा, तो वासनादिके निरोधसे द्वैतका अभाव होनेपर भी मुक्ति नहीं हो सकेगी, इस अभिप्रायसे कहते हैं कि चित्त या वासनाके निरोधसे जो अनात्म पदार्थोंको नहीं देख सकता, उसका अदर्शन सुप्त पुरुष तथा इषुकार—बाणनिर्माणकर्ता—शिल्पीके अदर्शनके समान है, जैसे उनका अदर्शन विद्या द्वारा अविद्या और तत्कार्यके विलयप्रयुक्त नहीं है, किन्तु अविद्या और

निद्राभिभूतचित्तस्य यदन्यादर्शनं न तत् ।
बोधप्रयुक्तं तद्वत्स्याद्धिषणारोधवादिनः ॥ ११९ ॥
इष्वासक्तमनस्केन ह्यन्यचित्ततया पुरः ।
सैन्यं न दृश्यते तद्वद्भासनारोधवादिनः ॥ १२० ॥

तत्कार्यके रहनेपर सुषुप्तको साधनाभावसे और इषुकारको अन्यासक्त मन होनेसे इतर पदार्थका भान नहीं होता, वैसे ही मनोनिरोधसे शरीरादिका अभान होनेपर भी मुक्ति नहीं हो सकती ॥११८॥

**'निद्राभि०'** इत्यादि । जैसे निद्रासे जिसका चित्त लीन हुआ है, ऐसे पुरुषको जो पदार्थान्तरका अदर्शन होता है, वह बोधप्रयुक्त नहीं है, वैसे ही निरोधवादीके मतमें बुद्धि हो जायगी । निद्राभिभूतचित्तका सुषुप्तिमें तात्पर्य है । स्वप्नमें तो अन्यादर्शन नहीं है, किन्तु अन्यदर्शन ही है । यद्यपि सुषुप्तिमें बुद्धि ही नहीं है, तथापि अन्यादर्शन तो होता ही है । अन्यादर्शन दो प्रकारके होते हैं—सर्वथा दर्शनाभाव और तन्मात्रादर्शन । पहलेके विषयमें सुषुप्ति दृष्टान्त है, दूसरेमें ग्रन्थकारका अग्रिम श्लोक दृष्टान्त है ।

यदि चित्तनिरोधशील पुरुषकी बुद्धि आत्मविषयके बिना सुषुप्तिके सदृश विषयान्तरागोचर है, तो निष्फल है, क्योंकि इस अन्यादर्शनसे मुक्ति नहीं होती, अन्यथा सुषुप्ति भी मुक्तिकी साधन हो जायगी ॥ ११९ ॥

**'इष्वासक्त०'** इत्यादि । इषुके निर्माणमें दत्तचित्त शिल्पी इषुकार जैसे सामनेसे गई हुई राजसेनाको नहीं देखता, राजसेना इधरसे गई या मार्गान्तरसे ? ऐसा किसीके प्रश्न करनेपर इषुकार उत्तर देता है कि अनन्यचित्त होकर इषुके निर्माणमें लगे रहनेसे मैंने इस मार्गसे किसी भी सेनाको जाते नहीं देखा । इस प्रकार पराभिमत वस्तुमें चित्तको निरुद्ध कर तदन्यादर्शन भी होता है, किन्तु यह निरोधजन्य अन्यादर्शन मुक्तिका साधन नहीं होता, यह तो केवल तद्विषयक ज्ञानमें निपुणताप्रदमात्र है, निरोधविषयक यत्नके शिथिल होनेपर फिर दुःखादि अनात्मपदार्थका भान अवश्य होगा ।

यदि अन्य पदार्थके विलय द्वारा अन्यादर्शन हो, तो अन्य पदार्थका विलय आत्मज्ञानसे ही होता है, दूसरेसे नहीं, इसलिए आत्मदर्शनको ही मुक्तिका कारण मानना उचित है, निरोधको नहीं ॥ १२० ॥

उपासनाव्यग्रतया यदन्यादर्शनं न तत् ।
बोधप्रयुक्तं योषादिचिन्तायामपि सम्भवात् ॥ १२१ ॥
बोधलीनो भ्रमः पूर्वसंस्कारादनुवर्तते ।
स्वप्नभ्रान्त्योर्बाधितयोरपि स्मृतिरुदेति हि ॥ १२२ ॥
बाधितस्याऽनुवृत्तिस्तु न जन्मानर्थकारणम् ।
भ्रष्टबीजोपमा सर्वमोक्षशास्त्रेषु डिण्डिमः ॥ १२३ ॥

**'उपासना'** इत्यादि । यद्यपि उपासनामें चित्तकी एकाग्रता करनेसे अन्यादर्शन होता है, तथापि वह अन्यादर्शन आत्मबोधप्रयुक्त न होनेसे मोक्षका हेतु नहीं हो सकता । निरन्तर कामिनीकी भावनाके समयमें पुरुषको अन्यादर्शन होता है, परन्तु आत्मविषयक न होनेसे उससे मुक्तिकी जैसे सम्भावना नहीं है, वैसे ही इष्टोपासनामें व्यग्रचित्तका भी अन्यादर्शन मुक्तिसाधन नहीं हो सकता, वस्तुतः अन्यादर्शनपुरःसर आत्मदर्शन मोक्षसाधन है, केवल अन्यादर्शन नहीं । मूर्च्छादि अवस्थामें भी अन्यादर्शन होता है ॥ १२१ ॥

**'बोध'** इत्यादि । निरोधके बिना केवल आत्मबोधसे मुक्ति नहीं हो सकती, कारण कि ( यहाँ भ्रमका कर्मव्युत्पत्तिसे भ्रमविषय प्रपञ्चमें तात्पर्य है ) आत्मज्ञानसे प्रपञ्चके बाधित होनेपर भी पूर्वसंस्कारवश फिर भी वह अनुवृत्त हो जायगा, क्योंकि बाधित विषयकी स्वप्न और भ्रान्तिमें अनुवृत्ति होती है । यद्यपि विषय नष्ट हो गया है, ऐसा दृढ़ निश्चय है, तो भी भ्रम तथा स्वप्न तद्विषयक ही होता है, इसलिए मुक्तिकालमें विषयभानकी व्यावृत्तिके लिए बोधवत् निरोध भी आवश्यक है । बोध और निरोधके गुणप्रधानभावमें विवाद है अर्थात् आत्मदर्शनविशिष्ट निरोध या निरोधविशिष्ट आत्मदर्शन अथवा केवल आत्मदर्शन या केवल निरोध कारण नहीं है, यदि ऐसा होता तो स्वप्नादिकी तरह मुक्त्यवस्थामें भी विषयभानापत्ति हो जायगी एवं कामिनीसे निरुद्ध चित्तवाले पुरुषको मोक्षापत्ति हो जायगी, अतः स्वतन्त्र कारण नहीं है, किन्तु संभूय कारण है । पर यह भी वेदान्तीको इष्ट नहीं है, कारण कि निरोधको कारण न माननेसे मुक्तिमें पूर्वसंस्कार वश पुनः प्रपञ्चका भान हो जायगा, यह दोष है । इसमें विकल्प करते हैं, क्या प्रपञ्चभान जन्मान्तरारम्भक हो जायगा, इसलिए निरोधविधि आवश्यक है, या स्वयं दुःखहेतु है ? ॥ १२२ ॥

प्रथम पक्षके निराकरणके लिए कहते हैं—**'बाधितस्याऽ०'** इत्यादि ।

**अनुवृत्तिं च ये सोढुमशक्तास्ते निरोधने ।**
**मनसो वासनानां वा प्रवर्तन्तां निजेच्छया ॥ १२४ ॥**

आत्मज्ञानसे बाधित प्रपञ्चकी पूर्वसंस्कारवश प्रतीति होनेपर भी जन्मान्तरारम्भरूप अनर्थकी वह कारण नहीं है, क्योंकि भ्रष्ट बीज अर्थात् भूना हुआ बीज स्वरूपतः अनुवृत्त होनेपर भी जैसे अङ्कुरारम्भक नहीं होता, वैसे ही बाधित प्रपञ्चकी अनुवृत्ति भी जन्मान्तररूप अनर्थकी आरम्भक नहीं हो सकती, यह सभी मोक्षशास्त्रोंका डङ्का है । सांख्य आदि शास्त्रोंके संग्रहके लिए सर्वमोक्षशास्त्रका उपादान किया । बाधित प्रपञ्च और भूना हुआ बीज इनकी उपमा उभयानुगत स्वकार्यानारम्भकत्वरूप सामान्य धर्मसे है । यह मेरी अक्लृप्त कल्पना नहीं है, किन्तु सब मोक्षशास्त्रोंमें डङ्केके शब्द द्वारा यह प्रसिद्धि पायी जाती है । द्वितीय पक्षमें अन्वय और व्यतिरेकसे यह निश्चय हो चुका है कि प्रपञ्चभान दुःखदायक है और प्रपञ्चनिवृत्ति दुःखनिवृत्तिकी मूल है और यह जागरावस्था और सुषुप्ति अवस्थामें सर्वानुभव प्रसिद्ध है, इसलिए निरोधविधिके बिना भी स्वतः उक्त कार्यमें पुरुषकी प्रवृत्ति हो जायगी, इसलिए निरोधविधि अनावश्यक है ॥१२३॥

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इत्यादि शास्त्रके अनुसार विधि तो अप्रवृत्तप्रवतनार्थ है, प्रवृत्तप्रवर्तनार्थ नहीं, इस तात्पर्यसे कहते हैं—**'अनुवृत्तिम्'** इत्यादि ।

जो लोग अनर्थात्मक प्रपञ्चकी अनुवृत्तिके सहनेमें असमर्थ हैं, वे मनोनिरोध या वासनानिरोधमें स्वेच्छासे ही प्रवृत्त हो जायँगे, फिर उनके लिए भी निरोधमें विधि व्यर्थ ही है—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' इस श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार तत्त्वज्ञानी सुख अथवा दुःखके उपस्थित होनेपर स्पृहा तथा उद्वेग शून्य होकर उनका अनुभव करता है । दोनोंको मिथ्या मानकर हर्ष—सुखफल—और उद्वेग—दुःखफल—दोनोंका समबुद्धिसे अनुभव करता है, अर्थात् दोनोंका वस्तुतः आत्माके साथ कोई संबन्ध ही नहीं है, ऐसा निर्णय होनेसे उसे हर्ष और उद्वेग नहीं हो सकते । सुख अथवा दुःख स्वसम्बन्धितया ज्ञात ही हर्ष और उद्वेगके कारण होते हैं, जब आत्मामें सुख-दुःखोंका सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर तत्फलभूत हर्ष और उद्वेग उसे होंगे ही कैसे ? दुःख भी स्वसम्बन्धितया ज्ञात ही हेय होता है । इसलिए तत्त्वज्ञानीको मध्यमें बाधित प्रपञ्चकी अनुवृत्ति होनेपर भी दुःखगन्धकी सम्भावना नहीं होती । इसलिए दुःखपरिहारार्थ उक्त विधि व्यर्थ है ॥ १२४ ॥

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥ १२५ ॥
ज्ञानेऽधिकारसिद्ध्यर्थमुपासाधीनिरोधयोः ।
विधेः सिद्धेऽधिकारेऽथ वेदान्ता आत्मबोधिनः ॥ १२६ ॥

---

उक्त रीतिसे वेदान्त निरोधविधिपरक नहीं हैं, किन्तु अद्वितीयात्मपरक ही हैं, ऐसा कहते हैं—'**ज्ञानामृतेन**' इत्यादि ।

ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त तथा कृतकृत्य—अनुष्ठितसर्वानुष्ठेय—अर्थात् जो सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म कर चुका है, कोई कर्तव्य बाकी नहीं है, ऐसे योगीके लिए कोई कर्तव्य बाकी है नहीं, जिसके लिए उसे विधिकी अपेक्षा हो । यदि ज्ञानमें योग्यतासिद्धिके लिए तत्त्वज्ञानीको ज्ञानशेष निरोधविधिकी आवश्यकता है, तो वह तत्त्वज्ञानी ही नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञानीको कोई कर्तव्य रहता ही नहीं । अगर कर्तव्य है, तो तत्त्वज्ञानी नहीं हो सकता, अतः ज्ञानीके लिए विधि नहीं है, इस हमारे सिद्धान्तमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ १२५ ॥

'**ज्ञानेऽधिकार०**' इत्यादि । ज्ञानमें अधिकारकी सिद्धिके लिए उपासना तथा निरोधमें विधि अपेक्षित है, यह पहले कह चुके हैं । जैसे निषाद, ऋषभ आदि सूक्ष्म स्वर उपासना या निरन्तर चिन्तनव्यापारके बिना प्रतीत नहीं होते, वैसे ही सूक्ष्म आत्मा उपासनाके बिना ज्ञात नहीं हो सकता । मध्यमें विषयोंके भानकी निवृत्तिके लिए निरोधकी भी आवश्यकता है, किन्तु ज्ञानाधिकारकी सिद्धिके अनन्तर वेदान्त आत्मबोधक हैं, अतः वेदान्तजन्य आत्मज्ञानके बाद उपासना या निरोधकी आवश्यकता नहीं है ।

सारांश यह है कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य आत्मसाक्षात्कारके बाद संस्काररूपसे अविद्या रहती है, इस कारणसे यदि जीवन्मुक्तको प्रपञ्चका भान होता है, तो उसके द्वारा न जन्मान्तरकी सम्भावना ही है, न दुःख ही हो सकता है । सिनेमामें एक दूसरेको मारता है, यह देखकर भी दर्शकोंको इसलिए दुःख नहीं होता कि वह सारा दृश्य कल्पित है, वास्तविक नहीं, यह निश्चय है । उसी प्रकार तत्त्वज्ञानीको आत्मातिरिक्त सब पदार्थ कल्पित हैं, यह निश्चय है, अतः प्रपञ्च भासित होकर भी दुःखप्रद नहीं होता, इसलिए निरोध आदिमें विधि माननेसे क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १२६ ॥

व्रीह्यादिवत्पदार्थत्वाद्योक्ता मान्तरगम्यता ।
तत्र हेतुरसिद्धः स्यादवाच्यत्वान्निजात्मनः ॥ १२७ ॥
न पदार्थो न वाक्यार्थ आत्माऽयं वस्तुवृत्ततः ।
तत्प्रत्याख्यानश्रुत्यैव तद्याथात्म्यावबोधनात् ॥ १२८ ॥

'व्रीह्यादिवत्०' इत्यादि। व्रीहि पदार्थ होनेसे जैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा ज्ञेय है, वैसे ही आत्मा भी पदार्थ होनेसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे गम्य है, यह जो आपने पहले कहा था वह ठीक नहीं है, कारण कि प्रमाणान्तरगम्यत्वमें पदार्थत्वको जो आप हेतु कह रहे हैं, वह प्रकृतमें असिद्ध है, क्योंकि स्वात्मा पदार्थ ही नहीं है; क्योंकि पदार्थ प्रवृत्तिनिमित्त व्रीहित्वादिसे विशिष्ट होता है। आत्मा निर्धर्मक है अर्थात् कोई भावात्मक या अभावात्मक धर्म आत्मामें नहीं रहता, अतः वह पदार्थ ही नहीं है, ऐसी अवस्थामें उसमें पदार्थत्व हेतु कैसे रह सकता है? पदार्थत्व भी तो धर्म ही है, असिद्ध हेतुसे विवक्षित अर्थकी सिद्धि नहीं होती। 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' ( यो० सू० २।२० ) इस योग सूत्रसे भी आत्मामें कोई धर्म नहीं रहता, ऐसा ज्ञात होता है, उक्त सूत्रमें मात्रपद धर्मकी निवृत्तिके लिए कहा गया है अतएव आत्मा कूटस्थ नित्य है ॥ १२७ ॥

हेतुकी असिद्धि कहते हैं—'न पदार्थो' इत्यादिसे। आत्मा वस्तुतः न पदार्थ है और न वाक्यार्थ है, क्योंकि उक्त रीतिसे आत्मामें पदार्थत्वका निषेध कर चुके हैं, इसलिए वह पदार्थ नहीं है। संसृष्ट पदार्थ या पदार्थोंका संसर्ग वाक्यार्थ कहलाता है। संसर्गविशिष्ट अर्थ संसृष्टार्थ है। संसर्ग विशेषण है। पदार्थसंसर्ग कहनेसे संसर्ग प्रधान होता है और पदार्थ गुण। विनिगमकाभावसे वाक्यार्थको दोनों प्रकारसे कह सकते हैं। यदि आत्मा पदार्थ नहीं है, तो वह वाक्यार्थ भी नहीं हो सकता क्योंकि विशेष्यतया अथवा विशेषणतया पदार्थघटित ही वाक्यार्थ होता है, जो पदार्थ ही नहीं है, वह तद्घटित वाक्यार्थ कैसे हो सकता है? यदि उक्त रीतिसे आत्मा न पदार्थ ही है और न वाक्यार्थ ही है, तो ऐसी अवस्थामें वह वेदार्थ कैसे हो सकता है? वेदार्थ कहनेसे वेदस्थ पदका अर्थ अथवा वेदवाक्यका अर्थ, यही स्वरसतः प्रतीत होता है। आप इन दोनों प्रकारोंको नहीं मानते, फिर भी आत्मा पदार्थ है, ऐसा मानते हैं, इसका क्या अभिप्राय है? अभिप्राय यह है कि पदार्थत्व आदि सम्पूर्ण धर्मोंके प्रतिषेध द्वारा चिदेकरस आत्माका लक्षणावृत्तिसे श्रुति द्वारा बोध होता है। 'नेति नेति' तथा 'अस्थूलमनणु', 'अरूपमस्पर्श०' इत्यादि श्रुतियां निखिल समारोपितोपाधिनिषेधपूर्वक शुद्ध

यदनभ्युदितं वाचा वाग्येनाभ्युद्यते सदा।
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ॥ १२९ ॥
इति वाग्विषयत्वं तु प्रत्याख्यायाऽथ साक्षिणः।
वाक्प्रेरकत्वमात्रेण याथात्म्यमवबोध्यते ॥ १३० ॥

चैतन्यात्माका बोध कराती हैं, अतः चिद्मात्रके लक्ष्यार्थ होनेसे उसे पदार्थ कहते हैं और पदार्थत्व आदि धर्मोंसे शून्य होनेके कारण वह पदार्थ तथा वाक्यार्थ नहीं है, यह भी कहते हैं, अतः विरोध नहीं है और पदार्थत्व हेतुके मानान्तर गम्यत्वका अनुमान भी नहीं कर सकते, इस प्रकार मेरे कथनमें विरोध नहीं है ॥१२८॥

उक्त अर्थमें प्रमाण देते हैं—'यदनभ्युदितम्' इत्यादि। वाणी जिसको नहीं कहती, जो वाणीको कहता है, उसको तुम ब्रह्म जानो; जिस वाणी और मनके विषय-की उपासना करते हो, वह ब्रह्म नहीं है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा वाणी तथा मनका विषय नहीं है, ऐसा कहा गया है। कारण कि वाणीसे सप्रकारक ज्ञान होता है, ब्रह्ममें कोई प्रकार या धर्म है नहीं, इसलिए वह वाणीका विषय नहीं हो सकता। दृष्ट तथा श्रुत सप्रकार ही मनका विषय होता है। रूपादिशून्य होनेसे ब्रह्मके दर्शनकी सम्भावना ही नहीं है? उक्त रीतिसे वह वाणीका विषय नहीं है, इसलिए श्रुत भी नहीं है, अतः मनोविषय भी नहीं है। वाणी और मनके विषय जिस सप्रकारकी उपासना करते हो, वह वस्तुतः आत्मा नहीं है, कल्पित प्रकारीभूत धर्मोंका त्याग कर शुद्ध निर्धर्मको ब्रह्म समझो ॥ १२९ ॥

'इति वाग्विषयत्वम्' इत्यादि। उक्त रीतिसे आत्मामें वाग्विषयताका निरा-करण कर वाणी और मनके अविषय साक्षीरूप चिदात्माका यथार्थ बोध करानेके लिए केवल वाक्प्रेरकत्वेन आत्माका वास्तविक रूप जाना जाता है, यह कहते हैं, अर्थात् वाणी जड़ है, स्वतः स्वकार्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकती, अतः चेतन आत्मा उसका प्रेरक है, जैसे कुठार चेतन तक्षादिसे प्रेरित होकर ही छेदन आदि स्वकार्य करता है, वैसे ही आत्मप्रेरित वाणी स्वकार्य करती है। प्रेरकत्व उपलक्षण है, जड़ वाणीमें प्रकाशकत्व भी स्वतः नहीं है, किन्तु आत्मप्रकाशित वाणी अर्थका प्रकाश करती है, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुतियोंसे वस्तुतः आत्मा ही भासक है, इन्द्रियादिमें जो भासकत्व है, वह आत्मप्रयुक्त ही है, अन्यथा नहीं ॥ १३० ॥

प्रत्यभिज्ञानुमानाभ्यां चिद्वस्त्ववगमे सति ।
अद्वितीयब्रह्मतत्त्वरूपत्वं नाऽवबुध्यते ॥ १३१ ॥
वेदान्तानामतो वस्तुन्यक्षवन्मात्वमीक्ष्यताम् ।
नहि कार्यव्यपेक्षाऽस्ति कार्यसाधकसाक्षिणः ॥ १३२ ॥
स्वानुभूतिबलादेव भवताऽपि विभाव्यते ।
कार्यादिनिखिलो मेयो नाऽनुभूतिस्तु कार्यतः ॥ १३३ ॥

'प्रत्यभिज्ञा०' इत्यादि । 'योऽहं सुप्तः स एवाहं जागर्मि' 'जो मैं सोया था, वही अब जागा हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा तथा 'यस्मिन् व्यावर्तमाने यदनुवर्तते०' जिसके व्यावृत्त होनेपर जो अनुवृत्त होता है, वह व्यावर्तमानसे भिन्न है, इत्यादि पूर्वोक्त अनुमानसे आत्मतत्त्वका यद्यपि ज्ञान होता है, तो भी आगम अनुवादक नहीं है, कारण कि उक्त प्रमाणोंसे सोपाधिक आत्माका ज्ञान होता है, निरुपाधिक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका बोध केवल आगमसे ही होता है, अतः प्रमाणान्तरसे अज्ञात अद्वितीय आत्माका बोधक आगम प्रमाण ही है ॥ १३१ ॥

'वेदान्ताना०' इत्यादि । अद्वितीय आत्मवस्तुमें वेदान्त प्रमाण हैं, क्योंकि सिद्ध घट आदि वस्तुमें जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण है, वैसे ही आगम भी सिद्ध आत्म-स्वरूपमें प्रमाण है । कार्यमें ही शब्द प्रमाण होता है, सिद्धमें नहीं, इसमें आप क्या युक्ति देते हैं? सिद्ध पदार्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणके विषय हैं, अतः सिद्ध अर्थमें शब्द ज्ञातज्ञापक होनेसे अनुवादक है, किन्तु साध्य अर्थ प्रत्यक्षका विषय नहीं है उसी अर्थमें शब्दका अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य होता है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि अद्वितीय आत्मा प्रत्यक्षका विषय नहीं है । निर्धर्मक होनेसे पदार्थत्वादिहेतुक अनुमानका भी विषय नहीं हो सकता, अतः चिदात्मामें आगम ही प्रमाण है, दूसरा नहीं, इसलिए कहते हैं—कार्य—अनात्ममात्र—के साधक साक्षीको आगम-प्रमाणका विषय होनेके लिए कार्यकी अपेक्षा नहीं है ॥ १३२ ॥

'स्वानुभूति०' इत्यादि । नियोगमें वस्तुतः शब्द प्रमाण है, नियोग सिद्धार्थमें नहीं हो सकता, किन्तु साध्यार्थमें ही होता है, इसलिए नियोग-शेषतासे भी सिद्धार्थमें शब्द प्रमाण नहीं है, यह आपकी दलील ठीक नहीं है, क्योंकि नियोग जड़ है। जड़की सिद्धि स्वतः नहीं हो सकती, किन्तु चिदात्मासे ही नियोग प्रतीत होता है। इसलिए नियोगसाधक चिदात्माको नियोगकी अपेक्षा नहीं है।

यस्याऽप्रसिद्धिर्नाऽज्ञानात् प्रसिद्धिर्नाऽपि मानतः ।
तस्याऽनुभवतत्त्वस्य कुतोऽन्यापेक्षतोच्यते ॥ १३४ ॥
स्वप्रकाशात्मदृष्ट्यैव स्वात्मतत्त्वं प्रसिध्यति ।
तद्व्युत्पत्त्यै परापेक्षा नाऽनुभूत्यात्मवस्तुनः ॥ १३५ ॥

रूपका प्रकाशक सूर्य है, पर सूर्यके प्रकाशके लिए रूपकी अपेक्षा नहीं होती। जैसे प्रकाशकका प्रकाश प्रकाश्यकी अपेक्षा नहीं करता वैसे ही नियोगसाधककी सिद्धिके लिए साध्य नियोगकी अपेक्षा नहीं है। नियोग आदि सब प्रमेय स्वानुभूतिसे—चैतन्यप्रकाशसे—ही प्रतीत होनेके कारण माने जाते हैं। अनुभूति जो सब कार्यकी साधक है, उसकी सिद्धि कार्य नियोग आदिसे नहीं हो सकती। अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष होगा ॥ १३३ ॥

प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि होती है, यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। आत्मामें अन्य प्रमाण नहीं है, नियोगमें ही शास्त्र प्रमाण होता है, नियोग द्वारा सिद्धार्थमें प्रमाण होता है, साक्षात् नहीं। आत्मनियोगमें विधि न माननेसे आत्माकी सिद्धि नहीं होगी। अतः आत्मसिद्धिके लिए नियोग मानना दुर्वार है। इसका खण्डन करते हैं—'**यस्या०**' इत्यादिसे।

अज्ञानसे—प्रमाणाभावसे—जिसकी अप्रसिद्धि—असिद्धि—नहीं होती, तथा प्रमाणसे जिसकी प्रसिद्धि नहीं होती, उस अनुदित, अनस्तमित, कूटस्थ, बोधैकरस आत्माकी सिद्धिके लिए नियोगादिकी अपेक्षाकी शङ्का भी नहीं है, क्योंकि अन्याधीन सिद्धि जिसकी है, उसके विषयमें प्रमाण और तदभावसे सिद्धि और असिद्धिका नियम है; स्वयंप्रकाश वस्तुमें यह नियम नहीं है ॥ १३४ ॥

प्रकृत अर्थमें कारणान्तर कहते हैं—'**स्वप्रकाशात्म०**' इत्यादिसे।

स्वप्रधान–अनन्याधीन–अर्थात् अन्यापेक्षाशून्य आत्मस्वरूप बुद्धिसे (चैतन्यसे) स्वातिरिक्त निखिल अनात्मवस्तुकी प्रसिद्धि होती है, उसके लिए कार्यबुद्धिकी अपेक्षा हो सकती है मगर अनुभूतिस्वरूप एवं स्वयं निखिल प्रमेयोंके साधकको अन्यकी अपेक्षा नहीं है। भुजङ्गज्ञानके लिए रज्जुज्ञानकी अपेक्षा है। यद्यपि अधिष्ठानभानके बिना अध्यस्तका भान नहीं होता, तथापि रज्जुज्ञानके लिए भुजङ्गज्ञानकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारके लिए अध्यस्तकी अपेक्षा दृष्टिगोचर नहीं होती है। आत्मा निखिल प्रमेयका अधिष्ठान है, अतः अध्यस्त अनात्मभानके लिए

ततोऽपुमर्थरूपां तामनुभूतिं श्रुतिः कथम् ।
प्रतिपादयतीत्येतच्चोद्यं मूढेषु शोभते ॥ १३९ ॥
प्रमाणमूलभूतत्वादनुभूतेः पुमर्थता ।
अनुभूतिप्रसिद्ध्यर्थं प्रमाणव्यापृतिर्भवेत् ॥ १४० ॥
स्वर्गानुभूतिरेवार्थ्या पुम्भिर्न स्वर्गमात्रकम् ।
नो चेत्स्वर्गोऽन्यदीयोऽपि सर्वदाऽर्थ्येत मानवैः ॥ १४१ ॥

'**ततो**' इत्यादि । अपुरुषार्थस्वरूप अनुभूत्यात्मक आत्माका श्रुति प्रतिपादन कैसे करती है, यह शङ्का मूर्खोंमें शोभा पाती है अर्थात् श्रोता वक्ता दोनों मूर्ख हों, तो यह आक्षेप हो सकता है, कारण कि केवल सुख या दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु स्वसम्बद्धरूपसे ज्ञात सुख या दुःखनिवृत्ति ही पुरुषार्थ (पुरुषैरर्थ्यमानः) है, 'सुखं मे स्यात् दुःखं मे मा भूत्' यही पुरुषों द्वारा अर्थनीय है, ज्ञायमान सुखादिको—अनुभवविशिष्ट स्वर्गादिको—पुरुषार्थ मानें, तो 'नागृहीत-विशेषणा बुद्धिर्विशिष्टमवगाहते' इस न्यायसे ज्ञानमें पुरुषार्थत्वके बिना जाने ज्ञायमान सुखमें पुरुषार्थत्वका ज्ञान नहीं हो सकता, फिर ज्ञानको छोड़ केवल स्वर्ग आदिमें पुरुषार्थत्व कहना तथा मानना यह दोनों जड़बुद्धियोंमें ही शोभित होता है । समझदार मनुष्य तो यह आक्षेप सुनकर मुसुकुरायेगा अर्थात् स्मेरमुख हो जायगा । यह आगे स्पष्ट होगा ॥ १३९ ॥

'**प्रमाण०**' इत्यादि । प्रमाणोंका मूल अनुभूति है, 'प्रमीयतेऽनेन' इस व्युत्पत्तिसे प्रमाणशब्दका प्रमितिकरणमें शक्तिग्रह होता है, इसलिए प्रमाण प्रमितिमूल हैं । प्रमाण उपलक्षण है अर्थात् प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय—इन तीनोंमें प्रमिति मूल है । 'प्रमाका करण प्रमाण', 'प्रमासमवायी प्रमाता' और 'प्रमाविषय प्रमेय' कहलाता है । प्रमितिरूप अनुभूतिकी अभिव्यक्तिके लिए प्रमाणव्यापार होता है, इसलिए प्रमाणव्यापारका फल अनुभूति है, अतः अनुभूति ही पुरुषार्थ है, अनुभूतिसम्बन्धसे स्वर्गादि भी पुरुषार्थ कहलाता है, केवल स्वर्गादि पुरुषार्थ नहीं है, अतएव लोग प्रचुरद्रव्यव्यय तथा आयाससे नृत्य, इन्द्रजाल आदि कौतुकप्रद वस्तुओंका निरीक्षण करते हैं, तथा अपूर्व साहित्यकथाश्रवण करते हैं, उसमें सुखात्मक प्रतीतिसे अतिरिक्त और क्या पुरुषार्थ है ॥ १४० ॥

'**स्वर्गानुभूति०**' इत्यादि । स्वर्गानुभूति ही पुरुष द्वारा प्रार्थनीय होनेसे पुरुषार्थ है, स्वर्गमात्र पुरुषार्थ नहीं है । मात्रपदसे अनुभूतिकी व्यावृत्ति करते हैं

दुःखानुभूतेरर्थ्यत्वं न दृष्टमिति चेत्तदा।
सुखस्याऽपि पुमर्थत्वहेतुत्वमनुमन्यताम् ॥ १४२ ॥

अर्थात् अनुभूतिरहित केवल स्वर्ग पुरुषार्थ नहीं है, पहले अनुभूयमान स्वर्गको पुरुषार्थ कहा, अब स्वर्गानुभूतिको पुरुषार्थ कहते हैं। पूर्वमें अनुभूति गुण है, स्वर्ग प्रधान है। इस पक्षमें स्वर्ग गुण है, अनुभूति प्रधान है, यही पक्ष सिद्धान्तीका सम्मत है। नृत्यादिमें अनुभूतिसे अतिरिक्त कोई पुरुषार्थ नहीं है, स्वसमवेत स्वर्गानुभूति अर्थात् स्वसम्बन्धितया ज्ञात पुरुषार्थ है, अन्यथा अन्यदीय ( पुरुषान्तरीय ) स्वर्ग पुरुषान्तरसे प्रार्थनीय होना चाहिए।

यद्यपि पितृस्वर्ग पुत्र द्वारा प्रार्थनीय होता है, तथापि पुरुषान्तरका अभिप्राय उदासीन या शत्रुमें है। यदि स्वभावसे सुख प्रार्थनीय हो, तो शत्रुका सुख भी सुख ही है, फिर वह प्रार्थनीय क्यों नहीं होता ? ॥ १४२ ॥

वस्तुतस्तु न केवल सुखादि तथा न केवल अनुभूति पुरुषार्थ है, किन्तु सुखानुभूति पुरुषार्थ है। अन्यथा दुःखानुभूति भी पुरुषार्थ हो जायगी, यह कहते हैं—'दुःखानु०' इत्यादिसे।

यदि अनुभूतिमात्रको पुरुषार्थ मानो, तो दुःखानुभूति भी पुरुषार्थ हो जायगी, सुखानुभूतिको ही पुरुषार्थ मानना उचित है, सुखानुभूतिसे सुखविषयक अनुभूति और सुखस्वरूपानुभूति इन दोनों पुरुषार्थभूत अनुभूतियोंका संग्रह हो जाता है, 'सुखस्यानुभूतिः' इस षष्ठी समाससे लौकिक तथा पारलौकिक सुखानुभूति और 'सुखं चासौ अनुभूतिश्च' इस कर्मधारय समाससे सुखस्वरूपात्मक मोक्ष इन दोनों पुरुषार्थोंका संग्रह हो जाता है। 'सुखस्यानुभूतिः' इस षष्ठीका जन्यत्व अर्थ है, अतः सुखजन्यानुभूति यह अर्थ हुआ। विषय अनुभूतिमें कारण है, इसलिए पुमर्थहेतुत्व कहा। वस्तुतः पुरुषार्थकारणत्व कहनेसे सुख वास्तविक पुरुषार्थ नहीं है, वास्तविक पुरुषार्थ सुखजन्यानुभूति ही है, तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्' इस न्यायसे सुख भी पुरुषार्थ कहलाता है, यह सातिशय जन्य पुरुषार्थ है; नित्यमोक्षरूप पुरुषार्थ सुखानुभूत्यात्मस्वरूप है।

भाव यह है कि ज्ञान तथा सुख अलग-अलग पुरुषार्थ नहीं हैं किन्तु मिल कर पुरुषार्थ हैं, दोनोंका मेल ब्रह्ममें ही है, अतः ब्रह्म ही पुरुषार्थ है ॥ १४३ ॥

अतो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतिरब्रवीत् ।
या प्रतीतिर्घटादीनां तद्विज्ञानमिदं मतम् ॥ १४३ ॥

'अतो' इत्यादि । 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुतिसे ज्ञानसुखात्मक ब्रह्म है, अतः ब्रह्म ही पुरुषार्थ है । यद्यपि उदाहृत श्रुतिसे ब्रह्मस्वरूपानुभव पुरुषार्थ है, यह सिद्ध होता है, तथापि ब्रह्म नित्य है, अतः प्रमाणाजन्य नहीं है, तो प्रमाणफल कैसे हो सकता है ? दूसरी शङ्का यह भी होती है कि 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादि स्थलमें प्रोक्षणक्रियाजन्य फल—संस्कार—जैसे व्रीहिनिष्ठ होता है, वैसे ही 'घटं जानाति' यहाँपर चक्षुरादि प्रमाणजन्य अनुभवरूप फलको रूपादिके समान घटादिनिष्ठ ही मानना चाहिए, आत्मस्वरूप नहीं, तथा 'सुखमनुभवामि' इस प्रतीतिसे अनुभूतिरूप फल अनुभाव्य सुखनिष्ठ होनेसे अनुभाव्य ही पुरुषार्थ होना चाहिए, अनुभवात्मस्वरूप नहीं । उक्त श्रुतिमें आनन्द पदका 'आनन्दोऽस्ति अस्य' इस अर्थमें मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय करके आनन्दशब्द कहा गया है, अतएव उक्त श्रुतिमें 'आनन्दम्' ऐसा नपुंसक निर्देश है । अतः आनन्द और ज्ञान एक नहीं हैं । अनुभाव्यनिष्ठ कर्मके कर्तृसम्बन्धसे कर्तृनिष्ठ होनेसे 'सुखी देवदत्त' यह व्यवहार होता है । जैसे वृत्तिज्ञान वस्तुतः अन्तःकरणनिष्ठ है, फिर भी 'अहं जानामि' इस प्रतीतिसे आत्मामें प्रतीत होता है, वैसे ही 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान भी ब्रह्मस्वरूप ही है मनोवृत्तिस्वरूप नहीं है, कारण वृत्ति जड़ है, वह प्रकाशक नहीं हो सकती ।

अब यह प्रश्न रह गया कि प्रमाणजन्य होनेसे प्रमाण फल कैसे कहलाता है, इसका यह उत्तर है कि प्रमाणजन्य घटाकारवृत्त्यभिव्यक्त घटावच्छिन्न चैतन्यात्मक ब्रह्म ही घटज्ञान है, वृत्ति प्रमाणजन्य है, इसलिए तादृश ज्ञानमें भी प्रमाणजन्यत्व मानकर फलत्वका व्यपदेश होता है । शिखागतध्वंसका शिखीमें आरोप कर जैसे 'शिखी ध्वस्तः' यह व्यवहार होता है ।

इस अभिप्रायसे कहते हैं—'या प्रतीतिर्घटादीनाम्' । जो घटादिकी प्रतीति—अनुभूति—है, वह ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि घटादिज्ञान ब्रह्मस्वरूप ही है । द्वितीय शङ्काका उत्तर प्रमाणका फल अनुभव है, इसमें विवाद नहीं है, विवाद इसमें है कि प्रोक्षणफलवत् प्रमेयनिष्ठ है या प्रमातनिष्ठ है ?

प्रतीतेर्माफलत्वेन कथं मेयैकनिष्ठता ।
माक्रियाफलयोगोऽयं युक्तो मातरि भोक्तरि ॥ १४४ ॥
लौकिको वैदिकः सर्वो व्यवहारो जगत्यपि ।
भोक्त्रर्थ एव तेनाऽस्य प्राधान्यं भोक्तुरिष्यते ॥ १४५ ॥

अनुभव प्रमाणका फल है । प्रमेय जड़ है, अतः वह प्रमाणके फलका आश्रय नहीं हो सकता, कारण कि जड़ और अजड़का आश्रयाश्रयिभाव कहींपर भी दृष्ट नहीं है । फल अस्वतन्त्र अर्थात् पराश्रित होता है, इसलिए उसका कोई आश्रय तो अवश्य मानना पड़ेगा। प्रकृतमें यदि परिशेषसे प्रमेयको ही उसका आश्रय मानें, तो क्या आपत्ति है ? आपत्ति यह है कि यदि फलको प्रमेयनिष्ठ मानें, तो प्रमाणका फल प्रमातृनिष्ठ होता है और क्रियाका फल भोक्तृनिष्ठ होता है, इस नियमका भङ्ग हो जायगा । प्रकृतमें प्रमाता तथा भोक्ता भिन्न नहीं हैं, अतः मानक्रियाका अनुभावरूप जो औपचारिक फल है, उसके सम्बन्धकी आत्मामें औपचारिक वृत्ति मानकर फलको आत्मनिष्ठ कहते हैं, अतः ब्रह्मस्वरूपज्ञानसे अतिरिक्त घटादिज्ञान नहीं है । 'यो वै भूमा तत्सुखम् , को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, यह दृढ़ निश्चय है, अतः उक्त श्रुतिका भी तात्पर्य आनन्दाभिन्न ब्रह्ममें ही है । मत्वर्थीय प्रत्यय माननेमें गौरव तथा श्रुतिविरोध भी है ॥१४३॥

घटनिष्ठ घटज्ञानका ब्रह्मस्वरूप ज्ञानके साथ अभेद कैसे हो सकता है, यह कहते हैं—'प्रतीते०' इत्यादिसे ।

पूर्वश्लोकमें इसका व्याख्यान हो चुका है, किन्तु संक्षेपसे उक्त अर्थ यहां भी कहते हैं । घटादिज्ञान चक्षुरादिप्रमाणसे जन्य है, अतः वह प्रमाणका फल है, वह प्रमेयनिष्ठ कैसे हो सकता है ? जड़ और अजड़का आश्रयाश्रयिभाव कहीं भी दृष्ट नहीं है । घटादिकी प्रतीति मनोवृत्तिरूप नहीं है, किन्तु वृत्तिमें अभिव्यक्त घटावच्छिन्न चैतन्यस्वरूप है । प्रमाणका फल प्रमातामें और क्रियाका फल भोक्तामें होता है । प्रमाता और भोक्ता आत्मा ही है, अतः अनुभव और फल उन मेयोंसे उपहित आत्मामें ही है ॥ १४४ ॥

**'लौकिको'** इत्यादि । नियोगके अविषय नित्यनिरतिशयसुखरूप परम पुरुषार्थभूत चिदात्मामें प्रमाण वेदान्त हैं, इसमें सर्वप्रधान हेतु कहते हैं—संसारमें लौकिक और वैदिक सब व्यवहार भोक्ताके लिए ही होते हैं, दूसरेके लिए या स्वतन्त्र नहीं

न वा अरे पत्युरिति तदेतत्प्रेय इत्यपि ।
निखिलेऽपि जगत्यत्र प्राधान्यं स्वात्मनः श्रुतम् ॥ १४६ ॥
न प्रमाता प्रमाणं वा क्रिया मेयफलानि वा ।
प्राधान्यायेह दृश्यन्ते ह्यभोक्तृत्वेन हेतुना ॥ १४७ ॥

होते हैं, इस कारणसे भोक्ता ही शेषी है। वही परमप्रेमास्पद होनेसे प्रधान है। अपूर्व भी स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु प्रधान पुरुषका शेष ही है, इसलिए अपूर्वको पुरुषार्थ माननेकी अपेक्षा प्रधानभूत आत्माको ही पुरुषार्थ मानना समुचित है। अतः आनन्दस्वरूप आत्मामें साक्षात् वेदान्त प्रमाण हैं, अपूर्व द्वारा नहीं हैं ॥ १४५ ॥

सकल व्यवहारका शेषी आत्मा प्रधान है, यह सिद्ध कर उसकी निरतिशय-सुखस्वरूपतामें प्रमाण कहते हैं—**'न वा अरे'** इत्यादिसे।

याज्ञवल्क्य मुनिने अपनी भार्या मैत्रेयीको आत्मतत्त्वज्ञानका उपदेश दिया कि 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' अर्थात् हे मैत्रेयी, स्त्रीको पति प्रिय होता है, किन्तु पतिके सुखके लिए पति प्रिय होता है, यह बात नहीं है, असली बात तो यह है कि स्त्री अपने सुखके लिए पतिमें प्रेम करती है। इसी तरह पति भी स्त्रीके सुखके लिए स्त्रीमें प्रेम नहीं करता, किन्तु स्वसुखके लिए स्त्रीमें प्रेम करता है। इसी तरह संसारभरमें जो जिसमें प्रेम करता है, वह उसके सुखके लिए नहीं, किन्तु अपने सुखके लिए प्रेम करता है। इस प्रकार निरुपाधिक प्रेमका आश्रय आत्मा है, अतः वही परमप्रेमास्पद है। 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्' इत्यादि श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है। निरतिशय प्रीतिका आस्पद होनेसे परमसुखस्वरूप आत्मा ही प्रधान पुरुषार्थ है ॥ १४६ ॥

प्रमाता आदिको भी प्रधानरूपसे ले सकते हैं, भोक्ता ही प्रधान क्यों? इसपर कहते हैं—**'न प्रमाता'** इत्यादि।

प्रमाता, प्रमाणक्रिया, प्रमेय और फल कोई भी व्यवहारदशामें प्रधान नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें कोई भी भोक्ता नहीं है। अतः भोक्ताके लिए ये सब हैं, भोक्ता अन्यके लिए नहीं है। इसलिए अनन्यशेष भोक्ता ही प्रधान है। अन्य सब भोक्ताके शेष होनेसे प्रधान नहीं हैं ॥ १४७ ॥

आत्मनः कर्त्रवस्थाऽपि भोक्त्रर्थेति विनिश्चयः।
यतोऽतोऽपरमप्येतद्भोक्त्रर्थं विनियुज्यते ॥ १४८ ॥
क्रिययोपहितः कर्त्ता माता मानोपधानतः।
अनुपाधिश्चिदात्मा तु भोक्तेत्यत्र विवक्षितः ॥ १४९ ॥
भुजिक्रियावेशतो यो भोक्ताऽसावत्र कर्त्तरि।
अन्तर्भूतः, प्रधानत्वं चिन्मात्रस्यात इष्यते ॥ १५० ॥

आत्माकी कर्तृ-अवस्था भी क्रियाकी आश्रय होनेसे प्रधान है, फिर भोक्तृ-अवस्थाको ही प्रधान क्यों कहते हैं? इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'आत्मनः' इत्यादिसे।

आत्माकी कर्तृ-अवस्था भी भोगके लिए ही है, क्योंकि फलके उपभोगके लिए ही लोग कर्म करते हैं, अन्यथा 'कष्टं कर्म' इस न्यायसे कर्ममें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

शङ्का—सुरतादि क्रियामें प्रवृत्त पुरुष सुरतादिकी अपेक्षा पुत्रादिको ही प्रधान मानता है, इसलिए भोक्तृ-अवस्था प्रधान कैसे?

उत्तर—कर्तृत्व भोक्तृत्वके लिए है, यह विशेषरूपसे निश्चय हो चुका है, इसलिए पुत्रादिमें प्राधान्यका अभिनिवेश भ्रान्तिवश है अथवा पुत्रादिसाध्य सुखके उपभोगके लिए पुत्रादिमें प्राधान्यका अभिनिवेश है। यद्यपि वहाँ भी भोक्तृत्व ही प्रधान है, तथापि उससे पूर्व क्रियाकी अपेक्षा होनेसे पुत्रप्राधान्यकी शङ्कामात्र है, वस्तुतः उक्त श्रुतिसे आत्मसुख ही निरुपाधिक होनेसे सर्वतः प्रधान है ॥१४८॥

यदि भोक्ता प्रधान है, तो भोक्तामें ही वेदान्त प्रमाण होंगे, शुद्धमें नहीं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'क्रियया०' इत्यादिसे।

क्रियासे उपहित आत्मा कर्ता और प्रमाणसे उपहित आत्मा प्रमाता कहलाता है। अनुपहित अर्थात् उपाधिरहित चिदात्मा भोक्ता है। यहां भोक्तासे शुद्ध चिदात्मा विवक्षित है, इसलिए वेदान्त यदि भोक्तामें प्रमाण हुए, तो चिदात्मामें ही प्रमाण हुए, फिर चिदात्मामें वेदान्त प्रमाण नहीं है, यह शङ्का ही निराधार है ॥ १४९ ॥

'भुजिक्रिया०' इत्यादि। अन्तःकरण आदिसे उपहित सुख, दुःख आदिका अनुभव करनेवाला आत्मा कर्ता है। आत्मामें कल्पित होनेसे अन्तःकरण आदि अप्रधान हैं। अधिष्ठानभूत चिन्मात्र ही प्रधान विवक्षित है। विशेष्यानन्वयी होकर जो इतरव्यावर्त्तक हो, वह उपाधि कहलाती है। क्रिया और प्रमाण कर्ता और प्रमातामें उपाधि

न चाऽऽत्मानुभवादन्यो विषयः कैश्चिदिष्यते ।
अपि सर्वप्रमाणानां किमु वेदान्तशासने ॥ १५१ ॥
चिदात्मानं विना नैव वस्त्वन्यन्मानभूमिगम् ।
इत्येषोऽर्थोऽतियत्नेन ह्युपरिष्टात् प्रवर्तते ॥ १५२ ॥
तदित्थं सर्ववेदान्ता न निरोधविधायिनः ।
किं त्वात्मानं प्रमिमत इत्येतदिह सुस्थितम् ॥ १५३ ॥

---

हैं । क्रिया और प्रमाण कर्तृत्व एवं प्रमातृत्वमें अन्वित नहीं हैं और अक्रियावच्छिन्न तथा अप्रमाणावच्छिन्न चैतन्यके व्यावर्तक हैं, इसलिए कर्ता तथा प्रमातामें वे उपाधि हैं । क्रिया और प्रमाण ये दोनों ही कल्पित हैं । कर्ता, प्रमाता तथा भोक्तामें आत्मा अनुगत है, अतः शुद्ध आत्मा ही उक्त विशेषणोपाधिवश कर्ता और भोक्ता कहलाता है । 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ कल्पितोपाधिके निषेध द्वारा शुद्ध आत्मामें ही प्रमाण हैं ॥ १५० ॥

**'न चाऽऽत्मा०'** इत्यादि । अनुभवस्वरूप आत्मासे अतिरिक्त कोई विषय है ही नहीं, जो अज्ञात हो, अतः प्रत्यक्षादि भी आत्मामें ही प्रमाण हो सकते हैं, इसलिए सब प्रमाणोंसे प्रमेय ब्रह्म ही वेदान्तका भी मेय है, इसमें कहना ही क्या ? कैमुतिकन्यायसे वेदान्त भी आत्मामें प्रमाण हैं । यहाँ मूलमें 'कैश्चित्' यह पाठ असंगत है, कश्चित् यह पाठ समुचित है, इसीमें अर्थ संगत होता है ॥ १५१ ॥

**'चिदात्मानम्'** इत्यादि । उक्त अर्थको ही अतिस्फुट करनेके लिए फिर कहते हैं—चिदात्मासे अतिरिक्त कोई भी विषय प्रमाणवेद्य नहीं है, यह अर्थ प्रमेयपरीक्षाके प्रकरणमें अति प्रयत्नसे निरूपित होगा ॥ १५२ ॥

प्रकृतका उपसंहार करते हैं—**'तदित्थम्'** इत्यादिसे ।

उक्त रीतिसे सम्पूर्ण वेदान्त निरोधविधिपरक नहीं हैं, किन्तु आत्माके प्रमापक अर्थात् आत्मप्रमितिजनक हैं । आत्मा ही वेदान्तका प्रमेय है, वेदान्त ही वास्तविक आत्मामें प्रमाण हैं, दूसरे प्रमाण नहीं हैं, अतएव 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि वाक्यमें 'औपनिषद' यह विशेषण सार्थक होता है । 'उपनिषत्सु एवाधिगतः' इस तात्पर्यसे 'औपनिषद' यह विशेषण कहा गया है । अन्तःकरणाद्युपाधिविशिष्ट चैतन्यके प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके गोचर होनेपर भी शुद्ध चैतन्य

चित्ततद्वासनारोधतात्पर्येऽत्र निराकृते ।
प्रतिपत्तिविधौ शास्त्रतात्पर्यं केचिदूचिरे ॥ १५४ ॥
आत्मा द्रष्टव्य इत्येवं प्रतिपत्तिविधिः श्रुतः ।
कोऽसावात्मेति वीक्षायां सर्वमात्मेति वर्ण्यते ॥ १५५ ॥
सत्यज्ञानादिवाक्यानि तत्त्वमस्यादिकान्यपि ।
विधिशेषतया ब्रह्म स्वात्मत्वेनार्पयन्ति हि ॥ १५६ ॥

---

प्रमाणान्तरका विषय नहीं है, किन्तु वह आगमैकवेद्य है, अतः 'आत्मानं प्रमिमते' यह नहीं कहा है ॥ १५३ ॥

**'चित्ततद्०'** इत्यादि । चित्त तथा उसकी वासनाके निरोधमें वेदान्तका तात्पर्य है, इस मतका निराकरण हो जानेपर उक्त रीतिसे यदि चित्तादिनिरोधपरक वेदान्त नहीं हो सकते, तो प्रतिपत्तिविधिपरक वे अवश्य हो सकते हैं, यह भी कोई कहते हैं ॥ १५४ ॥

**'आत्मा'** इत्यादि । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस वाक्यसे मोक्षार्थीके लिए उसके उपाय आत्मदर्शनका विधान है और इसी श्रुतिमें आत्मदर्शनका उपाय निदिध्यासन—निरन्तर चिन्तन—का विधान है । यदि आत्माके यथार्थ ज्ञानके बिना आरोपितरूपसे उसकी चिन्ता की जायगी, तो उससे आत्माका साक्षात्कार भी अयथार्थ ही होगा, इसलिए प्रथम उक्त श्रुतिवाक्य द्वारा श्रवणका विधान किया गया है । [ श्रवण शब्दसे शाब्दज्ञान विवक्षित है ] अनेक प्रकारका श्रवण होनेसे आत्मामें संशय होगा, अतः उसकी निवृत्तिके लिए 'मन्तव्यः' से मननका विधान किया गया है । प्रतिकूल युक्तियोंका निराकरण कर सतर्क युक्तियों द्वारा श्रुत अर्थका अविरोधसे हृदयमें दृढ़ करना मनन कहलाता है अर्थात् वह अनुमितिरूप है, इत्यादि उपायपूर्वक उपासनासे आत्मदर्शन होता है, उसके बाद मोक्षफलकी प्राप्ति होती है । इसमें 'कीदृश आत्मा द्रष्टव्यः' ( किस प्रकारके आत्माका दर्शन करना चाहिए ) इस अपेक्षासे 'एतत्सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि श्रुतियाँ आत्मस्वरूपका निरूपण करती हैं ॥ १५५ ॥

**'सत्यज्ञानादि०'** इत्यादि । प्रतिपत्तिविधिका विषय आत्मा कैसा है ? इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करते हैं । एवंरूप आत्मा प्रतिपत्तिका विषय है, इस प्रकार प्रतिपत्तिविधिके शेषरूपसे वेदान्त ब्रह्ममें प्रमाण हैं, साक्षात् नहीं, क्योंकि सिद्ध

विधिशेषतया यूपाहवनीयाद्यलौकिकम् ।
शास्त्रेणैवार्प्यते यद्वत्तथा ब्रह्माप्यलौकिकम् ।। १५७ ।।
यद्वा स्वरूपवाक्यानि स्वरूपविधिमार्गतः ।
बोधपर्यवसायीनि ततो बोधविधिर्मतः ।। १५८ ।।

अर्थमें उपायके अभावसे शक्तिका ग्रह नहीं हो सकता, और उसका कथन निष्प्रयोजन भी है, क्योंकि जिस वाक्यसे इष्टमें प्रवृत्ति तथा अनिष्टसे निवृत्ति न हो, वह स्वप्नकथावाक्यकी तरह व्यर्थ है । वेदान्तोंमें वैयर्थ्यके परिहारके लिए उन्हें प्रतिपत्तिविधिका शेष मानना आवश्यक है ।। १५६ ।।

**'विधिशेषतया'** इत्यादि । विधिपरक वाक्यसे भी वस्तुका निश्चय होता है । इसमें दृष्टान्त हैं—अलौकिक यूप, आहवनीय आदि । यद्यपि यूपादि पदार्थ अलौकिक होनेसे प्रत्यक्षादि प्रमाणके विषय नहीं हैं, अतः यूपादिमें शब्दशक्तिग्रह स्वतः नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाणसे उपस्थित पदार्थमें ही शक्तिग्रह होता है, यह निश्चय है; तथापि 'यूपे पशुं बध्नाति' इस वाक्यसे पशुको बाँधनेके लिए यूप विनियुक्त है । इस वाक्यके बोधके बाद यूप क्या कहलाता है ? ऐसी अपेक्षा होनेपर 'खादिरो यूपो भवति' 'यूपं तक्षति' 'यूपमष्टाश्रीकरोति' इत्यादि तक्षणादिविधिपरक वाक्योंसे संस्कारविशेषविशिष्ट काष्ठका संस्थानविशेष यूप है, यह निश्चय होता है । इसी तरह 'यदाहवनीये जुहोति' (जो आहवनीयमें होम करता है) ऐसा बोध होनेपर आहवनीय क्या है ? यह आकांक्षा होनेपर 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्यादि वाक्यसे संस्कारविशेषविशिष्ट अग्नि आहवनीय है, यह निश्चय होता है । यद्यपि काष्ठ और अग्नि प्रत्यक्षप्रमाणसे गम्य हैं, तथापि संस्कारके अलौकिक होनेसे संस्कारविशिष्ट काष्ठ एवं संस्कारविशिष्ट अग्नि भी अलौकिक कही गई है, इसलिए प्रत्यक्षादि प्रमाणसे शक्तिग्रह नहीं होता, किन्तु उक्त विधिवाक्य द्वारा ही होता है । उसी प्रकार 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस वाक्यके श्रवणके बाद कैसे आत्माका दर्शन करना चाहिए, ऐसी आकांक्षा होनेपर यद्यपि वह अलौकिक होनेसे प्रत्यक्षादि प्रमाणका विषय नहीं है, तथापि दर्शनविधिका शेष होनेसे सत्यज्ञानादि वाक्यसे उक्त ब्रह्मके स्वरूपका बोध होता है ।

मतान्तर कहते हैं—**'यद्वा'** इत्यादिसे । उत्पत्तिविधि और अधिकारविधि इस प्रकार वेदान्तमें दो प्रकारकी विधियाँ हैं । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस ब्रह्मस्वरूप-

स्वर्गकामो यजेतेति विधिरेषोऽधिकारिणम् ।
उत्पत्तिविधिबुद्धेऽस्मिन्ननुष्ठातुं प्रवर्त्तयेत् ॥ १६१ ॥
तथा द्रष्टव्य आत्मेति प्रेरयन्मोक्षकामिनम् ।
अधिकारविधिस्त्वेष प्रतिपत्तौ भविष्यति ॥ १६२ ॥
अबुद्धं बोधयंस्तद्वदप्रवृत्तं प्रवर्त्तयन् ।
उत्पत्त्याख्योऽधिकाराख्यो विधिरेष द्विरूपकः ॥ १६३ ॥

मानी जाती है, जैसे 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इस वाक्यमें यद्यपि 'यजेत' यह यागोत्पत्तिबोधक पद नहीं है, फिर भी विश्वेदेवा देवता तथा आमिक्षा द्रव्य रहनेसे यागस्वरूपकी श्रुति है। इसलिए 'यजेत' पदका अध्याहार करके वैश्वदेवयागका विधान माना जाता है, अन्यथा यागस्वरूपका श्रवण व्यर्थ हो जायगा। प्रकृतमें 'यदाग्नेयो' इस वाक्यमें द्रव्य और देवताकी श्रुति है, अतः यह कर्मोत्पत्तिबोधक वाक्य है, पर फलका निर्देश इसमें नहीं है। इसलिए नियोज्यकी प्रतीति नहीं होती है, अतः फलवदधिकारी वाक्यकी अपेक्षा है ॥ १६० ॥

अधिकारी-वाक्यकी एकवाक्यताके बिना अनुष्ठान नहीं हो सकता, इसलिए अधिकारी-वाक्यके व्यापारकी अपेक्षा दिखलाते हैं—**'स्वर्गकामो'** इत्यादिसे ।

'स्वर्गकामो यजेत' यह अधिकारिविधि उत्पत्तिविधिसे ज्ञात पूर्वोक्त दर्शपूर्णमासयागके अनुष्ठानमें अधिकारी पुरुषको प्रेरित करती है ॥१६१॥

**'तथा'** इत्यादि । उसी प्रकार 'आत्मा द्रष्टव्यः मोक्षकामिना' यह अधिकारीवाक्य मोक्षकामी अधिकारीको प्रतिपत्तिमें—ब्रह्मसाक्षात्कारमें—प्रेरित करता हुआ दर्शनमें विधि है ॥ १६२ ॥

उत्पत्तिविधि और अधिकारिविधिका स्वरूप क्रमशः इस श्लोकमें बतलाया गया है। अज्ञातज्ञापक उत्पत्तिविधि है। 'यदाग्नेय' इस वाक्यसे पूर्व इस यागके स्वरूपका ज्ञान किसी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे नहीं हो सकता, इसलिए 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इत्यादि वाक्य अज्ञातस्वरूपका ज्ञापक होनेसे उत्पत्तिविधि है। 'यजेत स्वर्गकामः' यह अधिकारिवाक्य है। 'फलस्वाम्यबोधक विधि अधिकारिविधि है, यह इसका लक्षण है। फलस्वामित्वका बोध यह कराती है, यदि स्वर्गफलका स्वामी—भोक्ता—होना चाहते हो, तो याग करो, इस प्रकार यागमें प्रेरक यह विधि अधिकारिविधि है।

एवं विधिमिहेच्छन्ति विध्ययोग्येऽपि वस्तुनि ।
विधिरागवशात् केचित् तान् प्रतीदमथोच्यते ॥ १६४ ॥
प्रतिपत्तिविधिस्तावन्नात्मा द्रष्टव्य इत्ययम् ।
विधेर्भाव्यार्थनिष्ठत्वाद्वस्तुन्यनुपपत्तितः ॥ १६५ ॥
किमैकात्म्यं विधेयं स्यात् किं वा तद्दर्शनं वद ।
नोभयत्र विधिर्युक्तः पुंव्यापारानधीनतः ॥ १६६ ॥

एवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य 'ज्ञातव्य' पदके अध्याहारसे उत्पत्ति विधिके बोधक हैं, अर्थात् 'उक्तरूपं ब्रह्म ज्ञातव्यम्' इस प्रकार ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति विधिके बोधक हैं। और 'मुमुक्षुभिरात्मा द्रष्टव्यः' यह अधिकारिविधि है। यदि मोक्ष चाहते हो, तो आत्मदर्शनमें प्रवृत्त होओ, इस प्रकार आत्मदर्शनमें मोक्षाधिकारीकी प्रेरणा करनेवाली यह अधिकारिविधि है। वेदान्तमें उत्पत्तिविधि और अधिकारिविधि—ये दोनों विधियाँ स्वीकृत हैं, इसलिए वेदान्त प्रतिपत्तिविधिके शेषरूपसे प्रमाण है, अन्यथा नहीं, यह पूर्वपक्षका सार है॥१६३॥

उक्त दो विधियोंका असम्भव दिखलाते हुए समाधान करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे।

कोई विद्वान् विधिप्रेमवश विधिके अयोग्य वस्तुमें विधिकी इच्छा करते हैं। राग चित्तका प्रधान दोष है, दोषसे अपरमार्थका ज्ञान होता है और उससे अनुचित वस्तुकी इच्छा होती है, इसलिए विधिके अयोग्य वेदान्तमें जो विधि मानते हैं, उनके प्रति वक्ष्यमाण निराकरणका प्रकार कहते हैं॥ १६४ ॥

**'प्रतिपत्ति०'** इत्यादि। वेदान्तमें नियोग—विधि—का निराकरण नहीं हो सकता, कारण कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' यह विधि है, क्योंकि इसमें 'तव्यत्' विधि बोधक प्रत्यय श्रुत है। इसके निराकरण करनेके लिए **'वस्तुनि'** कहा है। विधि भाव्य—अनुष्ठेय—धात्वर्थमें होती है, जो कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् योग्य है। आत्मा कूटस्थ—नित्य है, अतएव उसमें विधिकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है? सिद्धमें विधिकी अनुपपत्ति होनेसे 'आत्मा द्रष्टव्यः' यह प्रतिपत्ति-विधि नहीं है॥ १६५ ॥

अनुपपत्तिको स्फुट करते हैं—**'किमात्मैक्यम्'** इत्यादिसे।

ऐकात्म्यमें अर्थात् आत्मैकत्वमें विधि है अथवा आत्मैकत्वदर्शनमें? दोनोंमें एक ही दोषसे विधिका खण्डन करनेके लिए कहते हैं—**'नोभयत्र'**। दोनोंमें

सिद्धेऽसिद्धेऽथवैकात्म्ये विधिर्नैवोपपद्यते ।
नाकाशे नापि तत्पुष्पे विधिः सम्भाव्यते क्वचित् ॥ १६७ ॥
न विधिर्दर्शनेऽपि स्यादन्योन्याश्रयदोषतः ।
दर्शनाद् विधिसंसिद्धेर्विधेर्दर्शनसिद्धितः ॥ १६८ ॥

विधि नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मैकत्वके नित्य सिद्ध होनेसे वह पुरुषके व्यापारके अधीन नहीं है ॥ १६६ ॥

प्रथम कल्पको ही अति स्फुट करनेके लिए विकल्प करते हैं—'सिद्धे' इत्यादिसे ।

आत्मैकत्व यदि सिद्ध—नित्य—है, तो आकाशके समान उसमें विधि नहीं हो सकती। और यदि असिद्ध है, तो भी आकाश पुष्पके समान अत्यन्त असत् होनेसे जैसे उसमें विधि नहीं होती वैसे ही ऐकात्म्यमें भी विधि नहीं हो सकती। आकाशका दृष्टान्त परमतके अनुसार दिया गया है, अपने मतमें तो ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई नित्य है ही नहीं। आत्मैकत्वको चाहे सत् मानो या असत्, दोनों पक्षोंमें भी वह पुरुषव्यापाराधीन नहीं है, अतः विधि अयुक्त है ॥ १६७ ॥

**'न विधि'** इत्यादि। यदि असाध्य वस्तुमें विधि नहीं हो सकती है, तो भावार्थ आत्मैकत्वदर्शन—में विधि मानिये? इस द्वितीय पक्षका निराकरण करते हैं—**'अन्योन्याश्रयदोषतः'** इत्यादिसे। अन्योन्याश्रय दोषसे दर्शनमें भी विधिकी सम्भावना नहीं है। यहाँपर भी यह विकल्प हो सकता है कि दर्शनमात्रमें विधि है अथवा ब्रह्मविशेषित दर्शनमें? प्रथम पक्षका स्वीकार करनेपर घटादिदर्शनमें भी विधिकी प्रसक्ति हो जायगी। द्वितीय पक्ष भी नहीं मान सकते, क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है। यदि ब्रह्मविशेषित दर्शनमें विधि है, तो ब्रह्म ज्ञात होना चाहिए, क्योंकि विशेषणज्ञानके बिना विशिष्टका ज्ञान नहीं होता। और विशिष्टज्ञानके बिना विशिष्टमें विधि दुर्घट है, अतः ब्रह्मका ज्ञान होनेपर तद् घटित दर्शनमें विधि और विधिके होनेपर ब्रह्मका ज्ञान, ज्ञानाधीन विधि और विध्यधीन ज्ञान, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट ही है। इसलिए विशिष्टमें विधि नहीं मान सकते। यदि कथंचित् विशिष्टमें विधि मान लें, तो भी आत्मामें वेदान्त प्रमाण नहीं होगा, आत्मदर्शनमें ही प्रमाण होगा। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह न्याय सर्वमान्य है, यदि इसे उभयपरक मानें, तो वाक्यभेद दोष होगा। जब एकवाक्य हो सकता है, तब वाक्यभेद मानना अनुचित है ॥१६८॥

पुंसाऽऽत्मदर्शने ज्ञाते विधिना प्रेर्यते पुमान् ।
अज्ञाते विषये तत्र प्रेरणा नैव युज्यते ॥ १६९ ॥
ज्ञायमाने दर्शनेऽर्थादात्मा दृश्यतया तदा ।
ज्ञातोऽतो दर्शने सिद्धे पश्चात् सिध्यति तद्विधिः ॥ १७० ॥
विधिना प्रेरितो मर्त्योऽनुतिष्ठति ततः परम् ।
दर्शनं सिध्यतीत्येवमन्योन्याश्रय ईरितः ॥ १७१ ॥

---

**'पुंसाऽऽत्मदर्शने'** इत्यादि । यदि पुरुषको विधेयभूत आत्मदर्शन का ज्ञान हो तो विधि पुरुषको उसमें प्रेरित कर सकती है । यदि विषय—आत्मदर्शन—अज्ञात है, तो पुरुषको किसमें प्रेरित करेगी ? विधि भी इष्टसाधनताके बोधन द्वारा प्रवर्तक होती है । यदि विधेय सर्वथा अज्ञात है, तो धर्मिके ज्ञानका अभाव होनेसे इष्ट-साधनताका बोध नहीं हो सकता, फिर प्रवृत्तिकी सम्भावना ही कैसे होगी ? ॥१६९॥

**'ज्ञायमाने'** इत्यादि । यदि विधिके लिए आत्मदर्शनका ज्ञान पूर्वमें है, यह मानें, तो विशेषणके ज्ञानके बिना विशिष्टका ज्ञान नहीं हो सकता, अतः आत्मदर्शनके ज्ञात होनेपर उसके विशेषणभूत आत्माका ज्ञान है ही यही मानना पड़ेगा। इस परिस्थितिमें प्रथम आत्मज्ञान पश्चात् आत्मदर्शनकी विधि, यह प्राप्त होता है, सो अत्यन्त असंगत है, क्योंकि शास्त्रका अनुशासन है—

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥'

अर्थात् जो सर्वथा अप्राप्त है, उसमें ही विधि होती है, प्राप्तमें नहीं, अतः वैसा मानना केवल उपहास है । आत्मदर्शनके पीछे तो विधिकी सम्भावना ही नहीं है ॥ १७० ॥

**'विधिना'** इत्यादि । पूर्वश्लोकमें प्रथम आत्मदर्शन तदनन्तर विधि कही गई है । इस श्लोकमें प्रथम विधि तदन्तर आत्मदर्शन कहते हैं—इस प्रकार आत्मदर्शन तथा विधिमें अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है । विधिसे प्रेरित मनुष्य विधेयका अनुष्ठान करता है, अतः प्रेरणासे पहले विधेयका ज्ञान आवश्यक है, अन्यथा विषयके अज्ञानसे प्रेरणा नहीं हो सकती । यदि विधिसे विषयका ज्ञान होगा, तो अन्योन्याश्रय होगा अर्थात् विधिसापेक्ष आत्मदर्शन और आत्मदर्शनसापेक्ष विधि, इस प्रकार उत्पत्तिमें ही अन्योन्याश्रय है, अतः उत्पत्ति ही नहीं होगी ॥१७१॥

न च यूपादिवच्छक्यं वेदेनैव समर्पणम् ।
ऐकात्म्यस्य स्वतः सिद्धेः साध्यत्वाद् यूपवस्तुनः ॥ १७२ ॥
सिद्धं चेद् दर्शयेद् वेदः प्रसिद्धं दर्शनं तदा ।
तन्निष्ठमेव वाक्यं स्यात् का वाऽस्य विधिशेषता ॥ १७३ ॥

**'न च'** इत्यादि । जैसे 'यूपं तक्षति' यह वाक्य अलौकिकसंस्कारविशेषसे विशिष्ट काष्ठविशेष यूपका 'यूपे पशुं बध्नाति' इस विधिके शेषरूपसे समर्पण करता है, वैसे ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह वाक्य अलौकिक ऐकात्म्यका 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस दर्शनविधिके शेषरूपसे समर्पण करता है; यदि यह कहो तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य है । यूप साध्य है और आत्मैक्य सिद्ध है अर्थात् साध्यमें विधि होती है, अतः 'यूपे पशुं बध्नाति' 'खादिरो यूपो भवति' इत्यादि विधिके शेषरूपसे यूपका बोधन हो सकता है, अतः 'यूपं तक्षति' 'यूपमष्टाश्रीकरोति' ये सब वाक्य विधिके शेषसे यूपका अर्पण कर सकते हैं । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्यादि सिद्धार्थक वाक्य हैं, अतः ये दर्शनविधिके शेषरूपसे ऐकात्म्यका समर्पण नहीं कर सकते और दर्शनमें उक्त रीतिसे विधि हो भी नहीं सकती ॥१७२॥

सिद्ध ब्रह्मका दर्शनविधिके शेषरूपसे समर्पण करनेमें दोष कहते हैं— **'सिद्धम्'** इत्यादिसे ।

यदि वेद—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—सिद्ध—नित्य—ब्रह्मका बोध करता है, तो वेद तन्निष्ठ अर्थात् कूटस्थ—नित्यात्मनिष्ठ ही हुआ, फिर वह विधिका शेष है, इसकी क्या चर्चा ?

तात्पर्य यह है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह वाक्य यदि ब्रह्मबोधक है, तो

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

इस श्लोकमें निर्दिष्ट उपक्रम और उपसंहारके ऐक्य आदि छः तात्पर्यके निर्णायक लिङ्ग माने जाते हैं; सन्दिग्ध स्थलमें इनके द्वारा इस अर्थमें इस शब्दका तात्पर्य है, यह निर्णय किया जाता है ।

प्रकृतमें 'सत्यज्ञानादि' वाक्य द्रष्टव्यविधिके शेषरूपसे ब्रह्मका बोध कराते हैं, या साक्षात् ब्रह्मका बोध कराते हैं ? इस सन्देहके समयमें उक्त षड्विधलिङ्गोंके

**तस्माद् द्रष्टव्य इत्येष प्रतिपत्तिविधिर्नहि ।**
**बहिर्मुखत्वव्यावृत्तिर्विधेरर्हार्थताऽथवा ॥ १७४ ॥**

द्वारा यह निश्चय होता है कि साक्षात् ब्रह्ममें इन वाक्योंका तात्पर्य है, अतः वे साक्षाद् ब्रह्मके बोधक हैं, विधिके शेषरूपसे नहीं । 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यह उपक्रम है 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' यह उपसंहार है । 'तत्त्वमसि' यह नौ बार कहा गया है, वह अभ्यास है । जीव और ब्रह्मका अभेद अर्थात् आत्मैकत्व अपूर्व है—प्रमाणान्तरका अविषय है । आत्मैकत्वका फल है—मोक्ष । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि अर्थवाद है । कार्य और कारणका अभेद, एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा आदि तथा सत्यानन्दादि वाक्य उपपत्ति है । अतः वेद ब्रह्ममात्रनिष्ठ है, प्रतिपत्तिविधिका शेष नहीं है, अतः उक्त वाक्य ब्रह्ममें स्वतः प्रमाण है, इसलिए विधि व्यर्थ है । यद्यपि यह शङ्का हो सकती है कि विधिके बिना वाक्य वस्तुबोधक नहीं होता, इसलिए विधि व्यर्थ नहीं है, तथापि यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि व्युत्पन्न पुरुषको विधिशून्य वाक्यसे बोध न होता, तो यह कह सकते कि विधिकी आवश्यकता है, परन्तु 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि विधिशून्य वाक्योंसे बोध सर्वजनप्रसिद्ध है, अतः ऐसा नहीं कह सकते; अन्यथा बोधके बिना श्रोताका मुखप्रसाद कैसे होता । यदि कहो कि वहां भी विधिका अध्याहार माना जाता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि यदि विधिशून्य वाक्यसे बोध न होता हो अर्थात् जहांपर विधिका अध्याहार करके ही शाब्दबोध अनुभवसिद्ध होता हो, तो अगत्या अध्याहारकी कल्पना की भी जाती, किन्तु ऐसा अनुभवसिद्ध नहीं है ॥१७३॥

अपने मतमें 'आत्मा द्रष्टव्यः' इसका अर्थ बतलाते हुए अधिकारिविधिके निराकरणका उपसंहार करते हैं—**'तस्माद्'** इत्यादिसे ।

यदि शङ्का हो कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' यह प्रतिपत्तिविधि नहीं है, तो विध्यर्थक 'तव्यत्' प्रत्यय उसमें क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि बहिर्मुख अर्थात् बाह्यविषयक प्रवृत्ति रोकनेके साथ अन्तर्मुख प्रवृत्तिके लिए विधिच्छायापन्न उक्त वचन है, वस्तुतः विधि नहीं है । जो सांसारिक पुरुष ऊँच और नीच अर्थात् हित और अहितकी प्राप्ति और परिहारकी इच्छासे विहित और निषिद्ध कर्मके अनुष्ठान और परिवर्जनमें ही रात-दिन व्यग्र हैं, अध्यात्मशास्त्रके श्रवण, मनन आदिका अवसर ही जिनको नहीं मिलता, उनकी अध्यात्मशास्त्रके श्रवण आदिमें

नाऽपि स्वरूपवाक्यानि विधातुं बोधमीशते ।
विधिप्रयोजनस्याऽत्र दुर्निरूपत्वहेतुतः ॥ १७५ ॥
किं विधिर्वस्तुसिद्ध्यर्थः किं वा विज्ञानसिद्धये ।
यद्वा निश्चयसिद्ध्यर्थं विवक्षासिद्धयेऽथवा ॥ १७६ ॥
पुमर्थसिद्धये वोत निरपेक्षत्वसिद्धये ।
पदानामन्वयार्थं वा सर्वथाऽपि न युज्यते ॥ १७७ ॥

प्रवृत्ति होनेके लिए कर्त्तव्यबोधन द्वारा कहा गया है कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' अर्थात् कर्मकाण्डमें ही निखिल पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु वह पुरुषार्थका आभास है। परम पुरुषार्थ तो अध्यात्मशास्त्रके श्रवण आदिमें ही है, इसलिए वास्तविक और नित्य सुख यदि चाहते हो, तो आत्माका श्रवण मनन आदि करो। जिस तरह एक ओर से जलप्रवाहका निरोध दूसरी ओर प्रवाहको मार्ग देकर ही होता है, सर्वथा निरोध असम्भव है, उसी तरह चित्तप्रवाहका सांसारिक विषयोंसे निरोध करनेके लिए आत्मा 'द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्यसे चित्तप्रवाहका मार्ग बतलाया गया है, अथवा 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इस भगवान् पाणिनि द्वारा प्रणीत सूत्रसे अर्ह अर्थमें 'तव्य' प्रत्यय है, अर्थात् आत्मा दर्शनयोग्य है, यह 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस श्रुतिका अर्थ है। इस पक्षमें विधिकी सम्भावना ही नहीं हो सकती, अतएव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'सुरा न पातव्या' इत्यादि वाक्य भी उपपन्न होते हैं, अन्यथा हननाभाव और पानाभाव अभाव पदार्थ होनेसे, कृतिसे, साध्य नहीं हो सकते, किन्तु हनन और पानमें प्रवृत्ति न करनेपर हनन और पानका अभाव स्वतःसिद्ध हो जाता है। कृतिसे असाध्य होनेपर भी हनन और पानका अभाव योग्य है, इस अर्थसे 'तव्यत्' की उपपत्ति होती है ॥१७४॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि ब्रह्मस्वरूपबोधक वाक्य नित्य—सिद्ध—आत्माके यदि विधायक नहीं हो सकते, तो तद्विषयक शाब्दज्ञानके ही विधायक हों, शाब्दज्ञान अनित्य होनेसे विधिके योग्य हो सकता है? इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—**'नापि'** इत्यादिसे।

उक्त वाक्य शाब्दबोधके विधायक हो सकते, यदि विधिकी सम्भावना होती, परन्तु प्रयोजनके बिना विधि नहीं मानी जाती। यहां विचार करनेपर भी विधिका कुछ प्रयोजन नहीं दीख पड़ता, इसलिए शाब्दबोधके विधायक उक्त वाक्य नहीं हैं ॥ १७५ ॥

विधिका सर्वथा निरूपण नहीं हो सकता, इस विषयको अतिस्फुट करनेके लिए विकल्प करते हैं—**'किं विधि०'** इत्यादिसे।

क्या वस्तुकी सिद्धिके लिए या विज्ञानकी सिद्धिके लिए अथवा निश्चयकी

न तावद्वस्तुसिद्ध्यर्थं क्रियते व्यापृतिर्विधेः ।
सर्वमात्मेत्येव वाक्यादक्षवद्वस्तुसाधनात् ॥ १७८ ॥
आत्मा ब्रह्मेति विज्ञानं विधिं नैव व्यपेक्षते ।
यस्मात्तच्छ्रुतवाक्यस्य स्वयमेवोपजायते ॥ १७९ ॥

---

सिद्धिके लिए या विवक्षाकी सिद्धिके लिए अथवा पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए या निरपेक्षत्वकी सिद्धिके लिए या पदोंके परस्पर अन्वयकी सिद्धिके लिए विधिकी आवश्यकता है ? सर्वथा—किसी प्रकारसे भी—विधिकी सम्भावना नहीं हो सकती ॥१७६,१७७॥

प्रथम विकल्पका निराकरण करते हैं—**'न तावद्वस्तु०'** इत्यादिसे ।

व्याकरण आदिका अध्ययन करनेसे जिसको भली-भाँति पद-पदार्थका परिज्ञान हो गया है, ऐसे व्युत्पन्न पुरुषको 'सर्वमात्मा' इत्यादि वाक्यसे जब तदर्थविषयक शाब्दबोध हो ही जाता है, तब उसमें विधि माननेकी क्या आवश्यकता है ? जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाण विधिनिरपेक्ष सिद्ध घट आदिमें प्रमाण होते हैं, वैसे ही शब्द भी स्वार्थ-विषयक शाब्दबोधका जनक होता एवं अपने विषयमें प्रमाण भी होता है, अतएव 'देवदत्त ! पुत्रस्ते जातः' इत्यादि वाक्यसे भी शाब्दबोध होता है । अन्यथा विधिके अभावसे उक्त वाक्य बोधजनक नहीं होगा । और इष्टापत्ति तो कर नहीं सकते, क्योंकि शब्दश्रवणके बाद श्रोताके मुखप्रसादसे शाब्दबोधका होना निर्विवाद है, अतएव प्रियशब्दके श्रवणसे पारितोषिक भी देता है । लोकमें भी विधिके विना 'विचित्र विन्ध्याटवी' आदिके वर्णनसे शाब्दबोध होता ही है, इसलिए स्वरूपबोधक वाक्यको स्वार्थबोधनके लिए, प्रत्यक्षके समान, विधिव्यापारकी अपेक्षा नहीं है ॥ १७८ ॥

विधिशून्यवाक्यसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि प्रत्यक्षादिके समान होती है, यह ठीक है, फिर भी 'ब्रह्म आत्मासे अभिन्न है' इस प्रकारके विज्ञानके लिए विधिकी आवश्यकता है, इस द्वितीय विकल्पके निराकरणके लिए कहते हैं—**'आत्मा'** इत्यादि ।

'आत्मा ब्रह्म' इस वाक्यका श्रवण करनेवाले व्युत्पन्न पुरुषको उक्त वाक्यसे आत्मा ब्रह्म-स्वरूप है, यह बोध हो ही जाता है, उसके लिए विधिकी अपेक्षा नहीं है । विधिशून्यवाक्यसे अर्थका बोध होता है, यह सिद्ध कर चुके हैं, अतः प्रकृत वाक्य भी विधिरहित स्वार्थबोधक होता है, इसमें विशेष कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है ॥ १७९ ॥

यजेतेति विधिज्ञानं वाक्यात् स्यान्न विधेर्बलात् ।
विधिज्ञाने विधेः क्लृप्तावनवस्था प्रसज्यते ॥ १८० ॥
अथैतद्विधिविज्ञानं वेदाधीतिविधेर्बलात् ।
तर्ह्यात्मबोधस्तेनैव विहितो नाऽत्र तद्विधिः ॥ १८१ ॥

व्युत्पन्न पुरुषको विधिनिरपेक्ष वाक्यसे शाब्दबोध होता है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'यजेत' इत्यादि ।

'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्यसे, याग स्वर्गकामी पुरुषकी कृतिसे साध्य है, क्या यह बोध होता है ? हाँ, होता है, पर विधिसापेक्ष ही वाक्य इस अर्थका बोधक है, निरपेक्ष नहीं । अच्छा तो यह कहिये कि एतद्वाक्यार्थज्ञान एतद्वाक्यघटकविधिकी अपेक्षा करता है अथवा विध्यन्तरकी किं वा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस स्वाध्यायाध्ययनके विधायक वाक्यघटक विधिकी अपेक्षा करता है ? प्रथम पक्षका निराकरण करते हैं–'न विधेर्बलात्' इत्यादि । अर्थात् वाक्य वाक्यान्तरके समान स्वतः अर्थज्ञानका उत्पादक है, विधिबलसे नहीं । 'याग इष्टसाधनम्' इस वाक्यमें विधि नहीं है, लेकिन इससे अर्थका बोध होता है; अतः विधिनिरपेक्ष उक्त वाक्य भी स्वार्थका बोधक है । द्वितीय विकल्पका निरास करते हैं—'विधिज्ञाने' इत्यादिसे । अर्थात् विधिज्ञानमें यदि विध्यन्तरकी अपेक्षा कहिये, तो अनवस्था दोष होगा । 'यजेत' यह विधिघटित वाक्य है; इसको स्वार्थबोधनके लिए विधिघटित वाक्यान्तरकी अपेक्षा हो, तो वह भी स्वार्थबोधनके लिए विध्यन्तरकी अपेक्षा करेगा, उसके लिए जो विध्यन्तरघटितवाक्य अपेक्षित होगा, सो भी स्वार्थबोधनके लिए विध्यन्तरकी अपेक्षा करेगा, इस प्रकारकी अनवस्था होनेसे, अन्ततः किसी वाक्यको विधिनिरपेक्ष ही शाब्दबोधजनक मानना होगा या कोई भी वाक्य बोधजनक ही नहीं होगा, इन दोनोंमें अनिष्ट है । सुषुप्ति तथा विषयान्तरके संचारके लिए विध्यन्तरकी अपेक्षाका कहीं त्याग करना आवश्यक है, तो दौड़ कर त्याग करनेकी अपेक्षासे पूर्व ही त्याग करना श्रेयस्कर है, अतः विधिनिरपेक्ष वाक्य स्वार्थबोधक होता है, ऐसा अङ्गीकार करना ही उचित मार्ग है ॥ १८० ॥

निराकरणके लिए तृतीय विकल्प कहते हैं—'अथैत०' इत्यादि ।

यदि 'यजेत' इत्यादि वाक्य स्वार्थके बोधनके लिए 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस स्वाध्यायाध्ययनविधायक वाक्यगत विधिकी अपेक्षा

अथ निश्चयसिद्ध्यर्थं विधिरित्येतदप्यसत् ।
स निश्चयो वः किं शब्दादुतान्यस्मादितीर्यताम् ॥ १८४ ॥
शब्दाच्चेन्निश्चयो जातो विधिस्तत्र निरर्थकः ।
अन्यस्मान्निश्चयः स्याच्चेत् सापेक्षत्वं प्रसज्यते ॥ १८५ ॥

वस्तुतस्तुसे सिद्धान्त कहते हैं—वाक्य स्वार्थबोधनके लिए किसी प्रकारकी विधिकी अपेक्षा नहीं करता । वाक्यको भी प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह प्रमाण मानते हैं । प्रमाणका स्वभाव ही ऐसा है कि स्वार्थके बोधनके लिए विधिकी अपेक्षा नहीं करता । उदाहरणके लिए कहते हैं—जैसे प्रत्यक्ष या अनुमान ये दोनों प्रमाण स्वार्थके प्रकाशनके लिए विधिकी अपेक्षा नहीं करते, वैसे ही वाक्य भी प्रमाण है, अतः स्वार्थबोधनके लिए वह भी विधिकी अपेक्षा नहीं करता, यही मानना युक्तियुक्त है, अन्यथा उक्त रीतिसे अनवस्था दोष दुष्परिहार हो जायगा । उक्त स्वपरनिर्वाहकत्व मानना भी असङ्गत है, क्योंकि अन्य उपाय न होनेसे अध्ययनविधिमें स्वपराध्ययननिर्वाहकत्व मानते हैं, किन्तु अर्थबोधमें प्रकृतवाक्यस्थ विधिको स्वपरबोधोपयोगित्व नहीं मान सकते, अन्यथा कर्मकाण्डस्थ विधि -व्यर्थ हो जायगी ॥ १८३ ॥

'आत्मा ब्रह्म' इस वाक्यसे 'आत्मासे अभिन्न ब्रह्म है' यह ज्ञान तो हो जायगा, किन्तु वह ज्ञान निश्चयरूप नहीं होगा, अतः उसके निश्चयके लिए विधि मानते हैं, इस तृतीय विकल्पका निराकरण करते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

'आत्मासे अभिन्न ब्रह्म है' इस निश्चयके लिए विधि माननी चाहिए, यह कहना भी असङ्गत है, क्योंकि यह—आत्मासे अभिन्न ब्रह्मका निश्चय—आपको उक्त शब्दसे होता है या प्रमाणान्तरसे ? यह कहिये ॥ १८४ ॥

'शब्दाच्चे०' इत्यादि । शब्दसे यदि उक्त निश्चय मानते हो, तो 'आत्मा ब्रह्म' इस शब्दसे आत्मा और ब्रह्म अभिन्न—एक ही—हैं, यह यदि निश्चय हो ही जाता है, तो फिर विधिका क्या प्रयोजन ? शाब्दज्ञान होनेपर भी निश्चय तो अन्य प्रमाणसे होता है, यदि ऐसा कहते हो, तो सापेक्षत्वलक्षण अप्रामाण्य वेदवाक्यमें आ जायगा, जो आपको भी अभीष्ट नहीं है, क्योंकि अपौरुषेय वेदमें निरपेक्षत्वलक्षण स्वतःप्रामाण्य आप मानते हैं, लौकिक वाक्यमें प्रामाण्यके निर्णयके लिए अन्य संवादी प्रमाणकी अपेक्षा होती है ।

अथाऽर्थस्य विवक्षार्थविधिरित्यप्यसङ्गतम् ।
स्वतो विवक्षितार्थाः स्युः शब्दा असति बाधके ॥ १८६ ॥

यद्यपि शब्दमें शाक्षात् कोई दोष नहीं है, फिर भी वह पुरुषके दोषसे दुष्ट हो जाता है । पुरुषमें भ्रम, प्रमाद आदि दोष प्रायः रहते हैं, इसलिए प्रमाणान्तरके संवादसे वक्ता पुरुषमें दोषाभावका निश्चय होता है, उसके बाद तदुक्त शब्द प्रामाणिक माना जाता है । वेदमें यह शङ्का नहीं होती, कारण कि वेद पुरुषप्रणीत नहीं है, अतः पुरुषदोषकी उसमें सम्भावना ही नहीं है । स्वतः दोष तो शब्दमें रहता ही नहीं, अतः वैदिक शब्दोंसे जो बोध होता है, सो प्रमास्वरूप होनेसे निश्चयात्मक ही होता है । यदि उसमें संशय होनेकी सामग्री ही नहीं है, तो फिर संवादार्थ प्रमाणान्तरकी क्या आवश्यकता है ? यदि विधिप्रेमवश प्रमाणान्तरकी अपेक्षा मानो तो सापेक्षत्वलक्षण अप्रामाण्य वेदवाक्यमें हो जायगा, यह अपसिद्धान्त आपको होगा और लौकिक शब्दकी अपेक्षा वैदिक शब्दमें विद्यमान विशेषता भी नष्ट हो जायगी । और वेद अपौरुषेय है, यह मानना भी निरर्थक हो जायगा ॥१८५॥

'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिवाक्यजन्य ज्ञानमें विधि इसलिए मानते हैं कि 'आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है' इस अर्थमें उक्त वाक्यका तात्पर्य सिद्ध हो, इस चतुर्थ विकल्पका निराकरण करते हैं—'अथाऽर्थस्य' इत्यादिसे ।

भाव यह है कि उक्त वाक्यका उक्तार्थमें तात्पर्य है, इसलिए वाक्यार्थ ज्ञानमें विधि मानते हैं, यह आपका वक्तव्य है,—इसका तात्पर्य यह होगा कि 'ज्ञातव्योऽयमर्थः' इस अर्थको अवश्य जानना चाहिए, ऐसा कहनेसे उक्त वाक्यका उक्तार्थमें तात्पर्य निश्चय होता है अर्थात् अर्थान्तरके तात्पर्यसे यह वाक्य नहीं कहा गया है, अतएव इस अर्थमें अविवक्षाका निरास भी सिद्ध होता है । यदि अर्थान्तरमें विवक्षा होती, तो प्रकृत अर्थमें अविवक्षा हो सकती, किन्तु ऐसा है नहीं, अतः प्रकृत ही अर्थमें वाक्यका तात्पर्य है, यह निश्चय होनेके लिए वाक्यार्थज्ञानमें विधि मानते हैं । जहां वाक्यार्थज्ञानमें विधि रहती है, वहां वाक्यार्थमें तात्पर्यका निर्णय होता है । जहां विधि नहीं है, वहां अन्यत्र तात्पर्य रहता है । जैसे 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादि । इसका खण्डन करते हैं—विधि माननेसे ही शब्द अर्थपरक होता है, अन्यथा नहीं, यह नियम नहीं है । पदका तथा वाक्यका स्वभावतः स्वार्थमें तात्पर्य होता

**विध्यर्थस्य विवक्षार्थमन्यथाऽन्यो विधिर्भवेत्।**
**विवक्षा लौकिकेऽप्यर्थे दृश्यते हि विधिं विना ॥ १८७ ॥**

है, इसके लिए विधिकी आवश्यकता है नहीं। जहां स्वार्थमें बाध प्रतीत होता है, वहां अन्यार्थमें तात्पर्य मानते हैं, जैसे 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादि अभियुक्तवाक्य। कोई भी आप्त पुरुष अपने प्रियके प्रति विष खानेको नहीं कहेगा, इसलिए इस वाक्यका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु 'शत्रुके घरमें भोजन न करना' इस अर्थमें उसके तात्पर्यका निश्चय होता है। जहां स्वार्थपरत्वमें कोई बाधक नहीं है, वहां स्वतः स्वार्थमें तात्पर्यनिश्चय हो जाता है, इसलिए वाक्यार्थज्ञानमें विधि मानना निष्फल है ॥१८६॥

**'विध्यर्थस्य'** इत्यादि। विधिव्यापारके बिना शब्दमें स्वार्थपरत्वका निर्णय नहीं होता, यदि यह मानिये, तो 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्यमें भी स्वार्थपरत्वके अवधारणके लिए अन्य विधिकी अपेक्षा होगी, फिर उस वाक्यको भी स्वार्थपरत्वनियमके लिए अन्य विधिकी अपेक्षा होगी, इस प्रकार पूर्वोक्त अनवस्थादोष ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। इस वाक्यमें विधि है, किन्तु भावार्थक यागकी विधि है, स्ववाक्यार्थके ज्ञानकी विधि नहीं है।

आपका कहना तो यह है कि जहां वाक्यार्थज्ञानमें विधि नहीं है, वहाँ वाक्यका स्वार्थमें तात्पर्यनिश्चय ही नहीं होता। जबतक कर्मविधिवाक्यका स्वार्थमें तात्पर्यका निश्चय नहीं होगा तबतक उक्त वाक्यमें कर्मविधि भी नहीं हो सकेगी, और विधिके बिना भी लौकिक वाक्यमें स्वार्थपरत्व देखते हैं। विन्ध्य, सुमेरु, स्वर्गलोक, पाताल-लोक आदिका वर्णन पुराण और इतिहास आदिमें प्रसिद्ध है, तथा कैसे वृक्ष हैं? फलवान् हैं, इस प्रश्न और उत्तर वाक्यमें विधि नहीं है, फिर भी स्वार्थपरक है, अन्यथा प्रश्नोत्तरभाव ही उक्त वाक्यमें बाधित हो जायगा, इत्यादि पूर्वमें कह चुके हैं, इसलिए यहाँपर फिर उसे दुहरानेकी विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

सारांश यह है कि 'ये लौकिकास्त एव वैदिकाः' इस न्यायसे तथा 'लोकावगतसामर्थ्यश्शब्दो वेदेऽपि बोधकः' इस अभियुक्तोक्तिसे यह ज्ञात होता है कि जो प्रकार लौकिक शब्दोंमें है, वही प्रकार वैदिक शब्दोंमें भी है, अन्य नहीं। लोकमें विधिके बिना यदि शाब्दबोध सर्वानुभवसिद्ध है, तो वेदमें भी शाब्दबोधकी विधि माननेकी आवश्यकता नहीं है। लोकमें बाधक न होनेपर शब्दका स्वार्थमें

**मतं पुमर्थसिद्ध्यर्थं ज्ञानस्य विधिरिष्यते ।**
**फलस्य विध्यधीनत्वादुपेक्षाफलताऽन्यथा ॥ १८८ ॥**
**ज्ञेयव्यक्त्यतिरेकेण न विज्ञानात् फलान्तरम् ।**
**इष्यते, कर्मवन्नातस्तदर्थे विधिकल्पना ॥ १८९ ॥**

तात्पर्यज्ञान जैसे होता है, वैसे ही वेदमें भी वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य-निश्चय हो ही जायगा, इसलिए विधिकी अपेक्षा नहीं है ॥ १८७ ॥

पञ्चम विकल्पके निरासके लिए कहते हैं—**'मतम्'** इत्यादि ।

जैसे 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि कर्मकाण्डस्थ वेदवाक्योंसे विहित यागादिका स्वर्गादि फल विधिके अधीन होता है, वैसे ही वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञानका भी फल विध्यधीन होना चाहिए । अन्यथा ब्रह्मज्ञानका मोक्ष फल पुरुषार्थ नहीं हो सकेगा । विध्यधीन ही फल पुरुषार्थ होता है । विधि न माननेपर ब्रह्मज्ञान अविवक्षितफलक हो जायगा और मोक्ष ही ब्रह्मज्ञानका फल है, इसमें वेदान्तका तात्पर्य्य निर्णीत नहीं होगा, ऐसा होनेपर मुमुक्षुको अवश्य ब्रह्म ज्ञेय है, यह नियम नहीं बन सकेगा और इसकी आवश्यकता इसलिए है कि मोक्षका उपाय ब्रह्मज्ञान ही है, दूसरा नहीं । अतः मोक्षके लिए ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिए ॥ १८८ ॥

यदि फलमें उपेक्षा होगी, तो मोक्षकी कामनासे अन्य उपायमें भी प्रवृत्ति हो सकती है और ब्रह्मज्ञानका अन्य फल कहना होगा—ये दोनों अभीष्ट नहीं हैं, अतः वेदान्तमें विधि आवश्यक है, इस आक्षेपका निराकरण करते हैं—**'ज्ञेयव्यक्त्यति०'** इत्यादि से ।

ज्ञेय ब्रह्मकी अभिव्यक्तिसे अतिरिक्त—भिन्न—मोक्ष नहीं है अर्थात् वेदान्त-वाक्यका अखण्ड ब्रह्मविषयक साक्षात्कारात्मक ज्ञानसे अतिरिक्त मोक्ष फल नहीं है, मोक्ष ब्रह्मस्वरूप ही है । केवल कर्मज्ञानसे स्वर्ग नहीं होता, किन्तु ज्ञानोत्तर कर्मोंके अनुष्ठानसे स्वर्ग होता है, इससे स्वर्गके लिए कर्मज्ञानातिरिक्त तत्साध्यांशमें विधि मानी जाती है । वेदान्तका स्ववेद्य ब्रह्मज्ञानसे अतिरिक्त फल ही नहीं है, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य है, इसलिए जैसे स्वर्ग फलके लिए यागमें विधिकी अपेक्षा है, वैसे मोक्षके लिए ब्रह्मज्ञानमें विधिकी अपेक्षा नहीं है । स्वर्ग विधिके अधीन है और विहितकर्मानुष्ठानसे जन्य है । मोक्ष वेदान्तवाक्यार्थज्ञान-स्वरूप है, तदतिरिक्त नहीं है, अतः वेदान्तज्ञानमें विधि नहीं हो सकती ॥ १८९ ॥

कर्मणो बोधमात्रेण न स्वर्गः प्राप्यते पितुः ।
अनुष्ठानाद् अतस्तत्राऽनुष्ठानाय विधिर्मतः ॥ १९० ॥
तत्त्वावबोधमात्रेण मुक्तिः सिद्धा न तत्र तु ।
अनुष्ठानं किमप्यस्ति किमर्था विधिकल्पना ॥ १९१ ॥
ज्ञेयाभिव्यक्तिरेवाऽत्र फलं सा च प्रमाणजा ।
न वैधीति पुमर्थोऽत्र सिध्यत्येव विधिं विना ॥ १९२ ॥
अथ मान्तरसापेक्षा सिद्धवाक्यस्य मानता ।
निरपेक्षं विधेर्मात्वं तदर्थो विधिरित्यसत् ॥ १९३ ॥

'**कर्मणो**' इत्यादि । दृष्टान्तमें वैषम्य स्फुट करते हैं—पित्र्येष्टिके ज्ञानमात्रसे पिताको स्वर्ग नहीं होता, किन्तु ज्ञानके अनन्तर उस कर्मके अनुष्ठानसे होता है । इसलिए कर्मविधि आवश्यक है, पर वेदान्तमें ऐसा है नहीं ॥ १९० ॥

'**तत्त्वावबोधमात्रेण**' इत्यादि । आत्मतत्त्वके अवबोधमात्रसे—यथार्थ आत्मसाक्षात्कारमात्रसे—आत्मस्वरूपा मुक्ति सिद्ध है । जब मुक्तिके लिए वेदान्तमें कोई अनुष्ठान नहीं है, तब फिर विधि किसके लिए मानी जाय ? तत्त्वज्ञान केवल अज्ञानकी निवृत्तिके लिए अपेक्षित है । अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर मुक्ति आत्म-स्वरूप होनेसे सिद्ध ही है, साध्य नहीं है । अज्ञात फल पुरुषार्थ नहीं होता, अतः उसे ज्ञानमात्रकी अपेक्षा है । ज्ञान विधिके बिना भी वाक्य द्वारा होता है, इसका उपपादन कर ही चुके हैं; अतः वेदान्तमें विधि नहीं है ॥१९१॥

**ज्ञेयाभिव्यक्तिरेवाऽत्र**' इत्यादि । ज्ञेयाभिव्यक्ति—आत्मैकत्वाभिव्यक्ति—अर्थात् निर्विकल्पक आत्मसाक्षात्कार ही मोक्षाख्य फल है । यद्यपि उक्त ज्ञेयाभि-व्यक्ति वेदान्तप्रमाणसे उत्पन्न होती है, विधिसे नहीं, तो भी—वह पुरुषार्थ है, अतएव विधिके बिना भी पुरुषार्थ सिद्ध होता है ॥१९२॥

वेदान्तमें प्रमाणान्तरनिरपेक्षत्वकी सिद्धिके लिए विधिकी आवश्यकता है, इस षष्ठ विकल्पका उपन्यास करते हैं—'**अथ मान्तर०**' इत्यादिसे ।

सिद्धार्थक वाक्योंमें प्रमाणत्व प्रमाणान्तरसापेक्ष होता है और विधिमें प्रामाण्य निरपेक्ष होता है । वेदान्तमें प्रामाण्य निरपेक्ष सिद्ध हो, इसलिए विधि आव-श्यक है । भाव यह है कि वाक्य दो प्रकारके होते हैं—एक सिद्धार्थक और दूसरे साध्यार्थक । प्रमाणान्तरसे प्रमित अर्थके प्रत्यायक वाक्य सिद्धार्थक कहलाते हैं,

**वस्तु मान्तरयोग्यं चेद्विधौ सत्यपि तत्तथा ।
हरीतकीं भक्षयेति विधिर्मूलमपेक्षते ॥ १९४ ॥**

जैसे 'नीलो घटः' । प्रमाणान्तरसे अप्रमित अर्थके प्रत्यायक वाक्य साध्यार्थक कहलाते हैं, जैसे 'ओदनं पच' । प्रामाण्य भी मतभेदसे दो प्रकारका होता है—यथार्थ-ज्ञानजनकत्व और अज्ञातार्थज्ञापकत्वे सति यथार्थज्ञानजनकत्व । प्रथम कल्पमें उक्त प्रामाण्य सिद्धार्थक और साध्यार्थक दोनों वाक्योंमें साधारण है । द्वितीय कल्पमें उक्त प्रामाण्य साध्यार्थकमें ही होता है, सिद्धार्थकमें नहीं; कारण कि सिद्धार्थक दो प्रकारके होते हैं—एक प्रमाणान्तरसे प्रमित अर्थके प्रत्यायक और दूसरे अप्रमित अर्थके प्रत्यायक, जैसे 'नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति' यह वाक्य यथार्थ-ज्ञानका जनक और अयथार्थज्ञानका भी जनक है । यदि आँखसे पाँच फल देख-कर उक्त वाक्यका प्रयोग किया जाय, तो यथार्थज्ञानका जनक होगा । और यदि बिना देखे अर्थात् दूसरोंकी वंचनाके लिए कहा जाय, तो वह अयथार्थज्ञानका जनक होगा । अन्तिम पक्षमें तो उक्त प्रमाणत्व है ही नहीं । प्रथम पक्षमें उक्त प्रामाण्य है । किन्तु फिर भी कुछ विद्वानोंका मत है कि उक्त स्थलमें 'पांच फल हैं' इसमें प्रत्यक्ष ही मूलभूत प्रमाण है, शब्द नहीं । जैसे अनुभूत अर्थका स्मरण होता है, परन्तु प्रमाण उस अर्थमें अनुभव ही होता है, स्मरण नहीं; कारण कि अनुभव अज्ञातका ज्ञापक है और स्मरण ज्ञातका ज्ञापक है, वैसे वैदिक वाक्य भी, जो सिद्धार्थक हैं, अनुवादक ही हो सकते हैं । सिद्ध अर्थ प्रमाणान्तरके योग्य हैं । और जो साध्यार्थक हैं, वे ही प्रमाणान्तरसे अज्ञात अर्थके बोधक होनेसे प्रमाण होते हैं । विधि साध्यमें होती है, सिद्धमें नहीं होती; इसलिए सर्वथा प्रमाण ही है । सिद्धार्थक वाक्य विधि द्वारा प्रमाण माने जाते हैं, स्वतः नहीं; अतः यदि सिद्धार्थक वेदमें प्रामाण्य मानना है, तो विधि अवश्य मानिये, अन्यथा प्रामाण्यका त्याग कीजिए । प्रमाणान्तरसे प्रमित अथवा तद्योग्यसे अतिरिक्त अर्थका बोधक वाक्य तो प्रमाण होता ही नहीं है । विप्रलिप्सुके वाक्यके समान विधिवाक्यको विध्यन्तरकी अपेक्षा नहीं है, तदन्य सिद्धार्थकको नियमेन विधिकी अपेक्षा है इसका खण्डन करते हैं—'असत्' इत्यादि ॥१९३॥

**'वस्तु मान्तर'** इत्यादि । वाक्यमें सापेक्षत्व और निरपेक्षत्व होनेका मूलकारण है—प्रतिपाद्य विषयमें प्रमाणान्तरका योग्यत्व और अयोग्यत्व । प्रतिपाद्य विषय यदि

प्रमाणान्तरके योग्य है, तो वाक्य सापेक्ष है। और यदि प्रमाणान्तरके अयोग्य है, तो वह निरपेक्ष है। निरपेक्षत्वमें विधि हेतु नहीं है। विधिके रहनेपर भी यदि वाच्यार्थ प्रमाणान्तरके योग्य है, तो सापेक्षत्व अवश्य है। उदाहरणके लिए कहते हैं—'हरीतकीं भक्षय' ( हर्रे खाओ ) इसमें 'भक्षय' पद विधि है, परन्तु यह आयुर्वेदप्रमाणका विषय है, इसलिए यह सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं है। यदि निरपेक्षत्व विधिप्रयुक्त होता, तो यहां भी निरपेक्षताका प्रसङ्ग हो जाता।

सारांश यह कि मानान्तरायोग्य आत्मैकत्वरूप अर्थमें विधिशून्य वेदान्त-वाक्य प्रमाण ही हैं, निरपेक्षत्व वाच्यार्थस्वभावकृत है। जो यह आक्षेप है कि सिद्धार्थक 'नीलो घटः' इत्यादि वाक्य अनुवादक होनेसे अप्रमाण होते हैं, इसमें प्रश्न यह है कि वाक्य सिद्धार्थक है, इसीसे अनुवादक हो जाता है अथवा प्रमाणा-न्तरसे ज्ञातार्थका बोधक है, इसलिए अनुवादक होता है? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ विद्यमान है, पर प्रामाणान्तरसे वह ज्ञात नहीं है। इस परिस्थितिमें अद्वैतात्मबोधक वाक्य प्रमाण क्यों नहीं होगा? यदि 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादि वाक्यके समान निष्प्रयो-जन है, इसलिए प्रमाण नहीं है, यह कहें, तो यह भी ठीक नहीं है, कारण कि नित्य निरतिशय सुखस्वरूप असङ्ग आत्माके बोधक वेदान्तवाक्य निष्प्रयोजन नहीं हैं अपि तु परमप्रयोजनवान् हैं। 'विमतम् अनुवादकम्' सिद्धार्थवाक्यत्वात्, नदीतीरफलसत्ता-बोधकवाक्यवत्, इस अनुमानसे वेदान्तवाक्य अनुवादक हैं, यदि यह कहो, तो यह भी ठीक नहीं है, कारण कि उक्त अनुमानमें मानान्तरकी अपेक्षा स्वार्थबोधकत्व उपाधि है। पौरुषेयवाक्य मानान्तरापेक्षासे ही स्वार्थप्रमाके जनक होते हैं, अन्यथा नहीं। वेद अपौरुषेय है, इसलिए वैदिक अर्थ सिद्ध है, तो भी मानान्तरके योग्य नहीं है, अतः मानान्तरानपेक्षासे ही स्वार्थबोधक वैदिक वाक्य प्रमाण हैं। यदि उक्त उपाधिके निराकरणके लिए 'ब्रह्म मानान्तरगम्यम्, सिद्धत्वात्, घटवत्' ऐसा अनुमान करें, तो उक्त उपाधि नहीं हो सकती, क्योंकि उपाधि साध्यकी व्यापक और साधनकी अव्यापक होती है। पूर्वोक्त अनुमानमें साध्य है—अनुवादकत्व, इसका व्यापक मानान्तरापेक्षतया अर्थबोधकत्व उपाधि है और साधन है—सिद्धार्थकवाक्यत्व, इसकी उक्त उपाधि अव्यापक है, कारण कि वेदान्तवाक्यमें उक्त हेतु है, उपाधि नहीं है, इस अभिप्रायसे पूर्ववादीने कहा है—'ब्रह्म मानान्तरगम्यम्, सिद्धत्वात्, घटवत्' ऐसा अनुमान करनेपर उक्त उपाधिका खण्डन हो जाता है। यदि ब्रह्म मानान्तरसे

गम्य है यह अनुमानसे सिद्ध होता है, तो 'मानान्तरकी अपेक्षासे अर्थबोधकत्वरूप' उपाधि साधनव्यापक हो जाती है, साधनव्यापक होनेसे वह उपाधि नहीं हो सकती, इस अभिप्रायसे यह अनुमान किया गया है। अब प्रश्न यह होता है कि सिद्ध अर्थमें मानान्तरका प्रवेश आवश्यक क्यों है? आवश्यक इसलिए है कि घटादि पदार्थ जड़ हैं, उनका भान प्रमाणके बिना नहीं हो सकता। ज्ञात अर्थके बोधके लिए ही शब्दका प्रयोग होता है, अतः शब्दके प्रयोगके लिए अर्थ जानना आवश्यक है। यदि प्रमाणाभाससे अर्थका ज्ञान होगा, तो उसमें शब्द प्रमाण ही नहीं हो सकेगा। यदि प्रमाणसे होगा, तो ज्ञातज्ञापक शब्द अनुवादक हो जायगा, यह लौकिक वाक्यमें कह सकते हैं। इसमें भी प्रमाणान्तरके प्रवेशका मूल जड़त्व है। आत्मा चेतन स्वयंप्रकाश है, इसलिए उसमें प्रमाणान्तरके प्रवेशके बिना भी शब्दका प्रयोग हो सकता है। इस परिस्थितिमें ब्रह्ममें प्रमाणान्तरका प्रवेश मानते ही नहीं, अतः अज्ञातज्ञापक होनेसे सिद्धार्थक वेदवाक्य भी प्रमाण ही हैं, अनुवादक नहीं। अच्छा तो 'ब्रह्म प्रमाणान्तरसे गम्य है' ऐसा निश्चय न होनेसे निश्चितोपाधि भले ही न हो, किन्तु शङ्कितोपाधिके अनुमितिप्रतिबन्धक होनेसे हेतुमें दोष तो विद्यमान ही है, क्योंकि—

'यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते।
विपक्षस्य कुतस्तावद् हेतोर्गमनिकाबलम्॥'

—यह कुसुमाञ्जलिमें उदयनाचार्यने कहा है। इसका यह उत्तर है कि शब्दकी स्वार्थमें प्रमाणान्तरके प्रवेशकी सम्भावनासे-यदि प्रमाणता न हो, तो मानान्तरगम्य अर्थमें शब्दप्रमाणकी सम्भावनासे मानान्तररूपसे इष्ट ही में अनुवादकत्व क्यों नहीं मानते, शब्दकी अपेक्षासे मानान्तरको ही प्रमाण मानना उचित है, क्योंकि शङ्कितमानान्तर-की अपेक्षासे अशङ्कित शब्द प्रत्यक्ष होनेसे प्रबल है। और यह भी प्रश्न हो सकता है कि सिद्धार्थक वेदवाक्य स्वार्थमें प्रमाण हैं या नहीं? प्रथम पक्षमें सापेक्षत्वकी क्षति है, क्योंकि वह अपने अर्थमें निरपेक्ष ही प्रमाण हुआ, सापेक्ष नहीं। द्वितीय पक्षमें अज्ञातज्ञापक वेदवाक्य अपने अर्थमें अप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि अपने अर्थमें तो वह प्रमाण ही है। सिद्धार्थक वाक्य अनुवादक होता है, इसका निराकरण हो चुका। अब मानान्तरसे प्रमित अर्थका बोधक वाक्य अनु-वादक होता है, इसका निराकरण करते हैं—ब्रह्ममें प्रमाणान्तरका सम्भव नहीं है, इसे अनेक बार कह चुके हैं और आगे भी कहेंगे। ब्रह्ममें कथञ्चित् प्रमाणान्तरका

आयुर्वेदवचो मूलं विधेर्विहितभक्षणे।
तदपेक्ष्य भिषक्प्रोक्तविधिः प्रामाण्यमाव्रजेत् ॥ १९५ ॥

प्रवेश होनेपर भी वेदान्त अनुवादक नहीं हो सकते, क्योंकि प्रमाणोंका किसी-एक विषयमें सम्प्लव भी होता है, जैसे पर्वतमें अग्नि है, यह धूमादिके दर्शनसे अनुमान होता है और पर्वतपर जानेसे अग्निका प्रत्यक्ष भी होता है, लेकिन दोनोंमें कोई भी अनुवादक नहीं है, किन्तु अनुमाननिरपेक्ष प्रत्यक्षसे तथा प्रत्यक्षनिरपेक्ष अनुमानसे वह्निका परिच्छेद होता है, इसलिए वे दोनों स्वतन्त्र प्रमाण माने जाते हैं। यदि प्रत्यक्षकी सहायतासे अनुमान या अनुमानकी सहायतासे प्रत्यक्ष वह्निका परिच्छेदक होता, तो दोनोंमें अन्यतरको अनुवादक कह सकते, किन्तु ऐसा है नहीं, इसलिए दोनों ही प्रमाण हैं, वैसे ही वेदवाक्य स्वतन्त्र ब्रह्मके बोधक हैं, प्रमाणान्तरकी सहायतासे नहीं। यदि कोई मानान्तर भी हो, तो वह भी स्वतन्त्ररूपसे ब्रह्मका बोधक होगा, शब्दसापेक्ष नहीं, अतः वेदवाक्यमें अनुवादकत्वकी शङ्का अयुक्त ही है। और ब्रह्म सिद्ध है, अतः उसे यदि मानान्तरगम्य मानते हो, तो नियोगमें भी यह शङ्का हो सकती है। यदि कहो कि नियोग साध्यस्वभाव है, इसलिए सिद्धत्वहेतुक दोष उसमें नहीं है, तो प्रश्न यह होता है कि यागका अनुष्ठान करनेपर नियोग सिद्ध होता है या नहीं? यदि सिद्ध होता है, तो मानान्तरकी प्रवृत्ति उसमें अनिवार्य है, क्योंकि सभी सिद्ध पदार्थ मानान्तर-योग्य हैं, यह आपका सिद्धान्त है। यदि सिद्ध नहीं होता है, तो याग ही व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि स्वर्गादि फल भी नियोग द्वारा ही सिद्ध होता है। नियोगकी सिद्धि न होनेपर कालान्तर्भावी स्वर्गके अव्यवहित पूर्व क्षणमें विनश्वरक्रियाकलापात्मक याग है नहीं, अतः कारणाभावसे स्वर्गादि फल भी नहीं हो सकेगा, इसलिए यागसे नियोगकी सिद्धि अवश्य माननी पड़ेगी। नियोगके सिद्ध होनेपर वह मानान्तरसे गम्य हो जायगा, ऐसी दशामें उसका अपूर्वत्व ही व्याहत हो जायगा, क्योंकि मानान्तरके अयोग्यको अपूर्व कहते हैं, इत्यादि अनेक प्रकारके दोष हैं ॥ १९४ ॥

प्रकृतमें प्रतिपाद्य विषयके मानान्तरके योग्य होनेपर भी विधिके अस्तित्वमें वह सापेक्ष होता है, यह कहते हैं—'आयुर्वेद०' इत्यादिसे।

हरीतकीभक्षणकी विधिका मूल है—'हरीतकीं भुङ्क्ष्व राजन्! मातेव हितकारिणीम्' इत्यादि आयुर्वेदवाक्य। तादृश विधिकी अपेक्षासे वद्योक्त विधि प्रमाण हो जायगी। भाव यह है कि किसी रोगविशेषकी

**न चाऽन्वयो विध्यपेक्षः क्रियामात्रेण सिद्धितः ।**
**तत्त्वमस्यादिवाक्येषु साऽस्त्येवास्यादिका क्रिया ॥ १९८ ॥**

सन्ति' इत्यादि वाक्योंकी तरह प्रकृत 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंमें दोषकी शङ्का होनेसे उसका प्रामाण्य भी सन्दिग्ध हो जाता, परन्तु अपौरुषेय वेदमें दोषकी सम्भावना ही नहीं है । और शब्दमें स्वतः दोष नहीं रहता, वक्ताके दोषके संक्रमसे शब्द दुष्ट होता है, यह पहले ही कह चुके हैं । जब वेदवाक्यका कोई प्रणेता नहीं है, तब कर्तृदोषकी उसमें सम्भावना ही कहाँसे हो सकती है ? अतः नित्य एवं निर्दोष वेदवाक्य विधिशून्य अद्वैत ब्रह्ममें प्रमाण है ॥१९७॥

पदोंका परस्पर अन्वय होनेके लिए विधिकी अपेक्षा है, इस सप्तम विकल्पमें दोष कहते हैं—**'न चाऽन्वयो'** इत्यादिसे ।

विधिके बिना भी सामान्यतः क्रिया द्वारा पदार्थोंका परस्पर अन्वयबोध होता है । 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें तत्पदार्थ शुद्ध ब्रह्म और त्वंपदार्थ शोधित चैतन्यका 'असि'क्रिया द्वारा परस्पर अन्वयबोध होता है । पदार्थोंके अन्योन्य क्रियाकारकभावसे वाक्यार्थबोध होता है, इसलिए अन्वयबोधके लिए क्रियाकी अपेक्षा आवश्यक है, क्रियाविशेषकी विधिकी नहीं । यद्यपि क्रियाके बिना भी 'नीलो घटः' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंसे 'नीलसे अभिन्न घट है' 'आत्मासे अभिन्न ब्रह्म है' यह वाक्यार्थबोध होता है, इसलिए वाक्यार्थबोध-मात्रमें क्रियाकी अपेक्षा नहीं रहती, तथापि 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' इस कात्यायनवचनके अनुसार 'अस्ति' आदिके बिना प्रथमा विभक्ति ही असाधु होती है । इसलिए जहाँ 'अस्ति' आदि क्रियाका श्रवण नहीं है, वहाँपर भी उक्त क्रियाका अध्याहार करना चाहिए । अतः उक्त स्थलमें भी 'अस्ति'का अध्याहार कर 'नीलसे अभिन्न घट है' 'आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है, इत्यादि अन्वयबोध होता है । इस अभिप्रायसे कहा है—**'क्रियामात्रेण'** इत्यादि । अन्वयके लिए भी विधिकी आवश्यकता नहीं होती । तत्त्वमस्यादि वाक्यसे क्रियाकारकभाव द्वारा यदि अर्थका बोध होगा, तो अभीष्ट अखण्डार्थ-बोध उक्त वाक्यसे नहीं होगा, क्योंकि अखण्डार्थबोध ही तत्त्वज्ञान है, इसीसे सविलास अविद्याकी निवृत्ति होती है, यदि ऐसी शङ्का की जाय, तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँपर क्रियापदवाच्य सत्ता अभेदान्वयके योग्य नहीं है, अतः सत्ताकी विवक्षा नहीं है, किन्तु 'तत्' और 'त्वम्' पदकी शुद्ध चैतन्यमात्रमें लक्षणा मानकर शुद्ध ब्रह्ममात्रका निर्विकल्पक बोध माना जाता है ॥ १९८ ॥

**पराभिमतसत्ताऽत्र नाऽसिशब्दार्थ इष्यते।**
**सत्ताजातेर्जडत्वेन चिदात्मत्वविरोधतः ॥ १९९ ॥**
**नाऽभूतं भवनं चाऽर्थो नित्यत्वादात्मवस्तुनः।**
**चिद्रूपमेव शून्येन वैलक्षण्यात् सदुच्यते ॥ २०० ॥**

जैसे 'गगनमस्ति' 'आत्मा अस्ति' इत्यादि वाक्यमें 'अस्ति' साधुत्वार्थक है, सत्तार्थक नहीं है, वैसे ही 'असि' पद भी सत्तार्थक नहीं है, केवल साधुत्वार्थक है। इस तात्पर्यसे कहते हैं—'**पराभिमतसत्ताऽत्र**' इत्यादि।

पर अर्थात् द्वैतवादी नैयायिक आदि 'समानप्रसवात्मिका जातिः' इस न्याय-सूत्रके अनुसार सत्ता जाति मानते हैं। 'द्रव्यं सत्' 'गुणः सन्' इत्यादि द्रव्य, गुण आदि अनेक व्यक्तियोंमें 'सत्' इत्याकारकप्रतीति तथा 'सत्' इत्यादि समानशब्दप्रयोग अनेक व्यक्तियोंमें अनुगत एक धर्मके बिना नहीं हो सकता, अतः वे लोग सत्ता एकजाति मानते हैं। उनके मतमें—नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व—यह जातिका लक्षण है अर्थात् जो नित्य हो तथा अनेकमें समवायसम्बन्धसे रहता हो, वह जाति है। द्वित्व आदि संख्या अथवा संयोग आदि अनेकमें समवेत हैं, अतः उनकी व्यावृत्तिके लिए 'नित्यत्व' विशेषण दिया है। आकाशके परिमाण आदिकी व्यावृत्तिके लिए 'अनेकसमवेतत्व' यह विशेषण दिया है। अभावत्व आदिकी व्यावृत्तिके लिए 'समवेतत्व' यह पद कहा है, इसमें इतने जातिके बाधक हैं—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथाऽनवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक इष्यते ॥'

इनसे भिन्न उक्त लक्षणलक्षित जाति कहलाती है, सो सत्ता जाति 'अस्' धातुका प्रकृतमें अर्थ नहीं है। सत्ता जाति जड़ है, जड़का चेतन आत्माके साथ अभेदान्वय नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ और चेतनका परस्पर विरोध है। विरुद्धका अभेदान्वय नहीं हो सकता ॥ १९९ ॥

अच्छा तो 'असि' शब्दका क्या अर्थ है, इसपर कहते हैं—'**नाऽभूतं भवनम्**' इत्यादि।

'पाको भवति' इत्यादि शब्दके प्रयोगसे अभूत-भवन भूधातुसे प्रतीत होता है। पाककी उत्पत्तिके बाद 'पाको भवति' यह प्रयोग नहीं होता, किन्तु 'पाकोऽस्ति' यह प्रयोग होता है। यद्यपि 'अस् भुवि' 'भू सत्तायाम्' इस धातु

**शब्दाद्यगोचरोऽप्यर्थो लक्षणापाश्रयात् श्रुतौ ।**
**सदित्यादिपदैः साक्षादात्माऽस्माकमितीर्यते ॥ २०१ ॥**

पाठके अनुसार दोनोंका आपाततः एक ही अर्थ प्रतीत होता है, तथापि उक्त प्रतीतिकी उपपत्तिके लिए 'भू'धातुका अभूत-भवन अर्थ माना जाता है। अभूत-भवनसे 'खपुष्पं भवति' इसका परिहार होता है। उत्पत्ति भी अर्थ माना जाता है, अतएव 'रोहितो लोहितादासीद्धुन्धुस्तस्य सुतोऽभवत्' इत्यादि पुराणश्लोकमें 'भू'धातुका उत्पत्तिरूप अर्थ स्पष्टतया निर्दिष्ट है। अभूत-भवनसे 'आकाशो भवति' इसका वारण होता है। अलब्धसत्ताकका सत्तालाभ और आद्यक्षणसम्बन्ध इत्यादि 'भू'धातुका अर्थ नहीं है, क्योंकि आत्मा वस्तु नित्य है, नित्यमें अभूतत्वांशका बाध होता है। आत्मा सदा भूत है, अभूत नहीं, अतः मुख्य अर्थका त्याग कर लक्षणावृत्तिसे अन्वययोग्य अर्थको अस्धात्वर्थ मानते हैं। सत् और असत्— ये दोनों शब्द लोकमें तथा वेदमें परस्पर प्रतिद्वन्द्वितया प्रयुक्त होते हैं। असत्से भिन्न सत् और सत्से भिन्न असत् है। शून्यसे—असत्से—विलक्षण चिद्रूप आत्मा सत् कहलाता है ॥२००॥

अन्यवाचक शब्द अन्यका बोधक हो सकता है, यह कहते हैं— 'शब्दाद्यगोचरो' इत्यादिसे।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, 'यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा शब्दादिका गोचर नहीं है। सामान्य और विशेष धर्म जिसमें रहता है, वही शब्दका अर्थ होता है। स्वप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्ट अर्थमें शब्दका शक्तिग्रह होनेसे शब्द द्वारा सप्रकारक ही ज्ञान होता है, निष्प्रकारक नहीं। निर्धर्मक ब्रह्ममें सामान्य या विशेष कोई धर्म नहीं है, इसलिए वह शब्दगोचर नहीं होता, फिर भी वेदान्तमें सब पदोंकी शुद्ध ब्रह्ममें लक्षणा मानी जाती है, लक्षणासे शुद्ध ब्रह्मका निर्विकल्पक बोध होता है। निष्प्रकारक केवलव्यक्तिमात्रविषयक बोध निर्विकल्पक बोध कहलाता है, अतएव—

'फलव्याप्यत्वमेवाऽस्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते ॥'

—इत्यादि वाक्य संगत होते हैं। तथा 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादि वाक्योंसे आत्मश्रवणका विधान किया गया है, अन्यथा वेदान्त ही व्यर्थ हो जायँगे। सर्वथा शब्दका अगोचर होनेसे वेदान्त द्वारा आत्मश्रवण नहीं हो सकेगा। यदि वेदान्तवाक्यसे आत्माका

उत्पत्तावधिकारे च यद्विधिद्वयमीरितम् ।
कर्मदृष्टान्तसाम्येन न तद्युक्तमुदीरितुम् ॥ २०२ ॥
कर्मस्वरूपबोधे हि व्यापारो नेष्यते विधेः ।
किन्तु बुद्धमनुष्ठातुं पुरुषं प्रेरयेद्विधिः ॥ २०३ ॥

यथार्थज्ञान भी नहीं होगा, तो मुक्ति भी नहीं होगी और वेदान्तविद्या ब्रह्मविद्या भी नहीं हो सकेगी इत्यादि अनेक दोषोंका प्रसंग हो जायगा। इसलिए वेदान्तवाक्यघटक सत्य, आनन्द आदि पदोंकी अखण्ड चिद्व्यक्तिमात्रमें लक्षणा मानते हैं। अन्य अर्थके बोधक शब्दका लक्षणावृत्तिसे अन्यत्र प्रयोग होता है, अतएव 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि वाक्यमें गङ्गादि पदकी तीरादि अर्थमें लक्षणा सर्वसम्मत होती है ॥२०१॥

**'उत्पत्तावधिकारे च'** इत्यादि। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यमें 'ज्ञातव्य' पदका अध्याहार करके उत्पत्तिविधि तथा 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यमें 'मोक्षकामेन' इस पदका अध्याहार करके अधिकारिविधि, ये दोनों विधियाँ कर्मविधिकी तरह वेदान्तमें भी हैं, ऐसा जो पूर्वमें कहा गया है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म प्रवृत्तियोग्य होता है, इससे उसमें विधि हो सकती है। वेदान्तबोध्य आत्माका ज्ञान प्रवृत्तियोग्य नहीं है, इसलिए उसमें विधि कैसे होगी? यदि विधि न मानियेगा, तो उक्त ज्ञानमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति न होगी, इसलिए मुमुक्षुकी प्रवृत्ति ही विधिसाधक है। उक्त दो विधियोंके माननेपर विनियोगविधि तथा प्रयोगविधि भी अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि इनके बिना उक्त दो विधियां नहीं रह सकतीं ॥२०२॥

इस आक्षेपका समाधान करते हैं—**'कर्मस्वरूपबोधे'** इत्यादिसे।

कर्मोत्पत्तिविधिका व्यापार कर्मस्वरूपबोधनमात्रके लिए इष्ट नहीं है, क्योंकि स्वरूपमात्रका बोधन निष्फल है, किन्तु वह अवगत कर्मके अनुष्ठानके लिए कर्ममें पुरुषकी प्रेरणामें विश्रान्त होती है। तात्पर्य यह है कि उत्पत्तिविधिसे कर्मका ज्ञान होनेपर फलकी अपेक्षा होती है, अतः अधिकारि-विधिसे फलज्ञान होनेपर विनियोगादिविधि द्वारा प्रयोगपर्यन्त व्यापार समाप्त होता है। प्रयोगके बिना फलप्राप्ति नहीं होती, इसलिए अनुष्ठानपर्यन्त व्यापार आवश्यक है ॥२०३॥

तथाऽऽत्मतत्त्वबोधेऽपि न काचिद् व्यापृतिर्विधेः ।
कर्मस्थानीय आत्मा हि नाऽनुष्ठेयः कदाचन ॥ २०४ ॥

'तथाऽऽत्मतत्त्वबोधेऽपि' इत्यादि । कर्मकाण्डमें उत्पत्तिविधिका व्यापार जैसे प्रयोगपर्यन्त होता है वैसे वेदान्तमें कोई विधिव्यापार नहीं है, कारण कि कर्म अनुष्ठेय है । अनुष्ठानके बिना उसके ज्ञानमात्रसे कुछ फल नहीं होता, अतः फललाभके उपयुक्त व्यापारपर्यन्त उक्त विधिका व्यापार माना जाता है । कर्मस्थानीय आत्मा कभी भी अनुष्ठेय नहीं है । यदि कूटस्थ नित्य होनेसे उसमें क्रियाका सम्पर्क ही नहीं है, तो विधिकी आवश्यकता कैसे होगी ? यह वेदान्तसिद्धान्त है ।

भाव यह है कि कर्मोत्पत्तिविधिके साथ अधिकारिविधिका सम्बन्ध होता है, अधिकारिविधिके बिना नियोज्यका लाभ नहीं होता । यदि अनुष्ठानकर्ताका नियोगके साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा, तो कर्मानुष्ठान ही कैसे होगा ? फलकामी ही नियोज्य कहलाता है । नियोज्यका लाभ होनेपर किन साधनोंसे कैसा कर्म करना ? इसकी अपेक्षा होनेपर विनियोगविधि और प्रयोगविधिका सम्बन्ध होता है । सामग्रीके ज्ञात होनेपर कर्मानुष्ठान होता है, तब जाकर अनुष्ठाताको फलप्राप्ति होती है, यह कर्मविधिकी प्रक्रिया है । वेदान्तमें आत्मज्ञानको यदि विधेय मानें, तो केवल उत्पत्तिविधि कह सकते हैं । परन्तु अधिकारिविधिका आत्मज्ञानमें प्रवेश नहीं हो सकता, कारण कि आत्मज्ञान अनुष्ठेय नहीं है । अनुष्ठेय पदार्थ पुरुषव्यापाराधीन होता है, क्योंकि वह पुरुष द्वारा कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् योग्य है । आत्मज्ञान प्रमाणतन्त्र तथा वस्तुतन्त्र है, पुरुषतन्त्र नहीं है, इसलिए अधिकारिसबन्धका आत्मज्ञानमें प्रवेश नहीं है । अधिकारिविध्यादिके बिना उत्पत्तिविधि भी नहीं हो सकती । आत्मज्ञानके फलका—मोक्षका—भागी आत्मा है । यदि कहो कि फलस्वाम्य ही अधिकार है तथा तत्फलभोक्तृत्व ही तदधिकारित्व है, अतः अधिकारिसम्बन्ध हो सकता है । तो यह कथन ठीक नहीं है, कारण कि अधिकारी संसारी आत्मा है या शुद्ध ? प्रथम पक्षमें अधिकारसम्बन्ध हो सकता है, परन्तु संसारी आत्मा, सिद्ध होनेसे, विधेय नहीं हो सकता । अगर असिद्ध होता, तो विधि भी होती । यदि कहिये कि आत्मज्ञानमें विधि है, अतः विधिविषय दर्शनका विषय होनेसे आत्माका अधिकारसम्बन्ध हो सकता है, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस वाक्यसे शुद्धात्माका दर्शन मोक्षोपाय है,

**व्रीह्यादिविषयं यद्वद्यत्नेनाऽपि निरूपितम् ।
प्रत्यक्षज्ञानमीषच्च न विधिस्पर्शमर्हति ॥ २०५ ॥**

संसारी आत्माका दर्शन नहीं, अतः आप शुद्धात्मदर्शनमें ही विधि कह सकते हैं, दर्शनके विषयभूत शुद्धात्मामें फलभोक्तृत्व नहीं है, अतः अधिकार-सबन्ध न होनेसे वेदान्तमें कोई विधि नहीं हो सकती ॥ २०४ ॥

यद्यपि पूर्वपक्षीको शुद्धात्मज्ञानका उत्पत्तिविधिविषय होना इष्ट है, तथापि अधिकारविधिके सम्बन्धका प्रवेश नहीं हो सकता, इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—'**व्रीह्यादि०**' इत्यादिसे ।

जैसे व्रीह्यादिविषयक प्रत्यक्षके प्रमाणरूपसे सुनिश्चित होनेपर भी दर्शपूर्ण-मासाधिकारके सम्बन्धका व्रीह्यादि प्रत्यक्ष द्वारा लाभ नहीं होता, वैसे ही वेदान्तमें उत्पत्तिविधिमें होनेपर भी सत्यानन्दादि वाक्य द्वारा अधिकार आदि विधियोंका थोड़ा भी स्पर्श नहीं होता । तात्पर्य यह है कि 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इत्यादि कर्मोत्पत्तिविधिमें स्वविहित कर्मके अनुष्ठानके लिए कः ? केन ? कथम् ? अर्थात् कौन, किससे और कैसे अनुष्ठान करे ? इसकी अपेक्षा होनेसे अधिकार आदि विधियोंका सम्बन्ध होता है, अन्यथा कर्मोपत्तिबोधक वाक्य व्यर्थ हो जायगा । अनुष्ठानसे ही पुरुषार्थका लाभ होता है, कर्मस्वरूपके ज्ञानमात्रसे नहीं । व्रीह्यादिविषयक प्रत्यक्ष प्रमाण है, किन्तु वह व्रीहिस्वरूप-मात्रका परिच्छेद करा कर पुरुषार्थका साधक होता है, अतिरिक्त किसी अनुष्ठेय पदार्थका बोधक नहीं होता, इसलिए उसका स्वरूपपरिच्छेदसे अतिरिक्त फल नहीं है, अतः वहाँ अधिकारादिविधियोंके सम्बन्धका प्रवेश नहीं होता एवं आत्मज्ञानमें यदि उत्पत्तिविधि मानें, तो भी शुद्धात्मा प्रमाणान्तरसे अज्ञात है । व्रीह्यादिके प्रत्यक्षके समान स्वरूपके परिच्छेदक होनेसे उसके ज्ञापक सत्यानन्दादि वाक्य द्वारा पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है अर्थात् आत्मयथार्थज्ञानसे अविद्या निवृत्ति द्वारा स्वतःसिद्ध मोक्षरूप परम पुरुषार्थके साधक होनेसे सत्या-नन्दादि वाक्योंमें अज्ञातज्ञापकत्व और सप्रयोजनत्व लक्षण प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है, स्वरूपपरिच्छेदसे अतिरिक्त अनुष्ठेय पदार्थके वे बोधक नहीं हैं, अतः प्रयोग-विधिपर्यन्त व्यापारकी अपेक्षा नहीं है । और कर्मोत्पत्तिविधिसे वैषम्य होनेके कारण वेदान्तमें उत्पत्तिविधि भी मानना अनुचित है ॥ २०५ ॥

नाऽऽत्मबोधस्तथा वेदवाक्यजन्यो विधिं स्पृशेत् ।
किन्त्वैन्द्रियकविज्ञानमिव सिद्धार्थनिष्ठतः ॥ २०६ ॥
एवं च सति वेदान्ता ब्रह्मतत्त्वमलौकिकम् ।
प्रबोधयन्ति विध्वस्तनिखिलद्वैतमव्ययम् ॥ २०७ ॥

---

उक्तार्थका ही पुनः स्पष्टीकरण करते हैं—'**नाऽऽत्मबोध०**' इत्यादिसे । वेदान्तवाक्यजन्य शुद्धात्मविषयक बोध विधिका स्पर्श नहीं करता । किन्तु ऐन्द्रियक विज्ञानकी—श्रीह्यादिविषयक चाक्षुषादि प्रत्यक्षकी—तरह केवल सिद्धार्थमें वेदान्त परिनिष्ठित हैं अर्थात् जैसे प्रत्यक्ष वस्तुस्वरूपमात्रका बोधन कर समाप्त हो जाता है, वैसे ही वेदान्तवाक्य सिद्ध और शुद्धरूप ब्रह्ममात्रका बोधन कराकर पर्यवसन्न—समाप्त—हो जाते हैं, इसीसे पुरुषार्थ भी सिद्ध होता है ॥ २०६ ॥

'**एवं च**' इत्यादि । सिद्धार्थबोधक प्रत्यक्षादिमें प्रामाण्यके स्वीकृत होनेपर ब्रह्मतत्त्वके बोधक वेदान्त भी ब्रह्ममें प्रमाण हैं । 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इसकी तरह ज्ञातार्थक होनेसे वे अप्रमाण क्यों नहीं होते ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**अलौकिकम्**' । यद्यपि आत्मा ही ब्रह्म है और उसका सबको प्रत्यक्ष है, क्योंकि आत्मामें 'अहमनहम् , नाऽहम्' इत्यादि संशय तथा विपर्यय नहीं होते, अतः स्वात्मा सदा ज्ञात है, तथापि अन्तःकरणादि अध्यासविशिष्ट आत्माका ही वह प्रत्यक्ष है, शुद्ध ब्रह्म लौकिक प्रत्यक्षादिका विषय नहीं है, अतः अलौकिक वेदान्तवाक्य आत्माके बोधक होनेसे उक्त वाक्यके समान अप्रमाण नहीं हैं, फिर भी निष्प्रयोजनत्वरूप अप्रामाण्यकी प्रसक्तिकी शङ्कासे '**विध्वस्तनिखिलद्वैतम्**' कहा । 'विध्वस्तम्—विनाशितम्—' 'निखिलम्—सर्वम्—' द्वैतम्—ब्रह्मातिरिक्तम्—यस्मिन् शुद्धात्मनि तादृशम् अर्थात् निखिलप्रपञ्चाभावोपलक्षित ब्रह्मस्वरूपके बोधक वेदान्त, निष्प्रयोजन नहीं हैं । 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इत्यादि श्रुति तथा अनुभवसे द्वैतनिबन्धन ही दुःख प्रतीत होता है । सकल द्वैतके निवृत्त होनेपर दुःखकी सम्भावना ही नहीं रहती, अतएव 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादि श्रुति द्वैताभावसे शोक, मोह आदि सांसारिक निखिल दुःखकी निवृत्तिका बोधन करती है । निखिल द्वैतकी निवृत्तिके साथ यदि आत्माकी भी निवृत्ति होगी, तो शून्यवाद ही मानना ठीक है, इस प्रकार बौद्धके आक्षेपका निराकरण करनेके लिए '**अव्ययम्**' कहा । विनाशी द्वैत कल्पित है, अतः ज्ञानसे उसीकी

**ऐकात्म्यवस्तुयाथात्म्यप्रकाशनपटीयसः ।**
**वचसस्त्वतिरेकेण किं मानं तद्धुरं वहेत् ॥ २०८ ॥**

निवृत्ति होती है, आत्मा कल्पित नहीं है, अतः अव्यय—अविनाशी—है । यदि आत्माकी निवृत्ति होगी, तो कोई साक्षी नहीं हो सकेगा, असाक्षिक निवृत्तिमें कुछ प्रमाण नहीं है, अतः बौद्धकी शङ्का तुच्छ है ॥ २०७ ॥

निर्धर्मक ब्रह्ममें प्रमाणान्तरकी प्रवृत्ति तो हो ही नहीं सकती, अतः केवल वेदान्तैकवेद्य ही ब्रह्म है, यह कहते हैं—'ऐकात्म्य०' इत्यादिसे ।

एक आत्मा ही यथार्थ वस्तु है और सब अविद्याकल्पित होनेसे गन्धर्व-नगर आदिकी तरह अयथार्थ है, अतएव श्रुति कहती है—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' । अर्थात् ब्रह्म अविद्यावश द्वैतमिव—द्वैतकी तरह—होता है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वस्तुतः द्वैत है नहीं, किन्तु वह प्रतीत होता है । जैसे बाध होनेके पश्चात् शुक्ति ही रजतके सदृश मालूम हुई वस्तुतः वह रजत था ही नहीं, यह ज्ञात होता है, वैसे ही आत्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञात होनेपर आत्मा ही द्वैतके सदृश प्रतीत हुआ, वस्तुतः द्वैत था ही नहीं, ऐसा ज्ञात होता है । वास्तविक आत्मा ही एक तत्त्व है, सो भी सांख्यादि द्वैतवादियोंके मतानुसार अनेक नहीं है, किन्तु एक ही है । अतएव 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यादि श्रुतियोंसे अनेक चेतनोंका प्रतिषेध स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-द्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि ऐकात्म्यका उपक्रम और 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि उपसंहार भी एकात्मामें ही है, अतः उपक्रमोपसंहारादिसे पूर्वोक्त ऐकात्म्यके प्रकाशनमें—प्रबोधनमें— पटीयान्—अतिसमर्थ वचन—तत्त्वमस्यादि महावाक्य हैं, क्योंकि इनसे भिन्न कोई भी प्रमाणान्तर उक्तार्थके प्रकाशनमें समर्थ नहीं है, अतः मानान्तरप्रवेशकी सम्भावनाके अभावसे तत्त्वमस्यादि वेदान्तमहावाक्य ही उक्तात्मस्वरूपमें श्रेष्ठ प्रमाण हैं । प्रमाणान्तरागोचर होनेसे वेदान्तमें अनुवादकत्व शङ्का भी नहीं हो सकती, अतः अज्ञातज्ञापकत्वलक्षण प्रामाण्य वेदान्तमें दृढ़ है । अतिरेकेण—भेदेन उपलक्षितः—यह 'जटाभिस्तापसः' की तरह उपलक्षणमें तृतीया विभक्ति है अर्थात् वेदान्तवाक्यभेदसे उपलक्षित मानान्तर भी उक्त अर्थमें प्रमाण नहीं है, यह भाव है ॥ २०८ ॥

शाब्दज्ञानविधावेवं वेदान्तेषु निराकृते ।
अपरे पण्डितम्मन्या विध्यन्तरमिहोचिरे ॥ २०९ ॥
अन्योऽप्यनुभवोपायो मननध्यानलक्षणः ।
सोपायो विहितोऽस्त्येव प्रतिपत्तिविधिं विना ॥ २१० ॥

'शाब्दज्ञान०' इत्यादि। वेदान्तमें उक्त रीतिसे शाब्दज्ञानकी विधि नहीं है, ऐसा सिद्ध होनेपर भी दूसरे पण्डितंमन्य [ उपालम्भार्थ पण्डितंमन्य कहा है, अर्थात् जो वस्तुतः पण्डित हैं नहीं, किन्तु अपनेको स्वयं पण्डित मानते हैं, वे पण्डितंमन्य कहे जाते हैं ] फिर वेदान्तमें विध्यन्तरका अङ्गीकार करते हैं ॥ २०९ ॥

'अन्यो०' इत्यादि। प्रतिपत्तिमें—साक्षात्कारात्मक ज्ञानमें—विधि नहीं हो सकती, कारण कि घटादिप्रत्यक्षके सदृश द्वितीयाभावोपलक्षित ब्रह्मविषयक मानसवृत्तिरूप साक्षात्कार विषयाधीन तथा प्रमाणाधीन है, पुरुषाधीन नहीं है। विधेय वही हो सकता है, जो पुरुषाधीन हो। ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार तो ब्रह्माभिन्न होनेसे नित्य है, साध्य नहीं है; अतः उसका भी विधान असंभव ही है, अतः दोनों प्रतिपत्तियां विधियोग्य नहीं हैं। इससे प्रतिपत्तिसामान्यमें विध्यभाव सिद्ध हो चुका।

अब 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इस श्रुतिके अनुसार निदिध्यासनमें—ध्यानमें—विधि है, यह माननेवालोंका मत कहते हैं—दूसरा अर्थात् मननध्यानलक्षण आत्मदर्शनका उपाय इतिकर्तव्यताके बिना नहीं हो सकता, इसलिए इतिकर्तव्यताका भी विधान आवश्यक है। इतिकर्तव्यता है—शमदमादिसाधनसंपत्ति। तत्सहित आत्मसाक्षात्कारके साधनभूत मननध्यानलक्षण प्रसंख्यान उपायशब्दसे विवक्षित है। मननध्यानलक्षणकी 'मननपूर्वकं ध्यानं लक्षणम्—स्वरूपम्—यस्य सः' यह व्युत्पत्ति है। यहां लक्षणशब्द स्वरूपतात्पर्यसे कहा गया है—जैसे 'साध्याभाववदवृत्तित्वम्' व्याप्तिका लक्षण व्याप्तिस्वरूप होता है। इसलिए प्रकृतमें गन्धवत्त्वरूप पृथिवीलक्षणकी तरह लक्षणशब्द धर्मपरक नहीं है। मननशब्दके उपादानका प्रयोजन यह है कि केवल ध्यान कहनेसे विपर्ययात्मक ध्यानका भी संग्रह हो जायगा। 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इस योगसूत्रके अनुसार निरन्तरज्ञानोत्पादसंतति ध्यान कहलाता है। ध्यानसे दो प्रकारका ज्ञान होता है भ्रमात्मक और प्रमात्मक। प्रथम ज्ञानके निरन्तर अभ्याससे वस्तुका निश्चयात्मक

**आवृत्तिर्हि प्रसङ्ख्यानं शब्दयुक्त्योरिदं त्विह ।**
**मननध्यानरूपत्वात् साक्षात्कारयितुं क्षमम् ॥ २१३ ॥**

वस्तु—ब्रह्मात्मैक्य—मानान्तरका विषय नहीं है, केवल शास्त्रका ही विषय है। अतः इसमें यदि शास्त्र प्रमाण नहीं होगा, तो उक्त इच्छा नहीं होगी, अतः उसके लिए शास्त्र प्रमाण आवश्यक है। शास्त्रसे सिद्ध होनेपर तत्साक्षात्कारके उद्देश्यसे उपायके सहित प्रसंख्यानका विधान है। यदि शङ्का हो कि शास्त्रसे उक्त विषयका जो ज्ञान होता है वह भी तो अनुभव ही है ? क्योंकि शाब्दज्ञान भी अनुभव माना जाता है। हां, माना जाता है; परन्तु वह परोक्षात्मक अनुभव है, अपरोक्षात्मक अनुभव मुमुक्षुका उद्देश्य है, इसलिए प्रसंख्यानविधि मानते हैं। प्रसंख्यानसे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होगा, इसमें क्या प्रमाण है ? शास्त्रके प्रामाण्यमें पूरा विश्वास होनेसे शास्त्रबोधित तत्साक्षात्कार अवश्य होगा, इसमें दृढ़ निश्चय होनेसे ही तत्साक्षात्कारके लिए 'पश्येत्' इस वाक्यसे प्रसंख्यानविधि मानते हैं।

शङ्का—यदि शास्त्रका वस्तुबोधन तथा प्रसंख्यानविधि दोनोंमें तात्पर्य मानोगे, तो वाक्यभेद हो जायगा। 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं बोधयति' इस न्यायसे दो अर्थोंका बोध करानेके लिए आवृत्ति द्वारा दो वाक्य मानने पड़ेंगे। एक वाक्यसे दो अर्थोंका बोध नहीं होता। शब्द, बुद्धि और कर्मका विरम्य व्यापार नहीं माना जाता, इसलिए क्रमशः दो अर्थोंका बोध भी एक वाक्यसे नहीं हो सकता।

उत्तर—प्रसंख्यान व्यापार है। प्रसंख्यान द्वारा आत्मैक्यके बोधनमें तात्पर्य होनेसे प्राधान्यसे दो अर्थोंका बोध कराना अभीष्ट नहीं। प्राधान्येन दो अर्थोंका बोध माना जाता तो वाक्यभेद होता। यहांपर आत्मैक्यबोधन प्रधान है, प्रसंख्यानविधि व्यापार है, अतः वह अप्रधान है ॥ २१२ ॥

प्रसंख्यानका स्वरूप बतलाते हैं—'**आवृत्ति०**' इत्यादिसे।

अनुमानरूप युक्ति मनन और 'तत्त्वमसि' इत्यादि शब्द—इन दोनोंकी पुनः पुनः आवृत्ति ही मननपूर्वकध्यानरूप होनेसे प्रसंख्यान कहलाती है। प्र—प्रकृष्ट—संख्यान—ज्ञान। ज्ञानमें प्रकर्ष है—यथार्थत्व। यथार्थशाब्दज्ञानानुवृत्ति प्रसंख्यानसे विवक्षित है। शब्दानुवृत्तिका भाव है—सार्थकशब्दानुवृत्ति। यही उपासनापरपर्याय निदिध्यासन है, यही आत्मैकत्वका साक्षात्कार करानेमें समर्थ है। युक्तिसहकृत शास्त्रसे तत्त्वज्ञान होता है। एक एकसे नहीं, तो प्रसंख्यानविधिका क्या प्रयोजन है ? प्रयोजन

प्रमाता मापकः शब्दो युक्तिरावृत्तिरित्यमी ।
चत्वारोऽपि प्रमाणस्य पादा ऐकात्म्यदर्शकाः ॥ २१४ ॥
प्रत्येकं प्रमितेर्वृद्धिः पादैरेतैः क्रमाद् भवेत् ।
वृद्धेर्विश्रामभूमिर्या सा साक्षात्कृतिरीर्यते ॥ २१५ ॥

यह है कि शास्त्र तथा युक्ति दोनों परोक्ष ज्ञानके जनक हैं, इसलिए युक्तिसहकृत शास्त्रसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, 'धूमोऽयम्' इस वाक्यसे सहकृत भी धूम वह्निसाक्षात्कारका जनक नहीं है एवं युक्तिसहकृत भी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य साक्षात् साक्षात्कारका जनक नहीं है, किन्तु वह उक्त साक्षात्कारके लिए सहकारी कारणरूपसे प्रसंख्यानविधिका भी आश्रयण करता है ॥ २१३ ॥

प्रमाणहेतुक तत्त्वसाक्षात्कार ध्यानादिजन्य कैसे हो सकता है ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए प्रमाणभूत चार पाद कहते हैं—'प्रमाता' इत्यादि ।

प्रमाता—मुमुक्षुपुरुष । प्रमापक—प्रमितिजनक 'तत्त्वमसि' आदि शब्द । युक्ति—अनुमितिरूपा । आवृत्ति—ध्यान । ये चारों प्रमाणके पाद—अंश—ऐकात्म्यदर्शक हैं । इन्हीं चारोंके द्वारा आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होता है, अन्यथा नहीं । यहांपर यह शङ्का होती है कि ऐकात्म्यबोधक शास्त्रको युक्त्यादिकी यदि अपेक्षा है, तो स्वतः प्रामाण्यकी हानि होगी और सापेक्ष होनेसे पौरुषेयवाक्यके सदृश वेदवाक्य भी अप्रमाण हो जायगा। इसका यह उत्तर है कि युक्त्यादि प्रमाणान्तर नहीं हैं, किन्तु प्रमाणके अंश हैं, प्रमाणके चार अंश कहे गये हैं, चारों अंश मिलकर आत्मैकत्वमें प्रमाण हैं । अतः युक्त्यादिसापेक्ष 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें सापेक्षत्वलक्षण अप्रामाण्यप्रसक्ति नहीं है । शब्द, युक्ति, प्रसंख्यान और आत्मा ये चारों अंश मिलकर जिज्ञासु पुरुषको आत्मैकत्वरूप वस्तुका बोध कराते हैं, इसी तात्पर्यसे यह श्लोक है—

'शब्दयुक्तिप्रसंख्यानैरात्मना च मुमुक्षवः ।
पश्यन्ति मुक्तमात्मानं प्रमाणेन चतुष्पदा ॥'

अर्थ स्पष्ट है ॥ २१४ ॥

'प्रत्येकम्' इत्यादि । उक्त चारों पाद मिलकर वस्तुस्वरूपके बोधक हैं या चारों मिलकर वस्तुस्वरूपविषयक प्रमितिके जनक हैं और प्रमिति केवल वस्तुकी प्रकाशक है । द्वितीय पक्ष ही युक्त प्रतीत होता है । जैसे तेल, बत्ती और अग्नि—ये तीनों मिलकर दीपके जनक होते हैं और दीप घटादिका प्रकाशक होता है, वैसे ही चारों पाद प्रमितिके जनक

साक्षात्कृतात्मयाथात्म्यः प्रसङ्ख्यानं न वीक्षते ।
नदीमुत्तीर्य नो कश्चिन्नावं कुत्राऽप्यपेक्षते ॥ २१६ ॥
सम्भूय पादाः सर्वेऽपि ह्यैकात्म्यं बोधयन्त्यमी ।
तैलवर्त्यग्नयो यद्वद् दीपं सम्भूय कुर्वते ॥ २१७ ॥

हैं और प्रमितिसे वस्तुका प्रकाश होता है। मिलकर प्रकाशक होनेमें दृष्टान्त नहीं है, इसलिए प्रथम पक्ष अयुक्त है।

और यह भी कारण है कि एक-एक पादकी वृद्धिसे प्रमितिकी वृद्धि मानी गई है, आत्माके बिना तो प्रमिति हो नहीं सकती, इसलिए आत्मा तो सर्वत्र आवश्यक ही है। इससे अतिरिक्त तीन पाद हैं, इनमें एक-एककी वृद्धिसे प्रमितिकी वृद्धि होती है। शब्दजन्य प्रमितिकी अपेक्षासे युक्ति-सहकृतशब्दजन्य प्रमितिकी वृद्धि होती है तथा तदपेक्षासे भी शब्द, युक्ति और प्रसंख्यानसे जो वृद्धि होगी सो और अधिक होगी। यह प्रसंख्यान-वादियोंका मत है, इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त चारों पाद मिलकर विषयके प्रकाशक नहीं है, किन्तु प्रमितिके जनक हैं, इस भावसे कहते हैं कि इन पादोंमें से प्रत्येक पादसे क्रमशः प्रमितिकी वृद्धि होती है। वृद्धि-विश्रामभूमि अर्थात् वृद्धिकी समाप्त भूमि, जिसकी अपेक्षासे अधिक प्रमिति नहीं हो सकती, जिसमें चरमोत्कर्षकी समाप्ति है, सो बुद्धि आत्मैक्यसाक्षात्काररूपा कही जाती है, वही तत्त्वज्ञान है ॥ २१५ ॥

'साक्षात्०' इत्यादि। जो आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, वह प्रसंख्यानको नहीं देखता, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—कोई भी पुरुष नदी पार कर फिर नौकाकी अपेक्षा नहीं करता अर्थात् जबतक उपेय फल प्राप्त नहीं होता, तब तक उपायकी अपेक्षा रहती है, उपेयके प्राप्त होनेपर फिर उपायकी अपेक्षा क्यों होगी? सारांश यह है कि संसाररूपी नदीको पार करनेके लिए प्रसंख्यानरूपी नौकाकी जरूरत है, इस नदीके पार करनेपर उक्त नौका अपेक्षित नहीं होती। जिसने नदी पार नहीं की है, वह अज्ञ नौ बार 'तत्त्वमसि'का श्रवण करनेपर भी प्रसंख्यानके बिना उक्त वाक्यश्रवणका फल—आत्मैकत्वसाक्षात्कार—नहीं पाता, अतः उसके लिए प्रसंख्यानविधि नियमसे अपेक्षित है ॥ २१६ ॥

'सम्भूय' इत्यादि। ये सब चारों पाद मिलकर ऐकात्म्यविषयक बोधके

**प्रमातारं विना शास्त्रं कस्य स्वार्थावबोधकृत् ।**
**प्रमाताऽपि विना शास्त्रं केनाऽर्थमवबुध्यते ॥ २१८ ॥**

जनक हैं, इसमें दृष्टान्त कहते हैं, जैसे तेल, बत्ती और अग्नि—ये तीनों मिलकर प्रदीपको उत्पन्न करते हैं और प्रदीप घट आदिका प्रकाशक होता है, वैसे ही चारों पाद मिलकर प्रमितिके जनक होते हैं और प्रमिति उक्त विषयकी प्रकाशक होती है। यदि अर्थोपलम्भकत्व और प्रमितिजनकत्व—ये दोनों व्यापार क्रमशः उक्त चारों पादोंमें माने जायँ, तो क्या आपत्ति है? आपत्ति यह है कि शब्दादिमें विरम्य व्यापार कोई भी नहीं मानता। अच्छा तो भले ही चारों पाद प्रमितिके जनक हों, किन्तु उनसे उत्पन्न प्रमिति अपने विषयके प्रकाशनमें सहकारी-रूपसे उक्त पादोंकी अपेक्षा करती है, ऐसा मानें, तो क्या दोष है? दोष यह है कि प्रमिति अपने विषयके प्रकाशनके लिए स्वजन्मसे अतिरिक्त किसी भी सहायककी अपेक्षा नहीं करती, कारण कि वह स्वयं अर्थप्रकाशनमें समर्थ है। समर्थको सहायककी अपेक्षा नहीं होती, अन्यथा अनवस्थादि दोष होंगे। प्रदीप आदि भी सहायान्तरकी अनपेक्षाके बिना स्वयं ही पदार्थके प्रकाशक होते हैं। तैल आदि केवल प्रदीपके उत्पादकमात्र हैं। अतः उत्पन्न प्रदीपको घटादिके प्रकाशनके लिए जैसे सहकारीरूपसे भी तैल आदिकी अपेक्षा नहीं होती वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। यदि शङ्का हो कि उक्त चारों पादोंको अर्थके प्रकाशक ही मानें और प्रमितिके जनक न मानें, तो क्या दोष है? दोष यह है कि यदि उन्हें अर्थप्रकाशक मानेंगे, तो यह प्रश्न होगा कि वे प्रत्येक प्रकाशक हैं, या मिलकर? प्रथम पक्षमें भी फिर विकल्प होगा—शब्दसे प्रकाशित ही अर्थका युक्ति आदिसे प्रकाश होता है या अन्य अर्थका? प्रथम पक्षमें युक्ति आदि व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि तावन्मात्रका प्रकाश तो शब्दसे ही हो चुका है? फिर अन्य पादकी क्या जरूरत है? द्वितीय पक्षमें युक्ति आदि भिन्न-भिन्न प्रमाण अपने अपने विषयमें व्यवस्थित होंगे, क्योंकि मिलकर वे एक प्रमाण नहीं हो सकते। आद्यके द्वितीय पक्षमें विजातीय कारणोंसे एक कार्य नहीं हो सकता? दण्ड आदिको अपने कार्यको उत्पन्न करनेके लिए चक्र आदिकी अपेक्षा नहीं देखी जाती है, अतः एक कार्यके लिए परस्पर सम्मेलन ही असङ्गत है॥२१७॥

'**प्रमातारम्**' इत्यादि। प्रमाताके बिना शास्त्र किसके प्रति अर्थका बोधक होगा? इसलिए शब्द आदि द्वारा अर्थबोधमें प्रमाता भी कारण है। एवं प्रमाताके

संसर्गकल्पनाशून्यमप्यैकात्म्यं प्रबोधयेत् ।
अतद्व्यावृत्तितः शास्त्रं संसृष्टार्थाभिधाय्यपि ।। २१९ ।।

रहनेपर भी यदि शास्त्र न हो, तो किस साधनसे प्रमाताको अर्थका बोध होगा ? इसलिए शास्त्र भी उक्त बोधमें कारण है । एवं उन दोनोंके रहनेपर भी यदि प्रसंख्यान न हो, तो आत्मैकत्वका दर्शन ही नहीं हो सकता, अतः उक्त दर्शनमें प्रसंख्यान भी कारण है । यद्यपि श्लोकमें व्यतिरेक द्वारा प्रमाता और शब्दमें ही कारणत्व बतलाया गया गया है, तथापि उपलक्षणसे युक्ति और प्रसंख्यानमें भी तुल्य युक्तिसे कारणत्व समझना चाहिए अथवा शास्त्रमूलक युक्ति और शास्त्रविहित प्रसंख्यान—इन दोनोंका भी शास्त्रसे ही संग्रह हो जायगा क्योंकि दोनोंका मूल शास्त्र ही है ।। २१८ ।।

प्रत्यक्षकी तरह शब्द साक्षात् पदार्थके स्वरूपके बोधका जनक नहीं है, किन्तु एक पदार्थका अन्य पदार्थके साथ संसर्गके अथवा संसर्गविशिष्ट पदार्थके परोक्षात्मक बोधका जनक है । सहकारीके लाभसे भी विपरीत कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभावका त्याग नहीं हो सकता । अतः उक्त सहकारी द्वारा भी 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्र आत्मैकत्वविषयके अपरोक्षज्ञानके जनक नहीं हो सकते, इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'**संसर्ग०**' इत्यादिसे ।

यद्यपि शास्त्रका स्वभाव संसृष्ट पदार्थका परोक्षाभिधान करना है, तथापि निखिलविकल्पशून्य, [अतएव] असंसृष्ट 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिके अनुसार अपरोक्षस्वरूप आत्मैकत्वका अपरोक्षज्ञान प्रसंख्यान आदि सहकारीवश 'तत्त्वमसि' आदि शब्दसे उत्पन्न होता है, क्योंकि सहकारीके सम्बन्धसे विचित्र कार्य भी होता है, इसमें आश्चर्य नहीं । जैसे घृत और मधु—ये दोनों पदार्थ स्वतः मारक नहीं हैं, किन्तु समपरिमाणमें दोनोंके मिलानेपर उनमें विषशक्ति या मारकशक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो सेवन करनेवालेकी नाशक होती है । इस प्रकारके अनेक दृष्टान्त लोक तथा शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं । प्रकृतमें 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य उक्त सहकारी द्वारा अद्वितीयात्मतत्त्वविषयक निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञानके जनक हैं, यह सिद्ध हुआ । यही निष्कर्ष कहते हैं—'**अतद्व्यावृत्तितः**' इत्यादिसे । यद्यपि संसृष्टार्थाभिधायी शब्द है, फिर भी 'अस्थूलमनणु०' 'अशब्दमस्पर्श०' 'अद्रेश्यम्' 'अपाणिपाद०' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'नेति नेति'

यतो वाचो निवर्तन्ते इति श्रुत्यैव दर्शितम् ।
व्यपास्ताशेषसंसर्गकल्पनं ब्रह्म निर्भयम् ॥ २२० ॥

इत्यादि सैकड़ों श्रुतियाँ समस्त द्वैतके प्रतिषेध द्वारा द्वैताभावोपलक्षित चिन्मात्रकी ही बोधक हैं। अतद्व्यावृत्ति—ब्रह्मातिरिक्तव्यावृत्ति अर्थात् प्रत्यक्ष आदिसे प्रसक्त द्वैतकी ब्रह्ममें निवृत्ति द्वारा शास्त्र उक्त तत्त्वका बोधक है ॥ २१९ ॥

संसर्गकल्पनाशून्य ऐकात्म्यमें प्रमाण कहते हैं—'यतो' इत्यादिसे ।

शब्द स्वप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्ट अर्थका बोधक होता है। जिसमें कोई धर्म ही नहीं है, उस अर्थका बोधक नहीं होता। प्रकृतमें उक्त तत्त्व सर्वधर्मशून्य है, अतः धर्मकी निवृत्तिसे शब्द भी निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसका बोधक नहीं होता। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे सब पदार्थोंका सम्बन्ध ब्रह्ममें प्रतिषिद्ध है। व्यपास्ता—निषिद्धा—अशेषाणां पदार्थानां संसर्गस्य—सम्बन्धस्य—कल्पना यस्मिन् तत् ब्रह्म। इस प्रकारके ब्रह्ममें अपुरुषार्थत्वकी शङ्काके निरासके लिए कहते हैं—'निर्भयम्'। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' इत्यादि श्रुतियोंसे सकलसांसारिकदुःखनिवृत्त्यात्मक नित्य निरतिशय अनवच्छिन्न आनन्दस्वरूप ब्रह्म अपुरुषार्थ नहीं है, किन्तु परमपुरुषार्थस्वरूप है। अतद्व्यावृत्ति यह उपलक्षण है अर्थात् केवल अतद्व्यावृत्तिरूपसे ही श्रुतियाँ ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं करतीं, किन्तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ विधिमुखसे ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं, यह भी ध्यान रखना चाहिए। यदि शङ्का हो कि अभी आप कह चुके हैं कि ब्रह्म निर्धर्म है, शब्द धर्मविशिष्टका ही बोधक होता है, अतः ब्रह्मसे शब्द निवृत्त है। अब आप कहते हैं कि उदाहृत श्रुतियाँ विधिमुखसे भी ब्रह्मकी बोधक हैं, इससे आपके वाक्यमें पूर्वापरविरोध है। इसका उत्तर है कि विरोध नहीं है, शब्द मुख्यवृत्तिसे धर्मविशिष्टका ही अभिधायक होता है। अतः निर्धर्म ब्रह्मका शक्ति द्वारा शब्द बोधक नहीं है, केवल व्यक्तिमात्रका भी लक्षणा द्वारा शब्दसे बोध होता है, जैसे किसीने प्रश्न किया कि 'का चन्द्रव्यक्तिः' ? चन्द्रव्यक्ति कौन है ? उत्तर हुआ कि 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'। इस वाक्यसे संसर्गका बोध नहीं होता, कारण कि संसर्ग अजिज्ञासित है। अतः संसर्गविषयक प्रश्न नहीं है, केवल चन्द्रव्यक्ति ही जिज्ञासित है, इसलिए उत्तरवाक्य भी तन्मात्रका बोधक है, एवं 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्य द्वारा भी संसर्गानवगाही केवल व्यक्तिमात्र-

बोधयित्वाऽपि चैकात्म्यं नाऽन्तरा पर्यवस्यति ।
आप्नुमर्थाविधेः शास्त्रमप्रामाण्यभयात् स्फुटम् ॥ २२१ ॥
परोक्षवृत्त्या शब्दो हि वदन् स्वार्थं स्वभावतः ।
सम्भावयन् प्रमाणत्वं युक्तिं स्वीकृत्य वर्तते ॥ २२२ ॥

विषयक बोध होता है। अमुख्यवृत्तिसे व्यक्तिमात्रका संसर्गानवगाही बोध सर्वानुभव सिद्ध है, इसलिए सत्यज्ञानानन्दादि वाक्य विधिमुखसे भी ब्रह्मके बोधक हैं, ऐसा कहनेमें पूर्वापरविरोधका लेश भी नहीं है ॥ २२० ॥

निष्प्रपञ्च आत्माका बोध लक्षणा द्वारा यदि शास्त्रसे ही होता है, तो युक्त्यादिका क्या प्रयोजन ? इस शङ्कापर कहते हैं—'**बोधयित्वाऽपि**' इत्यादि ।

यद्यपि 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्र ऐकात्म्यविषयक परोक्ष ज्ञानके जनक हैं, तथापि मोक्षोपायभूत आत्मसाक्षात्कारकी उत्पत्तिके बिना बीचमें उपरत नहीं होते, कारण कि वाक्य द्वारा उत्पन्न परोक्षज्ञानमात्रसे पुरुषार्थकी परिसमाप्ति नहीं होती, पुरुषार्थ न होनेपर निष्प्रयोजनत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी। नित्य निर्दोष अपौरुषेय वाक्यमें स्फुट कारणके बिना प्रामाण्यका अपह्नव नहीं हो सकता, इसलिए उक्त शास्त्रका मोक्षहेतु आत्मतत्त्वके साक्षात्कारमें भी तात्पर्य है। उसके लिए युक्त्यादि भी शास्त्रको अपेक्षित हैं। उक्त युक्त्यादिसहकृत 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्र मुक्तिफलक आत्मतत्त्वसाक्षात्कारके उत्पादन द्वारा उक्तार्थमें अप्रतिहत प्रामाण्यलाभ करता है ॥ २२१ ॥

'**परोक्ष०**' इत्यादि । यदि प्रकृत शास्त्रको साक्षात्कारके लिए युक्तिकी अपेक्षा है, तो नियोगसापेक्ष ही शास्त्रको फलजनक मानिये, युक्तिकी क्या आवश्यकता है ? शब्द संसृष्टपरोक्षबोधजनकस्वभाव होता है, यह 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यमें दृष्ट है। तदनुसार यहाँ भी संसृष्टपरोक्षमें शब्दकी प्रवृत्ति है, प्रकृत शब्द भी स्वयं तादृशार्थाभिधान करता हुआ अपौरुषेयादिहेतुक प्रामाण्यकी स्वमें सम्भावना करता हुआ सहायक युक्त्यादिकी अपेक्षा करता है। सारांश यह है कि नियोगसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता ? अपरोक्षज्ञानके बिना अपरोक्षस्वरूप बन्धकी निवृत्ति नहीं होती। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादि श्रुतिसे आत्मसंवेदन ही मुक्तिका साधन है, इसलिए शब्द मोक्षजनक उक्त साक्षात्कारके लिए युक्ति आदिकी अपेक्षा करता है।

**न वस्तुदर्शने शक्ता धूमवद्वह्निवीक्षणे ।**
**आपरोक्ष्याय सा युक्तिः प्रसङ्ख्यानमपेक्षते ॥ २२३ ॥**
**लोके दर्शनसम्बद्धं प्रसङ्ख्यानं समीक्षितम् ।**
**वेदेऽपि किं तथा तत्स्यान्न वेत्येतद्विधीयते ॥ २२४ ॥**

---

शब्दको उक्त साक्षात्कारके लिए युक्तिकी भले ही अपेक्षा हो, पर प्रसंख्यानकी क्या आवश्यकता है ? ॥ २२२ ॥

युक्ति भी अपरोक्षज्ञानजनक नहीं है, अतः युक्तिसहकृत शब्द भी अपरोक्षज्ञानजनक नहीं हो सकता, इसलिए मोक्षहेतु आत्मैकत्वके अपरोक्षज्ञानके उत्पादके लिए प्रसंख्यानकी भी अपेक्षा है। यदि शङ्का हो कि केवल युक्ति परोक्षज्ञानजनक ही है, पर आगमसहकृत युक्ति अपरोक्षज्ञानोत्पादनमें समर्थ हो सकती है, क्योंकि सहकारीके वैचित्र्यसे विचित्र कार्य होता है, यह घृत और मधुके दृष्टान्तसे सिद्ध कर ही चुके हैं। इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'न वस्तु०'** इत्यादि।

सहकारीके वैचित्र्यसे अवश्य विचित्र कार्य होता है, परन्तु प्रसंख्याननिरपेक्ष युक्तिसहकृत आगमसे अपरोक्षज्ञान कहीं भी दृष्ट नहीं है, प्रत्युत तावन्मात्रसे परोक्षज्ञान ही होता है, जैसे 'धूमोऽयम्' यह वाक्य युक्तिसहकृत होनेपर भी वह्निविषयक परोक्षज्ञानका ही उत्पादक है, अपरोक्षज्ञानका उत्पादक नहीं है, अतः दृष्टविरुद्ध कल्पना नहीं हो सकती ॥२२३॥

यदि प्रसंख्यानमें साक्षात्कारहेतुत्व लोकमें सिद्ध हो, तो उसमें शब्दसहकारित्वकी कल्पना कर सकते हैं अन्यथा नहीं, इस सन्देहकी निवृत्तिके लिए लोकमें प्रसंख्यान साक्षात्कारजनक है, यह सर्वानुभव सिद्ध है, यह कहते हैं—**'लोके दर्शनसम्बद्धम्'** इत्यादिसे।

जैसे लोकमें प्रसंख्यान दर्शनसाधन है, यह देखा गया है, वैसे ही वेदमें भी प्रसंख्यान दर्शनका हेतु है या नहीं ? यह संशय होनेपर वेदमें भी प्रसंख्यान दर्शनका साधन है, यह विधान करते हैं। लोकमें प्रसंख्यान दर्शनका हेतु इस प्रकार है—जिस पुरुषने स्वरानुशासनका पूरा अभ्यास किया है, उस पुरुषको गीयमान निषाद, ऋषभ आदि स्वरविशेषका श्रावण प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि सामा-

सामान्येनौषधं यद्वज्ज्वरनाशोपलक्षितम् ।
दृष्टं कष्टतरेऽप्येतद्विशेषेणोपदिश्यते ॥ २२५ ॥

न्यतः गानमें सबको स्वरका प्रत्यक्ष होता है, तथापि कौन ऋषभ है, कौन गान्धार है ? इत्यादि स्वरविशेषका प्रत्यक्ष सबको नहीं होता; किन्तु गान्धर्वशास्त्राभ्यास-जनित वासनासे युक्त अन्तःकरणवाले पुरुषको ही होता है । गान्धर्वशास्त्राभ्यास ही प्रसंख्यान है, तत्सहकृत गीयमान शब्द जैसे स्वरविषयक साक्षात्कारका हेतु होता है, वैसे ही वेदमें भी प्रसंख्यानसहकृत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भी आत्मैकत्व-साक्षात्कारका हेतु हो, यह निश्चय करते हैं । यह कल्पना दृष्टानुसारी है, दृष्ट-विरुद्ध नहीं है ॥२२४॥

उक्त अर्थको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—**'सामान्येनौषधम्'** इत्यादिसे ।

जैसे कषायपान आदि ओषधि साधारणतया ज्वरनिवर्तक लोकमें दृष्ट है, वही कषायपान आदि ओषधि कठिनतर सन्निपात आदि ज्वरकी निवर्तक है या नहीं ? यह संशय होनेपर सन्निपात विषम ज्वरकी भी निवर्तक होगी, इस सम्भावनासे उक्त ज्वरमें भी उक्त ओषधिका विधान करते हैं, वैसे ही लोकमें साक्षात्कारका साधन प्रसंख्यान स्वरप्रत्यक्षमें दृष्ट है, अतः वेदमें भी ऐसा होगा या नहीं ? ऐसा सन्देह होनेपर अवश्य होगा, इस अभिप्रायसे प्रसंख्यानका विधान है । यदि लोकमें प्रसंख्यानसहकृत शब्द साक्षात्कारजनक निश्चित है, तो संशय क्यों होगा ? इसलिए होगा कि स्वरप्रत्यक्ष लौकिक है, प्रसंख्यानसहकृत शब्द लौकिक प्रत्यक्षके जनकरूपसे दृष्ट है, पर प्रसंख्यान अलौकिक प्रत्यक्षजनक है या नहीं ? यह संशय हो सकता है । यज्जातीयके प्रति यज्जातीय कारण निश्चित है तज्जातीयके प्रति संशय नहीं हो सकता, किन्तु किंचिद्भिजातीय कार्यके प्रति कारण है या नहीं ? यह संशय हो सकता है । यथा कषायपानादि ओषधि ज्वरसामान्यकी निवर्तक है यह निश्चित है, किन्तु ज्वरत्वरूपसे सजातीय और विषम-ज्वरत्व आदिसे विजातीय ज्वरविशेषकी निवर्तक है या नहीं ? ऐसा संशय होता है । तथा प्रसंख्यानसहकृत शब्द स्वरविषयक लौकिक प्रत्यक्षका कारण है यह निश्चय रहनेपर भी प्रत्यक्षत्वसे सजातीय और मानसप्रत्यक्षत्वसे विजातीय आत्मैकत्व प्रत्यक्षमें कारण है या नहीं ? इस संशयमें आपत्ति नहीं है । ऐसा वचन भी है—

विधिं विना श्रुतैकात्म्यस्तदर्थानुभवादृते ।
उपायाज्ञतया कुर्यात् तच्छास्त्रस्यार्थवादताम् ॥ २२८ ॥

यजेत' यह विधिवाक्य अनन्तर वृष्टिफलक है । सूखते हुए धान्यादिकी रक्षाके लिए अनन्तर वृष्टि ही कामनाकी विषय है । कालान्तरकी या जन्मान्तरकी वृष्टिसे तत्कालिक धान्योंका क्या उपकार होगा? अतएव जन्मान्तरीय वृष्टिके तात्पर्यसे कोई उक्त याग करता भी नहीं । अनन्तर वृष्टि न होनेपर उक्त वाक्य अप्रमाण हो जायगा, सो नहीं है, क्योंकि अनन्तर फलके अभावसे यागमें वैगुण्यकी अनुमिति होती है । यह 'न कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यम्' इस न्यायसूत्रमें स्पष्ट है । एवं च प्रसंख्यान कारीरी यागके तुल्य नहीं है, किन्तु चित्रादि यागके तुल्य है; अतः वर्तमान जन्ममें यदि प्रसंख्यानसे आत्मसाक्षात्कार न हुआ, तो भी प्रसंख्यान अप्रामाणिक नहीं है, क्योंकि जन्मान्तरमें चित्रादि यागकी तरह विधिबलसे अवश्य उक्त साक्षात्काररूप फल होगा । वर्तमान जन्ममें ही साक्षात्कारके उद्देश्यसे प्रसंख्यानका विधान नहीं है । इसीसे 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इत्यादि वचन संगत होते हैं । यदि विधिबलसे सन्दिग्ध फलकी सिद्धि मानते हैं, तो गगनकुसुमकी भी सिद्धि विधिबलसे हो जायगी? नहीं होगी, कारण कि गगनकुसुममें तुच्छत्वका निश्चय है । तुच्छ उपायसाध्य नहीं होता, यह विपरीत निश्चय है । अतः विधिबलसे गगनकुसुमकी सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती और तत्सत्ताके उद्देश्यसे कोई विधि भी नहीं है ॥२२७॥

**'विधिं विना श्रुतै०'** इत्यादि । आत्मानुभवके उपायभूत प्रसंख्यानमें यदि विधि न मानें, तो श्रुतात्मतत्त्व ( जिसने आत्मतत्त्वका श्रवण कर लिया है ऐसा ) पुरुष भी वस्तुप्रकाशक वाक्यको अप्रमाण मानेगा, क्योंकि आत्मानुभवोपाय प्रसंख्यानको मानते नहीं । प्रसंख्यानातिरिक्त आत्मदर्शनोपाय भूत दूसरा ज्ञान नहीं है । केवल शास्त्रमात्रसे उक्त कार्य नहीं होता । अतः प्रसंख्यानविधि मानने योग्य है, क्योंकि उक्त विधिके विना फलसिद्धि नहीं होती । और शास्त्रमें अप्रामाण्यकी प्रसक्ति भी होती है । इन दोषोंके परिहारके लिए प्रसंख्यानमें विधि आवश्यक है, अन्यथा दर्शनोपायके अज्ञानसे शास्त्र अर्थवाद ही माना जायगा । अर्थवाद जैसे स्तुतिपरक होनेसे स्वार्थमें प्रमाण नहीं होते, वैसे ही आत्मदर्शनप्रतिपादक वाक्योंमें भी स्वार्थपरत्वकी हानि हो जायगी ॥२२८॥

विध्येकनिष्ठे शास्त्रेऽपि वस्त्वसिद्धेः प्रमाणतः ।
देवताध्यानवद्भाविजन्मन्येतत्फलं भवेत् ॥ २२९ ॥
मानेन विषयासिद्धौ तद्दिदृक्षावियोगतः ।
प्रसङ्ख्यानविधावस्मिन्नधिकार्यपि को भवेत् ॥ २३० ॥

'विध्येकनिष्ठे शास्त्रेऽपि' इत्यादि। यदि प्रसंख्यानमें विधि मानोगे, तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य उक्त विधिके शेष होनेसे अन्यपरक होंगे, इससे प्रत्यक्षादि प्रमाणके साथ विरोध होनेसे आत्मैकत्ववस्तुकी सिद्धि ही नहीं होगी। वस्तुके असिद्ध होनेपर ऐकात्म्यदर्शन भी नहीं होगा, कारण कि दर्शन वस्तुपरतन्त्र होता है, अतः विधिके बलसे आत्मैकत्वदर्शनकी कल्पना करनी पड़ेगी। जैसे जो जिस देवताकी उपासना करता है, वह तद्भावापन्न होता है, यहांपर तद्भावापत्ति फल कल्पित है। 'देवो भूत्वा देवान् यजेत' 'यथाक्रतु०' इत्यादि वाक्यसे तद्भावावगम नहीं होता, क्योंकि उक्त वाक्य उपासना-विधिपरक है, तत्स्वरूपाधिगतिपरक नहीं है, अतः वस्तुबोधक तत्त्वमस्यादि वाक्यको प्रधान तथा उक्त विधिको तद्गुण मानना चाहिए। यद्यपि फलहेतु विधिकी ही प्रधानता उचित है, तथापि उक्त विधिका फल वस्तुदर्शन-स्वरूप ही है, इसलिए वस्तुविषयक शास्त्र प्रधान है। प्रसंख्यानके विषय आत्मैकत्वके प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य अनुवादक नहीं हैं, कारण कि प्रमाण द्वारा ज्ञात वस्तुके ज्ञापक ही अनुवादक होते हैं। विहित होनेपर भी प्रसंख्यान प्रमाण नहीं होता, क्योंकि उक्त रीतिसे प्रसंख्यान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकारके होते हैं, अतः 'तत्त्वमसि' आदि वस्तुके बोधक वाक्य अनुवादक नहीं हैं ॥ २२९ ॥

'मानेन विषयासिद्धौ' इत्यादि। प्रमाणसे (शास्त्रसे) विषयकी (आत्मैकत्वकी) असिद्धि होनेपर तत्साक्षात्कारविषयक इच्छा ही नहीं होगी अर्थात् इच्छाका असंभव होगा, अतः अधिकारीके न होनेसे प्रसंख्यानकी विधि ही कैसे होगी ? क्योंकि फलकामनावान् अधिकारी कहलाता है। प्रमित फलकी ही इच्छा होती है; अतः अधिकारी आदिके लाभके बिना विधि नहीं हो सकती। यदि प्रसंख्यानमें विधि मानें, तो उक्त रीतिसे विषयकी सिद्धि ही नहीं होगी, इसलिए प्रसंख्यानमें विधि नहीं है ॥ २३० ॥

श्रुतात्मतत्त्ववृत्तस्याऽनुभूतमपि स्वकम् ।
स्थानकं वाञ्छतः शास्त्रात् प्रसङ्ख्यानं विधीयते ॥ २३१ ॥
एवं चैकात्म्यतत्त्वेऽस्मिन् प्रसङ्ख्यानविधावपि ।
तात्पर्यं स्याद्विशिष्टत्वाद्वाक्यभेदोऽपि नाऽऽपतेत् ॥ २३२ ॥

विषयके असिद्ध होनेपर विधि नहीं होगी, इस प्रकार व्यतिरेक कहकर अब अन्वय कहते हैं—'श्रुतात्मतत्त्व०' इत्यादिसे ।

शास्त्र द्वारा आत्मैकत्वका श्रवण होनेपर भी अननुभूत—अनुभवाविषय—स्वस्वरूपकी इच्छावालेके लिए शास्त्रसे प्रसंख्यानका विधान है अर्थात् 'तत्त्वमसि', 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादि शास्त्र द्वारा आत्मा और ब्रह्मके अभेदका श्रवण है, किन्तु श्रवणमात्रसे उसका साक्षात्कार नहीं हुआ और इच्छा तो है कि श्रुतार्थका साक्षात्कार हो, ऐसे अधिकारी मुमुक्षुके प्रति आत्मसाक्षत्कारके लिए शास्त्रसे प्रसंख्यानका विधान है । उक्त रीतिसे प्रसंख्यानसहकृत शास्त्र द्वारा उक्त साक्षात्कार अवश्य होगा, अतः इस रीतिसे कारणताके ग्राहक अन्वय और व्यतिरेकसे प्रसंख्यान उक्त साक्षात्कारका कारण है, यह निश्चय होता है ॥ २३१ ॥

'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रका प्रसंख्यानविधि और वस्तुका बोध—इन दोनोंमें तात्पर्य माननेसे भिन्नार्थक होनेके कारण वाक्यभेद हो जायगा, इस शङ्काका परिहार करते हैं—'एवं चैकात्म्यतत्त्वेऽस्मिन्' इत्यादिसे ।

उक्त शास्त्रका प्रसंख्यान व्यापारहै, अतः उसके द्वारा उक्त शास्त्र उक्तार्थका बोधक है । दोनों अर्थ प्राधान्यसे बुबोधयिषित नहीं हैं, किन्तु गुण-प्रधानभावसे बुबोधयिषित हैं । प्रसंख्यान व्यापार होनेसे गुण है, आत्मैकत्व फल होनेसे मुख्य है अर्थात् अवान्तर तात्पर्य प्रसंख्यानमें हैं और प्रधान तात्पर्य उक्त अर्थमें है । यदि दोनों अर्थोंमें मुख्य तात्पर्य मानें, तो दोनों अर्थ मुख्य अर्थ होंगे । मुख्य दो अर्थोंका बोध एक वाक्यसे नहीं होता, इसलिए वाक्यभेद अनिवार्य हो जाता है । परन्तु सो प्रकृतमें नहीं है, क्योंकि प्रसंख्यानविधिरूप व्यापारके बिना उक्त शास्त्र उक्त अर्थका बोधक नहीं हो सकता, इसलिए अवान्तर तात्पर्य प्रसंख्यानविधिमें मानते हैं । यदि एकरूपसे अर्थद्वयका बोध इष्ट होता, तो वाक्यभेद होता । किन्तु यहांपर प्रसंख्यानकी अपेक्षासे आत्मैकत्वरूप अर्थ मुख्य है । अतः वाक्यभेदकी भी शङ्का नहीं है । अथवा विशिष्टमें माननेसे विशेषणमें विधि अर्थात् सिद्ध होती है । विशेषणकी विधिके बिना

श्रवणं शाब्दविज्ञाने यथोपायस्तथा द्वयम् ।
अनुभूतौ च मनननिदिध्यासनरूपकम् ॥ २३३ ॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत तत्त्ववित् ।
इत्यादिना प्रसङ्ख्यानं विधेयमनुभूयते ॥ २३४ ॥

विशिष्टमें विधि नहीं हो सकती, इसलिए विशेषणकी विधि आर्थिक है, शाब्द नहीं है, क्योंकि **'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः'** यह न्याय प्रसिद्ध है। एवं अर्थापत्ति प्रमाणसे भी प्रसंख्यानका लाभ हो सकता है, क्योंकि शाब्द बोध न होनेपर मानस बोध तो हो ही जायगा, जैसे अरुणा और एकहायनीके अभेदका बोध होता है ॥ २३२ ॥

दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वकविधिद्वयका उपसंहार करते हैं—**'श्रवणम्'** इत्यादिसे।

व्युत्पन्नके अर्थात् समधिगतशाब्दन्यायतत्त्व पुरुषके शाब्दबोधमें शब्दश्रवण ( शब्दका श्रावणप्रत्यक्ष ) जैसे हेतु है, वैसे ही मनन-निदिध्यासन ( मननपूर्वक-निदिध्यासन ) आत्मतत्त्वके अनुभवमें हेतु है। अतएव 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुतिमें आत्मसाक्षात्कारका उपाय श्रवण-मननपूर्वक निदिध्यान कहा गया है। निदिध्यानका दूसरा नाम प्रसंख्यान है, निदिध्यासनके बिना केवल श्रवण और मननसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, अतः साक्षात्कारार्थीको श्रवण-मननपूर्वक निदिध्यासन करना चाहिए, यह तात्पर्य है ॥ २३३ ॥

**'तमेव धीरो'** इत्यादि। धीर तत्त्ववित् ( तत्त्ववेत्ता ) उस आत्माको जानकर प्रज्ञा—निदिध्यासनरूप उपासना—करे, इत्यादि वाक्यसे प्रसंख्यानका विधान प्रत्यक्ष है। प्रज्ञाका तात्पर्य उपासनामें है। प्रसंख्यानमें—प्रत्यक्ष ज्ञानमें—प्रकर्ष—यथार्थत्वलक्षण है। मननके बिना श्रवणमात्रसे यथार्थ आत्मज्ञान नहीं होता, कारण कि अनेकरूपसे आत्माका निरूपण श्रुतियोंमें है। विपरीत अनेक धर्मोंसे युक्त आत्माका श्रावण होनेपर धर्मी आत्मामें सन्देह होता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? कदाचित् विपरीत स्वरूपका भी निश्चय हो जाता है। सन्देहात्मक तथा विपरीत ज्ञानके अभ्याससे आत्मतत्त्वका निश्चय नहीं होता। स्थाणुमें 'स्थाणुर्न वा' अथवा 'पुरुषोऽयम्' इत्याकारक ज्ञानका निरन्तर अभ्यास करनेसे 'अयं स्थाणुः' यह निश्चय नहीं होता, अतः यथार्थ ज्ञानका

एवमैकात्म्यतात्पर्ये शास्त्रस्येष्टेऽपि युक्तिभिः ।
केचित् कार्यमपीच्छन्ति तदेतन्नैव युज्यते ॥ २३५ ॥
किमात्मभासनायाऽसावापरोक्ष्याय वाऽथवा ।
व्यवधानापनुत्त्यर्थं मानजन्यफलाय वा ॥ २३६ ॥
भानलोपस्य शङ्कापनुत्त्यर्थं वोत मुक्तये ।
सर्वथापि प्रयासस्ते विध्यर्थोऽत्यन्तनिष्फलः ॥ २३७ ॥

निरन्तर अभ्यास वस्तुतत्त्वका निश्चायक होता है। प्रकृतमें आत्मयथार्थानुभवकी कामनासे असन्दिग्ध और अविपरीत आत्मज्ञानरूप प्रज्ञाकी आवृत्ति करे, इस तात्पर्यसे प्रज्ञा निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानपरक है। इसीसे आत्मदर्शन होता है, अन्यथा नहीं, यह भाव है ॥ २३४ ॥

प्रसंख्यानवादका उपसंहार करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे।

शास्त्रका ऐकात्म्यमें तात्पर्य है, यह इष्ट होनेपर भी कोई-कोई विद्वान् युक्ति द्वारा कार्य—नियोग—भी वेदान्तमें चाहते हैं, यह उनकी कामना ठीक नहीं है। भाव यह है कि जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि कर्मकाण्डमें नियोगविषयक विधि है। लिङर्थ नियोग है। और उसके विषय यागादि हैं। स्वविषयके अनुष्ठानके बिना स्वसिद्धि नहीं होती, इसलिए नियोगार्थी पुरुष यागके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है। यागसे नियोगकी सिद्धि और नियोगसे स्वर्गादि फलकी सिद्धि होती है, वैसे ही 'प्रज्ञां कुर्वीत' इत्यादि वेदान्तवाक्यमें भी नियोगविषयक विधि मानना आवश्यक है। प्रसंख्यानसे नियोग द्वारा फलकी सिद्धि होती है। दोनों अपौरुषेय वाक्य हैं। दोनोंमें समान विधि होनी चाहिए। जिस तरह कालान्तरभावी फलके अव्यवहित पूर्वक्षणमें विनश्वर यागादिके न रहनेपर भी नियोग द्वारा याग फलका हेतु होता है, इसी प्रकार प्रसंख्यान भी नियोग द्वारा फलका हेतु होता है। प्रसंख्यान फल भी जन्मान्तरभावी है। शुक, वामदेव आदि उत्पत्तिके अनन्तर या गर्भमें ही प्रसंख्यानफलके भागी हुए, यह पुराण और श्रुतिमें प्रसिद्ध ही है। इसका निराकरण करते हैं—**'तदेतद्'** इत्यादिसे। अर्थात् आगे कहे जानेवाले दूषणोंसे यह मत समीचीन नहीं है ॥ २३५ ॥

**'किमात्म०'** इत्यादि। दोनों श्लोकोंमें विकल्पमात्रका निर्देश है।

**प्रमात्रादित्रयं यस्मात् संविन्मात्रवपुर्भृतः ।**
**भाति पूर्वमभातं सत्तद्भाने किमपेक्ष्यते ॥ २३८ ॥**
**अहङ्कारः प्रमाता स्याद्धीवृत्तिर्मानमुच्यते ।**
**घटादिकं प्रमेयं स्याच्चिद्भासा भाति तत्त्रयम् ॥ २३९ ॥**

---

विकल्पनिराकरणपरक श्लोकोंमें विकल्पोंका स्पष्ट निर्देश करके व्याख्यान करेंगे । उसी व्याख्यानसे पूर्व दो श्लोकोंका व्याख्यान स्वतःसिद्ध हो जायगा, इसलिए पृथक् व्याख्यान नहीं करते ॥ २३६,२३७ ॥

**'प्रमात्रादित्रयम्'** इत्यादि । प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये तीनों पूर्वमें अभासित होकर पश्चात् जिस संविन्मात्रशरीर अर्थात् चिदेकरस आत्मासे भासित होते हैं, उस चिदेकरस आत्माके भानके लिए अन्य विष्यादि पदार्थकी अपेक्षा नहीं है । प्रमाता आदि तीनों घटादिकी तरह जड़ पदार्थ हैं, अतः उनके भानके लिए प्रकाशक आत्माकी आवश्यकता है । आत्मा अजड़ ( चेतन ) पदार्थ है । यदि उसका भी प्रकाश पदार्थान्तरसे मानेंगे, तो तत्तत्प्रकाशकके प्रकाशके लिए प्रकाशकान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोष होगा । और पूर्व-पूर्व प्रकाशक जड़ होते जायँगे, क्योंकि जड और अजड़में यही अन्तर है कि जड़का प्रकाश प्रकाशकके सम्बन्धसे होता है और अजड़का प्रकाश स्वयं होता है । यदि आत्माको स्वयंप्रकाश न मानें, तो जगत् अन्धकारमय हो जायगा, इसलिए आत्मा स्वयंप्रकाश है, यह मानना अत्यावश्यक है । फिर उसके लिए विष्यादिकी कल्पना व्यर्थ है । 'पूर्वमभातं भाति' यह उक्ति प्रमात्रादित्रयमें जड़त्वके स्फुटीकरणके लिए है ॥ २३८ ॥

**'अहङ्कारः'** इत्यादि । अहंकार प्रमाता है, विषयाकार बुद्धिवृत्ति प्रमाण है और घटादि प्रमेय हैं । जिस अपरोक्ष आत्माके सम्बन्धसे अहङ्कारादि अपरोक्षप्रतीतिके विषय होते हैं तथा आत्माकी तरह भासित होते हैं, उन अहङ्कारादिकोंको परोक्ष बुद्धिका विषय मानना ही अयुक्त है, अतः तद्गत-पारोक्ष्यकी निवृत्तिके लिए प्रसंख्यानकी विधि है, यह कथन निरर्थक है, क्योंकि प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—ये तीनों चिदात्मप्रकाशसे ही प्रकाशित होते हैं ॥ २३९ ॥

परोक्षमपि देहादि यस्य भासाऽऽपरोक्ष्यभाक् ।
विभात्यात्मेव तस्य स्यादापरोक्ष्यमहेतुकम् ॥ २४० ॥
अज्ञानमपि निःशेषप्रमेयव्यवधानकृत् ।
येनाऽव्यवहितं भाति तत्केन व्यवधीयते ॥ २४१ ॥

**'परोक्षमपि'** इत्यादि । यद्यपि देहादि परोक्ष हैं, तथापि अपरोक्ष आत्माके प्रकाशके सम्बन्धसे वे अपरोक्ष प्रतीतिके गोचर होते हैं, अर्थात् आत्माके सदृश प्रतीत होते हैं। उसमें अपरोक्षत्व निर्हेतुक है। भाव यह है कि देहादि जड़ हैं, एवं अनात्मपदार्थ हैं अतः वे स्वतः प्रकाशित नहीं हो सकते, परन्तु 'अहं गौरः' 'अहं कृशः' इत्यादि प्रतीतिसे आत्मस्वरूपसे प्रकाशित होते हैं। इसमें कारण यह है कि आत्मा स्वयं अपरोक्ष प्रकाशस्वरूप है, आत्मामें शरीरादिका अध्यास है, अतः धर्मोंका भी विनिमय होता है, जैसे लोहेमें अग्नितादात्म्याध्यास होनेपर अग्निगत दाहकत्वादि धर्म लोहमें भी प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं; अतएव 'अयो दहति' यह लोकमें प्रयोग होता है। परन्तु विचार करनेपर वास्तविक दाहकत्व आदि धर्म लोहमें नहीं हैं, अग्निमें ही हैं। उक्त लोकप्रयोग अध्यास-निबन्धन है; वैसे ही 'अहं गौरः' प्रतीति शरीरविषयक होनेपर भी वास्तवमें शरीर आत्मा नहीं है और न शरीरमें अपरोक्षत्व ही है। अपरोक्ष आत्मामें शरीरादिका अध्यास है, अतः शरीरमें अपरोक्षत्व आध्यासिक है। अतः अपरोक्षत्वके लिए विधिकी आवश्यकता नहीं है ॥ २४० ॥

व्यवधाननिरासार्थ प्रसंख्यानविधि है, इस विकल्पका खण्डन करते हैं— **'अज्ञानमपि'** इत्यादिसे ।

अशेष प्रमेयका व्यवधायक अज्ञान जिस आत्मासे अव्यवहित भासित होता है, उस अज्ञानके प्रत्यक्षके लिए किस व्यवधायककी कल्पना करते हो, जिसकी कि निवृत्ति द्वारा अज्ञानका अपरोक्ष ज्ञान होता है। भाव यह है कि अज्ञानावृत आत्मामें घटादिका अध्यास है; अतः जबतक व्यवधायक अज्ञानकी वृत्तिज्ञान द्वारा निवृत्ति नहीं होती, तबतक विषयका अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता । अतः विषयावरक अज्ञान विषय और आत्मामें व्यवधायक है । उसकी निवृत्ति विधिका फल है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटादिके प्रत्यक्षमें व्यवधायक अज्ञान है। उसकी निवृत्ति होनेसे ही अनावृत चित्का सम्बन्ध होता है, यह ठीक है, किन्तु

**स्वमहिम्नैव यः सिद्धस्तत्तमो हन्ति शास्त्रधीः ।**
**किं ततोऽन्यत्फलं मानजन्यं यद्विधितो भवेत् ॥ २४२ ॥**

प्रत्यक्षमात्रमें व्यवधायक—प्रतिबन्धक—नहीं है, इसलिए उसकी निवृत्ति भी विधिका फल नहीं है। उदाहरणार्थ अज्ञानको लीजिये, अज्ञान अनावृत चित्में अध्यस्त है। इतर पदार्थका अध्यास अज्ञानावृत चैतन्यमें होता है, परन्तु अज्ञानके अध्यासके लिए कौन आवरक है? स्वयं तो स्वकीयाध्यासमें आवरण हो नहीं सकता, क्योंकि आत्माश्रय होगा—यदि स्वका अध्यास हो, तो स्वयम् आवरण हो, और यदि स्वयं आवरण हो तो स्वका अध्यास हो अर्थात् 'अध्यासे सति आवरणम्, आवरणे सति अध्यासः'। यदि स्वकीय अध्यासमें अन्यको आवरक मानें, तो उसके अध्यासमें कौन आवरक होगा? तदन्यसे तदन्यका अध्यास, फिर तदन्यका, फिर तदन्यका इस रीतिसे अनवस्थादोष हो जायगा। इस कारण अज्ञानका अध्यास अनावृत्त चैतन्यमें ही माना जाता है। 'अहमज्ञः' 'मामहं न जानामि' इत्यादि अज्ञानविषयक प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है। इस प्रत्यक्षमें व्यवधायक अज्ञानकी निवृत्ति कहां है। व्यवधायक है नहीं, तो तन्निवृत्ति कहाँसे आवेगी? अज्ञान-प्रत्यक्षकी तरह आत्मप्रत्यक्षमें भी व्यवधानकी कल्पना नहीं हो सकती। दोके मध्यमें तीसरा व्यवधायक होता है, आत्मा अद्वितीय है, वास्तविक जीव और ब्रह्ममें भेद नहीं है। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिसे द्वितीय चेतनका प्रतिषेध स्पष्ट ही है, अतः आत्मैकत्वप्रत्यक्षार्थ तमोपनोदनके लिए नियोगकी कल्पना व्यर्थ है, यह वार्तिकसारका अनुसारी अर्थ है। और वार्तिकमें भी कहा है कि—

'अप्यज्ञानादिनिःशेषप्रमेयव्यवधानकृत् ।
स्वतः प्रसिद्धात्संसिध्येत्तदसिद्धिः कुतो भवेत् ॥'

इस श्लोकमें कहे गये हैं—आदि शब्दसे संशय, मिथ्याज्ञान अभिमत हैं। सर्वप्रमेयावरक अज्ञानादिकी सिद्धि स्वप्रकाश आत्मासे होती है। प्रपञ्चसाधक वस्तुकी प्रबल प्रमाणसे सिद्धि है, अतः तन्निरास हो नहीं सकता, उसके लिए प्रसंख्यान-विधि निष्प्रयोजन है। स्वतःसिद्ध स्वयंप्रकाश आत्मासे अज्ञान सिद्ध होता है, उसकी निवृत्ति किससे हो? उक्त आत्मासे अतिरिक्त तो कोई प्रबल प्रमाणान्तर है नहीं। जिसके रक्षक ईश्वर हैं, उसको कौन मार सकता है? ॥ २४१ ॥

चतुर्थ विकल्पका निराकरण करते हैं—'**स्वमहि०**' इत्यादिसे।

जो प्रत्यगात्मा स्वप्रकाश होनेसे स्वयंसिद्ध है, उसका प्रकाश नित्य है, अतः

नियतं यदि शास्त्रस्य पारोक्ष्येणैव बोधनम् ।
न तर्हि तत्त्वधीः शास्त्राद्याथात्म्यानवबोधकात् ॥ २६३ ॥
परोक्षे बुद्ध ऐकात्म्ये वस्तुसिद्धिर्न तावता ।
अनश्वरूपे बुद्धेऽपि गव्यश्वो नहि सिद्ध्यति ॥ २६४ ॥

---

वस्तुमें व्यवधान नहीं हैं, तब उक्त अर्थमें परोक्ष बुद्धि कैसे होगी ? अर्थात् परोक्ष ज्ञान नहीं होगा, अपरोक्ष ही होगा ॥ २६२ ॥

**'नियतं यदि'** इत्यादि। यदि शब्दको स्वभावतः परोक्ष बुद्धिका जनक मानें, तो वेदान्तशास्त्रसे जो आत्मज्ञान होता है, वह तत्त्वज्ञान न कहलावेगा, कारण कि अपरोक्ष आत्माका शास्त्रने यदि परोक्षत्वरूपसे बोध कराया, तो अपरोक्ष अर्थमें परोक्षत्वप्रकारक ज्ञान अयथार्थ ही हुआ, इस परिस्थितिमें अयथार्थज्ञानका जनक वेदान्तशास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता, किन्तु सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रमें अप्रामाण्यकी आपत्ति हो जायगी। इसलिए शब्द नियमसे परोक्षज्ञानका जनक नहीं होता, किन्तु स्वभावके अनुरोधसे परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ज्ञानोंका जनक होता है, यही सिद्धान्त आदरणीय है ॥ २६३ ॥

**'परोक्षे बुद्ध०'** इत्यादि। शास्त्रसे वस्तुविषयक अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, किन्तु संसृष्टपदार्थविषयक परोक्ष ज्ञान ही होता है, ऐसा माननेवालोंके मतमें आत्मसाक्षात्कारके लिए प्रसंख्यानविधि आवश्यक है, यह शङ्का है। इसका उत्तर यह है कि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिसे ब्रह्म अपरोक्ष है, यह सिद्ध होता है। यदि श्रुतिसे अपरोक्षका परोक्षज्ञान होगा, तो श्रुति अप्रमाण हो जायगी तथा असंसृष्ट अपरोक्ष वस्तुकी सिद्धि नहीं होगी। अब पूर्वपक्षी इसका उत्तर देता है कि शास्त्रको असंसृष्ट अपरोक्षसे विलक्षण संसृष्ट परोक्षका बोधक माननेपर प्रतियोगिविधया असंसृष्ट अपरोक्ष वस्तुकी भी सिद्धि हो जायगी अर्थात् संसृष्ट परोक्षमें विशेषण है—असंसृष्टार्थापरोक्षविलक्षण। विलक्षणका अर्थ है भिन्न। भेदमें प्रतियोगिविधया विशेषण है—असंसृष्टार्थ। विशेष्यके समान विशेषण भी विशिष्टज्ञानका विषय होता है, इसलिए विशेषणविधया प्रतीयमान असंसृष्टापरोक्ष वस्तुकी भी सिद्धि माननी ही होगी, अतः उक्त अर्थमें श्रुतिप्रामाण्यकी कोई चिन्ता नहीं है। इसका खण्डन करते हैं—'गौ अश्वभिन्न है' इस ज्ञानका विषय है—अश्वभिन्न गौ। गौमें अश्वभेद

ततः शास्त्रात्तत्त्वधीश्चेन्न परोक्षतयैव धीः ।
उदेति तेन युक्त्यादिपादद्वयमनर्थकम् ॥ २६५ ॥
व्यपास्तानर्थसंदर्भमात्मानमवगच्छतः ।
किमाप्यमधिकं तत्र येन युक्त्याद्यपेक्षते ॥ २६६ ॥
का वा युक्तिः प्रदीपस्य सर्पादिभयनाशकम् ।
रज्ज्वादितत्त्वविज्ञानं कुर्वतः सहकारिणी ॥ २६७ ॥

विशेषण है । भेदमें अश्व विशेषण है । परन्तु इस ज्ञानसे गोमात्रकी सिद्धि होती है, अश्वकी नहीं । इसी प्रकार असंसृष्टापरोक्षविलक्षण ज्ञानसे संसृष्ट परोक्ष विषय ही सिद्ध होगा, असंसृष्टापरोक्ष वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती, अतः उक्तार्थमें शास्त्रकी अप्रामाण्यापत्ति अनिवार्य ही है । सारांश यह है कि असंसृष्टापरोक्ष-विलक्षण ससृंष्ट परोक्षमें शाब्दत्व है, किन्तु तद्विशेषणीभूत असंसृष्टापरोक्षांशमें शाब्दत्व नहीं है अर्थात् शब्द द्वारा उक्तार्थकी सिद्धि नहीं होती, और न उक्त अर्थमें शास्त्र ही प्रमाण हो सकता है, अतः प्रसंख्यानकी विधि अयुक्त है ॥२६४॥

शास्त्रसे परोक्ष ही ज्ञान होता है, यह नियम न होने का फल कहते हैं— **'ततः शास्त्रात्'** इत्यादिसे ।

शास्त्रसे नियमतः परोक्षज्ञान ही होता है, इस नियमके न माननेसे शास्त्रसे जो आत्मतत्त्वज्ञान होगा, वह परोक्ष ही होगा यह तो सिद्ध होगा नहीं, किन्तु अपरोक्षतया भी उसका ज्ञान होगा, फिर युक्त्यादि पादद्वय अनर्थक ही हैं ॥ २६५ ॥

**'व्यपास्तानर्थ०'** इत्यादि । सांसारिक सकल दुःखोंकी निवृत्तिपुरःसर आत्माको जाननेवाला अधिक क्या पाता है ? जिसके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा होती है । शास्त्रजन्य ज्ञानमात्रसे निःशेष क्लेशनिवर्तक यदि आत्मज्ञान हो जाता है, और इससे अतिरिक्त कुछ फल ही नहीं है, तो फिर किस फलकी प्राप्तिके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा मानते हो ? ॥ २६६ ॥

स्वार्थका बोधन करानेमें शब्दको युक्ति आदिकी अपेक्षा नहीं है, यह प्रदीपदृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं—**'का वा युक्तिः'** इत्यादिसे ।

जैसे प्रदीप अपने तेजके प्रभावसे रज्जुतत्त्वका साक्षात्कार तथा उसके

शब्देन ज्ञाप्यते यद्वत्तथैव यदि युक्तिभिः ।
व्यर्थताऽथ विशेषश्चेत् सम्प्राप्ता भिन्नमानता ॥ २६८ ॥
स्वप्नादियुक्तिभिश्चेत्तल्लौकिकीभिः प्रसाध्यते ।
अवैदिकं भवेद्वस्तु स्याच्च शास्त्रानुवादता ॥ २६९ ॥

द्वारा सर्पबुद्धिजन्य भय, कम्प आदिकी निवृत्ति करता है अर्थात् सर्पादिभयके निवर्तक रज्जुतत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके लिए स्वकीय तेजसे अतिरिक्त और किसी पदार्थकी सहकारीरूपसे उसे अपेक्षा नहीं है, वैसे ही सकलदुःखनिवर्तक आत्मज्ञानके उत्पादक शब्दको सहकारीरूपसे युक्त्यादिकी अपेक्षा नहीं है । अधिष्ठानतत्त्वके ज्ञानसे अध्यस्तके उपादान अज्ञानकी निवृत्ति होती है । उपादानकी निवृत्तिसे उपादेयकी निवृत्ति होती है । प्रपञ्चका निमित्त है—आत्माका अयथार्थानुभव । शास्त्रसे आत्माका यथार्थानुभव होनेपर उपादानभूत अज्ञानकी निवृत्तिसे ही प्रपंच निवृत्त हो जाता है । उसे दूसरे सहकारी कारणकी अपेक्षा नहीं है । विवर्तवादमें प्रपञ्च और उसकी निवृत्तिमें अज्ञान और ज्ञान ही निमित्त हैं, दूसरा नहीं ॥ २६७ ॥

'शब्देन ज्ञाप्यते' इत्यादि । जितने अर्थका बोध शब्दसे होता है, उतना ही युक्त्यादिसे भी होता है या उससे अधिक ? प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं—'युक्तिभिर्व्यर्थता' से । जो अर्थ शब्द द्वारा ज्ञात हो चुका है, फिर उस अर्थकी जिज्ञासा होती ही नहीं, अतः उस अर्थके ज्ञापक युक्त्यादि व्यर्थ हैं, अन्यथा युक्ति आदिसे ज्ञात होनेपर भी ज्ञापकान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्थामें ही पर्य्यवसान होगा । द्वितीय पक्षमें भिन्नमानता होगी अर्थात् शाब्द अर्थसे अतिरिक्त अर्थका यदि युत्यादिसे भान मानते हैं, तो सम्भूयकारिता अर्थात् मिलकर एककार्यकारिता नहीं बन सकती, किन्तु भिन्न-भिन्न विषयकी प्रमितिके जनक होनेसे भिन्न-भिन्न मानता होगी ॥ २६८ ॥

'स्वप्नादियुक्ति०' इत्यादि । शब्द, युक्ति आदि प्रत्येक मान हैं, यह माननेपर भी यह प्रश्न होता है कि स्वप्नादिदृष्टान्तसे सिद्ध लौकिक अन्वय और व्यतिरेकरूप युक्तिसे 'ब्रह्म सत्य है' यह बोध मानते हैं या वेदैकगम्य युक्तियोंसे ? प्रथम पक्षमें ब्रह्म अवैदिक हो जायगा, कारण कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंका परस्पर व्यभिचार है, अनुवर्त-

वैदिकत्वेऽपि युक्तीनामागमार्थप्रधानतः।
अनुवादत्वमेव स्यात् स्याच्च शास्त्रादभिन्नता ॥ २७० ॥

मान ब्रह्म ही सत्य है, यह निश्चय लौकिक युक्ति द्वारा होनेसे ब्रह्म लौकिक हो जायगा और 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुतिसे ब्रह्म औपनिषद माना जाता है, अर्थात् उपनिषत्से ही ब्रह्म ज्ञात होता है, इसलिए औपनिषद कहलाता है, अतएव ब्रह्म वेदान्तैकवेद्य माना जाता है। और युक्त्यादिसे सिद्ध ब्रह्मके अनुवादक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यका भङ्ग हो जायगा। यदि ब्रह्म मानान्तरका विषय नहीं है, यह मानते हैं, तो अज्ञात-ज्ञापक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य सिद्ध होता है। यदि ब्रह्म मानान्तरविषय है, यह मानते हैं, तो युक्त्यादि द्वारा ज्ञात ब्रह्मका उक्त श्रुतिसे बोध होता है। यदि श्रुतिजन्य ब्रह्मबोधमें उपायविधया युक्त्यादिकी अपेक्षा होनेसे लौकिक वाक्यके तुल्य वेदवाक्य भी हो, तो लौकिक वाक्यकी अपेक्षासे वैदिक वाक्यमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य है, यह विशेषाभिधान असंगत हो जायगा ॥ २६९ ॥

'**वैदिकत्वेऽपि**' इत्यादि। ब्रह्मप्रकाशक उक्त युक्तियाँ, वेदैकगम्य होनेसे, वैदिक ही हैं, लौकिक नहीं हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका ब्रह्मात्मविवेचनके लिए ही वेदान्तमें उपन्यास है। उनके द्वारा ही ब्रह्म परमार्थ सत् प्रतीत होता है। ठीक है, यदि उक्त युक्तियाँ भी वेद ही हैं, वेदातिरिक्त नहीं हैं, तो उन युक्तियोंका भी वेदमें ही समावेश हुआ। इस परिस्थितिमें मान त्रिपाद हो जायगा और आप उसको चतुष्पाद कहते हैं। चार पादोंमें एक पाद युक्ति है, लेकिन जब युक्तिका शास्त्रमें ही समावेश हो गया, तब शास्त्रसे अतिरिक्त युक्ति हुई नहीं। ऐसी दशामें मान चतुष्पाद नहीं है, किन्तु त्रिपाद है, यही कहना चाहिए। प्रकृत युक्तियाँ वैदिक अर्थकी बोधक होनेसे वेद हैं, इसमें प्रमाण निम्न लिखित श्लोक भी है—

'मीमांसासंज्ञकस्तर्कः सर्वो वेदसमुद्भवः।
सोऽतो वेदो रुमाप्राप्तकाष्ठाम्बुलवणादिवत् ॥'

श्लोकार्थ यह है—'रुमा स्याल्लवणाकरः' इस कोशसे 'रुमा' नमककी खान कहलाती है। जैसे नमककी खानमें जो जल, काष्ठ आदि प्राप्त होते हैं, वे सब

चतुर्थपाद आवृत्तिः कुर्यात्साऽतिशयं कथम् ।
नह्यावृत्तौ प्रमाणस्य प्रमेयेऽतिशयो मतः ॥ २७१ ॥
यत्राऽपि चाऽन्धकारादिदोषात् क्रमविनिश्चयः ।
तत्राऽपि भिन्नमेयत्वान्नैव सम्भूय मानता ॥ २७२ ॥
पूर्वं वस्त्विति विज्ञातं प्राण्ययं मानुषस्तथा ।
पुरुषोऽयमथ श्यामो डित्थ इत्यर्थभिन्नता ॥ २७३ ॥

नमक हो जाते हैं, नमकसे अतिरिक्त नहीं रहते, वैसे ही वेदसे उत्पन्न मीमांसासंज्ञक सब तर्क वेद ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। अतः मान यदि त्रिपाद हो, तो 'मान चतुष्पाद है' यह सिद्धान्त असंगत हो जायगा ॥ २७० ॥

शब्दमें युक्तिके सहकारित्वका खण्डन कर प्रसंख्यानके सहकारित्वका खण्डन करते हैं—'चतुर्थपाद' इत्यादिसे।

शब्दकी पुनः पुनः आवृत्ति—प्रसंख्यान है। इसे भी यदि शब्दका सहकारी मानते हो, तो इस विषयमें यह प्रश्न होता है कि शब्दावृत्ति क्या शाब्द-बोधके विषय अर्थमें अतिशयकी आधायक है या नहीं? प्रथम पक्षमें दोष देते हैं—'नहि' इत्यादिसे। प्रमाणकी आवृत्तिसे प्रमेयमें अतिशय कहीं भी नहीं देखा जाता। उदाहरणके लिए घटका प्रत्यक्ष लीजिए। बार-बार घटके प्रत्यक्षसे घटमें कुछ भी अतिशय नहीं अनुभूत होता है। इसलिए शब्दकी आवृत्तिसे शाब्द अर्थमें अतिशय कहना दृष्टविरुद्ध है ॥ २७१ ॥

'यत्राऽपि' इत्यादि। मन्द अन्धकारमें अथवा दूर देशमें स्थित पदार्थका प्रथम सामान्यरूपसे प्रत्यक्ष होता है, परन्तु बारबार देखनेसे तथा समीप जानेसे जब विशेषरूपसे ज्ञान होता है, तब ये घटादि हैं, यह निश्चय होता है, इसलिए आवृत्ति सार्थक है। हाँ, यद्यपि उक्त स्थलमें आवृत्तिके सफल होनेसे मानकी आवृत्ति सार्थक है या नहीं? यह प्रश्न नहीं हो सकता, तथापि संभूयकारिता तो वहां भी नहीं है, कारण कि पूर्व मानका और उत्तर मानका विषय एक नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्न हैं। अव्यावृत्त वस्तुका सामान्याकार पूर्व मानका विषय है और व्यावृत्ताकार उत्तर मानका विषय है, अतः मेयके भेदसे एक मान नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्न मान हैं, इसलिए यदि एक मानकी आवृत्ति ही नहीं है, तो मानावृत्तिका साफल्य कहाँ? ॥ २७२ ॥

'पूर्वं वस्त्विति' इत्यादि। जहाँपर पूर्वज्ञानसे ज्ञात हुआ कि आगे कोई

**अतः प्रमेय एकस्मिन्नाऽऽवृत्तिः किं करिष्यति ।**
**मितिवृद्धिर्दूषिताऽतः प्रसङ्ख्यानमनर्थकम् ॥ २७४ ॥**
**अनुभूतिस्तत्फलं चेत्सकृदेव कृतेर्भवेत् ।**
**ऐकात्म्यानुभवोऽवश्यं शास्त्रार्थस्य कृतत्वतः ॥ २७५ ॥**
**अथाऽसकृदनुष्ठानं प्रसङ्ख्यानं न चेतरत् ।**
**तथापि निश्चयो न स्यादवधेरनिरूपणात् ॥ २७६ ॥**

वस्तु है, द्वितीय ज्ञानसे ज्ञात हुआ कि मनुष्य है, तृतीय ज्ञानसे पुरुष है, चौथे ज्ञानसे श्याम है और पाँचवें ज्ञानसे डित्थ पुरुषविशेष है, इस प्रकारका भिन्न निश्चय होता है, वहाँपर भी एकविषयक मानकी आवृत्ति नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्नविषयक अनेक मान हैं। मेय भी तत्-तत् ज्ञानके भेदसे भिन्न ही हैं, अतः आवृत्तिकी सफलताका यह उदाहरण नहीं हो सकता ॥ २७३ ॥

**'अतः प्रमेयः'** इत्यादि। चूँकि प्रमाण प्रमेयमें अतिशयका आधायक नहीं होता; अतः आवृत्तिरूप प्रसंख्यान क्या करेगा ? कुछ नहीं। यदि कहिये कि पादवृद्धिसे मितिवृद्धि होती है, इसलिए प्रसंख्यान अपेक्षित है, तो इसका उक्त युक्तिसे निराकरण कर चुके हैं, इसलिए भी प्रसंख्यान अनर्थक है ॥२७४॥

**'अनुभूतिः'** इत्यादि। यहांपर प्रश्न होता है कि प्रसंख्यान ध्यानमात्र है अथवा दीर्घकाल, आदर, नैरन्तर्य और सत्कार आदिसे विशिष्ट ध्यान ? 'समाहितः पश्येत्' इत्यादि श्रुतिसे विधिविषय प्रसंख्यान यदि सकृद् अनुष्ठित होकर आत्मतत्त्वके साक्षात्कारका जनक हो, तो उक्त विशेषणविशिष्ट प्रसंख्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। अच्छा, सकृद् ध्यानको ही प्रसंख्यान कहेंगे, तब तो कोई आपत्ति नहीं है ? नहीं, प्रत्यक्षविरोध ही आपत्ति है, सकृद् ध्यानसे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता, अतः तद्बोधक शास्त्र अप्रमाण हो जायगा। यदि शास्त्र प्रमाण है, तो उक्त विशेषणविशिष्ट ध्यानको ही प्रसंख्यान मानेंगे, ॥२७५॥

**'अथाऽसकृदनुष्ठानम्'** इत्यादि। यदि असकृद् ध्यानको ही प्रसंख्यान कहें, तो इस पक्षमें कितनी बार आवृत्ति करें। सौ, हजार, लक्ष और कोटि बार ? कितनी ध्यानावृत्ति प्रसंख्यान है ? इसकी अवधिका तो निर्णय है नहीं; ऐसी अवस्थामें मुमुक्षुकी प्रसंख्यानमें निःसन्देह प्रवृत्ति न होगी, यह बड़ा दोष है। एवं कालकी भी अवधिका निर्णय नहीं होगा, एक वर्ष, दस वर्ष इत्यादि। एक

न चाऽत्र चोदितः कालः सङ्ख्या वा येन निश्चयः ।
तद्द्वारेण भवेन्नाऽपि संदिग्धे स्यात् प्रवर्त्तनम् ॥ २७७ ॥

हो वर्ष करनेसे ब्रह्मसाक्षात्कार न होनेपर उक्त उपायमें अविश्वास भी हो जायगा। तथा मुमुक्षु उक्त उपायका त्याग कर देगा। शास्त्रविहित उपाय निश्चित होना चाहिए ॥ २७६ ॥

'न चाऽत्र' इत्यादि। अग्निहोत्रमें 'यदग्नये प्रजापतये च सायं प्रातर्जुहोति' इस श्रुतिसे सायंकाल तथा प्रातःकालका जैसे विधान है। वैसे ही प्रसंख्यानमें किसी श्रुतिसे कालका विधान नहीं देखते।

शङ्का—'मासमग्निहोत्रं जुहोति', 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावस्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' इत्यादि स्थलमें होममें मासरूप कालका विधान है, या अग्निहोत्र कर्मका विधान है? यह शङ्का कर अग्निहोत्रका विधान है ही, फिर विधान नहीं हो सकता, अतः होमका अनुवाद कर मासरूप कालका विधान मानना उचित है। यह पूर्वपक्ष करके सिद्धान्त किया है कि काल पुरुषके अधीन नहीं है कि जब चाहे तब अभीष्ट कालका विधान कर सके। काल तो अपने ही समयपर आता है। पुरुषकी इच्छा या व्यापारसे नहीं; अतः उक्ताग्निहोत्रसे यह अग्निहोत्र कर्मान्तर है। प्रकरणभेद कर्मान्तरका पोषक है। अतः मासाग्निहोत्रमें अग्निहोत्रका प्रयोग गौण है। दर्श-पूर्णमासयागमें भी 'यदाग्नेयः' इत्यादि वाक्यसे आग्नेय यागमें अमावास्यादिकालविधिका संशय कर काल अविधेय है, इसलिए कालविधि नहीं, किन्तु उक्त कालद्वयमें यागका विधान है, यह सिद्धान्त पूर्वमीमांसामें किया गया है। इसलिए प्रसंख्यानमें भी कालविधिकी सम्भावना नहीं है। उक्त स्थलद्वयमें कालविधि नहीं है, किन्तु कालमें कर्मका विधान है।

उत्तर—यह ठीक है, किन्तु 'यदग्नये प्रजापतये च' इत्यादि वाक्यमें कालकी विधि है। कर्मका विधान तो 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्यसे है ही। काल अनुपादेय है, अतः वह विधेय नहीं हो सकता। ठीक है, यह कालसम्बन्ध पुरुषाधीन है, चाहे होता प्रातःकालका होममें सम्बन्ध करे या मध्याह्नकालका, अतः प्रातःकालादिका सम्बन्ध ही होममें करना चाहिए, ऐसा कहा गया है, मध्याह्नकालादिका नहीं; इसलिए 'सायम्' इत्यादि

शब्दयुक्त्योः परोक्षत्वस्वभावस्याऽनपायतः ।
ताभ्यामावृत्तियुक्ताभ्यामपि नाऽनुभवो भवेत् ॥ २७८ ॥

वाक्यसे कालके सम्बन्धका विधान है, किन्तु प्रसंख्यानमें इस प्रकार कालके सम्बन्धकी विधि नहीं है। अथवा कालमें कर्मका विधान मानें, तो भी प्रसंख्यानमें कालसम्बन्धका विधान नहीं है, जैसे 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालमेत' इस वाक्यसे प्राजापत्ययागके अङ्ग पशुके परिच्छेदक सप्तदश संख्याका विधान है, वैसे प्रसंख्यानमें संख्याका विधान नहीं है। पूर्व वाक्यमें न्यून या अधिक संख्याक पशुके आलभनसे यागमें वैगुण्य हो जायगा। वैगुण्यापत्ति होनेसे फलप्राप्ति नहीं होगी, इसलिए उक्त संख्याका विधान है। एवं यहां न्यूनाधिक आवृत्तिके निरासके लिए भी संख्याकी विधि अपेक्षित है कि इयत्संख्याक आवृत्ति मोक्षोपायभूत प्रसंख्यान है। न्यून या अधिक आवृत्तिवाले प्रसंख्यानसे मोक्ष नहीं होता। यहांपर प्रसंख्यान मोक्षोपायरूपसे विहित ही नहीं है। इसलिए परिच्छेदक संख्याका विधान नहीं है, यही निश्चित होता है।

शङ्का—यद्यपि प्रसंख्यानमें काल या संख्याका विधान नहीं है, इसलिए निश्चय नहीं हो सकता कि प्रसंख्यानसे आत्मानुभव अवश्य होगा। फिर भी कृष्यादिवत् संशय हो सकता है और संशयसे भी प्रवृत्ति लोकमें दृष्ट है। जैसे धान्यादि फलकी प्राप्ति होगी या नहीं, ऐसा संशय होनेपर भी किसान खेती करते ही हैं, वैसे ही प्रसंख्यानसे आत्मदर्शन होगा या नहीं, ऐसा संशय होनेपर भी आत्मानुभवके लिए प्रवृत्ति हो सकती है।

उत्तर—कृष्यादिसे कदाचित् फलकी प्राप्ति और कदाचित् फलकी अप्राप्ति ये दोनों दृष्ट हैं, अतः फलकी आशासे खेतीमें प्रवृत्ति हो सकती है। प्रकृतमें प्रसंख्यान द्वारा कभी भी अनुभव दृष्ट नहीं है, अतः फलसंभावना ही नहीं हो सकती, अतः उसके द्वारा प्रवृत्ति तो सुतरां दुर्घट है। यद्यपि गान्धर्वशास्त्राभ्यासवासनासहित श्रोत्रेन्द्रियसे स्वरका अनुभव होता है, तथापि वह श्रावण प्रत्यक्ष है, मानस नहीं। यद्यपि कामिनीविषयक प्रसंख्यानसे कामिन्यादिविषयक मानस साक्षात्कार भी दृष्ट है, तथापि वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि यथार्थ मानसप्रत्यक्ष प्रसंख्यानमात्रसे कहीं भी दृष्ट नहीं है, अतः तादृशसंभावनासे प्रवृत्ति नहीं हो सकती ॥ २७७ ॥

'शब्दयुक्त्योः' इत्यादि। शब्द तथा युक्ति—ये दोनों परोक्षज्ञानके जनक

इत्येवं विपरीतार्थनिश्चयस्याऽत्र सम्भवात् ।
प्रवृत्तोऽपि निवर्तेत विसंवादपराङ्मुखः ॥ २७९ ॥
यदुक्तं विध्यवष्टम्भात्फलं भावीति तत्र ते ।
अदृष्टफलता वैधी कल्प्याऽग्निष्टोमवद्भवेत् ॥ २८० ॥

स्वभाववाले हैं। 'दुस्त्यजा प्रकृतिः' इस न्यायसे कोई पदार्थ अपने स्वभावका त्याग नहीं कर सकता। जलका शीतस्वभाव है, वह अग्न्यादिके संयोगसे केवल तिरोहित ही होता है, क्योंकि अग्न्यादिके अभावमें फिर जलमें शैत्यस्वभावकी उपलब्धि होती है। अतः विरोधी अन्य पदार्थके संयोगसे स्वभावके तिरोहित होनेपर भी स्वभावका त्याग नहीं होता। पूर्वोपपादित रीतिसे स्वभावका नाश होनेपर पदार्थ ही नष्ट हो जायगा, अतः आवृत्तियुक्त शब्द और युक्तिसे भी आत्मविषयक प्रमात्मक अनुभव नहीं हो सकता, अतः प्रसंख्यानविधि निरर्थक है ॥ २७८ ॥

'इत्येवं विपरीतार्थ०' इत्यादि। यदि सन्देहसे प्रवृत्ति मानो, तो भी दोषसे छुटकारा नहीं है। बार-बार प्रसंख्यानका अनुष्ठान करनेपर भी मुमुक्षुको तत्त्वका दर्शन नहीं होगा, अतः फलमें विसंवाद होनेके कारण वह प्रसंख्यानके अनुष्ठानसे ही निवृत्त हो जायगा। इस परिस्थितिमें प्रसंख्यान तो करेगा नहीं, क्योंकि उसमें उसे विपरीत ज्ञान हो गया है कि प्रसंख्यान आत्मानुभवोपाय नहीं है, अन्यथा मोक्षार्थीकी प्रसंख्यानानुष्ठानसे निवृत्ति ही नहीं होगी। मुमुक्षुको मुक्तिकी कामना है ही, परन्तु केवल उसके उपायसे विरत हुआ है, उपेयसे नहीं; अतः यदि शास्त्रान्तरमें निर्दिष्ट युक्तिरूप उपायमें या स्वेच्छासे निर्धारित जप, तप आदि उपायमें प्रवृत्त होगा, तो अभीष्ट मोक्षका लाभ नहीं होगा। यदि द्वितीय पक्ष कहिए, तो आत्माका अनुभव न होनेसे मुमुक्षुका पतन हो जायगा। राम! राम! पतन कैसे होगा? 'नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' इस गीताके वाक्यसे मुमुक्षुकी दुर्गति (पतन) नहीं होती, प्रत्युत 'शुचीनां श्रीमताम्' इत्यादि वाक्यसे जन्मान्तरमें श्रेष्ठ कुलमें उत्पत्ति होगी और भगवत्प्राप्ति होगी। और 'येन मामुपयान्ति ते' इत्यादि वचनसे अनिष्टनिवृत्तिपुरःसर उसको इष्ट फलकी प्राप्ति स्पष्ट ही है ॥ २७९ ॥

यदि उक्त भगवद्वाक्यसे आजन्म प्रसंख्यान करनेपर पतन नहीं होता, यह मानते हैं, तो प्रसंख्यान अदृष्टार्थक होगा, क्योंकि प्रसंख्यानके अदृष्टसे उक्त फलकी प्राप्ति होती है, इसपर कहते हैं—'यदुक्तं विध्यवष्टम्भात्' इत्यादि।